॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

८

महाकवि श्रीमाघप्रणीतम्

शिशुपालवधम्

महोपाध्याय श्रीमल्लिनाथकृत 'सर्वङ्कषा' व्याख्यायुतः
'मणिप्रभा' नामक हिन्दीटीकासहितम्

हिन्दीटीकाकारः—
व्याकरण-साहित्याचार्य-साहित्यरत्न-रिसर्चस्कालरमिश्रोपाह्व-
श्री पण्डित हरगोविन्द शास्त्री
बिहारप्रान्तीयभागलपुरमण्डलान्तर्गतसुलतानगञ्जस्थितराजकीय-
संस्कृतोच्चविद्यालये साहित्याध्यापकः

प्राक्कथनलेखकः—
श्री पण्डित भगवानदत्त मिश्रः
एम. ए. (लब्धस्वर्णपदकः), साहित्याचार्यः, शास्त्री
(प्रिंसिपल, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, भागलपुर)

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-२२१००१

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

महाकविश्रीमाघप्रणीतम्

शिशुपालवधम्

महोपाध्याय श्रीमल्लिनाथकृत 'सर्वङ्कषा' व्याख्यायुत-
'मणिप्रभा' नामक हिन्दीटीकासहितम्

हिन्दीटीकाकारः—
श्री पण्डित हरगोविन्द शास्त्री

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी २२१००१

प्रकाशक—

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),
पो० बा० ६९, वाराणसी–२२१००१

चतुर्थ संस्करण १९७९

मूल्य { १–६ खण्ड १०.००
सम्पूर्ण २५.००

अन्य प्राप्तिस्थान—
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन, पो० बा० नं० १२९,
वाराणसी–२२१००१

मुद्रक—
श्रीजी मुद्रणालय
वाराणसी–२२१००१

THE
VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA
8

ŚIŚUPĀLAVADHA

OF

MAHĀKAVI MĀGHA

With

THE 'SARVAṄKAṢĀ' SANSKṚT COMMENTARY

By

Mahopadhyaya Mallinath

And

THE 'MANIPRABHA' HINDI COMMENTARY

By

Pt. Haragovinda Shastri

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
(*Oriental Booksellers & Publishers*)
CHOWK (Behind The Benares State Bank Building)
Post Box No. 69
VARANASI 221001

Fourth Edition
1979

Price Rs. { ~~1-6 Cantos 10-00~~
Complete ~~25-00~~

Also can be had of
CHAUKHAMBA SURABHARATI PRAKASHAN
(*Oriental Booksellers & Publishers*)
K. 37/117, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 129
VARANASI 221001

प्राक्कथन

श्री भगवानदत्त मिश्र

एम० ए० (लब्धस्वर्णपदक)

साहित्याचार्य, शास्त्री

प्रिंसिपल, गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, भागलपुर

महाकवि माघ का शिशुपालवध संस्कृत साहित्य की एक अमूल्य निधि है। 'नवसर्गगते माघे नवशब्दो न विद्यते' के आचार्य की यह पाण्डित्यपूर्ण रचना संस्कृत विद्वानों के द्वारा अत्यन्त ही समादृत हुई है। उपमा, अर्थ-गौरव और पदलालित्य से विभूषित इस महाकाव्य की समुचित हिन्दी व्याख्या पं० श्री हरगोविन्द मिश्र जी ने 'मणिप्रभा' नाम से की है। माघ काव्य के श्लोकों की सम्यग् व्याख्या टीकाकार की प्रतिभा, विद्वत्ता एवं साहित्यिक मनोवृत्ति का परिचय देती है। टीका में भी भाव और भाषा की दृष्टि से मूल कवि की ही छाया है। अध्ययनशील पण्डितजी ने पुस्तक में कवि का ऐतिहासिक परिचय देकर इसकी उपयोगिता और भी बढ़ा दी है। हर्ष की बात है कि काव्य के विविध वैशिष्ट्यों के सम्यक् सन्निवेश से टीकाकार ने अपनी पुस्तक को पूर्ण एवं परिष्कृत रूप देने का सफल प्रयास किया है। आवश्यक टिप्पणियों से तथा कवि एवं काव्य के सम्बन्ध में विविध ज्ञातव्य विषयों के प्रतिपादन से पण्डित जी ने छात्रों का महान् हितसाधन किया है। आशा है इनके इस प्रयास से छात्रों का परमोपकार होगा।

भागलपुर
१८—७—५५

भगवानदत्त मिश्र

भूमिका

गणनाथं रमानाथं प्रभानाशं शिवं शिवाम् ।
प्रणम्य माघकाव्यस्य भूमिकेयं विलिख्यते ॥

काव्यशास्त्रकी उपादेयता

संसारका यह शाश्वत नियम है कि प्राणिमात्र अधिकाधिक एवं नित्य सुख-समृद्धिकी कामना करता है तथा उसकी सिद्धिके लिए सरलसे सरल साधन चाहता है। यद्यपि इसके लिए योगसाधन, तपश्चरण, वेदाध्ययन आदि अनेक साधन शास्त्रकारोंने बतलाये हैं, तथापि काव्य को ही समस्तसुखसाधक सरल साधन आचार्योंने स्वीकार किया है। भरत मुनिने स्पष्ट कहा है कि—'धर्मार्थियोंको धर्म, कामार्थियोंको काम, विद्याभिलाषुकोंको विद्वत्ता तथा दीनदुखियों एवं शोकसन्तप्तोंको परम शान्ति आदि आदि देनेवाला एकमात्र काव्य ही है।' (ना० शा० १०९-१२४)

रुद्रटने सत्काव्यको अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सकलमनोरथपूरक कहा है—(**काव्यालङ्कार** १।८)। भामहाचार्यने सत्काव्य-सेवनसे धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय, कलाओंमें वैचक्षण्य, प्रीति एवं कीर्तिकी प्राप्ति होना कहा है—(**काव्यालङ्कार** १।२)। मम्मटाचार्यने स्पष्ट ही कहा है कि काव्य यश, व्यावहारिक निपुणता, अमङ्गल-नाश, परमनिर्वृति तथा कान्ताके समान हितोपदेश देनेवाला है।

पुराण एवं इतिहास आदिके देखने से स्पष्ट हो जाता है कि काव्यके द्वारा ही व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, अश्वघोष, भारवि, श्रीहर्ष, दण्डी, बाण, माघ, सोमदेव, हरिचन्द्र भास, कुन्तक, महाराज भोज, हेमचन्द्र, जयदेव, पण्डितराज जगन्नाथ आदि आदि सहस्रों महाकवियोंका यश अगणित समयके व्यतीत हो जानेपर भी संसारमें विद्यमान है और रहेगा। एक-एक पद्यपर लक्षशः स्वर्णमुद्रा आदि प्राप्त होनेकी कथा राजतरङ्गिणी आदिमें उपलब्ध होती है। सूर्य-स्तुतिसे मयूर आदि कवियोंके कुष्ठ आदि-जैसे महाभयङ्कर रोगोंका समूल दूर हो जाना भी लोकप्रसिद्ध ही है। यही सब कारण है कि परम प्रयास साध्य योग, जप, तप या वेद-वेदान्तादि दर्शनशास्त्रोंके परिशीलन की अपेक्षा ब्रह्मानन्दसहोदर काव्यशास्त्रके परिशीलनमें ही लोगोंकी अधिकतर प्रवृत्ति होती है।

काव्यरचनामें हेतु

बहुतसे आचार्योंने शक्ति, निपुणता तथा सतत अभ्यासको काव्यरचनामें हेतु माना है। इनमें से स्वस्थ चित्तमें विविधविध अर्थोंका भान एवं स्वभावतः पदोंका स्फुरण होना 'शक्ति' या 'प्रतिभा' कहलाता है। इसका अभाव होनेपर कोई भी कवि भले ही कुछ शब्द-योजना कर कविता कर ले, किन्तु उस कवितामें सरसताका प्रायः अभाव ही रहता है। वेद, वेदान्त, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, तर्क,

कला, कामतन्त्र, आयुर्वेद, कोष एवं भूगोल, खगोल, विज्ञान, सामुद्रिकशास्त्र, गज-शास्त्र, अश्वशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदिका सम्यक् प्रकारसे ज्ञान एवं काव्यशास्त्रविषयक साहित्यिक तथा आलंकारिक ग्रन्थोंका गुरुपरम्परागत सम्यक् परिशीलनपूर्वक अध्ययन होना 'निपुणता' या 'व्युत्पत्ति' कहलाती है। इसके होनेपर ही कोई कवि आचारानुकूल कविता कर सकता है। निरन्तर एकाग्रमना होकर स्वयं या गुरुसमीप जाकर काव्य-रचनामें संलग्न रहना 'अभ्यास' कहलाता है। इसके द्वारा उस कविकी कवितामें दोषों का अभाव एवं गुण-भावोंका आधिक्य होनेसे वह शीघ्र ही लोकमें यशस्वी कवि हो जाता है। आचार्य वाग्भटने अपने **वाग्भटालङ्कार** (१।३) में प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यासको काव्यका क्रमशः हेतु, विभूषण तथा अधिकोत्पादक माना है और मम्मटाचार्यने अपने **काव्यप्रकाश** (१।३) में इन तीनोंको ही सम्मिलित कारण माना है।

काव्यका लक्षण

'कवि' तथा 'काव्य' शब्दका अर्थ-.**कवते श्लोकान् प्रथते, वर्णयति वा कविः'** ऐसी व्युत्पत्ति अमरकोषके टीकाकार महावैयाकरण भानुजिदीक्षितने की है। **'शब्दकल्पद्रुम'** में 'कु शब्दे' धातुसे 'अच इ' सूत्रद्वारा इ प्रत्यय करनेपर 'कवि' शब्दकी सिद्धि बतलायी गयी है, इस प्रकार श्लोकरचना या वर्णन करनेवालेको 'कवि' कहते हैं। विद्याधरने **एकावलिमें** 'कवयति' इति कविः, तस्य कर्म काव्यम् , ऐसी व्युत्पत्ति की है। ध्वन्यालोककी 'लोचन' व्याख्यानमें **'कवनीयं काव्यम्'** व्युत्पत्ति की गयी है। इस प्रकार वर्णन करनेवाले या जाननेवालेको 'कवि' तथा उसके कर्म या कृतिको 'काव्य' कहते हैं। यद्यपि **'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः'** (शुक्ल जु० ४०।८) के द्वारा 'कवि' शब्दका प्रयोग 'सर्वज्ञ परमेश्वरके लिये प्रयुक्त हुआ है' तथा **'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये'** (श्रीमद्भागवत) के अनुसार 'आदिकवि' शब्दका प्रयोग 'ब्रह्मा' अर्थमें मिलता है। **शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः'** (अमर० १।३।२५) आदि कोष के अनुसार 'कवि' शब्द दैत्यगुरु शुक्राचार्य अर्थमें और **'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः………पण्डितः कविः'** (अमर० २।७।५) के अनुसार पण्डित-सामान्यके अर्थमें उपलब्ध होता है; तथापि आदिकवि वाल्मीकि मुनि तथा व्यासजीके लिये भी 'कवि' शब्दका प्रयोग मिलता है, इसीसे वाल्मीकि मुनिप्रणींत रामायणके प्रत्येक सर्ग की पुष्पिकामें **'इत्यार्षे आदिकाव्ये…'** सर्वत्र लिखा हुआ उपलब्ध होता है। महर्षि व्यासजीकृत महाभारतकी गणना भी 'काव्य' में ही की गयी है, उन्होने स्वयं इसका प्रतिपादन किया है—**'कृतं मयेदं भगवन्! काव्यं परमपूजितम्'** (महाभारत अनुशासन पर्व १।६१) तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने भी—**'अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः'** (सा० द० ६।५८०) इस कारिका की व्याख्यामें **'अस्मिन् महाकाव्ये, यथा—महाभारतम्'** कहते हुए महाभारतको स्पष्टरूपमें 'महाकाव्य' स्वीकार किया है। ये ही दो ग्रन्थ—वाल्मीकि रामायण तथा महाभारत—परवर्ती समस्त कवियोंके उपजीव्य हुए, इसमें किसी को भी कोई विचिकित्सा नहीं है।

'अलङ्कारगुणयुक्त निर्दुष्ट पदसमूहको 'काव्य' संज्ञा देनेके बाद उसमें वाक्चातुर्यकी प्रधानता रहनेपर भी 'रस ही काव्यका प्राण है' ऐसा अग्निपुराणका मत है-(३३७।७,३३।) इसीकी पुष्टि वामनाचार्यने भी की है—(**काव्यालंकारसूत्रवृत्ति** १।१।१-३)।

रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथने **'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।'** तथा **'रसे सारश्चमत्कारः'** वचनोंद्वारा रमणीयार्थप्रतिपादक शब्दको 'काव्य' कहकर रसमें चमत्कारको ही सार माना है। साहित्यदर्पणाकार विश्वनाथने **'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्'** (सा० द० १ । १) कारिकानुसार रसात्मक वाक्यको ही काव्य माना गया है। इस प्रकार 'चमत्कारपूर्ण रसात्मक गुणालङ्कारयुक्त निर्दोष वाक्यको 'काव्य' कहते हैं' यह सर्वसम्मत निर्दुष्ट लक्षण समष्टिरूपसे विचार करने पर सिद्ध होता है।

काव्यके भेद

दृश्य तथा श्रव्य भेदसे काव्य दो प्रकार का होता है। इसमें प्रथम 'दृश्यकाव्य' का नामान्तर 'रूपक' भी है, यह नाटकादिभेदसे दश प्रकार का होता है; तथा द्वितीय 'श्रव्य-काव्य' 'पद्यात्मक, गद्यात्मक और उभयात्मक अर्थात् गद्यपद्यात्मक' भेदसे तीन प्रकारका होता है। इनमें भी प्रथम 'पद्यात्मक' काव्यके '१ महाकाव्य, २ खण्डकाव्य, ३ कुलक, ४ कलापक, ५ सन्दानितक, ६ युग्मक और ७ मुक्तक' सात भेद होते हैं। द्वितीय 'गद्यात्मक' काव्यके 'कथा और आख्यायिका' ये दो भेद तथा विश्वनाथके मतसे 'मुक्तक, वृत्तगन्धि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक' ये चार भेद होते हैं। तृतीय 'उभयात्मक (पद्यगद्यात्मक)' काव्य 'चम्पूकाव्य' कहा जाता है और उसीको राजस्तुतिपरक होनेपर 'विरुद्ध' तथा अनेक भाषामय होनेपर 'करम्भक' कहते हैं। इन सब भेदोपभेदों को साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में तत्तत्स्थलपर देखना चाहिये।[1]

महाकाव्यका लक्षण

महाकाव्यमें सर्गबन्ध होता है। कोई एक देव या उत्तम वंशज धीरोदात्त क्षत्रिय अथवा एक कुलमें उत्पन्न अनेक राजाओंके चरितका वर्णन किया जाता है। शृङ्गार, वीर तथा शान्त इन तीन रसोंमेंसे कोई एक रस प्रधान (अङ्गी) तथा नव रसोंमेंसे शेष रस अप्रधान (अङ्ग) होते हैं। महाभारतादि इतिहासके या अन्य किसी सज्जनके चरितका वर्णन होता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टयमें से कोई एक फल लक्ष्य होता है। ग्रन्थादिमें नमस्कारात्मक, वस्तुनिर्देशात्मक या आशीर्वादात्मक मङ्गल रहता है। किसी-किसी महाकाव्यमें प्रथम दुष्टोंकी निन्दा तथा सज्जनोंकी प्रशंसा भी रहती है। पूरे सर्गमें एक प्रकारका शब्द और अन्तमें भिन्न तथा किसी-किसी सर्गमें अनेकविध छन्द रहते हैं। न तो बहुत बड़े और न बहुत छोटे तथा कमसे कम आठ सर्ग होते हैं। सर्गके अन्तमें आगामी सर्गकी कथा का संकेत रहता है। सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, प्रदोषकाल, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल,

१. दे० साहित्यदर्पण 'लक्ष्मी' टीका की प्रस्तावना।

मध्याह्न, आखेट, पर्वत, ऋतु, वन, समुद्र, सम्भोग तथा विप्रलम्भ श्रृङ्गार, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, युद्धयात्रा, विवाह, मन्त्रणा, पुत्रोत्पत्ति आदि (जलक्रीडा, वनविहार आदि) में से किन्हींका यथायोग साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया जाता है। कवि, वृत्त (कथा), नायक या किसी अन्य मुख्यके नामपर महाकाव्यका नाम रहता है और सर्गमें वर्णित कथाके नामपर प्रत्येक सर्गका नाम रहता है। (देखें सा. द. ६।७७९)

उपर्युक्त अनुसार 'शिशुपालवध' में सर्गबन्धमय रचना, श्रीकृष्ण भगवान् नायक, वीररस अङ्गी तथा अन्य रस अङ्ग, महाभारतका इतिवृत्त (कथांश), शिशुपालवधात्मकदुष्टनिग्रहरूप फल, वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण, प्रथम एक छन्द तथा अन्तमें दूसरे छन्दमें प्रत्येक सर्गकी रचना, विंशतिसर्गात्मक अनेक छन्दोंमें सर्गकी रचना, प्रत्येक सर्गमें आगामी कथांशकी सूचना, युद्धयात्रा, द्वारकापुरी, समुद्र, रैवतक पर्वत, सेनानिवेश, छः ऋतु, पुष्पावचय, जलक्रीडा, सायंकाल, चन्द्रोदय, मद्यपान, प्रभात, प्रयाग तथा यमुना सेनाप्रयाण, यज्ञसभा, द्वन्द्वादियुद्ध आदिका यथास्थान साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। शिशुपालके वधरूप फलके आधार पर 'शिशुपालवध' (या महाकविके नाममर 'माघ') महाकाव्य नाम होनेसे यह 'शिशुपालवध' महाकाव्यमें परिगणित होता है, जो इसके सर्वथा उपयुक्त है।

'शिशुपालवध महाकाव्य'की श्रेष्ठता।

यद्यपि संस्कृतसाहित्यमें परस्सहस्र महाकवि एवं उनके रचित ग्रन्थरत्न हैं, तथापि पं० दुर्गाप्रसादजीके कथनानुसार पहले 'रघुवंश, कुमारसम्भव, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधीयचरित' इन पाँच काव्योंका ही प्रचार-प्रसार एवं अध्ययनाध्यापन प्रचलित था, अन्य विद्वानोंके मतसे इनके अतिरिक्त 'मेघदूत' नाभक खण्डकाव्य भी उसी कोटिमें गिना जाता है। इन छः काव्योंमें 'रघुवंश, कुमारसम्भव और मेघदूत' महाकवि कालिदासकी कृतियाँ हैं और ये 'लघुत्रयी' नामसे प्रसिद्ध हैं, शेष किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधीयचरित महाकाव्य क्रमशः भारवि, माघ तथा श्रीहर्षके रचे हैं और ये 'बृहत्रयी' कहे जाते हैं और इन्हींका अध्ययनाध्यापन द्वारा सर्वाधिक प्रचार-प्रसार अबतक होता रहा है।

अब यहाँ शिशुपालवध (माघ) महाकाव्यके प्रति विद्वानोंकी अमित श्रद्धाका संक्षिप्त परिचय देना भी अप्रासंगिक नहीं होगा। किसी कविने सत्य ही कहा है :—

'उपमाकालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्। नैषधे पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥'

अन्यच्च—

'मुरारिपदचिन्ता चेत्तदा माघे रतिं कुरु। मुरारिपदचिन्ता चेत्तदा माऽघे रतिं कुरु॥'

एक समय किसी वृद्ध महाविद्वान्से किसीने पूछा कि आपने किन-किन ग्रन्थोंका अध्ययन किया है, जिससे आपकी बुद्धि इतनी विशद एवं दूरदर्शिनी हो गई है? उसके उत्तरमें उक्त वृद्ध महाविद्वान्ने कहा—'मेघे माघे गतं वयः' अर्थात् कालिदासकृत 'मेघदूत' काव्य तथा माघकृत 'माघ' (शिशुपालवध) काव्य में मैंने पूरी आयु समाप्त कर दी है। इससे भी 'माघ' की महत्ता स्पष्टतया प्रतिपादित होती है।

महाकवि भारवि तथा माघ

माघ मासमें सूर्यतापका स्मरण करते हुए आगे चलनेमें असमर्थ वानर जिस प्रकार हतोत्साह होकर कांपते हैं, उसी प्रकार 'माघ' कविकी रचनाके अत्यन्त क्लिष्ट होनेसे 'भारवि' कविकी रचनाको स्मरण करते हुए कविलोग कांपते हैं अर्थात् 'माघ' कविकी एक ही कृति—'शिशुपालवध' विद्वानोंको कँपादेनेवाली है। जैसा कि कहा गया है:—

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे। स्मरन्तो भारवेरेव कवयः कपयो यथा॥'

इस वचनके आधारपर तथा निम्नाङ्कित कारणोंसे महाकवि 'माघ' ने अपने पूर्ववर्ती महाकवि 'भारवि' के साथ स्पर्द्धा कर उनकी कृति-'किरातार्जुनीय' महाकाव्यके महत्वको नीचा गिरानेके लिए 'शिशुपालवध' महाकाव्यकी रचना की, ऐसा अनेक विद्वान् मानते हैं। उक्त कारण ये हैं:—

भारविने अपनी रचना किरातार्जुनीयके आरम्भमें 'श्री' शब्दका प्रयोगकर मङ्गलाचरण किया है और प्रत्येक सर्गके अन्तिम श्लोकोंमें भी उसी 'श्री शब्दके पर्यायभूत 'लक्ष्मी' शब्दका प्रयोग किया है तो माघने भी अपनी कृति शिशुपालवधके आरम्भमें 'श्री' शब्दका प्रयोग कर मङ्गलाचरण किया है और प्रत्येक सर्गके अन्तिम श्लोकों में 'श्री' शब्दके पर्यायभूत 'लक्ष्मी' शब्दका नहीं, किन्तु उसी 'श्री' शब्दका प्रयोग कर भारविसे भी अधिक चमत्कार ला दिया है। भारविने प्रथम सर्गमें अपनी रचनाके लक्ष्यभूत दुर्योधनका प्रसंग किरातमुखसे उपस्थित किया है तो माघने भी उसी प्रथम सर्गमें अपनी रचनाके लक्ष्यभूत शिशुपालवधका प्रसंग देवर्षि नारदजीके मुखसे उसके जन्मान्तरीय दुराचारोंका वर्णन कराते हुए विस्तृत रूपमें प्रस्तुत किया है। भारविने प्रथम सर्गमें द्रौपदी तथा द्वितीय सर्गमें भीमसेनके मुखसे ओजस्वितापूर्ण एवं उसी द्वितीय सर्गमें युधिष्ठिरके मुखसे अतिशय शान्तिपूर्ण राजनीतिका प्रसङ्ग उपस्थित किया है तो माघने भी द्वितीय सर्गमें ही श्रीबलरामजीके मुखसे ओजस्वितापूर्ण तथा उद्धवके मुखसे शान्तिपूर्ण राजनीतिका परमोत्तम प्रसङ्ग प्रस्तुत किया है। भारविने तृतीय सर्गमें अर्जुनकी यात्राका वर्णन किया है तो माघने भी अपनी रचनाके उसी सर्गमें श्रीकृष्ण भगवान्‌की यात्राका सुन्दरतम वर्णन किया है तथा नागरिकों की अवस्थाओंका वर्णन कर चार चांद लगा दिया है। भारविने चतुर्थ तथा पंचम सर्गमें पर्वतराज हिमालय एवं शरदऋतुका वर्णन विविध वृत्तोंमें किया है और अर्जुनको ले जाने वाले यक्षके मुखसे शरद्‌ऋतुका वर्णन कराया है तो माघने भी शिशुपालवधके उन्हीं सर्गोंमें छोटे-से रैवतक पर्वतका तथा वहांके प्राकृतिक दृश्योंका बहुत मनोहर वर्णन उपस्थित कर श्रीकृष्ण भगवान्‌को ले जानेवाले दारुकके मुखसे रैवतक पर्वतका उदात्त वर्णन कराया है। भारविके समान ही माघने भी ऋतुओंका सुन्दतरम वर्णन किया है। भारविने अष्टम सर्गमें गन्धर्व तथा अप्सराओंके पुष्पावचय तथा जलक्रीडाका वर्णन किया है तो माघने भी सप्तम सर्गमें यादवोंके साथ यादवाङ्गनाओंके पुष्पावचयका और अष्टम सर्गमें उनकी जलक्रीडा का हृदयहारी बहुत विस्तृत वर्णन किया है। भारविने सप्तम सर्गमें गन्धर्व तथा

अप्सराओंके सेना-निवेशका वर्णन किया है तो माघने भी पंचम सर्गमें ही श्रीकृष्ण भगवान् के सेनानिवेशका अत्यन्त विस्तृत वर्णन किया है। भारविने नवम सर्गमें सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि का वर्णन किया है तो माघने भी नवम सर्गमें सन्ध्या तथा चन्द्रोदयका और दशम सर्गमें यादवों तथा यादवाङ्गनाओंकी पानगोष्ठी एवं सुरतका सविस्तर वर्णन किया है। भारविने तपश्चर्यामें प्रवृत्त अर्जुनको तपस्यामें बाधा डालनेके लिए देवाङ्गनाओंका प्रसङ्ग उपस्थित किया है तो माघने भी यादवाङ्गनाओंका प्रसंग उपस्थित कर किरातार्जुनीयकी अपेक्षा अपनी कृतिको श्रेष्ठ प्रमाणित कर दिया है। उभय कवियोंके प्रभातवर्णनमें अत्यधिक साम्य है। भारविने अर्जुनकी कठोर तपश्चर्याका वर्णन किया है तो माघने भी महाराज युधिष्ठिरकी यज्ञ-सभा एवं राजसूय यज्ञका विस्तृत वर्णन किया है। भारविने अर्जुनके समक्ष किरातवेषधारी शिवजीके दूतमुखसे अपने स्वामी शिवजीकी प्रशंसा करायी है तो माघने भी श्रीकृष्ण भगवान्के समक्ष शिशुपालके दूतमुखसे अपने स्वामी शिशुपालकी भूरि-भूरि प्रशंसा करायी है। भारविकृत अर्जुन तथा किरातवेषधारी शिवजीके भयंकर युद्धके वर्णनसे भी बढ़ चढ़कर माघने शिशुपाल तथा यादव-पाण्डवोंके रोमाञ्चकारी तुमुलयुद्धका बहुत विस्तृत वर्णन किया है। भारविने पञ्चदश सर्गमें युद्ध-वर्णन-प्रसङ्गमें गोमूत्रिका बन्ध सर्वतोभद्र, अर्द्धभ्रमक, प्रतिलोमानुपाद, पादयमक आदि विकटबन्धमय छन्दोंकी रचना की है तो माघने भी उन्नीसवें सर्गमें श्रीकृष्ण भगवान् तथा शिशुपालके युद्धवर्णन प्रसङ्गमें किरातसे भी संख्यामें अधिक विकटबन्धमय छन्दोंकी रचना की है। इतना ही नहीं, भारविने अपने ग्रन्थको अठारह सर्गोंमें समाप्त किया है तो माघने अपने ग्रन्थ शिशुपालवध को बीस सर्गोंमें समाप्त कर यह सिद्ध कर दिया है कि भारविकी कृति अठारह है तो मेरी बीस, सत्रह नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि महाकवि माघ भारविके साथ स्पर्द्धा कर उनसे आगे बढ़नेमें पूर्णतया सफल हुए है।

माघे सन्ति त्रयो गुणाः

'उपमा कालिदासस्य······' इस वचनके अनुसार महाकवि कालिदासकी कृतियोंमें उपमा, भारविकी कृतिमें अर्थगौरव और दण्डीकी कृतिमें पदलालित्य गुण हैं; किन्तु माघकी कृतिमें उक्त तीनों ही गुण हैं सर्वप्रथम माघकविकी उपमाकी छटा देखिये:—

दधानमम्भोरुहकेसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्।
विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव॥ (१।५)
विद्वद्भिरागमपरैर्विवृतं कथञ्चिच्छ्रुत्वाऽपि दुर्ग्रहमनिश्चितधीभिरन्यैः।
श्रेयान्द्विजातिरिव हन्तुमघानि दक्षं गूढार्थमेष निधिमन्त्रगणं बिभर्ति॥ (४।३७)

उपर्युक्त प्रथम श्लोकमें नारदजीकी पर्वतराज हिमालयके साथ तथा द्वितीय श्लोकमें रैवतक पर्वतकी श्रेष्ठ द्विजके साथ समानता करते हुए महाकविने उपमामें अद्भुत चमत्कार प्रस्तुत कर दिया है। अब द्वितीय अर्थगौरवका सौन्दर्य-दर्शन कीजिये:—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपैतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥ (४।४७)
उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेष रिङ्गन् सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः परिपतति दिवोऽङ्के हेलया बालसूर्यः॥(११।४७)

यहां प्रथम पद्यमें 'पतिके समीप जाती हुई क्रोडक्रीडिता आत्मजाता पुत्रीके समान समुद्रको जाती हुई आत्मजाता क्रोडक्रीडिता—अपनेसे उत्पन्न होकर बीचसे बहती हुई—नदियोंको देखकर करुण पक्षि-शब्दोंसे पितृ-स्थानीय यह रैवतक पर्वत वत्सलताके कारण रो रहा है' ऐसा सहृदय-संवेद्य अनुपम भावपूर्ण कैसा अर्थगौरव भरा पड़ा है? द्वितीय पद्यमें जब प्रातःकालका बालसूर्य लाल-लाल कोमल किरणोंको फैलाकर आगे-ऊपर आकाशकी ओर बढ़ने लगा और पक्षि-समूह कलरव करने लगे, तब ऐसा आभास हो रहा था कि मानो 'दिव' (आकाश) रूपिणी माता कोमल हाथ फैलाये हुए बालसूर्यको उच्च स्वरसे पुकारकर बुला रही है और पुत्ररूप वह बालसूर्य मातृरूपिणी 'दिव्' (आकाश) की ओर बढ़ता चला जा रहा है, अहा, कितना सरस, माधुर्यपूर्ण होता हुआ भी अत्यन्त गाम्भीर्यपूर्ण अर्थगौरव है। अब तृतीय पदलालित्य' का उदाहरण देखियेः—

'यत्रोज्झिताभिर्मुहुरम्बुवाहैः समुन्नमद्भिर्न समुन्नमद्भिः।
वनं बबाधे विषपावकोत्था विपन्नगानां न विपन्नगानाम् ॥ (४।१५)
कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिलांश्चक्रवाकः।
उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः॥' (११।६४)

उपरि लिखित दोनों पद्योंमें कितना हृदयहारी पदलालित्य भरा पड़ा है। द्वितीय पद्यके विषयमें तो यह भी किंवदन्ती है कि इस पद्यके केवल एक अक्षर 'ही' पर मुग्ध होकर गुणग्राही एक राजाने महाकविको एक लक्ष मुद्रा दी थी। ऐसे-ऐसे उपमा, अर्थगौरव तथा पदलालित्य गुण इस शिशुपालवधमें प्रायः सभी स्थलोंपर विद्वानोंको उपलब्ध होंगे। इस प्रकार '**माघे सन्ति त्रयो गुणाः**' यह लोकोक्ति इस महाकाव्यके विषयमें अक्षरशः सत्य है, इसमें किसी को विचिकित्सा नहीं है।

महाकवि 'माघ' का परिचय

कविकुलकमलदिवाकर महाकवि माघके पिताका नाम 'दत्तक' था, ये परमोदार एवं वदान्यशूर तथा सबके आश्रयदाता थे, अतएव 'सर्वाश्रय' नामान्तरसे भी प्रसिद्ध थे। पितामहका नाम 'सुप्रभदेव' था, ये 'श्रीवर्मल' राजाके धर्मसचिव थे, राजा 'श्रीवर्मल' इनके उपदेशोंको बड़ी श्रद्धाके साथ मानते एवं तदनुसार आचरण करते थे। बस, महाकवि 'माघ' के स्वरचित कविवंशवर्णनसे इतना ही ठीक-ठीक पता चलता है।

वल्लालपण्डित द्वारा संगृहीत भोजप्रबन्धमें माघकवि तथा उनकी धर्मपत्नीकी दानशीलता

को लेकर बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है। तथा प्रबन्धचिन्तामणिमें भी जैनमेरुतुङ्गाचार्यने माघकविके पिताके परमोत्कृष्ट ऐश्वर्यका वर्णन करते हुए माघ तथा उनकी पत्नीका चरित्रचित्रण भोजप्रबन्धके समान ही विस्तारके साथ किया है और भोजप्रबन्धके कतिपय श्लोकोंको अपने प्रबन्ध चिन्तामणिमें ज्योंका त्यों उद्धृत किया है। प्रबन्धचिन्तामणिकी रचना संवत् १४६१ में हुई थी। श्रीप्रभाचन्द्रप्रणीत 'प्रभावकचरित' के चौदहवें शृङ्गमें भी माघकविके पिता, पितामह, निवासस्थान एवं आश्रयदाता श्रीवर्मलका वर्णन आया है, इस प्रभावक चरितका रचनाकाल विक्रम संवत् १३३४ माना गया है। उक्त ग्रन्थत्रयके आधारपर माघकविका समय अनेक विद्वानोंने ११वीं शताब्दी स्थिर किया है,[1] क्योंकि 'धारा' नगरीके अधिपति, विद्वदाश्रयप्रद राजा भोजका शासनकाल यही १२४९ संवत् है। किन्तु भोजप्रबन्धमें जो कालिदासके सम्बन्धमें भी बहुत से वर्णन आये हैं, वे इतिहासकारोंको सर्वथा मान्य नहीं हैं। वास्तविकमें भोजप्रबन्धकी रचना राजाभोजकी प्रशंसाकी दृष्टिसे ही की गयी है, उसकी रचना करते समय तात्कालिक या अतात्कालिक जिस–किसी विद्वान्की चर्चा उसमें कर दी गयी है, अतएव उसके आधारपर माघ कविका समय ११वीं शताब्दी मानना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार प्रबन्धचिन्तामणि तथा प्रभावकचरित भी भोजप्रबन्धको श्रेणीके ही ग्रन्थ हैं, अतएव उनके आधारपर भी माघकविका समय ११ वीं शताब्दी मानना सर्वथा अनुचित ही है। आनन्दवर्द्धनाचार्यने अपने 'ध्वन्यालोक' की **'अलङ्कारान्तरस्यापि······'**(२।२७)कारिकाकी वृत्तिमें माघकविके शिशुपालवधके **'त्रासाकुलः परिपतन्······'** (५।२६) तथा **'रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः······'**(५।५३) इन दो श्लोकोंको उदाहरणरूपमें उद्धृत किया है। आनन्दवर्द्धनाचार्यका समय ईसवीय नवम शताब्दी माना गया है, अतएव माघकविका समय उसके पूर्व मानना ही युक्तिसङ्गत है। वामनाचार्यने काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिमें **'सम्भाव्यधर्मस्य तदुत्कर्षकल्पनातिशयोक्तिः'** (४।३।१०) सूत्रके उदाहरणमें माघकविके शिशुपालवधमहाकाव्यके **'उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहौ······'** (३।८) श्लोकको उद्धृत किया है, अतएव अष्टम शताब्दीके अन्त या नवम शताब्दीके आदिमें स्थित वामनाचार्यके बाद माघका समय किस प्रकार न्यायसङ्गत कहा जा सकता है? माघकविने द्वितीय सर्गमें **'अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिःसन्निबन्धना'** (२।११२) श्लोकमें न्यास तथा काशिकाका नाम लिया है। महाकवि 'बाण' ने हर्षचरितमें न्यास ग्रन्थकी चर्चा की है, 'बाण' का समय छठीं शताब्दीका प्रथम पाद माना गया है। तथा काशिकावृत्तिका रचनासमय छठीं शताब्दीका मध्य माना गया है, इस आधार पर भी माघका समय सातवीं शताब्दी मानना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। संस्कृत महाकाव्यों की रचनासे ख्यातिप्राप्त दश महाकवियोंका समयानुसार नामनिर्देश करनेवाले—

'आदौ कालिदासः स्यादश्वघोषस्ततः परम्। भारविश्च तथा भट्टिः कुमारश्चापि पञ्चमः॥
माघरत्नाकरौ पश्चाद्धरिश्चन्द्रस्तथैव च। कविराजश्च श्रीहर्षः प्रख्यानाः कवयो दश॥'

---

१. डा० भोलाशङ्कर व्यास का 'संस्कृत कविदर्शन' देखिये। प्रकाशक।

श्लोकद्वयके आधारपर भी 'कुमार तथा रत्नाकर' कविके मध्यवर्ती माघकविका समय सप्तम शताब्दी ही सिद्ध होता है। यद्यपि 'प्रभावकचरित' में आये हुए 'उपमितिभवप्रपञ्च' नामक कथाग्रन्थकी समाप्तिमें लिखे हुए ९६२ संवत्में लिखित ग्रन्थरचनाकालके आधार पर जर्मनीके इतिहासवेत्ता 'डा० एफ् क्लाट' ने माघकविका समय भी वही दशवीं शताब्दी माना है, तथापि उसी देशके 'याकोबी' नामक इतिहासज्ञने माघकविको सप्तम शताब्दीसे परवर्ती होना नहीं स्वीकार किया है।

माघकविके पितामह 'सुप्रभवदेव' के आश्रयदाता 'श्रीवर्मल' राजाका एक शिलालेख 'वसन्तगढ़' नगरमें कुछ दिन पूर्व उपलब्ध हुआ है, उक्त शिलालेख विक्रमसंवत् ६८२ में लिखा गया था, अतः विक्रम संवत् ६८२ (तदनुसार ईसवीय सन् ६२५) में 'सुप्रभदेव' के समयके आधारपर उनके पौत्र महाकवि माघका समय ईसवीय सन् सातवीं शताब्दी का अन्तिम भाग या अधिकसे अधिक आठवां शताब्दीका आदिभाग मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

माघकविका जन्मस्थान

'शिशुपालवध' महाकाव्यकी प्राचीनतम कतिपय प्रतियोंमें प्रत्येक सर्गकी पुष्पिकामें—
'इ त श्रीभिन्नमालववास्तव्य' 'दत्तक' सूनोर्महावैयाकरणस्य 'माघस्य' कृतौ 'शिशुपालवधे' महाकाव्ये'...... 'ऐसा लिखा हुआ मिलता है। बहुत कुछ सम्भव है इसी पुष्पिकाके आधारपर 'प्रभाचन्द्र' ने स्वरचित 'प्रभावकचरित' नामक प्रबन्धमें भी—

'अस्ति गुर्जरदेशोऽन्यसज्जराजन्यदुर्जरः। तत्र श्रीमालमित्यस्ति पुरं मुखमिव क्षितेः॥
.......................................। तत्रास्ति हास्तिकाश्वीयापहस्तितरिपुव्रजः॥
नृपः श्रीवर्मलाताख्यःशत्रुमर्मभिदुत्तमः। तस्य सुप्रभदेवोऽस्ति मन्त्री मिततपाःकिल॥'

(प्रभा० च० १४।५-१०)

श्लोकोंको लिखा हो। माघकाव्यकी प्राचीन प्रतिके सर्गोंके अन्तमें लिखी गयी पुष्पिकामें उल्लिखित 'भिन्नमालव' को 'प्रभावकचरित'में 'श्रीमाल' लिखा है। माघकाव्यके लगभग पाँच छः सौ वर्ष बादमें रचित 'प्रभावकरित' के रचनाकालमें सम्भवतः 'भिन्नमालव' का ही नामान्तर 'श्रीमाल' हो गया हो। यह 'श्रीमाल' नगर राजस्थान तथा गुजरातकी सीमापर वर्तमानमें अवस्थित है और इन दो राज्योंमें 'श्रीमाली' जातिके ब्राह्मण अब भी निवास करते हैं। महाकवि माघकृत छोटे-से रैवतक पर्वतके परमोत्कृष्ट वर्णनसे भी उसमें माघकविकी ममता प्रतीत होती है, अत एव गुजरातमें स्थित यह 'श्रीमाल' नगर ही चरित-नायक महाकवि 'माघ'की जन्मभूमि सिद्ध होती है। इसी बातको पं० रामप्रतापजीत्रिपाठी महोदयने भी स्वीकार किया है।

शिशुपालवध की कथा का आधार

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके ७४ वें अध्यायमें तथा महाभारतके सभापर्वके ३३ वें से ४५ वें तक—कुल तेरह अध्यायोंमें—शिशुपालवधकी कथा उपलब्ध होती है। यह

कथा श्रीमद्भागवतमें कुछ सूक्ष्मरूपसे है, उसमें लिखा है कि—'राजसूय यज्ञमें दीक्षित युधिष्ठिरके 'पहिले किसकी अग्रपूजा की जाय ?' ऐसा पूछनेपर सहदेवने श्रीकृष्ण भगवान्की अग्रपूजा करनेके लिए कहा और उनके कथनका सभी सदस्योंने अनुमोदन किया। तदनुसार युधिष्ठिर के द्वारा उनकी अग्रपूजा करनेपर शिशुपाल श्रीकृष्ण भगवान्की निन्दा करने लगा। उसे सुनकर शिशुपालको भला-बुरा कहते हुए बहुत-से सदस्य अपना-अपना कान बन्दकर सभास्थलसे इस अभिप्रायसे चले गये कि 'भगवान्की निन्दा सुननेवाला भी पातकी होता है'। और पाण्डुपुत्र, मत्स्य, कैकय, सृजंय आदि राजा शिशुपालको मारनेके लिए अपने-अपने शस्त्र धारण कर लिये। यह देख भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें रोककर स्वयमेव सुदर्शन चक्रसे शिशुपालका शिर काट डाला।'

महाभारतमें यह कथा बहुत विस्तृत रूपसे लिखी गयी हैं तथा इस महाकाव्यकी रचना भी माघकविने इस महाभारतीय कथाके आधारपर की है। इतना ही नहीं, अनेक श्लोक तो महाभारतके श्लोकोंसे अधिकांशमें मिलते-जुलते भी हैं। उदाहरणार्थ महाभारतके कतिपय श्लोकोंको उद्धृत कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा। देखिये अधोलिखित महाभारतीय श्लोकोंके साथ शिशुपालवधके श्लोकोंका कितना साम्य है:—

आचार्यमृत्विजञ्चैव संयुजञ्च युधिष्ठिर !। स्नातकञ्च प्रियं प्राहुः षडर्घ्यार्हान्नृपं तथा ॥
एतानर्घ्यानभिगतानाहुः संवत्सरोषितान्। तइमे कालपूगस्य महतोऽस्मानुपागताः ॥
एषामेकैकशो राजन्नर्घं आनीयतामिति। अथ चैषां परिश्रेष्ठ समर्थायोपनीयताम् ॥
ततो भीष्मः शान्तनवो बुद्धया निश्चित्य वीर्यवान्।
वार्ष्णेयं मन्यते कृष्णं पूजनीयतमं भुवि ॥
प्रतिजग्राहतत्कृष्णः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा। शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे न चक्षमे ॥'

(महाभारत २।३६।२३-२५, २७,३१ एवं शिशु० १४।५५—५८, तथा १५।१)

'अथ वाऽभ्यर्चनीयोऽयं युष्माकं मधुसूदनः। किं राजभिरिहानीतैरवमानाय भारत ॥
विभीषिकाभिर्बह्वीभिर्भीषयन् सर्वपार्थिवान्।
न व्यपत्रपसे कस्माद् वृद्धः सन् कुलपांसनः ॥'

(महाभारत २।३६।१८, २।४१।१ एवं शिशु० १५।१८-१९)

'तथाभूता हि कौरव्या येषां भीष्म ! त्वमग्रणीः।
पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषतः ॥
चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम्। पादेन शकटं भीष्म ! तत्र किं कृतमद्भुतम् ?॥
वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः। तथा गोवर्धनो नाम न तच्चित्रं मतं मम ॥'

महाभारत २।४१।३ उत्त० ४ पूर्वार्द्ध, ८, ९ एवं शिशु० १५।३६—३७)

'भुक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि।
इति ते भीष्म ! शृण्वानाः परे विस्मयमागताः ॥'

(महाभारत २।४१।१० एवं शिशु० १५।३८)

'पशुवद्घातनं वा मे दहनं वा कटाग्निना।
क्रियतां मूर्ध्नि वो न्यस्तं मयेदं सकलं पदम्॥'

(महाभारत २।४४।४० एवं शिशु० १५।४६)

उपरि लिखित महाभारतके कतिपय उद्धरणों एवं शिशुपालवधके स्थलोंकी साम्यतासे यद्यपि यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि माघने अपनी कृतिमें महाभारतकी कथाका ही नहीं, अपितु श्लोकोंका भी आधार लिया है; तथापि महाभारतकी अपेक्षा शिशुपालवधमें माघ कविने महाकाव्योपयोगी बहुत ही अधिक विषयोंका वर्णन किया है और तृतीयसे त्रयोदश सर्गतक श्रीकृष्ण भगवान्‌के ऐश्वर्य, प्रस्थान, वनविहार, जलक्रीड़ाके तथा रैवतक पर्वत, सन्ध्या, प्रातः एवं प्रकृति आदिके वर्णनमें ही व्यतीत करनेके उपरान्त भगवान् श्रीकृष्णको महाराज युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें पहुँचाया है। इस महाकाव्यका आधार महाभारतकी कथा होनेपर भी महाकवि माघने अपनी रचनामें महाभारतके समान यज्ञसभास्थलमें ही श्रीकृष्ण भगवान्‌के द्वारा शिशुपालका वध नहीं कराया है, किन्तु उभयपक्षके युद्धार्थ सन्नद्ध होनेपर तुमुल युद्ध होनेके उपरान्त शिशुपालका वध कराया है। साथ ही महाभारतमें शिशुपालकृत श्रीकृष्णनिन्दासे क्रुद्ध होकर सहदेवने भूमिपर पैर पटककर विपक्षियोंको भर्त्सित करते हुए निम्न वचन कहे हैं :—

......................................'व्यजहारोत्तरं तत्र सहदेवोऽर्थवद्वचः॥
केशवं केशिहन्तारमप्रमेयपराक्रमम्। पूज्यमानं मया यो वः कृष्णं न सहते नृपः॥
सर्वेषां बलिनां मूर्ध्नि मयेदं निहितं पदम्। एवमुक्ते मया सम्यगुत्तरं प्रब्रवीतु सः॥
स एव हि मया वध्यो भविष्यति न संशयः।' (महाभारत सभापर्व ३९।१-४)

किन्तु शिशुपालवध महाकाव्यमें सहदेवने नहीं, भीष्मपितामहने उक्त आशयके ही निम्नलिखित वचन कहे हैं :—

'अथ गौरवेण परिवादमपरिगणयंस्तमात्मनः।
प्राह सुररिपुतिरस्करणक्षुभितः स्म वाचमिति जाह्नवीसुतः॥
विहितं मयाद्य सदसीदमपमृषितमच्युतार्चनम्।
यस्य नमयतु स चापमयं चरणः कृतः शिरसि सर्वभूभृताम्॥'

(शिशु० व० १५।४५-४६)

इस प्रकारका कथाभेद महाकवि माघने क्यों किया? इसका निर्णयात्मक कोई उत्तर अबतक नहीं उपलब्ध हो सका है। अस्तु।

महाकवि 'माघ' का पाण्डित्य

माघकृत अन्य किसी ग्रन्थकी रचना नहीं मिलती है, किन्तु चौदहवीं शताब्दीके वल्लभदेव-जो माघकी 'सन्देहविषौषधि' व्याख्या करनेवाले वल्लभदेवसे भिन्न हैं-ने 'सुभाषितावलि' में निम्नलिखित दो श्लोकोंको 'माघ' की रचना कहते हुए उद्धृत किया है :—

'शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना
मा श्रौषं जगति श्रुतस्य विफलक्लेशस्य नाशाप्यहम् ।
शौर्ये वैरिणि वज्रमाशु निपतत्वर्थोऽस्तु मे सर्वदा
येनैकेन विना गुणास्तृणबुसप्रायाः समस्ता अमी ॥ १ ॥
नारीनितम्बफलके प्रतिबध्यमाना हंसीव हेमरसना मधुरं रराम ।
तन्मोचनार्थमिव नूपुरराजहंसाश्चक्रन्दुरार्तमुखरं चरणावलग्नाः ॥ २ ॥'

एवं 'औचित्यविचारचर्चा' नामकी अपनी कृतिमें 'क्षेमेन्द्र' ने तत्त्वौचित्य के प्रत्युदाहरणमें निम्न श्लोकको 'माघ' कृत कहकर उद्धृत किया है—

'बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते पिपासितैः काव्यरसो न पीयते ।
न विद्यया केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कलाः ॥'

इन तीन पद्योंसे माघके दूसरे ग्रन्थ होनेका भी अनुमान होता है, अथवा यह भी सम्भावना की जाती है कि ये श्लोक माघकी फुटकर रचनाओंमें-से हों। जो कुछ भी वास्तविकता हो, किन्तु इन तीन श्लोकोंमें-से प्रथम श्लोकसे अनुमान होता है कि माघ सुशील, बहुत अभिजनोंवाले, शास्त्रज्ञाता, और बलशाली थे तथा तृतीय श्लोकसे माघके व्याकरण-शास्त्रके प्रकाण्ड विद्वान्, काव्यरसिक एवं उत्तम वंश के, होना प्रतीत होता है और 'इनपर कभी बड़ी भारी अघटित घटना घटित हुई थी, जिससे ये अकिञ्चन होकर दर-दरके भिखारी हो गये थे' यह भी आभासित होता है। सम्भव है इसी आधारपर बल्लालपण्डितने भोजराजप्रशंसापरक भोजप्रबन्धमें माघके विषयमें उक्त कथाका समावेश कर दिया हो। 'शिशुपालवध' के आद्यन्त सम्यक् परिशीलन करनेसे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि महाकवि माघ कभी परमैश्वर्य-सम्पन्न, कुलीन, व्यकरणके प्रकाण्ड विद्वान् थे; इनके काव्यरसिक होनेका प्रत्यक्ष प्रमाण तो उनकी यह अनुपम कृति शिशुपालवध ही है। इसके साथ ही इसी कृतिसे उनके वेद-वेदान्त, उपनिषद्, धर्मशास्त्र, मन्त्र-तन्त्र एवं योग-शास्त्र, पुराण, इतिहास, भूगोल, छन्द, ज्यौतिष, कामतन्त्र, आयुर्वेद, संगीत, सामुद्रिक-शास्त्र, राजनीति, हयशास्त्र, गजशास्त्र आदि-आदि में पूर्णतया निष्णात होनेके प्रचुर मात्रा में प्रमाण मिलते हैं, यद्यपि प्रथमसर्गमें नारदकृत तथा चतुर्दशसर्गमें भीष्म पितामहकृत कृष्ण-स्तुतिसे यह स्पष्ट ही है कि ये सनातन वैदिक धर्मके अनुयायी एवं परम्परागत परिपाटीके पोषक थे, तथापि बौद्ध, जैन आदि अन्य मतके ग्रन्थोंका भी इन्होंने पूर्णतः परिशीलन किया था। इन्होंने किसी भी विषयका वर्णन उसके अन्तस्तलमें प्रवेशकर सूक्ष्म निरीक्षणके साथ ही किया है, प्रकृतिके सूक्ष्म निरीक्षणमें महाकवि माघकी बहुत दूरदर्शिनी दृष्टि थी। साथ ही अतिशय गहन विषयोंका भी वर्णन इन्होंने ऐसी सरलतासे किया है कि विषय दर्पणके समान स्पष्ट झलकता-सा प्रतीत होने लगता है। इनकी कृतिमें कदाचित् ही कोई ऐसा पद्य मिले जो अलङ्काररहित हो। अलङ्कारका ऐसा प्राचुर्य होनेपर भी किसी एक भी पद्यमें इन्होंने अलङ्कारको बलात्कारपूर्वक इस प्रकार समाविष्ट नहीं किया है, जो किसीको लेशमात्र

भी खटकता हो। विकट युद्धके प्रसङ्गमें विकटवन्धोंकी रचनाद्वारा इनके अगाध पाण्डित्यका परिचय मिलता है। 'शिशुपालवध' महाकाव्यके पञ्चम सर्गमें वर्णित प्रसङ्ग महाकविके समयमें पर्दाप्रथाके होनेका स्पष्ट प्रमाण है। यथा—

'यानाज्जनः परिजनैरवतार्यमाणा राज्ञीर्नरापनयनाकुलसौविदल्लाः।
स्रस्तावगुण्ठनपटाः क्षणलक्ष्यमाणवक्त्रश्रियः सभयकौतुकमीक्षते स्म॥' (५।१७)

तथा माघके समयमें भारतवर्षमें दूसरे देशोंके व्यापारी व्यापार करनेके लिए जहाजों द्वारा आया करते थे, इस प्रकार भारतवर्षकी वस्तुओंका दूसरे देशोंमें निर्यात तथा दूसरे देशोंकी वस्तुओंका भारतवर्षमें आयातका भी होना विदित होता है। यथा—

'विक्रीय दिश्यानि धनान्युरूणि द्वैप्यानसावुत्तमलाभभाजः।
तरीषु तत्रत्यमफल्गु भाण्डं सांयात्रिकानावपतोऽभ्यनन्दत्॥' (३।७६)

अब महाकवि माघके बहुश्रुतत्वके विषयमें कुछ उदाहरण देना भी असाम्प्रतिक नहीं होगा। पूर्वोक्त 'बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते······' श्लोकके आधारपर माघका महा वैयाकरण होना कहा जा चुका है। एतदर्थ शिशुपालवधके '२।४७, ९५, ११२, १४।६६ तथा १९।७५' स्थल देखना चाहिये। इनके धर्म मन्वादि धर्मशास्त्रानुसार सृष्टिक्रमज्ञानके परिचयार्थ ९।९, साङ्ख्यदर्शन ज्ञानके परिचयार्थ १।३३, १४।१९; मन्त्रशास्त्रज्ञानके परिचयार्थ २।८२, न्यायशास्त्र सम्बन्धी ज्ञानके परिचयार्थ २।९१, आयुर्वेदज्ञान-परिचयार्थ २।५४, ८४, ९३, ९६; पुराणविषयक ज्ञानके परिचयार्थ १।१५, ४९, ५०, २।३८, ३९, ४०, ६०, ३।६१, ४।२, ५।३१, ६६, ६।१७, ८।६४, ९।१४, ८०, ११।३, नाट्यशास्त्र-ज्ञानके परिचयार्थ २।४४, १४।४०; अश्वशास्त्रके ज्ञानके परिचयार्थ ५।१०, ६०, गजशास्त्र-ज्ञानके परिचयार्थ ५।३६, ४७, ४९; सङ्गीतशास्त्रविषयक ज्ञानके परिचयार्थ ११।१०, ११।१ आदि-आदि स्थलोंको देखना चाहिये। द्वितीय सर्गमें बलरामजी तथा उद्धवजीकी उक्तियाँ माघके राजनीतिज्ञानका पूर्णतया परिचय देती हैं।

अब महाकवि माघके कुछ प्राकृतिक दृश्योंका सुन्दरतम चित्रण देखिये—भगवान् श्रीकृष्णकी सेना आगे बढ़ती जा रही है, इतनेमें ही कोई यादव सैनिक मार्गमें खेलते हुए धूलि-धूसरित बच्चोंको देख घोड़ेकी लगाम खींचकर बड़े प्रयत्नसे उसे रोकता है और उधर उन बच्चोंकी माताएँ उनके पास आये हुए सेनाके घोड़ेको देख दौड़कर उन बच्चोंको उठा ले जाती हैं, तब कहीं वह अश्वारोही यादव उस घोड़ेको आगे बढ़ाता है।

'अवेक्षितानायतवल्गमग्रे तुरङ्गिभिर्यत्ननिरुद्धवाहैः।
प्रक्रीडितान् रेणुभिरेत्य तूर्णं निन्युर्जनन्यः पृथुकान् पथिभ्यः॥' (३।३०)

इसीप्रकार प्रातःकालका कविकृत अद्भुत वर्णन देखिये—एक पहरेदारके पहरा देनेका समय पूरा हो चुका है, वह आगे पहरा देनेवाले पहरेदारको जब अपने पहरेपर जानेके लिए जगाता है, तब वह कुछ अंट-संट बोलता तो है पर जागता नहीं है। यहाँपर

प्रभात कालकी निद्रा कितनी सुखदा होती है, निम्न शब्दोंमें वर्णन किया है :—

'प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां ददद्पि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः॥' (११।४)

बन्दिजनकृत प्रभातवर्णन-प्रसङ्गमें आये हुए :—

'क्षणशयितविबुद्धाः कल्पयन्तः प्रयोगानुदधिमहति राज्ये काव्यवद्दुर्विगाहे।
गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम्॥' (११।६)

इत्यादि श्लोकोंसे अनुमान होता है कि माघ कवि ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर काव्यरचनामें प्रवृत्त हो जाया करते थे।

प्रातःकाल उदय होते हुए सूर्य तथा अस्त होते हुए चन्द्रकी किरणें रैवतक पर्वतके नीचेसे ऊपरकी ओर फैल रही हैं, अतः सूर्य तथा चन्द्र हाथीके उभय पार्श्वमें नीचेकी ओर लटकती हुई रस्सियोंमें बँधे हुए दो घण्टाओंके समान तथा रैवतक पर्वत विशालकाय हाथीके समान मालूम पड़ता है, ऐसी उपमा माघ कविने निम्न श्लोकमें दी है :—

'उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्[1]॥' (४।२०)

शिशुपालवध की व्याख्याएँ

निर्णयसागर प्रेससे मुद्रित शिशुपालवधकी भूमिकामें श्री पं० दुर्गाप्रसादजीने इस काव्यकी आठ संस्कृत व्याख्याओंका उल्लेख किया है यथा—वल्लभदेवकृत 'सन्देह विषौषधि' व्याख्या १, रङ्गराजकृत[2] व्याख्या २, एकनाथकृत व्याख्या ३, चारित्रवर्धनकृत व्याख्या ४, मल्लिनाथकृत 'सर्वंकषा' व्याख्या ५, भरतमल्लिककृत 'सुबोधा' व्याख्या ६, दिनकरमिश्रकृत 'सुबोधिनी' व्याख्या ७ और गोपालकृत 'हसन्ती' व्याख्या ८। उपरिनिर्दिष्ट व्याख्याओंमें मल्लिनाथकृत व्याख्या अधिक श्रेष्ठ है।

महोपाध्याय मल्लिनाथ

महामहोपाध्याय मल्लिनाथ द्रविड़ देशके निवासी थे, इनका विरुद 'महोपाध्याय' एवं 'कोलाचल' भी था, जैसा कि इनके व्याख्यात अनेक ग्रन्थोंके प्रत्येक सर्गके अन्तिम श्लोककी व्याख्याके बाद पुष्पिकामें 'इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथविरचितायां……' वाक्य उपलब्ध होते हैं। इन्होंने लघुत्रयी तथा बृहत्त्रयी—६ काव्योंकी व्याख्या की है और प्रत्येक व्याख्याओंके नाम भिन्न-भिन्न रखे हैं। यथा—इस शिशुपालवधकी व्याख्या 'सर्वङ्कषा', नैषधचरितकी व्याख्या 'जीवातु', किरातार्जुनीयकी व्याख्या 'घण्टापथ', रघुवंशकी व्याख्या 'संजीवनी' इत्यादि। इनकी व्याख्याओंके सर्वमान्य होनेमें यह कारण

१. 'अनेनैव श्लोकेन कविना 'घण्टामाघ' इति नाम लब्धम्।' (देखें वल्लभदेवी व्याख्या)
२. देखें पृ. २४१ में २४ वें श्लोक की मल्लिनाथी व्याख्या।

है कि इन्होंने सभी काव्यों की स्वकृत व्याख्याओं में स्वयंकथित निम्न प्रतिज्ञाका पूर्णतया पालन किया है।

'इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया। नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते॥'

महोपाध्याय मल्लिनाथकी व्याख्याओंके देखनेसे ज्ञात होता है कि ये भी महाकवियोंके समान वेद, वेदाङ्ग, षड्दर्शन, पुराण, इतिहास, छन्द, अलङ्कार, कोष, एवं काम-राजनीति-सामुद्रिक-हय-गज-सङ्गीतशास्त्र आदिमें पूर्णतः पारङ्गत थे। इस शिशुपालवध महाकाव्यकी व्याख्या में ही मल्लिनाथने शताधिक ग्रन्थों एवं व्याख्याकारों के नामनिर्देशपूर्वक प्रमापक रूपमें उनके वचन उद्धृत किये हैं। कुछ प्रमापक वचनोंके मूल ग्रन्थ या ग्रन्थकारका नामनिर्देश न कर केवल उनके वचनोंको ही यत्र तत्र उद्धृत किया है[1]। इनकी व्याख्यामें विशेषता यह है कि पाठकोंको क्लिष्टातिक्लिष्ट श्लोकका भी आशय स्वच्छ दर्पणमें प्रतिविम्बके समान स्पष्ट झलकने लगता है।

राष्ट्रभाषानुवादका कारण

आजसे प्रायः १८-२० वर्ष पूर्व जब मैंने 'अमरकोष' की 'मणिप्रभा' नामकी हिन्दी व्याख्या लिखी, तभी मेरे अनेक मित्रोंने एवं कतिपय प्रिय छात्रोंने 'शिशुपालवध' महाकाव्य की हिन्दी टीका लिखनेके लिए मुझे प्रेरित किया। मैं भी अध्ययनाध्यापनमें इस ग्रन्थ की दुरूहता तथा अपनी अल्पज्ञताका अनुभव करता हुआ एवं समयके भी अभाव होनेसे इस कार्यके सम्पादन करनेमें प्रवृत्त नहीं हुआ। पुनः कतिपय छोटे-छोटे ग्रन्थोंके बाद जब मैंने महाकवि कालिदासकृत रघुवंश महाकाव्य, मनुस्मृति तथा महाकवि श्रीहर्षकृत नैषधीय चरितकी 'मणिप्रभा' टीका राष्ट्रभाषामें लिखी; तब पुनः मेरे कतिपय मित्रोंके अतिरिक्त माननीय कुछ विद्वानोंने भी इस 'शिशुपालवध' महाकाव्यका राष्ट्रभाषामें अनुवाद करनेके लिए मुझे प्रेरित किया। साथ ही संस्कृत ग्रन्थोंके उद्धारके लिए कृतसंकल्प सहस्राधिक प्राचीन दुष्प्राप्य संस्कृत ग्रन्थोंके प्रकाशक विद्याकेन्द्र काशीपुरीके लब्धप्रतिष्ठ श्रेष्ठिवर्य श्रीमान् बाबू जयकृष्णदासजी गुप्त (अध्यक्ष चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय एवं चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी) ने भी इस कार्यके लिए मुझे प्रोत्साहित किया तथा मैं भी इस महाकाव्यकी सर्वसुबोध हिन्दी व्याख्याके साथ संस्कृत व्याख्या के कहींसे प्रकाशन नहीं होनेके कारण तथा अपने आदरणीय विद्वानों, मित्रों एवं 'गुप्त' महोदयके वचनोंको बहुत दिन तक टालना अनुचित समझकर इस कार्यमें प्रवृत्त हुआ और परमकारुणिक आशुतोष भगवान् विश्वनाथकी असीम अनुकम्पासे इस ग्रन्थको आज आप लोगोंके समक्ष उपस्थित करनेमें समर्थ हो सका।

---

१. यथा—'दैवज्ञे भेषजे गुरौ' इति वचनात् (१०।२२), 'सुप्ते पश्चाच्च……पतिव्रता' इति स्मरणात् (११।३), 'राजानं यक्ष्मा आरत्' इति श्रवणात् (१३।२९), 'सामान्यं गुणस्थानेन' इति लक्षणात् (३।४३), 'उदिते आदित्ये……' इति शास्त्रात् (११।४१), 'असन्तुष्टा……' इति न्यायात् (२।३१), इत्यादि।

इस संस्करणकी विशेषता

इस संस्करणमें मल्लिनाथकृत 'सर्वङ्कषा' व्याख्या के नीचे 'मणिप्रभा' नामक राष्ट्रभाषानुवाद के साथ ही साथ दुरूह स्थलोंको सर्वसुबोध्य करनेके लिए स्थान-स्थानपर 'विमर्श' राष्ट्रभाषामें दिया गया है और ग्रन्थके प्रारम्भमें गवेषणापूर्ण भूमिका, कथासार एवं प्रत्येक सर्गकी श्लोक-सङ्ख्या निर्देशपूर्वक विस्तृत विषय-सूची दी गयी है तथा परिशिष्टमें पौराणिक कथाएँ, ग्रन्थमें वर्णित लोकोक्तियां तथा सुभाषित 'सर्वङ्कषा' व्याख्यामें आये हुए प्रमापक वचनोंके ग्रन्थ तथा ग्रंथकारोंकी अकारादि क्रमसे नामावली और अन्तमें श्लोकसूची दी गयी है। अद्यावधि प्रकाशित शिशुपालवधके किसी भी संस्करणमें इतनी विस्तृत एवं प्रचुर सामग्री उपलब्ध नहीं है। इसप्रकार इसे सर्वाङ्ग-सुन्दर बनानेका पूर्ण प्रयत्न करनेपर भी मानवसुलभ दोषका होना स्वाभाविक होनेसे इसके सर्वथा त्रुटिहीन होनेका मेरा दावा करना दुस्साहस होगा। अतएव माननीय विद्वानों एवं प्रियतम छात्रोंसे यह निवेदन करता हूँ कि आपलोगोंने आजतक मेरी कृतियोंको अपनाकर जो अनुकम्पा की है, उसे आगे भी करेंगे और कहींपर त्रुटि प्रतीत होनेपर मुझे भी सूचित कर अनुगृहीत करनेकी दया प्रदर्शित करेंगे जिससे अग्रिम संस्करणमें उसका निराकरण कर इस ग्रन्थको यथासम्भव त्रुटिहीन उपस्थित करनेमें समर्थ हो सकूँ।

आभार-प्रदर्शन

सर्वप्रथम उस जगन्नियन्ता महाप्रभु विश्वनाथको अनन्तानन्त धन्यवाद देना मैं अपना परम कर्तव्य समझता हूँ, जिनकी अहैतुकी अनुकम्पा से यह अनुवाद पूर्ण हुआ। माननीय पण्डित 'श्रीभगवान्दत्त मिश्र जी एम० ए०, साहित्याचार्य, प्रिंसिपल राजकीय संस्कृत महाविद्यालय भागलपुर'का मैं अत्यन्त आभारी हूँ, जिन्होंने मेरी इस कृति पर अपना प्राक्कथन लिखकर मुझे अनुगृहीत किया है और अन्तमें जिन विद्वानों तथा मित्रोंने इसकी टीका लिखनेके लिए मुझे बार-बार प्रेरित किया है और जिन चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय काशीके अध्यक्ष श्रेष्ठिवर्य श्रीयुत बाबू जयकृष्णदासजी गुप्त महोदयने इस महान् ग्रन्थको प्रकाशित करनेका भार उठाया है, उन सभी महानुभावोंको भूरिशः धन्यवाद प्रदान करता हूँ तथा गवेषणापूर्ण इस भूमिकाके लिखनेमें जिन महानुभावोंके ग्रन्थ एवं लेखादिका आधार मैंने ग्रहण किया है उन सभीका अत्यन्त आभार मानता हुआ उन्हें भी धन्यवाद वितरण करता हूँ। इति शम्।

श्रावणी पूर्णिमा
सं० २०१२

विद्वद्विधेय—
हरगोविन्द शास्त्री

कथासार

प्रथम सर्ग

नारदजीका द्वारकापुरीमें आकर श्रीकृष्ण भगवान्से शिशुपालवध करनेका इन्द्र-सन्देश कहना।

जब जगदाधार श्रीकृष्ण भगवान् द्वारकापुरीमें लोकशासन कर रहे थे, तब एकदा नारदजी आकाशमार्ग से उनके यहाँ आये, उन्हें देखकर श्रीकृष्ण भगवान्ने यथोचित अतिथिसत्कार कर उनकी प्रशंसा करते हुए आनेका कारण पूछा। उत्तरमें नारदजीने श्रीकृष्ण भगवान्के दर्शनको ही प्रधान कारण बतलाते हुए इन्द्रके सन्देशरूपमें शिशुपालको मारनेके लिए कहा तथा उसकी परमावश्यकता-प्रदर्शनार्थ शिशुपालके पूर्वजन्ममें 'हिरण्यकशिपु' तथा 'रावण' होकर देवपीडन आदि उनके औद्धत्यपूर्ण कार्यौंको विस्तारके साथ कहा और यह भी कहा कि उन्हें भी नरसिंह तथा दशरथनन्दन राम होकर आपने ही मारा तथा पुनः शिशुपालके औद्धत्यपूर्ण कार्योंको कहतेहुए 'उसे भी आप ही मार सकते हैं' ऐसा कहा। नारदजीके कथित इन्द्र-सन्देशको सुनकर श्रीकृष्ण भगवान्ने क्रोधसे भ्रुकुटि चढ़ा ली और शिशुपालको मारनेका स्वीकृति प्राप्त कर नारदजी आकाशको लौट गये।

द्वितीय सर्ग

श्रीकृष्ण भगवान्का उद्धवजी तथा बलरामजीके साथ मन्त्रणा करना।

नारदजीके लौटनेके उपरान्त धर्मराज युधिष्ठिरसे राजसूय यज्ञमें सम्मिलित होकर सहायता करनेके लिए निमन्त्रित श्रीकृष्ण भगवान्को मित्रकार्य-सम्पादनार्थ युधिष्ठिरके यज्ञमें सम्मिलित होने हस्तिनापुर जाना चाहिये या देवकार्य-सम्पादनार्थ शिशुपालके साथ युद्ध करने चेदिदेश जाना चाहिये ? इस विषयमें संशयालु होकर मन्त्रणा करनेके लिए मन्त्री एवं चाचा उद्धवजी तथा अग्रज बलरामजीके साथ मन्त्रणागृहमें पहुँचे और 'हमलोगोंके विना भी युधिष्ठिर लोकविजयी भीम, अर्जुन आदि भाइयोंके साथ यज्ञ कर सकते हैं, अतएव जगत्पीडनकर्ता शत्रुकी उपेक्षा करना उचित प्रतीत नहीं होता' इस प्रकार अपना अभिमत व्यक्त करते हुए उन लोगोंसे भी अपनी-अपनी सम्मति देनेकी प्रार्थना की। पद एवं अवस्थामें बड़े होनेके कारण यद्यपि उद्धवजी पहले बोलना चाहते थे, तथापि मदके नशेमें चूर अधिक क्रुद्ध होनेसे उत्पन्न स्वेदविन्दुओंसे आर्द्र एवं रक्तवर्ण शरीरवाले बलरामजीको बोलनेका इच्छुक जानकर वे चुप हो गये। तदनन्तर बलरामजीने अनेकविध युक्ति तथा दृष्टान्तोंके द्वारा श्रीकृष्ण भगवान्के वचनका समर्थन करते हुए शीघ्रातिशीघ्र शिशुपालके प्रति अभियान करनेके लिए अपनी सम्मति दी। तदनन्तर श्रीकृष्ण भगवान्ने नेत्रका संकेत कर उद्धवजीको अपनी सम्मति देनेके लिए कहा। उनका संकेत पाकर उद्धवजीने तर्कपूर्ण विविध युक्तियुक्त वचनोंसे बलरामजीके प्रत्येक वचनका खण्डन कर धर्मराज युधिष्ठिर के यहाँ यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिए कहा ,तथा उन्होंने यह भी कहा कि अपने गुप्तचरों

द्वारा शिशुपालके पक्षके राजाओंमें फूट डालना तथा अपने पक्षके राजाओंको युद्धके लिए तैयार होकर युधिष्ठिरके यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिए सूचित कर देना चाहिए, क्योंकि जब युधिष्ठिरादि पाण्डव आप (श्रीकृष्ण भगवान्) की अधिक भक्ति एवं पूजासत्कार करने लगेंगे तब उसे सहन नहीं करता हुआ चपलप्रकृतिक शिशुपाल आपकी निन्दा करने लगेगा। इस प्रकार अपनी फूआ शान्तनवी, सात्वतीके प्रति शिशुपालके सौ अपराधोंको सहन करनेके पूर्वप्रतिज्ञात वचनका सम्यक् पालन कर चुकनेपर जब आप शिशुपालका वध करेंगे तब उसके यहाँ चढ़ाई करनेके उद्देश्यकी सिद्धि उसी हस्तिनापुरमें स्वत एव सम्पन्न हो जायगी। राजनीति-निपुण पितृव्य एवं मन्त्री उद्धवजीके वचनके अनुसार ही कार्य करनेका निर्णय कर श्रीकृष्ण भगवान् सभा विसर्जन कर कार्यान्तर साधनमें लग गये।

तृतीय सर्ग

द्वारकापुरीसे श्रीकृष्ण भगवान्के प्रस्थानका तथा द्वारकापुरी और समुद्रका वर्णन।

युद्धका विचार स्थगित होनेसे सौम्यमूर्ति श्रीकृष्ण भगवान् अनेकविध बहुमूल्य श्वेतच्छत्र, चामर, मुकुट, कुण्डल, केयूर, कङ्कण, मुक्ताहार, कौस्तुभमणि, मेखला, करधनी आदि भूषण तथा तप्तसुवर्णवत् चमकते हुए पीताम्बरको धारण कर साथमें कौमोदकी गदा, नन्दक खड्ग, शार्ङ्ग धनुष, पाञ्चजन्य शङ्खको ग्रहण कर सर्वत्र अप्रतिहतगति रथपर सवार हुए जिसपर गरुडचिह्नाङ्कित पताका फहरा रही थी, और उनके पीछे बड़ी-बड़ी पताकाओंको फहराती हुई अपरिमित चतुरङ्गिणी सेना चल रही थी। उनको देखनेके लिए नागरिकोंकी भीड़ आगे निकलने वाली गलियोंके रास्ते पहले पहुँच जाती थी। श्रीकृष्ण भगवान्की राजधानी सुवर्णमयी द्वारकापुरी समुद्रको मध्यमें विदीर्ण कर ऊपर निकली हुई बडवानलकी ज्वाला-सी शोभती थी। उसके बाजारोंमें दुकानोंपर बहुमूल्य रत्नोंके ढेर लगे थे। उसकी अट्टालिकाएँ, परकोटे बहुत ही ऊँचे तथा अत्यन्त चिकने (पालिशदार) थे और उनपर बनाये गये चित्र सजीव-से प्रतीत होते थे। अप्सराओंके समान सुन्दरी वहाँकी रमणियाँ मानरहित होकर सदा कामोत्कण्ठिता रहती थीं। ऐसी स्वर्गोपम द्वारकापुरीको देखते हुए श्रीकृष्ण भगवान् जब उससे बाहर निकले तब समुद्रको देखा। उसमें बहुतसी-नदियाँ आकर मिल रही थीं, उससे निकलते हुए फेन तथा चञ्चल तरङ्ग एवं गम्भीर ध्वनि उसके मृगीका रोगी होनेका भ्रम उत्पन्न करते थे। उस पारकी श्यामल वनावलि बहुत सुहावनी लगती थी। तटपर मोती बिखर रहे थे और शीतल मन्द सुगन्ध वायुसे सैनिकोंका श्रम दूर हो जाता था। ऐसे समुद्रके तटपर पड़ाव डालकर सैनिकोंने लवङ्गके फूलोंका कर्णभूषण पहना और छककर नारियलका पानी पीया।

चतुर्थ सर्ग

रैवतक पर्वतका वर्णन।

आगे चलते हुए श्रीकृष्ण भगवान्ने बड़ी-बड़ी चट्टानोंके उपर उठते हुए बादलोंसे सूर्य-मार्गको पुनः रोकनेके लिए उद्यत विन्ध्यपर्वतके समान प्रतीयमान रैवतकको देखा।

भगवान्को उत्कंठित देख उनका सारथि दारुक उस रैवतक पर्वतका वर्णन करने लगा। उसने कहा—सूर्यके उदय तथा चन्द्रमाके अस्त होते रहनेपर दोनों पार्श्वोंमें लटकते हुए दो घण्टाओंवाले हाथीके समान यह पर्वत शोभता है। स्वर्णमयी भूमिवाला यह रैवतक पर्वत ऊँचे शिखरोंसे गिरते हुए झरनोंके ऊपर उछले हुए जलबिन्दुओंसे स्वर्गीय देवाङ्गनाओंका शरीर शीतल करता है। पानीमें एक ओर स्फटिक तथा दूसरी ओर नीलमणिकी कान्तिसे गङ्गायमुनाके सङ्गमके समान इसका जलाशय शोभता है। एक ओर सुवर्णमयी तथा दूसरी ओर रजतमयी दीवालसे यह पर्वत भस्मोद्धूलित एवं नेत्रसे अग्निकण निकलते हुए शिवजीके समान प्रतीत होता है। विकसित चम्पकसे पिङ्गलवर्ण कनकमयी दीवालोंसे सुमेरुतुल्य इस पर्वतके द्वारा भारतवर्ष इलावृतके समान शोभता है। यहाँ कम्बलमृग विचरते हैं, स्त्रीसहित सिद्धगण विहार करते हैं, रात्रिमें ओषधियाँ चमकती हैं, पुष्पित कदम्बको कम्पित करती हुई सुखकर वायु बहती है। यहाँ दारिद्र्यनाशक रत्नोंकी खानें हैं, तथा यह किन्नरोंकी विहार-स्थली है। यहाँ चमरी गायें तथा विशालकाय हाथी विचरते हैं। इत्यादि प्रकारसे भोगभूमि होता हुआ भी यह पर्वत सिद्धभूमि भी है, क्योंकि यहाँपर मैत्री आदि चारों वृत्तियोंके ज्ञाता, अविद्या आदि पाँच क्लेशोंका त्यागकर सबीज योगको प्राप्त किये हुए प्रकृति पुरुषकी भिन्नतासे ज्ञान प्राप्तकर उसे भी रोकनेके लिए समाधि लगाये हुए बहुतसे सिद्धपुरुष निवास करते हैं। इस प्रकार परमश्रेष्ठ यह रैवतक पर्वत ऊपर उठते हुए श्यामल मेघोंसे मानो आपका अभ्युत्थान करनेके लिए ऊपर उठ रहा है।

पञ्चम सर्ग

रैवतक पर्वतपर विहार करनेके लिए सेनाके प्रस्थान तथा ठहरने का वर्णन।

दारुकसे रैवतक पर्वतका उदात्त वर्णन सुनकर उसपर विहार करनेके लिए श्रीकृष्ण भगवान्ने सेनासहित प्रस्थान किया। कहीं झूमते हुए गजराजोंके झुण्ड चल रहे थे तो कहीं बड़े-बड़े घोड़े पङ्क्तिबद्ध होकर अपने पदाघातोंके द्वारा नगाड़ा बजाते हुएसे चल रहे थे। एक ओर रथ-श्रेणि भूमिकी धूलिको मलीन करती हुई चल रही थी तो दूसरी तरफ झुण्डके झुण्ड भारवाही ऊँट चल रहे थे। इस प्रकार आगे बढ़ती हुई सेना यथास्थान पहुँच कर अपनी-अपनी इच्छाके अनुकूल स्थानोंपर ठहर गयी, उसमें कुछ सैनिक रमणियों सहित पर्वतकी उन कन्दराओंमें ठहर गये, गजराजोंको मारकर लाये हुए मोती सिंहोंके पञ्जोंसे बिखरे पड़े थे।

उस सेना-निवेशमें एक ओर पर्वताकार विशालकाय हाथीके झुण्ड मद चुवा रहे थे, और दूसरी ओर खूंटेको उखाड़कर भागते हुए घोड़े सैनिकोंको व्याकुल कर रहे थे। एक ओर कोई बैल बोझा उतारनेपर पेड़के नीचे बैठकर जुगाली कर रहा था तो दूसरी ओर कोई नदीतटको उखाड़ता हुआ उच्च स्वरसे गरज रहा था। कहींपर नीमके कड़वे पत्तोंको खाते समय मधुर एवं कोमल आम्रपल्लवको कोई ऊँट इस प्रकार उगल रहा था,

जिस प्रकार निषादभ्रमसे मुखमें पड़े हुए ब्राह्मणको गरुड़ने उगल दिया था। इस प्रकार पडावमें स्थित यादव-नृपतियोंकी प्रशस्तियोंको यथा समय वैतालिक गा रहे थे और वहाँपर सान्ध्यमेघके समान अरुण वर्णके पटमण्डप (खेमे) शोभ रहे थे।

षष्ठ सर्ग

छः ऋतुओंका वर्णन।

इस प्रकार रैवतक पर्वतपर विहार करनेकी इच्छा करनेवाले श्रीकृष्ण भगवान्‌की सेवा करनेमें वसन्तादि छहों ऋतु एक साथ प्रवृत्त हुए। वसन्त ऋतुके अनेपर वृक्षोंने नवपल्लवोंको तथा लताओंने सुरभित पुष्पोंको उत्पन्न कर दिया, शीतल मन्द सुगन्ध हवा बहने लगी, कुरुवक, चम्पा; बकुलके फूल विकसित हो गये। आमके पेड़ोंमें मंजरियाँ लग गयीं, कोयलें कुहकने लगीं, भौंरे गुञ्जार करने लगे और कामपीडित रमणियोंकी दूतियाँ उनके पतिके पास जा-जाकर उनकी अवस्थाओंका वर्णन करके उन्हें रमणियोंके पास जानेको कहने लगीं। ग्रीष्म ऋतुके आनेपर शिरीष तथा नवमल्लिकाके फूल विकसित हो गये, अपनी प्रियतमाओंके श्वासवायुके समान सुरभित पाटल (गुलाब) के फूलनेपर कामीलोग मदसे चञ्चल हो उठे और रमणियाँ आर्द्र चन्दन लगाये हुए स्तनोंको प्रियतमोंके वक्षःस्थल-पर रखकर बार-बार आलिङ्गन करने लगीं। वर्षा ऋतुके आनेपर बिजली चमकते हुए मेघोंसे भी नहीं डरती हुई कामार्ता रमणियाँ प्रियतमके पास चल पड़ीं। मेघको देखकर परदेशी प्रियतम घरके लिए चल पड़े। मयूर केका शब्द करने लगे, कदम्ब, केतकी, कुटज (इन्द्रजौ), मालतीमें फूल लग गये। शरद् ऋतुके आरम्भ होनेपर चन्द्रकिरणें निर्मल हो गयीं, मयूरोंकी तथा हंसोंकी ध्वनि क्रमशः कर्णकटु तथा कर्णमधुर हो गई। बाण, आसन, सप्तच्छद तथा कमल विकसित हो गये तथा धानकी रखवाली करनेवाली गोपकन्याओंके गीत सुननेमें तन्मय होकर मृग-समूह धान खाना भी भूल गये और झुण्डके झुण्ड तोते उड़ने लगे। हेमन्त ऋतुके उपस्थित होनेपर हाथी डूब जाने योग्य अगाध पानीवाले जला-शयोंका पानी जमकर कम हो गया, परन्तु वियोगिनी रमणियोंकी आँखोंसे गर्म आँसुओंकी धारा बहने लगी। कामीजन परस्परमें विविध प्रकारसे सुरतमें प्रवृत्त हो गये और शिशिर ऋतुके उपस्थित होनेपर पुष्पित प्रियङ्गुलतापर भ्रमर गुञ्जार करने लगे। सूर्यकिरणोंका तेज मन्द पड़ गया। रमणियाँ प्रियतमोंका आलिङ्गन कर अपनी पयोधरस्थ उष्णताको सार्थक करने लगीं। कुन्द तथा लवङ्गके पुष्परागसे भ्रमर मलिन हो गये।

सप्तम सर्ग

वनविहार-वर्णन।

छहों ऋतुओंके एक साथ प्रादुर्भूत होनेपर श्रीकृष्ण भगवान् और यदवलोग भी अपनी-अपनी रमणियोंके सहित उपवन-विहारार्थ शिविरसे चल पड़े। उस समय रमणियाँ अनेक प्रकारके कामजन्य विलास करती हुई पतियोंके साथ जा रही थीं। यादवगण भी

विविध प्रकार से कामकलाका प्रदर्शन करते हुए उनकी विलासिताको बढ़ा रहे थे। नदियोंके तीरपर बोलते हुए सारस पक्षियोंका शब्द कामधनुषके टङ्कारके समान कामिजनोंको प्रतीत हो रहा था। गुञ्जार करते हुए भ्रमर-समूह रमणियों-सहित यादवोंको मानो दूरसे ही बुला रहे थे। अर्द्धविकसित कलियाँ वायुके स्पर्श एवं भ्रमरोंके बैठनेसे पूर्णतः विकसित होकर रमणियोंका कामवर्द्धन कर रही थीं। नवपल्लवों एवं पुष्पकलिकाओंको देते तथा कानमें लगाते हुए नायकको खण्डिता नायिका फटकार रही थी। किसी रमणीके नेत्रमें पड़ा हुआ पुष्परज मुखसे फूँककर दूर करते हुए नायकको देखकर उसकी सपत्नीके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे। किं बहुना, सपत्नीका नाम लेकर बुलायी गयी कोई रमणी कामप्रयुक्त अभिचार मन्त्रसे आहत होकर मूर्च्छित भी हो रही थी। ताजे फूलोंकी माला पहनी हुई युवतियोंपर चिरपरिचित पुष्पलताओंको छोड़कर सौरभाकृष्ट भ्रमर-समूह गिर रहे थे। इसप्रकार चिरकाल तक वनविहारमें थकनेके कारण रमणियोंके केश बिखर गये, कन्धे झुक गये, आँखें अलसाने लगीं, कपोल-मण्डल लाल हो गये, बाहु शिथिल पड़ गये, स्तन खिन्न होकर ढीले हो गये, पैर लाल-लाल हो गये और वे सुकुमार अङ्गोंवाली रमणियाँ बहुत खिन्न हो गयीं तथा उनके कपोल-मण्डलसे स्तनमण्डलपर जर्जरित होता हुआ पसीना बहने लगा। उनमेंसे निरन्तर पुष्प तोड़नेसे अत्यन्त थकी हुई कोई रमणी पतिके गलेमें बाहु डालकर प्रियतमके वक्षःस्थलपर अलसा रही थी। कोई हाथोंको ऊपर उठाकर अँगड़ाई लेती हुई पतिके सामने अपना मनोभाव प्रकट कर रही थी। किसी नवोढ़ाके पसीनेको पोंछनेके बहाने उसका नायक चतुरतासे उसका आलिङ्गन कर रहा था अन्तमें प्रियतमके बार-बार पोंछनेसे भी पसीना बहना बन्द नहीं होनेपर रमणियोंने जलक्रीडासे उसे दूर करना चाहा।

अष्टम सर्ग

जलविहारवर्णन।

वन-विहारसे थकी हुई यादवाङ्गनाएँ अर्धनिमीलितनेत्रा होकर जलाशयकी ओर बढ़ीं। उनकी संख्या अधिक होनेसे मार्ग ठसाठस भरा था, जलाशयके मार्गमें कहींपर हंसिनी बैठी थी, कहींपर पत्थरोंसे टकराती हुई नदियाँ द्रुत वेगसे बह रही थीं, कहीं मोती बिखरे हुए थे और भ्रमरसमूह पुष्प-को छोड़कर अधिक सौरभके लोभसे रमणियोंके मुखपर आ रहे थे। मोर मोरनीपर पङ्खसे छाया कर रहा था। हंस-समूह कमलश्रेणियोंमें छिपे हुए दिन व्यतीत कर रहे थे। चकवा चकईका मुखचुम्बन कर रहा था। ऐसे मार्गोंसे जब यादवाङ्गनाएँ जलाशयके पास पहुँचीं, तब पक्षियोंके कलरवसे स्वागत करते हुए जलाशयने कमलयुक्त तरङ्गोंसे यादवाङ्गनाओंके लिए अर्घ्य देकर उनका आतिथ्य किया। उस समय भगवान्‌की पटरानियोंके पाणिकमलसे जलाशयके कमलोंकी शोभा तुच्छ हो रही थी। जलमें पतिके साथ प्रवेश करना नहीं चाहती हुई किसी नवोढाको जब उसकी सखियोंने

उसे पानीमें ढकेल दिया, तव वह डूबनेके भयसे पतिकी देहसे चिपक गयी। विजयसार पुष्पके समान गौरवर्ण रमणियोंका शरीर पानीमें डूबनेपर भी झलक रहा था। जलक्रीडा करनेवाली रमणियोंके हाथमें सुनहली पिचकारी, गन्धद्रव्य आदि थे तथा उनके कपड़े कुसुम्भी रँगसे रंगे हुए थे। कोई रमणी सखीको पानीसे सींचनेके कपटसे अपना अभिप्राय प्रदर्शन करती हुई पतिके सम्मुख बद्धाञ्जलि हो रही थीं। पतिके द्वारा सपत्नीको सींचे जानेपर रोती हुई रमणीके दुःखसे जलाशयका जल श्यामल हो जाता था। जलमें भींगनेके कारण रमणियोंकी करधनियाँ नहीं वज रही थीं। अधिक जलक्रीड़ा करनेसे पानीमें गिरे हुए रमणियोंके चमकीले सुवर्णभूषण वडवाग्निकी ज्वाला जैसे शोभ रहे थे। जलक्रीडा करनेसे रमणियोंके स्तनकलशोंके चारों ओर जलविन्दु हारके मोतियोंके समान शोभ रहे थे। जलक्रीडा करनेके उपरान्त हाथमें कमल लिए जलसे निकलती हुई, देवोंको आश्चर्य-चकित करनेवाली किसी परम सुन्दरीको देखकर श्रीकृष्ण भगवान्को समुद्रमन्थनसे निकली हुई लक्ष्मीका स्मरण हो रहा था। पहने हुए रमणियोंके महीन वस्त्र भीगकर चिपक जानेसे उनकी जङ्घाएँ स्पष्ट दिखलायी पड़ रही थीं। पानीमें भींगे हुए केशको सुखाती हुई किसी रमणीके केश पतिके समीपस्थ होनेके कारण स्वेदयुक्त होते रहनेसे भींगे ही रहते थे। रमणियोंके इसप्रकार जलक्रीडा कर वाहर निकलनेपर सूर्यभगवान् अस्तोन्मुख हो गये।

नवम सर्ग

सूर्यास्तवर्णन।

जलविहारके पश्चात् जब रमणियाँ अपने-अपने भवनमें पहुँचीं उस समय सूर्यास्त-कालीन दिनका अन्तिम समय वृद्धावस्थाको प्राप्त मन्ददृष्टि वृद्ध पुरुषके जैसा क्षीणकान्ति प्रतीत हो रहा था। पक्षिसमूह कलरव करते हुए अपने निवास वृक्षकी ओर जा रहे थे। अरुण वर्णवाला आधा अस्त हुआ सूर्यबिम्ब सृष्टिके आदिमें ब्रह्माके द्वारा नखसे विदीर्ण किये गये सुवर्णमय अण्डाके समान शोभता था। कमलिनियाँ मुकुलित हो रहीं थीं। तारा एवं चन्द्रमाके उदय नहीं होनेपर भी शान्त गर्मीवाला अन्धकाररहित आकाश शोभ रहा था। सन्ध्याके प्रादुर्भूत होनेपर मदोन्मत्त कामिनियां नेत्रोंमें सुर्मा लगा रही थीं क्योंकि दिनमें शिथिल पड़ी हुई रमणियोंकी कामवासना जाग्रत हो उठी थी। उसी समय शेषनागके मणियोंकी किरणोंके समान पूर्वदिशामें चन्द्रिका छिटकने लगी। पूर्वदिशामें चन्द्रकलासे कुछ विदीर्ण हुआ आकाश क्षणमात्रके लिए शिवजीकी मूर्ति-जैसा प्रतीत हो रहा था। इसप्रकार क्रमशः सम्पूर्ण चन्द्रमण्डलके उदय होनेपर अन्धकार-समूह नष्ट हो गया, समुद्र बढ़ने लगा और चन्द्रमा तथा रात्रि ये दोनों ही एक दूसरेकी शोभा बढ़ाने लगे, कुमुदिनी विकसित हो गयी, चन्द्रिकासंसर्ग होनेपर चन्द्रकान्तमणिकी प्रतिमाएँ पसीजने लगीं और रमणियोंकी कामवासनायें बढ़ने लगीं। गम्भीरतम समुद्रको क्षुब्ध करनेवाले चन्द्रमाका उदय होनेपर अनुरागी यादव लोग भी

कामवासनासे क्षुब्ध हो उठे। खिड़कियोंसे चन्द्रकिरणें महलोंके भीतर प्रविष्ट होने लगीं। रमणियाँ श्रृङ्गार करने लगीं। किसीने मोतीका सुन्दर हार और किसीने करधनी को पहना। किसीने अधरोंमें लाक्षा, कपोलोंमें लोध्रपुष्पका पराग और नेत्रोंमें अञ्जन लगाया। किसीने प्रियतमके आलिङ्गनमें व्यवधानकारक चन्दनका लेप भी वक्षःस्थलमें नहीं किया। कोई रमणी जघनस्थ हाथपर कपोलमण्डल रखकर अव्यक्त मधुर गाना गाती हुई पतिके आगमनके लिए उत्कण्ठित हो रही थी। कोई युवक आते ही प्रियतमाका गाढ़ आलिङ्गन कर रहा था। कोई युवक पीछेसे आकर प्रियतमाके नेत्रोंको बन्द कर प्रहसन कर रहा था। कोई रमणी प्रियतमका अभ्युत्थान आदि स्वागत करनेमें बार-बार स्खलित होकर भी प्रियतमको आनन्दित कर रही थी। कोई मानवती स्त्री प्रियतमको देखते ही नीवीके शिथिल होनेसे लज्जित हो अधोमुखी हो रही थी। किन्तु मद्यपान करनेसे लज्जा छोड़कर सभी रमणियाँ सुरतमें अग्रसर होने लगीं।

दशम सर्ग

मद्यपान-वर्णन।

कामीलोग मद्यपान करते समय उससे भी अधिक स्वादु रमणियोंका अधरपान कर रहे थे। भ्रमरसमूह मद्यके सौरभसे आकृष्ट होकर उसपर गूँज रहे थे। मदिराके प्यालेमें प्रियतमका मुख प्रतिबिम्बित हो रहा था। कोई नायक प्रियतमाके द्वारा पीकर दिया गया मद्य अभूतपूर्व स्वादयुक्त मानकर पी रहा था। प्यालेमें रखे गये मद्यको सुवासित करनेके लिए कमल रखा गया था। अत एव उसे पीते हुए कामिजन जिह्वासे मद्य-स्वादको तथा नासिकासे कमल-सौरभको एक साथ ग्रहण कर रहे थे। अधिक मद्यपान करनेसे नशा बढ़ जानेपर रमणियाँ अंट-संट बोलती हुई काम-सम्बन्धी गुप्त रहस्योंको भी कहती हुई हँस-हँसकर कटाक्ष आदिके साथ चातुर्यपूर्ण बातें कर रही थीं। कोई नवोढा रमणी मद्यके नशेमें लज्जारहित हो अर्द्धोन्मीलित नेत्रसे पतिको देख रही थी। मद्यपानसे लाल नेत्रोंवाली कोई रमणी पहले छिपायी गयी अपनी कामवासनाको प्रियतमसे प्रकाशित करने लगी। प्रियतम-समर्पित मद्यका पानकर 'प्रमदा'ओंका नाम अन्वर्थ हो रहा था। 'मद्य-पानसे धुले हुए लाक्षारसवाले अपने अधरको 'प्रियतमके अधरका स्पर्शकर लाक्षा-रससे रँग रही हूँ' ऐसा भाव सखी के सामने प्रदर्शित करती हुई कोई रमणी प्रियतमके अधरका पान कर रही थी। रमणीके पतिका गाढालिङ्गन करनेपर उसकी सपत्नीका हृदय विदीर्ण हो रहा था। पतिके गाढ आलिङ्गन करनेपर भी रमणीके स्तनाग्र कठोरतम होनेसे दब नहीं रहे थे। पतिके आलिङ्गन करनेपर स्वेदसे रमणीका वस्त्र गीला, शरीर पुलकित और नीवी नीचेकी ओर खिसक रही थी। इसप्रकार बाह्यरति करनेके बाद आभ्यन्तर सुरत करनेकी इच्छा करते हुए नायक रमणियोंके स्तनादिकों पर हाथ बढ़ा रहे थे। किन्तु मुस्कराती हुई रमणियाँ पतिकी सम्भोगेच्छाका विरोध करती हुई उसके हाथको

रोककर पतिको भर्त्सित कर रही थीं, और अधरदंशन तथा स्तनमर्दनमें आनन्द पाती हुई भी बनावटी रोना रो-रोकर अपने पतिको वशीभूत कर रही थीं। उस समय रमणियोंके सीत्कार, करुणा, प्रेम तथा निषेध-सूचक वचन, स्मित और भूषणध्वनि कामिजनोंकी कामवृद्धिमें सहायक बन रहे थे। इसप्रकार पतियोंकी रुचिके अनुसार ही सुरत करती-कराती सभी रमणियाँ थक गयीं तथा अपने-अपने अङ्गोंको कपड़ोंसे ढकनेके लिए व्यग्र हो उठीं और उधर सवेरा भी होने लगा।

एकादश सर्ग

प्रभात-वर्णन।

श्रीकृष्ण भगवान्‌को जगानेके लिए मधुर कण्ठवाले बन्दीलोग उच्च स्वरसे प्रभाती गाने लगे। वन्दियोंकी प्रभाती सुनकर भी कामीलोग सुरतके आलस्यसे करवट बदल रहे थे। चन्द्रमा के अस्तप्राय होनेसे पूर्वदिशा स्वच्छ हो रही थी। चन्द्रकी शुभ्रकिरणोंसे पश्चिम दिशा कुछ अरुणवर्ण होकर शोभ रही थी। क्रमशः मुकुलित एवं विकसित होते हुए कुमुद तथा कमलोंके समूह भ्रमरगुञ्जनसे युक्त होकर क्रमसे अवनति तथा उन्नतिकी मध्यावस्थामें स्थित होकर समानरूपसे शोभ रहे थे। मालती पुष्पकी सुगन्धसे युक्त वायुके बहनेसे रात्रिके अविरत सुरतसे श्रान्त रमणियोंकी कामाग्नि पुनः उद्दीप्त हो रही थी। प्रभातकी शीतल-सुगन्ध वायु धीरे-धीरे बहने लगी थी और वाराङ्गनायें राजभवनसे अपने-अपने निवासस्थानको लौट रही थीं। सूर्योदय होनेके पहले ही अरुणसे अन्धकार दूर हो रहा था। रात्रिकी सुरतमर्दित पुष्पमालाओंको रमणियाँ गलेसे उतार रही थीं। पाण्डुवर्ण चन्द्रमाकी कान्ति रमणियोंकी मुखकान्तिसे हीन हो रही थी। नवोढ़ा नायिकाएँ रात्रिके विविध सम्भोग वृत्तान्तोंका स्मरण कर स्वयं लज्जित हो रही थीं। द्विज लोग अग्निहोत्रादि प्रातः कृत्य प्रारम्भ कर रहे थे। तपाये गये स्वर्णके गोलेके समान निकलता हुआ सूर्य समुद्रके बड़वानलकी ज्वालासे सन्तप्त अङ्गार-जैसा लाल हो रहा था। नदियोंकी धारा सूर्यकिरणोंके सम्पर्कसे लाल हो रही थी। चन्द्रकिरणोंसे स्फटिकमणिनिर्मित-सा प्रतीत होता हुआ रात्रिका वह सुधाधवल प्रासाद इस समय सूर्यकिरणोंके सम्पर्कसे कुङ्कुमजलसे स्नात-सा प्रतीत हो रहा था। कमलोंके विकसित होनेसे उनमें बन्द हुए भ्रमर बाहर निकल रहे थे। इसप्रकार कल्पान्तमें जगत्‌का संहार कर क्षीरसमुद्रमें सोये हुए विष्णु भगवान्‌के समान सूर्य तारासमूहको नष्ट कर आकाशमें सोता हुआ-सा प्रतीत होने लगा।

द्वादश सर्ग

प्रातःकाल सूर्योदयके बाद श्रीकृष्ण भगवान् सर्वगुण-सम्पन्न मनोरम रथपर आरूढ़ होकर शिविरसे बाहर निकले। उनके पीछे हाथी, घोड़े आदिपर शस्त्रसज्ज होकर राजा लोग चल पड़े। तत्पश्चात् ठहरनेके लिये खड़े किये गये शिविरके तम्बू कनात आदिको समेट-समेट कर गाड़ी, ऊँट, बैल, खच्चर आदि वाहनोंपर लाद-लादकर पैदल सेना चलने

लगी। सेना-प्रयाणके समय भयङ्कर शङ्ख एवं मृदङ्ग आदिकी ध्वनिसे विपक्षी राजाओंका हृदय पराजयकी आशङ्कासे दहल रहा था। रथ तथा हाथियोंके शब्द परस्परमें मिश्रित होनेसे स्पष्ट नहीं मालूम पड़ते थे, केवल घोड़ोंकी हिनहिनाहट सुन पड़ती थी। रथोंके पहियोंसे विदीर्ण भूमि हाथियोंके पैरोंसे समतल हो रही थी। ढालू भूमिपर रास खींचनेसे धीरे-धीरे चलनेवाले घोड़े समतल भूमिपर लगाम ढीला करनेसे तेज चल रहे थे। उस सेनामें बहुतसे छत्रधारी राजाओंके होनेसे सर्वत्र छत्र-ही-छत्र दिखलायी पड़ते थे। इतनी विशाल होनेपर भी वह सेना मर्यादाबद्ध (एक कतारसे बायें) होकर चल रही थी। भगवान्‌ने रास्तेमें देखा कि ग्रामीण गोप गौओंके बीचमें मण्डलाकार बैठकर मद्य पी-पीकर उछल-कूद करते हुए अट्टहास कर रहे हैं। धानकी रखवाली करनेवाली गोपियाँ एक ओर सुग्गोंको उड़ाती थीं तो दूसरी ओर मृग धान चरने लगते थे और जब उधर मृगोंको खदेड़ती थीं तब इधर सुग्गे आकर धान खाने लगते थे, इसप्रकार बारी-बारीसे सुग्गों एवं मृगोंको भगानेमें व्यस्त धान्यगोपिकाओंको भगवान्‌ने मुस्कराते हुए देखा। सेनासे उड़ी हुई धूलि पर्वतोंके शिखरों तक पहुँच रही थी। हाथियोंके द्वारा हिलाये गये पेड़की डालोंमें लटके हुए छत्तोंसे उड़ी हुई मधुमक्खियोंके काटनेपर लोग भयसे इधर-उधर भाग रहे थे। विशाल सेनाके नदी पार करते समय नदीका प्रवाह उलटा ही बहने लगता था। हाथियोंके प्रवेश करनेके पहले ही घोड़ोंकी टापोंसे नदी पङ्किल हो जाती थी तथा हाथी दाँतोंसे तटोंको तोड़-तोड़कर नदीको स्थल तथा अपने मदजलके प्रवाहोंसे स्थलको दूसरी नदी बना देते थे। इसप्रकार वह विशाल सेना बहुत-से नगरोंको पार करती हुई अगम अथाह यमुना नदीके तटपर आकर रुक गई। उस समय वह यमुना नदी बलसे पृथ्वीको पार करनेके लिए उद्यत श्रीकृष्ण सेनाकी सीमा-जैसी ज्ञात हो रही थी। उस यमुना नदीको कुछ लोगोंने नावोंसे तथा कुछ लोगोंने तैरकर और हाथी, घोड़े, बैल आदिने उसमें घुसकर पार किया। इसप्रकार यमुनाको पाकर भगवान् श्रीकृष्णकी वह सेना हस्तिनापुरकी ओर बढ़ी।

त्रयोदश सर्ग

श्रीकृष्ण भगवान् की सेनाके यमुनाके पार आजानेका समाचार सुनकर भीमादि चारों अनुजोंके साथ उनकी अगवानीके लिए अत्यन्त द्रुतगतिसे आते हुये महाराज युधिष्ठिरके रथके घोड़ोंकी टापोंसे उत्पन्न शब्द एकप्रकारका बाजा बन रहा था। श्रीकृष्ण भगवान्‌को दूरसे ही देखकर युधिष्ठिर रथसे पहले उतरना चाहते थे, किन्तु श्रीकृष्ण भगवान् झट उनसे भी पहले रथसे उतर पड़े। अपने गौरवको बढ़ाते हुए त्रिलोकवन्दित भगवान् श्रीकृष्णने फुआके पुत्र युधिष्ठिरको नम्र होकर प्रणाम किया और युधिष्ठिरने छातीसे लगाकर भगवान्‌का आलिङ्गन किया और विनयसे नम्रीभूत होकर उनके केशोंका चुम्बन किया। अनन्तर भगवान्‌ने भीम आदिका तथा यादवोंने पाण्डवोंका एवं यादवाङ्गनाओंने पाण्डवाङ्गनाओंका परस्परमें आलिङ्गन किया। इसप्रकार परस्परमें मिलनेके बाद युधिष्ठिरके अनुनय-विनय

करनेपर अर्जुनके हाथका सहारा लेकर भगवान् युधिष्ठिरके रथपर चढ़ गये। उस समय युधिष्ठिर भगवान्के सारथी बन गये, भीमसेन चामर चलाने लगे, अर्जुनने छत्र थाम लिया और नकुल-सहदेव अनुचर बनकर पार्श्वमें खड़े हो गये। इसप्रकार आगे बढ़ती हुई सेनाकी दुन्दुभि आकाश तक फैल गयी और उस शुभकारक समागमको देवगण विमानसे आकाशमें स्थित होकर देखने लगे। इतनेमें युधिष्ठिरके यज्ञमें आये हुए राजाओंके शिविरोंसे घिरे हुए तथा स्वागतार्थ अनेक द्वारोंसे सुशोभित हस्तिनापुरमें भगवान् श्रीकृष्ण प्रविष्ट हो गये। उन्हें देखनेके लिए नगरकी रमणियाँ अपना-अपना काम अधूरा ही छोड़कर खिड़कियोंपर पहलेसे ही खड़ी थीं। किसी रमणीने शीघ्रताके कारण करधनीको हार बना लिया तो किसीने केशोंमें कर्णभूषण लगा लिया। किसीने दुपट्टेको पहन लिया तो किसीने साड़ीको ओढ़ लिया था और कोई कर्णभूषणको कङ्कणके स्थानपर पहन कर चली आई। कोई रमणी आधे रँगे हुए गीले पैरोंसे ही चली आई थी, जिससे पृथ्वीपर उसके पैरोंके गीले महावरके चिह्न अंकित हो गये थे। कोई करधनी तथा नूपुरको बजाती हुई महलके ऊपर चढ़ रही थी। छतपर चढ़कर देखती हुई किसी रमणीका दुपट्टा हवासे उड़कर पताका-जैसा शोभता था। कोई रमणी भगवान्को अनिमेष दृष्टिसे देख रही थी, कोई कान खुजलानेके कपटसे अपना भाव प्रकट कर रही थी; कोई अङ्गुलिको हिलाकर उन्हें बुला रही थी। जिस समय भगवान् युधिष्ठिरके सभास्थलमें पहुँचे, उस समयकी शोभा अमरावतीकी शोभाको भी तिरस्कृत कर रही थी। उसके महल पद्मराग मणिसे बने थे और उसके बीचमें इन्द्रनीलमणि लगे थे। चाँदनीमें भी स्फटिक मणिके बने महलोंकी प्रभाका एकीभाव होजानेसे लोग अन्धकारके समान ही हाथसे स्पर्श कर आगे बढ़ते थे। नागमणियोंके बने हुए उस सभास्थलका प्रांगण मेघके गरजनेसे वैडूर्य मणियोंके अङ्कुरोंसे युक्त हो जाता था। उस सभास्थलमें नलिनी पत्रोंसे पानी बिलकुल ढक गया था, अतएव उस स्थानको सूखा समझ कर चलते हुए दुर्योधनको देखकर भीमसेनके अट्टहास करनेपर सब राजा क्षुब्ध हो गये थे। वहाँ इन्द्रनीलमणियोंकी फैलती हुई किरणोंसे सूखी हुई भूमिको भी जलपूर्ण समझकर भींगनेके भयसे कपड़ेको उठाकर नवागन्तुक लोग चल रहे थे। इसप्रकारके अद्भुत सभास्थलमें पहुँचकर भगवान् श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिर रथसे उतर कर उच्चतम मनोहर रत्नजटित स्वर्णसिंहासनपर दोनों एक ही साथ बैठे।

चतुर्दश सर्ग

सिंहासनारूढ़ भगवान् श्रीकृष्णसे युधिष्ठिर ने कहा, 'हे भगवान्! मैं इस समय यज्ञ करना चाहता हूँ, आप तदर्थ आज्ञा देकर अनुगृहीत कीजिये क्योंकि मुझे आपके ही कारण धर्मराज कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। दोषहीन यज्ञ करनेका इच्छुक मैं सम्पूर्ण यज्ञ सामग्रियोंको एकत्रित कर आपकी आज्ञाकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। आपके सान्निध्यसे मेरा यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण हो जायगा।' इत्यादि बातें सुनकर भगवान्ने कहा, 'हे राजन्!

मैं आपके शासनमें रहता हुआ कठिनतम आज्ञाका भी पालन करने को सर्वदा तत्पर हूँ, आप मुझे अर्जुनसे भिन्न मत समझिये। जो राजा आपके यज्ञमें बतलाये हुए कार्यको भृत्यवत् बनकर नहीं करेगा, उसके शिरको मेरा यह सुदर्शनचक्र पृथक् कर देगा।' उनके ऐसा कहनेपर राजा युधिष्ठिर यज्ञ करनेके लिए प्रस्तुत हो गये। वैदिक लोग सामवेदादि पढ़ने लगे। द्रौपदीके हविष्यादि यज्ञसामग्रीके निरीक्षण करनेसे संस्कारप्राप्त हविष्यको ऋत्विज् लोग अग्निमें हवन करने लगे। दिङ्मण्डलको धूमिल करता हुआ अग्निधूम आकाशकी ओर बढ़ने लगा। समुद्रमन्थनसे उत्पन्न अमृतका भोजन करनेवाले देवतालोग मन्त्रपूर्वक अग्निमें छोड़े गये हविष्यरूप अमृतका भोजन करनेके लिए उतावले हो उठे। सभी आवश्यक सामग्रियोंके सर्वदा प्रचुर मात्रामें वर्तमान रहनेसे उस यज्ञमें किसी भी सामग्रीका प्रतिनिधि द्रव्य नहीं लिया जाता था। इसप्रकार यज्ञ समाप्त होने पर महाराज युधिष्ठिर ब्राह्मणोंको यथेच्छ यज्ञदक्षिणा दे-कर सन्तुष्ट कर रहे थे और उधर युधिष्ठिरको उपहारमें अमूल्य रत्न देनेके लिए राजालोग बाहर खड़े होकर उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे। एक राजाके द्वारा उपहारमें दी हुई धनराशि ही यज्ञकार्यको पूरा करनेके लिए पर्याप्त थी, किन्तु युधिष्ठिरने सभी राजाओंके दिये हुए अमूल्य उपहारोंको दान कर ब्राह्मणों को दे दिया। किंबहुना उस समय महाराज युधिष्ठिरने पराजित राजाओंको भी स्वतन्त्र कर दिया। इसप्रकार यज्ञके अन्तमें भीष्मपितामहकी आज्ञासे ब्राह्मणों तथा राजाओंके समुदायमें सर्वगुणसम्पन्न ब्रह्मके अंश, योगियोंके ध्येय, एवं सृष्टि-पालन-संहार करनेवाले सर्वज्ञ, भूभारहर्ता, पञ्चमहाक्लेशोंसे रहित, कर्मफलसे असम्पृक्त पुराणपुरुष भगवान् श्रीकृष्णको प्रथमार्घ देकर महाराज युधिष्ठिरने यज्ञ संपन्न किया।

पञ्चदश सर्ग

युधिष्ठिरकृत श्रीकृष्ण भगवान्‌की अग्रपूजा सत्कारको देख अभिमानी शिशुपाल कटुवचन कहने लगा—'हे युधिष्ठिर! साधुजनोंसे अपूजित कृष्णकी पूजा कर तुमने उसमें बहुत बड़ा स्नेह प्रदर्शित किया है, आश्चर्य है! तुम्हें लोग झूठे ही 'धर्मराज' कहते हैं। यदि तुम्हें इस कृष्णकी ही अग्रपूजा करनी थी तो इन राजाओंको निमन्त्रण देकर क्यों बुलाया? अथवा मूर्ख! तुम लोग धर्मतत्त्वको नहीं जानते। यह पके हुए बालोंवाला बूढ़ा भीष्म बुद्धिहीन हो गया है। हे भीष्म! सचमुच ही नीचगामिनी-नदी (गंगा) के तुम पुत्र हो।' इसप्रकार युधिष्ठिर तथा भीष्मको फटकार कर भगवान् कृष्णसे कहने लगा—'हे कृष्ण! राजोचित पूजाको स्वीकार करना तुम्हें उचित नहीं था, तुम्हें सोचना चाहिये था कि मैं कौन हूँ। तुमने मधुमक्खियोंको मार कर 'मधुसूदन' नाम प्राप्त किया है, मगधराज जरासन्धसे अठारह बार पराजित होकर भी बलरामजीके साथ रहनेसे तुम बलवान् कहलाते हो। तुम्हें सत्यभामा अतिशय प्रिय है, अतएव तुम 'इष्टसत्य' कहलाते हो, शत्रुपक्षपीडित अपनी सेनाकी रक्षामें असमर्थ होकर लोकमें ख्यातिके लिए भारभूत चक्रको धारण कर

'चक्रधर' कहलाते हो। हे विवेकहीन कृष्ण! गुणहीन तुम्हारी यह पूजा केशहीन मस्तकमें कंघी फेरनेके समान हास्यकारक है।' इस प्रकार भगवान् कृष्ण को फटकार कर शिशुपाल उपस्थित राजाओंसे कहने लगा—'सिंहके समान आपलोगोंके उपस्थित रहने पर इस गीदड़के समान कृष्णकी अग्रपूजासे क्या आपलोगोंका अपमान नहीं हुआ है? पूतनाका वध करते समय उसे स्त्री समझकर यदि इसे दया नहीं आयी तो नहीं सही, किन्तु दूध पीनेसे वह इसकी धर्मानुसार माता हो गयी थी, फिर भी इसने उसका वध कर ही डाला। जो इसने शकट उलट दिया, यमलार्जुन वृक्षोंको उखाड़ दिया एवं छोटे गोवर्धन पहाड़को धारण कर लिया, इसमें शूरवीरोंको कोई आश्चर्य नहीं होता। कंस की गायोंको चरानेवाले इसने जो स्वामि (कंस) वध किया, यह क्या आश्चर्य नहीं है?' इसप्रकार कहकर वह नरकासुरके साथ ताली बजाकर जोरोंसे हँसा। भगवान् श्रीकृष्ण शिशुपाल के इन नये अपराधोंको मन ही मन गिन रहे थे। उसके इस प्रकार परुष वचनोंको सुनकर क्षुब्ध भीष्मपितामह गरजकर बोल उठे–'मैंने इस सभामें भगवान् श्रीकृष्ण की पूजा की है, जो इसे सहन नहीं करता वह युद्धके लिए तैयार हो जाय, मैं ऐसे सब राजाओंके शिरपर पैर रखता हूँ।' इसी समय क्रोधसे फुफकारता हुआ सर्पके समान लम्बी सांस लेता हुआ शिशुपाल बोल उठा—'हे राजाओ! इन जारज पाण्डवों तथा नपुंसक होनेसे स्त्रीकल्प भीष्मके साथ कंसके दास कृष्णको क्यों नहीं अभी मार डालते? अथवा आप लोग ठहरें, मैं इसे शीघ्र ही बाणोंसे वेधकर मार डालता हूँ। ऐसा कहकर वह अपने शिविरमें जाकर युद्धार्थ सेना-सन्नाह करने लगा। शिशुपालके शिविरमें रणदुन्दुभि बजते ही लोग इधर-उधर दौड़ने लगे, शूरवीरोंने कवच पहन लिया, सेनाके कलरवसे क्रुद्ध एवं मदोन्मत्त हाथियों, घोड़ों तथा रथोंको लोगोंने युद्धार्थ सुसज्जित किया और वे इधर-उधर दौड़ने लगे। उधर युद्धोत्साह बढ़ानेके लिए शिशुपालके शूरवीर लोग रमणियोंके साथ मद्यपान करने लगे। 'हे धूर्त! तुम स्वर्गीय अप्सराओंके साथ सम्भोग करनेकी इच्छासे (अर्थात् मरनेके लिये) युद्धमें जा रहे हो' ऐसा कहकर उसे युद्धमें जानेसे रमणियां रोक रही थीं। कोई रमणी युद्धमें जाते समय पतिका फिर दर्शन नहीं पानेकी आशङ्कासे कांप रही थी। इस प्रकार युद्धमें प्रयाण करनेवाले शिशुपाल-पक्षीय शूरवीरोंको पहलेसे ही नानाविध अपशकुन होने लगे।

षोडश सर्ग

युद्धोन्मुख शिशुपालका भेजा हुआ कोई वाग्मी दूत भगवान् श्रीकृष्णकी सभामें आकर श्लेषद्वारा प्रिय-अप्रिय द्व्यर्थक वचन कहने लगा—'युधिष्ठिरको सभामें आपसे अप्रिय वचन कह कर खिन्न शिशुपाल आपका सत्कार करना चाहता है, अथवा—'मैंने कृष्णको फटकार कर ही छोड़ दिया, मारा नहीं, ऐसा सोचता हुआ वह आपका वध करना चाहता है। वह समस्त राजाओंके साथ प्रणत होकर आपका आज्ञाकारी बनेगा, अथवा–आपको छोड़कर सब राजाओंसे प्रणत वह यहाँ आकर आपको दण्डित करेगा। सूर्यवत् तेजस्वी, वशीकृत

चित्तवाले कर्मसमर्थ आपको कौन राजा प्रणाम नहीं करता, अथवा—अग्निमें फतिंगेके समान—अत्यल्प सामर्थ्यवाले, स्वकार्यविनाशक एवं सबके वशवर्ती आपको किस गुणसे कोई प्रणाम करता है? इस तरह विविध प्रकारके द्व्यर्थक कटु वचन कह कर दूतके चुप होनेपर श्रीकृष्ण भगवान्का संकेत पाकर सात्यकि कहने लगे–'हे दूत! प्रत्यक्षमें मधुर तथा परोक्षमें कटु वचन कहनेवाले तुम्हारे जैसे दुष्टोंसे सदा सचेत रहना चाहिये। शिशुपाल यहाँ पर जिस भावनासे आवेगा, तदनुरूप ही उसके साथ व्यवहार किया जायगा। यदि तुम अब कुछ और परुष वचन बोलोगे तो तुम्हें कठोर दण्ड भोगना पड़ेगा।' सात्यकिके ऐसा कहने पर भी वह दूत निर्भय होकर फिर कहने लगा—'मन्द व्यक्ति अपनी भलाई दूसरेके समझानेपर भी नहीं समझता, यही आश्चर्य है। हे कृष्ण! मैंने आपके हितके लिए ही उक्त वचन कहे हैं। मांसप्रिय सिंहके द्वारा छोड़ी गयी गजमुक्ताके समान युधिष्ठिरसे अपूजित भी शिशुपाल का महत्त्व कम नहीं हुआ है। सैकड़ों अपराधोंको सहन करनेवाले आपका रुक्मिणीहरणरूप एक ही अपराध क्षमाकर शिशुपाल आपसे आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने युद्धार्थ यादवोंको ललकारनेके लिये मुझे भेजा है। युद्धमें उनके सामने कोई भी नहीं टिकता। वे मित्रोंके लिए चन्द्रतुल्य आह्लादक तथा शत्रुओंके लिए सूर्यवत् सन्तापदायक हैं। वे अकेले ही चतुरंगिणी सेनाके साथ लड़ सकते हैं। आप इन्द्रके छोटे भाई उपेन्द्र हैं तो वे इन्द्रको जीतनेवाले हैं।' इसप्रकार विविध उपमा देकर शिशुपालके ओजका वर्णन करता हुआ वह दूत अन्तमें यह कहनेलगा कि 'हे श्रीकृष्ण! सूर्यका तेज लोकालोक पर्वतका उल्लङ्घन नहीं कर पाता, किन्तु हमारे राजा शिशुपालका विश्वव्यापी तेज बड़े-बड़े भूभृतों–राजाओंका अतिक्रमण कर जाता है। उनके शत्रुकी रमणियां पतियोंके मरने पर भी विभूषणा–श्रेष्ठभूषणवाली, पक्षा०—भूषणरहिता—ही रहती हैं। संग्राम होने पर वे युद्धमें आपको मारकर रोती हुई आपकी रमणियोंपर दयार्द्र होकर उनके बच्चोंकी रक्षा करके अपने 'शिशुपाल' नामको चरितार्थ कर लेंगे।

सप्तदश सर्ग

शिशुपालके दूतका असह्य कठोर वचन सुनकर सभास्थिर सभी राजाओंके शरीर क्रोधसे लाल हो गये, पसीना बहने लगा, वे तमककर जंघाओं पर ताल ठोकने लगे और अधरोंको दाँतोंसे काटने लगे। बलरामजी दूतका वचन सुनकर अनादरके साथ अट्टहास करने लगे। इसी प्रकार उल्मुक, युधाजिद्, सुधन्वा, आहुकि, मन्मथ, पृथु तथा अक्रूर आदि योद्धा लोग आवेशमें आकर इतने क्रोधित हो उठे कि तत्क्षण ही शिशुपालको मसल देना चाहते थे। किन्तु दूतके परुष वचन सुनकर भी भगवान् श्रीकृष्ण तथा उद्धवजी शान्त ही बने रहे। अनन्तर उपर्युक्त राजा रोग युद्धकी तैयारी करने लगे। युद्धवार्तासे हर्षित यादव शूरवीरोंने कवच पहन लिये और हाथियों, रथोंएवं घोड़ोंको युद्धोपयुक्त सज्जासे सुसज्जित करने के लिये बार-बार प्रेरित करने लगे। शूरवीरोंके तैयार होनेपर भगवान्

श्रीकृष्णजी 'शार्ङ्ग' धनुष, 'कौमोदकी' गदा तथा, 'नन्दक' खड्ग आदि आयुधोंको ग्रहणकर रथपर आरूढ़ हो गये, उनकी सेना भी सब ओर दिशाओंको व्याप्त करती हुई आगे बढ़ने लगी। सेनामें हाथी चिंघाड़ने लगे, नगाड़े आदि बाजा बजने लगे, घोड़े हिनहिनाने लगे, उनकी प्रतिध्वनियोंसे आकाश विदीर्ण हो रहा था। कन्दराओंमें सोये हुए सिंह निकलकर भाग रहे थे। दिशाएँ धूलि-धूसरित हो रही थीं। शत्रुपक्षीय नगाड़ोंका बजना सुनकर वीर लोग अधिक उत्साहित हो रहे थे। शत्रुसेनाओंको देखते ही वे लोग आकाशमें मेघकी छायाके समान सर्वत्र समान रूपसे फैल गये। प्रलयमें त्रिभुवनको जठरमें धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णने शत्रुसेनाको देखते ही उसकी संखयाका अनुमान कर लिया। शिशुपाल-पक्षके सैनिक यादव-सैनिकोंको देखते ही हथियारोंको उठाकर उनकी ओर तेजीसे बढ़ने लगे तथा भगवान्‌के सैनिक भी शत्रुओंके सम्मुख बहुत तीव्रतासे बढ़ गये। शूरवीर लोग रत्नजटित कवचोंकी किरणोंसे व्याप्त होने पर, युद्धमें निरन्तर बाणोंसे घिरे हुए-से प्रतीत होने लगे। सेनाके द्वारा उड़ायी गयी धूलि मेघ-समूहसे भी ऊपर चली गयी। वीर लोगोंके शिर पर धूलि पड़नेसे उनके केश पके हुए-से शुभ्र हो गये तथा सूर्य-विम्ब भी छिप गया। धूलिसे दिशायें दिखलाई नहीं पड़ती थीं। पर्वतकन्दराओंमें धूलि-समूहके फैल जानेसे वहाँ अंधेरा हो गया। धूलिसमूहसे कुछ नहीं दिखलायी पड़ने पर भी हाथी मदजलका गन्ध सूंघ कर प्रतिद्वन्द्वी हाथियोंके साथ लड़नेके लिये आगे बढ़ रहे थे। मुख आदि सात स्थानोंसे मद क्षरण करनेवाले हाथियोंके ऊपर फैला हुआ धूलि-समूह चंदोवा-जैसा प्रतीत हो रहा था। पर्वतके समान विशालकाय हाथी मदजल की धारासे धूलिको धो रहे थे।

अष्टादश सर्ग

युद्धके मैदानसे कभी नहीं भागनेवाले वे दोनों सेना-समूह गरजते हुए परस्परमें मिश्रित होकर अस्त्र-शस्त्रोंसे शत्रुओंपर प्रहार करने लगे। क्रोधावेशमें निकट आये हुए कोई दो वीर हाथियोंको छोड़कर परस्परमें मल्लयुद्ध कर रहे थे। बन्दी लोग उत्साहवर्द्धनार्थ योद्धाओंका नाम ले-लेकर उनकी वीरगाथा गा रहे थे। शत्रुकी तीक्ष्ण तलवारसे श्यामल कवचके कट जाने पर उसमें पड़ी रक्तरेखा मेघमें बिजली-जैसी चमक रही थी। नाकके रास्तेसे छाती तक बाणके घुसनेसे घोड़े हिनहिनाते हुए परेशान हो रहे थे। कोई हाथी प्रतिद्वन्द्वी हाथीके शरीरमें घुसे हुए अपने दांतोंको बार-बार गर्दन हिलाकर बड़ी कठिनतासे निकाल रहा था। रक्तके संसर्गसे लाल-लाल उनके दांत समुद्रमें उत्पन्न होनेवाले प्रवालांकुरके समान शोभित हो रहे थे। कोई हाथी किसी वीरको उठाकर जमीन पर पटककर और कोई दूसरे वीरको लकड़ीके समान बीचसे चीर रहा था। रक्तगन्धके सूंघनेसे क्रोधोन्मत्त हाथी वीरोंको कुचल कर उसकी अतड़ीको पैरमें फँसी हुई रस्सीके समान खींच रहा था। अतिशय आहत होनेसे मूर्च्छित कोई वीर हाथीकी सूँड़से निकले हुए जलबिन्दुओंसे सिक्त होकर होशमें आकर पुनः युद्ध कर रहा था। किसी

योद्धाके कसकर बाण मारनेपर परस्परमें सटे हुए दो योद्धा एक ही बाणसे विद्ध होकर मरनेपर भी नहीं गिरते थे। डण्डे कटजानेसे राजाओंके श्वेत छत्र भूमिमें लुढककर ऐसे मालूम पड़ते थे मानो मृत्युके भोजनके लिए चाँदीके थाल रखे गये हों। गड्ढोंमें एकत्रित हुआ रक्त यमराजकी रमणियों की साड़ी रँगनेके लिए घोलें हुए कुङ्कुमजल-जैसा प्रतीत हो रहा था। आहत एवं मृत योद्धाओंके रक्तकी नदियाँ बहने लगी थीं। उन रक्तमयी नदियोंमें योद्धाओंके मुण्ड कमल जैसे तैर रहे थे। निरन्तर उस रणक्षेत्रमें मांसको खाते और रक्तको पीते हुए गीदड़ हर्षसे 'हुआँ-हुआँ' कर रहे थे। कच्चा मांस खानेवाले गीध आदि चर्बीके लोभसे नगाड़े फाड़ रहे थे। मृत वीरोंके शरीरोंसे व्याप्त वह युद्धभूमि ब्रह्माकी अर्द्धरचित सृष्टि जैसी ज्ञात हो रही थी।

एकोनविंश सर्ग

संग्राममें शिशुपालकी सेनाको हारते हुए देख वाणासुरका पुत्र वेणुदारी मत्त हाथीके समान यादवसेनापर टूट पड़ा। किन्तु केसरीके सामने वह टिक न सका, बलरामजीने सिंहके समान गरजकर एक ही वाणमें उसकी गर्दन को काट डाला। वेणुदारीके मरनेसे शिशुपालकी सेना अधिक क्रुद्ध होकर लड़ने लगी और अन्तमें सभी योद्धा लोग एकही साथ भगवान् श्रीकृष्णके पुत्र वीर प्रद्युम्न पर चारों ओरसे आक्रमण करने लगे। एकही साथ सब ओरसे आती हुई राजाओंकी सेनाको उस वीर बालकने अकेले ही इसप्रकार रोका जिस प्रकार सब ओरसे आती हुई नदियोंको अकेला समुद्र रोकता है। उस समय शत्रुके चमकते हुए असंख्य बाणोंसे विंधा हुआ बालक प्रद्युम्नका शरीर मंजरीयुक्त विशाल वृक्षके समान शोभ रहा था। उसके बाण बिजलीके समान बहुत ही तेजीसे छूट रहे थे। इस वीर बालकका एक भी बाण विफल नहीं होता था। क्षणमात्रमें ही शिशुपालकी सेनामें भगदड़ मच गयी। त्राहि-त्राहि से आकाश गूंज उठा। कितनोंने तो इस बालककी शरणमें आकर आत्मसमर्पण कर दिया। देवगण इस बालककी वीरता पर प्रसन्न होकर आकाशसे पुष्पवृष्टि कर रहे थे। यह समाचार सुनकर शिशुपाल जल उठा। त्वरित ही वह अक्षौहिणी सेनाके साथ संग्राममें आ पहुँचा। शिशुपालकी वह विकट शस्त्रसज्ज सेना काव्यरचनाके समान सर्वतोभद्रबन्ध (देखो पृ. ७३०), चक्रबन्ध (दे. पृ. ७६९), गोमूत्रिकाबन्ध (दे. पृ. ७३९), मुरजबन्ध (दे. पृ. ७३१) तथा अर्धभ्रमकबन्ध (दे. पृ. ७४९) आदिसे युक्त दुर्जेय दिखाई दे रही थी। वह संग्राममें आते ही यादवसेनासे टकरा गयी। उभय दलोंमें विकट संग्राम होने लगा। उस घोर संग्रामको आकाशसे विद्याधर लोग भी देखकर चकित हो रहे थे। सेनाके असंख्य हाथियों, घोड़ों तथा वीरोंका संहार करता हुआ शिशुपाल तेजीसे आगे बढ़ रहा था और यादवोंकी सेना संत्रस्त हो रही थी। इसप्रकार शिशुपालकी विजय सुनकर भगवान् श्रीकृष्णका पांचजन्य (शंख) बोल उठा। अत्यन्त देदीप्यमान रथपर आरूढ़ महाधनुष लिये भगवान् संग्राममें आ पहुँचे। उनके आते ही शंखध्वनिसे गगन कंपित हो

उठा। क्षणमात्रमें ही शिशुपालका वह सप्त-पंक्तिवद्ध सेना-व्यूह भगवान्‌के एक ही वाणमें ध्वस्त होगया। पृथिवीके भारभूत शिशुपालके जितने योद्धा लोग थे सभीकी गर्दनको भगवान्‌ने अपने तीक्ष्ण बाणोंसे काट डाला। उस समय क्रोधावेशमें आकर भगवान् इतने बाणोंको छोड़ रहे थे कि उन बाणोंसे आकाश ढक गया था-सूर्य भी दिखलाई नहीं पड़ते थे।

विंश सर्ग

संग्राममें भगवान् श्रीकृष्णके अतुलित पराक्रमको शिशुपाल सहन नहीं कर सका। उसकी भौहें तन गयीं, वह सिंहनाद करता हुआ प्रलयकालीन अग्निके समान धधकता हुआ तीक्ष्ण वाण बरसाने लगा। उसके बाणोंसे आकाश इस तरह ढक गया कि धरतीसे ऊपरके सूर्य या विद्याधर कोई नहीं दिखलाई दे रहे थे। शिशुपालने इतने बाण समूहको एक साथ छोड़ा था कि यादवी सेना उसके बाणोंके व्यूहमें पड़कर टस-मस नहीं हो सकती थी। उससे निकलने और भागनेका भी कोई रास्ता नहीं था। शिशुपालके वज्रके समान धनुष्टंकारसे धरती हिल रही थी। यह देख भगवान्‌का धनुप शिशुपालकी ओर तन गया। क्षणमात्रमें ही उन्होंने शिशुपालके सभी बाणों को काटकर पृथिवी पर गिरा दिया। यह देख यादवोंकी सेना जयनाद करती हुई प्रफुल्लित हो उठी। भगवान् इस तेजीसे बाणोंको छोड़ रहे थे कि देखने वालोंकी निगाहें उनपर टिक नहीं रही थीं। भगवान् के इस चमत्कारको देखकर शिशुपालने स्वापन (सुला देनेवाला) अस्त्र चलाया पर भगवान्‌के कौस्तुभ मणिके सामने होते ही वह विलीन हो गया और उस अस्त्रसे ईपत् निद्रित यादवी सेना पुनः सचेत होकर लड़ने लगी। तदुपरान्त शिशुपालने नागास्त्र छोड़ा, जिससे बड़ी बड़ी फणाओंको धारण करते एवं दांतोंसे निरन्तर विष उगलते हुए असंख्य सर्प प्रकट होकर सेनापर आक्रमण करने लगे। किन्तु भगवान्‌के रथकी ध्वजा पर बैठे गरुड़जी भगवान्‌का संकेत पाते ही असंख्य रूप धारण कर रणस्थलमें उड़ने लगे और उनके भयसे सभी सर्प पातालमें छिप गये। तदुपरान्त शिशुपालने आग्नेयास्त्रका प्रयोग कर दिया। परन्तु भगवान्‌के मेघास्त्रके सामने वह भी विफल हो गया। इसप्रकार जब शिशुपालके सभी प्रयत्न विफल हो गये तब वह मर्मस्थलको विदीर्ण करनेवाले अंटसंट कुवचनोंसे भगवान्‌को उत्तेजित करने लगा। राजसूय यज्ञमें शिशुपालकी अभद्र वाणीको सुनकर भगवान्‌का कलुषित हृदय इसबार संग्राममें उसकी नीचताको बरदाश्त नहीं कर सका। अन्तमें भगवान्‌ने अपने सुदर्शन चक्रसे शिशुपालकी गर्दनको ही काट डाला।

कथासार समाप्त

विषय-सूची

(सर्गानुक्रम से श्लोकाङ्क)

सप्तम सर्ग—छहों ऋतुओंके श्रीकृष्ण भगवान्‌की सेवार्थ एक साथ ही प्रवृत्त होनेपर यादवाङ्गनाओंमें कामवृद्धि होना तथा उनका नायक सहित वन-विहारार्थ प्रस्थान करना १–२३, उपवन-शोभाका वर्णन २४–३१, यादवाङ्ग-नाओंके पुष्पावचय तथा विविध विलासोंके वर्णन ३२–६१, यादवाङ्गनाओंके वन-विहार तथा स्वेदादि अनुभावोंका वर्णन ६२-७४ और जलक्रीडाकी इच्छा होनेका वर्णन ७५।

अष्टम सर्ग—जलक्रीडा करनेके लिए यादव-रमणियोंके सविलास प्रस्थाना-दिका वर्णन १-१५, जल-प्रवेश-वर्णन १६-२९, जल-क्रीडा-वर्णन ३०-६२, जलसे बाहर निकलने तथा केश सुखाने आदिका वर्णन ६३–७०, और अग्रिम सर्गमें वर्णयिष्यमाण सूर्यास्तकालका प्रस्ताव ७१।

नवम सर्ग—सूर्यास्तका वर्णन १–१३, सन्ध्याके प्रादुर्भावका वर्णन १४–१७, अन्धकारका वर्णन १८–२४, चन्द्रोदय तथा उससे होनेवाले उद्दीपन विभावादिका वर्णन २५-४२, चन्द्रोदय होनेसे कामातुर यादवाङ्गनाओंके प्रसा-धनका वर्णन ४३–५५, दूतियोंसे कामनियोंका नायकोंके लिए सन्देश देना ५६–६१, उनका नायकोंसे सन्देश कहना ६२–६९, यादव नायकोंके रमणियोंके पास आने तथा मधुपानमें प्रवृत्त होनेका वर्णन ७०–८७।

दशम सर्ग—यादव तथा यादवाङ्गनाओंके मधुपानका वर्णन १–११, मधुपान के अनुभव (नशे)का वर्णन १२-३८, सुरत वर्णनके प्रसंगमें बाह्य तथा आभ्यन्तर सुरतोंका वर्णन ३९–८०, सुरतावसानका वर्णन ८१–९० और प्रभात होनेका प्रस्ताव ९१।

एकादश सर्ग—श्रीकृष्णजीके प्रबोधनार्थं वैतालिककृत प्रभातवर्णन १–६७।

द्वादश सर्ग—श्रीकृष्ण भगवान्‌के सेनासहित प्रस्थान करनेके वर्णनप्रसङ्गमें सेनाके पशुओं, मार्गस्थ धान्यगोपियोंकी चेष्टाओं, सैनिकोंके पर्वतपर चढ़ने और हाथियोंके समूहका वर्णन १-६५, सैनिकोंके यमुना-तटपर पहुंचनेका वर्णन ६६, यमुनाका वर्णन ६७–७० और सैनिकोंके यमुना पार करनेका वर्णन ७१–७७।

त्रयोदश सर्ग—श्रीकृष्ण भगवान्‌को यमुनापार आये हुए जानकर उनकी अगवानीके लिये अनुजों तथा सैनिकोंके साथ युधिष्ठिरके प्रस्थान का वर्णन

१–६, उन दोनोंका प्रणामादि शिष्टाचार, पाण्डव तथा यादव आदिके परस्पर मिलने आदि शिष्टाचारका वर्णन ७–१७, हस्तिनापुर जानेके लिए श्रीकृष्ण भगवान् के रथारूढ होनेपर युधिष्ठिरका सारथि होकर, भीमसेनका चामरिक, अर्जुनका छत्रधर तथा नकुलका पार्श्वानुगामी होकर प्रस्थान करनेका वर्णन १८–२५, हस्तिनापुरमें श्रीकृष्ण भगवान्के प्रवेश करनेका वर्णन २६–३१, उनको देखनेके लिए कार्यान्तरको बीचमें ही छोड़कर रमणियोंके अट्टालिकाओंपर चढ़नेका वर्णन ३२–३८, श्रीकृष्ण भगवान्के उन्हें देखनेका वर्णन ३९, श्रीकृष्ण भगवान् को देखकर कामातुर रमणियोंकी विविध चेष्टाओं तथा अवस्थाओंका वर्णन ४०–४८, राजमार्गको पार कर युधिष्ठिरकी यज्ञसभामें श्रीकृष्ण भगवान्के पहुँचनेका वर्णन ४९–५०, यज्ञ-सभाका वर्णन ५१–६०, रथसे उतरकर श्रीकृष्ण भगवान् के यज्ञसभामें प्रवेश करने, उनके आनेके हर्षमें नगरमें उत्सव होने आदिका वर्णन ६१–६९ ।

चतुर्दश सर्ग—श्रीकृष्ण भगवान्की प्रशंसा करते हुए यज्ञमें सहायक होनेके लिए उनसे युधिष्ठिरके प्रार्थना करनेका वर्णन १–११, श्रीकृष्ण भगवान् का उनके सहायक होनेकी स्वीकृतिके साथ अभयदान प्राप्तकर युधिष्ठिरके यज्ञमें प्रवृत्त होनेका वर्णन १२–१७, यज्ञ-वर्णन १८–५२, भीष्मपितामहसे 'इस यज्ञमें आद्य पूजा किसकी की जावे' ऐसा युधिष्ठिरके प्रश्न करनेपर पितामहका उन्हींको आद्य पूजाके योग्य बतलाना ५३–८७ और तदनुसार युधिष्ठिरका श्रीकृष्ण भगवान् को प्रथमार्घ्य देना ८८ ।

पञ्चदश सर्ग—श्रीकृष्ण भगवान्की प्रथम पूजासे क्रुद्ध शिशुपालकी शारीरिक चेष्टाओंका वर्णन १–११, उसका युधिष्ठिरको, श्रीकृष्ण भगवान्को तथा भीष्मपितामहको उपालम्भ देना १२–३३, उसका श्रीकृष्ण भगवान्की निन्दा करते हुए उनके विरुद्ध राजाओंको भड़काना ३४–३८, (पुनः पक्षान्तरसे श्रीकृष्ण भगवान्की स्तुति करते हुए उनकी निन्दा करनेका वर्णन-प्रक्षिप्त १–३४), उनकी निन्दा कर वेणुदारीके साथ शिशुपालके ताल ठोंक अट्टहास करनेका वर्णन ३९, उक्त निन्दासे श्रीकृष्ण भगवान्के तथा उनके संकेतसे यादवोंके शान्त बने रहने का वर्णन ४०–४३, उक्त निन्दासे क्षुब्ध भीष्मपितामहके विरोधियोंको फटकारने का वर्णन ४४–४६, उक्त वचनसे शिशुपालपक्षीय राजाओंके क्रोधानुभाव तथा

जानेके लिए तैयार होनेका वर्णन ४७–६२, शिशुपालके अत्युद्धत वचन कहनेका वर्णन ६३–६६, पाण्डवोंके मना करनेपर भी यज्ञ–सभासे उसके अपने शिबिर में जाने और युद्धार्थ सेना सन्नद्ध करनेका वर्णन ६७–७९, और युद्धमें जानेके पूर्व रमणियोंके साथ मद्यपान करते हुए शिशुपाल-पक्षीय शूरवीरोंके सम्मुख अपशकुनसूचक विविध चेष्टाएँ होनेका वर्णन ८०–९६।

षोडश सर्ग—शिशुपालके भेजे हुए दूतके श्रीकृष्ण भगवान्‌के यहां आकर उनकी स्तुति तथा निन्दासे युक्त श्लिष्ट वचन कहनेका वर्णन १-१५, उक्त वचन सुनकर श्रीकृष्ण भगवान्‌के संकेतसे सात्यकिके–दूतको उचित उत्तर देनेका वर्णन १६–३७, उसे सुनकर आत्म-प्रशंसा करते हुए दूतके शिशुपालसे मेल करनेके लिए श्रीकृष्ण भगवान्‌से कहने तथा उसके पराक्रमोंका वर्णन करना ३८–८५।

सप्तदश सर्ग—दूतोक्त परुष वचन सुनकर श्रीकृष्ण भगवान्‌के पक्षवाले राजाओंके क्षोभका वर्णन १–१७, उक्त वचनसे श्रीकृष्ण भगवान् तथा उद्धवका शान्त ही बने रहनेका वर्णन १८-१९, दूतको फटकारकर विदा करनेके उपरांत श्रीकृष्णपक्षीय शूरवीरोंके युद्धार्थ तैयार होने तथा धूलि उड़ाते हाथियोंका मद बहाती चतुरङ्गिणी सेनाके साथ आगे बढ़नेका वर्णन २०–६१।

अष्टादश सर्ग—उभय दलकी सेनाओंका घनघोर युद्धवर्णन १–८०।

एकोनविंश सर्ग—बलरामजी तथा वेणुदारीके युद्धका वर्णन १–७, शिनि-शाल्व, उल्मुक-द्रुमके युद्धका वर्णन ८–९, प्रद्युम्नके युद्धका वर्णन १०–२३, उनके युद्धकौशलसे क्रुद्ध शिशुपालके चतुरङ्गिणी सेनासहित युद्धार्थ आगे बढ़नेका वर्णन २४–४०, उसे आगे बढ़ते देखकर श्रीकृष्णकी सेनाके आगे बढ़कर उसकी सेना में प्रविष्ट होनेका तथा उभयपक्षीय सेनाके युद्ध करनेका वर्णन ४१–६४, हाथियोंके युद्धका वर्णन ६५–७१, युद्धभूमि आदिका तथा विजय करती यादव सेनाको शिशुपालके द्वारा रोके जानेका वर्णन ७२–८२, श्रीकृष्ण भगवान्‌का आगे बढ़कर युद्ध करने तथा शत्रुओंको रोकनेका वर्णन ८३–९३ और उनके शत्रुओंके साथ विविध अस्त्र–शस्त्रोंके द्वारा युद्ध करनेका वर्णन ९४–१२०।

विंश सर्ग—शिशुपालका श्रीकृष्ण भगवान्‌को युद्धार्थ ललकारने का वर्णन १, दोनोंके रथोंके एक दूसरेके सम्मुख होनेका वर्णन २–५, क्रुद्ध शिशुपालके

॥ श्रीः ॥

शिशुपालवधम्

'सर्वङ्कषा' 'मणिप्रभा' संस्कृत-हिन्दीटीकोपेतम्

प्रथमः सर्गः

इन्दीवरदलश्याममिन्दिरानन्दकन्दलम् । वन्दारुजनमन्दारं वन्देऽहं यदुनन्दनम् ॥

दन्ताञ्चलेन धरणीतलमुन्नमय्य पातालकेलिषु धृतादिवराहलीलम् ।
उल्लाघनोत्फणफणाधरगीयमानक्रीडावदानमिभराजमुखं नमामः ॥

शारदा शारदाम्भोजवदना वदनाम्बुजे ।
सर्वदा सर्वदाऽस्माकं सन्निधिं सन्निधिं क्रियात् ॥

वाणीं काणभुजीमजीगणदवाशासीच्च वैयासिकी-
मन्तस्तन्त्रमरंस्त पन्नगगवीगुम्फेषु चाजागरीत् ।
वाचामाचकलद्रहस्यमखिलं यश्चाक्षपादस्फुरां
लोकेऽभूद्यदुपज्ञमेव विदुषां सौजन्यजन्यं यशः ॥

मल्लिनाथः सुधीः सोऽयं महोपाध्यायशब्दभाक् ।
विधत्ते माघकाव्यस्य व्याख्यां सर्वङ्कषाभिधाम् ॥

ये शब्दार्थपरीक्षणप्रणयिनो ये वा गुणालंक्रिया-
शिक्षाकौतुकिनो विहर्तुमनसो ये च ध्वनेरध्वगाः ।
क्षुभ्यद्भावतरङ्गिते रससुधापूरे निमङ्क्षन्ति ये
तेषामेव कृते करोमि विवृतिं माघस्य सर्वङ्कषाम् ॥

नेताऽस्मिन् यदुनन्दनः स भगवान्वीरप्रधानो रसः
शृङ्गारादिभिरङ्गवान् विजयते पूर्णा पुनर्वर्णना ।
इन्द्रप्रस्थगमाद्युपायविषयश्चैद्यावसादः फलं
धन्यो माघकविर्वयं तु कृतिनस्तत्सूक्तिसंसेवनात् ॥

इहान्वयमुखेनैव सर्वं व्याख्यायते मया । नामूलं लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते ॥

अथ तत्रभवान् माघकविः 'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये । सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥' इत्यालङ्कारिकवचनप्रामाण्यात् काव्यस्यानेकश्रेयःसाधनतां, 'काव्यालापांश्च वर्जयेत्' इति निषेधस्यासत्काव्यविषयतां च पश्यन् शिशुपालवधाख्यं काव्यं चिकीर्षुश्चिकीर्षितार्थाविघ्नपरिसमाप्तिसंप्रदायाविच्छेदलक्षणसाधनत्वात् 'आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्' इत्याशीराद्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वाच्च काव्यफलं शिशुपालवधबीजभूतं भगवतः श्रीकृष्णस्य नारददर्शनरूपं वस्तु आदौ श्रीशब्दप्रयोगपूर्वकं निर्दिशन् कथामुपक्षिपति—

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि ।
वसन्ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः ॥ १ ॥

श्रिय इति ॥ तत्रादौ श्रीशब्दप्रयोगात् वर्णगणादिशुद्धेरभ्युच्चयः । तदुक्तम्—'देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः । ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा ॥' इति । श्रियो लक्ष्म्याः पतिः । अनेन रुक्मिणीरूपया श्रिया समेत इति सूचितम् । 'राघवत्वे भवेत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि' इति विष्णुपुराणात् । जगन्निवासो जगतामाधारः । कुक्षिस्थाखिलभुवन इति यावत् । तथापि जगत् लोकं शासितुं दुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहाभ्यां नियन्तुं श्रीमति लक्ष्मीयुक्ते वसुदेवसद्मनि वसुदेवरूपिणः कश्यपस्य वेश्मनि वसन् कृष्णरूपेण तिष्ठन् हरिर्विष्णुरम्बरादवतरन्तमायान्तम् । इन्द्रसंदेशकथनार्थमिति भावः । हिरण्यस्य गर्भो हिरण्यगर्भो ब्रह्मा ब्रह्माण्डप्रभवत्वात् । तस्याङ्गभुवं तनूजम् । अथवा तस्याङ्गादवयवादुत्सङ्गा[1]ख्याद्भवतीति हिरण्यगर्भाङ्गभूस्तं मुनिम् । नारदमित्यर्थः । 'उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयंभुवः' इति भागवतात् । ददर्श । कदाचिदिति शेषः । अत्राल्पीयसि वसुदेवसद्मनि सकलजगदाश्रयतया महीयसो हरेराधेयत्वकथनादधिकप्रभेदोऽर्थालंकारः । तदुक्तम्- 'आधाराधेययोरानुरूप्याभावोऽधिको मतः' इति । जगन्निवासस्य जगदेकदेशनिवासित्वमिति विरोधश्च । तथा तकारसकारादेः केवलस्यासकृदावृत्त्या जगज्जगदिति सकृद्व्यञ्जनद्वयसादृश्याच्च वृत्त्यनुप्रासभेदौ शब्दालङ्कारौ । एषां चान्योन्यनैरपेक्ष्येणैकत्र समावेशात्तिलतण्डुलवत्संसृष्टिः । सर्गेऽस्मिन् वंशस्थं वृत्तम् । 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात् ।

१. 'अङ्गभूशब्द उपचारान्मानसेऽपि पुत्रे वर्तते, यथा सरसिजशब्दः स्थलकमलेऽपि । तथाहि—उत्फुल्लस्थलनलिनीवनादमुष्मादुद्धूतः सरसिजसम्भवः परागः ।
नात्याभिर्वियति विवर्तितः समन्तादाधत्ते कनकमयातपत्त्रलक्ष्मीम् ॥' (कि० ५।३९)

❀ मणिप्रभा ❀

ऋद्धि–सिद्धि–नायक होकर भी जिसका नाम विनायक है।
भक्तजनों का विघ्न–विनाशक अथ जो सिद्धि विधायक है॥
जिसकी कृपा विना मारुत तक कभी नहीं स्पन्दन करता।
उस एकदन्त गजवदन पार्वतीनन्दनका वन्दन करता॥ १॥
परम अमङ्गल भी श्मशानमें वसते जो शिव कहलाते।
जिस भिक्षुक के सेवकगण भी अष्टसिद्धि नवनिधि पाते॥
ऐरावतसे उतर इन्द्र जिस वृषारूढके पदरजसे।
उत्तमाङ्गको अञ्चित करते, उस शङ्करको हम भजते॥ २॥
जिसके ज्ञान–जलधिका पारावार न कोई लखते हैं।
ज्ञानहेतु विधिहरिहर जिसका ध्यान सर्वदा धरते हैं॥
वीणा पुस्तक निर्भयमुद्रा माला जिसके करमें राजे।
वह हंसवाहिनी, चरणप्रणत मेरे सब इष्टोंको साजे॥ ३॥
जिसके हाथोंमें शङ्ख सुदर्शन गदा कमल शोभा पाते।
हृद्गत भी स्त्रीको सब तनमें देख चकित सब हो जाते॥
उस अनादिमध्यान्त कृष्णका ध्यान सदा मैं धरता हूँ।
'माघ' काव्य की 'मणिप्रभा' हिन्दी टीका यह करता हूँ॥ ४॥

(रुक्मिणीरूपमें अवतीर्ण) लक्ष्मीके प्रति, जगत्के निवास स्थान, संसारका शासन करनेके लिए शोभा (या–समस्त सम्पत्ति) से युक्त वसुदेव (रूपी कश्यप) के घरमें निवास करते हुए (श्रीकृष्णरूप से अवतीर्ण) विष्णु भगवान्ने आकाशसे (नीचेकी ओर) उतरते हु ब्रह्म–पुत्र नारद मुनिको देखा।

विमर्श—यह कथा–प्रसङ्ग द्वापर तथा कलियुगके सन्धिकालका है। भगवान्को जगत्का शासन करनेके लिए निवास करना कहनेसे उनका कर्माधीन नहीं रहना सूचित होता है॥१॥

तदानीं जनैर्विस्मयादीक्षितुं प्रवृत्तमित्याह—

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः।
पतत्यधो धाम विसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः॥ २॥

गतमिति॥ अविद्यमानावूरू यस्य सोऽनूरुः स सारथिर्यस्य तस्यानूरुसारथेः सूर्यस्य गतं गतिः। भावे क्तः। तिरश्चीनं तिर्यग्भूतम्। 'विभाषाऽञ्चेरदिक् स्त्रियाम्' इति तिर्यक्शब्दादञ्चत्यन्तात्प्रातिपदिकात् स्वार्थे खप्रत्ययः। हविर्भुजोऽग्नेरूर्ध्वज्वलनमूर्ध्वस्फुरणं प्रसिद्धम्। इदं तु सर्वतो विसारि धामाधः पतति। किमेतदिति

सूर्याग्निविलक्षणमदृष्टपूर्वमिदं धाम किमात्मकं स्यादित्याकुलं विस्मयात्संभ्रान्तं यथा तथा जनैरीक्षितमीक्षणं कृतम्। सकर्मकादप्यविवक्षिते कर्मणि क्तः। 'प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इति वचनात्। केचित्कर्मणि क्तान्तं कृत्वा ईक्षितं मुनिं ददर्शेति पूर्वेण योजयन्ति। अत्रोपमेयस्य मुनिधाम्नः सूर्याग्निभ्यामुपमानाभ्यामधःप्रसरणधर्मेणाधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—'उपमानाद्यदन्यस्य व्यतिरेकः स एव सः' इति। 'धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः' इति हेमचन्द्रः। दिवाकरस्तु वृत्तरत्नाकरटीकायां प्रथमपठितेन 'द्विधाकृतात्मा किमयं दिवाकरो, विधूमरोचिः किमयं हुताशनः' इति चरणद्वयेन सहेममेव श्लोकं षट्पदच्छन्दस उदाहरणमाह। तत्राद्यचरणद्वयेन संदेहालंकारो गतमिति तन्निरासश्च बोध्य इत्युपरिष्टात्।

(आकाशसे उतरते नारद मुनिको नीचेसे देखते हुए लोगोंके आश्चर्यित मनोभाव कहते हैं—उसमें लोगोंको सन्देह हुआ कि अपनी आत्माको दो भागोंमें विभक्त कर उसका एक भाग नीचेकी ओर आता हुआ यह सूर्य है क्या? अथवा—धूएंसे रहित ज्वालावाली अग्नि हैं क्या? ऐसे दो सन्देहोंके मनमें उठने पर उनका निराकरण करते हुए लोग सोचते हैं—) सूर्यकी चाल तिर्छी होती है तथा अग्निका ऊपरकी ओर चलना (गमन करना) प्रसिद्ध है (और) सब ओर फैला हुआ वह तेज नीचे गिर रहा है, यह क्या है? इस प्रकार लोगोंने व्याकुलतापूर्वक देखा ॥ २ ॥

अथ भगवान्निरणैषीदित्याह ([१]कुलकम्)—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः ॥ ३ ॥

चय इति ॥ विभुर्वस्तुतत्त्वावधारणसमर्थः स हरिः पुरा प्रथमं त्विषां चय इत्यवधारितं तेजःपुञ्जमात्रत्वेन विनिश्चितम्। ततः प्रत्यासन्ने सति विभाविता विमृष्टा आकृतिः संस्थानं यस्य तं तथोक्तम्। अत एव शरीरी चेतन इत्यवधारितम्। ततो विभक्ता विविच्य गृहीता अवयवा मुखादयो यस्य तं तथोक्तम्। अत एव पुमानित्यवधारितम्। अमुमागच्छन्तं व्यक्तिविशेषं नारदं वास्तवाभिप्रायेणेति पुंल्लिङ्गनिर्वाहः। क्रमात् पूर्वोक्तसामान्यविशेषज्ञानक्रमेण। लोकदृष्ट्येदमुक्तम्। हरिस्तु सर्वं वेदेवेति तत्त्वम्। नारद इत्यबोधि। नारदं बुद्धवानित्यर्थः। नारदस्य कर्मत्वेऽपि निपातशब्देनाभिहितत्वान्न द्वितीया। तिङामुपसंख्यानस्योपलक्षणत्वात्। यथाह वामनः—'निपातेनाभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः। परिगणनस्य प्रायिकत्वात्' इति बुध्यतेः कर्तरि लुङ्। 'दीपजन—' (३।१।६१) इत्यादिना चिण्। 'चिणो

१. 'छन्दोबद्धपदं पद्यं तेनैकेन च मुक्तकम्। द्वाभ्यान्तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते ॥ कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम् ॥' इति। (सा० द० ६।५७८)

लुक्' (६।४।१०४) इति तस्य लुक्। अत्र विभाविताकृति विभक्तावयवमित्यादिना आकृतिविभावनावयवविभावनयोः पदार्थयोर्विशेषणवृत्त्या शरीरित्वपुंस्त्वावधारणहेतुत्वेनोपन्यासात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः। 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति लक्षणात्।

('तदनन्तर भगवान् ने पहचाना' यह कहते हैं—) विभु (संसार के समस्त वस्तुतत्त्व के ज्ञाता) श्रीकृष्ण भगवान् ने पहले उसे 'यह तेजपुञ्ज है' ऐसा निर्णय किया, तदनन्तर हाथ-पैर आदि के कुछ-कुछ धुन्धले रूप में दिखलायी देने पर उसे 'यह शरीरी (देहधारी) है' ऐसा निर्णय किया, अवयव (हाथ-पैर आदि) के स्पष्ट दिखलायी देनेपर 'यह पुरुष है' ऐसा निर्णय किया और (इस) क्रमसे 'ये नारद है' ऐसा जाना ॥ ३ ॥

अथ सप्तभिर्मुनिं विशिनष्टि—

नवानधोऽधो बृहतः पयोधरान् समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम्।
क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना ॥ ४ ॥

नवानित्यादिभिः॥ कीदृशममुम्। नवान् सद्यः संभृतसलिलान्। अतिनीलानिति यावत्। बृहतो विपुलान् पयोधरान् मेघानधोऽधः। मेघानां समीपाधःप्रदेशे स्थितमिति शेषः। 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' (८।२।७) इति द्विर्भावः। तद्योगे द्वितीया। 'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु' इत्यादिवचनात्। समूढः पुञ्जीकृतः। 'समूढः पुञ्जिते भुग्ने' इति विश्वः। कर्पूरस्य परागश्चूर्णं तद्वत्पाण्डुरत्। अत एव क्षणं मेघसमीपावस्थानक्षणे। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। क्षणेषु ताण्डवोत्सवेषु। 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्युभयत्राप्यमरः। उत्क्षिप्ता उपरि धारिता गजेन्द्रस्य कृत्तिश्चर्म येन तेन। 'अजिनं चर्म कृत्तिः स्त्री' इत्यमरः। भूत्या भस्मना सितेन। 'भूतिर्भस्मनि संपदि' इत्यमरः। शम्भुना हरेण स्फुटा उपमा सादृश्यं यस्य तं स्फुटोपमम्। स्फुटशम्भूपममित्यर्थः। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। सदृशपर्याययोस्तुलोपमाशब्दयोः 'अतुलोपमाभ्याम्—' इति निषेधात्सादृश्यवाचित्वे तृतीयेत्याहुः। केचिदिमं श्लोकं चयस्त्विषामित्यतः प्राग्लिखित्वा व्याचक्षते। तेषां पुंस्त्वावधारणात्प्राक् तेजःपिण्डमात्रस्य शम्भूपमौचित्यं चिन्त्यम्।

(अब यहां से सात श्लोकों (१।४-१०) में नारदका वर्णन करते हैं—) नये (अतएव जलपूर्ण होनेसे काले-काले) बड़े बादलोंके नीचेमें स्थित (तथा) ढेर किये गये (या-शोधे हुए) कर्पूरकी धूलि के समान श्वेत वर्ण (अतएव) ताण्डव नृत्यकालमें ऊपर हाथी (गजासुर) के चर्मको ओढ़े हुए तथा भस्म (लपेटने) से शुभ्रवर्ण शिवजी के समान (नारदजी को श्रीकृष्ण भगवान् ने देखा) ॥ ४ ॥

दधानमम्भोरुहकेसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्।
विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव ॥ ५ ॥

दधानमिति ॥ पुनः कीदृशम् । अम्भोरुहकेसरद्युतीः पद्मकिञ्जल्कप्रभापिशङ्गीरित्यर्थः । जटा दधानम्, स्वयं तु शरच्चन्द्रमरीचिरिव रोचिर्यस्य तम् । धवलमित्यर्थः । अत एव विपाकेन परिणामेन पिङ्गाः पिङ्गलास्तुहिनस्थल्यां तुषारभूमौ रोहन्तीति-तुहिनस्थलीरुहः व्रततीततीर्लताव्यूहान् 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः । दधानं धराधरेन्द्रो हिमवान्, तुहिनस्थलीति लिङ्गान्नारदोपमानत्वाच्च तमिव स्थितम् ।

कमल–केसर के समान कान्तिवाली (केसरिया रंग की) जटाओं को धारण करते हुए तथा स्वयं शरद् ऋतु के चन्द्रमाकी किरणके समान (शुभ्रतम) कान्तिवाले (अतएव) पकनेसे पिङ्गल वर्णवाले, बर्फीली भूमि में उत्पन्न लता–समूहों को धारण करते हुए पर्वतराज (हिमालय) के समान स्थित–(नारदजी को कृष्ण भगवान् ने देखा) ।

विमर्श—कतिपय आलोचकोंका मत है कि बर्फीली भूमि में लताओं की उत्पत्ति नहीं होने से यह उपमान असङ्गत है, किन्तु जिस प्रकार विषमें उत्पन्न होनेवाले कीड़े उसी में बढ़ते हैं और विषका उनपर कोई प्रभाव नही पड़ता, अतएव वे विष–प्रभाव से मरते नहीं, उसी प्रकार यहाँ भी बर्फीली भूमिपर लताका उत्पन्न होना समझना चाहिये ॥ ५ ॥

पिशङ्गमौञ्जीयुजमर्जुनच्छविं वसानमेणाजिनमञ्जनद्युति ।
सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम् ॥ ६ ॥

पिशङ्गेति ॥ पुनः कीदृशम् । मुञ्जस्तृणविशेषः तन्मयी मेखला मौञ्जी पिशङ्गया मौञ्ज्या युज्यत इति पिशङ्गमौञ्जीयुक् तम् । 'सत्सूद्विष–' (३।२।६१) इत्यादिना क्विप् । 'स्त्रियाः पुंवत्–' (६।३।३४) इति पिशङ्गशब्दस्य पुंवद्भावः । अर्जुनच्छविं धवलकान्तिम् । 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इत्यमरः । अञ्जनद्युत्यञ्जनवर्णम् एणाजिनं कृष्ण-मृगचर्म वसानमाच्छादयन्तम् । 'वस–आच्छादने' इति धातोः शानच् । सुवर्णसूत्रेण कनकमेखलया आकलितं बद्धमधराम्बरमन्तरीयकं यस्यास्तां शितिवाससो नीलाम्बरस्य रामस्य तनुं विडम्बयन्तम् । अनुकुर्वाणमित्यर्थः । आर्थीयमुपमा ।

पीली मूंजकी मेखला (करधनी) पहने हुए (तथा स्वयं) शुभ्रवर्ण और अञ्जन के समान (काले) मृगचर्मको धारण किये (पहने) हुए (अतएव) सुवर्ण–सूत्र (सोनेको करधनी) से बँधी हुई (नीली) धोतीवाले (शुभ्रवर्ण) बलराम के शरीर का अनुकरण करते हुए (नारदजी को श्रीकृष्ण भगवान् ने देखा) ॥ ६ ॥

विहङ्गराजाङ्गरुहैरिवायतैर्हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः ।
कृतोपवीतं हिमशुभ्रमुच्चकैर्घनं घनान्ते तडितां [1]गणैरिव ॥ ७ ॥

विहङ्गेति ॥ पुनः । विहङ्गराजाङ्गरुहैरिव गरुत्मल्लोमतुल्यैरायतैर्दीर्घैः । हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयी । 'दाण्डिनायन–' (६।४।१७४) इत्यादिना मयटि यलोपनिपातः । तस्यामुर्व्यां रुहा रूढाः । इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः । तासां वल्लीनां तन्तुभिस्तत्तुल्यैः

१. 'गुणैरिव' इति पाठान्तरम् ।

सूक्ष्मावयवैः । उपादानगुणात् । हिरण्मयैः कृतोपवीतं शोभार्थं कल्पितयज्ञसूत्रं स्वयं हिमशुभ्रम् । अत एव घनान्ते शरदि तडितां गणैरुपलक्षितम् । 'तडित्सौदामनी विद्युत्' इत्यमरः । उच्चैरेवोच्चकैरुन्नतं घनं मेघमिव स्थितम् ।

पक्षिराज (गरुड़) के पंखोंके रोमके समान लम्बे, सुनहली भूमिमें उत्पन्न लताके सूत्रोंसे बने यज्ञोपवीत पहने हुए (तथा स्वयं) वर्फके समान अत्यन्त शुभ्रवर्ण, (अतएव) वर्षाके बादमें बिजलीके समूहसे युक्त (शुभ्रवर्ण) मेघके समान स्थित (नारदजीको श्रीकृष्ण भगवान्ने देखा) ॥ ७ ॥

निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना ।
चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम् ॥ ८ ॥

निसर्गेति ॥ पुनः निसर्गात्स्वभावादेव चित्राणि शवलान्युज्ज्वलानि भास्वराणि सूक्ष्माणि पक्ष्माणि लोमानि यस्य तेन लसन् यो बिसच्छेदो मृणालखण्डः । 'छेदः खण्डोऽस्त्रियाम्' इति त्रिकाण्डशेषः । तद्वत्सितेऽङ्गे वपुषि सङ्गिना सक्तेन चारुणा मनोहरेण चमूरुचर्मणा मृगत्वचा कुथेन पृष्ठास्तरणेन । 'प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयोः' इत्यमरः । इन्दवाहनं नागेन्द्रमैरावतमिव [1]चकासतं शोभमानम् । इन्द्रस्य वाहनमिति स्वस्वामिभावमात्रस्य विवक्षितत्वात् 'वाहनमाहितात्' (८।४।८) इति न णत्वम् । यथाह वामनः—'नेन्द्रवाहनशब्दे णत्वमाहितत्वस्याविवक्षितत्वात्' इति । चकासतेः शतरि 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) इति नुमभावः । 'जक्षित्यादयः षट्' (६।१।६) इत्यभ्यस्तसंज्ञा ।

स्वभावतः चितकबरे तथा उज्ज्वल रोमवाले, शोभमान कमलनालके खण्डके समान शुभ्रवर्णवाले शरीरपर स्थित सुन्दर चमूरु मृगके चर्मसे, (अनेक रत्न तथा रङ्गोंसे चित्रित एवं सूक्ष्म सूतवाले तथा शुभ्रवर्ण ऐरावतके शरीरपर ओढ़ाये गये) झूलसे इन्द्रवाहन गजराज—ऐरावतके समान शोभते हुए (नारदजीको श्रीकृष्ण भगवान्ने देखा) ॥ ८ ॥

अजस्रमास्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया ।
पुरः प्रवालैरिव पूरितार्धया विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया ॥ ९ ॥

अजस्रमिति ॥ पुनरजस्रं प्राचुर्येणास्फालितास्ताडिताः । सौष्ठवपरीक्षार्थं न्युब्जाङ्गुष्ठेन तन्त्रीताडनं प्रसिद्धम् । तेषां वल्लकीगुणानां वीणातन्त्रीणां क्षतेन संघर्षणेनोज्ज्वलैरङ्गुष्ठनखांशुभिर्भिन्नया मिश्रया । तद्रागरक्तयेत्यर्थः । अत एव पुरः पुरोभागे प्रवालैर्विद्रुमैः । '—अथ विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः । पूरितार्धयेव स्थितया अच्छस्फटिकाक्षमालया स्वच्छस्फटिकानां मालया । जपमालयेत्यर्थः । 'अच्छो भल्लूके स्फटिकेऽमलेच्छाभिमुखेऽव्ययम्' इति हेमचन्द्रः । तथा प्रसिद्धस्फटि-

---

१. '—आश्रावित—' इति पा० ।

क्ग्रहणादस्येमोंक्षार्थित्वं व्यज्यते। 'स्फटिको मोक्षदः परम्' इति मोक्षार्थिनां स्फटिकाक्षमालाभिधानात्। विभान्तं भासमानम्। भातेः शतृप्रत्ययः। अत्र नखांशुभिन्नतेति स्वगुणत्यागेनान्यगुणस्वीकारलक्षणस्तद्गुणालंकार उक्तः। 'तद्गुणः स्वगुणत्यागात्' इति।

निरन्तर बजाये गये वीणाके तारोंसे क्षत होने (घिसने) के कारण स्वभावतः उज्ज्वल अँगूठेके नखकी कान्तिसे मिली हुई (अतएव) मूंगोंसे आधे भागमें परिपूर्ण—सी स्वच्छ स्फटिकमालासे शोभते हुए (नारदजीको श्रीकृष्ण भगवान्ने देखा)।

विमर्श—मुमुक्षु नारदजी वीणाको सदा बजाते थे, अतएव उसके तारोंसे अंगूठा घिसकर कुछ रक्तवर्ण हो गया है और स्वभावतः स्वच्छ नखकी कान्ति भी उससे लाल होकर स्फटिकमालापर पड़ रही हैं, वह ऐसी मालूम पड़ती है कि इन स्फटिकमणिके दानोंमें आधा मूंगा लगा है। उस स्फटिकमालासे नारदजी शोभमान हो रहे थे॥ ९॥

रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः॥ १०॥

रणद्भिरिति॥ पुनः नभस्वतो वायोराघट्टनया आघातेन पृथगसंकीर्णं रणद्भिर्ध्वनद्भिः। अनुरणनोत्पद्यमानैरित्यर्थः। 'श्रुत्यारब्धमनुरणनं स्वरः' इति लक्षणात्। तदुक्तं रत्नाकरे—श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः: स्वनो रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते॥' इति। श्रुतिर्नाम स्वरारम्भकावयवः शब्दविशेषः। तदुक्तम्—प्रथमश्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः। सा श्रुतिः संपरिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा।" इति। विभिन्नानि प्रतिनियतसंख्या व्यवस्थितानि श्रुतीनां मण्डलानि समूहा येषां तैर्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः। श्रुतिसंख्यानियमश्च दर्शितः—'चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः। द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्रिरृषभधैवतौ॥' स्वराः षड्जादयः सप्तोक्तलक्षणाः। तदुक्तम्—'श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः। पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते। तेषां संज्ञाः सरिगमपधनीत्यपरा मताः॥' इति। तैः स्वरैः स्फुटीभवन्त्यो ग्रामविशेषाणां षड्जाद्यपरनामकानां स्वरसंघातभेदानां त्रयाणां मूर्च्छनाः स्वरारोहावरोहक्रमभेदा यस्यां तां महतीं (महतीनाम्नीं) निजवीणाम्। 'विश्वावसोस्तु बृहती तुम्बुरोस्तु कलावती। महती नारदस्य स्यात्सरस्वत्यास्तु कच्छपी॥' इति वैजयन्ती। मुहुर्मुहुरवेक्षमाणम्। तन्त्रीयोजनाभेदलक्षणमहिम्ना पुरुषप्रयत्नमन्तरेणैवाविसंवादं ध्वनतीति कौतुकादनुसंदधानमित्यर्थः। अथ ग्रामलक्षणम् – 'यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता भवन्ति हि। तथा स्वराणां सन्दोहो ग्राम इत्यभिधीयते॥ षड्जग्रामो भवेदादौ मध्यमग्राम एव च। गान्धारग्राम इत्येतद्ग्रामत्रयमुदाहृतम्॥' इति तथा च – नन्द्यावर्तोऽथ जीमूतः सुभद्रो ग्रामकास्त्रयः। षड्जमध्यमगान्धारास्त्रयाणां जन्महेतवः॥' इति। मूर्च्छनालक्षणं च—'क्रमात्स्व-

राणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् । सा मूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्त सप्त च ॥' ग्रामत्रयेऽपि प्रत्येकं सप्त सप्त मूर्च्छना इत्येकविंशतिर्मूर्च्छना भवन्ति । तत्र नामानि तु 'नानपेक्षितमुच्यते' इति प्रतिज्ञाभङ्गभयान्न लिख्यन्त इति सर्वमवदातम् । अत्र पुंव्यापारमन्तरेण स्वराद्याविर्भावोक्त्या कोऽपि लोकातिक्रान्तोऽयं शिल्पसौष्ठवातिशयो वीणायाः प्रतीयते । तेन सह स्वतः प्रसिद्धातिशयस्याभेदेनाध्यवसितत्वात्तन्मूलातिशयोक्तिरलङ्कारः । सा च महत्याः पुंव्यापारं विना मूर्च्छाद्यसंवन्धेऽपि संवन्धाभिधानादसंवन्धे संवन्धरूपतया पुंव्यापाराख्यरूपकारणं विनापि मूर्च्छनादिकार्योत्पत्तिद्योतनाद्विभावना व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिरिति संक्षेपः ।

वायु के आघातसे पृथक् ध्वनि करते हुए, अवस्थित-भेद को प्राप्त श्रुति समूहवाले स्वरोंसे स्पष्ट होते हुए (षड्ज आदि तीन स्वर–समूहोंवाले) ग्रामविशेषों की मूर्च्छना (स्वरों के आरोहावरोह–चढ़ाव–उतारके क्रमभेद) वाली 'महती' नामकी अपनी वीणाको बार–बार देखते हुए (नारदजीको श्रीकृष्ण भगवान् ने देखा) ।

विमर्श—नारदजी आकाश से नीचे उतर रहे थे तब हाथ में अपनी 'महती' नामकी वीणा लिये थे, उसमें हवा के टक्कर लगने से वह वीणा झनकार कर रही थी, जिससे (षड्जऋषभ आदि सात) स्वर प्रकट हो रहे थे और उनसे ग्राम–विशेषकी मूर्च्छनाएँ स्पष्ट निकल रही थीं, ऐसी वीणाको देखते हुए नारदजी नीचेकी ओर उतर रहे थे, तब उन्हें श्रीकृष्ण भगवान् ने देखा । ग्राम तीन, स्वर सात तथा मूर्च्छना इक्कीस होती है, उन्हें ऊपर 'संस्कृत टीका' में देखना चाहिये ॥ १० ॥

निवर्त्य सोऽनुव्रजतः कृतानतीनतीन्द्रियज्ञाननिधिर्नभःसदः ।
समासदत्सादितदैत्यसंपदः पदं महेन्द्रालयचारु चक्रिणः ॥ ११ ॥

निवर्त्येति ॥ अतीन्द्रिया इन्द्रियमतिक्रान्ता देशकालस्वरूपाद्विप्रकृष्टार्थाः 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः । 'द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु परलिङ्गताप्रतिषेधो वक्तव्यः' इति विशेष्यलिङ्गत्वम् । तेषां ज्ञानं तस्य निधिः । सर्वार्थद्रष्टेत्यर्थः । कृतानतीन् कृतप्रणामाननुव्रजतोऽनुगच्छतः नभस्याकाशे सीदन्ति गच्छन्तीति नभःसदः सुरान् । 'सत्सूद्विष–' (३।२।६१) इत्यादिना क्विप । निवर्त्य प्रतिषिध्य स मुनिः सादितदैत्यसंपदः सादिताः विध्वस्तीकृताः दैत्यानां संपदो येन तस्य चक्रिणः कृष्णस्य पदं स्थानं महेन्द्रालयचारु इन्द्रभवनमिव भासमानं समासदत् । समाङ्पूर्वात्षद्लृधातोर्लुङ् । 'पुषादि–' (३।१।५५) इत्यङ् । अत्र नतीनतीपदःपदमिति च द्वयोर्व्यञ्जनयुग्मयोरसकृदावृत्त्या छेकानुप्रासः । अन्यत्र वृत्त्यनुप्रास इत्यनयोः संसृष्टिः ।

अतीन्द्रिय ज्ञान के आकर वे नारदजी अनुगमन करते हुए (तथा लौटते समय) प्रणाम किये हुए देवोंको लौटाकार दैत्यसम्पत्तिको ध्वस्त किये हुए श्रीकृष्ण भगवान् के स्वर्ग के समान रमणीय स्थानको प्राप्त किये ॥ ११ ॥

विमर्श—जब नारद देवकार्य-सम्पादन करनेके लिए स्वर्गसे इन्द्रका सन्देश लेकर द्वारकापुरीको चले तब उनके पीछे-पीछे देवता लोग भी चले और उनको नारदजीने वापस कर दिया तो वे लोग उनको नतमस्तक होकर उनकी आज्ञाको स्वीकार किया (नतमस्तक होकर आज्ञा स्वीकार करना शिष्ट-लोकव्यवहार है), क्योंकि नारदजी देवर्षि थे तथा अतीन्द्रिय (जिन पदार्थोंको नेत्रादि इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता) उन पदार्थोंके जाननेके लिए आकर थे, अतः देवोंको नारदजीका अनुगमन करना तथा नतमस्तक होकर आज्ञा स्वीकार करना उचित ही था। श्रीकृष्ण भगवान्को, दैत्य-सम्पत्तिको नष्ट करनेवाला कहकर उनके अवतार लेनेका प्रयोजन समाप्त-प्रायः हो चुका है, यह सूचित किया गया है। उपेन्द्र (इन्द्रके छोटे भाई) श्रीकृष्ण भगवान्के स्थान (द्वारकापुरी) को महेन्द्र-भवनके समान सुन्दर होना उचित ही है ॥ ११ ॥

[1]पतत्पतङ्गप्रतिमस्तपोनिधिः पुरोऽस्य यावन्न भुवि व्यलीयत ।
गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः ॥ १२ ॥

पतदिति ॥ पतन् यः पतङ्गः सूर्यः स प्रतिमोपमानं यस्य सः । 'पतङ्गौ पक्षिसूर्यौ च' इत्यमरः । तपोनिधिर्मुनिरस्य हरेः पुरो भुवि पुरःप्रदेशे यावन्न व्यलीयत नातिष्ठत् । 'लीङ् गतौ' इति धातोर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । तावदच्युतो हरिर्गिरेः शैलात् । तडितोऽस्य सन्तीति तडित्वान्मेघ इव । 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (८।२।९) इति मतुपो मकारस्य वकारः । 'तसौ मत्वर्थे' (१।४।१९) इति भसंज्ञायामेकसंज्ञाधिकारेणापदत्वान्न जश्त्वम् । उच्चकैरुन्नतात्पीठादासनाज्जवेनोदतिष्ठत् । मुनिचरणस्य भूस्पर्शात्प्रागेव स्वयमुत्थितवान् । 'ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति । प्रत्युत्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥' इति शास्त्रमनुस्मरन्निति भावः । 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' (१।३।२४) इति नियमादिहोर्ध्वकर्मणि नात्मनेपदम् । पतत्पतङ्ग इत्यत्र पतङ्गस्य पतनासम्भवादियमभूतोपमेत्याचार्यदण्डिप्रभृतयो बभणुः । अत एवाप्रसिद्धस्योपमानत्वायोगादुत्प्रेक्षेत्याधुनिकालंकारिकाः सर्वे वर्णयन्ति ।

गिरते हुए सूर्यके समान तपोनिधि (नारदजी) जबतक पृथ्वीपर इन (श्रीकृष्ण भगवान्) के आगे नहीं स्थित हुए, तभीतक (उनके पृथ्वीपर स्थित होनेके पहले ही) श्रीकृष्ण भगवान् ऊँचे पर्वतसे मेघके समान ऊँचे सिंहासनसे वेगपूर्वक (अतिशीघ्र) उठ गये ॥ १२ ॥

अथ प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैर्धृते कथञ्चित्फणिनां गणैरधः ।
न्यधायिषातामभिदेवकीसुतं सुतेन धातुश्चरणौ भुवस्तले ॥ १३ ॥

अथेति ॥ अथाच्युताभ्युत्थानानन्तरं धातुः सुतेन नारदेन प्रयत्नोन्नमितास्तथापि मुनिपादन्यासभारादानमन्त्यः फणा येषां तैः फणिनां गणैरधोऽधःप्रदेशे कथंचिद्धृते

१. 'पतन् पतङ्ग—' इति पा० ।

स्थापिते भुवस्तले । भूपृष्ठे अभिदेवकीसुतं देवकीसुतमभि । लक्ष्यीकृत्येत्यर्थः । 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' (२।१।१४) इत्यव्ययीभावः । चरणौ पादौ । 'पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । न्यधायिषातां निहितौ । दधातेः कर्मणि लुङ् । 'स्यसिच्सी—' (६।४।६२) इत्यादिना चिण्वदिटि युक् । अत्र फणानां नमनोन्नमनासंबन्धेऽपि मुनिगौरवाय तत्संबन्धाभिधानादतिशयोक्तिभेदः ।

इस (श्रीकृष्ण भगवान्के अभ्युत्थान करने) के बाद प्रयत्नपूर्वक ऊपर उठानेपर भी अधिक भार होनेसे झुकते हुए फणाओंवाले सर्प-समूहोंसे नीचेकी ओर कथञ्चित् (बड़ी कठिनाईसे) धारण किये गये भूतलपर ब्रह्माके पुत्र (श्रीनारदजी) ने देवकीपुत्र (श्रीकृष्ण भगवान्) के सामने दोनों पैर रखे अर्थात् भूतलपर खड़े हुए।

विमर्श—पातालस्थ सर्पकी फणाओंपर पृथ्वी स्थित हैं ऐसा पुराणोंमें वर्णन है। जब नारदजी भूतलपर पैर रखने लगे तब पृथ्वीका बोझ इतना अधिक हो गया कि अधःस्थित सर्पोंकी फणाएँ प्रयत्नपूर्वक ऊपर उठाने पर भी नीचेको झुकती जा रही थीं और वे बड़ी कठिनाईसे पृथ्वीका बोझ सम्हाल रहे थे। इससे नारदजीका गौरवाधिक्य प्रदर्शित किया गया है ॥ १३ ॥

तमर्घ्यमर्घ्यादिकमादिपूरुषः सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत् ।
गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः ॥ १४ ॥

तमिति ॥ आदिपूरुषः पुराणपुरुषः । 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३७) इति वा दीर्घः । स कृष्णः । अर्घं पूजामर्हमर्घ्यः । 'दण्डादिभ्यो यत्' (५।१।६६) । तं नारदम् । अर्घार्थं द्रव्यमर्घ्यम् । 'पादार्घाभ्यां च' (५।४।२५) इति यत्प्रत्ययः । 'मूल्ये पूजाविधावर्घः', षट् तु त्रिष्वर्घ्यमर्घार्थे' इति चामरः ॥ अर्घ्यमादिर्यस्यास्तयाऽर्घ्यादिकया । 'शेषाद्विभाषा' (५।४।१५४) इति विकल्पेन कप्प्रत्ययः । सपर्यया पूजया । 'पूजा नमस्याऽपचितिः सपर्यार्चार्हणाः समाः' इत्यमरः । साधु यथा तथा पर्यपूपुजत् परिपूजितवान् । णौ चङन्तं कर्तव्यम् । युक्तं चैतदित्यर्थान्तरं न्यस्यति-गृहानिति । मनस ईषिणो मनीषिणः सन्तः पृषोदरादित्वात्साधुः । अपुण्यकृतां पुण्यमकृतवताम् । 'सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः' (३।२।८९) इति भूते क्विप् । गृहान्प्रणयादुपैतुमभीप्सवः । प्राप्तुमिच्छवः । आप्नोतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'आप्ज्ञप्यृधामीत्' (७।४।५५) इतीकारः । न भवन्ति किन्तु पुण्यकृतामेव । अतः कृच्छ्रलभ्याः सन्तः पूज्या इत्यर्थः ।

आदि पुरुष उन श्रीकृष्ण भगवान्ने अर्घ्य आदि पूजासामग्रियोंसे पूज्य उन (नारदजी) की विधिपूर्वक पूजा की (कृष्ण भगवान् का यह कार्य उचित भी था), क्योंकि महात्मा लोग अपुण्यात्माओंके घरपर प्रेमसे आना नहीं चाहते हैं ॥ १४ ॥

---

१. 'तमर्घ्यमर्घा—' इति पा० ।

न यावदेतावुदपश्यदुत्थितौ जनस्तुषाराञ्जनपर्वताविव ।
स्वहस्तदत्ते मुनिमासने मुनिश्चिरन्तनस्तावदभिन्यवीविशत् ॥ १५ ॥

न यावदिति ॥ उत्थितावेतौ मुनिकृष्णौ जनस्तुषाराञ्जनयोः पर्वताविव यावन्नोदपश्यन्नोत्प्रेक्षितवान् । तावच्चिरन्तनः पुराणो मुनिः कृष्णः, पुरा किल भगवान्बदरिकारण्ये नारायणावतारेण तपसि स्थितवान्' इति पुराणात् । 'सायंचिरम्—' (४।३।२३) इत्यादिना ट्युप्रत्ययस्तुडागमश्च । स्वहस्तेन दत्ते आसने मुनिं नारदमभिन्यवीविशत् स्वाभिमुखेनोपवेशितवान् अभिनिपूर्वाद्विशतेर्ण्यन्ताल्लुङि 'णिश्रि' (३।१।४८) इति चङ् ।

(वहांपर उपस्थित) लोगोंने खड़े हुए तुषारपर्वत (हिमालय) तथा अञ्जनपर्वत (नीलगिरि) के समान इन दोनों (नारदजी तथा श्रीकृष्ण भगवान्) को जब तक कि देखा तभी-तक अर्थात् लोगोंके देखनेके पहले ही प्राचीन मुनि (श्रीकृष्ण भगवान्) ने अपने हाथसे दिये हुए आसनपर मुनि (नारदजी) को बैठाया ।

विमर्श—नारदजी शुभ्र होनेसे हिमालय पर्वतके समान तथा श्रीकृष्ण भगवान् श्याम होनेसे नीलगिरि पर्वतके समान थे ॥ १५ ॥

महामहानीलशिलारुचः पुरो निषेदिवान् कंसकृषः स विष्टरे ।
श्रितोदयाद्रेरभिसायमुच्चकैरचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम् ॥ १६ ॥

महामहेति ॥ महत्या महानीलशिलायाः सिंहलद्वीपसंभवेन्द्रनीलोपलस्य रुगिव रुग्यस्य तस्येत्युपमालंकारः । 'सिंहलस्याकरोद्भूता महानीलास्तु ते स्मृताः' इति भगवानगस्त्यः । कंसकृषो हरेः पुरोऽग्रे उच्चकैरुन्नते विष्टर आसने । 'वृक्षासनयोर्विष्टरः' (८।३।९३) इति षत्वम् । निषेदिवानुपविष्टवान् । 'भाषायां सदवसश्रुवः' (३।२।१०८) इति क्वसुः । स मुनिरभिसायं सायंकालाभिमुखम् । अव्ययीभावसमासः । सायंकालस्य कार्ष्ण्यात्कृष्णोपमानत्वम् । श्रित आश्रित उदयाद्रिरुदयाचलो येन तस्य चन्द्रमसोऽभिरामतां शोभामचूचुरच्चोरितवान् । प्राप्तवानित्यर्थः । 'चुर—स्तेये' 'णिश्रि' (३।१।३८) इति चङ् । 'अन्यस्यान्यधर्मसंबन्धासंभवाच्चन्द्रमसोऽभिरामतामिवाभिरामतामित्यौपम्यपर्यवसानादसंभवद्वस्तुसंबन्धरूपो निदर्शनाभेदः स चोक्तोपमयाऽङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यते ।

विशाल इन्द्रनील मणिकी कान्तिके समान कान्ति (श्यामवर्ण) वाले कंसहन्ता (श्रीकृष्ण भगवान्) के आगे ऊँचे आसनपर बैठे हुए वे (नारदजी) सायङ्कालमें उन्नत उदयाचल-आरूढ़ चन्द्रमाकी शोभाको चुरा लिये ।

विमर्श—श्यामवर्ण श्रीकृष्ण भगवान्के आगे ऊँचे सुवर्ण सिंहासनपर बैठे हुए शुभ्रवर्ण नारदजी सायङ्काल ऊँचे उदयाचलपर आरूढ शुभ्रवर्ण चन्द्रमाके समान शोभित होते थे ॥१६॥

१. पर्वताकृती' इति पा० ।

विधाय तस्यापचितिं प्रसेदुषः प्रकाममप्रीयत यज्वनां प्रियः।
ग्रहीतुमार्यान्परिचर्यया मुहुर्महानुभावा हि नितान्तमर्थिनः ॥ १७ ॥

विधायेति ॥ यज्वानो विधिनेष्टवन्तः। 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः। 'सुयजोः—' (३।२।१०३) इति यजिधातोङ्‌वनिप्। तेषां प्रियो हरिः प्रसेदुषः प्रसन्नस्य। 'सदेः क्वसुः' इत्युक्तम्। तस्य मुनेरपचितिं पूजाम्। 'पूजा नमस्याऽपचितिः' इत्यमरः। विधाय विशेषेण मनोवाक्कायकर्मभिस्तत्परतया कृत्वा प्रकाममत्यर्थमप्रीयत प्रीतो बभूव। प्रीयतेर्दैवादिकात्कर्तरि लङ्‌। मुनिपूजायाः प्रीतिहेतुत्वेऽर्थान्तरं न्यस्यति—महानुभावा महात्मान आर्यान् पूज्यान् परिचर्यया मुहुर्ग्रहीतुं वशीकर्तुम्। 'ग्रहोऽलिटि दीर्घः' (७।२।३७) इतीटो दीर्घः। नितान्तमर्थिनोऽभिलाषवन्तो हि भवन्ति। अर्थोऽभिलाषः स एषामस्तीति मत्वर्थं इनिर्न तु णिनिः 'कृद्वृत्तेस्तद्धितवृत्तिर्बलीयसी' इति भाष्यात्।

विधिवत् यज्ञकर्ताओंके प्रिय (श्रीकृष्ण भगवान्) प्रसन्न उन (नारदजी) की पूजाकर अत्यन्त हर्षित हुए, क्योंकि महाप्रभावशाली लोग श्रेष्ठोंकी पूजा से बराबर आराधना (या—वशीभूत) करने के लिए अत्यन्त अभिलाषुक होते हैं ॥ १७ ॥

अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलोर्निधाय पाणावृषिणाऽभ्युदीरिताः।
अघौघविध्वंसविधौ पटीयसीर्नतेन मूर्ध्ना हरिरग्रहीदपः ॥ १८ ॥

अशेषेति ॥ अशेषेभ्यस्तीर्थेभ्य उपहृता आहृतास्तथा। कमण्डलोरुदकपात्रादुद्धृत्येत्यर्थः। पाणौ निधाय क्रियान्तराक्षिप्तक्रियापेक्षया कमण्डलोरपादानत्वम्। 'अस्त्री कमण्डलुः कुण्डी' इत्यमरः। ऋषिणाऽभ्युदीरिता आक्षिप्ता अत एवाघौघानां पापसमूहानां विध्वंसविधौ विनाशकरणे पटीयसीः समर्थतराः पटुशब्दादीयसुनि 'उगितश्च' (४।१।६) इति ङीप्। अपो जलानि हरिर्नतेन मूर्ध्नाऽग्रहीत स्वीकृतवान्। ग्रहेर्लुङ्।

श्रीकृष्ण भगवान्ने समस्त तीर्थोंसे लाये गये, कमण्डलुसे (निकालकर) हथेलीपर रखकर नारदजीके द्वारा छिड़के गये तथा पापसमूहको नष्ट करनेमें अतिशय समर्थ जलको नम्र मस्तकसे ग्रहण किया ॥ १८ ॥

स काञ्चने यत्र मुनेरनुज्ञया नवाम्बुदश्यामवपुर्न्यविक्षत।
जिगाय जम्बूजनितश्रियः श्रियं सुमेरुशृङ्गस्य तदा तदासनम् ॥ १९ ॥

स काञ्चन इति ॥ नवाम्बुदश्यामवपुः स हरिर्मुनेरनुज्ञया काञ्चने काञ्चनविकारे। वैकारिकोऽण्प्रत्ययः। यत्रासने न्यविक्षतोपविष्टवान्। निपूर्वकविशो लुङि 'नेर्विशः' (१।३।१७) इत्यात्मनेपदे 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (३।१।४५)। तदासनं तदा हर्युपवेशनसमये जम्बूर्नीलफलविशेषः। 'जम्बूः सुरभिपत्रा च राजजम्बूर्महाफला' इत्यभिधानरत्नमालायाम्। तया जनिता श्रीर्यस्य तत्तथोक्तस्य। भाषित-

पुंस्कत्वात्पक्षे पुंवद्भावान्नुमभावः । सुमेरुशृङ्गस्य श्रियं जिगाय । अभिभावितवानित्यर्थः । 'सन्लिटोर्जः' (७।३।५७) इति कुत्वम् । उपमानुप्रासयोः संसृष्टिः ।

नये (जलपूर्ण) मेघके समान श्यामशरीर वे (श्रीकृष्ण भगवान्) नारदजीके कहने पर जब सुवर्णासनपर बैठे, तब उस आसनने जामुनसे शोभमान सुमेरुपर्वतकी चोटीकी शोभाको जीत लिया ॥ १९ ॥

स तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः ।
विदिद्युते वाडवजातवेदसः शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः ॥ २० ॥

स तप्तेति ॥ तप्तं पुटपाकशोधितं कार्तस्वरं सुवर्णम् । 'रुक्मंकार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तद्वद्भास्वरं दीप्यमानमम्बरं यस्य सः । पीताम्बर इत्यर्थः । कठोरताराधिपस्य पूर्णेन्दोर्लाञ्छनस्य छविरिव छविर्यस्य स इत्युपमानपूर्वपदो बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्च । स हरिर्वाडवजातवेदसो वाडवाग्नेः शिखाभिर्ज्वालाभिराश्लिष्टो व्याप्तोऽम्भसां निधिरिव समुद्र इव विदिद्युते बभौ ।

तपाये गये सुवर्णके समान देदीप्यमान पीताम्बरवाले तथा स्वयं पूर्ण चन्द्रके लाञ्छनके समान (श्याम) कान्तिवाले ये (श्रीकृष्ण भगवान्) वडवाग्निकी (पीतवर्ण) ज्वालाओं से संयुक्त समुद्र के समान शोभने लगे ॥ २० ॥

रथाङ्गपाणेः पटलेन रोचिषामृषित्विषः संवलिता विरेजिरे ।
चलत्पलाशान्तरगोचरास्तरोस्तुषारमूर्तेरिव नक्तमंशवः ॥ २१ ॥

रथाङ्गपाणेरिति ॥ रथाङ्गं चक्रं पाणौ यस्य तस्य हरेः । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' (वा०) इति पाणेः परनिपातः । रोचिषां छवीनां पटलेन समूहेन संवलिता मिलिता ऋषित्विषो नक्तं रात्रौ । सप्तम्यर्थेऽव्ययम् । तरोश्चलतां पलाशानां पत्राणामन्तराणि गोचर आश्रयो येषां ते, तुषारा मूर्तिर्यस्य तस्येन्दोरंशव इव विरेजिरे चकाशिरे ।

सुदर्शनचक्रधारी (श्रीकृष्ण भगवान्) की (श्यामवर्ण) छविके समूहसे मिश्रित (शुभ्रवर्ण) नारदजी की छवि रात्रिमें वृक्षके हिलते हुए पत्तोंके बीचसे आती हुई चन्द्रकिरणोंके समान शोभती थी ॥ २१ ॥

प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभिः शुभैश्च सप्तच्छदपांशुपाण्डुभिः ।
परस्परेण च्छुरितामलच्छवी तदैकवर्णाविव तौ बभूवतुः ॥ २२ ॥

प्रफुल्लेति ॥ प्रफुल्लतीति प्रफुल्लं विकसितम् । 'फुल्ल विकासने' इति धातोः पचाद्यजन्तम् । फले निष्ठायाम् । 'अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' इति निपातनात्प्रफुल्लमित्येवेति क्षीरस्वामी । तापिच्छस्य तमालस्य पुष्पं तापिच्छम् । 'फले लुक्' (४।३।१६३) इति तद्धितलुक् । 'द्विहीनं प्रसवे सर्वम्' इति नपुंसकत्वम् । 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इत्यमरः । तेन सदृशैः प्रफुल्लतापिच्छनिभैः ।

नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः । अत एव 'स्युरुत्तरपदे त्वमी' इति 'निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इत्यमरः । सप्त छदाः पर्णानि पर्वसु यस्येति सप्तच्छदो वृक्षभेदः । 'सप्तपर्णो विशालत्वक्शारदो विषमच्छदः' इत्यमरः । संख्याशब्दस्य वृत्तिविषये वीप्सार्थत्वं सप्तपर्णादिवदित्युक्तं भाष्ये । शेषं तापिच्छवत् । तस्य पुष्पाणि सप्तच्छदानि तेषां पांशुवत्पाण्डुभिः शुभ्रैरभीषुभिरन्योन्यरश्मिभिः 'अभीषुः प्रग्रहे रश्मौ' इति शाश्वतः । परस्परेण छुरिते रूषिते अमले छवी अन्योन्यकान्ती ययोस्तौ । छव्योरभीषूणामवयवावयविभावाद्भेदनिर्देशः । तौ हरिनारदौ तदेकवर्णाविव बभूवतुः । उभयप्रभामेलनादुभयोरपि सर्वाङ्गीणो गङ्गायमुनासंगम इव स्फटिकेन्द्रनीलमणिप्रभामेलनप्रायः कश्चिदेको वर्णः प्रादुर्बभूव तन्निमित्ता चेयमनयोरेकवर्णत्वोत्प्रेक्षा ।

खिले हुये तमाल (आबनूस) के समान (श्यामल) तथा सप्तच्छद (छितवन) के पराग के समान पाण्डु (श्वेत) शुभ (अविच्छिन्न, या—माङ्गलिक) किरणोंसे (आमने-सामने बैठने से) परस्पर में मिश्रित हुई कान्तिवाले वे दोनों (नारदजी तथा श्रीकृष्ण भगवान्) मानों एक रंगके हो गये ।

विमर्श—गङ्गा तथा यमुनाके सङ्गम के समान, अथ च—स्फटिक तथा इन्द्रनीलमणिकी मिश्रित कान्ति के समान मालूम पड़ते थे ॥ २२ ॥

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसंभवा मुदः ॥ २३ ॥

युगान्तेति ॥ युगान्तकाले प्रतिसंहृतात्मनः आत्मन्युपसंहृता आत्मनो जीवा येन तस्य कैटभद्विषो हरेर्यस्यां तनौ जगन्ति सविकासं सविस्तरमासतातिष्ठन् । 'आसउपवेशने' लङ् । तत्र तनौ देहे तपोधनाभ्यागमेन सभवन्तीति संभवाः संभूताः । पचाद्यच् । मुदः संतोषा न ममुः । अतिरिच्यन्ते स्मेत्यर्थः । चतुर्दशभुवनभरणपर्याप्ते वपुषि अन्तर्न मान्तीति कविप्रौढोक्तिसिद्धातिशयेन स्वतःसिद्धस्याभेदेनाध्यवसितातिशयोक्तिः, सा च मुदामन्तःसंबन्धेऽप्यसंबन्धोक्त्या संबन्धासंबन्धरूपः ।

युगोंके अन्त (प्रलय) कालमें जीवों का उपसंहार करनेवाले कैटभारि (श्रीकृष्ण भगवान्) के जिस शरीर में चौदहों भुवन विस्तार के साथ रहते थे, उसी शरीर में तपोधन (नारदजी) के आनेसे उत्पन्न हर्ष नहीं समा सका ॥ २३ ॥

निदाघधामानमिवाधिदीधितिं मुदा विकासं मुनिमभ्युपेयुषी ।
विलोचने बिभ्रदधिश्रितश्रिणी सपुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोऽभवत् ॥२४॥

निदाघेति । निदाघमुष्णं धाम किरणो यस्य तं तथोक्तम् । 'निदाघो ग्रीष्मकाले स्यादुष्णस्वेदाम्बुनोरपि' इति विश्वः । अर्कमिवाधिदीधितिमधिकतेजसं मुनिमभिलक्ष्य । 'अभिरभागे' इति लक्षणे कर्मप्रवचनीयसंज्ञा 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' । (२।३।८) मुदा विकासमुपेयुषी उपगते । क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । अत एवाधि-

श्रिता प्राप्ता श्रीर्याभ्यां ते तथोक्ते। 'इकोऽचि विभक्तौ' (७।१।७३) इति नुमागमः। विलोचने बिभ्रत्। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) इति नुमभावः। स हरिः पुण्डरीकाक्ष इत्येवं स्फुटोऽभवत्। सूर्यसंनिधाने श्रीविकासभावादक्ष्णां पुण्डरीकसाधर्म्यात्। पुण्डरीके इवाक्षिणी यस्येत्यवयवार्थलाभे पुण्डरीकाक्ष इति व्यक्तम्। अन्वर्थसंज्ञोऽभूदित्यर्थः। बिभ्रत् स्फुटोऽभवदिति पदार्थहेतुकस्य काव्यलिङ्गस्य निदाघधामानमिवेत्युपमासापेक्षत्वादनयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः।

सूर्यके समान परमतेजस्वी महर्षि (नारदजी) के सामने हर्षसे विकसित नेत्रद्वयको धारण करते हुए वे (श्रीकृष्ण भगवान्) वस्तुतः 'पुण्डरीकाक्ष' (कमलनेत्र) हो गये।

विमर्श—सूर्य के देखने से कमल विकसित होता है, तथा परम तेजस्वी नारदजी के देखनेसे श्रीकृष्ण भगवान्के नेत्र हर्षसे विकसित हो गये उन्हें वे निर्निमेष होकर देखने लगे, अतः श्रीकृष्ण भगवान् का 'पुण्डरीकाक्ष' कहलाना इस समय अक्षरशः सत्य हुआ ॥ २४ ॥

सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुर्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन्।
द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः ॥२५॥

सितमिति ॥ अथोभयोरुपवेशनानन्तरमच्युतो हेतुकर्ता। विसारिभिरभीक्ष्णं प्रसरद्भिः। 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' (३।२।८१) इति णिनिः। द्विधावलिर्दन्तपङ्क्तिः। 'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः' इत्यमरः। सैव व्याजः कपटं यस्य सः। तद्रूप इत्यर्थः। स चासौ निशाकरश्च तस्यांशुभिः किरणैः सितं स्वभावशुभ्रं मुनेर्वपुः सौधं प्रासादमिव सुतरामत्यन्तम्। अव्ययादाम् प्रत्ययः। सितिम्ना। धावल्येन प्रयोज्यकर्त्रा लम्भयन् व्यापारयन्। अतिधवलयन्नित्यर्थः। लभेरत्र गत्युपसर्जनप्राप्त्यर्थत्वेनागत्यर्थत्वात् 'गतिबुद्धि—' इत्यादिना अणि कर्तुर्न कर्मत्वम्। तथाह वामनः—'लभेर्गत्यर्थत्वाण्णिच्यणौ कर्तुः कर्मत्वाकर्मत्वे' इति। प्राप्त्युपसर्जनगत्यर्थत्वे तु कर्मत्वमेवेति रहस्यम् 'लभेश्च' (७।१।६४) इति नुमागमः। शुचिस्मितां वाचमवोचदुक्तवान्। ब्रुवो वच्यादेशः लुङ् 'वच उम्' इत्युमागमे गुणः। अत्र सौधमिवेत्युपमायाः सितिम्ना लम्भयन्नित्यसंबन्धरूपातिशयोक्तेः द्विजावलिव्याजनिशाकरेति छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादनरूपापह्नवस्य च मिथो नैरपेक्ष्यात् संसृष्टिः।

इस (दोनोंके बैठने) के बाद श्रीकृष्ण भगवान् फैलते हुए दन्तपंक्तिरूपी चन्द्रमा की किरणोंसे, (स्वभावतः) शुभ्र नारदजी के शरीर को चूने से लिप्त महलके समान अत्यन्त शुभ्र करते हुए स्वच्छ स्मितयुक्त वचन कहे अर्थात् प्रसन्नता से मुस्कराते हुए बोले।

विमर्श—जिस प्रकार चूनेसे लीपे गये महलको फैलती हुई चन्द्रकिरणें अधिकतम शुभ्र करती हैं, उसी प्रकार स्वभावतः श्वेत नारदजी के शरीर को दन्तश्रेणि की किरणों से

१. 'द्विजावली—' इति पा०।

अधिकतम श्वेत करते हुए श्रीकृष्ण भगवान् नारदजीसे बोले। यहांपर नारदजीके शरीर को स्वभावशुभ्र सौध तथा दन्तश्रेणिको चन्द्रमा कहा गया है ॥ २५ ॥

हरत्यघं संप्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥ २६ ॥

हरतीति ॥ भवदीयदर्शनं शरीरभाजाम् । द्रष्टॄणामित्यर्थः । 'भजो ण्विः' (३।२।६२) । कालत्रितये भूतादिकालत्रितयेऽपि योग्यतां पवित्रतां व्यनक्ति गमयति । कुतः—संप्रति दर्शनकाले अघं पापं हरति । एष्यतो भाविनः शुभस्य श्रेयसो हेतुः । तथा पूर्वाचरितैः प्रागनुष्ठितैः शुभैः सुकृतैः कृतम् । एवं त्रैकाल्येपि कार्यत्वेन कारणत्वेन च पुंसि सुकृतसमवायमवगमयते । अत एतादृशं दर्शनं कस्य न प्रार्थ्यमिति भावः । अत्र हरतीत्यादिवाक्यत्रयस्यार्थस्य शरीरेत्यादिवाक्यत्रयोक्त्या वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।

आपका दर्शन त्रिकाल में शरीरधारियोंकी योग्यताको प्रकट करता है, क्योंकि (वर्तमानकालमें) पापको नष्ट करता है, (भविष्यत्कालमें) आनेवाले शुभका कारण है तथा (भूतकालमें) पहले किये गये पुण्योंका परिणाम है ॥ २६ ॥

जगत्यपर्याप्तसहस्रभानुना न यन्नियन्तुं समभावि भानुना ।
प्रसह्य तेजोभिरसंख्यतां गतैरदस्त्वया नुन्नमनुत्तमं तमः ॥ २७ ॥

जगतीति ॥ जगत्यपर्याप्ता अपरिच्छिन्नाः सहस्रं भानवोंऽशवो यस्य तेन भानुनाऽर्केण । 'भानवोऽर्ककरांशवः' इति वैजयन्ती । यत्तमो नियन्तुं निवारयितुं न समभावि न शेके । भावे लुङ् । अविद्यमानमुत्तमं यस्मात्तदनुत्तमं सर्वाधिकम् अदस्तमो मोहात्मकमसंख्यतां गतैस्तेजोभिः प्रसह्य बलात्त्वया नुन्नं छिन्नम् । अतः श्लाघ्यदर्शनो भवानिति भावः । 'नुदविद—' इत्यादिना विकल्पान्निष्ठानत्वमावः । अत्रोपमानाद्भानोर्मुनेराधिक्यप्रतिपादनाद्व्यतिरेकालंकारः ।

संसारमें अपर्याप्त (अपरिपूर्ण) सहस्र किरणोंवाले सूर्य जिस (आभ्यन्तर अन्धकार अर्थात् अज्ञान) को दूर नहीं कर सके, अनुत्तम अर्थात् सबसे बड़े उस (अन्तःकरणस्थ अज्ञानरूप) अन्धकारको आपने असंख्यताको प्राप्त तेजोंसे बलपूर्वक दूर कर दिया ।

विमर्श—सहस्र संख्यावाले सूर्यतेजसे दूर नहीं होनेवाले अन्तःकरणस्थ मोहान्धकार को असंख्य नारद-तेजोंसे दूर होना उचित ही है, क्योंकि परिमित संख्यावाले लोग जिस कार्यको पूरा नहीं कर सकते हैं, उस बड़े–से–बड़े कार्यको भी असंख्य व्यक्ति बलपूर्वक पूरा कर ही देते हैं ॥ २७ ॥

कृतः प्रजाक्षेमकृता प्रजासृजा सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना ।
सदोपयोगेऽपि गुरुस्त्वमक्षयो निधिः श्रुतीनां घनसंपदामिव ॥ २८ ॥

कृत इति ॥ प्रजानां जनानामपत्यानां च क्षेमकृता कुशलकारिणा । 'प्रजा स्यत्संततौ जने' इत्यमरः । सुपात्रे योग्यपुरुषे कटाहादिदृढभाजने च निक्षेपेण निधानेन च निराकुलात्मना स्वस्थचित्तेन । 'योग्यभाजनयोः पात्रम्' इत्यमरः । प्रजासृजा ब्रह्मणा पुत्रिणा च त्वं धनसंपदामिव श्रुतीनां वेदानां सदोपयोगे दानभोगाभ्यां व्ययेऽप्यक्षयः । एकत्राम्नातादन्यत्रानन्त्याच्चेति भावः । गुरुरुपदेष्टा । संप्रदायप्रवर्तक इति यावत् । अन्यत्र महान् । निधीयत इति निधिः निक्षेपः कृतः । 'उपसर्गे घोः किः' (३।३।९२) । श्रुतिसंप्रदायद्वारा धर्माधर्मव्यवस्थापकतया जगत्प्रतिष्ठाहेतूनां भवादृशां दर्शनं कस्य न श्लाघ्यमिति भावः । अत्र शब्दमात्रसाधर्म्याच्छ्लेषोऽयं प्रकृतविषय इत्याहुः ।

प्रजा (लोगों) के कल्याणकर्ता तथा सत्पात्र (रूप सुयोग्य पुत्र) में रखनेसे निराकुल चित्तवाले ब्रह्माने आपको निरन्तर उपयोग करनेपर भी वेदोंका क्षयहीन विशाल निधि (खजाना) उस प्रकार बनाया है, जिस प्रकार सन्तानका कल्याणकर्ता तथा सुन्दर (दृढ़तम) (भाण्डादि) वर्तनमें रखनेसे निराकुल चित्तवाला सन्तानोत्पत्तिकर्ता पिता धनसम्पत्तियोंका सर्वदा व्यय करनेपर भी समाप्त नहीं होनेवाला महान् निधि पुत्रको बनाता है ।

विमर्श—जिस प्रकार सन्तानका कल्याणकर्ता पिता धनको सुन्दर दृढ़तम पात्र (सन्दूक, तिजोरी या भाण्डादि) में रखकर निश्चित हो जाता है और सत्पुत्रको उसे सौंपकर सर्वदा व्यय करनेपर भी वह निधि (धनराशि) समाप्त नहीं होती, उसी प्रकार लोककल्याणकर्ता ब्रह्मा सत्पात्ररूप आपको समस्त वेदोंको सौंपकर (पढ़ाकर) निश्चित हो, उन वेदोंके अनुसार लोकमें उपदेश करते रहनेपर भी कभी समाप्त नहीं होनेवाले वेदोंका निधि आपको बनाया है । आपके पिता ब्रह्माने आपको समस्त वेदोंका अध्ययन कराया है तथा आप उनके अनुसार लोकमें उपदेश देते रहते हैं, अतएव आपका दर्शन किसके लिए श्लाघ्य नहीं है ? ॥ २८ ॥

विलोकनेनैव तवामुना मुने कृतः कृतार्थोऽस्मि निबर्हितांहसा[1] ।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ॥ २९ ॥

विलोकनेनेति ॥ हे मुने, निबर्हितांहसाऽपहृतपाप्मना अत एवामुना तव विलोकनेनैव कृतार्थः कृतोऽस्मि । तथाप्यहं गरीयसीरर्थवत्तराः । 'द्विवचन—' (५।३।५७) इत्यादिना ईयसुन्प्रत्ययः । 'उगितश्च' (४।१।६) इति ङीप् । 'प्रियस्थिर—' (६।४।१५७) इत्यादिना गुरोर्गरादेशः । गिरस्तव वाचोऽपि शुश्रूषुः श्रोतुमिच्छुरस्मि । श्रृणोतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । न चैतद् वृथेत्याह—अथवा । तथाहीत्यर्थः ।

१. 'निर्बर्हितांहसा' इति पा० ।

अथवेति पक्षान्तरप्रसिद्धयोरिति गणव्याख्यानात् । श्रेयसि विषये केन तृप्यते । न केनापीत्यर्थः । कृतार्थताया इयत्ताभावादिति भावः । भावे लिट् ।

हे मुने ! आपके पापविनाशक इस दर्शन से ही मैं कृतार्थ हो गया हूँ, तथापि मैं आपके कल्याणकारी वचनों को सुनना चाहता हूँ, अथवा—मङ्गल के विषय में कौन सन्तुष्ट होता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ २९ ॥

एवं प्रियमुक्त्वा सम्प्रत्यागमनप्रयोजनं विनयेन पृच्छति—

गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं व्यवसीयते यया ।
तनोति नस्तामुदितात्मगौरवो गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम् ॥ ३० ॥

गतस्पृहोऽपीति ॥ गतस्पृहो विरक्तोऽपि त्वमागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं यया धृष्टतया व्यवसीयत उद्यम्यते । स्यतेर्भावे लट् । उदितमुत्पन्नमुक्तं वा आत्मनो मम गौरवं येन स गुरुः श्लाघ्य एष तवागम आगमनमेव नोऽस्माकं धृष्टतां तनोति विस्तारयति । 'तनु विस्तारे' लट् । भवतो निस्पृहत्वेऽपि प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः प्रयोजन-व्याप्त्या सावकाशः प्रश्न इति भावः ।

(श्रीकृष्ण भगवान् इस प्रकार विनय प्रकट कर नारदजीके आनेका कारण बड़ी चतुरतासे पूछते हैं—) 'निस्पृह रहते हुए भी आप आनेका कारण कहें', यह कहने के लिए जो (धृष्टता मुझे) उद्यत कर रही है, हमारी उस धृष्टताको मेरे आत्मगौरवको कहने (या—उत्पन्न करने) वाला आपका प्रशस्त आगमन ही बढ़ा रहा है ॥ ३० ॥

इति ब्रुवन्तं तमुवाच स व्रती न वाच्यमित्थं पुरुषोत्तम ! त्वया ।
त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः किमस्ति कार्यं गुरुयोगिनामपि ॥३१॥

इति ब्रुवन्तमिति ॥ इति ब्रुवन्तं तं हरिं स व्रती मुनिरुवाच । किमिति । हे पुरुषोत्तम । पुरुषेषु श्रेष्ठ ! 'न निर्धारणे' इति षष्ठीसमासप्रतिषेधः । त्वया इत्थं 'गत-स्पृहोऽपि' इति न वाच्यम् । निस्पृहस्याप्यत्र प्रयोजनसंभवादिति भावः । तदेवाह । योगिनामपि त्वमेव साक्षात्करणीयः प्रत्यक्षीकर्तव्य इत्यतोऽस्मादन्यद् गुरु कार्यं किमस्ति । न किञ्चिदित्यर्थः । तस्मान्न प्रयोजनान्तरप्रश्नावकाश इति भावः ।

यह (१।२५—२९) कहते हुए उन (श्रीकृष्ण भगवान्) से व्रती (नारदजी) बोले— 'हे पुरुषोत्तम ! आपको ऐसा नहीं कहना चाहिये, (कपिल, सनत्कुमारादि) योगियोंके भी साक्षात्करणीय (ध्यान, जप, तप आदिके द्वारा साक्षात् करने योग्य) आप ही हैं, अत एव इस (आपके प्रत्यक्ष दर्शन) से बड़ा कौन कार्य है ? अर्थात् कोई नहीं ।

विमर्श—हे पुरुषोत्तम ! जब कपिलादि महायोगिराज भी ध्यानादि के द्वारा आपका साक्षात्कार करना चाहते हैं; तब आपके दर्शनके अतिरिक्त मुझे दूसरा कौन—सा कार्य हो सकता है, इसलिए 'निस्पृह होते हुए भी आप आने का कारण कहें' इत्यादि (१।३०) वचन

आपको नहीं कहना चाहिये, अतएव मैं आपके दर्शनके लिए ही यहाँ आया हूँ ॥ ३१ ॥

यदुक्तं योगिनामपि त्वमेव साक्षात्करणीय इति तदेव द्रढयति—

उदीर्णरागप्रतिरोधकं जनैरभीक्ष्णमक्षुण्णतयाऽतिदुर्गमम् ।
उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विनस्त्वमग्रभूमिर्निरपायसंश्रया ॥ ३२ ॥

उदीर्णरागेति ॥ उदीर्ण उद्रिक्तो रागो विषयाभिलाषः स एव प्रतिरोधकः प्रतिबन्धकः पाटच्चरश्च यस्मिन् । 'प्रतिरोधिपरास्कन्दिपाटच्चरमलिम्लुचाः' इत्यमरः । अभीक्ष्णमक्षुण्णतया अनभ्यस्तत्वेनाप्रतिहतत्वेन च जनैरतिदुर्गमं मोक्षपथमपवर्गमार्गं, कान्तारं चोपेयुषः प्राप्तवतः । 'उपेयिवान्–' (३।२।१०९ इत्यादिना क्वस्वन्तो निपातः । मनस्विनः सुमनसः, धीरस्य च । प्रशंसायां विनिः । त्वमेव निरपायः पुनरावृत्तिरहितः संश्रयः प्राप्तिर्यस्याः सा तथोक्ता । 'न स पुनरावर्तते' इति श्रुतेः । अग्रभूमिः प्राप्यस्थानम् । 'अग्रमालम्बने प्राप्ये' इति विश्वः । 'सोऽहम्' 'इत्यादिश्रुतेस्तत्प्राप्तेरेव मोक्षत्वादिति भावः । तस्मान्मुमुक्षूणामपि त्वमेव साक्षात्करणीय इति सिद्धम् । 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' इति श्रुतेः । यथा कस्यचित्कुतश्चित्संकटान्निर्गतस्य केनचित्कान्तारेण गतस्य किञ्चिन्निर्बाधस्थानप्राप्तिरभयाय कल्पते तथा त्वमपि मुमुक्षोरिति ध्वनिः ।

(नारदजी उक्त (१।३१) वचनको ही दृढ़ करते हुए कहते हैं—) बढ़ा हुआ (सांसारिक विषयोंका) अनुराग ही जिसमें बाधक है, तथा लोगोंसे अनभ्यस्त होनेसे अत्यन्त दुर्गम मोक्षमार्गको पाये हुए मनस्वीके पुनरावृत्ति—रहित आप हीं प्राप्तव्य स्थान हैं । पक्षा०— जिनमें बढ़े हुए सांसारिक रागवाला चोर है, तथा जो लोगोंके अधिक यातायात नहीं होनेसे दुर्गम हैं; ऐसे मार्ग (गहन वनादि) को प्राप्त धीर पुरुष के लिए पुनः जहां से लौटना नहीं पड़ता, ऐसा गन्तव्य स्थान आप ही हैं ।

विमर्श—जिस प्रकार चोर आदि की बाधाओंसे युक्त तथा लोगोंके अत्यन्त कम याता-यात होनेसे दुर्गम गहन वनमार्गको प्राप्त पथिक किसी निरुपद्रव स्थानको पाकर पुनः नहीं लौटता और आनन्दपूर्वक उसी स्थानपर रहता है; उसी प्रकार सांसारिक विषयोंके प्रति बढ़े हुए अनुराग जिसमें बाधक होते हैं और बहुत कम लोगोंके जाननेसे जो अत्यन्त दुर्गम है, ऐसे मोक्षमार्गको पहुँचे हुए महापुरुषके लिए आप ही प्राप्तव्य स्थान हैं, जहांसे पुनः लौटना नहीं होता । मोक्षको पानेके अनन्तर योगी आदि आपमें ही लीन हो जाते हैं और उनका पुनर्जन्म नहीं होता ॥ ३२ ॥

ननु प्रकृतिविविक्तपुरुषसाक्षात्कारान्मोक्षो नास्मत्साक्षात्कारादित्याशङ्क्य सोऽपि त्वमेवेत्याह—

उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन ।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ॥ ३३ ॥

उदासितारमिति । पुराविदः पूर्वज्ञाः कपिलादयस्त्वां निगृहीतमानसैरन्तर्निबद्धचित्तैर्योगिभिः । आत्मनि अधि इत्यध्यात्मम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । 'अनश्च' (५।४।१०८) इति समासान्तष्टच् । अध्यात्मं या दृक् ज्ञानं तया अध्यात्मदृशा प्रत्यग्दृष्टया कथञ्चन गृहीतं साक्षात्कृतम् । केन रूपेण गृहीतमित्यत आह—उदासितारमुदासीनम् । प्रकृतौ स्वार्थप्रवृत्तायामपि स्वयमप्राकृतत्वादस्पृष्टमित्यर्थः । आसेस्तृच् । विकारेभ्यो बहिः बहिर्विकारम् । महदादिभ्यः पृथग्भूतमित्यर्थः । 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' (२।१।१२) इत्यव्ययीभावः । किञ्च प्रकृतेस्त्रैगुण्यात्मनो मूलकारणात्पृथग्भिन्नम् । 'प्रकृतिः पञ्चभूतेषु प्रधाने मूलकारणे' इति यादवः । पुरा भवं पुरातनमनादिम् । 'सायंचिरम्—(४।३।२३) इत्यादिना ट्यु प्रत्ययः । पुरुषं पुरुषपदवाच्यं विज्ञानघनं विदुर्विदन्ति । 'विदो लटो वा' (३।४।८३) इति झेरुसादेशः । यथाहुः—'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥' इति । 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्' इत्यादिश्रुतिश्च । सोऽपि त्वमेव 'तत्त्वमसि' इत्यादिवाक्यैरैक्यश्रवणात् । तस्मात्त्वमेव साक्षात्करणीय इति सुष्ठूक्तमिति भावः ।

प्राचीन वृत्तको जानने वाले (कपिल तथा सनत्कुमार आदि) आपको उदासीन (क्रियाशून्य, स्वार्थमें प्रकृतिके प्रवृत्त होनेपर भी स्वयं उससे अस्पृष्ट), मनको वशमें किये हुए लोगों (योगियों) के द्वारा उपनिषद्दृष्टिसे किसी प्रकार (बड़ी कठिनाईसे) साक्षात्कार किये गये, विकारसे बहिर्भूत (महदादिसे पृथग्भूत—तेईस विकारोंसे विलक्षण, तथा त्रिगुणात्मिका सत्त्वरजस्तमोरूपा) प्रकृतिसे पृथक् प्राचीन (आदि) पुरुष कहते हैं।

विमर्श—इस श्लोकसे साङ्ख्यमतके अनुसार श्रीकृष्ण भगवान्को क्रियाशून्य आदि कहकर 'मुक्त्यर्थं साक्षात्कार करने योग्य आपको ही कपिल आदि प्राचीनज्ञ भी कहते हैं' यह प्रतिपादन किया है। साङ्ख्यमतवाले ईश्वरको क्रियारहित साक्षिमात्र, दुर्ज्ञेय, विकारहीन तथा सत्त्वादि गुणत्रय—पृथग्भूत मानते हैं; अतएव 'उक्त सिद्धान्तके अनुसार भी आप ही साक्षात्कार करने योग्य हैं' यह नारदजीने कहा ॥ ३३ ॥

एवं भगवतो निर्गुणस्वरूपमुक्त्वा संप्रति प्रस्तुतोपयोगितया सगुणमाश्रित्य षड्भिः स्तौति—

> निवेशयामासिथ हेलयोद्धृतं फणाभृतां छादनमेकमोकसः ।
> जगत्त्रयैकस्थपतिस्त्वमुच्चकैरहीश्वरस्तम्भशिरःसु भूतलम् ॥ ३४ ॥

निवेशयामासिथेति ॥ जगत्त्रयस्यैकस्थपतिरेकाधिपतिरेकशिल्पी च । 'स्थपतिरधिपतौ तक्ष्णि बृहस्पतिसचिवयोः' इति वैजयन्ती । त्वं हेलयोद्धृतम् । वराहाव-

१. 'हेलयोद्वृतम्' इति पा० ।

तारे इति भावः। फणाभृतामोकस आश्रयस्य, सद्मनश्च। 'ओकः सद्मनि आश्रये' इति विश्वः। एकं छादनमावरणं भूतलमुच्चकैरुन्नतेषु च अहीश्वरः शेष एव स्तम्भस्तस्य शिरःसु मूर्धसु, अग्रेषु च। फणासहस्रेष्विति भावः। निवेशयामासिथ निवेशितवानसि। विशतेर्ण्यन्ताल्लिटि थल्। 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' (३।१।४०) इत्यस्तेरनुप्रयोगः। अत्र श्लिष्टाश्लिष्टरूपकयोर्हेतुहेतुमद्भावात् श्लिष्टपरम्परितरूपकम्।

(श्रीकृष्ण भगवान्के निर्गुण स्वरूपका प्रतिपादन करनेके उपरान्त अब नारदजी प्रकृतोपयोगी सगुण स्वरूप का प्रतिपादन छः श्लोकों (१।३४–३९) से करते हैं, उसमें पहले वराहावतारका वर्णन करते हैं—) तीनों लोकके एक कारीगर आप अनायास उठाये गये, सर्पोंके घर (पाताल) के एकमात्र आवरण भूतलको ऊँचे सर्पराज (शेषनाग) रूपी खम्भोंके मस्तकपर (पक्षा०—खम्भोंके) ऊपर रख दिया था।

विमर्श—जिस प्रकार बढ़ई आदि कोई कारीगर मकानके आवरण (टीन आदि छप्पर) को सरलतापूर्वक उठाकर ऊँचे-ऊँचे खम्भोंके ऊपर रख देता है, उसी प्रकार वराहावतार धारणकर तीनों लोकोंकी सृष्टि करनेवाले अन्यतम कारीगर आपने (अपने दाँतपर) अनायास (बड़ी सरलतासे) उठाये गये भूतलको शेषनागके मस्तकोंके ऊपर रख दिया, जो भूतल पाताल लोकका आवरण (छप्पर) है ॥ ३४ ॥

अनन्यगुर्वास्तव[1] केन केवलः पुराणमूर्तेर्महिमावगम्यते।
मनुष्यजन्मापि सुरासुरान्गुणैर्भवान्भवच्छेदकरैः[2] करोत्यधः ॥ ३५ ॥

अनन्येति ॥ न विद्यतेऽन्यो गुरुर्यस्यास्तस्या अनन्यगुर्वाः, इत्यनीकारान्तः पाठः। समासात्प्राङ्ङीषि 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इति कप्प्रसङ्गः स्यात्। पश्चात्त्वनुपसर्जनाधिकाराद् 'वोतो गुणवचनात्' (४।१।४४) इति न प्राप्नोति। 'ङिति ह्रस्वश्च' (१।४।६) इति वा नदीसंज्ञात्वात् 'आण्नद्याः' (७।३।११२) इत्याडागमः। केचित्तु समासान्तविधिरनित्य इति कपं वारयन्ति। तस्याः सर्वोत्तमायास्तव पुराणमूर्तेरमानुषस्वरूपस्य। केवलः कृत्स्नः। 'केवलः कृत्स्न एकः स्यात्केवलश्चावधारणे' इति विश्वः। महिमा केनावगम्यते। न केनापीत्यर्थः। कुतः। मनुष्याज्जन्म यस्य स मनुष्यजन्मा भवान्। 'अवर्ज्यो हि बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः' इति वामनः। भवच्छेदकरैः संसारनिवर्तकैर्गुणैर्ज्ञानादिभिः। सुरासुरान्। सुरासुरविरोधस्य कार्योपाधिकत्वेनाशाश्वतिकत्वात् 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' (२।४।९) इति न द्वन्द्वैकवद्भाव इत्याहुः। अधः करोति। 'शेषे प्रथमः' (१।४।१०८) इति प्रथमपुरुषः। भवच्छब्दस्य युष्मदस्मदन्यत्वेन शेषत्वादिति। मानुष एव ते महिमा दुरवगाहः। अमानुषस्तु किमिति तात्पर्यार्थः। द्वितीयार्धेऽसकृद्व्यञ्जनावृत्त्या छेकानुप्रासः।

---

१. 'अनन्यगुर्व्यास्तव' इति पा०। २. 'भवोच्छेदकरः' इति पा०।

सबसे बड़ी प्राचीन मूर्तिवाले (अमानुष स्वरूप) आपकी सम्पूर्ण महिमा को कौन जान सकता है ? अर्थात् कोई नहीं जान सकता, क्योंकि (इस कृष्णावतारमें) मनुष्य जन्म धारण किये हुए भी आप संसारनिवर्तक (संसारमें होनेवाले जन्म-मरणको नष्ट करनेवाले) गुणों (ज्ञान आदि) से सुर तथा असुरोंको नीचा करते हैं ।

विमर्श—जब मनुष्य जन्म लेकर भी आप अपने ज्ञानादि गुणों से देवों तथा असुरों को नीचा करते हैं तब आपकी सर्वश्रेष्ठ पुराणमूर्ति (अमानुष रूप) की सम्पूर्ण महिमाको भला कोई कैसे जान सकता है ? अर्थात् आपकी महिमा दुर्बोध्य है ॥ ३५ ॥

लघूकरिष्यन्नतिभारभङ्गुराममूं किल त्वं त्रिदिवादवातरः ।
उदूढलोकत्रितयेन सांप्रतं गुरुर्धरित्री क्रियतेतरां त्वया ॥ ३६ ॥

लघूकरिष्यन्निति ॥ त्वमतिभारेणोर्जेन स्वरूपेण भंगुरां स्वयं भज्यमानाम् । 'भञ्जभासमिदो घुरच्' (३।२।१६१) । 'भंगुरः कर्मकर्तरि' इति वामनः । अमूम् । भुवमित्यर्थः । लघूकरिष्यन् निर्भारां करिष्यन् किल । कृभ्वस्ति–' (५।४।५०) इत्यादिनाऽभूततद्भावे च्विः । 'च्वौ च (७।४।२६) इति दीर्घः । तृतीया द्यौस्त्रिदिवः स्वर्गस्तस्मात् । 'घञर्थे कविधानम्' (वा०) । वृत्तिविषये संख्याशब्दस्य पूरणार्थत्वं त्रिभागादिवत् । अवातरः अवतीर्णोऽसि । सांप्रतं संप्रति, उदूढलोकत्रितयेन । कुक्षाविति शेषः । त्वया धरित्री गुरुःपूज्या, भारवती च क्रियतेतराम् अतिशयेन क्रियते । 'तिङश्च' (५।३।५६) इति तरप् । 'किमेत्तिङव्ययात्–' (५।४।११) इत्यादिना आमुप्रत्ययः । लघुकर्ता गुरुकर्तेति विरोधाभासोऽलंकारः । 'आभासत्वे विरोधस्य विरोधाभास उच्यते' इति लक्षणात् ।

अत्यधिक भार (असुरोंके उपद्रवी बोझ) से भङ्गुर (स्वयं टूटती हुई) इस पृथ्वीको भविष्यमें हलका करते हुए आप स्वर्गसे अवतीर्ण हुए हैं, किन्तु (कुक्षिमें) तीनों लोकों को धारण किये हुए आप इस समय पृथ्वीको अधिक गुरु (भारी, पक्षा०—पूज्य) बना रहे हैं ।

विमर्श—जिस प्रकार अत्यधिक बोझ लिये हुए किसी भारवाहक आदिका अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्वयं टूटता जाता है, उसी प्रकार असुरोंके उपद्रवरूपी बोझसे पृथ्वी स्वयं छिन्न-भिन्न हो रही थी, उसके बोझको हलका करनेके लिए आप स्वर्गसे भूलोकमें कृष्णरूपसे अवतीर्ण हुए, किन्तु अपनी कुक्षिमें तीनों लोकको धारण करनेसे स्वयं अधिक भारयुक्त आप ही इस समय पृथ्वीको भारवती बना रहे हैं, ऐसा अर्थ करनेसे विरोध आता है, अतएव पृथ्वीको अपने अवतार लेनेसे पूज्य बना रहे हैं, ऐसा अर्थ करके उस विरोधका परिहार करना चाहिये ॥ ३६ ॥

निजौजसोज्जासयितुं जगद्द्रुहामुपाजिहीथा न महीतलं यदि ।
समाहितैरप्यनिरूपितस्ततः पदं दृशः स्याः कथमीश ! मादृशाम् ॥३७॥

निजेति ॥ निजौजसा स्वतेजसा जयद्भ्यो द्रुह्यन्तीति जगद्द्रुहः कंसादयः । 'सत्सूद्विष–' (३।२।६१) इत्यादिना क्विप् । तेषाम् उज्जासयितुम् । तान् हिंसितुमित्यर्थः । 'जासिनिप्रहण–' (२।३।५६) इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी । 'जसु-हिंसायाम्' इति चुरादिः । महीतलं नोपाजिहीथा यदि नावतरेश्चेत् । 'ओहाङ् गतौ' लङि थासि रूपम् । ततस्तर्हि समाहितैः समाधिनिष्ठैरपि सकर्मकादप्याशितादिवदविवक्षिते कर्मणि कर्तरि क्तः । अथवा समाहितैः । समाहितचित्तैरित्यर्थः । विभक्तधनेषु 'विभक्ता भ्रातरः' इतिवदुत्तरपदलोपो द्रष्टव्यः । 'गम्यमानार्थस्याप्रयोग एव लोपः' इति कैयटः । अनिरूपितोऽगृहीतस्त्वमीश, मादृशाम् । चर्मचक्षुषामिति भावः । विनयोक्तिरियम् । दृशो दृष्टेः पदं गोचरः कथं स्याः । न कथंचिदित्यर्थः । तस्मात्त्वत्साक्षात्कार एवागमनप्रयोजनमिति भावः ।

आप यदि अपने बलसे लोकद्रोही (कंसादि) का नाश करनेके लिए पृथ्वीपर अवतार नहीं लिये होते तो हे प्रभो ! समाधिस्थ (योगियों) से भी अनिरूपित आप हम–जैसे (चर्मचक्षु) लोगोंके दृष्टिगोचर कैसे होते ? ।

विमर्श—पृथ्वीपर अवतार लेकर आनेके कारण ही हम–जैसे साधारण लोग भी आपका दर्शन करते हैं, अतएव आपके दर्शनके अतिरिक्त मेरे यहां आनेका कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है ॥ ३७ ॥

ननु कोऽयं नियमो यन्ममैवायं दुष्टनिग्रहाधिकार इत्याशङ्क्याऽनन्यसाध्यत्वमेवाह—

उपप्लुतं पातुमदो मदोद्धतैस्त्वमेव विश्वम्भर ! विश्वमीशिषे ।
ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः ॥ ३८ ॥

उपप्लुतमिति ॥ विश्वं बिभर्तीति विश्वम्भरस्तत्संबुद्धौ हे विश्वम्भर विश्वत्रातः । 'संज्ञायां भृतृवृजि–' (३।२।४६) इत्यादिना खच्प्रत्यये मुमागमः । मदोद्धतैः कंसादिभिरुपप्लुतं पीडितम् अदो विश्वं पातुं त्वमेव ईशिषे शक्तोऽसि । विश्वम्भरत्वादिति भावः । 'ईश ऐश्वर्ये' लिटि थासि रूपम् । अत्र वैधर्म्येण दृष्टान्तमाह—क्षपायास्तमस्काण्डेस्तमोवर्गैः । 'काण्डोऽस्त्री दण्डवाणार्ववर्गावसरवारिषु' इत्यमरः । 'कस्कादिषु च' (८।३।४८) इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । मलीमसं मलिनम् । 'मलीमसं तु मलिनं कच्चरं मलदूषितम्' इत्यमरः । 'ज्योत्स्नातमिस्रा–' (५।२।११४) इत्यादिना मत्वर्थीयो निपातः । नभः क्षालयितुं रवेः ऋते रविं विना । 'अन्यारादितरर्ते–' (२।३।२९) इति पञ्चमी । कः क्षमेत शक्नुयात् । न कोऽपीत्यर्थः । अत्र वाक्यद्वये समानधर्मस्यैकस्येशिषे क्षमेतेति शब्दद्वयेन वस्तुभावेन निर्देशात्तत्रापि व्यतिरेकमुखत्वाद्वैधर्म्येण प्रतिवस्तूपमालंकारः । तदुक्तम्—'सर्वस्य वाक्यार्थगतत्वेन सामान्यस्य वाक्यद्वये पृथङ्निर्देशे प्रतिवस्तूपमा' इति ।

हे विश्वम्भर (संसार के पालनकर्ता) ! मदसे उद्धत (कंस, शिशुपाल आदि) से पीड़ित इस संसारकी रक्षा करनेके लिए आप ही समर्थ हैं, क्योंकि रात्रिके अन्धकार-समूह से मलिन आकाशको धोने (स्वच्छ करने) के लिए सूर्य के विना कौन समर्थ होता है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ३८ ॥

करोति कंसादिमहीभृतां वधाज्जनो मृगाणामिव यत्तव[1] स्तवम् ।
हरे[2] ! हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः प्रत्युत सा तिरस्क्रिया ॥३९॥

करोतीति ॥ किंच जनो मृगाणामिव कंसादिमहीभृतां वधाद्धेतोः स्तवम् स्तोत्रम् । स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः' इत्यमरः । करोतीति यत् । हे हरे हे कृष्ण, हे सिंहेति च गम्यते । सा स्तुतिक्रिया हिरण्याक्षपुरःसरा हिरण्याक्षप्रभृतयो येऽसुरास्त एव द्विपास्तेषां द्विषः । हन्तुरित्यर्थः । तस्य तव प्रत्युत वैपरीत्येन । 'प्रत्युतेत्युक्तवैपरीत्ये' इति गणव्याख्यानात् । तिरस्क्रियाऽवमानः । यदिति सामान्ये नपुंसकम् । सेति विधेयलिङ्गम् । गजघातिनः सिंहस्य मृगवधवर्णनमिव महासुरहन्तुस्तव कंसादिक्षुद्रनृपवधवर्णनं तिरस्कार एवेत्यर्थः । अत्रासुरद्विपानामिति हरिवद्धरिरिति श्लिष्टपरम्परितरूपकं मृगाणामिवेत्युपमयाऽङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यते ।

हे हरे (पक्षा०—सिंह) ! मृगोंके समान कंस आदि राजाओंके वध करनेसे लोग जो आपकी प्रशंसा करते हैं, वह हिरण्याक्ष आदि असुररूपी हाथियोंको मारनेवाले आपका तिरस्कार है ।

विमर्श—जिस प्रकार बड़े-बड़े गजराजोंका वध करनेवाले सिंहकी प्रशंसा यदि कोई मृग-जैसे साधारण पशुओंके मारनेसे करे तो वह वास्तविकमें सिंहकी प्रशंसा नहीं बल्कि तिरस्कार हैं; उसी प्रकार हिरण्याक्ष आदि बड़े दुर्दमनीय असुरोंको मारनेवाले आपकी प्रशंसा कंस आदि साधारण राजाओंके मारनेसे लोग करते हैं तो वह आपकी प्रशंसा नहीं प्रत्युत तिरस्कार है[3] । ऐसा कहकर नारदजीने यह संकेत किया कि कंस आदिके मारनेसे ही आपके अवतार लेनेका कार्य पूरा नहीं हुआ, क्योंकि अभी उससे भी अधिक लोक-प्रपीडक शिशुपालका वध करना है ॥ ३९ ॥

एवं स्तुत्या देवमभिमुखीकृत्यागमनप्रयोजनं वक्तुमुपोद्घातयति—

प्रवृत्त एव स्वयमुज्झितश्रमः क्रमेण पेष्टुं भुवनद्विषामसि ।
तथापि वाचालतया युनक्ति मां मिथस्त्वदाभाषणलोलुपं मनः ॥ ४० ॥

प्रवृत्त इति ॥ त्वमुज्झितश्रमः त्यक्तश्रयः सन् क्रमेण भुवनानि द्विषन्तीति भुवनद्विषो दुष्टास्तेषां पेष्टुम् । तान् हिंसितुमित्यर्थः । 'जासिनिप्रहरण—' (२।३।५६)

---

१. 'यस्तव—' इति 'यमि'ति च पा०' । २. 'हरेर्हिर—' इति पा० ।

३. 'मृगारिं वा मृगेन्द्रं वा द्वयं व्याहरतां सताम् । तस्य द्वयमपि व्रीडा क्रीडादलितदन्तिनः ॥ इति ॥

इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी । स्वयमपरप्रेरित एव प्रवृत्तोऽसि । एवं तर्हि पिष्टपेषणं किमिति चेत्तत्राह—तथापि त्वतः प्रवृत्तेऽपि मिथो रहसि त्वदाभाषणे त्वया सह संलापे लोलुपं लुब्धम् । 'लुब्धोऽभिलाषुकस्तृष्णक्समौ लोलुपलोलुभौ' इत्यमरः । मनो मां वाचालतया सह युनक्ति । वाचालं करोतीत्यर्थः । वाचो बह्व्योऽस्य सन्तीति वाचालः । 'आलजाटचौ बहुभाषिणि' (५।२।१२५) इत्यालच् । 'स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्' इत्यमरः ।

(इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान्‌की स्तुतिकर उन्हें अनुकूल करनेके उपरान्त नारदजी अपने आगमनके प्रयोजनको कहना चाहते हैं—) आप परिश्रम (होनेकी चिन्ता) को छोड़कर लोकद्रोहियोंको पीसने (वध करने) के लिए स्वयमेव प्रवृत्त ही हैं, तथापि एकान्तमें आपके साथ बातचीत करनेके लिए लोभी मेरा मन मुझे वाचालतासे युक्त कर रहा है अर्थात् मुझे वाचाल बना रहा है ।। ४० ।।

अथ स्ववाक्यश्रवणं सहेतुकं प्रार्थयते—

तदिन्द्रसंदिष्टमुपेन्द्र ! यद्वचः क्षणं मया विश्वजनीनमुच्यते ।
समस्तकार्येषु गतेन धुर्यतामहिद्विषस्तद्भवता निशम्यताम् ।। ४१ ।।

तदिति ॥ तत्तस्मादिन्द्रमुपगत उपेन्द्र इन्द्रावरजः । अत एवेन्द्रसंदिष्टम् । श्रोतव्यमिति भावः । किंच विश्वस्मै जनाय हितं विश्वजनीनम् । 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः' (५।१।९) । यद्वचः क्षणं न तु चिरं मयोच्यते, तद्वचोऽहिद्विषो वृत्रघ्नः । 'सर्पे वृत्रासुरेऽप्यहिः' इति वैजयन्ती । समस्तकार्येषु धुर्यतां धुरंधरत्वं गतेन । अतोऽपि भवता निशम्यताम् । प्रार्थनायां लोट् । धुरं वहतीति धुर्यः । 'धुरो यड्ढकौ (४।४।७७) इति यत्प्रत्ययः । स्फुटमत्र पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः ।

इस कारणसे हे उपेन्द्र (इन्द्रके छोटे भाई—श्री कृष्ण भगवान् ! इन्द्रसे सन्दिष्ट लोकहितकारक जिस वचनको मैं थोड़ी देर कहता हूँ, इन्द्रके सम्पूर्ण कार्यभारको वहन करनेवाले आप उस वचनको सुनिये ।। ४१ ।।

अथ शिशुपालो हन्तव्य इति वक्तुं तस्यावश्यवध्यत्वेऽनन्यवध्यत्वज्ञापनौपयिकतया औद्धत्यप्रकटनार्थं जन्मान्तरवृत्तान्तं तावदुद्घाटयति—

अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां भियां तनूजस्तपनद्युतिर्दितेः ।
यमिन्द्रशब्दार्थनिसूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते ।। ४२ ।।

अभूदिति ॥ प्रतिपक्षाच्छत्रोः जन्म यासां तासां भियामभूमिरविषयः । निर्भीक इत्यर्थः । तपनद्युतिः सूर्यतापो दितेस्तनूजो दैत्योऽभूत् । कोऽसावत आह—हरेरिन्द्रस्य इन्द्रशब्दार्थनिसूदनं इन्दतीति इन्द्रः । 'इदि परमैश्वर्ये' । 'ऋज्रेन्द्र—' इत्यादिना रन्प्रत्ययान्त औणादिकनिपातः । तस्य इन्द्र इति शब्दस्येन्द्र इति संज्ञा

पदस्य योऽर्थः परमैश्वर्यलक्षणस्तस्य निसूदनं निवर्तकम्। कर्तरि ल्युट्। हरेरैश्वर्यनिहन्तारमित्यर्थः। यं दैत्यं हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते। हिरण्यकशिपुमाहुरित्यर्थः। अत्र हिरण्यशब्दपूर्वकत्वं कशिपुशब्दस्यैव न तु संज्ञिनस्तदर्थस्येति शब्दपरस्य कशिपुशब्दस्यार्थगतत्वेनाप्रयोज्यस्य प्रयोगादवाच्यवचनाख्यार्थदोषमाहुः। 'यदेवावाच्यवचनमवाच्यवचनं हि तत्' इति समाधानम्। एवंविधविषये शब्दपरेणार्थलक्षणेति कथंचित्संपाद्यमित्युक्तमस्माभिः 'देवपूर्वं गिरिं ते' (मेघदूते पूर्व० ४२) इति। 'धनुरुपपदमस्मै वेदमभ्यादिदेश' (किरातार्जुनीये १८।४४) इत्येतद्व्याख्यानावसरे संजीविन्यां घण्टापथे च। विशेषश्चात्र—अयं दैत्यमपदिश्य हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते संज्ञात्वेन प्रयुङ्क्ते।

('आप शिशुपालका वध करें' वह मुख्य कार्य कहनेके लिए वह दूसरेसे अवध्य है तथा उसका वध करना भी परमावश्यक है, यह कहनेके लिए नारदजी उसके जन्मान्तरीय औद्धत्यको कहते हैं—) शत्रुजन्य भयका अस्थान अर्थात् शत्रुसे सदा निर्भय सूर्यके समान तेजस्वी दितिका पुत्र अर्थात् दैत्य हुआ, जिसे लोग 'परमैश्वर्यवान्' ऐसे इन्द्र शब्दके अर्थको नष्ट करनेवाला 'हिरण्यकशिपु' कहते हैं।

विमर्श—पहले हिरण्यकशिपु नामका दैत्य उत्पन्न हुआ, जिसे शत्रुसे कोई भय ही नहीं था तथा स्वयमेव परम ऐश्वर्यशाली होनेसे, जिसने इन्द्र शब्दकी सार्थकताको नष्ट कर दिया था तथा जो सूर्यके समान तेजस्वी था॥ ४२॥

समत्सरेणासुर इत्युपेयुषा चिराय नाम्नः प्रथमाभिधेयताम्।
भयस्य पूर्वावतरस्तरस्विना मनस्सु येन द्युसदां न्यधीयत॥ ४३॥

समत्सरेणेति॥ समत्सरेण अन्यशुभद्वेषसहितेन। 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' इत्यमरः। अस्यतीत्यसुरः। असेरुरन्। असुर इति नाम्नः चिराय चिरकालेन 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः। प्रथमाभिधेयतामुपेयुषा अन्वर्थतया मुख्यार्थतां गतेन तरस्विना बलवता। 'तरसी बलरंहसी' इति विश्वः। येन हिरण्यकशिपुना दिवि सीदन्तीति द्युसदां देवानां मनस्सु भयस्य पूर्वावतरः प्रथमप्रवेशः। 'ऋदोरप्' (३।३।५७)। न्यधीयत निहितः। धाञः कर्मणि लिङ्। अस्मादेव देवानां प्रथमं भयस्योत्पत्तिरभूदित्यर्थः।

दूसरेके शुभमें द्वेष करनेवाले तथा 'असुर' इस नामके प्रथमाभिधानको प्राप्त अर्थात् सर्वप्रथम 'असुर' कहे जानेवाले जिस (हिरण्यकशिपु) ने देवोंके मनमें सर्वप्रथम भयको उत्पन्न कर दिया॥ ४३॥

दिशामधीशांश्चतुरो यतः सुरानपास्य तं रागहृताः सिषेविरे।
अवापुरारभ्य ततश्चला इति प्रवादमुच्चैरयशस्करं श्रियः॥ ४४॥

दिशामिति ॥ श्रियः संपदो यतः । यदेत्यर्थः । दिशामधीशान् दिक्पतीनपि चतुरः सुरानिन्द्रवरुणयमकुबेरानपास्य त्यक्त्वा तं हिरण्यकशिपुं रागहृता रागकृष्टाः सत्यः । न तु बलादिति भावः । सिषेविरे । यतो वीरप्रियाः श्रिय इति भावः । तत आरभ्य तदाप्रभृति अयशः करोतीत्ययशस्करम् । दुष्कीर्तिहेतुमित्यर्थः । 'कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु' (३।२।२०) इति टप्रत्ययः । 'अतः कृकमि' (८।६।४६) इत्यादिना विसर्जनीयस्य सत्वम् । उच्चैः प्रचुरं चला अस्थिरा इति प्रवादं जनापवादमवापुः । दिगीशानामपि सर्वस्वहारित्वात्तदौद्धत्यस्य प्राकट्यमिति भावः ।

लक्ष्मीने जिस कारणसे (इन्द्र, यम, वरुण तथा कुबेर) चार दिक्पालरूप देवोंको छोड़कर ('दिक्पालोंसे यह हिरण्यकशिपु वीर है' इस भावनासे) अनुरागसे आकृष्ट होकर उसका सेवन (उसके यहां जाकर निवास) करने लगी, तबसे 'लक्ष्मी चञ्चला है' ऐसे महान् अकीर्तिकारक अपवाद (लोकनिन्दा) को उस लक्ष्मी ने पा लिया ।

विमर्श—पहले लक्ष्मी इन्द्रादि चार दिक्पाल देवों के यहाँ रहती थी, किन्तु हिरण्यकशिपुको उनसे अधिक वीर जानकर उसमें अनुरक्त हो उसके पास रहने लगी । इसी कारणसे ही अकीर्तिकर चञ्चला होनेके प्रवादको उसने प्राप्त किया । यदि लक्ष्मीको वह हिरण्यकशिपु बलपूर्वक वशीभूत करता तो लक्ष्मीको चञ्चला कहकर लोग बदनाम नहीं करते । लोकमें भी जो कोई स्त्री पुरुषके वीरत्व आदि गुणसे उसमें अनुरक्त होकर उसके वशीभूत हो जाती है, तभी लोग उसे चपला—कुलटा आदि कहकर निन्दा करते हैं, और इसके विपरीत यदि बलपूर्वक किसी स्त्रीको कोई पुरुष वशीभूत कर लेता है तो उस स्त्रीको विवशता के कारण वैसा करनेसे लोग उस स्त्रीकी निन्दा नहीं करते, अपितु उस स्त्रीके साथ पुरुषके ही बल प्रयोग करनेकी निन्दा करते हैं ॥ ४४ ॥

पुराणि दुर्गाणि निशातमायुधं बलानि शूराणि घनाश्च कञ्चुकाः ।
स्वरूपशोभैकफलानि नाकिनां गणैर्यमाशङ्क्य तदादि चक्रिरे ॥४५॥

पुराणीति ॥ किञ्च नाकिनां सुराणां गणैः यं हिरण्यकशिपुमाशङ्क्य बाधकत्वेनोत्प्रेक्ष्य स काल आदिर्यस्मिंस्तदादि तदाप्रभृति स्वरूपशोभैवैकं फलं मुख्यं प्रयोजनं येषां तेषां सुरादीनां तानि तथोक्तानि । प्रागीदृगसाध्यशत्रोरभावादिति भावः । 'नपुंसकमनपुंसकेन—' (१।१।६९) इत्यादिना नपुंसकैकशेषः । पुराणि दुर्गाणि प्राकारपरिखादिना अगम्यानि चक्रिरे । 'सुदुरोरधिकरणे' (वा०) इति गमेर्डः । आयुधं निशातं निशितं चक्रे इति विभक्तिविपरिणामेनान्वयः । 'शो तनूकरणे' इति धातोः क्तः । 'शाच्छोरन्यतरस्याम्' (७।४।४१) इतीत्वविकल्पात् पक्षे आत्वम् । बलानि सैन्यानि शूराणि शौर्यवन्ति चक्रिरे संपादितानि । कञ्चुका वारबाणाः ।

१. 'गुणानि नाकिनां गणैस्तमाशङ्क्य' इति पा० ।

लोहवर्माणीत्यर्थः । 'कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री' इत्यमरः । घना दुर्भेदाश्चक्रिरे । इत्थं नित्यं संनद्धा जाग्रति स्मेत्यर्थः ।

उस हिरण्यकशिपु के समयसे ही देवसमूहने जिस (हिरण्यकशिपु) की आशङ्का कर स्वरूपके शोभा मात्र फलवाले अर्थात् दिखावटी, नगरोंको दुर्ग (खाई, परकोटा आदि से सुसज्जित कर दुर्गम एवं अजेय किला) बना लिया, शस्त्रास्त्रको तेज कर लिया, सेनाको शूर-वीर बना लिया तथा कवचको दृढ़ (अभेद्य) बना लिया।

विमर्श—पहले देवोंको तो किसीसे किसी प्रकारका भय ही नहीं था, अतएव उनके किला आदि दिखावटी थे, उन्हें कोई साधारण भी शत्रु जीत सकता था, किन्तु जब हिरण्य-कशिपु उत्पन्न हुआ तब उससे डरकर देव-समूहने अपने नगर, शस्त्र आदिको युद्धके उपयुक्त एवं अभेद्य बना लिया ॥ ४५ ॥

स संचरिष्णुर्भुवनान्तरेषु यां यदृच्छयाऽशिश्रियदाश्रयः श्रियः[1] ।
अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खलत्करैस्त्रिसंध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः ॥ ४६ ॥

स इति ॥ अन्येषु भुवनेषु भुवनान्तरेषु । 'सुप्सुपा' इति समासः । संचरिष्णुः संचरणशीलः । 'अलंकृञ्-' (३।२।१३६) इत्यादिना चरेरिष्णुच् । श्रियो लक्ष्म्या आश्रयः स हिरण्यकशिपुः । यदृच्छया स्वैरवृत्त्या । 'यदृच्छा स्वैरवृत्तिः' इत्यमरः । यां दिशमशिश्रियदगमत् । श्रयतेर्लुङ् 'णिश्रि-' (३।१।४८) इत्यादिना चङि द्विर्भाव इयङादेशः । मुकुटोपलेषु मौलिरत्नेषु स्खलन्तः करा येषां तैः । शिरसि बद्धाञ्जलि-भिरित्यर्थः । 'उपलः प्रस्तरे रत्ने' इति विश्वः । तिस्रो दशा बाल्यकौमारयौवनानि, जन्मसत्तावृद्धयो वा येषां तैस्त्रिदशैर्देवैः । यद्वा त्रिर्दश परिमाणमेषामिति 'बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्' (५।४।७३) इति समासान्तः । तिस्रः संध्याः समाहृतास्त्रि-सन्ध्यम् । 'तद्धितार्थोत्तरपद-' (२।१।५१) इत्यादिना समाहारे द्विगुः । 'द्विगुरेक-वचनम्' (२।४।१) वा टाबन्त इति पक्षे नपुंसकत्वम् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । तस्यै दिशे करैर्हस्तैः । 'नम स्वस्ति' (२।३।१६) इत्यादिना चतुर्थी । नमः नम-स्कारोऽकारि कृतम् । कृञः कर्मणि लुङ् । 'चिण् भावकर्मणोः' (३।१।६६) इति चिण् । संध्यावन्दनेऽपि दिङ्नियमं परित्यज्य तदागमनभयात्तस्यै दिशे नमस्कारः कृत इति भावः ।

लक्ष्मीका आश्रय वह हिरण्यकशिपु दूसरे-दूसरे लोकोंमें भ्रमण करता हुआ स्वेच्छासे जिस दिशामें जाता था, (सिरपर पहने हुए) मुकुटोंमें जड़े गये रत्नोंपर हाथ रखे हुए (हाथ जोड़कर सिरपर रखे हुए) देवलोग उस दिशाके लिए तीनों सन्ध्याओंमें नमस्कार करते थे ॥ ४६ ॥

---

१. 'श्रियाम्' इति पा० ।

अथ सोऽपि त्वयैव हत इत्याह—

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह ! सैंहीमतनुं तनुं त्वया ।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभंगुरैरुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः ॥ ४७ ॥

सटाच्छटेति ॥ हे नृसिंह, नरः सिंह इवेत्युपमितसमासः । ना चासौ सिंहश्चेति प्रस्तावाद् सिंहस्येमां सैंहीं तनुं काव्यं बिभ्रता । नृसिंहावतारभाजेत्यर्थः । किं भूताम् । अतनुं विस्तीर्णाम् । अत एव सटाच्छटाभिः केशरसमूहैः भिन्ना घना मेघा येन । अभ्रंकषविग्रहत्वादिति भावः । 'सटा जटाकेशरयोः' इति, 'तनुः काये कृशेऽल्पे च' इति विश्वः । त्वया स दैत्यः । मुग्धौ नवौ । 'मुग्धः सौम्ये नवे मूढे' इति वैजयन्ती । यौ कान्तास्तनौ तयोः सङ्गेनापि भङ्गुरैः कुटिलैर्नखैरुरोविदारम् उरो विदार्य । 'परिक्लिश्यमाने' च' (३।४।५५) इति णमुल्प्रत्ययः । प्रतिचस्करे हतः । किरतेः कर्मणि लिट् । ऋच्छत्यृताम्' (७।४।११) इति गुणः । हिंसायां प्रतेश्च' (६।१।१४१) इति सुडागमः । वज्रकठिनोऽपि नखैर्विदारित इति वाङ्मनसयोरगोचरमहिम्नस्ते किमसाध्यमिति भावः ।

हे नृसिंह ! (मनुष्य तथा सिंहरूपधारी भगवान् श्रीकृष्ण) ! विशाल (आकाशस्पर्शी) सिंह-शरीरको धारण करते हुए (अतएव) केसरों (आयलों—गर्दनके बालों) के समूहोंसे मेघको विदीर्ण करनेवाले आप मनोहर कान्ता—स्तनद्वयके सङ्गसे टेढ़े नखोंसे पेट (फाड़कर उस (हिरण्यकशिपु) का वध किया ॥ ४७ ॥

अथास्य जन्मान्तरचेष्टितान्याचष्टे—

विनोदमिच्छन्नथ दर्पजन्मनो रणेन कण्ड्वास्त्रिदशैः समं पुनः ।
स रावणो नाम निकामभीषणं बभूव रक्षः क्षतरक्षणं दिवः ॥ ४८ ॥

विनोदमिति ॥ अथ स हिरण्यकशिपुः पुनर्भूयोऽपि त्रिदशैः समं सह । 'साकं सार्धं समं सह' इत्यमरः । रणेन दर्पादन्तः साराज्जन्म यस्यास्तस्याः कण्ड्वाः भुज-कण्डूतेर्विनोदमपनोदमिच्छन् । प्राग्भवनखक्षतैस्तदपनोदाभावादित्यर्थः । दिवः स्वर्गस्य क्षतं नष्टं रक्षणं रक्षा येन तद् । क्षतद्युरक्षणमित्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात् समासः । अनेन देवसर्वस्वापहारित्वमुक्तम् । भीषयत इति भीषणः । नन्द्यादित्वाद् ल्युः । 'भियो हेतुभये षुक् (७।३।४०) इति षुक् । निकामं भीषणः । 'सुप्सुपा' इति समासः । रावणो नाम रावण इति प्रसिद्धं रक्षो बभूव । राक्षसयोनौ जात इत्यर्थः । विश्रवसोऽपत्यं पुमान् रावण इति विग्रहः । 'तस्यापत्यम्' (४।१।९२) इत्यणि कृते 'विश्रवसो विश्रवणरवणौ' इति प्रकृते रवणादेशः । पौराणिकास्तु रावयतीति व्युत्पादयन्ति । तदुक्तमुत्तरकाण्डे—'यस्माल्लोकत्रयं चैतद्रावितं भयमागतम् । तस्मात्त्वं रावणो नाम नाम्ना वीरो भविष्यसि ॥' (१६।३८) इति । रौतेर्ण्यन्तात्कर्तरि ल्युट् । रावणरक्षसोर्नियतलिङ्गत्वाद्विशेषणविशेष्यभावेऽपि स्वलिङ्गता ।

(अब नारदजी उसीके रावण जन्म धारण किये गये उपद्रवोंका वर्णन करते हैं—) इस (हिरण्यकशिपुके वध करने) के बाद वही हिरण्यकशिपु देवोंके साथ युद्धसे बलके दर्पसे उत्पन्न खुजली का आनन्द चाहता हुआ स्वर्गकी रक्षाको नष्ट करनेवाला अत्यन्त भयङ्कर रावण नामका राक्षस हुआ।

विमर्श—आपने नरसिंह रूप धारण कर जब हिरण्यकशिपुको मार दिया, तब भी उसका बलदर्प शान्त नहीं हुआ, अतः वह देवोंके साथ युद्धकर बलदर्पजन्य खाजको दूर करनेके लिए देवोंको जीतकर स्वर्गरक्षाको अस्त-व्यस्त करनेवाला महाभयङ्कर तीनों लोकों को भयसे रुलानेवाला रावण नामक राक्षस होकर जन्म लिया ॥ ४८ ॥

अथास्यौद्धत्यमष्टादशश्लोक्याऽऽचष्टे—

प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य यः शिरोऽतिरागाद्दशमं चिकर्तिषुः।
अतर्कयद्विघ्नमिवेष्टसाहसः प्रसादमिच्छासदृशं पिनाकिनः ॥ ४९ ॥

प्रभुरिति ॥ यो रावणः भुवनत्रयस्य प्रभुः स्वामी बुभूषुः भवितुमिच्छुः। भुवः सन्नन्तादुप्रत्ययः। अतिरागादुत्साहात्, न तु फलबिलम्बननिर्वेदादिति भावः। दशमं शिरः चिकर्तिषुः कर्तितुं छेत्तुमिच्छुः। 'कृती छेदने' इति धातोः सन्नन्तादुप्रत्ययः। इष्टसाहसः प्रियसाहसः। अत एवेच्छासदृशमिच्छानुरूपं पिनाकिनः प्रसादं वरं विघ्नमिवातर्कयत् उत्प्रेक्षितवानिति परमसाहसिकत्वोक्तिः। इत आरभ्य श्लोकषट्केऽपि यच्छब्दस्य स रावणो नाम रक्षो बभूवेति पूर्वेणान्वयः। रङ्गराजस्तु 'न चक्रमस्याक्रमताधिकंधरम्' इति उपरिष्टादन्वय इत्याह। तदसत्। 'गुणानां च परार्थत्वात्' इति न्यायादारुण्यादिवत्प्रत्येकं प्रधानान्वयिनां मिथः संबन्धायोगादित्यलं शाखाचङ्क्रमणेन। पुरा किल रावणः काम्ये कर्मणि पशुपतिप्रीणनाय नव शिरांस्यग्नौ हुत्वा दशमारम्भे संतुष्टात्तस्मात्त्रैलोक्याधिपत्यं वव्रे इति पौराणिकी कथाऽत्रानुसंधेया।

(अब नारदजी उन्नीस श्लोकों (१।४९—६७) से रावणके औद्धत्यका वर्णन करते हैं—) तीनों लोकोंका स्वामी होनेकी इच्छा करनेवाला, (अतएव शिवजीकी अतिशय प्रसन्नताके लिए) अधिक भक्तिसे दसवें सिरको काटने का इच्छुक तथा महासाहसी जो (रावण) इच्छानुकूल शिवजीकी वरदान रूप प्रसन्नताको विघ्नके समान समझा, (वह रावण नामक राक्षस हुआ ऐसा पूर्व श्लोक (१।४८) के साथ अन्वय करना चाहिये) ॥ ४९ ॥

अथ कैलासोत्क्षेपणवृत्तान्तमाह—

समुत्क्षिपन्यः पृथिवीभृतां वरं वरप्रदानस्य चकार शूलिनः।
त्रसत्तुषाराद्रिसुताससंभ्रमस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयम् ॥ ५० ॥

समुत्क्षिपन्निति ॥ यो रावणः पृथिवीभृतां पर्वतानां वरं श्रेष्ठं कैलासं समुत्क्षिपन्। दर्पादिति शेषः। शूलिनो वरप्रदानस्य पूर्वोक्तस्य। त्रसन्त्याः शैलचलनेन बिभ्यत्या-

स्तुषाराद्रिसुतायाः पार्वत्याः ससंभ्रमो यः स्वयंग्रहः प्रियप्रार्थनां विना कण्ठग्रहणम्। 'सुप्सुपा' इति समासः। तेन आश्लेषः संमेलनं तेन यत्सुखं तेन। त्रैलोक्याधिपत्य-सुखादुत्कृष्टेनेति भावः। निष्क्रयं प्रत्युपकारनिर्गतिं चकार। 'निष्क्रयो वृद्धियोगे स्यात्सामर्थ्ये निर्गतावपि' इति वैजयन्ती। यद्वा निष्क्रयं चकार क्रयेण व्यवहारेण याञ्चादोषदैन्यं ममार्जेत्यर्थः। अत्र सुखवरदानयोर्विनिमयात् परिवृत्तिरलंकारः।

पर्वतश्रेष्ठ (कैलास) को उठाता हुआ जो रावण शिवजीके वरदान का, डरती हुई पार्वतीके स्वयं ग्रहणजन्य आलिङ्गन सुखसे बदला चुका दिया। ('वह रावण नामक राक्षस हुआ)।

विमर्श—क्रीडा करते हुए रावणने जब कैलास पर्वतको उठाया, तब पर्वतशिखर पर शिवजीके साथ बैठी हुई पार्वती पर्वतके अकस्मात् हिलनेसे नारीस्वभावजन्य भयसे एकाएक डरकर शङ्करजीको बाहुपाशमें पकड़कर उनका स्वयमेव आलिङ्गन कर लिया, उससे जो शङ्करजी को परमानन्द हुआ, उसके द्वारा रावणने शङ्करजीके दिये गये वरदानका (मानो) बदला चुका दिया ॥ ५० ॥

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली[1] य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः ॥५१॥

पुरीमिति ॥ यो बली बलवान् रावणो नमुचिद्विषा इन्द्रेण विगृह्य विरुध्य पुरी-ममरावतीमवस्कन्द अवरुरोध। नन्दनमिन्द्रवनम्, 'नन्दनं वनम्' इत्यमरः। लुनीहि चिच्छेद। 'ई हल्यघोः' (६।४।११३) इतीकारः। रत्नानि श्रेष्ठवस्तूनि मणीन् वा। 'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इति विश्वः। मुषाण मुमोष। 'मुष स्तेये'। 'हलः श्नः शानज्झौ' (३।१।८३) इति श्नः शानजादेशः। अमराङ्गनाः हर जहार। सर्वत्र पौनः पुन्येनेत्यर्थः। इत्थमनेन प्रकारेण अहनि च दिवा चाहर्दिवम्। अहन्यहनीत्यर्थः। 'अचतुर–' (५।४।७७) इत्यादिना सप्तम्यर्थवृत्तौ द्वन्द्वे समासान्तो निपातः। दिवः स्वर्गस्यास्वास्थ्यमुपद्रवं चक्रे। अत्रावस्कन्देत्यादौ 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः' (३।४।२) इत्यनुवृत्तौ 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' (३।४।३) इति विकल्पेन कालसामान्ये लोट्। तस्य यथोपग्रहं सर्वतिङादेशो हिस्वौ च। प्रकरणा-दिना। त्वर्थविशेषावसानम्। 'अतो हेः' (६।४।१०५) इति यथायोग्यं हिलुक्। पौनः पुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहारः। अवस्कन्दनादिक्रियाविशेषाणां समुच्चयः क्रिया-समभिहारः। तत्सामान्यस्य करोतेः 'समुच्चये सामान्यवचनस्य' (३।४।५) इत्यनु-प्रयोगः चक्रे इति। 'अत्र तिङ्वैचित्र्यात् सौशब्दाख्यो गुणः'। 'सुपां तिङां परावृत्तिः सौशब्दम्' इति लक्षणात्। समुच्चयश्चालंकारः।

---

१. 'बली……महर्निशम्' इति पा०।

जिस बलवान् रावण ने नमुचिशत्रु (इन्द्र) के साथ विरोधकर बार-बार 'अमरावती' पुरीको घेर लिया, 'नन्दन' वनको छिन्न-भिन्न कर दिया, रत्नोंको चुरा (छीन) लिया और देवाङ्गनाओंका अपहरण कर लिया; इस प्रकार उसने प्रतिदिन स्वर्गको पीड़ित किया । ('वह रावण नामक राक्षस हुआ' ॥ ५१ ॥

सलीलयातानि न भर्तुरभ्रमोर्न चित्रमुच्चैःश्रवसः पदक्रमम् ।
अनुद्रुतः संयति येन केवलं बलस्य शत्रुः प्रशशंस शीघ्रताम् ॥ ५२ ॥

सलीलेति ॥ संयति युद्धे । 'समुदायः स्त्रियां संयत्समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः । येन रावणेन अनुद्रुतोऽनुधावितः बलस्य शत्रुरिन्द्रः अभ्रमोर्भर्तुरैरावतस्य सलीलयातानि सभङ्गीकगमनानि न प्रशशंस । तथा उच्चैःश्रवसः स्वाश्वस्य चित्रं नानाविधं पदक्रमं पादविक्षेपम् । अर्धपुलायितादिगतिविशेषमित्यर्थः । न प्रशशंस । किंतु केवलं शीघ्रतां शीघ्रगामित्वमेव प्रशशंस । अन्यथा शीघ्रं मामास्कन्द्य ग्रहीष्यतीति भयादिति भावः ।

जिस रावणके द्वारा युद्धमें अनुद्रुत (पीछाकर भगाये गये) बलशत्रु (इन्द्र) ने ऐरावतके लीलापूर्वक गमनकी प्रशंसा नहीं की तथा उच्चैःश्रवा घोड़ेके चित्र-विचित्र (दुलकी, कदम, छरलक, पोइया आदि) चालोंकी भी प्रशंसा नहीं की; किन्तु शीघ्रता (उसके जल्दी भागने) की ही प्रशंसा की ॥ ५२ ॥

अशक्नुवन् सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम् ।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः ॥ ५३ ॥

अशक्नुवन्निति ॥ अधीरलोचनोऽस्थिरदृष्टिः कौशिको महेन्द्र, उलूकश्च । 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' इत्यमरः । सहस्ररश्मेः सूर्यस्येव यस्य रावणस्य विक्रमकर्मणो दर्शनं सोढुमशक्नुवन् । हेमाद्रेर्गुहैव गृहं तस्यान्तरं प्रविश्य बिभ्यत्त्रापि वेपमान एव । बिभीतेः शतरि 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) इति नुमभावः । दिवसानि वासराणि निनाय । 'वा तु क्लीवे दिवसवासरौ' इत्यमरः । यथा पेचकः सूर्योदये भीतः सन् तिष्ठति तथा सोऽपीति भावः । कौशिक इत्यभिधायाः प्रस्तुतैकगोचरत्वेनोभयश्लेषेऽपि विशेष्यश्लेषासंभवादुलूकविषयशब्दशक्तिमूलो ध्वनिः । सहस्ररश्मेरिवेत्युपमाननिर्वाहकत्वाद्वाच्यसिद्धयङ्गम् ।

सूर्यके समान (परम तेजस्वी) जिस रावणके दर्शनको सहनेमें असमर्थ अस्थिर नेत्रवाले इन्द्र (पक्षा०—उल्लू नामका पक्षी) ने हिमालयकी गुफारूपी गृहान्तरमें घुसकर डरते हुए दिनको व्यतीत किया ('वह रावण' नामक राक्षस हुआ) ।

विमर्श—जिस प्रकार अस्थिर दृष्टि उल्लू परम तेजस्वी सूर्यको देखनेमें असमर्थ होकर हिमालयकी गुफामें प्रवेशकर डरता हुआ दिन व्यतीत करता है, उसी प्रकार रावणके

भयसे चञ्चल नेत्र इन्द्रने सूर्यके समान तेजस्वी रावणको देखनेमें असमर्थ होकर अपनी अमरावती पुरी छोड़कर हिमालयकी कन्दरामें दिन व्यतीत किया ॥ ५३ ॥

बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनाद्विकीर्णलोलाग्निकणं सुरद्विषः ।
जगत्प्रभोरप्रसहिष्णु वैष्णवं न चक्रमस्याक्रमताधिकंधरम् ॥ ५४ ॥

बृहच्छिलेति ॥ बृहति शिलेव निष्ठुरे कण्ठे घट्टनादभिघाताद्विकीर्णा विक्षिप्ताः लोलाश्चाग्निकणाः स्फुलिङ्गा यस्य तत् । अत एवाप्रसहिष्णु अनभिभावकम् । 'प्रसहनमभिभवः' इति वृत्तिकारः । 'अलंकृञ्–' (३।२।१३६) इत्यादिना इष्णुच् । वैष्णवं चक्रं सुदर्शनं जगत्प्रभोःसकललोकैकस्वामिनः । अस्य सुरद्विषो रावणस्य कंधरायामधि अधिकंधरमधिग्रीवम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । 'अव्ययीभावश्च' (२।४।१८) इति नपुंसकत्वात् 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (१।२।४७) इति ह्रस्वत्वम् । 'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायां शिरोधिः कंधरेत्यपि' इत्यमरः । नाक्रमताप्रतिहतं न क्रमते स्म न प्रवर्ततेस्म । किंतु प्रतिहतमेवेत्यर्थः । 'वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः' (१।३।३८) इति वृत्तावात्मनेपदम् । वृत्तिरप्रतिबन्धः ।

बड़े चट्टानके समान कठोर (रावणके) कण्ठमें टक्कर लगनेसे निकल रही हैं चञ्चल चिनगारियाँ जिससे ऐसा, असह्य (किसीसे पराभूत नहीं होनेवाला) विष्णुके सुदर्शन चक्रने लोकस्वामी इस रावणके कण्ठमें आक्रमण (प्रहार) नहीं किया । (पाठा०—······जिससे ऐसा, संसारको अभिभूत करनेवाला (क्रुद्ध होनेपर संसारको भस्म कर सकनेवाला) विष्णुके सुदर्शन चक्रने असुरोंके स्वामी इस रावणके······) । (वह रावण नामक राक्षस हुआ) ॥५४॥

विभिन्नशङ्खः कलुषीभवन्मुहुर्मदेन दन्तीव मनुष्यधर्मणः ।
निरस्तगाम्भीर्यमपास्तपुष्पकं प्रकम्पयामास न मानसं न सः ॥ ५५ ॥

विभिन्नेति ॥ स रावणो मदेन दर्पेण, इभदानेन च । 'मदो दर्पमदानयोः' इति विश्वः । दन्तीव गज इव विभिन्नो विघट्टितः शङ्खो निधिभेदः, कम्बुश्च येन सः सन् । 'शङ्खो निध्यन्तरे कम्बुललाटास्थिनखेषु च' इति विश्वः । अकलुषं कलुषं क्षुब्धमाविलं च भवत् कलुषीभवत् निरस्तं गाम्भीर्यमविकारित्वं, अगाधत्वं च यस्य तत् । अपास्तानि पुष्पाणि, पुष्पकं विमानं च यस्मात्तत् । पुष्पपक्षे वैभाषिकः कप्प्रत्ययः । मनुष्यस्येव धर्मः श्मश्रुलत्वादिर्यस्येति स्वामी । तस्य मनुष्यधर्मणः । 'धर्मादनिच् केवलात्' (५।४।१२४) इत्यनिच् । मानसं चित्तं, तदीयं सरश्च । 'मानसं सरसि स्वान्ते' इति विश्वः । मुहुर्न कम्पयामास न क्षोभयामासेति न, किंतु कम्पयामासेवेत्यर्थः । कुबेरस्य महामहिमतया संभाविताप्रकम्पित्वनिवारणाय नञ्द्वयम् । 'संभाव्यनिषेधनिवर्तने नञ्द्वयम्' इति वामनः । अत्र दन्तिरावणयोः प्रकृताप्रकृतयोः श्लेषः ।

मद (अभिमान, पक्षा०—मदजल) से बार–बार कलुषित (क्षुब्ध, पक्षा०—पङ्किल) होता हुआ, शङ्ख (शङ्ख=कम्बु, पक्षा०—'शङ्ख' नामक निधि–विशेष) को तोड़ने (छिन्न-भिन्न करने) वाले, हाथीके समान वह रावण, जिसकी गम्भीरता (कष्टादिके आने पर भी सहनशीलता, पक्षा०—अगाधता) नष्ट हो गयी हैं ऐसे तथा जिससे पुष्पक विमान हटा दिया (छीन लिया) गया है (पक्षा०—जिसके कमलादि फूल नष्ट कर दिये गये हैं) ऐसे, कुबेरके मन (पक्षा०—मानसरोवर) को चञ्चल नहीं कर दिया क्या ? अर्थात् चञ्चल कर ही दिया।

विमर्श—जिस प्रकार मदजलसे बार–बार क्षुब्ध होता हुआ तथा कम्बु–समूहको तोड़ने-वाला मतवाला हाथी मिट्टी आदि डालकर जिस मानसरोवर की अगाधताको नष्ट कर देता है तथा उसके कमलादि पुष्पोंको छिन्न-भिन्न करके मानसरोवर को (क्षुब्ध) चञ्चल कर देता है; उसी प्रकार अभिमानसे क्षब्ध तथा (कुबेर) के 'शङ्ख' नामक निधिको नष्ट–भ्रष्ट कर देने-वाले उस रावणने कुबेरकी गम्भीरताको नष्टकर तथा उनके पुष्पक विमान का अपहरण कर कुबेरके चित्तको चञ्चल कर दिया ॥ ५५ ॥

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहुंकारपराङ्मुखीकृताः ।
प्रहर्तुरेवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे ॥ ५६ ॥

रणेष्विति ॥ किञ्च रणेषु प्रचेतसा वरुणेन प्रहिताः प्रयुक्ता उरगराजा महासर्पास्ते रज्जव इव उरगराजरज्जवः। नागपाशा इत्यर्थः। तस्य रावणस्य सरोषहुंकारेण पराङ्मुखीकृता व्यावर्तिताः। अतएव सभयाः सत्यः जवेन वेगेन प्रहर्तुः प्रयोक्तुः प्रचेतस एव कण्ठं प्रपेदिरे प्राप्ताः। अत्र परहिंसाप्रयुक्तस्यायुधस्य वैपरीत्येन स्वकण्ठ-ग्रहणादनर्थोत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः। 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्' इति लक्षणात्।

युद्धमें वरुणके द्वारा छोड़े गये (तथा रावणके द्वारा) क्रोधके साथ किये गये हुङ्कारसे लौटाये गये रस्सीके समान सर्पराज अर्थात् नागपाश नामक शस्त्र भययुक्त होकर छोड़ने वाले (वरुण) के ही कण्ठको वेगके साथ प्राप्त किये अर्थात् वरुणके कण्ठमें ही आकर लिपट गये ॥ ५६ ॥

परेतभर्तुर्महिषोऽमुना धनुर्विधातुमुत्खातविषाणमण्डलः ।
हृतेऽपि भारे महतस्त्रपाभरादुवाह दुःखेन भृशानतं शिरः ॥ ५७ ॥

परेतभर्तुरिति ॥ अमुना रावणेन धनुः शार्ङ्गं विधातुं निर्मातुमुत्खातमुत्पाटितं विषाणयोः शृङ्गयोर्मण्डलं वलयं यस्य स परेतभर्तुर्यमस्य महिषः। वाहनभूत इति भावः। भारे विषाणरूपे। भृञो घञ्। हृतेऽपि महतस्त्रपैव भरस्तस्मात्। ततोऽपि दुर्भरादिति भावः। भृधातोः क्रैयादिकात् 'ॠदोरप्' (३।३।५७) इत्यप्प्रत्ययः। भृशमत्यर्थमानतं नम्रं शिरो दुःखेनोवाह वहति स्म। 'असंयोगाल्लिट् कित्' (१।२।५)

इति कित्त्वात् 'वचिस्वपि–' (६।१।१५) इत्यादिना संप्रसारणम् । हृतेऽपि भारे नतमिति विरोधः तदनुप्राणिता चेयमवनतिहेतुत्वसाधर्म्यात् त्रपाभारत्वोत्प्रेक्षा ।

इस रावणने धनुष बनानेके लिये यमराजके वाहन भैंसेके सींगोंको उखाड़ लिया, इस प्रकार (सींगके) भारको हलका करनेपर भी वह भैंसा लज्जारूपी बड़े भारी भार (बोझ) से अत्यन्त नम्र मस्तकको दुःखके साथ वहन करने (ढोने) लगा ।

विमर्श—दूसरेसे अपमानित मानी व्यक्तिका लज्जित होकर मस्तक नीचा कर लेना उचित ही है । यहां भैंसे अपने मस्तकको सर्वदा झुकाये हुए चलते हैं, इसपर उक्त कल्पनाकी गयी है ॥ ५७ ॥

स्पृशन्सशङ्कः समये शुचावपि स्थितः कराग्रैरसमग्रपातिभिः ।
अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैरलञ्चकारास्य वधूरहस्करः ॥ ५८ ॥

स्पृशन्निति ॥ अहः करोतीत्यहस्करः सूर्यः । 'दिवाविभानिशा–' (३।२।२१) इत्यादिना टप्रत्ययः कस्कादित्वात् सत्वम् । शुचौ समये ग्रीष्मकाले, अनुपहते आचारे च स्थितोऽपि । 'शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोरपि । ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यात्' इति विश्वः । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । असमग्रपातिभिः । संकुचितवृत्तिभिरित्यर्थः । कराणामंशूनां, हस्तानां चाग्रैः । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । सशङ्कः स्पृशन् । अविश्वासभयादिति भावः । अघर्मा अनुष्णा घर्मोदकबिन्दवः स्वेदोदबिन्दवः । 'मन्थौदन–' (६।३।६०) इत्यादिना विकल्पादुदकशब्दस्योदादेशाभावः । तैरेव मौक्तिकैरस्य वधूरलञ्चकार । ग्रीष्मे तद्भयान्नासह्यं तपतीत्यर्थः । अत्र प्रस्तुतसूर्यविशेषणमात्रसाम्यादप्रस्तुतप्रसाधकप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ।

आषाढ़ मास (ग्रीष्मकाल, पक्षा०—शुद्ध आचरण) में स्थित भी सूर्य (रावणके भयसे) शङ्कित रहता हुआ तथा असम्पूर्ण गिरते हुए किरणों से (पक्षा०—हाथोंसे) छूता हुआ इस रावणकी स्त्रियोंको शीतल स्वेदबिन्दुरूप मोतियोंसे अलंकृत करता था ।

विमर्श—जिस प्रकार कोई नर्मसचिव शुद्धाचरणवाला होता हुआ भी रानियोंको 'राजा हमें अधिक हाथ बढ़ाये हुए देख लेंगे तब मुझपर रुष्ट हो जायेंगे' इस भयसे अच्छी तरह हाथ बढ़ाकर नहीं छूते हुए मोतियोंसे रानियोंको अलंकृत (शृङ्गारसे सुशोभित) करता है, उसी प्रकार आषाढ़ मास होनेपर भी सूर्य रावणके भयसे अपनी सम्पूण किरणोंसे उसकी रानियोंको स्पर्श नहीं करता है, किन्तु थोड़ा-सा तपता है, जिससे रावणकी सुकुमारी स्त्रियोंके मुखादिपर मोतियोंके समान पसीनेकी बूँदें होकर उन्हें शृङ्गारयुक्त कर देती हैं । रावणके भयसे ग्रीष्मकालमें भी सूर्य अधिक गर्मी नहीं पैदा करता है ॥ ५८ ॥

कलासमग्रेण गृहानमुञ्चता मनस्विनीरुत्कयितुं पटीयसा ।
विलासिनस्तस्य वितन्वता रतिं न नर्मसाचिव्यमकारि नेन्दुना ॥५९॥

कलासमग्रेणेति ॥ कलाभिः षोडशांशैः, शिल्पविद्याभिश्च समग्रेण संपूर्णेन । 'काले शिल्पे वित्तवृद्धौ चन्द्रांशे कलने कला' इति वैजयन्ती । गृहानमुञ्चता सदा तद्गृहेष्वेव वसता । दण्डभयात्सेवाधर्मत्वाच्चेति भावः । मनस्विनीर्मानिनीरुत्काः उत्सुकाः कर्तुं उत्कयितुम् । 'उत्क उन्मनाः' (५।२।८०) इति निपातनादुत्कशब्दाद् 'तत्करोति–(ग०) इति ण्यन्तात्तुमुन् । पटीयसा । मानभेदचतुरेणेत्यर्थः । कुतः । रतिं वितन्वता चन्द्रिकाभिश्चतुरोक्तिभिश्च रागं वर्धयता इन्दुना विलासिनो विलसनशीलस्य । 'वौ कषलस–' (३।२।१४३) इत्यादिना घिनुण् प्रत्ययः । तस्य रावणस्य नर्मसाचिव्यं क्रीडासंबन्ध्यधिकारित्वे सचेष्टत्वम् । 'लीला क्रीडा च नर्म च' इत्यमरः । नाकारीति न किंत्वकार्येवेत्यर्थः । अनौचित्यात्प्राप्तनर्मसाचिव्यनिषेधनिवारणार्थं नञ्द्वयम् । 'संभाव्यनिषेधनिवर्तने नञ्द्वयम्' इति वामनः । अत्रेन्दोः प्रकृतस्याप्रकृतेन नर्मसचिवेन श्लेषः ।

सम्पूर्ण (सोलह, पक्षा०—चौंसठ) कलाओंसे युक्त (रावणके) घर (राजभवन–अन्तःपुर) को नहीं छोडता हुआ, मानिनी स्त्रियोंको उत्कण्ठित करनेमें अतिशय चतुर तथा विलासी उस रावणके रतिको बढ़ाता हुआ चन्द्रमा उसके नर्मसचिवका कार्य नहीं किया ? अर्थात् अवश्य किया ।

विमर्श—राजाओंके घरमें नर्मसचिव रहता है जो सम्पूर्ण कलाओंको जानता है, सर्वदा अन्तःपुरमें ही रहता है और यदि कोई स्त्री मान करती है तो उसे कामोत्तेजक वचनोंसे कामोत्कण्ठित करता है, इस प्रकार राजाके रति (स्त्री–विषयक अनुराग) को बढ़ाता हुआ वह नर्मसचिवका कार्य करता रहता है । उसी प्रकार सोलहों कलाओंसे युक्त, घरको नहीं छोड़ता हुआ अर्थात् कृष्णपक्षमें भी रावणके घर–राजमहलमें चाँदनी फैलता हुआ मानिनी स्त्रियोंको रतिके लिए उत्कण्ठित करनेमें अत्यन्त चतुर चन्द्रमा रावणके रतिको बढ़ाता हुआ उसके नर्मसचिवका कार्य करता है ॥ ५९ ॥

विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया[1] नूनमनेन मानिना ।
न जातु वैनायकमेकमुद्धृतं विषाणमद्यापि पुनः प्ररोहति ॥ ६० ॥

विदग्धेति ॥ मानिनाहंकारिणा अनेन रावणेन विदग्धलीलाः । चतुरविलासिन्य इत्यर्थः । तासामुचिताश्च ता दन्तपत्रिकाश्च कर्णभूषणानि । 'विलासिनीविभ्रमदन्तपत्रिका' इति साधीयान् पाठः । अन्यथा विप्रकृष्टार्थप्रतीतिकत्वेन कष्टाख्यार्थदोषापत्तेः । 'कष्टं तदर्थावगमो दूरायत्तो भवेद्' इति लक्षणाद् । अत्र विलासिनीनां या विभ्रमदन्तपत्रिका विभ्रमार्थानि यानि दन्तमयपत्राणि । विभ्रमदन्तशब्दयोः षष्ठीसमासपर्यवसानात्तादर्थ्यलाभः । तासां विधित्सया विधातुमिच्छया । विपूर्वाद्धातेः 'सनि मीमा–' (७।४।५४) इत्यादिना अच इस् । 'सः सि' इति तकारः । अत्र 'लोपोऽ-

---

१. 'चिकीर्षया' इति पा० ।

भ्यासस्य' (७।४।५८) इत्यभ्यासलोपः । ततः 'स्त्रियाम्' (४।१।२) इत्यनुवृत्तौ 'अ प्रत्ययात्' (२।३।१०२) इत्यकारप्रत्यये टाप् । नूनं निश्चितं जातु कदाचिदपि । 'कदाचिज्जातु' इत्यमरः । उद्धृतमुत्पाटितं विनायकस्य गणेशस्येदं वैनायकं एकं विषाणं दन्तः । 'विषाणं पशुशृङ्गे स्यात्क्रीडाद्विरददन्तयोः' इति विश्वः । अद्यापि पुनर्न प्ररोहति न प्रादुर्भवति । प्रपूर्वात् 'रुह प्रादुर्भावे' इत्यस्माल्लट् । किमन्यदकार्यमस्येति भावः । एतदन्यथा कथं गजाननस्यैकदन्तत्वमुत्प्रेक्ष्यते नूनमिति ।

मानी रावणके द्वारा चतुर लीलावाली स्त्रियोंके योग्य दन्तपत्रिका (कामका वह भूषण, जिसके चारों ओर दाँत–जैसी नोक निकली रहती हैं, और जिसे 'तरकी' कहते हैं) बनानेकी इच्छासे किसी समय उखाड़ा गया गणेशजीका एक दाँत आजतक भी नहीं जमता है ।

विमर्श—पुराणोंमें गणेशजीका एकदन्तत्व प्रसिद्ध होनेसे उक्त कल्पना की गयी है ॥६०॥

निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसाप्यूरुषु लोलचक्षुषः ।
प्रियेण तस्यानपराधबाधिताः [1]प्रकम्पनेनानुचकम्पिरे सुराः ॥ ६१ ॥

निशान्तेति ॥ निशान्तं गृहम् । 'निशान्तं गृहशान्तयोः' इति विश्वः । तत्र या नार्यः । शुद्धान्तः स्त्रिय इत्यर्थः । तासां परिधानान्यन्तरीयाणि । 'अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके' इत्यमरः । तेषां धूननं चालनम् । धूञो ण्यन्ताल्ल्युट् । 'धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' (वा०) इति नुक् । तेन स्फुटागसा व्यक्तापराधेनापि । अन्तःपुरद्रोहस्य महापराधत्वादिति भावः । ऊरुषु तासां सक्थिषु लोलचक्षुषः सतृष्णदृष्टेः । 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' इति, 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इति चामरः । अत एव तस्य रावणस्य प्रियेण प्रमोदास्पदभूतेनाङ्गीकृतः । म्लानिर्न दोषायेति न्यायादिति भावः । प्रकम्पनेन वायुना अनपराधेऽपराधाभावेऽपि बाधिताः । राजपुरुषैरिति शेषः । सुरा अनुचकम्पिरे । स्वयमुपायेनान्तः प्रविश्यानपराधबाधानिवेदनेन मोचयता वायुनानुकम्पिता इत्यर्थः । एकस्य वैदग्ध्याद्बहवो जीवन्तीति भावः ।

अन्तःपुर (रनिवास) में रहनेवाली स्त्रियोंके कपड़े (पहननेकी साड़ी) को कम्पित करने (स्पर्शकर इधर–उधर हटाने) से स्पष्ट अपराधवाले (तथापि नग्नजघना स्त्रियोंके) ऊरुओंको देखते समय चञ्चल नेत्रोंवाले रावणके प्रिय वायुने निरपराध बाँधे (कैद किये) गए देवोंको अनुकम्पित कर दिया अर्थात् रावणसे छुड़वा दिया । (अथवा—उक्त कारणसे अपराधी होनेपर भी स्त्रियोंके नग्नजघनको दिखलानेसे रावणके प्रियपात्र वायुने निरपराध पीड़ित देवोंपर अनुकम्पा की) ।

विमर्श—रनिवासमें रहनेवाली स्त्रियोंके पहने हुए वस्त्रको हटानेसे वायुका अपराध स्पष्ट था, किन्तु वैसा करनेसे नग्नजघना हुई उन स्त्रियोंके जघनोंको विलासी रावण चञ्चल

---

१. 'प्रभञ्जनेना–' इति पा० ।

नेत्रोंसे देखने लगा जिससे अपराधी भी वायु रावणका प्रिय बन गया और 'देव लोग बड़े उपकारी होते हैं, क्योंकि उन्हींमें-से इस वायु नामक देवने मेरे अन्तःपुरकी स्त्रियोंका कपड़ा हटाकर हमें ऐसा आनन्द प्रदान किया है' ऐसा मनमें विचार आनेपर रावणने बिना अपराधके पीड़ित (कैद किये गये) देवोंको छोड़ दिया—इस प्रकार वायुने सब देवोंको अनुकम्पित करा दिया। एक वायुके चातुर्यके कारण उसके सभी साथी बन्धनरहित हो गये ॥ ६१ ॥

तिरस्कृतस्तस्य जनाभिभाविना मुहुर्महिम्ना महसां महीयसाम् ।
बभार वाष्पैर्द्विगुणीकृतं तनुस्तनूनपाद्धूमवितानमाधिजैः ॥ ६२ ॥

तिरस्कृत इति ॥ किंच तस्य रावणस्य जनाभिभाविना लोकतिरस्कारिणा महीयसामतिमहतां महसां तेजसां महिम्ना महत्त्वेन । 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (५।१।१२२) इतीमनिच् । मुहुस्तिरस्कृतः अत एव तनुः कृशः । तनुं न पातयति जाठररूपेण शरीरं धारयतीति तनूनपादग्निरिति स्वामी । 'नभ्राट्–' (६।३।७५) इत्यादिसूत्रेण निपातनान्नञो लोपाभावः । आधिजैर्दुःखोत्थैर्बाष्पैः निःश्वासोष्मभिः । 'बाष्पो नेत्रजलोष्मणोः,' 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा' इति विश्वामरौ । द्वौ गुणावावृत्ती यस्य स द्विगुणः । ततश्च्विः । द्विगुणीकृतं द्विरावृत्तम् । 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती । धूमवितानं धूममण्डलं बभार । अग्निरपि तत्संनिधौ निस्तेजस्को धूमायमान आस्त इत्यर्थः । धूमद्वैगुण्यासंबन्धे संबन्धाभिधानादतिशयोक्तिः ।

रावणके लोकपराभावुक अतिशय श्रेष्ठ तेजोंके महत्त्वसे बार-बार तिरस्कृत अतएव दुर्बल अग्निने मानसिक पीड़ाजन्य वाष्प (आँसू, पक्षा०—भाफ) से द्विगुणित धूम समूहको धारण किया ।

विमर्श—अग्नि पहले सबसे तेजस्वी थे, किन्तु रावणके तेजसे वे पराजित हो गये, अतएव मानसिक पीड़ाको रोकनेके कारण वाष्परूप आँसू उन्हें निकलने लगे, जिससे वे दुर्बल होकर अधिक धूएँवाले हो गये ॥ ६२ ॥

परस्य मर्माविधमुज्झतां निजं द्विजिह्वतादोषमजिह्मगामिभिः ।
तमिद्धमाराधयितुं सकर्णकैः कुलैर्न भेजे फणिनां भुजंगता ॥ ६३ ॥

परस्येति ॥ किंच इद्धं दीप्तम् । उग्रमित्यर्थः । 'इन्धी दीप्तौ' कर्तरि क्तः । तं रावणमाराधयितुं सेवितुं परस्य स्वेतरस्य मर्माणि हृदयादिजीवस्थानानि, कुलाचारव्रतानि च विध्यति भिनत्तीति मर्माविद् । विध्यतेः क्विप् 'ग्रहिज्या–' (६।१।१६) इति संप्रसारणम् । 'नहिवृति–' (६।३।११६) इत्यादिना पूर्वस्य दीर्घः । तं मर्माविधं निजं स्वीयं द्विजिह्वतायां सर्पत्वे यो दोषो दृष्टिविषत्वादिस्तम् । अन्यत्र द्विजिह्वता पिशुनता । 'द्विजिह्वौ सर्पसूचकौ' इत्यमरः । सैव दोषस्तमुज्झतां त्यजतां फणिनां संब-

न्विभिरजिह्मगामिभिः करचरणादिमद्विग्रहधारित्वात् ऋजुगतिभिः, अकपटचारिभिश्च। तथा कर्णाभ्यां सह वर्तन्त इति सकर्णकास्तैश्चक्षुःश्रवस्त्वं विहाय आविष्कृतकर्णैरित्यर्थः। 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (२।२।२२) इति बहुव्रीहिः। 'शेषाद्विभाषा' (५।४।१५४) इति कप्। अन्यत्र कर्णयति सर्वं शृणोतीति कर्णको नियन्ता। कर्णयतेण्वुल्। ततः पूर्ववत्समासे सकर्णकैः सनियामकैरित्यर्थः। फणिनां सर्पाणां कुलैः। वर्गैर्भुजङ्गता सर्पता, विटत्वं च। 'भुजङ्गो विटसर्पयोः' इति हलायुधः। न भेजे त्यक्तः। भुजैर्गच्छन्तीति भुजङ्गाः। गमेः सुपि 'खच् च डिद्वा वाच्यः'। तस्मिन्नियन्तरि खलः खलत्वमपि, सर्पैः सर्पत्वमपि विहाय वेषभावक्रियाभिः सौम्यत्वं श्रितमित्यर्थः। अत्र प्रस्तुतसर्पविशेषणसाम्यादप्रस्तुतखलव्यवहारप्रतीतेः समासोक्तिः।

उग्रस्वभाव उस रावणको प्रसन्न करनेके लिये दूसरेके गर्भभेदन (कुलाचारादिको नष्ट करना पक्षा०—हृदयादि मर्मस्थलोंमें डँसना-काटना) रूप अपने (दुष्टोंके, पक्षा०—सर्पोंके) द्विजिह्वतादोष (चुगुलखोरीका दुर्गुण, पक्षा०—सर्पका दुर्गुण) को छोड़नेवाले तथा सीधी चाल चलनेवाले (किसीसे कपट व्यवहार नहीं करनेवाले, पक्षा०—सीधा चलनेवाले), तथा कानयुक्त (कानसे सब हित वचनको सुननेवाले, पक्षा०—कानसहित हुए) सर्पगणोंने सर्पत्व (पक्षा०—कुटिलता) को नहीं ग्रहण किया।

विमर्श—पहले जो सर्पगण लोगोंके हृदयादि मर्मस्थलको डंसकर मारते थे तथा टेढ़ा चलते थे एवं कानरहित थे वे सर्प-गण, उग्रस्वभाव रावणको प्रसन्न करनेके लिये अपना स्वभाव छोड़ दिये; अतएव वे किसीको नहीं डंसते थे, सीधे चलते थे तथा कानसे युक्त हो गये थे। पक्षा०—जो चुगुलखोर लोग दूसरेके कुलाचारको नष्ट करनेसे दुर्गुणयुक्त थे, लोगों के साथ कपट व्यवहार करते थे तथा किसीके हितवचनको नहीं सुनते थे; वे उग्रस्वभाव रावणको प्रसन्न करनेके लिये दूसरेके कुलाचारको नष्ट करना, कपट व्यवहार करना छोड़ दिये तथा हित वचनको सुनने लगे। यहांपर चुगुलखोरको द्विजिह्व तथा कर्णहीन इसलिये कहा गया है कि वे एक जगह जिस बातको कहते हैं दूसरी जगह उसके विपरीत बातको कहते हैं तथा मानो कर्णहीन (बधिर) व्यक्तिके समान किसीके हितवचनको सुनकर भी उसके अनुसार कार्य नहीं करनेसे उसे अनुगामी कर देते हैं। रावणके भयसे सर्पों एवं चुगुलखोरों ने अपने दुर्गुणको छोड़ दिया॥ ६३॥

तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः।
गृहीतदिक्कैरपुनर्निवर्तिभिश्चिराय याथार्थ्यमलम्भि दिग्गजैः॥ ६४॥

तदीयेति॥ तदीयमातङ्गानां घटाभिर्व्यूहैः विघट्टितैरभिहतैः। 'करिणां घटना

१. वल्लभदेवेन 'तदीयमातङ्ग—', 'परस्य मर्मा—', 'तपेन वर्षा—' 'अभीक्ष्णमुष्णै' इत्येवं क्रमेण चत्वारः श्लोका व्याख्याताः।

घटा' इत्यमरः। अत एव कटस्थलेभ्यः प्रोषितान्यपगतानि दानवारीणि येषां तैः। गृहीताः पलाय्य संश्रिता दिशो यैस्तैर्गृहीतदिक्कैः। 'शेषाद्विभाषा' (५।४।१५४) इति कप्। अपुनर्निवर्तिभिर्भयात्तत्रैव स्थितैर्दिग्गजैः चिराय याथार्थ्यं दिक्षु स्थिता गजा दिग्गजा इत्यनुगतार्थनामकत्वमलम्भि लब्धम्। लभेर्ण्यन्तात् कर्मणि लुङ्। 'विभाषा चिण्णमुलोः' (७।१।६९) इति विकल्पान्नुमागमः।

उस रावणके गज-समूहसे आहत तथा गण्डस्थलमें मदजलसे शून्य और (रावणके गज-समूहके भयसे) पुनः नहीं लौटनेवाले दिग्गजोंने चिरकालके लिये यथार्थताको पा लिया।

विमर्श—पहले दिग्गज इधर-उधर इच्छानुसार भ्रमण करते थे और उनके कपोलस्थलसे सर्वदा मदजल बहता रहता था, किन्तु जब रावणके हाथियोंके झुण्डने उन दिग्गजोंको मारा अर्थात् पीटा, तब उनके कपोलस्थलसे मदजलका गिरना (भयके कारण) बन्द हो गया तथा वे पुनः कभी वापस लौटनेवाले नहीं रहे, इस प्रकार जिस दिशाको जो हाथी गया वह उसी दिशाका दिग्गज कहलानेसे बहुत समयतक यथार्थताको पा लिया। पहले जिस किसी हाथीके जिस किसी दशामें पहुँच जानेके कारण उसका उस-उस दिशा का दिग्गज होना सिद्ध नहीं होता था, किन्तु वैसा करनेमें अब सिद्ध हो गया ॥ ६४ ॥

अभीक्ष्णमुष्णैरपि तस्य सोष्मणः सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैर्यथा।
सचन्दनाम्भःकणकोमलैस्तथा वपुर्जलार्द्रापवनैर्न निर्ववौ ॥ ६५ ॥

अभीक्ष्णमिति ॥ ऊष्मणा स्मरज्वरेण सहितः सोष्मा तस्य सोष्मणस्तस्य रावणस्य वपुरभीक्ष्णं भृशमुष्णैरपि। शोकादिति भावः। सुरेन्द्रस्य वन्द्यः वन्दीकृताः स्त्रियः तासां श्वसितानिलैर्निःश्वासमारुतैर्यथा निर्ववौ निर्वृतम्। 'निर्वाणं निर्वृतौ मोक्षे' इति वैजयन्ती। तथा सचन्दनाम्भःकणाः चन्दनोदकबिन्दुसहिताः ते च ते कोमला मृदुलाश्च तैर्जलार्द्राणां जलोक्षिततालवृन्तानां पवनैर्न निर्ववौ। 'धुवित्रं तालवृन्तं स्यादुत्क्षेपव्यजनं च तत्'। 'जलार्द्रा स्याज्जलेनार्द्रं' इति वैजयन्ती। अत्र संतप्तस्योष्णोपचारान्निर्वृतिरिति कारणविरुद्धकार्योत्पत्तिरूपो विषमालंकारः।

कामज्वर सन्तप्त उस रावणका शरीर (दुःखके कारण) अत्यन्त गर्म देवेन्द्रकी वन्दिनी बनायी गयी स्त्रियोंके श्वासवायुसे जैसा सुखी हुआ, चन्दनयुक्त जलकणसे मृदु जलसे शीतल वायुके द्वारा वैसा सुखी नहीं हुआ ॥ ६५ ॥

तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च।
प्रसूनक्लृप्तिं दधतः सदर्तवः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः ॥ ६६ ॥

तपेनेति ॥ सदा नित्यं ननु यथाकालं प्रसूनक्लृप्तिं कुसुमसंपत्तिम्। 'प्रसूनं कुसुमं सुमम्' इत्यमरः। दधतो धारयन्तः ऋतवो वर्षाः प्रावृट् तपेन ग्रीष्मेण। 'उष्ण ऊष्मागमस्तपः' इति, 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षा अथ शरत्स्त्रियाम्' इति चामरः।

तथा हिमागमो हेमन्तः शरदा, तथा शिशिरो वसन्तलक्ष्म्या च समेत्य मिथुनीभावेन मिलित्वा अस्य रावणस्य पुरे वसन्तीति वास्तव्या वस्तारः। 'वसेस्तव्यत्कर्तरि णिच्च' (वा०) इति तव्यत् प्रत्ययः। ते च कुटुम्बिनश्च तेषां भावं तत्ताम्। प्रतिवासित्वमित्यर्थः। ययुः समेत्य ययुरिति समुदायसमुदायिनोरभेदविवक्षया समानकर्तृत्वम्। अत्र पुरे युगपत्सर्वर्तुसंबन्धाभिधानादसंबन्धे संबन्धरूपातिशयोक्तिः।

सर्वदा (अपने-अपने नियत समयके अतिरिक्त समयमें भी) पुष्पश्रीको धारण करते हुए छः ऋतु ग्रीष्मसे वर्षा, शरदसे हेमन्त और वसन्तश्रीके साथ शिशिर ऋतु सम्मिलित होकर इस रावणकी नगरी (लङ्कापुरी) में वसने वाले कुटुम्बी बन गये।

विमर्श—रावणकी लङ्कापुरीमें अपने-अपने नियत समयके विचारको छोड़कर ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर तथा वसन्त ये छः ऋतु एक साथ पुष्प तथा फल उत्पन्न करते थे ॥ ६६ ॥

स चायमासन्नविनाशस्तुभ्यमपि द्रुग्ध्वा पुनस्त्वयैव हत इति युग्मेनाह—

अमानवं जातमजं कुले मनोः प्रभाविनं भाविनमन्तमात्मनः।
मुमोच जानन्नपि जानकीं न यः सदाभिमानैकधना हि मानिनः ॥६७॥

अमानवमिति ॥ मनोरयं मानवः। 'तस्येदम्' (४।१२०) इत्यण्प्रत्यये पर्यवसानाज्जातावेकवचनम्। अन्यथा मनोर्जातमित्येव स्यात्। अमानवममानुषम्। न जायत इत्यजम्। 'अन्येष्वपि दृश्यते' (३।२।१०१) इति डप्रत्ययः। तथापि मनोः कुले जातं रामस्वरूपेणोत्पन्नमिति विरोधः। स चाभासत्वादलंकार इत्याह— प्रभाविनमिति। महानुभावे तस्मिन्न कश्चिद्विरोध इति भावः। 'आभीक्ष्ण्ये णिनिः' इति णिनिः। इनिर्वा मत्वर्थीयः। भवन्तमिति शेषः। आत्मनः स्वस्यान्तं करोतीत्यन्तम्। अन्तशब्दात् 'तत्करोति–'(ग०) इति ण्यन्तात्पचाद्यच्। भाविनं भविष्यन्तम्। 'भविष्यति गम्यादयः' (३।३।३)। जानन्नपि यो रावणः जनकस्यापत्यं स्त्री जानकी सीता तां तां न मुमोच नामुञ्चदित्यन्वयः। जानतोऽप्यमोचने कारणमाह— मानिनः सदा प्राणात्ययेऽप्यभिमान एवैकं मुख्यं धनं येषां ते। प्राणात्ययेऽपि न मानं मुञ्चन्तीत्यर्थः। कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः।

(ऐसा बली रावण भी आपसे विरोध करके आपके ही हाथसे 'मारा गया' यह दो श्लोकों (१।६७–६८) से नारदजी कहते हैं—) मनुष्य भिन्न तथा अज (उत्पत्तिहीन) होते हुए भी रामरूपसे मनुकुलमें उत्पन्न अर्थात् मानव बने हुए प्रभावयुक्त और भविष्यमें अपना नाशक आपको जानते हुए भी जिस रावणने जानकीजीको नहीं छोड़ा (वापस नहीं लौटाया। यह ठीक ही है, क्योंकि) मानो लोगोंका सर्वदा एकमात्र अभिमान ही धन होता है।

विमर्श—मानी लोग प्राणत्याग करना पसन्द करते हैं, किन्तु मानत्याग करना पसन्द नहीं करते, इसी कारण मानो रावणने आपको अपना घातक जानकर भी सीताजीको आपके यहां वापस नहीं किया ॥ ६७ ॥

स्मरत्यदो दाशरथिर्भवन्भवानमुं वनान्ताद्वनितापहारिणम् ।
पयोधिमा[1]बद्धचलज्जलाविलं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति ॥६८॥

स्मरतीति ॥ भातीति भवान् । भातेर्डवतुः । दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथिः । 'अत इञ्' (४।१।९५) इतीञ्प्रत्ययः । भवन् । रामः सन्नित्यर्थः । भवतेर्लटः शत्रादेशः । वनान्ताद्दण्डकारण्याद्वनितापहारिणं सीतापहर्तारममुं रावणम् । आबद्धः प्रक्षिप्ताद्रिभिर्बद्धसेतुः अत एव चलन्ति जलानि यस्य स च अत एव आविलश्च तं आबद्धचलज्जलाविलं पयोधिं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा लङ्कासमीपे । 'समयानिकषाशब्दौ सामीप्ये त्वव्यये मतौ' इति हलायुधः । 'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेष्वपि' (वा०) इति द्वितीया । हनिष्यति अवधीत् । 'अभिज्ञावचने लृट्' (३।२।११२) इति भूते लृट् । अदो हननं भवान्स्मरतीति काकुः । प्रत्यभिजानासि किमित्यर्थः । शेषे प्रथमः ।

दशरथपुत्र (रामचन्द्र) होते हुए आपने दण्डकारण्यसे स्त्री (सीताजी) का अपहरण करनेवाले इस (रावण) को पुल बांधनेसे चञ्चल जलवाले एवं क्षुब्ध समुद्रको लांघकर लङ्काके पासमें मारा, यह आप स्मरण करते है ॥ ६८ ॥

अथोपपत्तिं छलनापरोऽपरामवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम् ।
तिरोहितात्मा शिशुपालसंज्ञया प्रतीयते संप्रति सोऽप्यसः परैः ॥ ६९ ॥

अथेति ॥ अथ राक्षसदेहत्यागानन्तरं संप्रति छलनापरः परप्रतारणापरः एष रावणः शैलूषो नटः तस्य भूमिकां रूपान्तरमिव । 'शैलूषो नटभिल्लयोः' । 'भूमिका रचनायां स्यान्मूर्त्यन्तरपरिग्रहे'इति विश्वः । अपरामुपपत्तिम् । जन्मान्तरमित्यर्थः । अवाप्य शिशुपालसंज्ञया तिरोहितात्मा तिरोहितस्वरूपः सन् सोऽपि रावण एव सन्नपि परैरितरैः स न भवतीत्यसः तस्मादन्य एव । 'नञ्' (२।२।६) इति नञ् समासः । अत एव 'एतत्तदोः सुलोप–' (६।१।१३२) इत्यादिना न सुलोपः : प्रतीयते ज्ञायत इति प्रतिपूर्वादिणः कर्मणि लट् । यथैक एव शैलूषो रूपान्तरमास्थाय तद्देशभाषादिभिरन्य एव प्रतीयते तद्वदयमपि मानुषदेहपरिग्रहादन्य इव भाति । दौर्जन्यं तु तदेवेत्यवश्यं संहार्य इति भावः ।

इस (रावण देहत्याग करनेपर कुछ दिन बीतने) के बाद दूसरेको वञ्चित करनेमें तत्पर यह रावण (दूसरेको वञ्चित करनेमें तत्पर) नटके समान दूसरे जन्मको पाकर

---

१. '–माबिद्ध–' इति पा० ।

(पक्षा०—दूसरा पात्र बनकर) शिशुपाल नामसे छिपे हुये स्वरूपवाला होकर वही (रावण ही) होता हुआ भी इस समय दूसरोंसे वह (रावण) नहीं है, ऐसा ज्ञात होता है ॥ ६९ ॥

अथैतद्दौर्जन्यं त्रिभिराविष्करोति—

स बाल आसीद्वपुषा चतुर्भुजो मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्त्रिलोचनः ।
युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्चकैरसंशयं संप्रति तेजसा रविः ॥ ७० ॥

स बाल इति ॥ स शिशुपालो बालः सन् वपुषा चतुर्भुजो भुजचतुष्टयवानासीत् । विष्णुरिति ध्वनिः मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्तत्तुल्यः त्रिलोचनो लोचनत्रयवानासीत् । त्र्यम्बक इति ध्वनिः । बालविशेषणात्संप्रति तत्सर्वमन्तर्हितमिति भावः । संप्रति तु युवा सन् करेण बलिना आक्रान्तमहीभृदधिष्ठितराजकः सन् । अन्यत्रांशुव्याप्तशैलः । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । उच्चकैस्तेजसा रविरसंशयो नास्तीत्यर्थः । अर्थाभावेऽव्ययीभावः । वपुषा मुखेन चेति । 'येनाङ्गविकारः' (२।३।२०) इति तृतीया । हानिवदाधिक्यस्यापि विकारत्वात् । तथा च वामनः—'हानिवदाधिक्यमप्यङ्गविकारः' इति तेजसेति 'प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्' (वा०) इति तृतीया । कराक्रान्तेत्यादिना श्लेषानुप्राणितेयमुत्प्रेक्षा । रविरसंशयमिति तस्य पूर्णेन्दुनिभ इत्युपमया संसृष्टिः । हरिहरादितुल्यमहिमत्वादतिदुर्धर्षः स इति भावः ।

(अब नारदजी तीन श्लोकों (१।७०–७२) से इस शिशुपालकी दुष्टताका वर्णन करते हैं—) वह शिशुपाल बचपनमें शरीरसे चतुर्भुज (विष्णु, पक्षा०—चार हाथोंवाला) था, मुखसे पूर्ण चन्द्रमाके समान त्रिलोचन (शिवजी, पक्षा०—तीन नेत्रोंवाला) था और इस समय युवा होने पर किरणोंसे राजाओंको (पक्षा०—किरणोंसे पर्वतोंको) आक्रान्त किया हुआ तीव्र तेजसे निःसन्देह सूर्य हो रहा है ।

विमर्श—जब शिशुपालका जन्म हुआ तब उसके चार हाथ तथा तीन नेत्र थे, इस प्रकार बचपनमें उसने एक तरहसे हरिहरका रूप धारण करता था, तथा इस युवावस्थामें अपने बाहु (बल) से राजाओंको आक्रान्तकर अपने तीव्र प्रताप किरणोंसे पर्वतोंको आक्रान्त करनेवाले तीव्र तेजसे युक्त सूर्य हो रहा है, इस प्रकार वह शिशुपाल बचपनमें विष्णु तथा शिव था, इस समय युवावस्थामें तीव्र तेजस्वी सूर्य होनेसे अनेक देवमय है ॥ ७० ॥

स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसामनुग्रहावग्रहयोर्यदृच्छया ।
दशाननादीनभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् हसत्यसौ ॥ ७१ ॥

स्वयमिति ॥ यदृच्छया स्वेच्छया स्वयं सामर्थ्येन । न तु देवताप्रसादबलादिति भावः । सुरदैत्यरक्षसां देवदानवयातुधानानां अनुग्रहावग्रहयोः प्रसादनिग्रहयोर्वि-

१. '—ग्रहापग्रहयो—' इति पा० ।

धाता कर्ता असौ शिशुपालः अभिराद्धाभिराराधिताभिः, देवताभिरीश्वरादिभिः वितीर्णो दत्तो वीर्यातिशयः प्रभावातिशयो येषां तान् दशाननादीन् हसति । अनन्यप्रसादलब्धैश्वर्ये मयि कथं याचकैस्तुल्यतेति गर्वाद् हसतीत्यर्थः ।

देव, दैत्य तथा राक्षसोंके अनुग्रह तथा अवग्रह (बन्धनादि दण्ड) को स्वेच्छासे स्वयं (किसी देवके वरदानादिके बलसे नहीं) करनेवाला यह शिशुपाल शिव आदि देवोंकी आराधनासे अधिक पराक्रमी बने हुए रावण आदिको हंसता है ॥ ७१ ॥

वलावलेपादधुनापि पूर्ववत् प्रवाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला[1] पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥ ७२ ॥

बलेति । जिगीषुणा । नित्योत्साहवतेत्यर्थः । तेन शिशुपालेन बलावलेपाद्बलगर्वादधुनापि पूर्ववद् पूर्वजन्मनीव जगद् प्रवाध्यते । तथा हि—सती पतिव्रता योषिदिव सुनिश्चलाऽतिस्थिरा प्रकृतिः स्वभावो भवान्तरेषु जन्मान्तरेष्वपि पुमांसमभ्येति । 'पतिं या नाभिचरति मनोवाक्कायसंयता । सा भर्तुर्लोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते ॥' इति मनुः (५।१६५) । उपमोपमेयपुरस्कृतोऽर्थान्तरन्यासः ॥

जीतनेका इच्छुक वह शिशुपाल बल के दर्पसे इस समय भी पहलेके (रावणादि जन्मावस्थाके) समान संसारको पीडित करता है क्योंकि पतिव्रता स्त्री जिस प्रकार जन्मान्तरमें भी पूर्वजन्मके पतिको प्राप्त करती है, उसी प्रकार सुनिश्चल स्वभाव भी जन्मान्तरमें पुरुषको प्राप्त करता है ॥ ७२ ॥

[2]तदेनमुल्लङ्घितशासनं विधेर्विधेहि कीनाशनिकेतनातिथिम् ।
शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो [3]निपातनीया हि सतामसाधवः ॥ ७३ ॥

तदेनमिति ॥ तत्तस्माद् विधेर्विधातुरप्युल्लङ्घितशासनम् । स्वयं विधातेत्याद्युक्तरीत्यातिक्रान्तदैवशासनमित्यर्थः । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वाद् समासः । एनं शिशुपालं कीनाशनिकेतनातिथिं कीनाशो यमः तस्य निकेतनं गृहं तत्र अतिथिं प्राघुणिकं विधेहि कुरु । यमगृहं प्रेषयेत्यर्थः । 'कीनाशः कर्षके क्षुद्रे कृतान्तोपांशुघातिनोः' इति विश्वः । न चैतद् प्राघुणिकहस्तेन सर्पमारणं भवादृशामवश्यकर्तव्यत्वादित्याह—शुभेतराचारेण दुराचारेण विपक्त्रिमाः परिपाकेन निर्वृत्ताः कालपरिपाकेन प्राप्ता आपदो येषां ते तथोक्ताः । 'ड्वितः क्त्रिः' (३।३।८८) इति पचेः क्त्रिप्रत्ययः । 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' (वा०) इति तद्धितो मम्प्रत्ययः । असाधवो दुष्टाः सतो भवादृशां जगन्नियन्तॄणां निपातनीया वध्या हिं । न च नैर्घृण्यदोषः । स्वदोषेणैव तेषां विनाशे निमित्तमात्रत्वादस्माकमित्याशयेन शुभेतराचारेत्यादिविशेषणोक्तिः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।

---

१. 'सुनिश्चिता' इति पा० । २. 'तमेवमु—' इति पा० । ३. 'विपादनीयाः' इति पा० ।

इस कारण (देव, दैत्य तथा राक्षसोंके अनुग्रहावग्रहको स्वेच्छापूर्वक स्वयं करनेसे) ब्रह्माके आदेशको उल्लंघन करनेवाला इसको (शिशुपालको आप) यमराजके घरका अतिथि बनाइये अर्थात् इसका वध कीजिये, क्योंकि अशुभाचरणसे परिपक्व आपत्तिवाले असज्जन (दुष्ट) सज्जनोंके वध्य होते हैं ॥ ७३ ॥

किंचैवं दुष्टनिग्रहे शिष्टानुग्रहः स्यादित्याह—

हृदयमरिवधोदयादुदूढद्रढिम दधातु पुनः पुरन्दरस्य ।
घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम् ॥ ७४ ॥

हृदयमिति ॥ अरिवधोदयात् रिपुनाशलाभात् । उदूढद्रढिम नैश्चिन्त्यादधृतदार्ढ्यम् । स्वस्थमिति यावत् । पृथ्वादित्वाद् दृढशब्दादिमनिच्प्रत्ययः । 'र ऋतो हलादेर्लघोः' (६।३।१६१) इति ऋकारस्य रेफादेशः । पुरः शत्रुपुराणि दारयतीति पुरन्दर इन्द्रः । 'पूःसर्वयोर्दारिसहोः' (३।२।४१) इति खच्प्रत्ययः । 'खचि ह्रस्वः' 'वाचंयमपुरंदरौ च' (६।३।६९) इति निपातनाददन्तत्वं मुमागमश्च । तस्य हृदयं पुनर्भूयोऽपि । पूर्ववदेवेति भावः । घनपुलकयोः सान्द्ररोमाञ्चयोः । पुलोम्नो जाता पुलोमजा शची तस्याः कुचाग्रयोः द्रुतपरिरम्भ औत्सुक्यात् शीघ्रालिङ्गनं तत्र यत्पीडनं तस्य क्षमत्वं सहत्वं दधातु । प्राक्चित्तविक्षेपात्यक्तभोगेन शक्रेण संप्रति त्वत्प्रसादान्निष्कण्टकं स्वकीयं राज्यं भुज्यतामित्यर्थः । अत्र दार्ढ्यपदार्थस्योदूढद्रढिमेति विशेषणगत्या निपीडनक्षमत्वं प्रति हेतुत्वोक्त्या पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । हृदयनिपीडनक्षमत्वसंबन्धेऽप्यसंबन्धोक्त्या संबन्धेऽसंबन्धरूपातिशयोक्तिरित्यर्थालंकारो वृत्त्यनुप्रासश्च तैरन्योन्यं संसृज्यते । पुष्पिताग्रा वृत्तम् । 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात् ।

शत्रु (शिशुपाल) का वध होनेसे निर्भय होनेके कारण दृढ़तासे युक्त इन्द्रके हृदयको, अधिक रोमाञ्चयुक्त इन्द्राणीके स्तनाग्रोंके शीघ्र (उत्कण्ठापूर्वक) आलिङ्गन करनेसे परिपीडित करनेमें समर्थ बनाइये ।

विमर्श—शिशुपालके भयसे इन्द्रका हृदय मृदु हो रहा है, जब आप उसका वध करेंगे तब इन्द्रका हृदय दृढ हो जायेगा, उसे इन्द्राणीके रोमाञ्चपूर्ण स्तनाग्रों का उत्कण्ठित हो शीघ्र आलिङ्गन करनेसे पीडित करने (दबाने) के समर्थ बनाइये । इस प्रकार दुष्ट शिशुपालका निग्रह करनेसे शिष्ट इन्द्रपर आपका अनुग्रह करना भी हो जायेगा, जो दुष्ट-निग्रह तथा शिष्टानुग्रह करना आप ऐसे सज्जनोंका कर्तव्य हैं, उसे शिशुपालका वध करनेसे पूरा कीजिये ॥ ७४ ॥

---

१. 'दवाप्तद्रढिम' इति, 'दुपोढद्रढिम' इति च पा० ।

ओमित्युक्तवतोऽथ शार्ङ्गिण इति व्याहृत्य वाचं नभ-
स्तस्मिन्नुत्पतिते पुरः सुरमुनाविन्दोः श्रियं बिभ्रति।
[1]शत्रूणामनिशं विनाशपिशुनः क्रुद्धस्य[2] चैद्यं प्रति
व्योम्नीव भ्रुकुटिच्छलेन वदने केतुश्चकारास्पदम् ॥ ७५ ॥

ओमिति ॥ तस्मिन्। सुरमुनौ नारदे इति इत्थंभूतां वाचं व्याहृत्योक्त्वा नभ- उत्पतिते समुद्गते पुरोऽग्रे इन्दोः श्रियं बिभ्रति सति। अथ मुनिवाक्यानन्तरम् ओ-मित्युक्तवतः तथास्त्वित्यङ्गीकृतवतः। 'ओम् प्रश्नेऽङ्गीकृतौ रोषे' इति विश्वः। चेदीनां जनपदानामयं चैद्यः शिशुपालः। 'वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्' (४।१।१७१) इति ञ्यङ्-प्रत्ययः। तं प्रति क्रुद्धस्य शार्ङ्गिणो वदने व्योम्नीवानिशं सर्वदा। अव्यभिचारेणेत्यर्थः। शत्रूणां विनाशस्य पिशुनः सूचकः। 'चन्द्रमभ्युत्थितं केतुः क्षितीशानां विनाशकृत्' इति शास्त्रादिति भावः। केतुः उत्पातविशेषः। 'केतुर्द्युतौ पताकायां ग्रहोत्पातारि-लक्ष्मसु' इत्यमरः। भ्रुकुटिच्छलेन भ्रूभङ्गव्याजेनास्पदं प्रतिष्ठां स्थितिं चकार। 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' (६।१।१४६) इति निपातनात् सुडागमः। अनेन वाक्यार्थ-भूतस्य वीररससहकारिणो रौद्रस्य स्थायी क्रोधः स्वानुभावेन भ्रुकुट्या कारणभूतो-ऽनुमेय इत्युक्तम्। तथा तदविनाभूतस्याङ्गिनो वीरस्य स्थायी प्रयत्नोपनेय उत्साहो-ऽप्युत्पन्न एवेत्यनुसंधेयम्। इन्दोः श्रियं बिभ्रतीत्यत्र मुनेरिन्दुश्रियोऽयोगात्तत्सदृशी-मिति सादृश्याक्षेपादसंभवद्वस्तुसंबन्धरूपो निदर्शनालंकारः। वदने व्योम्नीवेत्युपमा। भ्रुकुटिच्छलेन केतुरिति छलादिशब्देनासत्यत्वप्रतिपादनरूपोऽपह्नवः। तत्र शत्रुविनाश-सूचके त्वपेक्षितेन्दुसान्निध्यव्योमावस्थानसंपादकत्वे निदर्शनोपमयोरपह्नवोपकारसत्त्वा-दङ्गाङ्गिभावेन संकरः। चमत्कारितया मङ्गलाचरणरूपतया च सर्गान्त्यश्लोकेषु श्रीशब्दप्रयोगः। यथाह भगवान् भाष्यकारः—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गला-न्तानि शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति, अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति' इति। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। 'सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्री-डितम्' इति लक्षणात् सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेदः। यथाह दण्डी—

'सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्राव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः।
सर्वत्र भिन्नसर्गान्तैरुपेतं लोकरञ्जकम् ॥' इति ॥ ॥ ४५ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये कृष्ण-
नारद[3]संभाषणं नाम प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

---

१. 'शत्रूणां नितराम्' इति पा०। २. 'कर्तुं मतिं संयति' इति, '—संयुगे' इति च पा०।
३. 'नारदागमविसर्जनो नाम' इति पाठ उपलभ्यते।

अथ कविः कविकाव्यवर्णनीयाख्यानपूर्वकसर्गसमाप्तिं कथयति—इतीति ॥ इति-शब्दः समाप्तौ । माघकृताविति कविनामकथनम् । महाकाव्ये इति महच्छब्देन लक्षण-संपत्तिः सूचिता । शिशुपालवध इति काव्यनामकथनम् । प्रथमः सर्ग इति समाप्त इति शेषः । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते शिशुपालवध-काव्यव्याख्याने सर्वंकषाख्ये प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

यह वचन (१।३१–७४) कहकर उस देवर्षि नारदके आकाशमें जाने तथा चन्द्रमाकी शोभा ग्रहण करनेपर 'ओम्' कहनेवाले ('ओम्' कहकर नारदोक्त शिशुपालके वध करनेको स्वीकृति देनेवाले), शिशुपालके ऊपर क्रुद्ध आकाशतुल्य श्रीकृष्ण भगवान्‌के मुखमें सदा शत्रुओंके नाशकी सूचना करनेवाली भृकुटे (चढ़ने) के कपटसे धूमकेतु नामक ताराने स्थान बना लिया ।

विमर्श—नारदजी ऐसा (१।३१–७४) कहकर जब आकाशको चले, तब उनकी शोभा चन्द्रमाके समान हो गयी तथा शिशुपालके प्रति क्रुद्ध श्रीकृष्ण भगवान् जो 'ओम्' कहकर शिशुपालको मारनेके लिए स्वीकृति दे चुके थे, ऐसे उनके मुखमें क्रोधसे टेढ़ी हुई शत्रुओंके नाशको निरन्तर सूचित करने वाली भृकुटि ऐसी मालूम होती थी कि शत्रुओंके नाशको सूचना देनेवाला धूमकेतु नामक ताराका आकाशमें उदय हुआ हो ॥ ७५ ॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'कृष्णनारदसम्भाषण' नामक प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

अस्मिन् सर्गे मन्त्रवर्णनाय वीजं वपति—

यियक्षमाणेनाहूतः पार्थेनाथ द्विषन्मुरम् ।
अभिचैद्यं प्रतिष्ठासुरासीत्कार्यद्वयाकुलः ॥ १ ॥

यियक्षमाणेनेति ॥ अथेन्द्रसन्देशश्रवणानन्तरं यियक्षमाणेन यष्टुमिच्छता । यजतेः सन्नन्ताल्लटः शानच् । पार्थेन पृथापुत्रेण युधिष्ठिरेण । 'तस्येदम्' (४।३।१२०) इत्यण् । अन्यथा 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२०) स्यात् । ततः पार्थेय इति स्यात् । आहूत आकारितः । ह्वयतेः कर्मणि क्ते संप्रसारणदीर्घौ । तथा अभिचैद्यं शिशुपालं प्रति । 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' (२।१।१४) इत्यव्ययीभावः । 'अभिरभागे' (१।४।९१) इति कर्मप्रवचनीयत्वे तद्योगे द्वितीया वा । प्रतिष्ठासुः प्रस्थातुमिच्छुः । तिष्ठतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । मुरं द्विषन् मुरारिः । 'द्विषोऽमित्रे' (३।२।१३१) इति शतृप्रत्यये 'न लोका–' (२।३।६९) इत्यत्र 'द्विषः शतुर्वा' (वा०) इति वैकल्पिकः षष्ठीप्रतिषेधः । कार्यद्वयेन सुरकार्यसुहृत्कार्यरूपेणाकुलो विप्रतिषेधादावश्यकत्वाच्च द्वयोः सन्दिहान आसीत् । अतो मन्त्रस्यायमवसर इति भावः ।

(परस्पर विरोधी अनेक कार्योंके उपस्थित होनेपर मन्त्र (गुप्त परामर्श) की आवश्यकता हुआ करती है, अतः मन्त्रके अवतरणार्थं दो कार्योंको उपस्थित करते हुए मन्त्रवर्णनात्मक इस दूसरे सर्गको प्रारम्भ करते हैं—) इस (इन्द्रका सन्देश नारदजीसे सुनने तथा उसकी स्वीकृति पाकर नारदजीके चले जाने) के बाद यज्ञ करनेके इच्छुक पृथापुत्र (युधिष्ठिर) के द्वारा निमन्त्रित तथा शिशुपालके यहाँ (युद्ध करनेके लिए) यात्रा करनेके इच्छुक श्रीकृष्ण भगवान् (परस्पर विरोधी) दो कार्यों (के उपस्थित होने) से व्याकुल थे ॥ १ ॥

एवं मन्त्रवीजसन्देहमुपन्यस्य मन्त्रोचितं देशमाह —

[1]सार्धमुद्धवसीरिभ्यामथासावासदत्सदः ।
गुरुकाव्यानुगां बिभ्रच्चान्द्रीमभिनभः श्रियम् ॥ २ ॥

सार्धमिति ॥ अथ संदेहानन्तरं असौ हरिः अभिनभः । पूर्ववदव्ययीभावः । कर्मप्रवचनीयत्वे वा द्वितीया । गुरुकाव्यौ बृहस्पतिशुक्रावनुगावनुयायिनौ यस्यां ताम् । 'गीष्पतिर्धिषणो गुरुः' इति 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्यः' इति चामरः । चन्द्रस्येमां चान्द्रीं श्रियं बिभ्रत् । अत्र श्रीतुल्यां श्रियमिति निदर्शनाभेदः—उद्धवसीरिभ्यां सार्धं उद्धवरामाभ्यां सह सदः सभामासदत् अगमत् । राजसदसः प्रासादत्वादिति भावः । सदेर्लुङि 'पुषादित्वात्–' (३।१।५५) इति च्लेरङादेशः । अत्र मनुः—गिरिपृष्ठं

१. 'वल्लभदेवे' नायं श्लोकः पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धव्यत्यासेन पठित्वा व्याख्यातः ।

समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः। अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेद्भावभाविनौ ॥' (७।१७४) इति ।

इस (परस्पर विरुद्ध दो कार्योंके एक साथ उपस्थित होनेपर श्रीकृष्ण भगवान्‌के व्याकुल होने) के बाद ये (श्रीकृष्ण भगवान्) उद्धव (अपने पितृव्य एवं मन्त्री) तथा बलरामजी (अपने बड़े भाई) के साथ आकाशमें बृहस्पति तथा शुक्र जिसके पीछे चल रहे हों, उस चन्द्र-सम्बन्धिनी शोभाको ग्रहण करते हुए सभास्थानको गये ।

विमर्श—इस उपमासे जिस प्रकार चन्द्रमाकी अपेक्षा बृहस्पति तथा शुक्रकी शोभा कम होती है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भगवान्‌की अपेक्षा उद्धव तथा बलरामजीकी शोभा कम थी और वे दोनों श्रीकृष्ण भगवान्‌के पीछे-पीछे चल रहे थे, यह सूचित होता है । श्रीकृष्ण भगवान्‌को चन्द्र उद्धवजीको बृहस्पति, बलरामजीको शुक्र तथा सभामण्डपकी आकाशके साथ उपमा दी गयी है ॥ २ ॥

जाज्वल्यमाना जगतः शान्तये समुपेयुषी ।
व्यद्योतिष्ट सभावेद्यामसौ नरशिखित्रयी ॥ ३ ॥

जाज्वल्यमानेति । जगतः शान्तयेऽनुपद्रवाय समुपेयुषी मिलिता जाज्वल्यमाना भृशं ज्वलन्ती । 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३।१।२२) । ततो लटः शानजादेशे टाप् । असौ नराः पुरुषा एव शिखिनोऽग्नयस्तेषां त्रयी । 'द्वित्रिभ्याम्–' (५।२।४३) इत्यादिना तस्यायजादेशे कृते 'टिड्ढाणञ्–' (४।१।१५) इत्यादिना ङीप् । सभा आस्थानी सैव वेदिः । 'वेदिः परिष्कृता भूमिः' इत्यमरः । तस्यां व्यद्योतिष्ट दीप्यते स्म । 'द्युद्भ्यो लुङि' (१।३।९१) इति वा तङ् । रूपकालङ्कारः ।

संसार (में होनेवाले उपद्रवों) की शान्तिके लिए एकत्रित तथा अतिशय दीप्यमान मानव-रूपी अग्नित्रय (दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि तथा आहवनीयाग्नि) सभामण्डपरूप वेदीपर शोभित हुआ ।

विमर्श—संसारकी शान्तिके लिए एकत्रित अत्यधिक प्रज्वलित होती हुई दक्षिणाग्नि आदि तीनों अग्नि वेदीपर जिस प्रकार शोभित होती है और वैसा होनेसे संसारकी शान्ति अवश्यमेव होती है, उसीप्रकार शिशुपालादिसे पीड़ित संसारकी शान्तिके लिए एकत्रित अपने-अपने तेजसे दीप्यमान वे तीनों सभामण्डपमें शोभने लगे, और इस सम्मिलनसे संसारमें अवश्यमेव शान्ति-स्थापित होगी यह भी सूचित हुआ ॥ ३ ॥

रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे ।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ॥ ४ ॥

रत्नेति ॥ रत्नानां स्तम्भा इति षष्ठीसमासस्य विशेषे पर्यवसानाद्विकारार्थम् । तेषु संक्रान्तप्रतिमाः संक्रान्तप्रतिबिम्बाः । 'प्रतिमानं प्रतिबिम्बं प्रतिमा–' इत्यमरः । ते त्रय एकाकिनोऽसहाया अपि । 'एकादाकिनिच्चासहाये' (५।३।५२) इत्याकिनि-

चप्रत्ययः । परितोऽभितः सर्वतः । 'पर्यभिभ्यां च' (५।३।३९) इति तसिल्प्रत्ययः । स च सर्वोभयार्थाभ्यामिष्यते । पौरुषेयेण प्रतिबिम्बभूयस्त्वात् पुरुषसमूहेनावृता इवेत्युत्प्रेक्षा । चकाशिरे । 'सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ' (५।१।१०) 'पुरुषाद्वधविकार-समूहतेनकृतेष्विति वक्तव्यम्' (वा०) इति समूहे ढञ्प्रत्ययः । एतेन विजनत्व-मुक्तम् । यद्यपि 'निस्तम्भे निर्गवाक्षे च निर्भित्त्यन्तरसंश्रये । प्रासादाग्रे त्वरण्ये वा-मन्त्रयेद्भावभाविनौ ॥' इति कामन्दकीये मन्त्रभूमेः स्तम्भप्राचुर्यनिषेधो गम्यते । तथापि तस्यापि विजनोपलक्षणत्वाददोष इति भावः ।

रत्न जड़े हुए खम्भोंमें प्रतिबिम्बित मूर्तिवाले वे तीनों अकेले रहते हुए भी पुरुष–समुदायसे घिरे हुएके समान शोभते थे ।

विमर्श—यद्यपि खम्भों तथा खिड़कियोंसे रहित तथा बिना दीवालके भीतर स्थित छतके ऊपर या वनमें मन्त्र करनेके लिए शास्त्रकारोंके कहनेसे और यहांपर रत्नजटित खंभों का वर्णन होनेसे इस स्थानका मन्त्रके अयोग्य होना सूचित होता है, तथापि उक्त वचन एकान्त स्थानका उपलक्षण होनेसे यहां भी एकान्त स्थान होनेसे कोई दोष नहीं होता ॥ ४ ॥

अध्यासामासुरुत्तुङ्गहेमपीठानि यान्यमी ।
तैरूहे केसरिक्रान्तत्रिकूटशिखरोपमा ॥ ५ ॥

अध्यासामासुरिति ॥ अमी त्रयो यान्युत्तुङ्गहेमपीठानि आसनानि अध्यासामा-सुरधितष्ठुः । येषूपविष्टा इत्यर्थः । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' (१।४।४६) इति कर्मत्वम् । 'आस उपवेशने' लिट् । 'दयायासश्च' (३।१।३७) इत्याम्प्रत्ययः । 'कृञ्चानुप्रयु-ज्यते लिटि' (३।१।४०) इत्यस्तेरनुप्रयोगः । 'आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य' (१।३।६३) इति कृञ एवेति नियमादस्तेर्नात्मनेपदम् । तैः पीठैः केसरिभिः सिंहैः क्रान्तानां त्रिकूटस्य त्रिकूटाद्रेः शिखराणामुपमा सादृश्यसमूहे ऊढा । वहेः कर्मणि लिट् । सम्प्रसारणम् । त्रीणि कूटान्यस्येत्यन्वर्थसंज्ञा । 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृङ्गम्' इत्यमरः । उपमालङ्कारः ।

ये तीनों जिन ऊँचे–ऊँचे स्वर्णमय सिंहासनोंपर बैठे थे, उनसे तीन सिंहोंसे आक्रान्त अर्थात् जिनपर तीन सिंह बैठे हों ऐसे त्रिकूट पर्वतके तीनों शिखरोंकी समानता तर्कित होती थी अर्थात् वे सिंहासन तीन सिंहोंसे अधिष्ठित त्रिकूटके शिखर–जैसे मालूम पड़ते थे ॥ ५ ॥

गुरुद्वयाय[1] गुरुणोरुभयोरथ कार्ययोः ।
हरिर्विप्रतिषेधं तमाचचक्षे विचक्षणः ॥ ६ ॥

गुर्विति ॥ अथोपवेशनानन्तरं विचष्टे इति विचक्षणो वक्ता । कर्तरि ल्युडिति न्यासकारः । 'असनयोश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः' (वा०) इति चक्षिङः ख्याञादेशा-

---

१. 'गुरूभयस्मै' इति पाठा० ।

भावः । हरिर्गुर्वोः उद्धवरामयोः पितृव्यज्येष्ठभ्रात्रोर्द्वयाय । द्वाभ्यामित्यर्थः । गुरुणोर्महतोरुभयोः कार्ययोः पूर्वोक्तयोः तं विप्रतिषेधं विरोधमाचचक्षे आख्यातवान् । तुल्यबलविरोधो विप्रतिषेधः ।

इस (सभामण्डपमें यथास्थान बैठने) के बाद आचारके ज्ञाता श्रीकृष्ण भगवान्ने बड़े–बड़े उन दो कार्यों (युधिष्ठिरके यहाँ यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिए हस्तिनापुरको जाना तथा इन्द्रकार्यार्थ शिशुपालको मारनेके लिए चेदिदेशको जाना) के विप्रतिषेध (पारस्परिक समान विरोध) को दोनों गुरुजनों (चाचा उद्धवजी तथा बड़े भाई बलरामजी) से कहा ॥ ६ ॥

द्योतितान्तःसभैः कुन्दकुड्मलाग्रदतः स्मितैः ।
स्नपितेवाभवत्तस्य शुद्धवर्णा सरस्वती ॥ ७ ॥

द्योतितेति ॥ कुन्दं माघभवः पुष्पविशेषः । 'माघ्यं कुन्दम्' इत्यमरः । कुन्दकुड्मलाग्राणीव दन्ता यस्य तस्य कुन्दकुड्मलाग्रदतः । 'अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च' (५।४।१४५) इत्यग्रान्तपूर्वपदबहुव्रीहेः समासान्तो वैभाषिको दतादेशः । तस्य हरेः सरस्वती अन्तःप्रधाना सभा अन्तःसभा । सभाभ्यन्तरमित्यर्थः । सा द्योतिता प्रकाशिता यैस्तैः स्मितैः स्नपितेव क्षालितेव । स्नातेर्ण्यन्तात् क्तः । 'अर्तिह्री–' (७।३।३६) इत्यादिना पुगागमः । मितां ह्रस्वः । शुद्धवर्णा स्फुटाक्षरत्वात् स्वच्छकान्तिरभवत् । अत्र स्वाभाविकवर्णशुद्धेः स्नानहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते । स्मितपूर्वाभिभाषी हरिरिति भावः ।

कुन्दकलिकाग्रके समान दाँतवाले उन (श्रीकृष्ण भगवान्) की वाणी सभामध्यको प्रकाशित करनेवाले स्मितोंसे नहलायी गयीके समान शुद्धवर्ण (स्पष्ट अक्षर-समुदायवाली, पक्षा०—स्नान करानेसे अतिशुभ्र रंगवाली) हुई ॥ ७ ॥

कार्यविप्रतिषेधं निवेद्य तत्र स्वमतमावेदयिष्यन् पण्डितमानित्वं तावत्परिहरति—

भवद्गिरामवसरप्रदानाय वचांसि नः ।
पूर्वरङ्गः प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः ॥ ८ ॥

भवद्गिरामिति ॥ भवद्गिरां युष्मद्वाचां अवसरप्रदानाय । प्रसञ्जनायेत्यर्थः । नोऽस्माकं वचांसि सिद्धान्तोन्नयनार्थमुच्यन्ते न तु सिद्धान्तत्वेनेत्यर्थः । तथाहि—पूर्वं रज्यतेऽस्मिन्निति पूर्वरङ्गः नाट्यशाला, तत्स्थं कर्माणि पूर्वरङ्ग इति दशरूपके । अतः पूर्वरङ्गो नाम रङ्गप्रधानाख्यो रङ्गविघ्नशान्तिकारी नान्दीपाठगीतवादित्राद्यनेकाङ्गविशेषो नाट्यादौ कर्तव्यः कर्मविशेषः । तदुक्तं वसन्तराजीये—'यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये । कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः प्रकीर्तितः ॥' इति । स पूर्वरङ्गः नाटके भवं नाटकीयम् । तत्र वर्ण्यमित्यर्थः । वृद्धाच्छः । तस्य 'आयनेयी–' (७।१।२) इतियादेशः । तस्य वस्तुनः प्रसिद्धस्य प्रसङ्गाय प्रसञ्जनाय । प्रवर्तनायेति यावत् ।

अतः प्रथमवादो न दोषायेति भावः। पूर्वरङ्गः प्रस्तावनेति रङ्गराजः। तच्चिन्त्यम्। 'पूर्वरङ्गं विधायादौ सूत्रधारे विनिर्गते। प्रविश्य तद्वदपरः काव्यमास्थापयेन्नटः॥ प्रथमं पूर्वरङ्गश्च ततः प्रस्तावनेति च। आरम्भे सर्वनाट्यानामेतत्सामान्यमिष्यते॥' इति दशरूपकाद्युक्तभेदविरोधादिति अत्र हरिवाक्यपूर्वरङ्गयोः प्रसञ्जकत्वस्वरूपसामान्यस्य वाक्यद्वये शब्दान्तरेण पृथङ्निर्देशात् प्रतिवस्तूपमालङ्कारः। तल्लक्षणं तूक्तम्॥

(श्रीकृष्ण भगवान्ने कहा कि—) आपलोगोंके वचनोंको अवसर देनेके लिए हमारे ये वचन हैं, क्योंकि नाटक-सम्बन्धी कार्यके प्रसङ्गके लिए पूर्वरङ्ग होता है।

विमर्श—जैसे नाटक की पूरी तैयारी करनेके लिए पहले देवस्तुति, गाना, बजाना आदि किये जाते हैं, वस्तुतः वे नाटकके विषय नहीं होते; वैसे ही हम जो कह रहे हैं, वह वस्तुतः निर्णीत सिद्धान्त नहीं हैं, किन्तु आपलोगोंको कहनेका अवसर देनेके लिए नाटकीय पूर्वरङ्गके समान यत्किञ्चिन्मात्र है॥ ८॥

सम्प्रति स्वमतमाह—

करदीकृतभूपालो भ्रातृभिर्जित्वरैर्दिशाम्।
विनाप्यस्मदलम्भूष्णुरिज्यायै तपसः सुतः॥ ९॥

करदीकृतेति। दिशां जित्वरैः जयनशीलैः। 'इण्नश्जिसर्तिभ्यः क्वरप्' (३।२।१६३) कृद्योगात्कर्मणि षष्ठी। भ्रातृभिर्भीमादिभिर्हेतुभिः। करदाः षष्ठभागप्रदाः। 'भागधेयः करो बलिः' इत्यमर.। ततः च्विः। 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' (१।४।६१) इति गतिसंज्ञायां 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) इति नित्यसमासः। अकरदाः करदाः सम्पद्यमानाः कृताः करदीकृता भूपाला यस्य सः वशीकृतराजमण्डलः तपसः सुतो धर्मपुत्रः। 'तपश्चान्द्रायणादौ स्याद्धर्मे लोकान्तरेऽपि च' इति विश्वः। अस्मद्विना। अस्माभिर्विनापीत्यर्थः। 'पृथग्विनानाना—' (२।३।३२) इत्यादिना तृतीयाविकल्पात् पञ्चमी। इज्यायै यागाय। यजेर्भावे क्यप्। 'वचिस्वपि—' (६।१।१५) इत्यादिना सम्प्रसारणम्। 'नमःस्वस्ति—' (२।३।१६) इत्यादिना चतुर्थी। अलं समर्थो भूष्णुर्भवनशीलः। 'भूष्णुर्भविष्णुर्भविता' इत्यमरः। 'ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः' (३।२।१३९) इति ग्स्नुप्रत्ययः। 'क्ङिति च' (१।१।५) इत्यत्र गकारप्रश्लेषाद्गुणाभावः। तथा च जयादित्यः 'तत्रैव गकारोऽपि च तत्त्वभूतो निर्दिश्यते'। अतो जैत्रयात्रैव कार्या न यज्ञयात्रेति भावः॥ ९॥

(अब कृष्ण भगवान् अपना मत प्रकट कर रहे हैं—) दिग्विजयी भाइयोंसे राजाओंको करदाता बनानेवाले (जीतकर राजाओंसे कर लेनेवाले) धर्मराजपुत्र (युधिष्ठिर) हमारे बिना यज्ञके लिए समर्थ हैं।

विमर्श—युधिष्ठिरके भीम, अर्जुन आदि भाई दिग्विजयी हैं, उनके बलसे पराजित सब राजा लोग युधिष्ठिरके लिए कर देते हैं, अतएव ऐसे बलशाली वे हमलोगोंके यज्ञमें सम्मिलित नहीं होनेपर भी निर्विघ्नतापूर्वक यज्ञ कर सकते हैं॥ ९॥

ननु यज्ञतो जैत्रयात्रायामुभयानुसरणं स्यात्तत्राह—

उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता ।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वत्स्यन्तावामयः स च ॥ १० ॥

उत्तिष्ठमान इति ॥ उत्तिष्ठमानो वर्धमानः । 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' (१।३।२४) इत्यात्मनेपदम् । परः शत्रुः पथोऽनपेतं पथ्यं हितमारोग्यं चेच्छता । पुंसेति शेषः । नोपेक्ष्यो नौदासीन्येन प्रष्टव्यः । कुतः । हि यस्माद्वत्स्यन्तौ वर्धिष्यमाणौ । 'लृटः सद्वा' (३।३।१४) इति सदादेशे । 'वृद्भ्यः स्यसनोः' (१।३।९२) इति विभाषया परस्मैपदम् । 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' (७।२।५९) इतीडभावः । आमयो व्याधिः । 'रोग-व्याधिगदामयाः' इत्यमरः । स शत्रुश्च शिष्टैर्नीतिज्ञैः शमौ तुल्यवृत्ती आम्नातौ व्याख्यातौ । 'अल्पीयसोऽप्यरेर्वृद्धिर्महानर्थाय रोगवत् । अतस्तस्यानुपेक्ष्यत्वादुभयानु-सृतिः कुत-' इति भावः । उपमालङ्कारः ॥ १० ॥

(यज्ञमें सम्मिलित होकर उसके पूरा होनेके बाद विजयके लिए प्रस्थान करना उचित नहीं है, क्योंकि) हिताभिलाषी व्यक्तिको बढ़ते हुए शत्रुकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये क्योंकि बढ़नेवाले रोग तथा शत्रुको शिष्टों (राजनीतिज्ञ विद्वानों) ने समस्त (घातक) कहा है ।

विमर्श—जिस प्रकार बढ़ते हुए रोगकी उपेक्षा करनेपर वह रोगीको मारनेवाला हो जाता है, उसी प्रकार बढ़ते हुए शत्रुकी उपेक्षा करने पर वह भी विपक्षीको पराजित करनेवाला होता है, अतः शिशुपालका वध करनेमें विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

नन्वेवं स्वार्थपरत्वदोषः स्यादिति चेन्न । लोकानुगहार्थत्वादस्याः प्रवृत्तेरित्या-शयेनाह—

न दूये सात्वतीसूनुर्यन्मह्यमपराध्यति ।
यत्तु दन्दह्यते लोकमदो[1] दुःखाकरोति माम् ॥ ११ ॥

नेति ॥ सत्वतोऽपत्यं स्त्री सात्वती नाम हरेः पितृष्वसा । 'उत्सादिभ्योऽण्' (४।१।८६) । तस्याः सूनुश्चैद्यः । बन्धुरपि खलो न मृष्यत इति भावः । यन्मह्यमप-राध्यति द्रुह्यतीति यावत् । 'क्रुधद्रुह–' (१।४।३७) इत्यादिना चतुर्थी । तत इति शेषः । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् । न दूये न परितप्ये । दूङो दैवादिकात् । कर्तरि लट् । उत्तमपुरुषैकवचनम् । किन्तु लोकं दन्दह्यते । गर्हितं यथा स्यादेवं दहतीति यावत् । 'लुपसदचरजप–' (३।१।२४) इत्यादिना गर्हायां यङ् 'जपजभदहदशभञ्जपशां च' (७।४।८६) इत्यभ्यासस्य नुमागमः । अदो लोकदहनं मां दुःखाकरोति । दुःखमनु-भावयतीत्यर्थः । 'दुःखात्प्रातिलोम्ये' (५।४।६४) इति डाच्प्रत्ययः । अतश्चैद्य एवा-भिघातव्यः, पार्थस्तु प्रार्थनयापि पश्चात्समाधेय इत्यर्थः ।

---

१. 'मतो'—इति पाठ० ।

सात्वती (मेरी बुआ-फूआ) का लड़का (शिशुपाल) जो मेरे साथ अपराध करता है, इस कारण मैं दुःखित नहीं होता हूँ; किन्तु जो लोगोंको बुरी तरह सन्तप्त (पीड़ित) करता है, यह (लोकपीडन) मुझे दुःखित करता है ॥ ११ ॥

स्वमतं निगमयन् परमतं शुश्रूषुः पृच्छति—

मम तावन्मतमिदं[1] श्रूयतामङ्ग वामपि ।
ज्ञातसारोऽपि[2] खल्वेकः सन्दिग्धे कार्यवस्तुनि ॥ १२ ॥

ममेति ॥ तावत् । भवन्मतश्रवणपर्यन्तमित्यर्थः मम मतमिदम् । अङ्गेत्यामन्त्रणेऽव्ययम् । 'अथ सम्बोधनार्थकाः । स्युः प्याट् पाडङ्ग हे है भोः' इत्यमरः । वां युवयोः । 'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थी—' (८।१।२०) इत्यादिना वामादेशः । मतं श्रूयताम् । विधौ लोट् । तदिदं मया श्रोतव्यम् । अन्यथा सन्देहानिवृत्तेरिति भावः । विदुषस्ते कुतः सन्देहस्तत्राह—ज्ञातसारः ज्ञाततत्त्वार्थोऽप्येकः एकाकी कार्यवस्तुनि कर्तव्यार्थे सन्दिग्धे संशेते । खलु निश्चये । अतो मयापि सन्दिह्यत इत्यर्थः । 'दिह उपचये' कर्तरि लट् । धत्वघत्वे । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।

(अपने कथनका उपसंहार करते हुए श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—) मेरी यह राय है, हे अङ्ग ! आप दोनों की भी राय मुझे सुननी चाहिये, क्योंकि सारभूत तत्त्वको जानता हुआ भी एक व्यक्ति कर्तव्य कार्यमें सन्देह युक्त रहता है ।

विमर्श—यहाँ पर श्रीकृष्ण भगवान्‌ने उद्धव तथा बलरामजीको अतिशय सामीप्यसूचक 'अङ्ग' शब्दसे सम्बोधित कर उनकी बातोंको सुनना तथा तदनुसार उचित कार्य करनेमें ही अपनी सम्मति होना सूचित किया है ॥ १२ ॥

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः ।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥ १३ ॥

यावदिति । माधवो हरिः यावानर्थो यावदर्थम् । 'यावदवधारणे' (२।१।८) इत्यव्ययीभावः । यावदर्थं पदानि यस्यास्ताम् । अभिधेयसम्मिताक्षरामित्यर्थः । एवमुक्तप्रकारेण वाचमादाय गृहीत्वा । उक्त्वेत्यर्थः । विरराम तूष्णीमास । 'व्याङ्परिभ्यो रमः' (१।३।८३) इति परस्मैपदम् । तथाहि—महीयांसः उत्तमाः प्रकृत्या स्वभावेन मितभाषिणः भवन्तीति शेषः । वृथालापनिषेधादिति भावः । पूर्ववदलङ्कारः ।

इस प्रकार (२।८-१३) परिमित अर्थ-पदवाला वचन कहकर श्रीकृष्ण भगवान् चुप हो गये, क्योंकि बड़े लोग स्वभावसे ही थोड़ा बोलते हैं (बातको बढ़ा-चढ़ाकर नहीं बोलते) ॥१३॥

---

१. 'मतमदः' इति पाठा० ।
२. 'रातसारेऽपि' इति पाठा० । 'तदपि' इति पाठान्तरं क्वाचित्कम् ।

अथाष्टभिः कुलकेन रामं वर्णयंस्तद्वाक्यमवतारयति—

ततः सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा।
ओष्ठेन रामो रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना॥ १४॥

तत इति॥ ततो रामो जगादेत्युत्तरेणान्वयः। सपत्नो रिपुः। 'रिपौ वैरिसपत्नारि–' इत्यमरः। तस्यापनयोऽपकारः तस्य स्मरणेन योऽनुशयः पश्चात्तापः। 'भवेदनुशयो द्वेषे पश्चात्तापानुबन्धयोः' इति विश्वः। तेन स्फुरतीति अनुशयस्फूः। तेन स्फुरा। ओष्ठो बिम्बमिवेत्युपमितसमासः। रामायाः ओष्ठबिम्बस्य चुम्बनेन वित्तो रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुः। 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' (५।२।२६) इति चुञ्चुप्प्रत्ययः। 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा पररूपं वक्तव्यम्' (वा०) तेनौष्ठेनोपलक्षितः। समरसुरतयोः समरस इति भावः। उपमानुप्रासयोः संसृष्टिः।

तदनन्तर (श्रीकृष्ण भगवान्‌के ऐसा (२।८–१३) कह कर चुप होनेके बाद) शत्रु (शिशुपाल) के अपराधोंके स्मरण होनेसे उत्पन्न क्रोधसे काँपते हुए, रेवतीके ओष्ठ–बिम्ब के चुम्बनमें प्रसिद्ध ओष्ठसे बलरामजी (बोले)।

विमर्श—शत्रुके अपराधस्मरणसे ओष्ठकम्पन होनेसे बलरामजीका शूरवीर होना तथा रेवतीके ओष्ठबिम्बके चुम्बनमें प्रसिद्ध कहनेसे बलरामजीका विलासी होना सूचित होता है (इस श्लोकमें कर्तृ पद 'राम' है और २१वें श्लोकमें क्रियापद 'जगाद' है। अतः अग्रिम आठवें (२१) श्लोकमें क्रियापद होनेसे यह 'कुलक' कहा जाता है। सभी श्लोकोंमें जगाद का अध्याहार होनेसे 'बलरामजी बोले' ऐसा अर्थ होगा)॥ १४॥

विवक्षितामर्थविदस्तत्क्षण[1]प्रतिसंहृताम्।
प्रापयन् पवनव्याधेर्गिरमुत्तरपक्षताम्॥ १५॥

विवक्षितामिति॥ विवक्षितां वृद्धत्वाभिमानादग्रे वक्तुमिष्टाम्। वचेर्ब्रूञो वा सन्नन्तात्कर्मणि क्तः। तत्क्षणे विवक्षाक्षणे एव इत्यविलम्बोक्तिः। प्रतिसंहृतां रामानुरोधानुरुद्धां अर्थविदः कार्यज्ञस्य अतएव पवनव्याधेरुद्धवस्य गिरमुत्तरपक्षतां सिद्धांतपक्षतां प्रापयन्। स्वयमसत्पक्षावलम्बित्वादिति भावः। अनेन रामस्य व्यग्रतोक्ता।

कहनेके लिये अभिलषित (किन्तु बलरामजीको बोलते हुए देखकर) तत्काल ही निवर्तित (रोके गये), कार्यपटु उद्धवजीके वचनको उत्तरपक्ष (सिद्धान्तरूप) में स्थापित करते हुए (बलरामजी बोले)॥ १५॥

घूर्णयन् मदिरास्वादमदपाटलितद्युती।
रेवती[2]वदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे दृशौ॥ १६॥

घूर्णयन्निति॥ पुनः। मदिरास्वादेन मद्यपानेन यो मदस्तेन पाटलिता ईषद्रक्ती-

[1] 'तत्क्षणं प्रति–' इति पाठ०। [2] 'दशनो—' इति पा०।

कृता द्युतिर्ययोस्ते रेवत्या देव्याः वदने यदुच्छिष्टं मद्यलेपताम्बूलादि अक्षिचुम्बन-संक्रान्तमिति भावः। तेन परिपूते शुद्धे पुटे ययोस्ते दृशौ घूर्णयन् भ्रामयन्निति मद्यविकारोक्तिः। उच्छिष्टपरिपूतेत्यत्र 'रतिकाले मुखं स्त्रीणां शुद्धमाखेटके शुनाम्' इति स्मरणात्। उच्छिष्टस्य पावित्र्यजनकत्वविरोधस्याभासत्वाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः। 'आभासत्वे विरोधाभास उच्यते' इति लक्षणात्।

मद्यपान करनेसे उत्पन्न नशेसे रक्तवर्ण तथा रेवतीके मुखके जूठे (मद्यपान आदि) से शुद्ध प्रान्तों (या—पलकों) वाले दोनों नेत्रों को घुमाते हुए (बलरामजी बोले)।

विमर्श—रतिकाल में स्त्री का मुख शुद्ध होनेसे जब रेवतीने उनके नेत्रोंका चुम्बन किया तब भी वे अपवित्र नहीं हुए, रतिकालमें नेत्रका चुम्बन करना भी कामशास्त्रमें वर्णित है ॥ १६ ॥

आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणीम्।
म्लापयन्नभिमानोष्णैर्वनमालां मुखानिलैः ॥ १७ ॥

आश्लेषेति ॥ पुनः। आश्लेषलोलुपा या आलिङ्गनलुब्धायाः वध्वाः स्तनयोः कार्कश्यस्य काठिन्यस्य साक्षिणीं उपद्रष्ट्रीम्। नित्यं पीड्यमानामिति भावः 'साक्षाद्-द्रष्टरि संज्ञायाम्' (५।२।९१)। इति साक्षाच्छब्दादिनिप्रत्ययः। वनमालामभिमानो-ष्णैरहङ्कारतप्तैर्मुखानिलैः निश्वासमारुतैर्म्लापयन् ग्लापयन्। म्लायतेर्ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः। 'आदेश—' (६।१।४५) इत्यात्त्वे पुगागमः। अम्लाने म्लानसम्बन्धाद-तिशयोक्तिः।

आलिङ्गन करनेकी विशेष अभिलाषा करनेवाली रेवतीके स्तनोंको कठोरताको जानने-वाली वनमालाको अभिमानसे उष्ण मुखवायु (श्वासवायु) से मलिन करते हुए (बलरामजी बोले)।

विमर्श—पैर तक लटकती हुई पुष्पमाला को वनमाला कहते हैं, उसे पहने हुए बलरामने आलिङ्गन चाहनेवाली रेवतीका आलिङ्गन किया; इससे वे मालाके पुष्प मर्दित हो गये, क्योंकि रेवतीके स्तन कठोर थे, अत एव उनकी कठोरताको जाननेवाली वह वनमाला ही थी। ऐसी वनमालाको बोलते समय अभिमानपूर्ण वचन बोलनेसे उष्ण श्वासवायु द्वारा मलिन करते हुए बलरामजी बोले। मुखसे निकली हुई वायु स्वतः उष्ण होती हैं, किन्तु अभिमानपूर्वक बोलनेके समय निकली हुई मुखवायु विशेष उष्ण थी, उससे पुष्पमयी कोमल वनमाला मलिन होना उचित ही था ॥ १७ ॥

दधत्सन्ध्यारुणव्योमस्फुरत्तारानुकारिणीः।
द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः स्वेदविप्रुषः ॥ १८ ॥

दधदिति ॥ पुनः। सन्ध्यायामरुणे व्योम्नि स्फुरन्तीस्तारा अनुकुर्वन्तीति तथोक्ताः। कुतः। द्विषतः शत्रोर्द्वेषेण क्रोधेनोपरक्तेऽङ्गे वपुषि सङ्गिनीः सक्ताः स्वेद-

विप्रुषः स्वेदविन्दून्। 'पृषन्तिविन्दुपृषताः पुमांसो विप्रुषः स्त्रियाम्'इत्यमरः। दधद्दधानः। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) इति नुमभावः। उपमालङ्कारः।

सायङ्कालीन अरुणवर्ण आकाशमें चमकती हुई ताराओंका अनुकरण करनेवाली (उन ताराओंके समान दीखनेवाली), शत्रुके विषयमें उत्पन्न विरोधसे अरुणवर्ण शरीरमें संसक्त स्वेदविन्दुओंको धारण करते हुए (बलरामजी बोले)।

विमर्श—बलरामजीका शरीर स्वतः अत्यन्त गौरवर्ण था और शिशुपाल पर क्रोध करनेके कारण वह और अधिक लाल हो गया तथा उसपर कुछ पसीने की बूँदें चमकने लगी ॥१८॥

प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलत्विषा ।
कृष्णोत्तरासङ्गरुचं विदधच्चौतपल्लवीम् ॥ १९ ॥

प्रोल्लसदिति ॥ पुनः। प्रकर्षेणोल्लसतां कुण्डलयोः प्रोतानां स्यूतानां पद्मरागदलानां माणिक्यशकलानां त्विषा कान्त्या। प्रोतेति प्रपूर्वाद्वेञः कर्मणि क्तः। यजादित्वात्सम्प्रसारणम्। कृष्णोत्तरासङ्गो नीलोत्तरीयम्। 'द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा। संव्यानमुत्तरीयं च' इत्यमरः। तस्य रुचं चूतपल्लवस्येमां चौतपल्लवीं विदधत्। कृष्णलोहितमिश्रवर्णचूतपल्लववद् धूम्रां कुर्वन्नित्यर्थः। 'धूम्रधूमकौ कृष्णलोहिते' इत्यमरवचनात्। अत्रान्यरुचोऽन्यदीयत्वायोगात्सादृश्यापेक्षो निदर्शनालङ्कारः।

अत्यधिक चमकते हुए कुण्डलोंमें जड़े गये पद्मराग मणियोंके टुकड़ोंकी कान्तिसे ओढ़े हुए अपने नीले दुपट्टेकी कान्तिको आम्रपल्लवके समान करते हुए (बलरामजी बोले) ॥ १९ ॥

ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया ।
मुखामोदं मदिरया कृतानुव्याधमुद्वमन् ॥ २० ॥

ककुद्मीति। पुनः। ककुद्मिकन्याया रेवत्या वक्त्रस्यान्तः अभ्यन्तरे वासेन स्थितया लब्धोऽधिवासो वासना यया तया। तन्मुखसौरभवासितयेत्यर्थः। 'संस्कारो गन्धमाल्याद्यैरधिवासनमुच्यते'। मदिरया कृतानुव्याधं कृतसंसर्गम्। प्रियागण्डूषगन्धिनमित्यर्थः। 'व्यधजपोरनुपसर्गे—' (३।३।६१) इत्यनुपसृष्टादप्प्रत्ययविधानादुपसृष्टाद्व्यधेर्घञ्प्रत्ययः। मुखामोदं स्वमुखगन्धविशेषम्। 'आमोदः सोऽतिनिर्हारी' इत्यमरः। उद्वमन् उद्गिरन्। अत्र मदिरारामुखगन्धयोः स्वगन्धतिरोधानेन रामामुखतद्गण्डूषमद्यगन्धस्वीकारात्तद्गुणयोस्तत्रोत्तरस्यात्मविशेषकत्वेन पूर्वसापेक्षत्वादङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिः' इति लक्षणात्।

ककुद्मीकी कन्या (रेवती) के मुखमें रहनेसे सुवासित मदिरासे संसृष्ट मुखसौरभको उगलते (सभाभवनमें फैलाते) हुए (बलरामजी बोले)।

विमर्श—रेवती 'पद्मिनी' संज्ञक नायिका थी, उसने जिस मदिराका पान किया वह मदिरा स्वभावतः उसके मुख-संसर्गसे सुवासित हो गयी और उस (उच्छिष्ट) मदिराका बलरामजीने भी पान किया, जिससे उनका मुख भी उसके संसर्गसे सुवासित हो गया था।

रतिकालमें स्त्रीका मुख शुद्ध रहनेसे उसके उच्छिष्ट मदका पान करना दूषित नहीं माना गया है ॥ २० ॥

जगाद वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः ।
नयन्मधुलिहः श्वैत्यमुदग्रदशनांशुभिः ॥ २१ ॥ (कुलकम् ।)

जगादेति ॥ वदनमेव छद्म कपटं यस्य तत् पद्मम् । वदनमेव पद्ममित्यर्थः । छद्मशब्देनासत्यप्रतिपादनरूपोऽपह्नवः । तस्य पर्यन्तपातिनः प्रान्तसञ्चारिणः । मधु लिहन्तीति मधुलिहस्तान् मधुपान् । क्विप् । उदग्रैरुच्छ्रितैः दशनांशुभिः श्वैत्यं धावल्यं नयन्नेवं जगाद । तद्गुणालङ्कारः । तस्य मधुपसन्निधापकवदनापह्नवसापेक्षत्वात्तेन सङ्करः ।

मुखरूपी कमलके चारों तरफ (सौरभ ग्रहणार्थ) गिरते हुए भौंरोंको अत्यधिक दशन-कान्तिसे श्वेत करते हुए बलरामजी बोले।

विमर्श—बलरामजीका मुख सुगन्धसे युक्त कमलतुल्य था, उसके सौरभके लोभसे चारों तरफसे भौंरे आ रहे थे। जब बलरामजी बोलने लगे, तब उनके दाँतोंकी स्वच्छतम कान्ति उन भौंरोंको श्वेत बना रही थी ॥ २१ ॥

रामो जगादेत्युक्तम्, किं तदित्याकाङ्क्षायामाह—

यद्वासुदेवेनादीनमनादीनवमीरितम् ।
वचसस्तस्य सपदि क्रिया केवलमुत्तरम् ॥ २२ ॥

यदिति ॥ वासुदेवेन न दीनमित्यदीनमकातरं न आदीनवोऽस्येत्यनादीनवं निर्दोषम् । 'दोष आदीनवो मतः' इत्यमरः । यद्वच ईरितम् । 'उत्तिष्ठमानस्तु परः' इत्यादिपक्षमाश्रित्य यदुक्तमित्यर्थः । तस्य वचसः सपदि क्रिया केवलं सद्योऽनुष्ठानमेवोत्तरम् । सिद्धान्तस्यैवोक्तत्वादिति भावः ।

कृष्णजीने ओजस्वी (अकातर) तथा निर्दोष जिस वचनको कहा है, तत्काल कार्यरूप में परिणत करना ही उस वचनका उत्तर है (क्योंकि उन्होंने सिद्धान्तभूत वचन कहा है) ॥२२॥

अथ तदेव प्रतिपादयिष्यन्ननन्यातिशयतयोपस्करोति —

नैतल्लघ्वपि भूयस्या वचो वाचातिशय्यते ।
इन्धनौघधगप्यग्निस्त्विषा नात्येति पूषणम् ॥ २३ ॥

नैतदिति ॥ लघु संक्षिप्तमप्येतद्वचो भूयस्या बहुतरया । विस्तृतयापीत्यर्थः । 'द्विवचनविभज्य–' (५।३।५७) इत्यादिना ईयसुनि 'बहोर्लोपो भू च बहोः' (६।४।१५८) इतीकारलोपो बहोश्च भूरादेशः । वाचा नातिशय्यते नातिरिच्यते । गुर्वर्थत्वादिति भावः । शीङः कर्मणि लटि यक् । 'अयङ्यि क्ङिति' (७।४।२२) इत्ययङादेशः तथाहि—इन्धनौघान् दहतीति इन्धनौघधक् काष्ठराशिदाहकः । भूयानपीत्यर्थः । क्विपि घत्वधत्वे भष्भावः । अग्निस्त्विषा प्रभया पूषणं सूर्यम् ।

अल्पीयांसमपीति भावः। नात्येति नातिक्रामति। तेजसः प्रभावत्त्वमिव वचनोऽर्थवत्त्वमलङ्घ्यत्वहेतुरित्यर्थः। अत्र समानधर्मविम्बप्रतिबिम्बिततया दृष्टान्तालङ्कारः।

थोड़े (परिमिताक्षर) भी इस (कृष्णोक्त) वचनका उल्लंघन अधिक विस्तृत भी वचनसे नहीं किया जा सकता, क्योंकि इन्धन-राशिको जलानेवाली भी अग्नि तेजसे सूर्य का उल्लंघन नहीं करती हैं॥ २३॥

यदि हरिवचो नातिशय्यते, अलं तर्हि तवापि वागारम्भैरत आह—

संक्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयसः।
सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे॥ २४॥

संक्षिप्तस्येति॥ अतो हरिवचसोऽनतिशयनीयत्वादेव सुविस्तरतराः प्रपञ्चतराः। 'प्रथने वाशब्दे' (३।३।३३) इति घञः प्रतिषेधे 'ऋदोरप्' (३।३।५७) इत्यप्। मे वाचः संक्षिप्तस्याल्पाक्षरस्याप्यर्थेन गरीयसः। सूत्रकल्पस्येत्यर्थः। 'अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥' इति लक्षणात्। अस्यैव वाक्यस्य नान्यस्य भाष्यभूता भाष्यैः समाः। नित्यसमासः। 'क्ष्मादौ जन्तौ भूतं क्लीवं समेऽतीते चिरे त्रिषु' इति वैजयन्ती व्याख्यानरूपा भवन्त्वित्यर्थः। सूत्रव्याख्यानविशेषो भाष्यम्। 'सूत्रस्थं पदमादाय वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः। स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥ इति। मया तु तदेव विशेषप्रकाशनाय व्याख्यायते, न त्वतिशयाय प्रत्याख्यायत इत्यदोष इत्यर्थः। उपमालङ्कारः।

अत एव अर्थात् सिद्धान्तभूत होनेके कारण संक्षिप्त (अल्पाक्षर) होनेपर भी अर्थगौरव युक्त इसी (कृष्णोक्त) वचनके, अत्यन्त विस्तृत मेरे वचन भाष्यरूप हों।

विमर्श—जिस प्रकार सूत्र बहुत थोड़े अक्षरोंमें परन्तु अर्थगौरवसे युक्त और सिद्धान्तरूपमें कहा जाता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता और उन सूत्रोंके अनुकूल ही कार्यका प्रतिपादन करनेवाला विस्तृत भाष्य होता है, उसी प्रकार अल्पाक्षर होते हुए भी अर्थगौरवसे पूर्ण श्रीकृष्णोक्त वचनके सिद्धान्तको ही प्रतिपादन करनेवाला मैं विस्तृत वचन कहूँगा॥ २४॥

इत्थं यानं सिद्धान्तयित्वा तत्रोद्धवप्रतिरोधं हृदि निधाय त्रिभिः प्रत्याचष्टे—

विरोधिवचसो मूकान् वागीशानपि कुर्वते।
जडानप्यनुलोमार्थान् प्रवाचः कृतिनां गिरः॥ २५॥

विरोधीति॥ कृतिनां कुशलानां गिरः कर्त्र्यः। विरोधिवचसः प्रतिकूलवादिनो वागीशान् वाक्पतीनपि। 'वागीशो वाक्पतिः समौ' इत्यमरः। मूकान् निर्वाचः कुर्वते। जडयन्तीत्यर्थः। अनुलोमोऽनुकूलोऽर्थोऽभिधेयं येषां तेऽनुलोमार्था अनुकूलवादिनः तान् जडान् मन्दानपि प्रवाचः प्रगल्भवाचः कुर्वते। अतोऽस्मद्गिरः प्रवाच्या इति भावः। अत्र वागीशानां मूकीकरणाज्जडानां प्रवाक्त्वकरणाच्च शक्यवतुकरण-

रूपो विशेषोऽलङ्कारः । असम्बन्धे सम्बन्धातिशयोक्तिप्रतिभोत्थापित इति सङ्करः ।

(इस प्रकार श्रीकृष्ण भगवान्‌के कहे हुए वचनको सिद्धान्तरूपमें मानकर उद्धवजीके निषेधक वचनको हृदयमें रखते हुए उसका तीन श्लोकों (२।२५–२७) से खण्डन करते हैं–) कार्यज्ञ (चतुर) लोगोंके वचन विरुद्ध बोलनेवाले वागीशों (वचनाधिपतियों–बृहस्पतियों अर्थात् बृहस्पति तुल्य विद्वानों) को भी मूक बना देते हैं तथा अनुकूल बोलनेवाले मूकोंको भी बृहस्पति (तुल्य वाग्मी) बना देते हैं ॥ २५ ॥

नन्वात्मनीनेन स्वामिना 'बुद्धेः फलमनाग्रह.' इति न्यायेन शास्त्रज्ञवचनं प्रतिकूलमपि ग्राह्यमेवेत्याशङ्क्याह—

षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः सिद्धयश्चोदयास्त्रयः ।
ग्रन्थानधीत्य व्याकर्तुमिति दुर्मेधसोऽप्यलम् ॥ २६ ॥

षडिति ॥ दुष्टा मेधा येषां ते दुर्मेधसो मन्दबुद्धयोऽपि । 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' (५।४।१२२) इति समासान्तोऽसिच्प्रत्ययः । ग्रन्थानौशनसादीनधीत्य पठित्वा गुणाः सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसमाश्रयाख्याः षट् । शक्तयः प्रभुत्वमन्त्रोत्साहाख्यास्तिस्रः सिद्धयः पूर्वोक्तशक्तित्रयसाध्याः पुरुषार्थलाभात्मिकाः । ताश्च तिस्रः प्रभुसिद्धिर्मन्त्रसिद्धिरुत्साहसिद्धिश्चेति । उदया वृद्धिक्षयस्थानानि छत्रिन्यायेनोदया उच्यन्ते । तत्र वृद्धिक्षयौ स्वशक्तिसिद्धयोः पूर्वावस्थानादुपचयापचयौ स्थानं ते च त्रय इति व्याकर्तुं व्याख्यातुमलं समर्थाः । 'पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु' (३।४।६६) इति तुमुन् । पञ्चाङ्गनिर्णयशक्तिविकलानां सन्ध्यादिरूपसंख्यामात्रपाठकानामशास्त्रज्ञत्वादुद्धवादयो न ग्राह्यवचना इत्यभिसन्धिः । अत्रामरः 'सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः । षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः । क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदिनाम् ॥' इति । तत्रारिविजिगीष्वोर्व्यवस्थाकरणमैक्यं सन्धिः । विरोधो विग्रहः । विजिगीषोररिं प्रति यात्रा यानम् । तयोर्मिथः प्रतिबद्धशक्त्योः कालप्रतीक्षया तूष्णीमवस्थानमासनम् । दुर्बलप्रबलयोर्वाचिकमात्मसमर्पणं द्वैधीभावः । अरिणा पीड्यमानस्य बलवदाश्रयणं संश्रयः । कोशदण्डोत्थं तेजः प्रभावः । कर्तव्यार्थेषु स्थेयान् प्रयत्न उत्साहः । षड्गुणचिन्तनं मन्त्रः । गतमन्यदिति संक्षेपः ।

मन्दबुद्धि व्यक्ति भी (शुक्रनीति आदि) ग्रन्थोंको पढ़कर छः गुण, तीन शक्ति, तीन सिद्धि तथा तीन उदय; इनका व्याख्यान करनेके लिए समर्थ होता हैं ।

विमर्श—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव ये छः गुण हैं । प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति—ये तीन सिद्धियाँ हैं । तथा वृद्धि, क्षय और स्थान—ये तीन उदय हैं । इनका व्याख्यान ग्रन्थोंको पढ़कर मन्दबुद्धि भी कर सकता है (किन्तु किस अवसर पर

क्या करना चाहिये, यह तो कार्यकुशल राजनीतिज्ञ श्रीकृष्णादि ही जान सकते हैं, उद्धवजी आदि—जैसे व्यक्ति नहीं जान सकते) ॥ २६ ॥

ननु शास्त्रोक्तार्थव्याख्यातैव शास्त्रज्ञः, स एव ग्राह्यवचनश्चेत्याशङ्क्याह—

[1]अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्मिनो वृथा ।
निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम् ॥ २७ ॥

अनिर्लोडितेति ॥ अनिर्लोडितं नालोकितं कार्यं येन तस्य । कार्याकार्यमजानत इत्यर्थः । वाचोऽस्य सन्तीति वाग्मी वावदूकः । 'वाचो युक्तिपटुर्वाग्मी वावदूकोऽतिवक्तरि' इत्यमरः । 'वाचो ग्मिनिः' (५।२।१२४) इति ग्मिनिप्रत्ययः । तस्य वाग्जालं वागाडम्बरो निमित्ताल्लक्ष्यात् । 'वेध्यं लक्ष्यं निमित्तं च शरव्यं च समं विदुः' इति वैजयन्ती । अपराद्धेषोः स्खलितबाणस्य । धनुः प्रहरणमस्येति धानुष्को धन्वी । 'प्रहरणम्' (४।४।५७) इति ठक् । 'इसुसुक्तान्तात्कः' (७।३।५१) 'अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद्यश्च्युतसायकः ।' 'धन्वी धनुष्मान् धानुष्कः' इत्यमरः । तस्य वल्गितमिव वृथा निष्फलम् । कार्यज्ञस्य वचो ग्राह्यं न तु वाचालस्येति भावः ।

कार्यका आलोडन नहीं करनेवाले अर्थात् कर्तव्याकर्तव्यको नहीं जाननेवाले वाग्मी (बहुत बोलनेवाले विद्वान्) का वचन-समूह, लक्ष्य-भ्रष्ट बाणवाले धनुर्धारीके उछलने-कूदने (या-बढ़चढ़कर बातें करने) के समान व्यर्थ होता है (अत एव कार्यज्ञके लघु वचनको भी ग्रहण करना चाहिये; अकार्यज्ञके विस्तृत वचनको भी नहीं ग्रहण करना चाहिये । यहाँ भी बलरामजीने उद्धवके वचनको ग्रहण नहीं करनेका संकेत किया है) ॥ २७ ॥

इत्थं षाड्गुण्यादिपाठमात्रं न मन्त्र इति सिद्धे सम्प्रति स्वयं मन्त्रस्वरूपमाह—

सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाऽङ्गस्कन्धपञ्चकम् ।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम् ॥ २८ ॥

सर्वेति ॥ सर्वाणि कार्याणि सन्ध्यादीनि तानि शरीराणीवेत्युपमितसमासः । व्यासे सौगतानामिवेति लिङ्गान्तेषु सर्वकार्यशरीरेषु सर्वेषु शरीरेष्विव । सर्वकार्येष्वित्यर्थः । अङ्गानि स्कन्धा इवेत्युपमितसमासः । तेषां पञ्चकं मुक्त्वा । स्कन्धपञ्चकमिवाङ्गपञ्चकं हित्वेत्यर्थः । पञ्च परिमाणमस्येति पञ्चकम् । 'संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु' (४।१।५८) इति कप्रत्ययः । सुगतो भक्तिर्भजनीय एषां ते सौगता बौद्धाः । 'भक्तिः' (४।३।९५) इत्यण्प्रत्ययः । तेषामन्य आत्मेव महीभृतामन्यो मन्त्रो नास्ति । कर्मणामारम्भोपायः, पुरुषद्रव्यसम्पत्, देशकालविभागः, विपत्तिप्रतीकारः, कार्यसिद्धिश्चेति पञ्चाङ्गानि । यथाह कामन्दकः—'सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः । विपत्तेश्च प्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते ॥' इति । रूपवेदनाविज्ञानसंस्काराः पञ्च स्कन्धाः । तत्र विषयप्रपञ्चो रूपस्कन्धः, तज्ज्ञान-

---

१. 'अनिर्लोठित—' इति पाठा० ।

प्रपञ्चो वेदनास्कन्धः, आलयविज्ञानसन्तानो विज्ञानस्कन्धः, नामप्रपञ्चः संज्ञास्कन्धः, वासनाप्रपञ्चः संस्कारस्कन्धः । एवं पञ्चधा परिवर्तमानो ज्ञानसन्तान एवात्मा इति बौद्धाः । एवं यथा बौद्धानां सर्वेषु शरीरेषु स्कन्धपञ्चकातिरिक्त आत्मा नास्ति, तथा राज्ञामङ्गपञ्चकातिरिक्तो मन्त्रो नास्तीत्युपमालङ्कारः । तच्चास्माकं समग्रमेवेत्ययमेव यात्राकाल इति भावः ।

(सन्ध्यादि) समस्तकार्योंमें (सहायादि) पाँच अङ्गोंके अतिरिक्त राजाओंका उस प्रकार दूसरा कोई मन्त्र नहीं हैं, जिस प्रकार इस शरीरमें पाँच स्कन्धोंके अतिरिक्त बौद्धोंके मतसे दूसरा कोई आत्मा नहीं है ।

विमर्श—१ कार्योंके आरम्भ करनेका उपाय, २ कार्योंकी सिद्धिमें उपयोगी वस्तुओंका संग्रह, ३ देश तथा काल (स्थान तथा समय) का यथायोग्य विभाजन, ४ विपत्तियोंको दूर करनेके उपाय और ५ कार्योंकी सिद्धि—ये पांच अङ्ग ही राजाओंके मन्त्र हैं । तथा १ रूपस्कन्ध, २ वेदनास्कन्ध, ३ विज्ञानस्कन्ध, ४ संज्ञास्कन्ध और ५ संस्कारस्कन्ध—ये पाँच स्कन्ध बौद्धोंके मतमें हैं; इनमें इस संसारमें दृष्टिगोचर होनेवाली समस्त वस्तुओंका आकार रूपस्कन्ध १, उनकी जानकारी होना या सुखादिका अनुभव होना वेदनास्कन्ध २, अध्ययन किये हुएका विस्मरण नहीं होना या धाराप्रवाहसे होनेवाला आश्रयज्ञान विज्ञानस्कन्ध ३, चैतन्य या पदार्थोंका नाम संज्ञास्कन्ध ४ और चित्त में जमी हुई वासना या शास्त्रादिशरीराभूषण संस्कार स्कन्ध ५ है । इन पाँच स्कन्धोंके अतिरिक्त शरीरमें 'आत्मा' नामकी कोई वस्तु नहीं हैं, किन्तु उक्त स्कन्धपञ्चकसे परिवर्तन होता हुआ ज्ञानसन्तान ही आत्मा है । यहां पर बलरामजीके कहनेका तात्पर्य यह है कि—यदि राजाओंके सहाय आदि पांच अङ्ग ठीक रहते हैं तो उनके सन्धि, विग्रह आदि समस्त कार्य अनायास सिद्ध हो जाते हैं, ऐसी अवस्था में उन्हें मन्त्रणा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती, अत एव हम लोगोंके भी सहायादि पाँच अङ्ग ठीक-ठीक व्यवस्थित हैं, इस कारण हमारी विजय अवश्यमेव होगी, एतदर्थ मन्त्रणा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं हैं, हम लोगोंको अब शीघ्र शिशुपालसे लड़नेके लिए प्रस्थान कर देना चाहिये ॥ २८ ॥

अथ मन्त्रितार्थक्रियाविलम्बे दोषमाह—

मन्त्रो योध इवाधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि[1] ।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया ॥ २९ ॥

मन्त्र इति ॥ संवृतैर्गुप्तैः सर्वाङ्गैः पूर्वोक्तैरुपायादिभिरुरःस्थलादिभिश्चोपलक्षितोऽपि । सर्वाङ्गसंवृतोऽपीत्यर्थः । मन्त्रो विचारः । अधीरो भीरुः युध्यत इति योधो भट इव । पचाद्यच् । परेभ्योऽन्येभ्योऽरिभ्यश्च । 'परं दूरान्यमुख्येषु परोऽरिपरमात्मनोः' इति वैजयन्ती । भेदो विदारणं तृतीयगामित्वं च तस्य शङ्कया चिरं स्थातुम् ।

---

१. 'कल्पितैरपि' इति पाठा० ।

विलम्बितुमित्यर्थः । न सहते न क्षमः । 'शकधृष–' (३।४।६५) इत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः । अतो न विलम्बितव्यम्, अन्यथा मन्त्रभेदे कार्यहानिः स्यादिति भावः ।

(मन्त्रणा करनेके बाद विलम्ब करना अहितकर भी हैं, यह बात बलरामजी कह रहे हैं–) जिस प्रकार कातर योद्धा छाती–हाथ पैर आदि सम्पूर्ण अङ्गोंके कवचादि से सुरक्षित रहने पर भी शत्रुके भेदन करने (शत्रुसे मारे जाने) के भयसे (युद्धमें) बहुत समय तक नहीं ठहरता; उसी प्रकार सहायादि सम्पूर्ण अङ्गोंसे सुरक्षित भी मन्त्र (परस्पर गुप्त विचार–विनिमयसे किया निर्णय) शत्रुओंके गुप्तचरोंके द्वारा भिन्न ज्ञात होनेके भयसे बहुत समय तक नहीं ठहर सकता ।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि हम लोगोंने शिशुपालको मारनेके लिए उसपर चढ़ाई करनेका निर्णय कर लिया है, युधिष्ठिरके यज्ञमें सम्मिलित न होकर हमें शिशुपाल पर शीघ्रतम चढ़ाई ही कर देनो चाहिये, विलम्ब करनेसे यदि किसी प्रकार यह बात उसे मालूम हो जायगी तो हमलोगोंका निर्णय कार्यसाधक नहीं होगा ॥ २९ ॥

किञ्च नीतिसर्वस्वपर्यालोचनयापि न विलम्बः कार्य इत्यभिप्रेत्याह—

आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं[1] नीतिरितीयती ।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते ॥ ३० ॥

आत्मोदय इति ॥ आत्मन उदयो वृद्धिः परस्य शत्रोर्ज्यानिर्हानिः । 'वीज्याज्वरिभ्यो निः' (उ० ४८८) इत्यौणादिको निः प्रत्ययः । इति द्वयम् । इदं परिमाणमस्या इति इयती एतावती । 'किमिदंभ्यां वो घः' (५।२।४० इति वतुपो वस्य घश्च । 'उगितश्च' (४।१।६) इति ङीप् । नीतिर्नीतिसंग्रहः । एतद्द्वयातिरिक्तो न कश्चिन्नीतिपदार्थोऽस्तीत्यर्थः । यदन्यत् षाड्गुण्यादिवर्णनं तत्सर्वमस्यैव प्रपञ्च इत्याह–तदिति । तद्द्वयमूरीकृत्याङ्गीकृत्य । 'ऊरीकृतमुररीकृतमङ्गीकृतम्' इत्यमरः । 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' (१।४।६१) इति गतिसंज्ञायां 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) इति समासे क्त्वो ल्यप् । कृतिभिः कुशलैः वाचस्पत्यं वाग्मित्वम् । कस्कादित्वादलुक् सत्वे । 'षष्ठ्याः पतिपुत्र–' (८।३।५३) इत्यादिना सत्वमिति स्वामी तन्न । तस्य छन्दोविषयत्वात् । ब्राह्मणादित्वाभावे ष्यञ्प्रत्ययः । प्रतायते विस्तार्यते कर्मणि लट् । 'तनोतेर्यकि' (६।४।४४) इत्यात्वम् । तस्मादात्मोदयार्थिभिरविलम्बाच्छत्रुरुच्छेत्तव्यः । तत्रान्तरीयत्वात्तस्येति भावः ।

(नीतिके परामर्श करनेपर भी विलम्ब करना उचित सिद्ध नहीं होता, यह बात बलरामजी कहते हैं–) अपनी उन्नति तथा शत्रुकी वृद्धि (होनेपर युद्ध करना चाहिये) बस, इतनी ही राजनीति हैं, इसे स्वीकार कर कुशल पुरुष वाग्मिताका विस्तार करते (अतिशय अधिक बोलनेवाले बन जाते) हैं ।

---

१. '—ग्लानि—' इति पाठः ।

विमर्श—आगे (२।५९–६०) अपनी समृद्धि तथा शत्रुकी अवनतिका वर्णन करेंगे, अत एव बलरामजी कहते हैं कि अब अभियानमें विलम्ब करना ठीक नहीं है। अथवा—दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि अपनी उन्नति तथा शत्रुकी हानि (करना ही युद्ध करनेका लक्ष्य है) बस, इतनी ही राजनीति है ॥ ३० ॥

तृप्तियोगः परेणापि महिम्ना न महात्मनाम् ।
पूर्णश्चन्द्रोदयाकाङ्क्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः ॥ ३१ ॥

तृप्तियोग इति ॥ महीयसां महात्मनां परेणापि प्रभूतेनापि महिम्ना ऐश्वर्येण तृप्तियोगः सन्तोषलाभो न । अत्र तृप्त्यभावे पूर्णः सन् ,चन्द्रोदयाकाङ्क्षी । वृद्धयर्थमिति भावः । महार्णवो दृष्टान्तः दृष्टः अन्तो निश्चयो यस्मिन्, दृष्टान्तो निदर्शनम् । उपमानमिति यावत् । राज्ञा वृद्धावलम्बुद्धिर्न कार्याः । 'असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभुजः । सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जा च कुलाङ्गना ।।' इति न्यायादिति भावः । नायं दृष्टान्तालङ्कारः । विम्बप्रतिविम्बभावेनौपम्यस्य गम्यत्वे तस्योत्थानात् । किन्तु दृष्टान्तशब्देन तस्याभिधानादुपमालंकारः । अत एव दृष्टान्तोदाहरणनिदर्शनरूपाः शब्दा न प्रयोक्तव्याः पौनरुक्त्यापत्तेरित्येकावल्यलङ्कारः ।

(समृद्धिमान्को दूसरेकी हानि हो या न हो इससे क्या प्रयोजन है—इस मनोगत प्रश्नका खण्डन करते हुए बलरामजी कहते हैं—) समृद्धि चाहनेवाले बड़े लोगोंको बड़ी समृद्धिसे भी तृप्ति नहीं होती, इस विषयमें चन्द्रमाके उदयको चाहनेवाला पूर्ण महासमुद्र दृष्टान्त है ॥ ३१ ॥

तथापि सन्तोषे दोषमाह—

संपदा सुस्थिरंमन्यो[1] भवति स्वल्पयापि यः ।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ॥ ३२ ॥

संपदेति ॥ यः स्वल्पयापि संपदा सुस्थिरमात्मानं मन्यत इति सुस्थिरंमन्यः स्वस्थमानी भवति । 'आत्ममाने खश्च' (३।२।८३) इति खश्प्रत्यये मुमागमः । तस्याल्पसंतुष्टस्य तां स्वल्पसंपदं कृतकृत्यस्तावतैव कृतार्थो विधिर्दैवमपि न वर्धयति अहमिति मन्ये । पौरुषहीनाद् दैवमपि जुगुप्सते, तत्प्रवृत्तेः परमर्द्धिप्राप्तिरिति भावः ।

('सन्तोष करना हानिकर भी है' यह बात बलरामजी कहते हैं—) जो (राजादि) थोड़ी भी सम्पत्तिसे अपनेको सुस्थिर मानता है, कृतकृत्य ब्रह्मा (दैव) उसकी उस सम्पत्ति को भी बढ़ाते नहीं, ऐसा मैं मानता हूँ ।

विमर्श—तात्पर्य यह है कि हम लोगोंको समृद्धिमान् रहते हुए भी तावन्मात्रसे सन्तुष्ट होकर चुप नहीं बैठना चाहिए ॥ ३२ ॥

---

१. 'सुस्थितम्मन्यो' इति पाठ० ।

किंच पराक्रमलब्ध एवोदयो नान्यलब्ध इत्याह—

समूलघातमघ्नन्तः परान्नोद्यन्ति मानिनः।
प्रध्वंसितान्धतमसस्तत्रोदाहरणं रविः ॥ ३३ ॥

समूलेति ॥ मानिनोऽभिमानिनः परान् शत्रून् समूलं हत्वा समूलघातम्, अघ्नन्तः। अनुन्मूलयन्त इत्यर्थः। 'समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः' (३।४।३६) इति णमुल् प्रत्ययः। 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' (३।४।४६) इति हन्तेरनुप्रयोगः। नोद्यन्ति। किन्तु हत्वैवोद्यन्तीत्यर्थः। तत्र हत्वैवोदये अन्धयतीत्यन्धं गाढं तमोऽन्धतमसम्। 'ध्वान्ते ।गाढेऽन्धतमसम्' इत्यमरः। 'अवसमन्धेभ्यस्तमसः (५।४।७९) इत्यच्प्रत्ययः। प्रध्वंसितमन्धतमसं येन सः। उदयात्प्रागिति भावः। रविरुदाहरणं दृष्टान्तः। अत्रापि 'दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः' (२।२१) इतिवदुपमालङ्कारो न तु दृष्टान्तः। इति द्रष्टव्यम्।

('पराक्रमसे उपपादित उदय ही वास्तविक उदय है' यह कहते हैं—) मानी लोग शत्रुओं को समूल नष्ट किये विना उदित नहीं होते हैं, इस विषयमें (उदय होनेके पहले रात्रिके) गाढ़ अन्धकारको नष्ट करनेवाले सूर्य उदाहरण हैं।

विमर्श—ऐसा ही दृष्टान्त महाकवि भारविने अपने किरातार्जुनीय महाकाव्यमें भीमसेन को समझाते हुए युधिष्ठिरके मुखसे कहलवाया है—'अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताऽप्युदीयते।' इति ॥ ३३ ॥

किंचानुच्छिन्नशत्रोः प्रतिष्ठैव दुर्घटेत्याह—

विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभा।
अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते ॥ ३४ ॥

विपक्षमिति ॥ विपक्षं शत्रुमखिलीकृत्य खिलमुत्सन्नमकृत्वा। अनुन्मूल्येत्यर्थः। प्रतिष्ठा दुर्लभा खलु। तथा हि—उदकं कर्तृ। धूलिम्। स्वपरिभाविनीमिति भावः। पङ्कतामनीत्वा। नाधःकृत्येत्यर्थः। नावतिष्ठते। किंतु नीत्वैव तिष्ठतीत्यर्थः। 'समवप्रविभ्यः स्थः'(१।३।२२) इत्यात्मनेपदम्। वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बनापेक्षो दृष्टान्तालंकारः।

(शत्रुका नाश किये विना प्रतिष्ठा होना दुर्लभ है, यह कहते हैं—) शत्रुका विना समूल नाश किये प्रतिष्ठालाभ होना दुर्लभ है, क्योंकि धूलिको विना कीचड़ बनाये पानी (भूमिपर) नहीं ठहरता है ॥ ३४ ॥

नन्वयं शिशुपाल एकाकी नः किं करिष्यतीत्याशङ्क्याह—

ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत्कुतः सुखम्।
पुरः क्लिश्नाति सोमं हि सैंहिकेयोऽसुरद्रुहाम् ॥ ३५ ॥

ध्रियत इति ॥ एकोऽपि रिपुर्यावद्ध्रियतेऽवतिष्ठते। 'धृङ् अवस्थाने' इति धातोस्तौदादिकात् कर्तरि लट्। 'रिङ्शयग्लिङ्क्षु' (७।४।२८) इति रिङादेशः। तावद

तदवधि सुखं कुतः । 'यावत्तावच्च साकल्येऽवधौ' इत्यमरः । तथाहि—सिंहिकायाः अपत्यं पुमान् सैंहिकेयो राहुः । 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः' इत्यमरः । 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२०) । असुरद्रुहां देवानां पुरोऽग्रे सोमं क्लिश्नाति धावते । प्राचुर्यात्सोमग्रहणम् । सूर्यं चेति भावः । तस्मादेकोऽपि शत्रुरुच्छेत्तव्य इति भावः । 'अग्नेः शेषमृणाच्छेषं शत्रोः शेषं न शेषयेत्' इति तात्पर्यम् । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।

(एक शत्रुका भी रहना हानिकर है, यह बलरामजी कहते हैं—) जब तक एक भी शत्रु बना रहता है, तब तक सुख कहाँसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता, क्योंकि असुरवैरी (देवों) के सामने (देखते-देखते) ही राहु चन्द्रमाको पीडित करता है ।

विमर्श—अत एव 'हमलोगोंके बहुत शत्रु तो हैं नहीं, अकेला शिशुपाल क्या करेगा ?' ऐसा आप लोगोंको नहीं सोचना चाहिए ॥ ३५ ॥

ननु क्षुद्रोऽयं चैद्यः किं न करिष्यतीत्याशङ्क्य तस्य बलवत्तां वक्तुं मित्रामित्रबलाबलविवेकं तावत्करोति—

> सखा गरीयान् शत्रुश्च कृत्रिमस्तौ हि कार्यतः ।
> स्याताममित्रौ[1] मित्रे च सहजप्राकृतावपि ॥ ३६ ॥

सखेति ॥ क्रियया उपकारापकारान्यतररूपया निर्वृत्तः कृत्रिमः । 'ड्वितः क्त्रिः—' (३।३।८८) 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' (वा०) सखा सुहृत् शत्रुश्च कृत्रिमो गरीयान् । कुतः—हि यस्मात्तौ कृत्रिममित्रशत्रू कार्यत उपकारापकाररूपकार्यवशात् । निर्वृत्ताविति शेषः । उक्तकार्योपाधेर्यावज्जीवमनपायादनयोर्मित्राभावोऽप्यनपायीति गरीयांस्त्वमिति भावः । सहजप्राकृतौ तु नैवमित्याह—स्यातामिति । सहजातः सहजः एकशरीरावयवत्वात् । तत्र सहजं मित्रं मातृष्वसेयपितृष्वसेयादि । सहजशत्रुस्तु पितृव्यतत्पुत्रादिः । प्रकृत्या सिद्धः प्राकृतः । पूर्वोक्तसहजकृत्रिमलक्षणरहित इत्यर्थः । तत्र विषयान्तरः प्राकृतः शत्रुः । तदनन्तरः प्राकृतं मित्रम् । अपि त्वर्थे । तौ सहजप्राकृतौ शत्रुमित्रे च स्यातां तावात्मकार्यवशादनियमेनोभयरूपतामापद्येते न कृत्रिमशत्रुमित्रे । कृत्रिमः शत्रुः शत्रुरेव, मित्रं च मित्रमेवेति कृत्रिमावेव मित्रामित्रौ गरीयांसौ । न तु सहजौ, नापि प्राकृतावित्यर्थः । अनेन कृत्रिमत्वं सर्वापवादीति सिद्धम् ।

कृत्रिम मित्र तथा बलवान् शत्रु (मुख्य) हैं, क्योंकि वे कार्यवश होते हैं एवं सहज तथा प्राकृत मित्र भी कार्यवश मित्र तथा शत्रु होते हैं ।

विमर्श—मित्र तथा शत्रुके ३-३ भेद हैं—सहज, प्राकृत और कृत्रिम; इनमें से सहज मित्र मामा तथा फूआके पुत्र और सहज शत्रु चाचा तथा उसके पुत्र होते हैं, प्राकृत मित्र

---

१. 'स्याताममित्रे मित्रौ' इति पाठश्चिन्त्यः, 'मित्र' शब्दस्य नियतनपुंसकत्वात् ।

अपने राज्यके बाद जो राज्य है उस राज्यके बाद वाले अर्थात् पड़ोसी राज्यके पड़ोसमें रहनेवाला राजा और प्राकृत शत्रु अपने राज्यके बादवाले अर्थात् अपने पड़ोसके राज्यका राजा होता है। तथा कृत्रिम मित्र साम, दान आदिके द्वारा बनाया गया और कृत्रिम शत्रु हानि करनेवाला तथा जिसकी हानि की गयी हो, वह होता है। इन सबोंमें कृत्रिम (कार्यवश होनेवाले) मित्र या शत्रु ही मुख्य हैं, क्योंकि कार्यवश—भलाई या बुराई करनेसे क्रमशः मित्र–शत्रु बने हैं; इतना ही नहीं, जो सहज तथा प्राकृत मित्र हैं, वे भी कार्यवश (भलाई तथा बुराईके करनेसे) मित्र तथा शत्रु बन जाते हैं, अत एव सहज, प्राकृत तथा कृत्रिम—तीनों प्रकारके मित्र तथा शत्रुओंमें कृत्रिम ही मित्र तथा शत्रु प्रधान होते हैं ॥ ३६ ॥

एवं चेदस्माकं पैतृष्वसेयः शिशुपालः सहजमित्रत्वात् सन्धातव्यो न तु यातव्य इत्यत आह—

उपकर्त्रारिणा सन्धिर्न मित्रेणापकारिणा।
उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः ॥ ३७ ॥

उपकर्त्रेति ॥ उपकर्त्रा उपकारकारिणा अरिणापि। सहजेन प्राकृतेन चेति शेषः। सन्धिः कार्यः। अरित्वापवादेन कृत्रिममित्रतया बलीयस्या यावज्जीवभाविन्यास्त-त्रोत्पन्नत्वादिति भावः। एवमपकारिणा मित्रेणापि। सहजेन प्राकृतेन वेति शेषः। सन्धिर्न कार्यः। मित्रत्वापवादेन कृत्रिमशत्रुताया बलीयस्या यावज्जीवभाविन्यास्त-त्रोत्पन्नत्वादिति भावः। ननु साक्षादरिणा सन्दध्यात्, मित्रेण कथं विरुध्यादित्या-शङ्क्य क्रियया तयोर्वैपरीत्याददोष इत्याह—हि यस्मादुपकारापकारावेव तयोर्मित्रा-मित्रयोर्लक्षणं स्वरूपं लक्ष्यं द्रष्टव्यम्। उपकर्तैव मित्रम्, अपकर्तैव शत्रुरित्यर्थः। तस्मात्सहजमित्रत्वेऽपि चैद्यः क्रियया शत्रुत्वात् यातव्य एवेति भावः।

उपकार करनेवाले शत्रुके साथ सन्धि (मेल) करना चाहिए, किन्तु अपकार (बुराई-हानि) करनेवाले मित्रके साथ नहीं, इस कारण इन दोनों (मित्र तथा शत्रु) के लक्षण उपकार और अपकार को लक्षित करना चाहिए।

विमर्श—वक्ष्यमाण (२।३८–४१) कारणोंसे शिशुपाल अपकारकर्ता अर्थात् कृत्रिम शत्रु सिद्ध होता है, अतएव फूआ का पुत्र (फुफेरा भाई) होनेके कारण सहज मित्र होने पर भी उसके साथ सन्धि करना उचित नहीं है ॥ ३७ ॥

अथ चैद्यस्य कृत्रिमशत्रुत्वं चतुर्भिराह—

त्वया विप्रकृतश्चैद्यो रुक्मिणीं हरता हरे।
बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरोः स्त्रियः ॥ ३८ ॥

त्वयेति ॥ हे हरे, रुक्मिणीं हरता। बन्धुभिस्तस्मै प्रदत्तां राक्षसधर्मेणोद्वहते-त्यर्थः। 'राक्षसो युद्धहरणात्' इति याज्ञवल्क्यः (आचाराध्याये ३।६१)। 'गान्धर्वो-राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ' इति मनुः (३।२६)। त्वया चैद्यो विप्रकृतः

विप्रियं प्रापितः। तथाहि बद्धमूलस्य रूढमूलस्य वैरतरोः स्त्रियो महत् प्रधानं मूलम्। हि निश्चये। रूपकसंसृष्टोऽयं सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः।

(अब बलरामजी चार चार श्लोकों (२।३८–४१) से शिशुपालको कृत्रिम शत्रु प्रमाणित करते हैं—) हे कृष्ण जी ! रुक्मिणीको हरण करते हुए आपने शिशुपालको पराभूत किया है, क्योंकि दृढमूलवाले वैररूपी वृक्षकी मूल (जड़) स्त्रियाँ ही होती हैं।

विमर्श—इन स्त्रियोंके कारण ही महान् ग्रन्थोंकी रचना हुई है, यथा—सीताजीके अपहरण करनेके कारण चौबीस सहस्र श्लोकोंवाले रामायण की तथा द्रौपदीके अपमानके कारण सवा लाख श्लोकों वाले महाभारत की। अतः रुक्मिणीके कारण शिशुपालके साथ वैर होना कोई नया काम नहीं है ॥ ३८ ॥

अथ तेनाऽपि त्वं विप्रकृत इत्याह—

त्वयि भौमं गते जेतुमरौत्सीत्स पुरीमिमाम्।
प्रोषितार्यमणं मेरोरन्धकारस्तटीमिव ॥ ३९ ॥

त्वयीति ॥ त्वयि भूमेरपत्यं पुमांसं भौमं नरकासुरं जेतुं गते सति। स चैद्य इमां पुरीं द्वारकाम्। प्रोषितोऽर्यमा सूर्यो यस्यास्तां मेरोस्तटीं सानुमन्धकार इवारौत्सीत् रुरोध। रुधेरनिटो लुङि सिचि वृद्धिः। उपमालङ्कारः।

भौमासुर (भूमि-पुत्र नरकासुर) को जीतनेके लिए आपके जानेपर उस (शिशुपाल) ने इस नगरी (द्वारकापुरी) को उस प्रकार घेर लिया, जिस प्रकार सूर्यके अस्त होने पर मेरुके तटी (प्रान्तीय भाग) को अन्धकार घेर लेता है ॥ ३९ ॥

अपकारान्तरमाह—

आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत्स दारानपाहरत्।
कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः ॥ ४० ॥

आलप्येति। स चैद्यो बभ्रोर्यादवभेदस्य दारान् भार्याः। 'भार्या जायाथ पुंभूम्नि दाराः स्यात्तु कुटुम्बिनी' इत्यमरः। अपाहरदिति तदिदं दारापहरणं आलप्योच्चार्यालम्। नालपनीयमित्यर्थः। 'अलङ्खल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' (३।४।१८) इति क्त्वाप्रत्यये समासे ल्यबादेशः। यतः पापानां पाप्मनां कथनमुच्चारणमपि। 'चिन्तिपूजिकथिकुम्बि' (३।३।१०५) इत्यप्रत्ययः। अश्रेयसेऽनर्थायालं समर्थं खलु। 'नमःस्वस्ति–' (२।३।१६) इत्यादिना चतुर्थी। अत्र निषिध्यमानालपननिषेधनसमर्थनाद् कार्येण कारणसमर्थकोऽर्थान्तरन्यासः।

उस (शिशुपाल) ने जो यादवोंकी स्त्रियोंका अपहरण किया, उसे नहीं ही कहना चाहिए; क्योंकि पापियोंकी चर्चा भी अमङ्गलके लिए होती है ॥ ४० ॥

फलितमाह—

विरुद्ध एवं भवता विराद्धा बहुधा च नः।
निर्वर्त्यतेऽरिः क्रियया स श्रुतश्रवसः सुतः ॥ ४१ ॥

विराद्ध इति ॥ एवं भवता विराद्धो विप्रकृतः । राधेरनिटः कर्मणि क्तः । बहुधा नोऽस्माकं च विराद्धा विप्रकर्ता श्रुतश्रवा नाम हरेः पितृष्वसा तस्याः सुतः । पैतृष्वसेयत्वात् सहजमित्रमपीति भावः । स चैद्यः क्रियया पूर्वोक्तान्योन्यापक्रियया अरिर्निर्वर्त्यते कृत्रिमः शत्रुः क्रियते । अतो बलीयस्त्वादनुपेक्ष्य इति भावः ।

इस प्रकार (२।३८–४०) आपने जिसका विरोध किया है ऐसा तथा आपका जिसने अनेक बार विरोध किया है, ऐसा वह शिशुपाल कार्यवश शत्रु सिद्ध होता है ।

विमर्श—यद्यपि शिशुपाल फूआ का पुत्र होनेके सहज मित्र है, किन्तु रुक्मिणी–हरण करके आपसे विरोधित और नरकासुरको जीतने लिए आपके जाने पर इस द्वारकापुरीको घेरने तथा यदुवंशियों की स्त्रीका अपहरण करनेके कारण अनेक बार आपका विरोध करनेसे यह कृत्रिम शत्रु सिद्ध होता है; इस कारण अपकार करनेसे उसके साथ सन्धि नहीं करनी चाहिए ॥ ४१ ॥

अत्राप्युपेक्षायां दोषमाह—

विधाय वैरं सामर्षे नरोऽरौ य उदासते ।
प्रक्षिप्योदर्चिषं कक्षे शेरते तेऽभिमारुतम् ॥ ४२ ॥

विधायेति । ये नरः पुमांसः । 'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः पूरुषा नरः' इत्यमरः । सामर्षे प्रागेव सरोषेऽरौ वैरं विधाय । स्वयं चापकृत्येत्यर्थः । उदासते उपेक्षन्ते ते नरः कक्षे गुल्मे । 'कक्षस्तु गुल्मे दोर्मूले पापे जीर्णवने तृणे' इति वैजयन्ती । उदर्चिषमधिकज्वालमग्निं प्रक्षिप्य अभिमारुतम् । आभिमुख्येऽव्ययीभावः । शेरते स्वपन्ति । तद्वन्नाशहेतुरित्यर्थः । 'शीङो रुट्' (७।१।६) इति रुडागमः । अत्र ये उदासते ते शेरते इति विशिष्टौदासीन्यशयनयोर्वाक्यार्थयोर्निर्दिष्टैकत्वासम्भवात् सादृश्यलक्षणायामसम्भवद्वस्तुसम्बन्धोवाक्यार्थनिर्वृत्तिरिति निदर्शनाभेदः । न चायं दृष्टान्तः । वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकारणाक्षेपे तस्योत्थानात् । अत्र तु वाक्यार्थे वाक्यार्थसमारोपाद्वाक्यैकवाक्यतायां तदभाव इत्यलङ्कारसर्वस्वकारः ।

('उसकी उपेक्षा करनेसे हानि ही होगी' यह बात बलरामजी कह रहे हैं–) जो व्यक्ति क्रोधयुक्त शत्रुके साथ विरोधकर उसमें उदासीन हो जाता (उसकी अपेक्षा करता) है, वह घासकी ढेरमें जलती हुई आगको डालकर हवाके सामने सोता है अर्थात् घासकी ढेरमें जलती हुई आग डालकर हवाके रुखपर सोने वाले व्यक्तिके समान क्रुद्ध शत्रुके साथ विरोधकर उसकी उपेक्षा करनेवाला व्यक्ति मारा जाता है ॥ ४२ ॥

तथापि बान्धवत्वात् सोढव्य इत्याशङ्क्याह—

मनागनभ्यावृत्त्या वा कामं क्षाम्यतु यः क्षमी ।
क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं [1]क्षमेत कः ॥ ४३ ॥

---

१. 'सहेत' इति पा० ।

मनागिति ॥ यः क्षमी सहनः । 'शमित्यष्टाभ्यो घिनुण्' (३।२।१४१) इति घिनुण्प्रत्ययः । स सोढा मनागल्पम् । अभ्यावृत्तावपीति भावः । अनभ्यावृत्त्या सकृद्वा । अनल्पत्वेऽपीति भावः । विराध्यन्तमपकुर्वाणं कामं भृशं क्षाम्यतु क्षम्यताम् । सम्भावनायां लोट् । 'शमामष्टानां दीर्घः श्यनि' (७।३।७४) क्रियासमभिहारेण भृशम्, पौनःपुन्येन चेत्यर्थः । न च पुंवाक्येष्वनेकार्थत्वं दोषाय । विराध्यन्तं कः क्षमेत सहेत सोढुं शक्नुयात् । न कोऽपीत्यर्थः । शकि लिङ्–' (३।३।१७२) इति शक्यार्थे लिङ् । 'क्षमू प्रसहने' देवादिको भौवादिकश्च ।

(यद्यपि वह फूआका लड़का होनेसे बान्धव है, तथापि उसे क्षमा नहीं करना चाहिए, यह बलरामजी कहते हैं—) जो क्षमाशील है, वह थोड़ा या एक बार विरोध करनेवालेको भले ही क्षमा कर दे, किन्तु बार–बार विरोध करनेवालोंको कौन क्षमा करेगा ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ४३ ॥

ननु सर्वदा क्षमैव पुंसो भूषणम्, अतोऽपराधेऽपि क्षन्तव्यमत आह—

अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा[1] लज्जेव योषितः ।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव ॥ ४४ ॥

अन्यदेति ॥ अन्यदा सुरतव्यतिरिक्ते काले योषितो लज्जेव पुंसोऽन्यदा अपरिभवे क्षमा शमो भूषणम् । परिभवे तु योषितः सुरतेषु वैयात्यं धाष्ट्यंमिव । 'धृष्टे धृष्णुवियातश्च' इत्यमरः । पराक्रमः पौरुषं भूष्यतेऽनेनेति भूषणमाभरणम् । एवं चाक्रियावचनत्वान्नियतलिङ्गत्वाद्विरोध इति वल्लभोक्तं प्रत्युक्तम् ।

(वीर पुरुषके लिए सर्वदा क्षमा ही भूषण है, अतएव अपराधी शिशुपालको भी क्षमा कर देना चाहिए, इस बात का खण्डन करते हुए बलरामजी कहते हैं–) रतिभिन्नकालमें स्त्रियोंकी लज्जाके समान अपमान या पराभव न होनेपर पुरुषोंको क्षमा करना पुरुषोंका भूषण है तथा रतिकालमें स्त्रियोंकी धृष्टताके समान परिभव (तिरस्कार) होनेपर पराक्रम (बलप्रयोग) करना ही पुरुषोंका भूषण है ॥ ४४ ॥

अथ परिभवेऽप्यपराक्रमे त्रिभिर्निन्दामाह—

माजीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति ।
तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः ॥ ४५ ॥

माजीवन्निति ॥ यः परस्यापकर्तुरवज्ञया अवमानेन यद् दुःखं तेन दग्धस्ततोऽत एव माजीवन् गर्हितजीवी सन् । 'माङ्याक्रोशे–' (वा०) इति लटः शत्रादेशः । जीवति प्राणान्धारयति । जनन्याः क्लेशकारिणो गर्भधारणप्रसवादिवेदनाकारिणः । तद्व्यतिरिक्तार्थक्रियाहीनस्येत्यर्थः । तस्याजननमजननिरनुत्पत्तिरेवास्तु । जननीक्लेश-

---

१. 'शमो' इति पा० ।

निवृत्त्यर्थमिति भावः । 'आक्रोशे नञ्यनिः' (३।३।११२) इति नञ्पूर्वाज्जनिधातोरनिप्रत्ययः ।

(अब बलरामजी परिभव होनेपर भी क्षमा करनेकी तीन श्लोकों (२।४४–४७) से निन्दा करते हैं—) जो व्यक्ति शत्रुके अपमानजन्य दुःखसे सन्तप्त होकर भी निन्दित जीवन बिताते हुए जीता है, (गर्भमें दश मास रहनेसे) माताको क्लेश देनेवाला उसका जन्म ही न हो । (अथवा—……जो व्यक्ति जीता है, वह न जीये अर्थात् मर जाय, और (गर्भमें दश मास रहनेसे माताको……) ॥ ४५ ॥

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति ।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ॥ ४६ ॥

पादेति ॥ यद्रजो धूलिः पादेनाहतं यदुत्थायोड्डीय मूर्धानमाहन्तुरेव शिरोऽधिरोहत्याक्रमति तद्रजः । अचेतनमपीति भावः । अवमाने सत्यपि स्वस्थात् सन्तुष्टात् देहिनश्चेतनाद्वरं श्रेष्ठम् । व्यतिरेकालङ्कारः ।

जो धूलि पैरसे आहत होनेपर (आहतकर्ता) के शिरपर चढ़ जाती है, अपमान होने पर भी शान्त रहनेवाले उस प्राणीसे वह धूलि भली है ॥ ४६ ॥

असम्पादयतः कञ्चिदर्थं जातिक्रियागुणैः ।
यदृच्छाशब्दवत्पुंसः संज्ञायै जन्म केवलम् ॥ ४७ ॥

असम्पादयत इति ॥ किञ्च जातिः ब्राह्मणत्वादिः, क्रिया इज्याध्ययनादिः गुणः शौर्यादिः, तैः साधनैः । करणे तृतीया । कञ्चिदर्थं सुकृतकीर्त्यादिपौरुषार्थम्, अन्यत्र गोत्वपाचकत्वाशौक्ल्यादिभिः स्वाभिधेयभूतैः करणैः कञ्चिदर्थं व्यवहाररूपं प्रयोजनमसम्पादयतः । उभयत्र तादृग्जात्याद्यसम्भवादिति भावः । पुंसो जन्म सत्तालाभः यदृच्छाशब्दवत् इच्छाप्रकल्पितस्य जात्यादिप्रवृत्तिनिमित्तशून्यस्य डित्थादिशब्दस्येव । 'तत्र तस्येव' (५।१।११६) इति वतिप्रत्ययः । 'स्वेच्छा यदृच्छा स्वच्छन्दः स्वैरता चेति ते समाः' इति केशवः । संज्ञायै केवलं संज्ञार्थमेव । एकत्र पारिभाषिकं किञ्चिन्नाममात्रमनुभवितुम्, अन्यत्र तादृक्तामनुभवितुमित्यर्थः ।

जाति (गोत्व आदि), क्रिया (पाचकत्व आदि) और गुण (शुक्लत्व आदि) के द्वारा किसी अर्थ–विशेषको सम्पादन नहीं करते हुए (डित्थ डवित्थ आदि) यदृच्छा शब्दके समान जाति (ब्राह्मणत्व आदि), क्रिया (अध्ययन आदि) तथा गुण (शौर्य आदि) के द्वारा किसी (पुण्य, कीर्ति, पुरुषार्थ आदि) प्रयोजनकी सिद्धिको नहीं करते हुए पुरुषका जन्म केवल (देवदत्त, यज्ञदत्त आदि) नामके लिए है ।

विमर्श—जिस प्रकार जात्यादि प्रवृत्तिशून्य स्वेच्छाकल्पित डित्थादि पारिभाषिक शब्द किसी नाममात्रका अनुभव (ज्ञान–संकेत) करानेके लिए हैं, (उनसे प्रवृत्ति–निमित्त अन्य कोई अवयवार्थ नहीं निकलता) उसी प्रकार ब्राह्मणत्वादि जात्यादि प्रवृत्तिशून्य किसी

अर्थसिद्धिको नहीं करनेवाले पुरुषका जन्म भी देवदत्त, यज्ञदत्त आदि नामके लिए है। (उस पुरुषसे कोई कार्य-विशेष सिद्ध नहीं हो सकता, अतएव उनका जन्म लेना व्यर्थ है) ॥ ४७ ॥

एवमपौरुषं दूषयित्वा पौरुषं भूषयति—

तुङ्गत्वमितरा नाद्रौ नेदं सिन्धावगाधता।
अलङ्घनीयताहेतुरुभयं तन्मनस्विनि ॥ ४८ ॥

तुङ्गत्वमिति ॥ अद्रौ पर्वते तुङ्गत्वमौन्नत्यम्। अस्तीति शेषः, अस्तिर्भवन्तीपरोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीत्यादिभाष्यात्। भवन्तीति पूर्वाचार्याणां लटः संज्ञा। इतराऽगाधता नास्ति। सिन्धौ समुद्रेऽगाधता गम्भीरतास्ति। इदं तुङ्गत्वं नास्ति। मनस्विनि वीरे त्वलङ्घनीयताहेतुरलङ्घ्यत्वकारणं तदुभयं तुङ्गत्वमगाधता च। तस्मादद्रिसिन्धुभ्यामधिको मनस्वीति व्यतिरेकालङ्कारः।

(उक्त श्लोकसे पुरुषार्थशून्य होनेकी निन्दा कर अब आगे पुरुषार्थी होनेकी प्रशंसा करते हैं—) पर्वतमें ऊँचाई है, किन्तु अगाधता (गाम्भीर्य) नहीं है, तथा समुद्रमें अगाधता (गाम्भीर्य) है, किन्तु ऊँचाई नहीं है, परन्तु मनस्वी पुरुषमें अलङ्घनीय होनेके ये दोनों कारण) ऊँचाई तथा गाम्भीर्य) वर्तमान हैं।

विमर्श—मनस्वी पुरुषमें उच्चता (महानता) तथा गम्भीरता दोनों विद्यमान हैं, अतः उसका कोई लंघन करे—उसे अपमानित करे और वह चुपचाप बैठा रहे, यह सर्वथा अनुचित है। इसलिए शिशुपालसे अपमानित होकर हमलोगोंको चुपचाप नहीं बैठना चाहिए ॥ ४८ ॥

सम्प्रति शत्रौ मार्दवमनर्थयित्याह—

तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण यत्।
हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रदिम्नः स्फुटं फलम् ॥ ४९ ॥

तुल्य इति ॥ स्वर्भानू राहुरपराधे तुल्येऽपि भानुमन्तं सूर्यं चिरेण ग्रसते, हिमांशुं चन्द्रमाशु शीघ्रं ग्रसते गिलतीति यद्। 'ग्रसिते गिलिते गीर्णम्' इत्यभिधानात्। तद् म्रदिम्नो मार्दवस्य फलं स्फुटम्। 'पृथ्वादिभ्य इमनिच्' (५।१।१२२) इतीमनिच्प्रत्ययः। तस्माद्विपक्षे तीव्रेण भवितव्यम्। अन्यथा मृदुः सर्वत्र बाध्यत इति भावः। एतच्च प्रस्तुतमप्रस्तुतार्केन्दुकथनेन सारूप्यात्प्रतीयते इत्यप्रस्तुतप्रशंसा भेदोऽयम्। 'अप्रस्तुतस्य कथनात्प्रस्तुतं यत्र गम्यते। अप्रस्तुतप्रशंसेयं सारूप्याद्विनियन्त्रिता ॥' इति लक्षणाद्।

(पुनः तेजस्वी होनेके गुणको कहते हैं—) समान अपराध होनेपर भी राहु सूर्यको विलम्बसे तथा चन्द्रमाको शीघ्र ग्रसता है, यह कोमल (शान्त) होनेका स्पष्ट फल है ॥ ४९ ॥

एतदेव भङ्ग्यन्तरेणाह—

स्वयं प्रणमतेऽल्पेऽपि परवायावुपेयुषि।
निदर्शनमसाराणां लघुर्बहुतृणं नरः ॥ ५० ॥

स्वयमिति ॥ असाराणां दुर्बलानां निदर्शनं दृष्टान्तः । अत एव ईषदसमाप्तं तृणं बहुतृणम् । तृणकल्पमित्यर्थः । 'विभाषा सुपो बहुच्पुरस्तात्' (५।३।६८) इति बहुच्प्रत्ययः प्रकृतेः पूर्वं च भवति । 'स्यादीषदसमाप्तौ तु बहुच्प्रकृतिलिङ्गके' इति वचनात् प्रकृतिलिङ्गता । लघुर्निष्पौरुषो नरोऽल्पेऽपि परो वायुरिवेत्युपमितसमासः । बहुतृणमिति । स्पष्टोपमासाहचर्यात्कल्पब्देश्यदेशीयदेश्यादीति दण्डिना कल्पबादीनामौपम्यवाचकेष्वभिधानात् । तस्मिन्नुपेयुषि प्राप्ते सति स्वयं प्रणमते स्वयमेव प्रह्वीभवति । 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' (३।१।८७) इति कर्मवद्भावात् 'भावकर्मणोः' (१।३।१३) इत्यात्मनेपदम् । 'न दुहस्नुनमां यक्चिणौ' (३।१।८९) इति यक्प्रतिषेधः । वायुना तृणमिवाल्पीयसापि रिपुणा लघुरक्लेशेन परिभूयत इत्यर्थः । उपमालङ्कारः ।

निस्सार वस्तुओंका उदाहरण तृणतुल्य मनुष्य थोड़े (छोटे) भी शत्रुरूपी हवाके आने पर स्वयं प्रणाम करता (झुक जाता है ।

विमर्श—जब मन्द हवा चलती है, तब भी निःसार तृण स्वयं झुक जाते हैं । उसी प्रकार जो मनुष्य छोटे शत्रुके उपस्थित होनेपर भी स्वयं नम्र हो जाते हैं, वे तृणके समान निःसार पदार्थोंके उदाहरण हैं ॥ ५० ॥

पुनः पौरुषे गुणमाह—

तेजस्विमध्य तेजस्वी दवीयानपि गण्यते ।
पञ्चमः पञ्चतपसस्तपनो जातवेदसाम् ॥ ५१ ॥

तेजस्वीति ॥ दवीयानपि दूरस्थोऽपि । 'स्थूलदूर—' (६।४।१५६) इत्यादिना पूर्वगुणयणादिपरलोपौ । तेजस्वी तेजस्विनां मध्ये गण्यते संख्यायते । तथाहि—पञ्चाग्निसाध्य तपो यस्य स यथा तस्य पञ्चतपसः पञ्चाग्निमध्ये तपस्यतः तपनोऽर्को जातवेदसामग्नीनां पञ्चमः पञ्चानां पूरणः । पञ्चमो जातवेदा भवतीत्यर्थः । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।

अत्यन्त दूर रहनेवाला भी तेजस्वी पुरुष तेजस्वियोंमें उस प्रकार गिना जाता है, जिस प्रकार पञ्चतपवाले तपस्वियोंकी पञ्चाग्निमें (अतिशय दूरस्थ होनेपर भी) सूर्य पाँचवीं अग्नि होता है ॥ ५१ ॥

गुणान्तरं च व्यतिरेकेणाह—

अकृत्वा हेलया पादमुच्चैर्मूर्धसु विद्विषाम् ।
कथङ्कारमनालम्बा कीर्तिर्द्यामधिरोहति ॥ ५२ ॥

अकृत्वेति ॥ उच्चैरुन्नतेषु विद्विषां मूर्धसु हेलया पादमकृत्वा अनिधाय । अनञ्पूर्वः' इति निषेधात्समासेऽपि न ल्यबादेशः । कीर्तिः कथङ्कारम् । कथमित्यर्थः । 'अन्यथैवङ्कथमित्थंसु सिद्धाप्रयोगश्चेत्' (३।४।२७) इत्यनर्थकादेव करोतेः कथम्पूर्वाण्णमुल् । अनालम्बा निराधारा कीर्तिर्द्यां दिवमधिरोहति । च कथञ्चिदित्यर्थः । किञ्चिन्निःश्रे-

ण्यादिकमनाक्रम्य उच्चसौधस्य दुरारोहत्वादिति भावः। तस्मात्कीर्तिमिच्छतः पौरुषमेवाश्रयणीयमिति श्लोकतात्पर्यम्। कीर्तितद्वतोरभेदोपचारात् समानकर्तृतानिर्वाहः। अत्र प्रस्तुतायाः कीर्तेर्विषयमहिम्ना अप्रस्तुतप्रसादारोहणस्त्रीव्यवहारप्रतीतेः समासोक्तिः।

शत्रुओंके उन्नत मस्तकपर बिना पैरको रखे आलम्बनरहित कीर्ति किस प्रकार स्वर्गको जायेगी ?।

विमर्श—जिस प्रकार ऊपर चढ़नेके लिए ऊँची सीढ़ियोंकी आवश्यकता होती है, उसी प्रकार कीर्तिको स्वर्गतक पहुँचानेके लिए शत्रुओंका वध करना आवश्यक है, जिससे उनके ऊँचे मस्तक रूपी सीढ़ियों पर पैर रखकर कीर्ति स्वगतक पहुँच जाय॥ ५२॥

पौरुषमेवाश्रयणीयमित्यत्रान्वयव्यतिरेकदृष्टान्तावाचष्टे—

अङ्काधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलाञ्छनः।
केसरी निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथो[1] मृगाधिपः॥ ५३॥

अङ्केति॥ अङ्कमुत्सङ्गमधिरोपितो मृगो येन स चन्द्रमा मृगलाञ्छनो मृगाङ्कः। तथा निष्ठुरे यथा तथा क्षिप्तो हतो मृगयूथो मृगसमूहो येन स केसरी सिंहो मृगाधिपः। उभयत्रापि ख्यात इति शेषः। तस्माच्छत्रौ मार्दवं दुष्कीर्तये, पौरुषं तु कीर्तये इति भावः। अत्राप्रस्तुतकथनात् प्रस्तुतार्थप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा।

लोग (दयासे) अङ्कमें मृगको रखनेवाले चन्द्रमाको 'मृगलाञ्छन' (मृगके कलङ्कवाला) कहते हैं तथा निर्दयतापूर्वक मृग–समूह को मारने वाले सिंहको 'मृगाधिप' (मृगोंका स्वामी) कहते हैं॥ ५३॥

ननु सामादि सुकरोपायमुपेक्ष्य किं पाक्षिकसिद्धिना दण्डेन। यत्राह मनुः— 'साम्ना भेदेन दानेन समस्तैरुत वा पृथक्। विजेतुं प्रयतेतारीन्न युद्धेन कदाचन॥' (७।१९८) इति तस्मात्सान्त्वमेव युक्तमित्याशङ्क्य द्वाभ्यां निराचष्टे—

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ[2] सान्त्वमपक्रिया।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति॥ ५४॥

चतुर्थोपायेति॥ चतुर्थोपायसाध्ये दण्डसाध्ये रिपौ सान्त्वं साम। 'साम सान्त्वमुभे समे' इत्यमरः। अपक्रियाऽपकारः। तथा हि—स्वेद्यं स्वेदार्हम्। स्वेदनकार्यमित्यर्थः। 'स्वेदस्तु स्वेदने धर्मे' इति विश्वः। आमज्वरमपक्वज्वरं प्राप्य। 'आमो रोगे रोगभेदे आमोऽपक्वे तु वाच्यवत्' इति विश्वः। कः प्राज्ञः पण्डितोऽम्भसा जलेन परिषिञ्चति। न कोपीत्यर्थः। ज्वरितस्याम्भस्सेकवत् क्रुद्धस्य सान्त्वमुद्दीपनकरं स्यात्। अतो दण्डय एवेति भावः। वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकरणापेक्षो दृष्टान्तालङ्कारः।

दण्डके द्वारा वशमें करने योग्य शत्रुके साथ साम (शान्ति) का व्यवहार हानिकारक

१. '—पूगो' इति पा०। २. 'शत्रौ' इति पा०।

होता है, क्योंकि पसीना लाने योग्य ज्वरको कौन विद्वान् (चतुर चिकित्सक आदि) पानीसे सींचता (पानी छिड़ककर शान्त करता) है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ५४ ॥

सामवादाः सकोपस्य तस्य प्रत्युत दीपकाः ।
प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयविन्दवः ॥ ५५ ॥

सामेति ॥ सकोपस्य रूढवैरस्य तस्य चैद्यस्य सामवादाः प्रियोक्तयः सहसा प्रतप्तस्य क्वथितस्य सर्पिषो घृतस्य तोयबिन्दव इव प्रत्युत वैपरीत्येन दीपकाः प्रज्ज्वलनकारिणः । न तु शान्तिकरा इत्यर्थः । तस्माद् दण्ड्य एव सः । मनुवचनं त्वप्ररूढवैरविषयमिति भावः ।

क्रोधयुक्त उस शिशुपालके प्रति साम (शान्तिपूर्ण) वचन कहना उलटे उस प्रकार उसके क्रोधको बढ़ानेवाले हो जायँगे, जिस प्रकार तपे हुए घीमें छोड़ी गयी जलकी बूँदें घीको उद्दीप्त करनेवाली होती है ॥ ५५ ॥

एवं स्थिते केचिदुद्धवादयः प्रत्याचक्षीरंस्तान्प्रत्याह—

गुणानामायथातथ्यादर्थं विप्लावयन्ति ये ।
अमात्यव्यञ्जना राज्ञां दूष्यास्ते शत्रुसंज्ञिताः ॥ ५६ ॥

गुणानामिति ॥ सन्ध्यादीनां गुणानाम् । आयथातथ्यात् तथात्वमनतिक्रम्य यथातथम् । यथायोग्यमिति यावत् । 'यथार्थे तु यथातथम्' इत्यमरः । यथार्थेऽव्ययीभावः । 'स नपुंसकम्' (२।४।१७) इति नपुंसकत्वम् । 'ह्रस्वो नपुंसके—' (१।२।४७) इति ह्रस्वत्वम् । ततो नञ्समासे अयथातथं, तस्य भाव आयथातथ्यम् । ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ् प्रत्ययः । 'यथातथयथापुरयोः पर्यायेण' (७।३।३१) इति विकल्पान्न पूर्वपदवृद्धिः । तस्मादायथातथ्यादयथायोग्यत्वात् । ,अन्यकालेऽन्यप्रयोगादित्यर्थः । अर्थं प्रयोजनं मे विप्लावयन्ति निघ्नन्ति । कार्यहानिं कुर्वन्तीत्यर्थः । अमात्यानां व्यञ्जनं चिह्नं येषां ते तथोक्ताः । तद्वेषधारिण इत्यर्थः । 'अवर्ज्यो बहुव्रीहिर्व्यधिकरणो जन्माद्युत्तरपदः' इति वामनः । वस्तुतस्तु शत्रुरिति संज्ञा एषां सञ्जाताः शत्रुसंज्ञिताः शत्रव एव ते कूटमन्त्रिणो राज्ञां दूषयितुमर्हाः दूष्या गर्ह्याः । त्याज्या इति यावत् । 'कृत्यानां कर्तरि वा' (२।३।७१) इति कर्तरि षष्ठी । अतः स्वोक्तं न प्रतिरोद्धव्यमिति भावः ।

(ऐसा मेरे कहनेका भी कदाचित् उद्धव खण्डन करें, इस आशयसे उनकी ओर लक्ष्य करते हुए बलरामजी कहते हैं—) गुणों (सन्धि-विग्रहादि कार्यों) के यथायोग्य न करनेसे जो लोग राजकार्यको बिगाड़ते हैं, कपट मन्त्रीवेश धारण किये हुए परन्तु वास्तव में शत्रुतुल्य उनका त्याग कर देना चाहिए । (अथवा—······बिगाड़ते हैं, कपटसे मन्त्री बनकर दोनों पक्षसे वेतन लेते हैं, अतएव शत्रुतुल्य होनेसे वे दूषित करने योग्य हैं) ॥ ५६ ॥

ननु यातव्योऽपि काले यातव्य इत्याशङ्क्यायमेव काल इत्याह—

स्वशक्त्युपचये केचित्परस्य व्यसनेऽपरे।
यानमाहुस्तदासीनं त्वामुत्थापयति द्वयम्॥ ५७॥

स्वेति॥ केचिद् वृद्धाः स्वस्य शक्त्युपचये सामर्थ्यातिरेके यानं यात्रामाहुः। यथाह कामन्दकः—'प्रायेण सन्तो व्यसने रिपूणां यातव्यमित्येव समादिशन्ति। तथा विपक्षे व्यसनानपेक्षी क्षमो द्विषन्तं मुदितः प्रतीयात्॥' इति। अपरे वृद्धाः परस्य शत्रोर्व्यसने विपदि। 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' इत्यमरः। यानमाहुः। अत्र मनुः—'तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः' (७।१८३) इति। तद्द्वयमुक्तपक्षद्वयं कर्तृ आसीनमनुद्युञ्जानम्। 'ईदासः' (७।२।८३) इति शानजाकारस्येकारादेशः। त्वामुत्थापयति प्रेरयति। तदुभयलाभादीदृक्कालो न कदापि लक्ष्यत इत्यर्थः।

कोई राजनीतिज्ञ अपने प्रभुदण्डलक्षण शक्तिके बढ़े रहने पर शत्रुपर चढ़ाई करना उचित कहते हैं, तथा कोई राजनीतिज्ञ शत्रुको विपत्तिमें पड़नेपर उसपर चढ़ाई करना उचित कहते हैं; ये दोनों ही (अपनी शक्तिकी वृद्धि तथा शत्रुकी विपत्ति) आलससे बैठे हुए आपको उठा (युद्ध के लिए उत्साहित कर) रहे हैं। (इस कारण शिशुपालपर चढ़ाई करनेका यही उपयुक्त अवसर है)॥ ५७॥

तत्र स्वशक्त्युपचयं तावल्लक्षयति—

लिलङ्घयिषतो लोकानलङ्घ्यानलघीयसः।
यादवाम्भोनिधीन् रुन्धे वेलेव भवतः क्षमा॥ ५८॥

लिलङ्घयिषत इति॥ लोकांल्लङ्घयितुमिच्छतो लिलङ्घयिषतः। लङ्घयतेः सन्नन्ताल्लटः शतरि शस्। अलङ्घ्यान् स्वयं दुर्लङ्घ्यान्। कुतः। अलघीयसोऽतिगुरून्। अत एव यादवा अम्भोनिधय इवेत्युपमितसमासः। वेलेवेति लिङ्गात्। तान् यादवाम्भोनिधीन् भवतः क्षमा तितिक्षा वेलेव कूलमिव। 'वेला कूलेऽपि वारिधेः' इति विश्वः। रुन्धे प्रतिबध्नाति। अन्यथा प्रागेव सर्वं संहरेयुरिति भावः।

(अब बलरामजी अपनी शक्तिकी वृद्धिको बतला रहे हैं—) संसारको लांघनेके इच्छुक तथा (स्वयं किसीसे) अलंघनीय और बहुत बड़े यादवरूपी समुद्रोंको केवल आपकी क्षमा तटके समान रोक रही है। (अथवा—अलंघनीय (दूसरे किसीसे अजेय) संसारको लांघनेके इच्छुक……)॥ ५८॥

अभ्युच्चयश्चायमपरो यदक्लेशेनैव ते विजयलाभ इत्याह—

विजयस्त्वयि सेनायाः साक्षिमात्रेऽपदिश्यताम्।
फलभाजि समीक्ष्योक्ते बुद्धेर्भोग इवात्मनि॥ ५९॥

विजय इति ।। सेनायाः कर्त्र्या विजयः साक्षिमात्रे उदासीने एव फलभाजि त्वयि समीक्ष्योक्ते । सांख्योक्ते । 'सांख्यं समीक्ष्यम्' इति त्रिकाण्डः । आत्मनि बुद्धेर्महत्तत्त्वस्य मूलप्रकृतेः प्रथमाविकारस्य कर्त्र्याः भोगः सुखदुःखानुभव इवापदिश्यतां व्यवह्रियताम् । भृत्यजयपराजययोः स्वामिगम्यत्वादिति भावः । सांख्या अप्याहुः—'कर्तेव भवत्युदासीनः' इति, 'सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः' इति च ।

फलभोक्ता (विजयका लाभ पानेवाले) साक्षिमात्र आपमें सेनाको विजय उस प्रकार प्रयुक्त हो, जिस प्रकार साङ्ख्योक्त फलभोक्ता साक्षिमात्र आत्मामें बुद्धिका भोग प्रयुक्त होता है ।

विमर्श—जिस प्रकार साङ्ख्यके मतमें संसार-मुक्तिरूप बुद्धिसम्बन्धी भोग फलभोक्ता उदासीन आत्माका कहा जाता है अर्थात् यद्यपि बुद्धि ही बद्ध होती है, मुक्त होती है, सब कुछ अनुभव करता है, तथापि पुरुष बद्ध हुआ, मुक्त हुआ—आत्माको सुख हो रहा है, आत्माको दुःख हो रहा है—इस प्रकार बुद्धिका भोग दृष्टमात्र आत्माका कहा जाता है । उसी प्रकार आप केवल युद्धमें उपस्थित होकर केवल देखते रहें, सेना ही शत्रुओंको मारेगी, विजय करेगी और स्वामी होनेके कारण आपको उसका फल प्राप्त होगा—'श्रीकृष्ण भगवान्ने शत्रुओंको मारा । 'उनपर विजय प्राप्त की' ऐसा कहा जायगा । आपको केवल वहाँ उपस्थित रहनेकी आवश्यकता है, कार्य तो सब सेना ही करेगी ।। ५९ ।।

अथ परस्य व्यसनमाह—

हते हिडिम्बरिपुणा राज्ञि द्वैमातुरे युधि ।
चिरस्य मित्रव्यसनी सुदमो दमघोषजः ।। ६० ।।

हत इति ।। हिडिम्बरिपुणा भीमेन द्वयोर्मात्रोरपत्यं पुमान् द्वैमातुरः । 'मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः (४।१।११५) इत्यण्प्रत्ययः उकारश्चान्तादेशो रेफपरः । तस्मिन् राज्ञि जरासन्धे । सहिताभ्यां पत्नीभ्यामर्धशः प्रसूतो जरया नाम पिशाच्या सन्धितश्चेति कथयन्ति । युधि हते सति चिरस्य चिरकालेन । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यमरः । मित्रव्यसनी मित्रव्यसनवान् । मित्रभ्रंशवानिति यावत् । 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' इत्यमरः ।' दमघोषाज्जातो दमघोषजश्चैद्यः सुखेन दम्यत इति सुदमः । एकाकित्वात् सुसाध्य इत्यर्थः ।

(अब चढ़ाईके योग्य शिशुपालका व्यसन कहते हैं—) भीमके द्वारा युद्धमें जरासन्ध के मारे जानेपर सदा मित्रकी मृत्युसे दुःखी शिशुपालको सुखपूर्वक जीता जा सकता है ।। ६० ।।

कष्टश्चायं पक्षोऽभ्युपेत्यवादेनोक्तेः, वस्तुतस्तु शूराणामग्रिमपक्ष एवेष्टः शास्त्रसंवादी । यथाह कामन्दकः—'यदा समस्तं प्रसभं निहन्तुं पराक्रमादूर्जितमप्यमि-

त्रम् । तदाभियायादहितानि कुर्वन्नुपान्ततः कर्षणपीडनानि ॥' इतीत्यभिप्रेत्याह—

नीतिरापदि यद्गम्यः परस्तन्मानिनो ह्रियै ।
विधुर्विधुन्तुदस्येव पूर्णस्तस्योत्सवाय सः ॥ ६१ ॥

नीतिरिति । परः शत्रुरापदि गम्यो गमनार्हः नीतिरिति यत्तदापदि गमनं मानिनः शौर्याभिमानिनो ह्रियै । लज्जाकरमित्यर्थः । किन्तु पूर्ण उपचितगात्रः स शत्रुस्तस्य मानिनः । विधुश्चन्द्रः विधुं तुदति हिनस्तीति विधुन्तुदो राहुः । 'विध्वरुषोस्तुदः' (३।२।३५) इति खश्प्रत्यये मुमागमः । तस्यैवोत्सवाय । अत एव बलिना बलवानेव यातव्यः, बलिनश्च वर्यमिति भावः ।

आपत्तिमें फँसे हुए शत्रुपर चढ़ाई करनी चाहिए, यह जो नीति है, वह मानों पुरुषके लिए लज्जाजनक है, पूर्ण चन्द्रमापर जिस प्रकार राहु आक्रमण करता है, उसी प्रकार समृद्धिसे पूर्ण शत्रुपर आक्रमण करना मानी पुरुषके हर्षके लिए होता है ॥ ६१ ॥

तर्हि पूर्वोदाहृतमन्वादिशास्त्रविरोधः स्यादित्याशङ्क्याह—

अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम् ।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः ॥ ६२ ॥

अन्यदिति ॥ अन्यदुच्छृङ्खलमनर्गलम् । प्रसह्य पीडनक्षममिति भावः । सत्त्वं बलमन्यत् । शास्त्रेण मन्वादिशास्त्रेण नियन्त्रितमुदाहृतं परव्यसनकाले निर्मितं सत्त्वमन्यत् । उत्कटानुत्कटलक्षणवैलक्षण्यमन्तशब्दार्थः । तयोः सापेक्षत्वनिरपेक्षत्वाभ्यां मिथो विरोधान्नैकशास्त्रत्वं सम्भवतीत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह—तेजस्तिमिरयोः समानमधिकरणं ययोस्तयोर्भावः सामानाधिकरण्यमेकाश्रयत्वं कुतः । न कुतश्चित्, तयोः सहावस्थानविरोधादिति भावः । तस्मादुभयोरुदितानुदितहोमवद्भिन्नविषयत्वादितरेतरशास्त्रविरोधो न बाधक इति भावः ।

उच्छृङ्खल (नियन्त्रण रहित—स्वतन्त्र) बल दूसरा है, तथा शास्त्रसे नियन्त्रित बल दूसरा है (दोनों में समानता नहीं लायी जा सकती; क्योंकि) प्रकाश तथा अन्धकारका सामानाधिकरण्य (एक साथ स्थिति) कहाँसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥ ६२ ॥

तर्हि नः किमिदानीं कार्यमत आह—

इन्द्रप्रस्थगमस्तावत् कारि मा सन्तु चेदयः ।
आस्माकदन्तिसांनिध्याद्वामनीभूतभूरुहः ॥ ६३ ॥

इन्द्रप्रस्थेति ॥ इन्द्रप्रस्थस्य पार्थनगरस्य गमो गमनम् । 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' (३।३।५८) इत्यप्प्रत्ययः । तावदिदानीं मा कारि तावत् । न क्रियतामेवेत्यर्थः । 'यावत्तावत्परिच्छेदे कात्स्न्र्ये मानावधारणे' इति विश्वः । कृञः कर्मणि लुङ् । 'माङि लुङ्' (३।३।१७५) इत्याशीरर्थे । 'न माङ्योगे' (६।४।७४) इत्यट्प्रतिषेधः । किन्तु चेदयश्चेदिदेशाः । अस्माकमिमे आस्माकाः, 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च' (४।३।१)

इति विकल्पादणप्रत्ययः । 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ' (४।३।२) इत्यस्माकादेशः । सन्निधिरेव सान्निध्यम् । स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः । आस्माकानां दन्तिनां सान्निध्याद् वामनीभूताः शाखाभङ्गाद् खर्वीभूता भूरुहो वृक्षा येषां ते तथोक्ताः सन्तु । चेदियात्रैव क्रियतामित्यर्थः । सा च प्रस्तुता प्रस्तुतेनैव स्वकार्येण गम्यत इति पर्यायोक्तालङ्कारः । 'कारणं गम्यते यत्र प्रस्तुतात् कार्यवर्णनात् । प्रस्तुतत्वेन सम्बन्धात् पर्यायोक्तः स उच्यते ॥' इति लक्षणात् ।

(अन्तमें अपना कर्तव्य-निर्देश करते हैं—) इसलिए आप हस्तिनापुरको मत जाइये, किन्तु चेदिदेश हमलोगोंके हाथियोंके सान्निध्यसे छोटे पेड़ोंवाले हो जायँ ।

विमर्श—आप युधिष्ठिरके यहाँ जानेका विचार छोड़कर शिशुपालपर आक्रमण करने चेदि देशको चलिये, जिससे हमलोगोंकी सेनाके अनेक हाथियोंके लिए वहां के पेड़ोंकी डालियोंको काटने एवं हाथियोंके द्वारा तोड़े जानेसे चेदि देशके पेड़ वामन—छोटे-छोटे (ठूंठ) हो जायँ ॥ ६३ ॥

निरुद्धवीवधासारप्रसारा गा इव व्रजम् ।
उपरुन्धन्तु दाशार्हाः पुरीं माहिष्मतीं द्विषः ॥ ६४ ॥

निरुद्धेति ॥ किञ्च दाशार्हा यादवाः वीवधो धान्यादिप्राप्तिः, आसारः सुहृद्बलम्, प्रसारस्तृणकाष्ठादेः प्रवेशः । 'धान्यादेर्वीवधः प्राप्तिरासारस्तु सुहृद्बलम् । प्रसारः स्तृणकाष्ठादेः प्रवेशः—' इति वैजयन्ती । ते निरुद्धा येस्ते तथोक्ताः, अन्यत्र निरुद्धौ वीवधानां पर्याहारापरनाम्नो स्कन्धवाह्यक्षीराद्याहरणसाधनभारविशेषाणामासारप्रसारौ प्रवेशनिर्गमौ येस्ते तथोक्ताः । 'विवधो वीवधो भारे पर्याहाराध्वनोरपि' इति हेमचन्द्रः । व्रजं गोष्ठम् । 'व्रजः स्याद्गोकुलं गोष्ठम्' इति वैजयन्ती । गा इव माहिष्मतीं पुरीं द्विषोऽरीनुपरुन्धन्तु । व्रजे गा इव माहिष्मत्यामरीन् आवृण्वन्तु इत्यर्थः । 'दुह्याचिरुधि—' इति द्विकर्मकत्वम् । तत्र पुरींव्रजाकथितं कर्म, अन्यदीप्सितं कर्म ।

भोज्य पदार्थ अन्नादि, मित्रोंकी सहायता सेना तथा घास–भूसा और ईन्धन आदिको रोकनेवाले यादव 'माहिष्मती' नामकी शत्रुकी नगरीमें शत्रुओंको उस प्रकार घेर लें; जिस प्रकार बहँगियोंसे दूध आदि ढोनेवालोंके आने–जानेको रोकनेवाले (गोपाल) व्रज (गोशाला) में गौओंको घेरते हैं ।

विमर्श—इस प्रकार शत्रुओंको घेरने तथा शिशुपालकी माहिष्मती पुरीमें खाद्यसामग्री, सहायता करनेवाली शत्रुओंकी सेना और पशुओंके लिए घास एवं भोजनादि पकानेके लिए ईन्धनका बाहरसे आनेको रोक देनेसे हम शीघ्र ही उसे जीत लेंगे ॥ ६४ ॥

तर्हि पार्थप्रार्थनायाः का गतिरित्याशङ्क्य, उपेक्षैव गतिरित्याह—

यजतां पाण्डवः स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपत्विनः ।
वयं हनाम द्विषतः सर्वः स्वार्थं समीहते ॥ ६५ ॥

यजतामिति ॥ पाण्डवो युधिष्ठिरो यजतां यागं करोतु । इन्द्रः स्वर्गमवतु रक्षतु । इनोऽर्कः । 'इनः पत्यौ नृपार्कयोः' इति मेदिनी । तपतु प्रकाशताम् । वयं द्विषोऽरीन् हनाम मारयाम । 'आडुत्तमस्य पिच्च' (३।४।९२) इत्याडागमः । सर्वत्र प्राप्तकाले लोट् । तथा हि—सर्वो जनः स्वार्थं स्वप्रयोजनं समीहतेऽनुसंधत्ते । इन्द्रादिसमानयोगक्षेमो नः पार्थ इत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः ।

पाण्डव (युधिष्ठिर) यज्ञ करें, इन्द्र स्वर्गकी रक्षा करें, सूर्य प्रकाशित होवें तथा शत्रुओंका वध करें; क्योंकि सभी स्वार्थसाधना चाहते हैं (या—स्वार्थ–साधन करते हैं) ।

विमर्श—जिस प्रकार युधिष्ठिर, इन्द्र तथा सूर्य दूसरेके कार्य–साधनकी अपेक्षा न करके अपने–अपने यज्ञादिकार्यमें संलग्न हैं; वैसे हमलोग भी शत्रुवधरूपी अपने कार्यमें संलग्न होवें और दूसरे (पाण्डव) के यज्ञरूप कार्य–साधनकी अपेक्षा न करें । अथवा—जिस प्रकार इन्द्र तथा सूर्य पाण्डवके यज्ञकी अपेक्षा न करके स्वर्गपालनादि अपने–अपने कार्य–साधनमें संलग्न हैं, वैसे हम लोग भी पाण्डवके यज्ञकी अपेक्षा न करके शत्रुवधरूप कार्यमें संलग्न हो जाँय ॥ ६५ ॥

प्राप्यतां विद्युतां संपत्संपर्कादर्करोचिषाम् ।
शस्त्रैर्द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितोक्षितैः ॥ ६६ ॥

प्राप्यतामिति ॥ किंच द्विषतां शिरश्छेदेन प्रोच्छलतोद्गच्छता शोणितेनोक्षितैःसिक्तैः शस्त्रैरर्करोचिषां संपर्कात्संबन्धाद्विद्युतां संपल्लक्ष्मीः प्राप्यतामिति । निदर्शनालंकारः ।

शत्रुओंके शिर काटनेसे (धारासे) निकलते हुए रक्तसे भींगे हुए हमलोगोंके हथियार सूर्य–किरणोंके संसर्गसे विजलीके समान शोभित होवें ॥ ६६ ॥

इति संरम्भिणो वाणीर्बलस्यालेख्यदेवताः ।
सभाभित्तिप्रतिध्वानैर्भयादन्ववदन्निव ॥ ६७ ॥

इतीति ॥ इतीत्थं संरम्भिणः क्षुभितस्य बलभद्रस्य वाणीरालेख्यदेवताश्चित्रलिखितदेवताः सभायाः सदोगृहस्य भित्तीनां प्रतिध्वानः । प्रतिध्वनिव्याजेनेत्यर्थः । भयादन्ववदन्नन्वमोदयन्निवेत्युत्प्रेक्षा ।

(दीवालों में) चित्रित देवोंने भयसे इस प्रकार (२।२२–६६) क्षुभित बलरामजीके वचनोंका मानो सभाकी दीवालोंकी प्रतिध्वनिसे अनुमोदन–सा किया ॥ ६७ ॥

निशम्य ताः शेषगवीरभिधातुमधोक्षजः ।
शिष्याय बृहतां पत्युः प्रस्तावमदिशद् दृशा ॥ ६८ ॥

निशम्येति ॥ अधः कृतमक्षजमिन्द्रियजं ज्ञानं येन सोऽधोक्षजो हरिः ताः शेषस्य शेषावतारस्य बलभद्रस्य गाः वाचः शेषगवीः । 'गोरतद्धितलुकि' (५।४।९२) इति टच् । टित्त्वान्ङीप् । निशम्य श्रुत्वा । 'निशाम्यतीति श्रवणे तथा निशमयत्यपि' इति भट्टमल्लः । तत्र शाम्यतेरिदं रूपम् । अन्यथा निशमय्येति स्यात् । अत एव वामनः

'निशम्यनिशमय्यशब्दौ प्रकृतिभेदात्' इति । बृहतां वाचां पत्युर्बृहस्पतेस्तस्य शिष्यायोद्धवायाभिधातुं वक्तुं दृशा दृक्संज्ञया प्रस्तावमवसरमदिशदतिसृष्टवान् । 'प्रस्तावः स्यादवसरः' इत्यमरः ।

शेष (नागके अवतार बलरामजी) के उन (२।२२—६६) वचनोंको सुनकर श्रीकृष्णजीने बृहस्पतिके शिष्य (उद्धवजी) से नेत्रके संकेतके द्वारा प्रस्ताव रखा अर्थात् संकेत कर कहनेके लिए प्रेरित किया ॥ ६८ ॥

भारतीमाहितभरामथानुद्धतमुद्धवः ।
तथ्यामुतथ्यानुजवज्जगादाग्रे गदाग्रजम् ॥ ६९ ॥

भारतीमिति ॥ अथ कृष्णानुज्ञानन्तरमुद्धवः आहितो भरोऽर्थगौरवं यस्यां सा तां तथ्यां यथार्थां भारतीं वाचम् । अनुद्धतमगर्वितं यथा तथा गदस्याग्रजं कृष्णम् । अग्रे पुरत इति प्रागल्भ्योक्तिः । उतथ्यस्य महर्षेरनुजो बृहस्पतिः । 'उतथ्यावरजो जीवः' इति विश्वः । तद्वत् तेन तुल्य जगाद । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः'(५।११।११५) इति वतिः । तद्धितगेयमुपमा ।

इस (भ्रूक्षेपद्वारा श्रीकृष्ण भगवान्के बोलनेका संकेत करने) के बाद श्रीकृष्ण भगवान्के आगे बृहस्पतिके समान अर्थगौरव (या—वचनगौरव) से परिपूर्ण तथा सत्य अर्थात् नीतिशास्त्रके अनुकूल वचन शान्तिके साथ (अभिमान रहित) उद्धवजी बोले ॥ ६९ ॥

किं जगादेत्याह—

सम्प्रत्यसाम्प्रतं वक्तुमुक्ते मुसलपाणिना ।
निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम् ॥ ७० ॥

संप्रतीति ॥ संप्रति मुसलपाणिना बलभद्रेण । केवलं शूरेणेति ध्वनिः । उक्ते सति वक्तुमसांप्रतमयुक्तम् । साधूक्तत्वादभ्याससमानयोगक्षेमप्रसङ्गादिति ध्वनिः । सांप्रतशब्दस्यार्हार्थत्वात्तद्योगे 'शकधृष—' (३।४।६५) इत्यादिना तुमुन् । तथा हि लेख्येन पत्रेणार्थे वाच्ये निर्धारिते निर्णीते सति वाचिकं व्याहृतार्थां वाचम् । संदेशवचनमित्यर्थः । 'संदेशवाग्वाचिकं स्यात्' इत्यमरः । 'वाचो व्याहृतार्थायाम्' (५।४।३५) इति ठक् । उक्त्वा खलु । न वाच्यं खल्वित्यर्थः । खलुराद्यः प्रतिषेधे, अन्यो वाक्यालंकारे, 'निषेधवाक्यालंकारजिज्ञासानुनये खलु' इत्युभयत्राप्यमरः । 'अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा' (३।४।१८) इति क्त्वाप्रत्ययः । इह 'न पादादौ खल्वादयः' इति निषेधस्योद्वेजकाभिप्रायत्वात्, नञर्थखलुशब्दस्यानुद्वेजकत्वात् नन्वदेव पादादौ प्रयोगे न दुष्यतीत्यनुसन्धेयम् । लिखितार्थे वाचिकमिव बलोक्ते मदुक्तिरनवकाशेति वाक्यार्थप्रतिबिम्बकरणात् । स्पष्टस्तावद् दृष्टान्तः । स्तुतिव्याजेन निन्दावगमाद्व्याजस्तुतिश्च । लक्षणं चाग्रे वक्ष्यते ।

बलरामजीके बोलनेपर इस समय बोलना अनुचित है, क्योंकि विषयके लेखद्वारा निर्णीत होनेपर मौखिक वचन (सन्देश) कहना व्यर्थ है ।

विमर्श—बलरामजीका नामान्तर नहीं कहकर 'मुसलपाणि' कहनेसे उद्धवजीने यह सूचित किया है कि ये केवल वीर हैं, मन्त्रके योग्य राजनीतिज्ञ विद्वान् नहीं हैं ॥ ७० ॥

तर्हि किं तूष्णीम्भूतेन भाव्यं, नेत्याह—

तथापि यन्मय्यपि ते गुरुरित्यस्ति[1] गौरवम् ।
तत्प्रयोजककर्तृत्वमुपैति मम जल्पतः ॥ ७१ ॥

तथापीति ॥ तथापि बलेन निर्णीतेऽपि । ते तव मय्यपि । बलभद्र इवेत्यपि-शब्दार्थः । गुरुरित्येव यद्गौरवमादरः तद्गौरवं जल्पतः जल्पने प्रयोज्यकर्मणो मे प्रयोजककर्तृत्वं प्रेरकत्वमुपैति । अतो वक्ष्यामीत्यर्थः । न हि पण्डितैः सादरं पृष्टस्य विशेषज्ञस्याज्ञवत्तूष्णीम्भावो युक्त इति भावः ।

तथापि (बलरामजीके कहनेके बाद कुछ कहना व्यर्थ होने पर भी) मेरे विषयमें भी ये मेरे गुरु (जन—'चाचा') हैं, यह जो गौरव है, वह बोलते हुए मुझको प्रेरित कर रहा है ॥ ७१ ॥

ननु रामेणैव सर्वं प्रपञ्चेनोक्तम्, सम्प्रति किं ते वाच्यमस्तीत्याशङ्क्य वृथा प्रपञ्चोऽयमिति हृदि निधाय स्तुवन्नाह—

वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव ।
अनन्ता वाङ्मयस्याहो गेयस्येव विचित्रता ॥ ७२ ॥

वर्णैरित्यादित्रयेण ॥ कतिपयैः परिमितैर्वर्णैः पञ्चाशतैव मातृकाक्षरैः, कतिपयैः सप्तभिरेव स्वरैर्निषादादिभिर्ग्रथितस्य गुम्फितस्य वाङ्मयस्य शब्दजालस्य । 'एकाचोऽपि नित्यं मयटमिच्छन्ति' इति स्वार्थे मयट् । गीयत इति गेयं तस्य गानस्येव विचित्रता रचनाभेदादनन्ता । अपरिमिता भवतीत्यर्थः । अहो अतस्तेन साधूक्तेऽपि विशेषानन्त्यान्ममापि वक्तव्यमस्तीत्येको भावः । तस्य दुरुक्तत्वान्ममैवास्तीत्यन्वयः । प्रत्यवयवमिवोपादानादनेकेवेयमुपमा ।

कतिपय अर्थात् परिमित (सात) स्वरों (निषाद ऋषभ आदि) से गुम्फित गानेके समान परिमित (बावन, या—पचास) अक्षरोंसे गुम्फित वचनकी अनन्त विचित्रता होती है, अहो, आश्चर्य है ॥ ७२ ॥

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते ।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ॥ ७३ ॥

बह्वपीति ॥ स्वेच्छया स्वप्रतिभानुसारेण प्रकीर्णमसङ्गतं बह्वपि कामं यथेष्टमभिधीयते । किन्तु, अनुज्झितोऽर्थसम्बन्धः पदार्थसङ्गतिर्यस्मिन् स प्रबन्धः सन्दर्भः

---

[1] '—रित्येष' इति ।

दुरुदाहरो दुर्वचः। हरतेः खल्प्रत्ययः। रामेण तु सङ्गतमेवोक्तमिति स्तुतिः, असङ्गतमेवोक्तमिति निन्दा च गम्यते।

अपनी इच्छाके अनुसार असङ्गत (नीतिशास्त्रविरुद्ध) वचन बहुत कहा जा सकता है, किन्तु कार्यसङ्गतिको नहीं छोड़नेवाला सन्दर्भ (वचन) दुःखसे कहा जा सकता है ॥ ७३ ॥

म्रदीयसीमपि घनामनल्पगुणकल्पिताम्।
प्रसारयन्ति कुशलाश्चित्रां वाचं पटीमिव ॥ ७४ ॥

म्रदीयसीमिति ॥ कुशला वक्तारो म्रदीयसीमतिसुकुमाराक्षरां, श्लक्ष्णतरां च तथापि घनामर्थगुर्वीम्, अन्यत्र सान्द्राम्। कदलीदलकल्पामित्यर्थः। अनल्पैर्बहुभिर्गुणैः श्लेषादिभिः, तन्तुभिश्च कल्पितां रचितां, निर्मितां च चित्रां शब्दादिविचित्रां, विचित्ररूपां च वाचं पटीं शाटीमिव प्रसारयन्ति। रामवागप्येवंविधेति स्तुतिः, रामवाक् तु नैवंविधेति निन्दा च गम्यते। अत्र श्लेषस्य शुद्ध विषयासम्भवेन सर्वालङ्कारबाधकत्वादुपमाप्रतिभोत्थापितः प्रकृताप्रकृतश्लेषोऽयमित्यलङ्कारसर्वस्वकारः। एवं च पूर्णोपमाया निर्विषयत्वप्रसङ्गात् श्लेषप्रतिभोत्थापितेयमुपमैवेत्यन्ये।

कुशल (वक्ता, पक्षा०—कपड़ा बुननेवाला बुनकर) अत्यन्त मृदु (सुननेमें मधुर, पक्षा०—स्पर्श करनेमें चिकनी तथा कोमल) होनेपर भी सघन (अर्थगौरवसे युक्त, पक्षा०—वजनदार, गाढ़ा) तथा बहुतसे गुणों (ओज-प्रसाद-माधुर्य, या श्लेषादि, पक्षा०—सूतों) से बनायी गयी चित्र (रंग-बिरंगी-विविध प्रकारकी) साड़ीके समान चित्र (गोमूत्रिका-मुरज-कमलादि बन्धोंसे अनेक प्रकारके शब्द वैचित्र्यसे युक्त) वचनको फैलाते (कहते) हैं ॥ ७४ ॥

अथोद्धवः स्वसिद्धान्तं वर्णयिष्यन् स्तुत्या गर्वं परिहरन् हरिमभिमुखीकरोति—

विशेषविदुषः शास्त्रं यत्तवोद्ग्राह्यते पुरः।
हेतुः परिचयस्थैर्ये वक्तुर्गुणनिकैव सा ॥ ७५ ॥

विशेषेति ॥ विशेषानवान्तरभेदान् वेत्तीति विशेषविद्वान् तस्य विशेषविदुषो विशेषज्ञस्य। गतिगम्यादिपाठाद् द्वितीयासमासः। तव पुरोऽग्रे शास्त्रं नीतिशास्त्रमुद्ग्राह्यते उपन्यस्यत इति यत्। 'उद्ग्राहितमुपन्यस्तम्' इति वैजयन्ती। सा तदुद्ग्रहणमित्यर्थः। विधेयप्राधान्याद् स्त्रीलिङ्गत्वम्। वक्तुरुद्ग्राहयितुः परिचयस्थैर्येऽभ्यासदार्ढ्ये हेतुर्गुणनिका। आम्रेडितमेवेति यावत्। न तु वैदुष्यप्रकटनमिति भावः। 'गुण आम्रेडने' चौरादिकात् 'ण्यासश्रन्थो युच्' (३।३।१०७) इति युच्। ततः संज्ञायां कन्। कात्पूर्वस्येकारः।

(अब उद्धवजी अपनी लघुता प्रकट करते हुए श्रीकृष्ण भगवान्‌की स्तुतिकर उन्हें अपने अनुकूल करते हैं) विशेषज्ञ (या विशिष्ट विद्वान्) आपके आगे, जो शास्त्र उपस्थित

किया जाता है अर्थात् अपने वचनको शास्त्रका आधार बतलाकर शास्त्रज्ञता सूचित किया जाता है, वह वक्ता अर्थात् मेरी गुणनिका (पठितचर अर्थात् पूर्वपठित शास्त्रकी उद्धरणी करना—पहले पढ़े हुए शास्त्रको पुनः कहना) अभ्यासकी दृढ़तामें कारण है अर्थात् शास्त्रविस्मरण न हो जाय इसके लिए है ॥ ७५ ॥

सम्प्रति स्वमतमुपन्यस्यति—

प्रज्ञोत्साहावतः स्वामी यतेताधातुमात्मनि ।
तौ हि मूलमुदेष्यन्त्या जिगीषोरात्मसम्पदः ॥ ७६ ॥

प्रज्ञेति ॥ अतोऽस्मात्कारणात् स्वमस्यास्तीति स्वामी प्रभुः । 'स्वामिन्नैश्वर्ये' (५।२।१२६) इति निपातः । प्रज्ञोत्साहौ मन्त्रोत्साहशक्ती आत्मनि स्वस्मिन्नाधातुं सम्पादयितुं यतेत । स्वयमुभयशक्तिमान्भवेदित्यर्थः । कुतः । हि यस्मात्तौ प्रज्ञोत्साहौ उदेष्यन्त्या वत्स्र्यन्त्याः जिगीषोरात्मनः सम्पदः प्रभुशक्तेर्मूलं निदानम् । अत्रोत्साहग्रहणं दृष्टान्तार्थम् । यथोत्साहस्तथा मन्त्रोऽपि ग्राह्यो, न तु केवलोत्साह इति बलभद्रापवादः ।

(अब उद्धवजी अपने सिद्धान्तको धीरे-धीरे कहना आरम्भ करते हैं) इस कारण (विजयाभिलाषी) राजा को अपनेमें बुद्धि तथा उत्साह दोनोंको रखनेका प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि वे दोनों (बुद्धि तथा उत्साह) विजयाभिलाषी राजाके भविष्यमें आनेवाली आत्मसम्पत्ति (प्रभुशक्ति) की जड़ (प्रधान कारण) हैं ॥ ७६ ॥

उत्साहवत्प्रज्ञापि ग्राह्येत्युक्तं तस्याः प्रयोजनमाह—

सोपधानां धियं धीराः स्थेयसीं खट्वयन्ति ये ।
तत्रानिशं निषण्णास्ते जानते जातु न श्रमम् ॥ ७७ ॥

सोपधानामिति ॥ ये धीरा धीमन्तः सोपधानां सविशेषाम् । युक्तियुक्तामित्यर्थः । अन्यत्र सगेन्दुकाम् । सोपबर्हामित्यर्थः । 'उपधानं विशेषे स्याद्गेन्दुके प्रणयेऽपि च' इति विश्वः । स्थेयसीं स्थिरतरामचपलां, द्रढीयसीं च । स्थिरशब्दादीयसुनि 'प्रियस्थिर—' (६।४।१५७) इत्यादिना स्थादेशः । धियं खट्वयन्ति खट्वां पर्यङ्कं कुर्वन्ति । आश्रयन्तीत्यर्थः । 'शयनं मञ्चपर्यङ्कपल्यङ्काः खट्वया समाः' इत्यमरः । 'तत्करोति तदाचष्टे' (ग०) इति णिच् । ते धीरास्तत्र धीखट्वायामनिशमश्रान्तं निषण्णा विश्रान्ताः सन्तो जातु कदाचिदपि श्रमं खेदं न जानते न विदन्ति । 'श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः' इति लक्षणम् । धीपूर्वक एवोत्साहः सेव्यो न केवल इति सर्वथा धीराश्रयणीयेत्यर्थः । अत्र धिय आरोप्यमाणायाः प्रकृतश्रमापनोदरूपोपकारपर्यन्ततया परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिमाणः' इति लक्षणात् ।

जो (बुद्धिमान्) लोग युक्तिसे युक्त (पक्षा०—तकियेसे युक्त), अत्यन्त स्थिर नहीं (पक्षा०—मजबूत) बुद्धिको चारपाई (खाट-पलंग) के समान बनाते हैं, उसपर सर्वदा

बैठे हुए (उस बुद्धिपर सर्वदा निर्भर रहते हुये, पक्षा०—चारपाई पर सर्वदा बैठे हुए) वे लोग कभी भी परिश्रमको नहीं पाते अर्थात् कभी भी नहीं थकते ॥ ७७ ॥

अथ प्रज्ञाप्रज्ञयोर्द्वाभ्यां वैषम्यमाह—

स्पृशन्ति शरवत्तीक्ष्णाः स्तोकमन्तर्विशन्ति च ।
बहुस्पृशापि स्थूलेन स्थीयते बहिरश्मवत् ॥ ७८ ॥

स्पृशन्तीति ॥ तीक्ष्णा निशितप्रज्ञाः शरवच्छरेण तुल्यं स्तोकमल्पमेव स्पृशन्ति । अन्तः कार्यस्य चान्तरं विशन्ति । अल्पायासेन बहु कार्यं साधयन्तीत्यर्थः । बहुस्पृशा व्यापिना स्थूलेन मन्देन, बृहता चाश्मनोपलेन तुल्यमश्मवत् । तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५।१।११५) । बहिरेव । कार्यस्याकार्यस्य चेति भावः । स्थीयते स्थितिः क्रियते । मूढो हि अल्पस्य हेतोर्बहु प्रयासं करोति । मूषकग्रहणाय शिखरिखननं परिहासास्पदं भवतीति भावः । तद्धितगतेयमुपमा ।

(अब उद्धवजी तीक्ष्णबुद्धि तथा मन्दबुद्धि पुरुषोंका भेद दो श्लोकों (२।७८–७९) से बतलाते हैं) तीक्ष्ण (तीव्र बुद्धिवाले) लोग बाणोंके समान बाहरमें थोड़ा स्पर्श करते हैं और (बहुत दूरतक) भीतर घुस जाते हैं तथा बहुत (लम्बे–चौड़े स्थानको) स्पर्श करनेवाले बड़े पत्थरके समान बाहरमें अधिक स्पर्श करनेवाला स्थूलबुद्धि व्यक्ति बाहर ही रह जाता है (थोड़ा भी भीतर प्रवेश नहीं करता, अतः विजयार्थीको तीक्ष्णबुद्धि होना अत्यावश्यक है ॥७८॥

आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च ।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः ॥ ७९ ॥

आरभन्त इति ॥ किञ्चाज्ञा अल्पं तुच्छमेवारभन्ते प्रक्रमन्ते । काममत्यन्तं व्यग्राः, त्वरिताश्च भवन्ति । न च पारं गच्छन्तीति भावः । कृतधियः शिक्षितबुद्धयस्तु महारम्भा महोद्योगा भवन्ति । निराकुला अव्यग्राश्च तिष्ठन्ति । पारं गच्छन्तीति भावः ।

मूर्ख व्यक्ति छोटा–सा कार्य आरम्भ करते हैं तथा अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं और (इसके विपरीत) कुशल (निपुण) बुद्धिवाले बड़े–बड़े कार्य आरम्भ करते हैं तथा निराकुल रहते हैं (अतएव पुरुषको बुद्धिमान् होना परमावश्यक है) ॥ ७९ ॥

अथ प्रज्ञावानपि प्रमाद्येदित्याह—

उपायमास्थितस्यापि नश्यन्त्यर्थाः प्रमाद्यतः ।
हन्ति नोपशयस्थोऽपि शयालुर्मृगयुर्मृगान् ॥ ८० ॥

उपायमिति ॥ उपायमास्थितस्य प्राप्तस्यापि । उपायेनैव कार्यं साधयतोऽपीत्यर्थः । किमुत व्यग्रतयेति भावः । प्रमाद्यतोऽनवधानस्य । 'प्रमादोऽनवधानता' इत्यमरः । अर्थाः प्रयोजनानि नश्यन्ति । तथाहि—शयालुर्निद्रालुः । आलुचि शीङो वक्तव्यत्वादालुच् । मृगान् यातीति मृगयुर्व्याधः । 'मृगय्वादयश्च' (उ० ३७)

इत्यौणादिकः कुप्रत्ययान्तो निपातः । 'व्याधो मृगवधाजीवो मृगयुर्लुब्धकश्च सः' इत्यमरः । उपशेरतेऽस्मिन्नित्युपशयो मृगमार्गस्थायिनो व्याधस्यात्मगुप्तिस्थानं गर्तविशेषः । 'एरच्' (३।३।५६) इत्यच्प्रत्ययः । तत्र तिष्ठतीत्युपशयस्थोऽपि मृगान्न हन्ति । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।

उपायसे ही कार्य करते हुए भी प्रमादी पुरुषके कार्य नष्ट हो जाते (बिगड़ जाते । हैं, क्योंकि सोनेवाला शिकारी उपशय (मृगोंके मार्गमें स्थित व्याधोंके छिपकर रहनेका गड्ढा) में रहता हुआ भी मृगोंको नहीं मारता है ।

विमर्श—अतएव विजयार्थीको प्रमाद कदापि नहीं करना चाहिये—सदा जागरूक रहना चाहिये, अन्यथा वह समीपस्थ एवं आपद्ग्रस्त शत्रुको भी नहीं जीत सकता ॥ ८० ॥

एवं प्रज्ञाया आवश्यकत्वमुक्तम्, तथोत्साहस्याप्याह—

उदेतुमत्यजन्नीहां राजसु द्वादशस्वपि ।
जिगीषुरेको दिनकृदादित्येष्विव कल्पते ॥ ८१ ॥

उदेतुमिति । जेतुमिच्छुर्जिगीषुरेक एव द्वादशस्वपि राजसु मध्ये द्वादशस्वादित्येषु दिनकृद्यो दिनकरणे व्याप्रियमाण आदित्यः स इव, ईहामुत्साहमत्यजन् प्रयुञ्जान एव । न तु निरुद्योग इति भावः । उदेतुं कल्पते उदयाय प्रभवति । उत्साहशक्तिरेव प्रभुशक्तेरपि मूलमित्यर्थः । 'नानालिङ्गत्वाद्धेतूनां नानासूर्यत्वम्' इति श्रुतेः । प्रतिमासमादित्यभेदाद् द्वादशत्वं तच्चैकस्यैव द्वादशात्मकत्वम्, 'द्वादशात्मा दिवाकरः' इत्यभिधानात् । ते चार्यमादयः पुराणोक्ता द्रष्टव्याः । राजानस्तु 'अरिमित्रमरेर्मित्रं मित्रमित्रमतः परम् । तथारिमित्रमित्रं च विजिगीषोः पुरस्सराः ॥' पञ्चेति शेषः । 'पार्ष्णिग्राहास्ततः पश्चादाक्रन्दस्तदनन्तरम् । आसारावनयोश्चैव विजिगीषोस्तु पृष्ठतः ॥' पार्ष्णिग्राहासारः आक्रन्दासारश्चेत्यर्थः । अत्र चत्वार इति शेषः । एवं नव भवन्ति । विजिगीषुर्दशमः । 'अरेश्च विजिगीषोश्च मध्यमो भूम्यनन्तरः । अनुग्रहे संहतयोः समर्थो व्यस्तयोर्वधे । मण्डलाद्बहिरेतेषामुदासीनो बलाधिकः ॥' इति मध्यमोदासीनाभ्यां सह द्वादश वेदितव्याः । पूर्णोपमा ।

बारह राजाओंके मध्यमें उत्साहको नहीं छोड़ता हुआ विजयार्थी अकेला भी राजा, बारह सूर्योंके मध्यमें उत्साहको नहीं छोड़ते हुए दिनकृत् (सूर्य) के समान उदय लेनेके लिए समर्थ होता है । (अथवा—""मध्यमें उदयके लिए उत्साहको नहीं छोड़ता हुआ""के समान समर्थ होता है) ।

विमर्श—जिस प्रकार बारह आदित्योंके मध्यमें उत्साह (शक्ति) से सम्पन्न दिनकृत् ही उदय होनेके लिए समर्थ होता है, क्योंकि वह दिनको करनेवाला होनेसे 'दिनकृत्' कहलाता है, अन्य ग्यारह सूर्य केवल संख्याके लिए हैं; उसी प्रकार बारह प्रकारके राजाओं के मध्यमें उत्साह (प्रभुशक्ति) सम्पन्न तथा विजयार्थी एक भी राजा उन्नति करनेके लिए समर्थ होता है, अन्य ग्यारह राजा नहीं । अतएव उत्साह अथात् प्रभुशक्तिको भी ग्रहण

करना आवश्यक है। पहले उद्धवजीने मन्त्रशक्ति (बुद्धिवल) की मुख्यता कहकर इस श्लोकमें उत्साह शक्तिको रखना भी आवश्यक बतलाया है। १ इन्द्र, २ धाता, ३ भग, ४ पूषा, ५ मित्र, ६ वरुण, ७ अर्यमा, ८ अर्चिः, ९ विवस्वान्, १० त्वष्टा, ११ सविता और १२ विष्णु ये १२ आदित्य हैं। १ शत्रु, २ मित्र, ३ शत्रुका मित्र, ४ मित्रका मित्र, ५ शत्रुके मित्रका मित्र, ६ पार्ष्णिग्राह (अपने पीछे सहायता करनेके लिए आनेवाला), ७ आक्रन्द (शत्रुके पीछे सहायताके लिए आनेवाला), ८ पार्ष्णिग्राहासार (सहायता करनेके लिए अपने पक्षमें बुलाया हुआ), ९ आक्रन्दासार (सहायता करनेके लिए शत्रुके पक्षमें बुलाया हुआ), १० विजिगीषु (स्वयं जीतनेकी इच्छा करनेवाला), ११ मध्यम और १२ उदासीन—ये १२ राजा हैं। इनमें प्रथम पांच आगे चलनेवाले या सामने रहनेवाले होते हैं, पार्ष्णिग्राह आदि चार विजिगीषुके पीछे रहनेवाले होते हैं, मध्यम सम्मिलित हुए दोनों पक्षोंका वध करनेमें समर्थ अतएव स्वतन्त्र होता है और उदासीन उनके मण्डलसे बाहर रहता है, यह भी स्वतन्त्र तथा सबसे बली होता है ॥ ८१ ॥

'उपायमास्थितस्य' (२।८०) इत्यत्र राजा न प्रमाद्येदित्युक्तम्, अप्रमादप्रकारमाह—

बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गो घनसंवृतिकञ्चुकः।
चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः॥ ८२॥

बुद्धिशस्त्र इति। बुद्धिरेव शस्त्रं यस्य स बुद्धिशस्त्रः। अमोघपातित्वात्तस्या इति भावः। प्रकृतयः स्वाम्यादिराज्याङ्गानि। 'राज्याङ्गानि प्रकृतयः' इत्यमरः। ता एवाङ्गानि यस्य सः। तद्वैकल्ये राज्ञो वैकल्यं स्यादिति भावः। घना दुर्भेदा संवृतिर्मन्त्रगुप्तिरेव कञ्चुकः कवचो यस्य स तथोक्तः। मन्त्रभेदे राज्यभेदादिति भावः। चरतीति चरः। पचाद्यच्। स एव चारो गूढपुरुषः। प्रज्ञादित्वात्स्वार्थिकोऽण्प्रत्ययः। 'चारश्च गूढपुरुषः' इत्यमरः। स एवेक्षणं चक्षुर्यस्य स चारेक्षणः। अन्यथा स्वपरमण्डलवृत्तान्तादर्शनात्। 'अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे' इति भावः। दूतः सन्देशहरः। 'स्यात्संदेशहरो दूतः' इत्यमरः। स एव मुखं वाग्यस्यासौ दूतमुखः। अन्यथा मूलस्येव वाग्व्यवहारासिद्धौ तत्साध्यासाध्यकार्यप्रतिबन्धः स्यादिति भावः। एवम्भूतः पार्थिवः कोऽपि पुरुषोऽन्य एवायम्। लोकविलक्षणः पुमानित्यर्थः। अतो राज्ञा बुद्ध्यादिसम्पन्नेन भवितव्यम्। एतदेवाप्रमत्तत्वम्। अन्यथा स्वरूपहानिः स्यादिति भावः। अत्र कोऽपीति राज्ञो लोकसम्बन्धेऽपि तदसम्बन्धोक्त्या तद्रूपातिशयोक्तिः। सा च बुद्धिशस्त्र इत्यादिरूपकनिर्व्यूढेति तेन सहाङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

बुद्धिरूपी शस्त्रवाला, प्रकृति (स्वामी, मन्त्री आदि सात) रूपी अङ्गोंवाला, मन्त्र अत्यन्त गोपन रूप कवचवाला, गुप्तचररूप नेत्रोंवाला और दूतरूपी मुखवाला कोई भी पुरुष राजा होता है (या—कोई राजा भी पुरुष होता है)।

विमर्श—जिसकी बुद्धि ही शस्त्र है, वह अर्थात् कोई राजा शस्त्र-प्रयोगसे शत्रुवध करता है, पर वह बुद्धिसे ही शत्रुवधरूप कार्यको पूरा कर लेता है, क्योंकि शस्त्र-प्रयोगसे

सिद्धिमें सन्देह रहता है पर बुद्धि-प्रयोगसे नहीं। प्रकृति (स्वामी, मन्त्री, मित्र, कोष, राष्ट्र, किला तथा सेना—ये सात अथवा—नागरिक-समूह) ही जिसके अङ्ग हैं वह अर्थात् कोई राजा अपने हाथ-पैर आदि अङ्गोंसे कार्य करता हैं, पर यह इन प्रकृतियोंसे कार्यको पूरा कर लेता हैं, क्योंकि इनके अभावमें राज-सत्ताका ही अभाव हो जाता है। किये गये अत्यन्त गुप्त मंत्र ही जिसके कवच हैं, वह अर्थात् कोई राजा दृढ़ कवच पहन कर आत्मरक्षा करता है, परन्तु यह अपने मंत्र को अत्यंत गुप्त रखकर ही उसीके द्वारा आत्मरक्षा करता हैं, अन्यथा मंत्रके भेद होनेसे राज्यभेद हो सकता है। गुप्तचर ही जिसके नेत्र हैं वह अर्थात् कोई राजा अपने मुखमें स्थित नेत्रोंसे जहांतक वे नेत्र जाते हैं वहांतक देखता है, परन्तु यह अपने गुप्तचरोंको अपने तथा शत्रुके राष्ट्रोंमें भेजकर उनके द्वारा सर्वत्रके वृत्तान्त को देखता (मालूम करता) हैं, अन्यथा अपने तथा शत्रुके राज्यके वृत्तान्त बहुत कम ज्ञात हो सकेंगे। दूत ही हैं मुख जिसके वह अर्थात् कोई अपने मुखसे कहकर कोई आदेश आदि देता है, पर यह दूतोंके द्वारा अपना सन्देश पहुँचाता है अन्यथा मूक (गूँगे) के समान किसी वाग्व्यवहार को हो नहीं कर सकता। ऐसा (इन लक्षणोंसे युक्त) पुरुष ही राजा (वास्तविक कुशल शासक एवं सर्वप्रिय राजा) होता हैं। अथवा—जो ऐसा (इन लक्षणोंसे युक्त) राजा है वही (विलक्षण गुणसम्पन्न विरले व्यक्तियोंमें गणनीय) होता है। अतएव शस्त्रादि प्रयोगकी अपेक्षा बुद्धि आदिसे काम लेना ही प्रशस्त मार्ग हैं॥ ८२॥

'चतुर्थोपायसाध्ये' (२।५४) इत्यादिना यत्क्षात्रमेव कर्तव्यमुक्तं तत्रोत्तरमाह—

तेजः क्षमा वा नैकान्तं[1] कालज्ञस्य महीपतेः।
नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः॥ ८३॥

तेज इति॥ कालं जानातीति कालज्ञस्तस्य। अयं काल इति विदुष इत्यर्थः। 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) न तु 'इगुपध—' (३।१।१३५) इत्यादिना कविधिः। समासे कर्मोपपदस्यैव बलवत्त्वभाषणात्। तस्य महीपतेस्तेजः क्षात्रमेवेति वा क्षमैव वा एकान्तं नियमो नास्ति, किन्तु यथाकालमुभयमप्याश्रयणीयमित्यर्थः। तथा हि—रसान् शृङ्गारादीन्, भावान् निर्वेदादींश्च वेत्ति यस्तस्य रसभावविदः। भावग्रहणं सम्पातायातम्। कवेः कवितुरेकं केवलमोजः प्रौढप्रबन्धत्वं वा एकः प्रसादः, सुकुमारप्रबन्धत्वं वा न। किन्तु तत्र हि रसानुगुण्येन यथायोग्यमुभयमप्युपादेयम्। दृष्टान्तालङ्कारः।

समयज्ञ राजाको केवल तेज (बल-दण्डप्रयोग) या क्षमा (मृदुता) धारण करनेका नियम नहीं है, क्योंकि रसभावके ज्ञाता (शृङ्गारादि रसके विषयको जाननेवाले) कविके लिए ओजगुणयुक्त या प्रसाद गुणयुक्त ही प्रबन्धकी रचना करनेका नियम नहीं हैं।

विमर्श—जैसे शृङ्गारादि रसोंके विषयको जाननेवाला कवि तदनुसार ओज गुणसे

---

१. 'नैकान्तात्' इति पा०।

युक्त प्रौढ़ प्रबन्धरचना या प्रसाद गुणयुक्त सुकुमार प्रबन्ध-रचना करता है, सर्वत्र किसी एक गुण (प्रौढ़ या प्रसाद) का ही आश्रय नहीं करता, उसी प्रकार किस समयमें कैसा कार्य करना चाहिये इसको जाननेवाले राजाको भी कार्यानुसार तेज (दण्ड—मूल) का या-क्षमा (मृदुता) का प्रयोग करना चाहिये, सर्वत्र केवल तेज या क्षमा को ही नहीं ग्रहण करना चाहिये। ऐसा कहकर उद्धवजीने बलरामजीके 'दण्ड—साध्य रिपुमें सान्त्वप्रयोग करना उसके क्रोधको बढ़ानेवाला होगा' इस वचनका उत्तर दिया है ॥ ८३ ॥

यदुक्तं 'क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः' (२।४३) इति तत्रोत्तरमाह—

[1]कृतापचारोऽपि　　परैरनाविष्कृतविक्रियः।
असाध्यः कुरुते कोपं प्राप्ते काले गदो यथा ॥ ८४ ॥

कृतापचार इति। परैः शत्रुभिः कृतः अपचारोऽपकारः, अपथ्यं च यस्य सः, तथाप्यनाविष्कृतविक्रियोऽन्तर्गूढविकारः। अत एवासाध्योऽप्रतिसमाधेयः सन् गदो यथा रोग इव। 'इववद्वा यथाशब्दः' इति दण्डी। काले बलक्षयावसरे प्राप्ते सति कोपं कुरुते। प्रकुप्यतीत्यर्थः। तदुक्तम्—'वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालविपर्ययः। तमेव चागते काले भिन्द्याद्घटमिवाश्मना ॥ इति।

शत्रुओंके द्वारा बुराई—किया गया भी अपने मनोविकारको नहीं प्रकट करनेवाला असाध्य (अगम्य, बुद्धिमान् पुरुष) समय आनेपर अर्थात् शत्रुके आपद्ग्रस्त होनेपर उस प्रकार क्रोध करता है, जिस प्रकार रोगीके अपथ्य-सेवन करनेपर भी विकारको नहीं प्रकट करनेवाला असाध्य रोग समय आनेपर (रोगीकी शक्ति क्षीण होनेपर) कोप करता (रोगीको मार डालता है।)

विमर्श—पहले शत्रुके बुराई करनेपर भी अपने हार्दिक विरोधोंको दबाकर रखनेवाला अतएव असाध्य (पराजित नहीं हो सकनेवाला, बुद्धिमान् पुरुष) शत्रुको आपत्तिमें पड़ा हुआ देखकर एकाएक आक्रमण करके शत्रुको उस प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार रोगी को अपथ्य-सेवन करनेपर भी विकार नहीं करनेवाला असाध्य बना हुआ रोग रोगीकी शक्ति क्षीण होनेपर कुपित हो उसे (रोगीको) मार डालता है। ऐसा कहकर उद्धवजीने बलरामजीके 'थोड़ा सा एकबार अपराध करनेवाले शत्रुको भले कोई क्षमाशील क्षमा कर दे, बार—बार अपराध करनेवाले शत्रुको कौन क्षमा करेगा? (२।४३)' इस कथन का खण्डन किया है ॥८४॥

इतश्च क्षन्तव्यमिदानीमित्याह—

मृदुव्यवहितं तेजो भोक्तुमर्थान् प्रकल्पते।
प्रदीपः स्नेहमादत्ते [2]दशयाभ्यन्तरस्थया ॥ ८५ ॥

मृद्विति ॥ मृदुना मृदुवस्तुना व्यवहितमन्तर्हितं तेजः अर्थान् भोक्तुं प्रकल्पते

---

१. 'कृतापराधोऽपि' इति पा०।　　२. 'दशया ह्यन्तर—' इति पा०।

प्रभवति। तथा हि—प्रदीपोऽभ्यन्तरस्थया मध्यस्थया दशया वर्त्या। 'दशा वर्तावस्थायां स्नेहस्तैलादिके रसे' इति विश्वः। स्नेहं तैलादिकमर्थमादत्ते। अन्यथा स्वयमेव निर्वाहादिति। ततः क्षान्तिपूर्वमेव क्षात्रं फलतीति सर्वथा प्रथमं क्षन्तव्यमिति भावः। विशेषेण सामान्यसमर्थनादर्थान्तरन्यासः।

क्षमा-युक्त (या—क्षमासे अन्तर्हित) तेज अर्थात् बल विषयों को भोगनेके लिए वैसे समर्थ होता है, जैसे (पात्रस्थ तैलादिके) भीतरमें स्थित बत्तीसे दीपक तैलादिको ग्रहण कर लेता है ॥ ८५ ॥

तर्हि पौरुषं मा भून्नित्यं, क्षममाणस्य दैवमेव श्रेयो विधास्यतीत्याशङ्क्याह—

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ॥ ८६ ॥

नालम्बत इति ॥ विद्वानभिज्ञः दिष्टे मतिर्यस्येति दैष्टिकः। दैवप्रमाणक इत्यर्थः। 'दैवं दिष्टं भागधेयम्' इत्यमरः। 'अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः' (४।४।६०) इति ठक्। तद्भावं दैष्टिकतामेव नालम्बते। सर्वथा यद्भविष्यस्य विनाशादिति भावः। तथा पौरुषे केवलपुरुषकारेऽपि। युवादित्वादण्प्रत्ययः। न निषीदति त तिष्ठति। दैवप्रातिकूल्ये तस्य वैफल्यादिति भावः। किन्तु सत्कविः सत्कवयिता शब्दार्थाविव, तयोः काव्यशरीरत्वादिति भावः यथाह वामनः—'अदोषौ सगुणौ सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्' इति। द्वयं पौरुषं, दैवं चापेक्षते। अतः पौरुषमप्यावश्यकम्, किन्तु काले कर्तव्यमिति विशेषः। पौरुषादृष्टयोः परस्परसापेक्षत्वादिति भावः।

बुद्धिमान् केवल भाग्यका ही अवलम्बन नहीं करता अथवा केवल पुरुषार्थ पर ही निर्भर नहीं रहता, किन्तु जिस प्रकार श्रेष्ठ कवि शब्द तथा अर्थ दोनों की अपेक्षा करता है, उसी प्रकार विद्वान् भी भाग्य तथा पुरुषार्थ दोनोंका अवलम्बन करता है ॥ ८६ ॥

अथ क्षान्तेः फलमाह—

स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः सञ्चारिणो यथा।
रसस्यैकस्य भूयांसस्तथा नेतुर्महीभृतः[1] ॥ ८७ ॥

स्थायिन इति ॥ रस्यते स्वाद्यत इति रसः शृङ्गारादिः। 'रसतेः स्वदनार्थत्वाद्रस्यन्त इति ते रसा' इति निर्वचनाद् तस्य रसस्य रसीभवतः स्थायिभावस्य रत्यादेः। 'रतिर्हासश्च क्रोधश्च शोकोत्साहभयानि च। जुगुप्साविस्मयशमाः स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥' इत्युक्तत्वाद्। एकस्यैवार्थे स्वादुभावरूपे प्रयोजने भूयांसः सञ्चारिणो व्यभिचारिणो भावा निर्वेदादयः। विभावादीनामुपलक्षणमेतद्। यथा प्रवर्तन्ते। तदुक्तम्—'विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः। आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायिभावो रसः स्मृतः ॥' इति। तथा स्थायिनः स्थिरस्य। क्षान्त्या कालं

१. '—महीभुजः' इति पा०।

प्रतीक्षमाणस्येत्यर्थः। एकस्यैव नेतुर्विजिगीषोर्नायकस्यार्थे प्रयोजने भूयांसो महीभृतो राजानः प्रवर्तन्ते। स्वयमेवास्य कार्यं साधयन्तीत्यर्थः। ततः क्षन्तव्यमिति भावः। केचित्तु भावपदस्यापि रसपरत्वमाश्रित्य यथा सञ्चारिणः प्रसङ्गादागन्तुका अन्ये रसाः स्थायिनः स्थिरस्यैकस्य मुख्यस्यार्थे प्रवर्तन्ते, यथाऽस्मिन्नेव काव्ये वीरस्य शृङ्गारादय इति व्याचक्षते। उपमालंकारः।

जिस प्रकार (शृङ्गारादि) रसके (रति आदि) स्थायीभावके लिए अनेक सञ्चारी (तथा व्यभिचारी आदि) भाव प्रवृत्त (उसके सहायक) होते हैं, उसी प्रकार क्षमाशील, स्थिर (क्षमापूर्वक समय की प्रतीक्षा करते हुए) एक नायक (राजा) के लिए कार्यको घटित करनेवाले बहुत-से (ग्यारह राजा) प्रवृत्त (उसके सहायक) होते हैं।

विमर्श—शृङ्गारादि नव रसोंके रति आदि नवस्थायीभाव हैं वे सञ्चारी व्यभिचारी से पुष्ट होकर दर्शकादिको शृङ्गारादि रसरूपमें प्रतीत होने लगते हैं' अत एव शृङ्गारादि रसकी सिद्धिके लिए वे सञ्चारी आदि अनेक भाव ही सहायक माने जाते हैं। उसी प्रकार जिगीषु राजा यदि क्षमा धारण कर समयकी प्रतीक्षामें स्थिर बैठा रहता है तो अन्य ग्यारह राजा ही उसके कार्यकी सिद्धिका संघटन कर उसके सहायक बन जाते हैं। इस प्रकार क्षमा करते हुए भी अवसर की प्रतीक्षा करनेवाले जिगीषु राजाके सभी कार्य लोगोंकी सहायतासे अनायास ही सिद्ध होते हैं॥ ८७॥

क्षान्तिपक्ष एव गुणान्तरमाह—

तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता।
सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः॥ ८८॥

तन्त्रेति॥ तन्त्रावापौ स्वपरराष्ट्रचिन्तनम्। अन्यत्र तन्त्रावापं शास्त्रौषधप्रयोगं च वेत्ति यस्तेन तन्त्रावापविदा। 'तन्त्रं स्वराष्ट्रचिन्तायामावापः परचिन्तने। शास्त्रौषधान्तमुख्येषु तन्त्रम्' इति वैजयन्ती। योगैः सामाद्युपायैः, अन्यत्र देवताध्यानैश्च। 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः। मण्डलानि स्वपरराष्ट्राणि, माहेन्द्रादिदेवतायतनानि च अधितिष्ठताऽतिक्रमता नरेन्द्रेण राज्ञा, विषवैद्येन च। 'नरेन्द्रो वार्तिके राज्ञि विषवैद्ये च कथ्यते' इति विश्वः। शत्रवः फणीन्द्रा इव सुनिग्रहाः सुखेन निग्राह्याः। एवं च प्रकृताप्रकृतविषयः श्लेषः। उपमैवेति केचित्।

तन्त्र (अपने राष्ट्रका चिन्तन, अपनी शक्तिको उत्पन्न करना) तथा आवाप (दूसरेके राष्ट्रका चिन्तन, दूसरेकी शक्तिका अपनेमें अध्यारोप करना) इन दोनोंको जाननेवाला तथा योगों (सामादि उपायों, या—गुप्तचरों) से अपने तथा दूसरेके राष्ट्रको वशीभूत करता हुआ राजा सरलतासे शत्रुओंका दमन उस प्रकार करता है, जिस प्रकार तन्त्र (गारुडिकादि शास्त्र) तथा आवाप (औषध = प्रयोग या—सरसों आदि फेंक कर सर्पके आकर्षक) को जाननेवाला और योगों (देवता आदिके ध्यानों) से मण्डलों (महेन्द्र-वायव्य आदि

देवतायतनों) को आक्रान्त करता हुआ सँपेरा (सांपको पकड़नेवाला) सांपोंको सरलतासे वशीभूत कर लेता है ॥ ८८ ॥

'प्रज्ञोत्साहावतः स्वामी' (२।७६) इत्यत्रैव तावेव प्रभुशक्तेर्मूलमित्युक्तं तदेव व्यनक्ति—

करप्रचेयामुत्तुङ्गः प्रभुशक्तिं प्रथीयसीम् ।
प्रज्ञाबलबृहन्मूलः फलत्युत्साहपादपः ॥ ८९ ॥

करेति ॥ उत्तुङ्गो महोन्नतः प्रज्ञाबलं मन्त्रशक्तिरेव बृहत् प्रधानं मूलं यस्य सः । उत्साह एव पादपः । करेण बलिना प्रचेयां वर्धनीयां, हस्तग्राह्यां च । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । प्रथीयसीं पृथुतराम् । 'र ऋतो हलादेः–' (६।४।१६१) इति देशः । प्रभुशक्तिं तेजोविशेषम् । 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः । फलति । प्रसूत इत्यर्थः । 'फल निष्पत्तौ' मन्त्रपूर्वक एवोत्साहः फलति । विपरीतस्तु छिन्नमूलो वृक्ष इव शुष्यतीति भावः । रूपकालङ्कारः ।

श्रेष्ठ (पक्षा०—ऊँचा) तथा बुद्धिबल (यन्त्रशक्ति) रूपी लम्बी जड़वाला उत्साहरूपी वृक्ष कर (राजदेय भाग) से बढ़नेवाली (पक्षा०—फलकर अधिक नीचे झुकनेके कारण, हाथसे तोड़ने योग्य) बहुत बड़ी अर्थात् अत्यधिक प्रभुशक्ति (कोष, चतुरङ्गिणीसेनारूप तेजोविशेष) को फैलाता है ।

विमर्श—जिस प्रकार ऊँचे तथा लम्बी जड़वाले पेड़में बड़े–बड़े हाथसे तोड़ने योग्य फल लगते हैं; उसी प्रकार श्रेष्ठ तथा मन्त्रशक्तियुक्त उत्साह होनेसे करसे बढ़नेवाला राजाका तेजोविशेष होता है । अतएव उत्साह शक्तिके साथ मन्त्रशक्तिका होना परमावश्यक है ॥ ८९ ॥

विमृश्यकारिणस्तु विश्वमपि विधेयं स्यादिति त्रयेणाह—

अनल्पत्वात्प्रधानत्वाद्वंशस्येवेतरे[1] स्वराः ।
विजिगीषोर्नृपतयः प्रयान्ति परिवारताम् ॥ ९० ॥

अनल्पत्वादिति ॥ अनल्पत्वात्प्रज्ञोत्साहाधिकत्वादत एव प्रधानत्वान्मण्डलाभिज्ञत्वात्, अन्यत्रानल्पत्वादुच्चैस्तरत्वात् प्रधानत्वान्नायकं स्वरत्वाच्च वंशस्य वंशवाद्यस्वरस्य इतरे स्वरा वीणागानादिशब्दा इव । अथवा आश्रयत्वाद्वंश इव वंशस्तत्काले विहितः स्वर उच्यते तस्य स्वरस्येतराः । षड्जादयः विजिगीषोर्नृपतयोऽन्ये मण्डलपरिवर्तिनो राजानः परिवारतां पोष्यतां प्रयान्ति । तत्कार्यमेव साधयन्तीत्यर्थः । तस्माद्विमृश्य कर्तव्यमित्यर्थः ।

प्रज्ञा तथा उत्साहके अधिक होनेसे तथा मण्डलाभिज्ञ होनेसे विजयार्थी राजाके, अन्य राजालोग उस प्रकार परिवारताको पाते हैं (परिवार बनकर उसकी कार्यसिद्धिमें उसके सहायक होते हैं) जिस प्रकार अधिक उच्चस्वर तथा मुख्य स्वर होनेसे दूसरे स्वर अर्थात्

---

१. '—दंशस्येवेतरे' इति पा० ।

वीणा गानादि शब्द बांस (वंशी नामक बाजा) के परिवारत्वको प्राप्त होते हैं (अथवा—षड्ज आदि दूसरे स्वर 'वंश' (या पाठा०—'अंश') नामक तत्कालविहित स्वर–विशेषके परिवारत्वको प्राप्त होते हैं ॥ ९० ॥

अप्यनारभमाणस्य विभोरुत्पादिताः परैः ।
व्रजन्ति गुणतामर्थाः शब्दा इव विहायसः ॥ ९१ ॥

अपीति ॥ किञ्च अनारभमाणस्य स्वयमकिञ्चित्कुर्वाणस्यापि विभोः प्रभोः, व्यापकस्य च परैरन्यैर्नृपतिभिः, शङ्खभेर्यादिभिश्च उत्पादिताः सम्पादिताः, जनिताश्चार्थाः प्रयोजनानि विहायस आकाशस्य शब्दा इव गुणतां विशेषणतां कारणत्वाद्गुणत्वं व्रजन्ति । शक्तो हि राजा स्वयमुदासीन एवाकाशवत् स्वमहिम्नैव कार्यदेशं व्याप्नुवन् शब्दानिव सर्वार्थानपि स्वकीयतां नयतीत्यर्थः 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती ।

स्वयं क्रियाशून्य (कुछ नहीं करनेवाले) भी सर्वसमर्थ विजिगीषु राजाके, दूसरे (अन्यान्य ग्यारह राजाओं, या गुप्तचरादि) के द्वारा सम्पादित प्रयोजन उस प्रकार गुण बन जाते हैं; जिस प्रकार स्वयं कुछ नहीं करनेवाले भी व्यापक आकाशके, दूसरे (पटहादि) के द्वारा पैदा किये शब्द गुण बन जाते हैं ।

विमर्श—समर्थ राजा स्वयं निष्क्रिय होकर भी दूसरोंसे साधित कार्यको वैसे अपना गुण बना लेता है, जैसे व्यापक आकाश स्वयं निष्क्रिय होता हुआ भी दूसरे नगाड़े आदिसे उत्पन्न शब्दको अपना गुण बना लेता है । 'शब्द आकाश का गुण है' यह तर्कसम्मत सिद्धान्त है । अतः राजाको शक्तिमान् होना आवश्यक है ॥ ९१ ॥

यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमालायामधिकद्युतिः ।
एकार्थतन्तुप्रोतायां नायको नायकायते ॥ ९२ ॥

यातव्येति ॥ किञ्च एकार्थं एकप्रयोजनं स एव तन्तुः सूत्रं तत्र प्रोतायाम् । एकाभीष्टामिलाषिण्यामित्यर्थः । प्रपूर्वाद्वेञः कर्मणि क्तः । 'वचिस्वपि–' (६।१।१५) इत्यादिना सम्प्रसारणम् । यातव्योऽभिषेणयितव्योऽरिः पार्ष्णि गृह्णातीति पार्ष्णिग्राहः पृष्ठानुधावी । कर्मण्यण् । तावादी येषां ते पूर्वोक्ताः पङ्क्तिशः स्थितास्त एव माला रत्नमालिका तस्यामधिकद्युतिर्महातेजा नायकः शक्तिसम्पन्नो जिगीषुर्नायकायते मध्यमणिरिवाचरति । स्वयमेव सर्वोत्कर्षेण वर्तत इत्यर्थः । तस्माद्विमृष्य कर्तव्यमिति भावः । 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि' इति विश्वः । 'उपमानादाचारे' (३।१।१०) इति क्यच् । 'अकृत्सार्वधातुक–' (७।४।२५) इति दीर्घः । नायकायते इत्युपमा । अन्यथानुशासनविरोधात् । एकार्थतन्त्वित्यत्र तु रूपकमधिष्ठानतिरोधानेनारोप्यमाणतन्तुत्वस्यैवोद्भूटत्वात् प्रोतत्वसिद्धेस्तदेव युक्तम् । तद्बलात्पार्ष्णिग्राहादिमालायामित्यत्रापि रूपकमेव । तदनुप्राणिता चेयमुपमेत्यङ्गाङ्गिभावेन तयोः सङ्करः ।

एक प्रयोजनरूपी धागेमें ग्रथित तथा यातव्य (जिस पर चढ़ाई की जाय वह शत्रु, पक्षा०—जिसे पकड़ा जाय वह मनियाँ—=मालाका दाना) और पार्ष्णिग्राह (पीछे रहने वाला राजा, पक्षा०—जिसे छोड़ दिया गया हो वह मनियां) आदिवाली श्रेणीमें (पक्षा०—मालामें अधिक तेजस्वी, पक्षा०—चमकदार) नायक (विजिगीषु राजा) नायकके समान आचरण करता है अर्थात् 'सुमेरु' (मालाके मध्यमें स्थित बड़े दाने) के समान प्रधान होता है।

विमर्श—पृथ्वीमें सर्वाधिक तेजस्वी राजा ही सार्वभौम सम्राट् होता है, अत एव तेजोवृद्धिका सर्वदा प्रयत्न करते रहना चाहिये ॥ ५२ ॥

अथ विमृश्यकरणप्रकारमाह—

षाड्गुण्यमुपयुञ्जीत [1]शक्त्यपेक्षी रसायनम् ।
भवन्त्यस्यैवमङ्गानि स्थास्नूनि बलवन्ति च ॥ ९३ ॥

षाड्गुण्यमिति ॥ शक्तिं प्रभावादित्रयं, बलं चापेक्षत इति शक्त्यपेक्षः सन् । पचाद्यच् । 'शक्तिर्बले प्रभावादौ' इति विश्वः । षड्गुणा एव षाड्गुण्यं सन्धिविग्रहादिषट्कम् । चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः । तदेव रसायनमौषधविशेषमुपयुञ्जीत सेवेत । 'रसायनं विहङ्गेऽपि जराव्याधिभिदौषधे' इति विश्वः । एवं सत्यस्य प्रयोक्तुरङ्गानि स्वाम्यादीनि । 'स्वामी जनपदोऽमात्यः कोशो दुर्गं बलं सुहृत् । राज्यं सप्तप्रकृत्यङ्गं नीतिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥' इति । गात्राणि च स्थास्नूनि स्थिराणि । कालान्तरक्षमाणीत्यर्थः । 'ग्लाजिस्थश्च–' (३।२।१३९) इति स्नुः । बलवन्ति च परपीडाक्षमाणि च भवन्ति । श्लिष्टपरम्परितरूपकम् ।

शक्ति (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति तथा उत्साहशक्ति, पक्षा०—बल = सामर्थ्य) को चाहनेवाले (राजा, पक्षा०—सर्वसाधारण मनुष्य) को षड्गुण (सन्धि-विग्रहादि षड् छः गुण) रूपी रसायन (पृथ्वीको प्राप्त करानेवाला मार्ग शास्त्रोक्तमार्ग पक्षा०—चन्द्रोदय; स्वर्णसिन्दूरादि रसायन औषध) का सेवन करना चाहिये; इस प्रकार करनेसे इस (राजा पक्षा०—औषध सेवन करनेवाले व्यक्ति) के अङ्ग (स्वामी अमात्यादि सात अङ्ग, पक्षा०—शरीरके हाथ-पैर आदि अवयव), स्थिर (दूसरे समयके लिए समर्थ, अविचल) तथा बलवान् (शत्रुपीडनमें समर्थ) होते हैं ॥ ९३ ॥

स्थाने शमवतां शक्त्या व्यायामे वृद्धिरङ्गिनाम् ।
अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः ॥ ९३ ॥

स्थाने इति । किञ्च स्थाने शक्यविषये शमवतां क्षमावतामङ्गिनां सप्ताङ्गिनां राज्ञां शरीरिणां च शक्त्या प्रभावाद्यनुसारेण, बलेन च व्यायामे व्यापारे । षाड्गुण्यप्रयोगे गमनादौ च सतीत्यर्थः । वृद्धिरुपचयः । राज्यस्य, शरीरस्य चेति भावः । विपक्षे बाधकमाह— अयथाबलं शक्त्यतिक्रमेण । 'यथा सादृश्ये' (२।१।७) इत्य-

---

१. 'शक्त्यपेक्षम्' इति ।

व्ययीभावे नञ्समासः। आरम्भो व्यायामः। क्षयसम्पदोऽत्यन्तहानेर्निदानमादिकारणम्। अङ्गानामिति भावः। तस्मादस्माकमकस्माच्चैद्यास्कन्दनमश्रेयस्करमिति भावः। अत्र विशेषस्यापि श्लिष्टत्वाच्छब्दशक्तिमूलो वस्तुना वस्तुध्वनिः। 'अतोद्वयानामङ्गिनामौपम्यं च गम्यत इति संक्षेपः।

शक्य विषयमें क्षमाशील (शान्त) सप्ताङ्गवाले राजाओं (पक्षा०—शरीरधारियों) की शक्ति (प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति तथा उत्साहशक्ति, पक्षा०—अपनी शारीरिक शक्ति) के अनुसार व्यायाम (सन्धि आदि षड्गुणके उपयोग, पक्षा०—दण्ड (बैठक आदि कसरत) करनेपर (राजशक्ति, पक्षा०—शारीरिक शक्ति की) वृद्धि होती है तथा बलके प्रतिकूल अर्थात् शक्तिसे अधिक आरम्भ (किसी कार्यको प्रारम्भ) करना हानि (राजशक्ति के क्षय, पक्षा०—क्षयरोग) का कारण होता है॥ ९४॥

फलितमाह—

तदीशितारं चेदीनां भवांस्तमवमंस्त मा।
निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव॥ ९५॥

तदिति॥ तत्तस्मादशक्यार्थस्याकार्यत्वात्तं चेदीनामीशितारं शिशुपालं भवान् मावमंस्त नावमन्यस्व। मन्यतेर्माङि लुङ्। अनुदात्तत्वान्नेडागमः। कुतः। यश्चैद्यः उदात्तः स्वराननुदात्तानिवारीनेकपदे एकस्मिन्पदन्यासे, सुप्तिङन्तलक्षणे च निहन्ति हिनस्ति, नीचैः करोति च। अतिशूरत्वात्। 'अनुदात्तं पदमेकवर्जम्' (६।१।१५८) इति परिभाषाबलाच्चेति भावः।

(उद्धवजी नीतिशास्त्रके अनुसार कहकर अब फलितार्थ कहते हैं—) इस कारण आप चेदिपति (शिशुपाल) का अपमान (उसके साथ युद्ध करने का उपक्रम) न करें, जो (शिशुपाल) एकपद (स्थान, या व्यवसाय—उद्योग) में शत्रुओंको उस प्रकार मारता है, जिस प्रकार (सुबन्त-तिङन्तरूप) एक पदमें उदात्त स्वर (अनुदात्त-स्वरित स्वर) को मारता—बाधित करता है॥ ९५॥

न चायमेकाकी किं नः करिष्यतीति मन्तव्यमित्याह—

मा वेदि यदसावेको जेतव्यश्चेदिराडिति।
राजयक्ष्मेव रोगाणां समूहः स महीभृताम्॥ ९६॥

मा वेदीति॥ असौ चेदिराट् एकः एकाकी अतो जेतव्यः सुजयः इति मा वेदि मा ज्ञायि। वेत्तेः कर्मणि माङि लुङ् यद्यस्मात् स चेदिराट् राज्ञश्चन्द्रस्य यक्ष्मा, राजा चासौ यक्ष्मेति वा राजयक्ष्मा क्षयरोगो रोगाणामिव महीभृतां समूहः समष्टिरूपः। तथाह वाग्भवः—'अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुरोगमः। राजयक्ष्मा क्षयः शोषो रोगराडिति च स्मृतः। नक्षत्राणां द्विजानां च राज्ञोऽभूद्यदयं पुरा। यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः॥' (नि० स्था० अ० ५) इति। अतो दुर्जेय इति भावः। एतेन 'चिरस्य मित्रव्यसनी सुदमो दमघोषजः' (२।६०) इति निरस्तम्।

वह चेदिराज (शिशुपाल) अकेला है, ऐसा न समझें, क्योंकि जिस प्रकार यक्ष्मा रोगोंका समूह है, उसी प्रकार वह राजाओंका समूह है ।

विमर्श—जिस प्रकार यक्ष्मा होने पर अनेक प्रकारके रोग उस रोगीको घेरकर मार डालते हैं, उसी प्रकार शिशुपालके अनेक (शाल्व, रुक्मी आदि) सहायक होकर शत्रुको मार डालेंगे ॥ ९६ ॥

अथास्य सर्वराजसमष्टितामेव द्वाभ्यां व्याचष्टे—

सम्पादितफलस्तेन सपक्षः [1]परभेदनः ।
कार्मुकेणेव गुणिना बाणः संधानमेष्यति ॥ ९७ ॥

सम्पादितेति ॥ सम्पादितं फलं लाभः, बाणाग्रं च यस्य सः । 'फलं लाभशराग्रयोः' इति शाश्वतः । सपक्षः ससुहृत्, कङ्कादिपत्रयुतश्च परेषां भेदकः शत्रुविदारणः बाणो बाणासुरः, शरश्च । गुणिना शौर्यादिगुणवता, अधिज्येन च तेन चैद्येन कर्मणे प्रभवतीति कार्मुकम् । 'कर्मण उकञ्' (५।१।१०३) । तेनैव सन्धानं सन्धिमेष्यति । अतो नैकाकीति भावः । अत्राप्युपमा श्लेषो वा मतभेदात् ।

पहले (शिशुपालसे) उपकृत (पक्षा०—फलक अर्थात् बाणाग्र भागसे युक्त), समान पक्षवाला (पक्षा०—पङ्खोंसे युक्त), शत्रुओंका भेदन (नाश) करनेवाला बाणासुर (पक्षा०—बाण) गुणवान् (पक्षा०—प्रत्यञ्चायुक्त) उस शिशुपालके साथ धनुषके समान सन्धि (मेल, पक्षा०—लक्ष्यभेदार्थ धनुषपर स्थिति) को प्राप्त करेगा ।

विमर्श—पहले शिशुपालने बाणासुर को अश्वगजादि देकर उपकृत किया है, अतः वह शिशुपालका पक्षपाती हो गया है, ऐसा शत्रुनाशक बाणासुर गुणी शिशुपालके साथ, वैसे मेल कर लेगा; जैसे फल (लोहेका बना हुआ बाणाग्र भाग) वाला, पङ्खसहित, शत्रुनाशक बाण प्रत्यञ्चायुक्त धनुषपर चढ़ता है । इस कारण शिशुपाल को अकेला मानकर सरलतासे पराजित होनेवाला मत समझिये ॥ ९७ ॥

ये चान्ये कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयः ।
तमःस्वभावास्तेऽप्येनं प्रदोषमनुयायिनः ॥ ९८ ॥

ये चेति ॥ ये चान्ये कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयो राजानस्तमःस्वभावास्तमोगुणात्मका अत एव तेऽपि प्रदोषं प्रकृष्टदोषम् । 'प्रदोषो दुष्टरात्र्यंशौ' इति वैजयन्ती । तामसमेवैनं चैद्यमनुयायिनोऽनुयास्यन्ति । सादृश्यादिति भावः । 'भविष्यति गम्यादयः' (३।३।३) इति णिनिर्भविष्यदर्थे । 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः' (२।३।७०) इति षष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीया । यथा ध्वान्तं रजनीमुखमनुयाति तद्वदिति वस्तुनाऽलङ्कारध्वनिः ।

---

१. 'परभेदतः' इति पा० ।

कालयवन, शाल्व, रुक्मी, द्रुम आदि जो राजा हैं; तामसिक प्रकृतिवाले वे भी अधिक दोषयुक्त उस शिशुपालका उस प्रकार अनुगमन करेंगे अर्थात् उसका सहायक होकर लड़ेंगे, जिस प्रकार अन्धकार सायङ्कालका अनुगमन करता है ॥ ९८ ॥

ननु बाणादयोऽस्माभिः कृतसन्धाना इदानीं न विराध्यन्तीत्यत आह—

उपजापः कृतस्तेन तानाकोपवतस्त्वयि ।
आशु दीपयिताल्पोऽपि साग्नीनेधानिवानिलः ॥ ९९ ॥

उपेति ॥ तेन चैद्येन कृतोऽल्पोप्युपजापो भेदः । 'भेदोपजापौ' इत्यमरः । त्वय्याकोपवतस्तान् बाणादीन् अनिलः साग्नीनेधानिन्धनानीव । 'काष्ठं दार्विन्धनं त्वेध इध्ममेधः समित्स्त्रियाम्' इत्यमरः । आशु दीपयिता सद्यः प्रज्वलयिष्यति । दीपेर्ण्यन्ताल्लुट् । अन्तर्वैराः संहिता आपदि सति रन्ध्रे सद्यो विश्लिष्यन्तीति भावः ।

(हम लोगोंके साथ सन्धि किये हुए बाणासुर आदि भी हमारा साथ नहीं देंगे, इस बात को कहते हैं) उस (शिशुपाल) के द्वारा किया गया थोड़ा भी भेद तुम्हारे विषयमें पहलेसे ही क्रुद्ध उन (बाणासुर आदि) को अग्नियुक्त इन्धनको वायुके समान शीघ्र प्रज्वलित कर देगा अर्थात् तुम्हारे विरुद्ध भड़का देगा ॥ ९९ ॥

ततः किमत आह—

बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥ १०० ॥

बृहदिति ॥ बृहत्सहायो महासहायवान् क्षोदीयान् क्षुद्रतरोऽपि । 'स्थूल दूर—' (६।४।१५६) इत्यादिना यणादिपरलोपः पूर्वगुणश्च । कार्यस्यान्तं पारं गच्छति । तथा हि—अपां समूह आपम् । 'तस्य समूहः' (४।२।३७) इत्यण् । तेन गच्छतीत्यापगा नगापगा गिरिनदी महानद्या गङ्गादिकया सम्भूय मिलित्वाऽम्भोधिमभ्येति । क्षुद्रोऽप्येवं तादृक् । महावीरश्चैद्यस्तु किमु वक्तव्य इत्यपिशब्दार्थः । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।

(इन कारणोंसे सहायक युक्त शिशुपालको जीतना सरल नहीं है, क्योंकि) बड़े-बड़े सहायकोंवाला अत्यन्त तुच्छ व्यक्ति भी कार्यके अन्ततक (वैसे) पहुँच जाता (कार्यको सिद्ध कर लेता) है, (जैसे) पहाड़ी नदियाँ (गङ्गा आदि) महानदियों में मिलकर (उनकी सहायता से) समुद्रमें पहुँच जाता है ॥ १०० ॥

किंच न केवलं शत्रोरसाध्यत्वं मित्रविरोधश्चाधिकोऽनर्थकर इत्याह—

तस्य मित्राण्यमित्रास्ते ये [1]च ये चोभये नृपाः ।
अभियुक्तं त्वयैनं ते गन्तारस्त्वामतः परे ॥ १०१ ॥

---

१. 'चान्ये चोभये' इति पा० ।

तस्येत्यादिद्वयेन ॥ ये च तस्य चैद्यस्य मित्राणि नृपाः, ये च ते तवामित्रा नृपास्त उभये त्वयाभियुक्तमभियातमेनं चैद्यं गन्तारो गमिष्यन्ति । 'गमेः कर्तरि लुट्' । अतः परे उक्तोभयव्यतिरिक्ताः तव मित्राणि तस्यामित्राश्चेत्यर्थः । त्वां गन्तारः ।

जो उस (शिशुपाल) के मित्र तथा तुम्हारे शत्रु राजा हैं, वे सभी तुम्हारे चढ़ाई करने पर शिशुपालका साथ देंगे, इनसे भिन्न (तुम्हारे मित्र तथा शिशुपालके शत्रु राजा) तुम्हारा साथ देंगे ॥ १०१ ॥

ततः किमत आह—

मखविघ्नाय सकलमित्थमुत्थाप्य राजकम् ।
हन्त जातमजातारेः प्रथमेन त्वयारिणा ॥ १०२ ॥

मखेति ॥ इत्थमनेन प्रकारेण । 'इदमस्थमुः' (५।३।२४) इति थमुप्रत्ययः । मखविघ्नाय मखविघाताय सकलं राजकं राजसमूहम् । 'गोत्रोक्ष–' (४।२।३९) इत्यादिना वुञ् । उत्थाप्य क्षोभयित्वा । हन्त इति खेदे । अजातारेरजातशत्रोर्युधिष्ठिरस्य त्वया प्रथमेनारिणा जातमजनि । नपुंसके भावे क्तः ।

इस प्रकार (२।१०१ के अनुसार) सम्पूर्ण राजाओंके समूहको यज्ञ–विघ्नके लिए क्षुभित-कर अजातशत्रु युधिष्ठिरके तुम प्रथम शत्रु हो जाओगे, यह खेद है ॥ १०२ ॥

अस्तु सोऽपि शत्रुः, को दोषस्तत्राह—

संभाव्य त्वामतिभरक्षमस्कन्धं स[1] बान्धवः ।
सहायमध्वरधुरां धर्मराजो विवक्षते ॥ १०३ ॥

संभाव्येति ॥ बन्धुरेव बान्धवः स धर्मराजः अतिभरस्य क्षमः स्कन्धो यस्य स तम् । समानस्कन्धमित्यर्थः । त्वां सहायं सम्भाव्याभिसंधाय । अध्वरस्य धुरामध्वरधुराम् । 'ऋक्पूर–' (५।४।७४) इत्यादिना समासान्तोऽच्प्रत्ययः । समासान्तानां प्रकृतिलिङ्गत्वात्तत्पुरुषे परवल्लिङ्गत्वे टाप् । विवक्षते वोढुमिच्छति । वहतेः स्वरितेतः सन्नन्ताल्लट् । तथा हि—विरोधे विश्वासघातो, बन्धुद्रोहश्च स्यातामिति भावः । विशेषणसाम्याद् प्रस्तुतयागधर्मप्रतीतेः समासोक्तिः ।

(और धर्मराज युधिष्ठिरके साथ तुम्हें ऐसा करना अनुचित होगा, यह कह रहे हैं) बन्धु वे युधिष्ठिर (यज्ञ–सम्बन्धी) महान् भारके वहन करनेमें अत्यन्त समर्थ कन्धेवाले तुमको सहायक समझकर यज्ञके भारको वहन करते हैं अर्थात् तुम्हारे ही भरोसे पर यज्ञको करना चाहते हैं ॥ १०३ ॥

ननु प्रतिश्रुत्याकरणे दोषः, प्रागेव परिहारे तु को दोष इत्यत आह—

महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानान् रिपूनपि ।
सपत्नीः प्रापयन्त्यब्धिं सिन्धवो नगनिम्नगाः ॥ १०४ ॥

---

१. 'सुबान्धवः' इति पा० ।

महात्मान इति ॥ महात्मानो निग्रहानुग्रहसमर्था भजमानान् शरणागतान् रिपूनप्यनुगृह्णन्ति । किमुत बन्धूनिति भावः । अर्थान्तरं न्यस्यति—सिन्धवो महानद्यः समान एकः पतिर्यासां ताः सपत्नीः । 'नित्यं सपत्न्यादिषु' (४।१।३५) इति ङीप् नकारश्च । नगनिम्नगा गिरिनिर्झरिणीरब्धिं प्रापयन्ति । स्वसौभाग्यं ताभ्यः प्रयच्छन्तीति भावः । अतः परिहारेऽप्यनर्थ इति भावः ।

(पहले स्वीकारकर पुनः छोड़नेपर दोष होता है, किन्तु पहलेसे ही यज्ञभार वहन करनेका निषेध किये होते तो हमारे ऊपर कोई दोष नहीं आता—इस कृष्णादिकी आशङ्का की उद्धवजी निवारण करते हैं) महात्मा लोग शरणमें आये हुए शत्रुओंपर भी अनुग्रह करते हैं, (यथा—गङ्गा आदि) महानदियाँ सपत्नीरूप पहाड़ी नदियोंको (पतिरूप) समुद्रके पास पहुँचा देती हैं ॥ १०४ ॥

तर्हि सम्प्रत्युपेक्षायामपि पश्चात्प्रार्थनया पार्थमार्जवयेयमित्यत आह—

चिरादपि बलात्कारो बलिनः सिद्धयेऽरिषु ।
छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः सुहृदो विमनीकृताः ॥ १०५ ॥

चिरादिति ॥ बलिनः स्वयं बलवतोऽप्यरिषु विषये बलात्कारो दण्डः, चिरात् चिरकालेनापि । सद्यो मा भूदिति भावः । सिद्धये वशंवदत्वसिद्धये । भवतीति शेषः । अविमनसो विमनसः सम्पद्यमानाः कृता विमनीकृताः । वैमनस्यं प्रापिता इत्यर्थः । 'अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च' (५।४।५१) इति च्विप्रत्ययसलोपौ । 'अस्य च्वौ' (७।४।३२) इतीकारः । शोभनं हृदयं येषां ते सुहृदो मित्राणि तु । 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' (५।४।१५०) इति निपातः । छन्दस्याभिप्रायस्यानुवृत्त्या चित्तानुरोधेनापि दुःसाध्याः । आर्जवयितुमशक्या इत्यर्थः । 'अभिप्रायश्छन्द आशयः' इत्यमरः । शनैः शत्रुर्दण्डेनापि वशो भवति, मित्रं वैमनस्येन साम्नापीति भावः ।

(इस समय युधिष्ठिरकी उपेक्षा करके भी युद्धानन्तरकी प्रार्थनादिसे उन्हें अनुकूल कर लिया जायगा, इस पक्षका निषेध करते हैं) बलवान्के लिए शत्रुपर विलम्बसे किया गया भी बल-प्रयोग सिद्धिके लिए होता है, किन्तु (पहले) विमानित मित्रोंको उनके अनुकूल व्यवहार द्वारा कठिनाईसे सन्तुष्ट किया जा सकता है ॥ १०५ ॥

ननु सुहृत्कार्यात्सुरकार्यं बलीय इत्यत्राह—

मन्यसेऽरिवधः श्रेयान् प्रीतये [1]नाकिनामिति ।
पुरोडाशभुजामिष्टमिष्टं कर्तुमलन्तराम् ॥ १०६ ॥

मन्यस इति ॥ नाकिनां देवानां प्रीतयेऽरिवधः श्रेयान् प्रशस्ततरः । 'प्रशस्यस्य श्रः' (५।३।६०) इति श्रादेशः । इति मन्यसे चेत्तर्हि पुरोडाशभुजां हविर्भोजिनाम् ।

---

१. 'नामपि' इति पा० ।

अत एव नाकिनामिष्टमभीप्सितं कर्तुम् । इषेः कर्मणि क्तः । इष्टं इष्टिः । याग इति यावत् । यजेर्भावे क्तः । 'वचिस्वपि–' (६।१।१५) इत्यादिना सम्प्रसारणम् । अलन्तरामतिपर्याप्तम् । अव्ययादामुप्रत्ययः । शत्रुवधादतिप्रियकरो याग एव, नाकिनां भुक्त्वापि शत्रुवधस्य सुकरत्वादिति भावः ।

(युधिष्ठिरके यज्ञरूप मित्रकार्यकी अपेक्षा नारदोक्त शिशुपालवध रूप देवकार्य पहले करना उचित है, इसका निराकरण करते हैं) यदि शत्रु (शिशुपाल) का वध करना देवोंको प्रसन्न करनेके लिए श्रेष्ठ मानते हो तो (यज्ञ–सम्बन्धी) हविष्यका भोजन करनेवाले देवोंका इष्ट यज्ञ करना ही सर्वथा पर्याप्त है ॥ १०६ ॥

तथाप्यमृताशिनां तेषां देवानां किमेभिः पिष्टभक्षणप्रलोभनैरत आह—

अमृतं नाम यत्सन्तो मन्त्रजिह्वेषु जुह्वति ।
शोभैव [1]मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना ॥ १०७ ॥

अमृतमिति ॥ अमृतं नाम सन्तो विद्वांसः मन्त्रा एव जिह्वा येषां तेषु मन्त्रजिह्वेष्वग्निषु । 'मन्त्रजिह्वः सप्तजिह्वः सुजिह्वो हव्यवाहनः' इति वैजयन्ती । यत्पुरोडाशादिकं जुह्वति, तदेवेति शेषः । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् । मन्दर एव क्षुब्धो मन्थनदण्डः । 'क्षुब्धस्वान्त–' (७।२।१८) इत्यादिनास्मिन्नर्थे निपातनात् सिद्धम् । तेन क्षुभितस्य मथितस्याम्भोधेर्वर्णना शोभैवालङ्कार एव । अब्धिमन्थनेनामृतमुत्पादितमिति यतः कीर्तिमात्रम्, अतो हुतमेवामृतमिति भावः । वाक्यार्थयोर्हेतुहेतुमद्भावाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ।

(सर्वदा अमृतका पान करनेवाले देवोंको यज्ञके पिष्ट (आटा आदि) के भोजनसे क्या प्रयोजन है ? इसका समाधान करते हैं) विद्वान् लोग मन्त्र ही है जिह्वा जिनकी ऐसी अग्नियोंमें जो हवन करते हैं, वही अमृत है, मन्दराचलरूप मथनीसे मथे गये समुद्र (से निकले हुए अमृतका) वर्णन केवल शोभामात्र हैं ॥ १०७ ॥

यात्रायाः प्रतिबन्धः कश्चिद् दुस्तरस्तवास्तीत्याह—

सहिष्ये शतमागांसि [2]सूनोस्त इति यत्त्वया ।
प्रतीक्ष्यं तत्प्रतीक्ष्यायै पितृष्वस्रे प्रतिश्रुतम् ॥ १०८ ॥

सहिष्य इति ॥ प्रतीक्ष्यायै पूज्यायै । 'पूज्यः प्रतीक्ष्यः' इत्यमरः । पितृष्वस्रे पितृभगिन्यै । 'विभाषा स्वसृपत्योः' (६।३।२४) इति विकल्पादलुगभावः । 'मातृपितृभ्यां स्वसा' (८।३।८४) इति षत्वम् । ते तव सूनोः शतमागांस्यपराधान् । 'आगोऽपराधो मन्युश्च' इत्यमरः । सहिष्ये सोढाहे इति यत्त्वया प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञातं तत्प्रतीक्ष्यं प्रतिपालनीयम् । अन्यथा महादोषस्मरणादिति भावः ।

---

१. 'मन्दरक्षुब्धि' इति पा० । २. 'प्रत्यश्रौषी' किलेति यत्' इति पा० ।

(तुम्हारे चढाई करनेमें दूसरी भी बाधा है, उसे कहते हैं) तुमने 'तुम्हारे पुत्रके सौ अपराधोंको मैं सहूँगा अर्थात् क्षमा करूँगा' ऐसा जो 'श्रुतश्रवा' नामकी अपनी फूआके लिए प्रतिवचन (आश्वासन . दिया है, पूज्य उसके लिए उस (सौ अपराध) को प्रतीक्षा करनी चाहिये ॥ १०८ ॥

सत्यमस्ति प्रतिश्रुतं, किन्त्वस्योन्मत्तत्वादौद्धत्यादपि जिहासितमत आह—

तीक्ष्णा नारुन्तुदा बुद्धिः कर्म शान्तं प्रतापवत् ।
नोपतापि मनः सोष्म वागेका वाग्मिनः सतः ॥ १०९ ॥

तीक्ष्णेति ॥ सतः सत्पुरुषस्य बुद्धिस्तीक्ष्णा निशिता स्यादिति विद्धीत्यध्याहारः एवमुत्तरत्रापि । तथाप्यरुस्तुदतीत्यरुन्तुदा शस्त्रवन्मर्मच्छेदिनी न भवेत् । अहिंसयैव परं पीडयेदित्यर्थः । कर्म व्यापारः प्रतापवत्तेजस्वि भयदं स्यात्, तथापि शान्तं स्यात् । न तु सिंहादिवद्धिस्रं भवेदित्यर्थः । मनश्चित्तं सोष्म अभिमानोष्णं स्यात्तथापि उपतापयतीत्युपतापि । अग्न्यादिवत् परसन्तापि न स्यात् । वाग्मिनो वक्तुर्वागेका एकरूपा स्यात् । वाग्मी सत्यमेव वदेदित्यर्थः । अतः सत्यसन्धस्य प्रतिश्रुतार्थहानिरनर्हेति भावः । अत्र प्रकृताया वाचोऽप्रकृतानां बुद्धिकर्ममनसां च तुल्यधर्मादौपम्यावगमाद्दीपकालङ्कारः । 'प्रकृताप्रकृतानां च साम्ये तु तुल्यधर्मतः । औपम्यं गम्यते यत्र दीपकं तन्निगद्यते ॥' इति लक्षणात् । बुद्ध्यादीनां शस्त्रादिव्यतिरेको व्यज्यते ॥

(उक्त आश्वासन देनेपर भी मदोन्मत्त इस शिशुपालको अविलम्ब मारना ही उचित है, इस पक्षका निराकरण करते हैं) सन्तोंकी बुद्धि तीक्ष्ण होती है, किन्तु मर्मस्थलको पीड़ित करनेवाली नहीं होती, कर्म प्रतापयुक्त होता है, किन्तु शान्त (सिंहादिके समान हिंसक नहीं) होता है । मन कुल-शीलादिके अभिमानसे युक्त होनेसे उष्ण होता है, किन्तु दूसरेको सन्तप्त करनेवाला नहीं होता और उचित बहुत बोलनेवाले का वचन एक होता है अर्थात् सज्जन पुरुष जो एक बार कह देते हैं, उसका अन्ततक पालन करते हैं ॥ १०९ ॥

अशक्यश्चाकाले चैद्यवध इत्याह—

स्वयंकृतप्रसादस्य तस्याह्नो भानुमानिव ।
समयावधिमप्राप्य नान्तायालं भवानपि ॥ ११० ॥

स्वयमिति ॥ किञ्च अह्नो भानुमानिव स्वयं कृतः प्रसादोऽनुग्रहः, प्रकाशश्च यस्य तस्य चैद्यस्यान्ताय समयावधिं नियतकालावसानमप्राप्य भवानपि नालं शक्तो न । तथा च वृथापकीर्तिरेव । अन्यन्न किञ्चित्फलं स्यादिति भावः ।

(नियत समय आये बिना शिशुपालका मारना भी अशक्य है, इस बातको कहते हैं) अपने किरणोंसे प्रकाशित दिनको सूर्यके समान अपने द्वारा अनुगृहीत उस (शिशुपाल) के नष्ट करने (मारने) के लिए आप भी समर्थ नहीं हैं ॥ ११० ॥

तर्हि किमयमुपेक्ष्य एव, नेत्याह—

कृत्वा कृत्यविदस्तीर्थेष्वन्तः[1] प्रणिधयः पदम् ।
विदांकुर्वन्तु महतस्तलं विद्विषदम्भसः ॥ १११ ॥

कृत्वेति ॥ किन्तु कृत्यविदः कार्यज्ञाः, विधिज्ञाश्च प्रणिधीयन्त इति प्रणिधयो गूढचारिणः । 'प्रणिधिर्गूढपुरुषः' इति हलायुधः । तरन्त्येभिरिति तीर्थानि मन्त्राद्यष्टादश स्थानानि, जलावताराश्च । 'योनौ जलावतारे च मन्त्राद्यष्टादशस्वपि । पुण्यः क्षेत्रे तथा पात्रे तीर्थं स्यात्' इति हलायुधः । तेष्वन्तः पदं स्थानं, पादप्रक्षेपं च कृत्वा महतो दुरवगाहस्य, पूज्यस्य च विद्विषन् शत्रूरेवाम्भस्तस्य तलं स्वरूपम् । प्रमाणमिति यावत् । 'अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः । विदाङ्कुर्वन्तु विदन्तु । 'विद ज्ञाने' लोट् । 'विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्' (३।१।४१) इति विकल्पादाम्प्रत्ययनिपातः । अम्भस इव शत्रोः कृततीर्थस्य सुप्रवेशत्वात् प्रागन्तः प्रविश्य परीक्ष्येत्यर्थः । श्लिष्टपरम्परितरूपकम् ।

(इन कारणोंसे शिशुपाल चढ़ाई करने योग्य नहीं है; तथापि उपेक्षणीय भी नहीं है, अतः वर्तमानमें उपस्थित कर्तव्यको कह रहे हैं) कार्यज्ञ (पक्षा०—नीतिज्ञ) गुप्तचर लोग (मन्त्र आदि अठारह) तीर्थोंमें (पक्षा०—सीढ़ियों पर) निवासकर (पक्षा०—प्रवेशकर) बड़े (पक्षा०—गम्भीर) शत्रुरूपी पानीके तल (बलादि प्रमाण—स्वरूप, पक्षा०—गाम्भीर्य) को मालूम करें ।

विमर्शः—जिस प्रकार कुशल तैराकी पानीमें पैर रखकर उसकी अगाधताको जान लेता हैं, उसी प्रकार आपके गुप्तचर मन्त्र आदि अठारह तीर्थोंमें अवस्थित होकर शत्रुमें कौन अनुरक्त तथा कौन विरक्त है, इसका पता लगायें । पञ्चतन्त्रके तृतीय तन्त्रमें शत्रुपक्षके अठारह तीर्थ कहे गये हैं—मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, द्वारपाल, अन्तर्वंशिक, प्रकाशक, लानेवाले, रखनेवाले तथा बतलानेवालेको ज्ञापक, साधनाध्यक्ष. गजाध्यक्ष, कोशाध्यक्ष, किलाका अध्यक्ष, काराध्यक्ष, सीमारक्षक और उद्धत भृत्य । इनके भेद करनेसे शत्रु शीघ्र वशीभूत हो जाता है । तथा अपने पक्षके पन्द्रह तीर्थ ये हैं—पटरानी, माता, कञ्चुकी, मालाकार (माली), शय्यारक्षक, स्पर्शाध्यक्ष, ज्योतिषी, राजवैद्य, पानीलानेवाला, पान लानेवाला, आचार्य, अङ्गरक्षक, स्थानचिन्तक, छत्रधर और विलासिनी (भोगपत्नी) । इनके विपरीत होनेसे अपना पराजय होता है ॥ १११ ॥

आवश्यकं चैतदित्याह—

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना ।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥ ११२ ॥

१. 'स्तीर्थैरन्तः' इति पा० ।

अनुदिति ॥ उत्सूत्र उच्छास्त्रो नीतिशास्त्रविरुद्धः पदन्यासः एकपदप्रक्षेपोऽपि । स्वल्पव्यवहारोऽपीति यावत् । स नास्ति यस्यां सा अनुत्सूत्रपदन्यासा । नीतिपूर्वकसर्वव्यवहारेत्यर्थः । अन्यत्रानुत्सूत्रपदन्यासा अनुत्सृष्टसूत्राक्षरः इष्ट्युपसंख्याननैरपेक्ष्येण सूत्राक्षरैरेव सर्वार्थप्रतिपादको न्यासो वृत्तिव्याख्यानग्रन्थविशेषो यस्यां सा तथोक्ता । तथा सती यथार्थं कल्पनया शोभना वृत्तिर्भृत्यामात्यादीनामाजीविका यस्यां सा सद्वृत्तिः, अन्यत्र सती वृत्तिः काशिकाख्यसूत्रव्याख्यानग्रन्थविशेषो यस्यां सा । 'वृत्तिर्ग्रन्थजीवनयोः' इति वैजयन्ती । सन्तिनिबन्धनान्यनुजीव्यादीनां क्रियावसानेषु दत्तानि गोहिरण्यादिशाश्वतपारितोषिकदानानि यस्यां सा । एतच्च 'दत्त्वा भूमिनिबन्धनं च' इत्येतद्वचनव्याख्याने मिताक्षरायां द्रष्टव्यम् । अन्यत्र सन्निबन्धनं भाष्यग्रन्थो यस्यां सा एवंभूतापि राजनीती राजवृत्तिः । अपगतः स्पशः चारो यस्याः सा अपस्पशा चेत् । 'यथार्थवर्णो मन्त्रज्ञः स्पशो हरक उच्यते' इति हलायुधः । अन्यत्र अविद्यमानः पस्पशः शास्त्रारम्भसमर्थक उपोद्घातसंदर्भग्रन्थो यस्याः सा अपस्पशा शब्दविद्या व्याकरणविद्येव न भाति न शोभते । तस्माच्चारप्रेषणमावश्यकम्, तद्रहितस्य राज्ञोऽन्धप्रायत्वादिति भावः । अत्रापस्पशेत्यत्र जतुकाष्ठवद्द्वयोरेव श्लिष्टत्वाच्छब्दश्लेषः । सद्वृत्तिः सन्निबन्धनेत्यत्रैकवृन्तावलम्बिफलद्वयवदर्थश्लेषः । अनुत्सूत्रपदन्यासेत्यत्र तूभयसंभवादुभयश्लेषः । शब्दविद्येवेति पूर्णोपमा व्यक्तैव । तयोः सापेक्षत्वात्संकरः ।

जहाँ नीतिशास्त्रके प्रतिकूल एक पैर भी रखने (आगे बढ़ने) का विधान नहीं है ऐसी, (साधारण भृत्यसे लेकर श्रेष्ठतम अमात्यतक के लिए नियत) सुन्दर जीविका (वेतन) वाली, (तथा कार्यकी समाप्ति होनेपर) उचित पारितोषिक (देनेका नियम बतलाने) वाली राजनीति गुप्तचरों (की नियुक्ति) के बिना उसी प्रकार नहीं शोभती है; जिस प्रकार सूत्र (पाणिनि-प्रणीत सूत्रों) के अविरुद्ध पद (कृदन्त, तद्धितान्त, समस्त आदि पद) तथा न्यास (काशिका वृत्तिका व्याख्यान-ग्रन्थ) है जिसमें ऐसी, सुन्दर वृत्ति (काशिकासूत्रोंके व्याख्यानात्मक ग्रन्थ) वाली तथा श्रेष्ठ निबन्धन (पतंजलि मुनिप्रणीत महाभाष्य ग्रन्थवाली) भी शब्दविद्या (व्याकरण-शास्त्र) 'स्पर्श (व्याकरणके प्रयोजनको निर्दिष्ट करनेवाला महाभाष्यका 'पस्पश' नामक प्रथम आह्निक) के बिना नहीं शोभती है ।

विमर्शः—भगवान् पतञ्जलिने अष्टाध्यायी-सूत्रके स्वरचित महाभाष्यमें 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' कहकर व्याकरणशास्त्रका प्रयोजन बतलाया है, उसे 'पस्पश आह्निक' कहते हैं। उसके न जाननेसे लोगोंकी अनुत्सूत्रपदन्यास, सद्वृत्ति, सन्निबन्धन-गुणयुक्त भी व्याकरणके पढ़नेमें प्रवृत्ति ही नहीं होती, अतः उसके बिना जिस प्रकार वह व्याकरणशास्त्र शोभित नहीं होता है; उसी प्रकार जिस राजनीतिमें पगपगपर नीति-शास्त्रानुकूल ही चलते हैं, भृत्यादि वर्गको जीविका यथोचित है तथा कार्यके सिद्ध होनेपर

कार्यकर्ताओंको उचित भूमि, सोना, चांदी, घोड़ा आदि पारितोषिक रूपमें देनेकी व्यवस्था है। इन गुणोंसे युक्त भी राजनीति गुप्तचरोंके नियुक्तिसे शून्य होनेपर नहीं शोभती है ॥ ११२ ॥

न केवलं चारमुखेन वृत्तान्तज्ञानम्, अपि तूपजापश्च कर्तव्य इत्याह—

अज्ञातदोषैर्दोषज्ञैरुद्दूष्योभयवेतनैः ।
भेद्याः शत्रोरभिव्यक्तशासनैः[1] सामवायिकाः ॥ ११३ ॥

अज्ञातेति ॥ किंचाज्ञातदोषैः परैरज्ञातस्वकर्मभिर्दोषज्ञैः स्वयं परमर्मज्ञैरभिव्यक्तानि भेद्यस्याग्रे प्रकटितानि शासनानि तदमात्याद्यविश्वासकराणि कूटलिखितानि येषां तैः उभयवेतनैरुभयत्र भेद्ये स्वामिनि च वेतनं भृतिर्येषां तैरुभयजीविकाग्राहिभिः, भेद्यनगरवास्तव्यैश्चरैरित्यर्थः । 'भृतयो भर्म वेतनम्' इत्यमरः । शत्रोः सम्बन्धिनः समवायं समवयन्तीति सामवायिकाः सङ्घमुख्याः सचिवादयः । 'समवायान्समवैति' (४।४।४३) इति ठक् । उद्दूष्य द्विषामेते दत्तहस्ता अस्माभिरेषां लिखितान्येव गृहीतानीत्युच्चैर्दूषयित्वा भेद्या विघट्टनीयाः ।

जिनके दोषोंको दूसरा नहीं जानता तथा जो दूसरोंके दोषोंको स्वयं जानते हैं, ऐसे दोनों ओरसे वेतन लेनेवाले गुप्तचरों द्वारा कपट-लेखादिको दिखलाकर शत्रुके मन्त्री-नौकर आदि समूहोंको भेदन कराना चाहिए।

विमर्शः—आप ऐसे चतुर गुप्तचरोंको शत्रुके यहाँ नियुक्त करें, जो शत्रुओंके दोषोंको जानते हों, किन्तु ये शत्रुपक्ष—आपके पक्षके हैं, ऐसे अनेक दोषोंको दूसरा कोई जानता हो, तथा जो आपके यहाँसे तो वेतन पाते ही हों, किन्तु शत्रुका भी दिखावटी नौकर बनकर शत्रुसे भी वेतन ले रहे हों—ऐसे गुप्तचर राजा आदिके द्वारा लिखे गये कपट-लेखोंको मन्त्री आदिसे दिखलाकर 'राजा आप लोगोंका विश्वास नहीं करता; किन्तु आप लोगोंके विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहा है' इस बातको प्रमाणित करनेवाले राजादि-लिखित कपट-लेखोंको प्रकटकर शत्रुओंके समुदायमें रहनेवाले मन्त्री, सेनापति आदिको फोड़ डालें ॥ ११३ ॥

उपेयिवांसि कर्तारः पुरीमाजातशात्रवीम् ।
राजन्यकान्युपायज्ञैरेकार्थानि चरैस्तव ॥ ११४ ॥

उपेयिवांसीति ॥ किंच उपायज्ञैः कार्यसाधनकुशलैस्तव चरन्तीति चरैर्गूढचारिभिः । पचाद्यच् । एकार्थानि त्वया सहैकप्रयोजनानि राजन्यानां समूहा राजन्यकानि । 'गोत्रोक्ष—' (४।२।३९) इत्यादिना वुञ् । अजातशत्रोरिमामाजातशात्रवीं

१. 'रभित्यक्तः—' इति पा० ।

पुरीमिन्द्रप्रस्थमुपेयिवांसि प्राप्नुवन्ति । 'उपेयिवान्–' (३।२।१०९) इत्यादिना क्वसुप्रत्ययान्तो निपातः । कर्तारः करिष्यन्ते । कृञः कर्मणि लुट् । इन्द्रप्रस्थेऽस्माकं महत्कार्यं भविष्यति तदध्वरयात्राव्याजेन सन्नद्धैरागन्तव्यमिति गूढं सन्दिश्य तत्र सर्वे मेलयितव्या इत्यर्थः ।

तुम्हारे गुप्तचर, तुम्हारे पक्षमें होकर युद्ध करना ही जिनका एक लक्ष्य है, ऐसे राजाओंको युधिष्ठिरकी राजधानी (हस्तिनापुर) में प्राप्त करायेंगे ।

विमर्शः—आपके गुप्तचर युधिष्ठिरके यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिए हस्तिनापुरमें पहुँचनेपर 'श्रीकृष्ण भगवान्‌का पक्ष लेकर युद्ध करना होगा, अतएव आपलोग अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित सेनाके साथ चलें', ऐसा गुप्तरूपसे आपके पक्षवाले राजसमूहोंको हस्तिनापुरमें उपस्थित करें ॥ ११४ ॥

ननु तत्राध्वरकर्मणि को युद्धावकाश इत्याशङ्क्य तत्रैव महत्कलहबीजं संपादयति —

सविशेषं सुते पाण्डोर्भक्तिं भवति तन्वति ।
वैरायितारस्तरलाः स्वयं मत्सरिणः परे ॥ ११५ ॥

सविशेषमिति ॥ पाण्डोः सुते युधिष्ठिरे भवति पूज्ये त्वयि सविशेषं यथा तथा भक्तिं तन्वति सति तरलाश्चपला मत्सरिणो द्वेषवन्तः परे शत्रवः स्वयमेव वैरायितारो वैरं कर्तारः । 'शब्दवैरकलह—' (३।१।१७) इत्यादिना क्यङ् । ततः कर्तरि लुट् ।

(यज्ञकालमें भी शिशुपालसे (युद्ध करनेका अवसर मिल सकता है, इसका प्रतिपादन करते हैं) पाण्डुपुत्र (युधिष्ठिर) के आपके विषयमें भक्ति करते रहनेपर दूसरेके शुभमें ईर्ष्यालु एवं चञ्चल शत्रु स्वयं तुम्हारे साथ विरोध करेंगे ॥ ११५ ॥

किं तेऽपि सर्वे वैरायिष्यन्ते, नेत्याह —

य इहात्मविदो विपक्षमध्ये सहसम्वृद्धियुजोऽपि भूभुजः स्युः ।
बलिपुष्टकुलादिवान्यपुष्टैः पृथगस्मादचिरेण भाविता तैः ॥ ११६ ॥

य इति ॥ ये इह विपक्षमध्ये शत्रुमध्ये सहसंवृद्धियुजोऽपि चैद्येन सहैश्वर्यं गता अपि 'सत्सूद्विष–' (३।२।७१) इत्यादिना क्विप् । ये भूभुजो राजान आत्मविदः स्वाभिजनवेदिनः स्युः, यद्वा स्वात्मस्वरूपवेदिनः स्युस्तैर्भूभुग्भिः बलिपुष्टकुलात् काककुलात् । 'काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसकृत्प्रजाः' इत्यमरः । अन्यपुष्टैः परभृतैरिवाचिरेण सद्योऽस्माद्विपक्षमध्यात् । 'अन्यारात्–' (२।३।२९) इत्यत्रान्यशब्दस्यार्थपरत्वात् पृथगादिप्रयोगेऽपि पञ्चमी । पृथग्भाविता पृथग्भविष्यते । भावे लुट् । चिण्वदिटि वृद्धिः । तेष्वपि केचिदस्माभिः संगच्छन्त इत्यर्थः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ।

इस शत्रुके मध्यमें, साथमें समृद्धिको प्राप्त किये हुए भी जो अपने स्वरूपको जाननेवाले राजालोग हैं, वे कौवोंके समूहसे कोयलोंके समूहके समान इस (शिशुपाल) से शीघ्र ही अलग हो जायेंगे ।

विमर्श—जिस प्रकार कोयलके बच्चोंको पहले कौवे पालते हैं; किन्तु जब कोयल बड़ी हो जाती है, तब वह कौवोंका साथ छोड़कर अपने पक्ष (कोयलों) में मिल जाती है, उसी प्रकार इस समय तुम्हारे पक्षके जो राजा शिशुपालके साथ रहकर समृद्धिमान् हो रहे हैं, वे युद्धारम्भ हो जानेपर तत्काल उसको छोड़कर आपका साथ देंगे ॥ ११६ ॥

अथ फलितं निगमयन्नाशिषं प्रयुङ्क्ते—

सहजचापलदोषसमुद्धत-
श्चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहः ।
तव दुरासदवीर्यविभावसौ
शलभतां लभतामसुहृद्गणः ॥ ११७ ॥

सहजेति ॥ सहजं स्वाभाविकं चापलं दुर्विनीतत्वम्, अनवस्थितत्वं च । 'चपलः पारदे शीघ्रे दुर्विनीतेऽनवस्थिते इति वैजयन्ती । तेनैव दोषेण समुद्धतो दृप्तः पक्षः सहायः, गरुच्च । 'पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति वैजयन्ती । चलितोऽस्थिरो दुर्बलपक्षपरिग्रहो यस्य सः असुहृद्गणः शत्रुवर्गस्तव दुरासदवीर्यविभावसौ दुःसहतेजोवह्नौ । 'वीर्यं शुक्रे प्रभावे च तेजःसामर्थ्ययोरपि', 'सूर्यवह्नी विभावसू' इति विश्वामरौ । शलभतां पतङ्गत्वम् । 'समौ पतङ्गशलभौ' इत्यमरः । भावे तल् । लभतां गच्छतु । रूपकालङ्कारः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ।

(अब परिणामको आशीर्वाद रूपमें बतलाते हुए उद्धवजी कहते हैं) स्वाभाविक चञ्चलतारूपी दोषसे समुद्धत, दुर्बल होनेसे शिथिल पक्षोंको धारण करने (पक्षा०—अपने सहचरों तथा साधनों) वाला शत्रुसमूह तुम्हारे असह्य पराक्रमरूपी अग्निमें शलभ (पतिङ्गे) के समान नष्ट हो जाय ॥ ११७ ॥

इति विशकलितार्थामौद्धवीं वाचमेना-
मनुगतनयमार्गामर्गलां दुर्नयस्य ।
जनितमुदमुदस्थादुच्चकैरुच्छ्रितोरः-
स्थलनियतनिषण्णश्रीश्रुतां शुश्रुवान् सः ॥ ११८ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्र्यङ्के मन्त्रवर्णनं नाम द्वितीयः सर्गः ॥

इतीति ॥ स हरिरित्थं विशकलितार्थां विवेचितार्थामनुगतनयमार्गां नीतिमार्गानुसारिणीं दुर्नयस्य । बलभद्राद्युक्तस्येत्यर्थः । अर्गलां निवारयित्रीमिति वैधर्म्येण रूपकालंकारः । 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः । अत एष जनितमुदं हरेः कृता-

नन्दाम् । उच्छ्रित उन्नते उरःस्थले नियतं निषण्णया अविश्रान्तमाश्रितया श्रिया श्रुतां नान्ययेति मन्त्रगुप्तिः । उद्धवस्येमामौद्धवीमेनां पूर्वोक्तां वाचं शुश्रुवान् श्रुतवान् । 'भाषायां सदवसश्रुवः' (३।२।१०८) इति क्वसुः । उच्चैरेवोच्चकैरुन्नतः सन् । 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' (५।३।७१) इत्यकच्प्रत्ययः । उदस्थात् आसनादुत्थितवान् । 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' (१।३।२४) इत्यस्य प्रत्युदाहरणमेतत् । रूपकानुप्रासालङ्कारौ । मालिनी वृत्तम् ।

इति महोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते शिशुपालवध-
काव्यव्याख्याने सर्वंकषाख्ये द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

वे (श्रीकृष्ण भगवान्) सम्यक् प्रकारसे इस तरह (२१–११७) विरचित अर्थवाले, राजनीतिका अनुगमन करनेवाले अर्थात् राजनीतिके अनुकूल, (बलरामके उद्धव वचनरूपी) दुर्नीतिके लिए अर्गलारूप (आगलके समान रोकनेवाले) तथा हर्षजनक और (श्रीकृष्ण भगवान्के) उन्नत वक्षःस्थलमें सर्वदा निवास करनेवाली पत्नीरूपिणी लक्ष्मी (अथ च— वक्षःस्थल सर्वदा निवास करनेवाली शोभा) से सुने गये वचनको सुने हुए वे (श्रीकृष्ण भगवान् आसनसे) उठ गये ॥ ११८ ॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'मन्त्रवर्णन' नामक द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

कौवेरदिग्भागमपास्य मार्गमागस्त्यमुष्णांशुरिवावतीर्णः ।
अपेतयुद्धाभिनिवेशसौम्यो हरिर्हरिप्रस्थमथ प्रतस्थे ॥ १ ॥

कौवेरेति ॥ अथोद्धववाक्यश्रवणानन्तरम् । अपेतो युद्धेऽभिनिवेश आग्रहो यस्य सः । शान्तक्रोध इत्यर्थः । अत एव सौम्यः प्रसन्नः । अत एव कौवेर्या दिशो भागम् । उत्तरायणमित्यर्थः । 'स्त्रियाः पुंवत्—' (६।३।३४) इत्यादिना पुंवद्भावः । तमपास्य त्यक्त्वा, अगस्त्यस्येममागस्त्यं मार्गमवतीर्णः । दक्षिणायनं गत इत्यर्थः । उष्णांशुरिव स्थितः । अनेन हरेः क्रोधः कार्यवशादाकालमन्तःस्तम्मितः, न त्वेकान्ततो निवृत्त इति सूचितम् । हरिः कृष्णो हरिप्रस्थमिन्द्रप्रस्थं प्रतस्थे प्रचचाल । 'इन्द्रो दुश्च्यवनो हरिः' इति हलायुधः । 'समवप्रविभ्यः स्थः' (१।३।२२) इत्यात्मनेपदम् । 'देशकालाध्वगन्तव्याः कर्मसंज्ञा ह्यकर्मणाम्' इति गन्तव्यस्य कर्मत्वम् । उपमालङ्कारः । सर्गेऽस्मिन्निन्द्रोपेन्द्रवज्रामिश्रणादुपजातिवृत्तम् । 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इति लक्षणात् ।

इस (उद्धवजीके वचन सुनने) के बाद युद्धके आग्रहके दूर हो जानेसे सुप्रसन्न श्रीकृष्ण भगवान्, कुवेरके दिग्भागको छोड़कर अगस्त्यके मार्गको अवतीर्ण अर्थात् उत्तरायणसे दक्षिणायन होनेवाले सौम्य (सह्य–किरण) सूर्यके समान, इन्द्रप्रस्थ (हस्तिनापुर) को चले ।

विमर्श—जिस प्रकार उत्तरायण (मकरकी संक्रान्तिसे मिथुनकी संक्रान्ति तक) सूर्यकी किरणें तीक्ष्ण होनेसे असह्य रहती है, उसके बाद दक्षिणायन होनेपर वही सूर्यकिरणें मन्द होनेसे सह्य हो जाती हैं, उसी प्रकार जब तक अपने बलरामजीके मतके अनुसार शिशुपालसे युद्ध करनेका विचार था, तब तक श्रीकृष्ण भगवान् शरीरतेज क्रोधके कारण उग्र हो रहा था, किन्तु उद्धवजीके वचन सुननेके बाद युद्धका विचार छोड़ देनेपर उनकी शरीरकान्ति सौम्य—आह्लादिका हो गयी, ऐसे वे युधिष्ठिरके यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिए हस्तिनापुरको चले ॥ १ ॥

अथास्य प्रस्थानसन्नाहं वर्णयन्नादौ छत्रधारणमाह—

जगत्पवित्रैरपि तं न पादैः स्प्रष्टुं जगत्पूज्यमयुज्यतार्कः ।
यतो बृहत्पार्वणचन्द्रचारु तस्यातपत्रं बिभरांबभूवे ॥ २ ॥

जगदिति ॥ अर्को जगत्पूज्यं तं हरिं अत एव जगत्पवित्रैरपि पादैश्चरणैः किरणैश्च स्प्रष्टुं नायुज्यत नार्हत । युजेर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । कुतः । यतस्तस्य हरेर्बृहद्विपुलं पार्वणचन्द्रचारु, पूर्णेन्दुसुन्दरमित्युपमालङ्कारः । आतपात्त्रायत इत्यातपत्रं छत्रम् । 'सुपि' (३।२।४) इति योगविभागात् कः । बिभरांबभूवे दधे । भृञः कर्मणि लिट्

'भीह्रीभृहुवाम्' (३।१।३९) इति विकल्पादाम्प्रत्ययः । आतपत्रान्तर्हितस्य द्युरपि पादैः स्प्रष्टुमशक्यत्वादित्यर्थः । जगत्पूज्यस्य हरेः पादेन स्पर्शनिषेधादिति भावः ।

(यात्राकी तैयारीका वर्णन करते हुए पहले छाता लगानेका वर्णन करते हैं) सूर्य संसारमें पवित्र (या संसारको पवित्र करनेवाले) भी चरणों (पक्षा० किरणों) से संसारके पूज्य उन श्रीकृष्ण भगवान् को स्पर्श करने में समर्थ (या योग्य) नहीं हुआ; क्योंकि बड़े तथा पूर्णिमाचन्द्रके समान सुन्दर (गोलाकार, आह्लादक एवं शुभ्रवर्ण) छत्र लगा हुआ था । (अथवा 'बृहत्' शब्दको छत्रका विशेषण मानकर······बड़ा तथा पूर्णिमाचन्द्रके समान सुन्दर छत्र लगा हुआ था । 'वल्लभदेव' इस श्लोककी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—जिस कारण जगत्पूज्य श्रीकृष्ण भगवानको सूर्य जगत्पावन चरणों (पक्षा०—किरणों) से स्पर्श करनेमें योग्य नहीं हुआ, इस कारण बड़े पूर्णिमाचन्द्रके समान सुन्दर छत्र (छाता) लगा हुआ था) ॥ २ ॥

अथ चामरधारणमाह—

मृणालसूत्रामलमन्तरेण स्थितश्चलच्चामरयोर्द्वयं सः ।
भंजेऽभितःपातुकसिद्धसिन्धोरभूतपूर्वां रुचमम्बुराशेः ॥ ३ ॥

मृणालेति ॥ मृणालसूत्रामलं बिसतन्तुविशदमित्युपमा । चलन्ती च ते चामरे च चलच्चामरे । वीजनादिति भावः । तयोर्द्वयमन्तरेण स्थितः । द्वयस्य मध्ये स्थित इत्यर्थः । 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (२।३।४) इति द्वितीया । स हरिरभितः पातुका उभयतः पातिनी सिद्धसिन्धुराकाशगङ्गा यस्य स तथोक्तः । 'पर्यभिभ्यां च' (५।३।९) इति तसिल्प्रत्ययः । 'सर्वोभयार्थवर्तमानाभ्यामिष्यते' इत्युभयार्थत्वम् । सुप्सुपेति समासः । पातुकेति । 'लषपत–' (३।२।१५४) इत्यादिना उकण्प्रत्ययः । तस्याम्बुराशेः समुद्रस्याभूतपूर्वा पूर्वमभूताम् । सुप्सुपेति समासः । रुचं कान्तिं भेजे । अत एव निदर्शना । सा चाम्बुराशेः सम्भावनामात्रोक्त्या अभितः पातुकसिद्धसिन्धुसम्बन्धमूलया असम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्त्या स्वोपजीवकसंयोगेन सङ्कीर्यत इति संक्षेपः ।

(अब चामर-धारणका वर्णन करते हैं) कमलनाल के समान शुभ्रवर्ण (डुलाने से) हिलते हुए दो चामरोंके मध्यमें स्थित उन्होंने (श्रीकृष्ण भगवान्ने) दोनों ओरसे गिरनेवाली आकाशगङ्गाकी (दो धाराओंके गिरनेसे उत्पन्न) समुद्रकी अभूतपूर्व (पहले कभी नहीं हुई) शोभा को धारण किया ।

विमर्श—श्यामवर्ण श्रीकृष्ण भगवान्के दोनों पार्श्वोंमें दो चामर डुलाये जा रहे थे, उनके बीचमें बैठे हुए श्रीकृष्ण भगवान् ऐसे शोभते थे, जैसे दो तरफसे गिरनेवाली आकाशगङ्गाकी दो धाराओंसे समुद्र शोभित हो । किन्तु आजतक ऐसी शोभा समुद्रकी कभी नहीं हुई, अतएव वे अनुपमेय शोभावाले थे ॥ ३ ॥

अथाष्टभिरस्य प्रसाधनविधिं वर्णयन् मुकुटधारणमाह—

चित्राभिरस्योपरि मौलिभाजां भाभिर्मणीनामनणीयसीभिः ।
अनेकधातुच्छुरिताश्मराशेर्गोवर्धनस्याकृतिरन्वकारि ॥ ४ ॥

चित्राभिरिति ॥ अस्य हरेरुपर्यूर्ध्वदेशे मौलिभाजां मुकुटगतानां मणीनामनणीयसीभिर्महतीभिश्चित्राभिरनेकवर्णाभिर्भाभिः प्रभाभिः कर्त्रीभिः । 'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः । सान्तपक्षे । 'भोभगो–' (८।३।१७) इत्यादिना रोर्यकारे तस्य 'हलि सर्वेषाम्' (८।३।२२) इति लोपः । अनेकैर्धातुभिर्गैरिकादिभिश्छुरितानां रूषितानामश्मनां मणीनां राशिः समूहो यस्य तस्य गोवर्धनाख्यपर्वतस्याकृतिरन्वकार्यनुकृता । तत्सादृश्यमभाजीत्यर्थः । पूर्णोपमेयम् ।

(अब आठ श्लोकों (३।४–११) से मण्डन करनेका वर्णन करते हुए पहले मुकुट पहननेका वर्णन करते हैं) इन (श्रीकृष्ण भगवान्) के ऊपर फैलती हुई मुकुटमें जड़े गये रत्नोंकी विविध वर्णोंवाली सान्द्र (सघन या अत्यधिक) कान्ति अनेक धातुओंसे मिश्रित (विविध रंगके गेरु, मैनसिल आदि) पत्थर-समूहोंसे युक्त गोवर्द्धन पर्वतके समान शोभती थी ॥ ४ ॥

कुण्डले च धृते इत्याह—

तस्योल्लसत्काञ्चनकुण्डलाग्रप्रत्युप्तगारुत्मतरत्नभासा ।
अवाप बाल्योचितनीलकण्ठपिच्छावचूडाकलनामिवोरः ॥ ५ ॥

तस्येति ॥ तस्य हरेरुरः उरःस्थलमुल्लसन्त्या काञ्चनकुण्डलाग्रयोः प्रत्युप्तानां खचितानां गारुत्मतरत्नानां मरकतमणीनां भासा दीप्त्या । उरसि प्रसरन्त्येति भावः । बाल्यं शैशवम् । ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ् । तत्रोचितमभ्यस्तं यन्नीलकण्ठपिच्छं मयूरबर्हम् । 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्ये' इति यादवः । 'पिच्छबर्हे नपुंसके' इत्यमरः । तेन निर्मितावचूडा मालिका तस्याः कलनामामोचनमवमोचनं वा अवापेवेत्युत्प्रेक्षा । 'यत्रान्यधर्मसम्बन्धादन्यदेवोपतर्कितम् । प्रकृते हि भवेत्प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षां प्रचक्षते ॥' इति लक्षणात् ।

(अब कुण्डल पहननेका वर्णन करते हैं) उन (श्रीकृष्ण भगवान्) का वक्षःस्थल चमकते हुए स्वर्ण–कुण्डलोंके अग्रभागमें जड़े हुए (पद्मराग मणियोंकी कान्तिसे बचपन (में वारण करने) के योग्य मयूर–पङ्खोंकी माला धारण किये हुए के समान शोभता था ।

विमर्श—श्रीकृष्ण भगवान्‌का वक्षःस्थल श्यामवर्णका था, उसपर स्वर्ण-कुण्डलोंमें जड़े गये मरकत मणिकी कान्ति पड़कर ऐसी प्रतीत होती थी कि मानो वे बचपनमें पहनने योग्य मयूर-पङ्खोंकी माला पहने हों ॥ ५ ॥

तमङ्गदे मन्दरकूटकोटिव्याघट्टनोत्तेजनया मणीनाम् ।
बंहीयसा दीप्तिवितानकेन चकासयामासतुरुल्लसन्ती ॥ ६ ॥

तमङ्गदे इति ।। तं हरिं मन्दरकूटकोटिव्याघट्टनं मन्दराचलशिखराग्रसंघर्षणं सैवोत्तेजना शाणोल्लेखना तया वह्वीयसा बहुतरेण । 'प्रियस्थिर-' (६।४।१५७) इत्यादिना बहुलशब्दस्येयसुनि वहादेशः । मणीनां दीप्तिवितानकेन प्रभापटलेनोल्लसन्ती दीप्यमाने । 'आच्छीनद्योर्नुम्' (७।१।८०) इति नुमागमः । अङ्गदे केयूरे । 'केयूरमङ्गदं तुल्ये' इत्यमरः । चकासयामासतुः शोभयांचक्रतुः । अङ्गदे धृतवानित्यर्थः । चकास्तेर्ण्यन्ताल्लिटि आम्प्रत्ययेऽस्तेरनुप्रयोगः । अत्राङ्गदयोः प्राग्भवीयाङ्गदभेदेऽप्यभेदोक्तिमुत्प्रेक्ष्य तयोर्मन्दरकूटकोटचसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्त्या द्वयोरतिशयोक्त्योः सङ्करः ।

(अब केयूर पहननेका वर्णन करते हैं) मन्दराचलके अधोभागकी करोड़ों रगड़ लगना ही जिनकी शाणपर चढ़ाना है, उस (शाणपर चढ़ाने) से मणियोंके अत्यधिक फैलते हुए कान्ति-समूहसे चमकते हुए दो केयूर उन्हें (श्रीकृष्ण भगवान् को) सुशोभित करते थे ।

विमर्श—भगवान् श्रीकृष्ण क्षीरसमुद्रमें शयन करते हैं, अतः समुद्रमंथनके समय बाहुद्वयमें पहने गये दोनों केयूरोंमें जड़े हुए रत्न मन्दराचल पर्वतके निचले भागकी करोड़ों बार लगी हुई रगड़से शाणपर चढ़ानेके समान घिसकर खूब चमकीले हो गये । ऐसे जड़े गये रत्नोंवाले केयूर उन्हें शोभित करते थे ।। ६ ।।

निसर्गरक्तैर्वलयावनद्धताम्राश्मरश्मिच्छुरितैर्नखाग्रैः ।
व्यद्योतताद्यापि सुरारिवक्षोविक्षोभजासृक्स्नपितैरिवासौ ।। ७ ।।

निसर्गेति ।। असौ हरिर्निसर्गरक्तैः स्वभावलोहितैः । किञ्च बलये कटके 'कटकं वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तयोरवनद्धानां प्रत्युप्तानां ताम्राश्मनां पद्मरागाणां रश्मिभिः छुरितैः अत एवाद्यापि सुरारेर्हिरण्यकशिपोर्वक्षसो विक्षोभेण विदारणेन जाता याऽसृक्तया स्नपितैः सिक्तैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । स्नातेर्ण्यन्तात् क्तः । 'अर्तिह्री-' (७।३।३६) इत्यादिना पुगागमः । मितां ह्रस्वः । नखाग्रैर्व्यद्योतत । कटके च धृतवानित्यर्थः ।

(अब वलय (कङ्कण) पहननेका वर्णन करते हैं) स्वभावतः अरुणवर्ण तथा कङ्कणोंमें जड़े गये पद्मराग मणियोंकी कान्तिसे मिश्रित (अनुरञ्जित) नखाग्रोंसे आज भी हिरण्यकशिपुके वक्षःस्थलको विदीर्ण करनेसे उत्पन्न रक्तसे स्नान किये हुए (सने हुए) के समान नखाग्रोंसे वे (श्रीकृष्ण भगवान्) शोभते थे ।

विमर्श—श्रीकृष्ण भगवान्के नखाग्र स्वभावतः अरुण वर्ण थे, तथा कङ्कणोंमें जड़े गये पद्मराग मणिकी कान्ति पड़नेसे वे अधिक अरुण वर्ण होकर ऐसे मालूम पड़ते थे कि आज भी सहस्रों वर्ष बीतनेपर भी (हिरण्यकशिपुकी छातीको फाड़नेसे निकलते हुये रक्तसे भींगकर लाल हो रहे हैं, वे उन अत्यधिक अरुण वर्ण नखाग्रोंसे शोभ रहे थे ।। ७ ।।

उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम् ।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ।। ८ ।।

उभाविति ॥ तमालवन्नीलं आमुक्ते आसञ्जिते मुक्तालते लतादीर्घत्वसाम्येन मौक्तिकहारौ यस्मिंस्तदस्य हरेर्वक्ष आकाशगङ्गायाः पयस उभौ प्रवाहौ व्योम्नि यदि पृथक् पतेतां प्रवहेतां चेत्। सम्भावनायां लिङ्। तेन व्योम्नोपमीयेत समीक्रियेत। नास्योपमानं किञ्चित्पश्याम इति भावः। मुक्ताहारं धृतवानित्यर्थः। अत्र व्योम्नो गङ्गाप्रवाहद्वयासम्बन्धेऽपि सम्भावनायां सम्बन्धकथनादतिशयोक्तिः। तदेतत् 'पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात्' इत्याद्युदाहृत्यालङ्कारसर्वस्वकारः स्पष्टीचकार।

(अब मुक्ताहार पहननेका वर्णन करते हैं) तमाल के समान नील (श्याम वर्ण) तथा लटकती हुई मुक्तामाला पहने हुए श्रीकृष्ण भगवान् का वक्षःस्थल, यदि आकाशगङ्गाके दो प्रवाह आकाशमें अलग-अलग गिरें तो उस आकाशसे वह वक्षःस्थल उपमित हो।

विमर्श—भगवान् श्रीकृष्णजीका वक्षःस्थल स्वतः श्याम वर्णका तथा उसपर श्वेतवर्ण मुक्तामाला लटक रही थी; उसकी उपमा जगत् में कोई नहीं थी। हाँ, यदि आकाशगङ्गाकी दो धाराएँ अलग-अलग आकाशमें गिरें तो वह आकाश उसकी उपमा हो, किन्तु वैसा सम्भव नहीं होने से उनका वक्षःस्थल अनुपम था ॥ ८ ॥

तेनाम्भसां सारमयः पयोधेर्दध्रे मणिर्दीधितिदीपिताशः।
अन्तर्वसन्बिम्बगतस्तदङ्गे साक्षादिवालक्ष्यत यत्र लोकः ॥ ९ ॥

तेनेति ॥ तेन हरिणा दीधितिभिर्दीपिता आशा येन सः। दिगन्तविश्रान्ततेजा इत्यर्थः। पयोधेरम्भसां सारस्य विकारः सारमयो मणिः। समुद्रमन्थनोत्थः कौस्तुभाख्य इत्यर्थः। दध्रे धृतः। धृञ् धारणे। कर्मणि लिट्। यत्र मणौ बिम्बगतः प्रतिबिम्बगतो लोको बाह्यप्रपञ्चस्तदङ्गे तस्य हरेः शरीरे साक्षात्। बहिः प्रत्यक्षेण लक्ष्यमाण इत्यर्थः। अन्तर्वसन्नन्तर्गतो लोक इवालक्ष्यत। यत्र मणौ प्रतिबिम्बगतो बाह्यलोकस्तदङ्ग एव नैर्मल्याद्बहिः प्रतिफलितः कुक्षिस्थलोक इवालक्ष्यत इत्युत्प्रेक्षा।

(अब कौस्तुभमणि पहननेका वर्णन करते हैं) उन्हीं (श्रीकृष्ण भगवान्) ने किरणोंसे दिशाओंको प्रकाशित करते हुए, समुद्रके जलका सारभूत अर्थात् समुद्र-मन्थनसे उत्पन्न कौस्तुभमणिको धारण किया, जिस कौस्तुभमणिमें प्रतिबिम्बित (बाह्य) जगत् श्रीकृष्ण भगवान्की कुक्षिमें रहनेवाले अन्तर्जगत्के समान मानो साक्षात् दिखलाई पड़ रहा था।

विमर्श—श्रीकृष्ण भगवान्ने समुद्रमन्थनसे उत्पन्न एवं किरणसमूहसे दिशाओंको प्रकाशित करनेवाले कौस्तुभ मणिको पहना, जिसमें प्रतिबिम्बित बाहरी दुनिया (दुनियाके चराचर पदार्थ) ऐसे प्रतीत होते थे कि इनको कुक्षिमें बसनेवाली दुनिया ही प्रत्यक्ष दीख रही हों ॥ ९ ॥

मुक्तामयं सारसनावलम्बि भाति स्म दामाप्रपदीनमस्य।
अङ्गुष्ठनिष्ठ्यूतमिवोर्ध्वमुच्चैस्त्रिस्रोतसः सन्ततधारमम्भः ॥ १० ॥

मुक्तेति ॥ अस्य हरेर्मुक्तामयं मुक्ताप्रचुरम्। 'तत्प्रकृतवचने मयट्' (५।४।२१)

सारसने कटिसूत्रेऽवलम्बते इति सारसनावलम्बि । 'क्लीबे सारसनं चाथ पुंस्कट्यां शृङ्खलं त्रिषु' इत्यमरः । आप्रपदीनम् । आ समन्तात् प्रपदं प्राप्नोतीति, खश्प्रत्ययः । 'पादाग्रं प्रपदं पादः' इत्यमरः । दाम मुक्तासरः अंगुष्ठेन निष्ठ्यूतम् । विसृष्टमित्यर्थः । गौणार्थत्वादग्राम्यत्वम् । यथाह दण्डी—'निष्ठ्यूतोद्गीर्णवान्तादि गौणवृत्तिव्यपाश्रयम् । अतिसुन्दरमन्यत्र ग्राम्यकक्षां विगाहते ॥' इति ऊर्ध्वमूर्ध्वप्रवाहमुच्चैरुन्नतं त्रिस्रोतसो मन्दाकिन्याः सन्ततधारमविच्छिन्नसंपातमम्भ इव भाति स्मेत्युत्प्रेक्षा ।

(अब करधनी पहननेका वर्णन करते हैं) इन (श्रीकृष्ण भगवान्) की करधनीसे चरण तक लटकती हुई मोतियोंकी लड़ी ऐसी शोभती थी कि चरणाङ्गुष्ठसे निकली हुई ऊपरकी ओर निरन्तर प्रवाहित होनेवाली गङ्गाकी धारा का जल हो ॥ १० ॥

स इन्द्रनीलस्थलनीलमूर्ती रराज कर्चूरपिशङ्गवासाः ।
विसृत्वरैरम्बुरुहां रजोभिर्यमस्वसुश्चित्र इवोदभारः ॥ ११ ॥

स इति ॥ इन्द्रनीलस्थलमिव नीलमूर्तिः श्यामाङ्गः । संहितायां 'रो रि' (८।३।१४) इति रेफलोपः । 'ढ्रलोपे पूर्वस्य—' (६।३।१११) इति दीर्घं । कर्चूरं हरितालमिव पिशङ्गं वासो यस्य स पीताम्बरो हरिः । 'हरितालं तु कर्चूरम्' इति वैजयन्ती । स हरिर्विसृत्वरैर्विसृमरैः । 'इण्नशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' (३।२।१६३) अम्बुरुहामम्बुजानाम् । रुहेः क्विप् । रजोभिः । परागैश्चित्रवर्णो यमस्वसुर्यमुनाया उदकस्य भारः पूर उदभारः स इव रराज । 'मन्थौदन—' (६।३।६०) इत्यादिनोदकस्योदादेशः ।

नीलम मणिके स्थल (फर्श) के समान श्याम शरीर तथा हरताल के समान पीले वस्त्र (पीताम्बर) वाले वे (श्रीकृष्ण भगवान्) फैलनेवाले कमल—परागोंसे चित्रित यमुनाके जल-राशिके समान शोभते थे ॥ ११ ॥

प्रसाधितस्यास्य मधुद्विषोऽभूदन्यैव लक्ष्मीरिति युक्तमेतत् ।
वपुष्यशेषेऽखिललोककान्ता सानन्यकान्ता ह्युरसीतरा तु ॥ १२ ॥

प्रसाधितस्येति ॥ प्रसाधितस्यालंकृतस्यास्य मधुद्विषो हरेः अन्यैवासदृशी, विभिन्ना च । 'अन्यौ विभिन्नासदृशौ' इति वैजयन्ती । लक्ष्मीः शोभा, पद्मा च । "शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरपि गद्यते' इति विश्वः । अभूदित्येतद्युक्तम् । कुतः । हि यस्मात् सा प्रसाधनरूपा लक्ष्मीरशेषे वपुषि । वसतीति शेषः । किञ्चाखिललोकस्य कान्ता प्रिया । इतरा नित्या त्वन्यस्य कान्ता प्रिया न भवतीत्यनन्यकान्ता । किन्तु तस्यैवेत्यर्थः । उरसि । उरस्येव वसतीत्यर्थः । अत्र हरेः प्रसाधनादसाधारणी शोभा जातेति पारमार्थिको वाक्यार्थः । अत्र लक्ष्मीशब्देन श्लेषमहिम्ना वाच्यायाः शोभायाः प्रतीयमानायाः श्रीदेव्याः सहाभेदाध्यवसायादियमन्यैव लक्ष्मीरित्यभेदे भेदरूपातिशयोक्तिरलङ्कारः ।

विविध आभूषणोंसे विभूषित इन (श्रीकृष्ण भगवान्) की लक्ष्मी (पत्नी, पक्षा०—शोभा)

दूसरी ही हुई, यह उचित ही था; क्योंकि यह (शोभा) सम्पूर्ण शरीरमें थी और समस्त लोकोंकी कान्ता (प्रिया) थी और दूसरी (लक्ष्मी) तो केवल (इनके) हृदयमें थी और दूसरे किसीकी भी कान्ता (पत्नी) नहीं थी ॥ १२ ॥

अथैनमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—

कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य तस्य ।
आनन्दिताशेषजना बभूव सर्वाङ्गसङ्गिन्यपरैव लक्ष्मीः ॥ १३ ॥

कपाटेति ॥ कपाटवद्विस्तीर्णे मनोरमे च उरःस्थले स्थिता श्रीरिति ललना कान्ता यस्य तस्य हरेरानन्दिताशेषजना सर्वाङ्गसङ्गिनी सकलदेहव्यापिनी अत एवापरैवासाधारण्येव श्रीदेव्या अन्यैव लक्ष्मीः शोभा, रमा च बभूव । स एवालङ्कारः । प्रायेणैकार्थमप्यनेकं श्लोकमुक्तिविशेषलाभाल्लिखन्ति कवयः । यथाह— नैषधे—आदावेव 'निपीय—' (१।१) इत्यादिश्लोकद्वयं; तथा 'स्वकेलिलेश—' (१।२३) इत्यादिश्लोकद्वयं चेति ।

(उसी आशयको प्रकारान्तरसे कहते हैं) किवाड़के समान चौड़े एवं मनोरम वक्षःस्थल (हृदय) में स्थित लक्ष्मीरूपिणी प्रियावाले इन (श्रीकृष्ण भगवान्) की सम्पूर्ण शरीरमें वर्तमान तथा सब लोगोंको आनन्दित करनेवाली दूसरी ही लक्ष्मी (शोभा, पक्षा०— प्रिया) हुई ॥ १३ ॥

अथ देवीसहचरस्यैवास्य यात्रेति सूचयन् प्रसाधनविधेः फलमाह—

प्राणच्छिदां दैत्यपतेर्नखानामुपेयुषां भूषणतां क्षतेन ।
प्रकाशकार्कश्यगुणौ दधानाः स्तनौ तरुण्यः परिवव्रुरेनम् ॥ १४ ॥

प्राणेति ॥ भूषणतामुपेयुषाम्, न तु प्रहरणवतामिति भावः । दैत्यपतेः हिरण्यकशिपोः प्राणच्छिदां प्राणमुषां प्राणापहारिणाम् । वज्रादपि कठोराणामित्यर्थः । नखानां क्षतेन व्रणेन प्रकाशो व्यक्तः कार्कश्यमेव गुणो ययोस्तौ स्तनौ । स्तनानित्यर्थः । जातारेकवचने प्राप्ते जातिभूयस्सु स्तनादिषु जातेर्द्वित्वविशिष्टत्वाद्द्विवचनम् । यथाह—वामनः—'स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः प्रायेण' इति । दधानास्तरुण्यो युवतयः । 'वयसि प्रथमे' (४।१।२०) इति ङीप् । एनम् हरिं परिवव्रुः । अत्र हरिनखानां नरहरिनखभेदेऽप्यभेदोक्त्या स्तनयोश्च तादृक्काठिन्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्त्यतिशयोक्ती तयोश्च सापेक्षत्वात्सङ्करः ।

(अब समस्त पत्नियों के साथ श्रीकृष्ण भगवान्के प्रस्थान करनेका वर्णन करते हैं) भूषणत्वको प्राप्त तथा दैत्यराज (हिरण्यकशिपु) के प्राणापहरण करने (मारने) वाले, वज्रसे भी कठोर नखोंके क्षतसे स्पष्टरूपसे कठोरतारूप गुणको व्यक्त करनेवाले स्तनद्वयको धारण करती हुई युवतियोंने इन्हें चारों ओरसे घेर लिया (साथ चलने के लिए चारो ओर स्थित हो गयीं) ।

विमर्श—हिरण्यकशिपुका शरीर ऐसा कठोर था कि उसमें इन्द्र का वज्र भी कुण्ठित हो गया था, उसे इन श्रीकृष्ण भगवान् के नखोंने विदीर्ण कर दिया, किन्तु हिरण्यकशिपुके वज्राधिक कठोर उदरको विदीर्ण करनेवाले नख इन तरुणियोंके स्तनोंपर केवल क्षतमात्र ही कर सके, अतएव इन स्तनोंकी कठोरता स्पष्ट प्रकट हो रही थी। ऐसी स्तनोंवाली युवतियाँ श्रीकृष्ण भगवान्‌के साथ प्रस्थान करनेके लिए उनके चारों ओर स्थित हो गयीं ॥ १४ ॥

आकर्षतेवोर्ध्वमति[1]कृशीयानत्युन्नतत्वात्कुचमण्डलेन ।
ननाम मध्योऽतिगुरुत्वभाजा नितान्तमाक्रान्त इवाङ्गनानाम् ॥ १५ ॥

आकर्षतेति ॥ अत्युन्नतत्वाद्धेतोः ऊर्ध्वमाकर्षतेव नमन्तम्। मध्यमुन्नमयतेव स्थितेनेत्युत्प्रेक्षा। अतिगुरुत्वमतिभारत्वं, अतिप्रवृद्धत्वं च भजतीति भाक्। 'भजो ण्विः' (३।२।६२) तेनाङ्गनानां कुचमण्डलेनातिकृशीयानत्यन्तकृशतरः तनीयान्, क्षीणश्च। 'र ऋतो हलादेर्लघोः' (६।४।१३१) इति रेफादेशः। मध्यो नितान्तमाक्रान्तः पीडित इव ननाम नतः, प्रणतश्च। अत्र मध्यकुचमण्डलयोर्विशेषणसाम्यादरिविजिगीषुराजप्रतीतेः समासोक्तिः। तथा वाच्ययोः प्रतीयमानाभेदेनाक्रमणक्रियाकर्मकर्तृभावसम्भावितेयं नमनस्याक्रमणहेतुकत्वोत्प्रेक्षेत्यनयोः सङ्करः। उत्प्रेक्षयोस्तु नैरपेक्ष्यादसंसृष्टिरेवेति विवेकः।

अत्यन्त ऊँचा होनेसे मानो ऊपरको खींचते हुएके समान स्थित, तथा अत्यन्त बड़े स्तनं-मण्डलसे अत्यन्त आक्रान्त (दबे हुए) के समान तथा अत्यन्त कृश, स्त्रियोंका मध्य भाग (कटिप्रदेश) नम्र हो गया।

विमर्श—श्रीकृष्ण भगवान्‌के साथ जानेवाली युवतियोंका स्तन-मण्डल बहुत बड़ा-बड़ा तथा कटि-प्रदेश अत्यन्त पतला (मुष्टिग्राह्य) था। वह ऐसा प्रतीत होता था कि अत्यन्त पतले अर्थात् दुबले कटिप्रदेशको बड़े-बड़े स्तनमण्डलने मानो बहुत दबाया (पीडित किया) हो, अतएव वह कटि-प्रदेश नम्र हो। लोकमें भी किसी प्रबल एवं बड़े-बूढ़े या समृद्धिशाली व्यक्तिके द्वारा अत्यन्त पीडित दुर्बल व्यक्ति नम्र (प्रणत) हो जाता है। 'किसी बड़ेके महाप्रभाव के द्वारा ऊपरकी ओर आकृष्ट अर्थात् उन्नतिको प्राप्त अत्यन्त दुर्लभ या दीनव्यक्ति अत्यन्त विनम्र हो जाता है' ऐसा 'बल्लभदेव' सम्मत व्याख्यान 'नितान्तमाक्रान्त इव' (मानो अत्यन्त दबे हुएके समान) इस आशयकी ओर ध्यान देनेसे चिन्त्य है ॥ १५ ॥

यां यां प्रियः प्रैक्षत [2]कातराक्षी सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव ।
निःशङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः ॥ १६ ॥

यां यामिति ॥ प्रियो हरिर्यां यामङ्गनाम्। 'नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) इति वीप्सायां द्विर्भावः एकपदम्। प्रैक्षतालोकयत सा सा। पूर्ववद् द्विर्भावः। कातराक्षी

१. 'मपि कृशीयान—' इति पा०। २. 'कान्तराक्षीम्' इति पा०।

साध्वसाच्चकितलोचना सती ह्रिया नम्रमुखी बभूव। एतेन कार्यद्वारा लज्जासाध्वसभावोदयः उक्तः। अन्यासामीर्ष्याभावोदयमाह—अन्या अप्रेक्षिताङ्गना आहितेर्ष्याः कृतक्षमाः सत्यः। 'परोत्कर्षाक्षमेर्ष्या स्यात्' इति लक्षणात्। तत्रान्तरे तस्मिन्ननीक्षणावसरे। 'क्लीबेऽन्तरं चावकाशे तादर्थ्येऽवसरेऽवधौ' इति वैजयन्ती। निःशङ्कं तदनीक्षणादेव विस्रब्धं यथा तथा समं युगपत्कटाक्षैरमुं हरिं जघ्नुः प्रजघ्नुः सरोषमद्राक्षुः।

(उन अङ्गनाओं, या जन–समुदायके) प्रिय श्रीकृष्ण भगवान्ने जिस–जिस अङ्गनाको देखा, वह–वह (अङ्गना) लज्जासे सङ्कुचितनेत्रा होकर नम्रमुखी हो गयी, तथा (जिन्हें भगवान् श्रीकृष्णजी ने नहीं देखा था, वे) ईर्ष्यालु दूसरी अङ्गनाएँ उस समय निश्शङ्क होकर इन्हें (श्रीकृष्ण भगवान्को) कटाक्षोंसे आहत करने लगीं (कटाक्ष करती हुई श्रीकृष्ण भगवान्की ओर ताकने लगीं)।

विमर्श—श्रीकृष्ण भगवान्ने अपने साथ जानेवाली जिस–जिस नायिकाको देखा, उस-उसने लज्जासे नेत्रको सङ्कुचित कर लिया तथा मुखको नीचा कर लिया, क्योंकि प्रियके देखनेपर ऐसा करना स्त्रियोंका स्वभाव होता है और जिन्हें भगवान्ने नहीं देखा था, वे भगवान्के द्वारा देखी गयी अङ्गनाओंसे ईर्ष्या करती हुई निःशङ्क हो उसी समय भगवान्को कटाक्षपूर्वक देखकर आहत करने लगीं। भगवान्के द्वारा न देखे जानेके कारण इन्हें भगवान्के द्वारा देखी गयी अङ्गनाओंके साथ ईर्ष्या करना एवं कटाक्षसे देखना स्वभावतः उचित ही था। लोकमें कोई व्यक्ति अपने समान गुणवाले का आदर होने पर तथा अपना आदर न होनेपर आदृत व्यक्तिके साथ ईर्ष्या करके आदर करनेवाले आहत करता ही है ॥ १६ ॥

अथास्य पञ्चभिर्दिव्यास्त्रसन्निधानमाह—

> तस्यातसीसूनसमानभासो भ्राम्यन्मयूखावलिमण्डलेन ।
> चक्रेण रेजे यमुनाजलौघः स्फुरन्महावर्त इवैकबाहुः ॥ १७ ॥

तस्येत्यादि ॥ अतसीसूनेन क्षुमाकुसुमेन समानभासस्तुल्यकान्तेः। स्निग्धश्यामस्येत्यर्थः। 'अतसी स्यादुमा क्षुमा' इत्यमरः। तस्य हरेरेकबाहुः भ्राम्यदावर्तमानं मयूखावलीनां मण्डलं चक्रवालं यस्य तेन चक्रेण सुदर्शनेन स्फुरन्महानावर्तो भ्रमो यस्य सः। 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः। यमुनाजलानामोघः पूर इव रेजे। चक्रं दधावित्यर्थः।

(अब पांच श्लोकों (३।१६–२०) से भगवान्के दिव्यास्त्रोंके धारण करनेका वर्णन करते हैं) अलसी अर्थात् तीसीके फूलके समान (श्यामवर्ण) कान्तिवाले उन (श्रीकृष्ण भगवान्) का एक हाथ घूमते हुए किरण–समूहसे युक्त घेरेवाले सुदर्शन चक्रसे स्फुरित

होते हुए बड़े भौंर (पानीका चक्कर) वाले यमुनाके जलसमूह (जलप्रवाह) के समान शोभता था।

विमर्श—'मण्डल' शब्दसे ही 'आवलि' शब्दके अर्थको गतार्थ होनेसे 'आवलि' शब्द को अलङ्कारज्ञ लोग प्रायः अधिक मानते हैं, ऐसा 'वल्लभदेव' का कथन है, किन्तु 'आवलि' शब्द 'मयूख' के साथ सम्बद्ध होकर 'किरण-समूह' का वाचक है और 'मण्डल' शब्द 'घेरे' का वाचक हैं, अतएव 'किरण-समूहसे युक्त घेरेवाले सुदर्शन चक्रसे' ऐसा अर्थ करनेसे 'मण्डल' शब्द अधिक नहीं होता है; यही कारण है कि 'वल्लभदेव' ने भी 'प्रायः' शब्द कहा है ॥ १७॥

विरोधिनां विग्रहभेददक्षा मूर्तेव शक्तिः क्वचिदस्खलन्ती।
नित्यं हरेः सन्निहिता निकामं कौमोदकी मोदयति स्म चेतः॥ १८॥

विरोधिनामिति॥ विरोधिनां वैरिणां विग्रहभेदे शरीरविदारणे दक्षा। 'शरीरं वर्ष्म विग्रहः' इत्यमरः। क्वचित्क्वाप्यस्खलन्ती। सर्वत्राप्रतिहतवृत्तिरित्यर्थः। नित्यं सन्निहिता अनपायिनी। अत एव मूर्ता मूर्तिमती शक्तिः सामर्थ्यमिव स्थितेत्युत्प्रेक्षा। कौमोदकी गदा हरेश्चेतो निकामं मोदयति स्म। स्वसन्निधानेनेति भावः।

शत्रुओंके शरीर (पक्षा०—विरोध) को नष्ट करनेमें समर्थ, कहीं भी स्खलित (निष्फल) नहीं होनेवाली, सर्वदा (श्रीकृष्ण भगवान्‌के) समीप (हाथमें) रहनेवाली, (अतएव) मूर्तिमती शक्तिके समान 'कौमोदकी' नामकी गदा श्रीकृष्ण भगवान्‌के चित्तको अतिशय प्रसन्न करती थी। (श्रीकृष्ण भगवान्‌ने 'कौमोदकी' नामकी गदाको धारण किया)॥ १८॥

न केवलं यः स्वतया मुरारेरनन्यसाधारणतां दधानः।
अत्यर्थमुद्वेजयिता परेषां नाम्नापि तस्यैव स नन्दकोऽभूत्॥ १९॥

न केवलमिति। अन्यस्य साधारणो न भवतीत्यनन्यसाधारणस्तस्य भावस्तत्ता तां दधानः, तथापि यो नन्दकः स्वतया केवलं गजाश्वादिवत्स्वत्वेनैव मुरारेर्नन्दको न, किन्तु परेषां शत्रूणामत्यर्थमुद्वेजयिता भीषयिता सन्। अत एव नाम्नापि चन्द्रादि-वन्नन्दयतीति नन्दक इत्यन्वर्थसंज्ञाबलेनापि। नन्दयितृत्वेनापीति यावत्। तस्यैव तदीय एव योऽनन्यसाधारणत्वात्परोद्वेजकत्वाच्च तस्यैव नन्दकः, नन्दयिता चेत्यर्थः। स नन्दको नन्दकाख्यः खड्गोऽभूत्। सन्निहितोऽभूदित्यर्थः। सम्बन्धानुवादेन सन्निधा-नमेवात्र विधेयं प्रकरणात्। अत्रान्यसाधारणत्वपरोद्वेजकत्वपदार्थाभ्यां विशेषणगत्या नन्दकस्य तदीयतासमर्थनात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः।

अनन्य साधारणताको धारण करनेवाला (दूसरे किसीके लिए असाधारण अर्थात् केवल श्रीकृष्ण भगवान्‌के लिए ही सुलभ) जो केवल श्रीकृष्ण भगवान्‌की आत्मीयतासे नहीं; किन्तु शत्रुओं को अत्यन्त व्याकुल करनेवाला नामसे भी उन (श्रीकृष्ण भगवान्) का ही

नन्दक आनन्ददायक) हुआ । (श्रीकृष्ण भगवान्‌ने 'नन्दक' नामक खड्गको समीपमें रखा) ॥ १९ ॥

न नीतमन्येन नतिं कदाचित्कर्णान्तिकप्राप्तगुणं क्रियासु ।
विधेयमस्याभवदन्तिकस्थं शार्ङ्गं धनुर्मित्रमिव द्रढीयः ॥ २० ॥

न नीतमिति ॥ अन्येन पुरुषान्तरेण नतिमाकर्षणं भेदेन स्वानुकूल्यं च न नीतं न प्रापितम्, क्रियासु रणकर्मसु, हिताहितकृत्येषु च कर्णान्तिकं कर्णगोचरं प्राप्तो गुणो मौर्वी, आप्तताधर्मश्च यस्य तद्विधेयं क्रियासु वश्यं द्रढीयः दृढतरम् । पीडासहतरमिति यावत् । शृङ्गस्य विकारः शार्ङ्गं नाम धनुः मित्रमिवास्य हरेरन्तिकस्थं सन्निहितमभवत् ।

दूसरे किसीसे नम्र न होनेवाला, (बाण-प्रक्षेपके समय) कानतक पहुँची हुई डोरीवाला, कार्यमें वशीभूत तथा दृढतम 'शार्ङ्ग' नामक धनुष दूसरे किसीके द्वारा न झुकनेवाले, कानतक पहुँचे हुए गुण (सत्परामर्श) वाले अर्थात् समयपर सत्परामर्श देनेवाले, कार्यमें वशङ्गत दृढतम मित्रके समान इन श्रीकृष्ण भगवान् के पासमें स्थित हुआ (श्रीकृष्ण भगवान् ने 'शार्ङ्ग' नामक धनुषको पासमें रखा) ॥ २० ॥

प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः कृष्णार्णवाभ्यर्णचरैकहंसः ।
मन्दानिलापूरकृतं दधानो निध्वानमश्रूयत पाञ्चजन्यः ॥ २१ ॥

प्रवृद्धेति ॥ धियं रातीति धीरो मनोहरः मन्द्रो गम्भीरोऽम्बुदस्य मेघस्येव धीरश्च नादः प्रवृद्धो येन सः प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनाद इत्युपमा । कृष्ण एवार्णवः समुद्रस्तस्याभ्यर्णचरोऽन्तिकचरः । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णा' इत्यमरः । स चासावेकहंसश्चेति श्लिष्टपरम्परितरूपकम् । मन्दानिलस्य आपूर आपूरणं तेन कृतं जनितं निध्वानं दधानः । अनाध्मातोऽपि मन्दमारुतप्रवेशादेव ध्वनतीति पाटवादतिशयोक्तिः । ध्वन्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धकथनात् । पञ्चजनो नाम कश्चिदसुरस्तत्र भवः पाञ्चजन्योऽस्य शङ्खः । 'बहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्च वक्तव्यम्' इति ञ्यप्रत्ययः । अश्रूयत श्रूयते स्म । पाञ्चजन्योऽपि सन्निहितोऽभूदित्यर्थः । वीणा श्रूयते, पुष्पाण्याघ्रायन्ते इत्यादिवद्धर्मधर्मिणोरभेदोपचारात्पाञ्चजन्यस्य श्रवणोक्तिः ।

मेघके समान गम्भीर तथा मनोहर ध्वनिवाला, कृष्णरूपी समुद्रके समीपवर्ती, राजहंस रूप तथा मन्दवायुके प्रवेशसे उत्पन्न ध्वनियुक्त 'पाञ्चजन्य' नामक शङ्ख सुना गया ॥ २१ ॥

रराज सम्पादकमिष्टसिद्धेः सर्वासु दिक्ष्वप्रतिषिद्धमार्गम् ।
महारथः पुष्यरथं रथाङ्गी क्षिप्रं क्षपानाथ इवाधिरूढः ॥ २२ ॥

---

१. '—नादधीरम्' इति पा० ।

रराजेति ॥ महान् रथो यस्य स महारथो रथिकविशेषः। "आत्मानं सारथिं चाश्वान् रक्षन् युद्धयेत यो नरः। स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः ॥ इति। रथाङ्गं चक्रमस्यास्तीति रथाङ्गी हरिः इष्टसिद्धेः सम्पादकं लक्षणवत्त्वात्। 'पुष्यः सर्वार्थसाधकः' इति शास्त्रादिति भावः। सर्वासु दिक्ष्वप्रतिषिद्धमार्गम्। अनिषिद्धगमनमित्यर्थः। अधिष्ठानशक्तेर्निरङ्कुशत्वात्। 'पुष्यो हस्तो मैत्रमप्याश्विनश्च चत्वार्यहुः सर्वदिग्द्वारकाणि' इति शास्त्रादिति भावः। क्षिप्रगामिनम्, अन्यत्र क्षिप्रनामकम्। 'क्षिप्रं चाश्विदिनेशपुष्यम्' इति शास्त्रात्। पुष्यरथं क्रीडारथम्। 'असौ पुष्यरथश्चक्रयानं न समराय यत्' इत्यमरः। अधिरूढः सन् पुष्यो रथ इव तं पुष्यरथमधिरूढः पुष्यनक्षत्रगतः क्षपानाथश्चन्द्र इव रराज।

महारथ तथा सुदर्शन चक्रधारी (श्रीकृष्ण भगवान्) ने इष्टकी सिद्धि करनेवाले तथा सब दिशाओंमें विना रोक-टोक जानेवाले और वेगसे चलनेवाले 'पुष्य' नामक रथपर (या-क्रीडा-रथपर) सवार हो इस प्रकार-शोभित हुए, जिस प्रकार इष्टसिद्धि करनेवाले सब दिशाओंकी यात्रामें अनिषिद्ध एवं 'क्षिप्र' संज्ञक 'पुष्य' नक्षत्र पर गया हुआ चन्द्रमा शोभता है ॥ २२ ॥

ध्वजाग्रधामा ददृशेऽथ शौरेः संक्रान्तमूर्तिर्मणिमेदिनीषु।
फणावतस्त्रासयितुं रसायास्तलं विवक्षन्निव पन्नगारिः ॥ २३ ॥

ध्वजेति ॥ अथ रथारोहणानन्तरं शौरेः कृष्णस्य ध्वजाग्रं धाम स्थानं यस्य सः मणिमेदिनीषु मणिमयकुट्टिमेषु संक्रान्तमूर्तिः प्रतिबिम्बिताङ्गः सन् पन्नगारिर्गरुत्मान् फणावतः सर्पान् त्रासयितुं द्रावयितुं रसायास्तलं पातालं विवक्षन्। प्रवेष्टुमिच्छन्निवेत्युत्प्रेक्षा। विशतेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः। ददृशे दृष्टः। सोऽपि सन्निहितोऽभूदित्यर्थः।

इस (रथपर भगवान् श्रीकृष्णके आरूढ होने) के बाद श्रीकृष्णजी की ध्वजाके अग्रभाग (ऊपर) में रहनेवाले, मणिमयी भूमिमें प्रतिविम्बित (अतएव) सर्पोंको भयभीत करनेके लिए मानो पातालमें प्रवेश करते हुए के समान गरुड़को लोगोंने देखा। (गरुड़ भी भगवान् श्रीकृष्णके समीप स्थित हुए) ॥ २३ ॥

यियासतस्तस्य महीध्ररन्ध्रभिदापटीयान् पटहप्रणादः।
जलान्तराणीव महार्णवौघः शब्दान्तराण्यन्तरयाञ्चकार ॥ २४ ॥

यियासत इति ॥ यातुमिच्छतो यियासतः। यातेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः। तस्य हरेः संबन्धी महीं धरन्तीति महीध्राः पर्वताः। मूलविभुजादित्वात्कप्रत्ययः। यदाह वामनः—'महीध्रादयो मूलविभुजादिदर्शनात्' इति। तेषां रन्ध्राणि बिलानि तेषां भिदा भेदनम्। 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' (३।३।१०४)। तस्यां पटीयान् समर्थतरः पटह-

प्रणाद आनकघोषः महार्णवस्यौघः समुद्रस्य प्रवाहः । अन्यानि जलानि जलान्तराणीव । 'सुप्सुपा–' इति समासः । अन्यान् शब्दान् शब्दान्तराणि । पूर्ववत्समासः । अन्तरयाञ्चकार अन्तर्हितानि चकार । छादयामासेत्यर्थः । अन्तरशब्दादन्तर्धानार्थात् 'तत्करोति–' (ग०) इति ण्यन्ताल्लिट् । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' इत्युभयत्राप्यमरः ।

गमनेच्छुक उन (श्रीकृष्ण भगवान्) का, पर्वतोंकी गुफाओंको विदीर्ण करनेमें अतिशय समर्थ, नगाड़ेके शब्द ने दूसरे शब्दको उस प्रकार दबा दिया, जिस प्रकार महासमुद्रका ज्वार–भाटा दूसरे जल–प्रवाहोंकी दबा देता है। (गमनेच्छुक भगवान्‌के नगाड़ेके बजनेपर दूसरी कोई भी ध्वनि सुनाई नहीं पड़ती थी) ॥ २४ ॥

यतः स भर्ता जगतां जगाम [1]धर्त्रा धरित्र्याः फणिना ततोऽधः ।
महाभराभुग्नशिरःसहस्रसाहायकव्यग्रभुजं प्रसस्रे ॥ २५ ॥

यत इति ॥ जगतां भर्ता धारयिता । कुक्षिस्थाखिललोक इत्यर्थः । 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५) इति कर्मणि षष्ठी । स हरिर्यतो येन भूमार्गेण जगाम ततस्तस्मिन्भूभागे अधः पाताले धरित्र्या धरण्याः धर्त्रा धारयित्रा । पूर्ववत्षष्ठी । फणिना शेषेण महता भरेण आसमन्ताद् भुग्नस्य कुब्जीभूतस्य शिरःसहस्रस्य साहायके सहायकर्मणि । 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्' (५।१।१३२) व्यग्राः त्वरमाणा भुजा यस्मिंस्तद्यथा तथा प्रसस्रे प्रसृतम् । भावे लिट् । हरिश्चचालेत्यर्थः । अत्र शेषस्य विशिष्टप्रसरणासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ।

जगत् (लोकत्रय) के धारण करनेवाले वे (श्रीकृष्ण भगवान्) जिस भूभागसे चले, पृथ्वीको धारण करनेवाले शेषनागने उस भूभागके नीचे अधिक भारसे झुकते (नीचेको ओर दबते) हुए सहस्र मस्तकोंकी सहायतामें व्यस्त भुजाओंको फैलाया ।

विमर्श—कुक्षिमें लोकत्रयको धारण करनेसे भारस्वरूप श्रीकृष्ण भगवान् जब चलने लगे, तब वहाँका भूभाग अतिशय भारी हो गया और नीचे पृथ्वीको धारण करनेवाले शेषनागके सहस्र मस्तक इस भारसे दबने लगे, उनकी सहायतार्थ शेषनागने अपनी भुजाओं को फैलाकर उस भार को सम्हाला । लोकमें भी देखा जाता है कि मस्तक पर भारी बोझको लेनेवाला भारवाहक हाथका सहारा देकर भारको सम्हालता है ॥ २५ ॥

अथोच्चकैस्तोरणसङ्गभङ्गभयावनम्रीकृतकेतनानि ।
क्रियाफलानीव सुनीतिभाजं सैन्यानि सोमान्वयमन्वयुस्तम् ॥ २६ ॥

अथेति ॥ अथ हरिचलनानन्तरमुच्चकैरुन्नते तोरणे द्वारदारुणि सङ्गेन भङ्गस्तस्माद्भयेनावनम्रीकृतानि केतनानि यैस्तानि सैन्यानि । सोमस्यान्वयः सन्तानः तं

---

1. 'धर्ता' इति पा० ।

सोमान्वयं हरिं सुनीतिभाजं सुष्ठु नीतिमन्तं क्रियाः सामाद्युपायप्रयोगास्तासां फलानि हिरण्यभूमिमित्रादिलाभा इवान्वयुरन्वगच्छन् । यातेर्लङ् 'लङः शाकटायनस्य—' (३।४।१११) इति झेर्जुस् ।

इस (श्रीकृष्ण भगवान्के चलने) के बाद ऊँचे तोरणोंमें लगकर टूटनेके भयसे पताकाओं को झुकाये हुए सैनिक चन्द्रवंशी उन (श्रीकृष्ण भगवान्) के पीछे इस प्रकार चले, जिस प्रकार श्रेष्ठ नीतिवाले पुरुषके पीछे कर्मों के फल चलते हैं ॥ २६ ॥

श्यामारुणैर्वारणदानतोयैरालोडिताः काञ्चनभूपरागाः ।
आनेमिमग्नैः [1]शितिकण्ठपिच्छक्षोदद्युतश्चुक्षुदिरे[2] रथौघैः ॥ २७ ॥

श्यामेति ॥ श्यामानि चारुणानि च तैः श्यामारुणैः कृष्णलोहितैः । 'वर्णो वर्णेन' (२।१।६१) इति समासः । वारणदानतोयैर्गजमदोदकैरालोडिताः सम्मिलिता अत एव शितिकण्ठपिच्छक्षोदा मयूरबर्हचूर्णा इव द्योतन्त इति तथोक्ताः । क्विप् । उपमालङ्कारः । काञ्चनस्य भूः काञ्चनभूस्तस्याः परागाः पांसवः । आनेमि नेमिमभिव्याप्य । 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री' इत्यमरः । 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' (२।१।११) इत्यभिविधावव्ययीभावः । मग्नै रथौघैः चुक्षुदिरे । पिष्टा इत्यर्थः । परागाणां विशिष्टपेषणासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । तथा च महती गजरथसम्पत्तिर्व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ।

कालिमायुक्त अरुणवर्ण, हाथियोंके मदजलसे सम्मिलित (पङ्किल; अतएव) मोरके पङ्खके समान चमकनेवाले सुवर्णमयी भूमिके परागोंको नेमितक धसनेवाले रथोंके समूहोंने पीस दिया ॥ २७ ॥

न लङ्घयामास महाजनानां शिरांसि नैवोद्धतिमाजगाम ।
अचेष्टताष्टापदभूमिरेणुः [3]पदाहतो यत्सदृशं गरिम्णः ॥ २८ ॥

नेति ॥ अष्टसु धातुषु पदं प्रतिष्ठा अस्येत्यष्टापदं सुवर्णम् । 'रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्' इति सुवर्णपर्यायेष्वमरः । तस्य भूमिस्तस्था रेणुः काञ्चनभूरजः पदाहतः । रथाश्वादिचरणताडितोऽपि सन्नित्यर्थः । महाजनानां बहुजनानां पूज्यानां च शिरांसि न लंघयामास नाक्रमति स्म । किं बहुना, उद्धतिमुत्पवनदर्पं च नैवाजगाम । कुतः । यद्यस्माद्गरिम्णो गुरुत्वगुणस्य माहात्म्यं च । 'प्रियस्थिर—' (६।४।१५७) इत्यादिना गुरोर्गरादेशः । सदृशमनुरूपं यथा तथाऽचेष्टत । अलंघनव्यवहारे गुरुत्वस्यौद्धत्यप्रतिबन्धकत्वादिति भावः । अत्रानौद्धत्यादिप्रस्तुतसुवर्णपरागविशेषणसाम्यादप्रस्तुतसुजनप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ।

स्वर्णमयी भूमिकी धूलने बड़े लोगोंके मस्तकका उल्लंघन नहीं किया अर्थात् उड़कर वहाँ जनताके मस्तकपर नहीं पड़ी अर्थात् औद्धत्यको नहीं प्राप्त किया (अभिमानको नहीं

१. '—पक्ष—' इति पा० । २. 'चुक्षुभिरे' इति पा० । ३. 'खुराहतो' इति पा० ।

किया पक्षा०—ऊपरको नहीं उड़ी), जो उसके गौरवके सदृश था, उसीका ही आचरण किया ॥ २८ ॥

निरुध्यमाना यदुभिः कथञ्चिन्मुहुर्यदुच्चिक्षिपुरग्रपादान् ।
ध्रुवं गुरून् मार्गरुधः करीन्द्रानुल्लङ्घ्य गन्तुं तुरगास्तदीषुः ॥ २९ ॥

निरुध्यमाना इति ॥ तुरगा यदुभिः । आरूढैरिति भावः । कथञ्चिदतिप्रयत्नेन निरुध्यमाना वल्गाकर्षणेन वार्यमाणा अपि यद्यस्मादग्राश्च ते पादाश्च तानग्रपादान् । 'हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोरभेदभेदयोगात्' इति वामनः । सामानाधिकरण्येन समासः । मुहुरुच्चिक्षिपुरुत्क्षिप्तवन्तः तत्तस्मान्मार्गं रुन्धन्तीति मार्गरुधो मन्दगमनेन मार्गरोधिनः । क्विप् । गुरून्महतः, पूज्यांश्च । अलङ्घ्यानपीति भावः । करीन्द्रानुल्लङ्घ्य गन्तुमीषुरिच्छन्ति स्म । ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् । गुरवोऽपि सन्मार्गरोधकाः परैरुल्लङ्घ्यन्त इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ।

(सेनामें वर्तमान) यादवोंके द्वारा किसी प्रकार (बड़ी कठिनाईसे) रोके गये घोड़ोंने जो अगले पैरोंको बार-बार ऊपर उठाया, मानो वह रास्तेको रोकनेवाले विशालकाय गजराजोंको लाँघकर जानेकी इच्छा की ।

विमर्श—यादव घोड़ोंपर सवार थे, उनके आगे विशालकाय हाथी रास्ता रोके हुए खड़े थे, अतएव यादवोंने लगाम कड़ी कर जब उन घोड़ोंकी किसी प्रकार रोका, तब वे घोड़े स्वभावतः अगले पैरोंको बार-बार उठाने लगे, वह ऐसा जान पड़ता था कि वे घोड़े मार्गको रोकनेवाले विशालकाय गजराजोंको अधिकार आगे बढ़ना चाहते थे ॥ २९ ॥

अवेक्षितानायतवल्गमग्रे तुरङ्गिभिर्यत्ननिरुद्धवाहैः ।
प्रक्रीडितान् रेणुभिरेत्य तूर्णं निन्युर्जनन्यः पृथुकान् पथिभ्यः ॥ ३० ॥

अवेक्षितानिति ॥ आयता आकृष्टा वल्गा मुखरज्जुर्यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा यत्नेन दुर्वारवेगत्वादतिप्रयत्नेन निरुद्धा वाहा वाजिनो यैस्तैः । 'वाजिवाहार्वगन्धर्व—' इत्यमरः । तुरङ्गिभिरश्वसादिभिरग्रे पुरोदेशेऽवेक्षितानालोकितान् रेणुभिः प्रक्रीडन्तीति प्रक्रीडितान् पांशुक्रीडाकरान् ! कर्तरि क्तः । पृथुकान् शिशून् । 'पृथुकः शावकः शिशुः' इत्यमरः । जनन्यस्तूर्णमेत्य पथिभ्यो निन्युः अपसारयाञ्चक्रुरिति स्वभावोक्तिः ।

लगाम खींचकर प्रयत्नपूर्वक घोड़ोंको रोकनेवाले घुड़सवारोंसे देखे गये, धूलिसे (मार्गसे) खेलते हुए बच्चोंको (उनकी) माताएँ आकर झट रास्ते से उठा ले गयीं ॥ ३० ॥

दिदृक्षमाणाः प्रतिरथ्यमीयु[1]र्मुरारिमारादनघं जनौघाः ।
अनेकशः संस्तुतमप्यनल्पा नवं नवं प्रीतिरहो करोति ॥ ३१ ॥

---

१. 'मायु'—इति पा० ।

दिदृक्षमाणा इति ॥ अनघमकलङ्कं मुरारिं दिदृक्षमाणा द्रष्टुमिच्छन्तः । दृशेः सन्नन्ताल्लटः शानजादेशः । 'ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः' (१।३।५७) इत्यात्मनेपदम् । जनौघा रथ्यायां रथ्यायां प्रतिरथ्यम्, यथार्थेऽव्ययीभावः । आरात् समीपम् । 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः । ईयुर्जग्मुः । इणो लिट् 'दीर्घ इणः किति' (७।४।६९) इत्यभ्यासदीर्घः । ननु नित्यपरिचिते का दिदृक्षेत्यत्राह—अनेकश इति । अनेकशो बहुवारमित्यर्थः : 'बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्'— (५।४।४२) इति शस्प्रत्ययः । संस्तुतं परिचितमपि वस्तु । जनेनेति शेषः । 'संस्तवः स्यात्परिचयः' इत्यमरः । अनल्पाऽधिका प्रीतिः प्रेमकर्त्री नवं नवम् । आमीक्ष्ण्येन नवं करोति । 'नित्यवीप्सयोः' (८।१।४) इति द्विर्भावः । अहोशब्दः पुराणस्यापि नूतनत्वमित्याश्चर्ये । यथा परमप्रेमास्पदं वस्तु नित्यदृष्टमप्यदृष्टचरमिव प्रतिक्षणं दिदृक्षते भगवानपि तथैवेति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।

दोषवर्जित श्रीकृष्णजीको देखनेके इच्छुक जन–समूह प्रत्येक गलियोंसे समीपमें आये । अत्यधिक प्रेम अनेक बार परिचित को भी नवीन–नवीन बना देता है, अहो–आश्चर्य है ॥३१॥

उपेयुषो वर्त्म निरन्तराभिरसौ निरुच्छ्वासमनीकिनीभिः ।
रथस्य तस्यां पुरि दत्तचक्षुर्विद्वान् विदामास शनैर्न यातम् ॥ ३२ ॥

उपेयुष इति ॥ विद्वानभिज्ञः अत एव तस्यां पुरि नगर्यां दत्तचक्षुः निसृष्टदृष्टिरसौ हरिर्निरन्तराभिर्नीरन्ध्राभिरनीकिनीभिः सेनाभिर्निरुच्छ्वासमतिसङ्कटं वर्त्म उपेयुषः प्राप्तस्य रथस्य शनैर्यातं सम्बन्धनिबन्धनं मन्दगमनं न विदामास न विवेद । 'उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्' (३।१।३८) इत्याम्प्रत्ययः । व्यासङ्गादसंवेदनं न तु तत्त्वाज्ञानादिति भावः । व्यासङ्गस्य पदार्थत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ।

विद्वान् (अतएव) उस द्वारकापुरी में दृष्टि लगाये हुए अर्थात् सजायी गयी द्वारकापुरीको देखते हुए वे (श्रीकृष्ण भगवान्) सघन (परस्परमें सटी हुई) सेनाओंसे ठसाठस भरे हुए मार्ग की प्राप्त रथकी मन्द गतिको नहीं जान सके ॥ ३२ ॥

अथैकत्रिंशच्छ्लोकैर्द्वारकां वर्णयति—

मध्यसमुद्रं ककुभः पिशङ्गीर्या कुर्वती काञ्चनवप्रभासा ।
तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वालेव भित्त्वा जलमुल्ललास ॥ ३३ ॥

मध्य इति ॥ समुद्रस्य मध्ये मध्येसमुद्रम् । 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' (२।१।१८) इति विकल्पादव्ययीभावः । मध्यशब्दस्य तत्सन्नियोगादेकारान्तत्वम् । काञ्चनवप्रभासा हेमप्राकारप्रभया ककुभो दिशः पिशङ्गीः पिङ्गलवर्णाः । गौरादित्वान्ङीष् । कुर्वती या पूः जलं समुद्रोदकं भित्त्वा । उत्थितेति शेषः । तुरङ्गकान्ताया वडवाया मुखे हव्यं वहतीति हव्यवाहोऽग्निः । कर्मण्यण्प्रत्ययः । तस्य वाडवाग्नेर्ज्वालेवोल्लास उद्बभासे । अत्र समुद्रान्तलीनायां वडवानलज्वालायां कदाचित्सम्भा-

व्यमानस्य मध्योल्लसनस्य पुरि दर्शनाभेदाध्यवसायेनास्या ज्वालात्वमुत्प्रेक्षते। इव-शब्दोऽयमुत्प्रेक्षाया एव व्यञ्जको नोपमायाः, ईदृग्ज्वालाया अप्रसिद्धत्वेनोपमानत्वा-योगात्। 'मन्ये शंके ध्रुवं नूनं प्राय इत्येवमादिभिः। उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः॥' इत्याचार्यदण्डी।

(अब एकतीस (३।३३–६३) श्लोकोंसे द्वारका पुरीका वर्णन करते हैं) समुद्रके बीच सुवर्णमय परकोटेकी कान्तिसे दिशाओंको पिङ्गल वर्ण करती हुई जो (द्वारकापुरी) जलको भेदकर (उठी हुई–ऊपर दृश्यमान) बडवाग्निकी ज्वालाके समान शोभती थी॥ ३३॥

कृतास्पदा भूमिभृतां सहस्रैरुदन्वदम्भः परिवीतमूर्तिः।
अनिर्विदा या विदधे विधात्रा पृथ्वी पृथिव्याः प्रतियातनेव॥ ३४॥

कृतास्पदेति॥ भूमिभृतां राज्ञां, गिरीणां च सहस्रैः कृतास्पदा कृताधिष्ठाना। 'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' (६।१।१४६) इति निपातः। उदकमस्यास्तीत्युदन्वानुदधिः। 'उदन्वानुदधिः सिन्धुः' इत्यमरः। 'उदन्वानुदधौ च' (८।२।१२) इति निपातनात् साधुः। तस्याम्भोभिः परिवीता परिवेष्टिता मूर्तिः स्वरूपं यस्याः सा पृथ्वी पृथुः। 'वोतो गुणवचनात्' (४।१।४४) इति ङीप्। एवम्भूता या पूः न निर्विद्यते न खिद्यते इत्यनिर्वित्। विदेर्ज्ञानार्थत्वान्निःपूर्वात् 'सत्सूद्विष–' (३।२।६१) इत्यादिना क्विप्। तेनानिर्विदा अखिन्नेन। अन्यथा शिल्पसौष्ठवासिद्धेरिति भावः। विधात्रा प्रथत इति पृथिवी भूः। प्रथेरौणादिकः षिवन्। 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (४।१।४१) इति ङीप्। तस्या प्रतियातना प्रतिकृतिरिव विदधे विहिता। 'प्रतियातना प्रतिच्छाया। प्रतिकृतिः' इत्यमरः। भूप्रतिनिधित्वोत्प्रेक्षया पुरो वैचित्र्यविस्तारादिवस्तु व्यज्यते।

सहस्रों राजाओंकी निवास–भूमि तथा समुद्र–जलसे परिवेष्टित स्वरूपवाली विशाल जिस (द्वारकापुरी) को खेद रहित ब्रह्माने सहस्रों पर्वतोंसे युक्त तथा समुद्र–जलसे परिवेष्टित पृथ्वीकी प्रतिकृतिके समान बनाया था॥ ३४॥

त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसंपत्प्रसरस्य सीमा।
अदृश्यतादर्शतलामलेषु च्छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु॥ ३५॥

त्वष्टुरिति॥ त्वष्टुर्विश्वकर्मणः सदाभ्यासेन गृहीतो लब्धो यः शिल्पविज्ञानसम्पदः प्रसरः प्रकर्षस्तस्य सीमाऽवधिः। अप्रतिमेति यावत्। या पूरादर्शतलामलेषु दर्पण-पृष्ठस्वच्छेषु। 'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः। जलधेर्जलेषु स्वः स्वर्गस्य। 'स्वरव्ययं स्वर्गनाक–' इत्यमरः। छाया प्रतिबिम्बमिवादृश्यतेत्युत्प्रेक्षा। 'छाया त्वनातपे कान्तौ प्रतिबिम्बार्कजाययोः' इति वैजयन्ती।

ब्रह्माके निरन्तर अभ्यासके द्वारा प्राप्त शिल्प–विज्ञान–सम्पत्तिके विस्तारकी सीमारूप जो (द्वारकापुरी) दर्पण–तलके समान निर्मल समुद्र–जलमें स्वर्गकी छायाके समान दृष्टि-गोचर होती थी॥ ३५॥

रथाङ्गभर्त्रेऽभिनवं वराय यस्याः पितेव प्रतिपादितायाः ।
प्रेम्णोपकण्ठं मुहुरङ्कभाजो रत्नावलीरम्बुधिराबबन्ध ॥ ३६ ॥

रथाङ्गेति ॥ अम्बुधिः पितेव वराय श्रेष्ठाय, जामात्रे च । 'वरो जामातरि श्रेष्ठे' इति विश्वः । रथाङ्गभर्त्रे चक्रधराय हरयेऽभिनवं यथा तथा प्रतिपादितायाः । अङ्कः समीपं, उत्सङ्गश्च तद्भाजः । 'अङ्कः समीप उत्सङ्गे चिह्ने स्थानापराधयोः' इति केशवः । यस्याः पुर उपकण्ठमन्तिके । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अन्यत्र कण्ठे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । मुहुः प्रेम्णा रत्नावलीराबबन्ध आसमन्ताद् बबन्ध । श्लेषानुप्राणितेयमुपमेति संकरः ।

समुद्र श्रेष्ठ सुदर्शन चक्रधारी श्रीकृष्ण भगवान्‌के लिए तत्काल दी गयी समीपवर्तिनी जिस (द्वारकापुरी) के समीपमें प्रेमसे रत्नपङ्क्तियोंको उस प्रकार बाँध (बिखेर) देता था, जिस प्रकार पिता जामाताके लिए तत्काल दी गयी, गोदमें रहनेवाली कन्याके कण्ठमें प्रेमसे रत्नावलि (रत्नोंके हार) को बाँध (पहना) देता है ॥ ३६ ॥

यस्याश्चलद्वारिधिवारिवीचिच्छटोच्छलच्छङ्खकुलाकुलेन ।
वप्रेण पर्यन्तचरोडुचक्रः सुमेरुवप्रोऽन्वहमन्वकारि ॥ ३७ ॥

यस्या इति ॥ चलन्तीनां वारिधिवारिवीचीनां छटासु परम्परासूच्छलद्भिरुत्पतद्भिः शङ्खानां कुलैराकुलेन सङ्कीर्णेन यस्याः पुरो वप्रेण प्राकारेण पर्यन्ते चरतीति तत्तादृशमुडुचक्रं नक्षत्रमण्डलं यस्य सः सुमेरोर्वप्रः सानुः । 'सानुप्राकारयोर्वप्रम्' इत्युभयत्रापि सज्जनः । अहन्यहनीत्यन्वहम् । 'अव्ययं विभक्ति–' (२।१।६) इत्यादिना यथार्थेऽव्ययीभाव; । 'अनश्च' (५।४।१०८) 'नपुंसकादन्यतरस्याम्' (५।४।१०९) इति समासान्तोऽच् । अन्वकार्यनुकृतः । तत्साम्यं प्रापित इत्यर्थः । मेरूपमानाद्वप्रस्य यत्तुल्यमौन्नत्यं व्यज्यते ।

चञ्चल समुद्रके जल–प्रवाहोंसे उछलते हुए शङ्ख–समूहोंसे व्याप्त जिस द्वारकापुरीके परकोटे (चारों ओर के घेरे) ने जिसके चारों तरफ नक्षत्र–समूह घूमते हैं ऐसे सुमेरुके शिखरका अनुकरण किया ॥ ३७ ॥

वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः ।
लोलैरलोलद्युतिभाञ्जि मुष्णन् रत्नानि रत्नाकरतामवाप ॥ ३८ ॥

वणिक्पथ इति । यत्र यस्यां पुरि वणिजां पथि वणिक्पथे आपणे अपूगाः पूगाः सम्पद्यमानानि कृतानि पूगकृतानि पुञ्जीकृतानि । 'श्रेण्यादयः कृतादिभिः' (२।१।५९) इति समासः । श्रेण्यादिषु च्व्यर्थवचनमिति च्व्यर्थता । अलोलद्युतिभाञ्जि स्थिरप्रभावन्ति रत्नानि लोलैश्चलैः । अत एव भ्रमागतैर्जलनिर्गममार्गादागतैः । 'भ्रमाश्च जलनिर्गमाः' इत्यमरः । अम्बुभिर्मुष्णन् अपहरन्, अम्बुराशिरर्णवः । जलमात्रसारोऽपीति भावः । रत्नाकरतामवाप प्राप । न तु प्रागिति भावः । अम्बुराशेः

प्राग्रत्नसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः। तथा च पुर्याः समुद्रातिशायिनि रत्न-समृद्धिर्वस्तु व्यज्यते।

जिस (द्वारकापुरी) में बाजारोंमें ढेर किये गये, स्थिर कान्तिवाले रत्नोंको नालियोंसे आये हुए चञ्चल जलोंसे चुराते हुए समुद्र ने रत्नाकरत्व को पा लिया है अर्थात् रत्नोंकी राशिवाला बन गया॥ ३८॥

अम्भश्च्युतः कोमलरत्नराशीनपांनिधिः फेनपिनद्धभासः।
यत्रातपे दातुमिवाधितल्पं विस्तारयामास तरङ्गहस्तैः॥ ३९॥

अम्भ इति॥ यत्र पुरि अपांनिधिः समुद्रः। अम्भश्च्योतन्ति क्षरन्तीत्यम्भ-श्च्युतो जलस्राविणः अत एव फेनैः। पिनद्धभासः। पिहितकान्तीन्। अपिपूर्वान्नह्यतेः कर्मणि क्तः। 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यपेरकारलोपः। कोमलानु-त्कृष्टान्। रत्नराशीनातपे दातुं शोषणार्थं निधातुमेवेति फलोत्प्रेक्षा। तल्पेष्वट्टेषु अधितल्पम्। 'तल्पं शय्याट्टदारेषु' इत्यमरः। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। तरङ्गैरेव हस्तैर्विस्तारयामास प्रसारितवान्। अत्रातपदानस्य तरङ्गहस्तसाध्यत्वेनोत्प्रेक्षारूपकयोः सङ्करः।

जिस (द्वारकापुरी) में समुद्रने जलको टपकाते (बूँद-बूँद गिराते) हुए तथा फेन लगनेसे मन्दकान्तिवाले कोमल (नवीनतम) रत्न-समूहोंको (सूखनेके लिए) धूप में देनेके लिए तरङ्गरूपी हाथोंसे अटारियोंके द्वारोंपर दिया है॥ ३९॥

[1]यच्छालमुत्तुङ्गतया विजेतुं दूरादुदस्थीयत सागरस्य।
महोर्मिभिर्व्याहतवाञ्छितार्थैर्व्रीडामिवाभ्यासगतैर्विलिल्ये॥ ४०॥

यच्छालमिति॥ सागरस्य महोर्मिभिः कर्तृभिर्यच्छालं यस्याः प्राकारम्। 'प्राकारो वरणः शालः' इत्यमरः। उत्तुङ्गतया औन्नत्यगुणेन। जेतुमिवेत्यर्थः। फलोत्प्रेक्षेयं व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या। दूरादुदस्थीयतोत्थितम्। भावे लङ्। अभ्यासगतैः समीप-गतैः। 'समीपे निकटाभ्याससन्निकृष्टसनीडवत्' इत्यमरः। व्याहतो वाञ्छितार्थः। शालविजयरूपो येषां तैः। विजयाक्षमैरित्यर्थः। अतएव व्रीडादिवेति हेतूत्प्रेक्षा। उर्मिभिर्विलिल्ये विलीनम्। लीयतेर्भावे लिट्। अत्र शक्तस्याप्यविजिगीषोर्व्रीडानुदयात् सापेक्षत्वेनोत्प्रेक्षयोः सङ्करः।

समुद्रके बड़े-बड़े तरङ्ग ऊँचाईसे जिस (द्वारकापुरी) के परकोटे को जीतनेके लिए दूरसे ऊपरकी ओर उठे, किन्तु समीपमें आये हुए परकोटेके अधिक ऊँचे होनेके कारण नष्ट अभि-लाषावाले वे (तरङ्ग) मानों लज्जा से विलीन हो गये॥ ४०॥

---

१. यत्साल' इति पाठः।

कुतूहलेनेव 'जवादुपेत्य प्राकारभित्त्या सहसा निषिद्धः।
रसन्नरोदीद् भृशमम्बुवर्षव्याजेन यस्या वहिरम्बुवाहः ॥ ४१ ॥

कुतूहलेनेति ॥ अम्बु वहतीत्यम्बुवाहो मेघः। कर्मण्यण्। कुतूहलेनान्तःप्रवेश-कौतुकेनेवेति हेतूत्प्रेक्षा। ज़वादुपेत्य यस्याः प्राकारभित्त्या सहसा निषिद्धो निवारितः अतएव बहिरेव रसन् गर्जन्। दुःखात् क्रन्दंश्चेति श्लेषः। अम्बुवर्षव्याजेन भृशमरोदीत् अश्रूणि मुक्तवान्। 'रुदिर् अश्रुविमोचने' लङ्, 'रुदश्च पञ्चभ्यः' (७।३।९८) इती-डागमः। 'अत्राम्बुवर्षव्याजेनोत्पादकस्योक्तश्लेषोत्प्रेक्षत्वात्सङ्करः।

मेघ (भीतर प्रवेश करनेके) कुतूहलसे वेगपूर्वक आकर परकोटे की भीत (चहारदीवारी) से एकाएक रोका जाकर शब्द करता (गरजता, पक्षा०—दुःखसे चिल्लाता) हुआ पानी बरसानेके कपटसे बहुत रोता था।

विमर्श—जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी स्थानमें प्रवेश करनेके कुतूहलसे शीघ्र आता हैं और जब उसे रोक दिया जाता हैं, तब वह दुःखसे चिल्लाता एवं आँसू बहाता हुआ बहुत रोने लगता है, उसी प्रकार मेघ भी द्वारकापुरीमें प्रवेश करनेके लिए शीघ्र आया, किन्तु चहारदिवारी ऊँची होनेसे भीतर प्रवेश नहीं कर सका और बाहर ही गरजने और बरसने लगा, वह गरजना-बरसना उसके दुःखसे चिल्लाने एवं रोकनेके समान प्रतीत होता था ॥ ४१ ॥

यदङ्गनारूपसरूपतायाः कञ्चिद् गुणं भेदकमिच्छतीभिः।
आराधितोऽद्धा मनुरप्सरोभिश्चक्रे प्रजाः स्वाः सनिमेषचिह्नाः ॥ ४२ ॥

यदङ्गनेति ॥ यस्यां पुर्यामङ्गनानां रूपं सौन्दर्यमाकारो वा। 'रूपं स्वभावे सौन्दर्ये आकारश्लेषयोरपि' इति विश्वः। तस्य सरूपतायाः सारूप्याद्भेदकं व्यावर्तकं कञ्चिद्गुणं धर्ममिच्छतीभिरपेक्षमाणाभिः। 'आच्छीनद्योर्नुम्' (७।१।८०) इति विकल्पान्नुमभावः। अप्सरोभिराराधितः प्रार्थितो मनुर्मानुषसृष्टिकर्ता स्वाः स्वकीयाः प्रजाः निमेषः पक्ष्मपात एव चिह्नं व्यावर्तकं तेन सह वर्तन्त इति सनिमेषचिह्नाः। 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (२।२।२८) इति बहुव्रीहिः। चक्रे अद्धा तत्त्वमित्युत्प्रेक्षा। 'तत्त्वे त्वद्धाञ्जसा द्वयोः' इत्यमरः। अत्र स्वाभाविकनिमेषस्याप्सरसः प्रार्थनाहेतुकत्वोत्प्रेक्षया द्वारकाङ्गनानां निमेषमात्रभिन्नममानुषं सौन्दर्यं वस्तु व्यज्यते।

जिस (द्वारकापुरी) में स्त्रियोंकी सुन्दरताकी समानतासे किसी भेदकारक गुणको चाहने-वाली अप्सराओंसे प्रार्थित मनुने अपनी प्रजाओं (द्वारकापुरीमें बसनेवाली अङ्गनाओं) को निमेषयुक्त चिह्नवाली कर दिया।

विमर्श—द्वारकापुरीमें रहनेवाली अङ्गनाओं एवं स्वर्गीय अप्सराओंमें केवल यही भेद था कि इन अङ्गनाओंका निमेष (पलक गिरना) था तथा अप्सराओंका निमेष नहीं

---

१. 'जवादुपेतः' इति पा०।

होता था, शेष सौन्दर्यादि समस्त गुणोंमें द्वारकापुरीमें निवास करनेवाली अङ्गनाएं स्वर्गकी अप्सराओंके समान ही थीं ॥ ४२ ॥

स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैर्विनिह्नुताः स्फाटिकसौधपङ्क्तीः ।
आरुह्य नार्यः क्षणदासु यत्र[1] नभोगता देव्य इव व्यराजन् ॥ ४३ ॥

स्फुरदिति ॥ यस्यां पुरि क्षणदासु रात्रिषु नार्यः स्फुरद्भिस्तुषारांशोश्चन्द्रस्य मरीचिजालैश्चन्द्रिकाभिः विनिह्नुता अपह्नुताः । तदेकरूपतापत्तेरगृह्यमाणा इत्यर्थः । अत एव सामान्यालङ्कारः । 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् । स्फाटिकानां स्फटिकविकाराणां सौधानां पङ्क्तीरारुह्य नभोगता देव्यो देवाङ्गना इव । देवशब्दस्य पचादिषु देवडिति पाठात् 'टिड्ढाणञ्–' (४।१।१५) इत्यादिना ङीप् । व्यराजन् । सौधानामग्रहणादभ्रङ्कषत्वात् तत्र लक्ष्यमाणाः स्त्रियः खेचर्य इव रेजुरित्यर्थः । अत्र नभोगतत्वोत्प्रेक्षायाः पूर्वोक्तसामान्यापेक्षत्वात्सङ्करः ।

जिस (द्वारकापुरी) में रात्रियोंमें स्त्रियां स्फुरित होते हुए चन्द्रकिरण–समूहोंसे छिपी हुई अर्थात् दोनोंके समान (शुभ्रवर्ण) होनेसे एकरूप होनेके कारण अभिन्न होती हुई, स्फटिक रत्नोंके महलोंको श्रेणियों पर चढ़कर आकाशस्थ देवाङ्गनाओंके समान शोभित होती थीं ॥ ४३ ॥

कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु प्रतिक्षपं हर्म्यतलेषु यत्र ।
उच्चैरधःपातिपयोमुचोऽपि समूहमुहुः पयसां प्रणाल्यः ॥ ४४ ॥

कान्तेति ॥ यत्र पुरि क्षपासु रात्रिषु प्रतिक्षपम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । कान्तानि रम्याणीन्दुकान्तोपलानां चन्द्रकान्तमणीनां कुट्टिमानि बद्धभूमयो येषु तेषु । 'कुट्टिमं बद्धभूमिः स्यात्' इति हलायुधः । हर्म्यतलेषूच्चैरुन्नताः प्रणाल्यो जलमार्गाः । 'द्वयो प्रणाली पयसः पदव्याम्' इत्यमरः । अधःपातिनोऽधश्चराः पयोमुचो मेघा यासां ताः । अधःकृतमेघमण्डलत्वात् अज्ञातवृष्टिपाता अपीत्यर्थः । विरोधालङ्कारः । पयसां समूहं पयःपूरं मुहुर्वहन्ति स्म । चन्द्रकान्तनिष्यन्दैरिति भावः । वहेर्लिट् । 'वचिस्वपि–' (६।१।१५) इत्यादिना सम्प्रसारणम् । अत्र सौधानां प्रणालीनां च तादृगौन्नत्यपयःपूरासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्त्यातिशयोक्तिः ।

जिस (द्वारकापुरी) में प्रत्येक रात्रिमें सुन्दर (शुभ्रतम) चन्द्रकान्तमणियोंके फर्शोंवाले महलोंके ऊपरी छतोंपर ऊँची जल बहाने की नालियां नीचे स्थित मेघोंवाली (जिनके नीचे मेघ बरसते हैं ऐसी) होती हुई भी जल–समूहको धारण करती (बहाती) थीं ॥ ४४ ॥

रतौ ह्रिया यत्र [2]निशाम्य दीपाञ्जालागताभ्योऽधिगृहं गृहिण्यः ।
बिभ्युर्बिडालेक्षणभीषणाभ्यो वैदूर्यकुडयेषु शशिद्युतिभ्यः ॥ ४५ ॥

रताविति ॥ यत्र पुरि गृहेष्वधिगृहम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । गृहिण्यः कुला-

---

१. 'यस्याः' इति पा० । २. 'निशम्य' इति पा० ।

ङ्गनाः अतएव रतौ रतिकाले ह्रिया दीपान्निशाम्य निर्वाप्य । शमेर्मित्त्वाद्ध्रस्वादेशाभावश्चिन्त्यः । जालागताभ्यो गवाक्षमार्गप्रविष्टाभ्यः । 'जालं गवाक्ष आनायः' इति विश्वः । विदूरात् प्रभवन्तीति वैदूर्याणि बालवयजानि मणयः 'वैदूर्यं बालवायजम्' इति विश्वः । 'विदूराञ्ञ्यः' (४।३।८४) इति ञ्यप्रत्ययः । अत्र विदूरशब्दो बालवायस्यादेशः पर्यायो वा तत्रोपचारितो वा । तेन बालवायादगिरेरसौ प्रभवति न विदूरान्नगरात् । तत्र तु संस्क्रियत इत्याक्षेपः प्रयुक्तः । तदुक्तम्— 'बालवायो विदूरं च प्रकृत्यन्तरमेव वा । न तत्रेति चेद्ब्रूयाज्जित्वरीवदुपाचरेत् ॥' इति तेषां कुड्येषु भित्तिषु । संक्रान्ताभ्य इपि शेषः । अत एव तच्छायापत्त्या पैङ्गल्याद्विडालेक्षणवद्भीषयन्ते इति भीषणाभ्यो भयंकाराभ्यः । नन्द्यादित्वात्कर्तरि ल्युप्रत्यये टाप् । शशिद्युतिभ्यो विभ्युर्भीताः । मौग्ध्यादिति भावः । बिभेतेर्लिट् । अत्र लज्जावारणाय दीपनिर्वापणे न केवलं तदसिद्धिः प्रत्युत भयं चोत्पन्नमित्यनर्थोत्पत्तिरूपो विषमभेदः । 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेद् । विरूपघटना या स्याद्विषमालंकृतिर्मता ॥' इति लक्षणात् ।

जिस (द्वारकापुरी) में घरों (कमरों) में कुलाङ्गनाएं रतिकालके समय लज्जासे दीपको बुझाकर खिड़कियों (के मार्ग) से आयी (भीतर प्रविष्ट) हुई वैदूर्यमणियों (लहसनियां नामक श्रेष्ठजातीय पत्थरों) में (प्रतिविम्बित हुई) बिलावके नेत्रोंके समान भयङ्कर चन्द्रकिरणोंसे भयभीत हो जाती थीं ॥ ४५ ॥

यस्यामतिश्लक्ष्णतया गृहेषु विधातुमालेख्यमशक्नुवन्तः ।
चक्रुर्युवानः प्रतिबिम्बिताङ्गाः सजीवचित्रा इव रत्नभित्तीः ॥ ४६ ॥

यस्यामिति ॥ यस्यां पुरि गृहेष्वतिश्लक्ष्णतया रत्नभित्तीनामतिस्निग्धतया आलेख्यं चित्रं विधातुं निर्मातुमशक्नुवन्तो युवानः प्रतिबिम्बिताङ्गाः स्वयं तासु संक्रान्तमूर्तयः सन्तो रत्नभित्तीः सजीवचित्राः सचेतनचित्रवतीरिव चक्रुरित्युत्प्रेक्षा ॥

जिस (द्वारकापुरी) में महलों (की दीवारों) में अत्यन्त चिकना होनेसे चित्र बनानेमें असमर्थ होते हुए युवकों (नौजवान चित्रकारों) ने स्वयं प्रतिबिम्बित होकर रत्नकी दीवारों को चेतनायुक्त (जीवधारी) चित्रोंवाली बना दिया ॥ ४६ ॥

सावर्ण्यभाजां प्रतिमागतानां लक्ष्यैः स्मरापाण्डुतयाङ्गनानाम् ।
यस्यां कपोलैः कलधौतधामस्तम्भेषु भेजे मणिदर्पणश्रीः ॥ ४७ ॥

सावर्ण्येति ॥ यस्यां पुरि कलधौतधामस्तम्भेषु हेमागारस्तम्भेषु । 'कलधौतं रौप्यहेम्नोः' इति विश्वः । प्रतिमागतानां प्रतिबिम्बगतानां सावर्ण्यभाजाम् । तत्सावर्ण्यादगृहीतभेदानामित्यर्थः । अत एव सामान्यालंकारः । 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् । अङ्गनानां स्मरपाण्डुतया लक्ष्यैर्विभिन्नवर्णत्वाद्भेदेन गृह्यमाणैरित्यर्थः । कपोलैर्मणिदर्पणानां स्फटिकमुकुराणां श्रीरिव श्रीः भेजे प्राप्ता इति निदर्शना । सा चोक्तसामान्यप्रसादलब्धेति तेनास्याः सङ्करः ।

जिस (द्वारकापुरी) में सोनेके बने गृहस्तम्भोंमें प्रतिबिम्बित (गौर वर्णवाली होनेसे) समानवर्णवाली कुलाङ्गनाओंके कामवश पाण्डुवर्ण होनेसे लक्षित होनेवाले कपोलोंने मणिदर्पणकी शोभाको प्राप्त किया ॥ ४७ ॥

शुकाङ्गनीलोपलनिर्मितानां लिप्तेषु भासा गृहदेहलीनाम् ।
यस्यामलिन्देषु न चक्रुरेव मुग्धाङ्गना गोमयगोमुखानि ॥ ४८ ॥

शुकाङ्गेति ॥ यस्यां पुरि मुग्धाङ्गनाः शुकाङ्गवन्नीलोपला नीलमणयः । मरकतानीत्यर्थः । 'उपलः प्रस्तरे मणौ' इति विश्वः । तैर्निर्मितानां गृहाणां देहल्यो गृहद्वारशाखाधारदारूणि । 'गृहावग्रहणी देहली' इत्यमरः । तासां भासा लिप्तेष्वलिन्देषु द्वारबहिर्भागेषु । प्रघाणप्रघणालिन्दा बहिर्द्वारप्रकोष्ठके' इत्यमरः । गोः पुरीषं गोमयम् । 'गोश्च पुरीषे' (४।३।१४५) इति मयट् । तस्य गोमुखानि विलेपनानि । 'गोमुखं कुटिलाकारे वाद्यभाण्डे विलेपने' इति विश्वः । न चक्रुरेव । मरकतप्रभायां विलेपनभ्रान्त्येति भावः । अत एव भ्रान्तिमदलङ्कारः । 'कविसम्मतसादृश्याद्वस्त्वन्तरमतिर्हि यत् । स भ्रान्तिमान्' इत्यलङ्कारसर्वस्वकारलक्षणात् ।

जिस (द्वारकापुरी) में मुग्धा अङ्गनाओंने तोतेके शरीरके समान (हरे) मरकत मणियोंसे बनी हुई महलोंकी देहलियोंकी कान्तिसे व्याप्त बाहरी द्वारोंको गोबरसे नहीं ही लीपा ।

विमर्श—महलोंकी देहलियाँ मरकतमणियोंसे बनी हुई थीं, उनकी कान्ति बाहरी द्वारपर पड़कर उन्हें गोबरसे लिपे हुएके समान हरित पर्ण बना रही थी, अतएव उनको गोबरसे लिपा हुआ समझकर मुग्धा अङ्गनाओंने उन्हें नहीं लिपा । 'मुग्धा' अङ्गनाओंको उक्त भ्रम होना उचित ही था ॥ ४८ ॥

गोपानसीषु क्षणमास्थितानामालम्बिभिश्चन्द्रकिणां कलापैः ।
हरिन्मणिश्यामतृणाभिरामैर्गृहाणि नीध्रैरिव यत्र रेजुः ॥ ४९ ॥

गोपानसीष्विति । यत्र पुरि गृहाणि गोपानसीषु वलभीषु । छादनाधारेषु वंशपञ्जरेष्वित्यर्थः । अत एव 'गोपानसी तु वलभी छादने वक्रदारुणि' इत्यत्र पटलाधारवंशपञ्जरं इत्याह स्वामी । क्षणमीषत्कालम् । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । आस्थितानामासीनानां चन्द्रकाः मेचकाः । 'समौ चन्द्रमेचकौ' इत्यमरः । तद्वतां चन्द्रकिणां मयूराणामालम्बिभिर्लम्बमानैः कलापैर्बर्हैः । 'कलापो भूषणे बर्हे' इत्यमरः । हरिन्मणयो मरकतानि । 'गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः' इत्यमरः । तद्वच्छ्यामैस्तृणैरभिरामाणि । हरिततृणमयानीत्यर्थः । तैर्नीध्रैः पटलप्रान्तैरिव रेजुः । 'वलीकनीध्रे पटलप्रान्तेऽथ पटलं छदिः' इत्यमरः । छादनपर्यायौ पटलच्छदी । छद्यञ्चलवाचिनो । वलीकनीध्रे । छदेराधारो वंशपञ्जरो गोपानसीति विवेकः । अत एव हरितत्वालम्बनादिगुणक्रियानिमित्तत्वान्नीध्रैरिवेति जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा ।

जिस (द्वारकापुरी) में महल, छज्जोंपर क्षणमात्र (थोड़ी देर) बैठे हुए मयूरोंके पन्ना

मणिके सदृश श्याम (गाढ़े हरे रंगवाले) तृणके समान मनोहर पूछोंसे ऐसा शोभते थे; जैसे छप्परोंसे शोभते हों ॥ ४९ ॥

बृहत्तुलैरप्यतुलैर्वितानमालापिनद्धैरपि चावितानैः ।
रेजे विचित्रैरपि या सचित्रैर्गृहैर्विशालैरपि भूरिशालैः ॥ ५० ॥

बृहदिति ॥ याः पूः बृहत्यस्तुला उपरिस्थाप्यदार्वाधारभूतानि स्तम्भाग्रपीठानि येषु तैः बृहत्तुलैस्तथाप्यतुलैस्तद्रहितैरिति विरोधः । अनुपमैरित्यविरोधः । 'तुलामाने पलशते सादृश्ये राजिभाण्डयोः । गृहाणां दारुबन्धाय पीठ्याम्' इति हैमः । वितानानामुल्लोचानां मालाभिः पङ्क्तिभिः पिनद्धैराच्छादितैः तथाप्यवितानैस्तद्रहितैरिति विरोधः । अशून्यैरित्यविरोधः । समस्तवस्तुसमृद्धैरित्यर्थः । 'अस्त्री वितानमुल्लोचः' 'वितानं त्रिषु तुच्छकम्' इत्युभयत्राप्यमरः । विचित्रैरालेख्यरहितैरपि सचित्रैः तत्सहितैरिति विरोधः । विचित्रैरद्भुतैरिति परिहारः । 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः । विगताः शाला गृहैकदेशा येषां तानि । 'शाला गृहे तरुस्कन्धे शाखागारैकदेशयोः' इति विश्वः । तैः विशालैरपि भूरिशालैः प्रचुरगृहैकदेशविशिष्टैरिति विरोधः । विशालैः पृथुलैरित्यविरोधः । 'विशालं पृथुलं महत्' इत्यमरः । 'वेः शालच्छकटचौ' (५।२।२८) इति शालच्प्रत्ययः । गृहै रेजे । अपिरयं सर्वत्र विरोधे । विरुद्धवदाभासाद्विरोधालङ्कारः । 'विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः' इति काव्यप्रकाशलक्षणात् ।

जो (द्वारकापुरी) बृहत्तुला (बड़ी तुलाओं) खम्भोंके ऊपरमें रखे जानेवाले काष्ठों 'मथला') वाले होनेपर भी अतुल (तुलनाओंसे रहित । पक्षा०—असमान—अनुपम), वितानों (वे दोनों) के समूहोंसे युक्त होते हुए भी अवितान (वितानोंसे रहित । पक्षा०— अशून्य अर्थात् समस्त पदार्थोंसे परिपूर्ण), विचित्र (चित्रोंसे हीन । पक्षा०—नाना प्रकार के) होते हुए भी सचित्र (चित्रोंसे युक्त) और विशाल (शालाओंसे रहित । पक्षा०—बड़े-बड़े) होते हुए भी बहुत शालाओं (कमरों) वाले गृहोंसे शोभती थी ।

विमर्श—इस लोकमें प्रथम अर्थ करने पर परस्पर विरुद्ध अर्थ होनेके कारण विरोध भासित होता है, उसका दूसरे अर्थ द्वारा परिहार हो जाता है; अतएव ऐसे स्थलोंमें आलङ्कारिकोंने 'विरोधालङ्कार' माना हैं ॥ ५० ॥

चिक्रंसया कृत्रिमपत्त्रिपङ्क्तेः कपोतपालीषु निकेतनानाम् ।
मार्जारमप्यायतनिश्चलाङ्गं यस्यां जनः कृत्रिममेव मेने ॥ ५१ ॥

चिक्रंसयेति ॥ यस्यां पुरि निकेतनानां वेश्मनाम् । 'वेश्म सद्म निकेतनम्' इत्यमरः । कपोतान् पक्षिणः पालयन्तीति कपोतपाल्यो विटङ्कापरनामानः स्तम्भाग्रप्रसारिता दारुविशेषाः । 'कपोतपालिकायां तु विटङ्कं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः । कर्मण्यणि ङीप् । तासु कृत्रिमपत्त्रिणां दारुमयपक्षिणां पङ्क्तेः कर्मणि षष्ठी । चिक्रंसया

१. 'आनत–' इति ।

क्रमितुमिच्छया। जिघृक्षयेत्यर्थः । क्रमेः सन्नन्ताद् 'अ प्रत्ययाद्' (३।३।१०२) इत्यकारप्रत्यये टाप्। 'स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते' (७।२।३६) इतीडागमो न भवति। अत्र क्रमेर्वृत्त्यादिव्यतिरिक्तार्थेऽपि 'अनुपसर्गाद्वा' (१।३।४३) इति वैकल्पिकस्यात्मनेपदनिमित्तस्यानुपसर्गत्वस्य वैवक्षिकस्य सम्भवात् । आयतमानतं वा निश्चलमङ्गं यस्य तं मार्जारं विडालमपि। 'ओतुर्विडालो मार्जारः' इत्यमरः। जनः कृत्रिमं क्रियया निर्वृत्तमेव मेने। न तु वास्तवमित्यर्थः। 'ड्वितः क्त्रिः' (३।३।८८) 'क्त्रेर्मम्नित्यम्' (वा०) इति मम्प्रत्ययः। अनेन कृत्रिमाकृत्रिमभेदो दुर्ग्रह इति शिल्पज्ञानातिशयोक्तिः। अत्र कविकल्पितसादृश्यान्मार्जारजनयोः कृत्रिमाकृत्रिमेषु विपरीतमतिवर्णनाद् भ्रान्तिमदलङ्कारः।

जिस (द्वारकापुरी) में भवनोंकी कपोतपालियों (कबूतर पालनेके दराजों) पर चित्रित पक्षि-समूहपर आक्रमण करनेकी इच्छासे झुके हुए निश्चल शरीरवाले बिलावको भी लोगोंने चित्रित ही माना ॥ ५१ ॥

क्षितिप्रतिष्ठोऽपि मुखारविन्दैर्वधूजनश्चन्द्रमधश्चकार।
अतीतनक्षत्रपथानि यत्र प्रासादशृङ्गाणि वृथाध्यरुक्षत्[1] ॥ ५२ ॥

क्षितीति ॥ यस्यां पुरि वधूजनः क्षितौ प्रतिष्ठा यस्य स भूमिस्थितोऽपि चन्द्रम्। दिवि स्थितमिति भावः। तत्रापि मुखैरेवारविन्दैरधश्चकारेति विरोधः। स्वलावण्यमहिम्नाऽधरीचकारेति परिहाराद्विरोधालङ्कारः। अतीतानि नक्षत्रपथमतीतनक्षत्रपथानि। 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' (वा०) इति समासः। 'द्विगुप्राप्तापन्ना-' (वा०) इत्यादिना परवल्लिङ्गताप्रतिषेधः। प्रासादशृङ्गाणि वृथा अध्यरुक्षदधिरोहति स्म। अनधिरुह्यैवाधःकरणादिति भावः। रोहतेर्लुङ्। 'शल इगुपधादनिटः क्सः' (३।१।४५) इति च्लेः क्सादेशः। अत्राधःकरणवाक्यार्थस्य श्लेषविरोधोपजीव्यवैयर्थ्ये हेतुत्वात्सङ्कीर्णः काव्यलिङ्गभेदः।

जिस (द्वारकापुरी) में भूमिस्थित भी स्त्रियोंने मुखकमलोंसे चन्द्रमाको नीचा कर दिया (पक्षा०—अपने मुखकी सुन्दरताद्वारा तिरस्कृत कर दिया। अतएव वे) नक्षत्रोंके मार्गको अतिक्रान्त अर्थात् नक्षत्रोंके मार्गसे भी ऊँचे महलोंके शिखरों (ऊपरी छतों) पर व्यर्थ चढ़ीं।

विमर्श—भूमिस्थित वधूजनका आकाशस्थ चन्द्रमाको नीचा करना असम्भव होने से विरोध आता है, उसका परिहार पक्षान्तरीय अर्थसे करना चाहिये। आशय यह है कि जब भूमिपर स्थित भी वधुओंने आकाशस्थ चन्द्रको नीचा (पक्षा०—तिरस्कृत) कर दिया, तब नक्षत्र मार्गसे, भी ऊँचे महलोंके छतोंपर उनका चढ़ना व्यर्थ सिद्ध हुआ। द्वारकापुरीकी स्त्रियोंके मुख चन्द्रमासे भी सुन्दर थे तथा वहाँके महल नक्षत्रोंके मार्गसे भी अधिक ऊँचे थे ॥ ५२ ॥

---

१. 'मुधाध्यरोहत्' इति पा०।

रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः॥ ५३॥

रम्या इति। यस्यां पुरि युवानो रम्या रमणीया इति हेतोः पताकाः प्राप्तवतीः। उत्क्षिप्तध्वजा इत्यर्थः। अन्यत्र रम्या इत्येवं पताकाः प्राप्तवतीः। प्रसिद्धिं गता इत्यर्थः। 'पताका वैजयन्त्यां च सौभाग्येऽङ्कध्वजेऽपि च', 'इति हेतौ प्रकरणे प्रकारादिसमाप्तिषु' इत्युभयत्रापि विश्वः। विविक्ता विजना विमलाश्च इति हेतो रागं वर्धयन्तीः। 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्युभयत्राप्यमरः। नमद्वलीका नम्रनीध्राः। 'वलीकनीध्रे पटलप्रान्ते' इत्यमरः। अन्यत्र नमन्त्यो वल्यस्त्रिबल्याख्या मध्यरेखा यासां ता नमद्वलीकाः। 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इति कप्प्रत्ययः। 'बली मध्यमरेखोर्मिजोर्णत्वग्गृहदारुषु' इति वैजयन्ती। वलभीः कूटागाराणि। 'कूटागारं तु वलभी' इत्यमरः। वधूभिः सममसेवन्त। वधूसहिता असेवन्तेत्यर्थः। अत्र वधूनां वलभीनां च प्रकृतानामेव धर्मसाधर्म्येणौपम्यावगमात् केवलप्राकृतगोचरा तुल्ययोगिता न श्लेषः। तत्र विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वनियमात्। यथाहुः—'प्रस्तुतानां तथान्येषां केवलं तुल्यधर्मतः। औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता॥' इति।

जिस (द्वारकापुरी) में युवक लोग रमणीय होनेसे पताकाओंसे युक्त (पक्षा०—सुन्दरी होनेसे प्रसिद्धिको प्राप्त), एकान्त होनेसे रागको बढ़ाती हुई (पक्षा०—शुद्ध होनेसे स्नेहको बढ़ाती हुई), झुकी हुई वलियों (छज्जेके घोड़मुहों) वाली (पक्षा०—लटकती हुई त्रिबलियोंवाली), स्त्रियोंके साथ वलभियों (महलके छतोंपर बने हुए हवादार छोटे कमरों—बंगलों) का सेवन (स्त्रियोंके साथ बिहार) करते थे।

विमर्श—प्रथम अर्थ वलभियोंके पक्षमें तथा द्वितीय अर्थ स्त्रियोंके पक्षमें करना चाहिए॥

सुगन्धितामप्रतियत्नपूर्वां बिभ्रन्ति यत्र प्रमदाय पुंसाम्।
मधूनि वक्त्राणि च कामिनीनामामोदकर्मव्यतिहारमीयुः॥ ५४॥

सुगन्धितामिति॥ यत्र पुरि न प्रतियत्नः संस्कारः पूर्वो यस्यास्तामप्रतियत्नपूर्वामकृत्रिमाम्। स्वाभाविकीमित्यर्थः। 'प्रतियत्नस्तु संस्कारः' इति वैजयन्ती। शोभनो गन्धो येषां तेषां भावस्तत्ता तां सुगन्धितां सौरभ्यम्। 'गन्धस्येत्—' (५।४।१२५) इतीकारः। बिभ्रन्ति बिभ्राणानि। 'वा नपुंसकस्य' (७।१।७९) इति नुमागमः। मधूनि मद्यानि कामिनीनां वक्त्राणि च यूनां प्रमदाय प्रीत्यै आमोदकर्मणो वासनाधानस्य व्यतिहारं परस्परकरणमीयुः। अन्योन्यगन्धेनान्योन्यं वासयामासुरित्यर्थः। इणो लिट्। अत्रापि मधूनां वक्त्राणां च प्रकृतत्वात्तत्पूर्वक एव तुल्ययोगिताभेदः। तेन यूनां मधुवासितवधूवदनपानं वदनवासितगण्डूषपानं च वस्तु व्यज्यते। तेन च निरातङ्कभोगाः पौरा इति गम्यते।

जिस (द्वारकापुरी) में बिना प्रयासके ही सुगन्धिको धारण करनेवाले मद्य तथा

स्त्रियोंके मुखने पुरुषोंके हर्षके लिए परस्परमें सुवासित करनेके कार्यका आदान-प्रदान किया ॥ ५४ ॥

रतान्तरे यत्र गृहान्तरेषु वितर्दिनिर्यूहविटङ्कनीडः ।
रुतानि शृण्वन् वयसां गणोऽन्तेवासित्वमाप स्फुटमङ्गनानाम् ॥ ५५ ॥

रतान्तर इति ॥ यत्र पुरि गृहान्तरेषु वितर्दयो विहारवेदिकाः । 'स्याद्वितर्दिस्तु वेदिका' इत्यमरः । तासां निर्यूहा मत्तवारणाख्या अपाश्रयाः । 'निर्यूहो मत्तवारणः' इति वैजयन्ती । तेषां विटङ्का उपरितन्यः कपोतपालिकाः त एव नीडाः कुलाया यस्य सः । 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः । वयसां शुकसारिकादिपत्त्रिणां गणः । 'वयः पक्षिणि बाल्यादौ' इति विश्वः । अङ्गनानाम् । वितर्दिषु रममाणानामिति भावः । रतान्तरे रुतानि रतिकूजितानि शृण्वन् । अन्ते समीपे वसन्त इत्यन्तेवासिनः शिष्याः । 'छात्रान्तेवासिनौ शिष्ये' इत्यमरः । 'शयवासवासिष्वकालात्' (६।३।१८) इत्यलुक् । तेषां भावस्तत्त्वमाप । समीपे प्रतिशब्दं यथाश्रुतमुच्चारणादेवमुत्प्रेक्ष्यते । अत एव स्फुटमिति व्यञ्जकप्रयोगः ।

जिस (द्वारकापुरी) में भवनोंके भीतरमें विहार-वेदियोंके घोड़मुहोंके ऊपर स्थित कपोतपालिकाओंमें घोंसला बनाये हुए (शुक-सारिका आदि) पक्षि-समूह रतिकालमें अङ्गनाओंके (सीत्कार आदि) रोदनध्वनिको सुनकर मानो उनके शिष्य बन गये ॥ ५५ ॥

छन्नेष्वपि स्पष्टतरेषु यत्र स्वच्छानि नारीकुचमण्डलेषु ।
आकाशसाम्यं दधुरम्बराणि न नामतः केवलमर्थतोऽपि ॥ ५६ ॥

छन्नेष्विति ॥ यत्र पुरि छन्नेष्वाच्छादितेषु । 'वा दान्त-' (७।२।२७) इत्यादिना वैकल्पिको निपातः । स्पष्टतरेषु । स्फुटतरं लक्ष्यमाणेष्वित्यर्थः । नारीकुचमण्डलेषु स्वच्छानि स्फटिकादिवदतिरोधायकानि, अम्बराणि वस्त्राणि केवलं नामतोऽम्बरमिति नाम्नैवाकाशसाम्यं न दधुः । 'अम्बरं व्योम्नि वाससि' इति विश्वः । किन्त्वर्थतोऽप्यर्थक्रिययापि तत्साम्यं दधुः । स्वयमतिसूक्ष्मत्वादव्यवधायकत्वं दृष्ट्यादेर्मूर्तान्तिरगत्यविघातित्वं चेत्यादिनापि साम्यं दधुरित्यर्थः । उपमालङ्कारः ।

जिस (द्वारकापुरी) में आच्छादित होनेपर भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हुए स्त्रियोंके स्तन-मण्डलोंपर शुभ्र वस्त्रोंने केवल नाम ('अम्बर' शब्द) से ही नहीं, किन्तु (स्त्रीस्तनोंको आच्छादित करनेपर भी उनके स्पष्ट-स्पष्ट दृष्टिगोचर होनेके कारण) अर्थसे भी आकाशकी समानताको ग्रहण कर लिया ।

विमर्श—'अम्बर' शब्द आकाश तथा वस्त्र दोनों अर्थोंको कहता है, उस स्वच्छ 'अम्बर' (वस्त्र) से आच्छादित होनेपर भी स्त्रियोंके कुचमण्डल अत्यन्त स्पष्ट दिखलायी पड़ते थे, अतएव वे 'अम्बर' (वस्त्र) केवल नामसे ही आकाशवाचक नहीं रह गये, किन्तु अर्थ (वाचकशक्ति) से भी आकाशको समता प्राप्त कर लिए अर्थात् आकाशवाचक हो गये ॥ ५६ ॥

यस्यामजिह्मा महतीमपङ्काः सीमानमत्यायतयोऽत्यजन्तः ।
जनैरजातस्खलनैर्न जातु द्वयेऽप्यमुच्यन्त विनीतमार्गाः ॥ ५७ ॥

यस्यामिति ॥ यस्यां पुरि अजिह्मा अवक्राः, अन्यत्राकपटाः । दम्भादिरहिता । इत्यर्थः । 'आचरेत्सदृशीं वृत्तिमजिह्मामशठां तथा' इति स्मरणादिति भावः । 'जिह्मः कपटवक्रयोः' इति विश्वः । अपङ्काः कर्दमरहिताः' निष्पापाश्च । 'पङ्कोऽघे कर्दमे' इति हैमः । महतीं सीमानं राजकल्पितक्षेत्रमानं मर्यादां, कुलागतानुष्ठानस्थितिं चात्यजन्तः । अत्यक्तमहामर्यादा इत्यर्थः । अतिमात्रा आयतिरायामः उत्तरकालश्च येषां ते अत्यायतयः । 'आयतिस्तूत्तरे काले संयमायामयोरपि' इति विश्वः । द्वये द्विरूपा अपि । 'प्रथमचरमतया—' (१।१।३३) इत्यादिना जसि विभाषया सर्वनामसंज्ञा । विनीतमार्गाः सुरचितपुरवीथयः, सुशिक्षिताचारपद्धतयश्च न जातं स्खलनं पाषाणादिप्रतिघातः, विरुद्धाचरणं च येषां तैर्जनैर्जातु कदाचिदपि नामुच्यन्त न त्यक्ताः । न कदाचित्खिलीकृता इत्यर्थः । अत्र मार्गशब्दस्य साधर्म्यादेकवृन्तावलम्बिफलद्वयवदेकशब्देनार्थद्वयप्रतीतेः, द्वयानामपि मार्गाणां प्रकृतत्वाच्च केवलप्रकृतविषयोऽर्थश्लेषः विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वान्न तुल्ययोगिता ।

जिस (द्वारकापुरी) में सीधे (पक्षा०—निष्कपट), पङ्कसे रहित (पक्षा०—दोषरहित), बड़ी सीमाओं (सरहदों, पक्षा०—मर्यादाओं अर्थात् कुलाचारों) को नहीं छोड़ते हुए, अत्यन्त लम्बे (पक्षा०—अत्यधिक उत्तरकालवाले) दोनों प्रकारके सुपरिचित मार्गों (पक्षा०—सम्यक् प्रकारसे शिक्षितोंके सदाचारों) को (पत्थर आदिसे) स्खलित नहीं होनेवाले (पक्षा०—विरुद्धाचरण नहीं करनेवाले) लोगोंने कभी नहीं छोड़ा ॥ ५७ ॥

परस्परस्पर्धिपरार्ध्यरूपाः पौरस्त्रियो यत्र विधाय वेधाः ।
श्रीनिर्मितप्राप्तघुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यमलं ममार्ज ॥ ५८ ॥

परस्परेति । यत्र पुरि परस्परस्पर्धीन्यहमहमिकयाऽन्यसामर्षाणि परार्ध्यानि श्रेष्ठानि रूपाणि सौन्दर्याणि यासां ताः । 'रूपं स्वरूपे सौन्दर्ये' इति विश्वः । पुरे भवाः पौरास्ताः स्त्रियः पौरस्त्रियः । 'स्त्रियाः पुंवत्—' (६।३।३४) इत्यादिना पुंवद्भावः । विधाय निर्माय वेधाः स्रष्टा श्रियो लक्ष्मीदेव्याः निर्मित्या निर्माणेन प्राप्तं यत् घुणेन वज्रकीटेन क्षतस्योत्कीर्णस्यैकवर्णस्योपमया साम्येन वाच्यमपवादः तदलमत्यन्तम् । तदेव मलमिति केचित् । ममार्ज । घुणाक्षरवत् यादृच्छिकमिदं श्रीदेवतासौन्दर्यशिल्पं न कौशलमित्ययशः क्षालितवानित्यर्थः । अनया चातिशयोक्त्या पौरस्त्रीणां रमासमानसौन्दर्यं वस्तु व्यज्यते ।

जिस (द्वारकापुरी) में आपसमें स्पर्धा करनेवाले रूपोंवाली नागरिक अङ्गनाओंकी रचना कर ब्रह्माने लक्ष्मीकी रचना करनेपर घुणाक्षर-न्यायसे प्राप्त निन्दाको सम्यक् प्रकारसे दूर कर दिया ।

विमर्श—पहले ब्रह्माने जब सर्वाङ्गसुन्दरी लक्ष्मीको रचनाकी तब ब्रह्माके द्वारा ऐसी परम सुन्दरी लक्ष्मी घुणाक्षर न्यायसे रची गयी है, ब्रह्मामें ऐसी परम सुन्दरी स्त्रीकी रचना करनेकी कला नहीं है। इस प्रकार लोग उनकी निन्दा करते थे, किन्तु द्वारकापुरीमें एकसे एक बढ़कर बहुत-सी सुन्दरी स्त्रियोंको बनाकर ब्रह्माने उक्त निन्दाका अच्छी तरह परिमार्जन कर दिया है॥ ५८॥

क्षुण्णं यदन्तःकरणेन वृक्षाः फलन्ति कल्पोपपदास्तदेव।
अध्यूषुषो यामभवञ्जनस्य याः सम्पदस्ता मनसोऽप्य[1]गम्याः॥ ५९॥

क्षुण्णमिति॥ यदन्तःकरणेन क्षुण्णमभ्यस्तम्। ममेदं भूयादिति भूयोभूयः सङ्कल्पितमित्यर्थः। कल्पयन्ति सङ्कल्पितार्थानिति कल्पाः। कल्पा इत्युपपदं व्यावर्त्तकं येषां ते कल्पोपपदा वृक्षाः कल्पवृक्षाः तदेव फलन्ति फलानि निष्पादयन्ति। 'फल निष्पत्तौ' इति धातोर्लट्। कुतः। यां पुरमध्यूषुषो यस्यामुषितवतः। 'उपान्वध्याङ्वसः' (१।४।४८) इति कर्मत्वम्। 'भाषायां सदवसश्रुवः (३।२।१०८) इति क्वसुप्रत्ययः। जनस्य याः सम्पदोऽभवन् ता मनसोऽप्यगम्याः। वाचामभूमय इति किमु वक्तव्यमिति भावः। गृहे गृहे कल्पवृक्षसम्बन्धातिशयोक्त्या पौराणां देवेन्द्रभोगो व्यज्यते। इह कल्प इत्युपपदं स्वसंज्ञकदेशो येषामिति व्याख्याने हिरण्यपूर्वं कशिपुमित्यादिवदवाच्यवचनदोषावकाशः।

अन्तःकरण जिसका अभ्यास (बार-बार कल्पना) करता है, कल्पवृक्ष उसीको फलते (देते) हैं किन्तु जिस (द्वारकापुरी) में बसनेवाले लोगोंकी जो सम्पत्तियाँ हुईं, वे मानसिक कल्पनासे भी परे थीं (अत एव स्वर्गसे भी वह द्वारकापुरी श्रेष्ठ थी)॥ ५९॥

कला दधानः सकलाः स्वभाभिरुद्भासयन्सौधसिताभिराशा।
यां रेवतीजानिरियेष हातुं न रौहिणेयो न च रोहिणीशः॥ ६०॥

कला इति॥ सकलाः समग्राः कलाश्चतुःषष्टिविद्याः, षोडशभागांश्च दधानः। 'कला शिल्पे कालभेदे' इति, 'कला तु षोडशो भागः' इति चामरः। सुधयावलिप्तं सौधं तद्वत्सिताभिः स्वभाभिराशा दिश उद्भासयन् रेवती ककुद्मिकन्या, पूषकं भं च जाया यस्य स रेवतीजानिः। 'जायाया' निङ् (५।४।१३४) इति समासान्तो निङादेशः। 'लोपो व्योर्वलि' (६।१।६६) इति यलोपः। रोहिण्या अपत्यं पुमान् रौहिणेयो बलभद्रः। 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२०)। यां पुरीं हातुं त्यक्तुं न इयेष नेच्छति स्म। लिट्। रोहिणीशश्चन्द्रश्च हातुं न इयेष। अत्र रौहिणेयरोहिणीशयोः परोत्कर्षावहत्वेन द्वयोः प्रकृतत्वाद्विशेष्यस्याश्लिष्टत्वाच्च केवलप्रकृतविषया तुल्ययोगिता। गतमन्यत्।

---

१. '—प्यभूमिः' इति पा०।

सम्पूर्ण (चौंसठ, पक्षा०—सोलह) कलाओंको धारण करते हुए तथा चूनेसे लीपे हुए भवनके समान शुभ्र अपनी कान्ति (गौरदेहकी शोभा, पक्षा०—चाँदनी) से दिशाओंको उद्भासित करते हुए रेवती (बलरामकी स्त्री, पक्षा०—'रेवती' नामको तारा) के पति रोहिणीपुत्र (बलरामजी) तथा 'रोहिणी' ताराके पति (चन्द्रमा) जिस (द्वारकापुरी) को छोड़ना नहीं चाहते थे अर्थात् उस द्वारकापुरीमें सर्वदा निवास करते थे और चन्द्रमा उस द्वारकापुरीको सर्वदा चाँदनीसे उद्भासित करते थे ॥ ६० ॥

बाणाहवव्याहतशम्भुशक्तेरासत्तिमासाद्य जनार्दनस्य ।
शरीरिणा जैत्रशरेण यत्र निःशङ्कमूषे मकरध्वजेन ॥ ६१ ॥

बाणेति ॥ यत्र पुरि बाणाहवे बाणासुरयुद्धे व्याहता क्षयं नीता शम्भुशक्तिर्येन तस्य हरविजयिनो जनार्दनस्य कृष्णस्यासत्ति प्रत्यासत्तिमासाद्य । पुत्रत्वं प्राप्येत्यर्थः । शरीरिणा विग्रहवता । न त्वनङ्गेनेति भावः । जेतार एव जैत्रा जयशीलाः । तृन्नन्तात्प्रज्ञादित्वादण्प्रत्ययः । ते शरा यस्य तेन मकरध्वजेन कामेन । प्रद्युम्नरूपेणेति भावः । निःशङ्कं निर्भीकमूषे उषितम् । 'वस निवासे' भावे लिट् । 'वचिस्वपि–' (६।१।१५) इत्यादिना सम्प्रसारणम् । 'शङ्का वितर्कभययोः' इति विश्वः । अत्र शम्भुशक्तिव्याघातपदार्थस्य विशेषणगत्या । निःशङ्कनिवासहेतुत्वोक्तेः काव्यलिङ्गभेदः । पुरा किल भगवान् भक्तवत्सलो धूर्जटिर्बाणप्रेम्णा बाणाभियोधिनं हरिमभियुज्य निर्जित इति पौराणिकाः कथयन्ति ।

बाणासुरके साथ होनेवाले युद्धमें शिवजीकी शक्तिको शिथिल करनेवाले श्रीकृष्ण भगवान्‌के सामीप्यको पाकर विजयशील बाणोंवाला शरीरधारी कामदेव जिस (द्वारकापुरी) में निर्भयतापूर्वक रहता था ।

विमर्श—कामदेव अपने विजेता शिवजीसे सदा भयार्त रहता था, किन्तु जब बाणासुरका पक्ष लेकर युद्ध करनेवाले शिवजीको श्रीकृष्ण भगवान्‌ने पराजित कर दिया तब वह कामदेव इनके पास आकर निर्भय होकर रहने लगा । (आशय यह है कि उस द्वारकापुरी में कामिनी स्त्रियोंका काम सर्वदा उद्दीप्त रहता था) ॥ ६१ ॥

निषेव्यमाणेन शिवैर्मरुद्भिरध्यास्यमाना हरिणा चिराय ।
उदग्रशिमरत्नाङ्कुरधाम्नि सिन्धावाह्वास्त मेरावमरावतीं या ॥ ६२ ॥

निषेव्यमाणेनेति ॥ शिवैर्मरुद्भिर्मन्दमारुतैः, अन्यत्र शिवै रुद्रैः, मरुद्भिः मरुद्गणैश्च चिराय निषेव्यमाणेन हरिणा श्रीकृष्णेन, शक्रेण चाध्यास्यमाना अधिष्ठीयमाना उदग्ररश्मीनां रत्नाङ्कुराणां धाम्नि स्थाने । एकत्र रत्नाकरत्वादन्यत्र रत्नसानुत्वाच्चेति भावः । सिन्धौ स्थितेति शेषः । या पूः मेरौ स्थिताम् अमरा यस्यां सन्तीत्यमरावतीमिन्द्रनगरीम् । मतौ बह्वचोऽनजिरा–' (६।३।११९) इति दीर्घः । संज्ञायाम्' 'मादुपधायाश्च–' (८।२।९) इति वत्वम् ॥ आह्वास्त स्पर्धयाऽऽहूतवती ।

अमरावतीमनुचकारेत्यर्थः । ह्वयतेर्लुङ् 'स्पर्धायामाङः' (१।३।३१) इत्यात्मनेपदम् । 'लिपि सिचि ह्वश्च' (३।१।५३) इति 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' (३।१।५४) इति च्लेरङ्भावपक्षे सिजादेशः । 'अत्र प्रथमार्धे श्लेषेऽपि सिन्धौ मेरौ स्थितेति प्रतिबिम्बाभावेन साधर्म्योक्तेः श्लेषानुप्राणितेयमुपमेति संक्षेपः । आह्वास्तेति सादृश्यप्रतिपादकः शब्दः । 'स्पर्धते ह्वयते द्वेष्टी'त्यनुशासनात् ।

शीतल–मन्द–सुगन्ध हवाओं (पक्षा०—रुद्रों तथा देवों) से सर्वदा सेवित होते हुए श्रीकृष्ण भगवान् (पक्षा०—इन्द्र) से अधिष्ठित जो (द्वारकापुरी), जिनकी किरणें उद्भासित हो रही हैं ऐसे रत्नाङ्कुरोंके समान (आकर) समुद्रमें, उद्भासित रत्नाङ्कुरोंके स्थान सुमेरुपर स्थित इन्द्रपुरीको स्पर्द्धा से ललकार रही थी ।

विमर्श—अमरावती पुरीमें स्थित रुद्र तथा देवगणसे सेवित इन्द्र सर्वदा निवास करते थे और वह देदीप्यमान किरणवाले रत्नाङ्कुरोंसे युक्त सुमेरुपर स्थित थी; उस पुरीको शीतल–मन्दसुगन्ध वायुसे सेवित श्रीकृष्ण भगवान् जहां सर्वदा निवास करते थे तथा जो रत्नाकर होनेके कारण देदीप्यमान किरणोंवाले रत्नाङ्कुरोंसे युक्त समुद्रमें स्थित थी, अत एव यह द्वारकापुरी उक्त अमरावती पुरीको स्पर्द्धासे ललकारती थी कि मैं तुमसे श्रेष्ठ हूँ, यदि तुम्हें विश्वास न हो या तुम्हें श्रेष्ठ होनेका दर्प हो तो मेरे यहां आकर तुलना करके देख लो । लोकमें भी समान या अधिक शक्तिवाला कोई शूरवीर अपने प्रतिद्वन्द्वीको स्पर्द्धापूर्वक ललकारता है ॥ ६२ ॥

स्निग्धाञ्जनश्यामरुचिः सुवृत्तो वध्वा इवाध्वंसितवर्णकान्तेः ।
विशेषको वा विशिशेष यस्याः श्रियं त्रिलोकीतिलकः स एव ॥ ६३ ॥

स्निग्धेति ॥ स्निग्धं यदञ्जनं तद्वत्तेन च श्यामरुचिः सुवृत्तः सद्वृत्तिः, सुष्ठु वर्तुलश्च । त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी । 'तद्धितार्थ–' (२।१।५१) इत्यादिना समासः । 'संख्यापूर्वो द्विगुः' (२।१।५२) इति द्विगुसंज्ञा । 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्यते' इति स्त्रीत्वे 'द्विगोः' (४।१।२१) इति ङीप् । तस्यास्तिलको भूषणभूतः स हरिरेव, विशेषको वा । तिलक इवेत्यर्थः । 'इववद्वायथाशब्दा' इत्यनुशासनात् । 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम् । द्वितीयं च तुरीयं च न स्त्रियाम्' इत्यमरः । अध्वंसिता वर्णानां ब्राह्मणादीनां कान्तिरौज्ज्वलं यस्यास्तयाः पुरः, अन्यत्राध्वंसितो वर्णो गौरादिः कान्तिर्लावण्यं च यस्यास्तस्याः । 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ' इत्युभयत्राप्यमरः । वध्वा इव श्रियं विशिशेष विशेषितवान् । अनेकशब्देयमुपमेत्येके शब्दमात्रसादृश्याच्छ्लेष इत्यन्ये । श्लेषोपमेत्याह दण्डी ।

चिकने अञ्जनके समान श्यामवर्णवाले, सदाचारयुक्त त्रिलोकीके तिलक (श्रेष्ठ) वे श्रीकृष्ण भगवान् ही ब्राह्मणादि वर्णोंकी मर्यादाको नष्ट नहीं करनेवाली जिस (द्वारकापुरी) की शोभाको उस प्रकार बढ़ा रहे थे, जिस प्रकार (तैल आदिसे बननेके कारण) चिकने

अञ्जनसे श्यामवर्णवाला सम्यक् प्रकारसे गोलाकार (ललाटका) तिलक जिसके गौरादि वर्ण तथा शरीर-लावण्य नष्ट नहीं हुए है ऐसी वधू (अङ्गना) की शोभाको बढ़ा देता है। (२।३३ से चालू द्वारकापुरीका वर्णन यहाँ समाप्त हो गया) ॥ ६३ ॥

तामीक्षमाणः स पुरं पुरस्तात्प्रापत्प्रतोलीमतुलप्रतापः।
वज्रप्रभोद्भासिसुरायुधश्रीर्या देवसेनेव परैरलङ्घ्या ॥ ६४ ॥

तामिति ॥ अतुलप्रतापः स हरिस्तां पूर्वोक्तां पुरमीक्षमाणः पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि। सप्तम्यर्थे तसिल् प्रत्ययः। प्रतोलीं रथ्याम्। 'रथ्या प्रतोली विशिखा' इत्यमरः। प्रापत् प्राप्तवान्। लुङि 'पुषादि–' (३।१।५५) इत्यादिना च्लेरङादेशः। वज्राणां तोरणप्रासादादिगतहीरकादिमणीनां प्रभाभिरुद्भासिनी सुरायुश्रीरिन्द्रचापलक्ष्मीर्यस्यां सा। इह वज्रग्रहणं मणिमात्रोपलक्षणम्। अन्यथेन्द्रायुधासाम्यादिति भावः। अन्यत्र वज्रस्य कुलिशस्य प्रभाभिरुद्भासिनी सुरायुधानामितरदेवतायुधानां श्रीर्यस्याः सा। 'वज्रोऽस्त्री हीरके पवौ' इत्यमरः। या प्रतोली देवसेनासुरचमूरिव परैः शत्रुभिरलङ्घ्या दुष्प्रधर्ष्या।

अतुल प्रतापवाले ये (श्रीकृष्ण भगवान्) द्वारकापुरीको देखते हुए पूर्वदिशाकी ओर एक गलीको प्राप्त किये (तोरण तथा भवनोंमें लगाये गये) 'हीरा' नामक रत्नों (पक्षा०—'वज्र' नामक इन्द्रायुध) की प्रभासे शोभमान इन्द्रधनुषके समान शोभावाली देवसेनाके तुल्य जो गली दूसरों (पक्षा०—शत्रुओं) से अलङ्घनीय थी ॥ ६४ ॥

प्रजा इवाङ्गादरविन्दनाभेः शम्भोर्जटाजूटतटादिवापः।
मुखादिवाथ श्रुतया विधातुः पुरान्निरीयुर्मुरजिद्ध्वजिन्यः[1] ॥ ६५ ॥

प्रजा इति ॥ अरविन्दनाभेर्विष्णोरङ्गात् प्रजा इव। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुतेरिति भावः। शम्भोर्जटाजूटतटात् आप इव गङ्गाजलानीव विधातुर्मुखात् श्रुतय इव मुरजितो हरेः ध्वजिन्यः सेनाः पुरान्निरीयुर्निर्गताः। मालोपमेयम्।

इसके बाद कमलनाभि (श्री विष्णु भगवान्) के अङ्गसे प्रजाओंके समान, शङ्करजीके जटा-समूहसे (गङ्गाजीके) जलके समान तथा ब्रह्माके मुखसे वेदोंके समान द्वारकापुरीसे श्रीकृष्ण भगवान्की सेनाएं बाहर निकलीं ॥ ६५ ॥

श्लिष्यद्भिरन्योन्यमुखाग्रसङ्गस्खलत्खलीनं हरिभिर्विलोलैः।
परस्परोत्पीडितजानुभागा दुःखेन निश्चक्रमुरश्ववाराः ॥ ६६ ॥

श्लिष्यद्भिरिति ॥ अन्योन्येषां मुखाग्रे सङ्गेन स्खलन्तः खलीनाः कविका यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा। 'कविका तु खलीनोऽस्त्री' इत्यमरः। श्लिष्यद्भिः संघृष्यद्भिर्विलोलैः मुहुरुच्चलद्भिः हरिभिस्तुरङ्गैः करणैः। अश्वान् वारयन्ति ये तेऽश्ववारा अश्वा-

1. '—मधुजिद्ध्वजिन्यः' इति पा०।

रोगाः परस्परेणोत्पीडितजानुभागाः सन्तो दुःखेन निश्चक्रमुः निर्जग्मुः। अत्र स्वभावोक्त्यातिशयोक्तेः सङ्करः।

एक दूसरेके मुखाग्रके सटनेसे रगड़ खाती हुई लगामोंवाले चञ्चल घोड़ोंसे परस्परमें दबे (अत्यन्त सटे) हुए जंघोंवाले घुड़सवार बड़े कष्टसे बाहर निकले ॥ ६६ ॥

निरन्तरालेऽपि विमुच्यमाने दूरं पथि प्राणभृतां गणेन।
तेजोमहद्भिस्तमसेव दीपैर्द्विपैरसम्बाधमयाम्बभूवे ॥ ६७ ॥

निरन्तराल इति ॥ तमसा तिमिरेणेव प्राणभृतां गणेन प्राणिवर्गेण कर्त्रा निरन्तरालेऽपि पूर्वं स्वेनैवातिसङ्कटेऽपि पथि सम्प्रति दूरं दूरत एव विमुच्यमाने सति। एकत्र दीपभयादन्यत्र द्विपभयाच्चेत्यर्थः। तेजोमहद्भिर्बलाधिकैः, प्रभासम्पन्नैश्च। 'तेजो बलं प्रभा तेजः' इति विश्वः। द्विपैर्दीपैरिवासम्बाधमसङ्कीर्णमयाम्बभूवे जग्मे। न त्वश्वैरिव कृच्छ्रादिति भावः। 'अय गतौ' भावे लिट् 'दयायासश्च' (३।१।३७) इत्याम्प्रत्ययः। स्वतेजसैव दूरोत्सारिततमस्के दीपा इव तथोत्सारितप्राणिके पथि निरर्गलं द्विपाः प्रययुरित्यर्थः। तमसीति सप्तम्यन्तपाठे तमसः पथ्युपमानत्वे द्विपागमनात् पथ इव तमसो दीपागमनात् प्राक्तप्राणिवर्गेण निरन्तरालत्वं पश्चान्मुच्यमानत्वं च न सम्भवतीत्युपमानोपमेययोर्वैरूप्यं स्यात्। तृतीयायान्तपाठे तमसःप्राणिवर्गोपमानत्वे तत्सारूप्यसाकल्यात् स एव साधीयानित्यालङ्कारिकाणां पन्थाः।

ठसाठस भरा हुआ होनेपर भी अन्धकारके समान प्राणियोंसे छोड़े जाते हुए मार्गमें प्रभायुक्त (पक्षा०—महाबलवान्) हाथी दीपकोंके समान सुखपूर्वक गमन किये।

विमर्श—जिस प्रकार अत्यन्त अन्धकारसे व्याप्त मार्गमें दूरसे ही छोड़ा गया प्रकाशयुक्त दीपक सुखसे चलता है, उसी प्रकार सेनाओंसे ठसाठस भरे होनेपर भी भयके कारण प्राणियोंके द्वारा दूसरेसे ही छोड़े गये मार्गमें बड़े बलवान् हाथी सुखपूर्वक आगे बढ़े ॥ ६७ ॥

शनैरनीयन्त रथात्पतन्तो रथाः क्षितिं हस्तिनखादखेदैः।
सयत्नसूतायतरश्मिभुग्नग्रीवाग्रसंसक्तयुगैस्तुरङ्गैः ॥ ६८ ॥

शनैरिति ॥ रथात्पतन्तो धावन्तो रथाः सयत्ने सूतैः सारथिभिः। 'सूतः क्षत्ता च सारथिः' इत्यमरः। आयता आकृष्टा ये रश्मयः प्रग्रहाः। 'किरणप्रग्रहौ रश्मी' इत्यमरः। तैर्भुग्नेषु प्रह्वेषु ग्रीवाणामग्रेषु संसक्ता युगा युग्याः स्कन्धवाह्या दारुविशेषा येषां तैरत एवाखेदैरश्रमैस्तुरङ्गैः। हस्तिनखात्। हस्तिनखः पूर्द्वारि मृत्कूटः। 'कूटं पूर्द्वारि यद्धस्तिनखस्तस्मिन्' इत्यमरः। तस्माच्छनैः क्षितिमनीयन्त नीता इति स्वभावोक्तिः। यथावद्वस्तुवर्णनात्।

---

१. 'तमसीव' इति पा०।

(ढालू भूमि होनेसे) वेगपूर्वक चलते (नीचेकी ओर बढ़ते) हुए रथोंको, प्रयत्नपूर्वक सारथियोंके द्वारा खींचे गये रास (लगामकी रस्सी) से टेढ़ी गर्दनके अग्रभागमें सटे हुए जुवे (रथाग्रभागमें लगे हुए लम्बे काष्ठ–विशेष) वाले घोड़े बिना श्रमके ही हस्तिनख (द्वारकी ढालू भूमि) से समतल भूभागपर लाये ॥ ६८ ॥

बलोर्मिभिस्तत्क्षणहीयमानरथ्याभुजाया वलयैरिवास्याः ।
प्रायेण निष्क्रामति चक्रपाणौ नेष्टं पुरो द्वारवतीत्वमासीत् ॥ ६९ ॥

बलोर्मिभिरिति ॥ बलान्यूर्मय इव तैर्बलोर्मिभिः वलयैः कङ्कणैरिव तत्क्षणे हरिनिष्क्रमणक्षण एव हीयमाना अपरिच्यमाना रथ्या भुजेव यस्यास्तस्याः अत एवास्याः पुरो द्वारवत्याश्चक्रपाणौ कृष्णे निष्क्रामति निर्गच्छति सति प्रायेण भूम्ना द्वारवतीत्वं द्वारकात्वम् । स्वस्वरूपमिति यावत् । इष्टं नासीत् हरिविरहे तद्वैफल्यादिति भावः । द्वारवतीशब्दस्य संज्ञात्वात् 'त्वतलोर्गुणवचनस्य' (वा०) इति न पुंवद्भावः । अन्यत्र द्वारवतीत्वं द्वारवत्त्वं नेष्टं, तस्य हरिनिष्क्रमणहेतुत्वात्, इत्युभयथाप्युपमितभुजवलयगलनहेतुत्वात् उपमासङ्कीर्णेयमनिष्टत्वोत्प्रेक्षा प्रायेणेत्यनेन व्यज्यते ।

कङ्कणोंके समान सेनाप्रवाह अर्थात् सेना–समूह द्वारा श्रीकृष्ण भगवान्के द्वारकापुरीसे बाहर निकलनेपर तत्काल छोड़ी गयी गलीरूप भुजावाली (नायिकारूपिणी) द्वारकापुरीको मानो बहुत द्वारवाली होना अभीष्ट नहीं हुआ ।

विमर्श—जिस प्रकार बहुत द्वारोंपर जानेवाली अङ्गनाको उसका पति छोड़ देता है तब वह हाथसे कङ्कणको निकाल देती तथा बहुत द्वारोंपर जाना उसे अभीष्ट नहीं होता, वह आत्मनिन्दा करती है; उसी प्रकार जब द्वारकापुरीकी गलीसे श्रीकृष्ण भगवान् सेनाके साथ बाहर हो गये तब उस द्वारकापुरीको द्वारवती (बहुत द्वारोंवाली) होना अभीष्ट नहीं रहा अर्थात् उस द्वारकापुरीने सोचा कि—'यदि मुझमें बहुत–से द्वार नहीं होते तो श्रीकृष्ण भगवान् मुझे छोड़कर किस प्रकार बाहर निकलते, वह स्थान धन्य है, जहाँ वे निवास करते है या निकास करने जाते हैं ।' यहाँ पर द्वारकापुरीको नायिका, गलीको उसकी भुजा, श्रीकृष्ण भगवान् को नायक तथा सेनाप्रवाहको कङ्कण होनेकी कल्पना की गई है ॥ ६९ ॥

अथासर्गसमाप्तेः समुद्रं वर्णयति—

पारेजलं नीरनिधेरपश्यन्मुरारिरानीलपलाशराशीः ।
वनावलीरुत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः[1] ॥ ७० ॥

पार इति ॥ मुरारिः नीरनिधेः समुद्रस्य जलानां पारे परतीरे पारेजलम् । पारावारे परार्वाची तीरे' इत्यमरः । 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' (२।१।१८) इत्यव्ययीभावः ।

---

१. 'बना—' इति पा० ।

तत्संयोगादेकारान्तत्वं च पारेशब्दस्य । आ समन्तान्नीला पलाशानां पत्राणां राशयो यासां ताः । हरितपर्णपूर्णा इत्यर्थः । पत्रं पलाशं छदनम्' इत्यमरः । अत एवोत्कलिका ऊर्मयः । 'ऊर्मिरुत्कलिकोल्लोलकल्लोलालहरिस्तथा' इति हलायुधः । तासां सहस्रैः प्रतिक्षणमुत्कूलिताः कूलमुद्गताः । कूलं प्रापिता इत्यर्थः । उत्कूलशब्दात् 'तत्करोति–' (ग०) इति ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । तेषां शैवलानामाभेवाभा यासां ताः । तत्सदृशीरित्यर्थः । वनावलीरपश्यत् । अत्रोत्कूलितशैवलस्य स्वतः सिद्धसन्देहादुपमोत्प्रेक्षयोः सन्देहसङ्करः ।

(अब यहाँसे आरम्भकर सर्गकी समाप्ति (३।७८) तक समुद्रका वर्णन करते हैं) श्रीकृष्ण भगवान्‌ने समुद्रके जलके पारसे अत्यन्त श्यामवर्ण पत्तोंके समूहवाले (अत एव) सहस्रों तरङ्गोंसे प्रतिक्षण किनारे ढेर किये गये शैवालके समान शोभमान वनपङ्क्तियोंको देखा ॥७०॥

लक्ष्मीभृतोऽम्भोधितटाधिवासान् द्रुमानसौ नीरदनीलभासः ।
लतावधूसम्प्रयुजोऽधिवेलं बहूकृतान् स्वानिव पश्यति स्म ॥ ७१ ॥

लक्ष्मीभृत इति ॥ असौ हरिर्लक्ष्मीं शोभां, श्रीदेवीं च बिभ्रतीति लक्ष्मीभृतस्तान् अम्भोधितटेऽधिवासो येषां तान् नीरदवन्नीलभासो नीलवर्णान् । लता वध्व इवेत्युपमितसमासः । अन्यत्र लता इव वध्व इति शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपी समासः । ताभिः सम्प्रयुज्यन्त इति सम्प्रयुजः सङ्गतान् । क्विप् । अधिवेलं वेलायाम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । द्रुमान् बहूकृताननेकीकृतान् स्वान् स्वकीयविग्रहानिवेत्यर्थः । एवं च पुलिङ्गतानिर्वाहः । आत्मपरत्वे नपुंसकत्वापातः । 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने' इत्यमरः । पश्यति स्म । श्लेषसङ्कीर्णेयमुत्प्रेक्षा ।

उन्हीं (श्रीकृष्ण भगवान्) ने समुद्रतटपर लक्ष्मीयुक्त (शोभावाले, पक्षा०—श्रीसे युक्त), समुद्रतटपर स्थित, नील मेघके समान कान्तिवाले (नीलमेघके द्वारा कान्तिमान्) लतारूपिणी स्त्रियोंसे संयुक्त वृक्षोंको अनेकरूप ग्रहण किये हुए अपने (शरीर) के समान देखा ॥ ७१ ॥

आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम्[1] ।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥ ७२ ॥

आश्लिष्टेति ॥ आश्लिष्टभूमिमालिङ्गितभूतलमुच्चैस्तारं रसितारं क्रन्दितारं लोलतां चञ्चलतामितस्ततः पततां भुजानामाकार इवाकारो येषां ते बृहत्तरङ्गा यस्य तं तथोक्तं फेनायमानं फेनमुद्वमन्तम् । 'फेनाच्चेति वक्तव्यम्'(वा)इति क्यङ् । अपां समूह आपम् 'तस्य समूहः' (४।२।३७) इत्यण् । तेन गच्छन्तीत्यापगाः तासां पतिं समुद्रम् । असौ हरिरपस्मारिणमपस्माररोगिणमाशशङ्के । तत्कर्मयोगात्तथोत्प्रेक्षां चक्रे इत्यर्थः । यथाहुर्नैदानिकाः—कुद्धैर्धातुभिरावृतेऽथ मनसि प्राणी मनः सन्दिशन्दन्तान्खादति

१. 'ध्वजाकार–' इति पा० ।

फेनमुद्गिरति दोःपादौ क्षिपन्मूढधीः । पश्यन्रूपमसत्क्षितौ निपतति व्यर्थां करोति क्रियाम् बिभ्यत्स स्वयमेव शाम्यति गते वेगे त्वपस्माररुक् ॥' इति ॥

इन्हीं (श्रीकृष्ण भगवान्) ने भूमिका आलिङ्गन किये हुए (पृथ्वीपर फैले हुए, पक्षा०—पृथ्वीपर पड़े हुए), उच्च ध्वनि करते हुए (पक्षा०—जोरसे चिल्लाते हुए), चञ्चल बाहुके समान विशाल तरङ्गोंवाले, फेनयुक्त (मुखसे फेन—लार सहित फेनको गिराते हुए) नदीपति समुद्रको मिर्गीका रोगी समझा (मिर्गीके रोगीके समान माना) ॥ ७२ ॥

पीत्वा जलानां निधिनाऽतिगार्ध्याद् वृद्धिं गतेऽप्यात्मनि नैव मान्तीः ।
क्षिप्ता इवेन्दोः स रुचोऽधिवेलं मुक्तावलीराकलयाञ्चकार ॥७३॥

पीत्वेति ॥ जलानां निधिना समुद्रेण गर्ध एव गार्ध्यम् । औपम्यादिवच्चातुर्वर्ण्यादित्वात् स्वार्थे ष्यञ् । तदतिमात्रमतिगार्ध्यं तस्मात् । तृष्णाभरादित्यर्थः । गृध्नोः पुनरोर्गुणः 'वान्तो यि प्रत्यये' (६।१।७९) इति गार्धव्यमिति स्यात् । पीत्वा । क्षेपणक्रियापेक्षया पूर्वकालता । अथ वृद्धिं गते आत्मनि देहे । चन्द्रोदये समुद्रस्य वृद्धिरित्यागमः । नैव कान्तीरमान्तीः । अतिरिच्यमाना इत्यर्थः । मातेः शतरि ङीप् । 'आच्छीनद्योर्नुम्' (७।१।८०) क्षिप्ता उद्गीर्णा अतितृष्णयोत्कटं पीत्वा अन्तरमानाद्बहिरुद्वान्ता इत्यर्थः । इन्दो रुचो मरीचीरिवेत्युत्प्रेक्षा । स हरिरधिवेलमधितीरम् । 'वेला कूलविकारयोः' इति विश्वः । मुक्तावलीराकलयांचकाराकलयामास । कलतिः कामधेनुः ।

श्रीकृष्ण भगवान्ने, समुद्र अत्यन्त लोभसे चन्द्रकिरणोंकी अधिक मात्रामें पीकर बढ़े हुए भी अपने (पेट–मध्यभाग) में नहीं समाती हुई चन्द्रकिरणोंके समान तटपर पड़े हुए मोतियोंको माना ।

विमर्श—चन्द्रमाके उदय होनेपर समुद्रमें ज्वारभाटा आता है, जिससे उसका जल बहुत ऊँचा उठता है और उनके साथ मोती आकर बाहर तीरपर फैल जाते हैं उन मोतियोंको देखकर भगवान् श्रीकृष्णजीने यह माना कि 'समुद्रने अत्यन्त लोभसे चन्द्रकिरणों को इतना अधिक पी लिया है कि वे बढ़े हुए भी उसके मध्यमें नहीं समा रही हैं अतः उनको समुद्रने वमन कर दिया है' ॥ ७३ ॥

साटोपमुर्वीमनिशं नदन्तो यैः प्लावयिष्यन्ति समन्ततोऽमी ।
तान्येकदेशान्निभृतं पयोधेः सोऽम्भांसि मेघान् पिबतो ददर्श ॥ ७४ ॥

साटोपमिति ॥ अमी मेघाः साटोपं ससम्भ्रमम् । 'सम्भ्रमाटोपसंरम्भाः' इति यादवः । अनिशं नदन्तो गर्जन्तो यैस्तोयैरम्भोभिरुर्वी समन्ततः प्लावयिष्यन्ति तान्यम्भांसि पयोधेरेकदेशादेककोणान्निभृतं निश्चलं यथा तथा पिबतो मेघान् स हरिर्ददर्श । एतेन समुद्रस्यापरिच्छिन्नरूपत्वं व्यज्यते ।

दर्पके साथ सदा गरजते हुए ये मेघ जिन (जलों) से पृथ्वीको प्लावित कर देंगे,

उन जलोंको समुद्रके एक भागसे निश्चलतापूर्वक पीते हुए मेघोंको उन्हीं (श्रीकृष्ण भगवान्) ने देखा ॥ ७४ ॥

उद्धृत्य मेघैस्तत एव तोयमर्थं मुनीन्द्रैरिव सम्प्रणीताः ।
आलोकयामास हरिः पतन्तीर्नदीः स्मृतीर्वेदमिवाम्बुराशिम् ॥ ७५ ॥

उद्धृत्येति ॥ मुनीन्द्रैस्ततो वेदाद्वेदार्थमिव मेघैस्ततोऽम्बुराशेरेव तोयमुद्धृत्य सम्प्रणीताः कृता अम्बुराशिं पतन्तीः प्रविशन्तीर्नदीर्वेदं पतन्तीः स्मृतीर्मन्वादिसंहिता इव हरिरालोकयामास । श्रुतिमूलत्वेनैव प्रामाण्यात् स्मृतीनाम् । तत्संवाद एव तत्सम्प्रवेशः । अनेकैवेयमुपमा ।

मुनीश्वरों के द्वारा वेदसे अभिप्रायको लेकर रची गयी तथा वेदमें ही प्रविष्ट होती (वेदानुसरण करती) हुई स्मृतियोंके समान, मेघोंके द्वारा समुद्रसे ही जलको (वृष्टि द्वारा) तैयार की गयी तथा पुनः समुद्रमें प्रवेश करती हुई नदियोंको श्रीकृष्ण भगवान्ने देखा ।

विमर्श—मुनिराजोंने वेदार्थको लेकर स्मृतियोंकी रचना की है और वे स्मृतियाँ वेदोंके ही अन्तर्गत होती हैं, उसी प्रकार मेघ ने समुद्रसे जलको लेकर और उसे बरसा कर नदियों का निर्माण किया है तथा पुनः वे नदियाँ कहीं से भी घूम-फिरकर समुद्रमें ही प्रविष्ट होती हैं, समुद्रमें गिरती हुई उन नदियोंको श्रीकृष्ण भगवान्ने देखा । यहाँ पर मुनीन्द्र वेदार्थ, स्मृति और वेद उपमा तथा क्रमशः मेघ, समुद्र-जल, नदियाँ और समुद्र उनके उपमेय हैं ॥७५॥

विक्रीय दिश्यानि धनान्युरूणि द्वैप्यानसावुत्तमलाभभाजः ।
तरीषु तत्रत्यमफल्गु भाण्डं सांयात्रिकानावपतोऽभ्यनन्दत् ॥ ७६ ॥

विक्रीयेति ॥ दिक्षु भवानि दिश्यानि । दिगन्तरानीतानीत्यर्थः । 'दिगादिभ्यो यत्' (४।३।५४) उरूणि महान्ति धनानि नानाद्रव्याणि विक्रीय मूल्येन दत्त्वोत्तमलाभं द्वैगुण्यादिकं भजन्तीति तानुत्तमलाभभाजः । तत्रत्यं द्वैप्यमित्यर्थः । 'अव्ययात्त्यप्' (४।२।१०४) । अफल्गु सारवत् । 'फल्गु तुच्छमसारं च' इति यादवः । भाण्डं मूलधनम् । पण्यद्रव्यमित्यर्थः । 'वणिङ्मूलधने पात्रे भाण्डं भूषाश्वभूषयोः' इति वैजयन्ती । तरीषु नौषु । 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः' इत्यमरः । अविस्तरिस्तन्त्रिः—' इत्यौणादिक इकारप्रत्ययः । आवपत आदधतः । वपतेः शतृप्रत्ययः । द्वैप्यान् समुद्रद्वीपवासिनः । 'द्वीपादनुसमुद्रं यञ्' (४।३।१०) इति यञ्प्रत्ययः । संयात्रा सम्भूय यात्रा सा प्रयोजनमेषां तान् सांयात्रिकान् पोतवणिजः । 'सांयात्रिकः पोतवणिक्' इत्यमरः । 'प्रयोजनम्' (५।१।१०९) इति ठक् । असौ हरिरभ्यनन्दत् ।

विभिन्न दिशाओंमें होनेवाले बहुतसे (पदार्थोंको) बेचकर अधिक लाभ किए हुए तथा वहाँ होनेवाले बहुमूल्य पदार्थोंको (अपने या दूसरे देश में ले जाकर बेचनेके लिए) समुद्र-

गामी नावोंमें रखते हुए समुद्र-द्वीप-वासी व्यापारियोंका श्रीकृष्ण भगवान्ने अभिनन्दन किया (उनके परिश्रम तथा बुद्धिकी प्रशंसा की) ॥ ७६ ॥

उत्पित्सवोऽन्तर्नदभर्तुरुच्चैर्गरीयसा निःश्वसितानिलेन ।
पयांसि भक्त्या गरुडध्वजस्य ध्वजानिवोच्चिक्षिपिरे फणीन्द्राः ॥ ७७ ॥

उत्पित्सव इति ॥ नदभर्तुः समुद्रस्यान्तरभ्यन्तरादुत्पित्सव उत्पतितुमिच्छवः । पततेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'सनि मीमा–' (७।४।५४) इत्यादिना इसादेशः । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) इत्यभ्यासलोपः । फणीन्द्राः सर्पा भक्त्या गरुडध्वजस्य हरेर्ध्वजानिव गरीयसाऽतिमहता निःश्वसितानिलेन मुखमारुतेन पयांस्युच्चैरुच्चिक्षिपिरे उत्क्षिप्तवन्तः । उत्प्रेक्षा स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम् ।

समुद्र के भीतर उछलने की इच्छा करते हुए बड़े–बड़े सर्पोंने मानों भक्तिके कारण श्रीकृष्ण भगवान्के पताकाओं के समान बहुत बड़ी निश्वास वायुसे जलराशि को ऊपर उठाया ।

विमर्श—समुद्र के जलके भीतर रहनेवाले बड़े–बड़े साँप उछलना चाहते थे, अतएव जब उन्होंने दीर्घश्वास लिया–फुफकारा तब समुद्र का जल ऊपरकी ओर फौव्वारे के समान उछल पड़ा, उसपर कविने कल्पना की है कि सर्पराजोंने श्रीकृष्ण भगवान् पर भक्ति होनेके कारण उनके आनेपर पताकाओंको फहराया–ऊपर उठाया–है ॥ ७७ ॥

तमागतं वीक्ष्य युगान्तबन्धुमुत्सङ्गशय्याशयमम्बुराशिः ।
प्रत्युज्जगामेव गुरुप्रमोदप्रसारितोत्तुङ्गतरङ्गबाहुः ॥ ७८ ॥

तमिति ॥ अम्बुराशिः युगान्तबन्धुम् । आपद्बन्धुमित्यर्थः । उत्सङ्ग एव शय्या तस्यां शेत इति तथोक्तम् । 'अधिकरणे शेतेः' (३।२।१५) इत्यच्प्रत्ययः । आगतमभ्यागतं तं हरिं वीक्ष्य गुरुणा प्रमोदेन प्रसारिता उत्तुङ्गास्तरङ्गा एव बाहवो यस्य सः सन् प्रत्युज्जगाम सम्मेलनार्थमागतवानिवेति क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा ।

प्रलयकालके बान्धव तथा उत्सङ्ग (क्रोड–मध्यभाग) रूपी शय्यापर (क्षीरसागर के मध्यभागमें) सोनेवाले, आए हुए उन्हें (श्रीकृष्ण भगवान्को) देखकर समुद्र अतिशय हर्षसे तरङ्गरूपी बाहुओंको फैलाकर प्रत्युद्गमन किया (श्रीकृष्ण भगवान्की अगवानी की) ॥ ७८ ॥

उत्सङ्गिताम्भःकणको[1] नभस्वानुदन्वतः स्वेदलवान् ममार्ज ।
तस्यानुवेलं व्रजतोऽधिवेलमेलालता[2] स्फालनलब्धगन्धः ॥ ७९ ॥

उत्सङ्गितेति ॥ उत्सङ्गिनः संसर्गिणः कृता उत्सङ्गिकाः । 'तत्करोति–' (ग०) इति ण्यन्ताद् कर्मणि क्तः । उत्सङ्गिता अम्भःकणा येनेति 'शेषाद्विभाषा' (५।४।१५४) इति कप् । एलालतानामास्फालनेन सङ्घर्षणेन लब्धगन्धः एवं शिशिरसुरभिरुदन्वतो नभस्वान् समुद्रस्य वायुरधिवेलं वेलायाम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । व्रजतस्तस्य

---

१. '—कणिको' इति पा० । २. '—वना–' इति पा० ।

हरेः स्वेदलवाननुवेलं प्रतिक्षणम् । यथार्थेऽव्ययीभावः । ममार्ज जहार । 'वेला कूले च जलधेर्वेला तीरविकारयोः' इति विश्वः । काव्यलिङ्गम् ।

अपने मध्य में जलकणको ग्रहण किया हुआ (अतएव शीतल), तथा छोटी इलायची की लताको कम्पित करनेसे गन्धयुक्त वायु (समुद्रके) तीरपर चलते हुए उन (श्रीकृष्ण भगवान्) के घोड़ेसे पसीनोंको प्रतिक्षण दूर करता था। (शीतल-मन्द-सुगन्ध वायुसे तीरपर आते हुए श्रीकृष्ण भगवान्का पसीना सूखता जाता था) ॥ ७९ ॥

उत्तालतालीवनसम्प्रवृत्तसमीरसीमन्तितकेतकीकाः ।
आसेदिरे लावणसैन्धवीनां चमूचरैः कच्छभुवां प्रदेशाः ॥ ८० ॥

उत्तालेति ॥ चमूषु चरन्तीति चमूचराः सैनिकाः । 'चरेष्टः' (३।२।१६) इति टप्रत्ययः । तैरुत्तालेषून्नतेषु तालीवनेषु सम्प्रवृत्तेन समीरणेन मारुतेन सीमन्तिताः सीमन्तिन्यः कृताः । सीमन्तशब्दान्मत्वन्तात् 'तत्करोति-' (ग०) इति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः । णाविष्ठवद्भावे विन्मतोर्लुक् । ताः केतक्यो येषु ते तथोक्ताः । 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इति कप् । लवणसिन्धोरिमा लावणसैन्धव्यः । 'तस्येदम्' (४।३।१२०) इत्यण् । 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य-' (७।२।१९) इत्युभयपदवृद्धिः । तासां कच्छभुवामनूपभूमीनाम् । 'जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः । प्रदेशा देशा आसेदिरे प्राप्ताः । सीदतेः कर्मणि लिट् । अत्र स्वभावोक्तिरनुप्रासश्चालङ्कारौ । ओजःश्लेषसौशब्दसौकुमार्याद्यनेकगुणसम्पत्तिः स्पष्टा ।

सैनिकोंने, ऊँचे-ऊँचे ताड़के वनोंमें बहती हुई हवासे केशरचनारूप हो रहे हैं केतकी-पुष्प (या केतकी लता) जहाँपर ऐसे, क्षारसमुद्रके जल बहुल प्रदेशोंको प्राप्त किया ॥ ८० ॥

लवङ्गमालाकलितावतंसास्ते नारिकेलान्तरपः पिबन्तः ।
आस्वादितार्द्रक्रमुकाः समुद्रादभ्यागतस्य प्रतिपत्तिमीयुः[1] ॥ ८१ ॥

लवङ्गेति ॥ लवङ्गमालाभिर्लवङ्गकुसुममाल्यैः कलितावतंसाः कृतभूषणाः । नारिकेलान्तरित्यव्ययम् । नारिकेलाभ्यन्तर इत्यर्थः । अप इति पृथक्पदम् । समासे 'ऋक्पूर्-' (५।४।७४) इत्यादिना समासान्तप्रसङ्गात् । पिबन्तः । आस्वादिता भक्षिता आर्द्रक्रमुका आर्द्रपूगीफलानि यैस्ते । 'घोण्टा तु पूगः क्रमुकः' इत्यमरः । ते चमूचराः समुद्रादभ्यागतस्यातिथेः प्रतिपत्तिं गौरवं सत्कारमीयुः । 'प्रतिपत्तिः पदप्राप्तौ प्रवृत्तौ गौरवेऽपि च' इति विश्वः । अत्राभ्यागतप्रतिपत्तिप्राप्तेर्विशेषणगत्या अवतंसकलनादिपदार्थहेतुत्वात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तेन समुद्रचमूचराणां गृहस्थाभ्यागतौपम्यप्रतीतेरलङ्कारध्वनिः ।

लवङ्गमालासे शिरोभूषण बनाये हुए, नारियलके भीतरके पानीको पीते हुए तथा

[1] '-मापुः' इति पा० ।

कच्ची सुपारीको चखे (स्वाद लिए) हुए (श्रीकृष्ण भगवान्के सैनिक) समुद्रसे अतिथि-सत्कारको प्राप्त किए ॥ ८१ ॥

तुरगशताकुलस्य परितः परमेकतुरङ्गजन्मनः
प्रमथितभूभृतः प्रतिपथं मथितस्य भृशं महीभृता ।
परिचलतो बलानुजबलस्य पुरः सततं धृतश्रिय-
श्चिरविगतश्रियो जलनिधेश्च तदाभवदन्तरं महत् ॥ ८२ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्र्यङ्के पुरीप्रस्थानो नाम तृतीयः सर्गः ।

तुरगेति ॥ परितः तुरगशतैराकुलस्य । अपरिमिताश्वस्येत्यर्थः । प्रतिपथं प्रतिमार्गम् । यथार्थेऽव्ययीभावे समासान्तः । प्रमथिताः क्षुण्णा भूभृतो राजानः, गिरयश्च येन तस्य । न तु स्वयं केनापि मथितस्येति भावः । सततं धृता श्रीः शोभा, रमा च येन तस्य धृतश्रियः पुरोऽग्रे, नगराद्वा परिचलतः परिगच्छतः बलो रामस्तस्यानुजस्य हरेर्बलस्य सैन्यस्य । बलं सैन्ये बलो रामे' इत्युभयत्रापि शाश्वतः । परं केवलमेकस्यैव तुरङ्गस्य जन्म जन्ममात्रं यस्मात्तस्यैकतुरङ्गजन्मनः । एकोऽपि जात एव न त्वस्तीति भावः । महीभृता मन्दराद्रिणा, राज्ञा च मथितस्य । न तु स्वयं कस्यापि मथिता । समतं विगतश्रियः । उत्पत्त्यनन्तरमेवास्या हरिस्वीकरणादिति भावः । जलनिधेश्च तदा प्रस्थानसमये महदन्तरं दूरगमनादिव्यवधानम्, उक्तरीत्या महत्तारतम्यं चाभवत् । अत्रोपमेयस्य हरिबलस्योपमानाज्जलधेराधिक्यवर्णनाद्व्यतिरेकालङ्कारः । पञ्चकावली वृत्तम् । 'नजभजजा जरौ नरपते कथिता भुवि पञ्चकावली' इति लक्षणात् । धृतश्रीवृत्तमिति कश्चित् । 'नजभपुरस्कृता जजजरा रचिता भुवि रुद्रदिक्पतिः' इति लक्षणात् ।

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते शिशुपालवधकाव्य-
व्याख्याने सर्वंकषाख्ये तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

उस समय (जब श्रीकृष्ण भगवान् समुद्रतट पर पहुँचे तब) सब तरफ सैकड़ों घोड़ों से व्याप्त, प्रत्येक मार्गमें भूभृत् (राजाओं) का मथन करनेवाली (उन्हें जीतनेवाली) और सर्वदा श्री (शोभा या सम्पत्ति) से युक्त सर्वतोगामिनी श्रीकृष्ण भगवान्की सेनामें तथा केवल एक घोड़ा (उच्चैःश्रवा) को उत्पन्न करनेवाले, भूभृत् (मन्दराचल) से स्वयं मथे (पीड़ित किए) गए और बहुत समयसे श्री (लक्ष्मी) रहित चञ्चल (तरङ्गयुक्त) समुद्रमें बड़ा भारी अन्तर था । (श्रीकृष्ण भगवान् की वैसी सेनाकी तुलना उक्तरूप समुद्र कदापि नहीं कर सकता था) ॥ ८२ ॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'शिशुपालवध' महाकाव्यका 'पुरीप्रस्थान' नामक
तृतीयसर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

कुलकम् (१–९)

निःश्वासधूमं सह रत्नभाभिर्भित्त्वोत्थितं भूमिमिवोरगाणाम् ।
नीलोपलस्यूतविचित्रधातुमसौ गिरिं रैवतकं ददर्श ॥ १ ॥

निःश्वासेति ॥ नीलोपलैरिन्द्रनीलमणिभिः स्यूताः प्रोता विचित्रा नानावर्णा धातवो गैरिकादयो यस्य तम् । अत एव रत्नभाभिर्मणिप्रभाभिः सह भूमिं भित्त्वा, उत्थितमूर्ध्वं निर्गतं उरगाणां निःश्वासधूमं फूत्कारबाष्पमिव स्थितं रैवताख्यं गिरिमसौ हरिर्ददर्श । स्यूतेति सीव्यतेः कर्मणि क्तः । 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (६।४।१९) इत्युडादेशे यणादेशः । तत्र गिरेर्विशिष्टवर्णनीयत्वेन विशिष्टधूमत्वोत्प्रेक्षणाद् गुणनिमित्तजातिस्वरूपोत्प्रेक्षा । सर्गेऽस्मिन्नानावृत्तानि । तत्रादावष्टादशोपजातयः । तल्लक्षणं तूक्तमतीतानन्तरसर्गादौ । अत्रासर्गसमाप्तेर्गिरिवर्णनमेव ॥ १ ॥

(अब मार्गमें आये हुए रैवतक पर्वतका वर्णन करने लिए इस चतुर्थ सर्गका आरम्भ करते हैं) इन्हीं (श्रीकृष्ण भगवान्) ने इन्द्रनीलमणियोंसे सम्बद्ध (गेरू, मैनसिल आदि) अनेकविध विचित्र धातुओंवाले, (अत एव) रत्नोंको कान्तियोंके साथ भूमिको फाड़कर ऊपर निकले हुए सर्पोंके श्वास-वायुके धूएँके समान स्थित रैवतक पर्वतको देखा । (इसकी 'ददर्श' क्रियाका अग्रिम नवम श्लोक तक सम्बन्ध होनेसे ये नौ श्लोक 'कुलक' हैं) ॥ १ ॥

गिरिं ददर्शेत्युक्तम्, कीदृगित्याकाङ्क्षायामेकान्वयेनाष्टाभिर्विशिनष्टि—

गुर्वीरजस्रं दृषदः समन्तादुपर्युपर्यम्बुमुचां वितानैः ।
विन्ध्यायमानं दिवसस्य भर्तुर्मार्गं पुना रोद्धुमिवोन्नमद्भिः ॥ २ ॥

गुर्वीरिति ॥ गुर्वीर्महतीर्दृषदः । शिलातटीरित्यर्थः । 'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्' इत्यमरः । उपर्युपरि दृषदां समीपे । उपरिप्रदेश इत्यर्थः । 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' (८।१।७) इति द्विर्भावे तद्योगाद् द्वितीयेति । यथाह वामनः—'उपर्यादिषु सामीप्ये द्विरुक्तेषु द्वितीया' इति । समन्तादजस्रमुन्नमद्भिः । देशकालाविच्छेदेनोत्पतद्भिरित्यर्थः । अत एव तैरम्बुमुचा वितानैर्मेघवृन्दैर्निमित्तैर्दिवसस्य भर्तुः सूर्यस्य मार्गं पुना रोद्धुम् । संहितायां 'रो रि' (८।३।१४) इति रलोपः 'ढ्लोपे—' (६।३।१११) इति दीर्घः । विन्ध्यायमानमिव विन्ध्यवदाचरन्तम् । तद्वद्वर्धमानमिव स्थितमित्यर्थः । आचारे क्यङन्ताल्लटः शानजादेशः । अत्राविच्छिन्नमेघोन्नमनेन विन्ध्यायमानत्वोत्प्रेक्षणाव क्रियानिमित्तक्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा ॥ २ ॥

बड़े-बड़े चट्टानोंके ऊपर चारों ओरसे उठते हुए मेघ-समूहोंसे सूर्यके मार्गको रोकनेके

लिए पुनः तत्पर विन्ध्यपर्वतके समान आचरण करते हुए (रैवतक पर्वतको श्रीकृष्ण भगवान्ने देखा) ॥ २ ॥

क्रान्तं रुचा काञ्चनवप्रभाजा नवप्रभाजालभृतां मणीनाम् ।
श्रितं शिलाश्यामलताभिरामं लताभिरामन्त्रितषट्पदाभिः ॥ ३ ॥

क्रान्तमिति ॥ पुनः नवानि प्रभाजालानि बिभ्रतीति नवप्रभाजालभृतः तेषां मणीनां सम्बन्धिन्या काञ्चनवप्रभाजा स्वर्णसानुप्रसृतया रुचा दीप्त्या क्रान्तं व्याप्तम् । पुनः शिलानां मेचकोपलानां, इन्द्रनीलानां वा श्यामलतया श्यामलिम्ना अभिरामम् । तथा आमन्त्रितषट्पदाभिः मकरन्दपूरितत्वादाहूतभृङ्गाभिः लताभिः श्रितं व्याप्तम् । इतः परं द्व्यन्तरमेकं यमकं वक्ष्यति । तत्र तदेवालङ्कारः । अर्थालङ्कारस्त्वभ्युच्चेय इति यथासम्भवमूह्यम् । यमकलक्षणं त्वाचार्यदण्डिनोक्तम्—'अव्यपेतव्यपेतात्मा या वृत्तिर्वर्णसंहतेः । यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ॥ एकद्वित्रिचतुष्पादयमकानां प्रकल्पना । आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्याद्यन्तसर्वतः । अत्यन्तं बहवस्तेषां भेदाः सम्भेदयोनयः । सुकरा दुष्कराश्चैव दृश्यन्ते तत्र केचन ॥' इति ॥ ३ ॥

नये प्रभा-समूहवाले रत्नोंको सुवर्ण-शिखरोंपर फैली हुई कान्तिसे युक्त, चट्टानों (या इन्द्रनीलमणियों) की श्यामलता (कृष्णिमा) से मनोहर तथा (सौरभसे) भ्रमरोंको बुलाती (अपनी ओर आकृष्ट करती) हुई लताओंसे युक्त (रैवतक पर्वतको श्रीकृष्ण भगवान् ने देखा) ॥ ३ ॥

सहस्रसंख्यैर्गगनं शिरोभिः पादैर्भुवं व्याप्य वितिष्ठमानम् ।
विलोचनस्थानगतोष्णरश्मिनिशाकरं साधु हिरण्यगर्भम् ॥ ४ ॥

सहस्रेति ॥ सहस्रमिति संख्या येषां तैः सहस्रसंख्यैः शिरोभिः शिखरैः शीर्षैश्च गगनं तथा तत्संख्यैः पादैः प्रत्यन्तपर्वतैश्चरणैश्च भुवं च व्याप्य वितिष्ठमानमवतिष्ठमानम् । 'समवप्रविभ्यः स्थः' (१।३।२२) इत्यात्मनेपदम् । विलोचनयोर्यत्स्थानं योग्यदेशस्तद्गतावुष्णरश्मिनिशाकरौ यस्य तम् । अन्यत्र नेत्रीकृतार्केन्दुमित्यर्थः । अतः साधु सत्यं हिरण्यगर्भं ब्रह्माणमिवेत्युत्प्रेक्षा । 'सहस्रशीर्षा' इत्यादिश्रुतेरिति भावः । हिरण्यगर्भो निधिगर्भश्च ॥ ४ ॥

सहस्रों शिखरोंसे आकाशमें तथा सहस्रों पाद (समीपवर्ती पर्वतों) से पृथ्वी में फैलकर स्थित तथा सूर्य और चन्द्रमाको दोनों नेत्ररूपमें धारण करते हुए (अत एव) सहस्रों मस्तकों से आकाशमें तथा सहस्रों चरणोंसे पृथ्वीमें व्याप्त होकर स्थित और सूर्य चन्द्र जिसके नेत्र हैं ऐसे हिरण्यगर्भ ब्रह्माके समान (पक्षा०—सुवर्णकी खानोंवाले) उस (रैवतक पर्वतको कृष्ण भगवान्ने देखा) ॥ ४ ॥

क्वचिज्जलापायविपाण्डुराणि धौतोत्तरीयप्रतिमच्छवीनि ।
अभ्राणि बिभ्राणमुमाङ्गसङ्गविभक्तभस्मानमिव स्मरारिम् ॥ ५ ॥

क्वचिदिति ॥ पुनः क्वचिदेकदेशे जलानामपायेनापगमेन विपाण्डुराणि शुभ्राणि अत एव धौतं क्षालितं यदुत्तरीयं तत्प्रतिमा तत्समा छविर्येषां तान्यभ्राणि मेघान् बिभ्राणं दधानम् । भृञः कर्तरि शानच् । अत एवोमायाः पार्वत्या अङ्गसङ्गेनार्थभागेन विभक्तं एकभागस्थापितं भस्म यस्य तं स्मरारिं हरमिव स्थितमित्युपमालङ्कारः ।

किसी भागमें जलके बरस जानेसे शुभ्र वर्ण (अत एव) धुले हुए दुपट्टेके समान कान्तिवाले (शुभ्र) मेघोंको धारण करते हुए (अत एव) पार्वतीके शरीर-स्पर्शसे पोंछे गये भस्मवाले शिवजीके समान स्थित (रैवतक पर्वतको श्रीकृष्ण भगवान्ने देखा) ।

विमर्श—पानी बरसनेसे धुले हुए दुपट्टेके समान शुभ्रवर्ण मेघोंसे युक्त होनेके कारण पार्वतीजीके शरीरके स्पर्श होनेसे उस-उस स्थानका भस्म गिर जानेपर शिवजीके शरीरके समान स्थित रैवतकको श्रीकृष्ण भगवान्ने देखा । जहाँ-जहाँ शुभ्र मेघ थे वहाँ-वहाँ शिवजीके भस्मयुक्त शुभ्र शरीरके समान तथा जहां-जहां पार्वतीके शरीर के स्पर्शसे भस्म छूट गया था वहां-वहां शिवजीके भस्मरहित शरीर के समान वह रैवतक पर्वत था ॥ ५ ॥

छायां निजस्त्रीचटुलालसानां मदेन किंचिच्चटुलालसानाम् ।
कुर्वाणमुत्पिञ्जलजातपत्रैर्विहङ्गमानां जलजातपत्रैः ॥ ६ ॥

छायामिति ॥ पुनः निजस्त्रीणां चटुषु प्रियवचनेषु लालसा लोलुपाः । 'लोलुपो लोलुभो लोलो लम्पटो लालसोऽपि च' इति यादवः । तेषां निजस्त्रीचटुलालसानां मदेन किञ्चिदीषच्चटुलाश्चपलास्तेऽलसाश्च विशेषणयोरपि मिथो विशेषणविशेष्यभावविवक्षया विशेषणसमासः । तेषां चटुलालसानां विहङ्गमानां हंसादीनामुत्पिञ्जलानि जातान्युत्पिञ्जलजातानि । पूर्ववत् समासः । तानि पत्राणि येषां तैरुत्पिञ्जलजातपत्रैः । उत्पिञ्जरीभूतदलैरित्यर्थः । रलयोरभेदः । जलजातपत्रैः जलजैरेवातपत्रैः छायां कुर्वाणम् । एतेन महती कमलाकरसमृद्धिर्व्यज्यते । यमकरूपकयोः सङ्करः ।

अपनी-अपनी स्त्रीके चटु (प्रियोक्ति) में अभिलाषुक तथा मदसे कुछ चञ्चल तथा आलसी पक्षियोंके ऊपर पिंजड़े बने हुए पत्तोंवाले कमलरूपी छतरी से छाया करते हुए (रैवतक पर्वतको श्रीकृष्ण भगवान्ने देखा) ॥ ६ ॥

स्कन्धाधिरूढोज्ज्वलनीलकण्ठानुर्वीरुहः श्लिष्टतनूनहीन्द्रैः ।
प्रनर्तितानेकलताभुजाग्रान् [1]रुद्राननेकानिव धारयन्तम् ॥ ७ ॥

स्कन्धेति ॥ पुनः स्कन्धं प्रकाण्डमधिरूढा उज्ज्वला नीलकण्ठा मयूरा येषां तान्, अन्यत्र स्कन्धाधिरूढा अंसस्थिता नीलाः कण्ठा येषां तान् । 'अंसप्रकाण्डयोः स्कन्धः' इति विश्वः । अहीन्द्रैः श्लिष्टतनून् व्याप्तदेहान् । एकत्र तदावासत्वादन्यत्र तद्भूषणत्वाच्चेति भावः । प्रनर्तितान्यनेकलतानामेव भुजानां लतानामिव च भुजानामग्राणि

१. 'रुद्राननन्तानिव' इति पा० ।

न्येषां तानत एवानन्तानसंख्यान् रुद्रानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा । उर्वीरुहो वृक्षान् धारयन्तमुद्वहन्तम् ।

जिनके स्कन्धों (मोटी–मोटी दो शाखाओंके मूलभागों) पर मोर बैठे हैं ऐसे (पक्षा०—कन्धेपर नीलवर्णयुक्त कण्ठवाले), अनेक लतारूपिणी भुजाओंके अग्रभागको (वायुसे, पक्षा०—नाट्यकालमें) कम्पित करते हुए तथा बड़े–बड़े सर्पोंसे लिपटे हुए अङ्गों वाले वृक्षोंको अनेक रुद्रोंके समान धारण करते हुए (रैवतक पर्वतको श्रीकृष्ण भगवान्‌ने देखा) ॥ ७ ॥

विलम्बिनीलोत्पलकर्णपूराः कपोलभित्तीरिव [1]लोध्रगौरीः ।
नवोलपालंकृतसैकताभाः शुचीरपः शैवलिनीर्दधानम् ॥ ८ ॥

विलम्बीति ॥ विलम्बिनो नीलोत्पलान्येव कर्णपूराः कर्णावतंसा यासां ताः । लोध्रेण लोध्ररजसा गौरीरवदाताः । 'षिद्गौरादिभ्यश्च (४।१।४१) इति ङीष् । कपोलभित्तीः स्त्रीणां गण्डस्थलीरिव स्थिताः । उपमान्तरमाह - नवा उलपा बल्वजतृणानि । 'उलपा बल्वजाः प्रोक्ताः' इति विश्वः । तैरलंकृतानां सैकतानामाभेवाभा यासां ताः । कुतः । शुचीः शुद्धाः शैवलवतीरपो दधानम् । शुचित्वशैवलत्वाभ्यां बिम्बप्रतिबिम्बभावेनोपमाद्वयम् ।

लटकते हुए नीलकमलरूपी कर्णभूषणवाली, लोध (के पुष्प–पराग) से गौरवर्ण (स्त्रियोंके) कपोलमण्डलके समान स्थित और नये–नये उलप (तृण–विशेष) से अलङ्कृत सैकतके समान कान्तिवाले सेवालयुक्त निर्मल जलको धारण करते हुए (रैवतक पर्वतको श्रीकृष्ण भगवान्‌ने देखा) ॥ ८ ॥

राजीवराजीवशलोलभृङ्गं मुष्णन्तमुष्णं ततिभिस्तरूणाम् ।
कान्तालकान्ता ललनाः सुराणां रक्षोभिरक्षोभितमुद्वहन्तम् ॥ ९ ॥

राजीवेति ॥ पुनः राजीवराजीनां पद्मपङ्क्तीनां वशा अधीना लोलाश्चला भृङ्गा यस्मिंस्तं राजीवराजीवशलोलभृङ्गं तरूणां ततिभिः संघैरुष्णमातपं मुष्णन्तं हरन्तं कान्ता रम्या अलकान्ताश्चूर्णकुन्तलाग्राणि यासां ताः कान्तालकान्ताः । 'अलकाश्चूर्णकुन्तलाः' इत्यमरः । सुराणां ललनाः स्त्रियोऽप्सरसो रक्षोभी राक्षसैरक्षोभितमनभिभूतं यथा तथोद्वहन्तम् ।

कमलश्रेणियोंके अधीन और चञ्चल भ्रमरोंवाले, वृक्षश्रेणियों से धूपको दूर करते हुए श्रेष्ठ (मनोरम) केशाग्रवाली देवाङ्गनाओंको राक्षसोपद्रव–हीन हो धारण करते हुए (रैवतक पर्वतको श्रीकृष्ण भगवान्‌ने देखा) ॥ ९ ॥

---

१. 'रोध्रगौरीः' इति पा० ।

नन्वल्पीयानयं कश्चिद्रैवतको नाम शिलोच्चयः कथमियद्वर्ण्यत इति शङ्कां निरस्यति—

मुदे मुरारेरमरैः सुमेरोरानीय यस्योपचितस्य शृङ्गैः।
भवन्ति नोद्दामगिरां कवीनामुच्छ्रायसौन्दर्यगुणा मृषोद्याः॥ १०॥

मुद इति ॥ मुरारेर्मुदे सन्तोषायामरैः कर्तृभिः सुमेरोः शृङ्गैः करणैरानीयोपचितस्य वर्धितस्य। आनीतैः शृङ्गैरुपचितस्येत्यर्थः। उपचये करणानां शृङ्गाणामर्थादानयनकर्मत्वम्। यस्य शैलस्योच्छ्रायः औन्नत्यं, सौन्दर्यं च तयोर्गुणा उत्कर्षा उद्दामगिरां प्रगल्भवाचां कवीनां मृषा उद्यन्त इति मृषोद्याः मिथ्यावाच्या न भवन्ति। मेरुशृङ्गेषु सर्वगुणसम्भवादिति भावः। 'राजसूयसूर्यमृषोद्य–' (३।१।११४) इत्यादिना वदेः क्यबन्तो निपातः। उत्कृष्टः श्राय उच्छ्राय इति घञन्तेनोपसर्गस्य समासः। नतूपसृष्टाद्धञ्प्रत्ययः। 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' (३।३।२४) इति नियमात्। मुद इत्यादिश्लोकसप्तके यच्छब्दस्य दृष्टोऽयं शैलः स इत्यनेनान्वयः। मेरुशृङ्गासम्बन्धेऽपि सम्बन्धवर्णनादतिशयोक्तिः।

श्रीकृष्ण भगवान्की प्रसन्नताके लिए देवताओं द्वारा सुमेरुसे लाकर उसके शिखरोंसे बढ़ाये (उन्नत किये) गये जिस (रैवतक पर्वत) की ऊँचाई तथा सुन्दरतारूपी गुण प्रगल्भवक्ता कवियोंको असत्य कहनेवाला नहीं बना रहा है।

विमर्श—'श्रीकृष्ण भगवान् हस्तिनापुरको उसी मार्गसे जायेंगे' यह जानकर उनको प्रसन्न करनेके लिए देवोंने सुमेरु पर्वतसे उसके शिखरोंको ला-लाकर इसे सजाया तथा ऊँचा किया; अत एव अत्यन्त छोटे भी इस रैवतक पर्वतका जो इतना उदात्त वर्णन कविने किया है, वह प्रगल्भवक्ता कवियों को असत्यभाषी नहीं बना रहा है अर्थात् इस रैवतकके वास्तविक गुणोंका ही वर्णन कवियों ने किया है॥ १०॥

यतः [1]परार्ध्यानि भृतान्यनूनैः प्रस्थैर्मुहुर्भूरिभिरुच्छिखानि।
आढ्यादिव प्रापणिकादजस्रं जग्राह रत्नान्यमितानि लोकः॥ ११॥

यत इति ॥ लोकः परार्ध्यानि श्रेष्ठानि, अनूनैर्महद्भिः, भूरिभिः प्रभूतैः। 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यं भूरि' इत्यमरः। प्रस्थैः सानुभिर्मानविशेषैश्च। 'प्रस्थोऽस्त्री सानुमानयोः' इत्यमरः। भृतानि सम्भृतानि मितानि च उच्छिखान्युद्रश्मीनि अमितान्यपरिमितानि रत्नानि यतः शैलादाढ्याद्धनिकात्। 'इभ्य आढ्यो धनी' इत्यमरः। प्रपणो व्यवहारः प्रयोजनमस्य प्रापणिको वणिक्। 'तदस्य प्रयोजनम्' इति ठक्। 'पण्याजीवाः प्रापणिका वैदेहा नैगमाश्च ते। वणिजः' इति वैजयन्ती। तस्मादिवाजस्रं मुहुर्जग्राह। उपमालङ्कारः।

(रैवतकके समीपमें बसनेवाले) लोग जहाँसे बहुमूल्य, बड़े बड़े पत्थरोंसे युक्त (या—पत्थरोंके बराबर) ऊपर निकलती हुई प्रभाओंवाले अपरिमित रत्नोंको उस प्रकार

१. 'महार्घाणि' इति पा०।

बार-बार प्राप्त करते थे; जिस प्रकार बहुमूल्य, बड़े-बड़े पत्थरों (तौलनेके बटखरों) से तौले गये, ऊपर निकलती हुई प्रभाओंवाले अपरिमित रत्नोंको धनिक व्यापारी के यहाँसे (ग्राहक) लोग बार-बार प्राप्त करते हैं ॥ ११ ॥

अखिद्यतासन्नमुदग्रतापं रविं दधानेऽप्यरविन्दधाने ।
भृङ्गावलिर्यस्य तटे निपीतरसा नमत्तामरसा न मत्ता ॥ १२ ॥

अखिद्यतेति ॥ आसन्नमौन्नत्यात् सन्निहितमत एवोदग्रतापं दुःसहातपं रविं दधानेऽपि, अरविन्दधान इति विरोधः । अरविन्दानां धाने निधाने इति परिहारः । धीयतेऽस्मिन्निति धानम् । अधिकरणे ल्युट् । शब्दश्लेषमूलो विरोधालङ्कारः । यस्य गिरेस्तटे निपीतरसा नितरां पीतमकरन्दा नमन्ति तामरसानि पङ्केरुहाणि भारभूतया यया सा नमत्तामरसा । 'पङ्केरुहं तामरसम्' इत्यमरः । अत एव मत्ता भृङ्गावलिर्नाखिद्यत न खिन्ना । खिदेर्दैवादिकात्कर्तरि लङ् । अत्यन्तसूर्यसन्निधानेऽप्यरविन्दाकरविहारान्मधुकरास्तापं नापुरित्यर्थः ।

(इस पर्वतके अतिशय ऊँचा होनेसे) समीपवर्ती (अत एव) तीक्ष्ण सन्तापवाले सूर्यको धारण करनेवाले तथा कमलोंके खजाना (उत्पत्तिस्थान) जिस रैवतक पर्वत) के तटपर मकरन्दका सम्यक् पान किये हुये, कमलोंपर बैठकर उसे झुकानेवाले तथा मदोन्मत्त भ्रमर-समूह (सूर्यके तीव्र तापसे भी) खिन्न नहीं होते थे ।

विमर्श—यहाँपर पूर्वार्द्धमें 'सूर्यको धारण करनेवाला होता हुआ भी सूर्य को नहीं धारण करनेवाला' ऐसा अर्थ करनेसे विरोध आता है, अतः सूर्यको धारण करनेवाला होता हुआ भी कमलों का आकर (उत्पत्तिस्थान) अर्थ करनेसे उक्त विरोध दूर हो जाता है। भाव यह है कि रैवतक पर्वतके अत्यन्त ऊँचा होनेसे अत्यन्त निकटस्थ सूर्य के तीव्र तापसे भी भ्रमर-समूह खिन्न नहीं होते थे, क्योंकि वे कमल-परागों का पानकर मदोन्मत्त रहते थे ॥ १२ ॥

यत्राधिरूढेन महीरुहोच्चैरुन्निद्रपुष्पाक्षिसहस्रभाजा ।
सुराधिपाधिष्ठितहस्तिमल्ललीलां दधौ राजतगण्डशैलः ॥ १३ ॥

यत्रेति ॥ यत्र शैले रजतस्य विकारो राजतः । 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' (४।३।१५४) इत्यञ्प्रत्ययः । स चासौ गण्डशैलश्च । 'गण्डशैलास्तु च्युताः स्थूलोपला गिरेः' इत्यमरः । उन्निद्राणि विकसितानि पुष्पाण्यक्षीणीवेत्युपमितसमासः । तेषां सहस्रं भजतीति तद्भाजा अधिरूढेनोच्चैर्महीरुहा वृक्षेण सुराधिपेन देवेन्द्रेणाधिष्ठितो यो हस्ती मल्ल इव तस्यैरावतस्य लीलां शोभां दधौ । ऐरावतस्य धावल्यादिति भावः । 'हस्तिमल्लोऽभ्रमातङ्गे हस्तिमल्लो विनायके' इति विश्वः । अत्र लीलामिव लीलामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः ।

जहाँपर पर्वतसे घिरा हुआ (पहला) चट्टान खिले हुये पुष्परूप सहस्र नेत्रोंवाले

ऊपरमें स्थित ऊँचे वृक्षसे (सहस्र नेत्रधारी) इन्द्र जिसपर आरूढ हैं, ऐसे ऐरावत हाथीकी शोभाको पाता था, अर्थात् उक्तरूप वह पहला चट्टान इन्द्राधिष्ठित हाथीके समान शोभा पाता था ॥ १३ ॥

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः ॥ १४ ॥

विभिन्नेति ॥ गरुडाग्रजेनारुणेन विभिन्नवर्णा अन्यथाकृतवर्णाः। अरुणिमानमापादिता इत्यर्थः। सूर्यस्य सम्बन्धिनो रथं वहन्तीति रथ्या रथाश्वाः। 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' (४।४।७६) इति यत्प्रत्ययः। यत्र शैले वंशकरीरनीलैर्वंशाङ्कुरश्यामैरत्नैः। मरकतैरित्यर्थः। 'वंशाङ्कुरे करीरोऽस्त्री' इत्यमरः। वंशशब्दस्याम्लानताहेतोरलूनतायाः प्रतिपत्त्यर्थत्वादनपौनरुक्त्यम्। अत एव कार्यपदमप्रयोज्यमित्युक्त्वा करिकलभकर्णावतंसादिषु प्रतिपत्तिविशेषकरेषु न दोष इत्याह वामनः। न विशेषश्चेदिति। परितः स्फुरन्त्या रुचा स्वप्रभया करणेन, पुनः स्वां रुचं निजहरितवर्णमेवानिन्यिरे आनीताः। नयतेर्द्विकर्मकात्प्रधाने कर्मणि लट्। 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति वचनात्। अत्र विभिन्नवर्णा इत्येकस्तद्गुणः। रथ्यानां स्वगुणत्यागेन गरुडाग्रजगुणग्रहणा पुनस्तत्त्यागेन मरकतगुणग्रहणादपरस्तद्गुणस्तदुपजीवीति सजातीययोः सङ्करः। तेन गिरेः सूर्यमण्डलपर्यन्तमौन्नत्यं वस्तु व्यज्यते। 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणग्रहः'।

सूर्य-सारथि अरुणसे परिवर्तित रंगवाले (लालिमाको प्राप्त) सूर्यके घोड़े जिस (रैवतक पर्वत) पर बाँसोंके कोपलोंके समान श्यामवर्ण मरकत (पन्ना) रत्नोंसे अपनी कान्ति हरीतिमा (हरापन) को पुनः प्राप्त कर लिये ॥ १४ ॥

यत्रोज्झिताभिर्मुहुरम्बुवाहैः समुन्नमद्भिर्न समुन्नमद्भिः।
वनं बबाधे विषपावकोत्था विपन्नगानामविपन्नगानाम् ॥ १५ ॥

यत्रेति ॥ यत्र शैले समुन्नमद्भिः समुत्पतद्भिः अम्बुवाहैः उज्झिताभिस्त्यक्ताभिः रद्भिर्मुहुः समुन्नं सम्यगुन्नं क्लिन्नम्। सिक्तमित्यर्थः। 'उन्दी क्लेदने' इति धातोः कर्मणिः क्तः। 'नुदविद—' (८।२।५६) इत्यादिना निष्ठानत्वम्। विपन्नगा विगतसर्पा न भवन्तीत्यविपन्नगाः। सपन्नगा इत्यर्थः। तेषामविपन्नगानां नगानां वृक्षाणां वनं विषपावकोत्था विषाग्निसमुत्था विपत् आपत् न बबाधे। नित्यं वर्षानुसङ्गाद्विषाग्नि क्षोभो वृक्षाणामकिञ्चित्कर इति भावः।

जिस (रैवतक पर्वत) पर ऊपर में अतिशय नम्र होते हुए मेघोंके द्वारा छोड़े (बरसाये) जल-प्रवाहसे आर्द्र, सर्पयुक्त वृक्षोंके वनको (सर्पोंको) विषाग्निसे उत्पन्न विपत्तिने पीड़ित नहीं किया।

विमर्श—ऊपरमें लटकते हुए मेघोंने जल बरसाकर सर्प-वेष्टित वृक्षोंके वनको अत्यन्त

आर्द्र कर दिया था, अतएव उस वनको सर्पोंके विषसे उत्पन्न अग्नि नहीं जला सकी। इस श्लोकमें 'समुन्नमद्भिः' का 'न समुन्नमद्भिः' के साथ तथा 'विपन्नगानाम्' 'अविपन्नगानाम्' पदके साथ विरोध प्रतीत होता है, और उसका परिहार उस अर्थद्वारा हो जानेसे यहाँ 'विरोधालङ्कार' होता है ॥ १५ ॥

फलद्भिरुष्णांशुकराभिमर्शात्कार्शानवं धाम पतङ्गकान्तैः।
शशंस यः पात्रगुणाद् गुणानां [1]संक्रान्तिमाक्रान्तगुणातिरेकाम् ॥ १६ ॥

फलद्भिरिति ॥ यः शैल उष्णांशुकराभिमर्शादर्ककरसम्पर्कात् कृशानोरिदं कार्शानवमाग्नेयं धाम तेजः फलद्भिरुद्गिरद्भिः। अग्निकरसामर्थ्याभिव्यञ्जकैरिति भावः। पतङ्गकान्तैः सूर्यकान्तैः। दृष्टान्तभूतैरिति भावः। गुणानां संक्रान्तिमन्यत्र संक्रमणम्। संक्रान्तगुणानित्यर्थः। पात्रगुणादाधारगुणसहकारादाक्रान्तः प्राप्तो गुणातिरेकः कार्यविशेषाधानरूपो गुणोत्कर्षो यस्यास्तां शशंस प्रतिपादयामास। अर्कत्विषां सर्वत्र संक्रमणाविशेषेऽपि सूर्यकान्तेष्वेव ज्वलनजननदर्शनात् सर्वत्रापि संक्रमणकारिणां गुणानामाधारगुणसहकारात् कार्यविशेषाधायकत्वमिति निश्चयोऽत्रैव जायत इत्यर्थः। ततश्च सहकारशक्तिविरहिणी सहजशक्तिरनुपकारिणीति भावः। वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः।

जो (रैवतक पर्वत) सूर्य-किरणों के संसर्गसे अग्निको उगलते हुए (दृष्टान्तभूत) सूर्यकान्त मणियोंसे गुणोंका संक्रमण (अन्यत्र उत्पत्ति) आधारके गुणके साहचर्यसे अधिक उत्कर्ष को प्राप्त करता है, यह कहता था।

विमर्श—रैवतक पर्वतपर बहुतसे सूर्यकान्त मणि थे, उक्त सर्वत्र फैलती हुई सूर्यकिरणोंके सम्पर्कसे सूर्यकान्त पत्थर आग उगल रहे थे, इस कारण 'गुणकी वृद्धि अच्छे आधारके साथ संसर्ग होने पर होती है' इस बातको मानों वह रैवतक पर्वत कह रहा था ॥ १६ ॥

दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुरारेरपूर्ववद्विस्मयमाततान।
क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ॥ १७ ॥

दृष्टोऽपीति ॥ मुहुर्दृष्टोऽपि स शैलो मुरारेरपूर्वेणादृष्टपूर्वेण तुल्यमपूर्ववत्। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्—' (५।१।११५) इति वतिः। विस्मयमाततान। अतिरमणीयत्वादिति भावः। तथा हि—क्षणे क्षणे प्रतिक्षणम्। वीप्सायां द्विर्भावः। नवतामपूर्ववद्भावमुपैतीति यत्, तन्नवत्वोपगमनमेव रमणीयताया रूपं स्वरूपम्। लक्षणमित्यर्थः। अत्र रमणीयत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्य विस्मये हेतुत्वसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः।

बार-बार देखे गये भी उस रैवतक पर्वतने अपूर्वके समान श्रीकृष्ण भगवान्‌के आश्चर्य को बढ़ा दिया, (यह ठीक ही है, क्योंकि) जो प्रतिक्षण नवीनता धारण करता (नवीन ज्ञात होता) है, वही रमणीयताका स्वरूप है ॥ १७ ॥

---

१. 'संक्रान्तिराक्रान्तगुणान्तरेति' इति पाठ०।

उच्चारणज्ञोऽथ गिरां दधानमुच्चारणत्पक्षिगणास्तटीस्तम् ।
उत्कन्धरं द्रष्टुमवेक्ष्य शौरिमुत्कन्धरं दारुक इत्युवाच ।। १८ ।।

उच्चारणज्ञ इति । अथ हरिविस्मयानन्तरं गिरां वाक्यानामुच्चारणं जानातीत्युच्चारणज्ञ उक्तिकुशलः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) इति कप्रत्ययः । न 'इगुपध–' (३।१।१३५) इत्यादिना 'आकारादनुपपदात्कर्मोपपदो भवति विप्रतिषेधेन' इति वचनात् । दारुकः कृष्णसारथिरुच्चा उन्नता रणन्तः शब्दायमानाः पक्षिगणा यासु ता रणत्पक्षिगणास्तटीर्दधानं तं पूर्वोक्तम् । धरतीति धरं पर्वतम् । पचाद्यच् । 'अहार्यधरपर्वताः' इत्यमरः । द्रष्टुमुत्कमुत्सुकम् । 'उत्क उन्मनाः' (५।२।८०) इति निपातः । उत्कन्धरमौत्सुक्यादुन्नमितकन्धरं शौरिमवेक्ष्य इति वक्ष्यमाणक्रमेण वाचमुवाच । न हीङ्गितज्ञोऽवसरेऽवसीदतीति भावः ।

इस (श्रीकृष्ण भगवान्के रैवतक देखकर आश्चर्यित होने) के बाद बोलनेमें चतुर दारुक (श्रीकृष्ण भगवान् का सारथि) उच्च स्वरसे कूजते हुए पक्षि–समूहों वाली तटियों को धारण करते हुए (रैवतक) पर्वतको देखनेके लिए उत्कण्ठित (अतएव) ग्रीवाको ऊपर किये हुए श्रीकृष्ण भगवान्से यह (३।१९—६८) कहने लगा ।। १८ ।।

इतःप्रभृति यमकानन्तरश्लोकेषु वसन्ततिलकावृत्तं नियमेनाह—

आच्छादितायतदिगम्बरमुच्चकैर्गा-
माक्रम्य संस्थितमुदग्रविशालश्रृङ्गम् ।
मूर्ध्नि स्खलत्तुहिनदीधितिकोटिमेन-
मुद्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते नगेशम् ।। १९ ।।

आच्छादितेति । आच्छादितान्यावृतानि आयतानि दीर्घाणि दिशोऽम्बरं खं च दिगम्बराणि येन तम्, अन्यत्राच्छादितं वसितमायतं दिगेवाम्बरं वासो येन तं तथोक्तम् । उच्चैरुन्नतां गां भुवमाक्रम्य व्याप्य संस्थितम् । तथोदग्राण्युन्नतानि विशालानि च श्रृङ्गाणि शिखराणि यस्य तम् । अन्यत्रोदग्रे विशाले श्रृङ्गे विषाणे यस्य तं उच्चकैरुन्नतं गां वृषभमाक्रम्य अधिष्ठाय संस्थितमित्यर्थः । 'श्रृङ्गं विषाणे शिखरे, इति, 'गौः स्वर्गे वृषभे रश्मौ वज्रे चन्द्रमसि स्मृतः । अर्जुनीनेत्रदिग्बाणभूवाग्वारिषु गौर्मता ॥' इति च विश्वः । मूर्ध्नि शिखरे । अन्यत्र शिरसि स्फुरन्ती तुहिनदीधितेरिन्दोः कोटिः रश्मिः, कला च यस्य तमेनं नगेशं नगश्रेष्ठं रैवतकं कैलासनायकमीश्वरं चो- (च भुवि उ) द्वीक्ष्य को न विस्मयते । सर्वोऽपि विस्मयत इत्यर्थः । नेयं तुल्ययोगिता । प्रकृताप्रकृतविषये तदनुत्थानात् । नापि समासोक्तिः । तस्या विशेषणसाम्यजीवित्वात् । नापि श्लेषः उभयश्लेषे विशेष्यश्लेषयोगात् । तस्मात्प्राकरणिकार्थं मात्रपर्यवसिताभिधाव्यापारेणापि शब्देनार्थान्तरधीकृद्ध्वनिरित्याहुः । तदुक्तं काव्यप्रकाशे–' 'अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते । संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद्व्यापृति-

रञ्जनम् ॥' इति । वृत्तलक्षणं तु—'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति ।

विशाल दिशाओं तथा आकाशको आच्छादित कर स्थित (पक्षा०—दिग्रूप वस्त्रसे शरीरको ढके हुए अर्थात् नग्नरूपमें स्थित), विस्तृत पृथ्वीमें व्याप्त एवं ऊँचे तथा बड़े शिखरोंवाले (पक्षा०—बड़ी-बड़ी सीगोंवाले 'नन्दी' नामक बैलपर आरूढ), शिखर (पक्षा०—मस्तक) से चमकते हुऐ चन्द्रप्रान्तवाले इस पर्वतराज रैवतक (पक्षा०—शिवजी) को पृथ्वीपर देखकर कौन आश्चर्यित नहीं होगा (अथवा—''''''को देखकर पृथ्वीपर कौन आश्चर्यित नहीं होगा) ? अर्थात् सभी आश्चर्यित हो जायेंगे ॥ १९ ॥

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥२०॥

उदयतीति । वितता ऊर्ध्वाश्च रश्मिरज्जवो रश्मयो रज्जव इव यस्य तस्मिन् विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ अहिमरुचौ सूर्ये उदयत्युदयमाने । 'अय गतौ' इति स्वरितेतं केचिदिच्छन्ति । ततः शतरि सप्तमी । तथा विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ हिमधाम्नि चन्द्रे चास्तं यात्यस्तमयमाने । यातेः शतरि सप्तमी । अयं गिरिर्विलम्बिना विशेषं लम्बमानेन घण्टाद्वयेन परिवारितस्य वेष्टितस्य वारणेन्द्रस्य लीलां शोभां वहति । अत्र लीलामिव लीलामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शना । तथा सूर्याचन्द्रमसावस्य कुक्षिसमानकक्षां बिभ्रत इति महदौन्नत्यं व्यज्यते । पुष्पिताग्रा वृत्तम् । 'अयुजि नयुगरेफतोयकारो युजि च नजो जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति ।

लम्बी-लम्बी तथा ऊपरकी ओर रस्सीके समान फैलती हुई किरणोंवाले सूर्यके उदय तथा चन्द्रमाके अस्त होते रहने पर यह (रैवतक) पर्वत नीचे की ओर लटकती हुई दो घण्टाओंसे वेष्टित गजराजके समान शोभ रहा है ॥ २० ॥

वहति यः परितः कनकस्थलीः सहरिता लसमाननवांशुकः ।
अचल एष भवानिव राजते स हरितालसमाननवांशुकः ॥ २१ ॥

वहतीति ॥ लसमाना दीप्यमाना नवांशवो यस्य स लसमाननवांशुकः । शैषिक कप्प्रत्ययः । योऽचलः सहरिताः सदूर्वाः । 'हरितेति च दूर्वायां हरिद्वर्णयुतेऽन्यवत्' इति विश्वः । कनकस्य स्थलीः स्वर्णभूमीः । 'जानपद—' (४।१।४२) इत्यादिना अकृत्रिमार्थे ङीप् परितो वहति स एषोऽचलः हरितालेन कर्चूरेण समानं नवमंशुकं वासो यस्य स हरितालसमाननवांशुकः पीताम्बरो भवानिव राजते । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् । 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात् ।

शोभती हुई नवीन प्रभावाला जो (रैवतक पर्वत) सब तरफ दूर्वायुक्त स्वर्णमयी भूमिको धारण कर रहा है, वह (सुप्रसिद्ध) यह (रैवतक) पर्वत हरतालके समान पीले नवीन वस्त्र (पीताम्बर) वाले आपके समान शोभ रहा है ॥ २१ ॥

पाश्चात्यभागमिह सानुषु सन्निषण्णाः
पश्यन्ति शान्तमलसान्द्रतरांशुजालम् ।
सम्पूर्णलब्धललनालपनोपमान-
मुत्सङ्गसङ्गिहरिणस्य मृगाङ्कमूर्तेः ॥ २२ ॥

पाश्चात्त्येति ॥ इहाद्रौ सानुषु सन्निषण्णाः स्थिता जनाः शान्तमलं कलङ्कस्य पुरोवर्तित्वान्निष्कलङ्कमत एव सान्द्रतरमंशुजालं यस्य तं सम्पूर्णं परिपूर्णं लब्धं प्राप्तं ललनालपनोपमानं स्त्रीमुखसादृश्यं येन तम् । आननं लपनं मुखम्' इत्यमरः । कुतः । उत्सङ्गसङ्गिहरिणस्याङ्कस्थमृगस्य मृगाङ्का मृगचिह्ना मूर्तिर्यस्य तस्य मृगांकमूर्तेश्चन्द्रस्य पश्चाद्भवः पाश्चात्यः । 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' (४।२।९८) । स चासौ भागश्च तं पाश्चात्यभागं पृष्ठभागं पश्यन्ति । पाश्चात्यभागदर्शनातिशयोक्त्या तादृगौन्नत्यध्वनिः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

यहाँ (रैवतक पर्वतपर) शिखरों पर चढ़े हुए लोग कलङ्क-रहित होनेसे सघन किरण-समूहवाले (अतएव अर्थात् कलङ्क रहित होनेके कारण ही) अङ्गनाओंके मुखकी उपमाको पूर्णतया प्राप्त किए हुए, मध्यमें हरिण (कलङ्कमृग) को धारण किए हुए चन्द्रमाके पिछले भागको देखते हैं ।

विमर्श—यह पर्वत इतना अधिक ऊँचा है कि इसके शिखरों पर चढ़े हुये लोग चन्द्रमाके पिछले हिस्से को देखते हैं, जो पिछला हिस्सा कलङ्क-रहित होनेसे बहुत-सी किरणोंको फैला रहा है तथा निष्कलङ्क होने से ललनाओंके मुखकी समानता पूर्ण रूपसे प्राप्त कर रहा है ॥ २२ ॥

कृत्वा पुंवत्पातमुच्चैर्भृगुभ्यो मूर्ध्नि ग्राव्णां जर्जरा निर्झरौघाः ।
कुर्वन्ति द्यामुत्पतन्तः स्मरार्तस्वर्लोकस्त्रीगात्र निर्वाणमत्र ॥ २३ ॥

कृत्वेति ॥ अत्राद्रौ निर्झरौघा गिरिनदप्रवाहाः । 'प्रवाहो निर्झरो झरः' इत्यमरः । चूतवृक्ष इत्यादिवत्सामान्यविशेषभावादपुनरुक्तिः । पुंवत् पुंभिस्तुल्यम् । 'तेन तुल्यं क्रिया चेत्—' (५।१।११५) इति वतिः । उच्चैर्भृगुभ्योऽत्तटेभ्यः । 'प्रपातस्त्वतटो भृगुः' इत्यमरः । ग्राव्णां शिलानां मूर्ध्नि पातं कृत्वा पतित्वा जर्जराः शकलीभूता द्यामाकाशं प्रत्युत्पतन्तः स्मरार्तानां स्वर्लोकस्त्रीणां खेचरीणामप्सरसां गात्रनिर्वाणमङ्गनिर्वृतिं कुर्वन्ति । 'अनुष्ठानासमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यतः । भृग्वग्निजलसम्पातैर्मरणं प्रविधीयते ॥' इति विहितमृगुपातिनां पुंसां स्वर्लोकगामिनामिहोपमानता । शालिनी वृत्तम् । 'शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' इति ।

इस (रैवतक पर्वत) पर झरनोंके प्रवाह पुरुषोंके समान, ऊँचे तट-रहित भागोंसे पत्थरोंके ऊपर गिरकर जर्जर (छिन्न भिन्न अङ्गोंवाला, टुकड़े-टुकड़े) होकर स्वर्गको उछलते (पक्षा०—जाते) हुये कामपीडित देवाङ्गनाओंके शरीरको सन्तापहीन करते हैं ।

विमर्श—इस रैवतक पर्वतपर ऊँचे तटरहित भागोंसे चट्टानोंके ऊपर गिरकर एवं कण-कण होकर ऊपर की ओर उछलते हुए जलप्रवाह कामपीडित देवाङ्गनाओंके देहतापको शीतल कणस्पर्शसे उस प्रकार दूर करते हैं, जिस प्रकार वानप्रस्थ के पालनेमें असमर्थ पुरुष ऊँचे पर्वतभागसे चट्टानोंके ऊपर गिरकर छिन्न-भिन्न शरीरवाला होकर स्वर्गमें जाता तथा कामपीडित देवाङ्गनाओंके साथ सम्भोगकर उनके शरीर-सन्तापको शान्त करता है। 'वानप्रस्थके पालनेमें असमर्थ या वानप्रस्थमें स्थित असमर्थ पुरुष को पर्वतसे गिरकर, अग्निमें जलकर या पानीमें डूबकर मरनेसे आत्मघातजन्य दोष नहीं होता अपितु वह पुरुष स्वर्ग को प्राप्त करता है' ऐसा धर्मशास्त्रकारोंका मत है ॥ २३ ॥

स्थगयन्त्यमूः शमितचातकार्तस्वरा
जलदास्तडित्तुलितकान्तकार्तस्वराः ।
जगतीरिह स्फुरितचारुचामीकराः
सवितः क्वचित् कपिशयन्ति चामी कराः ॥ २४ ॥

स्थगयन्तीति ॥ इहाद्रौ क्वचिदमूर्जगतीर्भूमीः । 'जगती भुवने भूमौ' इति विश्वः । शमिताश्चातकानामार्तस्वरा येस्ते शमितचातकार्तस्वराः । 'सर्वसहापतितमम्बु न चातकानाम्' इति भूमिगतस्य तेषां विषामत्वादभौमाम्बुदानेनोज्जीवयन्तीत्यर्थः । किञ्च तडिद्भिस्तुलितान्युपमितानि कान्तानि कार्तस्वराणि सुवर्णानि येस्ते तडित्तुलितकान्तकार्तस्वराः । तडित्स्फुरणे तेषामपि तद्वत्स्फुरणादिति भावः । ते जलदाः स्थगयन्त्याच्छादयन्ति । 'स्थग आच्छादने' इति चौरादिकः । क्वचित्तु स्फुरितान्युल्लसितानि चारूणि चामीकराणि सुवर्णानि येस्ते स्फुरितचारुचामीकरा अमी सवितुः कराः, आतपाश्च कपिशयन्ति कपिशिताः कुर्वते । क्वचिद् दृष्टिः क्वचिदातपश्चेति महदाश्चर्यमिति भावः । पथ्या वृत्तम् । 'सजसा यलौ च सह गेन पथ्या मता' ।

इस (रैवतक पर्वत) पर कहीं पर चातकों के दीनवचनको (जल प्रदानकर) शान्त करनेवाले तथा बिजलीसे मनोहर (पीले-पीले) सुवर्णोंकी तुलना करनेवाले अर्थात् पीले-पीले सुवर्णके समान चमकती हुई बिजलीवाले मेघ इन भू-भागोंको आच्छादित कर रहे हैं तथा सुन्दर (पीले-पीले) सुवर्णको चमकानेवाली ये सूर्य-किरणें कहीं पर इन भू-भागोंको पिङ्गलवर्ण कर रही हैं। (अथवा—चमकती हुई ये सूर्य-किरणें चमकते हुए सुवर्णवाले भू-भागको पिङ्गलवर्ण कर रही है) ॥ २४ ॥

उत्क्षिप्तमुच्छ्रितसितांशुकरावलम्बैरुत्तम्भितोडुभिरतीवतरां शिरोभिः ।
श्रद्धेयनिर्झरजलव्यपदेशमस्य विष्वक्तटेषु पतति स्फुटमन्तरीक्षम् ॥२५॥

उत्क्षिप्तमिति ॥ उच्छ्रिता उत्क्षिप्ताः सितांशोश्चन्द्रस्य करा अंशवो हस्ताश्चावलम्बो येषां तैः । उत्तम्भितान्युडूनि येस्तैः । उडूनि चावष्टभ्येत्यर्थः । शिरोभिः शिखरैर्मस्तकैश्चातीवतरां भृशतरम् । अतीवशब्दादव्ययादामुप्रत्ययः । उत्क्षिप्तमुद्यम्य

धृतं अन्तरीक्षं श्रद्धेयः सादृश्याद्विश्वसनीयो निर्झरजलमिति व्यपदेशो व्यवहारो यस्य तत्। दृढतरां निर्झरजलधियं कुर्वदित्यर्थः। अस्याद्रेस्तटेषु विष्वक् समन्तात् पतति स्फुटं सत्यम्। इन्दुकरानुद्गृह्नि चावष्टम्य शिरोभिर्ध्रियमाणमपि दुरुद्धरत्वाद् भ्रश्यदन्तरीक्षमेवेदं न तु जलम्। सादृश्यात्तु व्यपदेशो दुर्वार इति सर्वतः पतिता, निर्झरजलं चोत्प्रेक्ष्यते। तेनोत्सेधविस्तारावस्य व्यज्येते।

ऊपरकी ओर उठी हुई चन्द्र-किरणरूपी हाथोंके अवलम्बन वाले तथा ताराओंको ऊपर अवलम्बन किये हुए शिखरों (पक्षा०—मस्तकों) से अत्यन्त ऊपर उठाया गया आकाशमण्डल समानवर्ण होनेसे निर्झर जलके समान प्रतीत होता हुआ इस रैवतक पर्वतके चारों ओर तटोंपर मानों गिर रहा है।

विमर्श—चन्द्रमण्डल रैवतकके शिखरसे नीचे है, अतएव उसकी किरणें ऊपरकी ओर फैलती हैं रैवतकके शिखरोंको ऊपरकी ओर इस प्रकार हस्तावलम्बन दे रही हैं जैसे किसी बोझेको ढोनेवाले व्यक्तिके मस्तकोंको कोई हाथका सहारा देता हैं, तथा वे शिखर नक्षत्र-समूहको अपने ऊपर उठाये हुए हैं, ऐसे शिखरोंसे ऊपर उठाया गया तथा समान होनेसे झरनोंका जल प्रतीत होनेवाला मानों आकाश-मण्डल ही इस रैवतक पर्वतके तटोंके चारों ओर गिर रहा है। लोकमें भी किसी बोझको उठानेवाला मनुष्य दूसरेके हाथका सहारा लेता है। इससे इस पर्वतकी ऊँचाई तथा विस्तारकी अधिकता ध्वनित होती है ॥ २५ ॥

एकत्र स्फटिकतटांशुभिन्ननीरा नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसोऽपरत्र।
कालिन्दीजलजनितश्रियः श्रयन्ते वैदग्धीमिह सरितः सुरापगायाः ॥२६॥

एकत्रेति ॥ एकत्र एकस्मिन् भागे स्फटिकस्य यत्तटं तस्यांशुभिर्विभिन्ननीरा मिश्रोदकाः। शुभ्रजला इत्यर्थः। अपरत्र अपरस्मिन्भागे नीलाश्मनामिन्द्रनीलानां द्युतिभिर्भिदुराणि मिश्राण्यम्भांसि यासां ताः। नीलसलिला इत्यर्थः। इहाद्रौ सरितः कलिन्दस्याद्रेरपत्यं स्त्री कालिन्दी यमुना। 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' इत्यमरः। तस्या जलैर्जनिता श्रीः शोभा यस्यास्तस्याः तत्सङ्गताया इत्यर्थः। सुरापगाया गङ्गाया वैदग्धीं शोभां श्रयन्ते भजन्ति। विदग्धस्य भावो वैदग्धी। ब्राह्मणादित्वात् 'गुणवचन–' (५।१।१२४) इत्यादिना ष्यञ्प्रत्ययः। 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (४।१।४१) इति ङीष्। सोऽपि त्वस्य बाहुलकत्वादिह वैकल्पिकः। अत एव 'ष्यञः षित्करणादीकारो बहुलम्' इति वामनः। अत्र सितासितमणिगुणग्रहणात्सरितां यमुनासङ्गतगङ्गाशोभासादृश्याक्षेपात्तद्गुणोत्थापितो निदर्शना। प्रहर्षिणी वृत्तम्। 'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्।

एक ओर स्फटिकमणिके किनारेकी प्रभासे श्वेत जलवाली तथा दूसरी ओर इन्द्रनीलमणिकी प्रभासे मिश्रित होनेसे नीले जलवाली नदियाँ इस (रैवतक पर्वत) पर यमुनाके (नीले) जलसे सुशोभित अर्थात् मिश्रित (श्वेत जलवाली) गङ्गाकी शोभाको धारण करती हैं अर्थात् तीर्थराज प्रयागमें हुए गङ्गा तथा यमुनाके समान शोभती हैं ॥ २६ ॥

इतस्ततोऽस्मिन् विलसन्ति मेरोः समानवप्रे मणिसानुरागाः।
स्त्रियश्च पत्यौ सुरसुन्दरीभिः समा नवप्रेमणि सानुरागाः॥ २७॥

इत इति॥ मेरोः समानवप्रे तुल्यप्रस्थे अत एवास्मिन्नद्रावितस्ततो मणिसानुरागा रत्नतटकान्तयो विलसन्ति प्रसरन्ति। किञ्च नवं प्रेम यस्य तस्मिन्नवप्रेमणि पत्यौ अनुरागेण सह वर्तन्त इति सानुरागाः सुरसुन्दरीभिः समाः सरूपाः स्त्रियश्चेतस्ततो विलसन्ति क्रीडन्ति। अन्योन्यमनुरागिणोऽनुरूपाश्चेह विलासिनस्तदनुरूपाणि च विहारस्थलानि सन्तीति भावः।

सुमेरुके समान वप्रवाले इस (रैवतक पर्वत) पर मणिमय शिखरोंके रंग इधर-उधर शोभ रहे हैं, और नये प्रेमवाले पतिमें अनुरागयुक्त एवं देवाङ्गनाओंके समान (सुन्दरी) स्त्रियां भी इधर-उधर विलास (क्रीडा) कर रही हैं॥ २७॥

उच्चैर्महारजतराजिविराजितासौ दुर्वर्णभित्तिरिह सान्द्रसुधासवर्णा।
अभ्येति भस्मपरिपाण्डुरितस्मरारेरुद्वह्निलोचनललामललाटलीलाम्॥

उच्चैरिति॥ इहाद्रौ सान्द्रया सुधया लेपविशेषेणामृतेन वा सवर्णा समानवर्णा। 'ज्योतिर्जनपद—' (६।३।८५) इत्यादिना समानस्य सादेशः। 'लेपभेदेऽमृते सुधा' इति वैजयन्ती। महारजतराजिविराजिता काञ्चनरेखाशोभिता असौ पुरोवर्तिनी उच्चैरुन्नता दुर्वर्णभित्ती रजतभित्तिः। 'महारजतकाञ्चने' इति, 'दुर्वर्णं रजतं रूप्यम्' इति चामरः। भस्मना परिपाण्डुरितस्य स्मरारेरुद्वह्नि उद्गतार्चिर्लोचनमेव ललामं भूषणं यस्य तस्य ललाटस्य लीलां शोभामभ्येति भजतीति निदर्शनालङ्कारः। "ललामं पुच्छपुण्ड्राश्वभूषाप्राधान्यकेतुषु' इत्यमरः।

इस (रैवतक पर्वत) पर सघन चूनेके समान (शुभ्रवर्ण) तथा सोनेकी रेखासे सुशोभित ऊँची चांदीकी दीवाल भस्मसे श्वेतवर्ण शङ्करजीके आग निकलते हुए नेत्रसे सुन्दर (देदीप्यमान—चमकते हुए) ललाटकी शोभाको धारण कर रही है अर्थात् भस्मोद्धूलित शङ्करजीके अग्निज्वालावाले युक्त ललाटके समान शोभती है॥ २८॥

अयमतिजरठाः प्रकामगुर्वीरलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः।
सततमसुमतामगम्यरूपाः परिणतदिक्करिकास्तटीर्बिभर्ति॥ २९॥

अयमिति॥ अयं गिरिः अतिजरठाः अतिकठिनाः, अतिजरतीश्च। 'जरठः कठिने जीर्णे' इति वैजयन्ती। प्रकामं गुर्वीः श्रेष्ठाः, स्थौल्याद् दुर्भराश्च प्रकामगुर्वीः। 'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति शब्दार्णवः। विस्पष्टपटुवद् 'मयूरव्यंसकादयश्च' (२।१।७२) इति समासः। अलघुभिर्विलम्बिभिर्लम्बमानैः पयोधरैर्मेघैः, स्तनैश्च। "स्त्रीस्तनाब्दौ पयोधरौ' इत्यमरः। उपरुद्धा आवृताः निबद्धाः सततं सर्वदाऽसुमतां प्राणभृतामगम्यरूपा अत्युन्नतत्वाद्दुरारोहस्वरूपाः, अन्यत्र वृद्धत्वाद्गमनानर्हविग्रहाः। 'त्यजेदन्त्यकुलोत्पन्नां वृद्धां स्त्रीं कन्यकां तथा' इति गमननिषेधादिति भावः।

परिणतास्तिर्यग्दन्तप्रहारिणो दिक्करिणो दिग्गजा यासु ताः परिणतदिक्करिकाः। 'तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः' इति हलायुधः। 'इनः स्त्रियाम्' (५।४।१५२) इति समासान्तः कप्प्रत्ययः। अन्यत्र परिणताः किणीभूता दिशो दन्तक्षतविशेषा करिकाः, नखव्रणाश्च यासां ताः। 'दिग्दष्टे वर्तुलाकारे करिका नखरेखिका' इति वैजयन्ती। तटीर्बिभर्ति। अत्र प्रकृततटीविशेषणमहिम्ना अप्रकृतवृद्धाङ्गनाप्रतीतेः समासोक्तिः। पुष्पिताग्रा वृत्तमुक्तम्।

यह (रैवतक पर्वत) अत्यन्त कठोर (पक्षा०—अत्यन्त बूढ़ी), अत्यन्त उन्नत (पक्षा०—मोटी), (जलपूर्ण होनेसे) अत्यन्त नीचे लटकते हुए मेघोंसे घिरी हुई (पक्षा०—वृद्धावस्थाके कारण बहुत नीचे लटकते हुए स्तनोंवाली) अत्यन्त ऊँचा एवं बीहड़ होने से सर्वदा जीवधारियों से अगम्य अर्थात् कोई जीव वहाँ नहीं पहुँच सकता हो ऐसी (पक्षा०—अत्यन्त वृद्धा होनेसे दीर्घजीवनेच्छुक पुरुषों के द्वारा सम्भोग करने के अयोग्य) हाथियोंने जिनमें दांतोंसे प्रहार किया है ऐसी (पक्षा०—पुरुषकृत नख-दन्त-क्षतादि जिसके पक गये हैं ऐसी) तटियोंको वृद्धा स्त्रियोंके समान धारण कर रहा है॥ २९॥

धूमाकारं दधति पुरः सौवर्णे वर्णेनाग्नेः सदृशि तटे पश्यामि।
श्यामीभूताः कुसुमसमूहेऽलीनां लीना[1]मालीमिह तरवो बिभ्राणाः॥ ३०॥

धूमेति॥ इहाद्रौ पुरोऽग्रे वर्णेनाग्नेः सदृशि समाने। अग्निसमानवर्ण इत्यर्थः। सौवर्णे सुवर्णविकारे तटे कुसुमसमूहे लीनां स्थिताम्। 'ल्वादिभ्यः, (८।२।४४) इति निष्ठानत्वम्। अलीनां भृङ्गाणामालीमावलीं बिभ्राणा अत एव श्यामीभूता अमी तरवो धूमाकारं धूमसाम्यं दधति। त्वं पश्य। स्वर्णतटमग्निवद्भाति, श्यामास्तरवो धूमवद्भान्तीत्युपमा। जलधरमाला वृत्तम्। 'अब्ध्यङ्गैः स्याज्जलधरमाला म्भौ स्मौ' इति लक्षणात्।

इस (रैवतक पर्वत) पर सामने रंगमें अग्निके समान सुवर्णमय तटपर पुष्प-समूह (फूलों के गुच्छे) में छिपे हुए भ्रमरोंके समूहोंको धारण करते हुए (अतएव) श्यामवर्ण ये वृक्ष धूएँ की शोभा धारण कर रहे हैं, यह आप देखिए॥ ३०॥

व्योमस्पृशः प्रथयता कलधौतभित्तीरुन्निद्रपुष्पचणचम्पकपिङ्गभासः।
सौमेरवीमधिगतेन [2]नितम्बशोभामेतेन भारतमिलावृतवद्विभाति॥३१॥

व्योमेति॥ व्योमस्पृशोऽभ्रङ्कषाः उन्निद्रैर्विकसितैः पुष्पैर्वित्ता उन्निद्रपुष्पचणाः। 'तेन वित्त—' (५।२।२६) इति चणप्प्रत्ययः। ते च ते चम्पकाश्च तद्वत् पिङ्गभासः पिङ्गवर्णाः कलधौतभित्तीः कनकतटीः। 'कलधौतं रौप्यहेम्नोः' इति विश्वः। प्रथयता प्रकटयता अत एव सौमेरवीं सुमेरुसम्बन्धिनीं नितम्बशोभां कटकलक्ष्मीमधिगतेन प्राप्तवता। 'गत्यर्थाकर्मक—' (३।४।७२) इत्यादिना गमेः कर्तरि क्तः।

---

१. 'लीनां श्रेणीमिह' इति पा०। २. 'निकुञ्ज—' इति पा०।

एतेन रैवतकाद्रिणा भारतं भरतस्य राज्ञ इदं भारताख्यं वर्षं भूखण्डम्। 'स्याद् वृष्टौ लोकधात्र्यंशे वत्सरे वर्षमस्त्रियाम्' इत्यमरः। इलावृतवदिलावृतवर्षमिव बिभातीत्युपमा। नवखण्डस्य जम्बूद्वीपस्य हिमाद्रेर्दक्षिणभूखण्डं हैमवतापरनामकं भारतवर्षं सुमेरुयोगात् सौमेरवापराख्यं मध्यमखण्डमिलावृतवर्षम्। अत एव 'नाम्नेदं भारतं वर्षं हिमाद्रेस्तच्च दक्षिणे। तेन हैमवतं नाम परेष्वप्येवमुन्नयेत्॥ इलावृतं सौमेरवं सुमेरोः परितो हि तत्॥' इति वैजयन्ती।

आकाशस्पर्शी, विकसित पुष्पोंवाले चम्पकोंके समान पिङ्गल शोभावाली स्वर्णमयी तटियों को धारण करते हुए (अत एव) सुमेरु पर्वतके मध्यभागकी शोभाको प्राप्त इस रैवतक पर्वतसे यह भारतवर्ष इलावृत (सुमेरुपर्वतके चारों भागमें स्थित देवभूमिविशेष) के समान शोभता है॥ ३१॥

रुचिरचित्रतनूरुहशालिभिर्विचलितैः[1] परितः प्रियकव्रजैः।
विविधरत्नमयैरभिभात्यसाववयवैरिव जङ्गमतां गतैः॥ ३२॥

रुचिरेति॥ असौ गिरिः रुचिरैरुज्ज्वलैः, चित्रैर्नानावर्णैः, तनूरुहैर्लोमभिः शालन्त इति तथोक्तैः परितः प्रचलितैः प्रसरद्भिः प्रियकाः कम्बलप्रकृतयो मृगविशेषाः। 'प्रियको रोमभिर्युक्तो मृदूच्चमसृणैर्घनैः' इति वैजयन्ती। तेषां व्रजैः समूहैः जङ्गमतां चरिष्णुतां गतैर्विविधरत्नमयैरवयवैः स्वाङ्गैरिव प्रतिभातीत्युत्प्रेक्षा। द्रुतविलम्बितं वृत्तम्।

मनोहर अनेक वर्णों के रोमवाले घूमते हुए 'प्रियक' नामक मृग-विशेषोंसे जङ्गमता को प्राप्त अर्थात् जङ्गम बने हुए अनेक रत्नमय अवयवोंके समान यह (रैवतक पर्वत) सब ओर शोभ रहा है॥ ३२।

कुशेशयैरत्र जलाशयोषिता मुदा रमन्ते कलभा विकस्वरैः।
प्रगीयते सिद्धगणैश्च योषितामुदारमन्ते कलभाविकस्वरैः॥ ३३॥

कुशेशयैरिति॥ अत्रादौ जलाशयोषिता जलाशयेषु ह्रदेषु उषिता वसन्तः। 'गत्यर्थाकर्मक–' (३।४।७२) इत्यादिना वसतेः कर्तरि क्तः। सम्प्रसारणम् 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' (३।२।१८८) इति चकाराद्वर्तमानार्थता। कलभास्त्रिंशद्वर्षकरिणः। 'त्रिंशद्वर्षस्तु कलभः' इति वैजयन्ती। विकस्वरैर्विकसनशीलैः। 'स्थेशभासपिसकसो वरच्' (३।२।१७५)। कुशेशयैः शतपत्रैः। 'शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः। मुदा प्रीत्या रमन्ते क्रीडन्ति। करिविहाराणां कमलकराणामयमाकर इति भावः। किञ्च कला अव्यक्तमधुराः। विकारो मानसो भावः स प्रयोजनमेषां भाविकाः। उद्दीपका इत्यर्थः। कला भाविकाश्च स्वराः षड्जादयो येषां तैः कलभाविकस्वरैः

१. '—विंचरितैः' इति पा०।

सिद्धगणैः सुरसङ्घैः, योषितां स्वस्त्रीणामन्ते समीपे उदारमुच्चैः प्रगीयते च। भूस्वर्गोऽयमिति भावः।

इस (रैवतक पर्वत) पर जलाशयमें प्रविष्ट तीसवर्षकी अवस्थावाले हाथीके बच्चे खिले हुए कमलोंसे आनन्दपूर्वक रमण (क्रीडा) कर रहे हैं, तथा अव्यक्त मधुर एवं उद्दीपक स्वरवाले सिद्धगण स्त्रियों (सिद्धाङ्गनाओं) के समीपमें उच्च स्वरसे गा रहे हैं ॥ ३३ ॥

आसादितस्य तमसा नियतेर्नियोगादाकाङ्क्षतः पुनरपक्रमणेन कालम्।
पत्युस्त्विषामिह महौषधयः कलत्रस्थानं परैरनभिभूतममूर्वहन्ति[1] ॥३४॥

आसादितस्येति ॥ इहाद्रौ अमूर्महौषधयो नियतेर्नियोगादस्मिन्काले इदं भावीति दैवशासनात् । तमसान्धकारेण, तत्प्रायेण व्यसनेन वा आसादितस्याक्रान्तस्य पुनरपक्रमणेन पुनरावृत्त्या कालं समागमकालमाकाङ्क्षतः। पुनरागत्य सङ्गन्तुमिच्छत इत्यर्थः। त्विषां पत्युः सूर्यस्य सम्बन्धि परैस्तेजोऽन्तरैः, पुरुषान्तरैश्चानभिभूतमतिरस्कृतमनुपहृतं च कलत्रस्थानं कलत्रभूतानां त्विषां स्थानं स्थितिं वहन्ति। निर्वहन्तीत्यर्थः । स्त्रीणां स्त्रीष्वेव रक्षणं कार्यमिति भावः । यथा केनचिदापदि न्यासीकृतानि कलत्राणि संरक्ष्य कालान्तरे साधवस्तस्मै प्रयच्छन्ति तद्वदोषधयोऽपि त्विषस्त्विषां पत्युरर्पयन्तीत्यर्थः । एतच्च तासां सूर्यास्तसमये प्रज्वलनादुदये विपर्ययाच्चोपचर्यते । अत्र विशेषणसाम्यादर्कादीनामापन्नादिसाम्यप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः।

इस (रैवतक पर्वत) पर ये महौषधियाँ भाग्यके नियन्त्रण ('इस समय ऐसा होगा' ऐसे दैव-शासन) से अन्धकार (पक्षा०—व्यसन) से आक्रान्त, तथा फिर उससे निकलकर (लौटकर—छूटकर) समयकी प्रतीक्षा करते हुए (पक्षा०—सङ्गमाभिलाषुक) प्रभापति (सूर्य) के दूसरे से अनाक्रान्त (या—अतिरस्कृत) कलत्रस्थान (स्त्री-पद) को धारण कर रही है।

विमर्श—दैवके नियमसे रात्रिमें सूर्य अन्धकारसे आक्रान्त हो गये हैं तथा फिर अन्धकार से छूटकर प्रभायुक्त होनेकी इच्छा करते हैं, तब तक उनकी पत्नी 'प्रभा' को ये महौषधियाँ धारण कर रही हैं, जिस प्रकार व्यसनमें पड़े हुए तथा फिर उससे छूटकर समय पर समागमकी इच्छा करते हुए किसी पुरुषकी स्त्रियोंकी रक्षा कोई दूसरा करता रहता है और उसके लौटनेपर उन्हें सुरक्षितरूपमें उस व्यक्तिके लिए वापस कर देता है, वैसे ही ये महौषधियाँ कर रही हैं। रात्रिमें महौषधियोंके प्रज्वलित होनेसे उक्त कल्पना की गयी है। इस रैवतक पर्वतपर अमृतसञ्जीवनी आदि महौषधियां उत्पन्न होती हैं ॥ ३४ ॥

वनस्पतिस्कन्धनिषण्णबालप्रबालहस्ताः प्रमदा इवात्र।
पुष्पेक्षणैर्लम्भितलोचकैर्वा मधुव्रतव्रातवृतैर्व्रततयः ॥ ३५ ॥

---

१. '—भंजन्ते' इति, 'भजन्ति' इति च पा०।

वनस्पतीति ॥ अत्राद्रौ वनस्पतयो वृक्षाः । 'वनस्पतिर्वृक्षमात्रे विनापुष्पफलद्रुमे' इति विश्वः । तेषां स्कन्धेषु प्रकाण्डेषु, अंसेषु च निषण्णाः सक्ता बालप्रवाला बालपल्लवा हस्ता इव यासां तास्तथोक्ताः । मधूनि व्रतयन्ति भुञ्जते इति मधुव्रता मधुपा स्तेषां व्रातेन वृन्देन वृतैश्छन्नैः । अत एव लम्भिताः प्रापिता लोचकास्तारकाणि, कज्जलानि च यैस्तैर्वा । तैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा । इवार्थे वाशब्दः तद्वदुत्प्रेक्षायां चोक्तः । 'लोचको मांसपिण्डे स्यादक्षितारे च कज्जले' इति विश्वः । पुष्पैरीक्षणैरिव पुष्पेक्षणैरुपलक्षिता व्रतत्यो लताः । प्रमदा इव लक्ष्यन्त इति शेषः । 'न प्रसिद्धे क्रियाध्याहारदोषः' इत्याह वामनः । लिङ्गाध्याहारवदिति ।

इस (रैवतक पर्वत) पर वनस्पति (बहुत बड़े वृक्ष, पक्षा०—आगेमें स्थित पति) के स्कन्ध (दो मोटी डालियोंके मूल, पक्षा०—पतिके कन्धे) पर स्थित नवपल्लवरूप हाथ वाली (या—हाथके समान है नवपल्लव जिनका ऐसी), तथा भ्रमर-समूहोंसे आच्छादित, तारकायुक्त (पक्षा०—कज्जलयुक्त) पुष्परूपनेत्रोंसे युक्त लताएँ अङ्गनाओंके समान दृष्टिगोचर होती हैं ।

विमर्श—जिस प्रकार स्त्रियां पतिके कन्धोंपर नवपल्लवके समान हाथोंको रखती है तथा भ्रमरयुक्त पुष्पोंके समान कज्जल शोभित नेत्रोंको हर्षसे विकसित कर लेती हैं; उसी प्रकार वनस्पतियोंके स्कन्धोंपर हाथके समान नवपल्लवोंको रखी हुई, तथा भ्रमर-समूहसे आच्छादित अतएव लोचकयुक्त पुष्परूपी नेत्रोंवाली ये लताएँ इस रैवतक पर्वतपर शोभ रहीं हैं । 'ग्रामीण स्त्रियोंके मस्तकके कपड़ेका जो भाग मलिन होता है, उसे 'लोचक' कहते हैं ॥ ३५ ॥

विहगाः कदम्बसुरभाविह गाः कलयन्त्यनुक्षणमनेकलयम् ।
भ्रमयन्नुपैति मुहुरभ्रमयं पवनश्च धूतनवनीपवनः ॥ ३६ ॥

विहगा इति ॥ कदम्बैः सुरभिः सुगन्धिस्तस्मिन् कदम्बसुरभाविहाद्रौ विहगाः पक्षिणोऽनुक्षणं प्रतिक्षणं अनेके बहुविधा लया विच्छेदा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा गाः वाचः । शब्दानित्यर्थः । कलयन्त्युच्चारयन्ति । 'अर्जुनीनेत्रदिग्बाणभूवाग्वारिषु गौर्मता' इति विश्वः । किञ्च धूतानि कम्पितानि नवानि नीपवनानि कदम्बकाननानि येन स धूतनवनीपवनः । 'नीपप्रियककदम्बास्तु हलिप्रियः' इत्यमरः । अयं पवनो मुहुरभ्रं मेघं भ्रमयन्नुपैति । प्रमिताक्षरावृत्तम् । 'प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता' इति लक्षणात् ।

कदम्ब-पुष्पोंसे सुरभित इस (रैवतक पर्वत) पर पक्षिगण प्रत्येक क्षण अर्थात् सर्वदा अनेक लयोंके साथ कूज रहे हैं, तथा नये (विकसित एवं पल्लवित) कदम्बवनोंको कम्पित करती हुई तथा मेघको बार-बार उड़ाती हुई हवा समीपमें आ रही है ॥ ३६ ॥

त्विद्भिरागमपरैर्विवृतं कथञ्चिच्छ्रुत्वापि दुर्ग्रहमनिश्चितधीभिरन्यैः ।
श्रेयान् द्विजातिरिव हन्तुमघानि दक्षं गूढार्थमेष निधिमन्त्रगणं बिभर्ति ॥

विद्वद्भिरिति ॥ एषोऽद्रिः श्रेयान् श्रेष्ठः द्विजातिर्ब्राह्मण एव आगमो निधिकल्पः मन्त्रशास्त्रं च स एव परं प्रधानं येषां तैरागमपरैर्विद्वद्भिर्निधीनां मन्त्राणां च साधन-विधानज्ञैः कथञ्चिद्विवृतं स्वरूपतः प्रकाशितम् । नास्ति निश्चिता इदमित्थमिति निश्चयात्मिका धीर्येषां तैरनिश्चितधीभिरन्यैरशास्त्रज्ञैः श्रुत्वाऽपि इह निधिरस्ति, ईदृङ्महिमा असौ मन्त्र इति चाप्तमुखादाकर्ण्यापि दुर्ग्रहं दुःसाधनम् । अघानि दुखान्येनांसि च हन्तुं दक्षं समर्थम् । 'दुःखैनोंव्यसनेष्वघम्' इति वैजयन्ती । गूढः संवृतोऽर्थो धनं, अभिधेयं च यस्मिस्तं गूढार्थम् । निधयो मन्त्रा इव, अन्यत्र निधय इव मन्त्रास्तेषां गणं बिभर्ति द्विजातिर्मन्त्रगणमिव निधिगणमेष बिभर्तीत्युपमार्थः ॥

यह (रैवतक पर्वत) श्रेष्ठ द्विज (ब्राह्मण) के समान, भूगर्भविद्या (पक्षा०—मन्त्रशास्त्र) में तत्पर विद्वानोंके द्वारा किसी प्रकार (बड़ी कठिनाईसे) बतलाए, गए, सुनकर भी चञ्चल-बुद्धि पुरुषोंको दुर्लभ, दरिद्रता (पक्षा०—पापों) को दूर करनेमें समर्थ तथा जिसमें धन छिपा है ऐसे (पक्षा०—गम्भीर अभिप्रायवाले) मन्त्र–समूहोंके समान निधियों (आकरों–खजानों, पक्षा०—निधिरूप मन्त्र–समूहों) को धारण करता है ॥ ३७ ॥

विम्वोष्ठं[1] वहु मनुते तुरङ्गवक्त्रश्चुम्वन्तं मुखमिह किन्नरं प्रियायाः ।
श्लिष्यन्तं मुहुरितरोऽपि तं निजस्त्रीमुत्तुङ्गस्तनभरभङ्गभीरुमध्याम् ॥३८॥

विम्वोष्ठमिति ॥ इहाद्रौ तुरङ्गस्य वक्त्रमिव वक्त्रं यस्य स तुरङ्गवक्त्रो देवयोनि-विशेषः । सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिरुत्तरपदलोपश्चेत्युष्ट्रमुखवत्समासः । बिम्ब-कल्प ओष्ठो यस्य तं बिम्बोष्ठमित्युपमालङ्कारः । 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा पररूपं वक्तव्यम्' (वा०) इत्योकारः । प्रियया मुखं चुम्बन्तं किन्नरं मानुषमुखमश्वाङ्गं देवयोनिविशेषं बहु गुरु यथा तथा मनुतेऽवबुध्यते । तुरङ्गवक्त्रस्य चुम्बनासम्भवा-दिति भावः । इतरः किन्नरोऽप्युत्तुङ्गस्तनभरेण यो भङ्गस्तस्माद्भीरुर्मध्यो यस्यास्तां निजस्त्रीं स्वस्त्रियम् । 'वाम्शसोः' (६।४।८०) । इति विकल्पादियङादेशाभावः । मुहुः श्लिष्यन्तं मानुषाङ्गत्वादालिङ्गन्तं तुरङ्गवक्त्रं बहु यथा मनुते । तुरङ्गवपुषः किन्नरस्याश्लेषासम्भवादिति भावः । दुर्लभं प्रियं भवतीति रहस्यम् । मध्यस्या-भङ्गेऽपि भङ्गोक्तेरतिशयोक्तिरुपमया संसृज्यते । प्रहर्षिणीवृत्तमुक्तम् ।

इस (रैवतक पर्वत) पर घोड़ेके समान मुखवाला किन्नर प्रियाके मुखको चूमते हुए (अश्वके समान धड़ तथा मनुष्यके समान मुखवाले किन्नरको) श्रेष्ठ मानता है तथा दूसरा (घोड़ेके समान धड़ और आदमीके समान मुखवाला) किन्नर ऊँचे-ऊँचे स्तनोंके भारसे भययुक्त कटिवाली अर्थात् घटस्तनी एवं कृशकटिवाली अपनी स्त्रीका आलिङ्गन करते हुए उसको (घोड़ेके समान मुख तथा मनुष्यके समान धड़वाले किन्नरको) श्रेष्ठ समझता है । (यह पर्वत किन्नरोंका भी विहारस्थान है) ॥ ३८ ॥

---

१. 'विम्बौष्ठम्' इति पा० ।

यदेतदस्यानुतटं विभाति वनं ततानेकतमालतालम् ।
न पुष्पितात्र स्थगितार्करश्मावनन्तताने कतमा लतालम् ॥ ३९ ॥

यदिति ॥ अस्याद्रेरनुतटं तटेषु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । तता विस्तृता अनेके बहवस्तमालास्तालाश्च यस्मिंस्तत्ततानेकतमालतालं तदेतत्पुरोवर्ति वनं विभाति स्थगितार्करश्मौ तिरोहितातपे अनन्ततानेऽपारविस्तारेऽत्र वने कतमा लता का वा लता अलमत्यन्तं न पुष्पिता । सञ्जातपुष्पा न भवतीति शेषः । सर्वापि पुष्पितेत्यर्थः ।

इस (रैवतक पर्वत) के तीरके समीपमें फैले हुए (या—ऊँचे) अनेक तमाल वृक्षों एवं तालवृक्षोंका जो वन शोभता है, अत्यन्त फैले हुए (अत एव) सूर्य—सन्तापको रोकने वाले इस वनमें कौन—सी लता पुष्पयुक्त नहीं हो रही है ? अर्थात् सभी लताएं पुष्पयुक्त हो रही हैं ॥ ३९ ॥

दन्तोज्ज्वलासु विमलोपलमेखलान्ताः
सद्रत्नचित्रकटकासु बृहन्नितम्बाः ।
अस्मिन् भजन्ति घनकोमलगण्डशैला
नार्योऽनुरूपमधिवासमधित्यकासु ॥ ४० ॥

दन्तोज्ज्वलास्विति ॥ अस्मिन्नद्रौ दन्ता निकुञ्जाः, दशनाश्च । 'दन्तो निकुञ्जे दशने' इति विश्वः । तैरुज्ज्वलासु रुचिरासु सद्रत्नैश्चित्राणि कटकानि सानूनि, वलयानि च यासां तासु । 'कटकं वलये सानौ' इति विश्वः । अधित्यकामूर्ध्वभूमिषु । 'भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः (५।२।३४) इत्यधिशब्दात्त्यकन्प्रत्ययः । विमलोपला उज्ज्वलशिलाः, उज्ज्वलमणयो वा मेखलाः काञ्च्यः, नितम्बभूमयश्च । 'मेखला खड्गबन्धे स्यात्काञ्चीशैलनितम्बयोः' इति विश्वः । ताभिरन्ता रम्याः । 'मृताववसिते रम्ये समाप्तावन्त इष्यते' इति शब्दार्णवे । बृहन्तो नितम्बाः कटिपश्चाद्भागाः शिखराणि च यासां ताः । 'नितम्बो रोधसि स्कन्धे शिखरेऽपि कटेरधः' इति विश्वः । घना विपुलाः कोमलाः श्लक्ष्णा गण्डशैला गण्डस्थलानि; स्थूलोपलाश्च यासां ता नार्योऽनुरूपमिच्छासदृशम्, आत्मसदृशं वाधिवासं भजन्ति । अत्र नारीणामधित्यकानां च प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतगोचरा श्लेषोपस्थापिता तुल्ययोगिता । अत एवोभयविशेषणान्युभयत्र विभक्तिविपरिणामेन योज्यानि ।

इस (रैवतक पर्वत) पर निकुञ्जों (पक्षा०—दाँतों) से मनोहर, श्रेष्ठ रत्नोंसे चित्र-विचित्र मध्यभागवाली (पक्षा०—श्रेष्ठ रत्नोंसे विचित्र कङ्कणोंवाली) पर्वतकी ऊपरी भूमियों-पर निर्मल चट्टानवाले मध्यभागसे रमणीय (पक्षा०—निर्मल अर्थात् निर्दोष होनेसे श्रेष्ठ मणियोंसे युक्त करधनीसे रमणीय), बड़े-बड़े शिखरों (चूतड़ों) वाली, बड़े-बड़े तथा चिकने चट्टानोंवाली (पक्षा०—अत्यन्त कोमल कपोलमण्डलवाली) स्त्रियाँ अपने योग्य (या—श्रेष्ठ) निवासस्थानोंको प्राप्त करती हैं ॥ ४० ॥

अनतिचिरोज्झितस्य जलदेन चिरस्थितबहुबुद्बुदस्य पयसोऽनुकृतिम् ।
विरलविकीर्णवज्रशकला सकलामिह विदधाति धौतकलधौतमही ॥ ४१ ॥

अनतिचिरेति ॥ इहाद्रौ विरलं यथा तथा विकीर्णाः प्रसरणशीला वज्रशकलाः श्वेतहीरखण्डानि यस्यां सा धौता शुभ्रा कलधौतमही रजतभूमिः । 'कलधौतं रूप्य हेम्नोः' इति विश्वः । जलदेनानतिचिरोज्झितस्य तत्कालमुक्तस्य । शुभ्रस्येति भावः । चिरस्थिताश्चिरस्थायिनो बहवश्च बुद्बुदा जलस्फोटा यस्मिंस्तस्य पयसोऽम्भसः सकलामनुकृतिं समग्रसादृश्यं विदधाति । अत्र मेघोज्झितजलस्य स्थिरबुद्बुदासम्बन्धेऽपि सम्भावनया सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । कुररीरुता वृत्तम् । 'कुररीरुता नजभजैर्लगयुक्' इति लक्षणात् ।

इस (रैवतक पर्वत) पर पृथक्-पृथक् बिखरे हुए हीरोंके टुकड़ोंवाली, शुभ्र चांदीकी भूमि, मेघके द्वारा अभी गिराये (बरसाए) गए तथा चिरकाल स्थिर रहनेवाले बुद्बुद् (पानीके बबूलों) वाले पानीकी समानताको पूर्णरूपसे धारण कर रहा है अर्थात् रजतमयी शुभ्र पृथ्वीपर फैले हुए हीरेके टुकड़े मेघसे बरसे हुए पानीके चिरस्थायी बुल्लोंके समान शोभते हैं ॥ ४१ ॥

वर्जयन्त्या जनैः सङ्गमेकान्ततस्तर्कयन्त्या सुखं सङ्गमे कान्ततः ।
योषयैव स्मरासन्नतापाङ्गया सेव्यतेऽनेकया सन्नतापाङ्गया ॥ ४२ ॥

वर्जयन्त्येति ॥ एकान्तत एकान्ते । रहसीत्यर्थः । कान्ततः कान्तेन । प्रियेणेत्यर्थः । उभयत्रापि सार्वविभक्तिकस्तसिः । सङ्गमे सति सुखं तर्कयन्त्या उत्प्रेक्षमाणया । विस्रब्धं विहारमाकाङ्क्षन्त्येत्यर्थः । अत एव जनैः सङ्गं वर्जयन्त्या । कुतः । स्मरेणासन्नतापानि प्राप्तज्वराण्यङ्गानि यस्यास्तया स्मरासन्नतापाङ्गया । 'अङ्गगात्रकण्ठेभ्यश्चेति वक्तव्यम्' (वृत्तिवा०) इति विकल्पादिह पक्षे टाप् । सन्नतौ नम्रावपाङ्गौ यस्यास्तस्या सन्नतापाङ्गया स्मरतापात् कूणितनेत्रया अनेकया योषया । अनेकाभिर्योषाभिरित्यर्थः । जातावेकवचनम् । 'स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः । एषोऽद्रिः सेव्यते । इच्छाविहारस्थानानीह सन्तीति भावः । स्रग्विणी वृत्तम् । 'रैश्चतुर्भिर्युता स्रग्विणी सम्मता' इति लक्षणात् ।

एकान्तमें पतिके साथ रतिमें सुखकी कल्पना करती हुई (अत एव) जन-समागम (लोगों के यातायात) को रोकती हुई काम-सन्तापसे युक्त अङ्गोंवाली तथा नम्र नेत्रप्रान्तोंवाली अर्थात् सम्भोगार्थ नेत्रप्रान्तको सङ्कुचितकर संकेत करनेवाली बहुत-सी स्त्रियाँ इस (रैवतक पर्वत) का सेवन करती हैं ॥ ४२ ॥

सङ्कीर्णकीचकवनस्खलितैकवालविच्छेदकातरधियश्चलितुं चमर्यः ।
अस्मिन् मृदुश्वसनगर्भतदीयरन्ध्रनिर्यत्स्वश्रुतिमुखादिव नोत्सहन्ते ॥ ४३ ॥

सङ्कीर्णेति ॥ अस्मिन्नद्रौ सङ्कीर्णा मिथः संलग्नाः कीचका वेणुविशेषाः । 'वेणवः

कीचकास्ते स्युर्ये स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः । तेषां वने स्खलितस्यैकवालस्यैकरोम्णो विच्छेदात् कातरा त्रस्ता धीर्यासां ताश्चमर्यो मृदुश्वसनो मन्दमारुतो गर्भे येषां तेभ्यस्तदीयरन्ध्रेभ्यः कीचकविवरेभ्यो निर्यतो निर्गच्छतः स्वनस्य श्रुत्या श्रवणेन यत्सुखं तस्मादिवेति हेतूत्प्रेक्षा । चलितुं नोत्सहन्ते । वस्तुतस्तु वालप्रियत्वादिति भावः । 'शकधृष—' (३।४।६५) इत्यादिना तुमुन्प्रत्ययः ।

इस (रैवतक पर्वत) पर सघन कीचकों (कटकर हवाके प्रविष्ट होने पर स्वयं बजनेवाले बांसों) के वनमें उलझे हुए एक बाल (पूँछके केश) के टूटनेके भयसे खिन्न चित्तवाली चमरी गायें मानो थोड़ी-सी हवासे पूर्ण उस (कीचक) के छिद्रसे निकलते हुए ध्वनिको सुनने से उत्पन्न आनन्दके कारण वहाँसे चलने (अन्यत्र जाने) का उत्साह नहीं करती है अर्थात् वहाँसे जाना नहीं चाहती हैं ।

विमर्श—चमरी गायें कीचकों (बांसों) के वनमें उलझे हुए अपने पूँछके बालके टूटने के भयसे वहांसे दूसरी जगह जो नहीं जा रही है, वह ऐसा ज्ञात होता है कि उन कीचकों के मधुर ध्वनिको सुननेसे उत्पन्न आनन्दके वशीभूत होकर अन्यत्र नहीं जाती ॥ ४३ ॥

मुक्तं मुक्तागौरमिह क्षीरमिवाभ्रैर्वापीष्वन्तर्लीनमहानीलदलासु ।
शस्त्रीश्यामैरंशुभिराशु द्रुतमम्भश्छायामच्छामृच्छति नीलीसलिलस्य ॥

मुक्तमिति ॥ इहाद्रौ अन्तर्लीनानि महानीलदलानीन्द्रनीलविशेषखण्डानि यस्य तासु । सिंहलस्याकरोद्भूता महानीलास्तु ते मताः' इति भगवानगस्त्यः । वापीषु दीर्घिकास्वभ्रैर्मेघैर्मुक्तं वृष्टं मुक्तागौरं मौक्तिकशुभ्रं अत एव क्षीरमिव स्थितम् । शस्त्री छुरिका । 'स्याच्छस्त्री चासिपुत्री च च्छुरिका चासिधेनुका' इत्यमरः । 'बह्वादिभ्यश्च' (४।१।४५) इति ङीप् । शस्त्रीवच्छ्यामैरंशुभिरन्तर्गतेन्द्रनीलमरीचिभिराशु तत्क्षणमेव द्रुतं लोलितं सत् । छुरितमित्यर्थः । नीलीसलिलस्य नीलाख्यौषधिपत्ररसस्य । 'नीली काला क्लीतकिका' इत्यमरः । अच्छां छायां कान्तिमृच्छति । तत्सदृशीं छायां गच्छतीत्यर्थः । अतो निदर्शनालङ्कारः । स च मुक्तागौरं, क्षीरमिव, शस्त्रीश्यामैरिति चोपमात्रयेणान्तर्लीनमहानीलदलासु वापीष्विति पदार्थहेतुक काव्यलिङ्गं तेनोत्थापितेनांशुभिर्द्रुतमिति तद्गुणोत्थापित इत्यङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । क्षीरमिवेत्यनेनेन्द्रनीलानां सौष्ठवं सूचितम् । 'क्षीरमध्ये क्षिपेन्नीलं क्षीरं चेन्नीलतां व्रजेत् । इन्द्रनीलमिति ख्यातम्' इति लक्षणसम्भवात् । तेनात्र नीलीरसोपमानेन तद्वर्णा एवेति सूचितम् । 'नीलीरसनिभाः केचिच्छंभुकण्ठनिभाः परे' इत्यादिनाऽगस्त्येन रत्नशास्त्र एषामेकादशविधच्छायाभिधानादिति । मत्तमयूरं वृत्तम् । 'वेदै रन्ध्रैर्म्तौ यसगामत्तमयूरम्' इति लक्षणात् ।

इस (रैवतक पर्वत) पर भीतरमें डूबे हुए इन्द्रनील (नीलम) मणियोंके टुकड़ोंवाली बावलियोंमें, मेघसे बरसाया गया, मोतीके समान शुभ्र (अतएव) दूधके समान स्थित

पानी कटारीके समान श्यामल किरणोंसे शीघ्र ही नीली ('नील' नामक ओषधिविशेष) की स्फुट कान्तिको पा लेता हैं ॥ ४४ ॥

या न ययौ प्रियमन्यवधूभ्यः सारतरागमना यतमानम् ।
तेन सहेह बिभर्ति रहः स्त्री सा रतरागमनायतमानम् ॥ ४५ ॥

या नेति ॥ इहाद्रावन्यवधूभ्यः स्त्र्यन्तरेभ्यः । 'पञ्चमी विभक्ते' (२।३।४२) इति पञ्चमी ॥ सारतरं श्रेष्ठमागमनं यस्याः सा सारतरागमना । श्लाघ्यसङ्गमेत्यर्थः । या स्त्री यतमानं स्वप्राप्त्यै प्रयतमानम् । प्रार्थयमानमित्यर्थः । 'यती प्रयत्ने' शानच् । प्रियं न ययौ । सा तथा प्रतिकूलापि स्त्री रहस्तेन प्रियेण सह अनायतमानम् दीर्घरोषं यथा तथा रतरागं सुरताभिलाषं बिभर्ति । अयमतिमानवतीरपि सद्य एवोद्दीपयतीति भावः । दोधकवृत्तम् 'दोधकवृत्तमिदं भभभा गौ' इति लक्षणात् ।

दूसरी अङ्गनाओंसे श्रेष्ठ गतिवाली (अतएव मानवती) जो स्त्री प्रयत्न करनेवाले भी पतिको सङ्गमार्थ प्राप्त नहीं की अर्थात् उस पतिके साथ गमन नहीं किया, वह स्त्री इस (रैवतक पर्वत) पर एकान्तमें उस पतिके साथ मनको हलकाकर सुरतक्रीडा करती है ॥ ४५ ॥

भिन्नेषु रत्नकिरणैः किरणेष्विहेन्दोरुच्चावचैरुपगतेषु सहस्रसंख्याम् ।
दोषापि नूनमहिमांशुरसौ किलेति[1] व्याकोशकोकनदतां दधते नलिन्याः ॥

भिन्नेष्विति ॥ इहाद्राविन्दोः किरणेषु उदञ्चश्चावञ्चश्च तैरुच्चावचैः । अनेकविधैरित्यर्थः । 'उच्चावचं नैकभेदम्' इत्यमरः । मयूरव्यंसकादिषूच्चोच्चनीचाच्पराच्चोच्चावचंकिञ्चनाकुतोभयानीति तत्पुरुषे निपातनात्साधुः । रत्नकिरणैर्भिन्नेषु मिश्रेषु अत एव सहस्रसंख्यामुपगतेषु सत्सु । नलिन्यः पद्मिन्यः । 'नलं पद्मे नलं तृणम्' इति शाश्वतः । असौ प्रकाशमानोऽहिमांशुः । किलेति । सहस्रकिरणत्वात् सूर्य एवेति सम्भावनाबुद्ध्येत्यर्थः । 'वार्तासम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः । दोषापि रात्रावपि । सप्तम्यर्थेऽव्ययम् । 'दिवाह्नीत्यथ दोषा च नक्तं च रजनी' इत्यमरः । व्याकोशकोकनदतां विकचपद्मतां दधते स्वीकुर्वन्ति । नूनमित्युत्प्रेक्षायाम् । 'अथ रक्तसरोरुहम् । रक्तोत्पलं कोकनदम्' इति, 'व्याकोशविकचस्फुटाः' इति चामरः । इह देहभूमित्वान्नित्यपद्मा नलिन्य इति भावः । इह नलिनीनां दोषातनविकासासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धरूपयातिशयोक्त्या तस्येन्दावर्कभ्रान्तिनिमित्तोत्प्रेक्षया भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते ।

इस (रैवतक पर्वत) पर चन्द्र-किरणोंके, अनेक प्रकारकी रत्न-किरणोंसे भिन्न (मिश्रित) होकर सहस्रों संख्यावाली हो जानेपर 'यह निश्चितरूपसे सूर्य है' ऐसा मानकर कमलिनियाँ रात्रिमें भी विकसित कमलोंवाली हो जाती है ॥ ४६ ॥

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपैतुमात्मजाः ।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥ ४७ ॥

---

१. 'व्याकोच-' इति पा० ।

अपशङ्कमिति ॥ अपशङ्कं निःशङ्कमपरिवर्तनेषूत्सङ्गलुण्ठनेषूचिताः परिचिताः पतिं भर्तारमुपैतुं पुरोऽग्रे चलिताः प्रयाता आत्मजाः, स्वसम्भवा दुहितरश्च निम्नगा नदीः करुणेन दीनेन पत्रिणां पक्षिणां विरुतेन क्रोशनेन निमित्तेनैषोऽद्रिर्वत्सलतया वात्सल्येन। स्नेहेनेत्यर्थः। 'श्रीमान् स्निग्धस्तु वत्सलः' इत्यमरः। 'वत्सांसाभ्यां कामबले' (५।२।९८) इति लच्प्रत्ययः। असुरोदितीवानुक्रोशतीवेत्युत्प्रेक्षा। 'रुदश्च पञ्चभ्यः' (७।३।९८) इति गुणः। 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' (७।२।७६) इतीट्।

निःशङ्क होकर मध्य (पक्षा०—क्रोड—गोद) में लोट-पोट करने (खेलने) में सुपरिचित, पति (समुद्र) को प्राप्त करने (समुद्रमें मिलने) के लिए आगे चली हुई स्वोत्पन्न (अपनेसे निकली हुई) नदियोंके लिए वत्सलतासे यह (रैवतक पर्वत) पक्षियोंके करुण कूजनद्वारा मानो रो रहा है।

विमर्श—जिस प्रकार गोद में खेलनेवाली कन्या जब पतिके पास (ससुराल) जाने लगती है, तब पिता वत्सलतासे करुण रोदन करता है; उसी प्रकार रैवतक पर्वतके मध्यमें बहनेवाली, इसीसे उत्पन्न नदियाँ समुद्रमें मिलनेके लिए समतल भूमिपर बहती हैं, और पक्षी करुण कलरव कर रही हैं जो ऐसा ज्ञात होता है कि यह रैवतक पर्वत ही बिछुड़ती हुई उन नदीरूपिणी पुत्रियोंके लिए अनुरोदन कर रहा हो ॥ ४७ ॥

मधुकरविटपानमितास्तरुपङ्क्तीर्बिभ्रतोऽस्य विटपानमिताः।
परिपाकपिशङ्गलतारजसा रोधश्चकास्ति कपिशं गलता ॥ ४८ ॥

मधुकरेति ॥ मधुकरा एव विटास्तेषां पानं चुम्बनमिताः प्राप्ताः। इणः कर्तरि क्तः। विटपैः शाखाविस्तारैरानमिताः विटपानमिताः। 'विस्तारो विटपोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। तरुपङ्क्तीर्बिभ्रतोऽस्याद्रेः नितम्बो गलता पतता परिपाकेण पिशङ्गीनां लतानां रजः पुष्परेणुः तेन परिपाकपिशङ्गलतारजसा कपिशं पिशङ्गं चकास्ति। मात्रावृत्तिष्वियमार्यागीतिरष्टगणा। 'अर्घे वसुगण आर्यागीतिः' इति पिङ्गलनागः (४।३१)।

भ्रमररूपी विटोंके द्वारा पीए गए (पक्षा०—चुम्बित) तथा शाखाओं से अत्यन्त झुकी हुई वृक्ष-श्रेणियोंको धारण करनेवाले इस (रैवतक पर्वत) का किनारा अर्थात् मध्यभाग गिरते हुए पकनेसे पीली लताओंके पुष्प-परागोंसे पिङ्गल वर्ण होकर शोभ रहा है ॥ ४८ ॥

[1]प्राग्भागतः पतदिहेदमुपत्यकासु शृङ्गारितायतमहेभकराभमम्भः।
संलक्ष्यते विविधरत्नकरानुविद्धमूर्ध्वप्रसारितसुराधिपचापचारु ॥४९॥

प्राग्भागत इति ॥ इहाद्रौ प्राग्भागत ऊर्ध्वप्रदेशादुपत्यकास्वधःप्रदेशेषु। 'उपत्यकाद्रेरासन्ना' इत्यमरः। 'उपाधिभ्याम्—' (५।२।३४) इत्यादिनापशब्दात्त्यकन्प्रत्ययः। पतत् शृङ्गारः सिन्दूरादिमण्डनमस्य सञ्जातः शृङ्गारितः। 'शृङ्गारे सुरते नाट्ये रसे दिग्गजमण्डने' इति विश्वः। आयतो दीर्घः तस्य महेभकरस्याभेवाभा यस्य तद्

१. 'प्राग्भारतः' इति पा०।

विविधरत्नानां करैरंशुभिरनुविद्धमनुरञ्जितमिदमम्म ऊर्ध्वंप्रसारितं यत् सुराधिपचापमिन्द्रधनुस्तद्वच्चारु संलक्ष्यते । अत्रेन्द्रचापस्योर्ध्वत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । अभूतोपमेति मतान्तरम् । तिरोहितविवक्षायां तूपमानस्य प्रसिद्धत्वादुपमेवेयम् ।

इस (रैवतक पर्वत) पर ऊपरकी ओरसे (गैरिक आदि धातुओंसे मिश्रित होकर) उपत्यकाओं (पहाड़के निचले भागों) में गिरता हुआ (अतएव सिन्दूर आदिके) शृङ्गारयुक्त किये गये लम्बे गजराजके सूंढके समान तथा अनेक रत्न—किरणोंसे अनुरञ्जित यह जल ऊपरकी ओर फैलाये गये इन्द्रधनुपके समान सुन्दर दृष्टिगोचर होता है ॥ ४९ ॥

दधति च विकसद्विचित्रकल्पद्रुमकुसुमैरभिगुम्फितानिवैताः ।
क्षणमलघुविलम्बिपिच्छदाम्नः शिखरशिखाः शिखिशेखरानमुष्य ॥ ५० ॥

दधतीति ॥ किं चेति चार्थः । अमुष्याद्रेरेताः शिखराणि शृङ्गाण्येव शिखाः केशपाश्यः । 'शिखा चूडा केशपाशी' इत्यमरः । विकसद्भिर्विचित्रैर्नानावर्णैः कल्पद्रुमकुसुमैरभिगुम्फितान् ग्रथितानिव स्थितानित्युत्प्रेक्षा । अलघूनि विलम्बीनि, लम्बमानानि च पिच्छान्येव दामानि स्रजो येषु तान् शिखिनः केकिन एव शेखरानापीडान् क्षणं दधतीव । 'शिखावलः शिखी केकी' इति, 'शिखास्वापीडशेखराः' इति चामरः । अत्र कुसुमगुम्फेनोत्प्रेक्षालिङ्गेन पिच्छादीनां दामादिरूपकसिद्धिस्तदुत्थापिता चोत्प्रेक्षेति संकरः । पुष्पिताग्रा वृत्तमुक्तम् ।

इस (रैवतक पर्वत) की शिखररूपिणी शिखाएँ अर्थात् शिखराग्र भाग खिले हुए विचित्र (अनेकविध) कल्पद्रुमके फूलोंसे गूंथे हुएके समान, लम्बे लटकते हुए मयूरपङ्खकी मालावाले मयूररूपी शिखामालाओंको मानो कुछ समयतक धारण कर रहा है ॥ ५० ॥

सवधूकाः सुखिनोऽस्मिन्ननवरतममन्दरागतामरसदृशः ।
नासेवन्ते रसवन्न नवरतममन्दरागतामरसदृशः ॥ ५१ ॥

सवधूका इति ॥ अस्मिन्नद्रौ अवरे न भवन्तीत्यनवराः श्रेष्ठा अनवरतमाः' श्रेष्ठतमाश्च मन्दरागतैरमरैः सदृशः, सरूपाश्च अनवरतममन्दरागतामरसदृशः अमन्दरागाण्यतिरक्तानि तामरसानि पङ्केरुहाणीव दृशो येषां तेऽमन्दरागतामरसदृशो रक्तनेत्राः । 'पङ्केरुहं तामरसम्' इत्यमरः । सुखिनो भोगिनः सहवधूभिः सवधूकाः सन्तः । तेन सहेति तुल्ययोगे' (२।२।२८) इति बहुब्रीहिः । 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इति कप् । रसवत् सानुरागम् । 'गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः । नवरतं नूतनसुरतं नासेवन्त इति न, किंत्वासेवन्त एवेत्यर्थः । 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति वामनः । विशिष्टसुरतानां सेवनस्य सामान्यतः प्रसक्तेः । उपमालङ्कारः । गतेयमार्यागीतिः ।

इस (रैवतक पर्वत) पर श्रेष्ठतम, मन्दराचलसे आए हुए अमरों (देवों) के समान

तथा गहरे रंगवाले कमलके समान नेत्रोंवाले भोगीलोग स्त्रियोंके साथ होकर अनुरागयुक्त नवीन सुरतका सेवन नहीं करते हैं यह बात नहीं है अर्थात् नवीन सुरतका सम्यक् प्रकार से सेवन करते ही हैं ॥ ५१ ॥

आच्छाद्य पुष्पपटमेष महान्तमन्तरावर्तिभिर्गृहकपोतशिरोधराभैः ।
स्वाङ्गानि धूमरुचिमागुरवीं दधानैर्धूपायतीव पटलैर्नवनीरदानाम् ॥ ५२ ॥

आच्छाद्येति ॥ एषोऽद्रिर्महान्तं पुष्पाण्येव पट इति रूपकं तमाच्छाद्य अन्तः पटाभ्यन्तर आवर्तिभिरमीक्ष्णं भ्रमद्भिः । 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' (३।२।८१) इति णिनिः । गृहकपोतशिरोधराभा गृहपारावतकण्ठस्याभेवाभा येषां तैरित्युपमा । 'पारावते कपोतः स्यात्' इति विश्वः । अगुरोः कालागुरोरिमामागुरवीम् । 'कालागुर्वगुरुः स्यात्' इत्यमरः । धूमरुचिं धूमकान्तिम् । तत्सदृशीमित्यर्थः । अत एव निदर्शना । दधानैर्नवनीरदानां पटलैः स्वाङ्गानि धूपायतीव धूपैरिवाधिवासयतीवेत्युत्प्रेक्षा रूपकोपमानिदर्शनाभिरङ्गैः सङ्कीर्यते । 'धूप सन्तापे' इति धातोः 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' (३।१।२८) इत्यायप्रत्ययः ।

यह (रैवतक पर्वत) विशाल पुष्प (समूह) रूपी (या-पुष्पोंसे सुवासित) कपड़ेसे आच्छादितकर अर्थात् पुष्परूपी कपड़ेसे अपनेसे अपनेको ढँककर भीतरमें घूमते हुए, कबूतरोंकी गर्दनके समान धूमिल तथा अगरके धूएँकी कान्तिको धारण करते हुए अर्थात् अगर के धूएँके समान मालूम पड़ते हुए नए मेघोंके समूहोंसे अपने अङ्गोंको मानो धूपित (धूपसे सुवासित) कर रहा है ॥ ५२ ॥

अन्योन्यव्यतिकरचारुभिर्विचित्रैरत्रस्यन्नवमणिजन्मभिर्मयूखैः ।
विस्मेरान्गगनसदःकरोत्यमुष्मिन्नाकाशे रचितमभित्तिचित्रकर्म ॥ ५३ ॥

अन्योन्येति ॥ अमुष्मिन्नद्रावन्योन्येषां व्यतिकरेण मिश्रणेन चारुभिः अत एव विचित्रैर्नानावर्णैरत्रस्यन्तः त्रासदोषेणादुष्यन्तः । 'त्रासो भीमणिदोषयोः' इति विश्वः । 'वा त्रास (३।१।७०) इत्यादिना वैकल्पिकः श्यन्प्रत्ययः । तेभ्यो नवमणिभ्यो जन्म येषां तैर्मयूखैराकाशे रचितमभित्ति अकुड्यम् । अनाधारमित्यर्थः । चित्रकर्म कर्तृ । गगनसदः खेचरान् विस्मेरान् विस्मयशीलान् करोति । 'नमिकम्पि-' (३।२।१६७) इत्यादिना रप्रत्ययः । अत्र मणिमयूखेषु खे चित्रकर्मभ्रान्तिमतामेवाभित्तिचित्रकर्मेत्यकारणकार्योत्पत्तिवर्णनाद्भ्रान्तिमदलङ्कारोत्थापिता विभावनेति सङ्करः । 'कारणेन विना कार्यस्योत्पत्तिः स्याद्विभावना' इति । प्रहर्षिणी वृत्तम् ।

इस (रैवतक पर्वत) पर परस्परमें एक दूसरेके मिश्रित होनेसे सुन्दर (अतएव) अनेकविध रङ्गवाले, दोषरहित (श्रेष्ठजातीय) रत्नोंके उत्पन्न किरणोंसे आकाशमें बिना दीवारके बनायी गयी चित्रकारी आकाशगामियों (देव-देवाङ्गना आदि) को आश्चर्यित कर देता है ॥ ५३ ॥

समीरशिशिरः शिरःसु वसतां सतां जवनिका निकामसुखिनाम् ।
विभर्ति जनयन्नयं मुदमपामपायधवला वलाहकततीः ॥ ५४ ॥

समीरेति ॥ समीरेण मारुतेन शिशिरः शीतलः शिरःसु शिखरेषु वसतां निकामसुखिनामत्यन्तसुखिनां सतां पुण्यवतां मुदं जनयन्नयमद्रिरपामम्भसामपायेनापगमेन धवला वलाहकततीर्मेघपङ्क्तीरेव जवनिकास्तिरस्करिणीर्विभर्ति । अनावृतेष्वपि शिखरेषु क्रीडने मेघैरेवावरणतां सम्पाद्य मुदं जनयतीत्यर्थः । अत्र बलाहकततिष्वारोप्यमाणानां जवनिकानां मुदं जनयन्निति प्रकृतोपयोगिवर्णनात् परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लक्षणात् । रूपके तूपरञ्जनमात्रमिति भेदः । जलोद्धतगतिर्वृत्तम् । 'रसैर्जसजसा जलोद्धतगतिः' इति लक्षणात् ।

वायुसे शीतल, शिखरोंपर बसनेवाले अत्यन्त सुखी सज्जनोंके हर्षको उत्पन्न करता हुआ यह (रैवतक पर्वत) जलके बरस जानेसे शुभ्र मेघ–समूहरूप पर्देको धारण कर रहा है ॥ ५४ ॥

मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय
क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः ।
ख्यातिं च सत्त्वपुरुषान्यतयाधिगम्य
वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो न रोद्धुम् ॥ ५५ ॥

मैत्र्यादीति ॥ इहाद्रौ समाधिं योगं बिभ्रतीति समाधिभृतो योगिनः । मैत्री-करुणा–मुदिता–उपेक्षेति चतस्रश्चित्तवृत्तयः । तत्र पुण्यकृत्सु मैत्री । दुःखिषु करुणा । सुखिषु मुदिता अनुमोदनम् । पापिषु उपेक्षा । मैत्री आदिर्येषां तानि चित्तस्य परिकर्माणि प्रसाधकानि । शोधकानीत्यर्थः । तानि विन्दन्ति लभन्ते इति तद्विदस्तद्भाजः तैः । क्षीणान्तःकरणमला इत्यर्थः । अत्र एव क्लेशप्रहाणं विधाय । 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ।' तत्रानित्येषु नित्यत्वाभिमानः, अनात्मनि च देहेन्द्रियादावात्मधीरित्यादिविभ्रमोऽविद्या । अस्मिता अहङ्कारः । रागोऽभिमतविषयाभिलाषः । द्वेषोऽनभिमतेषु रोषः । अभिनिवेशः कार्याकार्येष्वाग्रहः । ते हि पुरुषं क्लिश्यन्तीति क्लेशाः क्लेशहेतवः । पचाद्यच् । तेषां प्रहाणं क्षयः । 'कृत्यचः' (८।४।२९) इति णत्वम् । तद्विधाय । क्लेशान् हित्वेत्यर्थः । अतो लब्धः सबीजः सावलम्बनो योगो यैस्ते लब्धसबीजयोगाः सन्तः । आलम्बनमेव व्यनक्ति । सत्त्वेति । सत्त्वपुरुषयोः प्रकृतिपुरुषयोरन्यतयाऽन्यत्वेन मिथो भिन्नत्वेन ख्यातिं ज्ञानं अधिगम्य । प्रकृतिपुरुषौ भिन्नाविति ज्ञात्वेत्यर्थः । 'प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकाग्रहणात् संसारः । विवेकग्रहणान्मुक्ति' रिति सांख्याः । अथ तां ख्यातिमपि निरोद्धं निवर्तयितुं वाञ्छन्ति वृत्तिरूपाम् । तां निवर्त्य स्वयंप्रकाशतयैव स्थातुमिच्छन्तो-

त्यर्थः । 'प्रकृतावुपरतायां पुरुषस्वरूपेणावस्थानं मुक्तिः' इति सांख्यसिद्धान्तः । न केवलं भोगभूरियं, किन्तु मोक्षक्षेत्रमपीति भावः ।

इस (रैवतक पर्वत) पर समाधि–धारण करनेवाले (योगी लोग) मैत्री आदि चित्तवृत्तियों को जानकर अर्थात् चित्तशोधक वृत्तियोंसे अन्तःकरणके मलको दूर कर तथा (अविद्या आदि पांच) क्लेशोंको नष्टकर सबीज-योगको प्राप्त किए, प्रकृति तथा पुरुषके परस्पर पार्थक्यकी ख्यातिको प्राप्तकर अर्थात् प्रकृति तथा पुरुष भिन्न हैं यह जानकर, उसे भी रोकनेके लिए अर्थात् उसे छोड़कर स्वयं प्रकाशभावसे स्थित होनेके लिए इच्छा करते हैं ।

विमर्श—यहां 'समाधि' शब्द अष्टविध योगाङ्गता उपलक्षण है, अतः 'अष्टाङ्गयोगको धारण करनेवाले योगी लोग' यह अर्थ समझना चाहिए । यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योगाङ्ग हैं । (यो. सू. २।२९) मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—ये चार चित्तकी वृत्तियां हैं । (यो. सू. १।३३) इनमेंसे पुण्यात्माओंमें मैत्री, दुःखियोंमें करुणा, सुखियोंमें मुदिता और पापियोंमें उपेक्षा वृत्ति है । इनकी भावनासे चित्त-प्रसादन होता है । अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पांच क्लेश हैं । (यो. सू. २।३) इनमेंसे अनित्य संसारादिमें नित्यका अभिमान करना अनित्य अपवित्र दुःख तथा अनात्मामें नित्य पवित्र सुख तथा आत्माका ज्ञान करना अविद्या, परमपुरुष तथा बुद्धिको धर्मतः तथा स्वरूपतः एकरूप मानना अस्मिता, अभीष्ट पदार्थादिकी लालसा करना राग, अनभिमत नहीं चाहे हुए पदार्थादिमें क्रोध करना द्वेप, और करने योग्य या छोड़ने योग्य कार्योंमें जानते हुए भी आग्रह करना अभिनिवेश है । (यो. सू. २।५–९), ये पांच मनुष्योंको क्लिष्ट करते हैं अतएव इन्हें 'क्लेश' कहते हैं । 'प्रकृति तथा पुरुषके विवेकका ग्रहण नहीं करनेसे संसार में आवागमन तथा विवेकका ग्रहण करनेसे मुक्ति होती है तथा प्रकृतिके उपरत होने (हट जाने) पर मुक्ति होती है, ऐसा साङ्ख्यका सिद्धान्त है । इससे यह पर्वत केवल विहारस्थान ही नहीं, किन्तु मुक्ति साधनस्थान भी है, यह सूचित होता है ॥ ५५ ॥

मरकतमयमेदिनीषु भानोस्तरुविटपान्तरपातिनो मयूखाः ।
अवनतशितिकण्ठकण्ठलक्ष्मीमिह दधति स्फुरिताणुरेणुजालाः ॥ ५६ ॥

मरकतेति ॥ इहाद्रौ मरकतानां विकारा मरकतमय्यस्तासु मेदिनीषु । 'स्त्रियाः पुंवत्–' (६।३।३४) इत्यादिना पुंवद्भावः । तरूणां विटपा पल्लवाः तेषामन्तरैरवकाशैः पतन्तीति तथोक्ताः । 'विटपः पल्लवे षिड्गे विस्तारे स्तम्भशाखयोः' इति विश्वः । स्फुरितानि अणुरेणूनां सूक्ष्मरजसां जालानि येषु ते भानोर्मयूखाः अवनतस्य शितिकण्ठकण्ठस्य मयूरकन्धराया लक्ष्मीं दधतीति निदर्शनालङ्कारः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ।

इस (रैवतक पर्वत) पर मरकत मणिकी भूमियों पर पेड़ों की डालियोंके मध्य (छिद्र) से गिरनेवाली तथा जिनमें महीन धूलिकण चमक रहे हैं ऐसी सूर्य—किरणें नीचे की ओर झुकी हुई मयूरकी गर्दनकी शोभाको धारण कर रही है अर्थात् उनके समान शोभ रही हैं ॥

या विभर्ति कलवल्लकीगुण-
स्वानमानमतिकालिमाऽलया ।
नात्र कान्तमुपगीतया तया
स्वानमा नमति काऽलिमालया ॥ ५७ ॥

येति ॥ अत्राद्रौ अत्यत्यन्तः कालिमा कार्ष्ण्यं यस्याः साऽतिकालिमा । अतिश्यामेत्यर्थः । न विद्यते लयो लयनं क्वचिदवस्थानं यस्याः सा अलया । भ्रमन्तीत्यर्थः । अत एव सस्वनेति भावः । या अलिमाला कलोऽव्यक्तमधुरः वल्लकीगुणस्वानस्य वीणातन्त्रीशब्दस्य मानमुपमानं विभर्ति । तन्त्रीवद् ध्वनतीत्यर्थः । उपमालङ्कारः । उपगीतया समीपे गातुं प्रवृत्तयेव, न तु पूर्वं गायन्त्येवेति भावः । 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' (३।४।७१) इति क्तः । तयाऽलिमालया भृङ्गावल्या स्वानमा सुखेनानमयितुमाक्रष्टुं शक्या 'ईषद्दुस्' (३।३।१२६) इत्यादिना खल्प्रत्ययः । का वा स्त्री कान्तं प्रियं न नमति । सर्वापि मानं विहाय कान्तं सद्यः प्रणमत्येव, तथोद्दीपकत्वाद्गानस्येत्यर्थः । रथोद्धता वृत्तम् । 'रो नराविति रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात् ।

अत्यन्त श्याम वर्णवाली तथा चञ्चल (अत एव गूँजती हुई) जो (भ्रमर-श्रेणि) अव्यक्त-मधुर वीणातन्त्रीके ध्वनिको धारण करती हैं अर्थात् वीणातन्त्रीके समान गूँजती है; समीपमें गान करती (गूँजती) हुई उस भ्रमर-श्रेणिसे (मान त्याग करनेके कारण) सुखपूर्वक नम्र करने योग्य कौन स्त्री पतिको प्रणाम नहीं करती है? अर्थात् भ्रमर-श्रेणिका गुञ्जन कामोद्दीपक होनेसे सभी स्त्रियाँ मान त्यागकर पतिके समीप नम्र हो जाती हैं ॥ ५७ ॥

सायं शशाङ्ककिरणाहतचन्द्रकान्त-
[1]निस्यन्दिनीरनिकरेण कृताभिषेकाः ।
अर्कोपलोल्लसितवह्निभिरह्नि [2]तप्ता-
स्तीव्रं महाव्रतमिवात्र चरन्ति वप्राः ॥ ५८ ॥

सायमिति ॥ इहाद्रौ वप्राः सानवः । 'वप्रोऽस्त्री सानुमानयोः' इत्यमरः । सायं रात्रौ शशाङ्ककिरणैराहतेभ्यश्चन्द्रकान्तेभ्यो निस्यन्दिना प्रस्राविणा नीरनिकरेण जलपूरेण कृताभिषेकाः कृतस्नानाः । अह्नि अर्कोपलेभ्यः सूर्यकान्तेभ्य उल्लसितैरुत्थितैर्वह्निभिस्तप्ताः सन्तस्तीव्रमुग्रं दुश्चरं महाव्रतं महातपश्चरन्तीवेत्युत्प्रेक्षा ।

इस (रैवतक पर्वत) पर रात्रिमें चन्द्र-किरणोंसे स्पृष्ट (छूए गए) चन्द्रकान्तमणिसे बहनेवाले जल-प्रवाहसे स्नान किए हुए तथा दिनमें सूर्यकान्तमणिसे निकली हुई अग्निसे सन्तप्त तटभाग मानो महाव्रत कर रहे हैं ।

---

१. 'निष्यन्द-' इति पा० । २. 'दीप्ता-' इति पा० ।

विमर्श—जिस प्रकार कोई व्यक्ति रातमें जलमें रहकर या स्नानकर दिनमें पञ्चाग्निसे सन्तप्त होता हुआ महाव्रतका आचरण करता है, वैसे ही इस रैवतक पर्वतके तट मानो महाव्रतका पालन कर रहे हैं ऐसा प्रतीत होता है ॥ ५८ ॥

एतस्मिन्नधिकपयःश्रियं वहन्त्यः
संक्षोभं पवनभुवा जवेन नीताः ।
वाल्मीकेररहितरामलक्ष्मणानां
साधर्म्यं दधति गिरां महासरस्यः ॥ ५९ ॥

एतस्मिन्निति ॥ एतस्मिन्नद्रौ अधिकपयःश्रियमधिकां जलसमृद्धिं वहन्त्यः, अन्यत्र तु अधिकाः कपयः सुग्रीवादयो वर्ण्यत्वेन यासु ताः अधिकपयः श्रियं गुणालङ्कारादिशोभां वहन्त्यः । पवनाद्भवतीति पवनभूस्तेन पवनभुवा वायुजन्येन जवेन वेगेन संक्षोभं चलनं नीताः, अन्यत्र तु जवेन जविना । 'जवो जविनि वेगे स्यात्' इति विश्वः । पवनभुवा हनुमता संक्षोभमौद्धत्यं नीताः । हनुमद्वेगवर्णनया प्रागल्भ्यं नीता इत्यर्थः । वाक्पक्षे सर्वत्र षष्ठ्या विपरिणामः कार्यः । महासरस्यो महासरांसि अरहितावर्जितौ रामलक्ष्मणौ याभिस्तासाम्, अन्यत्र तु रामो रमण; अरहितरामा अवियुक्तरामाः लक्ष्मणाः सारसयोषितो यासु ताः । केचित्त्वरहितरामा अवियुक्तस्त्रीकाः लक्ष्मणाः सारसाः इति पुंपक्षिपरत्वेन व्याचक्षते । तेषां 'हंसस्य योषिद्वरटा सारसस्य तु लक्ष्मणा' । 'लक्ष्मणौषधिसारस्योः' इत्याद्यमरविश्वप्रकाशादिवाक्यगतनियतस्त्र्यर्थताविरोधः । तासां वाल्मीकेर्गिरां साधर्म्यं सादृश्यं दधति । अत्र पवनभुवा जवेनेत्यत्रैकवृन्तावलम्बिफलद्वयवदभग्नैकपादगतत्वेनार्थद्वयप्रतीतेरर्थश्लेषः । अन्यत्र पदभङ्गेनार्थद्वयप्रतीतेर्जतुकाष्ठवच्छब्दयोरेव मिथः श्लिष्टत्वाच्छब्दश्लेष इत्युभयसाहित्यादुभयश्लेषोऽयं प्रकृताप्रकृतगोचरः, उपमा त्वङ्गमिति सङ्करः ।

इस (रैवतक पर्वत) पर अधिक जलसम्पत्ति (जलाधिक्य) को पायी हुई (पक्षा०—बहुत बन्दरोंवाली तथा लक्ष्मीरूपिणी सीताजीसे युक्त, या—छन्द, अलङ्कार, रीति, रस, गुण आदिरूप शोभासे युक्त) वायुजन्य वेग (पक्षा०—वेगवान् वायुपुत्र—हनुमान्‌जी) से संक्षुब्ध महासरसियाँ (बड़े-बड़े जलाशय) राम—लक्ष्मणसे संयुक्त (पक्षा०—पतिसे संयुक्त सारसपत्नियोंवाली) वाल्मीकि मुनिकी वाणीकी समानता धारण करती हैं ।

विमर्श—इस रैवतक पर्वत पर बड़े-बड़े जलाशय बहुत जलसमृद्धिवाले—गम्भीर हैं, हवाके वेगसे तरङ्गित हो रहे हैं तथा सारसोंसे युक्त सारस—पत्नियों वाले हैं और वाल्मीकि मुनिके वचन बहुत-से बन्दरोंवाले, शोभायुक्त, वेगवान् हनुमानजीसे (स्थान—स्थान पर) क्षोभको प्राप्त तथा राम—लक्ष्मण (की चर्चा) से युक्त हैं; अत एव ये जलाशय वाल्मीकि मुनिके वचनोंके धर्मवाले हो रहे हैं ॥ ५९ ॥

इह मुहुर्मुदितैः कलभै रवः
प्रतिदिशं क्रियते कलभैरवः।
स्फुरति चानुवनं चमरीचयः
कनकरत्नभुवां च मरीचयः॥ ६०॥

इहेति॥ इहाद्रौ मुदितैरिच्छाविहारसंतुष्टैः कलभैः करिपोतैः। 'कलभः करिशावकः' इत्यमरः। दिशि दिशि प्रतिदिशम्। यथार्थेऽव्ययीभावः। 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्य' (५।४।१०७) इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः। कलश्चासौ भैरवश्च कलभैरवो मधुरभीषणः। विशेषणयोरपि कुपाणिखञ्जवदैच्छिकोपसर्जनत्वविवक्षया विशेषणसमासः। रवो बृंहणध्वनिर्मुहुः क्रियते। अनुवनं वने वने चमरीचयः चमरीमृगसङ्घः स्फुरति। किंच कनकरत्नानां या भुवस्तासां मरीचयः किरणाश्च स्फुरन्ति। समृद्धिमद्वस्तुवर्णनादुदात्तालङ्कारे यमकस्याभ्युच्चयः।

इस (रैवतक पर्वत) पर (इच्छानुकूल आहार-विहार करनेसे) हर्षित हाथीके तीस वर्षके बच्चे प्रत्येक दिशाओंमें अर्थात् सब ओर बार-बार स्पष्ट तथा भयङ्कर शब्द कर रहे हैं, वनके समीपमें चमरी गायों का झुण्ड तथा सुवर्णमयी एवं रत्नमयी भूमिकी किरणें स्फुरित हो रही हैं॥ ६०॥

त्वक्साररन्ध्रपरिपूरणलब्धगीति-
रस्मिन्नसौ मृदितपक्ष्मलरल्लकाङ्गः।
कस्तूरिकामृगविमर्दसुगन्धिरेति
रागीव सक्तिमधिकां विषयेषु वायुः॥ ६१॥

त्वगिति॥ अस्मिन्नद्रौ त्वचि सारो येषां ते त्वक्सारा वंशा। 'वंशे त्वक्सारकर्मारत्वचिसारतृणध्वजाः' इत्यमरः। तेषां रन्ध्राणि तेषां परिपूरणेन व्मापनेन लब्धा गीतिर्गानसुखं येन सः। मृदितानि सम्मृष्टानि पक्ष्मलानि लोमशानि रल्लकानां कम्बलमृगाणां, कम्बलानां वाङ्गानि शरीराणि येन सः। 'रल्लकः कम्बलमृगे कम्बले परिकीर्तितः' इति वैजयन्ती। एतेन स्पर्शसुखमुक्तम्। कस्तूरिकामृगाणां विमर्देन सङ्घर्षेण सुगन्धिः शोभनगन्धः। यद्यपि गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तग्रहणं कर्तव्यमित्युक्तम्, तथापि 'निरङ्कुशाः कवयः' इत्यपर्यनुयोगः। असावेवम्भूतो वायूरागीव कामीव विषयेषु प्रदेशेषु च। 'विषयः स्यादिन्द्रियार्थे देशे जनपदेऽपि च' इति विश्वः। अधिकां सक्तिं व्यासक्तिमेति गच्छति।

इस (रैवतक पर्वत) पर बांसके छिद्रोंको पूर्ण करनेसे गानसुखको प्राप्त, रोमयुक्त कम्बलमृगों (पक्षा०—कम्बलों) के अङ्गोंका मर्दन (स्पर्श) किया हुआ तथा कस्तूरीमृगके

संसर्गसे सौरभयुक्त यह पवन रागीके समान (शब्द, स्पर्श, गन्ध आदि) विषयोंमें अधिक आसक्तिको प्राप्त कर रहा है ॥ ६१ ॥

प्रीत्यै यूनां व्यवहिततपनाः[1]
प्रौढध्वान्तं दिनमिह जलदाः ।
दोषामन्यं विदधति सुरत-
क्रीडायासश्रमशमपटवः ॥ ६२ ॥

प्रीत्यै इति ॥ इहाद्रौ युवतयश्च युवानश्च तेषां यूनाम् । 'पुमान्स्त्रिया' (१।२।६७) इत्येकशेषः । प्रीत्यै व्यवहिततपनाः तिरोहितार्काः । अत एव सुरतान्येव क्रीडास्ताभिर्य आयासो व्यायामस्तेन यः श्रमः खेदः । 'श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः' (दशरूपके ४।१२) इति लक्षणात् । तस्य शमे वारणे पटवः समर्था जलदाः प्रौढध्वान्तं मेघावरणाद्गाढान्धकारं दिनं दिवसं दोषां रात्रिमात्मानं मन्यत इति दोषामन्यं रात्रिमानिनं विदधति । मेघावरणमहिम्ना दिवसः स्वयमप्यात्मानं रात्रिं मन्यते, किमुतान्य इत्यर्थः । दोषेत्यव्ययं तदुपपदान्मन्यतेर्धातोः 'आत्ममाने खश् च' (३।२।८३) इति खश्प्रत्ययः । इह यूनां दोषावद्दिवापि विस्रम्भं विहारः सम्भवतीति भावः । भ्रमरविलसितं वृत्तम् । 'म्भौ न्लौ गः स्याद् भ्रमरविलसितम्' इति लक्षणात् ।

इस (रैवतक पर्वत) पर युवक लोगों की प्रसन्नताके लिए धूपको व्यवहित किए हुए (छाया किए हुए) तथा सुरतक्रीडाजन्य थकावटकी खिन्नताको दूर करनेमें समर्थ मेघ अत्यन्त अन्धकारयुक्त दिनको ऐसा बना रहा है कि वह दिन अपनेको रात्रि मानने लगा है अर्थात् मेघ दिनको रात्रिके समान अन्धकारयुक्त कर रहा है ॥ ६२ ॥

भग्नो निवासोऽयमिहास्य पुष्पैः
सदानतो येन विषाणिनाऽगः ।
तीव्राणि तेनोज्झति कोपितोऽसौ
सदानतोयेन विषाणि नागः ॥ ६३ ॥

भग्न इति ॥ इहाद्रौ अस्य नागस्य निवास आश्रयः सदा पुष्पैरानतो नम्रोऽयं न गच्छतीत्यगो वृक्षो दानतोयैर्मदोदकैः सह वर्तते यस्तेन सदानतोयेन । मत्तेनेत्यर्थः । येन विषाणिना दन्तिना भग्नस्तेन विषाणिना कोपितः कोपं प्रापितोऽसौ नागः सर्पस्तीव्राणि विषाणि गरलान्युज्झति वमति । परप्रतीकाराक्षमस्य क्रोधः स्वाश्रयमेव व्याहन्तीति भावः ।

इस (रैवतक पर्वत) पर इस सर्पके निवासस्थान पुष्पों (के भार) से सर्वदा झुके हुए

1. '—तपनं' इति पा० ।

इस वृक्षको दानजलसे युक्त अर्थात् मदस्रावी—मतवाले जिस हाथींने तोड़ दिया, उस (हाथी) से क्रोधित किया गया सर्प तीव्र विषोंको उगल (वमन कर) रहा है।

विमर्श—इसका भाव यह है कि शत्रुसे बदला लेनेसे असमर्थ व्यक्ति अपने आश्रयको ही हानि पहुँचाता है ॥ ६३ ॥

प्रालेयशीतमचलेश्वरमीश्वरोऽपि
सान्द्रेभचर्मवसनावरणोऽधिशेते ।
सर्वर्तुनिर्वृतिकरे निवसन्नुपैति
न द्वन्द्वदुःखमिह किञ्चिदकिञ्चनोऽपि ॥ ६४ ॥

प्रालेयेति ॥ ईश्वरः शिवोऽपि, किमुतान्य इति भावः । सान्द्रं यदिभचर्म तदेव वमनं तदेवावरणं छादनं यस्य सः तथा सन् । न त्वनावरणो नापि शिथिलावरण इति भावः । प्रलयादागतं प्रालेयं हिमम् । 'तत आगतः' (४।३।७४) इत्यणि 'केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः' (७।३।२) इति यशब्दस्येयादेशः । तेन शीतं शीतलमचलेश्वरं हिमवन्तमधिशेते । तस्मिञ्शेत इत्यर्थः । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' (१।४।४६) इति कर्मत्वम् । सर्वर्तुभिर्निर्वृतिकरे सदासुखकर इहाद्रौ निवसन् पुनर्नास्ति किञ्चनास्येत्यकिञ्चनो निःस्वोऽपि । उच्चावचेत्यादिना मयूरव्यंसकादिषु निपातना-त्तत्पुरुषः । किञ्चिदल्पमपि द्वन्द्वदुःखं शीतोष्णदुःखं नोपैमि । नित्यं सन्निहितानामृ-तूनामन्योन्यदोषनिवारकत्वादिति भावः । 'द्वन्द्वं युग्महिमोष्णादि मिथुनं कलहो रहः' इति वैजयन्ती । अत्रोपमानाद्धिमाचलादुपमेयस्याधिक्यवर्णनाद्व्यतिरेकः ।

ईश्वर (शिवजी, पक्षा०—ऐश्वर्यवान्) भी मोटे गजचर्मको पहने तथा ओढ़े हुए, बर्फसे ठण्डे कैलासपर सोते हैं अर्थात् ऐश्वर्यवान् शिवजी भी ठण्ढकके भयसे उसके निर्धारणार्थ मोटे गजचर्मको पहनते तथा ओढ़ते हैं, किन्तु सब ऋतुओंमें सुख देनेवाले इस (रैवतक पर्वत) पर निवास करता हुआ दरिद्र कुछ भी (शीत–आतपादि रूप) द्वन्द्वदुःखको नहीं पाता है ॥ ६४ ॥

नवनगवनलेखाश्याममध्याभिराभिः
स्फटिककटकभूमिर्नाटयत्येष शैलः ।
अहिपरिकरभाजो भास्मनैरङ्गरागै-
रधिगतधवलिम्नः शूलपाणेरभिख्याम् ॥ ६५ ॥

नवेति ॥ एष शैल रैवतको नवया नगवनलेखया तरुवनपङ्क्त्या श्यामो मध्यो मध्यभागो यासां ताभिराभिः स्फटिकानां कटकभूभिस्तटप्रदेशैःकरणैरहिरेव परिकरो गात्रिकाबन्धस्तं भजतीति तस्याहिपरिकरभाजः । 'भवेत्परिकरो व्राते पर्यङ्कपरि-

वारयोः । प्रगाढे गात्रिकाबन्धे विवेकारम्भयोरपि' इति विश्वः । 'भजो ण्विः (३।२।६२)। भास्मनेर्भस्ममयैः । वैकारिकोऽण्प्रत्ययः । अणिति प्रकृतिभावात् 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) इति टिलोपो न । अङ्गरागैरनुलेपनैरधिगतधवलिम्नः प्राप्तधावल्यस्य शूलं पाणौ यस्य तस्य शूलपाणेरीश्वरस्य । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' (वा०)। अभिख्यां शोभाम् । 'अभिख्या नामशोभयोः' इत्यमरः 'आतश्चोपसर्गे' (३।३।१०६) इत्यङ्प्रत्ययः । नाटयत्यनुकरोति । निदर्शनालङ्कारः । मालिनी वृत्तमेतत् ।

यह (रैवतक पर्वत) नयी (अत एव नव पल्लवादि पूर्ण) वृक्षोंके वनोंकी श्रेणियोंसे अन्धकारयुक्त मध्यभागवाली स्फटिकमयी मध्यभाग (तटप्रदेश) की भूमियोंसे वासुकिरूपी परिकरको धारण किये हुए तथा भस्ममय अङ्गलेपसे शुभ्रवर्ण शिवजीकी शोभाका अनुकरण कर रहा है । (यहां तक रैवतक पर्वतका वर्णन किया गया है) ॥ ६५ ॥

दधद्भिरभितस्तटौ विकचवारिजाम्बूनदै-
र्विनोदितदिनक्लमाः कृतरुचश्च जाम्बूनदैः ।
निषेव्य मधु माधवाः सरसमत्र कादम्बरं
हरन्ति रतये रहः प्रियतमाङ्ककादम्बरम् ॥ ६६ ॥

दधद्भिरिति ॥ अत्रादौ माधवस्य इमे माधवाः विकचानि वारिजानि येषु तान्यम्बूनि ययोस्तौ विकचवारिजाम्बू अभित उभयतस्तटौ दधद्भिर्नदैरम्बुप्रवाहैः । प्राक्स्रोतसो नद्यः, प्रत्यक्स्रोतसो नदाः नर्मदां विनेत्याहुः । विनोदितो दिनक्लमो येषां ते । विहारापनीताह्निकसन्तापा इत्यर्थः । किञ्च जाम्बूनदस्य विकारैर्जाम्बूनदैः कनकभूषणैः कृतरुचो जनितशोभाः सन्तः रसवत्स्वादवत् । 'रसो गन्धे रसे स्वादे' इति विश्वः कादम्ब इक्षुः । 'कादम्बः कलहंसेक्ष्वोः' इति विश्वः । कादम्बं राति रलयोरभेदाल्लाति प्रकृतित्वेनादत्त इति कादम्बरमैक्षवम् । 'पानसं द्राक्षमाधूकंखार्जूरं तालमैक्षवम्' इति स्मरणात् । 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३)। मधु मद्यम् । एवं च मधुकादम्बरशब्दयोः सामान्यविशेषपरत्वादपौनरुक्त्यम् । निषेव्य पीत्वा । क्षत्रियाणां पैष्ट्या एव निषेधादिति भावः । रतये सुरतार्थं रहः प्रियतमानां प्रेयसीनामङ्गादेवाङ्कादगात्रादम्बरं वस्त्रं हरन्ति । यादवाश्चेह मधुपानरतोत्सवैर्विस्रब्धं विहरन्तीति भावः । पृथ्वीवृत्तम् । 'जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः' इति लक्षणात् ।

इस (रैवतक पर्वत) पर विकसित कमलोंवाले जल हैं जिनमें ऐसे तटद्वयको दोनों भागमें धारण करते हुए नदों (जल-प्रवाहों) से दिनके श्रमको दूर किए हुए तथा सुवर्णभूषणोंसे अलंकृत यादव लोग स्वादिष्ट, गन्नेके रससे बने हुए मद्यको पीकर रतिके लिए एकान्तमें प्रियतमाके शरीरसे वस्त्रको हटा रहे हैं ॥ ६६ ॥

दर्पणनिर्मलासु पतिते घनतिमिरमुषि
ज्योतिषि रौप्यभित्तिषु पुरः प्रतिफलति मुहुः ।
व्रीडमसम्मुखोऽपि रमणैरपहृतवसनाः
काञ्चनकन्दरासु तरुणीरिह नयति रविः ॥ ६७ ॥

दर्पणेति ॥ इहाद्रौ रविर्दर्पणनिर्मलासु पुरः रौप्यभित्तिषु । काञ्चनकन्दराग्रवर्तिरजतसानुषु पतिते संक्रान्ते घनं सान्द्रं यत्तिमिरं तन्मुष्णाति हरतीति तन्मुट् । क्विप् । तस्मिञ्ज्योतिषि स्वतेजसि काञ्चनकन्दरासु मुहुः प्रतिफलति सम्मूर्च्छति सति रमणैरपहृतवसनास्तरुणीरसम्मुखोऽपि कन्दरानभिमुखोऽपि व्रीडं त्रपाम् । यद्यपि 'गुरोश्च हलः' (३।३।१०३) इति स्त्रियामप्रत्ययः । अत एव 'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा' इत्यमरः । तथापि तत्र स्त्रीत्वाविवक्षायां बाहुलकत्वान्नपुंसकत्वं च । अत एव 'अविधौ गुरोः स्त्रियां बहुलविवक्षा' इति वामनः । नयति प्रापयति । 'नीवह्योर्हरतेश्चैव' इति द्विकर्मकता । यस्मिन् सुवर्णकन्दरासु क्रीडार्थं प्रविष्टाः स्त्रियोऽन्धकार इति कृत्वा पुरुषैरपहृतवस्त्राः सत्यः । पुरःस्थितरौप्यभित्तितेजसामन्तः प्रतिबिम्बवत्प्रकाशे सति सलज्जा इति भावः । अत्र काञ्चनकन्दराणामसम्मुखार्कज्योतिःप्रतिफलनासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । वंशपत्रपतितं वृत्तम् । 'दिङ्मुनि वंशपत्रपतितं मरभभनलगैः' इति लक्षणात् ।

इस (रैवतक पर्वत) पर सूर्य, दर्पणके समान स्वच्छ सामनेको रजतमयी दीवारोंपर गिरी हुई, घने अन्धकारको दूर करनेवाली किरण (सूर्य-किरण) के सुवर्णमयी गुफाओंमें बार-बार प्रतिफलित होते रहनेपर पतियोंसे वस्त्रहीन की गयी तरुणियोंको स्वयं सम्मुख नहीं होता हुआ भी अर्थात् परोक्षमें रहता हुआ भी लज्जित करता है ॥ ६७ ॥

अनुकृतशिखरौघश्रीभिरभ्यागतेऽसौ
त्वयि सरभसमभ्युत्तिष्ठतीवाग्निरुच्चैः ।
द्रुतमरुदुपनुन्नैरुन्नमद्भिः सहेलं
हलधरपरिधानश्यामलैरम्बुवाहैः ॥ ६८ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्र्यङ्के रैवतकवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

अनुकृतेति ॥ असावुच्चैरुन्नतोऽद्रिः रैवतकः त्वयि अभ्यागते सति अनुकृता शिखरौघाणां श्रीर्यैस्तैस्तथोक्तैः । शिखरौघभ्रमकारिभिरिति भावः । अत एवात्र श्रीरिव श्रीरिति निदर्शनया भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते । द्रुतमरुता शीघ्रमारुते-

न्नोपनुन्नैः प्रेरितैः अत एव सहेलं सलीलमुन्नमद्भिरुत्पतद्भिः । धरतीति धरः । पचाद्यच् । हलस्य धरो हलधरो बलभद्रः तस्य परिधानान्यम्बराणि तद्वच्छ्यामलैः श्यामैरम्बुवाहैर्निमित्तेन सरभसमभ्युत्तिष्ठतीव प्रत्युत्थानं करोतीवेति क्रियानिमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा । विशिष्टमेघोन्नमनक्रियया प्रत्युत्थानक्रियोत्प्रेक्षणात् सा चोक्तनिदर्शनानुप्राणितेति सङ्करः । शाब्दस्तु वृत्त्यनुप्रासः । मालिनी वृत्तम् । 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति ।

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते शिशुपालवधकाव्यव्याख्याने सर्वंकषाख्ये चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

यह ऊँचा (रैवतक पर्वत) आपके आनेपर शिखरसमूहके समान शोभित अर्थात् शिखर–समूहकी भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाले, तीव्र-वायुसे प्रेरित (अत एव) अनायास ऊपरकी ओर उठते हुए तथा श्रीबलरामजीके धौतवस्त्रके समान श्यामवर्णवाले मेघोंसे मानो वेगपूर्वक अभ्युत्थान कर रहा है।

विमर्श—श्रीकृष्ण भगवान्से उनका सारथि दारुक कहता है कि शिखर–समूहके समान मालूम पड़ते हुए श्यामवर्ण इन मेघोंके वायुप्रेरित होकर ऊपर उठनेपर ऐसा ज्ञात होता है कि यह रैवतक पर्वत ही आपके स्वागतार्थ अभ्युत्थान कर रहा हो ॥ ६८ ॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'रैवतक वर्णन' नामक चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

इत्थं गिरः प्रियतमा इव सोऽव्यलीकाः शुश्राव सूततनयस्य तदाव्यलीकाः ।
रन्तुं निरन्तरमियेष ततोऽवसाने तासां गिरौ च वनराजिपटं वसाने ॥१॥

इत्थमिति ॥ स हरिरित्थमनेन प्रकारेण । 'इदमस्थमुः' (५।३।२४) इति थमुप्रत्ययः । अव्यलीका अप्रियरहिताः । 'व्यलीकं त्वप्रियेऽनृते' इत्यमरः । प्रियतमा प्रेयस्य इव स्थिताः । कान्तासम्मिता इत्यर्थः । व्यलीका विगतानृताः सत्यः सूततनयस्य सारथिकुमारस्य दारुकस्य गिरः तदा शुश्राव । ततः श्रवणानन्तरं तासां गिरामवसाने समाप्तौ निरन्तरं नीरन्ध्रं वनराजिरेव पटस्तं वसाने आच्छादयति । 'वस आच्छादने' इति धातोः कर्तरि लटः शानजादेशः । गिरौ रैवतकाद्रौ रन्तुं क्रीडितुमियेष । तत्र वसतिं कर्तुमिच्छति स्मेत्यर्थः । उपमायमकयोः संसृतिः । सर्गेऽस्मिन् वसन्ततिलका वृत्तम् । 'उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः' इति ।

वे (श्रीकृष्ण भगवान्) इस प्रकार (४।१९–६८) मनोहारिणी प्रियतमाके समान सूतपुत्र (दारुक) की सत्यवाणी सुने, उसकी वाणियोंके समाप्त होनेपर सघनवनराजिरूप वस्त्रको धारण करते हुए (रैवतक) पर्वतपर रमण करनेकी इच्छा किये (अथवा—वनराजिरूप वस्त्रको⋯पर्वतपर सर्वदा रमण⋯) अर्थात् वहाँपर ठहरनेकी इच्छा किये (महापुरुष लोग सर्वगुणयुक्त स्थानादिमें अवश्य ही अनुरक्त हो जाते हैं) ॥ १ ॥

तं स द्विपेन्द्रतुलितातुलतुङ्गशृङ्गमभ्युल्लसत्कदलिकावनराजिमुच्चैः ।
विस्ताररुद्धवसुधोऽन्वचलं चचाल लक्ष्मीं दधत्प्रतिगिरेरलघुर्बलौघः ॥२॥

तमिति । कदल्य एव कदलिकाः वैजयन्त्यो रम्भातरवश्च । 'कदली वैजयन्त्यां च रम्भायां हरिणान्तरे' इति विश्वः । अभ्युल्लसन्त्यः कदल्यो वैजयन्त्यो वनराजय इव यस्य सः, अन्यत्र रम्भावनपंक्तयो यस्य तमिति योज्यम् । उच्चैरुन्नतः विस्तारेण रुद्धवसुधो व्याप्तभूमिः । अत एव प्रतिगिरेर्लक्ष्मीं दधत् । स्वयमप्यन्यो गिरिरिव स्थित इत्यर्थः । अलघुर्महान् स बलौघः सेनासङ्घो द्विपेन्द्रैस्तुलितान्यतुलन्यप्रतिमानि द्विपेन्द्रव्यतिरिक्तप्रतिमारहितान्युत्तुङ्गशृङ्गाणि यस्य तं तथोक्तमन्वचलं रैवतकमनु चचाल । तं प्रति ययावित्यर्थः । 'अनुर्लक्षणे' (१।४।८४) इति कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । अत्र प्रतिगिरेः कस्यचिदप्रसिद्धत्वात् गिरिधर्मयोगी बलौघः प्रतिगिरेर्लक्ष्मीमिव लक्ष्मीं दधातीति निदर्शनामुखेन प्रतियोगित्वेनोत्प्रेक्ष्यते इत्युत्प्रेक्षितेवेयं श्लेषानुप्राणितेति सङ्करः ।

शोभमान पताकारूपी वनराजिवाला (पक्षा०—शोभमान केलाओंकी वनराजियोंवाला) विशाल (पक्षा०—ऊँचा), विस्तारसे पृथ्वी (बहुत बड़े भूभाग) को रोका हुआ अत्यन्त विशाल तथा दूसरे पर्वतकी शोभाको धारण करता हुआ अर्थात् प्रतिद्वन्द्वी दूसरे पर्वतके

समान स्थित वह (सुविख्यात) सेना-समूह शोभमान ध्वजारूपी वनराजियोंवाले (पक्षा०— शोभमान केलोंकी वनराजियोंवाले), गजराजोंसे समानता की है (दूसरे से अतुलनीय) ऊँचे-ऊँचे शिखरों को जिसने ऐसे (पक्षा०—गजराजोंसे समानताकी गयी ऊँचे-ऊँचे शिखरोंकी जिसकी ऐसे) रैवतक पर्वतको प्रस्थान किया ॥ २ ॥

भास्वत्करव्यतिकरोल्लसिताम्वरान्ताः सापत्रपा इव महाजनदर्शनेन ।
संविव्युरम्वरविकाशि चमूसमुत्थं पृथ्वीरजः करभकण्ठकडारमाशाः ॥ ३ ॥

भास्वदिति ॥ आशा दिशो भास्वत्करव्यतिकरेण सूर्यांशुव्याप्त्या उल्लसिताम्वरान्ताः प्रकाशिताकाशदेशः । अन्यत्र भास्वान् भास्वरोऽभिरूपः । 'भास्वान् भास्वरसूर्ययोः' इति विश्वः । तस्य हस्तस्य स्पर्शनेनोल्लसिताम्वरान्ताः स्रस्तवस्त्राञ्चलाः अत एव महाजनदर्शनेन सापत्रपा इव । 'लज्जा सापत्रपान्यतः' इत्यमरः । अम्वरविकाशि व्योमव्यापि, वासरशोभि च । 'अम्वरं व्योमवाससोः' इति विश्वः । चमूषु समुत्थं करभ उष्ट्रपोतः । 'उष्ट्रे क्रमेलकमयमहाङ्गाः करभः शिशुः' इत्यमरः । तस्य कण्ठ इव कडारं कपिशम् । कडारः कपिशः पिङ्गः' इत्यमरः । पृथ्वीरजः संविव्युः संवव्रुः । आच्छादयामासुरित्यर्थः । 'व्येञ् संवरणे' लिट् । कित्त्वात्सम्प्रसारण द्विर्भावः । 'एरनेकाचो—' (६।४।८२) इति यणादेशः । स्त्रियो वस्त्रापहारे लज्जया यत्किञ्चिदाच्छादयन्तीति भावः । अत्राचेतनास्वाशासु श्लिष्टविशेषणमहिम्ना स्त्रीप्रतीतौ तदभेदाध्यवसायेन संव्यानव्यवहारसमारोपात् समासोक्तिः । सा च सापत्रपत्वोत्प्रेक्षानुप्राणितेति सङ्करः ।

सूर्य-किरणोंके सम्बन्धसे प्रकाशित आकाशप्रदेशवाली (पक्षा०—शोभन हाथके सम्बन्ध से पृथक् हुए वस्त्रवाली, अत एव) महापुरुषके देखने से सलज्ज-सी दिशाओं (पक्षा०—रमणियों) ने आकाश तक फैले हुए (पक्षा०—वस्त्रके समान शोभमान) तीन वर्षकी अवस्थावाले ऊँटके कण्ठके समान पिङ्गलवर्ण, सेना (के प्रयाण करने) से उड़ी पृथ्वीकी धूलिको धारण कर लिया अर्थात् धूलिसे अपनेको आच्छादित कर लिया ।

विमर्श—पतिके सुन्दर हाथसे नग्न की गई (अत एव) गुरुजनोंको देखकर लज्जित हुई कुलाङ्गनाएँ वड़े कपड़ेसे जिस प्रकार अपनेको ढक लेती हैं, उसी प्रकार अङ्गनारूपिणी दिशाओंने भी सूर्यकिरणोंसे आकाशप्रदेशके प्रकाशित होने पर श्रीकृष्ण भगवान् के देखनेसे मानो लज्जित होती हुई, आकाशमें व्याप्त पिङ्गलवर्णवाली सेनोत्थापित धूलिसे अपनेको ढक लिया । भावार्थ यह है कि—पहले सूर्य-किरणोंसे आकाश प्रकाशित था, किन्तु सेनाके प्रयाण करने पर उससे उड़ी हुई धूल दिशाओंमें फैल गयी ॥ ३ ॥

आवर्तिनः शुभफलप्रदशुक्तियुक्ताः संपन्नदेवमणयो भृतरन्ध्रभागाः ।
अश्वाः प्यधुर्वसुमतीमतिरोचमानास्तूर्णं पयोधय इवोर्मिभिरापतन्तः ॥ ४ ॥

आवर्तिन इति ॥ आवर्तिनो दशावर्तवन्तः । 'प्रशंसायाम्—' (५।२।३६)

इति णिनिः । ते च 'द्वावुरस्यौ शिरस्यौ द्वौ द्वौ द्वौ रन्ध्रोपरन्ध्रयोः । एको भाले ह्यपाने च 'दशावर्ता ध्रुवाः स्मृताः ॥' इत्युक्ता दश ध्रुवाख्या विवक्षिताः । अन्येषामनन्तरमेव पृथगभिधानात् । अन्यत्र तु जलभ्रमवन्तः । 'स्यादावर्तोऽम्भसां भ्रमः' इत्यमरः । रोमसंस्थाने तु तत्साम्याद् व्यपदेशः । तदुक्तम्—'आवर्तसाम्यादावर्तो रोमसंस्थानमङ्गिनाम्'इति । शुभफलानि राज्यलाभादीनि प्रददतीति शुभफलप्रदाः । 'प्रे दाज्ञः' (३।२।६) इति कः । ताभिः शुक्तिभिः संस्थानैरावर्तविशेषैर्युक्ताः । तदुक्तम्—'वक्षःस्थाः शुक्तयस्तिस्र ऊर्ध्वरोमा जयावहाः' इति । अन्यत्र शुभफलानि मुक्ताफलानि तत्प्रदाः शुक्तयो मुक्तास्फोटाः ताभिर्युक्ताः । 'मुक्तास्फोटे ह्यावर्ते शुक्तिः शङ्खकपालयोः' इति यादवः । सम्पन्नाः समग्रा देवमणयो निगालावर्ताः, कौस्तुभादिदिव्यमणयश्च तेषां ते 'आवर्तो रोमजो देवमणिस्त्वेष निगालजः निगालस्तु गलोद्देशे सकृत' इति वैजयन्ती । भृताः पूर्णा रन्ध्रभागाः पार्श्वदेशाः, निम्नप्रदेशाश्च येषां ते । अतिशयिता रोचमानाः कण्ठावर्ता येषां तेऽतिरोचमानाः । 'कण्ठजो रोचमानश्च स्वामिसौभाग्यवर्धनः' इति वैजयन्ती । अन्यत्र त्वत्यन्तं दीप्यमाना इत्यर्थः । ऊर्मिभिर्गतिविशेषैर्वीचिभिश्च आपतन्त आधावन्तः । पङ्क्तीकृतानामश्वानां नमनोन्नमनाकृतिः । अतिवेगसमायुक्ता गतिरूर्मिरुदाहृताः ॥' इति वैजयन्ती । ईदृशोऽश्वाः पयोधय इव तूर्णं वसुमतीं प्यधुः छादयन्ति स्म । 'अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानि च' इत्यमरः । अपिपूर्वाद्दधातेर्लुङ् । 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यकारलोपः । एकनालावलम्बिफलद्वयवदेकशब्देनार्थद्वयप्रतीतेरर्थश्लेषोऽयं प्रकृताप्रकृतगोचरः । उपमा त्वङ्गमिति सङ्करः ।

आवर्त (छाती आदि दशस्थानोंसे सुलक्षणरूपसे स्थित 'ध्रुव' संज्ञक, बालोंके घुमाव पक्षा०—भौंर अर्थात् पानीके घुमाव) वाले, (राज्यादि) श्रेष्ठ फल देनेवाले शुक्तियों (हृदयमें तीन स्थानपर ऊपरकी ओर मुड़े हुए बालोंके घुमाव, (पक्षा०—मोती देनेवाली सीपों) से युक्त, देवमणि (गर्दनमें स्थित बालोंके घुमाव, पक्षा०—कौस्तुभमणि) वाले, भरे हुए अर्थात् मांसल पार्श्वभागवाले (पक्षा०—निम्न प्रदेशोंको पूर्ण करनेवाले), अत्यन्त रुचते (शोभते) हुए तीव्रवेगसे (पक्षा०—तरङ्गोंसे) आते हुए घोड़े समुद्रोंके समान पृथ्वी को शीघ्र आच्छादित (पक्षा०—आप्लावित) कर लिए ॥ ४ ॥

आरक्षमग्नमवमत्य सृणिं शिताग्रमेकः पलायत जवेन कृतार्तनादः ।
अन्यः पुनर्मुहुरुदप्लवतास्तभारमन्योन्यतः पथि बताबिभितामिभोष्ट्रौ ॥५॥

आरक्षेति ॥ पथि मार्गे इभोष्ट्रादन्योन्यतोऽन्योन्यस्मादबिभितां भीतवन्तौ । 'ञिभी भये' लङ् । 'भियोऽन्यतरस्याम्' (६।४।११५) इतीत्त्वम् । बतेत्यनयोरति भीतिरिति खेदेऽतिविस्मये वा । 'खेदानुकम्पासन्तोषविस्मयामन्त्रणे वत' इत्यमरः । तत्र लिङ्गमाह—एक इभ आरक्षः कुम्भयोरधःप्रदेशस्तत्र मग्नं विशिष्टं शिताग्रं

तीक्ष्णमुखं सृणिमङ्कुशम् । 'अङ्कुशोऽस्त्री सृणिर्द्वयोः' इत्यमरः । अवमत्यावधूय कृत आर्तनादो येन सः । अतिकरुणं क्रन्दन्नित्यर्थः । जवेन पलायत पलायितवान् । परापूर्वादयतेर्लुङ् । 'उपसर्गस्यायतौ' (८।२।१९) इति रेफस्य लत्वम् । अन्यः पुनरुष्ट्रस्तु अस्तभारं निरस्तभारं यथा तथा मुहुरुदप्लवतोत्प्लवितवान् । 'प्लु गतौ' इति लङ् । स्वभावोक्तिः ।

कुम्भ (शिरःस्थ मांस–पिण्ड) के नीचे धँसे हुए तीक्ष्णाग्र अङ्कुशकी परवा न करके आर्तस्वर किया हुआ एक (हाथी) भाग चला तथा दूसरा (ऊँट, पीठपर लदे हुए) बोझको गिराकर बार–बार उछलने लगा; इस प्रकार मार्गमें हाथी तथा ऊँट––दोनों ही एक दूसरेसे (हाथी ऊँटसे और ऊँट हाथी से) डर गये ॥ ५ ॥

आयस्तमैक्षत जनश्चटुलाग्रपादं गच्छन्तमुच्चलित[1]चामरचारुमश्वम् ।
नागं पुनर्मृदु सलीलनिमीलिताक्षं सर्वः प्रियः खलु भवत्यनुरूपचेष्टः ॥६॥

आयस्तमिति ॥ जनश्चटुलाग्रपादं चञ्चलपूर्वचरणं यथा तथा गच्छन्तम् । शीघ्रं धावन्तमित्यर्थः । उच्चलितैरुल्लसितैश्चामरैश्चारुमश्वमायस्तं सयत्नमाहृतं यथा तथा । 'यसु प्रयत्ने कर्तरि क्तः । क्लान्तं क्रियाविशेषणम् । ऐक्षत ईक्षितवान् । ईक्षतेर्लङ् 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) 'आटश्च' (६।१।९०) इति वृद्धिः । नाग पुनर्गजं तं सलीलं निमीलिते अक्षिणी यस्मिन्कर्मणि तत् । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' (५।४।११३) मृदु मन्दं गच्छन्तमायस्तमैक्षत । कथं शीघ्रमन्दयोस्तुल्यदृष्टिरत आह—सर्वः प्राणी अनुरूपचेष्टः स्वजात्युचितव्यापारः सन् प्रीणातीति प्रियः प्रीतिकरो भवति खलु । 'इगुपधज्ञाप्री–' (३।१।१३५) इति कर्तरि क्तः । अर्थान्तरन्यासः ।

लोगोंने चञ्चल, अगले पैरोंकी चञ्चलताके साथ अर्थात् तीव्रगतिसे चलते हुए तथा (हिलनेसे) शोभित चामरसे मनोहर घोड़ेको चिरकाल तक (या–प्रयत्नपूर्वक लाये गये) देखा और विलासपूर्वक नेत्रोंको बन्दकर धीरे चलते हुए हाथीको चिरकाल देखा । क्योंकि अनुरूप अर्थात् अपने अनुकूल चेष्टावाले सभी प्रिय होते हैं (अतः एकको शीघ्र तथा दूसरेको धीरे-धीरे चलनेपर भी दोनोंको समानरूपसे देखना उचित ही था) ॥ ६ ॥

त्रस्तः समस्तजनहासकरः[2] करेणोस्तावत्खरः प्रखरमुल्ललयाञ्चकार ।
यावच्चलासनविलोलनितम्बबिम्बविस्रस्तवस्त्रमवरोधवधूः पपात ॥ ७ ॥

त्रस्त इति ॥ करेणोरिभ्याः । 'करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे' इत्यमरः । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' (१।४।२५) इत्यपादानत्वम् । त्रस्तो भीतः खरो गर्दभः समस्तजनस्य हासं करोतीति तत्करः सन् । 'कृञो हेतु–' (३।२।२०) इत्यादिना टप्रत्ययः । तावत्तदवधि प्रखरं भृशमुल्ललयाञ्चकार उत्पपात । यावत् चलात् स्थानचलितादासनात्

1. '—मुच्छलित—' इति पा० ।   2. '—करन्—' इति पा० ।

पल्ययनात् विलोलोऽपसृतस्तस्मान्निितम्बविम्बाद्विस्रस्तं वस्त्रं यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा अवरोधवधूः पपात। स्वभावोक्तिः।

हथिनीसे डरा हुआ तथा सब लोगों को हंसानेवाला गधा तबतक उछलता रहा, जबतक सरके हुए (उछलनेसे बन्धनके ढीला पड़नेके कारण नियत स्थानको छोड़े हुए) आसन (पीठपर कसे गए जीन या कम्बल आदि) से वस्त्रहीन नितम्बोंवाली अन्तःपुरकी दासी नहीं गिर पड़ी ॥ ७ ॥

शैलोपशल्यनिपतद्रथनेमिधारानिष्पिष्टनिष्ठुरशिलातलचूर्णगर्भाः।
भूरेणवो नभसि नद्धपयोदचक्राश्चक्रीवदङ्गरुहधूम्ररुचो विसस्रुः ॥ ८ ॥

शैलेति ॥ शैलस्य रैवतकाद्रेरुपशल्यं प्रान्तम्। यद्यपि 'ग्रामान्त उपशल्यं स्यात्' इत्यमरः, तथाप्युपचाराददोषः। तत्र निपततां धावतां रथानां नेमयः चक्रान्ताः। 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्यमरः। तासां धाराभिर्निष्पिष्टानां चूर्णितानां निष्ठुरशिलातलानां चूर्णो गर्भे येषां ते तथोक्ताः। नभसि नद्धानि पयोदचक्राणि पयोदाकारमण्डलानि यैस्ते चक्रवद्भ्रमणमस्यास्तीति चक्रीवान् गर्दभः। 'चक्रीवन्तस्तु बालेया रासभा गर्दभाः खराः' इत्यमरः। 'आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्—' (८।२।१२) इत्यादिना साधुः। तस्याङ्गरुहाणि रोमाणि तद्वद्धूम्ररुचो कृष्णलोहितवर्णाः। 'धूम्रधूमलौ कृष्णलोहिते' इत्यमरः। भूरेणवो विसस्रुः प्रसृताः।

(रैवतक) पर्वतके समीपमें चलते हुए रथोंकी नेमियों (पहियोंके हालों—ऊपरी भागों) से अत्यन्त महीन किए गए कठोर पत्थरोंकी धूलि भीतरमें हैं जिनके ऐसी अर्थात् उक्तरूप पथरीली धूलिसे मिश्रित मेघ—समूहको रोकने (ढक देने) तथा गधेके रोमके समान धूमिल रंगकी भूरेणु (भूमिकी धूल) आकाश में फैल गई ॥ ८ ॥

उद्यत्कृशानुशकलेषु खुराभिघाताद् भूमीसमायतशिलाफलकाचितेषु।
पर्यन्तवर्त्मसु विचक्रमिरे महाश्वाः शैलस्य दर्दुरपुटानिव वादयन्तः ॥ ९ ॥

उद्यदिति ॥ खुराः शफानि। 'शफं क्लीबे खुरः पुमान्' इत्यमरः। तेषामभिघातादुद्यन्तः कृशानुशकलाः स्फुलिङ्गा येभ्यस्तेषु। टङ्कप्रायाः खुरा इति भावः। भूम्यां समानि समतलान्यायतानि च यानि शिलाः फलकानीव शिलाफलकानि तैराचितेष्वास्तृतेषु शैलस्य पर्यन्तवर्त्मसु प्रान्तमार्गेषु महाश्वा दर्दुराणां वाद्यविशेषाणां पुटान् मुखानि वादयन्त इव विचक्रमिरे जग्मुः। पादन्यासैस्तादृशं शब्दमकुर्वन्नित्यर्थः। 'वेः पादविहरणे' (१।३।४१) इत्यात्मनेपदम्। 'दर्दुरस्तोयदे भेके वाद्यभाण्डाद्रिभेदयोः' इत्यमरः। उत्प्रेक्षालङ्कारः।

भूमिपर समतल बिछायी गयी बड़ी—बड़ी पत्थरकी ईंटोंवाले (या—पड़े हुए पत्थरके टुकड़ोंवाले, अत एव घोड़ोंके) खुरोंके आघातसे निकलती हुई चिनगारियोंवाले, (रैवतक) पर्वतके समीपवर्ती मार्गोंमें श्रेष्ठजातीय घोड़े मानो डुग्गी बजाते हुए चलने लगे ॥ ९ ॥

तेजोनिरोधसमतावहितेन यन्त्रा सम्यक्कशात्रयविचारवता नियुक्तः ।
आरट्टजश्चटुलनिष्ठुरपातमुच्चैश्चित्रं चकार पदमर्धपुलायितेन ॥१०॥

तेजो इति ॥ तेजो नाम दर्पापरनामा सत्त्वगुणविकारः प्रकाशकोऽन्तः सारविशेषः । यथाह भोजराजः—'तेजो निसर्गजं सत्त्वं वाजिनां स्फुरणं रजः । क्रोधस्तम इति ज्ञेयास्त्रयोऽपि सहजा गुणाः ॥' इति । तच्च द्विविधं सततोत्थितं भयोत्थितं चेति । यथाह स एव—'धारासु योजितानां च निसर्गात्प्रेरणं विना । अविच्छिन्नमिवाभाति तत्तेजः सततोत्थितम् ॥ कशापादादिघातैर्यत्साध्वसात्स्फुरितं तु तत् ॥' इति । अत्र तेजःशब्देन तत्कार्यं वेगो लक्ष्यते । तथा च तेजसि वेगे निरोधे तन्निवारणे समतायां वेगसाम्ये चावहितेन । वल्गाविभागकुशलेनेत्यर्थः । कशा ताडनी 'अश्वादेस्ताडनी कशा' इत्यमरः । अत्र कशाः कशाघातास्तासां त्रयमुत्तममध्यमाधमेषु यथासंख्यं मृदुसमनिष्ठुरसकृद् द्वित्रिरूपं त्रितयं तस्य विचारः । एतेषु निमित्तेष्वङ्गेष्वेवं ताड्य इति विमर्शः । तद्वता तज्ज्ञेन । यथाह भोजः—'मृदेनैकेन घातेन दण्डकालेषु ताडयेत् । तीक्ष्णं मध्यं पुनर्द्वाभ्यां जघन्यं निष्ठुरैस्त्रिभिः । उपवेशेऽथ निद्रायां स्खलिते दुष्टचेष्टिते । वडवालोकनौत्सुक्ये बहुगर्वितह्रेषिते । सन्त्रासे च दुरुत्थाने विमार्गगमने भये । शिक्षात्यागस्य समये सञ्जाते चित्तविभ्रमे ॥ दण्डः प्रयोज्यो बाह्यानां कालेषु द्वादशस्वपि । ग्रीवायां भीतमाहन्यात्त्रस्तं चैव च वाजिनम् ॥ विभ्रान्तचित्तमधरे त्यक्तशिक्षं च ताडयेत् । प्रहेषितं स्कन्धबाह्वोर्वडवालोकितं तथा । उपवेशे च निद्रायां कटिदेशे च ताडयेत् । दुश्चेष्टितं मुखे हन्यादुन्मार्गप्रस्थितं तथा ॥ जघने स्खलितं हन्यान्नेत्रमार्गे दुरुत्थितम् । यः कुण्ठप्रकृतिर्वाजी तं सर्वत्रैव ताडयेत् ॥' इति । एवंभूतेन यन्त्रा सादिना सम्यग्यथाशास्त्रं नियुक्तः ईरितः उच्चैरुन्नत आरट्टोऽश्वयोनिदेशविशेषः तज्जोऽश्व आरट्टजः । विशेषणमात्रप्रयोगे सागराम्बरादिवत्तावतैव विशेष्यप्रतीतेरित्याह वामनः । विशेषणप्रयोगो विशेष्यप्रतिपत्ताविति । चटुलश्चपलो निष्ठुरः परुषश्च पातः प्रक्षेपो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा । अर्धपुलायितेन मण्डलगतिविशेषेण चित्रमद्भुतं पदं पदक्रमं चकार । 'शताधार्धक्रमादूनैर्मण्डलायितवल्गितैः । उन्मुखस्याश्वमुख्यस्य गतिरर्धपुलायितम् ॥' इति लक्षणात् । पुला नाम प्लुताद्यनेकापरनामा ह्यानां गतिविशेषः । तदुक्तं हयलीलावत्याम्—'प्लुतां प्लवङ्गितामाहुर्या धारा पुलनाभिधा । पुनरेनां रलोपान्तां पुलामित्याह देशिकः ॥' तल्लक्षणं च तत्रैवोक्तम्—'क्षिपति समविशेषानुत्क्षिपत्यग्रपादान् प्रसरति पुरतोऽश्वः साथ धारा पुलाख्या । विलसति समपादोत्क्षेपणाकुञ्चनानां करुणमिह गतिज्ञाः प्राहुरन्ये पुलाख्याम् ॥' इति । 'पार्ष्णिप्रधानं प्रविधाय रागाद्वल्गां श्लथीकृत्य वहेत्पुलाख्याम्' इत्यादि । पुलाख्यया अयितं गतिः पुलायितम् । 'अय गतौ' भावे क्तः । तच्छतार्धेस्याद्युक्तरीत्याऽनुष्ठितमर्धपुलायितमित्यलमतिविस्तरेण ।

वेगको रोकनेसे समता (या—वेग रोकने तथा समता-धारण गति) में सावधान अर्थात् घोड़ेकी तीव्रगतिको रोककर मन्द गति करनेमें चतुर, अच्छी तरह कोड़ेका तीन प्रकारसे प्रयोग करनेमें विचारवान् घुड़सवारसे हांका गया बड़ा अरबी घोड़ा चञ्चल तथा वेगपूर्वक भूमिपर पैर रखता हुआ अर्द्धमण्डलाकारसे विचित्र रूपमें चलने लगा ॥ १० ॥

नीहारजालमलिनः पुनरुक्तसान्द्राः कुर्वन्वधूजनविलोचनपक्ष्ममालाः ।
क्षुण्णः क्षणं यदुबलैर्दिवमातितांसुः पांशुर्दिशां मुखमतुत्थयदुत्थितोऽद्रेः ॥११॥

नीहारेति ॥ नीहारजालवत्तुहिनव्यूहवन्मलिनो वधूजनविलोचनानां पक्ष्ममालाः पुनरुक्तसान्द्राः द्विगुणसान्द्राः कुर्वन् । स्वभावतोऽपि सान्द्रत्वादिति भावः । मयूरव्यंसकादित्वाद्विस्पष्टवहुवत्समासः । क्षणं यदूनां बलैः सैन्यैः क्षुण्णोऽद्रेरुत्थितो दिवमाकाशमातनितुमवतनितुमिच्छुरातितांसुः । तनोतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । 'सनीवन्तर्ध—' (७।२।४९) इत्यत्र तनिपतिदरिद्राणामुपसंख्यानाद्वैकल्पिक इड्भावः । 'तनोतेर्विभाषा' (६।४।१७) इति दीर्घः । पांशुर्दिशां मुखमतुत्थयदाच्छादयति स्म । 'तुत्थ आच्छादने' इति धातोश्चौरादिकाल्लङ् ।

हिम-कणोंके समान मलिन (धूमिल), अङ्गनाओंके नेत्रोंके समूहोंको अत्यन्त सघन करती हुई, यदुवंशी सैनिकोंसे क्षणमात्र क्षुण्ण (महीन–सूक्ष्म की गयी), आकाशमें फैलनेकी इच्छुक, (रैवतक) पर्वतसे उठी हुई धूलिने दिग्भागको ढक दिया ॥ ११ ॥

उच्छिद्य विद्विष इव प्रसभं मृगेन्द्रानिन्द्रानुजानुचरभूपतयोऽध्यवात्सुः ।
वन्येभमस्तकनिखातनखाग्रमुक्तमुक्ताफलप्रकरभाञ्जि गुहागृहाणि ॥ १२ ॥

उच्छिद्येति ॥ इन्द्रानुजस्योपेन्द्रस्य हरेरनुचरा अनुजीविनो भूपतयो मृगेन्द्रान् सिंहान् विद्विषः शत्रूनिव प्रसभं प्रसह्योच्छिद्य हत्वा वन्येभानां मस्तकेषु निखातैर्निक्षिप्तैर्नखाग्रैः सिंहनखमुखैर्मुक्तान् विकीर्णान् मुक्ताफलप्रकरान् भजन्तीति तथोक्तानि । गुहा गृहाणीवेत्युपमितसमासः । विद्विषः इवेति लिङ्गादध्यवात्सुः अध्युषितवन्तः । 'उपान्वध्याङ्वसः' (१।४।४८) इति कर्मत्वम् । 'वस निवासे' लुङि सिचि वृद्धिः । 'सः स्यार्धधातुके' (७।४।४९) इति तत्वम् ।

श्रीकृष्ण भगवान्के अनुगामी राजा लोग सिंहोंको शत्रुओंके समान बलपूर्वक मारकर जंगली हाथियोंके मस्तक (में स्थित कुम्भ) में गड़ाए गए (सिंहोंके) नखाग्रों (पञ्जोंके छिद्रों) से गिरे हुए मोतियोंके समूहसे युक्त कन्दरारूपी घरोंमें ठहर गए ॥ १२ ॥

विभ्राणया वहलतावकपङ्क्तिपिङ्गपिच्छावचूड[1]मनुमाधवधाम [2]जग्मुः ।
चञ्च्वग्रदष्टचटुलाहिपताकयान्ये स्वावासभागमुरगाशनकेतुयष्ट्या ॥१३॥

विभ्राणयेति ॥ अन्ये भूपतयः याव एव यावकोऽलक्तकः । "राक्षा लाक्षा जतु क्लीबे यावोऽलक्तो द्रुमामयः' इत्यमरः । 'यावादिभ्यः कन्' (५।४।२९) इति स्वार्थे

१. '—चूल—' इति पा० । २. 'जग्मुः' इति पा० ।

कन् । बहलेन यावकपङ्केन पिङ्गं पिङ्गलं पिच्छं बर्हमेवावचूडमधोलम्बिकलापं बिभ्राणया 'अस्योच्चूडावचूडाख्यावूर्ध्वाधोमुखचूडकौ' इति ध्वजाङ्गेषु हलायुधः । चञ्चुः त्रोटिः । 'चञ्चुस्त्रोटिरुभे स्त्रियाम्' इत्यमरः । तस्या अग्रेण दष्टा चटुला चञ्चला अहिरेव पताका यस्यां तया उरगाशनो गरुडस्तस्य केतुयष्टिः । तदधिष्ठितो ध्वजदण्ड इत्यर्थः । तया, अभिज्ञानेनेति भावः । अनुमाधवधाम हरिशिविरमनु स्वावासभागं स्वनिवेशदेशं जग्मुः प्रापुः । दूरादेव गरुडध्वजेन माधवधाम ज्ञात्वा तत्संनिहितान्नियतदिक्कान् स्वावासान्निश्चित्य जग्मुरित्यर्थः ।

दूसरे राजा लोग, बहुत-से अलक्तकपङ्कसे (यावक—के समान) पिङ्गलवर्णवाले गरुड़के पङ्खके अवचूडों (कोणमें लगाये गये एवं नीचेकी ओर लटकते हुए फुलनों अर्थात् गुच्छों या मालाओं) को धारण करते हुए, चोंचके अगले भागसे काटे (या—पकड़े) गए सर्परूपी पताकावाले तथा गरुडाधिष्ठित अर्थात् गरुड़ जिसके ऊपरसे स्थित हैं ऐसी पताकाके दण्डे (बाँस) से अर्थात् दण्डके पहचानसे अनुमित श्रीकृष्ण भगवान्‌के निवासस्थानके समीपवर्ती अपने-अपने शिविरोंको गए ॥ १३ ॥

छायामपास्य महतीमपि वर्तमानामागामिनीं जगृहिरे जनतास्तरूणाम् ।
सर्वे हि [1]नोपगतमप्यपचीयमानं वर्धिष्णुमाश्रयमनागतमभ्युपैति ॥ १४ ॥

छायामिति ॥ जनानां समूहा जनताः । 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्' (४।२।४२) । तरूणां वर्तमानां विद्यमानां महतीमपि छायामपास्य त्यक्त्वा आगामिनीं छायां जगृहिरे । वर्धिष्णुत्वादिति भावः । न च प्राप्तत्यागो दोषाय । त्यागस्वीकारयोःक्षयवृद्धिप्रयुक्तत्वादिति भावः । सर्व इति । तथाहि—सर्वो जन उपगतं प्राप्तमप्यपचीयमानं क्षीयमाणम् । कर्मकर्तरि प्रयोगः । आश्रयं नीतेति न गृह्णाति. किं त्वनागतमप्राप्तमपि वर्धिष्णुं वर्धनशीलमाश्रयमुपैति । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।

जन-समूहने पेड़ोंकी विद्यमान बड़ी छायाको भी छोड़कर (भविष्यमें) आने वाली छायाको ग्रहण किया (उसमें निवास किया क्योंकि) सभी लोग घटते हुए उपस्थित आश्रयको भी नहीं प्राप्त करते हैं, किन्तु भविष्य (बढ़नेवाले) अप्राप्त भी आश्रयको प्राप्त करते हैं ॥ १४ ॥

अग्रे गतेन वसतिं परिगृह्य रम्यामापात्यसैनिकनिराकरणाकुलेन ।
यान्तोऽन्यतः प्लुतकृतस्वरमाशु दूरादुद्बाहुना जुहुविरे मुहुरात्मवर्ग्याः ॥१५॥

अग्र इति ॥ अग्रे गतेन पुरः प्रयातेन रम्यां वसतिं निवासम् । 'वहिवस्यर्तिभ्यश्च' (उ० ५००) इति वसेरौणादिकोऽतिप्रत्ययः । परिगृह्यापतन्तीत्यापात्याः स्वयमाक्रमितुमागच्छन्तः । 'भव्यगेय—' (३।४।६८) इत्यादिना कर्तरि ण्यदन्तो निपातः । तेषां सैनिकानां निराकरणे निरसने आकुलेन व्यग्रेण उद्बाहुनोद्यतहस्तेन । केन-

1. 'नोपनत—' इति पा० ।

चिदिति शेषः। अन्यतो यान्तो गच्छन्त आत्मवर्ग्याः स्वयूथ्याः प्लुतं त्रिमात्रिकं यथा तथा कृतः स्वरो नाद आह्वानं यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा। 'दूराद्धूते च' (८।२।८४) इति दूरादाह्वाने प्लुतविधानादिति भावः। आशु दूरान्मुहुराजुहुविरे आहूताः। ह्वयतेराङ्पूर्वात्कर्मणि लिट् 'अभ्यस्तस्य च' (६।१।३३) इति संप्रसारणे द्विर्वचन-मुवङादेशश्च।

आगे पहुँचे हुए सुन्दर निवासस्थानको पाकर; आकर वहाँ ठहरनेकी इच्छा करनेवाले सैनिकोंके मना करने (हटाने–वहाँ ठहरनेसे रोकने) में व्यस्त, ऊपर हाथ किये किसी सैनिकने दूसरी ओर जाते हुए अपने साथियोंको अत्युच्च स्वरसे अर्थात् जोरसे चिल्लाकर दूरसे बुलाया ॥ १५ ॥

सिक्ता इवामृतरसेन[1] मुहुर्जनानां क्लान्तिच्छिदो वनवनस्पतयस्तदानीम्।
शाखावसक्तवसनाभरणाभिरामाः कल्पद्रुमैः सह विचित्रफलैर्विरेजुः ॥१६॥

सिक्ता इति ॥ अमृतरसेन सिक्ता इवेत्युत्प्रेक्षा। मुहुर्जनानां क्लान्तिच्छिदः श्रम-हराः। कल्पद्रुमवदमृतसेकाभावादपि तद्वदाह्लादका इति भावः। शाखास्ववसक्तैर्लग्नैः वसनैराभरणैश्चाभिरामाः। एकत्र सेनास्थापितैः, अन्यत्र स्वप्रसूतैरिति भावः। वन-वनस्पतयो वनवृक्षा विचित्रफलैर्वस्त्राभरणाद्यनेकफलयुक्तैः कल्पद्रुमैः। तत्रत्यैरिति शेषः। सह तदानीं विरेजुः। तद्वद्विरेजुरित्यर्थः। सहेति सादृश्ये। 'सह साकल्य सादृश्ययौगपद्यसमृद्धिषु' इति विश्वः। तथा चोपमालंकारः।

मानो अमृत–रससे सींचे गये, लोगोंके श्रमको बार–बार दूर करनेवाले, (सैनिकोंके द्वारा) डालियोंमें टाँगे गये कपड़ों तथा भूषणोंसे मनोहर वनके वृक्ष उस समय विचित्र फलों-वाले कल्पद्रुमोंके समान शोभने लगे ॥ १६ ॥

यानाज्जनः परिजनैरवतार्यमाणा[2] राज्ञीर्नरापनयनाकुलसौविदल्लाः।
स्रस्तावगुण्ठनपटाः[3] क्षणलक्ष्यमाणवक्त्रश्रियः सभयकौतुकमीक्षते स्म ॥

यानादिति ॥ परिजनैर्यानाद्वाहनादवतार्यमाणा अवरोप्यमाणाः। रुहेर्ण्यन्ता-त्कर्मणि लटः शानजादेशः। 'रुहः पोऽन्यतरस्याम्' (७।३।४३) इति पकारः। नराणामालोकिजनानामपनयनेऽपसारणे आकुलाः सौविदल्लाः कञ्चुकिनो यासां ताः। 'सौविदल्लाः कञ्चुकिनः' इत्यमरः। स्रस्ता, अवरोपणसंक्षोभादपसृता अवगुण्ठनपटा नीरङ्गीवस्त्राणि यासां ताः। अत एव क्षणं वक्ष्यमाणा वक्त्रश्रियो यासां तास्तथोक्ता राज्ञो राजस्त्रीः। 'पुंयोगादाख्यायाम्' (४।१।४८) इति ङीप्। जवः सभयकौतुक-मीक्षते स्म। ताडनाद्भयं कामात्कौतुकम्।

लोग, सवारी (पालकी या गाड़ी) से परिजनों (दासी या कञ्चुकी आदि) से उतारी जाती हुई, पुरुषोंको हटानेमें व्यस्त कञ्चुकियोंवाली, लटकते हुए घूँघटके वस्त्रवाली तथा क्षण-मात्र देखी गयी मुखशोभावाली रानियोंको भय तथा कौतूहलके साथ देख रहे थे।

---

१. '–जलेन' इति पा०। २. '–रवरोप्यमाणा' इति पा०। ३. 'पटक्षण–' इति पा०।

विमर्श—उक्तरूप रानियोंको देखनेमें लोगोंको भय इस कारण था कि इन रनिवासोंमें रहनेवाली रानियोंको देखते हुए मुझे कोई राजपुरुष देख लेगा तो मुझे दण्डित करेगा तथा कुतूहल इसलिए था कि ये रानियाँ कितनी सुन्दरी होंगी ? इस पद्यसे उस समयमें पर्दाप्रथा पर्याप्त मात्रामें थी, यह व्यक्त होता है ॥ १७ ॥

[1]कण्ठावसक्तमृदुबाहुलतास्तुरङ्गाद्-
राजावरोधनवधूरवतारयन्तः ।
आलिङ्गनान्यधिकृताः स्फुटमापुरेव
गण्डस्थलीः शुचितया न चुचुम्बुरासाम् ॥ १८ ॥

कण्ठेति ॥ तुरङ्गाद्राजावरोधनवधूः राज्ञामवरोधस्त्रीरवतारयन्तोऽवरोपयन्तोऽधिकृता अन्तःपुराधिकारिणः कण्ठेषु स्वकीयेष्ववसक्ता मृदवो बाहुलतास्तदीया येषां ते तथोक्ताः सन्तः स्फुटं व्यक्तमालिङ्गनान्यापुरेव । अन्यथा दुरवरोहत्वाद्व्याजाच्चेति भावः । आसां वधूनां गण्डस्थलीः शुचितया स्वयं शुद्धवर्तित्वाद्गण्डानां नैर्मल्याच्च न चुचुम्बुः । यावत्कर्तव्यकारिणः शुद्धात्मनो नातिचरन्तीति भावः । अन्यत्र तु पापाचाराः पापलिङ्गानि प्रकाशयन्तीति भावः ।

घोड़ेसे राजाओंकी अन्तःपुरकी स्त्रियोंको उतारते हुए कण्ठमें लगी हैं कोमल बाहुलताएँ जिनके ऐसे (घोड़ेसे उतारते समय सहारा पानेके लिए रानियोंने जिनके कण्ठोंको अपनी बाहुलताओंसे लपेट लिया है ऐसे) अन्तःपुरमें नियुक्त (कञ्चुकी आदि) पुरुषोंने स्पष्ट रूपमें ही (उन रानियोंके) आलिङ्गनको पा लिया, किन्तु (स्वयं या उन रानियोंके) शुद्ध सदाचार-सम्पन्न होनेसे इन (रानियों) के कपोलमण्डलोंका चुम्बन नहीं किया ॥ १८ ॥

दृष्ट्वेव निर्जितकलापभरामधस्ताद्व्याकीर्णमाल्यकबरां कबरीं तरुण्याः ।
प्रादुद्रुवत्सपदि चन्द्रकवान् द्रुमाग्रात्सङ्घर्षिणा[2] सह गुणाभ्यधिकैर्दुरासम् ॥

दृष्ट्वेति ॥ अधस्तात्तरुतले निर्जितः कलापभरो बर्हभारो यया ताम् । 'कलापो भूषणे बर्हे' इत्यमरः । व्याकीर्णेन विक्षिप्तेन माल्येन कबरां शाराम् । 'कबरः कर्बुरः शारः' इति हलायुधः । तरुण्याः कबरीं केशपाशम् । 'कबरी केशपाशोऽथ' इत्यमरः । 'जानपद–' (४।१।४२) इत्यादिना ङीप् । दृष्ट्वेत्युत्प्रेक्षा । सपदि चन्द्रका अस्य सन्तीति चन्द्रकवान् मयूरः द्रुमाग्रात् प्रादुद्रुवत् प्रद्रुतवान् । 'द्रु गतौ' लुङि 'णिश्रि–' (३।१।४८) इत्यादिना च्लेश्चङादेशः ।'अचि श्नुधातु–' (६।४।७७) इत्यादिना उवङादेशः । तथा हि सङ्घर्षिणा मत्सरिणा कर्त्रा गुणाभ्यधिकैर्गुणोत्कृष्टैः सह दुरासम् । आसितुमशक्यमित्यर्थः । आसेरकर्मकात् 'ईषद्दुः' (३।३।१२६) इत्यादिना भावे खल्प्रत्ययः । 'तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः' (३।४।७०) इति नियमात् । अत्र भयहेतु-

१. 'तनु—' इति पा० । २. 'सङ्घर्षिणा' इति पा० ।

कस्य पलायनस्य कबरीदर्शनहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्य तत्समर्थनासमर्थोऽयमर्थान्तरन्यासः कृत इत्यस्यानयाङ्गेन सङ्करः । न हि जितैर्जेतुरग्रे स्थातुमुचितमिति भावः ।

(वृक्षके) नीचे गूथे गये मालायोग्य प्रशस्त फूलोंसे चित्रित (अत एव मयूरके) पिच्छ–समूहको पराजित किये हुए तरुणीके केश-समूहको देखकर मानो मोर पेड़के ऊपरसे उड़ गया, क्योंकि मत्सरी (दूसरेकी समृद्धिमें द्वेष करनेवाला) अधिक गुणवालोंके साथ बड़े कष्टसे बैठते हैं ॥ १९ ॥

रोचिष्णुकाञ्चनचयांशुपिशङ्गिताशा वंशध्वजैर्जलदसंहतिमुल्लिखन्त्यः ।
भूभर्तुरायतनिरन्तरसन्निविष्टाः पादा इवाभिवभुरावलयो रथानाम् ॥२०॥

रोचिष्णिवति ॥ रोचिष्णवो रोचनशीलाः । 'अलङ्कृञ्–' (३।२।१३६) इत्यादिना इष्णुच्प्रत्ययः । तेषां काञ्चनचयानां कनकचयानामंशुभिः पिशङ्गिताः पिशङ्गीकृता आशा याभिस्ताः वंशानां तत्तद्राजकुलानां ध्वजैः प्रतिनियतकुलानामङ्कुशादिचिह्नित-केतुभिः, अन्यत्र वंशा वेणवस्तैरेव ध्वजैर्जलदसंहतिं मेघसङ्घातमुल्लिखन्त्यः आयतं दीर्घं निरन्तरं नीरन्ध्रं च सन्निविष्टाः संस्थिता रथानामावलयो भूभर्तू रैवतकाद्रेः पादाः प्रत्यन्तपर्वता इवाभिबभुः भान्ति स्म । आशापिशङ्गीकरणादिक्रियानिमित्ता जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा ।

रुचते हुए सुवर्ण–समूहोंकी किरणोंसे दिशाओंको पिङ्गल की हुई, उन–उन वंशोंके लिए नियत चिह्नोंसे चिह्नित ध्वजाओंसे (पक्षा०—बांसरूपी ध्वजाओंसे) मेघ–समूहका स्पर्श करती हुई, दूरतक सघन (सटा–सटाकर) खड़े किये गये रथोंकी श्रेणियाँ रैवतक पर्वतके पार्श्ववर्ती पर्वतोंके समान शोभ रही थीं ॥ २० ॥

छायाविधायिभिरनुज्झितभूतिशोभैरुच्छ्रायिभिर्बहलपाटलधातुरागैः ।
दूष्यैरिव क्षितिभृतां द्विरदैरुदारतारावलीविरचनैर्व्यरुचन्निवासाः ॥२१॥

छायेति ॥ क्षितिभृतां राज्ञां निवसन्त्यत्रेति निवासाः निवासदेशाच्छायाविधायिभिः कान्तिकरैरनातपसम्पादकैश्च । 'छाया त्वनातपे कान्तौ' इति विश्वः । अनुज्झिता भूतीनां भस्मरचनानां सम्पदा च शोभा यैस्तैः । 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः । उच्छ्रायिभिरुन्नमद्भिर्बहलः सान्द्रः पाटल आरक्तधातुरागो गैरिकादिरञ्जनं येषां तैः । उदारा तारावलीनां शुद्धमुक्तावलीनां विरचना येषु तैः । मुक्ताहारभूषितैरित्यर्थः । 'तारा मुक्तादिसंशुद्धौ तरले शुद्धमौक्तिके' इति विश्वः । दूष्यपक्षे तारावली रज्जुसन्ततिरिति केचित् । द्विरदैर्दूष्यैः पटमण्डपैरिव । 'दूष्यं वस्त्रे च तद्गृहे' इति विश्वः । व्यरुचन् रोचन्ते स्म । 'रुच दीप्तौ' 'द्युद्भ्यो लुङि' (१।३।९१) इति परस्मैपदे 'पुषादि–' (३।१।५५) इत्यादिना च्लेरङादेशः । अत्र द्विरदानां दूष्याणां च प्रकृतत्वान्नोपमा, नापि श्लेषभेदः । विशेष्यस्य विशेषणानां च केषाञ्चिदश्लिष्टत्वात् । तस्मात्केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगितेयम् । इवशब्दस्तु सादृश्यमात्रानुवादक इति संक्षेपः ।

राजाओंके निवासस्थान, छाया करनेवाले, भस्मरचनाकृत शोभावाले (पक्षा०—सम्पत्तिकी शोभासे युक्त), बहुत ऊँचे, अधिक लाल (गैरिकादि) धातुओंसे रंगे गये, सुन्दर मोतियोंके हारसे शृङ्गारित (पक्षा०—रस्सियोंको बाँधकर बनाये-खड़े किये गये) टेण्ट (शामियाना, तम्बू, रावटी, कनात आदि) के समान हाथियोंसे शोभते थे ॥ २१ ॥

उत्क्षिप्तकाण्डपटकान्तरलीयमानमन्दानिलप्रशमितश्रमघर्मतोयैः ।
दूर्वाप्रता[१]नसहजास्तरणेषु भेजे निद्रासुखं वसनसद्मसु राजदारैः ॥ २२ ॥

उत्क्षिप्तेति ॥ उत्क्षिप्त उद्धृतो यः काण्डपट एव काण्डपटकः दूष्याधोलम्बिवायुसञ्चारार्थः पटः । 'अपटः काण्डपटी स्यात्' इति वैजयन्ती । तस्यान्तरेऽवकाशे लीयमानेन मन्दानिलेन प्रशमितं श्रमेणाध्वखेदेन यद्धर्मतोये स्वेदाम्बु तद्येषां तै राजदारै राजावरोधैः दूर्वाणां प्रतानं प्रचय एव सहजमकृत्रिममास्तरणं तल्पं येषु तेषु वसनसद्मसु पटमण्डपेषु निद्रासुखं भेजे ।

ऊपर उठाये गये, तम्बुओंमें हवा लगनेके लिए लटकते हुए पर्दोंके भीतर प्रविष्ट होती हुई मन्दवायुसे जिनकी थकावटके पसीने सूख गये हैं, ऐसी राजपत्नियाँ प्राकृतिक फैली हुई दूबके विस्तरोंवाले तम्बुओंमें निद्राजन्य आनन्दको प्राप्त करने लगीं ॥ २२ ॥

प्रस्वेदवारिसविशेषविषक्तमङ्गे कूर्पासकं क्षतनखक्षतमुत्क्षिपन्ती ।
आविर्भवद्घनपयोधरबाहुमूला शातोदरी युवदृशां क्षणमुत्सवोऽभूत् ॥२३॥

प्रस्वेदेति ॥ अङ्गे गात्रे प्रस्वेदवारिणा सविशेषं सातिशयं यथा तथा विषक्तमतिश्लिष्टं कूर्पासकं चोलकम् । कञ्चुकमित्यर्थः । 'चोलः कूर्पासकोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । क्षतानि पुनर्विदीर्णानि नखक्षतानि यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा उत्क्षिपन्ती उन्मोचयन्ती अत एवाविर्भवत्प्रकाशमानं घनपयोधरबाहुमूलं घनौ पयोधरौ बाहुमूले च यस्याः सा शातोदरी । 'नासिकोदर—' (४।१।५५) इत्यादिना ङीप् । युवदृशां क्षणमुत्सवोऽभूत् । एतेन यूनां त्वराचिन्तादिकरमिष्टवस्त्ववलोकननिमित्तं कालाक्षमत्वलक्षणमौत्सुक्यं व्यज्यते । नायिकाभिसारिणी प्रगल्भा वा ।

शरीरमें पसीनेके जलसे विशेषरूपमें सटी हुई चोलीको (रतिकालमें किये गये) नखक्षतको पुनः विदीर्णकर निकालती हुई (अत एव) दिखलाई पड़ते हुए विशालस्तन एवं बाहुमूल (काँख) वाली कृशोदरी युवकके नेत्रोंके लिए क्षणमात्र आनन्दप्रद हो गई अर्थात् उक्तरूपसे चोलीको निकालती हुई कृशोदरीके विशाल स्तनों तथा बाहुमूलोंको देखकर युवक क्षणमात्र सानन्दित हो गये ॥ २३ ॥

यावत्स एव समयः सममेव तावदव्याकुलाः पटमयान्यभितो वितत्य ।
पर्यापतत्क्रयिकलोकमगण्यपण्यपूर्णापणा विपणिनो विपणीर्विभेजुः ॥२४॥

१. 'दूर्वाप्रवाल—' इति पा० ।

यावदिति ॥ विपणो व्यवहारः स एषामस्तीति विपणिनो वणिजो यावत् स एव समयः सेनानिवेशलक्षण एव तावत्क्षण एव समं युगपत् अव्याकुला अव्यग्राः, सन्तः पटमयानि पटविकाराणि । पटमण्डपानीत्यर्थः । अभितो वितत्य उभयतः श्रेण्या वितत्य विस्तीर्य क्रयेण जीवतीति क्रयिकः । 'वस्नक्रयविक्रयात्—' (४।४।१३) इति ठक् । पर्यापतन् परितो धावन् क्रयिकलोकः क्रेतृजनो यस्मिन् कर्मणि तत् अगण्यैरसंख्येयैः पण्यैः पण्यद्रव्यैः पूर्णा आपणाः पण्यप्रसारणस्थानानि यासु ता विपणीः पण्यवीथीः । 'आपणस्तु निषद्यायां विपणिः पण्यवीथिका' इत्यमरः । विभेजुः । असङ्कीर्णं निर्ममुरित्यर्थः । स्वभावोक्त्यनुप्रासौ ।

व्यापारी लोग सेनाके उतरकर स्थिर होने तक जितना समय लगा, उतने समयमें ही दोनों ओर शान्तिके साथ पाल फैलाकर सब ओर से आते हुए ग्राहकोंवाले अगणित सौदोंसे पूर्ण दूकानोंवाले बाजारको लगा दिये ॥ २४ ॥

अल्पप्रयोजनकृतोरुतरप्रयासैरुद्गूर्णलोष्टलगुडैः परितोऽनुविद्धम् ।
[1]उद्यातमुद्द्रुतमनोकहजालमध्यादन्यः शशं गुणमनल्पमवन्नवाप ॥ २५ ॥

अल्पेति ॥ अल्पप्रयोजनेनाल्पफलेन निमित्तेन कृत उरुतरो भूयान्प्रयासो यैस्तैः । अल्पस्यैकस्य शशपिण्डस्य भूयसामकिञ्चित्करत्वादिति भावः । उद्गूर्णा उद्यताः लोष्टानि मृत्खण्डा लगुडाश्च दण्डकाष्ठानि यैस्तैः । पुंभिरिति शेषः । परितोऽनुविद्धमनुरुद्धम् । अनसः शकटस्याकं गतिं घ्नन्तीत्यनोकहा वृक्षास्तेषां जालमध्यादुद्यातमुत्थितम् । उत्पूर्वाद्यातेः कर्तरि क्तः । उद्द्रुतं पलायितं शशं मृगविशेषम् । अन्यः परः अवन् हन्तॄन्निवार्य रक्षन्नल्पं गुणं महान्तमुत्कर्षमवाप । दयालोरनामिषलोलुपस्य सुकीर्तिः सुलभेति भावः । अत्रार्थान्तरं चाहुः । अन्यो गुणं पाशमवन् प्रयुञ्जानः शशमवाप जग्राह । यो हन्ता तस्यैव मृग इति व्याधसमयादिति भावः ।

साधारण लाभ (शशक-मांसप्राप्ति) के लिए बहुत बड़ा प्रयास करनेवाले तथा ढेला, पत्थर और लाठी उठाये हुए लोगोंके द्वारा सब ओरसे घेरे गये एवं वृक्ष-समूहके बीचसे निकले हुए शशक (खरगोश) को बचाता हुआ अर्थात् मारनेवालोंको मनाकर उसकी रक्षा करता हुआ दूसरा सैनिक बहुत गुण (धर्म) को प्राप्त किया (अथवा—दूसरा सैनिक बड़े जालका प्रयोग कर उक्तरूप शशकको प्राप्त किया अर्थात् फँसा लिया । अथवा—उक्तरूप शशकको मारता हुआ (शशकको सेनाके मध्यमें होकर एक भागसे दूसरे भागमें चला जाना अनिष्टकारक होनेसे उसके परिहारके लिए चातुर्यरूप) अधिक गुणको प्राप्त किया) ॥ २५ ॥

त्रासाकुलः परिपतन् परितो निकेतान् पुंभिर्न कैश्चिदपि धन्विभिरन्वबन्धि ।
तस्थौ तथापि न मृगः क्वचिदङ्गनानामाकर्णपूर्णनयनेषु हृतेक्षणश्रीः ॥२६॥

१. 'उद्यन्त—' इति पा० ।

त्रासेति ॥ त्रासाकुलो जनदर्शनाद्भयविह्वलोऽत एव निकेतान्निवेशान् परितः सर्वतः। 'अभितःपरितः—' (वा०) इत्यादिना द्वितीया। परिपतन् धावन् मृगो हरिणः कैश्चिदपि धन्विभिर्धनुष्मद्भिः। 'धन्वी धनुष्मान्धानुष्कः' इत्यमरः। व्रीह्यादित्वादिनिरिति स्वामी। पुंभिर्नान्वबन्धि नानुयातः। बध्नातेः कर्मणि लुङ्। तथाप्यङ्गनानामाकर्णपूर्णा विस्तीर्णा आकृष्टाश्च ये नयनान्येवेषवस्तैर्हृता ईक्षणश्रीर्यस्य सः। अतः क्वचिदपि न तस्थौ। किन्तु वीरविशिखापाताभावेऽप्यङ्गनापाङ्गविशिखपातात्पलायित एवेति भावः। अत्र जनालोकनोत्थभयहेतुकस्य मृगावस्थानस्याङ्गनापाङ्गेषु हृतिहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा। सा च व्यञ्जकाप्रयोगात्प्रतीयमाना। हृतोऽश्च हृतेक्षणश्रीरिति विशेषणगत्योक्तत्वात्काव्यलिङ्गमिति सङ्करः।

(जन-सम्मर्द होनेसे उत्पन्न) भयसे व्याकुल तथा सब ओर से निवास स्थानोंको जाते हुए मृगको यद्यपि किसी धनुर्धर पुरुषने नहीं रोका या फँसाया, तथापि स्त्रियोंके कान तक पहुँचे हुए अर्थात् विशाल नेत्ररूप बाणोंसे नष्ट नेत्रशोभावाला वह मृग कहीं पर भी नहीं ठहरा ॥ २६ ॥

आस्तीर्णतल्परचितावसथः क्षणेन वेश्याजनः कृतनवप्रतिकर्मकाम्यः।
खिन्नानखिन्नमतिरापततो मनुष्यान् प्रत्यग्रहीच्चिरनिविष्ट इवोपचारैः॥२७॥

आस्तीर्णेति ॥ क्षणेनास्तीर्णतल्पं वेश्यावृत्तेः शय्याप्रधानत्वात्प्रागेव सज्जितशय्यं यथा तथा रचितावसथः कल्पितनिकेतः। 'स्थानावसथवासस्तु' च इति कोशः। कृतेन नवप्रतिकर्मणा नूतनेन प्रसाधनेन काम्यः स्पृहणीयोऽखिन्नमतिरश्रान्तचित्तः। अगणिताध्वखेद इत्यर्थः। वेश्याजनः खिन्नानध्वश्रान्तानापतत आगच्छतो मनुष्यान् पुरुषान् चिरनिविष्ट इव तत्रैव नित्यवास्तव्य इवेत्युत्प्रेक्षा। उपचारैः शीताम्बुताम्बूलदानादिसत्कारैः प्रत्यग्रहीत्। वशीचकारेत्यर्थः।

क्षणमात्र (थोड़े समय) में शय्या बिछाकर निवास-स्थानको तैयार की हुई, नये शृङ्गारसे रमणीय (मार्गश्रम होनेपर उसका अनुभव नहीं करनेसे) प्रसन्नचित्त वेश्याओंने (मार्गश्रमादिसे) खेदयुक्त आते हुए मनुष्योंको बहुत दिनोंसे ठहरी हुईके समान (पान-सुपारी आदि देकर किये गये) उपचारों—सेवाओंसे वशमें कर लिया ॥ २७ ॥

सस्नुः पयः पपुरनेनिजुरम्बराणि जक्षुर्बिसं धृतविकासिबिसप्रसूनाः।
सैन्याः श्रियामनुपभोगनिरर्थकत्वदोषप्रवादममृजन्नगनिम्नगानाम् ॥२८॥

सस्नुरिति ॥ सेनायां समेताः सैन्याः सैनिकजनाः। 'सेनायां वा' (४।४।४५) इति ण्यप्रत्ययः। नगनिम्नगानां याः श्रियः समृद्धयस्तासामनुपभोग उपभोगाभावः। क्वचित्प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञ्समास इष्यते। यथाऽदर्शनमश्रवणमनुच्चारणमनुपलब्धिरभाव इत्यादि। तेन यन्निरर्थकत्वं निष्फलत्वं तदेव दोषस्तेन यः प्रवादो निन्दा तममृजन्नमार्जन्। 'मृजुष् शुद्धौ' अदादित्वाल्लङि शपो लुक्। 'मृजेरजादौ

क्ङिति विभाषा वृद्धिर्वक्तव्ये'ति विकल्पाद्वृद्ध्यभावः । मार्जनप्रकारमाह—सस्नुः स्नानं चक्रुः । पयः पानीयं पपुः । 'ष्णा शौचे', 'वा पाने' लिट् । अम्बराण्यनेनिजुरक्षालयन् । 'णिजिर् शौचे' । जुहोत्यादित्वाल्लङि 'श्लौ' (६।१।१०) इति द्विर्भावः । 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' (६।४।१०९) इति झेर्जुसादेशः । 'णिजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इत्यभ्यासस्य गुणः । घृतानि विकासिबिसप्रसूनानि विकसितपुष्कराणि यैस्ते । 'बिसप्रसूनराजीवपुष्कराम्भोरुहाणि च' इत्यमरः । बिसं मृणालं जक्षुर्भक्षयाञ्चक्रुः । घसेर्लिटि 'गमहन—' (६।४।९८) इत्यादिना उपधालोपे चुर्त्वे—'शासिवसिघसीनां च' (८।३।६०) इति षत्वम् । स्नानाद्युपभोगेनोक्तनैरर्थ्यं निराचक्रुरित्यर्थः । अत्र दोषमार्जनस्य स्नानादिना कृतत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । स्नानादिक्रियासमुच्चयस्त्वङ्गमस्येति सङ्करः ।

सैनिकोंने स्नान किया, पानी पिया, कपड़ेको धोया तथा खिले हुए कमलोंको ग्रहण किये हुए उन सैनिकोंने मृणालदण्डों को खाया; इस प्रकार नदियोंकी सम्पत्तिका भोग नहीं होनेसे वे सम्पत्तियां निरर्थक हैं, इस लोक-निन्दारूप दोषको उन्होंने दूर कर दिया ॥ २८ ॥

[1]नाभिह्रदैः परिगृहीतरयाणि [2]निम्नैः स्त्रीणां बृहज्जघनसेतुनिवारितानि ।
जग्मुर्जलानि [3]जलमड्डुकवाद्यवल्गुवल्गद्घनस्तनतटस्खलितानि मन्दम् ॥

नाभीति ॥ स्त्रीणां निम्नैर्गम्भीरैर्नाभिभिरेव ह्रदैः परिगृहीतरयाणि प्रतिषिद्धवेगानि बृहद्भिर्जघनैरेव सेतुभिर्निवारितानि । प्रतिहतगतिकानीत्यर्थः । 'पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः' इत्यमरः । जलमेव मड्डुकवाद्यं वाद्यविशेषः बालकेन पाणिनोत्थापितमपरेण ताडितं मड्डुकवद् ध्वनतीति प्रसिद्धम् । तेन वल्गु सुन्दरं यथा तथा वल्गद्भिश्चलैर्घनैः स्तनतटैः स्खलितानि स्खलनं गतानि गमितानि वा जलानि पूर्वोक्तनगनिम्नगासलिलानि मन्दं जग्मुः । अत्र जलमन्दगमनस्य विशेषणगत्या रयप्रतिबन्धादिपदार्थहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गम् ।

स्त्रियोंके गहरी नाभिरूपी ह्रदों (में प्रविष्ट होकर बहने) से रुके हुए वेगवाले, मोटी-मोटी जंघारूपी पुलोंसे रोके गये तथा जलमें जो मण्डूक बाजाके समान अतिशय शब्द करते हुए तथा स्तनप्रान्तसे स्खलित होते हुए पानी धीरे-धीरे बहते थे ।

विमर्श—जब नदियोंमें जलक्रीडा करने के लिये स्त्रियोंने प्रवेश किया, तब उनकी ह्रदके समान गहरी नाभियोंमें प्रविष्ट होकर बहनेसे पानीका वेग मन्द पड़ गया तथा उन स्त्रियों की पुलके खम्भे बांधके समान मोटी-मोटी जंघाओंसे पानी पीछेकी ओर घूमकर बहने लगा और क्रीडार्थ एक हथेलीमें पानी लेकर दूसरी हथेलीसे मारनेपर होनेवाले शब्दके समान स्तनप्रान्त से स्खलित होनेसे शब्द करता हुआ पानी धीरे-धीरे बहने लगा ॥ २९ ॥

---

१. 'नाभीह्रदैः' इति पा० । २. 'यत्र' इति पा० । ३. 'जलमण्डुक—' इति पा० ।

आलोलपुष्करमुखोल्लसितैरभीक्ष्णमुक्षाम्बभूवुरभितो वपुरम्बुवर्षैः ।
खेदायतश्वसितवेगनिरस्तमुग्धमूर्धन्यरत्ननिकरैरिव हास्तिकानि ॥ ३० ॥

आलोलेति ॥ हस्तिनां समूहा हास्तिकानि । 'अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्' (४।२।२७) आलोलानि यानि पुष्कराणि हस्ताग्राणि । 'पुष्करं करिहस्ताग्रे' इत्यमरः । तेषां मुखे रन्ध्रैरुल्लसितान्युत्क्षिप्तानि तैरम्बुवर्षैः खेदेनाध्वश्रमेणायतेन द्राघीयसा श्वसितस्योच्छ्वासमारुतस्य वेगेन निरस्ता बहिरुत्क्षिप्ता ये मुग्धाः सुन्दरा मूर्धन्या मूर्धनि भवाः । 'शरीरावयवाच्च' (४।३।५५) इति यत्प्रत्ययः । 'ये चाभावकर्मणोः' (६।१।१६८) इति प्रकृतिभावात् 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) इति टिलोपाभावः । रत्ननिकरा मुक्ताफलप्रकरास्तैरिवेत्युत्प्रेक्षा । वपुरभीक्ष्णमुक्षाम्बभूवुः सिषिचुः । 'उक्ष सेचने' 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (३।१।३६) इत्याम्प्रत्ययः । 'गजेन्द्रजीमूतवराहशङ्खमत्स्याहिशुक्त्युद्भववेणुजानि । मुक्ताफलानि प्रथितानि लोके तेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि ॥' इति गजानां मुक्ताकरत्वे प्रमाणम् ।

(अब सेनाके हाथियोंका वर्णन आरम्भ करते हैं)—हाथियोंके झुण्डोंने चञ्चल सूंडोंके अग्रभागसे ऊपर फेंके गये जल के फौव्वारोंसे (अपनेको) सब तरफसे बार-बार सिक्त कर लिया, फौव्वारे निकले हुए वे जल-कण (मार्गजन्य) थकावटसे (लिये जाते हुए) दीर्घ श्वासोंके वेगोंसे निकले हुए मनोहर मस्तकस्थ गजमुक्ताओंके समूहके समान प्रतीत होते थे ॥ ३० ॥

ये पक्षिणः प्रथममम्बुनिधिं गतास्ते येऽपीन्द्रपाणितुलितायुधलूनपक्षाः ।
ते जग्मुरद्रिपतयः सरसीर्विगाढुमाक्षिप्तकेतुकुथसैन्यगजच्छलेन ॥ ३१ ॥

य इति ॥ ये पक्षिणः पक्षवन्तः । इन्द्रेणाच्छिन्नपक्षा इत्यर्थः । संसर्गे इनिप्रत्ययः । येऽद्रिपतयो मैनाकादयः प्रथममम्बुनिधिं गताः प्रविष्टाः । येऽपि । ये ये इत्यर्थः । इन्द्रस्य पाणिना तुलितेन प्रेरितेनायुधेन वज्रेण लूनपक्षाश्छिन्नगरुतस्तेऽद्रिपतय आक्षिप्ता अपनीताः केतवो ध्वजाः कुथाः, पृष्ठास्तरणानि च येषाम् । 'प्रवेण्यास्तरणं वर्णः परिस्तोमः कुथो द्वयोः' इत्यमरः । तेषां सैन्यगजानां छलेन सरसीर्विगाढुं विगाहितुम् । 'स्वरतिसूति–' (७।२।४४) इति विकल्पान्नेडागमः । जग्मुः । अत्र गजच्छलेनेति छलशब्देन गजत्वमपह्नुत्याद्रित्वारोपणाच्छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादनरूपोऽपह्नवालङ्कारः । तेन पक्षवतामद्रीणां सागरावगाहनदर्शनान्मत्सराद् स्वयमपि सलिलमवगाहमानाः साक्षाल्लूनपक्षाः पर्वता इवेत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते ।

(मैनाक आदि) जो पर्वत) पङ्खयुक्त थे, वे (इन्द्रके द्वारा पङ्खोंके काटे जानेके) पहले समुद्रको चले गये और इन्द्रके हाथमें स्थित वज्रायुधसे काटे गये पङ्खोंवाले जो-जो बड़े-बड़े पर्वत थे, वे पृथक् किये (उतारे) गये पताका तथा झूलवाले सेनाके हाथियोंके कपटसे स्नान करनेके लिए नदियोंको प्राप्त किये ।

विमर्श—जो पङ्खवाले पर्वत थे, वे तो इन्द्रके डरसे पहले ही समुद्रमें चले गये और जो इन्द्रके वज्रसे काटे गये पङ्खवाले थे, वे ही पर्वत पङ्खरूप पताका तथा झूलसे रहित होकर सेनाके हाथियोंके बहानेसे नदियोंमें अवगाहन करनेके लिए गये। इससे सैनिकहाथियोंका पर्वतके समान विशालकाय होना सूचित होता है ॥ ३१ ॥

आत्मानमेव जलधेः प्रतिबिम्बिताङ्गमूर्मौ महत्यभिमुखापतितं [१]निरीक्ष्य।
क्रोधादधावदपभीर[२]भिहन्तुमन्यनागाभियुक्त इव युक्तमहो महेभः ॥३२॥

आत्मानमिति ॥ महेभो जलधेर्जलाशयस्य महत्यूर्मौ प्रतिबिम्बितमङ्गं यस्य तमभिमुखापतितमभिमुखमागतमात्मानमेव। आत्मप्रतिबिम्बमेवेत्यर्थः। निरीक्ष्यान्यनागेन प्रतिगजेनाभियुक्तोऽभिद्रुत इवातिपूर्णमपभीर्निर्भीकः सन् क्रोधादधावत्। अहो इति मौढ्येन विस्मयः। तच्च युक्तं महेभस्येति भावः। अभियुक्त इवेत्युत्प्रेक्षायाः प्रतिगजभ्रान्तिनिबन्धनत्वाद्भ्रान्तिमदुत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः।

जलाशयके तरङ्गमें प्रतिबिम्बित शरीरवाले सामने पड़े हुए अपने (प्रतिबिम्ब) को ही देखकर मानो दूसरे हाथीसे आक्रान्तके समान गजराज निर्भय हो (अपने प्रतिबिम्बको) मारनेके लिए क्रोधसे दौड़ा, अहो! उसकी मूर्खता आश्चर्यजनक है, परन्तु गजराजके लिए यह उचित ही है (क्योंकि वह विशालकाय होनेसे बलवान् अत एव निर्भय था (अथवा—महामूढ था) तब दूसरे आक्रान्ताको जानकर भी शान्त कैसे रहता?) ॥ ३२ ॥

नादातुमन्यकरिमुक्तमदाम्बुतिक्तं धूताङ्कुशेन न विहातुमपीच्छताम्भः।
रुद्धे गजेन सरितः सरुषावतारे रिक्तोदपात्रकरमास्त चिरं जनौघः ॥३३॥

नेति ॥ अन्यकरिणा प्रतिगजेन मुक्तेन मदाम्बुना तिक्तं सुरभिः। 'कटुतिक्तकषायास्तु सौरभ्येऽपि प्रकीर्तिताः' इति केशवः। अम्भ आदातुं ग्रहीतुं नेच्छता विहातुं त्यक्तुमपि नेच्छता अनिच्छता। क्रोधपिपासाभ्यामिति भावः। धूताङ्कुशेन सरुषा सक्रोधेन गजेन नगसरितोऽवतारे तीर्थे रुद्धे सति जनौघः रिक्तान्युदपात्राणि येषु ते करा यस्मिस्तद्यथा तथा चिरमास्त अतिष्ठत्। 'आस उपवेशने' लङ्। 'एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम्' (६।३।५९) इत्युदकशब्दस्योदादेशः।

दूसरे हाथियोंसे (जलमें) छोड़े गये मदजलसे-तीता (दानजलके गन्धसे युक्त होनेसे) पानीको लेने तथा (जलक्रीडा करना एवं पानी पीना इष्ट होनेसे) छोड़नेकी भी इच्छा नहीं करते हुए तथा अङ्कुश (के प्रहार) की परवाह नहीं करनेवाले क्रोधयुक्त हाथीसे नदीके तटपर रुक जानेपर (नदीसे जल भरनेवाले) लोग हाथमें खाली जलपात्र लिये देरतक ठहरे रह गये ॥ ३३ ॥

पन्थानमाशु विजहीहि पुरः स्तनौ ते पश्यन् प्रतिद्विरदकुम्भविशङ्किचेताः।
स्तम्बेरमः परिणिनंसुरसावुपैति षिड्गैरगद्यत ससंभ्रममेव[३] काचित् ॥

१. 'गजेन' इति पा०। २. —'रतितूर्णमन्य—' इति पा०। ३. '—मेवमेका' इति पा०।

पन्थानमिति ॥ पन्थानमाशु विजहीति । 'ओहाक् त्यागे' लोटि सेर्ह्यादेशः । 'आ च हौ' (६।४।११७) इति विकल्पादीकारादेशः । पुरोऽग्रे ते स्तनौ पश्यन् प्रतिद्विरदस्य कुम्भौ विशङ्कत इति तद्विशङ्कि चेतो यस्य सः । कुम्भभ्रान्तिमानित्यर्थः । अत एव भ्रान्तिमदलङ्कारः । स्तम्बे तृणे रमत इति स्तम्बेरमः । 'इभः स्तम्बेरमः पद्मी' इत्यमरः 'स्तम्बकर्णयो रमिजपोः' (३।२।१३) इत्यच् प्रत्ययः । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (६।३।१४) इत्यलुक् । परिणन्तुं तिर्यक्प्रहर्तुमिच्छुः परिणिनंसुः । नमेः सन्नन्तादुप्रत्ययः 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' (७।२।१०) इतीट्प्रतिनिपातयोर्लट् (३।३।४) इति भविष्यदर्थे लट् । षिड्गैर्विटैः । 'षिड्गः पाल्लविको विटः' इति कोशः । काचिदेवमुक्तरीत्या ससंभ्रमं ससत्वरमगद्यत गदिता ।

रास्तेको जल्दी छोड़ो, (क्योंकि) सामने तुम्हारे दोनों स्तनोंको देखकर प्रतिद्वन्द्वी हाथीके कुम्भोंको समझनेवाला हाथी दाँतसे तिर्छा प्रहार करनेके लिए पासमें आ रहा है, इस प्रकार किसी स्त्रीसे विटने सम्भ्रमपूर्वक (शीघ्रताके साथ) कहा ॥ ३४ ॥

कीर्णं शनैरनुकपोलमनेकपानां हस्तैर्विगाढमदतापरुजः शमाय ।
आकर्णमुल्लसितमम्बु विकासिकाशनीकाशमाप समतां सितचामरस्य ॥३५॥

कीर्णमिति ॥ अनेकपानां द्विपानां विगाढः प्ररूढो यो मदेन तापः स एव रुक् रोगस्तस्या रुजः शमाय शनैर्मन्दं हस्तैरनुकपोलं कपोलयोः कीर्णं क्षिप्तम् । आकर्णं कर्णपर्यन्तम् । 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' (२।१।१३) इत्यव्ययीभावः । उल्लसितमुत्पतितं विकासि यत् काशं काशकुसुमं तेन सदृशं काशनीकाशम् । नित्यसमासत्वादस्वपदविग्रहः । अत एव 'स्युरुत्तरपदे त्वमी । निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः' इत्यमरः । अम्बु पानीयं सितचामरस्य समतां सादृश्यमाप । 'तुल्यार्थैः—' इत्यादिना षष्ठी । उपमालङ्कारः ।

हाथियोंके बढ़े हुए मदसे उत्पन्न सन्तापसे होनेवाली पीड़ाकी शान्तिके लिए सूँड़ोंसे कपोल मण्डलसे धीरे-धीरे छोड़ा गया अतएव कान तक उछला हुआ तथा विकसित कास (तृणविशेष) के समान शुभ्र पानी श्वेत चामर की समताको प्राप्त किया अर्थात् हाथीके ऊपर लगाये गये श्वेत चामरके समान शोभित हुआ ॥ ३५ ॥

गण्डूषमुज्झितवता पयसः सरोषं नागेन लब्धपरवारणमारुतेन ।
अम्भोधिरोधसि पृथुप्रतिमानभागरुद्धोरुदन्तमुसलप्रसरं निपेते ॥ ३६ ॥

गण्डूषमिति । लब्धः परवारणस्य प्रतिगजस्य मारुतो मदगन्धवाहो येन तेन, अत एव सरोषं यथा तथा पयसः पानीयस्य गण्डूषं मुखपूरणम् । मुखान्तर्गतं पय इत्यर्थः । 'गण्डूषो मुखपूरणः' इति हलायुधः । द्विलिङ्गत्वेऽपि पुंल्लिगमेवाह वामनो लिङ्गाव्याहारावित्यत्र । उज्झितवता त्यक्तवता नागेन गजेन । 'मतङ्गजो गजो

नागः' इत्यमरः । अम्भोधिरोधसि सागरतीरे । 'दन्तयोरुभयोर्मध्यं प्रतिमानमिति स्मृतम्' । पृथुना प्रतिमानभागेन रुद्धः प्रतिबद्धः उरू दन्तौ मुसलाविव तयोः प्रसरः प्रसारो यस्मिन् कर्मणि तत् । 'अयोग्रो मुसलोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः । निपेते निपतितम् । भावे लिट् । क्रोधवेगादलब्धरोधाः प्रहृत्य पारवश्यात् स्वयं चाधोमुखः पपातेत्यर्थः । क्रोधान्धाः किं न कुर्वन्तीति भावः ।

दूसरे हाथीके (मदजलकी) हवा (गन्ध) को पाया हुआ, (अत एव) सूंडमें लिये हुए जलको रोषपूर्वक छोड़नेवाला हाथी, जलाशयके किनारेपर स्थूल दोनों दांतोंके मध्यभागसे रोके हुए विशाल मुसलाकार दांतोंके प्रहारवाला होकर स्वयं गिर पड़ा ॥ ३६ ॥

दानं ददत्यपि [1]जलैः सहसाधिरूढे को विद्यमानगतिरासितुमुत्सहेत ।
यद्दन्तिनः कटकटाहतटान्मिमङ्क्षोर्मङ्क्षूदपाति परितः पटलैरलीनाम् ॥ ३७ ॥

दानमिति ॥ दीयत इति दानं धनं मदश्च । 'दानं गजमदे त्यागे' इति विश्वः । तद्ददति वितरत्यपि । दातर्यपीत्यर्थः । सहसा अकस्मात् । स्वरादित्वादव्ययत्वमिति शाकटायनः । जलैर्जडैर्नीरैश्च । 'जलं गोकलले नीरे ह्रीवेरे च जडेऽन्यवत्' इति विश्वः । अधिरूढे आक्रान्ते सति विद्यमानगतिः गत्यन्तरवान् समर्थश्च कः पुमाना-सितुं तत्र स्थातुमुत्सहेत । न कोऽपीत्यर्थः । 'शकधृष–' (३।४।६५) इत्यादिना तुमुन् । यस्मान्मिमङ्क्षोर्मङ्क्तुमिच्छोः । मज्जेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । दन्तिनः कटो गण्डः स कटाहः खर्पर इव । 'कटाहः खर्परस्तुपः' इति वैजयन्ती । तस्य तटात्प्रदेशादलीनां पटलैः परितो मङ्क्षु द्राक् । 'द्राङ्मङ्क्षु सपदि द्रुतम्' इत्यमरः । उदपाति उत्पति-तम् । भावे लुङ् 'चिण् भावकर्मणोः' (३।१।६६) इति चिण् 'चिणो लुक्' (६।२।१०४) । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।

दान (मदजल, पक्षा०—धन) को देते रहनेपर भी मूर्खों (पक्षा०—पानी) से सहसा आक्रान्त होने पर अन्यत्र जा सकनेवाला (समर्थ) कौन पुरुष ठहरनेका उत्साह करेगा अर्थात् ठहरेगा ? (कोई नहीं अत एव पानीमें) डूबनेकी इच्छा करनेवाले हाथीके कड़ाहके समान (विशाल तथा काले) कपोल प्रान्तसे भ्रमरोंकी श्रेणि शीघ्र चारो ओर उड़ गयी ॥ ३७ ॥

अन्तर्जलौघमवगाढवतः कपोलौ हित्वा क्षणं विततपक्षतिरन्त[2]रीक्षे ।
द्रव्याश्रयेष्वपि गुणेषु रराज नीलो वर्णः पृथग्गत इवालिगणो गजस्य ॥ ३८ ॥

अन्तरिति ॥ जलौघे अन्तरित्यन्तर्जलौघम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अथवा जलौघंजलपूरमन्तरभ्यन्तरेऽवगाढवतःप्रविष्टवतः । गाहेर्निष्ठाक्तवतुप्रत्ययः । ढत्वष्टुत्व-डलोपाः गजस्य कपोलौ हित्वा क्षणमन्तरीक्षे उपर्याकाशे विततपक्षतिर्विस्तृतपक्ष-मूलः । आमूलाद्विततपक्ष इत्यर्थः । 'स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्' इत्यमरः । 'पक्षात्तिः'

१. 'जडैः' इति पा० । २. '—रन्तरिक्षे' इति पा० ।

(५।२।२५) इति तिप्रत्ययः। अलिगणो भ्रमरसङ्घो गुणेषु रूपादिषु द्रव्यमाश्रयो येषां तेषु द्रव्याश्रयेष्वपि अयुतसिद्धत्वात्, द्रव्यसमवेतत्वाच्च । द्रव्याधीनसत्ताकेषु सत्स्वपीत्यर्थः । पृथग्गतः जलमज्जनभयात् स्वाश्रयपरिहारेण स्थितो नीलो वर्णो नीलरूपं गजस्य नीलिमेव रराज। 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इत्यमरः। अत्रालिगणे सादृश्याद्गजनीलत्वाश्रयादन्यत उपलब्धिनिर्वाहाय पृथक् स्थितिविशिष्टत्वमुत्प्रेक्ष्यते।

जलके भीतर प्रविष्ट हाथीके दोनों कपोलोंको छोड़कर क्षणमात्र पङ्कमूलोंको फैलाया हुआ (श्यामवर्ण) भ्रमरसमूह ऐसा प्रतीत होता था कि मानो (नीलिमा—शुभ्रता आदि) गुणोंके द्रव्याश्रित रहने पर भी हाथीका नीलवर्ण पृथक् होकर स्थित हो ॥ ३८ ॥

संसर्पिभिः पयसि गैरिकरेणुरागैरम्भोजगर्भरजसाङ्गनिषङ्गिणा च।
क्रीडोपभोगमनुभूय सरिन्महेभावन्योन्यवस्त्रपरिवर्तमिव व्यधत्ताम् ॥३९॥

संसर्पिभिरिति ॥ सरिच्च महेभश्च सरिन्महेभौ पयसि संसर्पिभिः गजात्सरिज्जले विसृत्वरैः गैरिकरेणवो धातव एव रागास्तैः। करणे घञ्। अङ्गनिषङ्गिणा गजाङ्गसङ्गिना अम्भोजगर्भरजसा पद्मान्तःपरागेण च निमित्तेन क्रीडया लीलया उपभोगं सम्भोगमनुभूयान्योन्यं मिथो वस्त्रयोः परिवर्तं विनिमयं व्यधत्तामकुरुतामिव। दधातेर्लङि परस्मैपदे तसस्तामादेशः । अत्र सरिन्महेभयोः प्रतीयमाननायिकादेरभेदाध्यवसायेन वस्त्रविनिमयोत्प्रेक्षा।

(जलमें प्रविष्ट हाथीके शरीर से छूटकर) पानीमें फैले हुए गेरूकी धूलिकी लालिमासे तथा (नदीमें हाथीके) शरीरमें लगे हुए कमलके भीतरी पराग (कमल—केसर) से (ऐसा ज्ञात होता था कि क्रमशः नायिका तथा नायकरूप) नदी तथा हाथी क्रीडापूर्वक सम्भोग कर आपसमें वस्त्रपरिवर्तन कर लिये हैं अर्थात् सम्भोग करनेके उपरान्त शीघ्रतावश नायिकारूपिणी नदीके कमलपरागरूपी वस्त्रको हाथीने और हाथीके गैरिकपरागरूपी लाल वस्त्रको नदीने धारण कर लिया है ॥ ३९ ॥

यां चन्द्रकैर्मदजलस्य महानदीनां नेत्रश्रियं विकसतो विदधुर्गजेन्द्राः।
तां प्रत्यवापुरविलम्बितमुत्तरन्तो धौताङ्गलग्ननवनीलपयोजपत्रैः ॥ ४० ॥

यामिति ॥ गजेन्द्राः विकसतः समन्तात्पयसि तैलबिन्दुवत्प्रसरतो मदजलस्य चन्द्रकैश्चन्द्राकारैर्मण्डलैर्महानदीनां यां नेत्रश्रियं विदधुः चक्रुस्तां नेत्रश्रियमुत्तरन्तो चन्द्रान्निर्गच्छन्तो धौतेषु क्षालितेष्वङ्गेषु लग्नैः सक्तैर्नवनीलपयोजपत्रैर्नवनीलोत्पलदलैरविलम्बितं विप्रमेव प्रत्यवापुः प्रतिभेजिरे । अत्र गजानां नदीनां च समनेत्रश्रीविनिमयोक्त्या समपरिवृत्तिरलङ्कारः। 'समन्यूनाधिकानां च यदा विनिमयो भवेत्। साकं समाधिकन्यूनैः परिवृत्तिरसौ मता ॥' इति लक्षणात्।

हाथियोंने (पानीमें तेलकी बूंदके समान) फैलते हुए मदजलके जिन चन्द्रकों (चन्द्रवत् गोलाकार चिह्नों) से नदियोंकी जिस नेत्रश्रीको उत्पन्न किया, (जलसे) बाहर निकलते

हुए उन हाथियोंने धुले हुए शरीरमें सटे हुए नीलकमलके पत्रों (पंखुड़ियों) के द्वारा उस (नेत्रश्री) को मानो नदीसे शीघ्र ही बदलेमें प्राप्त कर लिया अर्थात् हाथियोंने जो अपने मदजलके चन्द्रकोंसे नदियोंको नेत्रश्री समर्पित की, नदियोंने भी हाथीके गीले शरीरमें सटे हुए नीलकमलकी पंखुड़ियोंसे उस नेत्रश्रीको बदलेमें तत्काल प्रत्यर्पित कर दिया ॥ ४० ॥

प्रत्यन्यदन्ति निशिताङ्कुशदूरभिन्ननिर्याणनिर्यदसृजं चलितं निषादी ।
रोद्धुम् महेभमपरिव्रढिमानमागादाक्रांतितो न वशमेति महान् परस्य ॥

प्रतीति । अन्यदन्तिनं प्रति प्रत्यन्यदन्ति । प्रतिगजाभिमुखमित्यर्थः । 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' (२।१।१४) इत्यव्ययीभावः । चलितं धावन्तमत एव निशितेनाङ्कुशेन दूरं गाढं यथा तथा भिन्नं यन्निर्याणमपाङ्गदेशः । 'अपाङ्गदेशो निर्याणम्' इत्यमरः । तस्मान्निर्यत् निःसरदसृक् यस्य तं महेभं रोद्धुं ग्रहीतुं निषादी यन्ता परिवृंहते प्रभवतीति परिवृढः प्रभुः । वृंहतेर्वृहेर्वा कर्तरि क्तप्रत्यये 'प्रभौ परिवृढः' (७।२।२१) इति नकारहकारयोर्लोपः निष्ठातकारस्य ढत्वं च निपात्यते । अन्यथा ढलोपस्य सर्वत्रासिद्धेरिष्ठन्नादिषु 'र ऋतो हलादेर्लघोः' (६।४।१६१) इति रेफादेशो न स्यात् । तस्मादिमनिचि रेफादेशे परिव्रढिमा ततो नञ्समासः । तमपरिव्रढिमानमसामर्थ्यमागात्प्राप । 'इणो गा लुङि' (२।४।४५) इति गादेशः । तथा हि—महान् बलवान् आक्रान्तितो बलात्कारात् परस्य वशं नैति । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।

कोई महावत (हाथीवान्) दूसरे हाथीके प्रति (लड़नेके लिए) आगे बढ़े हुए तथा तीक्ष्णाग्र अङ्कुशसे बहुत भीतर तक छिदे हुए नेत्र-प्रान्तसे बहते हुए रक्तवाले गजराजको वशीभूत करने (रोकने) में समर्थ नहीं हुआ, क्योंकि बलवान् बलात्कारसे दूसरेके वशमें नहीं आता है ॥ ४१ ॥

सेव्योऽपि सानुनयमाकलनाय यन्त्रा नीतेन वन्यकरिदानकृताधिवासः ।
नाभाजि केवलमभाजि गजेन शाखी नान्यस्य गन्धमपि मानभृतः सहन्ते ॥

सेव्य इति । यन्त्रा निषादिना आकलनाय बन्धनाय सानुनयं ससान्त्वं नीतेन समीपं प्रापितेन गजेन वन्यगजदानैः कृतोऽधिवासो वासना यस्य सः । तद्गन्धीत्यर्थः । शाखी वृक्षः । व्रीह्यादित्वाण्णिनिः । सेव्योऽपि सन्नाभाजि नासेवि । 'भज सेवायाम्' कर्मणि लुङि चिणो लुग्वृद्धिश्च । किन्तु केवलमभाजि । अभञ्जीत्यर्थः । 'भञ्जो आमर्दने' । 'भञ्जेश्च चिणि' (६।४।३२) इति विभाषा नलोपः । शेषं पूर्ववत् । तथा हि—मानभृतोऽहङ्कारिणोऽन्यस्य गन्धमपि न सहन्ते । परं किमुतेति भावः । अतो वृक्षभञ्जनं गजस्य युक्तमेवेत्यर्थः । पूर्ववदलङ्कारः ।

हाथीवान्के द्वारा प्रेमपूर्वक (पुचकार-पुचकारकर) बांधनेके लिए लाये गये हाथीने सेवन करने (ठहरने) योग्य होनेपर भी, वनैले हाथीके मदजलके गन्धयुक्त वृक्षका आश्रय

नहीं किया अर्थात् वृक्षके नीचे नहीं ठहरा, किन्तु उस वृक्षको तोड़ (या—उखाड़) दिया, क्योंकि मानी लोग दूसरेके अर्थात् शत्रुके गन्ध (नामो-निशान) को भी नहीं सहते हैं (तो फिर उनके साथ रहने एवं विहारादि करनेकी क्या बात है) ॥ ४२ ॥

अद्रीन्द्रकुञ्जचरकुञ्जरगण्डकाषसंक्रान्तदानपयसो वनपादपस्य ।
सेनागजेन मथितस्य निजप्रसूनैर्मम्ले यथागतमगामि कुलैरलीनाम् ॥४३॥

अद्रीन्द्रेति ॥ अन्द्रीन्द्रस्य रैवतकस्य कुञ्जेषु चरति यस्तस्य कुञ्जचरस्य गण्डकाषेण कपोलसङ्घर्षणेन संक्रान्तं दानपयो मदाम्बु यस्य तस्यात एव सेनागजेन मथितस्य भग्नस्य वनपादपस्य निजैरात्मीयैः प्रसूनैः पुष्पैः । 'निजमात्मीयनित्ययोः' इति वैजयन्ती । मम्ले म्लानम् । म्लायतेर्भावे लिट् । अलीनां कुलैस्तु यथागतमगामि गतम् । आगतक्रमेणैव गतं न तु म्लानमित्यर्थः । 'आपद्यात्मीयानात्मीययोर्भेदः' इति भावः । गमेर्गत्यर्थस्याकर्मकत्वविवक्षणाद्भावे लुङ् । इभवनपादपादीनां विशेषण-साम्यादापन्नाद्यौपम्यप्रतीतेः कथंचित्समासोक्तिरुन्नेया ।

पर्वतराज (रैवतक) के कुञ्जोंमें घूमनेवाले हाथीके कपोल-मण्डलके खुजलाने (रगड़ने) से लगे हुए दानजलवाले, (अत एव वहाँ प्रतिद्वन्द्वी गजके गन्धसे होनेसे) सेनाके हाथीद्वारा तोड़े गये जङ्गली पेड़के फूल मलिन हो गये (कुम्हला गये—परागहीन हो गये), इस कारण भ्रमर-समूह जैसे आये वैसे वापस चले गये अर्थात् पुष्पोंमें पराग नहीं होनेसे वहाँ पर विना रुके ही लौट गये ॥ ४३ ॥

नोच्चैर्यदा तरुतलेषु ममुस्तदानीमाधोरणैरभिहिताः पृथुमूलशाखाः ।
बन्धाय चिच्छिदुरिभास्तरसात्मनैव नैवात्मनीनमथवा क्रियते मदान्धैः ॥

नेति ॥ इभा यदा उच्चैरुन्नतेषु तरुतलेषु न ममुर्नावर्तन्तं तदानीमाधोरणैर्नि-यन्तृभिरभिहिता इमांश्छिन्तेत्युपदिष्टाः पृथुमूलशाखाः बन्धाय स्वबन्धनायैव तरसा बलेनात्मना स्वयमेव चिच्छिदुः । न चैतद्युक्तमिति भावः । यद्वा मूढानां युक्तमेवे-त्याह—अथवेति । अथवा मदान्धैरात्मनीनमात्मने हितं न क्रियत एव । आत्मन्विश्व-जनभोगोत्तरपदात्खः' (५।१।९) इति खप्रत्ययः । 'आत्माध्वानौ खे' (६।४।१६९) इति प्रकृतिभावात् 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) इति टिलोपो न । पूर्ववदर्थान्तरन्यासः ।

जब (बड़े होनेके कारण) हाथी पेड़ोंके नीचे नहीं समा सके, तब महावतोंसे संकेतित वे हाथी अपने बाँधे जानेके लिए जो मोटी-मोटी जड़वाली डालियाँ थीं, उन्हें स्वयमेव तोड़ डाले, अथवा मदसे अन्धे लोग अपने हितकर कार्य नहीं करते ॥ ४४ ॥

उष्णोष्णशीकरसृजः प्रबलोष्मणोऽन्तरुत्फुल्लनीलनलिनोदरतुल्यभासः ।
एकान् विशालशिरसो हरिचन्दनेषु नागान् बबन्धुरपरान्मनुजा निरासुः ॥

उष्णोष्णेति ॥ मनुजा नरा उष्णोष्णा उष्णप्रकाराः । 'प्रकारे गुणवचनस्य' (८।१।१२) इति द्विर्वचनम् । कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक् । तान् शीकरान् सृजन्ति

मुञ्चन्तीति तथोक्तान् क्विप् । अन्तः प्रबलोष्माणः प्रवृद्धतापान् । उत्फुल्लं विकचम् । 'उत्फुल्लसम्फुल्लयोरुपसख्यानम्' (वा०) इत्युपसर्गेऽपि फुल्लेर्निष्ठानत्वम् । तस्य नीलनलिनस्य नीलोत्पलस्योदरेण तुल्यभासः समानकान्तीन् । कृष्णवर्णानित्यर्थः । विशालशिरसो विपुलमस्तकानेकान् कतिचिन्नागान् । गजानित्यर्थः । हरिचन्दनेषु चन्दनविशेषेषु । 'तैलपर्णिकगोशीर्षे हरिचन्दनमस्त्रियाम्' इत्यमरः । ववन्धुः । अपरान्नागानहीनित्यर्थः । 'दुष्टाभ्राहिगजा नागाः' इत्युभयत्राणि वैजयन्ती । निरासुर्निष्कासयामासुः । अस्यतेर्लिट् । अत्रोभयेषामपि नागानां प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतश्लेषः ।

मनुष्यों अर्थात् महावतोंने अत्युष्ण जल–कणोंको फेंकनेवाले, भीतरमें अधिक उष्णता (गर्मी) वाले, खिले, हुए नीलकमलके भीतरी हिस्सेके समान कान्तिवाले अर्थात् अत्यन्त काले और बड़े मस्तकोंवाले कुछ नागों (हाथियों) को श्रेष्ठ चन्दनके वृक्षोंमें बाँधा तथा दूसरे नागों (सर्पोंको, चन्दन वृक्षोंसे) को दूर हटाया ॥ ४५ ॥

कण्डूयतः कटभुवं करिणा मदेन स्कन्धं सुगन्धिमनुलीनवता नगस्य ।
स्थूलेन्द्रनीलशकलावलिकोमलेन कण्ठेगुणत्वमलिनां वलयेन भेजे ॥४६॥

कण्डूयत इति ॥ कटभुवं गण्डस्थलं कण्डूयतः कषतः । 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' (३।१।२७) ततः शतृप्रत्ययः । कण्डूयतेर्त्रिद्धातुप्रकृतित्वादुभयपदित्वम् । करिणो मदेन सुगन्धि शोभनगन्धम् । गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणं नाद्रियन्ते कवयः । नगस्य वृक्षस्य स्कन्धं प्रकाण्डम् । अनुलीनवता । तत्र संश्लिष्टेनेत्यर्थः । लीयतेर्निष्ठेति क्तवतु वृक्षस्य स्कन्धं प्रकाण्डम् । अनुलीनवता । तत्र संश्लिष्टेनेत्यर्थः । लीयतेर्निष्ठेति क्तवतु प्रत्ययः । 'ल्वादिभ्यः' (८।२।४४) इति निष्ठानत्वम् । स्थूलानामिन्द्रनीलशकलानामावलिवत्कोमलेन मनोहरेणालिनां वलयेन कण्ठेगुणत्वं कण्ठवलयत्वम् । 'अमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे' (६।३।१२) इत्यलुक् । भेजे प्राप्तम् । कर्मणि लिट् । अत्रालिवलये इन्द्रनीलमयकण्ठभूषणत्वारोपाद्रूपकालङ्कारः ।

कपोल–प्रदेशको खुजलाते (रगड़ते) हुए हाथीके मदजलसे सौरभित वृक्षके स्कन्धमें बैठा हुआ तथा बड़े-बड़े नीलमके टुकड़ोंके समान चिकना (या—मनोहर) भ्रमरसमूह वृक्षके कण्ठमें गलेका हार बन गया अर्थात् नीलम मणियोंके गुथे हुए ग्रीवाभूषणके समान शोभित हुआ ॥ ४६ ॥

निर्धूतवीतमपि [1]बालकमुल्ललन्तं यन्ता क्रमेण परिसान्त्वनतर्जनाभिः ।
शिक्षावशेन शतकैर्वशमानिनाय शास्त्रं हि निश्चितधियां क्व न सिद्धिमेति ॥

निर्धूतेति ॥ यन्ता निपादी निर्धूतं निरस्तं वीतं पादघाताङ्कुशवारणं यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा उल्ललन्तमुत्प्लवमानमपि । 'पादकर्मायतं प्रोक्तंयतमङ्कुशवारणम् । उभयं वीतमाख्यातम्' इति हलायुधः । बालकं पञ्चवर्षगजम् । पञ्चवर्षो गजो वालः पोतस्तु

१. 'चालज–' इति पा० ।

दशवार्षिकः' इति वैजयन्ती । शिक्षावशेन स्वकीयेन गजशास्त्राभ्यासबलेन क्रमेण परिपाट्या परिसान्त्वनान्युपलालनानि तर्जना भर्त्सनाश्च ताभिः शनैरेव शनकैः । 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' (५।३।७१) इति स्वार्थेऽकच् प्रत्ययः । शमं शान्तिमानिनाय । तथा हि—सुष्ठु निश्चितार्था धीरेषां तेषाम् । पुंसामित्यर्थः । शास्त्रं क्व सिद्धिं नेति । स्वभ्यस्तं शास्त्रं सर्वत्र फलतीत्यर्थः । विभक्तधना भ्रातरो विभक्ता इतिवद्विनिश्चतार्था धीर्निश्चितेत्युपचर्यते । अत एवात्र गम्यमानार्थत्वादुत्तरपदस्याप्रयोगलक्षणो लोप इत्याहुः ।

महावतने पादाघात तथा अङ्कुशसे रोकना छोड़ उछलते हुए भी पाँच वर्षकी अवस्थावाले बच्चे हाथीको पुचकारने तथा डराने से धीरे-धीरे शिक्षाके द्वारा वशमें किया, क्योंकि निश्चित (भ्रमशून्य) बुद्धिवालोंका शास्त्र कहाँपर सफल नहीं होता ? अर्थात् सर्वत्र सफल होता है ॥ ४७ ॥

स्तम्भं महान्तमुचितं सहसा मुमोच दानं ददावतितरां सरसाग्रहस्तः ।
बद्धापराणि परितो निगडान्यलावीत्स्वातन्त्र्यमुज्ज्वलमवाप करेणुराजः ॥

स्तम्भमिति ॥ करेणुश्चासौ राजा च करेणुराजो गजश्रेष्ठः । करेणूनां राजेति गजपतिः, राजा च ध्वन्यते । उभयत्रापि 'राजाहःसखिभ्यः—' (५।४।९१) इति टच् । उज्ज्वलमुच्छृङ्खलं स्वातन्त्र्यं स्वेच्छाचारित्वमवाप । तदेवाह—उचितं चिरपरिचितं महान्तं स्तम्भमालानं जाड्यं च सहसा मुमोच । 'स्तम्भः स्थूणाजडत्वयोः' इति विश्वः । सरस आर्द्रोऽग्रहस्तः पुष्करं पाणिश्च यस्य स सन् दानं मदं, दीयत इति दानं धनं चातितरामतिमात्रम् । अव्ययादामुप्रत्ययः ददौ । ववर्षेत्यर्थः । परितो बद्धापराणि बद्धपश्चिमपादानि बद्धान्यानि च । 'अपरः पश्चिमः पादः' इति गजप्रकरणे वैजयन्ती । निगडानि शृङ्खलानि । 'अथ शृङ्खले । अन्दुको निगडोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः । अलावीत् लुनाति स्म । 'लूञ् छेदने' लुङ् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (७।३।९६) इतीट् 'इट ईटि' (८।२।२८) इति सलोपः । अत्र करेणुराजपदसाधर्म्यध्वनिः । विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वान्न श्लेष इत्युक्तम् ।

गजराज (पक्षा०—राजा) ने एकाएक योग्य तथा बड़े खम्भे को तोड़ दिया (पक्षा०—चिरसञ्चित जडताको छोड़ दिया), आर्द्र सूंडमें लिये हुए मदजलको गिराया (पक्षा०—सङ्कल्पार्थ किये हुए जलसे आर्द्र हाथवाला (ब्राह्मणों तथा दीन-दुखियों आदिके लिए) दान दिया), सब ओरसे पीछेवाले पैरोंको बाँधनेवाली बेड़ियों (लोहेकी सीकड़ों) को तोड़ दिया (पक्षा०—सब ओरके शत्रुओंको बाँधनेवाली बेड़ियोंको तोड़ दिया अर्थात् कैदी शत्रुओंको छोड़ दिया), इस प्रकार स्वच्छन्द—उच्छृङ्खल (पक्षा०—उज्ज्वल—निर्दोष) स्वतन्त्रताको प्राप्त किया ॥ ४८ ॥

जज्ञे जनैर्मुकुलिताक्षमनाददाने संरब्धहस्तिपकनिष्ठुरचोदनाभिः[1]।
गम्भीरवेदिनि पुरः कवलं करीन्द्रे मन्दोऽपि नाम न महानवगृह्य साध्यः ॥

जज्ञ इति ॥ गम्भीरं मन्दं वेत्तीति गम्भीरवेदी। 'त्वग्भेदाच्छोणितस्रावान्मांसस्य च्यवनादपि। आत्मानं यो न जानाति तस्य गम्भीरवेदिता ॥' इति राजपुत्रीये। 'चिरकालेन यो वेत्ति शिक्षां परिचितामपि। गम्भीरवेदी विज्ञेयः स गजो गजवेदिभिः ॥' इति मृगचर्मीये। तस्मिन् गम्भीरवेदिनि करीन्द्रे संरब्धः कुपितः हस्तिनं पातीति हस्तिपः स एव हस्तिपको निषादी। 'आधोरणा हस्तिपका हस्त्यारोहा निषादिनः' इत्यमरः। तस्य निष्ठुराभिश्चोदनाभिस्तर्जनाभिरपि मुकुलिताक्षं निमीलितनेत्रं यथा तथा पुरः कवलं ग्रासं अनाददाने सति। मन्दो मूढोऽपि : 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या' इत्यमरः। गजभेदोऽपि। 'भद्रो मन्दो मृगश्चैव विज्ञेयास्त्रिविधा गजाः' इति। महान् बलाधिकोऽवगृह्य निगृह्य साध्यो न नाम न खल्विति जनैर्जज्ञे ज्ञातम्। जानातेः कर्मणि लिट्। मन्दोऽपीत्यादिवाक्यार्थः कर्म।

गम्भीरवेदी हाथीके क्रुद्ध महावत की कठोर तर्जनाओं (अङ्कुश आदिसे मारने एवं डांटने आदि) से भी सामने नेत्रोंको वन्द किये (खड़े रहने तथा दिए जाते हुए) ग्रासको नहीं लेने पर लोगोंने जान लिया कि मन्द (मूर्ख, पक्षा०—'मन्द' जातिवाला हाथी) भी बलवान् बलपूर्वक वशमें नहीं किया जाता है।

विमर्श—राजपुत्रीय शास्त्रमें लिखा है कि जो हाथी (मारनेसे) चमड़ा छूट जाने, रक्त निकल जाने तथा मांस बाहर हो जानेपर भी अपनेको नहीं जानता) सम्हालता—कहना मानता), उस मतवाले हाथीको 'गम्भीरवेदी' हाथी कहते हैं। और मृगचर्मीय शास्त्रमें लिखा है—जो हाथी चिरपरिचित शिक्षाको भी बहुत विलम्बसे ग्रहण करता है, उस हाथीको 'गम्भीरवेदी' कहते हैं ॥ ४९ ॥

क्षिप्तं पुरो न जगृहे मुहुरिक्षुकाण्डं नापेक्षतेस्म निकटोपगतां करेणुम्।
सस्मार वारणपतिः परिमीलिताक्षमिच्छाविहारवनवासमहोत्सवानाम् ॥५०॥

क्षिप्तमिति ॥ वारणपतिः करिवरो मुहुः पुरः क्षिप्तमग्रे न्यस्तमिक्षुकाण्डमिक्षुदण्डं न जगृहे न स्वीचकार। निकटोपगतां समीपस्थां करेणुं करिणीं च नापेक्षते स्म नेच्छति स्म। 'लट् स्मे' (३।२।११८) इति भूतार्थे लट्। किन्तु परिमीलिताक्षं यथा तथेति स्मृत्यनुभावः। इच्छया विहारा येषु ते वनवासा एव महोत्सवास्तेषां सस्मार। तानेव चिन्तयामासेत्यर्थः। 'अधीगर्थदयेशां कर्मणि' (२।३।५२) इति शेषत्वविवक्षायां षष्ठी। न स्वच्छन्दचारिणां निर्बन्धे भोगेषु मनः प्रवर्तत इति भावः। वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः।

कोई गजराज सामने डाले गये गन्नेको (खानेके लिये) नहीं ग्रहण किया तथा

---

१. '–नोदनाभिः' इति पा०।

समीपमें स्थित हथिनीकी इच्छा नहीं किया; किन्तु आनन्दप्रद स्वेच्छा विहारवाले वनवासको ही नेत्रोंको बन्द किए हुए स्मरण करता रहा ॥ ५० ॥

दुःखेन भाजयितुमाशयिता शशाक तुङ्गाग्रकायमनमन्तमनादरेण ।
उत्क्षिप्तहस्ततलदत्तविधानपिण्डस्नेहस्रुतिस्नपितबाहुरिभाधिराजम् ॥५१॥

दुःखेनेति ॥ उत्क्षिप्ते उद्यते हस्ततले दत्तो निहितो यः विधानस्य गजग्रासस्य पिण्डः । 'विधानं हस्तिकवलः' इति वैजयन्ती । तस्य स्नेहस्रुत्या घृतादिनिःस्यन्दनेन स्नपितबाहुराप्लुतभुजः । स्नातेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । 'अर्तिह्री—' (७।३।३६) इत्यादिना पुगागमः मित्वाद्ध्रस्वः । आशयिता भोजयिता । अशेर्ण्यन्तात्तृच् । तुङ्गाग्रकायं स्वभावत एवोन्नतोर्ध्वकायम् । अनादरेणानमन्तं कवलग्रहणाय नतिमकुर्वाणमिभाधिराजम् । 'गतिबुद्धि०' (१।४।५२) इत्यादिना कणि कर्तुर्णौ कर्मत्वम् । दुःखेन कृच्छ्रेण भोजयितुं शशाक । स्वभावोन्नतानां तत्राप्यहङ्कारग्रस्तानां को नमयितेति भावः ।

ऊपर उठायी गयी हथेलीपर लिये हुए भातके पिण्डसे चूते हुए (घृतादि) रससे गीले हाथोंवाला, हाथीको खिलानेवाला (हाथीवान् या—उसका सहयोगी) ऊँचे मस्तकवाले तथा अनादरपूर्वक (ग्रास लेनेके लिए) नम्र नहीं होते हुए गजराजको बड़ी कठिनाईसे खिलानेमें समर्थ हुआ ॥ ५१ ॥

शुक्लांशुकोपरचितानि निरन्तराभिर्वेश्मानि रश्मिविततानि नराधिपानाम् ।
चन्द्राकृतानि गजमण्डलिकाभिरुच्चैर्नीलाभ्रपङ्क्तिपरिवेषमिवाधिजग्मुः ॥

शुक्लेति ॥ शुक्लांशुकैः शुक्लपटैरुपरचितान्युपकल्पितानि, अन्यत्र तु अल्पा अंशवोंऽशुकाः सूक्ष्मास्तेजोऽवयवाः । 'अल्पे (५।३।८५) इत्यल्पार्थे कन्प्रत्ययः । शुक्लैस्तैरुपरचितानि व्याप्तानि रश्मिभिः प्रग्रहैः, किरणैश्च विततानि विस्तृतानि । 'किरणप्रग्रहौरश्मी' इत्यमरः । चन्द्रस्येवाकृतिर्येषां तानि चन्द्राकृतीनि । चन्द्रमण्डलनिभानीत्यर्थः । नराधिपानां वेश्मानि दूष्याणि निरन्तराभिर्नीरन्ध्राभिरुच्चैर्गजमण्डलिकाभिर्गजपरिधिभिः । स्वार्थे कप्रत्ययः । कात्पूर्वस्येकारः । नीलाभ्रपङ्क्तिभिः परिवेषं परिधिम् । परिवेष्टनमिति यावत् । 'परिवेषस्तु परिधिः'इत्यमरः । अधिजग्मुरिवेत्युत्प्रेक्षा ।

सफेद कपड़ोंसे बनाए-गए (पक्षा०—सफेद सूक्ष्मकिरणोंसे व्याप्त) रस्सियोंसे बँधे (पक्षा०—किरणोंसे विस्तृत) तथा चन्द्राकार, राजाओंके तम्बू, परस्परमें सटे हुए (सान्द्र), ऊँचे-ऊँचे, हाथियोंकी श्रेणियोंसे मानो श्यामवर्ण मेघश्रेणिके घेरोंको पा लिए ॥ ५२ ॥

गत्यूनमार्गगतयोऽपि गतोरुमार्गाः स्वैरं समाचक्रुषिरे भुवि वेल्लनाय ।
दर्पोदयल्लसित फेनजलानुसारसंलक्ष्यपल्ययनवर्ध्रपदास्तुरङ्गाः ॥ ५३ ॥

गत्यूनेति ॥ गत्यूना विशिष्टगमनहीना मार्गगतयोऽध्वगमनानि येषां ते तथापि गतोरुमार्गाः प्रस्थितदूराध्वान इति विरोधः । अपिर्विरोधे । गत्यूना मार्गौ मृग-

सम्वन्धिनी गतिर्येषां त इति विरोधपरिहारः। अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः। दर्पस्य तेजसोऽन्तःसारस्योदयेनौत्कट्येनोल्लसितस्योद्धतस्य फेनजलस्य फेनीभूतोद्धत-स्वेदोदकस्यानुसारेण प्रसारेण संलक्ष्याणि पल्ययनवर्ध्राणामासनबंधचर्मवरत्राणां पदानि तन्नोदनान्निम्नभूतस्थलानि येषां ते तथोक्ताः। तुरङ्गा भुवि वेल्लनायाङ्गपरि-वर्तनाय स्वैरं मन्दं समाचकृषिरे समाकृष्टाः। अध्वश्रमापनोदनार्थमिति भावः। वर्धते दृढबन्धनाद्दीर्घीभवतीति वर्ध्रम्। 'वृधिवपिभ्यां रन्' (उ० १८५) इत्यौणादिके रन्प्रत्यये लघूपधगुणो रपरः। 'वर्ध्रं त्रपुवरत्रयोः' इति विश्वः। अमरस्तु 'नध्री वध्री वरत्रा स्यात्' इत्याह। तदा 'ष्ट्रन्'इत्यौणादिके ष्ट्रन्प्रत्यये पूर्ववद्गुणो रपरः प्रत्ययत-कारस्य 'झषस्तथोर्धोऽधः' (८।२।४०) इति जत्वे षित्त्वात्स्त्रीलिङ्गे ङीष्।

(सैनिक हाथियोंका वर्णन (३।३०–५२) करनेके बाद अब नौ श्लोकोंसे (५।५३–६१) सैनिक घोड़ोंका वर्णन करते हैं)—अपनी तीव्रगतिसे मृगोंकी गतिको तुच्छ करनेवाले, बहुत लम्बे मार्गको तय किए हुए तथा तेजके आविर्भाव होनेसे अर्थात् तेज चलनेसे निकले हुए फेनजल के फैलनेसे स्पष्ट दिखलायी पड़ रहे हैं जीनकी रस्सी बाँधनेसे चिह्न जिनके, ऐसे घोड़ोंको भूमिपर लोटानेके लिए (सईस—अश्वभृत्यलोग, या—घुड़सवार लोग) धीरे-धीरे खींचते हुए लाए ॥ ५३ ॥

आजिघ्रति प्रणतमूर्धनि [1]वाह्लिजेऽश्वे तस्याङ्गसङ्गमसुखानुभवोत्सुकायाः।
नासाविरोकपवनोल्लसितं तनीयो रोमाञ्चतामिव जगाम रजः पृथिव्याः॥

आजिघ्रतीति। वाह्लिरश्वयोनिर्देशविशेषः, तज्जे, बाह्लिजेऽश्वे। 'बाह्लिदेश्ये' इति। पाठे विशेष्याप्रयोगो गम्यमानत्वादित्युक्तम्। 'दिगादिभ्यो यत्' (४।३।५४) इति भावार्थे यत्प्रत्ययः। तदन्तविधिस्तु मृग्यः। प्रणतमूर्धनि नम्रशिरसि कृतप्रणामे च आजिघ्रति गन्धं गृह्णति चुम्बति च सति। स्वभावात्कामाच्चेति भावः। नासाविरोकं नासारन्ध्रं तस्य पवनो निःश्वासस्तेनोल्लसितमुद्धतं तनीयस्तनुतरं रजस्तस्याश्वस्याङ्ग-सङ्गमेन वेल्लनप्रयुक्तेन यत्सुखं तस्यानुभवे उत्सुकाया उत्कण्ठितायाः पृथिव्या रोमा-ञ्चतां जगामेवेत्युत्प्रेक्षा। सा च भूतुरङ्गमयोः प्रतीयमानचेतननायकाद्यभेदाध्यवसा-यादित्यवधेयम्। विरोचतेऽनेनेति विरोकम्। घञ्प्रत्ययः। 'चजोः कु घिण्यतोः' (७।३।५२) इति कुत्वम्। 'लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य' इति नपुंसकत्वा-द्विरोधः। अत एव 'छिद्रं निर्व्यथनं रोकम्' इत्यमरः। 'रोको रश्मौ बिले न पुम्' इति वैजयन्ती। 'रोको दीप्तौ बिले रोकम्' इति विश्वः। ये तु केनाप्यभिप्रायेण 'विरेकपवन' इति पठन्ति तेषां परोत्सर्गैकजीविनामितिवदपानीयपवनप्रतीतेरश्ली-लाख्यो दोषः। 'अश्लीलं तदमङ्गल्यजुगुप्साव्रीडधीकरम्' इति लक्षणात्।

मस्तक झुकाकर सूंघनेपर नाकके छिद्रोंकी हवासे उड़ी हुई सूक्ष्मतम (महीन) धूल

१. 'बाह्लिदेश्ये' इति पा०।

मानो उस घोड़के (लोटनेसे हो नेवाले) शरीर समागमजन्य सुखके लिए उत्कण्ठित (नायिका-रूपिणी) पृथ्वीके रोमाञ्च (सात्त्विक भावविशेष) सा हो गया।

विमर्श—पुरुषके मुख झुकाकर चुम्बन करनेपर उसके अङ्गोंके आलिङ्गनसे उत्पन्न होनेवाले सुखके लिए उत्कण्ठित नायिकाको जिस प्रकार रोमाञ्च हो जाता है, उसी प्रकार मस्तक झुकाकर घोड़के पृथ्वीको सूँघने पर जो बहुत सूक्ष्म धूल उसके नाककी हवासे उड़ी, वही मानो नायकरूप घोड़के अङ्गोंके समागमसे होनेवाले सुखके लिए उत्कण्ठित नायिकारूपिणी भूमिका रोमाञ्च हो गया। लोटनेके पूर्व पृथ्वीको सूँघना घोड़े का स्वभाव होता है ॥ ५४ ॥

हेम्नः स्थलीषु परितः परिवृत्य वाजी धुन्वन् वपुः प्रविततायत केशपङ्क्तिः।
ज्वालाकणारुणरुचा [1]निकरेण रेणोः शेषेण तेजस इवोल्लसता रराज ॥

हेम्न इति ॥ हेम्नः स्थलीषु स्वर्णभूमिषु। 'जानपद–' (४।१।४२) इत्यादिनाऽकृत्रिमार्थे ङीष्प्रत्ययः। परितः परिवृत्य परिवृत्तिं कृत्वा वपुर्धुन्वन् धूलिनिर्गमाय कम्पयन् अत एव प्रवितता विश्लिष्टा आयता च केशपङ्क्ती रोमसङ्घातो यस्य स वाजी ज्वालाकणाः स्फुलिङ्गास्तद्वदरुणरुचा रक्तवर्णेन रेणोर्निकरेणोल्लसता अत्युत्कटतया वहिरुद्गच्छता तेजसोऽन्तःसारस्य दर्पस्य शेषेणातिरेकेणेव रराज। उत्प्रेक्षालङ्कारः।

स्वर्णमयी (अकृत्रिम) भूमिपर सब ओरसे लोटकर (धूल झरनेके लिए) शरीरको कँपाता हुआ, फैले हुए बड़े-बड़े रोमोंके समूहवाला घोड़ा बाहर निकलते हुए (सुनहला होनेसे) चिनगारीके समान लाल वर्णवाले धूलिके समूहसे ऐसा शोभता था कि उसके शेष तेजके कण निकल रहे हों ॥ ५५ ॥

दन्तालिकाधरणनिश्चलपाणियुग्मलर्धोदितो हरिरिवोदयशैलमूर्ध्नः।
स्तोकेन नाक्रमत वल्लभपालमुच्चैः श्रीवृक्षकी पुरुषकोन्नमिताग्रकायः॥

दन्तालिकेति। पुरुषकोऽश्वानां स्थानकभेदः। तदुक्तम् —'पश्चिमेनाग्रपादेन भुवि स्थित्वाग्रपादयोः। ऊर्ध्वप्रेरणया स्थानमश्वानां पुरुषः स्मृतः॥' इति। पुरुष एव पुरुषकः तेन पुरुषकेण स्थानकेनोन्नमित ऊर्ध्वावस्थितोऽग्रकायः पूर्वकायो यस्य स तथोक्तः अत एवोदयशैलस्य मूर्ध्नो मस्तकादर्धमुदितोऽर्धोदितो हरिः। सूर्य इव स्थित इत्यर्थः। अर्धोदितविशेषादुच्चैरुन्नतः श्रीवृक्ष एव श्रीवृक्षकः आवर्तविशेषस्तद्वानश्वः श्रीवृक्षकी। 'वक्षोभवावर्तचतुष्टयं च कण्ठे भवेद्यस्य च रोचमानः। श्रीवृक्षकी नाम हयः स भर्तुः श्रीपुत्रपौत्रादिविवृद्धये स्यात्॥' इति लक्षणात्। 'श्रीवृक्षकी वक्षसि चेद्रोमावर्तो मुखेऽपि च' इति तु वैजयन्ती। दन्तालिका मुखरज्जुः। 'मुखरज्जुश्च दन्ताली राणिका रक्षणीति च' इति वैजयन्ती। तस्या धरणे ग्रहणे निश्चलं स्थिरं पाणियुग्मं यस्य तम्। पाणिभ्यां दृढं गृहीतोभयवल्गमित्यर्थः। वल्लभपालमुत्तमाश्वपालम्। 'वल्लभो दयितेऽध्यक्षे कुलीनेऽश्वेऽपि वल्लभः' इति विश्वः। स्तोकेन नाक्रमत।

१. 'प्रकरेण' इति पा०।

वल्गाग्रहणदार्ढ्यात् स्तोकेनाप्यभिभवितुं न शक्तोऽभूदित्यर्थः । इह 'श्लथयितुं क्षणमक्षमताङ्गना न द्वन्द्वदुःखमिहकिञ्चित्' इत्यादिवदप्यर्थस्य सामर्थ्यलभ्यत्वादपेरप्रयोगः । अन्यथा स्तोकेन नाक्रमत किन्तु भूय इति व्याख्याने निश्च रूपाणियुग्मत्वादिविशेषणावगतवाहकौशल्यप्रकाशनतात्पर्यभङ्गप्रसङ्गात् । 'करणे न स्तोकाल्प–' (२।३।३३) इत्यादिना विकल्पात्तृतीया 'अनुपसर्गाद्वा' (वा०) इति विकल्पादात्मनेपदम् । उपमालङ्कारः ।

पिछले पैरोंको भूमिमें रखकर अगले दोनों पैरोंको उठानेसे ऊपर किए हुए शरीरके अगले भागवाले (या—मनुष्यकी ऊँचाईसे अधिक ऊँचे शरीरके अगले भागवाले), श्रीवृक्ष (छाती तथा मुख या—कण्ठ) में भवरी होनेसे शुभ लक्षणवाले, तथा ऊँचे, (अत एव) उदयाचलके शिखरसे अर्द्धोदित सूर्यके समान स्थित घोड़ेने दोनों हाथोंसे सावधानीके साथ पकड़े हुए लगामकी रस्सीवाले श्रेष्ठ घुड़सवार को आक्रान्त नहीं कर सका अर्थात् नहीं पटक सका ॥ ५६ ॥

रेजे जनैः स्नपनसान्द्रतरार्द्रमूर्तिर्देवैरिवानिमिषदृष्टिभिरीक्ष्यमाणः ।
श्रीसन्निधानरमणीयतरोऽश्व उच्चैरुच्चैःश्रवा जलनिधेरिव जातमात्रः ॥

रेजे इति ॥ स्नपनेनाभिषेचनेन सान्द्रतार्द्रमूर्तिः अनिमिषदृष्टिर्भिर्विस्मयादनिमिषाक्षैर्जनैर्देवैरिव तादृग्भिरीक्ष्यमाणः श्रियः शोभायाः, देव्याश्च सन्निधानेन रमणीयतरः । 'तत्र सन्निहिता लक्ष्मीः सन्ति यत्रोत्तमा हयाः' इत्यागमादिति भावः । उच्चैरुन्नतोऽश्वो जलनिधेः समुद्राज्जात एव जातमात्रः । सद्योजात इत्यर्थः । अन्यथोक्तसाधर्म्यासम्भवादिति भावः । 'मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे' इत्यमरः । उच्चैरुन्नतं श्रवः कीर्तिरुन्नते श्रवसी कर्णौ वा यस्य स उच्चैःश्रवाः शक्राश्व इव रेजे । उपमालङ्कारः ।

(घुड़सवारोंके द्वारा) नहलानेसे रमणीय एवं भींगे हुए शरीरवाला, (अत्यधिक सुलक्षण एवं सुन्दर होनेसे) निमेषरहित (एकटक होकर) लोगों (पक्षा०—देवों) से देखा जाता हुआ, शोभायुक्त (पक्षा०—समीपवर्तिनी लक्ष्मी–शोभा, श्रीवाला) होनेसे अत्यधिक रमणीय उन्नत घोड़ा समुद्रसे तत्काल निकले हुए उच्चैःश्रवा (पक्षा०—ऊँचे कानोंवाले) के समान शोभता था ॥ ५७ ॥

अश्रावि भूमिपतिभिः क्षणवीतनिद्रैरश्नन् पुरो हरितकं मुदमादधानः ।
ग्रीवाग्रलोलकलकिङ्किणिकानिनादमिश्रं दधद्दशनचर्चुरशब्दमश्वः ॥५८॥

अश्रावीति ॥ पुरोऽग्रे हरितकं हरिततृणमश्नन् अत एव ग्रीवाग्रे लोलाश्चलाः कला अव्यक्तमधुराः किङ्किणिकाः क्षुद्रघण्टिकास्तासां निनादेन मिश्रं दशनानां दन्तानां चर्चुरशब्दं चर्चुरध्वनिं दधत् अत एव मुदमादधान उत्पादयन्नश्वः । जातावेकवचनम् । क्षणेन वीतनिद्रैः । 'अल्पनिद्रोऽल्पभुग्वाग्मी मितभाष्यनसूयकः'

१. 'बुबु'र–' इति पा० ।

इति सौभाग्यलक्षणादिति भावः। भूमिपतिभिरश्रावि श्रुतः। अश्वस्य शब्दोऽश्रावीत्यर्थः। वीणाः श्रूयन्ते भेर्यः श्रूयन्त इत्यादिवच्छब्दधर्मः शब्देषूपचर्यते। स्वभावोक्तिरलङ्कारः।

कुछ समय पूर्व सोकर जागे हुए राजाओंने, सामने हरी घासको खाते हुए, हर्षित, गर्दनमें चञ्चल घुघुरुओंकी अव्यक्त मधुर ध्वनियोंसे मिश्रित (घास चबानेसे निकलते हुए) दांतों के 'चचुर' शब्दको धारण करते हुए घोड़ेको देखा॥ ५८॥

उत्खाय दर्पचलितेन सहैव रज्ज्वा कीलं प्रयत्नपरमानवदुर्ग्रहेण।
आकुल्यकारि कटकस्तुरगेण तूर्णमश्वेति विद्रुतमनुद्रवताश्वमन्यम्॥ ५९॥

उत्खायेति॥ दर्पाच्चलितेनोल्ललितेन अत एव रज्ज्वा पाशेन सह कीलं शङ्कुम्। 'शङ्कावपि द्वयोः कीलः'। इत्यमरः। उत्खाय उत्पाट्य तूर्णं विद्रुतं धावन्तम्। अन्यमश्वम्। अश्वेत्यनुद्रवता वडवेतिभ्रान्त्यानुधावता प्रयत्नपरैर्ग्रहीतुं प्रयतमानैरपि मानवैर्मनुष्यैर्दुर्ग्रहेण तुरङ्गेण कटकः शिबिरमाकुल्यकारि आकुलीकृतः। आकुलः शब्दादभूततद्भावे च्विः 'अस्य च्वौ' (७।४।३२) इतीकारः। करोतेः कर्मणि लुङि चिणो लुक्।

अभिमानसे उछले हुए (अत एव) रस्सी (अगाड़ी–पिछाड़ी) के साथ ही खूंटेको उखाड़कर, शीघ्र भागते हुए दूसरे घोड़ेके पीछे '(यह) घोड़ी है' ऐसा समझकर दौड़ते हुए (अत एव, पकड़नेके लिए) प्रयत्नशील लोगोंसे कठिनतासे पकड़े जाने योग्य घोड़ेने शिविरको व्याकुल कर दिया॥ ५९॥

अव्याकुलं प्रकृतमुत्तरधेयकर्मधाराः प्रसाधयितुमव्यतिकीर्णरूपाः।
सिद्धं मुखे नवसु वीथिषु कश्चिदश्वं वल्गाविभागकुशलो गमयाम्बभूव॥६०॥

अव्याकुलमिति॥ वल्गा मुखरज्जुः सा चोत्क्षिप्तादिभेदेन चतुर्दशविधा। तदुक्तं हयलीलावत्याम्—'उत्क्षिप्ता शिथिला तथोत्तरवती मन्दा च वैहायसी विक्षिप्तैककरार्धकंधरसमाकीर्णा विभक्ता तथा। अत्युत्क्षिप्ततलोद्धृते खलु तथा व्यागूढकर्णिके वाहानां कथिताश्चतुर्दशविधा वल्गाप्रभेदा अमी॥' इति। तल्लक्षणानि तु तत्रैव द्रष्टव्यानि, विस्तरभयान्न लिख्यन्ते। तस्या विभागो विविच्य प्रयोगः तत्र कुशलो वल्गाविभागकुशल इति। षड्विधप्रेरणाभिज्ञ इत्यर्थः। वल्गाग्रहणस्य रागाद्युपलक्षणत्वात्। यथाह भोजः—'वाहनं प्रतिवाहानां षड्विधं प्रेरणं विदुः। रागावल्गाकशापार्ष्णिप्रतोदरवभेदतः॥' इति। कश्चित् कश्चन वाहकः अव्याकुलं अव्यग्रम्। अत्रस्तमिति यावत्। प्रकर्षेण कृतं प्रकृतम्। सज्जितमित्यर्थः। मुखे मुखेकर्मणि सिद्धं सिद्धिमन्तमश्वं चतुष्काख्ये गतिविशेषादिविशेषे मुखे। संस्थानविशेषणविशिष्टमश्वमित्यर्थः। तदुक्तं रैवतोत्तरे–'सृक्काधरोष्ठसितफेनलवाभिरामफूत्कारवायुपदमुन्नतकन्धराग्रम्। नीत्वोपकुञ्चितमुखं नवलोहसाम्यमश्वं चतुष्कसमये मुखसिद्धमाहुः।

उत्तरधेयकर्म युद्धाद्युत्तरकाले धेयं विधेयं प्रयोज्यं यत्कर्म क्रिया तद्रूपा इत्यर्थः। अव्यतिकीर्णरूपा असङ्कीर्णरूपा धारा गतिभेदाः। 'अश्वानां तु गतिर्धारा विभिन्ना सा च पञ्चधा। आस्कन्दितं धौरितकं रेचितं वल्गितं प्लुतम् ॥' इति वैजयन्ती। 'गतयोऽमूः पञ्च धाराः' इत्यमरश्च। अश्वशास्त्रे तु संज्ञान्तरेणोक्ताः। 'गतिः पुला चतुष्का च तद्वन्मध्यजवा परा। पूर्णवेगा तथा चान्या पञ्च धाराः प्रकीर्तिताः ॥ एकैका त्रिविधा धारा हयशिक्षाविधौ मता। लघ्वी मध्या तथा दीर्घा ज्ञात्वैता योजयेत् क्रमात् ॥' इति। तथा च पञ्चदश विभेदा भवन्ति। ताः पञ्च धाराः प्रसाधयितुं परिचेतुं नवसु वीथिषु सञ्चारस्थानेषु गमयाम्बभूव। वीथयो नवाश्वानां सर्वत्र धारादार्ढ्यार्थाः परिमिताः प्रचारदेशाः। ताश्च तिस्र इत्येके नवेत्यन्ये। तत्रोत्तरपक्षमाश्रित्योक्तं कविना नवस्विति। यथाह भोजः—'वीथ्यस्तिस्रोऽथ धाराणां लघ्वीमध्योत्तमाः क्रमात्। तासां स्याद्धनुषां मानमशीतिर्नवतिः शतम् ॥ श्रेष्ठमध्योत्तमानां तु वाजिनां वीथिकाः स्मृताः। नवानां कथिता वीथ्यो दुष्टानां क्रमणक्रमे। अन्येषामपि सर्वत्र गतिदार्ढ्यार्थमीरिताः ॥ समोन्नता सा विषमाम्बुकीर्णा शुद्धा नताग्रा तृणवीरुदाढ्या। स्थाणुप्रकीर्णोपलसम्प्रकीर्णा पार्श्वोन्नताख्या नवधेति वीथ्यः ॥ सर्ववीथीषु यो वाजी दृढशिक्षासमन्वितः। तेन राजा रणे नित्यं मृगयायां मुदं व्रजेत् ॥' इति। अन्ये तु उरसाल्यादयो गतिविशेषा वीथय इत्याहुः। 'उरसाली वरश्वाली पृथुलो मध्यनामकः। आलीढः शोभनैरङ्गैः प्रत्यालीढस्तथापरः। उपघेनव उक्तं च पादचाली च सर्वगः। निर्दिष्टा वीथयस्त्वेताः' इति।

लगामके (चौदह प्रकारके (विभाग करनेमें निपुण अर्थात् अश्वकी षड्विध प्रेरणाओंको जाननेवाला कोई घुड़सवार, नहीं घबड़ानेवाले, सुसज्जित तथा छः दिशाओंमें मुखको मोड़नेमें अभ्यस्त घोड़ेको युद्धोत्तर कर्तव्यके लिए पृथक्–पृथक् (स्पष्टरूपमें) धाराओं (अश्वोंकी पांच प्रकारकी चाल) को सिखानेके लिए नव प्रकारकी वीथियोंमें चलाने (घुमाने) लगा ॥ ६० ॥

मुक्तास्तृणानि परितः कटकं चरन्तस्त्रुटचद्वितानतनिकाव्यतिषङ्गभाजः।
सस्रुः सरोषपरिचारकवार्यमाणा [1]दामाञ्चलस्खलितलोलपदं तुरङ्गाः ॥६१॥

मुक्ता इति ॥ मुक्ता विहारार्थमुत्सृष्टा अत एव कटकं शिबिरं परितः। 'अभितःपरितः—' (वा०) इत्यादिना द्वितीया। तृणानि चरन्तो भक्षयन्तः त्रुटचन्तीषु छिन्नासु वितानतनिकासु पटमण्डपरज्जुषु व्यतिषङ्गं सङ्गं भजन्तीति तथोक्ताः। अत एव सरोषैः परिचारकैः किंकरैर्वार्यमाणा अपसार्यमाणास्तुरङ्गा दामाञ्चलानि पादपाशाः। 'दामाञ्चलं पादपाशः' इति वैजयन्ती। दूष्यवरत्राबन्धनशङ्कव इति केचित्। तेषु स्खलितेन लोलानि पदानि यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा सस्रुरपसस्रुः ॥

1. 'दामाञ्छन—' इति पा०।

'(घूमने–फिरनेके लिए) छोड़े गये, (अत एव) शिविरके चारों ओर घास चरते हुए, तम्बूकी टूटी हुई रस्सीके सम्बन्धवाले अर्थात् रस्सीमें फँसे हुए (अत एव) दोषपूर्वक घुड़सवारों (या—तम्बूके रक्षक भृत्यों) से रोके गये घोड़े पैर बांधनेकी रस्सियों (या—तम्बूके खूटों) में पैर उछलाते हुए भागने लगे ॥ ६१ ॥

उत्तीर्णभारलघुनाप्यलघूलपौघसौहित्यनिःसहतरेण तरोरधस्तात् ।
रोमन्थमन्थरचलद्गुरुसास्नमासां चक्रे निमीलदलसेक्षणमौक्षकेण ॥ ६२ ॥

उत्तीर्णेति ॥ उत्तीर्णभारमवरोपितावपनम् अत एव लघु तेन तथोक्तेन तथाप्यलघुना उलपानां बल्वजतृणानामोघेन यत्सौहित्यं पूर्तिः । 'पर्याप्तमुपसम्पन्नं पूर्तिः सौहित्यमुच्यते' इति हलायुधः । तेन निःसहतरेणात्यन्तमसहतरेण बाह्याभारावतारेऽप्यन्तरतिभोजनाद् गुरूमवयेत्यर्थः । सहेर्निःपूर्वात्पचाद्यजन्तात्तरप् प्रत्ययः । 'उलपा बल्वजाः प्रोक्ताः' इति विश्वः । औक्षकेण उक्ष्णां समूहेन । 'गोत्रोक्ष–' (४।२।३९) इत्यादिना वुञ् प्रत्ययः । तरोरधस्तात्तरुतले रोमन्थः पशूनां चर्वितचर्वणं तेन मन्थरं मन्दं चलन्त्यो गुर्व्यः सास्ना गलकम्बलानि यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । 'सास्ना तु गलकम्बलः' इत्यमरः । किञ्च निमीलन्ति सुखाद् मुकुलीभवन्ति अलसानि चेक्षणानि यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा आसाञ्चक्रे आसितम् । 'आस उपवेशने' भावे लिट् । 'दयायासश्च' (३।१।३७) इत्याम्प्रत्ययः । 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' (३।१।४०) इति कृञोऽनुप्रयोगः । इतः प्रभृत्याचतुष्टयात्स्वभावोक्तिः ।

(सैनिक घोड़ोंका वर्णन (५।५३–६१) करनेके उपरान्त अब तीन श्लोकों (५।६२–६४) से सेनामें भार ढोनेवाले बैलोंका वर्णन आरम्भ करते हैं) (नमक–गुड़ आदिके बोझ उतारनेसे हलके होनेपर भी बढ़े हुए 'उलप' नामक घासको भरपेट (तृप्तिपर्यन्त–खूब अघाकर) खानेसे आलसपूर्ण बैलोंके झुण्ड जुगाली (पगुरी) करनेसे गलकम्बल (गर्दनके नीचे लटकते हुए मांस–विशेष) को तथा आलस्यसे नेत्रोंको बन्द किये हुए, पेड़ोंके नीचे विश्राम किये ॥ ६२ ॥

मृत्पिण्डशेखरितकोटिभिरर्धचन्द्रं शृङ्गैः शिखाग्रगतलक्ष्ममलं हसद्भिः ।
उच्छृङ्गितान्यवृषभाः सरितां नदन्तो रोधांसि [1]धीरमवचस्करिरे महोक्षाः ॥

मृत्पिण्डेति ॥ मृत्पिण्डैर्वप्रक्रीडालग्नैर्मृत्खण्डैः शेखरिताः सञ्जातशेखराः कोटयोऽग्राणि येषां तैरत एव शिखाग्रगतमुभयकोटयन्तर्गतं लक्ष्मैव मलं यस्य स एवंभूतं श्वेतमर्धचन्द्रं हसद्भिरित्यतिशयोक्तिभेद इत्युक्तम् । अभूतोपमेति मतान्तरम् ॥ शृङ्गैर्विषाणैरुच्छृङ्गाः उत्पतितशृङ्गाः कृता उच्छृङ्गिता अन्यवृषभाः प्रतिवृषभा यैस्ते अत एव धीरं गम्भीरं नदन्तो गर्जन्तो महान्त उक्षाणो महोक्षाः । 'अचतुर–' (५।४।७७) इत्यादिना निपातात्साधुः । सरितां रोधांसि अवचस्करिरे आलिलिखुः ।

---

१. '—मुपचस्करिरे' इति पा० ।

हर्षाद्रुरुजुरित्यर्थः : अवपूर्वात्किरतेः कर्तरि लिट्। 'किरतेर्हर्षजोविकाकुलायकरणेष्विति वक्तव्यम्' (वा) इत्यात्मनेपदम् । 'ऋच्छत्यृताम्' (७।४।११) इति गुणः, 'अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने' (६।१।१४२) इति सुडागमः ।

(नदियोंके गीले तटको उखाड़नेसे) मृत्पिण्डसे शेखर (मस्तक भूषण) युक्त अग्र भागवाले अर्थात् अगले भागमें मिट्टी लगाये हुए (अत एव) दोनों छोरोंमें लगे हुए (मृग) कलङ्करूपी मलवाले अर्द्धचन्द्रको हँसते हुए अर्थात् ऊपरमें मिट्टीके लगनेसे दोनों किनारोंमें कलङ्करूपी मलयुक्त अर्द्धचन्द्र की अपेक्षा अधिक शोभते हुए; सीगोंसे दूसरे बैलोंकी सींगको उखाड़े हुए महोक्ष (बड़े–बड़े बैल या—साँड़) गम्भीर गर्जन करते (हँकाड़ते) हुए नदियोंके किनारोंको उखाड़ने लगे ॥ ६३ ॥

मेदस्विनः सरभसोपगतानभीकान् भङ्क्त्वा पराननडुहो मुहुराहवेन ।
ऊर्जस्वलेन [1]सुरभीरनु निःसपत्नं जग्मे जयोद्धुरविशालविषाणमुक्ष्णा ॥६४॥

मेदस्विन इति ॥ ऊर्जो बलमस्यास्तीति तेन ऊर्जस्वलेन बलिना 'ज्योत्स्नातमिस्रा–' (५।२।११४) इत्यादिना निपातः । उक्ष्णा वृषभेण मेदस्विनो मांसलान् । 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' (५।२।१२१) । अत एव सरभसं सत्वरमुपगतान् अभिकामयन्त इत्यभीकान् कामुकान् । 'कम्रः कामयिताभीकः' इत्यमरः । 'अनुकाभिकाभीकः कमिता' (५।२।७४) इति निपातः । परानडुहो बलीवर्दान् मुहुराहवेन युद्धेन भङ्क्त्वा निर्जित्य जयेनोद्धुरे निर्भरे । 'ऋक्पूर–' (५।४।७४) इत्यादिना समासान्तः । विशाले च विषाणे यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा निःसपत्नमप्रतिपक्षं सुरभीरनु गवां पृष्ठतः । 'कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (५।३।७) जग्मे गतम् । भावे लिट् ।

बलिष्ठ बैल, मांसल अर्थात् मोटे (अतएव) वेगपूर्वक आये हुए कामुक दूसरे बैलोंको बार–बार युद्धमें हराकर विजयलाभ से विशाल सींगोंको ऊपर किये हुए प्रतिपक्षी रहित हो गायोंके पीछे लग गये । (यहां 'बैल' से विना बधिया किया हुआ बैल समझना चाहिये ॥६४॥

बिभ्राणमायतिमतीमवृथा शिरोधि प्रत्यग्रतामतिरसामधिकं दधन्ति ।
[2]लोलोष्ठमौष्ट्रकमुदग्रमुखं तरूणामभ्रंलिहानि लिलिहे नवपल्लवानि ॥६५॥

बिभ्राणमिति ॥ आयतिमतीं दैर्घ्यवतीम् । न च वृथा दैर्घ्यमित्याह—अवृथेति । उच्चैस्तरुपल्लवग्रहणात्सफलामित्यर्थः । शिरो धीयतेऽस्यामिति शिरोधि ग्रीवाम् । 'शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इत्यमरः । 'कर्मण्यधिकरणे च' (३।३।९३) इति किप्रत्ययः । बिभ्राणं दधानम् । उदग्रमुखं पल्लवग्रहणार्थमूर्ध्वोत्क्षिप्ततुण्डमौष्ट्रकमुष्ट्रसमूहः : 'गोत्रोक्ष–' (४।२।३९) इत्यादिना वुञ् । अधिकमतिशयितो रसः स्वादो

---

१. 'सुरभीमनु' इति पा० । २. 'लोलौष्ठ—' इति पा० ।

यस्यां तामतिरसां प्रत्यग्रतामभिनवत्वं दधन्ति दधति । 'वा नपुंसकस्य-'(७।१।७९) इति वैकल्पिको नुमागमः । अभ्रं लिहन्तीत्यभ्रंलिहान्युच्चतराणि । 'वहाभ्रे लिहः' (३।२।३२) इति खश्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषत्-' (६।३।६७) इत्यादिना मुमागमः । तरूणां नवपल्लवानि । 'पल्लवोऽस्त्री किसलयम्' इत्यमरः । लोलोष्ठं यथा तथा । 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' (वा) इति पररूपं वक्तव्यम् । लिलिहे आस्वादयामास । जघासेत्यर्थः ।

इन तीन श्लोकों (५।६२–६४) से बैलोंका वर्णनकर अब दो श्लोकों (५।६५–६६) से सेनाके ऊँटोंका वर्णन करते हैं) उन्नत मुखवाले ऊँटोंका झुण्ड वृक्षोंके रसदार होनेसे स्वादिष्ट एवं ताजे एवं बहुत ऊँचे नवपल्लवों को ओठोंको जल्दी-जल्दी हिलाता हुआ खाने लगा, इस प्रकार उनका लम्बी गर्दन धारण करना सफल हो गया ॥ ६५ ॥

साधं कथञ्चिदुचितैः [1]पिचुमर्दपत्रैरास्यान्तरालगतमाम्रदलं म्रदीयः ।
दासेरकः सपदि संवलितं निषादैर्विप्रं पुरा पतगराडिव निर्जगार ॥ ६६ ॥

साधमिति ॥ उचितैरभ्यस्तैः । 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः । पिचुमर्दपत्रैर्निम्बदलैः । सार्धम् । 'पिचुमर्दश्च निम्बेऽथ' इत्यमरः । कथंचित् प्रमादात् आस्यान्तरालगतं मुखान्तर्गं म्रदीयो मृदुत्तरमाम्रदलं चूतपल्लवं दासेरक उष्ट्रः पुरा निषादैर्म्लेच्छैः संवलितं युक्तं विप्रं पतगराट् गरुत्मानिव निर्जगार उद्गीर्णवान् । पुरा किल कुतश्चित्कारणात् म्लेच्छ भक्षणे तैः सह अन्तः प्रविश्य गलं दहन्तं विप्रं गरुड उज्जगारेति पौराणिकी कथात्रानुसन्धेया ।

(सदा खाये जानेसे) अभ्यस्त नीमके पत्तोंके साथमें किसी प्रकार मुखके भीतर गए हुए कोमल आमके पत्तेको ऊँटने तत्काल उस प्रकार उगल दिया, जिस प्रकार (कई बार खाये जानेसे) अभ्यस्त निषादोंके साथ किसी प्रकार मुखके भीतर गये हुए ब्राह्मणको पहले गरुड़ने उगल दिया था ॥ ६६ ॥

स्पष्टं बहिः स्थितवतेऽपि निवेदयन्तश्चेष्टाविशेषमनुजीविजनाय राज्ञाम् ।
वैतालिकाः स्फुटपदप्रकटार्थमुच्चैर्भोगावलीः [2] कलगिरोऽवसरेषु पेठुः ॥६७॥

स्पष्टमिति ॥ बहिः स्थितवतेऽप्यनुजीविजनाय । राज्ञोऽवसरकाङ्क्षिण इति भावः । राज्ञां चेष्टाविशेषं तत्कालोचितचरित्रविशेषं स्पष्टं निवेदयन्तः । तद्वचञ्चक-प्रबन्धपाठैरिति भावः । कलगिरो मधुरवाचो वैतालिकाः मङ्गलपाठकाः अवसरेषु तद्वेलासु स्फुटैः प्रसिद्धैः पदैः प्रकटः प्रकाशोऽर्थोऽभिधेयं यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा उच्चैर्भोगावलीः प्रबन्धान् पेठुः पठन्ति स्म । 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' (६।४-१२) इत्येत्वाभ्यासलोपौ ।

१. 'पिचुमन्द—' इति पा० । २. 'भोगावलिम्' इति पा० ।

(राजाओंसे मिलनेके लिए) बाहर बैठे हुए अनुचरोंके लिए भी (राजस्तुति द्वारा ही) राजाओंकी चेष्टा (उस समयके) कार्यविशेषोंको स्पष्ट निवेदन करते हुए मधुरभाषी वैतालिक—लोग उस समय स्पष्ट (श्लेषादिहीन) पदोंसे विशद (अर्थयुक्त भोगावलियोंको उच्चस्वरसे पढ़ने (वर्णन करने) लगे।

विमर्श—राजा देवपूजन, भोजन, मन्त्रणा, अन्तःपुरवास आदि जिन कार्योंको उस समय करने हों, तदनुरूप वैतालिकों द्वारा किये गये वर्णनको 'भोगावली' कहते हैं; उसे सुनकर बाहरी व्यक्ति राजाके तात्कालिक कार्यको जान जाते हैं ।। ६७ ।।

उन्नम्रताम्रपटमण्डपमण्डितं तदानीलनागकुलसङ्कुलमाबभासे ।
संध्यांशुभिन्नघनकर्बुरितान्तरीक्षलक्ष्मीविडम्बि शिविरं शिवकीर्तनस्य ।।

उन्नम्रेति ।। उन्नम्रैरुन्नतैः ताम्रैर्धातुरक्तैः पटमण्डपैर्दूष्यैर्मण्डितं आसमन्तान्नीलैर्नागकुलैर्गजसङ्घैः सङ्कुलं अतएव सन्ध्यांशुभिन्नैः सन्ध्यारागसंभिन्नैर्घनैर्मेघैः कर्बुरितस्य चित्रीकृतस्यान्तरीक्षस्य लक्ष्मीं विडम्बयत्यनुकरोतीति तत्तथोक्तं शिवकीर्तनस्य मङ्गलकीर्तेः कृष्णस्य तच्छिविरं कटकमाबभासे । मनोहरमभूदित्यर्थः । उपमालङ्कारः ।

ऊँचे तथा लाल तम्बुओंसे सुशोभित, अत्यन्त काले हाथियोंके झुण्डोंसे व्याप्त (ठसाठस भरा हुआ) (अत एव) सायङ्कालीन किरणोंसे मिश्रित (कृष्ण वर्णवाले) मेघसे चितकबरे आकाशकी शोभाको नकल करनेवाला अर्थात् उक्तरूप आकाशके समान शोभता हुआ मङ्गल-कारक नामोच्चारणवाले (श्रीकृष्ण भगवान्‌का) वह शिविर (सेना—निवासस्थान) शोभने लगा ।। ६८ ।।

धरस्योद्धर्ताऽसि त्वमिति ननु सर्वत्र जगति
प्रतीतस्तत्किं माममतिभरमधः प्रापिपयिषुः ।
उपालब्धेवोच्चैर्गिरिपतिरिति श्रीपतिमसौ
बलाक्रान्तः क्रीडद्द्विरदमथितोर्वीरुहरवैः ।। ६९ ।।

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्र्यङ्के(सेना—निवेशो नाम[2])पञ्चमः सर्गः ।।

धरस्येति ।। बलैःसैन्यैराक्रान्तो गिरिपतिः रैवतकः क्रीडद्भिर्विहरमाणैर्द्विरदैर्मथितानां भग्नानामुर्वीरुहाणां वृक्षाणां रवैः शब्दैर्निमित्तेन श्रीपतिं हरिम् । नन्वङ्ग त्वं धरस्य पर्वतस्योद्धर्ता उद्धारकोऽसीति सर्वत्र जगति प्रतीतः प्रसिद्धः । गोवर्धनोद्धारणादिति भावः । तर्त्हि किं किमर्थमतिभरमतिभारवन्तं मामधः प्रापिपयिषुः प्रापयितुमिच्छुरसि । प्रापयतेःसन्नन्तादुप्रत्ययः । इत्युच्चैरुपालब्धेव आक्रुक्षदिवेत्युत्प्रेक्षा ।

---

१. 'तान्तरिक्ष—' इति पा० । २. कोष्ठान्तर्गतः पाठो मूलेऽविद्यमानोऽपि 'वल्लभदेव' व्याख्यानुसारं वर्द्धितः ।

उपाङ्पूर्वाल्लभेर्लुङ् 'एकाच उपदेशे–' (७।२।१०) इति नेट्। 'झषस्तथोर्धोऽधः' (८।२।४०) इति तकारस्य धकारः। 'धि च' (८।२।२५) इति सिचः सकारलोपः। शिखरिणी वृत्तम्। 'रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी' इति लक्षणात्॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते
शिशुपालवधकाव्यव्याख्याने सर्वंकषाख्ये
पञ्चमः सर्गः॥ ५॥

सेनाओंसे आक्रान्त यह पर्वतराज (रैवतक) क्रीडा करते हुए हाथियोंसे तोड़े गये वृक्षोंके शब्दोंसे लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण भगवान्‌को उच्चस्वरसे उलहना दे रहा था कि—'सम्पूर्ण संसारमें आप पर्वत (गोवर्धन) पहाड़ का उद्धार करने (पक्षा०—ऊपर उठाने) वाले प्रसिद्ध हैं, तब (अपनी सेना तथा कुक्षिमें त्रिलोक का भार ग्रहण कर मुझ पर निवास करनेसे) अत्यन्त भारयुक्त (बोझिल) मुझको क्यों नीचे प्राप्त कराना (पाताललोकमें बसाना) चाहते हैं ?'

विमर्श—श्रीकृष्ण भगवान्‌की सेनासे तथा त्रिलोक को कुक्षिस्थ कर स्वयं निवास करनेसे रैवतक पर्वत भाराधिक्यके कारण दबा जा रहा था और हाथी उसके पेड़ोंको तोड़ते थे तब उच्चस्वरसे उनसे 'तड़–तड़' आदि ध्वनि होती थी। वह ध्वनि ऐसी ज्ञात होती थी कि रैवतक श्रीकृष्ण भगवान्‌से उलहना दे रहा है कि—'हे भगवन्! गोवर्धन पर्वतको उठानेसे आप सम्पूर्ण लोकमें पर्वतके उद्धारक–ऊपर उठानेवाले कहलाते हैं तो मुझे भाराक्रान्तकर क्यों इस प्रकार दबाये जाते हैं कि मैं धसकर पातालमें चला जाऊँ ?॥ ६९॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'सेनानिवेश' नामक
पञ्चम सर्ग समाप्त हुआ॥ ५॥

षष्ठः सर्गः

अथ ऋतुवर्णनं प्रस्तौति—

अथ रिरंसुममुं युगपद्गिरौ कृतयथास्वतरुप्रसवश्रिया।
ऋतुगणेन निषेवितुमादधे भुवि पदं विपदन्तकृतं सताम्॥ १॥

अथेति। अथ सेनानिवेशानन्तरं गिरौ रैवतके रिरंसुं रन्तुमिच्छुम्। रमेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। एतेन ऋतुवर्णनप्रवृत्तेः समुचित्तवृत्तिज्ञानपूर्वकत्वमुक्तम्। सतां साधूनां विपदामन्तं करोतीति विपदन्तकृत्। क्विप्। तं विपदन्तकृतम्। सेव्यमिति भावः। अमुं हरिं निषेवितुं स्वतरून् स्वस्वनियतवृक्षाननतिक्रम्य यथास्वतरु। यथार्थेऽव्ययीभावः। यथास्वतरुस्थिता प्रसवश्रीः पुष्पफलसम्पत्तिः यथास्वतरुप्रसवश्रीः। 'प्रसवस्तु फले पुष्पे' इत्यमरः। शाकपार्थिवादिषु द्रष्टव्यः। सा कृता येन तेन कृतयथास्वतरुप्रसवश्रिया। यथास्वतरुकृतप्रसवश्रियेत्यर्थः। ऋतुगणेन युगपद्भुवि पदमादधे आहितम्। युगपदृतुगणः प्रादुरभूदित्यर्थः। न ह्यवसरं सेवकाः क्षिपन्तीति भावः। अत्र सर्गे सर्वत्र यमकशब्दालङ्कारः। तल्लक्षणं तूक्तं चतुर्थे। अर्थालङ्कारस्तु यथासम्भवमूह्यः। अस्मिन्सर्गे द्रुतविलम्बितं वृत्तम्। 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति लक्षणात्।

(अब रैवतक पर्वतपर श्रीकृष्ण भगवान्‌के विहारके प्रसङ्ग में ऋतुवर्णन करनेके लिए छठे सर्गका आरम्भ यमकादि अलङ्कारोंसे युक्त पद्योंसे करते हैं) इस (सेनानिवेश) के बाद रैवतक पर्वतपर रमण करनेके इच्छुक तथा सज्जनोंकी विपत्तिको दूर करनेवाले इन (श्रीकृष्ण भगवान्) की सेवा करनेके लिए, अपने-अपने वृक्षोंके अनुसार पल्लव तथा पुष्प आदि की शोभाको उत्पन्न किये हुए वसन्तादि ऋतु-समूहने एक साथ (क्रमिक नियमको छोड़कर) पैर रखा अर्थात् अपने-अपने चिह्नोंको प्रकट किया॥ १॥

अथ लोकवेदयोः प्राथम्येन व्यवहाराद्वसन्तादौ वर्णयति—

नवपलाशपलाशवनं पुरः स्फुटपरागपरागतपङ्कजम्।
मृदुलतान्तलतान्तमलोकयत्स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः॥ २॥

नवेति॥ स हरिः पुरोऽग्रे प्रथमं वा नवपलाशानि नूतनपर्णानि पलाशवनानि किंशुककाननानि यस्मिंस्तं नवपलाशपलाशवनम्। बहुव्रीहिपूर्वपदो बहुव्रीहिः। 'पलाशः किंशुके पत्रे पलाशम्' इति विश्वः। स्फुटानि विकचानि परागे रजोभिः परागतानि व्याप्तानि च पङ्कजानि यस्मिंस्तं स्फुटपरागपरागतपङ्कजं। मृदुलाः कोमला अत एव तान्ताः आतपसमये किञ्चिन्म्लाना लतान्ताः पल्लवा यस्मिंस्तं मृदुलतान्तलतान्तं सुमनोभरैः पुष्पसमृद्धिभिः सुरभिं सुगन्धिं सुरभिं वसन्तमलो-

कयदपश्यत् । 'सुरभिश्चम्पके स्वर्णे जातीफलवसन्तयोः । सुगन्धौ च मनोज्ञे च वाच्यवत्' इति विश्वः । इह प्रतिपादं प्रथमाक्षरद्वयात् परतोऽक्षरत्रयावृत्तिरूपयमकप्रक्रमाच्चतुर्थपादेऽपि तदेव यमकम् । एकस्मादप्यपरमिति सजातीयसंसृष्टिः ।

(यद्यपि छहों ऋतुएँ एक साथ ही रैवतक पर्वतपर अपना-अपना कार्य आरम्भ कर दीं, तथापि छहों ऋतुओं का वर्णन एक साथ करना अशक्य होनेसे आगे वसन्तादि ऋतुओंके क्रमसे वर्णन किया गया है । उसमें सर्वप्रथम वसन्तका वर्णन बीस श्लोकों (६।२-२१) से करते हैं) श्रीकृष्ण भगवान्‌ने पहले नवपल्लवयुक्त पलाशवनवाले, विकसित तथा मकरन्दसे परिपूर्ण कमलोंवाले, कोमल (अतएव गर्मीसे) कुछ म्लान पुष्पोंवाले तथा पुष्पसमूहोंसे सुरभित वसन्त ऋतुको देखा ॥ २ ॥

विलुलितालकसंहतिरामृशन्मृगदृशां श्रमवारि ललाटजम् ।
तनुतरङ्गतति[1] सरसां दलत्कुवलयं वलयन्मरुदाववौ ॥ ३ ॥

विलुलितेति ॥ विलुलितालकसंहतिर्विधुतचिकुरनिकरः सन् मृगदृशां ललाटजं श्रमवारि स्वेदमामृशन् परिमृजन् । मन्द इति भावः । सरसां तनुतरङ्गततिं दलन्ति विकसन्ति कुवलयानि यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा वलयंश्चालयन् । शीतल इति भावः । मरुद्वसन्तवायुराववौ आवाति स्म ।

मृगनयनियोंके ललाटमें उत्पन्न पसीनेके जलको सुखाते हुए उनके केशकलापको हिलानेवाला, नीलकमलोंके विकासपूर्वक जलाशयोंके तरङ्गश्रेणिको (धीरे-धीरे) चपल करता (हिलाता) हुआ (मलयाचलका) पवन चलने लगा ॥ ३ ॥

तुलयति स्म विलोचनतारकाः कुरबकस्तबकव्यतिषङ्गिणि ।
गुणवदाश्रयलब्धगुणोदये मलिनिमालिनि माधवयोषिताम् ॥ ४ ॥

तुलयतीति । कुरबकस्तबके व्यतिषङ्गिणि लग्ने अत एव गुणवतः शुक्लगुणस्य कुरबकस्तबकस्याश्रयणेन लब्धो गुणोदयो निजनीलिमगुणोत्कर्षो येन तस्मिन् । धवले नीलस्य स्फुरणादिति भावः । अलिनि भ्रमरे मलिनस्य भावो मलिनिमा कृष्णत्वं माधवयोषितां हरिवधूनां विलोचनानां तारकाः कनीनिकाः । 'तारकाक्ष्णः कनीनिका' इत्यमरः । तुलयति स्म समीचकारः । तद् बभावित्यर्थः । तुलाशब्दात्सदृशपर्यायात् 'तत्करोति-' (ग०) इति ण्यन्तात् 'लट् स्मे' (३।२।११८) इति भूते लट् । उपमालङ्कारः ।

कुरबकके पुष्पपर बैठनेपर (अतएव श्वेत) गुणयुक्त आश्रय (कुरबक पुष्प) से गुण (कालिमा) का उदय (अधिकता) प्राप्त करने पर कालिमा, श्रीकृष्ण भगवान्‌की अङ्गनाओंके नेत्रोंकी (काली) पुतलियोंकी समता करती थी ।

विमर्श—श्वेतवर्णके कुरबकके पुष्पपर बैठनेपर भ्रमरकी शोभा शुभ्रवर्णका आश्रय

---

१. '—ततीः' इति पा० ।

पानेसे अधिक बढ़ गयी अर्थात् श्वेत पुष्पपर भ्रमरको कालिमा चमक उठी, उस समय वह श्रीकृष्ण भगवान्‌की अङ्गनाओंके नेत्र की काली पुतलीके समान शोभती थी, क्योंकि उन अङ्गनाओंके स्वच्छ एवं विशाल नेत्रोंमें छोटी-सी काली पुतली शुभ्रवर्ण बड़े कुरबकपुष्प पर बैठे कृष्णवर्ण छोटे भ्रमरके समान ही थी ॥ ४ ॥

स्फुटमिवोज्ज्वलकाञ्चनकान्तिभिर्युतमशोकमशोभत चम्पकैः ।
विरहिणां हृदयस्य भिदाभृतः कपिशितं पिशितं मदनाग्निना ॥ ५ ॥

स्फुटमिति ॥ उज्ज्वलकाञ्चनकान्तिभिः शुद्धसुवर्णप्रभैश्चम्पकैर्युतम् । चम्पकसमूहमध्यगतमित्यर्थः । स्फुटं विकचमशोकपुष्पं भिदा भेदः । 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' (३। ३।१ ४) तां बिभर्ति यत्तस्य भिदाभृतो भिन्नस्य विरहिणां हृदयस्य हृदयपिण्डस्य सम्बन्धि मदनाग्निना कपिशीकृतं पिशितं मांसमिवाशोभतेत्युत्प्रेक्षा ।

(तपानेसे) शुद्ध सोने की कान्तिवाले (पीले-पीले) चम्पाके पुष्पोंसे युक्त (चम्पाके पुष्पोंके मध्यमें विकसित) अशोकका पुष्प, विरहियोंके विदीर्ण हुए हृदयके कामाग्निसे (अर्धदग्धकर) कपिशवर्ण किये गये मांसके समान शोभता था ।

विमर्श—इस पद्यमें वसन्त ऋतुमें विकसित होनेवाले चम्पा तथा अशोकके पुष्पको क्रमशः मदनाग्नि तथा विदीर्ण विरहि-हृदयका मांस माना गया है, इस प्रकार अग्निरूप चम्पक पुष्पके मध्यगत मांसरूप अशोक पुष्पका कपिश (पिङ्गल) वर्ण होना उचित ही है ॥ ५ ॥

स्मरहुताशनमुर्मुरचूर्णतां दधुरिवाम्रवणस्य रजःकणाः ।
निपतिताः परितः पथिकव्रजानुपरि ते परितेपुरतो भृशम् ॥ ६ ॥

स्मरेति ॥ आम्रवणस्य चूतवनस्य । 'आम्रश्चूतो रसालश्च' इत्यमरः । 'प्रनिरन्तःशर–' (८।४।५) इत्यादिना वननकारस्य णत्वम् । 'रजःकणाः परागचूर्णाः स्मरहुताशनः कामाग्निः स एव मुर्मुरस्तुषाग्निः 'मुर्मुरस्तु तुषानलः' इति वैजयन्ती । तस्य चूर्णतां दधुरिवेत्युत्प्रेक्षा । अतो मुर्मुरचूर्णत्वादेव परित उपरि निपतितास्ते रजःकणाः पन्थानं गच्छन्तीति पथिकाः । 'पथः कन्' (५।१।७५) इति कन्प्रत्ययः । तेषां व्रजान् भृशं परितेपुः परितापयामासुः । अतो मुर्मुरचूर्णत्वोत्प्रेक्षणमिति भावः ।

(मञ्जरीयुक्त) आमके वनके पराग मानो कामाग्नि के भभूल (भूसे की अग्निके मुर्मुर चूर्ण बन गये (अत एव) सब ओरसे ऊपरमें गिरे हुए वे पथिकोंको सन्तप्त कर लगे ॥ ६ ॥

रतिपतिप्रहितेव कृतक्रुधः प्रियतमेषु वधूरनुनायिकाः ।
बकुलपुष्परसासवपेशलध्वनिरगान्निरगान्मधुपावलिः ॥ ७ ॥

रतिपतीति ॥ प्रियतमेषु विषये कृतक्रुधः । 'प्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियाम्' इत्यमरः । वधूरनुनायिकाः कुपितस्त्रीरनुनेष्यन्ती । 'तमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३।३।१) इति भविष्यदर्थे ण्वुल् प्रत्ययः । 'अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः'

(२।३।७) इति षष्ठीप्रतिषेधाद्वधूरिति द्वितीया। रतिपतिना कामेन प्रहिता प्रेषितेव तद्वाणीश्रवणानन्तरमेव तासां कोपत्यागदर्शनादियमुत्प्रेक्षा। वकुलपुष्पाणां रसो मकरन्दः स एवासवस्तेन तत्पानेन पेशलध्वनिर्मधुरस्वरा मधुपावलिः कर्त्री न गच्छतीत्यगाद्वृक्षान्निरगान्निर्गता। 'इणो गा लुङि' (२।४।४५) इति गादेशः।

प्रियतमोंपर क्रुद्ध अङ्गनाओंको मनानेवाली, मानो कामदेवके द्वारा भेजी गयी तथा बकुल-पुष्पके मकरन्दरूपी मद्यके (पान करनेसे) मधुर ध्वनिवाली भ्रमरपङ्क्ति (पेड़ोंसे) निकली।

विमर्श—जिस प्रकार पतिपर रुष्ट नायिकाको मनाकर प्रसन्न करनेके लिए कोई व्यक्ति दूतीको भेजता है और वह दूती उस नायिका के पास जाकर उसे अनेकविध प्रिय वचनोंसे प्रसन्न कर लेती है; उसी प्रकार मानो कामदेवने भी मधुपश्रेणिको प्रियतमोंपर क्रुद्ध नायिकाओंको खुश करनेके लिए भेजा है, ऐसी प्रतीति कुरबक पेड़ोंसे उड़ती हुई भ्रमरश्रेणिको देखकर होती थी। उस मधुपश्रेणिके मधुर शब्दको सुनकर मानिनयोंका मानभङ्ग हो जानेसे उक्त उत्प्रेक्षा की गयी है। पुष्परसोंका पानकर मधुर ध्वनि करती हुई वृक्षोंसे उड़ती भ्रमरश्रेणिको देखकर मानिनियोंका मान भङ्ग हो जाता है॥ ७॥

प्रियसखीसदृशं प्रतिबोधिताः किमपि काम्यगिरा परपुष्टया।
प्रियतमाय वपुर्गुरुमत्सरच्छिदुरयाऽदुरयाचितमङ्गनाः॥ ८॥

प्रियसखीति॥ गुरोर्महतो मत्सरस्य द्वेषस्य छिदुरया छेत्र्या। 'विदिभिदिच्छिदेः कुरच्' (३।२।१६२)। काम्यगिरा ग्राह्यवाचा परपुष्टया कोकिलया प्रियसख्या सदृशं यथा तथा किमपि परैर्दुर्बोधं रहस्यं हितं प्रतिबोधिता उपदिष्टा अङ्गनाः प्रियतमाय अयाचितमप्रार्थितमेव वपुर्निजाङ्गम् अदुरर्पयामासुः। ददातेर्लुङि 'गातिस्था—' (२।४।७) इत्यादिना सिचो लुक्। कोकिलाकूजितश्रवणानन्तरमेवाङ्गार्पणादौत्सुक्यहेतुकाद्यनन्तरन्यायेन तथा किमपि बोधिता इत्युत्प्रेक्षा।

बढ़े हुए मत्सर (पतिविषयक द्वेष) को नष्ट करनेवाली, मधुरभाषिणी कोयलके द्वारा प्रिय सखीके समान कुछ (गुप्त रहस्य) समझायी गयी स्त्रियोंने बिना प्रार्थना किये ही अपने शरीरको (सम्भोगार्थ) प्रियतमके लिए समर्पित कर दिया अर्थात् समझानेवाली सखीके समान कोयलोंका मधुर कामोद्दीपक वचन सुनकर मानिनी स्त्रियां मान छोड़कर प्रियतमके साथ सम्भोग करने लगीं॥ ८॥

मधुकरैरपवादकरैरिव स्मृतिभुवः पथिका हरिणा इव।
कलतया वचसः परिवादिनीस्वरजिता रजिता वशमाययुः॥ ९॥

मधुकरैरिति॥ मधुकरैः कर्तृभिः। अपवादं मृगवञ्चनाय घण्टादिकुत्सितवाद्यं कुर्वन्तीत्यपवादकरा व्याधास्तैरिव पथिका हरिणा इव परिवादिनीस्वरजिता वीणा-

१. '—रववाद—' इति पा०।

विशेषध्वनिजयिन्या । 'सप्तभिः परिवादिनी' इत्यमरः । जेः क्विपि तुक । वचसो गीतस्य कलतया माधुर्येण करणेन रंजिताः आकृष्टाः सन्त इत्यर्थः । रञ्जेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । 'रञ्जेर्णौ मृगरमणे:' (वा०) इति उपधानकारलोपः । इहोपमानमृगसादृश्यादौपचारिकं मृगत्वम् उपमेयेषु पथिकेष्वस्तीत्यविरोधः । स्मृतिभुवः स्मरस्य मृगपातचिन्ताविषयत्वान्मृगग्रहणगर्तदेशस्य च वशमाययुः । यथा व्याधगानासक्त्या गर्ते मृगाः पतन्ति तद्वन्मधुकरहुङ्काराकृष्टाः पान्थाः स्मरपारवश्यं भेजुरित्यर्थः । अनेकैवेयमुपमा ।

व्याधाओंसे हरिणके समान भ्रमरोंसे, सात तारोंसे बजनेवाली वीणाके झनकारको जीतनेवाली वचन (भ्रमर गुञ्जन) की मधुरतासे आकृष्ट पथिक कामके वशीभूत हो गये ।

विमर्श—जिस प्रकार मधुर गाने-बजानेवाले व्याधोंके मधुर शब्दसे आकृष्ट हरिण उनके वशीभूत हो जाते हैं, उसी प्रकार भ्रमरोंके मधुर गुञ्जनसे पथिक कामके वशीभूत हो गये ॥ ९ ॥

समभिसृत्य रसादवलम्बितः प्रमदया कुसुमावचिचीर्षया[1] ।
अविनमन्न रराज वृथोच्चकैरनृतया नृतया वनपादपः ॥ १० ॥

समभिसृत्येति ॥ प्रमदया कर्त्र्या कुसुमानामवचिचीषया अवचेतुमिच्छया रिरंसयेति भावः । चिनोतेः सन्नन्तात् 'अ प्रत्ययात्' (३।३।१०२) इति स्त्रियामकारप्रत्ययः । 'विभाषा चेः' इति विकल्पात् कुत्वाभावः । रसाद्रागात् संमभिसृत्य समागत्यावलम्बितो हस्तेन गृहीतस्तथाप्यविनमन् वशमगच्छन् अत एव वृथोच्चकैर्व्यर्थमुन्नतो वनपादपः । न तु नागरिक इति भावः । न ऋतेत्यनृता असत्या तया अनृतया नुर्भावो नृता तया नृतया पुंस्त्वेन रराज । 'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः पूरुषा नरः' इत्यमरः । यः कान्ताकरगृहीतोऽपि न द्रवति स नपुंसक एव, लौकिकस्तु पुंस्त्वव्यपदेशो मिथ्यैवेति भावः ।

फूल तोड़ने की इच्छासे समीप जाकर प्रेमपूर्वक स्त्रीके द्वारा पकड़ा गया (तथापि मोटी शाखा होनेसे) नहीं झुकनेवाला (अत एव) निरर्थक ऊंचा वनवृक्ष मिथ्या पुरुषत्व (होनेके कारण) से नहीं शोभता था ।

विमर्श—'वृक्ष' शब्दको कोषकारोंने पुंल्लिङ्ग माना है, अत एव यदि उसमें पुंल्लिङ्गत्व होता तो प्रेमपूर्वक समीप आयी हुई कामिनीके झुकानेपर अवश्य झुक जाता, किन्तु वह नहीं झुका इससे ज्ञात होता है कि वह पुरुष नहीं, अपितु नपुंसक है ॥ १० ॥

अथ कश्चित्स्वयंग्रहाश्लेषसुखार्थं प्रियामलिपातेन भीषयंस्त्रिभिः (११-१३) कुलकेनाह—

इदमपास्य विरागि परागिणीरलिकदम्बकमम्बुरुहां ततीः ।
स्तनभरेण जितस्तवकानमन्नवलते वलतेऽभिमुखं तव ॥ ११ ॥

---

१. 'चिकीषया' इति पा० ।

इदमित्यादि ॥ स्तनभरेण साधनेन जिताभ्यां स्तवकानम्यामानमन्ती नवलता यया सा तथोक्ता तस्याः सम्बुद्धिर्जितस्तबकानमन्नवलते स्तवकामन्नवलतोपमे इत्यर्थः । अत एवेदं विरागि विरक्तिमदलिकदम्बकं परागिणीः परागवतीरिति विरक्तिहेतूक्तिः । अम्बुरुहां ततीरपास्य तवाभिमुखं वलते चलति । विशिष्टलताभ्रमादिति भावः । तथा च भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते ।

(अब 'मेरी प्रियतमा मुझे स्वयमेव आलिङ्गन कर सुखी करे' ऐसी इच्छा करनेवाले किसी विलासी प्रियतमके द्वारा भ्रमरपातसे भीत की गयी अङ्गनाके स्वयमेव किये गये आलिङ्गनका वर्णन तीन श्लोकों (६।११-१३) से करते हैं । फूलके गुच्छे (के भार) से झुकी हुई नवीन लताको स्तनोंके भारसे जीतनेवाली हे प्रिये ! परागयुक्त कमलश्रेणियोंको छोड़कर विरागयुक्त यह भ्रमर-समूह (तुम्हें श्रेष्ठ लता समझकर) तुम्हारे सामने आ रहा है ॥ ११ ॥

अथालेस्तदभिमुखागमने कारणमाह—

सुरभिणि श्वसिते दधतस्तृषं नवसुधामधुरे च तवाधरे ।
अलमलेरिव गन्धरसावमू मम न सौमनसौ मनसो मुदे ॥ १२ ॥

सुरभीति ॥ तव सुरभिणि श्वसिते निश्वासमारुते नवसुधावन्मधुरे अधरे च तृषं तृष्णां दधतो दधानस्यालेर्भ्रमरस्य ममेवामू उपलभ्यमानौ सुमनसां पुष्पाणां सम्बन्धिनौ सौमनसौ गन्धरसौ सौरभमाधुर्ये मनसोऽन्तःकरणस्य मुदे नालं न पर्याप्तौ । अतस्त्वद्वदनरसगन्धलोभादागच्छतीत्यर्थः । 'नमःस्वस्ति—' (२।३।१६) इत्यादिना चतुर्थी । अत्र कान्ताकर्तृकस्वयंग्रहाश्लेषसुखार्थिनः प्रियस्य तद्भयहेतोरलेरेवागमनहेतुत्वेनात्र दृष्टान्तेन मुखसौरभरसलोभभरकुसुमवैराग्ययोर्वर्णयितुमौचित्याद्यमकानुसारेण विप्रकृष्टेनापि ममशब्देनेवशब्दस्यान्वयः । 'वलतेऽभिमुखं तव अलिभयादिव सस्वजे' इत्युपक्रमोपसंहाराभ्यामलेः प्रकृतत्वेनोपमेयत्वावगमात् । अन्यथा मध्ये तद्वैपरीत्ये तद्विरोधादित्यलमहिचलनाध्वमार्गणेन । अत्रोपमानुप्रासयमकानां तावद्विजातीयानां संसृष्टिः स्पष्टैव । तथा यमकानां त्रयाणां चतुर्थपादादावेकस्मादक्षरात्, द्वाभ्यां, त्रिभ्यश्च परतोऽक्षरत्रयावृत्तिलक्षणानां स्थितत्वात् सजातीयसंसृष्टिश्चेष्टा ।

(तुम्हारे सामने भ्रमरके आनेमें यह कारण है कि) सुगन्धयुक्त तुम्हारे निःश्वास तथा नवीन अमृतके समान मधुर तुम्हारे अधरोष्ठमें तृषाको धारण करते हुए ये दोनों पुष्पोंके सौरभ तथा परागरस-मेरे समान भ्रमरके मनको भी हर्षित करनेमें समर्थ नहीं हैं ॥ १२ ॥

इति गदन्तमनन्तरमङ्गना भुजयुगोन्नमनोच्चतरस्तनी ।
प्रणयिनं रभसादुदरश्रिया वलिभयालिभयादिव सस्वजे ॥ १३ ॥

इतीति ॥ इतीत्थं गदन्तं प्रणयिनं अनन्तरं भुजयुगस्योन्नमनेनोच्चतरावत्युन्नतौ

स्तनौ यस्याः सा। 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' (४।१।५४) इति ङीष्। वलिभया वलयो विद्यन्ते यस्यास्तया वलिमत्या। 'तुन्दिवलिवटेर्भः' (५।२।१३९) इति मप्रत्ययः। उदरश्रिया मध्यशोभया उपलक्षिता अङ्गना अलिभयादिव रभसाद् सस्वजे आलिलिङ्ग। वस्तुतस्तु रागादेवेति भावः। 'ष्वञ्ज परिष्वङ्गे' इति धातोः कर्तरि लिट्। 'लज्जामन्मथमध्यस्था मध्येयं नायिका मता' इति।

इस प्रकार (६।११–१२) कहते हुए प्रेमीका, बादमें दोनों बाहुओंको उठानेसे अधिक ऊँचे स्तनोंवाली तथा त्रिवलीयुक्त उदरशोभासे उपलक्षित अङ्गनाने मानो भ्रमरके भय से वेगपूर्वक आलिङ्गन कर लिया॥ १३॥

वदनसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरसंभ्रमसंभृतशोभया।
चलितया[1] विदधे कलमेखलाकलकलोऽलकलोलदृशान्यया॥ १४॥

वदनेति॥ वदनस्य सौरभे सौगन्ध्ये लोभेन परिभ्रमता भ्रमरेण हेतुना यः संभ्रमस्तेन संभृतशोभया सम्पादितश्रिया चलितया अलिसंभ्रमात्प्रस्थितया अत एवालकैरलकपातैर्लोलदृशा चञ्चलाक्ष्या अन्यया स्त्र्यन्तरेण कलो मेखलायाः कलकलः कोलाहलो विदधे विहितः। अलिभयादपसरन्त्याः काञ्चीगुणध्वनिरजनीत्यर्थः। एतेन चकितत्वमुक्तम्। चकितं भयसंभ्रमः। अनुप्रासयमकयोः सजातीयशब्दालङ्कारयोः संसृष्टिः स्पष्टैव तावत्। तथा यमकयोश्च द्वयोः सजातीययोः चतुर्थपादादावेकस्मादक्षराद् द्वाभ्यां च परतोऽक्षरत्रयावृत्तिलक्षणयोः स्थितत्वात् सजातीययोः संसृष्टिः।

(अङ्गनाके) मुखके सुगन्धके लोभसे घूमते (चारों ओर चक्कर लगाकर पास आते) हुए भौंरेके भयसे बढ़ी हुई शोभावाली (तथा उससे डरकर अन्यत्र) चली हुई (अत एव) केशसे व्याकुल नेत्रोंवाली (किसी दूसरी) अङ्गनाने करधनीका मधुर शब्द किया अर्थात् डरकर शीघ्रतापूर्वक चलनेसे उसकी करधनी बजने लगी॥ १४॥

अजगणन् गणशः प्रियमग्रतः प्रणतमप्यभिमानितया न याः।
सति मधावभवन्मदनव्यथा विधुरिता धुरिताः कुकुरस्त्रियः॥ १५॥

अजगणन्निति॥ याः कुकुरस्त्रियो यादवाङ्गनाः गणशो बहुशः। 'बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्' (५।४।४१) इति शस्प्रत्ययः। अग्रतः प्रणतमपि प्रियम्। जातावेकवचनम्। प्रियानित्यर्थः। अभिमानिनीनां भावोऽभिमानिता तया। 'त्वतलोर्गुणवचनस्य पुंवद्भावो वक्तव्यः' (वा०)। नाजगणन्न गणयन्ति स्म। गणेश्चौरादिकाण्णौ चङि 'ई च गणः' (७।४।९७) इत्यभ्यासस्य पाक्षिक इत्त्वाभावः। ताः कुकुरस्त्रिये मधौ वसन्ते सति प्रवर्तमाने। 'मधुश्चैत्रे वसन्ते च' इति विश्वः। मदनव्यथाविधुरिता विह्वलिताः सत्या धुरि अग्रेऽभवन्नवर्तन्त। स्वयमेव पुरः प्रवृत्ता इत्यर्थः।

जिन यादवाङ्गनाओंने सामने अनेकबार प्रणत हुए भी प्रियको अभिमानिनी होनेसे

---

१. 'वलितया' इति पा०।

नहीं गिना—मान त्यागकर सम्भोगार्थ तैयार नहीं हुई, वसन्तके आरम्भ होनेपर कामपीडासे पीडित वे यादवाङ्गनाएँ आगे हुई अर्थात् सम्भोगार्थ स्वयमेव पहले तैयार हो गयीं ॥ १५ ॥

कुसुमकार्मुककार्मुकसंहितद्रुतशिलीमुखखण्डितविग्रहाः ।
मरणमप्यपराः प्रतिपेदिरे किमु मुहुर्मुमुहुर्गतभर्तृकाः ॥ १६ ॥

कुसुमेति ॥ गतभर्तृका वियोगिन्यः । 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इति कप् । अपराः काश्चिदङ्गनाः कुसुमकार्मुकस्य कामस्य कार्मुके संहितैः द्रुतैर्जवनैः शिलीमुखैः शरैः खण्डितविग्रहाः पाटितशरीराः सत्यो मरणमपि प्रतिपेदिरे । मुहुः पुनः पुनः मुमुहुर्मुमूर्च्छुरिति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ।

पतिहीन (पतिके विदेश आदिमें जानेसे विरहिणी) दूसरी अङ्गनाएँ कामदेवके धनुषपर चढ़ाकर फेंके गए बाणोंसे विदीर्ण शरीरवाली होकर मर भी गयी, 'बार–बार मोहित हो गयीं' इस विषयमें तो क्या कहना है ? अर्थात् इस विषय में कुछ भी कहना व्यर्थ है (क्योंकि जो मारनेवाला है, उससे मोहित होना तो बहुत साधारण कार्य है ॥ १६ ॥

अथ कस्याश्चित्प्रोषितभर्तृकाया बन्धुजनसमाश्वासनं विशेषकेणाह—

रुरुदिषा वदनाम्बुरुहश्रियः सुतनु सत्यमलङ्करणाय ते ।
तदपि सम्प्रति सन्निहिते मधावधिगमं धिगमङ्गलमश्रुणः ॥ १७ ॥

रुरुदिषेति ॥ सुतनु शुभाङ्गि, 'अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः' (७।३।१०७) इति ह्रस्वत्वम् । दीर्घोत्तरपदो बहुव्रीहिः, अन्यथा गुणः स्यात् । रुरुदिषा रोदनेच्छा । अश्रुविमोचनमित्यर्थः । रुदेः सन्नन्तादप्रत्यये टाप् । ते तव वदनाम्बुरुहश्रियोऽलङ्करणाय सत्यम् । 'रम्याणां विकृतिरपि श्रियं तनोति' (किरातार्जुनीये ७।५) इति न्यायादिति भावः । गम्यमानक्रियापेक्षत्वाच्चतुर्थी । तदपि तथापि सम्प्रति मधौ वसन्ते सन्निहिते सन्निहितोत्सवे सति अश्रुणोऽधिगमं प्राप्तिममङ्गलं धिक् निन्दतीत्यर्थः । 'धिङ् निर्भर्त्सननिन्द्योः' इत्यमरः । 'धिगुपर्यादिषु त्रिषु' इति द्वितीया । अतो मा रुद इत्यर्थः ।

(बन्धुजन द्वारा किसी प्रोषितपतिकाको आश्वस्त करनेका वर्णन विशेषकात्मक तीन श्लोकों (६।१७–१९) से करते हैं । हे सुन्दरी ! तुम्हारी रोने की इच्छा यद्यपि सचमुच तुम्हारे मुखकमलको सुशोभित करनेके लिए हैं अर्थात् रोने की इच्छा करनेपर भी तुम्हारा मुखकमल शोभता ही है, तथापि इस समय वसन्तके आनेपर अमङ्गल आँसूको बहाना अनुचित है ॥१७॥

त्यजति कष्टमसावचिरादसून् विरहवेदनयेत्यघशङ्किभिः ।
प्रियतया गदितास्त्वयि बान्धवैरवितथा वितथाः सखि मा गिरः ॥ १८ ॥

त्यजतीति ॥ प्रियतया इष्टतया अघशङ्किभिरनर्थोत्प्रेक्षिभिः । 'प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि' (किरातार्जुनीये ९।७०) इति भावः । बान्धवैस्त्वयि विषये गदिता उच्चारिताः कष्टं बत असौ बाला विरहवेदनया अचिरादसून् प्राणांस्त्यजति त्यक्ष्यति ।

'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' (३।३।१३१) इति लट् । इत्येवंविधा गिर उक्तीः हे सखि, विगतं तथात्वं यासां ता वितथा अनृताः । 'वितथं त्वनृतं वचः' इत्यमरः । बहुव्रीहौ विशेष्यलिङ्गता ब्राह्मणादित्वाद्ध्रस्वः । ततो नञ्समासः । अवितथाः सत्यः मा वितथा मा कृथाः । वृथातिशोकेन मा कृथा इत्यर्थः । विपूर्वात्तनोतेर्लुङि थास् 'तनादिभ्यस्तथासोः' (२।४।७९) इति विभाषा सिचो लुक् 'अनुदात्तोपदेश–' (६।४।३७) इत्यादिनानुनासिकलोपः 'न माङ्योगे' (६।४।७४) इत्यडागमप्रतिषेधः ।

'खेद है कि यह अङ्गना विरहपीडासे शीघ्र ही प्राणोंका त्याग कर देगी' स्नेहवश अनिष्ट की आशङ्का करनेवाले प्रिय बन्धुओंके सत्य (वास्तविक) वचनोंको भी तुम सत्य मत होने दो अर्थात् उनके वचनोंको असत्य कर दो (तुम चिरकालतक जीवित रहो) ॥ १८ ॥

न खलु दूरगतोऽप्यतिवर्तते महमसाविति बन्धुतयोदितैः ।
प्रणयिनो निशमय्य वधूर्वहिः स्वरमृतैरमृतैरिव निर्ववौ ॥ १९ ॥
(विशेषकम्)

नेति ॥ किं चासौ ते प्रणयी दूरगतो दूरस्थोऽपि महं वसन्तोत्सवम् । 'मह उद्धव उत्सवः' इत्यमरः । नातिवर्तते नातिक्रामति खलु इति बन्धुतया बन्धुसमूहेन । 'ग्रामजनबन्धुसहायेभ्यस्तल्' (४।२।४३) इति तल्प्रत्ययः । उदितैरुक्तैः । वदेः कर्मणि क्तः । ऋतैः सत्यवचनैः । 'सत्यं तथ्यमृतं सम्यक्' इत्यमरः । बहिः प्रणयिनस्तदेव देवादागतस्य प्रियस्य स्वरं कण्ठगतं शब्दं निशमय्य श्रुत्वा 'शमु अदर्शने' इति चौरादिकाल्ल्यप् 'मित्त्वाद्ध्रस्वः' (६।४।९२) 'ल्यपि लघुपूर्वात्' (६।४।५६) इत्ययादेशः । वधूरमृतैः सुधाभिरिव निर्ववौ विर्ववार । वातेर्लिट् । 'निर्वाणं निर्वृतिः सुखम्' इति ।

और अत्यन्त दूरस्थ भी तुम्हारा प्रणयी (प्रेमी पति) वसन्तोत्सवको नहीं छोड़ेगा अर्थात् वसन्तोत्सव मनानेके लिए अवश्य आवेगा, इस प्रकार (६।१७–१९) प्रियजनों (सखी आदि) के सत्य कथनोंसे, बाहर (द्वारपर, संयोगवश उसी समय आये हुए) प्रियतमके स्वरको सुनकर वह नायिका उस प्रकार तृप्त हुई जिस प्रकार अमृतसे कोई तृप्त होता है ॥ १९ ॥

मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥ २० ॥

मधुरयेति ॥ मधुरया मनोहरया मधुना वसन्तेन बोधिताः विकासिताश्च ता माधव्यश्च । पुष्पधर्मः पुष्पितासूपचर्यते । तासां माधवीनामतिमुक्तलतानाम् । 'अतिमुक्तः पुण्ड्रकः स्याद्वासन्ती माधवी लता' इत्यमरः । मधुसमृद्धया मकरन्दसम्पदा समेधितमेधया सम्वर्धितप्रतिभया अत एव उन्मदयतीत्युन्मदो मदकरः । पचाद्यच् । तं ध्वनिं बिभर्तीत्युन्मदध्वनिभृत् तया मधुकराङ्गनया मुहुर्निभृताक्षरम् ।

लक्षणया स्थिरनादं यथा तथेत्यर्थः। अथवा सर्वः शब्दो वर्णात्मक एव व्यञ्जकविशेषाभावादस्फुट इति मतमाश्रित्योक्तं सर्वपथीनाः कवय इति। उज्जगे उच्चैर्गीतम्। गायतेरविवक्षितकर्मकाद्भावे लिट्। 'बन्धवैषम्यराहित्यं समता पदगुम्फने' इति लक्षणात्समताख्यो गुणः।

मनोहारिणी, वसन्तसे विकसित की गई अर्थात् वसन्तमें खिली हुई माधवी लताके परागके बढ़नेसे बढ़ी हुई बुद्धिवाली अर्थात् वसन्तमें विकसित माधवी लताके पुष्पपरागका पान कर मतवाली, (अत एव) मदोत्पादक ध्वनि करती हुई भ्रमरी गम्भीरतायुक्त उच्चस्वरसे गाने (गूँजने) लगी ॥ २० ॥

अरुणिताखिलशैलवना मुहुर्विदधती पथिकान् परितापिनः।
विकचकिंशुकसंहतिरुच्चकैरुदवहद्दवहव्यवहश्रियम्[1] ॥ २१ ॥

अरुणितेति ॥ अरुणितान्यरुणीकृतान्यखिलानि शैलवनाति यया सा मुहुः पथिकानध्वगान्, विरहिणश्च परितापिनः सन्तापवतो विदवती उच्चैरेवोच्चकैरुन्नता। 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टेः' (५।३।७१) इत्यकच् प्रत्ययः। विकचा विकसिता या किंशुकसंहतिः पलाशकुसुमराशिः सा दवहव्यवहश्रियं दवाग्निशोभामुदवहत्। निदर्शनालङ्कारः ॥ इति वसन्तवर्णनम्।

समस्त पर्वतके वनको रक्तवर्ण बनाई हुई तथा पथिकोंको बार-बार सन्तप्त करती हुई और ऊँची (ऊपरमें स्थित) विकसित पलाश—पुष्पोंकी श्रेणिने दवाग्निकी शोभाको प्राप्त किया अर्थात् खिले हुए पलाश (ढाक) के फूल ऐसे मालूम पड़ते थे कि वनमें दवाग्नि लग रही हो। (६।३ श्लोकसे आरब्ध वसन्तवर्णन समाप्त हो गया) ॥ २१ ॥

अथ ग्रीष्मवर्णनमारभते—

रवितुरङ्गतनूरुहतुल्यतां दधति यत्र शिरीषरजोरुचः।
उपययौ विदधन्नवमल्लिकाः शुचिरसौ चिरसौरभसम्पदः ॥ २२ ॥

रवीत्यादि। यत्र शुचौ शिरीषरजसां रुचः कान्तयो रवितुरङ्गतनूरुहतुल्यतां सूर्याश्वरोमसावर्ण्यं दधति। हरिद्वर्णा भवन्तीत्यर्थः। असौ शुचिर्ग्रीष्मः। 'शुचिः शुद्धेऽनुपहते शृङ्गाराषाढयोस्तथा। ग्रीष्मे हुतवहेऽपि स्यात्' इति विश्वः। नवमल्लिकाः। 'पुष्पे जातीप्रभृतयः स्वलिङ्गाः' इत्यमरः। 'पुष्पमूलेषु बहुमूलम्' (वा०) इति बहुग्रहणाल्लुप्। लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने भवतः। चिरं चिरावस्थायिनी सौरभसम्पत् यासां ताः। स्थिरगन्धा इत्यर्थः। विदधत्कुर्वन्नुपययौ प्राप्तः।

(वसन्त वर्णन करनेके बाद अब तीन श्लोकों (६।२२–२४) से ग्रीष्म ऋतुका वर्णन करते हैं) जिस शुचि अर्थात् ग्रीष्म ऋतु (या—अषाढ़ मास) में शिरीष—पुष्पोंके पराग की कान्ति सूर्यके घोड़ों के हरितवर्णवाले रोमोंकी समानता ग्रहण करती है अर्थात् हरी हो

1. '—हव्यभुजः श्रियम्' इति पा०।

जाती हैं, नवमल्लिकाओंके सुगन्धको चिरस्थायी करता हुआ वह शुचि (ग्रीष्म ऋतु) आ गया ॥ २२ ॥

दलितकोमलपाटलकुड्मले निजवधूश्वसितानुविधायिनि ।
मरुति वाति विलासिभिरुन्मदभ्रमदलौ मदलौल्यमुपाददे ॥ २३ ॥

दलितेति ॥ पाटलाया अवयवाः पाटलाः । लुक्प्रकरणे 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' (वा०) इति बहुलग्रहणादलुक् । ते च ते कुड्मलाश्च, दलिता विभिन्नाः कोमलाः पाटलकुड्मला येन तस्मिन् निजवधूनां श्वसितं निःश्वासमनुविधत्तेऽनुकरोतीति तथोक्ते । तादृशीत्यर्थः । उन्मदा भ्रमन्तश्चालयो यस्मिंस्तस्मिन् उन्मदभ्रमदलौ मरुति ग्रीष्मानिले वाति वहति सति । वातेर्लटः शत्रादेशः । विलासिभिर्विलसनशीलैः कामिभिः । 'वौ कषलसकत्थस्रम्भः' (३।२।१४३) इति घिनुण्प्रत्ययः । मदेन लौल्यं चापल्यमुपाददे । मत्तैर्जातमित्यर्थः ।

कोमल पाटल–कलिकाओंको विकसित करनेवाली, अपनी अङ्गनाओंके निःश्वासके सदृश (ग्रीष्म) तथा जिसमें उन्मत्त भ्रमर उड़ रहे हैं ऐसी हवाके बहते रहनेपर विलासी लोग मदसे चञ्चल हो गये ॥ २३ ॥

निदधिरे दयितोरसि तत्क्षणस्नपनवारितुषारभृतः स्तनाः ॥
सरसचन्दनरेणुरनुक्षणं विचकरे च करेण वरोरुभिः ॥ २४ ॥

निदधिर इति ॥ वरोरुभिः स्त्रीभिः तत्क्षणस्नपनेन सद्यःसेकेन वारितुषारभृतः । जलशीकरधारिण इत्यर्थः । 'तुषारौ हिमशीकरौ' इति शाश्वतः । स्तना दयितोरसि निदधिरे निहिताः । तेषां सन्तापशान्तये स्नानार्द्राङ्गा एव आलिङ्गन्नित्यर्थः । किञ्च करेण पाणिना सरस आर्द्रश्चन्दनरेणुः घृष्टचन्दनपङ्कश्चानुक्षणं विचकरे विकीर्णः । किरतेः कर्मणि लिट् । 'ऋच्छत्यृताम्' (७।४।११) इति गुणः । 'करेणुकरोरुभिः' इति पाठस्तु 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' (४।१।६९) इत्यूङ्प्रसङ्गाद्धेयः ॥ इति ग्रीष्मवर्णनम् ।

उत्तम जघनवाली अङ्गनाओंने प्रियतमके वक्षःस्थलपर तत्काल स्नान करानेसे पानीकी शीतलतासे युक्त अर्थात् ठण्डे–ठण्डे स्तनोंको रख दिया और हाथसे प्रतिक्षण सरस (पीछे) चन्दनके लेपको भी लगाया । (यहाँ तक ग्रीष्मवर्णन समाप्त हुआ) ॥ २४ ॥

स्फुरदधीरतडिन्नयना मुहुः प्रियमिवागलितोरुपयोधरा ।
जलधरावलिरप्रतिपालितस्वसमया समयाज्जगतीधरम् ॥ २५ ॥

स्फुरदिति ॥ स्फुरन्ती अधीरे चञ्चले तडितौ नयने इव तडिन्नयने यस्याः सा अगलिता अरिक्ता उरुपयोधरा मेघा यस्याम्, अन्यत्र ऊरू च पयोधरौ च ऊरुपयोधरम् । प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावः । न गलितं न पतितं यस्यां सा । जलधरावलिर्मेघपङ्क्तिः । अत्र जलधरावलेः पयोधराणां चावयवावयविभावात्पृथङ्निर्देशः । अप्रति पालितस्वसमया अनपेक्षितनिजवेला सती । एकत्र यौगपद्यादन्यत्राधैर्याच्चेति

भावः । जगतीधरं रैवतकं भूधरं प्रियमिव समयात् समागच्छत् । यातेर्लङ् । पयोजगतीशब्दयोः पचाद्यजन्तेन धरशब्देन षष्ठीसमासः । अत एव विशेषणमहिम्ना जलधरावलौ नायिकात्वप्रतीतेः समासोक्तिः, सा तु प्रियमिवेत्युपमयाऽङ्गेन सङ्कीर्यते ।

(ग्रीष्म-ऋतुका वर्णन करनेके बाद अब सोलह श्लोकों (६।२५–४५) से क्रमागत वर्षा ऋतुका वर्णन करते हैं । चमकते हुए चञ्चल बिजलीरूपी नेत्रोंवाली (नहीं बरसनेसे) बड़े-बड़े-मेघोंवाली, (श्रीकृष्ण भगवान्‌की सेवाके लिए एक-साथ सब ऋतुओंके उपस्थित होनेके कारण) अपने समय (क्रमिक काल) की अपेक्षाको छोड़ी हुई मेघश्रेणि (रैवतक) पर्वत पर उस प्रकार उपस्थित हुई, जिस प्रकार चमकते हुए एवं चञ्चल बिजलीके समान नेत्रोंवाली (युवावस्था होनेसे) नहीं गिरे हुए अर्थात् उन्नत एवं बड़े–बड़े स्तनोंवाली (कामवृद्धि होनेसे धैर्य धारण नहीं कर सकनेके कारण) अपने समयकी अपेक्षा नहीं की हुई नायिका प्रियके पास (असमयमें ही) उपस्थित हो जाती है ।। २५ ।।

गजकदम्बकमेचकमुच्चकैर्नभसि वीक्ष्य नवाम्बुदमम्बरे ।
अभिससार न वल्लभमङ्गना न चकमे च कमेकरसं रहः ।। २६ ।।

गजेति ।। नभसि श्रावणमासे । 'नभाः श्रावणिकश्च सः' इत्यमरः । अम्बरे व्योम्नि गजकदम्बकमिव मेचकं श्यामलम् । 'कालश्यामलमेचकाः' इत्यमरः । उच्चैरेवोच्चकैरुन्नतं नवाम्बुदं वीक्ष्य अङ्गना एक एकायनो रसो रागो यस्य तमेकरसम् । तिरस्कृतरसान्तरमित्यर्थः । कं वल्लभं प्रियं रह एकान्ते न चकमे न कामयते स्म, तथा नाभिससार च । सर्ववल्लभं सर्वापि तत्तदङ्गना चकमे अभिससार चेति । नवाम्बुदस्योद्दीपकत्वादतिशयोक्तिः । इव कामनापूर्वकत्वादभिसरणस्य तयोरर्थक्रमबलीयस्त्वन्यायेन यमकवशादायातपाठक्रमबोधने योजना न्याय्यैव ।

श्रावण मासमें आकाशमें गज–समूहके समान नीलवर्ण तथा उन्नत नये मेघोंको देखकर किस स्त्रीने एक रसवाले अर्थात् दूसरे रसोंका त्यागकर केवल शृङ्गार रसवाले किस प्रियतमको (सम्भोगार्थ) नहीं चाहा ? तथा किस वल्लभके प्रति अभिसार नहीं किया ? अर्थात् सभी अङ्गनाओंने प्रियतमको चाहा तथा उनके प्रति अभिसार भी किया ।

विमर्श—यद्यपि पहले सम्भोगार्थ इच्छा होने, तथा तदनन्तर अभिसार करनेका क्रम लोकानुभूत होनेसे उसी क्रमसे पद्यमें कविको भी कहना चाहिए था, किन्तु यमकालङ्कारके लिए क्रम-परिवर्तन न्यायोपेत ही समझना चाहिए ।। २६ ।।

अनुययौ विविधोपलकुण्डलद्युतिवितानकसंवलितांशुकम् ।
धृतधनुर्वलयस्य पयोमुचः शबलिमा बलिमानमुषो वपुः ।। २७ ।।

अनुययाविति ।। धृतधनुर्वलयस्य धृतेन्द्रचापमण्डलस्य पयोमुचो मेघस्य सम्बन्धी शबलस्य भावः शबलिमा विचित्रता । 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' (५।१।१२)

विविधा नानावर्णा उपला मणयो ययोस्तयोः कुण्डनयोर्द्युतिवितानकेन कान्तिपुञ्जेन संवलिता मिलिता अंशवो निजनीलभासो यस्य तत्तथोक्तम्। 'शेषाद्विभाषा' (५।४।१५४) इति कप्प्रत्ययः। बलिमानमुषो बल्यसुराहङ्कारापहारकस्य हरेर्वपुरनुययावनुचकार। तद्वद्बभावित्यर्थः।

इन्द्रधनुष युक्त मेघकी विचित्रता (अनेकवर्णत्व) ने, अनेक प्रकारके मणियोंसे युक्त कुण्डलोंकी कान्तिके समूहसे मिश्रित (शरीरकी श्यामल) कान्तिवाले तथा बलिदैत्यको नष्ट करनेवाले वामन भगवान्के शरीरका अनुकरण किया अर्थात् वामन भगवान्के शरीरके समान शोभने लगा ॥ २७ ॥

द्रुतसमीरचलैः क्षणलक्षितव्यवहिता विटपैरिव मञ्जरी।
नवतमालनिभस्य नभस्तरोरचिररोचिररोचत वारिदैः॥ २८॥

द्रुतेति॥ द्रुतसमीरेण शीघ्रमारुतेन चलैर्वारिदैः क्षणं लक्षिता च व्यवहिता च सा क्षणलक्षितव्यवहिता क्षणिकाविर्भावतिरोधानेत्यर्थः। स्नानानुलिप्तवत् 'पूर्वकालैक—' (२।१।४९) इत्यादिना समासः। अचिरं रोचिर्यस्याः सा अचिररोचिर्विद्युत् द्रुतसमीरचलैर्विटपैः शाखाभिः क्षणलक्षितव्यवहिता नवतमालनिभस्य नवतमालेन सदृशस्य तद्वन्नीलस्येत्यर्थः। नित्यसमासः। नभस्तरुरिव तस्य नभस्तरोर्मञ्जरी गुच्छ इवारोचत। उपमालङ्कारः। अत्र नभस्तरोर्नभःश्रेष्ठस्येति व्याख्याने तरुशब्दस्य व्याघ्रादिवाछ्रेष्ठार्थगोचरत्वात्तमालशब्देन विशेषवाचिना तन्नीलसामान्येन पौनरुक्त्यमिति वल्लभः। तमालशब्दस्येन्द्रनीलवन्नैल्यमात्रोपमानत्वात्तरुशब्दस्य स्वार्थवृत्तित्वेऽपि न पौनरुक्त्यमित्यन्ये।

तीव्र वायुसे चपल मेघोंसे क्षणमात्रमें दृष्टिगोचर होकर अन्तर्हित बिजली, तीव्र वायुसे चञ्चल (हिलती हुई) डालियोंसे क्षणमात्र दृष्टिगोचर होकर अन्तर्हित नये तमाल वृक्षके सदृश (श्यामवर्ण) आकाशरूप वृक्षकी मंजरीके समान शोभती थी॥ २८॥

पटलमम्बुमुचां पथिकाङ्गना सपदि जीवितसंशयमेष्यती।
सनयनाम्बुसखीजनसंभ्रमाद्विधुरबन्धुरबन्धुरमैक्षत ॥ २९॥

पटलमिति॥ पथिकाङ्गना काचित्प्रोषितभर्तृका अत एव सपदि जीवितसंशयं मरणमेष्यती। निश्चितमरणेत्यर्थः। 'आच्छीनद्योर्नुम्' (७।१।८०) इति विकल्पान्नुमभावः। अत एव सनयनाम्बोः सबाष्पस्य सखीजनस्य सम्भ्रमात्क्षोभाद्विधुरबन्धुः संभ्रमदर्शनाद्विह्वलबन्धुजना सती अम्बुमुचां पटलमबन्धुरमशोभनम्। सदैन्यरोषमिति यावत्। ईक्षतेर्लङ् 'आटश्च' (६।१।९०) इति वृद्धिः। इति विरहवेदनाक्षामाया नायिकाया मरणसाधनमेघपटलावेक्षणवर्णनायां तदुद्योगलक्षणा मरणावस्थोक्ता। सा हि द्विविधा, तदुद्योगस्तद्योगश्चेत्याहुः। 'दृङ्मनःसङ्गसङ्कल्पा जागरः कृशता रतिः। ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश॥' इत्यवस्थासंग्रहः।

तत्काल मरणको प्राप्त होने वाली अर्थात् आसन्नमरणा (अत एव उसके दुखसे) रोती हुई सखियों के घवड़ानेसे दुःखित बान्धओंवाली किसी पथिकपत्नीने मेघ—समूहको दीनता तथा रोषके साथ देखा ॥ २९ ॥

प्रवसतः सुतरामुदकम्पयद्विदलकन्दलकम्पनलालितः ।
नमयति स्म वनानि मनस्विनीजनमनोनमनो घनमारुतः ॥ ३० ॥

प्रवसत इति ॥ कन्दली भूकन्दली । 'द्रोणपर्णी स्निग्धकन्दः कन्दली भूमिकन्दली ।' इति शब्दार्णवः । तस्याः पुष्पाणि कन्दलानि 'फले लुक् (४।३।१६३) इत्यणो लुक् । विदलानां विकचानां कन्दलानां कम्पनेनावधूननेन लालित उपस्कृतो मनस्विनीजनस्य मनसां नमनो नमयिता । मानिनीमानभञ्जन इत्यर्थः । कर्तरि ल्युट् । घनमारुतो मेघवायुः वनानि नमयति स्म । प्रवसतः प्रोषितान् सुतरामुदकम्पयदुद्वेजितवान् । मनस्विनीमानमर्दनस्य वननमनं प्रोषितकम्पनं वा कियदिति भावः ।

खिले हुए कन्दली—पुष्पको कँपानेवाली तथा मानिनियोंके मनको झुकाने (उनका मानमर्दन करने) वाली मेघकी हवा वनोंको नवा दिया तथा प्रवासियों परदेशवासियों-विरहियों) को सहसा कम्पित (व्याकुल) कर दिया ॥ ३० ॥

जलदपङ्क्तिरनर्तयदुन्मदं कलकलापि कलापिकदम्बकम् ।
कृतसमार्जनमर्दलमण्डलध्वनिजया निजया स्वनसम्पदा ॥ ३१ ॥

जलदेति ॥ निजया आत्मीयया स्वनसम्पदा कृतः संमार्जनस्य मार्जनाख्यसंस्कारसहितस्य मर्दलमण्डलस्य ध्वनेर्जयो यया सा तथोक्ता । मार्जनं नाम मर्दलानां ध्वननार्थं भस्ममृदिताम्भःपुष्करलेपनम् । जलदपङ्क्तिरुन्मदमुत्कटमदं कलकलापि मधुरालापापि कलापिकदम्बकं मयूरवृन्दमनर्तयत् ।

अपनी ध्वनि—सम्पत्ति (अधिक गरजने) से मसाला लगाये हुए नगाड़ेके शब्दको जीतनेवाली मेघश्रेणिने उन्मत्त होकर मधुर केका शब्द करते हुए मोरोंको नचाया अर्थात् मेघकी गम्भीर ध्वनिको सुनकर मोर उन्मत्त होकर बोलते हुए नाचने लगे ॥ ३१ ॥

नवकदम्बरजोरुणिताम्बरैरधिपुरन्ध्रि शिलीन्ध्रसुगन्धिभिः ।
मनसि रागवतामनुरागिता नवनवा वनवायुभिरादधे ॥ ३२ ॥

नवेति ॥ नवकदम्बरजोभिररुणितमरुणीकृतमम्बरमाकाशं यैस्तैः शिलीन्ध्राणां कन्दलीकुसुमानां यः सुगन्धः स एषामस्तीति शिलीन्ध्रसुगन्धिनस्तैः । गन्धस्येत्वे तदेकान्तग्रहणादिन् प्रत्ययाश्रयणम् । 'कन्दल्यां च शिलीन्ध्रः स्यात्' इति शब्दार्णवे । वनवायुभिः पुरन्ध्रिषु स्त्रीषु विषये अधिपुरन्ध्रि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । रागवतां कामिनां मनसि नवनवा नवप्रकारा 'प्रकारे गुणवचनस्य' (८।१।१२) इति द्विर्भावः । कर्मधारयवद्भावात्सुपो लुक् । अनुरागिता आदधे । अनुराग उत्पादित इत्यर्थः ।

नये कदम्बके पुष्पके परागसे आकाशको अरुण किये हुए कन्दलीपुष्पोंकी सुगन्धसे

युक्त वनपवनने रोगियों के मनमें स्त्री-विषयक नया नया अनुराग उत्पन्न किया अर्थात् उक्तरूप पवनके बहनेसे कामी पुरुषों का स्त्रियों में अधिकाधिक अनुराग हो गया ॥ ३२ ॥

शमिततापमपोढमहीरजः प्रथमबिन्दुभिरम्बुमुचांऽम्भसाम् ।
प्रविरलैरचलाङ्गनमङ्गनाजनसुगं न सुगन्धि न चक्रिरे ॥ ३३ ॥

शमितेति ॥ अम्बुमुचो मेघाः प्रविरलैरम्भसां प्रथमबिन्दुभिः शमिततापमपोढमहीरजो निरस्तधूलिकम् । न तु पङ्किलमिति भावः । सुगन्धि संतसेकादुद्भूतसौरभम् । इह तदेकान्तत्वाद्गन्धस्येत्वम् । अचलाङ्गनं रैवतकाङ्गनम् । 'अङ्गनं चत्वराजिरे' इत्यमरः । अङ्गनाजनस्य सुखेन गच्छत्यस्मिन्निति सुगम् । सुखसञ्चारमित्यर्थः । 'सुदुरोरधिकरणे' (वा०) इति गमेर्डप्रत्यये टिलोपः । न न चक्रिरे । चक्रिरे इत्यर्थः । द्वौ नञौ प्रकृतमर्थं गमयतः ।

बादलोंने बहुत थोड़े, (बरसे हुए) पानीके प्रथम बिन्दुओंसे तापरहित, शान्तधूलिवाले (प्रथम वृष्टि होनेसे थोड़ा जल पड़े हुए सत्तुके समान सने) सौरभवाले, रैवतकके मैदानको स्त्रीजनोंके लिए सुखपूर्वक चलने योग्य नहीं बना दिया ऐसा नहीं अर्थात् थोड़ा पानी बरसानेसे छिडकाव-सा करके रैवतकके मैदानको धूलिरहित एवं सौरभयुक्त कर अङ्गनाओंके आनन्द-पूर्वक चलने योग्य बना ही दिया ॥ ३३ ॥

द्विरददन्तवलक्षमलक्ष्यत स्फुरितभृङ्गमृगच्छवि केतकम् ।
घनघनौघविघट्टनया दिवः कृशशिखं शशिखण्डमिव च्युतम् ॥ ३४ ॥

द्विरदेति ॥ द्विरददन्तवलक्षं गजदन्तधवलम् । 'वलक्षो धवलोऽर्जुनः' इत्यमरः । भृङ्गो मृग इव भृङ्गमृगः तस्य छविः सा स्फुरिता यस्मिंस्तत्तथोक्तं केतक्याः पुष्पं केतकम् । 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' (वा०) इत्यणो लुकि नादिवृद्धिः 'लुक् तद्धितलुकि' (१।२।४९) इति स्त्रीप्रत्ययस्यापि लुक् । घनघनौघविघट्टनया निबिडमेघसङ्घोपघातेन दिवोऽन्तरिक्षाच्च्युतं कृशशिखं सूक्ष्माग्रं शशिखण्डमिवालक्ष्यतेत्युत्प्रेक्षा ।

हाथीदाँतके समान स्वच्छ, घूमते हुए भ्रमररूपी मृगकान्ति (मृगलाञ्छन) वाला तथा सूक्ष्माग्र केतकीके पुष्पको लोगोंने सघन मेघके गरजनेसे आकाशसे गिरे हुए चन्द्रमाके टुकड़ेके समान देखा ॥ ३४ ॥

दलितमौक्तिकचूर्णविपाण्डवः [1]स्फुरितनिर्झरशीकरचारवः ।
कुटजपुष्पपरागकणाः स्फुटं विदधिरे दधिरेणुविडम्बनाम् ॥ ३५ ॥

दलितेति ॥ दलितमौक्तिकानां निष्पिष्टमुक्ताफलानां चूर्ण इव विपाण्डवोऽतिशुभ्राः स्फुरिता ये निर्झराणां शीकराः कणास्त इव चारवः कुटजपुष्पपरागकणाः स्फुटं

१. 'स्फुटित—' इति पाठान्तरम् ।

दधिरेणुविडम्बनां दधिचूर्णानुकारं विदधिरे चक्रिरे। तद्वद्बभुरित्यर्थः। पूर्वोपमानद्वयानुप्राणितेयमुपमेति संकरः।

पीसे गये मोतीके चूर्णके समान अत्यन्त श्वेतवर्ण तथा स्फुरित होते हुए झरनोंके सूक्ष्म जल–कणोंके समान मनोहर कुटज (इन्द्रयव) के फूलोंके परागकण मानो दहीके चूर्णके समान शोभते थे ॥ ३५ ॥

नवपयः कणकोमलमालतीकुसुमसंततिसंततसङ्गिभिः।
प्रचलितोडुनिभैः परिपाण्डिमाः शुभरजोभरजोऽलिभिराददे ॥ ३६ ॥

नवेति ॥ नवपयःकणवन्नवोदकविन्दुवत्कोमलानां मालतीकुसुमानां जातीपुष्पाणां सन्ततिषु सन्ततसङ्गिभिर्निरन्तरासक्तैः 'सुमना मालती जातिः' इत्यमरः। अत एव प्रचलितोडुनिभैः परागभूषणात् सञ्चरन्नक्षत्रकल्पैरिवेत्युत्प्रेक्षा। अलिभिः शुभाद्रजोभरात्परागपुञ्जाज्जातः शुभरजोभरजः परिपाण्डिमा धवलिमा आददे स्वीकृतः।

नये जलकणके समान कोमल मालती (जाती) के पुष्पोंके गुच्छोंपर निरन्तर बैठे हुए (अत एव परागरञ्जित होनेसे) चलते हुए नक्षत्रोंके समान भौंरे शुभ पराग–समूह से उत्पन्न श्वेतभाव को धारण कर लिये अर्थात् उक्तरूप भौंरे सम्पूर्ण शरीरमें पराग समूह के लगनेसे श्वेत हो गये ॥ ३६ ॥

निजरजः पटवासमिवाकिरद् धृतपटोपमवारिमुचां दिशाम्।
प्रियवियुक्तवधूजनचेतसामनवनी नवनीपवनावलिः ॥ ३७ ॥

निजेति ॥ प्रियवियुक्तवधूजनचेतसाम्। कर्मणि षष्ठी। अनवनी अरक्षणी। किन्तु हन्त्रीत्यर्थः। अवतेः कर्तरि ल्युटि ङीप्। नवनीपवनावलिः नवकदम्बकाननपङ्क्तिः। धृताः पटोपमाः पटकल्पा वारिमुचो मेघा याभिस्ताः। मेघपटावृता इत्यर्थः। तासां दिशां निजरजः स्वपरागं पटवासं पिधानमिवेत्युत्प्रेक्षा। अकिरदक्षिपत्। सखीवदिति भावः।

पतिरहित (विरहिणी) स्त्रियोंके चित्तकी रक्षा नहीं करनेवाली अर्थात् विरहिणियोंके लिए दुखदायिनी नये कदम्बोंके वनकी श्रेणिने कपड़ेके समान मेघसे आच्छादित (नायिकारूपिणी) दिशाओंके लिए अपने परागको, कपड़ेको सुवासित करनेवाले चूर्ण (पाउडर) के समान बिखेर दिया ॥ ३७ ॥

प्रणयकोपभृतोऽपि पराङ्मुखाः सपदि वारिधरारवभीरवः।
प्रणयिनः परिरब्धुमथाङ्गना ववलिरे वलिरेचितमध्यमाः ॥ ३८ ॥

प्रणयेति ॥ प्रणयकोपभृतः अत एव पराङ्मुखा विमुखा अपि। 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' (४।१।५४) इति विकल्पादाकारः। सपदि वारिधरारवेभ्यो गर्जितेभ्यो भीरवो भीताः। स्त्रिय इति शेषः। अथ अनन्तरं गर्जिताकर्णनानन्तरमेव प्रणयिनः प्रियान् परिरब्धुमालिङ्गितुं वलिरेचितान्यालिङ्गनार्थमङ्गप्रसारणात्त्रिवलि-

रिक्तीकृतानि मध्यमान्यवलग्नानि यासां ताः सत्यः ववलिरे प्रवृत्ताः। वलतेर्वंकारादित्वात् 'न शसददवादिगुणानाम्' (६।४।१२६) इत्येत्त्वाभ्यासलोपप्रतिषेधः।

प्रणयकलहयुक्त (अत एव रतिसे) विमुख भी अङ्गनाएँ तत्काल मेघके गरजनेसे भयभीत होकर इसके बाद अर्थात् मेघके गरजनेपर भयभीत होने के उपरान्त त्रिवली रहित उदरसे युक्त होकर प्रियोंका आलिङ्गन करनेके लिए मुड़ीं (प्रवृत्त हुईं)॥ ३८॥

विगतरागगुणोऽपि जनो न कश्चलति वाति पयोदनभस्वति।
अभिहितेऽलिभिरेवमिवोच्चकैरननृते ननृते नवपल्लवैः॥ ३९॥

विगतेति॥ पयोदनभस्वति मेघमारुते वाति वहति सति। वातेर्लटः शत्रादेशः। विगतरागगुणो विरक्तोऽपि को नरो न चलति। सर्वोऽपि चलत्येवेत्यर्थः। एवमलिभिरुच्चकैरुच्चैस्तरामनृतमसत्यं न भवतीत्यननृतं तस्मिन्ननृते सत्यवचनेऽभिहिते सति नवपल्लवैर्ननृत इव नृत्यं कृतमिवेत्युत्प्रेक्षा। नृतेर्भावे लिट्।

'बरसाती (मादक) हवा बहते रहनेपर विरक्त भी कौन पुरुष चञ्चल (विषयानुरागी) नहीं हो जाता है?' मानो इस प्रकार सत्य वचन भ्रमरोंके कहनेपर नवपल्लव नाचने (हिलने) लगे।

विमर्श—यद्यपि नवपल्लव हवासे हिल रहे थे तथापि कविने भ्रमरोंके उक्त सत्य वचन कहनेसे कम्पित होने लगे। यह उत्प्रेक्षा की है॥ ३९॥

अरमयन् भवनादचिरद्युतेः किल भयादपयातुमनिच्छवः।
यदुनरेन्द्रगणं तरुणीगणास्तमथ मन्मथमन्थरभाषिणः॥ ४०॥

अरमयन्निति॥ अचिरद्युतेर्विद्युतो भयात्किल भयादिव न तु तथा। किन्तु रागादेवेति भावः। किलेत्यलीके। भवनाद्रमणगृहादपयातुं निर्गन्तुमनिच्छवः। भयव्याजात्तत्रैव स्थिता इति भावः। 'बिन्दुरिच्छुः' (३।२।१६९) इत्युप्रत्ययान्तो निपातः। मन्मथेन मन्थरमलसं भाषन्त इति मन्मथमन्थरभाषिणः। कामवशा इत्यर्थः। तरुणीगणास्तं प्रकृतं यदव एव नरेन्द्रास्तेषां गणमरमयन् रमयन्ति स्म। अत्र भयेन रागनिगूहनान्मीलनालङ्कारः। 'मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम्' इति लक्षणात्। सोऽप्यागन्तुकेन भयेन सहजरागतिरोधानादागन्तुकेन सहजतिरोधानरूपः॥ इति वर्षावर्णनम्।

मानो मेघके भयके कारण (वास्तविकमें तो पतियोंके अनुरागके कारण ही) रतिगृहसे बाहर जाना नहीं चाहती हुई तथा कामवश आलस्य युक्त हो बोलती हुई युवतियाँ यदुवंशी राजाओंके समूहको रमण करने लगीं अर्थात् उनके साथ सम्भोग करने लगीं। (यहाँ तक वर्षाऋतुका वर्णन समाप्त हुआ)॥ ४०॥

अथ शरद्वर्णनमारभते—

ददतमन्तरिताहिमदीधितिं खगकुलाय कुलायनिलायिताम्।
जलदकालमबोधकृतं दिशामपरथाप रथावयवायुधः॥ ४१॥

ददतमिति ॥ रथावयवायुधश्चक्रायुधो हरिरन्तरिताहिमदीधितिं तिरोहितोष्णांशुं तथा खगकुलाय पक्षिसङ्घाय । कुलायेषु नीडेषु निलीयन्त इति कुलायनिलायिनः । 'कुलायो नीडमस्त्रियाम्' इत्यमरः । तेषां भावस्तत्ता तां ददतं प्रयच्छन्तम् । पक्षि सञ्चारं प्रतिबध्नन्तमित्यर्थः । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) इति नुम्प्रतिषेधः । दिशामिति कर्मणि षष्ठी । अवोधकृतमबोधकारिणम् । मेघावरणेन प्राच्यादिविवेकं लुम्पन्तमित्यर्थः । जलदकालं प्रावृट्कालमपरथा प्रकारान्तरेण आप प्राप । मेघोदयोपाधिना प्रावृड्व्यवहारभाजं तमेव कालं मेघात्ययोपाधिना शरत्संज्ञयोपलेभे इत्यर्थः । कालो हि एक एव सन्ननेकोपाधिसंबन्धान्नानात्वेनोपचर्यत इति तद्विदः ।

(अब वर्षाके अवसानका वर्णन करते हुए शरदृतुका वर्णन करनेका उपक्रम करते हैं) सुदर्शन चक्रधारी (श्रीकृष्ण भगवान्) ने सूर्यको छिपानेवाले, पक्षिसमूहोंको घोंसलोंमें रखने (रहनेके लिए विवश करने) वाले तथा (घनघोर घटा घेरकर अन्धकार बढ़ानेसे), दिशाओंके ज्ञानको नष्ट करनेवाले मेघ-समय (वर्षा ऋतु) को दूसरे रूपमें प्राप्त किया, अर्थात् वर्षा ऋतुको समाप्त होते हुए देखा ॥ ४१ ॥

स विकचोत्पलचक्षुषमैक्षत क्षितिभृतोऽङ्कगतां दयितामिव ।
शरदमच्छगलद्वसनोपमाक्षमघनामघनाशनकीर्तनः ॥ ४२ ॥

स इति ॥ अघानां नाशनं निवर्तनं कीर्तनं यस्य सोऽघनाशनकीर्तनः स हरिर्विकचमुत्पलमेव चक्षुर्यस्यास्तामच्छं शुभ्रं गलत् स्रंसमानं यद्वसनं तस्योपमा सादृश्यं तस्याः क्षमा योग्या घना मेघा यस्यां सा ताम् । अत एव क्षितिभृतोऽङ्कगतामुत्सङ्गगतां दयितामिवेत्युत्प्रेक्षा । शरदमैक्षत ।

(वर्षा ऋतुका वर्णन करनेके उपरान्त अब तेरह श्लोकों (६।४२–५४) से क्रमागत शरद् ऋतुका वर्णन करते हैं) पापनाशक कीर्तन (नामोच्चारण) है जिसका ऐसे उन श्रीकृष्ण भगवान्ने विकसित कमलरूपनेत्रोंवाली तथा सरकते (नीचेकी ओर गिरते) हुए स्वच्छ कपड़ेकी उपमाके योग्य अर्थात् नीचेको ओर सरकते हुए स्वच्छ कपड़ेके समान मेघवाली शरद् ऋतुको पर्वतराज (पक्षा०—राजा) के अङ्क (मध्य, पक्षा०—क्रोड) में स्थित प्रियाके समान देखा ॥ ४२ ॥

जगति नैशमशीतकरः करैर्वियति वारिदवृन्दमयं तमः ।
जलजराजिषु नैद्रम[1]दिद्रवन्न महतामहताः क्व च नारयः ॥ ४३ ॥

जगतीति ॥ अशीतकर उष्णांशुः करैः स्वांशुभिर्जगति लोके निशायां भवं नैशम् । 'निशाप्रदोषाभ्यां च' (४।३।१४) इति विकल्पादण् प्रत्ययः । तमस्तिमिरम् अदिद्रवद् द्रावयति स्म । निरस्तवानित्यर्थः । 'द्रुगतौ' । णौ चङि उपधाह्रस्वः । सन्वद्भावः । 'स्रवति शृणोति द्रवतिप्रवतिप्लवतिच्यवतीनां वा' (७।४।८१) इत्यभ्या-

[1] 'नैद्रमदुद्रुवन्न' इति पा० ।

सस्य विकल्पादित्वम् । वियत्याकाशे वारिदवृन्दमयं मेघसङ्घरूपम् । स्वार्थे मयट् । तमः अदिद्रवत् । जलजराजिषु निद्रामेव नैद्रं निमीलनं तदेव तमः अदिद्रवत् । तथा हि—महतां महात्मनां अरयः क्व च क्व वा न नाहता अहता न । किन्तु सर्वत्र हता भवन्तीत्यर्थः । द्वितीयनिषेधप्रापितस्य प्रकृतार्थस्य हननस्य तृतीयेन निषेधः । पुनः क्वेति क्वशब्दसामर्थ्यात् प्रकृतार्थपर्यवसानम् । वैधर्म्येण सामान्याद्विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ।

संसारमें रात्रिजन्य अन्धकारको, आकाशमें मेघ–समूहरूप अन्धकारको तथा कमल–समूहों में निद्रा (अविकास) रूप अन्धकारको सूर्यने किरणोंसे दूर कर दिया; बड़ों (तेजस्वियों) के शत्रु कहाँ अक्षत रहते हैं ? अर्थात् जहाँ कहीं सुदूर प्रदेशमें भी तेजस्वियों के शत्रु रहते हैं, सर्वत्र नष्ट ही हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम् ।
शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयूरमणीयताम् ॥ ४४ ॥

समय इति ॥ समयः काल एव शरीरिणां बलाबलं बलाबले । 'विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि' (२।४।१३) इति विकल्पाद् द्वन्द्वैकवद्भावः । करोतीति प्रणिगदन्तः प्रतिपादयन्त इवेत्युत्प्रेक्षा । 'नेर्गदनद–' (८।४।१७) इत्यादिना णत्वम् । शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरा निष्ठुरीकृतनादा मयूरा यस्मिन्कर्मणि तत्परुषीकृतस्वरमयूरं यथा तथा रमणीयतामयुः प्राप्ताः । यातेर्लङि 'लङः शाकटायनस्यैव' (३।४।१११) इति झेर्जुसादेशः, 'उस्यपदान्तात्' (६।१।९६) इति पररूपं संहितायां 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) शरत्प्रावृषोर्हंसमयूरकूजिते माधुर्यामाधुर्यविपर्ययदर्शनात् काल एव प्राणिनां बलाबलनिदानं व्यक्तमभूदित्यर्थः ।

'समय ही प्राणियोंके बलाबलको करता है अर्थात् समयके प्रभावसे ही प्राणी बलवान् तथा निर्बल होते हैं' मानो ऐसा कहते हुए के समान हंसोंके स्वर मधुरताको तथा मयूरोंके शब्द कर्कशताको प्राप्त किये ।

विमर्श—शरदृतुमें हंसोंके शब्द मधुर तथा मयूरोंके शब्द कर्कश हो गए, उसके पूर्व वर्षा ऋतुमें हंसोंके शब्द कर्कश तथा मयूरोंके शब्द मधुर थे । यह परिवर्तन समयके कारण ही हुआ अत एव हंसके शब्दसे ही 'प्राणियोंके बलाबलको समय ही करता है' ऐसी उत्प्रेक्षा की गयी है ॥ ४४ ॥

तनुरुहाणि पुरो विजितध्वनेर्धवलपक्षविहङ्गमकूजितैः ।
जगलुरक्षमयेव शिखण्डिनः परिभवोऽरिभवो हि सुदुःसहः ॥ ४५ ॥

तनुरुहाणीति ॥ पुरोऽग्रे धवलपक्षविहङ्गमा हंसपक्षिणः । 'हंसास्तु श्वेतगरुतः' इत्यमरः । तेषां कूजितैर्विजितध्वनेः शिखण्डिनो मयूरस्य तनौ रुहाणि रूढानि तनुरुहाणि बर्हाणि । इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः । अक्षमया हंसकूजितेर्ष्ययेव जगलुर्गलन्ति

स्म। कालप्रयुक्तस्य वर्हगलनस्याक्षमाहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति गुणहेतूत्प्रेक्षा। युक्तं चैतदित्याह—अरिभवः परिभवः सुदुःसहोऽत्यसह्यो हि। पराजयदुःखितस्याङ्गसादो युज्यत इति भावः। कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः। स चाक्षमोत्प्रेक्षया सङ्कीर्यते।

पहले हंसोंकी ध्वनियोंसे पराजित ध्वनिवाले मोरके पङ्ख मानो (पराभव सहनमें) असमर्थता या—ईर्ष्या, या—क्रोधके कारण झड़ गये, (यह उचित ही है, क्योंकि) शत्रुकृत पराभव अत्यन्त दुःसह होता है ॥ ४५ ॥

अनुवनं वनराजिवधूमुखे बहलरागजवाधरचारुणि।
विकचवाणदलावलयोऽधिकं रुरुचिरे रुचिरेक्षणविभ्रमाः ॥ ४६ ॥

अनुवनमिति ॥ अनुवनं प्रतिवनं बहलो रागो यस्याः सा चासौ जवा च 'औण्ड्रपुष्पं जवा' इत्यमरः। पुष्पेषु जातीप्रभृतित्वात्स्वलिङ्गता। सेवाधरस्तेन चारुणि रम्ये वनराजिरेव वधूस्तस्या मुखं प्राग्भागस्तदेव मुखं वक्त्रमिति श्लिष्टरूपकम्। तस्मिन् रुचिराणामीक्षणानां विभ्रमः शोभा यासां ताः विकचबाणदलावलयो नीलझिण्टीपङ्क्तयः। 'बाणोऽस्त्री नीलझिण्ट्यां च' इति वैजयन्ती। अधिकं रुरुचिरे शुशुभिरे। उपमारूपकयोः सङ्करः।

प्रत्येक वनमें अत्यन्त लाल जपा (अड़हुल) के पुष्परूपी अधर मनोहर, वनश्रेणिरूप स्त्री के मुख (पक्षा०—अग्रभाग) में मनोहर नेत्रके विभ्रम (विलास, या—विशिष्ट भ्रम, या—शोभा) वाले नीली झिण्टी (पियावासा) के दलों (पत्तों, या—फूलोंकी पँखुड़ियों) की श्रेणियाँ अधिक शोभने लगीं।

विमर्श—जिस प्रकार लाल अधरवाले स्त्रियोंके मुखमें नेत्रोंके विलास (या—विविध प्रकाशकी चञ्चलता) शोभती है, उसी प्रकार प्रत्येक वनमें जपा—पुष्पोंसे अरुणवर्णवाली वनराजिके अग्रिम भागमें खिली हुई नीली झिण्टीके फूलोंकी पँखुड़ियाँ शोभती थी। यहांपर जपापुष्पमें स्त्रीके अधरकी वनराजिमें स्त्रीके मुखकी तथा नीली झिण्टीके पुष्पदलोंमें स्त्रियों के चञ्चल नेत्रोंकी कल्पना की गई है ॥ ४६ ॥

कनकभङ्गपिशङ्गदलैर्दधे सरजसारुणकेशरचारुभिः।
प्रियविमानितमानवतीरुषां निरसनैरसनैरवृथार्थता ॥ ४७ ॥

कनकेति ॥ कनकभङ्गाः स्वर्णखण्डा इव पिशङ्गानि दलानि येषां तैः सह रजसा सरजसम्। 'अचतुर—' (५।४।७७) इत्यादिना साकल्यार्थेऽव्ययीभावे समासान्तो निपातः। बहुव्रीह्यर्थे लक्षणया तु सरजस्का इत्यर्थः। अत एव न सरजसमित्यव्ययीभाव इति वामनः। अथवा महाकविप्रयोगप्राचुर्यदर्शनादव्ययीभावदर्शनं प्रायिकमिति पक्षाश्रयणाद्बहुव्रीह्यर्थोऽपि साधुरेव। तथा सरजसं सरजसा वा यें अरुणकेशरास्तैश्चारुभिः, तथा प्रियैर्विमानिता अवमानिता मानवत्यो मानिन्यस्तासां या रुषो

रोषास्तासां निरसनैर्निरासकैः । अस्यतेः कर्तरि ल्युट् । असनैः प्रियकप्रसूनैः । 'सर्जकासनबन्धूकपुष्पप्रियकजीवकाः' इत्यमरः । अवृथार्थता माननिरासकत्वादस्यन्तीत्यसनानीत्यन्वर्थनामकत्वं दधे दध्रे । दधातेः कर्मणि लिट् ।

कटे हुए सुवर्णके समान पिङ्गल (पीली) फूलोंकी पंखुड़ियों वाले, परागसहित केसरोंसे मनोहर और पति से तिरस्कृत (अतएव) मानवती स्त्रियोंके क्रोधको (कामोद्दीपक होनेसे) दूर करनेवाले असन–विजयसारके फूलों, पक्षा०—फेंकनेवालोंने सार्थकता (अपने नामके अनुसार अर्थ होनेसे चरितार्थता) को प्राप्त किया अर्थात् असनका नाम वस्तुतः चरितार्थ हो गया ॥ ४७ ॥

मुखसरोजरुचं मदपाटलामनुचकार चकोरदृशां यतः ।
धृतनवातपमुत्सुकतामतो न कमलं कमलम्भयदम्भसि ॥ ४८ ॥

मुखेति ॥ धृतो नवातपो येन तद्धृतनवातपम् । बालातपताम्रमित्यर्थः । अम्भसि कमलं अम्भःस्थं कमलम् । अम्भोग्रहणं स्थलकमलनिवृत्त्यर्थम्, अम्लानताद्योतनार्थं वा । यतो मदपाटलां चकोरदृशां स्त्रीणां मुखसरोजरुचं मुखारविन्दशोभामनुचकार 'अनुपराभ्यां कृञः' (१।३।७९) इति परस्मैपदनियमः । अतोऽनुकरणाद्धेतोः कं पुमांसमुत्सुकतां प्रेयसीमुखावलोकनकौतुकितां नालम्भयन्नागमयत् । सर्वं चालम्भयदेव । तत्स्मारकत्वादित्यर्थः । एतेनौत्सुक्यवस्तुना कार्येण कारणभूता कमलदर्शनोत्था मुखस्मृतिर्व्यज्यत इति वस्तुनालङ्कारध्वनिः । एतेन स्त्रीमुखसादृश्यात् कमलं स्वाधारेऽम्भसि पुंस उत्सुकतामलम्भयदिति रङ्गराजव्याख्यानं 'काकस्य कार्ष्ण्याद्धवलः प्रासादः' इतिवदसङ्गतं मन्तव्यमिति । अलम्भयदिति लभेर्ण्यन्ताल्लङ् 'लभेश्च (७।१।६४) इति नुमागमः । लभेश्चात्र प्राप्त्युपसर्जनकगत्यर्थत्वात् 'गतिबुद्धि–' (१।४।५२) इत्यादिना अणिकर्तुः कर्मत्वे द्विकर्मकता । गत्युपसर्जनकप्राप्त्यर्थत्वे तु वैपरीत्यमित्युक्तं 'सितं सितिम्ना' (१।२५) इत्यत्र ।

प्रातःकालकी धूपको धारण करने वाला (अतएव विकसित एवं ताम्र वर्ण) जलकमलने जिस कारण चकोर नयनियों (स्त्रियों) के मदसे अरुणवर्ण मुखकान्तिका अनुकरण किया अर्थात् उनके मुखके समान शोभने लगा, उस कारणसे किस पुरुषको (प्रियाके मुखकमलका स्मरण होने से प्रियाके लिए) उत्कण्ठित नहीं कर दिया ? अर्थात् कमलको देखकर तुल्यरूप होनेसे सभी युवक पुरुष अपनी-अपनी प्रियाके मुखका स्मरणकर प्रियाके लिए उत्कण्ठित हो गये ॥ ४८ ॥

[1]विगतसस्यजिघत्समघट्टयत्कलमगोपवधूर्न मृगव्रजम् ।
श्रुततदीरितकोमलगीतकध्वनिमिषेऽनिमिषेक्षणमग्रतः ॥ ४९ ॥

---

१. 'विरत–' इति पा० ।

विगतेति ॥ इषे आश्वयुजमासे । 'स्यादाश्विन इषोऽप्याश्वयुजः' इत्यमरः। कलमगोपी शालिगोप्त्री सा चासौ वधूश्च कलमगोपवधूः । 'स्त्रियाः पुंवत्–'(६।३।३४) इत्यादिना पुंवद्भावः । श्रुत आकर्णितस्तया वध्वा ईरितस्यालपितस्य कोमलगीतकस्य मधुरगानस्य ध्वनिर्येन तं श्रुततदीरितकोमलगीतकध्वनिम् । अत एवाग्रतोऽग्रे न निमिषति विस्मयानन्दाभ्यामित्यनिमिषम् । इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः। तदीक्षणं यस्य तमनिमिषेक्षणम् । घस्तुमत्तुं वेच्छा जिघत्सा । घसेरदादेशाद्वा सन्नन्तात् 'अ प्रत्ययात्' (३।३।१०२) इति स्त्रियामप्रत्ययः विगता सस्यस्य जिघत्सा यस्य तं विगतसस्यजिघत्सम् । उपसर्जनाद्ध्रस्वः । मृगव्रजं नाघट्टयन्नाताडयत् । सिद्धे साधनाप्रयोगादिति भावः । अत्र दण्डसाध्ये मृगनिवारणे काकतालीयन्यायेन सुखार्थस्य गानस्य कारणत्वकथनात् तमाधिरलङ्कारः । 'कारणान्तरयोगात् कार्यसुकरत्वं समाधिः' इति सूत्रात् ।

आश्विन मासमें धानकी रखवाली करनेवाली गोपवधुओंने निर्निमेष हो (उनके) उच्च स्वरसे गाये गये मधुर गान सुनते हुए (तथा सामने खड़े) अत एव धान खानेकी इच्छा नहीं करनेवाले मृग–समूहोंको नहीं भगाया ॥ ४९ ॥

कृतमदं निगदन्त इवाकुलीकृतजगत्त्रयमूर्जमतङ्गजम् ।
बभुरयुक्छदगुच्छसुगन्धयः सततगास्ततगानगिरोऽलिभिः ॥ ५० ॥

कृतेति ॥ अयुजो विषमाश्छदा येषां ते अयुक्छदाः सप्तपर्णास्तेषां गुच्छैः स्तवकैः सुगन्धयः शोभनगन्धाः गजमदगन्धिन इति भावः । अलिभिर्भृङ्गैस्तता विस्तृता गानगिरो येषां ते । अलिभिर्गीयमाना इत्यर्थः । सततं गच्छन्तीति सततगाः सदानतयः । वायव इति यावत् । कृतमदं जनितमदमत एवाकुलीकृतजगत्त्रयम् । ऊर्जः कार्तिकः । 'बाहुलोर्जौ कार्तिकिकः' इत्यमरः । स एव मतङ्गज इति रूपकम् । तं निगदन्त इव अयमागच्छतीत्यावेदयन्त इव ववुर्वान्ति स्म । मत्तमातङ्गगमनेऽप्येवंविधवायुवहनसम्भवादियमुत्प्रेक्षा । रूपकं त्वङ्गमस्याः ।

सप्तपर्ण (सतौने) के गुच्छों (के स्पर्श) से सुगन्धित अर्थात् हाथीके मदके समान गन्धवाली, भ्रमरोंके द्वारा उच्चस्वर से गायी गयी अर्थात् प्रशंसित मदयुक्त किये गये (अतएव) लोकत्रयको व्याकुल करनेवाले कार्तिक मासरूपी हाथी (के आने) की सूचना देती हुई–सी बहने लगी ॥ ५० ॥

विगतवारिधरावरणाः क्वचिद्ददृशुरुल्लसितासितासिताः ।
क्वचिदिवेन्द्रगजाजिनकञ्चुकाः शरदि नीरदिनीर्यदवो दिशः ॥ ५१ ॥

विगतेति ॥ शरदि यदवो यादवाः यदुशब्देन रघुशब्दवत्तदपत्ये लक्षणा । जनपदशब्दानामेव 'तद्राजस्य बहुषु–' (२।४।६२) इति लुक्सम्भवादिति । क्वचि-

द्विगतवारिधरावरणा निवृत्तमेघावरणाः अत एवोल्लसिता कोशादुद्धृता। असिलतेवासिलता तद्वददसिताः श्यामा इत्युपमा। क्वचिन्नीरदिनीर्मेघवतीः। शुभ्राभ्रपटलच्छन्न इत्यर्थः। अत एवेन्द्रगजाजिनमैरावतचर्म तदेव कञ्चुकः कूर्पासको यासां ता इव स्थिता इत्युत्प्रेक्षा। दिशो ददृशुः। उक्तालङ्कारयोः संसृष्टिः।

शरद्ऋतुमें यदुवंशियोंने कहींपर मेघके आवरणसे रहित अर्थात् मेघरहित (अत एव) स्फुरित हुई लता तुल्य तलवारवाली तथा कहीं पर मेघयुक्त (अतएव) ऐरावतके (शुभ्र) चर्मरूपी वस्त्र (चोली) वाली दिशाओंको देखा ॥ ५१ ॥

विलुलितामनिलैः शरदङ्गना नवसरोरुहकेशरसम्भवाम्।
विकरितुं परिहासविधित्सया हरिवधूरिव धूलिमुदक्षिपत् ॥ ५२ ॥

विलुलितामिति ॥ शरदेवाङ्गना इति रूपकम्। अनिलैर्विलुलितां विक्षोभितां नवसरोरुहकेशरसम्भवां धूलिं परागं परिहासविधित्सया नर्मरीतिचिकीर्षया। दधातेः सन्नन्तात्स्त्रियामप्रत्यये टाप्। हरिवधूः विकरितुं विक्षेप्तुमिव। 'तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' (३।३।१०) इति तुमुन्प्रत्ययः। उदक्षिपत् प्रेरितवती। रूपकोज्जीवितेयमुत्प्रेक्षा। किरतिरयं कीर्यमाणकर्मा। यथा रजः किरति मारुतः। क्वचित्तत्कारकोद्देश्यकर्मा यथात्रैवेति विवेकः।

शरद्रूपिणी स्त्रियोंने वायुसे चञ्चल, नये कमलकेसरसे उत्पन्न धूलिको हसी करनेकी इच्छासे श्रीकृष्ण भगवान्‌की प्रियाओंके ऊपर फैलनेके लिए फेंक दिया ॥ ५२ ॥

हरितपत्रमयीव मरुद्गणैः स्रगवनद्धमनोरमपल्लवा।
मधुरिपोरभिताम्रमुखी मुदं दिवि तता वितताम शुकावलिः ॥ ५३ ॥

हरितेति ॥ अभिताम्रमुख्यरुणमुखी। 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्–' (४।१।५४) इत्यादिना विकल्पान्ङीष्। शुकावलिमर्दरुद्गणैः सुमनोगणैर्दिवि तता हरिप्रियार्थमाकाशे वितता हरितानां हरिद्वर्णानां पत्राणां विकारो हरितपत्रमयी। 'टिड्ढाणञ्' (४।१।१५) इत्यादिना विकल्पात् ङीप्। तयावनद्धा ग्रथिता मनोरमाः पल्लवा यस्यां सा स्रगिवेत्युत्प्रेक्षा। मधुरिपोः कृष्णस्य मुदं विततान।

अत्यन्त अरुण मुखवाली शुकश्रेणि (तोतोंका पंक्तिबद्ध झुण्ड) ने मानो देव–समूहके द्वारा आकाशमें फैलायी गयी, हरे–हरे पत्तोंकी बनी हुई तथा बँधे हुए मनोहर पल्लवोंवाली मालाके समान श्रीकृष्ण भगवान्‌की प्रसन्नता बढ़ा दिया ॥ ५३ ॥

स्मितसरोरुहनेत्रसरोजलामतिसिताङ्गविहङ्गहसद्दिवम्।
अकलयन् मुदितामिव सर्वतः स शरदं शरदन्तुरदिङ्मुखाम् ॥ ५४ ॥

स्मितेति ॥ स हरिः स्मितानि विकसितानि सरोरुहाण्येव नेत्राणि येषु तानि

सरोजलानि यस्यां तां तथोक्तामतिसिताङ्गा धवलपक्षा ये विहङ्गा हंसास्तैर्हसन्ती स्मयमानेव स्थिता द्यौर्यस्यां तां तथोक्तां शरैस्तृणविशेषैर्दन्तुराण्युन्नतदन्तानि । हासात्प्रकाशदशनानीति यावत् । 'दन्त उन्नत उरच्' (५।२।१०६) इत्युरच्प्रत्ययो मत्वर्थीयः । तानि दिङ्मुखानि यस्यां तां शरदन्तुरदिङ्मुखां शरदं सर्वतो मुदितामिवाकलयत् । सर्वत्र नेत्रविकासादिङ्गैर्हृष्टामिवामन्यते इत्यर्थः । अत्र सरोजहंसशरेषु नेत्रहासदन्तत्वारोपणाद्रूपकालङ्कारः । तद्वशात्प्रतीयमानाङ्गनाभेदाध्यवसायाच्छरदि मुदितत्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ इति शरद्वर्णनम् ।

उन्होंने (श्रीकृष्ण भगवान्) ने विकसित कमल हैं नेत्र जिसके ऐसे तड़ाग—जलवाली अर्थात् विकसित कमलरूपी नेत्रयुक्त तड़ाग—जलवाली, अत्यन्त शुभ्र शरीरवाले पक्षियों (हंसों) से स्वर्ग को हंसती हुई, तथा (विकसित) कास नामक घासोंसे दन्तुर (बाहर निकले हुए दांतोंसे युक्त) मुखवाली शरद् ऋतुको सब तरफसे प्रसन्न सा माना ।

विमर्श—स्वच्छ नेत्रोंवाली, दूसरे का उपहास करती हुई, अतएव बाहर निकले हुए दांतोंवाली किसी स्त्री को देखकर उसे प्रसन्न माना जाता है, उसी प्रकार विकसित कमल रूपी नेत्रयुक्त स्वच्छतड़ागजलवाली, हंसोंके द्वारा स्वर्गको हंसती हुई सी तथा फूले हुए 'कास' घासोंसे दन्तुरित मुखवाली शरद् ऋतुको भगवान्ने सब ओरसे प्रसन्न माना (यहां तक शरद् ऋतुका वर्णन समाप्त हुआ) ॥ ५४ ॥

अब हेमन्तं वर्णयति—

> गजपतिद्वयसीरपि हैमनस्तुहिनयन् सरितः पृषतां पतिः ।
> सलिलसन्ततिमध्वगयोषितामतनुतातनुतापकृतं दृशाम्[1] ॥ ५५ ॥

गजपतीति ॥ गजपतिः प्रमाणमासां गजपतिद्वयसीर्महागजप्रमाणाः । 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' (५।२।३७) इति प्रमाणार्थे द्वयसच् प्रत्ययः । 'टिड्ढाणञ्—' (४।१।१५) इत्यादिना ङीप् । ता अपि सरितस्तुहिनयन् हिमीकुर्वन् । 'तत्करोति—' (ग०) इति ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः । हेमन्ते भवो हैमनः । 'सर्वत्राण् च तलोपश्च' (४।३।२२) इति हेमन्तशब्दाच्छैषिकोऽण् प्रत्ययः तकारलोपश्च । पृषतां बिन्दूनां पतिर्वायुः । 'पृषन्ति बिन्दुपृषताः' इत्यमरः । अध्वानं गच्छन्तीत्यध्वगाः पथिकाः 'अन्तात्यन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु डः' (३।२।४८) तद्योषितां प्रोषितभर्तृकाणां दृशामतनुतापकृतं महासन्तापकारिणीं सलिलसन्ततिमतनुत । उष्णमश्रूत्पादयामासेत्यर्थः । हेमन्तमारुतो विरहिणीदुःसहोऽजनीति भावः ।

(शरद् ऋतुका वर्णन करने के उपरान्त अब बारह श्लोकों (६।५५—६६) से क्रमप्राप्त हेमन्त ऋतुका वर्णन करते हैं) हाथी के प्रमाण (जिनमें हाथी डूब जाये ऐसी गम्भीर)

---

१. 'दृशोः' इति पा०।

नदियोंको भी हिममय (बर्फीली) करती हुई हेमन्तकी वायुने पथिकोंकी स्त्रियों (प्रोषित-पतिकाओं) के नेत्रोंके अतिशय सन्ताप करनेवाले जलप्रवाहको बढ़ा दिया अर्थात् उक्तरूप हेमन्तकी हवासे विरहिणी स्त्रियोंके नेत्रसे गर्म-गर्म बहुत आंसू बहने लगा—ये स्त्रियां बहुत रोने लगीं।

विमर्श—हस्तिपरिमाण-अत्यन्त गम्भीर नदियोंको हिममयी करनेवाली अर्थात् अत्यन्त ठण्डी हेमन्त वायुका विरहिणियोंके सन्ताप को बढ़ाकर अत्यन्त रुलानेवाली होना परस्पर विरोधी कर्म होनेसे आश्चर्य है॥ ५५॥

सर्वदापि वियोगिनामुद्दीपकवायोर्हेमन्ते वैशिष्ट्यमाचष्टे—

इदमयुक्तमहो महदेव यद्वरतनोः स्मरयत्यनिलोऽन्यदा।
स्मृतसयौवनसोष्मपयोधरान् सतुहिनस्तु हिनस्तु वियोगिनः॥ ५६॥

इदमिति॥ अनिलो वायुरन्यदान्यस्मिन् काले। ग्रीष्मादावित्यर्थः। 'सर्वैकान्य—' (५।३।१५) इत्यादिना दाप्रत्ययः। वियोगिनो वियुक्तान्। 'गतिबुद्धि—' (१।४।५२) इत्यादिना अणिकर्तुः कर्मत्वम्। वरतनोः। वरतनुमित्यर्थः। 'अधीगर्थ—' (२।३।५२) इत्यादिना कर्मणि शेषे षष्ठी। स्मरयतीति स्मरतेराध्याने मित्त्वाद्ध्रस्वत्वम्। इदं स्मारकत्वमपि महदत्यन्तमयुक्तमेव। सहकारिविरहादिति भावः। अहो अत्यन्ताकिञ्चित्करत्वाद्विस्मयः। हेमन्ते तु हन्तृत्वमप्यस्य सम्भवतीत्याह—सतुहिनः तुहिनसहितस्तु सयौवना यौवनयुक्ताः अत एव सोष्माणो ये पयोधराः कुचास्ते स्मृता यैस्तान् स्मृतसयौवनसोष्मपयोधरान् वियोगिनो वियुक्तान्। 'तथायुक्तं चानीप्सितम्' (१।४।५०) इति कर्मत्वम्। हिनस्तु हन्तु। सम्भावनायां लोट्। हेमन्ते हि हिमसहकारात् कुचोष्मैकसाध्यदुःखोत्पादनसामर्थ्याद्वियोगिमारकत्वमपि सम्भाव्यते। ग्रीष्मादौ तु तादृक्सहकारिविरहात् स्मारकत्वमप्ययुक्तमित्यर्थः। अमारके मारकसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः। इह सहजकविप्रौढोक्तिसिद्धयोरभेदाध्यवसाय इति रहस्यम्।

जो वायु (ग्रीष्म आदि ऋतुरूप) दूसरे समयमें विरहियों को जो सुन्दर शरीरवाली प्रियाओंका स्मरण करा देता है, यह (सहकारी नहीं होने पर भी स्मरण करानेसे) बहुत अनुचित है' हिमयुक्त-बर्फीली वह वायु (शीत पड़ने के कारण) युवावस्थासे गर्म-गर्म (प्रियाओंके) स्तनोंका स्मरण किये हुए विरहियोंको मार डाले (यह भले ही उचित हो)॥

प्रियतमेन यया सरुषा स्थितं न सह सा सहसा परिरभ्य तम्।
श्लथयितुं क्षणमक्षमताङ्गना न सहसा सहसा कृतवेपथुः॥ ५७॥

प्रियतमेति॥ अत्राद्यपर्याये न सह सा इति त्रिधा विभागः। अन्यत्र सहसेत्येकं पदम्। सरुषा सरोषया यथा स्त्रिया कर्त्र्या प्रियतमेन सह न स्थितम्। नपुंसके भावे क्तः। सा अङ्गना स्त्री सहसा मार्गशीर्षमासेन। 'मार्गशीर्षे सहा मार्गः'

इत्यमरः । कृतवेपथुर्जनितकम्पा सती । 'ट्वितोऽथुच्' (३।३।८९) इत्यथुच्प्रत्ययः । तं पूर्वमगणितमेव प्रियं हसेन सह वर्तत इति सहसा सहास्या सती । 'अथो हसः हासो हास्यं च' इत्यमरः । 'स्वनहसोर्वा' (३।३।६२) इति विकल्पादप्प्रत्ययः । सहसा शीघ्रम् । स्वरादिपाठादव्ययत्वम् । परिरभ्याश्लिष्य क्षणम् । क्षणमपीत्यर्थः । अन्यथा वैरस्याद् । अत एव सामर्थ्यलभ्यार्थत्वादपेरप्रयोगः श्लथयितुं नाक्षमत । शिथिलीकर्तुं नोत्सहते स्मेत्यर्थः । मानिनीमानभञ्जनक्षमोऽयं मास इति भावः । कलहान्तरितेयं नायिका । 'कोपात्कान्तं पराणुद्य पश्चात्तापसमन्विता' इति लक्षणात् ।

क्रोधयुक्त जो स्त्री प्रियतमके साथ नहीं बैठी, मार्गशीर्ष—अगहन (महीनेकी शीत) से कँपायी गयी तथा हँसती हुई वह स्त्री उस (पूर्वापमानित) पतिका एकाएक आलिङ्गन कर क्षणमात्र भी (उस पतिके आलिङ्गनको) शिथिल नहीं कर सकी ॥ ५७ ॥

भृशमदूयत 'याऽधरपल्लवक्षतिरनावरणा हिममारुतैः।
दशनरश्मिपटेन च सीत्कृतैर्निवसितेव सितेन सुनिर्ववौ ॥ ५८ ॥

भृशमिति ॥ अनावरणा आवरणरहिता या अधरपल्लवस्य क्षतिर्व्रणो हिममारुतै-र्भृशमदूयतातप्यत । दूञो दैवादिकात्कर्तरि लङ् । सा क्षतिः । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात् । सीत्कृतैः सीत्कारैः कर्तृभिः सितेन शुभ्रेण दशनरश्मय एव पटस्तेन करणेन निवसितेवाच्छादितेवेत्युत्प्रेक्षा । वसेराच्छादनार्थात्कर्मणि क्तस्येडागमः । सुनिर्ववौ सुष्ठुनिर्ववार । शीतालुराच्छाद्यत इति भावः । हिमहताधरनिर्वाणस्य सीत्कारकारणकस्य दशनरश्मिपटाच्छादने हेतुत्वोत्प्रेक्षणाद्रूपकोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ।

उक्तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—

(किसी नायिकाके) अधरपल्लवका आवरणरहित (बिना ढका हुआ) जो व्रण (दन्तक्षतजन्य घाव) ठण्ढी हवासे अत्यन्त पीडित हो रहा था, सीत्कार (जाड़ेके कारण मुखसे (निकलनेवाले 'सी—सी' शब्द) के द्वारा दाँतोंकी किरणरूपी सफेद कपड़े से ढका गया वह व्रण अच्छी तरह सुखी हुआ ॥ ५८ ॥

उक्तमेवार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—

व्रणभृता सुतनोः कलसीत्कृतस्फुरितदन्तमरीचिमयं दधे ।
स्फुटमिवावरणं हिममारुतैर्मृदुतया द्रुतयाधरलेखया ॥ ५९ ॥

व्रणेति ॥ मृदुतया मार्दवेन हेतुना हिममारुतैर्दुतया पीडितया । 'टुदु उपतापे' इति धातोः सौवादिकात्कर्मणि क्तः । व्रणभृता दन्तव्रणवत्या सुतनोः स्त्रिया अधरो लेखेव तया अधरलेखया कर्त्र्या सुतनोः कामिन्याः कलेन सीत्कृतेन हेतुना स्फुरिता प्रकाशिता ये दन्तमरीचयस्तन्मयं तद्रूपं स्फुटमावरणमाच्छादनं दध इव धृतमिवेत्युत्प्रेक्षा । दधातेः कर्मणि लिट् ।

१. 'चाधर—' इति पाठान्तरम् ।

(पुनः उसी बात को प्रकारान्तरसे कहते हैं) सुकुमारीकी दन्तक्षतयुक्त (अतएव) कोमलताके कारण हिमकी वायुसे पीडित अधररेखाने मानो मधुर सीत्कार करनेसे स्फुरित हुई दन्तकिरण रूप आवरणको धारण कर लिया ॥ ५९ ॥

धृततुषारकणस्य नभस्वतस्तरुलताङ्गुलितर्जनविभ्रमाः ।
पृथु निरन्तरमिष्टभुजान्तरं वनितयाऽनितया न विषेहिरे ॥ ६० ॥

धृतेति ॥ धृतास्तुषारकणास्तुहिनशीकरा येन तस्य नभस्वतः पवनस्य सम्बन्धिनः तरुलता एवाङ्गुलयस्ताभिस्तर्जनानि यानि तान्येव विभ्रमा विलासाः पृथु विशालमिष्टस्य दयितस्य भुजान्तरं भुजमध्यं वक्षःस्थलं निरन्तरमनितया अप्राप्तया । गाढालिङ्गनमलभमानयेत्यर्थः । इणः कर्तरि क्तः । वनितया स्त्रिया न विषेहिरे न सोढाः । विरहिण्यस्तर्जिता इव नभस्वतो विभ्यतीति भावः ।

हिमकणयुक्त वायुके, वृक्षोंपर चढ़ी हुई लताओंके (कम्पनरूप) तर्जित करने (डराने) के विलासोंको, विशाल एवं सान्द्र प्रियतमके बाहुमूलको आलिङ्गनार्थ नहीं पाई हुई अर्थात् विरहिणी होनेसे प्रियतमके गाढालिङ्गनसे वञ्चित स्त्री नहीं सह सकी ॥ ६० ॥

हिमऋतावपि ताः स्म भृशस्विदो युवतयः सुतरामुपकारिणि ।
प्रकटयत्यनुरागमकृत्रिमं स्मरमयं रमयन्ति विलासिनः ॥ ६१ ॥

हिमेति । स्मरमयं स्मरादागतम् । स्मरप्रयुक्तमित्यर्थः । 'तत आगतः' (४।३।७४) इति मयट् । अकृत्रिममनुरागं सहजं प्रेम प्रकटयति प्रकटीकुर्वाणे । तत्कार्येण स्वेदेनेति भावः । अत एव सुतरामुपकारिणि पुंसां रिरंसाजननात्तेभ्यः स्वानुरागप्रकाशनाच्चात्यन्तोपकर्तरीत्यर्थः । एवंभूते हिमऋतौ हेमन्तेऽपि स्वेदसम्भावनारहितकालेऽपीत्यर्थः । सांहितः 'ऋत्यकः' (६।१।१२८) इति प्रकृतिभावः । भृशं स्विद्यन्ति रागोष्मणा भृशस्विद इति सात्त्विकोक्तिः । क्विप् । हेमन्तोऽपि रागिणां स्वेदहेतुरेव । तद्धेतुरागहेतुत्वादिति भावः । तास्तथा धीरा युवतयो विलासिनः प्रियान् रमयन्ति स्म । हेमन्तस्योद्दीपकत्वादिति पीडाक्षमत्वात्, दीर्घरात्रित्वाच्चोभयेच्छासदृशमरमन्तेत्यर्थः ॥ इति हेमन्तवर्णनम् ।

कामजन्य स्वाभाविक अनुरागको उत्पन्न करनेवाले (अतएव) सहज उपकारी हेमन्त ऋतुमें भी (अनुरागसे सात्त्विकभावोदय होनेके कारण) अत्यन्त स्वेदयुक्त युवतियाँ विलासियों के साथ रमण करती थीं । इस प्रकार यहाँ तक हेमन्तका वर्णन समाप्त हुआ) ॥ ६१ ॥

अथ शिशिरं वर्णयति—

कुसुमयन् फलिनीरलिनीरवैर्मदविकासिभिराहतहुंकृतिः ।
उपवनं निरभर्त्सयत प्रियावियुवतीर्युवतीः शिशिरानिलः ॥ ६२ ॥

कुसुमयन्नित्यादिना ॥ उपवनम् । वन इत्यर्थः । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः ।

'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' (२।४।८४) इति विकल्पादम्भावः। फलिनीः प्रियङ्गुलताः। 'प्रियङ्गुः फलिनी फली' इत्यमरः। कुसुमयन् कुसुमवतीः कुर्वन् इत्युद्दीपनसामग्रीवर्णनम्। कुसुमयतेर्मत्वन्तप्रकृतिकान् 'तत्करोति—' (ग०) इति ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः। णाविष्ठवद्भावे विन्मतोर्लुक्। मदविकासिभिर्मदेन विजृम्भमाणैरलिनीरवैः भृङ्गीहुंकारैराहितहुंकृतिः कृतहुंकारः। माधुर्याद्युद्दीपकत्वातिशयद्योतनार्थमलिनीति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः। शिशिरानिलः प्रियान्वियुवतीः कोपाद्वियुञ्जानाः। यौतेः शतरि धातोरुवङादेशः, 'उगितश्च' (४।१।६) इति ङीप्। युवतीर्वधूः। 'यूनस्तिः' (४।१।७) इति तिप्रत्ययः। निरभर्त्संयततार्जयत। तर्जिभर्त्स्योश्चौरादिकयोरनुदात्तेत्वादात्मनेपदम्। अत्र वायौ अचेतने चेतनधर्मो निर्भर्त्सनमुत्प्रेक्ष्यते। सा चालिनीहुंकारझङ्काराजीवितेति रूपकसङ्कीर्णा व्यञ्जकाप्रयोगादगम्या च।

(हेमन्त का वर्णन करनेके उपरान्त अब पांच श्लोकों (६ ६२–६६) से अन्तिम शिशिर ऋतु का वर्णन करते हैं) वनप्रान्तमें प्रियङ्गुलताओंको विकसित करता हुआ, मदकारक भ्रमरियोंको ध्वनिरूप हुँकारोंसे युक्त शिशिर ऋतु का पवन पतिरहित (विरहिणी) युवतियोंको भर्त्सित करने (डराने) लगा अर्थात् विकसित प्रियङ्गुलताओंके कामोद्दीपक होनेसे उन्हें देखकर विरहिणी स्त्रियाँ कामपीडित होने लगीं॥ ६२॥

उपचितेषु परेष्वसमर्थतां व्रजति कालवशाद् बलवानपि।
तपसि मन्दगभस्तिरभीषुमान्नहि महाहिमहानिकरोऽभवत्॥ ६३॥

उपचितेष्विति॥ कालवशाद्बलवानपि परेषु शत्रुषूपचितेषु प्रवृद्धेषु सत्सु असमर्थतां दौर्बल्यं व्रजति। हि यस्मात्तपसि माघमासे। 'तपा माघे' इत्यमरः। मन्दगभस्तिर्मृदुरश्मिरभीषुमानंशुमान्। 'अभीषुः प्रग्रहे रश्मौ' इत्यमरः। महत उपचितस्य हिमस्य हानिं नाशं करोतीति महाहिमहानिकरस्तद्धेतुर्नाभवत्। 'कृञो हेतु—' (३।२।२०) इत्यादिना हेत्वर्थे टप्रत्ययः। विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः।

समयकी प्रबलतासे शत्रुओंके बढ़ जाने पर बलवान् भी असमर्थ हो जाता है, क्योंकि माघ मासमें मन्द किरणोंवाला सूर्य बढ़े हुए हिमको नष्ट नहीं कर सका॥ ६३॥

अभिषिषेणयिषुं भुवनानि यः स्मरमिवाख्यत [1]लोध्ररजश्चयः।
क्षुभितसैन्यपरागविपाण्डुरद्युतिरयं तिरयन्नुदभूद् दिशः॥ ६४॥

अभीति॥ क्षुभित उद्धतो यः सैन्यपरागः सेनारजः स इव विपाण्डुरद्युतिः शुभ्रवर्णो यो लोध्ररजश्चयः भुवनान्यभिषिषेणयितुं सेनयाभियातुमिच्छन्तम्।

१. 'लोध्ररज—' इति पा०।

'यत्सेनयाभिगमनमरौ तदभिषेणनम्' इत्यमरः । 'सत्यापपाश–' (३।१।२५) इत्यादिना सेनाशब्दाण्णिचि सनि 'सनाशंसभिक्ष उः' (३।२।१६८) इत्युप्रत्ययः । 'स्वादिष्वभ्यासेन–' (८।३।६४) इति धात्वभ्याससकारयोः षत्वम् । स्मरमाख्यतेव ख्यातवानित्युत्प्रेक्षा । चक्षिङः ख्याञ् । 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् (३।१।५२) इति च्लेरङादेशः । अयं लोध्ररजश्चयो दिशस्तिरयन् तिरस्कुर्वन् । तिरःशब्दात् 'तत्करोति–' (ग०) इति ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः । णाविष्ठवद्भावे टिलोपः । उद्भूत ।

ऊपर उड़ती हुई, सेनाकी धूल (अथवा—उद्धत चलती हुई सेनाकी धूल) के समान पाण्डुर वर्णवाला जिस लोधके फूलों के परागने संसारपर सेनाके द्वारा चढ़ाई करनेवाले कामदेव को कहा अर्थात् कामदेव संसारको जीतनेके लिए सेनाको लेकर चढ़ाई कर रहा है ऐसा जिस लोध्रपुष्पके परागने सूचित किया, वह लोध्रपुष्पोंका पराग दिशाओंको आच्छादित करता हुआ प्रकट हुआ ॥ ६४ ॥

शिशिरमासमपास्य गुणोऽस्य नः क इव शीतहरस्य कुचोष्मणः ।
इति धियास्तरुषः परिरेभिरे घनमतो नमतोऽनुमतान् प्रियाः ॥ ६५ ॥

शिशिरेति ॥ शिशिरमासमपास्यापहाय शीतं हरतीति शीतहरस्य । 'हरतेरनुद्यमनेऽच्' (३।२।९) इत्यच्प्रत्ययः । नोऽस्माकमस्य कुचोष्मणः कुचोष्णस्य क इव गुणः । किं फलं सम्पाद्यत इति शेषः । गम्यमानक्रियापेक्षया क्त्वा निर्देशः । इवशब्दो वाक्यालङ्कारे । इति धिया । अतोऽस्मिन् शिशिरमासे । सार्वविभक्तिकस्तसिः । प्रियाः कान्ता अस्तरुषो निरस्तरोषाः सत्यो नमतः प्रणताननुमतान् स्वप्रियान् घनं निविडं परिरेभिर आश्लिष्टवत्यः । इति धियेति सुखार्थस्य परिरम्भस्य कुचोष्मसाफल्यार्थत्वमुत्प्रेक्ष्यते व्यञ्जकाप्रयोगात्गम्यत्वं च ।

शिशिर (ऋतुके मास—माघ–फाल्गुन) को छोड़कर शीतनाश करनेवाली हमलोगोंके इस स्तनोंकी गर्मीका कौन–सा गुण होगा अर्थात् हमलोगोंके स्तनोंमें जो उष्णता है, उसका शिशिर ऋतुके अतिरिक्त दूसरे समय में कोई लाभ नहीं है, इस बुद्धिसे क्रोधहीन (मानरहित) प्रियाओंने (अपने अपराधोंको क्षमा करानेके लिए) नम्र वल्लभोंका गाढ़ आलिङ्गन किया ('वल्लभदेव' की व्याख्याके अनुसार '·········इस बुद्धिसे क्रोध रहित प्रियाओंने नम्र नहीं होते हुए वल्लभोंका गाढ़ आलिङ्गन कर लिया' ऐसा अर्थ 'अनमतः' पदच्छेद करके जानना चाहिए ॥ ६५ ॥

अधिलवङ्गममी रजसाधिकं मलिनिताः सुमनोदलतालिनः ।
स्फुटमिति प्रसवेन पुरोऽहसत्सपदि कुन्दलता दलतालिनः ॥ ६६ ॥

अधीति ॥ लवङ्गेष्वधिलवङ्गम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । सुमनसां पुष्पाणां दलेषु तालयन्ति प्रतितिष्ठन्तीति सुमनोदलतालिनः । ताच्छील्ये आभीक्ष्ण्ये वा

णिनिः । अमी अलिनो मधुपाः रजसा परागेणार्तवेन चाधिकं मलिना मलीमसाः पापिनश्च कृता मलिनिता इति हेतोः पुरोऽग्रे 'सपदि कुन्दलता माध्यवल्ली । 'माध्यं कुन्दम्' इत्यमरः । दलता विकसता प्रसवेन निजकुसुमेनाहसज्जहास । स्फुटमित्युत्प्रेक्षायाम् । रजस्वलां गन्तारं कामिनं सपत्न्यो हसन्तीति भावः । कुन्दकुसुमस्य धावल्याद्धासत्वेनोत्प्रेक्षा ॥ इति शिशिरवर्णनम् ।

'लवङ्गोंके पुष्प–दलों पर बैठनेवाले ये भ्रमर पराग (पक्षा०—मासिक धर्ममें उत्पन्न होनेवाले स्त्रीरज) से अधिक मलिन (मैले कृष्णवर्ण, पक्षा०—दोष युक्त) हो गये मानो इस प्रकार सामने तत्काल विकसित होते हुए अपने पुष्पोंसे कुन्दलताने भ्रमरोंका उपहास किया ॥ ६६ ॥

अथ यमकविशेषकौतुकितया कविः पुनर्द्वादशभिरृतून् वर्णयन्नाद्यैश्चतुर्भिर्वसन्तं वर्णयति—

अतिसुरभिरभाजि पुष्पश्रियामतनुतरतयेव सन्तानकः ।
तरुणपरभृतः स्वनं रागिणामतनुत रतये वसन्तानकः ॥ ६७ ॥

अतिसुरभिरिति । अतिसुरभिरत्यन्तसुगन्धिः सन्तानकः कल्पवृक्षः पुष्पश्रियां पुष्पसम्पदामतनुतरतया महत्तरत्वेन । अतनुशब्दात्तरबन्तात्तल्प्रत्ययः । अभाजीवाभञ्जीवेत्युत्प्रेक्षा । तथा नम्र इत्यर्थः । 'भञ्जेश्च चिणि' (६।४।३३) इति विभाषा नलोपे उपधावृद्धिः । चिणो लुक् । किञ्च वसन्तस्यानको वसन्तानकः । दुन्दुभिरिति रूपकम् । तरुणपरभृतस्तरुणकोकिलो रागिणां कामिनां रतये रागवर्धनाय स्वनमतनुत । मधुरं चुकूजेत्यर्थः । प्रभावृत्तम् । 'स्वरशरविरतिर्ननौ रौ प्रभा' इति लक्षणात् ।

इस प्रकार वसन्त आदि छः ऋतुओंका वर्णन समाप्त हो जाने पर भी और यमक पद्योंकी रचनाके इच्छुक महाकवि माघ पुनः दश श्लोकों (६।६७–७६) से सब ऋतुओंका वर्णन करते हुए पहले चार श्लोकों (६।६७–७०) से वसन्त ऋतुका वर्णन करते हैं—अत्यन्त सौरभयुक्त 'सन्तानक' नामक देववृक्ष पुष्प–सम्पत्तियों की अधिकतासे मानों टूट सा गया और वसन्त ऋतु का दुन्दुभिरूप कोकिल कामियोंके रति (को बढ़ाने) के लिये ध्वनि करने (बजने, पक्षा०—कूजने) लगा ॥ ६७ ॥

नोज्झितुं युवतिमाननिरासे दक्षमिष्टमधुवासरसारम् ।
चूतमालिरलिनामतिरागादक्षमिष्ट मधुवासरसारम् ॥ ६८ ॥

नोज्झितुमिति । अरमत्यन्तमिष्टेष्वीप्सितेषु मधुषु मकरन्देषु वासे वसतौ रसो रागो यस्याः सा इष्टमधुवासरसा । मधुपानप्रियेत्यर्थः । अत एवालिनामालिभृङ्गश्रेणिर्युवतिमाननिरासे दक्षं कुशलम् । उद्दीपकत्वादिति भावः । मधुवासरेषु वसन्तदिनेषु सारं श्रेष्ठं मधुवासरसारम् । तत्कालश्लाघ्यमित्यर्थः । चूतं सहकारमतिरागादतिलौल्या-

दुज्झितं हातुं नाक्षमिष्ट नासहिष्ट । क्षमेर्भौवादिकाल्लुङ् । स्वागता वृत्तम् । 'स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम' इति लक्षणात् ।

अभीष्ट परागमें रहने की अभ्यस्त अर्थात् अधिक मधुपान करनेवाली भ्रमर श्रेणि (कामोद्दीपक होनेसे) युवतियोंके मान दूर करनेमें समर्थ अतएव वसन्त ऋतुके दिनोंके सारभूत आम्रवृक्षको अत्यन्त अनुरागसे नहीं छोड़ सकी, अर्थात् अन्य पुष्पोंको छोड़कर श्रेष्ठ आम्रमञ्जरी के रसका पान करनेके लिए आमपर ही बैठी रही ॥ ६८ ॥

जगद्वशीकर्तुमिमाः स्मरस्य प्रभावनी केतनवैजयन्तीः ।
इत्यस्य तेने कदलीर्मधुश्रीः प्रभावनी केतनवैजयन्तीः ॥ ६९ ॥

जगदिति ॥ प्रभावयतीति प्रभावनी सम्पादयित्री । कर्तरि ल्युटि ङीप् मधुश्रीः कर्त्री जगद्वशीकर्तुं प्रभौ समर्थे अस्य स्मरस्यानीके सैन्ये जयन्तोर्जित्वरीः केतनवैजयन्तीर्ध्वजपताकाः तनवे करवाणि । तनोतेः प्राप्तकाले लोट् । टेरेत्वमित्येकारः 'एत ऐ' (३।४।९३) 'आडुत्तमस्य पिच्च' (३।४।९२) इति आटि 'आटश्च' (६।१।९०) इति वृद्धिः । इति मनीषयेति शेषः । इमाः कदली रम्भातरूंस्तेने वितस्तार । 'कदली वारणबुशा रम्भा मोचांशुमत्फला' इत्यमरः । कदलीषु कामवैजयन्तीत्वोत्प्रेक्षा । वृत्तमुपजातिः ।

प्रभावयुक्त वसन्तलक्ष्मीने 'मैं संसारको वशीभूत करने में समर्थ काम-सेनामें इन विजयिनी ध्वजापताकाओंको फैला दूं' इस विचारसे कदलीके स्तम्भोंको फैला दिया ॥ ६९ ॥

स्मररागमयी वपुस्तमिस्रा परितस्तार रवेरसत्यवश्यम् ।
प्रियमाप दिवापि कोकिले स्त्री परितस्ताररवे रसत्यवश्यम् ॥ ७० ॥

स्मरेति ॥ असती दुष्टा स्मरेण कामेन निमित्तेन यो रागो रमणेच्छा स एव तन्मयी तमिस्रा तमस्तोमः । 'तमिस्रा तिमिरे रोगे तमिस्रा तु तमस्ततौ । कृष्णपक्षनिशायां च' इति विश्वः । रवेर्वपुर्मण्डलं परितस्तार आवव्रे । अहनि रजनीधियं जनयामासेत्यर्थः । परिपूर्वात् स्तृणातेर्लिट् । अवश्यम् । सत्यमित्यर्थः । कुतः । परितः समन्ताद्ताररवे उच्चतरध्वनौ कोकिले रसति कूजति सति इत्युद्दीपकोक्तिः । स्त्री । स्त्रिय इत्यर्थः । जातावेकवचनम् । दिवेति सप्तम्यर्थेऽव्ययम् । वशं गतो वश्यः । 'वशं गतः' (४।४।८६) इति यत्प्रत्ययः न वश्यस्तमवश्यम् । अवशं गतमपीत्यर्थः । प्रियमाप । स्वयमभिससारेत्यर्थः । यदवगणयन्तमपि प्रियं दिवापि मानमवगणय्य निषेधं चोल्लङ्घ्य समगच्छंस्तत्सत्यम् । रामतिमिरतिरोहितमानभानुमण्डला मानिन्य इति रूपकानुप्राणिता प्रियाप्तिक्रियानिमित्ता परिस्तरणक्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा अवश्यमिति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्या । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् । 'विषमे ससजा गुरू समे चेत् स्मर तच्छन्दसिकं तदौपपूर्वम्' इति लक्षणात् ।

दोषयुक्त कामोत्पन्न अनुरागरूप अन्धकार–समूहने सूर्य मण्डलको मानो आच्छादित कर लिया, क्योंकि सब ओर कोयलके कूजते रहनेपर स्त्रियाँ वशीभूत नहीं हुए पतिको दिनमें भी (अभिसार करके) पा लीं अर्थात् उसके पास पहुँच गयीं ॥ ७० ॥

अथैकेन ग्रीष्ममाह—

वपुरम्बुविहारमिह शुचिना रुचिरं कमनीयतरा गमिता ।
रमणेन रमण्यचिरांशुलतारुचिरङ्कमनीयत रागमिता ॥ ७१ ॥

वपुरिति ॥ शुचिना ग्रीष्मेण प्रयोजककर्त्रा अम्बुविहारेण जलक्रीडया हिमं शीतलमत एव रुचिरमुज्ज्वलं वपुर्देहं गमिता प्रापिता । 'गतिबुद्धि—' (१।४।५२) इत्यादिना अणिकर्तुः कर्मत्वम्, 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इत्यभिहितत्वं च । अत एव कमनीयतरा रमणीयतरा अचिरांशुर्लतेवाचिरांशुलता विद्युल्लता तस्या रुचिरिव रुचिर्यस्याः सा अचिरांशुलतारुचिः इत्युपमाद्वयम् । तथा रागमनुराममिता प्राप्ता । इणः कर्तरि क्तः । रमणी रमणेन प्रियेणाङ्कमुत्सङ्गमनीयत नीता । 'नीह्वक्रुष्वहाम्' इति नयतेर्द्विकर्मकता । शेषं पूर्ववत् । तोटकं वृत्तम् । 'वद तोटकमब्धिसकारयुतम्' इति लक्षणात् ।

(अत्र इस पद्यसे ग्रीष्म ऋतुका वर्णन करते हैं) ग्रीष्म ऋतुके द्वारा जलक्रीड़ासे निर्मल शरीरवाली, (अत एव) अत्यन्त रमणीय, विद्युल्लताके समान सुन्दरी तथा रागवती रमणीको उसके प्रियतमने गोदमें ले लिया ॥ ७१ ॥

अथ द्वाभ्यां वर्षर्तुं वर्णयति—

मुदमब्दभुवामपां मयूराः सहसायन्त नदी पपाट लाभे ।
अलिना रमतालिनी शिलीन्ध्रे सह सायन्तनदीपपाटलाभे ॥ ७२ ॥

मुदमित्यादि ॥ अब्दभुवां मेघप्रभवाणामपां लाभे । मेघे वर्षति सतीत्यर्थः । सहसा मयूरा मुदमानन्दमायन्तालभन्त । 'अय गतौ' लङि 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) इत्याडागमे वृद्धिः । नदी पपाट । नद्यः प्रावहन्नित्यर्थः । अट पट गतौ लिट् । जातावेकवचनम् । अलिना भृङ्गेण सह सायन्तनः सायम्भवः । 'सायश्चिरम्' (४।३।२३) इत्यादिना ट्यु प्रत्ययः तुडागमश्च । स चासौ दीपश्च तद्वत्पाटलाभे पाटलप्रभे इत्युपमाळङ्कारः । तस्मिन् शिलीन्ध्र कन्दलीकुसुमे अलिन्यरमत । अत्र मयूरमोदप्राप्त्याद्यनेककर्तृकक्रियायौगपद्याद्भिन्नाधिकरणक्रियासमुच्चयरूपः समुच्चयालङ्कारभेदः । 'गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः' इति सामान्यलक्षणम् । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ।

(अब दो श्लोकों (६।७२–७३) से वर्षा ऋतुका वर्णन करते हैं) मेघके बरसते रहनेपर मोर सहसा हर्षित हो गये, नदियाँ भर गयीं और भ्रमरी सायङ्कालके दीपकके लौके समान कान्तिवाले अरुणवर्ण कन्दली–पुष्पपर भ्रमर के साथ रमण करने लगी ॥ ७२ ॥

कुटजानि वीक्ष्य शिखिभिः शिखरीन्द्रं समयावनौ घनमदभ्रमराणि ।
गगनं च गीतनिनदस्य गिरोच्चैः समया वनौघनमदभ्रमराणि ।। ७३ ।।

कुटजानीति ।। शिखरीन्द्रं समया रैवतकाद्रेः समीपे । 'अभितःपरितःसमया—' (वा०) इत्यादिना द्वितीया । अवनौ प्रदेशे घनमदा भ्रमरा येषु तानि घनमदभ्रमराणि कुटजानि कुटजकुसुमानि वनौघेन पयःपूरेण नमन्त्यभ्राणि मेघा यस्मिंस्तद्वनौघनमदभ्रम् । 'पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्' इत्यमरः । गगनं च वीक्ष्य शिखिभिर्मयूरैर्गीतनिनदस्य गानध्वनेः समया तुल्यया । 'तुल्यार्थै—' (२।३।७२) इत्यादिना वैकल्पिकी षष्ठी । गिरा वाचा । केकयेत्यर्थः । उच्चैरराणि रणितम । 'रण शब्दे' भावे लुङ् । चिणो लुक् । कुटजा वृत्तम् । 'सहजा भवेदिह सगौ कुटजाख्यम्' इति लक्षणात् ।

पर्वतराज रैवतकके समीपमें पृथ्वी पर मतवाले भ्रमरोंसे युक्त कोरैयाके फूलोंको तथा जलभारसे नीचेकी ओर नम्र बादलोंवाले मेघको देखकर मोर (वर्षा ऋतुमें मोरका स्वर मधुर होनेके कारण) गानेके समान मधुर केका वाणीका उच्च स्वरसे उच्चारण करने लगे ।। ७३ ।।

अथ त्रिभिः शरदं वर्णयति—

अभीष्टमासाद्य चिराय काले समुद्धृताशं कमनी चकाशे ।
योषिन्मनोजन्मसुखोदयेषु समुद्धृताशङ्कमनीचकाशे ।। ७४ ।।

अभीष्टमित्यादि ।। कामयत इति कमनी कामयित्री । 'कम्रः कामयिताभीकः कमनः कामनोऽभिकः' इत्यमरः । कमेः कर्तरि ल्युटि ङीप् । योषित् । जातावेकवचनम् । अनीचा उन्नताः काशा अश्ववाला यस्मिन्ननीचकाशे काले । शरदीत्यर्थः । मनोजन्मसुखोदयेषु कामसुखाविर्भविषु धृता आशा अभिलाषो येन तमभीष्टं प्रियं चिराय चिरकालेन । 'चिराय चिररात्राय' इत्यमरः । सम्यगुद्धृता उत्सृष्टा आशङ्का सङ्कोचो यस्मिन्कर्मणि तत्समुद्धृताशङ्कं विस्रब्धं यथा तथा आसाद्य प्राप्य मुदा सह वर्तत इति समुत् सानन्दा सती चकासे । विललासेत्यर्थः । अत्र समुच्चकाश इति योषितः प्रियप्राप्तिनिमित्तहर्षाख्यभावनिबन्धनाद् प्रेयोऽलङ्कारः । रसभावतदाभासतत्प्रकाशसमानानां निबन्धे रसवत्प्रेयऊर्जस्विसमाहितानीति लक्षणात् । वृत्तमुपजातिः ।

(अब तीन श्लोकों (६।७४–७६) से शरद् ऋतुका वर्णन करते हैं) मदयुक्त स्त्रियां विकसित होकर बढ़े हुए 'कास' वाले समयमें अर्थात् शरद् ऋतुमें कामजन्य सुखके उत्पन्न होने में आशा करनेवाले प्रियतमोंको निःशङ्क पाकर हर्षित होती हुई शोभित होने लगीं ।। ७४ ।।

स्तनयोः समयेन याङ्गनानामभिनद्धारसमा न सा रसेन ।
परिरम्भरुचिं ततिर्जलानामभिनद्धा रसमानसारसेन ।। ७५ ।।

स्तनयोरिति ॥ रसमानाः कूजनशीलाः । 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्'

(३।२।१२९) इति ताच्छील्ये चानश्प्रत्ययः । रसतेः परस्मैपदित्वान्न शानच्प्रत्ययः । ते सारसाः पक्षिविशेषाः यस्मिंस्तेन रसमानसारसेन समयेन । शरत्कालेनेत्यर्थः । सारसानां तत्रैव सम्भवात् । 'सारसो मैथुनी कामी गोनर्दः पुष्कराह्वयः' इति यादवः । अङ्गनानां स्तनयोर्या जलानां ततिः शारदोष्मजन्मा स्वेदोदबिन्दुसन्दोहः अभितो नद्धाऽभिनद्धा । नह्यतेरभिपूर्वात्कर्मणि क्तः । 'नहो धः' (८।२।३४) इति धत्वम् । हारसमा मुक्ताहारतुल्या । कुचमण्डलमण्डनायमानेति भावः । सा जलानां तती रसेन रागेण हेतुना । बलीयसेति भावः । परिरम्भरुचिमालिङ्गनेच्छां नाभिनत् न विभेद । शारदस्वेदस्याप्यलङ्कारतया उद्दीपकस्याजुगुप्सितत्वान्निः सपत्नशृङ्गारा विजयन्त इत्यर्थः । अत एव रसनिबन्धनाद्रसवदलङ्कारः । लक्षणमुक्तं पूर्वश्लोके । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ।

जिस समयमें सारस पक्षी बोलते हैं उस समय अर्थात् शरद् ऋतुने अङ्गनाओंके स्तनोंपर जिस स्वेदबिन्दुओं की श्रेणिको उत्पन्न किया, मोतीके हारके समान वह स्वेद–बिन्दु–श्रेणि (पसीनेकी बूंदों का समूह) अतिशय अनुरागसे (उत्पन्न) अलिङ्गनकी इच्छाको नहीं रोक सकी ॥ ७५ ॥

जातप्रीतिर्या मधुरेणानुवनान्तं
कामे कान्ते सारसिकाकाकुरुतेन ।
तत्सम्पर्कं प्राप्य पुरा मोहनलीलां
कामेकान्ते सा रसिका का कुरुते न ॥ ७६ ॥

जातेति । या स्त्री अनुवनान्तम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । मधुरेण श्राव्येण सारसिकाकाकुरुतेन सारसस्य एव सारसिकाः सारसाङ्गनाः । कात्पूर्वस्येत्वम् । तासां काकुरुतेन विकृतशब्देन । 'काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेः' इत्यमरः । काकुश्च तद्रुतं च तेन । कामे कामकल्पे । 'सिंहो देवदत्त' इतिवद्गौणप्रयोगः । कान्ते प्रिये जातप्रीतिर्जातस्नेहाभूत् । रसिका रसवती । रागवतीत्यर्थः 'अत इनिठनौ' (५।२।११५) इति ठन्प्रत्ययः । सा का स्त्री एकान्ते रहसि तस्य कान्तस्य सम्पर्कं प्राप्य पुरा पुरुषप्रेरणात्पूर्वमेव का मोहनलीलां सुरतक्रीडां न कुरुते । सर्वापि स्त्री सर्वानपि सुरतविशेषान् कामतन्त्रसिद्धान् विस्रब्धं चकारेत्यर्थः । तेन शृङ्गारस्य पराकाष्ठा प्राप्तेत्युक्तम् । मत्तमयूरं वृत्तम् ।

(अब इस श्लोकसे हेमन्त ऋतुका वर्णन करते हैं) जो स्त्री वनसमीप (या–उपवन) में कर्णमधुर सारसीके कूजितसे कामदेव तुल्य पति में अनुरागवती हुई, वह कौन रसिक स्त्री एकान्तमें उस पतिका साथ पाकर (पतिके इच्छा प्रकट करनेसे) पहले ही सुरत कीड़ा को नहीं करती है ? अर्थात् सभी अनुरागवती स्त्रियां एकान्तमें पतिको पाकर सुरत कीड़ा करती हैं ॥ ७६ ॥

अथैकेन हेमन्तमाह—

कान्ताजनेन रहसि प्रसभं गृहीत-
केशे रते स्मरसहासवतोषितेन ।
प्रेम्णा मनस्सु रजनीष्वपि हैमनीषु
के शेरते स्म रसहासवतोषितेन ॥ ७७ ॥

कान्तेति ॥ सहत इति सहः । पचाद्यच् । स्मरस्य सहः । कामोद्दीपक इत्यर्थः । तेनासवेन तोषितः तेन स्मरसहासवतोषितेन अत एव रसहासावस्य स्त इति रसहासवता रागहास्यवता अत एव प्रेम्णा मनस्सु पुंसां चित्तेषूषितेन वसता । वसतेः कर्तरि क्तः । 'वसतिक्षुधोरिट्' (७।२।५२) इतीडागमः 'गतिबुद्धि—' (१।४।५२) इत्यादिसूत्रे चकाराद्वर्तमानार्थता । कान्तेव जनस्तेन कान्ताजनेन । जातावेकवचनम् । प्रसभं रहसि बलाद् गृहीतकेशे आकृष्टशिरोरुहे रते सुरते हेमन्ते भवा हैमन्त्यस्तासु हैमनीष्वपि । द्राघीयसीष्वपीति भावः । 'सर्वत्राण् च तलोपश्च' (४।३।२२) इति हेमन्तशब्दादणप्रत्ययः तकारलोपश्च 'टिड्ढाणञ्—' (४।१।१५) इत्यादिना ङीप् । रजनीषु के युवानः शेरते स्म स्वपन्ति स्म । न केऽपीत्यर्थः । 'लट् स्मे' (३।२।११८) इति भूते लट् । एतेनातिभूमिं गतः शृङ्गार इति व्यज्यते । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

(इस श्लोकसे हेमन्त ऋतुका वर्णन करते हैं) एकान्तमें कामोद्दीपक मद्य (का पान करने) से सन्तुष्ट की गयी, (अतएव) अनुराग तथा हाससे युक्त और प्रेमसे अर्थात् प्रेमयुक्त होनेसे प्रियतमोंके चित्तोंमें बसी हुई स्त्रियोंके द्वारा बलपूर्वक पकड़े गये केशोंवाले (जिनमें स्त्रियाँ अनुरागसे सम्भोगार्थ प्रियतमोंके केशोंको बलपूर्वक पकड़कर खींचती हैं ऐसे) सुरतमें हेमन्त ऋतुकी रात्रियोंमें भी कौन पुरुष सोते हैं ? अर्थात् कोई भी पुरुष नहीं सोते किन्तु उक्तरूप प्रियतमाओंके साथ सम्भोग करते हैं ॥ ७७ ॥

अथैकेन शिशिरं वर्णयति—

गतवतामिव विस्मयमुच्चकैरसकलामलपल्लवलीलया ।
मधुकृतामसकृद्गिरमावली रसकलामलपल्लवलीलया ॥ ७८ ॥

गतवतामिति ॥ असकलामलपल्लवलीलया असकला असमग्रविकासिनोऽमला निर्मलाश्च ये पल्लवास्तेषां लीला तया । नृत्यरूपयेत्यर्थः । विस्मयं गतवतामिव स्थितानामिवेत्युत्प्रेक्षा । मधुकृतां मधुकराणां सम्बन्धिनी लवलीषु लताविशेषेषु लयो लयनं स्थितिर्यस्याः सा लवलीलया आवलिः पङ्क्तिरसकलां रसेन मध्यास्वादेव कलामव्यक्तमधुराम् । 'ध्वनौ तु मधुरास्फुटे कलः' इत्यमरः । गिरं वाचमसकृदुच्चैरलपत् । मधुमदहेतुकस्य मधुकरालापस्य पल्लवलीलया जनितविस्मयहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति गुणहेतूत्प्रेक्षा । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ।

(अब इस श्लोकसे शिशिर ऋतुका वर्णन करते हैं) असम्पूर्ण स्फुटित सुन्दर पल्लवों के (नृत्यरूप) विलाससे विस्मितसे भ्रमरों की लवली अर्थात् चन्दन लतापर बैठी हुई श्रेणि बार-बार उच्च स्वरसे मधुर गूंजने लगी ॥ ७८ ॥

कुर्वन्तमित्यतिभरेण नगानवाचः
पुष्पैर्विराममलिनां च न गानवाचः ।
श्रीमान् समस्तमनुसानु गिरौ विहर्तु
[1]विभ्रत्यचोदि स मयूरगिरा विहर्तुम् ॥ ७९ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्र्यङ्के ऋतुवर्णनं नाम षष्ठः सर्गः ॥६॥

कुर्वन्तमिति ॥ इतीत्थं पुष्पैरेवातिभरण महाभरेण तत्कृतेन वा गौरवेण नगान् वृक्षानवाञ्चन्तीत्यवाचो नम्रान् । अञ्चेरवपूर्वात् 'ऋत्विक्—' (३।२।५९) इत्यादिना क्विन्प्रत्ययः । कुर्वन्तमलिनां गानवाचो गीतध्वनेर्झङ्कारस्य च न विराममविरामम-समाप्ति कुर्वन्तं समस्तमृतुं सर्वानृतूननुसानु । सानुष्वित्यर्थः । विभक्त्यर्थेऽव्ययी भावः । बिभ्रति बिभ्राणे इह गिरौ रैवतकाद्रौ विहर्तुं क्रीडितुं श्रीमान् स हरिः मयूरगिरा केकया अचोदि प्रेरितः । भगवन्निह विहर ऋतुगणमनुगृहाणेति प्रार्थित इवेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या । वृत्तमुक्तम् ।

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते शिशुपालवध-
काव्यव्याख्याने सर्वङ्कषाख्ये षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार अत्यन्त भार (पक्षा०—गौरव) से वृक्षोंको नम्र करते (झुकाते) हुए तथा भ्रमरोंके गुञ्जनोंको समाप्त नहीं करते हुए अर्थात् सर्वदा भ्रमरों को गुञ्जन कराते हुए, समस्त ऋतुओंको धारण करते हुए (रैवतक) पर्वतपर लक्ष्मीयुक्त (शोभा-सम्पन्न या श्रीयुत श्रीकृष्ण भगवान्को) मयूरकी वाणी ('केका' शब्द) ने विहार करनेके लिए प्रेरित किया अर्थात् मयूरकी वाणी सुनकर श्रीकृष्ण भगवान् रैवतकपर विहार करनेके लिए प्रस्थान किये ॥ ७९ ॥

व्याकरणसाहित्याचार्य पं० श्रीहरगोविन्दशास्त्रिविरचित 'मणिप्रभा' टीकामें
'शिशुपालवध' महाकाव्यका 'ऋतुवर्णन' नामक
षष्ठ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

---

१. 'त्यनोदि' इति पाठान्तरम् ।

सप्तमः सर्गः

इत्थमृतुगणप्रादुर्भावमभिधाय तत्फलतया भगवतः सानुचरस्य वनविहारलीलावर्णनमारते—

अनुगिरमृतुभिर्वितायमानामथ स विलोकयितुं वनान्तलक्ष्मीम् ।
निरगमदभिराद्धुमादृतानां भवति महत्सु न निष्फलः प्रयासः ॥ १ ॥

अनुगिरमिति ॥ अथर्तुप्रादुर्भावानन्तरं स हरिः गिराविस्यनुगिरम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । 'गिरेश्च सेनकस्य' (५।४।११२) इति समासान्तः । ऋतुभिर्वितायमानां वितन्यमानाम् । तनोतेः कर्मणि लटः शानजादेशः । 'तनोतेर्यकि' (६।४।४४) इति वैभाषिक आकारादेशः । वनान्तलक्ष्मीं विलोकयितुं निरगम निर्गतः । 'पुषादि–' (३।१।५५) इत्यादिना गमेर्लुङि च्लेरङादेशः । ऋतुगणभक्तिं स्वीकर्तुमिति भावः । तथा हि—अभिराद्धुमाराधयितुमादृतानामादरं कुर्वताम् । आस्थावतामित्यर्थः । कर्तरि क्तः । प्रयासः सेवायासो महत्सु विषये निष्फलो न भवति । न हि भक्तानुकम्पिनो महान्तस्तत्सेवां व्यर्थयन्तीति भावः । अतो हरेरृतुगणानुग्रहणार्थे निर्गमो युक्त इति सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः । 'सामान्यविशेषकार्यकारणभावाभ्यां निर्दिष्टप्रकृतार्थसमर्थनादर्थान्तरन्यासः' इति सर्वस्वसूत्रम् । अत्र सर्गे पुष्पिताग्रा वृत्तम् 'अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

(इस प्रकार पूर्व सर्गमें छहों ऋतुओंके प्रादुर्भावका वर्णनकर अब 'माघ' कवि अनुचरों के सहित श्रीकृष्ण भगवान्के पर्वतपर विहार करनेका वर्णन करते हैं) इसके बाद वे (श्रीकृष्ण भगवान् रैवतक) पर्वतपर ऋतुओंके द्वारा विस्तृत उपवनशोभा देखनेके लिए (शिविरसे) निकल पड़े (उनका यह कार्य उनके अनुरूप ही था, क्योंकि) सेवा करनेके लिए महापुरुषोंके विषयमें श्रद्धालुओंका प्रयास निष्फल नहीं होता है ॥ १ ॥

दधति सुमनसो वनानि बह्वीर्युवतियुता यदवः प्रयातुमीषुः ।
मनसिशयमहास्त्रमन्यथामी न कुसुमपञ्चकमप्यलं विसोढुम् ॥ २ ॥

दधतीति ॥ यदवो यादवाः । व्याख्यातं चैतद् । बह्वीर्बह्वीः । बहुविधा इत्यर्थः । 'बह्वादिभ्यश्च' (४।१।४५) इति विकल्पादीकारः । सुमनसः पुष्पाणि । 'स्त्रियः सुमनसः पुष्पम्' इत्यमरः । दधति दधन्ति । 'वा नपुंसकस्य' (७।१।७९) इति अभ्यस्तात्छतुर्वैकल्पिको नुम्प्रतिषेधः । वनानि युवतियुताः स्त्रीसमेता एव प्रयातुमीषुरिच्छन्ति स्म । अत्र हेतुमाह—अन्यथा युवतिजनाभावे अमी यदवो मनसि शेते इति मनसिशयः कामः । 'अधिकरणे शेतेः' (३।२।१५) इत्यच्प्रत्ययः । 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' (६।३।९) इत्यलुक् । तस्य महास्त्रभूतं कुसुमपञ्चकमपि । पञ्चापि कुसुमानीत्यर्थः । पञ्चानां सङ्घः पञ्चकम् । 'संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु'

(५।१।५८) इति क्तप्रत्ययः। विसोढुं नालं शक्ताः। सकलसुमनसां सामर्थ्ये तत्रारविन्दादीनामेव पञ्चबाणबाणत्वस्य सम्भवप्रमाणसिद्धत्वादिति भावः। अतो युवतिभिः सह प्रयाणं युक्तमिति वाक्यार्थेन वाच्यार्थसमर्थनाद्वाक्यार्थसमर्थनरूपकाव्यलिङ्गमलङ्कारः। 'अरविन्दमशोकं च चूतं च नवमल्लिका। नीलोत्पलं च पञ्चैते पञ्चबाणस्य सायकाः' ॥ २ ॥

यादवलोग अनेक प्रकारके पुष्पोंको धारण करते हुए अर्थात् अनेकविध पुष्पोंसे युक्त वनोंमें स्त्रियों के साथ जानेकी इच्छा किये, (क्योंकि) अन्यथा (स्त्रियोंको छोड़कर अकेले जानेपर) वे यादवलोग कामदेवके महान् अस्त्र केवल पांच बाणों को भी सहन करनेमें समर्थ नहीं थे, तब भला वनमें असङ्ख्य पुष्परूप कामबाणों के विद्यमान रहनेसे वे किस प्रकार सहन करनेमें समर्थ हो सकते थे?) ॥ २ ॥

अवसरमधिगम्य तं हरन्त्यो हृदयमयत्नकृतोज्ज्वलस्वरूपाः।
अवनिषु पदमङ्गनास्तदानीं न्यदधत विभ्रमसम्पदोऽङ्गनासु ॥ ३ ॥

अवसरमिति ॥ तमवसरं सहजिगमिषाकालमधिगम्य हृदयं हरन्त्यो हृदयङ्गमा भवन्त्यः। सर्वं हि प्रार्थ्यमानमेव प्रियं भवतीत्यर्थः। यत्नेन कृतं न भवतीत्ययत्नकृतं तथाप्युज्ज्वलं स्वरूपं यासां ताः। स्वभावसुन्दरमूर्तय इत्यर्थः। अङ्गनास्तदानीं तस्मिन्नवसरेऽवनिषु पदं न्यदधत निहितवत्यः। पादचारेणैव चेलुरित्यर्थः। दधातेर्लङि 'आत्मनेपदेष्वनतः' (७।१।५) इति झस्यादादेशः। अङ्गनासु विभ्रमसम्पदो विलाससम्पदः पदं न्यदधत। तदानीं विलासाः प्रवृत्ता इत्यर्थः। अत्राङ्गनानां विलाससम्पदां चोभयीनामपि प्रकृतानामेव हृदयहरणादिना वर्णनासाम्येनौपम्यस्य गम्यमानत्वात् केवलप्रकृतविषया तुल्ययोगितालङ्कारः। वाच्यभेदेनाप्यङ्गनाविलाससम्पदामुत्तरोत्तरस्य पूर्वपूर्वविशेषकत्वावगमादेकावलीभेदो व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ३ ॥

(प्रियोंके साथ जानेकी इच्छारूप) उस अवसरको पाकर हृदयको वशीभूत करती हुई स्वभावतः सुन्दरी उन रमणियोंने भूमिपर पैर रखा अर्थात् वनमें विहार करनेके लिए वे पैदल ही चल पड़ीं और उस समय उन रमणियोंमें विलास-श्रीने पैर रखा अर्थात् उन रमणियोंमें अनेक प्रकारके विलास प्रारम्भ हो गये ॥ ३ ॥

न्यदधत विभ्रमसम्पदोऽङ्गनास्वित्युक्तं ता एव प्रपञ्चयति—

नखरुचिरचितेन्द्रचापलेखं ललितगतेषु गतागतं दधाना।
मुखरितवलयं पृथौ नितम्बे भुजलतिका मुहुरस्खलत्तरुण्याः ॥ ४ ॥

नखेति ॥ ललितगतेषु मन्दगमनेषु नखानां रुचिभिः प्रभाभी रचिता इन्द्रचापलेखा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा गतागतं यातायाते। 'विप्रतिषिद्धं चानाधिकरणवाचि' (२।४।१३) इति वैभाषिको द्वन्द्वैकवद्भावः। दधाना तरुण्याः भुजलतिका मुखराः

कृता इति मुखरिताः ध्वनिता वलया यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा। 'कटको वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। पृथौ नितम्बे मुहुरस्खलचस्खाल। अत्र नखरुचीत्यालम्बनगुण उक्तः। गतागतं दधाना अस्खलदिति तच्चेष्टा। मुखरितवलयमिति तदलङ्कृतिः। तटस्थास्तूक्ता वसन्तादयः। अन्यत्र विस्तारत इति चतुर्विधोऽप्युद्दीपनक्रम उक्तः। उक्तं च–'आलम्बनगुणाश्चैव तच्चेष्टा तदलङ्कृतिः। तटस्थश्चेति विज्ञेयश्चतुष्कोद्दीपनक्रमः॥' इति तत्रालम्बनं रसस्य समवायिकारणं नायिका नायकश्च। तद्गुणो रूपलावण्यादिः। तच्चेष्टा हावभावादिः। अन्यत्सुगमम्। एवमुत्तरत्रापि॥ ४॥

विलासपूर्वक गमनोंमें नखोंकी प्रभासे इन्द्रधनुषकी रचनाके साथ यातायात (गमनागमन) को धारण करती हुई इधर-उधर हिलती हुई, तरुणीकी बाहुलता कङ्कणके झङ्कारपूर्वक विशाल नितम्बोंपर (जाकर) स्खलित हो जाया करती थी।

विमर्श—पूर्णश्लोक (७।३) में अङ्गनाओंके विलासको प्रारम्भ होनेकी चर्चाकी गयी है, अब इन्हीं विलासोंका वर्णन करते हैं—जब तरुणी पतिके साथ विहारार्थ रैवतक पर्वतपर पैदल चलने लगी तब बार-बार अपने विशाल नितम्बोंपर अपना हाथ रखती एवं हटाती थी, उस समय उसकी नखकान्तिसे फैली हुई प्रभा इन्द्रधनुषकी रचना कर रही थी तथा उसके कङ्कण झङ्कार कर रहे थे॥ ४॥

अतिशयपरिणाहवान् वितेने बहुतरमर्पितरत्नकिङ्किणीकः।
अलघुनि जघनस्थलेऽपरस्या ध्वनिमधिकं कलमेखलाकलापः॥ ५॥

अतिशयेति॥ अतिशयेन परिणाहवान्। अतिविशाल इत्यर्थः। अन्यथा तज्जघनस्य पर्याप्तेरिति भावः। 'परिणाहो विशालता' इत्यमरः। 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८।४।१४) इति णत्वम्। बहुतरमर्पिता आहिता रत्नानां किङ्किण्यो यस्मिन् सः। 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इति कप्प्रत्ययः। कलो मधुरारावी मेखलाकलापोऽपरस्याः स्त्रियः अलघुनि जघनस्थलेऽधिकं ध्वनिं वितेने। तदलंकृतिरियम्॥

दूसरी किसी नायिकाके विशाल जघन-प्रदेशपर बहुत बड़ी तथा अत्यधिक लगे हुए रत्नोंके घुघुरुओंवाली एवं मधुर-ध्वनि करती हुई करधनी (नायिकाके सविलास गमन करनेसे) बहुत शब्द करने (बजने) लगी॥ ५॥

गुरुनिबिडनितम्बबिम्बभाराक्रमणनिपीडितमङ्गनाजनस्य[2]।
चरणयुगमसुस्रवत्पदेषु स्वरसमसक्तमलक्तकच्छलेन॥ ६॥

गुर्विति॥ गुरु गुरुत्वगुणयुक्तं निबिडं दृढं च यन्नितम्बबिम्बं तदेव भारस्तस्याक्रमणेनाधिष्ठानेन निपीडितं निष्पीडितमङ्गनाजनस्य चरणयुगं कर्तृ, पदेषु पादन्यासस्थानेष्वलक्तकच्छलेन लाक्षारसमिषेण स्वरसं स्वद्रवमेव। 'गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः। असक्तमविच्छिन्नं यथा तथाऽसुस्रवत् स्रवति स्म। स्रवतेः चरणार्थाल्लुङि

१. '–मापित–' इति पा०। २. 'गणस्य–' इति पा०।

'णिश्रि–' (३।१।४८) इत्यादिना चङि धातोरुवङादेशः। द्रवद्रव्यकर्तृक एवायमकर्मकः। अन्यकर्तृकत्वे तु सकर्मकः। अत्रालक्तकच्छलेनेत्यलक्तकापह्नवेन रूपरसत्वारोपाच्छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादनरूपोऽपह्नवालङ्कारः॥ ६॥

भारयुक्त (बोझिल) एवं सघन नितम्बमण्डलके भारके दबावसे अत्यन्त पीड़ित युवतियोंके दोनों चरण पैर रखनेके स्थानमें महावरके कपटसे मानो अविच्छिन्न अपना रस बहा रहे थे॥ ६॥

अथ कस्याश्चित्सख्याः कुपितनायिकानुनयवचनं पञ्चभिः कुलकेनाह (७–११)—

तव सपदि समीपमानये तामहमिति तस्य मयाग्रतोऽभ्यधायि।
अतिरभसकृतालघुप्रतिज्ञामनृतगिरं गुणगौरि मा कृथा माम्॥ ७॥

तवेत्यादि॥ तां मत्सखीं सपदि तव समीपमहमानये आनयिष्यामि। वर्तमानसामीप्ये वर्तमानप्रत्ययः। कर्तुरभिप्राये आत्मनेपदम्। इति मया तस्याग्रतोऽभ्यधाय्यभिहितम्। दधातेः कर्मणि लुङ् 'आतो युक् चिण्कृतोः' (७।३।३३) इति युगागमः। हे गुणगौरि गुणैः सौभाग्यदाक्षिण्यादिभिर्गौरि पार्वतीति रूपकम्। अतिरभसेनातित्वरया कृता अलघुर्महती प्रतिज्ञा त्वदानयनार्था यया तां मामनृतगिरमसत्यवाचं मा कृथाः मा कार्षीः। मद्वचनं सर्वथा कर्तव्यमित्यर्थः। करोतेर्लुङि थास् 'न माङ्योगे' (६।४।७४) इत्यडागमप्रतिषेधः॥ ७॥

(प्रियके प्रति क्रुद्ध किसी खण्डिता नायिकाको मनाती हुई उसकी सखी पाँच श्लोकों (७।७–११) से कह रही है) 'मैं तुम्हारे समीप उसे (अपनी सखीको) शीघ्र लाऊँगी' इस प्रकार मैं उस (तुम्हारे प्रिय) के सामने कह आयी हूँ, (अत एव) हे निर्मल गुणवती सखि (या सौभाग्य दाक्षिण्यादि गुणयुक्त होनेसे गौरीरूपिणी सखि)! अत्यन्त शीघ्रतामें की गयी (तुम्हारे समीप उसे शीघ्र लाऊँगी ऐसी) प्रतिज्ञावाली मुझको असत्यभाषिणी मत बनाओ अर्थात् मेरे वचनको झूठा मत करो॥ ७॥

ननु मत्प्रतिज्ञापि दुस्त्याज्येति विप्रतिषेधमाशङ्क्याह—

न च सुतनु न वेद्मि यन्महीयानसुनिरसस्तव निश्चयः परेण।
वितथयति न जातु मद्वचोऽसाविति च तथापि सखीषु मेऽभिमानः॥ ८॥

न चेति॥ हे सुतनु शुभाङ्गि, दीर्घान्तोत्तरपदात्सम्बुद्धिः, अन्यथा गुणः स्यात्। अहं न वेद्मीति न। किन्तु वेद्म्येवेत्यर्थः। किं तद्वेत्सीत्यत आह–महीयान् महत्तरः तव निश्चयस्त्वदनैक्ये प्रतिज्ञापरेण जनान्तरेण सुनिरसः सुखमोच्यः। अस्यतेः खल्प्रत्ययः। स न भवतीत्यसुनिरस इति यत्तदित्यर्थलभ्यम्। उद्देश्येन विधेयाक्षेपाद्यच्छब्दस्योत्तरवाक्यस्थत्वाच्च न पूर्ववाक्ये तच्छब्दप्रयोग इति निबन्धः। तथापि विदितत्वेऽप्यसौ मत्सखी जातु कदाचिदपि मद्वचो न वितथयति नानृतीकरोतीति सखीषु मध्ये मेऽभिमानः। स्वप्रतिज्ञाभङ्गेऽपि मत्प्रतिज्ञामेव पालयसीत्यहङ्कारकारणाभिःशङ्कं प्रतिज्ञातमित्यर्थः॥ ८॥

हे सुन्दर शरीरवाली सखि ! 'तुम्हारे दृढ़ निश्चयको दूसरा कोई नहीं छुड़वा सकता' इस बातको मैं नहीं जानती हूँ, ऐसा नहीं है अर्थात् मैं यह अच्छी तरह जानती हूँ कि 'तुम्हारे दृढ़ निश्चयको कोई नहीं छुड़वा सकता है' तथापि तुम मेरी बातको कभी भी असत्य नहीं करती हो ऐसा मैं सखियोंमें अभिमान करती हूँ (तुम मेरी बातको सत्य बनानेके लिए अपनी प्रतिज्ञा (मानरक्षा) को भी तोड़ दोगी) इस आत्माभिमानसे ही मैं तुम्हें तुम्हारे प्रियके पास पहुँचानेकी प्रतिज्ञा कर चुकी हूँ ॥ ८ ॥

सततमनभिभाषणं मया ते परिपणितं भवतीमनानयन्त्या।
त्वयि तदिति विरोधनिश्चितायां भवति भवत्वसुहृज्जनः सकामः ॥९॥

सततमिति ॥ भवतीं त्वामनानयन्त्या । आनयितुमशक्नुवत्या इत्यर्थः । मया सततं सदा ते तव । कर्मणि षष्ठी । अनभिभाषणमसम्भाषणं परिपणितं भवतीति 'भातेर्डवतुः' (उ० ६३) इत्यौणादिको डवतुप्रत्ययः । 'उगितश्च' (४।१।६) इति ङीप् । तस्याः सम्बुद्धिः हे भवति सुभगे, त्वयि तदिति तदसम्भाषणमस्त्विति विरोधनिश्चितायां निश्चितविरोधायां सत्याम् । 'वाहिताग्न्यादिषु' (२।२।३७) इति विकल्पानिष्ठायाः परनिपातः । असुहृज्जनो विपक्षवर्गः सकामः फलितमनोरथो भवतु भवेत् । प्राप्तकाले लोट् । अस्मद्विरोधकाङ्क्षिणामयमानन्दकालः प्राप्त इत्यर्थः ॥ ९ ॥

तुमको पतिके पास नहीं पहुँचा सकूंगी तो मैं तुम्हारे साथ सर्वदा बोलना भी छोड़ दूँगी, मेरा निश्चय है । इस अवस्था में यदि हम दोनों के विरोध होनेपर तुम्हारे शत्रुओं अर्थात् सपत्नियोंका मनोरथ सफल हो जायगा अर्थात् तुम्हारी सपत्नियां चाहती ही थीं कि 'इन दोनों सखियोंमें विरोध होकर परस्पर सम्भाषण न हो' यदि तुम मेरा कहना नहीं मानोगी तो उनका यह मनोरथ पूरा हो जायेगा ॥ ९ ॥

न केवलमावयोर्विरोधः प्राणहानिरपि मम स्यादित्याह—

गतधृतिरवलम्बितुं बतासूननलमनालपनादहं भवत्याः ।
प्रणयिनि यदि न प्रसादबुद्धिर्भव मम मानिनि जीविते दयालुः ॥ १० ॥

गतेति ॥ गतधृतिरधीराऽहं भवत्यास्तवानालपनादसम्भाषणात् । आलपनं विहायेत्यर्थः । ल्यब्लोपे पञ्चमी । असून् प्राणानवलम्बितुं धारयितुमनलमशक्ता । 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इत्यमरः । बतेति खेदे । अत एव हे मानिनि, प्रणयिनि प्रिये, प्रसादबुद्धिरनुग्रहबुद्धिर्न यदि नास्ति चेत्तथापि मम जीविते दयालुर्भव । 'स्पृहिगृहि-'(३।२।१५८) इत्यादिना आलुच्प्रत्ययः । सः धूर्तोऽपि सत्प्राणत्राणार्थमनुग्राह्य इति भावः ॥ १० ॥

(केवल हम दोनों का विरोध नहीं, अपितु मेरी प्राणहानि भी हो जायगी ऐसा सखी

कह रही है) तुम्हारे साथ सम्भाषण नहीं करनेसे मैं अधीर होकर प्राण-धारण नहीं कर सकूंगी अर्थात् नहीं जी सकूंगी, (अत एव) हे मानिनि यदि प्रणयी (पति) पर प्रसन्न होना नहीं चाहती हो तो मेरे प्राणोंपर दया करो ॥ १० ॥

प्रियमिति वनिता नितान्तमागःस्मरणसरोषकषायितायताक्षी ।
चरणगतसखीवचोऽनुरोधात् किल कथमप्यनुकूलयाञ्चकार ॥ ११ ॥

प्रियमिति ॥ इतीत्थं नितान्तमागसोऽन्यासङ्गापराधस्य स्मरणेन सरोषे अतएव कषाये लोहिते कृते कषायिते आयते चाक्षिणी यस्याः सा तथोक्ता । 'निर्यासे च कषायोऽस्त्री सौरभे लोहितेऽन्यवत्' इति विश्वः । वनिता नायिका चरणगतायाः पूर्वोक्तवाक्यान्ते प्रणतायाः सख्या वचसोऽनुरोधादनुबन्धनात्किल । किलेत्यपरमार्थे । वस्तुतस्त्वनुरागादेवेति भावः । प्रियं कथमपि कथंचिदनुकूलयाञ्चकाराभिमुखीचकार । अनुजग्राहेत्यर्थः । एषा खण्डिता नायिका । 'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति दशरूपकलक्षणात् (२।२५) । अत एव कविना आगःस्मरणसरोषकषायिताक्षीत्युक्तम् । एषा चासम्भाषणचिन्ताखेदाश्रुनिःश्वासाद्यनुभाववती ॥ ११ ॥

(पतिके) अत्यन्त अपराधके स्मरण होनेसे क्रोधयुक्त हो लाल नेत्रवाली नायिकाने (इस प्रकार (७।७-१०) कहकर) मानो चरणपर गिरी हुई सखीके कहनेके अनुरोधसे किसी प्रकार पतिको अनुगृहीत किया अर्थात् मान त्यागकर पतिके पास गयी ॥ ११ ॥

अथ काचित्सखी कञ्चिदग्रे शीघ्रगामिनं युग्मेनाह (१२-१३)—

द्रुतपदमिति मा वयस्य यासीर्ननु सुतनुं परिपालयानुयान्तीम् ।
नहि न विदितखेदमेतदीयस्तनजघनोद्वहने तवापि चेतः ॥ १२ ॥

द्रुतेति ॥ हे वयस्य सखे, इतीत्थं द्रुतपदं शीघ्रपदक्रमं यथा तथा मा यासीः मा गमः । यातेर्लुङि 'न माङ्योगे' (६।४।७४) इत्यट्प्रतिषेधः । अनुयान्तीमनुगच्छन्तीं सुतनुं शुभाङ्गीं प्रियामनुपालय प्रतीक्षस्व । असावपि शीघ्रमायातु तत्राह—नहीति । तव चेतोऽपि एतदीयस्तनजघनोद्वहने विदितखेदमनुभूतखेदं नेति न । किन्तु वेत्त्येवेत्यर्थः । अतः कथं शीघ्रमायास्यतीति भावः । 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति वामनः ॥

(शीघ्र चलते हुए किसी नायकसे उसकी प्रियाकी सखी दो श्लोकों (७।१२-१३) में युग्मकसे कहती है) हे वयस्य ! जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते हुए मत चलो, किन्तु पीछे चलती हुई सुतनु (सुन्दर शरीरवाली अत एव सुकुमारी प्रिया) की भी प्रतीक्षा करो । बड़े-बड़े स्तनों तथा जघनों के (भारको) ढोनेमें इसे खेद होता है, यह तुम्हारा मन भी नहीं

जानता है ऐसा नहीं है अर्थात् तुम भी अच्छी तरह जानते हो कि यह तुम्हारी प्रिया बड़े-बड़े स्तनों तथा जघनोंके भारको ढोनेमें खिन्न हो जाती है ॥ १२ ॥

इति वदति सखीजनेऽनुरागाद्दयिततमामपरश्चिरं प्रतीक्ष्य ।
तदनुगमवशादनायतानि न्यधित मिमान इवावनिं पदानि ॥ १३ ॥

इतीति ॥ सखीजने इति वदति अपरः कश्चिद्दयिततमामनुरागात् स्नेहाच्चिरं प्रतीक्ष्य तदनुगमवशात्तस्याः प्रियायाः कर्त्र्याः अनुगमः पश्चाद्गमनं तस्य वशादनुसारादवनिं मिमानो मानं कुर्वाण इवेत्युत्प्रेक्षा । माङो लटः कर्तरि शानजादेशः । 'श्लौ' (६।१।१०) इति द्विर्भावः । अनायतान्यनन्तरालानि पदानि न्यधित निहितवान् । धाञो लुङि तङ् 'स्थाघ्वोरिच्च' (१।२।१७) इतीकारः । सिचः कित्त्वाच्च गुणः 'ह्रस्वादङ्गात्' (८।२।२७) इति सकारलोपः । एषा च नायिका स्वाधीनपतिका । 'स्वाधीनपतिका सा तु या न मुञ्चति वल्लभम्' इति लक्षणात् । हृष्टा चेयम् ॥ १३ ॥

ऐसा (७।१२) सखीके कहनेपर अत्यन्त प्रियतम कोई नायक अतिशय प्रिया ('स्वाधीनपतिका' नायिका) की बहुत देर तक प्रतीक्षाकर उसके अनुगमनकी अधीनतासे भूमिको नापते हुएके समान (अत्यन्त धीरे-धीरे तथा छोटे-छोटे) पग रखने लगा ॥ १३ ॥

अथ काचित् पुरःप्रयातप्रियमेलनाय शीघ्रानुधावनं प्रार्थयमानां सखीमाह—

यदि मयि लघिमानमागतायां तव धृतिरस्ति गतास्मि सम्प्रतीयम् ।
द्रुततरपदपातमापपात[1] प्रियमिति कोपपदेन कापि सख्या[2] ॥ १४ ॥

यदीति ॥ हे सखि, मयि लघिमानमागतायां स्वयं गमनेन लाघवं प्राप्तायां तव धृतिरस्ति यदि सन्तोषो भवति चेत् । 'धृतिः सन्तोषधैर्ययोः' इत्यमरः । इयमेतदवस्थैव सम्प्रत्यस्मिन्क्षण एव गतास्मि इति । वदन्तीति शेषः । इतिना गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । अन्यथा पौनरुक्त्यादित्यालङ्कारिकाः । सख्या सह कोपपदेन कोपव्याजेन । वस्तुतस्तु रागादेवेति भावः । 'व्याजोपदेशो लक्ष्यं च', 'निमित्तं व्यञ्जनं पदम्' इति चामरः । काचिन्नायिका द्रुततराः शीघ्रतराः पदपाताः पादन्यासा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा प्रियं वल्लभमापपातानुधावति स्म । एषा च स्वयम्प्रवृत्ता स्वलाघवशङ्कितया पूर्वं निर्वासितप्रिया, अथेदानीं स्वयंप्रवृत्तेः पश्चात्तप्ता चेति गम्यते । अतः कलहान्तरिता । 'कोपात्कान्तं पराणुद्य पश्चात्तापसमन्विता' इति लक्षणात् ॥

'यदि मेरी लघुता होनेमें तुम्हें सन्तोष है तो इस समय मैं चलती (शीघ्रतासे आगे बढ़ती) हूँ' ऐसा कहकर मानो क्रोधके बहानेसे (वस्तुतः पतिविषयक अनुरागसे ही) सखीके साथ कोई नायिका पतिके पीछे अत्यन्त जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाती हुई चलने लगी ।

विमर्श—इस नायिकाने पहले तो पतिको झगड़ाकर वापस कर दिया था, अनन्तर अपने अविचारित कर्मपर सन्तप्त हो जब सखीके साथ पतिके पीछे चली तब उसकी

१. 'अनिभृतपदपात—' इति पा० । २. 'सख्याः' इति पा० ।

सखीने तेज चलते हुए पतिके पीछे तेज चलनेके लिए उस नायिकाको कहा, इसपर क्रुद्ध सी होती हुई वह नायिका सखीसे बोली कि मैं उसके पीछे-पीछे दौड़ती हुई चलूंगी तो मेरी लघुता–अप्रतिष्ठा होगी, फिर भी यदि मेरी अप्रतिष्ठामें ही तुम्हें सन्तोष है अर्थात् मुझे पतिके पीछे जल्दी–जल्दी चलाकर मेरी अप्रतिष्ठा कराना ही यदि तुझे रुचता है तो मैं शीघ्र चलती हूं, ऐसा बनावटी क्रोधकर (वस्तुतः पतिमें अनुरागके कारणसे ही) वह नायिका सखीके साथ पतिके पीछे शीघ्र गमन करने लगी। ऐसी नायिकाको 'कलहान्तरिता' कहते हैं ॥ १४ ॥

अविरलपुलकः सह व्रजन्त्याः प्रतिपदमेकतरः[1] स्तनस्तरुण्याः।
घटितविघटितः प्रियस्य वक्षस्तटभुवि कन्दुकविभ्रमं बभार ॥ १५ ॥

अविरलेति ॥ सह व्रजन्त्याः। पार्श्वमाश्लिष्य गच्छन्त्या इत्यर्थः। तरुण्याः। सम्बन्धी अविरलपुलकः प्रियाङ्गसङ्गमात् सान्द्ररोमाञ्चः एकतरोऽन्यतरो द्वयोरन्यः। सन्निकृष्ट इति भावः। 'एकाच्च प्राचाम्' (५।३।९४) इति द्वयोरेकस्य निर्धारणे डतरच्प्रत्ययः। स्तनः प्रियस्य वक्षस्तटमिव तस्यः भूः प्रदेशस्तस्यां वक्षस्तटभुवि प्रतिपदं घटितविघटितः संयुक्तवियुक्तः। पतितोत्पतितः सन्निति यावत्। विशेषणयोरपि मिथो गुणप्रधानभावविवक्षया 'विशेषणं विशेष्येण बहुलम्' (२।१।५७) इति समासः। कन्दुकविभ्रमं गेन्दुकशोभाम्। 'गेन्दुकः कन्दुकः' इत्यमरः। बभार। अन्यविभ्रमस्यान्यसम्बन्धायोगात्सादृश्याक्षेपे निदर्शना। एषा च प्रियपार्श्वगामिनी। इतः प्रभृति 'मदनरस–' (७।२३) इत्यतः प्राग्वक्ष्यमाणः षण्नायिकाः स्वाधीनपतिका हृष्टाः प्रगल्भाश्चेत्यनुसन्धेयम् ॥ १५ ॥

पतिके साथ (पार्श्वको आलिङ्गनकर) जाती हुई नायिकाका (प्रियाङ्गस्पर्शसे) अधिक रोमाञ्चयुक्त (प्रियके निकटवर्ती) एक स्तन प्रियके वक्षःस्थलरूपी मैदानमें स्पर्श करता और हटता हुआ, गेंदके विलासको प्राप्त किया अर्थात् गेंदके समान शोभने लगा ॥ १५ ॥

अथापरस्या अपरं गतिविशेषं विशेषकेणाह (१६–१८)—

अशिथिलमपरावसज्य कण्ठे दृढपरिरब्धबृहद्बहिःस्तनेन।
हृषिततनुरुहा[2] भुजेन भर्तुर्मृदुममृदु व्यतिविद्धमेकबाहुम् ॥ १६ ॥

अशिथिलमित्यादि ॥ अपरा स्त्री दृढं परिरब्धो ग्रहीतो बृहद्बहिःस्तनो येन तेन हृषितान्युदञ्चितानि तनुरुहि रोमाणि यस्य तेन। पुलकितेनेत्यर्थः क्विबन्तोत्तरपदो बहुव्रीहिः। 'हृषेर्लोमसु' (७।२।२९) इतीडागमः। भुजेन भर्तुर्वामबाहुना अमृदु गाढं यथा तथा व्यतिविद्धं व्यतिषक्तं मृदुं कोमलमेकबाहुं निजदक्षिणबाहुं भर्तुः कण्ठेऽशिथिलं दृढमवसज्यासज्य जगामेति भाविना सम्बध्यते ॥ १६ ॥

---

१. '—तरस्तन—' इति पा०। २. '—तनुरुहो···ममृदुव्यतिबद्ध–' इति पा०।

(अब तीन श्लोकों (७।१६–१८) से किसी नायिकाके गमनका वर्णन करते हैं)

दूसरी कोई स्त्री नायिकाके विशाल बाहर निकले हुए बाएँ स्तनको सम्यक्प्रकारसे मर्दित की हुई (अत एव) रोमाञ्चयुक्त (पतिकी बायीं) भुजासे सम्यक् प्रकारसे मिली हुई (अपनी दाहिनी) भुजासे पतिके कण्ठका गाढ़ालिङ्गनकर ('जा रही थी' ऐसा अग्रिम (७।१८) श्लोकसे सम्बन्ध है) ॥ १६ ॥

मुहुरसुसममाघ्नती नितान्तं प्रणदितकाञ्चि नितम्बमण्डलेन ।
विषमितपृथुहारयष्टि तिर्यक्कुचमितरं तदुरःस्थले निपीड्य ॥ १७ ॥

मुहुरिति ॥ पुनः किं कृत्वा । नितम्बमण्डलेन कारणेन नितान्तमतिशयेन प्रणदिता प्रकर्षेण नदन्ती काञ्ची यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८।४।१४) इति णत्वम् । मुहुरसुसमं प्राणेशमाघ्नती ताडयन्ती । हन्तेराङ्पूर्वाल्लटः शत्रादेशे ङीप् । सकर्मकत्वान्न 'आङो यमहनः' (१।३।२८)इत्यात्मनेपदम् । विषमिता विषमीकृता पृथुहारयष्टिर्यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा इतरं पूर्वश्लोकोक्तबहिःस्तनादन्यम् । दक्षिणमित्यर्थः । कुचं तस्य भर्तुरुरःस्थले तिर्यङ्निपीड्य । पूर्ववत्सम्बन्धः ॥

नितम्ब–मण्डलसे, करधनीके अत्यन्त झङ्कारपूर्वक, प्राणनाथको बार-बार ताड़ित करती हुई तथा विशाल मुक्ताहारकी लड़ीको अस्तव्यस्त करते हुए दूसरे (अपने दाहिने स्तनको प्राणनाथके वक्षःस्थलमें तिरछा निष्पीड़ित करती (गड़ाती) हुई ('जा रही थी' ऐसा अग्रिम श्लोक (७।१८) से सम्बन्ध कहना चाहिये) ॥ १७ ॥

गुरुतरकलनूपुरानुनादं सललितनर्तितवामपादपद्मा ।
इतरदनतिलोलमादधाना पदमथ मन्मथमन्थरं जगाम ॥ १८ ॥

गुरुतरेति ॥ पुनर्गुरुतरः सान्द्रतरः कलो मधुरश्च नूपुरस्यानुनादो ध्वनिर्यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा सललितं सलीलं नर्तितं व्यापारितं वामं सव्यं पादपद्मं यया सा इतरद्दक्षिणं पदमनतिलोलं भर्तृचरणस्खलनादनतिचपलं यथा तथा च आदधाना निक्षिपन्ती सती मन्मथेन मन्थरमलसं जगाम । एषा च पार्श्वगामिनी ॥ १८ ॥

तथा अत्यधिक मधुर नूपुर (पायजेब) को बजाती एवं लीलापूर्वक वाम पादको नचाती हुई और दूसरे अर्थात् दाहिने चरणको स्थिर रखती हुई कामवश धीरे-धीरे जा रही थी ॥

अथान्यासामप्येकैकेन गतिविशेषमाह—

लघुललितपदं तदंसपीठद्वयनिहितोभयपाणिपल्लवान्या ।
[1]सकठिनकुचचूचुकप्रणोदं प्रियमबला सविलासमन्वियाय ॥ १९ ॥

लघ्वित्यादि ॥ अन्या अबला स्त्री तस्य प्रियस्यांसौ पीठे इव तयोर्द्वये निहितावुभौ पाणिपल्लवौ यया सा सती । 'उभादुदात्तो नित्यम्' (५।२।४४) इति पृथक्सूत्र-

१, 'सुकठिन—' इति पा० ।

करणादेव सिद्धे पुनर्नित्यग्रहणसामर्थ्याद् वृत्तिविषये उभशब्दस्थानेऽप्युभयशब्द-प्रयोगः। यथाह कैयटः। तत्र 'उभादुदात्तो नित्यम्' (५।२।४४) इति नित्यग्रहण-स्येदं प्रयोजनं वृत्तिविषये उभशब्दस्य प्रयोगो मा भूत्, उभयशब्दस्यैव यथा स्यादित्युभयत्रेत्यादि भवतीति। लघुनी द्रुते ललिते च पदे यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा कठिनाभ्यां कुचचूचुकाभ्यां स्तनाग्राभ्यां यः प्रणोदो निपीडनं तेन सह यथा तथा। 'चूचुकं तु कुचाग्रं स्यात्' इत्यमरः। 'तेन सह—' (२।२।२८) इत्यादिना समासे 'वोपसर्जनस्य' (६।३।८३) इति सहशब्दस्य सभावः णोपदेशत्वात्प्रणोद इति णत्वम्। सविलासं च प्रियसन्निधयायानुजगाम। एषा पृष्ठगामिनी ॥ १९ ॥

(अब १-१ श्लोकसे दूसरी नायिकाओंके चलनेका वर्णन करते हैं) प्रियके (मांसल होनेसे) आसनके समान दोनों कन्धोंपर अपने दोनों पाणिपल्लवोंको रखकर लीलापूर्वक पैर रखते हुए कठोर कुचाग्रसे (पतिके पीठमें दबाकर) प्रेरित करती हुई दूसरी स्त्री विलास-पूर्वक पतिके पीछे-पीछे जाने लगी ॥ १९ ॥

जघनम¹लघुपीवरोरु कृच्छ्रादुरुनिबिरीसनितम्बभारखेदि।
दयिततमशिरोधरावलम्बिस्वभुजलताविभवेन काचिदूहे ॥ २० ॥

जघनमिति ॥ काचित्स्त्री अलघू गुरू पीवरौ पीनौ चोरू यस्य तत् उरुर्महान् निबिरीसो निबिडः। 'निबिडं निबिरीसं च दृढं गाढं प्रचक्षते' इति वैजयन्ती। 'नेर्बिडज्बिरीसचौ' (५।२।३२) इति निशब्दाद्बिरीसच्प्रत्ययः। स च यो नितम्बः स्त्रीकटिपश्चाद्भागः। 'पश्चान्नितम्बः स्त्रीकट्याः क्लीबे तु जघनं पुरः' इत्यमरः। स एव भारस्तेन खिद्यत इति तथोक्तम्। अभीक्ष्ण्ये णिनिः। जघनं कटिपुरोभागं दयिततमस्य शिरोधरायां ग्रीवायामवलम्बिन्योर्लम्बमानयोः स्वभुजलतयोर्विभवेन सामर्थ्येन कृच्छ्रादूहे उवाह। वहेः स्वरितेत्त्वात्कर्त्रभिप्राय आत्मनेपदम्। इयं च पृष्ठगामिनी प्रियकण्ठावलम्बा ॥ २० ॥

दूसरी कोई स्त्री बड़े-बड़े तथा मोटे-मोटे उरुद्वयवाले तथा बड़े-बड़े एवं सटे हुए नितम्बोंके भारसे खिन्न जघनको प्रियतमके कन्धोंपर अपनी भुजलता रखनेके सामर्थ्यसे कष्ट के साथ ढो रही थी ॥ २० ॥

अनुवपुरपरेण बाहुमूलप्रहितभुजाकलितस्तनेन निन्ये।
निहितदशनवाससा कपोले विषमवितीर्णपदं बलादिवान्या ॥२१॥

अनुवपुरिति ॥ अन्या स्त्री वपुषः पश्चादनुवपुः स्त्रीपृष्ठभागः। 'अव्ययं विभक्ति—' (२।१।६) इत्यादिना पश्चादर्थेऽव्ययीभावः। बाहुमूलयोः स्त्रीकक्षयोः प्रहितावक्षः प्रसारितौ भुजौ ताभ्यामाकलितस्तनेन गृहीतस्तनेन कपोले निहितदशनवाससा न्यस्ताधरेण किञ्चिदावृतमुख्याः सत्याः कपोलं चुम्बतेत्यर्थः। अपरेण कामिनी

१. '—मलक्ष—' इति पा०।

विषमं प्रियाङ्घ्रिसङ्घर्षात् श्लिष्टं वितीर्णपदं न्यस्ताङ्घ्रि यथा तथा बलादिव निन्ये नीता। आरोप्य नीयमानेव गमयांचक्र इत्यर्थः। एषा पुरोगामिनी ॥ २१ ॥

(नायिकाके) पीछेसे काँखमें अपना हाथ डालकर (उस नायिकाके दोनों) स्तनोंको पकड़े हुए तथा (उस नायिकाके) कपोलपर अपना ओष्ठ रखे (कपोलका चुम्बन करते) हुए कोई दूसरा नायक अस्तव्यस्त पैर रखते उस नायिकाको मानो बलपूर्वक ले जा रहा था।

विमर्श—यद्यपि यह नायिका स्वयमेव पतिके आगे–आगे चल रही थी, किन्तु पीछेसे काँखमें हाथ डालकर स्तनोंको पकड़े हुए तथा कपोलपर मुख रखकर लड़खड़ाते हुए नायिकाके पीछे–पीछे नायकके चलनेसे ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो वह नायिकाको बलपूर्वक ढकेलते ले जा रहा है ॥ २१ ॥

अनुवनमसितभ्रुवः सखीभिः सह पदवीमपरः पुरोगतायाः।
उरसि सरसरागपादलेखा[1]प्रतिमतयानुययावसंशयानः ॥ २२ ॥

अनुवनमिति ॥ अपरः कामी अनुवनं वनं प्रति सखीभिः सह पुरोगतायाः असितभ्रुवः स्वकान्तायाः पदवीमुरसि वक्षसि सरस आर्द्रो रागो लाक्षारञ्जनं यस्य तस्य पादस्य या लेखा विन्यासः सा प्रतिमोपमानं यस्याः सा तत्प्रतिमा तस्य भावस्तत्ता तया। तत्सदृशतयेत्यर्थः। असंशयानोऽसन्दिहानः। शीङो लटः कर्तरि शानआदेशः। अनुययौ। अत्र पादरेखाप्रतिमतयेति सादृश्यवस्तुना सुरतकालीनं पादताडनं वस्तु सरागपदार्थमहिम्ना प्रतीयत इति पदगतः स्वतःसिद्धार्थशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः संलक्ष्यक्रमध्वनेर्भेदः ॥ २२ ॥

दूसरे नायकने वनमें सखियोंके साथ पहले गयी हुई नीलभ्रू (नीले भौंहोंवाली अपनी प्रियतमा) के चरणचिह्नोंको (अपने हृदयमें पहले ताड़न करनेसे लगे हुए) ताजे महावर-वाले चरणोंकी समानतासे सन्देहरहित होकर अनुगमन किया ॥ २२ ॥

मदनरसमहौघपूर्णनाभीह्रदपरिवाहितरोमराजयस्ताः ।
सरित इव सविभ्रमप्रयातप्रणदितहंसकभूषणा विरेजुः ॥ २३ ॥

मदनेति ॥ मदनस्य रसः शृङ्गारः, अन्यत्र रसो जलं तस्य महौघेन महापूरेण पूर्णा नाभ्य एव ह्रदास्तेषां परिवाहाः कृताः परिवाहिता जलोच्छ्वासीकृता रोमराजयो यासां ताः। 'जलोच्छ्वासाः परीवाहाः' इत्यमरः। सरिज्जलानि ह्रदानापूर्य परित उच्छ्वसन्तीति प्रसिद्धिः। सविभ्रमैः सविलासैः प्रयातैः प्रकृष्टगमनैः प्रणदिताः शिञ्जिता ये हंसकाः पादकटकाः। 'हंसकः पादकटकः' इत्यमरः। अन्यत्र हंसा एव हंसकाः मरालास्त एव भूषणानि यासां ताः स्त्रियः सरित इव विरेजुः। मदनरसपूर्णेत्यनेन नाभीनां तदुद्बोधकत्वं व्यज्यते। 'परिवाहितरोमराजय' इति

1. '—रेखा—' इति पा०।

रोमराजीनां परिवाहत्वनिरूपणान्नाभ्य एव ह्रदा इति रूपकाश्रयणम्। ताः सरित एवेति श्लिष्टविशेषणेयमुपमा। श्लेष एवेत्यन्ये॥ १३॥

कामरस अर्थात् शृङ्गारके महाप्रवाहसे पूर्ण नाभिरूप तड़ागके जलोच्छ्वासके समान रोमावली है जिनकी ऐसी तथा विलासपूर्वक चलनेसे बजते हुए नूपुररूप भूषणवाली (या—नूपुर तथा कङ्कणवाली) वे यादव-स्त्रियाँ, जिनके जलके महाप्रवाह तड़ागोंको भरकर बह रहे हैं ऐसी तथा विलासके साथ चलते हुए हंसवाली (या–हंस तथा जलवाली) नदीके समान शोभती थीं।

विमर्श—जिस प्रकार नदीका महाप्रवाह तड़ागोंको भरकर बाहर बहने लगता है उसी प्रकार यादवस्त्रियोंका शृङ्गाररसका महाप्रवाह उनकी नाभिरूपी तड़ागको परिपूर्णकर रोमावलिरूपमें बाहर निकल रहा है तथा जिस प्रकार नदियोंमें विलासपूर्वक चलते हुए राजहंस (या—राजहंस तथा जलका तरङ्ग) मधुर शब्द करते हैं, उसी प्रकार यादव-स्त्रियोंके चञ्चल नूपुररूप अलङ्कार (या—नूपुर तथा कङ्कण) सुन्दर ध्वनि करते (बजते) हैं, अत एव वे यादवस्त्रियाँ नदियोंके समान शोभती थीं। कोष्ठान्तर्गत अर्थ 'वल्लभदेव' के व्याख्यानके अनुसार है॥ २३॥

श्रुतिपथमधुराणि सारसानामनुनदि शुश्रुविरे रुतानि ताभिः।
विदधति जनतामनःशरव्यव्यधपटुमन्मथचापनादशङ्काम्॥२४॥

श्रुतिपथेति॥ अनुनदि नदीनां समीपे। समीपार्थेऽव्ययीभावः। 'अव्ययीभावश्च' (२।४।१८) इति नपुंसकत्वे ह्रस्वत्वम्। ताभिः स्त्रीभिः जनानां समूहो जनता। 'ग्रामजन–' (४।२।२३) इत्यादिना सामूहिकस्तल्प्रत्ययः। तस्या मनांस्येव शरव्यं लक्ष्यम्। 'लक्ष्यं शरव्यं च' इत्यमरः। तस्य व्यधो वेधः। 'व्यधजपोरनुपसर्गे' (३।३।६१) इत्यप्प्रत्ययः। तत्र पटुः समर्थो यो मन्मथचापनादः स इति शङ्कां भ्रमं विदधति विदधानानि। 'वा नपुंसकस्य' (७।१।७९) इति वैकल्पिको नुम्प्रतिषेधः। श्रुतिपथमधुराणि। श्राव्याणीत्यर्थः। सारसानां रुतानि शुश्रुविरे श्रुतानि। सारसरुतश्रवणान्मन्मथोद्दीपनमासीदित्यर्थः। अत्र सारसरुते मन्मथचापनादभ्रमाद् भ्रान्तिमदलङ्कारः। 'कविसम्मतसादृश्याद्विधेये पिहितात्मनि। आरोप्यमाणानुभावो यत्र स भ्रान्तिमान् मतः॥" इति लक्षणात्॥ २४॥

उन्हीं (यादवाङ्गनाओं) ने नदियोंके पासमें लोगोंके मनोरूप लक्ष्यको बेधनेमें समर्थ कामधनुषके टङ्कारका सन्देह उत्पन्न करते हुए, कर्णमधुर सारस पक्षियोंके ध्वनिको सुना॥

मधुमथनवधूरिवाह्वयन्ति भ्रमरकुलानि जगुर्यदुत्सुकानि।
तदभिनयमिवावलिर्वनानामतनुत नूतनपल्लवाङ्गुलीभिः॥ २५॥

मधिवति॥ उत्सुकान्युन्मनांसि भ्रमरकुलानि मधुमथनस्य हरेर्वधूराह्वयन्त्या-कारयन्तीवेत्युत्प्रेक्षा। 'हूतिराकारणाह्वानम्' इत्यमरः 'शप्श्यनोर्नित्यम्' (७।१।८१)

इति ह्वयतेः शतुर्नुमागमः । जगुरिति गायतेर्लिट् । वनानामावलिर्नूतनपल्लवा एवाङ्गुलय इत्येकदेशवर्तिसावयवरूपकम् । अस्यैव वनावलौ नर्तकीत्वरूपगमकत्वा-दिति । ताभिस्तदभिनयं व्यञ्जकचेष्टामतनुतेव । 'व्यञ्जकाभिनयौ समौ' इत्यमरः । 'अङ्गैरालम्बयेद्गीतं हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत्' इति वचनात् । गीतार्थस्याह्वानस्य व्यञ्जन-मङ्गुलिभिरकोर्षीदिवेति क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा । पूर्वोक्तरूपकानुप्राणिता साह्वानोत्प्रेक्षा-सापेक्षेति सजातीयसङ्करोऽपीति ॥ २५ ॥

उत्कण्ठित भ्रमर-समूह, श्रीकृष्ण भगवान्की वधुओंको जो बुलाते हुएसे गूंजने (ध्वनि करने) लगे, उपवनोंकी श्रेणिने नवपल्लवरूप अङ्गुलियोंसे मानो उसीका अभिनय (अङ्गु-लियोंको हिला-हिलाकर बुलानेका प्रदर्शन) सा किया ॥ २५ ॥

असकलकलिकाकुलीकृतालिस्खलनविकीर्णविकासिकेशराणाम् ।
मरुदवनिरुहां रजो वधूभ्यः समुपहरन् विचकार कोरकाणि ॥ २६ ॥

असकलेति ॥ मरुद्वनानिलः असकला असमग्राः । अर्धविकचा इत्यर्थः । ताभिः कलिकाभिः कोरकैराकुलीकृतानां संक्षोभितानामलीनां स्खलनेन विघट्टनेन विकीर्णा विक्षिप्ता विकासिनः केशराः किञ्जल्का येषां तेषामवनिरुहाम् । क्विप् । रजः परागं वधूभ्यः समुपहरन् प्रयच्छन् । यथा कश्चित्कामीति भावः । धनमर्जयन्वसतीतिवत् , 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (३।२।१२६) इति हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः । कोरकाणि कुड्म-लानि । 'कलिका कोरकः पुमान्' इत्यमरकोशे पुंस्त्वाभिधानं प्रायिकाभिप्रायम् । 'कोरकं कुड्मलेऽपि स्यात्कक्कोलकमृणालयोः' इति विश्वप्रकाशादौ नपुंसकत्वस्याभि-धानात् । विचकार । विकाशयामासेत्यर्थः । विपूर्वात्किरतेः करोतेर्वा लिट् । अत्र कोरकविकाशकरणस्य समुपहरन्निति हेत्वर्थेन वधूसम्प्रदानकपरागोपहरणार्थत्वाव-गमात्फलोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ २६ ॥

वनका पवन अर्धविकसित कलियोंसे क्षुब्ध भ्रमरों (के बैठनेके आघात) से गिरे हुए विकसित केसरोंवाले वृक्षोंके परागको (यादवोंकी) स्त्रियोंके लिए (कामुकके समान) भेंट करता हुआ कलियोंको विकसित कर दिया ॥ २६ ॥

उपवनपवनानुपातदक्षैरलिभिरलाभि यदङ्गनाजनस्य ।
परिमलविषयस्तदुन्नतानामनुगमने खलु सम्पदोऽग्रतःस्थाः ॥ २७ ॥

उपवनेति ॥ वने इत्युपवनम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । तत्र यः पवनः तस्यानु-पातेनानुसारेण दक्षैर्विचक्षणैरलिभिर्यद्यतः कारणादङ्गनाजनस्य सम्बन्धी परिमलो गन्धविशेषः । 'विमर्देोत्थे परिमलो गन्धे जनमनोहरे' इत्यमरः । स एव विषयो भोग्यार्थः । 'रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी' इति । अलाभि लब्धः । लभेः कर्मणि लुङ् 'विभाषा चिण्णमुलोः' (७।१।६९) इति विकल्पान्नुमभावः 'अत

१.–'गणस्य' इति पा० ।

उपधायाः' (७।२।११६) इति वृद्धिः। तस्मादुन्नतानां महतामनुगमने पश्चाद्धावने, अनुवृत्तौ च सम्पदोऽग्रतःस्थाः पुरोवर्तिन्यः खलु। 'सुपि स्थः' (३।२।४) इति कप्रत्ययः। अत्रानुगमनयोर्द्वयोरभेदाध्यवसायात् श्लेषोत्थापितातिशयोक्त्यनुप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यासः सामान्येन विशेषसमर्थनरूपः॥ २७॥

वनमें वायुका अनुगमन करनेमें चतुर अर्थात् वायुके रुखसे उड़नेवाले भ्रमरोंने (यदुवंशियोंकी) अङ्गनाओंका परिमल (जनाकर्षक सौरभ) रूप वस्तु (भोग्यपदार्थ) को जो प्राप्त किया, वह 'बड़ोंके अनुगमन करनेमें सम्पत्तियाँ आगे पड़ी हुई रहती हैं' यह प्रकट कर रहा था अर्थात् बड़ोंके अनुसरण करनेपर अनायास ही भोग्य विषयकी प्राप्ति होती है॥ २७॥

रथचरणधराङ्गनाकराब्जव्यतिकरसम्पदुपात्तसौमनस्याः।
जगति सुमनसस्तदादि नूनं दधति परिस्फुटमर्थतोऽभिधानम्॥२८॥

रथेति॥ सुमनसः पुष्पाणि रथचरणं चक्रं तस्य धरो धारयिता हरिः। पचाद्यच्। तस्याङ्गनास्तासां कराब्जैः व्यतिकरः सम्पर्कः स एव सम्पत् तयोपात्तं लब्धं सौमनस्यं सुमनस्कत्वं सन्तुष्टचित्तत्वं याभिस्ताः सत्य· अत एव सौमनस्यलाभ आदिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तदादि। ततः प्रभृतीत्यर्थः। अर्थतः पूर्वोक्तावयवार्थात् परिस्फुटं प्रसिद्धावयवार्थमभिधानं सुमनस इति नामधेयं दधति। पूर्वं त्वश्वकर्णकादिवद्रूढमिति भावः। 'आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च' इत्यमरः। स्त्रियः। पुष्पाण्यवचेतुं प्रवृत्ता इति फलितोऽर्थः। नूनमित्युत्प्रेक्षायाम्। अत्रोपात्तसौमनस्या इति सौमनस्योपादानस्य पदार्थस्य विशेषणगत्या सुमनःपदान्वर्थताहेतुकत्वोक्त्या काव्यलिङ्गम्, तदुत्थापिता चेयं तदादित्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः। तेन चाङ्गनाकराणामतिश्लाघ्यत्वं व्यज्यते॥ २८॥

चक्रधारी (श्रीकृष्ण भगवान्) की अङ्गनाओंके करकमलके संसर्गरूपी (या—संसर्गसे उत्पन्न) श्रीसे सौमनस्य (सुमनस्—सुन्दर मन अर्थात् सुप्रसन्न चित्तके भाव) को प्राप्त किये हुए सुमनस् अर्थात् पुष्प (पक्षा०—सुन्दर मन है जिनका ऐसे), उस समयसे सचमुच ही अन्वर्थताको प्राप्त कर लिये।

विमर्श—'सुमनस्' अर्थात् पुष्प पहले केवल संज्ञा मात्रसे 'सुमनस्' थे क्योंकि उनका मन सुन्दर-सुप्रसन्न नहीं था, किन्तु जब उनको श्रीकृष्ण भगवान्की अङ्गनाओंने अपने हाथमें लिया, तब वे विशेष शोभा-सम्पन्न होनेसे वस्तुतः 'सुमनस्' (सुन्दर मनवाले अर्थात् प्रसन्नचित्त) हो गये, अतः तबसे ही उनके नामका अवयवार्थ सार्थक हो गया॥

अभिमुखपतितैर्गुणप्रकर्षादवजितमुद्धतिमुज्ज्वलां दधानैः।
तरुकिसलयजालमग्रहस्तैः प्रसभमनीयत भङ्गमङ्गनानाम्॥ २९॥

अभिमुखेति॥ अभिमुखपतितैः भञ्जनार्थमभिमुखमागतैः उज्ज्वलामुत्कृष्टामुद्धतिमुपरिप्रसारमौद्धत्यं च दधानैरङ्गनानामग्राणि च ते हस्ताश्चेति समानाधिकरण·

समासः। अत एव 'हस्ताग्राग्रहस्तयोर्गुणगुणिनोरभेदात्' इति वामनः। तैरग्रहस्तैः कर्तृभिः गुणप्रकर्षाद्धेतोरवर्जितमवधीरितं तरुकिसलयजालं प्रसभं बलाद्भङ्गं छेदं पराजयं चानीयत नीतम्। 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति किसलयजालस्य प्राधान्यादभिधानम्। अत्राग्रहस्तेषु विशेषणमहिम्ना जिगीषुत्वस्य किसलयजाले जेतव्यत्वस्य च प्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः॥ २९॥

(तोड़नेके लिए) आगे बढ़े हुए, अधिक ऊपरको उठे हुए (पक्षा०—औद्धत्यको ग्रहण किए) अङ्गनाओंके हस्ताग्रोंने गुणाधिक्यके कारण पराजित, वृक्षके नवपल्लवसमूहको बलपूर्वक तोड़ डाला (पक्षा०—हरा दिया)॥ २९॥

मुदितमधुभुजो भुजेन शाखाश्चलितविशृङ्खलशङ्खकं धुवत्याः।
तरुरतिशयितापराङ्गनायाः शिरसि मुदेव मुमोच पुष्पवर्षम्॥३०॥

मुदितेति॥ मुदिता हृष्टा मधुभुजो मधुपा यासु ताः शाखा भुजेन हस्तेन चलितानि विशृङ्खलान्यप्रतिहतरवाणि शङ्खकानि वलयानि यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा धुवत्याः कम्पयन्त्याः। 'धू विधूनने' इति धातोस्तौदादिकाच्छतरि ङीप्। 'विङति च' (१।१।५) इति गुणवृद्धिप्रतिषेधादुवङादेशः। अतिशयिता सौन्दर्येणातिक्रान्ता अपराङ्गना यया सा तस्याः शिरसि तरुर्मुदेव तदभिसरणसन्तोषेणेवेति गुणहेतूत्प्रेक्षा। पुष्पवर्षं पुष्पवृष्टिं मुमोच॥ ३०॥

हर्षित भ्रमर बैठे हैं जिनपर ऐसी शाखाको, चञ्चल तथा नियन्त्रणरहित शंख–वलयके साथ अर्थात् हाथमें पहने हुए चञ्चल शंखके कङ्कणको बजाते हुए—हिलाती हुई, दूसरी अङ्गनाओंको पराजित की हुई किसी अङ्गनाके मस्तकपर मानो हर्षसे वृक्षने पुष्प–वृष्टि की।

विमर्श—जिसपर सुगन्धसे हर्षित भ्रमर बैठे हुए हैं, ऐसी शाखाको दूसरी अङ्गनाको पराजित कर जब किसी अङ्गनाने हाथमें पहने शङ्खके कङ्कणको बजाते हुए हिलाया तब उसके मस्तकके ऊपर फूल गिर पड़े, वह ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो उस अङ्गनापर प्रसन्न हुए वृक्षने पुष्पवृष्टि की हो॥ ३०॥

अनवरतरसेन रागभाजा करजपरिक्षतिलब्धसंस्तवेन।
सपदि तरुणपल्लवेन वध्वा विगतदयं खलु खण्डितेन मम्ले॥३१॥

अनवरतेति॥ अनवरतरसेन अनवच्छिन्नद्रवेण, अन्यत्रानुबद्धशृङ्गारेण रागभाजा रक्तेन, प्रीतिभाजा च करजपरिक्षतिषु नखक्षतेषु लब्धसंस्तवेन प्राप्तपरिचयेन। 'संस्तवः स्यात्परिचयः' इत्यमरः। वध्वा विगतदयं निर्दयं यथा तथा खण्डितेन छिन्नेन निराकृतेन च तरुणपल्लवेन नवकिसलयेन युवविटेन च। 'पल्लवः किसलये विटे' इति विश्वः। सपदि मम्ले म्लानम्। खलु प्रसिद्धौ। म्लायतेर्भावे लिट्। अत्राभिधायाः प्रकृतार्थे नियन्त्रितत्वादप्रकृतार्थप्रतीतेः शब्दशक्तिमूलो ध्वनिः। न श्लेषः। तेन चोभयोः पल्लवयोरौपम्यं गम्यते॥ ३१॥

निरन्तर बहते हुए रसवाला (पक्षा०—अविच्छिन्न शृङ्गार रसवाला), राग (लालिमा, पक्षा०—अनुराग-प्रीति) से युक्त, (वधूके) नखक्षतसे परिचित अर्थात् नाखूनसे तोड़ा गया (पक्षा०—रतिमें किये गये नखक्षतवाला), वधूके द्वारा निर्दयतापूर्वक तोड़ा गया (पक्षा०—तिरस्कृत किया गया) नवपल्लव (पक्षा०—तरुण विट) तत्काल मलिन हो गया कुम्हिला गया, (पक्षा०—खिन्न हो गया) ॥ ३१ ॥

अथासां पुष्पावचये शृङ्गारचेष्टाः वर्णयन् कस्याश्चिच्चेष्टाविशेषमेकेनाह—

प्रियमभि कुसुमोद्यतस्य बाहोर्नवनखमण्डनचारु मूलमन्या ।
मुहुरितरकराहितेन पीनस्तनतटरोधि तिरोदधेऽंशुकेन ॥ ३२ ॥

प्रियमिति ॥ अन्या स्त्री प्रियमभि । प्रियस्याग्रतः इत्यर्थः । 'अभिरभागे' (१।४।९१) इत्यभेर्लक्षणार्थे कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । कुसुमेषूद्यतः कुसुमोद्यतः । कुसुमग्रहणार्थमुत्क्षिप्त इत्यर्थः । प्रकृतिविकारभावाभावान्न तादर्थ्ये चतुर्थीसमासः । तस्य बाहोर्नवं यन्नखं नखक्षतं तदेव मण्डनं तेन चारु सुन्दरं मूलम् । कक्षभागमित्यर्थः । मुहुरितरकरेण सव्यपाणिना आहितेन निहितेनांशुकेनोत्तरीयेण पीनं स्तनतटं रुणद्धीति पीनस्तनतटरोधि तदावरणं यथा तथा तिरोदधे तिरश्चकार । अयं चापलाख्यः सञ्चारिभावः । 'आत्मप्रकाशिनी चेष्टा रागादेश्चापलं मतम्' इति लक्षणात् प्रौढा चेयम् ॥ ३२ ॥

(वधुओंके फूल-पल्लवादि तोड़नेके वर्णनके प्रसङ्गमें किसी नायिकाके फूल तोड़नेका वर्णन करते हैं) कोई दूसरी नायिका प्रियतमके सामने फूल (को तोड़ने) के लिए ऊपर उठाये हुए (दाहिने) बाहुके नवीन नखक्षतरूपी भूषणसे शोभमान मूल (कक्ष-प्रदेश) को दूसरे (बायें) हाथसे रखे गये कपड़ेसे विशाल स्तनको ढकते हुए बारबार छिपाती थी ॥ ३२ ॥

अथापरस्याश्चेष्टाविशेषं षड्भिः कुलकेनाह (३३-३८)—

विततवलिविभाव्यपाण्डुलेखाकृतपरभागविलीनरोमराजिः ।
कृशमपि कृशतां पुनर्नयन्ती विपुलतरोन्मुखलोचनावलग्नम् ॥ ३३ ॥

विततेत्यादि ॥ काचिद्विततामिर्गात्रोल्लसनाद्विश्लिष्टाभिर्वलिभिस्त्रिवलिभिर्विभाव्याः संलक्ष्याः पाण्डुलेखा रेखाकारा वलित्रयान्तरालभागास्ताभिः कृतपरभागा जनितवर्णोत्कर्षाः अत एव विशेषेण लीना विलीना रोमराजिर्यस्याः सा तथोक्ता । कृशमपि । स्वभावत एवेति भावः । अवलग्नं मध्यम् । 'मध्यमं चावलग्नं च मध्योऽस्त्री' इत्यमरः । पुनः कृशतां नयन्ती । अग्रपुष्पग्रहणाय गात्रविजृम्भणादिति भावः । तथा विपुलतरे उन्मुखे ऊर्ध्वमुखे च लोचने यस्याः सा । अग्रपुष्पग्रहणार्थमिति भावः ॥

(अब पुष्प तोड़ती हुई दूसरी नायिकाकी चेष्टाका वर्णन छः श्लोकों (७।३३-३८) से करते हैं) पुष्प तोड़नेके लिए हाथको ऊपर उठानेपर (उदरकी बड़ी-बड़ी त्रिवलियोंसे स्पष्ट दिखलाई पड़ती हुई गौरवर्णवाली रेखाओंसे अत्यन्त शोभनेवाली

---

१. '—विनील—' इति पा० ।

(अतएव) उसी विलीन हुई रोमपङ्क्तियोंवाली ऐसी और स्वभावतः पतली कटि (कमर) को पुनः पतली करती हुई, एवं (पुष्प तोड़ने के लिए शरीर ऊपर तन जानेसे) बड़े-बड़े तथा उन्मुख (ऊपरकी ओर देखते हुए) नेत्रोंवाली ॥ ३३ ॥

प्रसकलकुचबन्धुरोद्धुरोरःप्रसभविभिन्नतनूत्तरीयबन्धा ।
अवनमदुदराच्छ्वसद्दुकूलस्फुटतरलक्ष्यगभीरनाभिमूला ॥ ३४ ॥

प्रसकलेति ॥ प्रसकलाभ्यामतिसमग्राभ्यां कुचाभ्यां बन्धुरमुन्नतानतम् । 'बन्धुरं तून्नतानतम्' इत्यमरः । उद्धुरं निर्भरम् । दृढमिति यावत् । 'ऋक्पूर–' (५।४।७४) इत्यादिना समासान्तः । तस्मादुरसः प्रसभाद्बलात्काराद्विभिन्नो विश्लिष्टस्तनूत्तरीयबन्धो यस्याः सा । गात्रविजृम्भणाद्विस्रस्तकुचावरणेत्यर्थः । किञ्च अवनमतोऽन्तर्लीयमानादुदरादुच्छ्वसद्विश्लिष्यद्दुकूलं यस्य तद् अत एव स्फुटतरं यथा तथा लक्ष्यं गभीरमगाधं नाभेर्मूलमन्तरालं यस्याः सा ॥ ३४ ॥

बड़े-बड़े स्तनोंसे उच्चावच (ऊँचे-नीचे) तथा दृढ़ वक्षःस्थलसे सहसा नीचेकी ओर सरके हुए स्तनावरण (स्तनोंको आच्छादित करनेवाले कपड़े) वाली तथा भीतर धसे हुए उदर से वस्त्रके नीचे सरकनेसे स्पष्ट दिखलायी पड़ती हुई नाभिके मूलवाली ॥ ३४ ॥

व्यवहितमविजानती[1] किलान्तर्वणभुवि वल्लभमाभिमुख्यभाजम् ।
अधिविटपि सलीलमग्रपुष्पग्रहणपदेन चिरं विलम्ब्य काचित् ॥ ३५ ॥

व्यवहितमिति ॥ काचित्पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टाङ्गना अन्तर्वणभुवि वनाभ्यन्तरप्रदेशे । 'प्रनिरन्तः–' (८।४।५) इत्यादिना वननकारस्य णत्वम् । व्यवहितं तिरोहितमाभिमुख्यभाजम् अभिमुखावस्थितमित्यर्थः, तं वल्लभं प्रियमविजानती किल जानानाप्यजानानेव अधिविटपि विटपिनि वृक्षे, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । सलीलं यथा तथाग्रे वृक्षाग्रे यानि पुष्पाणि तेषां ग्रहणस्य पदेन मिषेण चिरं विलम्ब्य । प्रियाय स्वाङ्गप्रकाशनार्थमिति भावः ॥ ३५ ॥

वनके भीतरी भागमें छिपकर सामने स्थित प्रियतमको नहीं जानती हुई–सी कोई (पुष्प तोड़नेवाली उपर्युक्त) अङ्गना पेड़पर फूल तोड़नेके छलसे विलासपूर्वक बहुत समय तक रुककर ॥ ३५ ॥

अथ किल कथिते सखीभिरत्र क्षणमपरेव ससम्भ्रमा भवन्ती ।
शिथिलितकुसुमाकुलाग्रपाणिः[2] प्रतिपदसंयमितांशुकावृताङ्गी ॥ ३६ ॥

अथेति ॥ अथ विलम्बानन्तरमत्रास्मिन्प्रिये सखीभिः कथिते सति किलायमत्रैवास्त इति निवेदिते सति क्षणं ससंभ्रमा अपरेव पूर्वविपरीतव्यापारकारणादन्येव भवन्ती । बुद्धिपूर्वकारित्वमज्ञाननाटनेन वञ्चयन्तीत्यर्थः । शिथिलितः पुष्पग्रहणा-

---

१. '—मिव जानती' इति पा० । २. '—पाणिप्रतिपद—' इति पा०

न्निवर्तितः कुसुमाकुलः कुसुमव्यापृतोऽग्रपाणिर्यया सा तथोक्ता प्रतिपदं प्रतिस्थानं संयमितेन नियमितेनांशुकेन। 'अंशुकं सूक्ष्मवस्त्रे स्यात्' इति विश्वः। वस्त्रेणावृतमङ्गं यस्याः सा तथोक्ता सती ॥ ३६ ॥

इस (उक्तरूपसे विलम्ब तक स्थित रहने) के बाद इस विषयमें सखियोंके कहनेपर ('तुम्हारा प्रियतम छिपा हुआ सामने खड़ा तुम्हारे अङ्गोंको देख रहा है' ऐसा बतलानेपर) क्षणमात्र घबड़ाई हुई दूसरी-सी होती हुई, पुष्प तोड़नेमें व्यस्त हस्ताग्रको शिथिल की हुई तथा प्रत्येक स्थान (बाहुमूल, स्तन, नाभिमूल आदि) पर बँधे हुए वस्त्रोंसे ढके हुए अङ्गोंवाली ॥ ३६ ॥

कृतभयपरितोषसन्निपातं सचकितसस्मितवक्त्रवारिजश्रीः।
मनसिजगुरुतत्क्षणोपदिष्टं किमपि रसेन रसान्तरं भजन्ती ॥ ३७ ॥

कृतभयेति ॥ किञ्च कृतः भयपरितोषयोः भर्तृदर्शनोत्थसाध्वसहर्षयोः सन्निपातः सङ्करो येन तत्। मनसि जातो मनसिजः स्मरः। 'सप्तम्यां जनेर्डः' (३।२।९७)। 'हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम्' (६।३।९) इत्यलुक्। स एव गुरुराचार्यस्तेन तत्क्षणे उपदिष्टम्। तदेकहेतुकमित्यर्थः। किमप्यनिर्वाच्यं रसान्तरं लक्षणया भावान्तरं तच्चेह किलकिञ्चिताख्यं विवक्षितम्। कृतभयेत्यादिविशेषणेन 'क्रोधाश्रुहर्षभीत्यादेः सङ्करः किलकिञ्चितमि'ति लक्षणार्थस्य प्रतीतेः। रसेन रागेण हेतुना भजन्ती अत एवं सचकिता सभयसम्भ्रमा। 'चकितं भयसम्भ्रमः' इत्यमरः। सस्मिता हर्षात् समन्दहासा वक्त्रवारिजश्रीर्यस्याः सा सती। अत्र चकितस्मितयोः पूर्वोक्तभयहर्षानुभावत्वेनोक्तिः ॥ ३७ ॥

(सहसा पतिको वहाँ देखनेसे) भय तथा हर्षके मिश्रणसे युक्त, कामदेवरूप आचार्य (गुरु) द्वारा तत्काल बतलाये गये ('किलकिञ्चित' नामक) अनिर्वचनीय भावान्तरको अनुरागसे प्राप्त की हुई (अत एव) भयसे घबड़ाहट तथा मुस्कुराहटसे युक्त मुखकमलकी शोभावाली (वह नायिका) ॥ ३७ ॥

अवनतवदनेन्दुरिच्छतीव व्यवधिमधीरतया यदस्थितास्मै।
अहरत सुतरामतोऽस्य चेतः स्फुटमभिभूषयति स्त्रियस्त्रपैव ॥ ३८ ॥
(षड्भिः कुलकम्)

अवनतेति ॥ अवनतवदनेन्दुः। लज्जया नम्रमुखीत्यर्थः। अधीरतया अधृष्टतया व्यवधिं किञ्चिद्व्यवधानम्। 'उपसर्गे घोः किः' (३।३।९२) इति किप्रत्ययः। इच्छती वाञ्छन्तीव। तथा व्याकुला सतीत्यर्थः। 'आच्छीनद्योर्नुम्' (७।१।८०) इति विकल्पान्नुमभावः। अस्मै प्रियाय अस्थित। आत्मानं प्रकाशयन्ती स्थितेत्यर्थः। तिष्ठतेः कर्तरि लुङ्। 'प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च' (१।३।२३) इत्यात्मनेपदं 'स्थाघ्वोरिच्च' (१।२।१७) इति सिचः कित्त्वमिकारश्च धातोरन्तादेशः कित्त्वाच्च गुणः। इति

यदतो हेतोरस्य प्रियस्य चेतः सुतरामहरत । तथा हि—त्रपैव स्त्रियोऽभिभूषयति स्फुटम् । प्रसिद्धमित्यर्थः । अतोऽस्या अपि त्रपाभूषितत्वादतिमनोहरत्वं युक्तमिति भावः । कुलकार्थान्तरन्यासौ । मध्या चेयं नायिका । 'लज्जामन्मथमध्यस्था मध्यमोदितयौवना' इति लक्षणात् ॥ ३८ ॥

(ऐसी (७।३३-३७) वह नायिका लज्जासे) मुखचन्द्रको नीचे की हुई (वैसा व्याकुल होकर) पतिके व्यवधानको चाहती हुई-सी इस (अपने प्रियतम) के लिए अपनेको प्रकाशित (अपने भावको प्रदर्शित) करती हुई जो स्थित हुई, इस कारणसे इस पतिके चित्तको सहज ही हर (वशमें कर) लिया, क्योंकि लज्जा ही स्त्रीको अलंकृत करती है॥

किसलयशकलेष्ववाचनीयाः पुलकिनि केवलमङ्गके निधेयाः ।
नखपदलिपयोऽपि दीपितार्थाः प्रणिदधिरे दयितैरनङ्गलेखाः ॥३९॥

किसलयेति ॥ किसलयशकलेषु । वर्तमाना इति शेषः । अवाचनीयाः प्रसिद्धलिपिवैलक्षण्याद्वाचयितुमनर्हाः किन्तु केवलं पुलकिनि दयितस्पृष्टत्वात्तत्स्पर्शादेव रोमाञ्चवत्यङ्गके वपुषि निधेया विरहतापशान्त्यर्थमर्पणीयाः । कुतः । नखपदानि नखाङ्का एव लिपयोऽक्षराणि येषु ते न तु प्रसिद्धाक्षराः । अतोऽवाचनीया इत्यर्थः । नैतावतानुतापकारित्वं चेत्याह—तथापि दीपितार्थाः सङ्केतितसन्निवेशवशादेव द्योतिताभिधेयाः । लिख्यन्त इति लेखाः । कर्मणि घञ्प्रत्ययः । अनङ्गस्य लेखाः । तत्प्रयुक्ता इत्यर्थः । दयितैः दयिताभिः दयितैश्च । 'पुमान्स्त्रिया' (१।२।६७) इत्येकशेषः । प्रणिदधिरे प्रणिहिताः । लिखिता इत्यर्थः । दधातेः कर्मणि लिट् । 'नेर्गदनद–'(८।४।१७) इत्यादिना नकारस्य णत्वम् । लोकप्रसिद्धलेखवैलक्षण्याद्व्यतिरेकालङ्कारः ॥३९॥

नवपल्लवोंके टुकड़ोंपर वर्तमान, (प्रियतमों तथा प्रियतमाओंसे) अपठनीय, (तथा तापशान्त्यर्थ) केवल (प्रियाङ्गस्पर्श होनेसे) रोमाञ्चयुक्त अङ्गपर लिखनेयोग्य और नखचिह्न (नखक्षत) रूप अक्षरोंवाले कामलेखोंको प्रियतमों तथा प्रियतमाओंने लिखा अर्थात् नायिका तथा नायकने परस्परमें एक दूसरेके अङ्गोंको नखक्षतसे युक्त किया ॥ ३९ ॥

कृतकृतकरुषा सखीमपास्य त्वमकुशलेति कयाचिदात्मनैव ।
अभिमतमभि साभिलाषमाविष्कृतभुजमूलमबन्धि मूर्ध्नि माला ॥

कृतेति ॥ कृतकृतकरुषा कृतकृत्रिमरोषया कयाचिन्नायिकया त्वमकुशला माल्यग्रथने कुशला नासीति सखीमपास्य निरस्यात्मना स्वयमेवाभिमतमभिप्रायाभिमुखं साभिलाषमाविष्कृतभुजमूलं प्रकाशितकक्षप्रदेशं यथा तथा मूर्ध्नि माला अबन्धि बद्धा । अयं च स्वाभिप्रायव्यञ्जकचेष्टारूपश्चापलाख्यः सञ्चारिविशेषः । नायिका प्रौढैव । 'स्मरमन्दीकृतव्रीडा प्रौढा सम्पूर्णयौवना' इति लक्षणात् ॥ ४० ॥

'तुम (माला बाँधनेमें) चतुर नहीं हो' ऐसा (कहकर) सखीको हटाकर बनावटी क्रोध की हुई किसी नायिकाने प्रियतमके सम्मुख (या—अभिप्रायानुकूल) अभिलाषपूर्वक

(सम्भोगेच्छा-प्रकाशनपूर्वक) बाहुमूलको प्रदर्शित करती हुई सिरपर मालाको बाँधा ॥४०॥

अथ काञ्चिन्नायिकां प्रति सखीवचनं विशेषकेणाह—

अभिमुखमुपयाति मा स्म किञ्चित्त्वमभिदधाः पटले मधुव्रतानाम् ।
मधुसुरभिमुखाब्जगन्धलब्धेरधिकमधित्वदनेन मा निपाति ॥ ४१ ॥

अभिमुखमिति ॥ मधु मकरन्दं व्रतयन्ति भुञ्जत इति मधुव्रता मधुपाः । कर्मण्य- णप्रत्ययः । तेषां पटले अभिमुखमुपयाति आगते सति त्वं किञ्चिन्मा स्माभिदधा न किञ्चिदालप । मौनं भजेत्यर्थः । 'स्मोत्तरे लङ् च' (३।३।१७६) 'न माङ्योगे' (६।४।७४) इत्यट्प्रतिषेधः । मौनस्य मधुकरबाधानिवृत्तिरेव फलमित्याह—मध्विति । मधुना मद्येन सुरभेर्मुखाब्जस्य यो गन्धस्तस्य लब्धेर्लाभात् । 'स्त्रियां क्तिन्' (३।३।९४) अनेन मधुव्रतपटलेन अधित्वत् त्वयि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । 'त्वमा- वेकवचने'(७।२।९७)इत्यत्रैकवचन इत्यर्थनिर्देशादिह विभक्त्यभावेऽप्येकार्थवृत्तेर्युष्म- दो मपर्यन्तस्य त्वादेशः । अत एव विभक्त्यभावाच्च त्वादेशोऽत्र चिन्त्य इति वल्लभ- वचनं चिन्त्यम् । अधिकमत्यन्तं सर्वत्रेत्यर्थः । मा निपाति मा निपत्यताम् । भावे लुङि चिण्वद्वृद्धिः । अत्र निपातासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥

(अब तीन श्लोकों (७।४१–४३) से सखीके वचनको सुनकर नायिकाकी चेष्टाका वर्णन करते हैं) 'भ्रमरोंके समूहोंके सामने आनेपर तुम कुछ भी मत बोलना', (इससे फल यह होगा कि) मदिरासे सुगन्धित तुम्हारे मुखकमलके गन्धको पानेसे यह भ्रमर- समूह तुमपर अधिक (सब ओरसे) न गिरने लगे ॥ ४१ ॥

सरजसमकरन्दनिर्भरासु प्रसवविभूतिषु भूरुहां विरक्तः ।
ध्रुवममृतपनामवाञ्छयासावधरममुं मधुपस्तवाजिहीते ॥ ४२ ॥

सरजसेति ॥ किञ्च मधु पिबतीति मधुपो मधुलिट्, मद्यपश्च । 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) भुवि रोहन्ति जायन्त इति भूरुहां भूरुहाणां भौमानां च देहिनां सम्बन्धिनीषु सह रजसा सरजसम् । 'अव्ययम्' (२।१।६) इत्यादिना साकल्यार्थेऽ- व्ययीभावः । 'अचतुर–' (५।४।७६) इति समासान्तनिपातः । तेन सरजस्क इति बहुव्रीह्यर्थो लक्ष्यः मुख्यो वा । महाकविप्रयोगबाहुल्यात् । अव्ययीभावदर्शनं तु प्रायिकमित्युक्तं प्राक् । तथाच सरजसं सरजसो वा यो मकरन्दस्तेन निर्भरासु पूर्णासु । न तु स्वदधरामृतेन नाप्यरजस्केनेति भावः । अन्यत्र रजः स्त्रीपुष्पम् , 'स्याद्रजः पुष्पमार्तवम्' इत्यमरः । तत्साहचर्यान्मकरन्दशब्देन शुक्रप्रतीतिः । तेन शुक्रशोणित- सन्निपातप्रायास्वित्यर्थः । प्रसवविभूतिषु पुष्पसमृद्धिषु जन्मपरम्परासु च विरक्तः निस्पृहः सन् अमृतं पिबतीति अमृतप इति नाम्नो वाञ्छया असावमुं तवाधरमोष्ठं प्रति आजिहीते आगच्छति । ध्रुवं सत्यमित्युत्प्रेक्षायाम् । अन्यत्र तु अमृतपो देव इति नामवाञ्छया । देवभूयापेक्षयेत्यर्थः । अथवा निःश्रेयसप्राप्तीच्छयेत्यर्थः । 'श्रेयो

निःश्रेयसामृतम्' इत्यमरः। ध्रुवं शाश्वतं अधरं धरासम्बन्धरहितममुं परलोकपथम्। 'शुभमिह चामुत्र चान्वेती'त्यादौ लोके वेदे चेदमदसोर्लोकद्वये रूढिप्रदर्शनात्। आजिहीते अन्विष्यतीत्यर्थः। 'ओहाङ् गतौ' इति धातोर्लटि 'श्लौ' (६।१।१०) इति द्विर्भावः। 'ई हल्यघोः' (६।४।११३) इतीकारः। इह नायिकावदनसौरभहेतुकस्य मधुपानामागमनस्यामृतपानमवाञ्छाहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद्गुणहेतूत्प्रेक्षा। सा च ध्रुवमिति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्या सती मधुपस्याधारोद्देशस्यासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्त्युत्थापितेति सङ्करः। पूर्वोक्ताप्रकृतार्थप्रतीतिस्तु मधुपादिशब्दानामभिधया प्रकृतार्थनियन्त्रितत्वाच्छब्दशक्तिमूलो ध्वनिरेव न श्लेष इत्यलं विस्तरेणेति ॥४२॥

वृक्षकी लताओंकी मधु तथा मकरन्दसे परिपूर्ण पुष्प-समृद्धियोंमें विरक्त यह मधुप (मधु पीनेवाला-भ्रमर) "मानो 'अमृतप' (तुम्हारे अधरामृतको पीनेवाला) नामकी इच्छासे तुम्हारे अधरपर आ रहा है। [पक्षा०—भूवासियों (भूलोकनिवासियों-पार्थिव-देहधारियों) की रज तथा वीर्य पर निर्भर सन्तानपरम्परा (या—जन्मपरम्परा)ओंमें विरक्त यह मधुप (मद्य पीनेवाला मनुष्य) 'अमृतप' (अमृत पीनेवाला अर्थात् देवता) नामकी इच्छासे (या—मुक्तिकी इच्छासे) शाश्वत, पृथ्वीके सम्बन्धसे रहित इस परलोक-मार्गको ढूँढ़ रहा है]" ॥ ४२ ॥

इति वदति सखीजने निमीलद्द्विगुणितसान्द्रतराक्षिपद्ममाला।
अपतदलिभयेन भर्तुरङ्कं भवति हि विक्लवता गुणोऽङ्गनानाम् ॥४३॥

इतीति ॥ इतीत्थं सख्येव जनस्तस्मिन् सखीजने वदति सति निमीलन्त्यौ भयान्मुकुलीभवन्त्यौ अत एव द्वे आवृत्ती ययोस्ते द्विगुणे द्विरावृत्ते। 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु'इति वैजयन्ती। ते कृते द्विगुणिते अत एव सान्द्रतरे अक्षिपक्ष्ममाले नेत्रलोमपङ्क्ती यस्याः सा। काचिदिति शेषः। अक्षिग्रहणस्य पक्ष्मद्वयद्वैगुण्यलक्ष्मीरक्षणोरेवेति द्योतनार्थत्वान्न पौनरुक्त्यम्। अलिभयेन भर्तुरङ्कमुत्सङ्गमपतत् प्राप्तवती। अहो महत्कष्टं यत्कीटकादपि भयमित्याशङ्क्याह—अङ्गनानाम्। न तु पुंसामिति भावः। विक्लवता भीरुता गुणो भवति हि। न तु दोष इति भावः। अत एव जनसमक्षं भर्तुरङ्कारोहणमपि न दोषः। पार्श्वस्थालम्बनादीनां भयानुभावत्वात्। कुलकेऽलङ्कारोऽयमर्थान्तरन्यासः ॥ ४३ ॥

ऐसा (७।४१-४२) सखीके कहनेपर (भयसे) बन्द नेत्रके पलकोंको दुगुना सान्द्र की हुई कोई नायिका भ्रमरोंके भयसे पतिकी गोदमें गिर पड़ी, क्योंकि स्त्रियोंको भीरु होना गुण ही है ॥ ४३ ॥

मुखकमलकमुन्नमय्य यूना यदभिनवोढवधूर्बलादचुम्बि।
तदपि न किल बालपल्लवाग्रग्रहपरया विविदे विदग्धसख्या ॥ ४४ ॥

मुखेति ॥ यूना अभिनवोढवधूर्नवोढाङ्गनापि बलाद्बलात्काराद्। मुखं कमल-

मिवेत्युपमितसमासः । तदल्पं मुखकमलकम् । अल्पार्थे कन्प्रत्ययः । उन्नमय्योद्यम्य । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' (६।४।५६) इत्ययादेशः । अचुम्बि चुम्बितेति यत् तच्चुम्बनं विदग्धसख्या चतुरसख्या बालपल्लवाग्राणां ग्रहो ग्रहणम् । 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' (३।३।५८) इत्यप्प्रत्ययः। तत्परया तदासक्तया सत्या । कश्चिद् व्यासङ्गं कल्पयन्त्येत्यर्थः । न विविदे अपि किल । न प्रकाशितमिति किमुत वक्तव्यमित्यपिशब्दार्थः । किलेत्यलीके । वस्तुतो विदित्वाप्यविदित्वेव स्थितं वैदग्ध्यात् । अन्यथा तयोर्विश्रम्भविहारविघातादिति भावः । मुग्धेयं नायिका । 'उदयद्यौवना मुग्धा लज्जापिहितमन्मथा' इति लक्षणात् ॥ ४४ ॥

युवक (पति) ने नवोढा नायिकाके मुख-कमलको ऊपर उठाकर जो बलात्कारसे चूम लिया, नवपल्लवाग्रको तोड़नेमें आसक्त चतुर सखीने उस (चुम्बन) को मानो नहीं जाना। (वस्तुतः जानकर भी चातुर्यसे अनजान-सी हो गयी) ॥ ४४ ॥

व्रततिविततिभिस्तिरोहितायां प्रतियुवतौ वदनं प्रियः प्रियायाः ।
यदधयदधरावलोपनृत्यत्करवलयस्वनितेन तद्विवव्रे ॥ ४५ ॥

व्रततीति ॥ प्रतिकूला युवतिः प्रतियुवतिः सपत्नी तस्यां व्रततिविततयो लताजालानि । 'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः । ताभिस्तिरोहितायां सत्यां प्रियः प्रियाया वदनमधयदपिबदिति यत् । धेटो भौवादिकाल्लङ् । तद्वदनपानमधरावलोपेनाधरखण्डनेन । तज्जनितव्यथयेत्यर्थः । नृत्यतोश्चलतोः करयोर्वलयानां कङ्कणानां स्वनितेन ध्वनिना विवव्रे विवृतम् । तदेव तस्यास्तदनुमापकमभूदित्यर्थः । अत्रैका दृष्टा अपरा स्वीर्ष्यानिबद्धवतीत्यनुसन्धेयम् ॥ ४५ ॥

प्रतियुवती (सपत्नी) के लता-समूहोंसे छिपे रहनेपर प्रियने जो प्रियाके मुख (अधर) का पान किया, उस (अधरपान) को अधरक्षत (करनेपर उत्पन्न पीड़ा) से चञ्चल हाथके कङ्कण की ध्वनिने प्रकाशित कर दिया।

विमर्श—किसी नायककी दो पत्नियाँ थीं, उनमेंसे जब एक पत्नी लता-समूहकी ओटमें छिपी थी, तब उस नायकने दूसरी पत्नीके अधरका पान कर लिया। ऐसा करते हुए पतिको यद्यपि लता-समूहमें छिपी हुई पत्नीने नहीं देखा, तथापि अधरक्षत होनेसे नायिकाने जो हाथोंको उठाकर मना किया, उससे बजनेवाले कङ्कणोंकी ध्वनिसे ही अधरपान करनेका अनुमान उस छिपी हुई नायिकाने कर लिया ॥ ४५ ॥

विलसितमनुकुर्वती पुरस्ताद्धरणिरुहाधिरुहो वधूर्लतायाः ।
रमणमृजुतया पुरः सखीनामकलितचापलदोषमालिलिङ्ग ॥ ४६ ॥

विलसितमिति ॥ वधूः काचित् स्त्री पुरस्तादग्रे धरणिरुहमधिरोहतीति धरणिरुहाधिरुट् वृक्षाधिरूढा । रुहेः क्विप् । तस्या लताया विलसितं चेष्टितम् । भावे

१. 'यददधदधरा—' इति पा० ।

कः। अनुकुर्वती एवमित्याश्लेषप्रकारमभिनयन्ती ऋजुतया अकुटिलबुद्धितया सखीनां पुरोऽग्रे अकलितोऽविचारितश्चापलमनुचितकरणमेव दोषो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा रमणं प्रियमालिलिङ्ग। एषा हर्षौत्सुक्यवती प्रौढा च ॥ ४६ ॥

सामने वृक्षसे लिपटी लताका अनुकरण करती हुई किसी अङ्गनाने सरलतासे चञ्चलता-रूपी दोषका विचार छोड़कर सखियोंके सामने ही प्रियतमका आलिङ्गन कर लिया ॥४६॥

सललितमवलम्ब्य पाणिनांसे सहचरमुच्छ्रितगुच्छवाञ्छयान्या।
सकलकलभकुम्भविभ्रमाभ्यामुरसि रसादवतस्तरे स्तनाभ्याम् ॥४७॥

सललितमिति ॥ अन्या स्त्री उच्छ्रितगुच्छवाञ्छया उन्नतस्तवकजिघृक्षया सललितं सविलासं यथा तथा सहचरं प्रियं पाणिना। औचित्याद्वामेनेति शेषः। अंसेऽवलम्ब्यावष्टभ्य सकलयोः समग्रयोः कलभकुम्भयोः करिकुम्भयोर्विभ्रम इव विभ्रमः सौन्दर्यं ययोस्ताभ्यां स्तनाभ्यां रसाद्रागादुरस्यवतस्तरे आच्छादयामास। सहचर-मित्यनुषङ्गः। अभिमुखावस्थानादिति भावः। स्तृणातेः कर्तरि लिट्। 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' (७।४।१०) 'शर्पूर्वाः खयः' (७।४।६१) इत्यभ्याससकारलोपश्च। इयं च प्रौढैव ॥ ४७ ॥

दूसरी अङ्गनाने ऊँचे स्थानपर वर्तमान (फूलके) गुच्छेको लेनेकी इच्छासे प्रियतमके कन्धेका (बाएँ) हाथसे अवलम्बन कर हाथीके कुम्भ (मस्तकस्थ विशाल मांस–पिण्डविशेष) के सम्पूर्ण विलास युक्त अर्थात् हाथीके कुम्भद्वयके समान बड़े-बड़े स्तनोंसे अनुरागवश (प्रियतमको) वक्षःस्थलमें आच्छादित कर दिया ॥ ४७ ॥

मृदुचरणतलाग्रदुःस्थितत्वादसहतरा कुचकुम्भयोर्भरस्य।
उपरि निरवलम्बनं प्रियस्य न्यपतदथोच्चतरोच्चिचीषयान्या[1] ॥ ४८ ॥

मृद्विति ॥ अन्या स्त्री उच्चतराणामत्युन्नतकुसुमानामुच्चेतुमवचेतुमिच्छया उच्चतरोच्चिचीषया। चिनोतेः सन्नन्तात्स्त्रियामप्रत्यये टाप्। 'विभाषा चेः' (७।३।५८) इति कुत्वविकल्पः। मृदुचरणतलाग्रेण दुःस्थितत्वाद् दुःखेन स्थितत्वात् कुचकुम्भयोर्भरस्य 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (३।३।११७) इति घप्रत्ययः। न सहतेऽत्यन्त-मित्यसहतरा। सहेः पचाद्यजन्तान्नञ्समासात्तरप्प्रत्ययः। भरमसहमानेत्यर्थः। कृद्योगात्कर्मणि षष्ठी। अथास्मिन्नवसरे निरवलम्बनं यथा तथा प्रियस्योपरि न्यपतत्। निरवलम्बनत्वान्निपपातेत्यर्थः। एषा च प्रौढा। स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥

दूसरी कोई अङ्गना अत्यन्त ऊँचे स्थानपर स्थित फूलको तोड़नेकी इच्छासे कोमल पैरोंके पंजे (अग्रभाग) पर कष्टपूर्वक ठहरनेसे स्तनरूपी कलशके भारको सहनेमें अत्यन्त अशक्त होनेके कारण अवलम्बन रहित हो प्रियतमके ऊपर गिर पड़ी ॥ ४८ ॥

---

१. 'तरुच्चि—' इति पा०।

उपरिजतरुजानि याचमानां कुशलतया परिरम्भलोलुपोऽन्यः।
प्रथितपृथुपयोधरां गृहाण स्वयमिति मुग्धवधूमुदास दोर्भ्याम् ॥ ४९ ॥

उपरिजेति ॥ उपरिजान्युपरि जातानि तरोर्जातानि तरुजानि कुसुमानि तानि याचमानां अपचित्य देहीति प्रार्थयमानां प्रथितपृथुपयोधरां प्रशस्तपीवरकुचां मुग्धवधूमकुटिलधियं स्त्रियं परिरम्भलोलुप आश्लेषलालसोऽन्यः कुशलतया वञ्चनापटुतया स्वयं गृहाण। त्वमेवापचित्य गृहाणेत्यर्थः। इति गम्यमानार्थत्वादुक्त्वेति न प्रयुक्तं पौनरुक्त्यात्। दोर्भ्यामुदास उद्यच्छति स्म। अयं चैकायत्तत्वादनुकूलनायकः। नायिका तु स्वाधीनपतिका प्रौढा च ॥ ४९ ॥

ऊँचाईपर स्थित फूलोंको ('आप इन फूलोंको तोड़कर दीजिये' इस प्रकार) माँगती हुई अत्यधिक बड़े-बड़े स्तनोंवाली मुग्धाङ्गना (सरलस्वभाववाली रमणी) को 'तुम स्वयं ही (इन फूलोंको) ग्रहण करो' (ऐसा कहकर) आलिङ्गनका लोभी कोई चतुर नायक दोनों हाथोंसे ऊपर उठा लिया ॥ ४९ ॥

इदमिदमिति भूरुहां प्रसूनैर्मुहुरतिलोभयता पुरः पुरोऽन्या।
अनुरहसमनायि नायकेन त्वरयति रन्तुमहो जनं मनोभूः ॥ ५० ॥

इदमिदमिति ॥ अन्या स्त्री इदमिदमिति। इदं ग्राह्यमिदं ग्राह्यमित्युक्त्वेत्यर्थः। भूरुहां वृक्षाणां प्रसूनैः पुरःपुरो मुहुरतिलोभयता प्रलोभयता नायकेन रहोऽनु अनुरहसमेकान्तम्। 'अन्ववतप्तात्–' (५।४।८१) इत्यव्ययीभावः समासान्तः। अनायि नीता। तथा हि—मनोभूः कामो जनं रन्तुं त्वरयति। देशकालानपेक्षयेति भावः। अत एवाश्चर्यमहो इति। पूर्ववन्नायिकानायकविवेकः। अर्थान्तरन्यासः ॥

'यह फूल लो, यह फूल लो' इस प्रकार वृक्षोंके फूलोंसे आगे-आगे अत्यन्त ललचाया हुआ नायक अङ्गनाको एकान्तमें ले गया। आश्चर्य है कि कामदेव रति करनेके लिए मनुष्य को (स्थान तथा समयके विचारसे रहित करके) उतावला बना देता है ॥ ५० ॥

विजनमिति बलादमुं गृहीत्वा क्षणमथ वीक्ष्य विपक्षमन्तिकेऽन्या।
अभिपतितुमना लघुत्वभीतेरभवदमुञ्चति वल्लभेऽतिगुर्वी ॥ ५१ ॥

विजनमिति ॥ अन्या स्त्री विजनमेकान्तमिति हेतोरमुं वल्लभं क्षणं बलाद् गृहीत्वा आकृष्य अथान्तिके विपक्षं सपत्नीजनं वीक्ष्य लघुत्वभीतेस्तुच्छत्वभयादभिपतितुं मनो यस्याः सा अभिपतितुमनाः। 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः। अपसर्तुंकामेत्यर्थः। वल्लभे अमुञ्चत्यत्यजति सति। तस्य विपक्षानवेक्षणादिति भावः। अतिगुर्व्यतिगौरववत्यभवत्। स्वयंग्रहलाघवतिरोधानात्कर्तृवल्लभत्वप्रकाशनाच्चेति भावः। भाग्यवतां सर्वं श्रेयसे भवतीति रहस्यम्। एषा स्वतिप्रगल्भैव ॥ ५१ ॥

---

१. '—रभिलोभयता' इति पा०। २. 'अति—' इति पा०।

दूसरी कोई अङ्गना 'एकान्त है' ऐसा जानकर प्रियतमको क्षणभर बलपूर्वक पकड़कर, इसके उपरान्त समीपमें सपत्नीको देख (यद्यपि पति इसे नहीं चाहता, तथापि यह पतिको बलपूर्वक पकड़कर ला रही है, इस प्रकार अपनी) लघुताके भयसे वहाँसे हटनेकी इच्छा करती हुई नायिकाको प्रियतमने जब नहीं छोड़ा, तब वह नायिका अत्यन्त गौरवान्वित हुई ॥ ५१ ॥

अधिरजनि जगाम धाम तस्याः प्रियतमयेति रुषा स्रजावनद्धः ।
पदमपि चलितुं युवा न सेहे किमिव न शक्तिहरं ससाध्वसानाम् ॥५२॥

अधीति ॥ अधिरजनि रजन्याम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । तस्याः । सपत्न्या इत्यर्थः । बुद्धिस्थत्वान्नामग्रहणासहत्वाच्च तच्छब्देन निर्देशः। धाम गृहं जगामेति रुषाहेतुना प्रियतमया कर्त्र्या स्रजा करणेनावनद्धो युवा पदमपि । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। चलितुं न सेहे न शशाक । तथा हि—ससाध्वसानां भयग्रस्तानां किमिव किंवा। इवशब्दो वाक्यालङ्कारे । इवेतीषदर्थोपमोत्प्रेक्षावाक्यालङ्कारेष्विति गणव्याख्याने । शक्तिं हरतीति शक्तिहरम् । 'हरतेरनुद्यमनेऽच्' (३।२।९) इत्यच्प्रत्ययः । न भवतीति शेषः । अस्तिर्भवन्तीपरोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति वचनात् । भवन्तीति लटः पूर्वाचार्याणां संज्ञा । सर्वस्यापि भीरूणां शक्तिहरत्वादबलाकृतः सम्बन्धोऽपि यूनः शक्तिहर इति युक्तमिति सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः । खण्डितेयं नायिका । 'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' (दशरूपके २।२५) इति लक्षणात् । नायकस्तु दक्षिणः । 'भयसम्बन्धसहनादिभिस्तुल्यो नैकत्र दक्षिणः' इति लक्षणार्थप्रतीतेरिति ॥ ५२ ॥

'रातमें उसके अर्थात् मेरी सपत्नीके घर गये थे' इस कारण क्रोधसे प्रियतमाके द्वारा मालासे बाँधा गया युवक एक पग भी चलनेके लिए समर्थ नहीं हुआ, (यह उचित ही है; क्योंकि) भययुक्त लोगोंके सामर्थ्यको नष्ट करनेवाला कौन नहीं होता अर्थात् भययुक्त लोगोंके सामर्थ्यको सभी कार्य (या—व्यक्ति) नष्ट कर देते हैं। (यही कारण था कि मृदुप्रकृति अबला द्वारा पुष्पमालासे बाँधा गया भी समर्थ युवक एक पग भी चलनेमें समर्थ नहीं हुआ) ॥ ५२ ॥

अथ काचित्खण्डिता निजकान्तमागस्कारिणं पल्लवदानेन प्रसादयन्तं चतुर्भिर्भर्त्सयितुरमारभते—(कलापकम् ५३–५६)

न खलु वयममुष्य दानयोग्याः पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम् ।
व्रज विटपममुं ददस्व तस्यै भवतु यतः सदृशोश्चिराय योगः ॥ ५३ ॥

नेत्यादि ॥ वयममुष्य दानयोग्या न भवामः खलु, किन्तु या असावेवासकौ स्वप्रिया । 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टेः' (५।३।७१) इत्यकच् । रहो रहसि । 'रहश्चोपांशु चालिङ्गे' इत्यमरः । त्वां पिबति पानं करोति । 'पा पाने' भौवादिकात्कर्तरि-

लट्। 'पाघ्रा–' (३।१।१३७) इत्यादिना पिबादेशः। पाति रक्षति च। अन्यतो वारयति चेत्यर्थः। 'पा रक्षणे' अदादित्वाच्छपो लुक्। तस्यै अमुं विटान् पातीति विटपं पल्लवम्। 'विटपः पल्लवे पिङ्गे' इति विश्वः। ददस्व प्रयच्छ। 'दद दाने' इति भौवादिकाल्लोट्। व्रज गच्छ। यतो दानाच्चिराय चिरकालात्। चिरार्थेऽव्ययम्। सदृशोरनुरूपयोर्योगो भवतु। उभयोरपि विटपत्वादिति भावः। समालङ्कारोऽयम्। 'सा समालंकृतिर्योगो वस्तुनोरनुरूपयोः' इति लक्षणात् ॥ ५३ ॥

(अब पल्लव देकर प्रसन्न करते हुए सपत्नीके यहाँ रातमें रहनेसे अपराधी नायकको फटकारती हुई नायिकाका वर्णन चार श्लोकों (७।५३–५६) से करते हैं) 'हमलोग इस (पल्लव) दानके योग्य नहीं हैं, जो वह (मेरी सपत्नी) एकान्तमें तुम्हें (तुम्हारे अधरको) पीती है तथा (दूसरी जगह अर्थात् मेरे पास आनेसे) बचाती है, इस पल्लवको उसीको ले जाकर दो, जाओ; जिस (पल्लव–दान) से समान तुम दोनोंका समागम चिरकालके लिए स्थायी हो।

विमर्श—'विटप' शब्दके 'पल्लव तथा धूर्त नायक' दो अर्थ हैं, अतः तुम विटप (धूर्त नायक) हो तथा यह विटप (पल्लव) है, इस कारण समान तुम दोनोंका समागम चिरस्थायी हो, ऐसा 'विटप' शब्दके श्लेषार्थको लेकर नायिकाने कहा ॥ ५३ ॥

तत्र कितव किमाहितैर्वृथा नः क्षितिरुहपल्लवपुष्पकर्णपूरैः।
ननु जनविदितैर्भवद्व्यलीकैश्चिरपरिपूरितमेव कर्णयुग्मम् ॥ ५४ ॥

तवेति ॥ हे कितव धूर्त, वृथा व्यर्थमेवाहितैः। तत्कार्यस्यान्यथासिद्धत्वादिति भावः। तव सम्बन्धिभिः क्षितिरुहाणां पल्लवाः पुष्पाणि च तान्येव कर्णं पूरयन्तीति कर्णपूराः कर्णावतंसाः। कर्मण्यण्। तैर्नोऽस्माकं किं तत्साध्यम्। न किञ्चिदस्तीत्यर्थः। गम्यमानसाधनक्रियापेक्षया कर्णपूराणां करणत्वात्तृतीया। उक्तं च न्यासोद्द्योते–'न केवलं श्रूयमाणैव क्रिया निमित्तं कारकभावस्य, अपि तु गम्यमानापि' इति। किन्तु नन्वङ्ग जनविदितैर्जनेष्वतिप्रसिद्धैः। जनेषु विदितैरिति सप्तमीसमासः। 'क्तस्य च वर्तमाने' (२।३।६७) इति कृद्योगे षष्ठीप्रतिप्रसवत्वेऽपि 'क्तेन च पूजायाम्' (२।२।१२) इति षष्ठीसमासनिषेधात् जनानामाधारत्वविवक्षायां तदप्राप्तेः। भवद्व्यलीकैस्तवाप्रियवचनैः कर्णयुग्मं चिरपरिपूरितं नित्यं पूर्णमेव। अतः परिपूरितस्य पूरणायोगादलमेवैभिरित्यर्थः। अत्रोत्तरवाक्यार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुत्वेनोपनिबन्धाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ५४ ॥

हे धूर्त! व्यर्थ ही लगाये गये, वृक्षोंके पल्लवों तथा पुष्पोंके कर्णाभरणोंसे हमें क्या प्रयोजन है? (इससे मेरा कोई प्रयोजन सिद्ध होनेवाला नहीं है) क्योंकि लोगोंमें अत्यन्त प्रसिद्ध तुम्हारे अप्रिय वचनोंसे मेरे दोनों कान सर्वदा भरे हुए हैं। (अतः सर्वदा असत्य वचनोंसे भरे हुए मेरे दोनों कानोंको वृक्षोंके पल्लवों तथा फूलोंसे भरना व्यर्थ है) ॥५४॥

मुहुरुपहसितामिवालिनादैर्वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।
वसतिमुपगतेन धाम्नि तस्याः शठ कलिरेष महांस्त्वयाद्य दत्तः ॥५५॥

मुहुरिति ॥ अलिनादैर्मुहुरुपहसितां प्रतारणार्थमिति प्रहस्यमानामिव स्थितामेनां कलिकां कोरकं अल्पं कलिं, कलहं च । 'कलहे च युगे कलिः' इति वैजयन्ती । स्त्रीप्रत्ययस्त्वविवक्षितः श्लेषे । नोऽस्माकं किमर्थं वितरसि । हे शठ गूढविप्रियकारिन्, तस्यास्त्वत्प्रियाया धाम्नि भवने वसतिं स्थितिमुपगतेन त्वयाद्यैष वर्तमानो महान् कलिः कलहो दत्तः स्वदत्त एव । महति कलौ स्थिते किं कलयन्तरेणेत्यर्थः । अत्रापि पूर्ववाक्यार्थस्योत्तरवाक्यार्थहेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । कलिकामिति श्लेषोत्थापितया कोरककलहयोर्भेदे अभेदरूपातिशयोक्त्यानुप्राणितमिति सङ्करः ॥ ५५ ॥

भ्रमरोंके नादों (ध्वनियों) से बार-बार हँसी गयी इस कलिका (पुष्पकी कोढ़ी) को हमारे लिए क्यों दे रहे हो ? हे शठ ! उस (सपत्नी) के घर ठहरे हुए तुमने आज यह बड़ी भारी कलि (कलह—झगड़ा) दे दी है । (अतएव एक कलि (कलह) के दे चुकनेपर पुनः दूसरी कलि (पुष्पकी कोंढ़ी) देना व्यर्थ है) ॥ ५५ ॥

इति गदितवती रुषा जघान स्फुरितमनोरमपक्ष्मकेशरेण ।
श्रवणनियमितेन कान्तमन्या सममसिताम्बुरुहेण चक्षुषा च ॥५६॥
(कलापकम्)

इतीति ॥ इतीत्थं गदितवत्युक्तवती अन्या स्त्री रुषा कान्तं स्फुरितान्युज्ज्वलानि मनोरमाणि च पक्ष्माणीव केशराणि, अन्यत्र केशराणीव पक्ष्माणि यस्य तेन श्रवणनियमितेन श्रोत्रे धृतेन, निरुद्धेन च असिताम्बुरुहेण नीलोत्पलेन, चक्षुषा च समं युगपज्जघान ताडयामास । एषा खण्डिता । नायकस्तु धृष्टः । 'व्यक्ताङ्गो निर्भयो धृष्टः' इति लक्षणात् । अत्र स्फुरितेत्यादितुल्यधर्मगम्योपमानयोरसिताम्बुरुहचक्षुषोरुभयोरपि ताडनसाधनतयोपात्तत्वेन प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता । लक्षणं तूक्तम् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार (७।५३–५५) कहनेवाली दूसरी किसी नायिकाने क्रोधसे, उज्ज्वल तथा मनोहर पलकोंके समान केसरोंवाले तथा कानपर स्थित नीलकमलसे और उज्ज्वल तथा मनोहर केसरोंके समान पलकोंवाले तथा कानतक आकृष्ट नेत्रों से पतिको एक साथ आहत किया अर्थात् नीलकमलसे मारा तथा वक्रनेत्रोंसे देखा ॥ ५६ ॥

विनयति सुदृशो दृशः परागं प्रणयिनि कौसुममाननानिलेन ।
तदहितयुवतेरभीक्ष्णमक्ष्णोर्द्वयमपि रोषरजोभिरापुपूरे ॥ ५७ ॥

विनयतीति ॥ प्रणयिनि प्रिये सुदृशः प्रियाया दृशो लोचनात् । एकस्मादेवेति

१. 'कलिरेव' इति पा० ।

भावः। कुसुमेषु भवं कौसुमं परागं रजःकणम् । तच्चैकमेवेति भावः । आनना-निलेन निजमुखफूत्कारेण विनयत्यपनयति सति तद्दयितयुवतेः तत्सपत्न्याः अक्ष्णो-र्द्वयमपि । न त्वेकमेवेति भावः। रोषा एव रजांसि तैरभीक्ष्णमापुपूरे । नैकेन रजः-कणेन किञ्चित्स्पृष्टमात्रमिति भावः। पूरयतेः कर्मणि लिट्। पूर्णमित्यर्थः। अत्र रजो-विनयस्यान्यास्यन्यत्र रजःपूरणकारणत्वायोगादकारणकमेव पूरणमिति विभावना-लङ्कारो रूपकानुप्राणित इति सङ्करः॥ ५७ ॥

सुलोचनाके नेत्रके (नेत्रमें पड़े हुए) पुष्प-परागको मुखकी हवासे प्रियतम द्वारा दूर किये जानेपर उसकी सपत्नीके दोनों नेत्र क्रोधरूपी धूलिसे अत्यन्त भर गये अर्थात् पतिको वैसा करते देखकर उसे सहन न करनेवाली सपत्नीने क्रोधसे दोनों नेत्रोंको लाल कर लिया ॥ ५७ ॥

स्फुटमिदमभिचारमन्त्र एव[1] प्रतियुवतेरभिधानमङ्गनानाम् ।
वरतनुरमुनोपहूय पत्या मृदुकुसुमेन यदाहताप्यमूर्च्छत् ॥ ५८ ॥

स्फुटमिति ॥ इदं प्रतियुवतेः सपत्न्या अभिधानं नामधेयम् अङ्गनानामभिचारः परमारणकर्म। यथा 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इति तस्य मन्त्रोऽभिचारमन्त्रः स एव स्फुटमित्युत्प्रेक्षा। यद्यस्माद्वरतनुः स्त्री पत्या भर्त्रा अमुना सपत्नीनामधेयेनोपहूय मृदु-कुसुमेन । मृदुग्रहणमचिरावचितत्वं द्योतयन् देवताभिचारमन्त्राणामनादिसंस्कार-भावं द्योतयति। तेनाप्याहता अमूर्च्छत्। तदुच्चारणपूर्वकं कुसुमताडनमपि मारकं सोऽभिचारमन्त्र एव सत्यम्। अन्यथा केवलकुसुमेऽपि तत्प्रसङ्गादित्यर्थः॥ ५८ ॥

सपत्नीका नाम लेना अङ्गनाओंके लिए मानो अभिचार मन्त्र (मारणमन्त्र) ही है (अथवा—अवश्य ही मारणमन्त्र है), क्योंकि इसे (सपत्नीके नामसे) बुलाकर कोमल (ताजे) फूलसे आहत भी सुतनु (सुन्दर शरीरवाली नायिका) मूर्च्छित हो गयी।

विमर्श—जैसे इष्ट देवतापर ताजा फूल चढ़ाकर मन्त्रका उच्चारण कर उस फूलसे जिसे मारा जाता है, वह व्यक्ति मूर्छित हो जाता या मर जाता है, वैसे ही सपत्नीका नाम लेकर ताजे होनेसे कोमल फूलसे आहत अङ्गना जो मूर्च्छित हो गयी, अतः पतिद्वारा सपत्नीका नाम लेना नायिकाके लिए मारक मन्त्र ही है, ऐसा ज्ञात होता है। वह नायिका कोमल फूलकी चोटसे मूर्च्छित नहीं हुई, किन्तु सपत्नीके नाम लेकर बुलानेसे अपने में पतिके अनुरागका अभाव जानकर मूर्च्छित हुई, अतः उक्त उत्प्रेक्षा की गयी है ॥ ५८ ॥

समदनमवतंसितेऽधिकर्णं प्रणयवता कुसुमे सुमध्यमायाः ।
व्रजदपि लघुतां बभूव भारः सपदि हिरण्मयमण्डनं सपत्न्याः ॥ ५९ ॥

समदनमिति ॥ प्रणयवता प्रियेण सुमध्यमायाः प्रियाया अधिकर्णं कर्णे। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। कुसुमे समदनं यथा तथा अवतंसितेऽवतंसीकृते सति

१. 'एष' इति पा०।

सपदि लघुतां हीनतामगुरुत्वं च व्रजदपि समान एकः पतिर्यस्यास्तस्याः सपत्न्याः 'नित्यं सपत्न्यादिषु' (४।१।३५) इति ङीष् नकारश्च । तस्मादेव निर्देशात् समान-शब्दस्य सभावनिपातः । हिरण्यस्य विकारो हिरण्मयम् । 'दाण्डिनायन-(६।४।१७४) इत्यादिना निपातः, तन्मण्डनं भारो बभूव । यत्किञ्चिदपि प्रेम्णा कान्तेन स्वहस्तदत्तं श्लाघ्यं मण्डनं भवति अन्यन्महार्घमपि हीनं भारश्च । न तु मण्डनमित्यर्थः । लघुगुरुत्वगुणविरोधस्य हीनार्थत्वेन परिहाराद्विरोधाभासभेदः ॥ ५९ ॥

अनुरागी प्रियतमके द्वारा सुन्दर कटिप्रदेशवाली नायिकाके कानोंमें कामवासनापूर्वक फूलका कर्णभूषण लगानेपर हलका भी सपत्नीका सुवर्णका बना हुआ भूषण तत्काल (अतिशीघ्र) भार हो गया ॥ ५९ ॥

अवजितम॑धुना तवाहमक्ष्णो रुचिरतयेत्यवनम्य लज्जयेव ।
श्रवणकुवलयं विलासवत्या भ्रमररुतैरुपकर्णमाचचक्षे ॥ ६० ॥

अवजितमिति ॥ विलासवत्याः स्त्रियः श्रवणकुवलयं श्रवणोत्पलं कर्तृ अहमधुना तवाक्ष्णो रुचिरतया रुचिरस्य भावो रुचिरता । भावे तल् । तथा सौन्दर्येणावजितमिति वक्तव्यानुवादः । अत एव लज्जयावनम्य भ्रमररुतैः । तन्मिषेणेत्यर्थः । उपकर्णं कर्णे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । आचचक्ष इवेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६० ॥

किसी विलासिनीके कानोंका (भूषण बना हुआ) नीलकमल, 'इस समय मैं तुम्हारे नेत्रद्वयकी सुन्दरतासे पराजित हो गया' ऐसा, लज्जासे झुककर (मुखको नीचा कर) भ्रमरीके गुञ्जारोंसे कानके समीपमें मानों कह रहा था ।

विमर्श—किसी विलासवती नायिकाने कानोंमें नीलकमलको लटका रखा था, उसके ऊपर गन्धके लोभसे भौंरे उड़ रहे थे, इस पर उत्प्रेक्षा की गयी है कि उस विलासवतीके नेत्रोंकी सुन्दरतासे पराजित होनेके कारण अधोमुख हुआ नीलकमल भ्रमरध्वनिके बहाने उस नायिकाके कानोंके पास मानो यह कह रहा था कि "मैं इस समय तुम्हारे दोनों नेत्रोंकी सुन्दरतासे पराजित हो गया" । लोकमें भी कोई व्यक्ति किसीसे पराजित होकर लज्जासे नम्रमुख हो उसके पास जाकर अपने पराजयको स्वीकार कर लेता है ॥ ६० ॥

अवचितकुसुमा विहाय वल्लीर्युवतिषु कोमलमाल्यमालिनीषु ।
पदमुपदधिरे कुलान्यलीनां न परिचयो मलिनात्मनां प्रधानम् ॥ ६१ ॥

अवचितेति ॥ अलीनां कुलानि अवचितानि युवतिभिरुपात्तानि कुसुमानि यासां ताः । रिक्ता इत्यर्थः । वल्लीः पुष्पलता विहाय । कोमलानि माल्यानि मलन्ते धारयन्तीति तासु कोमलमाल्यमालिनीषु । 'मलमल्ल धारणे' इति धातोर्णिनिः 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (४।१।५) युवतिषु पदमुपदधिरे निदधुः । तथा हि मलिनात्मनां कृष्णदेहानां, दुष्टचित्तानां च परिचयश्चिरकालसाहचर्यं न प्रधानं न प्रयोजकं, किन्तु भुक्तिरेवेति ।

१. '—ममुना तवाहमक्ष्णा' इति पा० ।

भावः। अतः परिचितलतात्यागो नाश्चर्यमित्यर्थः। अत्र मलिनात्मनामिति कृष्णाङ्गत्वस्य दुष्टचित्तत्वेन सहाभेदाध्यवसायेनार्थान्तरन्यासस्योत्थापनात् श्लेषप्रतिभोत्थापितातिशयोक्त्यनुप्राणितोऽयमिति सङ्करः॥ ६१॥

भ्रमरोंके समूह, तोड़े गये फूलोंवाली (अत एव पुष्पहीन) लताओंको छोड़कर कोमल (ताजे फूलोंकी) माला पहनी हुई युवतियोंपर बैठ गये। (यह ठीक है, क्योंकि) मलिन आत्मावालों (दुष्ट चित्तवालों, पक्षा०—काले शरीरवालों) के लिए परिचय प्रधान नहीं होता है। (यही कारण था कि काले शरीरवाले भ्रमर-समूह चिरपरिचित भी लताओंको छोड़कर जहाँ उनकी गन्धलाभरूपा स्वार्थ-सिद्धि होती थी, वहाँ चले गये)॥ ६१॥

अथोत्तरसर्गे जलक्रीडावर्णनाय तदुपोद्घातत्वेनासां, वनविहारोद्भवं श्रमातिरेकं सप्तभिः कुलकेन दर्शयति (६२–६८)—

श्लथशिरसिजपाशपातभारादिव नितरां नतिमद्भिरंसभागैः।
मुकुलितनयनैर्मुखारविन्दैर्घनमहतामिव पक्ष्मणां भरेण॥ ६२॥

श्लथेत्यादि॥ शिरसि जाताः शिरोरुहाः। 'सप्तम्यां जनेर्डः' (३।२।९७) 'हलदन्तात्–' (६।३।९) इत्यादिना सप्तम्या अलुक्। तेषां पाशः कलापः श्लथस्य तस्य यः पातस्तस्य भारादिवेति हेतूत्प्रेक्षा। 'न पादादौ खल्वादयः' इति वामनीयनिषेधेऽपि इवशब्दस्य पादादौ प्रयोगः कवेरौद्दण्ड्यात्। नितरामतिशयेन। अव्ययादामुप्रत्ययः। नतिमद्भिरंसभागैरुपलक्षिताभिर्नितम्बिनीभिरिति भाविना सम्बन्धः। एवमुत्तरत्रापि योज्यम्। नतांसत्वमुत्तमस्त्रीलक्षणात्। पुनर्घनमहतां सान्द्रदीर्घाणां पक्ष्मणां भरेणेवेति पूर्ववद्धेतूत्प्रेक्षा। मुकुलितनयनैर्मुखारविन्दैः। अत्रोत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः॥ ६२॥

(अब अग्रिम आठवें) सर्गमें जलक्रीडाका वर्णन करनेके लिए उसके भूमिकारूप वनविहारजन्य अधिक परिश्रमका सात श्लोकों (७।६२–६७) से वर्णन करते हैं—वनमें भ्रमरादिजन्य अधिक परिश्रमके कारण) शिथिल केश-समूहके गिरनेके भारसे मानो अत्यन्त नम्र कन्धोंवाली तथा सघन तथा बड़े-बड़े पलकोंके भारसे बन्द नेत्रवाले मुखकमलोंवाली॥ ६२॥

अधिकमरुणिमानमुद्वहद्भिर्विक[1]सदशीतमरीचिरश्मिजालैः।
परिचितपरिचुम्बनाभियोगादपगतकुङ्कुमरेणुभिः कपोलैः॥ ६३॥

अधिकमिति॥ पुनः परिचितानां प्रणयिनां परिचुम्बनैरभियोगान्मर्दनादपगतकुङ्कुमरेणुभिः अत एव विकसन्ति वैमल्यात्प्रतिफलन्ति अशीतमरीचेरुष्णांशो रश्मिजालानि येषु तैः। असम्बन्धे सम्बन्धोक्त्यातिशयोक्तिः। अत एवाधिकमरुणिमानमुद्वहद्भिः। कुङ्कुमापायेऽप्यातपलङ्घनादतिलोहितैरित्यर्थः। कपोलैर्गण्डस्थलैः॥६३॥

प्रियतमोंके चुम्बनोंके द्वारा मर्दन करनेसे छुटे हुए कुङ्कुम-परागवाले (अत एव-कुङ्कुम-

---

१. 'विलसद–' इति, 'विलसित–' इति च पा०।

पराग छूट जाने के कारण निर्मल होनेसे) परिबिम्बित होती हुई चन्द्र-किरणोंवाले (अत एव कुङ्कुम पराग के छूट जानेपर भी प्रतिबिम्बित चन्द्रकिरणोंसे) अधिक लालिमा को धारण करनेवाले कपोलोंसे युक्त ॥ ६३ ॥

अवसितललितक्रियेण बाह्वोर्ललिततरेण तनीयसा युगेन ।
सरसकिसलयानुरञ्जितैर्वा करकमलैः पुनरुक्तरक्तभाभिः ॥ ६४ ॥

अवसितेति ॥ पुनरवसिताः श्रमेण परिसमाप्ता ललिताः क्रियाः सुकुमारचेष्टा अपि यस्य तेन ललिततरेण मृदुतरेण तनीयसा तनुतरेण बाह्वोर्युगेन पुनः सरसैरार्द्रैः किसलयैरनुरञ्जितैर्वा अनुरञ्जनं प्रापितैरिव पुनरुक्ता द्विगुणा रक्ता भासो येषां तैः पुनरुक्तरक्तभाभिः । 'हलि सर्वेषाम्' (८।३।२२) इति यकारलोपः । करकमलैः पाणिपङ्कजैः । अत्रेतरजनकरापेक्षया पुनरुक्तरक्तत्वं स्वाभाविकमेव । तत्र किसलयरञ्जनहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते । इवार्थे वाशब्दस्तदुत्प्रेक्षायां प्रयुक्तः ॥ ६४ ॥

(अधिक परिश्रमके कारण आलिङ्गनादि) सुकुमार (विना परिश्रमके होनेवाली) क्रियाओंको भी न करते हुए, अत्यन्त कोमल तथा दुर्बल दोनों भुजाओंवाली तथा सरस (ताजे, हरे-हरे) नवपल्लवोंसे अनुरञ्जित (रँगे गये) एवं द्विगुणित कान्तिवाले करकमलोंवाली ॥ ६४ ॥

स्मरसरसमुरःस्थलेन पत्युर्विनिमयसंक्रमिताङ्गरागरागैः ।
भृशमतिशयखेदसम्पदेव स्तनयुगलैरितरेतरं निषण्णैः ॥ ६५ ॥

स्मरेति ॥ पुनः स्मरेण सरसं सानुरागं यथा तथा पत्युरुरःस्थलेन कर्त्रा विनिमयेन व्यतिहारेण संक्रमितोऽङ्गरागोऽनुलेपनं तेन रागो रञ्जनं येषु अतिशयोऽतिशयितो यः खेदस्तस्य सम्पदा महिम्नेवेत्युत्प्रेक्षा । भृशमितरेतरं निषण्णैः परस्परं संश्रितैः स्तनयुगलैः ॥ ६५ ॥

कामवश अनुरागसहित पतिके वक्षःस्थलसे (आलिङ्गन करनेके कारण) अङ्गरागों (कुङ्कुम-चन्दनादि लेपों) का परस्परमें अदल-बदल किये हुए तथा मानो अत्यन्त खेदके कारण परस्परमें अत्यधिक सटे हुए दोनों स्तनोंवाली ॥ ६५ ॥

अतनुकुचभरागतेन भूयः [1]श्रमजनितानतिना शरीरकेण ।
अनुचितगतिसादनिःसहत्वं कलभकरोरुभिरूरुभिर्दधानैः ॥ ६६ ॥

अतन्विति ॥ पुनः अतनुना महता कुचभरेणानतेन नम्रेण प्रागेवेति भावः । भूयः पुनश्च श्रमजनिता आनतिर्यस्य तेन शरीरकेण सुकुमारशरीरेण । किंच अनुचिताऽनभ्यस्ता । 'अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्यम्' इति यादवः । तया गत्या पादचारेण यः सादः कार्श्यं तेन यन्निःसहत्वमक्षमत्वं तद्दधानैः । गन्तुमक्षमैरित्यर्थः । न सहन्त

---

१. 'कलभ-' इति पा० ।

इति निःसहाः। पचाद्यजन्तेनोपसर्गस्य समासे त्वप्रत्ययः। कलभकराः करिहस्ता इवोरवो महान्तस्तैरूरुभिः सक्थिभिः। 'सक्थि क्लीवे पुमानूरुः' इत्यमरः॥ ६६॥

(वनविहाररूप परिश्रम करनेके पहले ही) बड़े-बड़े स्तनोंके भारसे नम्र तथा (अब वनविहाररूप) परिश्रमसे अधिक नम्र सुकुमार शरीरवाली और (चलनेके) अभ्याससे रहित अर्थात् अभ्यासके बिना पैदल चलनेसे उत्पन्न कृशतासे असमर्थताको धारण करनेवाले, चलनेमें असमर्थ हाथीके सूँड़के समान मोटे जघनोंवाली॥ ६६॥

अपगतनवयावकैश्चिराय क्षितिगमनेन पुनर्वितीर्णरागैः।
कथमपि चरणोत्पलैश्चलद्भिर्भृशविनिवेशवशात्परस्परस्य॥ ६७॥

अपगतेति॥ पुनश्चिराय चिरं क्षितिगमनेनापगतो नवयावको नवलाक्षारागो येषां तैः पुनस्तेनैव वितीर्णरागैः सौकुमार्यादुत्पादितरागैः परस्परस्य भृशविनिवेशवशात् स्थिरन्यासबलाद् एकं स्थिरं निवेश्य तदवष्टम्भेन। इतरचालनक्रमेणेत्यर्थः। कथमपि महता प्रयत्नेन। 'कथमादि तथाप्यन्तं यत्नगौरवभेदयोः' इत्युत्पलः। चलद्भिश्चरणोत्पलैः॥ ६७॥

बहुत देर तक भूतलपर (पैदल) चलनेसे नष्ट हुए नये महावरों (पैर रंगनेके लाल द्रवविशेष) वाले तथा (अत्यन्त सुकुमार होनेके कारण) पृथ्वीपर पैदल चलनेसे ही दिये गये रागवाले अर्थात् पुनः रक्तवर्णताको प्राप्त किये हुए तथा (बहुत थक जानेसे) परस्परमें अत्यन्त स्थिरतासे जमा-जमाकर रखनेके कारण किसी प्रकार (बड़ी कठिनतासे) चलते हुए चरणकमलोंवाली॥ ६७॥

मुहुरिति वनविभ्रमाभिषङ्गादतमि तदा नितरां नितम्बिनीभिः।
मृदुतरतनवोऽलसा प्रकृत्या चिरमपि ताः किमुत प्रयासभाजः॥

मुहुरिति॥ नितम्बिनीभिरुक्तधर्मोपलक्षिताभिः स्त्रीभिर्मुहुरित्येवं वनविभ्रमाभिषङ्गाद् वनभ्रमणसङ्गात् तदा नितरामतमि तान्तम्। तमेर्ण्यन्ताद्भावे लुङ् 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' (७।३।३४) इति वृद्धिप्रतिषेधः। युक्तं चैतदित्याह—मृदुतरतनवोऽतिकोमलाङ्गयस्ताः स्त्रियः प्रकृत्या अलसा जडाः, अथ चिरमपि प्रयासभाजश्चेत् किमुत। सुतरामलसाः स्युरित्यर्थः। अत्राप्रकृतनैसर्गिकालस्यस्य कथनेनागन्तुकस्य कैमुत्यन्यायतः। सिद्धत्ववर्णनादर्थापत्तिरलङ्कारः। 'एकस्य वस्तुनो भावाद्यत्र वस्त्वन्यदापतेत्। कैमुत्यन्यायतः सा स्यादर्थापत्तिरलङ्क्रिया॥' इति लक्षणात्। श्रमश्चात्र सञ्चारी वाच्यः। 'श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः स्वेदोऽस्मिन्मर्दनादयः' (दशरूपके ४।१२) इति लक्षणात्॥ ६८॥

(पूर्वश्लोकों (७।६२-६७) में वर्णित) नितम्बिनी (बड़े-बड़े नितम्बोंवाली) स्त्रियाँ फिर इस प्रकार वन-विहारमें आसक्त होनेसे अत्यन्त खिन्न (श्रान्त) हो गयीं। (उनका ऐसा थक जाना उचित ही था, क्योंकि) अत्यन्त सुकुमार शरीरवाली अङ्गनाएँ स्वभावसे ही

आलसी होती हैं, तब फिर बहुत देर तक परिश्रम करनेपर वैसी (जड़ आलसयुक्त) हो गयी, इसमें कहना ही क्या है ? ।

विमर्श—पूर्व छः श्लोकों (७।६२–६७) में स्कन्धभाग, मुखकमल आदिसे उपलक्षित ऐसा अध्याहार करके इस श्लोक (७।६८) में वर्णित 'नितम्बिनीभिः' के साथ सम्बन्ध करना चाहिए ॥ ६८ ॥

अथ श्रमानुभावं स्वेदं वर्णयति—

प्रथमसलघुमौक्तिकाभमासीच्छ्रमजलमुज्ज्वलगण्डमण्डलेषु ।
कठिनकुचतटाग्रपाति पश्चादथ शतशर्करतां जगाम तासाम् ॥६९॥

प्रथममिति ॥ अथ तासां स्त्रीणां श्रमजलं प्रथममुज्ज्वलगण्डमण्डलेषूज्ज्वलगण्डस्थलेषु अलघुमौक्तिकाभं स्थूलमुक्ताफलसदृशमासीत् । पश्चात् कठिनतरकुचाग्रपाति सत् अथ पतनानन्तरं शतं शर्कराः शतशर्करम् । 'समाहारे द्विगुरेकवचनं वा टावन्ते' इति नपुंसकत्वम् । तस्य भावस्तत्ता तां शतशर्करतां शतशकलत्वं जगाम । अत्रैकस्य श्रमजलस्य क्रमेणानेकाश्रयसम्बन्धनिबन्धनात् पर्यायालङ्कारभेदः । 'क्रमेणैकमनेकस्मिन्नाधारे वर्तते यदि । एकस्मिन्नथ वानेकं पर्यायालङ्कृतिर्मता ॥' इति लक्षणात् ॥

(अब श्रमानुभाव स्वेद वर्णन करते हैं) उन अङ्गनाओंका पसीना निर्मल कपोलमण्डलोंपर पहले बड़े-बड़े मोतीके समान शोभावाला था, बादमें अत्यन्त कठोर स्तनोंके अग्रभागपर गिरकर सैकड़ोंवाला हो गया ॥ ६९ ॥

श्रमेऽपि कुचमण्डलमविकृतशोभमित्याह—

विपुलकमपि यौवनोद्धतानां घनपुलकोदयकोमलं चकाशे ।
परिमलितमपि प्रियैः प्रकामं कुचयुगमुज्ज्वलमेव कामिनीनाम् ॥७०॥

विपुलकमिति ॥ यौवनोद्धतानां कामिनीनां कुचयुगं विपुलकं पुलकरहितमपि घनपुलकोदयेन सान्द्ररोमोद्गमेन कोमलं सदिति विरोधः । विपुलं विस्तृतं तदेव विपुलकमित्यविरोधः । प्रियैः प्रकामं परितो मलमस्येति परिमलं तत्कृतं परिमलितं मलिनीकृतं तथाप्युज्ज्वलं विमलमेव चकाश इति विरोधः । परिमलवत्कृतं परिमलितमित्यविरोधः । मत्वन्तात् 'तत्करोति–' (ग०) इति णिचि कर्मणि क्तः । णाविष्ठवद्भावे विन्मतोर्लुक् । अपिर्विरोधे । विरोधाभासालङ्कारयोः संसृष्टिः ॥ ७० ॥

(अब वनविहारजन्य श्रम होनेपर स्तनोंकी शोभामें कमी न होनेका वर्णन करते हैं ।) युवावस्थासे उद्धत कामिनियोंका स्तनद्वय विपुलक (रोमाञ्चसे रहित, पक्षा०—विशालतम) भी अधिक रोमाञ्चके होनेसे सुन्दर होकर शोभने लगा तथा प्रियों (पतियों) से अत्यन्त परिमलित (मलिन किया गया, पक्षा०—सौरभयुक्त किया गया) भी अत्यन्त उज्ज्वल होकर शोभने लगा ।

---

१. '—कर्करताम्' इति पा० ।

विमर्श—इस श्लोकमें 'विपुलक' शब्दका पुलक अर्थात् रोमाञ्चसे रहित होकर भी अधिक रोमाञ्चके होनेसे सुन्दर स्तनका होना परस्पर विरुद्ध है, अतः उक्त विरोधका परिहार 'विपुलक' शब्दका 'विशाल' अर्थके द्वारा करना चाहिए तथा प्रियोंके द्वारा 'परिमलित' अत्यन्त मैला किये गये स्तन का उज्ज्वल (मलहीन) होना विरुद्ध है, अत एव इस विरोध का परिहार 'परिमलित' शब्दका 'परिमलयुक्त' अर्थात् सुरभित अर्थके द्वारा करना चाहिए ॥

अथैकस्याः प्रियकण्ठावलम्बने श्रमानुभावमेकेनाह—

अविरतकुसुमावचायखेदान्निहितभुजालतयैकयोपकण्ठम् ।
विपुलतरनिरन्तरावलग्नस्तनपिहितप्रियवक्षसा ललम्बे ॥ ७१ ॥

अविरतेति ॥ अविरितो यः कुसुमानामवचायो हस्तेन लवनम् । 'हस्तादाने चेरस्तेये' (३।३।४०) इति घञ् । तेन यः खेदस्तस्मात् भर्तुरुपकण्ठं कण्ठे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । निहिते भुजालते यया तया । 'दोः प्रकोष्ठो भुजो बाहुर्भुजा च स्मर्यते बुधैः' इति वैजयन्ती । विपुलतरौ निरन्तरमवलग्नौ संश्लिष्टौ च यौ स्तनौ ताभ्यां पिहितं छादितं प्रियस्य वक्षो यया तयैकया स्त्रिया ललम्बे लम्बितम् । भावे लिट् ॥

(अब किसी एक नायिकाके, प्रियके कण्ठको अवलम्बन करनेसे श्रमके अनुभावका वर्णन करते हैं) निरन्तर फूल तोड़ने (तथा बिनने-चुनने) से उत्पन्न खेदसे (पतिके) गलेमें दोनों भुजाओंको डाली हुई किसी एक नायिकाने बड़े-बड़े तथा परस्पर सटे हुए दोनों स्तनोंसे प्रियतमके वक्षःस्थलको आवृत (ढक) कर सहारा ले लिया ॥ ७१ ॥

अथापरस्या अङ्गभङ्गाख्यमपरमनुभावमाह—

अभिमतमभितः कृताङ्गभङ्गा कुचयुगमुन्नतिवित्तमुन्नमय्य ।
तनुरभिलषतं क्लमच्छलेन व्यवृणुत वेल्लितबाहुवल्लरीका ॥७२॥

अभिमतमिति ॥ तनुः काचित्तन्वी । 'वोतो गुणवचनात्' (४।१।४४) इति विकल्पादनीकारः । अभिमतमभितः । प्रियमभीत्यर्थः । उन्नतिवित्तं औन्नत्येन प्रतीतम् । विदेर्भावार्थात् 'वित्तो भोगप्रत्यययोः' (८।२।५८) इति प्रत्ययार्थे निष्ठानत्वाभावनिपातः । कुचयुगमुन्नमय्योत्तुङ्गीकृत्य कृतोऽङ्गभङ्गो गात्रविजृम्भणं यया सा । तथा वेल्लिते मिथो वेष्टिते बाहुवल्लर्यौ भुजलते यया सा । 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इति कप् । क्लमच्छलेन । श्रमापनोदकचेष्टाव्याजेनेत्यर्थः । अभिलषितमालिङ्गनाद्यभिलषितं व्यवृणुत प्रकटितवती । वृणोतेर्लङ् । प्रौढेयमुत्सुका च ॥ ७२ ॥

(अब दूसरी किसी नायिकाके 'अङ्गभङ्ग' नामक दूसरे अनुभावका वर्णन करते हैं) किसी कृशाङ्गी नायिकाने प्रियतमके सामने ऊँचाईमें प्रसिद्ध अर्थात् अत्युन्नत स्तनद्वयको और ऊँचा उठाकर अङ्ग-भङ्गकर (जम्हाई-अंगड़ाई लेकर) तथा दोनों भुजलताओंको परस्परमें लपेटकर थकावट (दूर करने) के कपटसे अपने भाव को प्रकट कर दिया ॥७२॥

अथ कस्याश्चिन्मुग्धायाः प्रियचापलोक्तिद्वारा स्वेदोद्गमं प्रकटयति—

हिमलवसदृशः श्रमोदबिन्दूनपनयता किल नूतनोढवध्वाः।
कुचकलशकिशोरकौ कथञ्चित्तरलतया तरुणेन पस्पृशाते ॥७३॥

हिमेति ॥ हिमलवसदृशो हिमकणनिभान् श्रमोदबिन्दून्। स्वेदबिन्दूनित्यर्थः। 'मन्थौदन-' (६।३।६०) इत्यादिना उदकस्योदादेशः। अपनयता किल प्रमार्जतेव, न तु तत्र तात्पर्यमिति भावः। तरुणेन यूना नूतनोढवध्वाः कुचौ कलशाविव तौ च किशोरकाविव। उल्ललनसाम्यादश्वशावाविव। 'अश्वशावः किशोरकः' इत्यमरः। तौ कुचकलशकिशोरकौ। उभयत्राप्युपमितसमासः। कथञ्चित् क्लेशेन। सप्रतिषेधमेवेत्यर्थः। तरलतया चपलतया। उत्सुकतयेत्यर्थः। पस्पृशाते स्पृष्टौ। स्पृशेः कर्मणि लिट्। मुग्धेयम् ॥ ७३ ॥

(अब किसी मुग्धा नायिकाके प्रियतमकी चपलता कहनेसे पसीना आनेका वर्णन करते हैं) हिमकणके समान पसीने की बूँदोंको दूर करते (पोंछते हुए) से युवकने नवविवाहिता प्रियाके कलशतुल्य तथा घोड़ेके बछड़ेके समान स्तनद्वयको चपलतासे (नायिका के निषेध करते रहनेपर भी) किसी प्रकार (बड़ी कठिनाईके साथ) छू लिया।

विमर्श—जिस प्रकार घोड़ेका बछेड़ा स्पर्श करते समय चञ्चल हो जाता है तथा शीघ्र छूने नहीं देता, उसी प्रकार नवविवाहिता उस नायिकाके स्तन भी चञ्चल हो गये—निषेध करने लगे तथा शीघ्र अपनेको छूने देना नहीं चाहते थे। इसी कारण कलशोपम विशाल स्तनोंको घोड़ेके बछेड़ेके साथ उपमा दी गयी है, नवविवाहिता स्त्रीका वैसा करना उचित ही था। स्वेदबिन्दुओंको हिमकणके समान कहकर स्वेदकी अल्पता तथा उसके पोंछने (दूर करने) की अनावश्यकता सूचित की गयी है ॥ ७३ ॥

अथ सर्वासामेव स्वेदोद्रेकं वर्णयति—

गत्वोद्रेकं जघनपुलिने रुद्धमध्यप्रदेशः
क्रामन्नूरुद्रुमभुजलताः पूर्णनाभीह्रदान्तः।
उल्लङ्घ्योच्चैः कुचतटभुवं प्लावयन् रोमकूपान्
स्वेदापूरो युवतिसरितां व्याप गण्डस्थलानि ॥ ७४ ॥

गत्वेति ॥ युवतय एव सरितस्तासां स्वेद एवापूरः प्रवाहः जघनमेव पुलिनं तत्रोद्रेकं गत्वा रुद्ध आवृतो मध्यप्रदेशोऽवलग्नभागः, प्रवाहदेशश्च येन स पूर्णनाभीह्रदान्तः। रेफान्तमकारान्तं वा पूर्णेति पूरेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः। 'वा दान्त—' (७।२।२७) इत्यादिना णिलुगिट् प्रतिषेधनिपातः। उच्चैरुन्नतौ कुचावेव तटौ तयोर्भुवं प्रदेशमुल्लङ्घ्य रोमकूपान् रोमाणि रोमरन्ध्राणि तान्येव कूपान् प्लावयन् पूरयन् गण्डस्थलानि कपोलभागान्, उन्नतभूभागांश्च प्राप। अत्र युवतिषु सरित्त्वस्य तदवयवेष्ववयवानां च निरूपणात्समवस्तुविषयसावयवरूपकं श्लेषानुप्राणितम्। मन्दा-

क्रान्ता वृत्तम् । 'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ ताद्गुरू चेत्' इति लक्षणात् ॥

युवतिरूपिणी नदियोंका स्वेद-प्रवाह जघनरूपी तटप्रदेशमें बढ़कर, मध्यप्रदेश (युवतियोंका कटिभाग, पक्षा०—जल बहनेका स्थान) को रोककर, नाभिरूपी तडागके मध्यभागको पूर्णकर ऊँचे-ऊँचे स्तनरूपी दोनों तटोंकी भूमिको लाँघकर रोमच्छिद्रों, (पक्षा०—कूपों) को प्लावित करता हुआ गण्डस्थलों (पक्षा०—ऊँचे भूमि प्रदेशों) पर फैल गया।

विमर्श—जिस प्रकार नदीका प्रवाह तटप्रदेशोंमें बढ़कर तडागोंके भीतरी भागोंको पूर्णकर तीरस्थ भूभागोंको लाँघकर कूओंको लबालब भरता हुआ मैदान में फैल जाता है; उसी प्रकार युवतियोंके पसीनेका प्रवाह जघनदेशमें बढ़कर कटिभागको घेरकर नाभिको पूर्णकर ऊँचे स्तनोंको लाँघकर रोमच्छिद्रोंको भरता हुआ कपोल-स्थल पर फैल गया ॥७४॥

एवमध्वश्रमानुभावं स्वेदोद्रेकं वर्णयित्वा तत्फलभूतां जलविहारेच्छामासां दर्शयति—

प्रियकरपरिमार्गादङ्गनानां यदाभूत् पुनरधिकतरैव स्वेदतोयोदयश्रीः ।
अथ वपुरभिषेक्तुं तास्तदाम्भोभिरीषुर्वनविहरणखेदम्लानमम्लानशोभाः ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्रयङ्के वनविहारो नाम सप्तमः सर्गः ॥७॥

प्रियेति ॥ यदा अङ्गनानां प्रियकरपरिमार्गात्प्रियकरस्पर्शात् । मृजेर्घञ् प्रत्ययः । स्वेदतोयोदयश्रीः स्वेदोद्गमसम्पत् पुनर्भूयोऽप्यधिकतरैवाभूत्तदा अम्लानशोभा अक्षीणकान्तयः । वपुषि म्लानेऽपीति भावः । ता अङ्गना वनविहरणखेदेन म्लानम् । म्लायतेः कर्तरि क्तः । 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः' (८।२।४३) इति निष्ठानत्वम् । वपुरङ्गम् । अथ कात्स्न्येन । 'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकात्स्न्र्येष्वथो अथ' इत्यमरः । अम्भोभिरभिषेक्तुमीषुरिच्छन्ति स्म । इषेर्लिट् । अत्र पूर्ववाक्यार्थस्योत्तरवाक्यार्थसमर्थनहेतुकत्वेनोपनिबन्धाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । मालिनी वृत्तम् ॥७५॥

इति कोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते सर्वंकषाख्ये सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

(इस प्रकार मार्गश्रमजन्यानुभाव-पसीनेकी अधिकताका वर्णन करके उसके फलस्वरूप उन युवतियोंकी जलविहार करनेकी इच्छाका प्रस्ताव उपस्थित करते हैं।) जब प्रियतमके हाथोंसे पोंछनेपर अङ्गनाओंका पसीना बहना फिर अधिक ही हो गया, तब (शरीरके मलिन होनेपर भी) निर्मल शोभावाली उन अङ्गनाओंने वनविहारके खेद (थकावट) से मलिन शरीरको जलसे अभिषिक्त करना (स्नान कराना—धोना) चाहा।

विमर्श—सर्गके अन्तमें अग्रिम सर्गके कार्यका निर्देश होना महाकाव्यका लक्षण होनेसे अग्रिम (आठवें) सर्गमें होनेवाली जलक्रीडाका इस श्लोकमें सङ्केत किया गया है ॥ ७५ ॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'वनविहार' नामक सप्तम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

'अथ वपुरभिषेक्तुं तास्तदाम्भोभिरीषुः' (७।७५) इत्युक्तं तदेव वर्णयितुमारभते—

आयासादलघुतरस्तनैः स्वनद्भिः[1] श्रान्तानामविकचलोचनारविन्दैः।
अभ्यम्भः कथमपि योषितां समूहैस्तैरुर्वीनिहि[2]तचलत्पदं प्रचेले ॥ १ ॥

आयासादिति ॥ अलघुतरस्तनैः पृथुतरकुचैरिति मान्द्यहेतूक्तिः। स्वनद्भिर्भूषाभिः श्रमश्वासैर्वा शब्दायमानैः। 'स्वन शब्दे' इति धातोर्लटः शत्रादेशः। अविकचलोचनारविन्दैः श्रमनिमीलिताक्षिपद्मैः, आयासाद्वनविहारखेदात्, श्रान्तानां क्लान्तानां योषितां तैः समूहैः कर्तृभिः उर्व्यां निहितानि निक्षिप्तानि। 'डुधाञ् धारणे' इति धातोः कर्मणि क्तः। तथैव चलन्ति पदानि यस्मिन् कर्मणि यथा तथा। उत्क्षेपणाशक्त्या भुवि बलादाकृष्यमाणचरणमित्यर्थः। अभ्यम्भोऽम्भःप्रति कथमपि प्रचेले प्रचलितम्। भावे लिट्। स्वभावोक्तिरलङ्कारः। 'स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात्। अस्मिन् सर्गे प्रहर्षिणी वृत्तम्। 'म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम्' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

(पहले सप्तम सर्गके अन्तमें (७।७५) वर्णित रमणियोंकी स्नानेच्छाकी पूर्तिके लिए जलक्रीडावर्णनार्थं इस अष्टम सर्गका आरम्भ करते हैं) बहुत बड़े-बड़े स्तनोंसे, शब्द करते हुए भूषणों (या निःश्वासों) से, (वनविहारजन्य) श्रमके कारण अविकसित अधमुँदे नेत्रकमलोंसे (उपलक्षित) थकी हुई रमणियोंके समूह जलके सम्मुख किसी तरह अर्थात् बड़े कष्टके साथ भूतलपर पैर रखकर (पैदल) चलने लगे ॥ १ ॥

यान्तीनां सममसितभ्रुवां नतत्वादंसानां महति नितान्तमन्तरेऽपि।
संसक्तैर्विपुलतया मिथो नितम्बैः सम्बाधं बृहदपि तद्बभूव वर्त्म ॥२॥

यान्तीनामिति ॥ समं पङ्क्तिशो यान्तीनाम्। 'आच्छीनद्योर्नुम्' (७।१।८०) इति वैकल्पिको नुमागमः। असितभ्रुवां स्त्रीणामंसानां नतत्वाद्धेतोर्नितान्तं महत्यन्तरे अवकाशे सत्यपि विपुलतया हेतुना मिथःसंसक्तैरन्योन्यश्लिष्टैः नितम्बैर्बृहद्विस्तृतमपि तद्वर्त्म सम्बाध्यत इति सम्बाधः सङ्कटम्। 'सङ्कटं ना तु सम्बाधः' इत्यमरः। घञन्तस्यापि विशेष्यलिङ्गत्वं सम्बाधमनुवर्तत इति भाष्यकारादिप्रयोगादिष्यते। बभूव। नतांसत्वनितम्बवैपुल्योक्त्या सौन्दर्यातिशय उक्तः। असम्बाधेऽपि सम्बाधाभिधानादतिशयोक्तिः ॥ २ ॥

श्रेणिबद्ध होकर जाती हुई, काली भौंहोंवाली उन रमणियोंके कन्धेके नम्र होनेके कारण मध्यमें बहुत अवकाश (खाली) होनेपर भी बड़े होनेसे परस्परमें सटे हुए (उन रमणियोंके) नितम्बोंसे चौड़ा भी वह मार्ग बहुत सङ्कीर्ण (तंग, सँकरा) हो गया ॥ २ ॥

---

१. 'स्तनद्भिः' इति पा०। २. '—निमित—' इति पा०।

नीरन्ध्रद्रुमशिशिरां भुवं व्रजन्तीः साशङ्कं मुहुरिव कौतुकात्करैस्ताः ।
पस्पर्श क्षणमनिलाकुलीकृतानां शाखानामतुहिनरश्मिरन्तरालैः ॥३॥

नीरन्ध्रेति ॥ नीरन्ध्रैः सान्द्रैः द्रुमैः शिशिरां भुवं व्रजन्तीर्गच्छन्तीः ताः स्त्रीः अतुहिनरश्मिरुष्णांशुः क्षणमनिलेनाकुलीकृतानां चालितानां शाखानामन्तरालैर्नीरन्ध्रत्वेऽपि मुहुरनिलचालनजनितैरवकाशैर्मुहुः कौतुकादौत्सुक्यादिव साशङ्कम् । परदारत्वात्सभयमित्यर्थः । करैः पस्पर्श स्पृष्टवान् । अत्र चलच्छाखाहेतुकस्य तपनकरस्पर्शस्यौत्सुक्यहेतुकत्वोत्प्रेक्षाद्गुणहेतूत्प्रेक्षा ॥ ३ ॥

सघन पेड़ोंसे (आच्छादित रहनेके कारण धूप नहीं लगनेसे) ठण्डी भूमिपर जाती हुई उन रमणियोंको सूर्यने क्षणमात्र हवासे हिलायी गयी शाखाओंके अन्तरालों (मध्य-मार्गों) से, बार-बार कौतुकसे सशङ्क हो उत्कण्ठापूर्वक किरणों (पक्षा०—हाथों) से स्पर्श किया ।

विमर्श—जिस प्रकार कोई नायक किसी दूसरेकी स्त्रीका, उत्कण्ठित होकर शङ्कापूर्वक हाथसे स्पर्श करता है, उसी प्रकार सूर्यने भी सघन वृक्ष-समूहोंसे ठण्डी भूमिपर पैदल जाती हुई रमणियोंका उन किरणोंसे स्पर्श किया ॥ ३ ॥

अथ कस्याश्चिद्धृतं श्वेतातपत्रं चन्द्रत्वेनोत्प्रेक्षते—

एकस्यास्तपनकरैः करालिताया बिभ्राणः सपदि सितोष्णवारणत्वम् ।
सेवायै वदनसरोजनिर्जितश्रीरागत्य प्रियमिव चन्द्रमाश्चकार ॥४॥

एकस्या इति ॥ वदनसरोजेन स्त्रीमुखपङ्कजेन निर्जितश्रीश्चन्द्रमाः । एतेन वदनसरोजस्य चन्द्रविजयात् सरोजान्तरवैलक्षण्यं चन्द्रस्य निकृष्टत्वं चोक्तम् । अत एव सेवायै तत्सेवनार्थमागत्य तपनकरैः करालिताया भीषितायाः । पीडिताया इत्यर्थः । 'करालो भीषणेऽन्यवत्' इति विश्वः । एतेन सेवावकाशो दर्शितः । एकस्याः कस्याश्चिदङ्गनायाः सपदि आतपक्षण एव सितोष्णवारणत्वं स्वयमेव श्वेतातपत्रत्वं बिभ्राणः सन् प्रियं चकारेव । इति क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा । पराजितः कयाचित्सेवनया जेतुश्चित्तसन्तोषमुपार्जयतीति भावः ॥ ४ ॥

(रमणीके) मुख-कमलसे पराजित हुई कान्तिवाले चन्द्रमाने सूर्य-किरणोंसे सन्तप्त हुई किसी एक रमणीकी सेवाके लिए आकर तत्काल (अतिशीघ्र) श्वेतच्छत्रभावको धारण करते हुए मानो उस रमणीका प्रिय-सा किया ॥ ४ ॥

स्वं रागादुपरि वितन्वतोत्तरीयं कान्तेन प्रतिपदवारितातपायाः ।
सच्छत्रादपरविलासिनीसमूहाच्छायासीदधिकतरा तदापरस्याः ॥ ५ ॥

स्वमिति ॥ रागाद्धेतोरुपरि प्रियाया मूर्धनि स्वं स्वकीयमुत्तरीयं वितन्वता विस्तारयता कान्तेन प्रियेण प्रतिपदं पदे पदे वारित आतपो यस्यास्तस्या अपरस्याः

१. 'प्रतिपथ—' इति पा० ।

कस्याश्चिदङ्गनायाः सच्छत्रात् छत्रयुक्तादपरविलासिनीसमूहात् सकाशात् 'पञ्चमी विभक्ते' (२।३।४२) इति पञ्चमी। अधिकतरा छाया अनातपः कान्तिश्च तदा आसीत्। छत्रच्छायातोऽपि कान्तस्वहस्तधृतोत्तरीयच्छायैवानन्यसाधारणी ज्यायसी। मुखकान्तिरपि तस्या एव भूयसीति भावः। 'छाया त्वनातपे कान्तौ' इत्यमरः। एतेन सच्छत्रादच्छत्रस्याधिकच्छायेति विरोधोऽपि निरस्त इति विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ५ ॥

अनुरागके कारण अपने दुपट्टेको (रमणीके) ऊपर फैलाते हुए प्रियतमके द्वारा प्रत्येक पग (या-मार्ग) में धूपरहित की गयी किसी दूसरी रमणीकी छाया (या—मुखशोभा) छत्रयुक्त (छाता लगायी हुई) दूसरी रमणियोंके समूहकी अपेक्षा अत्यन्त अधिक हो गयी।

विमर्श—भावार्थ यह है कि छातेकी अपेक्षा बड़े अनुरागसे प्रियाके ऊपर फैलाये गये श्वेत दुपट्टेकी छायाका (या-उस स्त्रीकी प्रसन्नताजन्य मुखशोभाका) अधिक होना उचित ही है; क्योंकि वह रमणी धन्य है, जिसका प्रियतम धूपसे खिन्न प्रियाके ऊपर अपने दुपट्टेसे पग-पगपर (या—प्रत्येक मार्गमें) छाया कर रहा है ॥ ५ ॥

संस्पर्शप्रभवसुखोपचीयमाने सर्वाङ्गे करतललग्नवल्लभायाः।
कौशेयं व्रजदपि गाढतामजस्रं सस्रंसे विगलितनीवि नीरजाक्ष्याः ॥ ६ ॥

संस्पर्शेति ॥ करतले लग्नो वल्लभो यस्यास्तस्याः। स्वहस्तेन तद्धस्तं गृहीत्वा गच्छन्त्या इत्यर्थः। अत एव नीरजाक्ष्याः सर्वाङ्गे संस्पर्शप्रभवेन प्रियाङ्गसंगप्रभवेन सुखेनोपचीयमाने पोषं गमिते सति। अत एव गाढतां दृढत्वं व्रजदपि विगलितनीवि सुखपारवश्याद्विश्लिष्टग्रन्थि कौशेयं दुकूलमजस्रं सस्रंसे स्रस्तम्। एषा हृष्टा हर्षितरोमा च ॥ ६ ॥

हाथमें प्रियतमके हाथको पकड़कर चलती हुई कमललोचना रमणीके सब अङ्गोंके, (प्रियतमके) अच्छी तरह स्पर्श होनेके कारण उत्पन्न सुखसे पुष्ट (स्थूल) होते रहनेपर दृढ़ताको प्राप्त करती हुई भी रेशमी साड़ी (सुखकी परवशताके कारण) ढीली शिथिल नीविवाली होती हुई बार-बार नीचेकी ओर सरक जाती थी ॥ ६ ॥

गच्छन्तीरलसमवेक्ष्य विस्मयिन्यस्तास्तन्वीर्न विदधिरे गतानि हंस्यः।
बुद्‌ध्वा वा जितमपरेण काममाविष्कुर्वीत स्वगुणमपत्रपः क एव ॥७॥

गच्छन्तीरिति ॥ हंस्यो हंसाङ्गना अलसं मन्दं गच्छन्तीस्तास्तन्वीः क्षीरवेक्ष्य विस्मयिन्यो गतिसौष्ठवाद्विस्मयवत्यः सत्यो गतानि स्वयं लीलागमनानि न विदधिरे न चक्रुः। लज्जयेति भावः। तथा हि परेण जितं स्वगुणं बुद्‌ध्वा वा। बुद्‌ध्वापीत्यर्थः। क एव को वा अपत्रपः सन् काममाविष्कुर्वीत प्रकाशयेत्। न कश्चिदपीत्यर्थः। 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' (८।३।४१) इति विसर्जनीयस्य षत्वम्। अत्र तिरश्चां विवेकित्वातिशयोक्त्या गतिकरणनिषेधसमर्थनार्थोऽयमर्थान्तरन्यासः ॥७॥

हंसियों (हंसस्त्रियों) ने धीरे-धीरे विलासपूर्वक जाती हुई उन कृशाङ्गियोंको देखकर (अपनी गतिकी अपेक्षा उन रमणियोंकी गतिको उत्तम होनेके कारण) आश्चर्यित होती हुई (लज्जासे) गमन नहीं किया अर्थात् रमणियोंके सविलास गतिको देखकर आश्चर्य-चकित होकर हंसनियां वहीं रुक गयीं; अथवा—दूसरेके द्वारा जीते गये अपने गुणको जानकर भी कौन निर्लज्ज व्यक्ति उसे प्रकट करता (दर्शाता) है? अर्थात् कोई भी नहीं प्रकट करता है॥

श्रीमद्भिर्जितपुलिनानि माधवीनामारोहैर्निबिडबृहन्नितम्बबिम्बैः ।
पाषाण[1]स्खलनविलोलमाशु नूनं वैलक्ष्याद्ययु[2]रवरोधनानि सिन्धोः ॥८॥

श्रीमद्भिरिति॥ श्रीमद्भिः शोभावद्भिः निबिडा बृहन्तश्च नितम्बबिम्बाः कटिपश्चाद्भागा येषां तैः माधवस्येमा माधव्यस्तासां हरिवधूनां आरुह्यन्त इत्यारोहैः कटिपुरोभागैर्जघनैः जितपुलिनानि जितसैकतानि सिन्धोरवरोधनानि समुद्रमहिष्यः । नद्य इत्यर्थः । वैलक्ष्यात्पराजयकृतमनःसङ्कोचाद्धेतोः पाषाणेषु स्खलनेनाभिघातेन विलोलं यथा तथा आशु ययुः अगुः नूनम् । नदीनां स्वाभाविक्याः पाषाणस्खलितागुगतेर्वैलक्ष्यहेतुकत्वोत्प्रेक्षणाद् गुणहेतूत्प्रेक्षा ॥ ८ ॥

शोभायुक्त, सघन तथा बड़े-बड़े नितम्ब-मण्डलोंवाली श्रीकृष्ण भगवान्‌की रमणियोंके जघनोंसे पराजित तट-प्रदेशोंवाली समुद्रकी स्त्रियाँ अर्थात् नदियाँ पराजयजन्य लज्जाके कारण पत्थरोंपर स्खलित होती हुई चञ्चलता (शीघ्रता) के साथ जा (भाग) रही थी ॥८॥

मुक्ताभिः सलिलरयास्तशुक्तिपेशीमुक्ताभिः कृतरुचि सैकतं नदीनाम् ।
स्त्रीलोकः परिकलयाञ्चकार तुल्यं पल्यङ्कैर्विगलितहारचारुभिः स्वैः ॥९॥

मुक्ताभिरिति ॥ स्त्रीलोकः स्त्रीजनः कर्ता । सलिलरयेणास्ता नुन्नाः शुक्तयो मुक्तास्फोटास्त एव पेश्यः कोशाः । पुटा इति यावत् । 'मुक्तास्फोटः स्त्रियां शुक्तिः—' इति, 'पेशी कोशो द्विहीने' इति चामरः । ताभिर्मुक्ताभिर्विमुक्ताभिर्मौक्तिकैः । 'अथ मौक्तिकं मुक्ता' इत्यमरः । कृतरुचि कृतशोभं नदीनां सिकतामयं सैकतं पुलिनम् । 'तोयोत्थितं तत्पुलिनं सैकतं सिकतामयम्' इत्यमरः । 'सिकताशर्कराभ्यां च' (५।२।१०४) इत्यण् प्रत्ययः । विगलितैर्विशीर्णैर्हारैश्चारुभिः स्वैः पल्यङ्कैः शयनैः । 'शयनं मञ्चपर्यङ्कपल्यङ्काः खट्वया समाः' इत्यमरः । तुल्यं सदृशं परिकलयाञ्चकार मेने । पूर्णोपमेयम् ॥ ९ ॥

रमणियोंने (नदीके) वेगसे फूटे (विदीर्ण) हुए मुक्तिकोषसे निकले हुए मोतियोंसे शोभित किये गये नदियोंके रेतीले तटको, टूटे हुए मुक्ताहारोंसे सुन्दर अपने पलंगोंके समान माना ॥ ९ ॥

आघ्राय श्रमजमनिन्द्यगन्धबन्धुं निश्वासश्वसनमसक्त[3]मङ्गनानाम् ।

---

१. '—स्खलित—' इति पा० । २. '—दयु—' इति पा० ।
३. '—मसङ्ग—' इति पा० ।

आरण्याः सुमनस ईषिरे न भृङ्गैरौचित्यं गणयति को विशेषकामः ॥१०॥

आघ्रायेति ॥ भृङ्गैः कर्तृभिः श्रमजमध्वश्रमोत्थम्। अनिन्द्यगन्धस्य श्लाघ्यगन्धस्य बन्धुं सहचरम्। तद्वन्तमित्यर्थः। अङ्गनानां निःश्वासश्वसनं निःश्वासमारुतम्। असकृमप्रतिषिद्धमाघ्राय अरण्ये भवा आरण्याः सुमनसः पुष्पाणि नेषिरे नेष्टाः। 'इषु इच्छायाम्' कर्मणि लिट्। अनुचितोऽयमकाण्डे परिचितपरित्याग इत्याह। विशेषं कामयते इति विशेषकामः। 'शीलकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः' (वा०) इति णप्रत्ययः। क औचित्यं गणयति। न कोऽपीत्यर्थः। अर्थान्तरन्यासः॥ १० ॥

भ्रमरोंने, श्रमजन्य प्रशंसनीय गन्धसे युक्त (रमणियोंसे) निःश्वास वायुको निरन्तर सूंघकर जङ्गली पुष्पोंकी कामना नहीं की, विशिष्टताको चाहनेवाला कौन व्यक्ति औचित्य का विचार करता है ? अर्थात् कोई नहीं विचार करता ॥ १० ॥

आयान्त्यां निजयुवतौ वनात्सशङ्कं बर्हाणामपरशिखण्डिनीं भरेण।
आलोक्य व्यवदधतं पुरो मयूरं कामिन्यः श्रद्धुरनार्जवं नरेषु ॥११॥

आयान्त्यामिति ॥ निजयुवतौ वनादायान्त्यामागच्छन्त्यां सत्यां सशङ्कं सभयमपरशिखण्डिनीं जारिणीं बर्हाणां भरेण व्यवदधतं छादयन्तं मयूरं पुर आलोक्य कामिन्यः प्रियेष्वनार्जवं कौटिल्यं श्रद्धुर्विश्वस्तवत्यः। कुटिलाः पुरुषा इति निश्चिक्युरित्यर्थः। दधातेर्लुङि 'गातिस्था–' (२।४।७७) इत्यादिना सिचो लुक्। 'आतः' (३।४।११०) इति झेर्जुसादेशः। 'श्रदन्तरोरुपसर्गवद्वृत्तिर्वक्तव्या' (वा०) इति श्रच्छब्दस्य धातोः प्राक् प्रयोगः ॥ ११ ॥

वनसे अपनी तरुणी (प्रियतमा मोरनी) को आते रहनेपर दूसरी मोरनीको पङ्खोंके समूहसे छिपाते हुए मोरको सामने देखकर कामिनियोंने पुरुषोंमें कुटिलता होनेका विश्वास कर लिया अर्थात् पुरुष कपटी होते हैं, ऐसा निर्णय कर लिया ॥ ११ ॥

आलापैस्तुलितरवाणि माधवीनां माधुर्यादमलपतत्रिणां कुलानि।
अन्तर्धामुपययुरुत्पलावलीषु प्रादुःष्यात्क इव जितः पुरः परेण ॥ १२ ॥

आलापैरिति ॥ माधवीनां हरिवधूनामालापैः कर्तृभिः माधुर्याद्धेतोस्तुलितरवाणि तिरस्कृतरुतानि अमलपतत्रिणां हंसानां कुलानि उत्पलावलीष्वन्तर्धानम्। 'अन्तःशब्दस्याङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्' (वा) इति अन्तःशब्दस्योपसर्गत्वात्

१. 'मयूरमारात्' इति 'मयूरमाराद्वामिन्यः' इति च पा०। २. अत्र 'तुलितरवाणि' इत्यस्य स्थाने 'विजितरवाणि' इत्येव पाठः साधीयान् प्रतिभाति, 'तुलितरवाणि' इत्यस्य 'तिरस्कृतरुतानि' इति व्याख्योपलब्धेः। अतएव नि०सा० मुद्रिते पुस्तके टिप्पण्यां 'विजित–' इति पाठान्तरं प्रदत्तम्। 'तुलितरवाणि' इत्येवं मूलपाठस्यैवाङ्गीकारे तु 'प्रादुःष्यात्क इव जितः परेण' इत्येवम्भूते चतुर्थपादे 'जित' शब्दाभ्युपगमात् 'तुलित' शब्दस्यापि 'तिरस्कृते'ति व्याख्यानं यथाकथञ्चिदवगन्तव्यम्। ३. 'वाणिनीनाम्' इति पा०।

'आतश्चोपसर्गे' (३।३।१०६) इत्यङ्प्रत्ययः। टापयुः। युक्तं चैतदित्याह—तथाहि। परेण जितः कः। इवशब्दो वाक्यालङ्कारे। पुरो जेतुरग्रे प्रादुःष्यात् प्रादुर्भवेत्। 'उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः' (८।३।८७) इति षत्वम्। अर्थान्तरन्यासः॥ १२॥

श्रीकृष्ण भगवान्‌की रमणियोंके वचनोंके द्वारा मधुरताके कारण पराजित ध्वनिवाले हंसोंके समूह कमल-श्रेणियोंमें छिप गये, दूसरेसे पराजित कौन व्यक्ति (विजेताके) सामने प्रकट होता है ? अर्थात् विजेताके सामने कोई भी पराजित व्यक्ति प्रकट नहीं होता ॥१२॥

मुग्धायाः स्मरललितेषु चक्रवाक्या निःशङ्कं दयिततमेन चुम्बितायाः।
प्राणेशानभि विदधुर्वधूतहस्ताः सीत्कारं समुचितमुत्तरं तरुण्यः॥ १३॥

मुग्धाया इति॥ दयिततमेन निःशङ्कं निर्विचारं चुम्बितायाः दष्टायाः स्मरललितेषु चुम्बनाद्यनन्तरकृत्येषु सीत्कारादिकामचेष्टितेषु मुग्धायाः मूढायाः चक्रवाक्याः समुचितं योग्यं सीत्कारं सीत्काररूपमुत्तरं कृत्यं तरुण्यः स्वयं प्राणेशानभि विधूतहस्ताः सत्यो विदधुः। तादात्म्यभावनया स्वयं दष्टा इव सीच्चक्रुरिति सीत्कारासम्बन्धे तत्सम्बन्धातिशयोक्त्या तत्रासामुद्दीपकमासीदित्युक्तम्॥ १३॥

प्रियतम (चकवे) के द्वारा निःशङ्क अर्थात् सम्यक् प्रकारसे चुम्बित तथा (चुम्बनके अनन्तर) सीत्कारादि कार्योंमें मूढ अर्थात् पतिके निर्दयतापूर्वक चूमने पर भी सीत्कारादि नहीं करती हुई चकईका, प्राणप्रियों (पतियों) के सामने हाथको हिलाती (हाथसे निषेध का अभिनय करती) हुई तरुणियों (यादवाङ्गनाओं) ने सीत्काररूप समुचित उत्तर दिया॥

उत्क्षिप्तस्फुटितसरोरुहार्घ्यमुच्चैः सस्नेहं विहगरुतैरिवालपन्ती।
नारीणामथ सरसी सफेनहासा प्रीत्येव व्यतनुत पाद्यमूर्मिहस्तैः॥ १४॥

उत्क्षिप्तेति॥ अथानन्तरमुत्क्षिप्तं स्फुटितसरोरुहं विकचारविन्दमेवार्घ्यमर्घ्यद्रव्यं यस्मिंस्तत्तथा सस्नेहं विहगरुतैरालपन्ती स्वागतादिवचनं व्याहरन्तीव स्थिता इत्युत्प्रेक्षा। फेन इव हासस्तेन सहिता सफेनहासा। स्मितपूर्वाभिभाषिणीत्यर्थः। सरसी पुष्करिणी नारीणामूर्मिभिरेव हस्तैः पाद्यं पादोदकम्। 'पादार्घाभ्यां च' (५।४।२५) इति यत्प्रत्ययः। प्रीत्येवेत्युत्प्रेक्षा। व्यतनुत। रूपकानुप्राणितोत्प्रेक्षाद्वयस्य सापेक्षत्वात्संसृष्टिः॥ १४॥

तदनन्तर ऊपर उठे हुए तथा विकसित कमलरूपी अर्घ्यपदार्थके साथ, पक्षियोंके शब्दोंसे मानो स्नेहपूर्वक आलाप (कुशल-प्रश्न) करती हुई-सी, फेनरूपी हासवाली पुष्करिणीने स्त्रियों (यादव-रमणियों) के लिए तरङ्गरूपी हाथोंसे मानो प्रेम के साथ पाद्य (पैर धोनेका जल) दिया।

विमर्श—किसी अतिथिके आनेपर जिस प्रकार कोई सज्जन व्यक्ति फूलोंसे अर्घ देता है, उससे कुशल-प्रश्नादि करते हुए सम्भाषण करता हैं, प्रसन्नतासे हँसता है और हाथोंसे

१. 'उत्क्षिप्तस्फुरितसरोरुहार्घमुच्चै⋯विहगरवै–' इति पा०।

पैर धोनेके लिए जल देता है; उसी प्रकार यादवाङ्गनाओंके अपने पास आनेपर पुष्करिणी (विकसित कमलोंवाली पोखरी) ने उन यादवाङ्गनाओंके लिए मानो ऊपर उठे हुए विकसित कमलको अर्घरूपमें दिया, पक्षियोंके कूजनेसे मानो सम्भाषण किया, श्वेतफेन होनेसे मानो हास किया तथा तरङ्गरूपी हाथोंसे मानो पैर धोनेके लिए जल दिया, इस प्रकार मानो बड़े प्रेमसे उनका आतिथ्य-सत्कार किया। यहाँपर स्वभावतः होनेवाले पुष्करिणीके कार्योंको यादवाङ्गनाओंके आतिथ्यसत्कार करनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है ॥ १४ ॥

नित्याया निजवसतेर्निरासिरे यद्रागेण श्रियमरविन्दतः कराग्रैः ।
व्यक्तत्वं नियतमनेन निन्युरस्याः सापत्न्यं क्षितिसुतविद्विषो महिष्यः ॥

नित्याया इति ॥ क्षितिसुतविद्विषो नरकद्विषो हरेर्महिष्यः कराग्रैः पाणिपल्लवैः करणै रागेण रक्तवर्णेन, इच्छया च श्रियं शोभाम्, रमां च नित्यायाः सदातन्याः निजवसतेः स्ववासादरविन्दतोऽरविन्दान्निरासिरे निष्कासयांचक्रुः। निश्चक्रुश्चेति यावत्। 'उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वा वचनम्' (वा०) इति विकल्पादात्मनेपदम्। अनेन निरासेनास्याः श्रियः सापत्न्यं सपत्नीत्वम्। ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्प्रत्ययः। व्यक्तत्वं निन्युः। व्यक्तीचक्रुरित्यर्थः। अत्र श्रीशब्देन रमाशोभयोरभेदाध्यवसायेन श्रीनिवासस्य सापत्न्यव्यक्तीकरणार्थत्वोत्प्रेक्षणात् श्लेषप्रतिभोत्थापितातिशयोक्त्यनुप्राणितेयं फलोत्प्रेक्षेति संकरः ॥ १५ ॥

नरकासुरवैरी (श्रीकृष्ण भगवान्) की पटरानियोंने हस्ताग्रोंके द्वारा राग (हस्ताग्रकी लालिमा, पक्षा०—द्वेष, या इच्छा) से श्री (शोभा, पक्षा०—लक्ष्मीजी) को नित्यनिवासभूत कमलसे जो निकाल दिया (पक्षा०—तिरस्कृत कर दिया), इससे अर्थात् निकालने (पक्षा०—तिरस्कृत करने) से इस (लक्ष्मी) के सपत्नीभावको उन्होंने स्पष्ट कर दिया।

विमर्श—श्रीकृष्ण भगवान्की पटरानियोंके हस्ताग्र कमलसे भी अधिक अरुण वर्ण थे, अत एव उन पटरानियोंने नित्यशोभासम्पन्न उसकी शोभाको तिरस्कृत कर दिया (पक्षा०—श्रीकृष्ण भगवान्की पटरानियोंने अपनी सपत्नी लक्ष्मीको उसके नित्य रहनेके स्थानरूप कमल से हटा दिया), अत एव लक्ष्मीको अपना सपत्नी होना प्रकाशित कर दिया। लोकमें भी कोई नारी अपनी सपत्नीको उसके सर्वदा रहनेके स्थानसे बाहर निकालकर उसको अपना सपत्नी होना प्रकाशित कर देती है। श्रीकृष्णकी पटरानियोंने अपने हस्ताग्रों की लालिमासे कमलकी लालिमारूपिणी शोभाको तिरस्कृत कर दिया ॥ १५ ॥

आस्कन्दन् कथमपि योषितो न यावद्भीमत्यः प्रियकरधार्यमाणहस्ताः ।
औत्सुक्यात्त्वरितममूस्तदम्बु तावत्संक्रान्तप्रतिमतया दधाविवान्तः ॥

आस्कन्दन्निति ॥ भीमत्यः प्रवेशभीरवो योषितः प्रियकरैर्धार्यमाणहस्ताः प्रियकरावलम्बाः सत्यः यावत्कथमपि नास्कन्दन् न प्राविशन् तावत्संक्रान्तप्रतिमतया

१. 'औत्सुक्यत्वरित—' इति पा०।

संक्रान्तप्रतिबिम्बतया तदम्बु कर्तृ औत्सुक्यादुत्कण्ठतया त्वरितममूरन्तर्दधाविव। अन्तः प्रावेशयदित्यर्थः। प्रतिबिम्बसंक्रमणादन्तर्धानोत्प्रेक्षणात् क्रियानिमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा ॥ १६ ॥

(पानीमें घुसनेसे) डरती हुई पतिके द्वारा पकड़े गये हाथोंवाली स्त्रियाँ जब तक किसी प्रकार (अनेक प्रकारके उत्साह तथा डरनेके कारणोंका अभाव होना बतलाने पर भी) प्रवेश नहीं की, तभीतक वह पानी उनको अपने (पानी) में प्रतिबिम्बित होनेसे मानो उत्कण्ठासे अपने भीतर ग्रहण कर लिया ॥ १६ ॥

ताः पूर्वं सचकितमागमय्य गाधं कृत्वाथो मृदु पदमन्तराविशन्त्यः।
कामिन्यो मन इव कामिनः सरागैरङ्गैस्तज्जलमनुरञ्जयांबभूवुः ॥ १७ ॥

ता इति ॥ ताः कामिन्यः कामिनः कामुकस्य मन इव तज्जलं पूर्वं प्रथमं सचकितं सभयं यथा तथा गाधमुत्तानमागमय्य गमनेन ज्ञात्वा। पुरःप्रविष्टपुरुषमुखेन गाधं तदिति परामृश्येत्यर्थः। अन्यत्र दूतमुखेन ज्ञात्वेत्यर्थः। अथो अनन्तरं मृदु मन्दं पदं कृत्वा पदं न्यस्य। अन्यत्र तु स्वयं संभाषणादिकं कृत्वेत्यर्थः। अन्तरमभ्यन्तरमाविशन्त्यः प्रविष्टाः सत्यः। अन्यत्र रहस्यकर्मणि प्रवृत्ता इत्यर्थः। सरागैः साङ्गरागैः सानुरागैश्च अङ्गैर्गात्रैः अनुरञ्जयांबभूवुस्तद्वर्णाक्रान्तं चक्रुः। अन्यत्र त्वनुरक्तं चक्रुरित्यर्थः। श्लेषसङ्कीर्णयमुपमा ॥ १७ ॥

कामिनी वे रमणियाँ कामी पुरुषके मनके समान उस पानीको पहले भयपूर्वक थाह जानकर अर्थात् पानीमें पहले प्रवेश किये हुए पुरुषके मुखसे पानी का थाह मालूम कर इसके बाद धीरेसे पैरको रखकर भीतरमें प्रविष्ट होकर (कुङ्कुमादि) अङ्गलेखोंसे युक्त (स्तनादि) अङ्गोंसे रंग दिया (पक्षा०—कामिनी वे रमणियाँ कामी पुरुषके मनको दूत आदिके मुख (कहने) से मालूम कर बादमें स्वयं सम्भाषणादि करके रतिकर्म में प्रवृत्त होकर अनुराग सहित अपने अंगोंसे अनुरक्त कर दिया) ॥ १७ ॥

संक्षोभं पयसि मुहुर्महेभकुम्भश्रीभाजा कुचयुगलेन नीयमाने।
विश्लेषं युगमगमद्रथाङ्गनाम्नोरुद्वृत्तः क इव सुखावहः परेषाम् ॥ १८ ॥

संक्षोभमिति ॥ महेभकुम्भश्रीभाजा। तत्सदृशश्रीभाजेत्यर्थः। अत एवासम्भवद्वस्तुसम्बन्धो निदर्शनालङ्कारः। कुचयुगलेन। उल्लसितेनेति भावः। पयसि मुहुः संक्षोभं नीयमाने प्राप्यमाणे सति रथाङ्गनाम्नोर्युगं चक्रवाकयुगलं विश्लेषं वियोगमगमत्। वियोगासहमपीति भावः। तथा हि—उद्वृत्त उन्नतो वृत्तश्च, उद्वर्तनं यस्येति वा उद्वृत्तः, अन्यत्रोद्वृत्तः। उन्मार्गवर्तीति यावत्। स क इव को वा परेषां स्वेतरेषां सुखावहः सुखकरः। न कोऽपीत्यर्थः। अयं च श्लेषमूलातिशयोक्तिजीवितोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १८ ॥

---

१. 'कामिनाम्' इति पा०।

बड़े हाथीके कुम्भकी शोभावाले अर्थात् गजराजके मस्तकस्थ मांस-पिण्डके समान बड़े-बड़े दोनों स्तनोंके द्वारा पानीको बार-बार क्षुब्ध करते रहनेपर चकवा-चकईका जोड़ा अलग-अलग हो गया, (ऐसा होना स्वाभाविक ही था, क्योंकि) ऊँचा तथा गोला (पक्षा०—उन्मार्गगामी) कौन व्यक्ति दूसरों को सुखद होता है ? अर्थात् कोई भी उन्मार्गगामी पुरुष दूसरोंके लिए सुख देनेवाला नहीं होता ॥ १८ ॥

आसीना तटभुवि सस्मितेन भर्त्रा रम्भोरूरवतरितुं सरस्यनिच्छुः ।
धुन्वाना करयुगमीक्षितुं विलासाञ्शीतालुः सलिलगतेन सिच्यते स्म ॥

आसीनेति ॥ शीतं न सहत इति शीतालुः शीतभीरुः । 'शीतोष्णाभ्यां तदसहने आलुज्वक्तव्यः' (वा०) अत एव सरसि अवतरितुं प्रवेष्टुमनिच्छुरनभिलाषुका । अत एव तटभुवि आसीना उपविष्टा । आसेः कर्तरि शानच् । 'ईदासः' (७।२।८३) इतीकारः । रम्भे कदलीस्तम्भाविवोरू यस्याः सा रम्भोरूः स्त्री । 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' (४।१।६९) इत्यूङ्प्रत्ययः । सलिलगतेन स्वयं सलिलं प्रविष्टेन सस्मितेन भर्त्रा विलासानीक्षितुं करयुगं धुन्वाना कम्पयन्ती । धुनोतेः कर्तरि शानच् प्रत्ययः । सिच्यते स्म सिक्ता ॥ १९ ॥

शीत (ठण्डक) को नहीं सहनेवाली (अतएव) तडागमें उतरने (घुसने) के लिए इच्छा नहीं करती हुई (अतएव) किनारे पर बैठी हुई तथा (पानी छिड़कनेका निषेध करनेके लिए) हाथको हिलाती हुई रम्भोरू (केलेके समान सुन्दर शीतल एवं आरोहावरोहसे युक्त जङ्घोंवाली रमणी) को पानीमें पहले ही प्रविष्ट मुस्कुराते हुए पतिने (उस रमणीके) विलास देखनेके लिए भिंगो दिया ॥ १९ ॥

नेच्छन्ती सममसुना सरोऽवगाढुं रोधस्तः प्रतिजलमीरिता सखीभिः ।
आश्लिक्षद्भयचकितेक्षणं नवोढा वोढारं विपदि न दूषितातिभूमिः ॥२०॥

नेच्छन्तीति ॥ अमुना सममनेन भर्त्रा सह सरोऽवगाढुमवगाहितुम् । 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' (७।२।४४) इति विकल्पान्नेडागमः । नेच्छन्ती लज्जयाऽनिच्छन्ती । नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः । अनञ्समासो वा । अथ सखीभिः प्रतिजलं जलं प्रति रोधस्तो रोधसः । पञ्चम्यास्तसिल् । ईरिता नुन्ना नवोढा नववधूः भयेन चकितेक्षणं सम्भ्रान्तदृष्टि यथा तथा वोढारं भर्तारमाश्लिक्षदालिङ्गितवती । 'श्लिष आलिङ्गने' इति धातोर्लुङि च्लेः क्सादेशः । न च धार्ष्ट्यदोषापत्तिरित्याह । विपदि विपत्तौ अतिक्रान्ता भूमिरतिभूमिरमर्यादा न दूषिता । 'आपत्काले नास्ति मर्यादा' इति न्यायादिति भावः । अर्थान्तरन्यासालङ्कारः ॥२०॥

इस (अपने पति) के साथ तडागमें घुसनेकी इच्छा न करती हुई (अतएव) सखियोंके द्वारा किनारेसे पानीमें ढकेली गयी नवविवाहिता (रमणी) ने भयसे चकित नेत्र होकर (पानीमें डूबनेके भयसे) पतिका आलिङ्गन कर लिया, क्योंकि विपत्तिमें

मर्यादाका उल्लङ्घन करना निन्दित नहीं होता है (अतएव सखी आदिके समक्ष उस नव-विवाहिताके लिए भी पतिका आलिङ्गन करना निन्दाजनक नहीं हुआ) ॥ २० ॥

तिष्ठन्तं पयसि पुमांसमंसमात्रे तद्दघ्नं तदवयती किलात्मनोऽपि ।
अभ्येतुं सुतनुरभीरियेष मौग्ध्यादाश्लेषि द्रुतममुना निमज्जतीति ॥२१॥

तिष्ठन्तमिति ॥ सुतनुः शुभाङ्गी अंसः प्रमाणमस्येति अंसप्रमाणे । 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः' (५।२।३७) इति मात्रच्प्रत्ययः । पयसि जले तिष्ठन्तं पुमांसम् । वीक्ष्येति शेषः । आत्मनोऽपि तत्पयः तद्दघ्नं तावन्मात्रमंसमात्रं अवयती जानती किल । तथा सम्भावयन्तीत्यर्थः । 'वार्तासम्भाव्ययोः किल' इत्यमरः । अवपूर्वादिणः शतरि 'इणो यण्' (६।४।८१) इति यणादेशः । 'उगितश्च' (४।१।६) इति ङीप् । किलशब्दस्यालीकार्थत्वे मौग्ध्यविरोधः । अत एव मौग्ध्यादविवेकाद-भीर्निर्भीका सती अभ्येतुं पुमांसमभिगन्तुमियेष इच्छति स्म । अमुना पुंसा निमज्ज-तीति द्रुतमाश्लेषि आश्लिष्टा ॥ २१ ॥

कन्धे तक पानीमें स्थित पतिको देखकर अपने भी कन्धेतक ही पानी को समझती हुई किसी सुन्दरीने अज्ञानके कारण निर्भय हो पतिके पास जाना चाहा, (किन्तु) उस पतिने 'यह डूब रही है' यह जानकर झट उसका आलिङ्गन कर लिया अर्थात् उसे पकड़ लिया ॥

आनाभेः सरसि नतभ्रुवावगाढे चापल्यादथ पयसस्तरङ्गहस्तैः ।
उच्छ्रायिस्तनयुगमध्यरोहि लब्धस्पर्शानां भवति कुतोऽथवा व्यवस्था ॥

आनाभेरिति ॥ नतभ्रुवा स्त्रिया सरसि आनाभेर्नाभिपर्यन्तम् । 'आङ् मर्यादा-भिविध्योः' (२।१।१३) इति विकल्पाद्समासः । अवगाढे प्रविष्टे सति । गाहेः कर्मणि क्तः । अथ पयसश्चापल्याल्लौल्यात् । ब्राह्मणादिषु पाठात् ष्यञ्प्रत्ययः । तरङ्गै-रेव हस्तैस्तरङ्गहस्तैरुच्छ्रायोऽस्यास्तीत्युच्छ्रायि उन्नतिमत् स्तनयुगमध्यरोहि अधि-रूढम् । भिक्षुकपादप्रसारणन्यायादिति भावः । रोहतेः कर्मणि लुङ् । अथवा तथा-हीत्यर्थः । लब्धस्पर्शानाम् । लब्धप्रवेशानामित्यर्थः । कुतः कुत्र वा । सार्वविभक्ति-कस्तसिल् । व्यवस्था मर्यादा भवति । न कुत्रापीति भावः । प्रायेण सर्वेऽप्यसम्भव-ब्रह्मचारिण एवेति भावः । अत्र चापल्यादिति द्वयोरपि लौल्ययोरभेदाध्यवसाय-मूलातिशयोक्त्या तरङ्गहस्तैरिति रूपकेण च पयसि कामित्वप्रतीतेः समासोक्तिः । तदुपजीवी चार्थान्तरन्यास इति सङ्करः ॥ २२ ॥

नम्र भ्रूवाली (रमणी) के नाभितक तडागमें प्रवेश करनेपर चञ्चलताके कारण (नायकरूप) पानीके तरङ्गरूपी हाथ ऊँचे-ऊँचे दोनों स्तनोंपर पहुँच गये, अथवा-प्रवेश प्राप्त व्यक्तियोंकी मर्यादा कहाँ रहती है ? अर्थात् प्रवेश पाये हुए पुरुषोंकी मर्यादा सुरक्षित नहीं रह सकती है । (अत एव नायिकाके उन्नत स्तनद्वयपर नायकरूप पानीके तरङ्गरूप हाथों का पहुँच जाना स्वाभाविक ही था) ॥ २२ ॥

कान्तानां कुवलयमप्यपास्तमक्ष्णोः शोभाभिर्न मुखरुचाहमेकमेव ।
[1]संहर्षादलिविरुतैरितीव गायल्लोलोर्मौ पयसि महोत्पलं ननर्त ॥ २३ ॥

कान्तानामिति ॥ लोलोर्मौ चपलोर्मिणि । 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य' (७।१।७४) इति विकल्पात्पुंवद्भावः । पयसि महोत्पलमरविन्दं कर्तृ । 'अरविन्दं महोत्पलम्' इत्यमरः । कान्तानां मुखरुचाऽहमेकमेव नापास्तं, किन्तु तासामक्ष्णोः शोभाभिः कुवलयमप्यपास्तमिति संहर्षात्सन्तोषाद्धेतोरलिविरुतैर्गायत् । अलिरुतरूपं गानं कुर्वदिति रूपकम् । 'इत्थंभूतलक्षणे' (२।३।२१) इति तृतीया । ननर्तं च । 'न दुःखं पञ्चभिः सह' इति न्यायान्नृत्यति स्म । अत्रोर्मिचलनहेतुके महोत्पलचलने अलिनादसंहर्षहेतुकसमाननृत्यत्वोत्प्रेक्षणात् क्रियानिमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा वाच्या ॥ २३ ॥

चञ्चल तरङ्गयुक्त जलमें अरविन्द (रक्तकमल), 'रमणियोंकी मुखशोभासे केवल मैं ही नहीं तिरस्कृत हुआ, किन्तु उनके दोनों नेत्रोंकी शोभासे नीलकमल भी तिरस्कृत हो गया' इस प्रकार सन्तोषके कारण (पाठा०—नीलकमलके साथ स्पर्द्धा होनेके कारण) भ्रमरोंके गुञ्जनोंके द्वारा गाता हुआ-सा मानो नाच रहा था ।

विमर्श—जिस प्रकार प्रबल व्यक्तिके द्वारा पराजित व्यक्ति दूसरे प्रतिपक्षीके भी उसके द्वारा पराजित होनेपर सन्तोषके कारण गाता हुआ नाचता है, उसी प्रकार रमणियोंके मुखकी शोभासे पराजित अरविन्द भी उनके नेत्रोंकी शोभासे नीलकमलको पराजित हुआ जानकर नाचने-सा लगा । चञ्चल तरङ्गके कारण स्वभावतः हिलते हुए कमलको उक्त कारणसे नाचनेकी उत्प्रेक्षा की गयी ॥ २३ ॥

त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरुर्वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य ।
क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतोर्लीलाभिः किमु सति कारणे [2]रमण्यः ॥

त्रस्यन्तीति ॥ चलाः शफर्यः यातुकामा मत्स्यः । 'प्रोष्ठी तु शफरी द्वयोः' इत्यमरः । ताभिर्विघट्टितौ विद्धावूरू यस्याः सा अत एव त्रस्यन्ती बिभ्यती । 'वा भ्राश-' (३।१।७०) इत्यादिना विकल्पात् श्यनि शतरि ङीप् । वामौ सुन्दरावूरू यस्याः सा वामोरूः स्त्री । 'संहितशफलक्षणवामादेश्च' (४।१।७०) इत्यूङ्प्रत्ययः । विभ्रमस्य विलासस्यातिशयमाप । तथा हि—रमण्यो हेतोर्विनापि कारणं विनापि । 'पृथग्विना-' (२।३।३२) इत्यादिना विकल्पात्पञ्चमी । लीलाभिर्विलासैः प्रसभं प्रकामं क्षुभ्यन्ति । अहो निष्कारणक्षोभादाश्चर्यमित्यर्थः । कारणे सति किमु वक्तव्यम् । अत्राप्रकृतनिष्कारणक्षोभकथनात्सकारणक्षोभस्य कैमुत्यन्यायलब्धस्य वर्णनादर्थापत्तिरलङ्कारः । 'दण्डापूपिकयार्थान्तरस्यापतनमर्थापत्तिः' इति सूत्रम् ॥

चञ्चल शफरी (सहरी या पीठिया नामकी मछली) के द्वारा आहत (छूये गये, या

१. 'सङ्घर्षा—' इति पा० । २. 'तरुण्यः' इति पा० ।

काटे गये) जघनोंवाली (अत एव) डरती हुई वामोरू (सुन्दर जघनोंवाली) रमणीने अत्यधिक विलासको प्राप्त किया अर्थात् अधिक विलासोंको दिखलाने लगी। (उसका ऐसा करना ठीक ही था, क्योंकि) रमणियाँ कारण न होनेपर भी लीलाओंसे अत्यन्त क्षुब्ध हो जाती है, तो फिर कारणके होनेपर क्या कहना है ? ॥ २४ ॥

आकृष्टप्रतनुवपुर्लतैस्तरद्भिस्तस्याम्भस्तदथ सरोमहार्णवस्य ।
अक्षोभि प्रसृतविलोलबाहुपक्षैर्योषाणामुरुभिरुरोजगण्डशैलैः ॥ २५ ॥

आकृष्टेति ॥ अथानन्तरमाकृष्टाः प्रतनवो वपूंष्येव लता यैस्तैस्तरद्भिः प्लवमानैः प्रसृता आयता विलोलाश्चला बाहव एव पक्षा गच्छन्ति येषां तैः। गिरिधर्मस्य पक्षवत्त्वस्य तदवयवेषूपचारः। उरुभिर्महद्भिर्योषाणां स्त्रीणामुरोजैरेव गण्डशैलैर्गिरिच्युतैः स्थूलोपलैस्तस्य सर एव महार्णवस्तस्य तदम्भः अक्षोभि। क्षुभ्यतेर्ण्यन्तादण्यन्ताद्वा कर्मणि लुङ्। समस्तवस्तुविषयकं सावयवं रूपकम् ॥ २५ ॥

इसके उपरान्त उन स्त्रियोंके आकृष्ट पतले शरीररूपी लताओंवाले तथा फैले हुए चञ्चल बाहुरूपी पङ्खोंवाले तैरते हुए बड़े-बड़े स्तनरूपी (पर्वतोंसे गिरे हुए) चट्टानों से उस तडागरूपी महासमुद्रका पानी क्षुब्ध हो गया ॥ २५ ॥

गाम्भीर्यं दधदपि रन्तुमङ्गनाभिः संक्षोभं जघनविघट्टनेन नीतः ।
अम्भोधिर्विकसितवारिजाननोऽसौ मर्यादां सपदि विलङ्घयाम्बभूव ॥

गाम्भीर्यमिति ॥ गाम्भीर्यमगाधत्वं, अधिकारिचित्तत्वं च दधदपि गम्भीरः सन्नपि रन्तुं विहर्तुं सङ्गन्तुं चाङ्गनाभिर्जघनस्य विघट्टनेन सङ्घर्षेण संक्षोभं चलनं, चित्तविकारं च नीतः, अत एव विकसितं वारिजमाननमिव वारिजमिव चाननं यस्य सः अम्भांसि धीयन्तेऽस्मिन्निति अम्भोधिर्जलाशयः, असौ कश्चित्पुमांश्च तत्तुल्यो गम्यते। 'कर्मण्यधिकरणे च' (३।३।९३) इति किप्रत्ययः। सपदि मर्यादां सीमानं औचित्यं च विलङ्घयाम्बभूव लङ्घितवान्। धीरोऽपि स्त्रीसन्निकर्षाद्विक्रियत इति भावः। अत्र गाम्भीर्यादिप्रकृताम्भोधिविशेषणसाम्यादप्रकृतविशेष्यपुरुषप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः। सा च प्रतीयमानाभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्त्यनुप्राणितेति सङ्करः ॥ २६ ॥

गम्भीरता (अगाधता, पक्षा०—विकारहीन चित्तको) धारण करता हुआ भी रमण जलक्रीडा करनेके लिए रमणियोंके द्वारा जङ्घाओंके आघातसे क्षुब्ध (विकृत चित्तवाला) किया गया तथा विकसित कमलरूपी मुखवाला (पक्षा०—विकसित कमलके समान मुखवाला, नायकस्थानीय) वह जलाशय शीघ्र ही मर्यादाको (पक्षा०–औचित्य) छोड़ दिया।

विमर्श—जिस प्रकार शुद्ध (विकाररहित) चित्तवाला कोई व्यक्ति रमण करनेके लिए स्त्रियोंके जघनोंके आघातसे विकृतचित्त होकर मुखकमलको प्रसन्न करता हुआ औचित्यको छोड़ देता है, उसी प्रकार अगाध (अथाह जलवाला) भी वह जलाशय जलक्रीड़ा

करनेके लिए स्त्रियोंके जघनोंके आघातसे क्षुब्ध होता हुआ तथा खिले हुए कमलरूपी मुख-वाला होकर सीमा (मर्यादा) को छोड़ दिया ॥ २६ ॥

आदातुं दयितमिवावगाढमारादूर्मीणां ततिभिरभिप्रसार्यमाणः।
कस्याश्चिद्विततचलच्छिखाङ्गुलीको लक्ष्मीवान् सरसि रराज केशहस्तः॥

आदातुमिति ॥ सरसि विततः प्रसारिताश्चलन्त्यश्च शिखा अग्राण्येवाङ्गुल्यो यस्य सः। 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इति कप्। लक्ष्मीवान् शोभावान्। 'मादुपधा-याश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' (८।२।९) इति मतुपो मकारस्य वत्वम्। कस्याश्चित्केश-हस्तः केशपाशः। 'पाशः पक्षश्च हस्तश्च कलापार्थाः कचात्परे' इत्यमरः। हस्त इति करश्च ध्वन्यते। आरात्समीपे। 'आराद्दूरसमीपयोः' इत्यमरः। अवगाढमन्त-र्मग्नं दयितमादातुं ग्रहीतुमिव ऊर्मीणां ततिभिः समूहैरभिप्रसार्यमाणोऽभितो व्यापार्यमाणः सन् रराज। अत्रादातुमिव प्रसार्यमाण इति प्रसारणस्यादानार्थत्वो-त्प्रेक्षणादियं क्रियानिमित्ता क्रियाफलोत्प्रेक्षा। सा च चलच्छिखाङ्गुलीक इति रूप-कानुप्राणितया हस्त इति श्लेषमूलया वाच्यस्य केशकलापस्य प्रतीयमानात्कराद्भे-दे अभेदरूपातिशयोक्त्या निर्व्यूढेति सङ्करः ॥ २७ ॥

तडागमें फैला हुआ तथा चञ्चल अग्रभाग ही है अङ्गुलियाँ जिसकी ऐसा एवं शोभायुक्त किसी (रमणी) का केश-समूह (पक्षा०—केशरूपी हाथ), समीपमें (पानीके भीतर) डूबे हुए पतिको मानो पकड़नेके लिए तरङ्ग-समूहोंसे फैला हुआ शोभता था ॥ २७ ॥

उन्निद्रप्रियकमनोरमं रमण्याः संरेजे सरसि वपुः प्रकाशमेव।
युक्तानां विमलतया तिरस्क्रियायै नाक्रामन्नपि हि भवत्यलं जलौघः॥

उन्निद्रेति ॥ उन्निद्रं यत् प्रियकं असनकुसुमम्। 'सर्जकासनबन्धूकपुष्पप्रियक-जीवकाः' इत्यमरः। तदिव मनोरमम्। कनकगौरमित्यर्थः। रमण्या वपुः सरसि प्रकाशमेव जलमग्नमपि वैमल्यात्प्रत्यक्षमेव संरेजे। तथा हि—जलौघो जलपूरो, जडौघो मूर्खजनौघश्च डलयोरभेदात्। आक्रामन्नावृण्वन्नपि, अन्यत्र अधिक्षिपन्नपि विमलतया वैमल्येन युक्तानां शुद्धानां तिरस्क्रियायै तिरोधानाय, परिभवाय च अलं समर्थो न भवति हि। श्लेषमूलया भेदेऽभेदरूपातिशयोक्त्यानुप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यासः।

विकसित विजयसारके फूलके समान मनोहर (गौरवर्ण) रमणीका शरीर तडागमें डूबे रहनेपर भी प्रकाशित होता हुआ शोभ रहा था, (यह उचित ही है, क्योंकि) जल-समूह (पक्षा०—ड और ल का अभेद होनेसे जड़ों अर्थात् मूर्खोंका समूह) छिपाता हुआ (पक्षा०—निन्दा करता हुआ) भी निर्मलतासे युक्त अर्थात् निर्मल पदार्थों (पक्षा०—निर्मल गुणवाले लोगों) के तिरस्कारके लिए समर्थ नहीं होता है ॥ २८ ॥

१. 'अन्वेष्टुम्' इति पा०।

किं तावत्सरसि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमवभासते युवत्याः ।
संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्विब्वोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः ॥

किमिति ॥ सरस्यारादूदूरादेतत्पुरोवर्ति तावत्सरोजं किम्, आहोस्वित् उत युवत्या मुखमवभासत इति क्षणं संशय्य संदिह्य । शीङः क्त्वो ल्यप् । 'अयङ् यि क्ङिति' (७।४।२२) इत्ययङादेशः । कश्चिद्विलासी बकसहवासिनां बकसहचारिणाम् । पद्मानामित्यर्थः । विलासशून्यताद्योतनार्थमित्थं निर्देशः । परोक्षैरप्रत्यक्षैरननुभूतचरैः । अविद्यमानैरिति यावत् । विब्वोकैः । विलासैरित्यर्थः । यद्यपि 'विब्वोकोऽनादरक्रिया' (दशरूपके २।४१) इत्युक्तम्, तथापि विशेषवाचिनां सामान्ये लक्षणेत्यदोषः । निश्चिकाय । विशेषदर्शनान्मुखमेवेति निश्चितवानित्यर्थः । सन्देहालङ्कारोऽयम् । 'विषयो विषयी यत्र सादृश्यात्कविसम्मतात् । सन्देहगोचरौ स्यातां सन्देहालंकृतिश्च सा ॥' इति लक्षणात् । सोऽप्यन्ते निश्चयोक्तेर्निश्चयान्ता ॥ २९ ॥

'तडागमें समीपमें (सामने दिखलायी पड़नेवाला पदार्थ) कमल है क्या ? अथवा युवतीका मुख शोभ रहा है' ऐसा क्षणमात्र सन्देह करके किसी पुरुषने बगुलोंके सहवासी (कमलों) में नहीं रहनेवाले विब्वोकों (स्त्रियोंके विलास-विशेषों) से ('यह रमणीका मुख ही शोभ रहा है' ऐसा) निश्चय किया ।

विमर्श—स्त्रियोंकी युवावस्थामें उनके तीन अङ्गज, सात अयत्नज और अठारह स्वभावज इस प्रकार कुल अट्ठाइस अलंकार होते हैं, उनमेंसे इष्टवस्तुमें भी अत्यन्त गर्वके कारण अनादर करनेको 'विब्वोक' नामक स्वभावज अलङ्कार कहते हैं । (सा, द. ३।१२९, ३।१४३) वह 'विब्वोक' नामक अलंकार बकसहवासी (कमलों) का परोक्ष है, अर्थात् कमलोंमें होनेवाला नहीं है, स्त्रियोंमें होनेवाले उन 'विब्वोकों'के द्वारा 'यह स्त्रीका मुख ही है' ऐसा उस सन्देह करनेवाले पुरुषने निश्चित किया ॥ २९ ॥

अथ जलक्रीडासम्भारानाह—

शृङ्गाणि द्रुतकनकोज्ज्वलानि गन्धाः कौसुम्भं पृथुकुचकुम्भसङ्गिवासः ।
[1]मार्द्वीकं प्रियतमसन्निधानमासन्नारीणामिति जलकेलिसाधनानि ॥ ३० ॥

शृङ्गाणीति ॥ द्रुतेन तप्तनिषिक्तेन कनकेनोज्ज्वलानि । लिप्तानीत्यर्थः । शृङ्गाणि क्रीडाम्बुयन्त्राणि । 'शृङ्गं प्रभुत्वे शिखरे चिह्ने क्रीडाम्बुयन्त्रके' इति विश्वः । गन्धाश्चन्दनकुङ्कुमादिगन्धद्रव्याणि । अत एव पुंसि बहुत्वं च । 'गन्धस्तु सौरभे योगे गन्धके गर्वलेशयोः । स एव द्रव्यवचनो बहुत्वे पुंसि च स्मृतः ॥' इत्यभिधानात् । पृथु विशालं कुचकुम्भसङ्गि कुचावरणं कुसुम्भेन रक्तं कौसुम्भकम् । 'तेन रक्तं रागात्' (४।२।१) इत्यण् प्रत्ययः । वासो वस्त्रं मृद्वीकाया विकारो मार्द्वीकं द्राक्षामद्यम् । 'मृद्वीका गोस्तनी द्राक्षा' इत्यमरः । किञ्च प्रियतमसन्निधानम् । सर्वसाफल्यकारण-

१. 'माध्वीकम्' इति पा० ।

मिति भावः। इत्येतानि नारीणां जलकेलिसाधनानि जलक्रीडोपाया आसन्। उद्दीपकसम्पत्तिरुक्ता। अत्र शृङ्गादीनां केलिसाधनत्वस्वरूपतुल्यधर्मयोगात्प्रकृतत्वाच्च केवलप्रकृतगोचरा तुल्ययोगिता॥ ३०॥

(अब स्त्रियोंकी जलक्रीडाके साधनोंका वर्णन करते हैं) पिघलाये गये सुवर्णसे निर्मल अर्थात् सोनेकी कलई किये हुए शृङ्ग (पिचकारियाँ), गन्ध (चन्दन, कुङ्कुमादि सुगन्धयुक्त पदार्थ), स्तनकलश का आवरणभूत कुसुम्भसे रंगा हुआ मोटा (या—बड़ा) कपड़ा, दाखकी की बनी हुई मदिरा और प्रियतमका सामीप्य ये सब नारियोंके जलक्रीडा के साधन थे॥ ३०॥

उत्तुङ्गादनिलचलांशुकास्तटान्ताच्चेतोभिः सह भयदर्शिनां प्रियाणाम्।
श्रोणीभिर्गुरुभिरतूर्णमुत्पतन्त्यस्तोयेषु द्रुततरमङ्गना निपेतुः॥ ३१॥

उत्तुङ्गादिति॥ अनिलेन वेगानिलेन चलांशुकाश्चलद्वसना अङ्गना उत्तुंगात्तटान्ताद्भयदर्शिनां भयोत्प्रेक्षिणाम्। अनर्थाशङ्किनामित्यर्थः। प्रियाणां चेतोभिः सह। तेषां तत्रैवावधानादिति भावः। गुरुभिर्गुर्वीभिः। 'वोतो गुणवचनात्' (४।१।४४) इति विकल्पादनीकारः। श्रोणीभिर्हेतुना अतूर्णं मन्दमुत्पतन्त्यस्तोयेषु द्रुततरं निपेतुः। गुरुत्वस्य पतनहेतुत्वादुत्पतनविरोधित्वाच्च शीघ्रपातो मन्दोत्पतनं चेति भावः। अत्र प्रियचेतःपाताङ्गनापातयोः कार्यकारणयोरसहभाविनोः सहभावोक्तेः कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविध्वंसनरूपातिशयोक्त्युपजीविता सहोक्तिरलङ्कारः। 'सहार्थेनान्वयो यत्र भवेदतिशयोक्तितः। कल्पितौपम्यपर्यन्ता सा सहोक्तिरिहेष्यते॥' इति लक्षणात्। चेतोवत्पेतुरित्यौपम्यकल्पनया कार्यगताशुभावप्रतीतेश्चमत्कार इति रहस्यम्। तात्कालिकांशुकचलनादिसूक्ष्मस्वभावविशेषप्रकाशनात्स्वभावोक्तिश्चेति सङ्करः॥ ३१॥

(वेगजन्य) वायुसे उड़ते हुए वस्त्रवाली अङ्गनाएँ भय (अनर्थ) की आशङ्का करनेवाले प्रियतमोंके चित्तके साथमें, बड़े-बड़े नितम्ब होनेके कारण थोड़ा उछलती अर्थात् धीरे-धीरे दौड़ती हुई (जलाशयके) ऊँचे तटसे पानीमें कूद पड़ीं॥ ३१॥

मुग्धत्वादविदितकैतवप्रयोगा गच्छन्त्यः सपदि पराजयं तरुण्यः।
ताः कान्तैः सह करपुष्करेरिताम्बुव्यात्युक्षीमभिसरणग्लहामदीव्यन्॥ ३२॥

मुग्धत्वादिति॥ मुग्धत्वान्मूढत्वादविदिताः कैतवप्रयोगा मुखसेचनादिकपटाचरणानि याभिस्ताः, अतएव सपदि पराजयं गच्छन्त्यस्तास्तरुण्यः कान्तैः सहाभिसरणं स्वयमभिगमनं ग्लहो द्यूतं पणो यस्यास्ताम्। 'पणोऽक्षेषु ग्लहः' इत्यमरः, 'अक्षेषु ग्लहः' (३।३।७०) इति ग्रहेरेवाक्षपणे लत्वनिपातः। अप्प्रत्ययस्तु 'ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च' (३।३।५८) इत्येव सिद्ध इति केचित्। अन्ये तु ग्लहिं प्रकृत्यन्तरमङ्गीकृत्याप्प्रत्ययस्यैव निपातो घञपवादीत्याहुः। करपुष्करैः करकमलैरीरितैरम्बुभिर्या व्यात्युक्षी व्यतिहारेणोक्षणम्। परस्पराभ्युक्षणमित्यर्थः। 'कर्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्' (३।३।४३)

इति णच्प्रत्ययः। 'णचः स्त्रियामञ्' (५।४।१४) इति स्वार्थिकोऽञ्प्रत्ययः। 'टिड्ढाणञ्–' (४।१।१५) इत्यादिना ङीप्। तां व्यात्युक्षीमदीव्यन्। तया अक्रीडन्नित्यर्थः। 'दिवः कर्म च' (१।४।४३) इति विकल्पात्कर्मत्वम्। अत्राविदितकैतवप्रयोगस्य विशेषण-गत्या पराजयहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः॥ ३२॥

मुग्धा होनेसे कपट व्यवहारको नहीं जाननेवाली (अत एव) शीघ्र ही हारती हुई वे युवतियाँ स्वयं पतिके पास गमन करने दाव लगाकर परस्पर में करकमलसे पानी फेंकनेकी द्यूतक्रीडा कर रही थीं॥ ३२॥

योग्यस्य त्रिनयनलोचनानलार्चिर्निर्दग्धस्मरपृतनाधिराज्यलक्ष्म्याः।
कान्तायाः करकलशोद्यतैः पयोभिर्वक्त्रेन्दोरकृत महाभिषेकमेकः॥ ३३॥

योग्यस्येति॥ त्रिनयनस्त्र्यम्बकः। 'क्षुभ्नादिषु च' (८।४।३९) इति निषेधात् 'पूर्वपदात्संज्ञायाम्' (८।४।३) इति णत्वाभावः। तस्य लोचनानलार्चिषा निर्दग्धस्य स्मरस्य याः पृतनास्तासामाधिराज्यमाधिपत्यं तदेव लक्ष्मीस्तस्या योग्यास्यार्हस्य। त्रैलोक्यविजयिनः स्थाने तादृशस्यैव स्थाप्यत्वादिति भावः। कान्ताया वक्त्रेन्दोः। स्मरसखत्वादस्येति भावः। करावञ्जलिरेव कलशस्तेनोद्यतैरुत्क्षिप्तैः पयोभिर्महाभिषेकमेकः कश्चित्कामी अकृत कृतवान्। करोतेर्लुङि तङ्। 'तनादिभ्यस्तथासोः' (२।४।७९) इति सिचो लुक्। अत्र जलक्रीडासेके महाभिषेकत्वोत्प्रेक्षा प्रतीयमानकरकलशेति रूपकानुप्राणितेति सङ्करः॥ ३३॥

शिवजीके (तृतीय) नेत्रकी अग्निज्वालोंसे भस्म हुए कामदेवकी सेनाके स्वामित्वरूपिणी लक्ष्मीके योग्य, कान्ताके मुखरूपी चन्द्रमाका एक (किसी विलासी युवक) ने हाथरूपी कलशोंसे उठाये गये पानीसे (अत्यधिक सिञ्चनरूप) महाभिषेक किया॥३३॥

विमर्श—किसी प्रधान सेनापतिके नष्ट होनेपर दूसरे प्रधान सेनापतिका महाभिषेक होना उचित होनेसे शिवजी के तृतीयनेत्रकी अग्निज्वालासे भस्मीभूत कामदेवकी सेनाके राज्यलक्ष्मीके योग्य कान्तामुखचन्द्रका करकमलसे बार-बार सिञ्चनरूप महाभिषेक जो किसी विलासी युवकने किया, वह उचित ही था। क्योंकि त्रैलोक्यविजयी कामदेवके स्थानयोग्य कान्ताका मुखचन्द्र ही था। किसी विलासीने कान्ताके मुखपर बार-बार हाथसे पानी फेंका॥ ३३॥

सिञ्चन्त्याः कथमपि बाहुमुन्नमय्य प्रेयांसं मनसिजदुःखदुर्बलायाः।
सौवर्णं वलयमवागलत्कराग्राल्लावण्यश्रिय इव शेषमङ्गनायाः॥ ३४॥

सिञ्चन्त्या इति॥ मनसिजदुःखेन स्मरपीडया दुर्बलाया अत एव कथमपि बाहुमुन्नमय्योद्यम्य प्रेयांसं प्रियतमम्। 'प्रियस्थिर–' (६।४।१५७) इत्यादिना प्रादेशः। सिञ्चन्त्याः स्नपयन्त्या अङ्गनायाः कराग्रात् सौवर्णं हिरण्मयं वलयं कङ्कणम्। 'कङ्कणं वलयोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। लवणैव लावण्यं कान्तिविशेषः। चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे

ष्यञ्प्रत्ययः। 'लवणो रसरक्षोभिद्भेदेषु लवणा त्विषि' इति विश्वः। यद्वा—'मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा। प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥' तस्य श्रीः सम्पत् तस्याः शेषमतिरिक्तम्। शरीरसम्पदवशिष्टमिति यावत्। 'शेषः सङ्कर्षणेऽनन्त उपयुक्तेतरेऽन्यवत्' इति विश्वः। तदिवावागलदपतत्। शेषमिति गुणनिमित्तजातिस्वरूपोत्प्रेक्षा॥ ३४॥

कामपीडासे दुर्बल (अत एव) किसी प्रकार अर्थात् अत्यन्त कष्टपूर्वक हाथ उठाकर पतिको सींचती (पतिके ऊपर पानी फेंकती) हुई रमणीके हस्ताग्रसे सौन्दर्य-लक्ष्मीके अवशिष्ट (शरीरमें नहीं अटनेसे बचकर बाहर निकलते हुए) भागके समान सोनेका कङ्कण गिर पड़ा॥ ३४॥

स्निह्यन्ती[1] दृशमपरा निधाय पूर्णं मूर्तेन प्रणयरसेन वारिणेव।
कन्दर्पप्रवणमनाः सखीसिसिक्षालक्ष्येण[2] प्रतियुवमञ्जलिं चकार॥ ३५॥

स्निह्यन्तीति। कन्दर्पप्रवणमनाः स्मरपरवशचित्ता अत एव दृशं निधाय पुंस्येव दृष्टिं कृत्वा स्निह्यन्ती। दृष्टिविशेषेण स्नेहं प्रकाशयन्तीत्यर्थः। अपरा स्त्री सख्याः सिसिक्षा सेक्तुमिच्छा तस्या लक्ष्येण व्याजेन बद्धाञ्जलिरेव तिष्ठन्ती न तु सिञ्चन्तीति द्योतनाय सिसिक्षेतीच्छायां सनः प्रयोगः। प्रतियुवं युवानं प्रति। 'अनश्च' (५।४।१०८) इत्यव्ययीभावे समासान्तः। मूर्तेन मूर्तिमता प्रणयरसेनेवेत्युत्प्रेक्षा। पाठादर्थस्य बलीयस्त्वादिवशब्दस्य व्यवहितेनान्वयः। वारिणा पूर्णमञ्जलिं चकार। प्रार्थयामासेत्यर्थः॥ ३५॥

काम पराधीन चित्तवाली (अत एव) देखनेसे प्रेमको प्रकट करती हुई किसी रमणीने सखीको सींचनेके कपटसे मानो मूर्तिमान् प्रेमरसके समान पानीसे युवकके प्रति अञ्जलिको पूर्ण कर लिया अर्थात् अञ्जलिमें पानी भरकर युवकके सम्मुख स्थित हो गयी॥ ३५॥

आनन्दं दधति मुखे करोदकेन श्यामाया दयिततमेन सिच्यमाने।
ईर्ष्यन्त्या वदनमसिक्तमप्यनल्पस्वेदाम्बुस्नपितमजायतेतरस्याः[3]॥ ३६॥

आनन्दमिति॥ आनन्दं दधति प्रियसम्भावनया हर्षं दधाने श्यामाया मध्यमयौवनायाः स्त्रियः। 'श्यामा यौवनमध्यस्था' इत्युत्पलः। मुखे वदने दयिततमेन अतिशयेन दयितः प्रियः। अतिशये तमप्प्रत्ययः। तेन कर्त्रा करोदकेनाञ्जलिजलेन सिच्यमाने सति ईर्ष्यन्त्या असहमानायाः। 'परोत्कर्षाक्षमेर्ष्या स्यात्' इति लक्षणात्। इतरस्याः सपत्न्या वदनमसिक्तमपि। प्रियेणेति शेषः। अनल्पेन स्वेदाम्बुना स्नपितं सिक्तमजायताभवत्। ईर्ष्याकृतकोपकार्यत्वात् स्वेदादीनामिति भावः। असिक्तमपि सिक्तमिति विरोधः। तस्य स्वेदाख्यकारणोक्तेराभासत्वम्॥ ३६॥

प्रियतमके हाथके जलसे सींचे जानेके कारण मध्यम यौवनवाली रमणीके मुखके आनन्दित होते रहनेपर (उसे सहन नहीं करनेवाली) दूसरी नायिका (सपत्नी) का

---

१. 'स्निह्यन्तीम्' इति पा०। २. '—व्याजेन' इति पा०। ३. 'स्वेदाम्भः—' इति पा०।

(पतिके द्वारा) नहीं सींचा गया भी मुख अत्यधिक पसीनेसे सिक्त हो गया अर्थात् क्रोधके कारण उत्पन्न अत्यधिक पसीनेसे भींग गया ॥ ३६ ॥

उद्वीक्ष्य प्रियकरकुड्मलापविद्धैर्वक्षोजद्वयमभिषिक्तमन्यनार्याः ।
अम्भोभिर्मुहुरसिचद्वधूरमर्षादात्मीयं पृथुतरनेत्रयुग्ममुक्तैः ॥ ३७ ॥

उद्वीक्ष्येति ॥ प्रियस्य करकुड्मलाभ्यां पाणिपुटाभ्यामपविद्धैः सिक्तैरम्भोभिरभिषिक्तम् । अन्यनार्याः सपत्न्या वक्षोजद्वयमुद्वीक्ष्य वधूर्नायिका अमर्षादीर्ष्याकृतकोपादात्मीयं वक्षोजद्वयं पृथुतरेण नेत्रयुग्मेन मुक्तैरम्भोभिर्बाष्पैर्मुहुरसिचदभिषिक्तवती । तन्मत्सराद्विवेति भावः । अतो वस्तुनालङ्कारध्वनिः । 'लिपिसिचिह्वश्च' (३।१।५३) इति सिञ्चतेर्लुङि च्लेरङादेशः ॥ ३७ ॥

पतिके हाथकी अञ्जलिसे फेंके गये पानीसे सींचे गये दूसरी स्त्री अर्थात् सपत्नी के दोनों स्तनोंको देखकर (उसे नहीं सहन करनेवाली) रमणीने क्रोधसे बड़े-बड़े दोनों नेत्रोंसे गिराये गये जल अर्थात् आँसुओंसे अपने दोनों स्तनों को सींचने लगी । (सपत्नीपर पतिका प्रेम देखकर इतना रोने लगी कि आँसूसे उसके दोनों स्तन भींग गये) ॥ ३७ ॥

कुर्वद्भिर्मुखरुचिमुज्ज्वलामजस्रं यैस्तोयैरसिचत वल्लभां विलासी ।
तैरेव प्रतियुवतेरकारि दूरात्कालुष्यं शशधरदीधितिच्छटाच्छैः ॥ ३८ ॥

कुर्वद्भिरिति ॥ मुखरुचिं मुखकान्तिं उज्ज्वलां कुर्वद्भिर्यैस्तोयैर्विलासी विलसनशीलः कामी । 'वौ कषलस-' (३।२।१४३) इत्यादिना घिनुण्प्रत्ययः । वल्लभामजस्रमसिचत सिक्तवान् । स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम् । 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' (३।१।५४) इति सिञ्चतेर्लुङि च्लेरङादेशः । शशधरदीधितिच्छटाच्छैः शशिकरनिकरस्वच्छैः तैरेव तोयैर्दूरात्प्रतियुवतेः सपत्न्याः कालुष्यमाविलत्वं वैवर्ण्यं चाकारि । स्वच्छतोयैः कालुष्यं कृतमिति विरुद्धकार्योत्पत्तिरूपो विषमभेदः । तच्चान्यत्रेत्यसंगतिः । वैवर्ण्यकालुष्ययोरभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिस्तदुत्थापितेति संकरः ॥३८॥

विलासी (कामी पुरुष) ने (रमणीकी) मुखकान्तिको (हर्षातिशयके कारण) निर्मल करनेवाले जिस जलसे प्रियाको सींचा, चन्द्रकिरणके समान स्वच्छ उस जलने सपत्नीके मुखकी कान्तिको दूरसे ही कलुषित (मलिन—शोभाहीन अर्थात् काला) कर दिया ॥

रागान्धीकृतनयनेन नामधेयव्यत्यासादभिमुखमीरितः प्रियेण ।
मानिन्या वपुषि पतन्निसर्गम[1]न्दो भिन्दानो हृदयमसाहि नोदवज्रः ॥३९॥

रागेति ॥ रागेण विपक्षानुरागेणान्धीकृतनयनेन प्रियेण नामधेयव्यत्यासाद्विपक्षनामपूर्वकमभिमुखमीरितः क्षिप्तो वपुषि पतन्निसर्गमन्दः स्वभावजडः तथापि हृदयं भिन्दानो विदारयन्नुदकमेव वज्रोऽशनिरुदवज्रः । 'मन्थौदन-' (६।३।६०) इत्या-

१. '—मन्दे' इति पा० ।

दिना विकल्पादुदादेशः। मानिन्या विपक्षनामग्रहणजनितकोपवत्या नायिकया नासाहि न सोढः। तीक्ष्णयोगादतीक्ष्णमपि तीक्ष्णं भवतीति भावः। उदवज्र इति केवलनिरवयवरूपकम् ॥ ३९ ॥

(सपत्नी-विषयक) स्नेहसे अन्धे बने हुए प्रियतमके द्वारा नाम-परिवर्तनसे अर्थात् सपत्नीके ही नामका उच्चारण कर सामने फेंके गये तथा मानिनीके शरीरपर गिरते हुए स्वभावसे ही जड (शिथिल-मृदु) होनेपर भी हृदयको विदीर्ण करते हुए जलरूपी वज्रको मानिनी रमणी सह नहीं सकी।

विमर्श—पति दूसरी रमणीमें अनुरक्त होनेसे उसे ही सर्वत्र देख रहा था, अत एव उसने दूसरी रमणीके ऊपर पानी फेंकते समय भी धोखेसे इसीका नाम लिया, अत एव मानिनी दूसरी रमणीके ऊपर गिरता हुआ धीरेसे फेंका गया मृदु प्रकृति भी वह जल इसे (दूसरी रमणीको) वज्रके समान असह्य हो गया। तीक्ष्ण के संसर्गसे मन्द भी तीक्ष्ण हो जाता है, अत एव सपत्नीका नामाक्षर होनेसे उस पति द्वारा कथित असह्य वचनके संसर्गसे पानी भी वज्रवत् असह्य हो गया ॥ ३९ ॥

प्रेम्णोरः प्रणयिनि सिञ्चति प्रियायाः [1]संतापं नवजलविप्रुषो गृहीत्वा।
उद्धूताः कठिनकुचस्थलाभिघातादासन्नां भृशमपराङ्गनामधाक्षुः ॥४०॥

प्रेम्णेति। प्रणयिनि प्रेम्णा प्रियाया उरः सिञ्चति सति कठिनकुचस्थलाभिघातादुद्धूता उत्पतिता नवजलस्य विप्रुषो बिन्दवः। 'पृषन्ति बिन्दुपृषताः पुमांसो विप्रुषः स्त्रियाम्' इत्यमरः। तस्याः सिक्तायाः संतापं गृहीत्वा आदायासन्नां समीपस्थामपराङ्गनां सपत्नीं भृशमधाक्षुः सन्तापयन्ति स्म। दहतेर्लुङि 'वदव्रज—' (७।२।३) इत्यादिना सिचि वृद्धिः घत्वादिकार्यम्। तत्सेकादेवापरस्याः तापोद्यात्तत्तापस्यैवात्राधानमुत्प्रेक्ष्यते। सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ४० ॥

पतिके प्रियाके वक्षःस्थलको अनुरागपूर्वक सींचते रहनेपर कठोर स्तनोंपर पड़नेसे उछली हुई पानीको बूँदे (उस सींची गयी) प्रियाके सन्तापको ग्रहणकर मानो समीपस्थ दूसरी रमणी (सपत्नी) को जलाने लगी अर्थात् प्रेमपूर्वक पतिके द्वारा वक्षःस्थलके सींचनेपर उसका सन्ताप तो दूर हो गया, किन्तु उस सेकक्रियाको देखकर ईर्ष्यासे उसकी सपत्नी सन्तप्त होने लगी ॥ ४० ॥

संक्रान्तं प्रियतमवक्षसोऽङ्गरागं साध्वस्याः सरसि हरिष्यतेऽधुनाम्भः।
दृष्ट्वैवं सपदि हृतेऽपि तत्र तेपे कस्याश्चित्स्फुटनखलक्ष्मणः सपत्न्या ॥

संक्रान्तमिति॥ प्रियतमवक्षसः सकाशात् संक्रान्तं गाढालिङ्गनात्कुचतटलग्नमस्याः सिक्ताया अङ्गरागमधुनैव सरसि अम्भः कर्तृ। साधु निःशेषं हरिष्यते प्रमा-

---

१. 'तत्तापम्' इति पा०।

चर्यति एवं बुद्ध्वा इति बुद्ध्वा सपदि तत्र तस्मिन्नङ्गरागे हृतेऽपि स्फुटनखलक्ष्मणो व्यक्तनखचिह्नायाः कस्याश्चिन्नायिकायाः सम्बन्धिनि सपत्न्या तेपे तप्तम्। भावे लिट्। तदिदमातपार्तस्य छायामन्विष्यतो दारुणदवदहनवेष्टनं यदङ्गरागमेव द्रष्टुमक्षमाया नखक्षतसाक्षात्कार इति। अत्र सन्तापशान्त्यर्थेन विपक्षाङ्गनागरागक्षालनेन तद्विरुद्धसन्तापोत्पादनाद्विरुद्धकार्योत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः॥ ४१॥

प्रियतमके शरीरमें (गाढालिङ्गन करनेपर) लगे हुए इसके (स्तनादिपर लगाये गये कुङ्कुम-चन्दनादिके) लेपको नदीमें यह पानी इस समय अच्छी तरह धो डालेगा, यह समझकर उस लेप (कुङ्कुम-चन्दनादि अङ्गरागके) के धुल जानेपर भी (उसके धुल जानेसे) जिसके शरीरपर (पतिकृत) नखक्षत स्पष्ट दीख रहा है, ऐसी किसी नायिकाकी सपत्नी अत्यन्त सन्तप्त हुई अर्थात् धूपसे सन्तप्त होकर उसकी शान्तिके लिए छायाका आश्रय चाहते हुए पुरुषको दावानलके पानेसे जैसा कष्ट होता है, वैसा ही कष्ट उसकी सपत्नीको हुआ॥

हूतायाः प्रतिसखिकामिनान्यनाम्ना ह्रीमत्याः सरसि गलन्मुखेन्दुकान्तेः।
अन्तर्धिं द्रुतमिव कर्तुमश्रुवर्षैर्भूमानं गमयितुमीषिरे पयांसि॥ ४२॥

हूताया इति॥ प्रतिसखि सख्याः समीपे। सखीसमक्षमित्यर्थः। समीपार्थेऽव्ययीभावे नपुंसकत्वह्रस्वत्वे। कामिना प्रियेणान्यस्याः नाम्ना अन्यनाम्ना सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः। हूताया अत एव गलन्मुखेन्दुकान्तेः ह्रीमत्या लज्जितायाश्च। कस्याश्चिदिति शेषः। सरसि द्रुतं शीघ्रमन्तर्धिमन्तर्धानम्। अदन्तरोरुपसर्गवद्वृत्तिवचनात् 'उपसर्गे घोः किः' (३।३।९२) इति किप्रत्ययः। 'कर्तुमश्रुवर्षैः कर्तृभिः पयांसि सरोजलानि भूमानं गमयितुं वृद्धिं प्रापयितुम्। 'गतिबुद्धि-' (१।४।५२) इत्यादिना अणिकर्तुः कर्मत्वं प्राधान्यादभिधानं च। ईषिरे इव इष्टानि किमु इत्युत्प्रेक्षेयमश्रुपातनिमित्ता। तथा मरणदुःखादपि दुःसहं सपत्न्या दुःखमिति वस्तुध्वनिः॥ ४२॥

सखीके सामने दूसरी अर्थात् सपत्नीका नाम लेकर बुलायी गयी अत एव लज्जित तथा क्षीण मुखकान्तिवाली किसी नायिकाके आँसुओंकी वृष्टियोंने जलाशयमें शीघ्र ही अन्तर्धान करनेके लिए मानो (जलाशयके) जलको बढ़ानेके लिए इच्छा की अर्थात् सपत्नीका नाम लेकर पतिके द्वारा बुलाये जानेपर लज्जित तथा क्षीण मुखकान्तिवाली रमणीका बहुत रोना ऐसा ज्ञात होता था कि उसके अश्रुबिन्दु पानीमें डुबकी लगाकर (गिरकर) मानो उस पानीको बढ़ानेकी इच्छा कर रहे हों॥ ४२॥

सिक्तायाः[1] क्षणमभिषिच्य पूर्वमन्यामन्यस्याः प्रणयवता बताबलायाः।
कालिम्ना समधित मन्युरेव वक्त्रं प्रापाद्यणोर्गलदपशब्दमञ्जनाम्भः॥

सिक्ताया इति॥ प्रणयवता प्रियेण क्षणं पूर्वमन्यां सपत्नीमभिषिच्य पश्चात् सिक्ताया अन्यस्या अबलायाः स्त्रिया वक्त्रं कर्म मन्युः कोप एव कर्ता। कालिम्ना

१. 'क्षणमवसिच्य' इति पा०।

कार्ष्ण्येन । वैवर्ण्येन सहेति यावत् । समधित सन्दधे । वतेति खेदे । सम्पूर्वाद्धातेः कर्तरि लुङि तङ् 'स्थाघ्वोरिच्च' (१।२।१७) इतीकारः । सिचः कित्वान्न गुणः । 'ह्रस्वादङ्गात्' (८।२।२७) इति सकारलोपः । गलत्स्रवदश्रुणोः सम्बन्धि अञ्जनाम्भः कज्जलोदकमपशब्दं वर्णस्यापवादं प्राप । कोपकालिमतिरोधानेन स्वकालिम्न एव प्रकाशनादिति भावः । पूर्वेण वाक्यार्थेनोत्तरवाक्यार्थसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्य- लिङ्गम् ॥ ४३ ॥

खेद है कि पतिने थोड़ी देर तक सपत्नीका सिञ्चन कर बादमें दूसरी नायिकाका सिञ्चन किया, अत एव उस नायिकाके क्रोधने ही उसके मुखको (श्रीहीन होनेसे) श्याम- वर्ण कर दिया, किन्तु (दुःखके कारण रोनेसे) गिरते हुए काजलसे मिश्रित आँसूने निन्दा को प्राप्त किया अर्थात् पति पर क्रुद्ध होनेसे नायिकाका मुख मलिन हो गया, किन्तु 'दुःख से रोनेपर गिरते हुए कज्जलयुक्त आँसूसे उसका मुख मलिन हुआ है' इस प्रकार कज्जल- युक्त आँसूको उसके मुखको मलिन करनेका अपयश मिला ॥ ४३ ॥

उद्वोढुं कनकविभूषणान्यशक्तः सध्रीचा वलयितपद्मनालसूत्रः ।
आरूढप्रतिवनिताकटाक्षभारः साधीयो गुरुरभवद्भुजस्तरुण्याः ॥ ४४ ॥

उद्वोढुमिति ॥ कनकविभूषणान्युद्वोढुमशक्तः । सौकुमार्यादिति भावः । अत एव सहाञ्चतीति सध्र्यङ् तेन सहचरेण कर्त्रा । ऋत्विगादिना क्विन्प्रत्ययः । 'सहस्य सध्रिः' (६।३।९५) इति सहशब्दस्य सध्र्यादेशः । 'अनिदिताम्–' (६।४।२४) इति नकारलोपः, 'अचः' (६।४।१३८) इत्यकारलोपे 'चौ' (६।३।१३८) इति दीर्घः । वलयितानि वलयीकृतानि पद्मनालसूत्राणि मृणालतन्तवो यस्य सः । मृणालकृत- कङ्कण इत्यर्थः । तथापि आरूढ आरूढवान् प्रतिवनितायाः सपत्न्याः कटाक्ष एव भारो यस्य सः । तया सासूयं दृष्ट इत्यर्थः । अत एव तरुण्या भुजो बाहुः साधीयो बाढतरमिति क्रियाविशेषणम् । 'अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ' (५।३।६३) इति बाढ- शब्दस्य साधादेशः । गुरुर्भारवान् , श्लाघ्यश्चाभवत् । अत्र कनकभूषणाभावेऽपि तत्कार्यगुरुत्ववर्णनाद्विभावना, सा च गुरुरिति श्लेषप्रतिभोत्थापितातिशयोक्त्यनु- प्राणितेति सङ्करः ॥ ४४ ॥

(सौकुमार्यके कारण) सुवर्णके भूषणोंको ढोनेमें असमर्थ तथा सहचर (प्रिय) द्वारा पहनाये गये मृणालके कङ्कणसे युक्त (अतएव) सपत्नीके कटाक्ष भारसे बोझल युवतीका बाहु सम्यक् प्रकारसे भारयुक्त (पक्षान्तरमें—गौरवान्वित) हो गया ॥ ४४ ॥

आबद्धप्रचुरपरार्ध्यकिंकिणीको रामाणामनवरतोदगाहभाजाम् ।
नारावं व्यतनुत मेखलाकलापः कस्मिन्वा सजलगुणे गिरां पटुत्वम् ॥

आबद्धेति ॥ उदकस्य गाहोऽवगाहनं उदगाहः । 'मन्थौदन–' (६।३।६०) इत्या- दिनोदादेशः । तमनवरतं भजन्ति यास्तासामनवरतोदगाहभाजां रामाणां स्त्रीणां सम्बन्धी आबद्धाः प्रोताः प्रचुरा भूयिष्ठाः परार्ध्याः श्रेष्ठाश्च किङ्किण्यो यस्मिन् स

तथोक्तः। 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इति कप्। मेखलाकलाप आरावं ध्वनिं न व्यतनुत। तथा हि—जलेन सह सजलो जलार्द्रो गुणः सूत्रं यस्य सः। तथा डलयोरभेदाज्जडगुणो जडधर्मो जाड्यं तेन सहेति सजडगुणो जडश्च तस्मिन् कस्मिन्वा मेखलाकलापे पुंसि वा गिरां वाचां, ध्वनीनां च पटुत्वं सामर्थ्यम्। न कुत्रापीत्यर्थः। श्लेषमूलाभेदातिशयोक्त्यनुप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यासः ॥ ४५ ॥

सतत जलक्रीडामें संलग्न सुन्दरियोंकी बहुतसे बहुमूल्य घुंघुरुओंवाली करधनी ध्वनि नहीं करती थी अर्थात् नहीं बजती थी, क्योंकि जलयुक्त (भीगे) सूतवाली किस (करधनी) में ध्वनि करनेकी पक्षा०—जडतायुक्त गुणवाले किस (पुरुष) में (बोलनेकी) शक्ति रहती है ? अर्थात् किसीमें नहीं ॥ ४५ ॥

पर्यच्छे सरसि हृतेंऽशुके पयोभिर्लोलाक्षे सुरतगुरावपत्रपिष्णोः।
सुश्रोण्या दलवसनेन वीचिहस्तन्यस्तेन द्रुतमकृताब्जिनी सखीत्वम् ॥

पर्यच्छ इति ॥ परि परितोऽच्छं स्वच्छम्। अन्तर्गतवस्त्वतिरोधायकमित्यर्थः। तस्मिन् सरसि पयोभिरंशुके स्त्रीपरिधाने हृते स्थानादपसरिते सति सुरतगुरौ रमणे च लोलाक्षे। श्रोण्यासक्तदृष्टौ सतीत्यर्थः। 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः। 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' (५।४।११३) अपत्रपिष्णोरपत्रपमाणायाः। 'लज्जा सापत्रपान्यतः' इत्यमरः। 'अलंकृञ्-' (३।२।१३६) इत्यादिना इष्णुच्प्रत्ययः। सुश्रोण्याः प्रियायाः प्रस्तुतोचितनिर्देशोऽयम्। अब्जिनी नलिनी द्रुतं वीचिरेव हस्तस्तेन न्यस्तेन दलं पर्णमेव वसनं तेन। तद्दानेनेत्यर्थः। सखीत्वमकृत। सखीकृत्यं चकारेत्यर्थः। अत्राब्जिन्यादिषु सखीत्वाद्यारोपात् समस्तवस्तुवृत्ति सावयवरूपकम् ॥४६॥

अत्यन्त निर्मल जलाशयमें पानीके द्वारा (रमणीके) कपड़ेको हटाये जानेपर और पतिके (उस वस्त्रहीन अङ्ग—श्रोणिभागको देखनेके लिए) चञ्चल नेत्र होने पर अर्थात् उसकी श्रोणिको देखने लगने पर लज्जित हुई सुन्दर श्रोणि (नितम्ब) वाली रमणीके वस्त्रहीन अङ्गको अतिशीघ्र तरङ्गरूपी हाथसे रखे गये कमलपत्ररूपी कपड़ेसे ढककर कमलिनीने सखीत्व (सहेलीका भाव—या कार्य) किया ॥ ४६ ॥

नारीभिर्गुरुजघनस्थलाहतानामास्यश्रीविजितविकासिवारिजानाम्।
लोलत्वादपहरतां तदङ्गरागं सञ्जज्ञे स कलुष आशयो जलानाम् ॥ ४७ ॥

नारीभिरिति। नारीभिः कर्त्रीभिः गुरुजघनस्थलैराहतानाम् आस्यश्रीभिर्मुखशोभाभिर्विजितानि विकासीनि वारिजानि पद्मानि येषां तेषां लोलत्वाच्चलत्वात्सतृष्णत्वाच्च। 'लोलश्चलसतृष्णयोः' इत्यमरः। तासामङ्गरागमपहरतां चालयतां च जलानां तोयानां जडानां च स आशयो ह्रदो हृदयं च कलुषोऽप्रसन्नः क्षुभितश्च संजज्ञे संजातः। अपहर्तुस्ताडनस्वहरणादिभिराशयः कलुषो भवतीति ध्वनिः। अभिधायाः प्रकृतार्थे नियन्त्रणान्न श्लेषः ॥ ४७ ॥

रमणियोंके द्वारा बड़े-बड़े जघनस्थलोंसे अभिहत, मुखकी कान्तिसे पराजित हुए विकसित कमलोंवाले तथा चञ्चल होनेसे उन (रमणियों) के अङ्गराग (वक्षःस्थलादिपर लगाये गये कुङ्कुम-चन्दनादिके लेप) का अपहरण करते (धोते, पक्षा०—दूर करते) हुए वह जलोंका आशय (तडाग, पक्षा०—मूर्खोंका हृदय) मलिन (पक्षा०-क्षुब्ध) हो गया ॥

सौगन्ध्यं दधदपि काममङ्गनानां दूरत्वाद्गतमहमाननोपमानम् ।
नेदीयो जितमिति लज्जयेव तासामालोले पयसि महोत्पलं ममज्ज ॥४८॥

सौगन्ध्यमिति ॥ कामं पर्याप्तं सौगन्ध्यं सुरभिगन्धित्वं सम्बन्धित्वं च । 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धिगर्वयोः' इति विश्वः । दधदपि अहं दूरत्वात् पूर्वं दूरस्थत्वादङ्गनानामाननोपमानं मुखसादृश्यं गतम् । 'दूरस्थाः पर्वता रम्याः' इतिवदिति भावः । सम्प्रति पुनस्तासां नेदीयो नेदिष्ठमन्तिकतमं सत् । 'अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ' (५।३।६३) इत्यन्तिकशब्दस्य नेदादेशः । जितं परिभूतमभूवमिति लज्जयेव महोत्पलमरविन्दम् आलोले चले पयसि ममज्ज । यथा 'दूरे साम्येन दृश्यमानः सम्बन्धी सन्निधाववमानितः क्वचिल्लज्जया निलीयते तद्वदिति । अत्र पयश्चलनकृतेऽब्जमज्जने लज्जाहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यत इति श्लेषमूलातिशयोक्तिहेतूत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥

सम्यक् प्रकारसे सौरभ (पक्षा०—सम्बन्ध) को धारण करता हुआ भी दूरस्थ होनेसे (रमणियोंके) मुखकी समानताको प्राप्त हुआ मैं उन [रमणियों] के अत्यन्त समीपमें होकर पराजित हो गया, मानो ऐसी लज्जासे महोत्पल चञ्चल पानीमें डूब गया ।

विमर्श—लोकमें भी दूरसे किसीके समान मालूम पड़ता हुआ व्यक्ति समीपमें उसके समान नहीं होनेसे लज्जित होकर कहीं छिप जाता है, वैसे ही मानो कमलने किया ॥४८॥

प्रभ्रष्टैः सरभसमम्भसोऽवगाहक्रीडाभिर्विदलितयूथिकापिशङ्गैः ।
आकल्पैः[1] सरसि हिरण्मयैर्वधूनामौर्वाग्निद्युतिशकलैरिव व्यराजि ॥ ४९ ॥

प्रभ्रष्टैरिति ॥ सरभसं सत्वरम् अम्भसोऽवगाहा एव क्रीडास्ताभिः प्रभ्रष्टैर्जलावगाहक्षोभादम्भसि च्युतैर्विदलिता विकसिता यूथिकाः पीतयूथिका हेमपुष्पिकापरपर्याया विवक्षिताः, अन्यथा पिशङ्गत्वायोगात् । 'गणिका यूथिकाम्बष्ठा सा पीता हेमपुष्पिका' इत्यमरः । तद्वत्पिशङ्गैर्हिरण्मयैः सौवर्णैः । 'दाण्डिनायन—' (६।४।१७४) इत्यादिना निपातः । वधूनामाकल्पैर्भूषणैः सरसि और्वाग्निद्युतिशकलैर्जलाशयत्वादत्रापि सन्निहितैर्वडवानलज्वालाखण्डैरिवेत्युत्प्रेक्षा । व्यराजि विराजितम् । भावे लुङ् ।

वेगपूर्वक पानीमें अवगाहनरूप क्रीडाओंसे गिरे हुए, विकसित पीले फूलवाली जूहीके समान पीले वर्णवाले सुवर्णके बने हुए स्त्रियोंके आभूषण तडागमें वड़वाग्निकी ज्वालाके खण्डोंके समान शोभते थे ॥ ४९ ॥

---

१. 'आबन्ध्यैः' इति पा० ।

आस्माकी युवतिदृशामसौ तनोति च्छायेव श्रियमनपायिनीं किमेभिः ।
मत्वैवं स्वगुणपिधानसाभ्यसूयैः पानीयैरिति विदधाविरेऽञ्जनानि ॥ ५० ॥

आस्माकीति ॥ अस्माकमियमास्माकी अस्मदीया । अस्मत्कारितेत्यर्थः । 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च' (४।३।१) इति चकारादण्प्रत्ययः । तस्मिन्नणि च 'युष्माकास्माकौ' (४।३।२) इति प्रकृतेरस्माकादेशः, 'टिड्ढाणञ्–' (४।१।१५) इत्यादिना ङीप् । असौ छाया कान्तिः । विमलेति यावत् । सैव युवतिदृशामनपायिनीं स्थायिनीं श्रियं तनोति एभिरञ्जनैः किमेतत्साध्यम् । न किंचिदस्तीत्यर्थः । गम्यमानसाधनापेक्षया करणत्वात्तृतीयेत्युक्तं प्राक् । एवं मत्वा । उक्तप्रकारेणाञ्जनवैफल्यं निश्चित्येत्यर्थः । अत एव गम्योत्प्रेक्षेयम् । स्वगुणस्य स्वाविष्कृतदृङ्नैर्मल्यगुणस्य पिधानं तिरोधानम् । 'अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानि च' इत्यमरः । 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यकारलोपः । तेन साभ्यसूयैः सेर्ष्यैः पातुमर्हैः पानीयैः । 'अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशम्बरम्' इत्यमरः । 'तव्यत्तव्यानीयरः' (३।१।९६) इति पिबतेरनीयर्प्रत्ययः । अञ्जनानि कज्जलानि इति अनेन स्वगुणप्रकाशनयोग्यतया विवक्षितेन प्रकारेण । निःशेषस्वरूपेणेत्यर्थः । विदधाविरे विधौतानि । क्षालितानीत्यर्थः । 'धावु गतिशुद्धयोः' इति धातोः कर्मणि लिट् ॥ ५० ॥

हमारी निर्मल कान्ति ही इन युवतियोंके नेत्रोंकी स्थिर शोभाको बढ़ा रही है, फिर इन (कज्जलों) से क्या लाभ ? अर्थात् कुछ नहीं, मानो ऐसा मानकर अपने (निर्मलस्वरूप) गुणको छिपानेसे ईर्ष्यालु जलने (रमणियोंके नेत्रोंमें लगे हुए) अञ्जनोंको अच्छी तरह धो डाला ॥ ५० ॥

निर्धौते सति हरिचन्दने जलौघैरापाण्डोर्गतपरभागयाङ्गनायाः ।
अह्राय स्तनकलशद्वयादुपेये विच्छेदः सहृदययेव हारयष्ट्या ॥ ५१ ॥

निर्धौत इति ॥ हरिचन्दने रक्तचन्दने जलौघैर्निर्धौते क्षालिते सति । धावेः कर्मणि क्तः । 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (६।४।१९) इति वकारस्योठादेशः । 'एत्येधत्यूठ्सु' (६।१।८९) इति वृद्धिरौकारः । आपाण्डोः पाण्डुवर्णादङ्गनायाः स्तनकलशद्वयात् गतपरभागया सावर्ण्याद्विगतवर्णोत्कर्षया । अत एव सामान्यालङ्कारः 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् । हारयष्ट्या कर्त्र्या सहृदयया सचित्तयेवेत्युत्प्रेक्षा । निजपरभागहानिपरिज्ञानवत्येवेत्यर्थः । अह्राय सपदि । 'स्राक्झटित्यञ्जसाह्नाय द्राङ्मङ्क्षु सपदि द्रुते' इत्यमरः । विच्छेदस्त्रुटनमुपेये प्राप्तः । हीनजीवनाज्जीवनमेव वरमिति भावः । उपपूर्वादिणः कर्मणि लिट् । विक्षोभहेतुकस्य हारविच्छेदस्य सहृदयहेतुकत्वोत्प्रेक्षा सा चोक्तसामान्योत्थापितेति संकरः ॥ ५१ ॥

रमणियोंके वक्षःस्थलपर लगे हुए हरिचन्दन लेपके पानीसे धोये जानेपर रमणियोंके

निर्मल दोनों स्तनकलशोंसे कम पड़े हुए गुणाधिक्यवाला मुक्ताहार मानो सहृदयके समान झट टूट गया।

विमर्श—रमणियोंका वक्षःस्थल स्वभावतः हारसे भी अधिक निर्मल था, किन्तु चन्दन लेप लगानेसे उक्त वक्षःस्थलकी अपेक्षा मुक्ताहार ही अधिक निर्मल हो रहा था। जब जल-क्रीडा करनेसे पानीसे चन्दनलेप धुल गया, तब पुनः स्वभावतः अधिक निर्मल वक्षःस्थल की अपेक्षा मुक्ताहारकी निर्मलता मन्द पड़ गयी और मानो सहृदय (अपने श्रेष्ठ गुणकी हानि को समझनेवाले) पुरुषके समान वह हार टूट गया ॥ ५१ ॥

अन्यूनं गुणममृतस्य धारयन्ती सम्फुल्लस्फुरितसरोरुहावतंसा।
प्रेयोभिः सह सरसी निषेव्यमाणा रक्तत्वं व्यधित वधूदृशां सुरा[1] च ॥

अन्यूनमिति ॥ अन्यूनं समग्रममृतस्य पीयूषस्य गुणं माधुर्यादिकं धारयन्ती। 'अगन्धमव्यक्तरसं शीतलं च तृषापहम्। अच्छं लघु च पथ्यं च तोयं गुणवदुच्यते ॥' इति (सुश्रुते सू० स्था० अ० ४५), उक्तोदकगुणं च धारयन्ती सरसी। पक्षे 'अमृतं यज्ञशेषे स्यात्पीयूषे सलिले ध्रुवम्' इति विश्वः। सम्फुल्लानि विकचानि। उत्फुल्ल-सम्फुल्लयोरुपसंख्यानान्निष्ठातस्य लत्वम्। स्फुरितान्युज्ज्वलानि च यानि सरोरुहा-ण्येकत्र सहजानि, अन्यत्र संस्कारार्थं क्षिप्तानि तान्यवतंसो भूषणं यस्याः सा तथो-क्ता। प्रेयोभिः सह निषेव्यमाणा। स्नानपानाभ्यामिति भावः। सरसी पुष्करिणी वधूदृशां रक्तत्वमारुण्यं व्यधित विधत्ते स्म। तथा सुरा च। व्यधितेति धाञः कर्तरि लुङि तङ्। इष्टोत्साहवर्धनाय मुहुः सेव्यत्वात् 'स्रक्षाणि–'(८।३०) इति श्लोके सलि-लक्रीडासम्भारेषु मार्द्वीकमिति परिगणनाच्च सरसीवत् सुराया अपि प्रकृतत्वविव-क्षायां तुल्ययोगिता, तदविवक्षायां तु दीपकम्। 'सुरेव' इति पाठे त्वप्रकृतविवक्षैव कार्या। अन्यथा उपमानुपमा स्यात्। न च तुल्ययोगितावकाशः। इवशब्देन गम्यौपम्यलक्षणभङ्गादिति ॥ ५२ ॥

पानीके माधुर्यादि सम्पूर्ण गुणोंको धारण करती हुई तथा अच्छी तरहसे विकसित एवं उज्ज्वल कमलरूपी आभूषणोंवाली और प्रियतमोंके साथमें सेवित (अवगाढ) उस नदीने; तथा (यज्ञावशिष्ट होनेसे) अमृतके सम्पूर्ण गुणोंको धारण करती हुई तथा अच्छी तरहसे विकसित एवं उज्ज्वल (सुवासित करनेके लिए दिये गये) कमलरूपी भूषणोंवाली और प्रियतमोंके साथ सेवित (पान की गयी) मदिराने रमणियोंके नेत्रोंको लाल कर दिया अर्थात् बहुत देर तक जलक्रीड़ा करनेसे सुकुमार रमणियोंके नेत्र लाल हो गये ॥ ५२ ॥

स्नान्तीनां बृहदमलोदबिन्दुचित्रौ रेजाते रुचिरदृशामुरोजकुम्भौ।
हाराणां मणिभिरुपाश्रितौ समन्तादुत्सूत्रैर्गुणवदुपघ्नकाम्ययेव ॥ ५३ ॥

स्नान्तीनामिति ॥ स्नान्तीनां जलमवगाहमानानां रुचिरदृशां सुदृशां सम्बन्धिनौ

---

[1] 'सुरेव' इति पा०।

बृहद्भिरमलैश्चोदबिन्दुभिश्चित्रौ। 'मन्थौदन–' (६।३।६०) इत्यादिना उदकशब्दस्योदादेशः। उरोजकुम्भौ उत्सूत्रैः हाराणां मुक्ताहाराणां मणिभिर्गुटिकाभिरुपहन्यते उपगम्यते, पीड्यते वा। 'उपघ्न आश्रये' (३।३।८५) इति हन्तेरप्प्रत्ययान्त उपधालोपीति निपातः। गुणवत औदार्यादिगुणवतः, सूत्रवतश्च उपघ्नस्य काम्या आत्मन इच्छा गुणवदुपघ्नकाम्या तया गुणवदुपघ्नकाम्यया। आत्मनो गुणवदाश्रयाकाङ्क्षयेत्यर्थः। 'काम्यच्च' (३।१।९) इति काम्यच्प्रत्यये प्रत्ययान्तधातुत्वात् 'अप्रत्ययात्' (३।३।१०२) इति स्त्रियामप्रत्यये टाप्। समन्तादुपाश्रितौ संश्रिताविव रेजाते राजेते स्म। 'फणां च सप्तानाम्' (६।४।१२५) इति विकल्पादेकाराभ्यासलोपौ। गुणवच्छब्देन सूत्रशब्देन च सूत्रभेदे सूत्रान्तरमशिश्रियदिति प्रतीतेः श्लेषानुप्राणितयातिशयोक्त्यानुप्राणितेयमुत्प्रेक्षा ॥ ५३ ॥

(नदीमें) स्नान करती हुई सुन्दर नेत्रवाली रमणियोंके पानीके बड़ी–बड़ी बूँदोंसे चित्रित दोनों स्तनकलश इस प्रकार शोभते थे, मानो सूत्र–रहित गुणयुक्त स्तनोंके आश्रय करनेकी इच्छासे उसके चारो ओर स्थित हो रहे हों ॥ ५३ ॥

आरूढः पतित इति स्वसम्भवोऽपि स्वच्छानां परिहरणीयतामुपैति ।
कर्णेभ्यश्च्युतमसितोत्पलं वधूनां वीचीभिस्तटमनु यन्निरासुरापः ॥५४॥

आरूढ इति ॥ स्वसम्भवोऽप्यात्मसम्भवोऽपि आरूढ उच्चस्थानगत उत्तमाश्रयश्च पतितस्तथा भ्रष्ट इति हेतोः। आरूढपतितत्वादित्यर्थः। स्वच्छानां निर्मलानां परिहरणीयतां त्याज्यत्वमुपैति। 'प्रव्रज्यावसितो राज्ञो दास आमरणान्तिकः' (याज्ञ० स्मृतौ–व्यव० १८३) इति स्मरणादिति भावः। वीचीभिस्तटमनु तटं प्रति निरासुश्चिक्षिपुः। कुतः। यस्मादापः वधूनां कर्णेभ्यश्च्युतमसितोत्पलम्। स्वसम्भवमपीति भावः। विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः समर्थनवाक्यगतश्लेषमूलातिशयोक्त्या सङ्कीर्णः ॥ ५४ ॥

उच्च स्थानपर चढ़ा हुआ (पक्षा०—श्रेष्ठ पद पाया हुआ) अपनेसे उत्पन्न (पक्षा०—पुत्रादि स्वजन) भी पतित होकर (गिरकर, पक्षा०—नीच कर्म करनेसे भ्रष्ट होकर) निर्मल (पक्षा०—दोषहीन) लोगोंका त्याज्य होता है अर्थात् उत्तमाश्रयको पाकर पुनः नीचकर्म करनेवाले आत्मजको भी दोषहीन सज्जनलोग छोड़ देते हैं, इसको स्मरणकर रमणियोंके कानोंसे गिरे हुए अपनेमें उत्पन्न भी नीलकमलोंको पानीमें तरङ्गोंसे किनारेकी ओर फेंक दिया ॥ ५४ ॥

दन्तानामधरमयावकं पदानि प्रत्यग्रास्तनुमविलेपनां नखाङ्काः ।
आनिन्युः श्रियमधितोयमङ्गनानां शोभायै विपदि सदाश्रिता भवन्ति ॥

दन्तानामिति ॥ तोयेष्वधि अधितोयम्। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। अङ्गनानामयावकं प्रक्षालितलाक्षारागमधरं दन्तानां पदानि दन्तक्षतानि। तथा अविलेपनां

धौताङ्गरागां तनुं शरीरं प्रत्यग्रा नवा नखाङ्काश्च श्रियमानिन्युः प्रापयामासुः। 'नीवह्योर्हरतेश्चैव' इति वचनाद्द्विकर्मकत्वम्। तथा हि—सतः सज्जनान्, सुन्दरांश्चाश्रिताः सदाश्रिताः, ये केचिदिति शेषः। विपदि विभवाभावकालेऽपि शोभायै वैभवाय भवन्ति। 'क्लृपेः सम्पद्यमाने चतुर्थी वक्तव्या' (वा०) इति क्लृपेरर्थनिर्देशाच्चतुर्थी। अर्थान्तरन्यासः ॥ ५५ ॥

पानीमें रमणियोंके (घुलनेसे) अलक्तकरहित अधरको दन्तक्षतोंने तथा (कुङ्कुमादि) लेपरहित शरीरको अभिनव नखक्षतोंने श्रीयुक्त कर दिया; सज्जनों (पक्षा०—सुन्दर शरीरवालों) के आश्रयमें रहनेवाले विपत्तिमें शोभाके लिए होते हैं ॥ ५५ ॥

कस्याश्चिन्मुखमनु धौतपत्रलेखं व्यातेने सलिलभरावलम्बिनीभिः।
किञ्जल्कव्यतिकरपिञ्जरान्तराभिश्चित्रश्रीरलमलकाग्रवल्लरीभिः ॥ ५६ ॥

कस्याश्चिदिति ॥ धौतपत्रलेखं क्षालितपत्रावलीकं कस्याश्चिन्मुखमनु मुखेन सम्बद्धं यथा तथा। मुखे इति यावत्। 'तृतीयार्थे-' (१।४।८५) इत्यनोः कर्मप्रवचनीयत्वाद्द्वितीया। सलिलभरेणावलम्बिनीभिर्लम्बमानाभिः। आर्जवं गताभिरित्यर्थः। किञ्जल्कव्यतिकरेण केसरमिश्रणेन पिञ्जराण्यन्तराणि मध्यभागा यासां ताभिः। अलकाग्राणि वल्लर्यो मञ्जर्य इवेत्युपमितसमासः। 'वल्लरी मञ्जरी स्त्रियाम्' इत्यमरः। ताभिरलकाग्रवल्लरीभिश्चित्रश्रीर्मकरिकापत्रशोभा अलं व्यातेने सम्पादिता। तनोतेः कर्मणि लिट्। अत्र चित्रस्य श्रीरिव श्रीरिति निदर्शनाभेदः ॥५६॥

(जलक्रीडा करते समय पानीसे) धुली हुई पत्रलेखा (मुखमें चन्दनादिसे चित्रित पत्रलता आदि) वाले किसी रमणीके मुखमें जलके भारसे (सीधा होनेसे) लम्बे तथा बीचमें कमलकेसरके लगनेसे पीले लताके समान केशाग्रोंने (मकरपत्रादिके) चित्रकी शोभाको ला दिया अर्थात् धुलनेसे चन्दनरचित मकरादि चित्रसे रहित भी मुख लम्बे-लम्बे एवं बीच-बीचमें कमलकेसरयुक्त केशाग्र भागोंसे मकर-पत्रादिके चित्रसे युक्तके समान शोभने लगा ॥ ५६ ॥

अथ श्लोकद्वयेन पुंसामप्यवस्थाभेदं वर्णयति—

वक्षोभ्यो घनमनुलेपनं [1]यदूनामुत्तंसानहरत वारि मूर्धजेभ्यः।
नेत्राणां मदरुचिरक्षतैव तस्थौ चक्षुष्यः खलु महतां परैरलङ्घ्यः ॥ ५७ ॥

वक्षोभ्य इत्यादि ॥ वारि सरउदकं कर्तृ यदूनां यादवानां वक्षोभ्यो घनं सान्द्रमनुलेपनमङ्गरागमहरत। जिरवासङ्। अत्र 'वधूनाम्' इति क्वाचित्कः पाठो वक्षोजानुपेक्ष्य वक्षोमात्रनिर्देशादुत्तरश्लोके तेषामिति पुंल्लिङ्गपरामर्शाच्च न ग्राह्यः। मूर्धजेभ्यः शिरोरुहेभ्य उत्तंसान् शेखरानहरत। नेत्राणां मदरुचिर्मदरागोऽक्षतैव तथैव तस्थौ। वारिविहारस्यापि रागजनकत्वादिति भावः। अतएव रागद्वयस्याप्यभेदा-

१. 'वधूना—' इति पा०।

ध्यवसायेन तदवस्थानिर्देशादतिशयोक्तिः। तथा हि—महतां चक्षुषि भवश्चक्षुष्यः प्रियोऽक्षिजश्च। 'प्रियेऽक्षिजे च चक्षुष्यः' इति विश्वः। 'शरीरावयवाच्च' (४।३।५५) इति यत्। परैरलङ्घ्यो दुर्धर्षः खलु। चक्षुष्य इति श्लेषमूलातिशयोक्तिः। तया पूर्वोक्तया च सङ्कीर्णोऽयमर्थान्तरन्यासः॥ ५७॥

(अब दो श्लोकों (८।५७–५८) से जलक्रीडा करनेवाले यदुवंशियोंका भी वर्णन करते हैं) पानीने यदुवंशी पुरुषोंके वक्षःस्थलसे (चन्दन-कुंकुमादिरचित) सघन अङ्गलेपका अपहरण कर लिया अर्थात् अङ्गलेपको पानीमें धो दिया और मस्तकसे उत्तंस (पुष्पादि-रचित मुकुट) का अपहरण कर लिया अर्थात् बहा दिया; (किन्तु उन यादवोंके) नेत्रोंकी मदजन्यकान्ति वैसी ही रही अर्थात् उनके नेत्र स्नानके पूर्व मदपानजन्य मदसे जैसे लाल थे, जलक्रीडा करनेपर भी वैसे ही लाल बने रहे; (ऐसा होना ठीक है, क्योंकि) बड़ोंके प्रिय (पक्षा०—नेत्रमें स्थित रक्तत्व) दूसरोंसे अलङ्घनीय होते हैं॥ ५७॥

यो बाह्यः स खलु जलैर्निरासि रागो यश्चित्ते स तु तदवस्थ एव तेषाम्।
धीराणां व्रजति हि सर्व एव नान्तः पातित्वादभिभवनीयतां परस्य॥५८॥

य इति॥ तेषां यदूनां बहिर्भवो बाह्यः। 'बहिषष्टिलोपो यञ्च' (वा०) इति वचनात् यञ् प्रत्ययः। यो रागोऽङ्गरागः स रागो जलैस्तोयैः, जडैश्च निरासि निरस्तः खलु। अस्यतेः कर्मणि लुङ्। चित्ते यो रागः स तु सैवावस्था यस्य स तदवस्थ एव। न निरस्त इत्यर्थः। अत्र रागयोरभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः। तथा हि सर्वोऽपि धीराणां महतामन्तःपातित्वात्। अन्तर्गतत्वादेवेति यावत्। परस्याभि-भवनीयतां न व्रजति। अन्यथा व्रजत्येवेत्यर्थः। पूर्ववदलङ्कारः॥ ५८॥

उन यदुवंशियोंका जो बाहरी (वक्षःस्थलादिमें लगा हुआ) अङ्गराग (चन्दन-कुङ्कुमादिरचित लेप) था, उसे पानी (पक्षा०— मूर्खों) ने धो दिया; किन्तु चित्तमें जो राग (अनुराग-स्नेह) था, वह तो वैसा ही बना रहा; क्योंकि धीरोंके अन्तःकरणमें स्थित सभी पदार्थ दूसरों (शत्रुओं) से तिरस्करणीय नहीं होते॥ ५८॥

फेनानामुरसिरुहेषु हारलीला चेलश्रीर्जघनत[१]लेषु शैवलानाम्।
गण्डेषु स्फुटरचनाब्जपत्त्रवल्ली पर्याप्तं पयसि विभूषणं वधूनाम्॥ ५९॥

फेनानामिति॥ वधूनाम्। अष्टभूषणानामपीति भावः। पयसि विभूषणं पर्याप्तम्। समग्रमासीदित्यर्थः। कुतः। फेनानां डिण्डीराणामुरसि रुहन्तीत्युरसिरुहाः स्तनाः। 'सुपि—' (३।२।४) इति योगविभागात्कप्रत्ययः 'हलदन्तात्—' (६।३।९) इत्यलुक्। तेषु हारलीला मुक्तावलिश्रीः। जातेति शेषः। शैवलानां जघनतलेषु चेलश्रीर्वसन-शोभा जाता। गण्डेषु कपोलेषु शैवल इति विभक्तिविपरिणामादनुषङ्गः। स्फुटरचना

१. '—तटेषु' इति पा०।

व्यक्तविन्यासाब्जपत्रवल्ली पद्मपत्रलता, जातेति शेषः। अत्र फेनानां हारलीलेव लीला शैवलानां चैलश्रीरिव श्रीरिति निदर्शनाभ्यां शैवलाः पत्रवल्लीति रूपकेण च वाक्यार्थैश्चतुर्थवाक्यार्थसमर्थनात् तैरेवाङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्णं वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥

(जलक्रीडा करते समय आभरणसे रहित भी) उन रमणियों के पर्याप्त आभरण हो गये—स्तनों पर फेन हारकी, जघनस्थलोंमें शैवाल वस्त्रकी, तथा कपोलोंपर शैवाल ही कमलपत्ररचनाकी शोभावाले हुए (अथवा—कमलपत्र स्पष्ट बनायी गयी पत्ररचनावाले हुए); अर्थात् फेन रमणियोंके स्तनादिपर हार आदिके समान शोभने लगे ॥ ५९ ॥

भ्रश्यद्भिर्जलमभि भूषणैर्वधूनामङ्गेभ्यो गुरुभिरमज्जि लज्जयेव।
निर्माल्यैरथ ननृतेऽवधीरितानामप्युच्चैर्भवति लघीयसां हि धाष्टर्यम् ॥६०॥

भ्रश्यद्भिरिति ॥ वधूनामङ्गेभ्यो भ्रश्यद्भिः पतद्भिर्गुरुभिः सौवर्ण्याद् गुरुत्वयुक्तैर्भूषणैर्लज्जया भ्रंशप्रयुक्तया ह्रियेवेत्युत्प्रेक्षा । जलमभि अमज्जि जले मग्नम् । भावे लुङ् । अथानन्तरमेव न तु विलम्बेनेति भावः । निर्माल्यैर्मुक्तोज्झितमाल्यैर्ननृते जलेऽनर्ति । भ्रंशेऽपि निर्लज्जैरिति भावः। तथा हि—अवधीरितानां तिरस्कृतानामपि लघीयसां तुच्छानामुच्चैर्धाष्टर्यं निर्लज्जत्वमेवाधिकं भवतीत्यर्थान्तरन्यासः । महान्तः पदभ्रंशे लज्जिताः क्वचिन्निलीयन्ते, तुच्छास्तु निर्लज्जा विजृम्भन्त इति भावः। अप्सु गुरूणि सज्जन्ति लघूनि प्लवन्त इति परमार्थः ॥ ६० ॥

(जलक्रीडा करती हुई) रमणियोंके शरीरसे गिरे हुए सोनेके बने वजनदार आभूषण मानों (श्रेष्ठ अङ्गोंके विच्छेदजन्य) लज्जासे तत्काल पानीमें डूब गये, किन्तु (पहननेके बाद उनके अङ्गोंसे गिरी हुई) पुष्पमालाएँ (पानीके ऊपर) नाचने अर्थात् तैरने लगीं; क्योंकि तिरस्कार पाये हुए भी क्षुद्रलोगोंकी धृष्टता अधिक ही रहती है ॥ ६० ॥

आमृष्टास्तिलकरुचः स्रजो निरस्ता नीरक्तं वसनमपाकृतोऽङ्गरागः।
कामः स्त्रीरनुशयवानिव स्वपक्षव्याघातादिति सुतरां चकार चारूः ॥६१॥

आमृष्टा इति ॥ तिलकरुचः पत्रशोभा आमृष्टाः। स्रजो माला निरस्ताः। वसनं कौसुम्भं वासो नीरक्तमरक्तम्। निरस्तरागमित्यर्थः। कृतमिति शेषः। अङ्गरागोऽपाकृतः। सर्वत्र जलैरित्यर्थः। इतीत्थं स्वपक्षव्याघातात् स्ववर्गक्षयात् अनुशयवाननुतापवानिवेत्युत्प्रेक्षा। कामः स्त्रीः स्त्रियः। 'वाम्शसोः' (६।४।८०) इतीयङादेशविकल्पात्पक्षे पूर्वसवर्णदीर्घः । सुतरां चारूः पूर्वतोऽपि रमणीयाश्चकार । स्त्रीणां काम एव भूषणमन्यद्वैरूप्यमेवेति भावः ॥ ६१ ॥

(जलक्रीडा करते समय पानीसे रमणियोंके) तिलककी शोभा दूर कर दी गयी, मालाएँ बह (या—निकल) गयीं, (कुसुम्भसे रँगा हुआ अरुणवस्त्र) लालिमारहित हो गया और (चन्दन—कुङ्कुमादिरचित) अङ्गलेप धुल गया; इस प्रकार (उक्त तिलकादिरूप

---

१. 'हेमभि—' इति पा० । २. 'स्रजोभिरस्ता' इति पा० ।

स्वपक्षके नाश होनेसे पश्चात्तापयुक्तसे समान कामदेवने रमणियोंको पहले अधिक रमणीय बना दिया अर्थात् स्नानके पूर्व तिलकादि भूषणोंसे अलङ्कृत रमणियाँ जैसी शोभती थीं, स्नानके समय पानीसे तिलकादि भूषणोंके दूर हो जानेपर भी पहलेसे अधिक शोभने लगीं। (इससे स्त्रियोंका वास्तविक भूषण तो कामदेव है और सब तिलकादिरूप भूषण तो यत्किञ्चित् है, यह ध्वनित होता है) ॥ ६१ ॥

शीतार्तिं बलवदुपेयुषेव नीरैरासेकाच्छिशिरसमीरकम्पितेन ।
रामाणामभिनवयौवनोष्मभाजोराश्लेषि स्तनतटयोर्नवांशुकेन ॥ ६२ ॥

शीतेति ॥ नीरैस्तोयैः आसेकादासेचनात् शीतार्तिं शीतव्यथां बलवत्सु उपेयुषेव प्राप्तवतेवेत्युत्प्रेक्षा । अत एव शिशिरसमीरकम्पितेन शीतवातवेपितेन नवांशुकेन कर्त्रा अभिनवो यो यौवनोष्मा उष्णत्वं तद्भाजोः रामाणां स्तनतटयोराधारयोराश्लेषि आश्लिष्टं संसक्तम् । भावे लुङ् । सेकहेतुकस्यांशुकश्लेषस्य शीतार्तिहेतुकत्वमुत्प्रेक्षयत इति गुणहेतूत्प्रेक्षा ॥ ६२ ॥

पानीसे सींचनेके कारण मानों अत्यन्त शीतसे पीड़ित (अत एव) ठण्ढी हवासे काँपते हुए नवीन वस्त्रने अत्यन्त नयी यौवनावस्थाकी गर्मीसे युक्त रमणियोंके दोनों स्तनप्रदेशोंका आलिङ्गन कर लिया, अर्थात् शीतार्त रमणियोंने स्तनोंके नये वस्त्रसे ढक लिया ॥ ६२ ॥

इत्थमासां जलक्रीडामुक्त्वा जलादुत्तरणं वर्णयति—

श्च्योतद्भिः समधिकमात्तमङ्गसङ्गाल्लावण्यं तनुमदिवाम्बु वाससोऽन्तैः ।
उत्तेरे तरलतरङ्गरङ्गलीलानिष्णातैरथ सरसः प्रियासमूहैः ॥ ६३ ॥

श्च्योतद्भिरिति॥अथ जलक्रीडानन्तरम्, अङ्गसङ्गाद्गात्रसम्पर्कात्, आत्तमुपात्तम् । संसक्तमिति यावत् । समधिकमतिरिक्तं तनुमन्मूर्तिमत् लावण्यमिव कान्तिसारमिवेत्युत्प्रेक्षा । अम्बु श्च्योतद्भिः क्षरद्भिः । औवादिकत्वाल्लघूपधगुणः । तरलाश्चपलास्तरङ्गा एव रङ्गा नृत्यस्थानानि तेषु लीला नर्तितानि तासु निष्णातैः कुशलैः । 'निनदीभ्यां स्नातेः कौशले' (८।३।८९) इति षत्वम् । वाससोऽन्तैर्वस्त्रस्याञ्चलैरुपलक्षितैः प्रियासमूहैः स्त्रीसङ्घैः सरसो ह्रदादुत्तेरे उत्तीर्णम् । निर्गतमित्यर्थः । तरतेर्भावे लिट् ॥६३॥

(अब उन रमणियोंके पानीसे निकलनेका वर्णन करते हैं) इसके बाद शरीरके संसर्गसे प्राप्त अर्थात् जलक्रीडा करनेपर भीगे हुए, अतिरिक्त अर्थात् शरीरमें समानेसे अधिक होकर बचे हुए मूर्तिमान् सौन्दर्यके समान पानीको चुवाते हुए, चञ्चल तरङ्गरूपी रङ्गस्थली (नृत्यस्थल या—रति) में प्रवीण अर्थात् जलक्रीडामें अत्यन्त निपुण एवं वस्त्राञ्चलसे युक्त रमणी-समूह जलाशयसे बाहर निकला ॥ ६३ ॥

दिव्यानामपि कृतविस्मयां पुरस्तादम्भस्तः स्फुरदरविन्दचारुहस्ताम् ।
उद्वीक्ष्य श्रियमिव काञ्चिदुत्तरन्तीमस्मार्षीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरिः ॥६४॥

दिव्यानामिति ॥ दिवि भवा दिव्यास्तेषामपि कृतविस्मयां सौन्दर्यातिरेकेण

जनिताद्भुतरसां स्फुरदरविन्दाभ्यां चारू हस्तौ यस्यास्ताम्। पद्महस्तामित्यर्थः। पुरस्तादग्रतः अम्भस्तो जलात्। पञ्चम्यास्तसिल्। उत्तरन्तीं निष्क्रामन्तीं काञ्चित्स्त्रियं मथ्यमानात् समुद्रात् सद्यः प्रादुर्भवन्तीं श्रियमिव लक्ष्मीमिवोद्वीक्ष्य जलनिधिमन्थनस्य। समुद्रमन्थनमित्यर्थः। मन्थेर्भौवादिकस्येदित्वान्नुमागमः 'अधीगर्थ—' (२।३। ५२) इत्यादिना कर्मणि षष्ठी। अस्मार्षीत् स्मृतवान्। अत्र समुद्रमन्थनस्मारिकया श्रियमिवेत्युपमया सादृश्यात् श्रीः स्मृतेति स्मरणालङ्कारप्रतीतेरलङ्कारध्वनिः ॥६४॥

श्रीकृष्ण भगवान्ने, देवताओंको भी (सौन्दर्यातिशयसे) आश्चर्यित की हुई, कमलसे सुशोभित हाथवाली अर्थात् हाथोंमें कमल ली हुई (समुद्र-मन्थन-कालमें समुद्रसे निकलती हुई) लक्ष्मीके समान (जलाशयके) पानीसे निकलती हुई किसी (परमसुन्दरी) रमणीको देखकर समुद्रमन्थनका स्मरण किया अर्थात् हाथोंमें कमल लेकर पानीसे निकलती हुई लक्ष्मीके समान परमसुन्दरी रमणीको देखकर भगवान्को समुद्रमन्थनका स्मरण हो गया ॥

श्लक्ष्णं यत्परिहितमेतयोः किलान्तर्धानार्थं तदुदकसेकसक्तमूरूः[1] ।
नारीणां विमलतरौ समुल्लसन्त्या भासाऽन्तर्दधतुरुरू दुकूलमेव ॥ ६५ ॥

श्लक्ष्णमिति ॥ एतयोरूर्वोरन्तर्धानार्थं किल छादनार्थं श्लक्ष्णं स्निग्धं यद् दुकूलं परिहितमाच्छादितमुदकसेकेन संसक्तं संसृष्टं तत् दुकूलं कर्म। विमलतरौ नारीणामुरू पीवरावूरू एव कर्तारौ समुल्लसन्त्या स्फुरन्त्या भासा निजकान्त्याऽन्तर्दधतुः छादितवन्तौ। तदेतद्भूषणमिति भावः। अत्र दुकूलस्योरुच्छादकत्वेऽपि तदभावोक्तेरसम्बन्धेऽपि सम्बन्धरूपातिशयोक्तिः। तदपेक्षया चोर्वोर्दुकूलानाच्छादकयोराच्छादकत्वोक्तेरसम्बन्धे सम्बन्धरूपातिशयोक्त्यानुप्राणितेति सजातीयसंकरः, तदनुप्राणितश्च विषमालङ्कार इति विजातीयसंकरः तेन चोर्वोर्लोकोत्तरं लावण्यं व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ६५ ॥

इन दोनों जघनोंको आच्छादित करने (ढकने) के लिए चिकने जिस वस्त्रको (रमणियोंने (धारण किया था, पानीसे भींगनेके कारण दोनों जघनोंमें सटे हुए उस वस्त्रको अतिशय मोटे रमणियोंके उन दोनों जघनोंने स्फुरित होती हुई अपनी कान्ति (सौन्दर्यशोभा) से आच्छादित कर दिया ॥ ६५ ॥

वासांसि न्यवसत यानि योषितस्ताः शुभ्राभ्रद्युतिभिरहासि तैर्मुदेव ।
अत्याक्षुः स्नपनगलज्जलानि[2] यानि स्थूलाश्रुस्त्रुतिभिररोदि तैः शुचेव ॥६६॥

वासांसीति ॥ ताः योषितो यानि वासांसि न्यवसत निवसितवत्यः। 'वस आच्छादने' इति धातोः कर्तरि लङ्। शुभ्राभ्राणां द्युतिरिव द्युतिर्येषां तैर्वासोभिर्मुदा नारीनिवसनानन्देनाहासीव हसितमिव। भावे लुङ्। स्नपनेन गलज्जलानि स्रवत्तोयानि वासांसि अत्याक्षुस्त्यक्तवत्यः तैः शुचा स्थूला अश्रुस्त्रुतिर्येषां तैररोदीव रोदनं

१. '—मूर्वोः' इति पा० । २. 'प्लवन्—' इति पा० ।

कृतमिव । भावे लुङ् । अत्र धावल्यगुणजलगलनक्रियानिमित्तयोर्हासरोदनक्रिययोः सजातीयोत्प्रेक्षयोः सङ्करः ॥ ६३ ॥

उन रमणियोंने (जलक्रीडाके बाद बाहर निकलकर सूखे) जिन वस्त्रोंको पहनना, स्वच्छ मेघके समान कान्तिवाले वे वस्त्र (रमणियोंके शरीर-संसर्गजन्य) आनन्दसे मानो हँसने लगे और (उन रमणियोंने) स्नान करनेसे पानी चुवाते हुए जिन (भींगे) वस्त्रोंको छोड़ दिया, बड़ी-बड़ी आंसुओंकी बूँदों को गिराते हुए वे वस्त्र मानो विरहजन्य पीड़ासे रो दिये ॥

आर्द्रत्वादतिशयिनीमुपेयिवद्भिः संसक्तिं भृशमपि भूरिशोऽवधूतैः ।
अङ्गेभ्यः कथमपि वामलोचनानां विश्लेषो बत नवरक्तकैः प्रपेदे ॥ ६७ ॥

आर्द्रत्वादिति ॥ आर्द्रत्वाज्जलेन प्रेम्णा च सरसत्वादतिशयिनीमतिशयवतीं संसक्तिं संश्लेषं, परिचयं चोपेयिवद्भिः प्राप्तवद्भिः अत एव भृशं भूरिशो बहुशोऽवधूतैर्निरस्तैरपि, अन्यत्र निष्कासितैरपि नवरक्तैरेव नवरक्तकैः नूतनरक्तवस्त्रैः नवानुरागिभिश्च वामलोचनानां सुदृशामङ्गेभ्यो विश्लेषः बत खेदे कथमपि प्रपेदे प्राप्तः । एकत्रातिश्लेषादन्यत्रातिपरिचयाच्चेति भावः । अत्यासक्ताः कामिनो धनपरायणाभिर्वेश्याभिरवधूताः कथंचिन्मुञ्चन्तीत्यर्थान्तरप्रतीतिः इह विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वाच्छब्दशक्तिमूलो ध्वनिरेव ॥ ६७ ॥

पानीसे भींगे हुए (पक्षा०—प्रेमसे सरस) होनेसे अत्यन्त सटे हुए (पक्षा०—परिचित अतएव) अनेक बार बहुत हटाये (छोड़े—खोलकर हटाये, पक्षा०—तिरस्कृत कर निकाले) गये भी नये-नये लाल रंगके कपड़े (पक्षा०—नये अनुराग करनेवाले पुरुष) वामलोचनाओंके शरीरोंसे खेद है कि—किसी प्रकार पृथक् हुए ।

विमर्श—जिस प्रकार नये प्रेमसे युक्त नायक वेश्यादिके द्वारा बार-बार निकाले जानेपर भी बड़ी कठिनाईसे हटते हैं, उसी प्रकार पानीसे भींगे एवं शरीर में सटे लाल रंगमें रंगे हुए कपड़े बार-बार हटानेपर भी बड़ी कठिनाईसे उनके शरीरसे पृथक् हुए ॥

प्रत्यंसं विलुलितमूर्धजा चिराय स्नानार्द्रं वपुरुदवापयत् किलैका ।
नाजानादभिमतमन्तिकेऽभिवीक्ष्य स्वेदाम्बुद्रवमभवत्तरां पुनस्तत् ॥ ६८ ॥

प्रत्यंसमिति ॥ एका स्त्री प्रत्यंसमंसयोः । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । विलुलितमूर्धजा विकीर्णकेशा सती स्नानार्द्रं वपुः चिराय चिरमुदवापयच्चिरवापयत । अशोषयदिति यावत् । वयतेर्ण्यन्ताल्लङ् । 'अर्तिह्री—' (७।३।३६) इत्यादिना पुगागमः । किल खलु । पुनस्तद्वपुरभिमतं प्रियमन्तिकेऽभिवीक्ष्य स्वेदाम्बुनो द्रवम् । द्रवशब्दः शुक्लादिवद् गुणे पुंसि, गुणिनि मेद्यलिङ्गः ।'आपो द्रवाः सर्वाणि द्रवाणि तूदङ्मुखेन जुहोति'इत्यादिप्रयोगात् । अभवत्तराम् । अतिशयेनाभवदित्यर्थः । 'तिङश्च' (५।३।५६) इति तमप् किमेत्तिङ०—' (५।४।११) इत्यादिना तिङन्तादामुप्रत्ययः । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (१।१।३८) इत्यव्ययत्वम् । नाजानात् । वाक्यार्थः कर्म । तद्द्रवभवनं

नाज्ञासीदित्यर्थः। अविरतस्नेहार्द्रतामजानती स्नानार्द्रमेवेति मन्यमाना पुनःपुनर्वपुरुद्वापयन्त्येवास्त इति तात्पर्यार्थः। अत्र वपुष्मत्कर्तृकस्य वीक्षणस्य 'वपुष्युपचारात् द्रवणक्रियायाः समानकर्तृकत्वात्पूर्वकालतानिर्वाहः। एषा च गर्वौत्सुक्यादिसञ्चारिसङ्कीर्णस्वेदरोमाञ्चादिसात्त्विकसम्पन्ना स्मिताद्यनुभाववती चेत्यनुसन्धेयम्। अत्रोद्वापनरूपकारणे सति द्रवत्वनिवृत्तिरूपकार्यानुत्पत्तेस्तद्विरुद्धद्रवत्वप्रतिपादनमुखेनाभिधानाद्विशेषोक्तिरलङ्कारः। 'तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते' इति लक्षणात्।

कन्धेपर फैले हुए बालोंवाली किसी एक रमणीने स्नानसे भींगे हुए शरीरको बहुत विलम्ब तक सुखाया, किन्तु प्रियतमको समीपमें देखकर पसीनेसे जलसे फिर अधिक भींगे हुए उस शरीरको नहीं जाना अर्थात् यद्यपि प्रियतमको समीपमें देखकर सात्त्विकभावजन्य स्वेदसे उसका शरीर बार-बार भींग जाता था, किन्तु उस वास्तविक हेतुको नहीं जानती हुई वह उसे जलक्रीडाके समय पानीसे ही भींगा हुआ समझकर बहुत विलम्बतक सुखाती रही ॥ ६८ ॥

सीमन्तं निजमनुबध्नती कराभ्यामालक्ष्यस्तनतटबाहुमूलभागा।
भर्त्रान्या मुहुरभिलष्यया निदध्ये नैवाहो विरमति कौतुकं प्रियेभ्यः ॥६९॥

सीमन्तमिति ॥ निजमात्मीयं सीमन्तं मूर्धजमध्यपद्धतिम्। 'सीमन्तमस्त्रियां स्त्रीणां केशमध्ये तु पद्धतिः' इति वैजयन्ती। कराभ्यामनुबध्नती गृह्णन्ती। विभजन्तीत्यर्थः। अत एव आ समन्तात् लक्ष्या विभाव्याः स्तनतटे बाहुमूले च तेषां भागाः प्रदेशा यस्याः सा अन्या स्त्री अभिलष्यताऽभिलषता। 'वा भ्राश-' (३।१।७०) इत्यादिना वैकल्पिकः श्यन्प्रत्ययः। भर्त्रा मुहुर्निदध्ये ध्याता। तां निरीक्षेत्यर्थः। 'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः। अहो आश्चर्यं। कौतुकमभिलाषः प्रीणन्तीति प्रिया विषयाः। 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' (३।१।१३५) इति कः। तेभ्यो न विरमति उपभोगेऽपि न निवर्तत इत्याश्चर्यम्। 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति' (श्रीमद्भागवते ९।१९।१४) इति भावः। 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' (वा०) इति पञ्चमी, 'व्याङ्परिभ्यो रमः' (१।३।८३) इति परस्मैपदम्। अर्थान्तरन्यासः ॥ ६९ ॥

अपनी केशरचनाको दोनों हाथोंसे पकड़ी हुई (अत एव) स्तनप्रदेश तथा बाहुमूल (कक्षप्रदेश) जिसके दिखलायी दे रहे हैं, ऐसी किसी एक रमणीको (देखकर) चाहते हुए पतिने (उसका) ध्यान किया, अहो! आश्चर्य है कि विषयोंसे इच्छा नहीं हटती है अर्थात् बार-बार विषय-सेवन करने पर भी उसकी इच्छा बनी ही रहती है ॥ ६९ ॥

स्वच्छाम्भःस्नपनविधौतमङ्गमोष्ठस्ताम्बूलद्युतिविशदो विलासिनीनाम्।
वासश्च प्रतनु विविक्तमस्त्वितीयानाकल्पो यदि कुसुमेषुणा न शून्यः ॥७०॥

स्वच्छेति ॥ स्वच्छेनाम्भसा स्नपनेनाभिषेकेण विधौतं विमलितमङ्गं वपुः। ताम्बूलद्युत्या ताम्बूलरागेण विशद उज्ज्वल ओष्ठोऽधरः। प्रतनु सूक्ष्मं विविक्तं विमलं

वासश्च, अथवा विविक्तमेकान्तस्थानं च । 'विविक्तौ पूतविजनौ' इत्यमरः । इत्येवंरूप इयानेतावानेव विलासिनीनामाकल्पो नेपथ्यमस्तु, किमन्यैरित्यर्थः । कुसुमेषुणा कामेन शून्यो यदि न स्यात् । अन्यथा उद्विजितानामिव कनकभूषणमपि भारायत एवेति भावः । एतेन विच्छित्त्याख्य आलम्बनचेष्टारूप उद्दीपनविभाव उक्तः । 'स्तोकभूषणयोगेऽपि विच्छित्तिरिति गद्यते' इति लक्षणात् । अत्र स्नानताम्बूलादिपदार्थान्वितविशेषणगत्या अङ्गौष्ठादीनामाकल्पत्वप्रतिपादनार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥

स्वच्छ निर्मल पानीसे धोया हुआ शरीर, ताम्बूलराग (पान खाने) से उज्ज्वल (श्रेष्ठवर्ण) ओष्ठ महीन तथा सफेद कपड़ा (अथवा-महीन कपड़ा तथा एकान्त स्थान) बस इतना ही विलासवती रमणियों का भूषण होता है, यदि वह काम (वासना) से रहित न हो ॥

अथोत्तरसर्गे सूर्यास्तमयादिवर्णनं प्रस्तौति—

इति धौतपुरन्ध्रिमत्सरान्सरसि मज्जनेन
श्रियमाप्तवताऽतिशायिनीम[1]पमलाङ्गभासः।
अवलोक्य त[2]दैव यादवानपरवारिराशेः
शिशिरेतररोचिषाप्यपां ततिषु मङ्क्तुमीषे ॥ ७१ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्र्यङ्के जलविहारवर्णनं नामाष्टमः सर्गः ॥

इतीति ॥ इतीत्थं सरसि मज्जनेन स्नानेन धौतपुरन्ध्रिमत्सरान् क्षालितमानिनीमानान् अभीक्ष्णमतिशेतेऽतिशायिनीम् आभीक्ष्ण्ये णिनिः । श्रियमाप्तवतः अपमलाङ्गभासो विमलाङ्गकान्तीन् यादवानवलोक्य तदैव शिशिरेतररोचिषा उष्णांशुनाप्यपरवारिराशेः पश्चिमाब्धेरपां ततिषु पूरेषु मङ्क्तुं प्रवेष्टुमीषे इष्टम् । भावे लिट् । परचेष्टासाक्षात्कारो विषयिणां तादृग्विषयाभिलाषमन्तराधत्त इति भावः । अत्र भानोः कालप्राप्तमज्जनस्य यादवमज्जनावलोकनहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते । अतिशायिनीवृत्तम् । 'ससजा भजतोऽतिशायिनी भवति गौ दिगश्वैः' इति छन्दोलक्षणात् ॥७१॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते शिशुपालवधकाव्यव्याख्याने सर्वंकषाख्येऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

(अब अग्रिम नवम सर्गमें वर्णयिष्यमाण सूर्यास्तके वर्णन को प्रस्तुत करते हैं) जलाशयमें डूबने (डूब डूबकर जलक्रीडा करने) से मानिनियोंके मानको दूर किये हुए तथा बार-बार शोभाको पाये हुए एवं विमल शरीरकान्तिवाले यादवों को देखकर सूर्य भगवान्ने पश्चिम समुद्रके जलकी तरङ्गोंमें मज्जन करना चाहा अर्थात् सूर्यास्त होने लगा ॥ १ ॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें अष्टम सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

---

१. '—मविरलाङ्ग—' इति पा० । २. 'तदेव' इति पा० ।

नवमः सर्गः

अथ सूर्यास्तमयं वर्णयति—

अभितापसंपदमथोष्णरुचिर्निजतेजसामसहमान इव ।
पयसि प्रपित्सुरपराम्बुनिधेरधिरोढुमस्तगिरिमभ्यपतत् ॥ १ ॥

अभितापेति ॥ अथ मिमङ्क्षानन्तरमुष्णरुचिः सूर्यो निजतेजसामभितापसम्पदं सन्तापातिरेकमसहमान इवापराम्बुनिधेः पश्चिमाब्धेः पयसि प्रपित्सुः पतितुमिच्छुः। पततेः सन्नन्ताद्रुप्रत्ययः 'सनिमीमा–' (७।४।५४) इत्यादिना इसादेशः 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) इत्यभ्यासलोपः। अस्तगिरिमस्ताद्रिम्। 'अस्तस्तु चरमक्ष्माभृत्' इत्यमरः। अधिरोढुमभ्यपतदभ्यधावत्। अत्रासहमान इवेति कालप्राप्तस्य पयसि प्रपातस्य निजतेजोऽसहनहेतुत्वमुत्प्रेक्ष्यते। अस्मिन्सर्गे प्रमिताक्षरा वृत्तम्। 'प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

(अब महाकवि 'माघ' पूर्व सर्गके अन्त (९।७१) में प्रस्तुत सूर्यास्तका तेरह श्लोकों (९।१–१३) से वर्णन करते हैं) इस (जलतरङ्गोंमें डूबने की इच्छा करने) के बाद अपने तेजःसमूहके अतिशय तीव्र सन्तापको मानो नहीं सहन करते हुए–से सूर्य पश्चिम समुद्रके जलमें गिरने (कूदकर डूबने) के इच्छुक होकर अस्ताचलपर चढ़नेके लिए दौड पड़े ॥१॥

गतया पुरः प्रतिगवाक्षमुखं दधती रतेन[1] भृशमुत्सुकताम् ।
मुहुरन्तरालभुवमस्तगिरेः सवितुश्च योषिदमिमीत दृशा ॥ २ ॥

गतयेति ॥ रतेन रत्यर्थे। 'प्रसितोत्सुकाभ्यां तृतीया च' (२।३।४४) इति सप्तम्यर्थे तृतीया। भृशमुत्सुकतां कालाक्षमत्वलक्षणमौत्सुक्यं दधती योषित् पुरोऽग्रे गवाक्षमुखं गवाक्षद्वारं प्रति गतयाऽप्सृतया दृशा अस्तगिरेः सवितुश्चान्तरालभुवं मध्याकाशदेशं मुहुरमिमीत माति स्म। हस्तमात्रमवशिष्टमरत्निमात्रमवशिष्टमित्यादिमानकरणेनास्तमयं प्रतीक्षितवतीत्यर्थः। माङो लङि 'श्लौ' (६।१।१०) इति द्विर्भावः 'भृञामित्' (७।४।७६) इत्यभ्यासस्येत्वम्। एतच्चास्तमयप्रतीक्षणभ्रमादौत्सुक्यानुभवान्तरोपलक्षणम्। अत्रौत्सुक्यभाववचनात्प्रेयोऽलङ्कारः ॥ २ ॥

रतिके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित कोई रमणी खिड़कीकी ओर गयी हुई दृष्टिसे अर्थात् खिड़कीकी ओर नेत्र लगाकर अस्ताचलके तथा सूर्यके मध्यभागको मानो नाप रही थी अर्थात् अब सूर्य और अस्ताचलके बीचमें एक हाथ बाकी है, अब आधा हाथ बाकी है इत्यादि अन्दाज लगा रही थी ॥ २ ॥

विरलातपच्छविरनुष्ण[2]वपुः परितो विपाण्डु दधदभ्रशिरः ।
अभवद्गतः परिणतिं शिथिलः परिमन्दसूर्यनयनो दिवसः ॥ ३ ॥

---

१. 'रतेषु' इति पा० । २. '—रनूष्म—' इति पा० ।

विरलेति ॥ परिणतिं परिवृत्तिम्, अन्यत्र जरावस्थां च गतः अत एव विरला अल्पा आतपस्य छविर्यस्य सः, अन्यत्र क्षीणप्रभः । अनुष्णवपुः, अन्यत्र श्लेष्मोदयादीषदुष्णदेहः । 'अलवणा यवागूः' इतिवदल्पार्थे नञ्प्रयोगः । परितो विपाण्डु एकत्र शुभ्राभ्रपटलच्छन्नत्वादपरत्र पलितैश्च पाण्डुरमभ्रमाकाशमेव शिरो दधदुद्वहत्परिमन्दं प्रशान्तम्, अर्थग्रहणासमर्थं च सूर्यं एव नयनं यस्य स दिवसः शिथिलः शिथिलवृत्तिः, शिथिलाङ्गश्चाभवत् । अत्राभ्रशिर इत्याद्यवयवरूपणाद्दिवस एव स्थविर इत्यवयविरूपकसिद्धेस्तदरूपणादेकदेशवृत्तिरूपकं श्लेषानुप्राणितम् ॥३॥

समाप्ति (पक्षा०—वृद्धावस्था) को प्राप्त, (अतएव) विरल धूपकी कान्तिवाला (पक्षा०—क्षीण शरीर-कान्तिवाला) सब ओर (शुभ्र मेघसे आच्छादित होनेसे पक्षा०—केशोंके श्वेत होनेसे) शुभ्र आकाशरूप मस्तकको धारण करता हुआ तथा मन्द (पक्षा०—पदार्थोंको देखनेमें असमर्थ) सूर्यरूपी नेत्रवाला दिन (वृद्ध पुरुष-जैसा) शिथिल व्यापारवाला (पक्षा०—शिथिल अङ्गोंवाला) हो गया ॥ ३ ॥

अपराह्णशीतलतरेण शनैरनिलेन लोलितलतांगुलये ।
निलयाय शाखिन इवाह्वयते ददुराकुलाः खगकुलानि गिरः ॥ ४ ॥

अपराह्णेति ॥ अपरोऽपरभागोऽह्नोऽपराह्णो दिनान्तः । 'पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे' (२।२।१) इत्येकदेशिसमासः 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (५।४।९१) 'अह्नोऽह्न एतेभ्यः' (५।४।८८) इत्यह्नादेशः 'अह्नोऽदन्तात्' (८।४।७) इति णत्वम् । तस्मिन्नपराह्णे शीतलतरेणानिलेन शनैर्लोलिताश्चालिता लता एवाङ्गुलयो यस्य तस्मै, अत एव निलयाय निवासायाह्वयते अङ्गुलिसंज्ञया आह्वानं कुर्वाणायेव स्थितायेत्युत्प्रेक्षा । शाखिने वृक्षाय खगकुलानि पक्षिसङ्घा आकुलास्तुमुला गिर इवमागम्यत इति प्रत्युत्तराणि ददुरित्यनुषङ्गादुत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥

सायङ्कालकी अधिक ठण्डी हवासे धीरे-धीरे हिलती हुई लतारूपी अङ्गुलियोंवाले (अपनी ओर) बुलाते हुए (अपने) निवासस्थान वृक्षोंके लिए पक्षि-समूह माना प्रत्युत्तर दे रहे थे (कि हमलोग शीघ्र ही आ रहे हैं) ॥ ४ ॥

उपसंध्यमास्त तनु सानुमतः शिखरेषु तत्क्षणमशीतरुचः ।
करजालमस्तसमयेऽपि सतामुचितं खलूच्चतरमेव पदम् ॥ ५ ॥

उपसन्ध्यमिति ॥ उपसन्ध्यं सन्ध्यायाः समीपे । समीपार्थेऽव्ययीभावे नपुंसकत्वाद्ध्रस्वत्वम् । अशीतरुच उष्णांशोस्तनु करजालं तत्क्षणं तस्मिन्क्षणे । तत्कालेऽपीत्यर्थः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । सानुमतोऽद्रेः शिखरेष्वास्तातिष्ठत् । आसेः कर्तरि लङ् । सतामस्तसमये नाशसमयेऽप्युच्चतरमेव पदमुन्नतस्थानमेवोचितं खलु । अर्थान्तरन्यासः ॥ ५ ॥

सन्ध्याकालके समीप होनेपर सूर्यके सूक्ष्म (या—मन्द) किरण-समूह उस समय

अर्थात् अस्तङ्गमनरूप विपत्तिकालमें भी अस्ताचलके शिखरोंपर ठहर गया, (यह योग्य ही था); क्योंकि विनाशके समयमें भी बड़े लोगोंका स्थान अत्यन्त ऊँचा ही रहना उचित होता है ॥ ५ ॥

प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥ ६ ॥

प्रतिकूलतामिति ॥ विधौ दैवे प्रतिकूलतामुपगते सति बहुसाधनता अनेकसाधनवत्ता विफलत्वमेति । महत्यपि साधनसम्पत्तिर्निष्फलैवेत्यर्थः । तथा हि—पतिष्यत आसन्नपातस्य दिनभर्तुः करा अंशवो हस्ताश्च । 'बलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः । तेषां सहस्रमपि अवलम्बनायावष्टम्भनाय नाभूत् । अतो दैवमेव प्रबलमिति भावः । विशेषेण [1]सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६ ॥

भाग्य (पक्षा०—चन्द्रमा) के प्रतिकूल होनेपर बहुत साधन भी निष्फल ही हो जाते हैं, (अतएव) शीघ्र ही गिरने (अस्त होने) वाले दिवापति (सूर्य) की सहस्रों किरणें (पक्षा०—सहस्रों हाथ) भी अवलम्बनके लिए नहीं हो सके ।

विमर्श—ज्यौतिषशास्त्रमें चन्द्रमाका भी प्रतिकूल (पृष्ठवर्ती) होना अनिष्टकारक कहा गया है । यथा—'सम्मुखे ह्यर्थलाभाय दक्षिणे सुखसम्पदः । पृष्ठतो मरणं चैव वामे चन्द्रे धनक्षयः ॥' इति ॥ ६ ॥

नवकुङ्कुमारुणपयोधरया स्वकरावसक्तरुचिराम्बरया।
अतिसक्तिमेत्य वरुणस्य दिशा भृशमन्वरज्यदतुषारकरः ॥ ७ ॥

नवेति ॥ अतुषारकर उष्णांशुः नवकुङ्कुमवदरुणपयोधरया नवसन्ध्यारुणमेघया, अन्यत्र नवकुङ्कुमारुणकुचया स्वकरावसक्तरुचिराम्बरया स्वकिरणाक्रान्तरुचिराकाशया, अन्यत्र स्वहस्तलग्नचारुवस्त्रया वरुणस्य दिशा । पश्चिमदिशा सहेत्यर्थः । वरुणसम्बन्धात्पराङ्गनात्वं च गम्यते । 'वृद्धो यूना—' (१।२।६५) इति सूत्रादौ सहार्थाप्रयोगात्सहार्थानामप्रयोगेऽपि 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (२।३।१९) इति सहार्थे तृतीया । अतिसक्तिमतिसन्निकर्षं, अत्यासक्तिं च एत्य प्राप्य भृशमन्वरज्यत्, लोहितो रक्तवांश्चाभवत् । रञ्जेर्देवादिकात्कर्तरि लङ् । 'कुषिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदं च' (३।१।९०) इति कर्मकर्तरि वा । अत्र वारुणीदिनकरादिविशेषणमहिम्नैव तयोर्जारभावप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ७

सूर्य नये कुङ्कुमके समान लाल मेघोंवाली (पक्षा०—नये कुङ्कुमसे रंगे (चित्रित किये) हुए लाल स्तनोंवाली) अपनी किरणोंसे सम्बद्ध मनोहर आकाशवाली (पक्षा०—अपने हाथसे ग्रहण किये गये सुन्दर कपड़ेवाली) पश्चिम दिशाके अत्यन्त निकट होकर (पक्षा०—

---

१. साहित्यदर्पणकृता वर्णश्लेषस्योदाहरणत्वेनायं श्लोक उपन्यस्तः ।

वरुणरूप पुरुषान्तरकी पत्नीके साथ अर्थात् उक्त पत्नीमें अत्यन्त आसक्त होकर) अत्यन्त लाल (पक्षा० —अनुरागयुक्त) हो गया ॥ ७ ॥

गतवत्यराजत जपाकुसुमस्तबकद्युतौ दिनकरेऽवनतिम् ।
बहलानुरागकुरुविन्ददलप्रतिबद्धमध्यमिव दिग्वलयम् ॥ ८ ॥

गतवतीति ॥ जपाकुसुमस्तबकद्युतौ लोहितवर्णे दिनकरेऽवनतिमस्ततां गतवति सति । लम्बमाने सतीत्यर्थः । दिग्वलयं दिङ्मण्डलं कंकणं च ध्वन्यते । बहलानुरागैः सान्द्ररागैः कुरुविन्ददलैः पद्मरागशकलैः प्रतिबद्धः प्रत्युप्तो मध्यो यस्य तदिवाराजतेत्युत्प्रेक्षा । 'कुरुविन्दस्तु मुस्तायां कुल्माषव्रीहिभेदयोः । इङ्गुदे पद्मरागे च मुकुलेऽपि समीरितः ॥' इति विश्वः ॥ ८ ॥

ओढ़उलके फूलोंके गुच्छोंकी कान्तिके समान लाल कान्तिवाले सूर्यके नम्र (अस्तोन्मुख) होनेपर दिङ्मण्डल (पक्षा०—दिशारूपी कङ्कण) ऐसा शोभने लगा कि मानो वह अत्यन्त लाल पद्मराग मणिके टुकड़ोंसे मध्य भागमें जड़ा गया हो ॥ ८ ॥

द्रुतशातकुम्भनिभमंशुमतो वपुरर्धमग्नवपुषः पयसि ।
रुरुचे विरिञ्चिनखभिन्नबृहज्जगदण्डकैकतरखण्डमिव ॥ ९ ॥

द्रुतेति ॥ द्रुतं तप्तं यच्छातकुम्भं तपनीयम् । 'तपनीयं शातकुम्भम्' इति सुवर्णपर्यायेष्वमरः । तेन सदृशं तन्निभमिति नित्यसमासः । पयसि समुद्रोदके अर्धं यथा तथा मग्नं वपुर्यस्य तस्यांशुमतोऽर्कस्य मण्डलं विरिञ्चेर्ब्रह्मणो नखेन विभिन्नस्य द्वेधाविदलितस्य बृहतो महतो जगदण्डकस्य जगदाश्रयकोशस्य ब्रह्माण्डकस्यैकतरखण्डमन्यतरदलमिव रुरुचे रराज । अत्रोपमानस्य पुराणप्रसिद्धत्वादुपमालंकारः ॥

पिघलाये गये सुवर्णके समान (अरुण वर्ण) तथा (पश्चिम समुद्रके) जलमें आधा डूबा हुआ सूर्य-बिम्ब (सृष्टयारम्भमें) ब्रह्माके नखसे दो भागोंमें विदीर्ण विशाल संसारके (आश्रयभूत हिरण्मय) ब्रह्माण्डके एक टुकड़ेके समान शोभने लगा ।

विमर्श—'हिरण्मय अण्डेको द्विधा विदीर्णकर ब्रह्माने संसारकी रचना किस क्रमसे की ?' यह जाननेके लिए मनुस्मृतिके प्रथम अध्यायके ८–१९ श्लोकों को देखना चाहिए ॥

अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधतं वपुः सुखमतापकरम् ।
निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका ॥ १० ॥

अनुरागवन्तमिति ॥ अपरदिक् पश्चिमा सैव गणिका वेश्या अनुरागो लौहित्यमभिलाषश्च तद्वन्तमपि लोचनयोः सुखयतीति सुखं सुखकरं शान्तत्वादाभिरूप्याच्च दर्शनीयं वपुर्दधतमपीति अतापकरमनौष्ण्यादशठत्वाच्चासंतापकारिणं सुखस्पर्शं वा तथाप्यपेतवसु नीरश्मि निर्धनं च । 'देवभेदेऽनले रश्मौ वसू रत्ने धने वसु'इत्यमरः । रविः सूर्यो विटश्च गम्यते । तं वियदाकाशमेवालयो गृहं तस्मान्निरकासयन्निष्कासितवती । धनपरा हि वेश्या निर्गुणमपि धनिकमासर्वस्वहरणादत्यनुरक्तवदनुवर्तन्ते,

गुणवन्तमपि हृतसर्वस्वं निर्वासयन्ति सद्य एवेति भावः । अस्तं गतोऽर्क इति श्लोकार्थः । अत्र वियदालयादपरदिग्गणिकेत्येकदेशरूपणाद्रवेर्विटत्वरूपणावगमादेकदेशविवर्ति रूपकं, श्लेषोऽपि तदुत्थापितत्वादनुराग एवानुरागो वसव एव च वसूनीति रूपकपर्यवसित एवेत्यङ्गम् ॥ १० ॥

पश्चिम दिशारूपिणी वेश्याने अनुराग (ललिमा, पक्षा०—स्नेह) से युक्त तथा (सुन्दर होनेसे) नेत्रोंको सुखप्रद एवं शीतल (पक्षा०—सुखस्पर्श) शरीरको धारण करते हुए भी किरण–रहित (पक्षा० धनरहित) सूर्य (रूपप्रेमी नायक) को आकाशरूपी (अपने) घरसे (बाहर) निकाल दिया ॥ १० ॥

अभितिग्मरश्मि चिरमा[1]विरमादवधानखिन्नमनिमेषतया ।
विगलन्मधुव्रतकुलाश्रुजलं न्यमिमीलदब्जनयनं नलिनी ॥ ११ ॥

अभीति ॥ नलिनी अभितिग्मरश्मि सूर्याभिमुखं चिरमाविरमादस्तमयावनिमेषतया अपचमपाततया । दलसंकोच एवात्र निमेषः । अवधानेनाभिमुखावस्थाननिर्बन्धेन खिन्नमलसम् । अत एव विगलन्निःसरन्मधुव्रतकुलमेवाश्रुजलं यस्य तदब्जमेव नयनं न्यमिमीलत् मीलयति स्म । 'भ्राजभास–' (७।४।३) इत्यादिना विकल्पादुपधाह्रस्वः । अत एव नाभ्यासदीर्घः । अनुरक्ता हि कान्ता कान्तमनिमेषं पश्यन्ती तदपाये सति निमीलिताक्षी स्यादिति भावः । अत्राप्यब्जनयनमित्याद्यवयवरूपणादवयविनोर्नलिनीतिग्मरश्म्योर्नायिकानायकत्वरूपकत्वसिद्धेरेकदेशविवर्ति रूपकम् ॥ ११ ॥

कमलिनी (रूपिणी सूर्यकी नायिका) बहुत समय (सूर्योदयसे लेकर अस्त होनेके समय तक) सूर्यके सामने (पंखुड़ियोंके सङ्कुचित नहीं होनेसे) निर्निमेष होकर देखती थी, किन्तु अब उस (नायक तुल्य सूर्यके अस्त हो जाने पर) सामने देखने में खिन्न होती हुई अर्थात् उस ओर देखनेकी इच्छा नहीं करती हुई (उस कमलिनीने बाहर निकलते अर्थात् बहते हुए) भ्रमर–समूहरूपी अश्रुजलवाले कमलनेत्र (कमलरूप नेत्र, पक्षा०—कमलके समान सुन्दर नेत्र) बन्द कर लिया ।

विमर्श—पतिमें अनुरक्त नायिका उसे चिरकाल तक एकटक देखती है और उसके नहीं रहनेपर दुःखसे आँसू बहाती हुई नेत्र बन्द कर लेती है ॥ ११ ॥

अविभाव्यतारकमदृष्टहिमद्युतिबिम्बमस्तमितभानु नभः ।
अव[2]सन्नतापमतमिस्रमभादपदोषतैव विगुणस्य गुणः ॥ १२ ॥

अविभाव्येति । अविभाव्यतारकमलक्ष्यनक्षत्रम् । अदृष्टं हिमद्युतेरिन्दोर्बिम्बं यस्मिंस्तत् । अद्याप्यनुदितचन्द्रतारकमित्यर्थः । अस्तमित्यदर्शनेऽव्ययम् । अस्तमितोऽस्तं गतो भानुर्यस्मिंस्तत् । एतावता निर्गुणत्वमुक्तम् । अथ निर्दोषत्वमाह–

---

१. 'माविषया—' इति पाठा० ।   २. 'विरतोप—' इति पाठा० ।

अवसन्नतापमर्कास्तमयात्प्रशान्तसंतापम् । अतमिस्रमनुदितान्धकारं नभोऽन्तरिक्षमभाद्भाति स्म । भातेर्लङ् । ननु निर्गुणस्य का शोभेति न वाच्यं, निर्दोषताया अपि गुणत्वादित्यर्थान्तरन्यासेनाह–विगुणस्य गुणहीनस्यापदोषतानिर्दोषत्वमेव गुणः । अतो गुणवत्त्वाच्छोभायुक्तेति कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १२ ॥

जिसमें तारायें दिखलायी नहीं पड़ रही हैं, चन्द्रमण्डल भी दिखलायी नहीं पड़ रहा है, सूर्य अस्त हो गया है, गर्मी शान्त हो गयी है और अन्धकार भी नहीं हुआ है; ऐसा (उक्त गुणयुक्त) आकाश शोभ रहा था; क्योंकि गुणहीनका निर्दोष होना ही गुण होता है ॥ १२ ॥

रुचिधाम्नि भर्तरि भृशं विमलाः परलोकमभ्युपगते विविशुः ।
ज्वलनं त्विषःकथमिवेतरथा सुलभोऽन्यजन्मनि स एव पतिः ॥ १३ ॥

रुचीति ॥ रुचिधाम्नि तेजोनिधौ सूर्ये भर्तरि पत्यौ परलोकं देशान्तरमभ्युपगते, मृते च सति विमलाः शुद्धास्त्विषो ज्वलनं विविशुः । 'अग्निं वावादित्यः सायं प्रविशति' इति श्रुतेरिति भावः । अन्यत्र 'मृते या म्रियते पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता' इति स्मरणादिति भावः । अग्निप्रवेशफलमाह—इतरथा ज्वलनप्रवेशे अन्यजन्मनि जन्मान्तरे स एव स सूर्य एव पतिः, अन्यत्र तु योऽस्मिञ्जन्मनि पतिः स एव कथं सुलभः । न कथञ्चिदित्यर्थः । 'उद्यन्तं वावादित्यमग्निरनुसमारोहति' इति श्रुतेः । तेनैव सह मोदत इति स्मरणादिति भावः । अतोऽग्निप्रवेशो युक्त इति समर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः ॥ १३ ॥

तेजों के आकर (सूर्य–रूप) पतिके परलोक (पश्चिम समुद्र, देशान्तर) में जानेपर (पक्षा०—मरनेपर) विमल (निर्मल, पक्षा०—पतिव्रता होनेसे निर्दोष) नायिकारूपिणी प्रभाएँ अग्निमें प्रविष्ट हो गयीं अर्थात् सूर्यास्त हो जानेपर अग्नि प्रभायुक्त हो गयी (पक्षा०—अग्निमें जलकर सती हो गयीं); क्योंकि अन्यथा जन्मान्तर (पक्षा०—दूसरे दिन प्रातःकाल) में वही (सूर्यरूप) पति (उन प्रभारूपिणी नायिकाओंको) किस प्रकार सुलभ होता ? ॥ १३ ॥

अथ संध्याप्रादुर्भावमाह—

विहिताञ्जलिर्जनतया दधती विकसत्कुसुम्भकुसुमारुणताम् ।
चिरमुज्झितापि तनुरौज्झदसौ न पितृप्रसूः प्रकृतिमात्मभुवः ॥ १४ ॥

विहितेति ॥ जनतया जनसमूहेन । 'ग्रामजन–' (४।२।४३) इत्यादिना समूहार्थे तल्प्रत्ययः । विहिताञ्जलिः । कृतप्रणामेत्यर्थः । विकसत्कुसुम्भकुसुमवदरुणतां दधती राजसत्वादिति भावः । तदुक्तं 'सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितम्' इति । प्रसूत इति प्रसूर्माता । 'जनयित्री प्रसूर्माता' इत्यमरः । पितॄणां प्रसूः पितृप्रसूः असावियं संध्यारूपिणी आत्मभुवो ब्रह्मणस्तनुर्मूर्तिश्चिरमुज्झिता त्यक्तापि प्रकृतिं स्वभावम् । जगद्-

न्यूत्वादिनिजधर्ममित्यर्थः। नौज्झत् न विससर्ज। 'उज्झ विसर्गे' लङ् 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) इत्याडागमः 'आटश्च' (६।१।९०) इति वृद्धिः। भूतपूर्वोऽपि महाजनपरिग्रहः फलतीति भावः। 'पितामहः पितॄन् सृष्ट्वा मूर्तिं तामुत्ससर्ज ह। सा प्रातः सायमागत्य संध्यारूपेण पूज्यते॥' इत्यादि भविष्यपुराणमत्र प्रमाणम्। अत्र तनुत्यागरूपकारणसद्भावेऽपि प्रकृतित्यागरूपकार्यानुदयाद्विशेषोक्तिरलंकारः। 'तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते' इति लक्षणात्॥ १४॥

(अब सन्ध्याके प्रादुर्भावका वर्णन करते हैं) जन-समूहसे नमस्कृत, (राजसी प्रकृति होनेसे) विकसित होते हुए कुसुम्भपुष्पके समान लालिमाको धारण करती हुई, पितरोंकी जननी इस सन्ध्यारूपिणी ब्रह्माकी मूर्तिने चिरकालसे छोड़ी गयी होनेपर भी अपनी प्रकृतिको नहीं छोड़ा॥ १४॥

अथ सान्द्रसान्ध्यकिरणारुणितं हरिहेतिहूति मिथुनं पततोः।
पृथगुत्पपात विरहार्तिदलद्धृदयस्रुतासृगनुलिप्तमिव॥ १५॥

अथेति॥ अथ सन्ध्योदयानन्तरं सान्द्रा ये सान्ध्याः सन्ध्यायां भवाः। 'सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्' (४।३।१६) इत्यण्प्रत्ययः। तैः किरणैररुणितमरुणीकृतमत एव विरहार्त्या विरहवेदनया दलतो दीर्यमाणाद्धृदयात् स्रुतेन क्षरितेनासृजा रुधिरेणानुलिप्तमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा। हरेर्विष्णोर्हेतिरायुधम्। चक्रमित्यर्थः। 'हेतिः शस्त्रे तु नृस्त्रियोः' इति केशवः। हरिहेतेर्हूतिरिव हूतिराह्वा यस्य तद्धरिहेतिहूति। चक्राह्वमित्यर्थः। पततोः पत्त्रिणोः। 'पतत्रिपत्त्रिपतगपतत्पत्त्ररथाण्डजाः' इत्यमरः। मिथुनम्। चक्रवाकद्वन्द्वमित्यर्थः। पृथग्भेदेनोत्पपात उदडीयत॥ १५॥

इस (सन्ध्या होने) के बाद सन्ध्याकालकी सघन किरणोंसे लाल किया गया, विष्णु भगवानके अस्त्र (चक्र) के नामवाला दो पक्षियोंका मिथुन अर्थात् चकवा और चकईकी जोड़ी विरह-पीडासे फटते हुए हृदयसे बहे हुए रक्तसे (सर्वाङ्गमें) अनुलिप्त हुएके समान अलग-अलग (पृथक्-पृथक्) होकर उड़ गया अर्थात् सन्ध्या होनेके उपरान्त रक्तवर्ण चकवा-चकईकी जोड़ी पृथक् होकर उड़ने लगी॥ १५॥

निलयः श्रियः सततमेतदिति प्रथितं यदेव जलजन्म तथा।
[1]दिवसात्ययात्तदपि मुक्तमहो चपलाजनं प्रति न चोद्यमदः॥ १६॥

निलय इति॥ यदेव जले जन्म यस्य तज्जलजन्म जलजमेतदेव सततं श्रियो निलय आलय इति प्रथितं प्रसिद्धम्। 'निकाय्यनिलयालयाः' इत्यमरः। तदपि। नित्यवासभूतमपीत्यर्थः। तया श्रिया दिवसात्यये सायंकाले मुक्तम्। अहो देवानामपि कृतघ्नत्वं यदापदि महोपकारिणस्त्याग इत्याश्चर्यम्। अथवा चपला चापलवती स्त्री कमला च। 'चपला कमलाविद्युत्पुंश्चलीपिप्पलीषु च' इति विश्वः। सैव जनश्च-

१. व्याख्याया अर्थस्य चानुरोधात् 'दिवसात्यये तदपि' इति पाठः साधीयान् प्रतिभाति।

पलजनः। 'जातेश्च' (६।३।४१) इति 'संज्ञापूरण्योश्च' (६।३।३८) इति चोभयत्रापि पुंवद्भावप्रतिषेधः। तं प्रति। तस्मिन्नित्यर्थः। अत्र इदं कृतघ्नत्वं चोद्यं चोदनीयं कथमित्याक्षेप्यं न। चपलत्वान्नाश्चर्यमेतदिति भावः। श्लेषमूलातिशयोक्त्यनुप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यासः॥ १६॥

जो कमल--यही अर्थात् यह कमल-ही लक्ष्मीके नित्य निवास करनेका स्थान है, उसका भी उस लक्ष्मीने सायङ्कालमें त्याग कर दिया, (देवताओंका भी ऐसे नित्योपकारीका आपत्तिकालमें त्यागकर कृतघ्न बन जाना) आश्चर्य है, अथवा चञ्चल स्वभाववाली स्त्री (पक्षा०—लक्ष्मी) के विषममें यह (कृतघ्नत्व, कैसे हुआ? यह) आश्चर्यजनक नहीं है (क्योंकि लक्ष्मी (पक्षा०—स्त्री जाति) स्वभावतः चञ्चल होती है)॥ १६॥

दिवसोऽनुमित्रमगमद्विलयं किमि[1]हास्यते बत मयाबलया।
रुचिभर्तुरस्य विरहाधिगमादिति संध्ययापि सपदि व्य[2]गमि॥ १७॥

दिवस इति॥ दिवसो वासरः। पुमानिति भावः। मित्रं सूर्यं, सुहृदं चानु। मित्रेण सहेत्यर्थः। 'तृतीयार्थे' (१।४।८५) इत्यनोः कर्मप्रवचनीयत्वाद् द्वितीया। 'मित्रं सुहृदि मित्रोऽर्के' इति विश्वः। विलयं नाशमगमद्गतः। गमेर्लुङि 'पुषादि—'(३।१।५५) इति च्लेरङादेशः। अबलया स्त्रिया मया सुचिभर्तुस्तेजोनिधेः प्रेमास्पदपतेश्चास्य सूर्यस्य विरहाधिगमात्। ल्यब्लोपे पञ्चमी। विरहज्ञानं प्राप्येत्यर्थः। इहास्मिँल्लोके किमास्यते किमर्थं स्थीयते। आसेर्भावे लिट्। बतेति खेदे। इतीत्थमालोच्येवेत्यर्थः। अत एव उत्प्रेक्षा। सन्ध्ययापि सपदि व्यगमि। व्यपागामीत्यर्थः। गमेः स्वार्थण्यन्ताद्भावे लुङ्। मित्त्वाद्ध्रस्वः। 'अण्यन्तादुपधावृद्धिर्नायं स्याद्धेतुमण्णिचि। तस्मात् स्वार्थे णिजुत्पाद्यो मितां ह्रस्वो यतो भवेत्॥' विगमशब्दात् 'तत्करोति—' (ग०) इति ण्यन्तात्लुङिति केचित्॥ १७॥

दिन (रूपी पुरुष) मित्रके बाद अर्थात् सूर्यके अस्त होनेके बाद (पक्षा०—मित्रके मर जानेके बाद) नष्ट हो गया, अब अबला (बलहीना, अथ च स्त्री) मैं किस प्रकार इस संसारमें निवास करूँ? अर्थात् पतिरूप सूर्य तथा उसके मित्र दिनके नष्ट हो जानेपर बलहीना मुझ स्त्री जातिको अकेली यहाँ (इस संसारमें, या इस स्थानपर) रहना उचित नहीं है, मानो ऐसा विचार कर सन्ध्या भी नष्ट (समाप्त) हो गयी अर्थात् मर गयी (पक्षा०—बीत गयी)॥ १७॥

अथान्धकारं वर्णयति—

पतिते पतङ्गमृगराजि निजप्रतिबिम्बरोषित [3]इवाम्बुनिधौ।
अथ नागयूथमलिनानि जगत्परितस्तमांसि परितस्तरिरे॥ १८॥

पतित इति॥ पतङ्गोऽर्क एव मृगराट् सिंह इति रूपकसमासः। तस्मिन्निजेन

१. 'किमिव—' इति पा०। २. 'न्यशमि' इति पा०। ३. '—म्बुनिधिम्' इति पा०।

प्रतिबिम्बेन रोषिते कोषित इत्येरुत्प्रेक्षा। स्वप्रतिबिम्बे प्रतिसिंहभ्रमादिति भावः। अत एवाम्बुनिधौ पतिते सति। तज्जिघांसयेति भावः। भावलक्षणसप्तमी। अथाम्बु पतनानन्तरं नागयूथानि करिकुलानीव मलिनानि श्यामानि। 'उपमानानि सामान्य वचनैः' (२।१।५५) इति समासः। तमांसि जगल्लोकं परितः परितस्तरिरे आच्छादयामासुः। स्तृणातेः कर्तरि लिट्। 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' (७।४।१०)। अत्र यद्यपि नागयूथमलिनानीत्युक्त्यानुशासनसिद्धोपमानुसारात् पतङ्गमृगराजीत्यत्राप्युपमितसमासाश्रयणेनोपमैवोचिता, तथापि तदुत्प्रेक्षायाः पतङ्गेऽसंभवात् सिंहे संभवाच्च रूपकमेव युक्तम्। तथा च रूपकानुप्राणितोत्प्रेक्षेयमुपमेति च संकरः। तत्रोत्प्रेक्षया भ्रान्तिमदुपमया रूपकं च व्यज्यत इत्यलंकारेणालंकारध्वनिरिति संक्षेपः ॥ १८ ॥

(अब सात श्लोकों (९।१८–२४) से अन्धकारका वर्णन करते हैं) मानो अपने प्रतिबिम्बसे क्रुद्ध किये गये सूर्यरूपी सिंहके (पश्चिम) समुद्रमें कूदनेपर हाथियोंके झुण्डके समान काले-काले अन्धकारने सम्पूर्ण संसारको आच्छादित कर लिया।

विमर्श—यहांपर अपने प्रतिबिम्बको समुद्रजलमें देख उसे दूसरा प्रतिद्वन्द्वी सिंह समझकर क्रुद्ध सूर्यरूपी सिंहको समुद्रमें कूदनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है, जैसा कि कथासरित्सागर, पञ्चतन्त्र तथा हितोपदेशमें लद्धृत की गयी शशक और सिंहकी कथामें कहा गया है॥

> व्यसरन्नु भूधरगुहान्तरतः पटलं बहिर्बहलपङ्करुचि।
> दिवसावसानपटुनस्तमसो बहिरेत्य चा[1]धिकमभक्त गुहाः ॥ १९ ॥

व्यसरदिति ॥ बहलपङ्करुचि सान्द्रकर्दमच्छवि दिवसावसाने दिनान्ते पटुनः समर्थस्य तमसः पटलं भूधरगुहानामन्तरतोऽभ्यन्तरादेत्यागत्य बहिर्गत्वाद्यप्रदेशे व्यसरन्नु विस्तृतं वा, बहिर्बाह्यदेशादेत्य गुहा अधिकं भृशमभक्त च भजते स्म। किं प्रविष्टं वेत्यर्थः। भजतेर्लुङि तङ् 'झलो झलि' (८।२।२६) इति सकारलोपः। अत्र व्यापकत्वसादृश्यात्तमसोऽन्तर्बहिरपादानकत्वसन्देहालङ्कारः ॥ १९ ॥

दिनके बीत जानेपर अत्यधिक बढ़े हुए तथा गाढ़े पङ्कके समान काली कान्तिवाला यह अन्धकारका समूह पर्वतकी गुफाओंसे (बाहर निकलकर) फैला है क्या? अथवा बाहरसे आकर गुफाओंका अत्यन्त सेवन कर रहा था क्या। अर्थात् गुफाओंमें घुस गया था क्या?॥

> किमलम्बताम्बरविलग्नमधः किमवर्धतोर्ध्वमवनीतलतः।
> [2]विससार तिर्यगथ दिग्भ्य इति प्रचुरीभवन्न निरधारि तमः ॥ २० ॥

युग्मम् (१९–२०)

किमिति ॥ प्रचुरीभवद्बहुलीभवत्तमः कर्तृ, किमम्बरविलग्नमाकाशस्थं सत् अधो भूतलं प्रति अलम्बतास्रंसत किमिव अवनीतलतो भूतलादूर्ध्वमुपरिष्टादवर्धत किम्। अथ दिग्भ्यस्तिर्यग्विससार वितृस्तमिति न निरधारि। अधोलम्बनादीना-

१. 'वाऽधिक—' इति पा०। २. 'प्रससार' इति पा०।

मन्यतमं नावधारितमित्यर्थः । धारयतेः कर्मणि लुङ् । अत्रापि पूर्ववत्सन्देहालंकारः॥

अथवा आकाशमें स्थित बढ़ता हुआ अन्धकार नीचे पृथ्वीकी ओर लटकता था क्या ? अथवा पृथ्वीतलसे ऊपर (आकाश) की ओर बढ़ रहा था क्या ? अथवा दिशाओंसे तिर्छे (सब ओर) फैल रहा था क्या ? इस प्रकार (बढ़ते हुए) उस अन्धकारका निर्णय नहीं हो सका (कि कहांसे वह इतना अधिक बढ़ता जा रहा है) ॥ २० ॥

स्थगिताम्बरक्षितितले परितस्तिमिरे जनस्य दृशमन्धयति ।
दधिरे रसाञ्जनमपूर्वमतः प्रियवेश्मवर्त्म सुदृशो ददृशुः ॥ २१ ॥

स्थगितेति ॥ स्थगिते तिरोहिते अम्बरक्षितितले येन तस्मिंस्तिमिरे परितो जनस्य दृशमन्धयति अन्धां कुर्वति सति सुदृशः स्त्रियोऽपूर्वं नूतनं रसाञ्जनं रसं रागमेवाञ्जनं, सिद्धाञ्जनं च दधिरे दधुः । अतो हेतोः प्रियवेश्मवर्त्म ददृशुः । अत्र रसाञ्जनवाक्यार्थेन प्रियवेश्मदर्शनसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः । तेन रसः सिद्धाञ्जनमिवेत्युपमाध्वननादलंकारेणालंकारध्वनिः ॥ २१ ॥

आकाश तथा भूतलको आच्छादित करनेवाले अन्धकारके लोगोंकी दृष्टिको अन्धा करते रहनेपर अर्थात् किसी पदार्थके दृष्टिगोचर नहीं होनेपर सुलोचनाओं (सुन्दर नेत्रवाली रमणियों) ने अपूर्व सुर्मे (पक्षा०--अनुरागरूपी अञ्जन) को धारण किया और इससे (आँखमें सुर्मा लगानेसे. पक्षा०--नया अनुराग होनेसे) वे प्रियोंके भवनके मार्गको देखने लगीं अर्थात् प्रियके भवनोंका रास्ता ग्रहणकर अभिसार करने लगीं ॥ २१ ॥

अवधार्य कार्यगुरुतामभवन्न भयाय सान्द्रतमसन्तमसम् ।
सुतनोः स्तनौ च दयितोपगमे तनुरोमराजिपथवेपथवे ॥ २२ ॥

अवधार्येति ॥ सान्द्रतमं यत्सन्तमसं व्यापकं तमः । 'विष्वक्सन्तमसम्-' इत्यमरः । 'अवसमन्धेभ्यस्तमसः' (५।४।७९) इति समासान्तोऽच् प्रत्ययः । तत्कर्तृ सुतनोः शुभाङ्गया दयितोपगमे प्रियाभिसरणे कार्यगुरुतां सम्भोगकार्यस्यावश्यकत्वमवधार्य निश्चित्य भयाय नाभवत् । स्तनौ कुचौ च तनुः कृशो यो रोमराजेः पन्थाः रोमराजिपथो मध्यभागस्तस्य वेपथवे कम्पाय । 'ट्वितोऽथुच्' (३।३।८९) इत्यथुच्प्रत्ययः । नाभवतामिति विपरिणामेनानुषङ्गः । कार्यासक्तस्य तत्रापि कामुकस्य कुतो भयं क्लेशगणना चेति भावः । अत्र संतमसकुचयोः कामनिमित्ते भयकम्पानुदये कार्यगौरवावधारणहेतुकत्वोत्प्रेक्षेयमनेन व्यज्यते ॥ २२ ॥

अत्यन्त घनीभूत अन्धकार रमणीके प्रियतमकी प्राप्तिरूप कार्य-गौरवको निश्चय कर भयके लिये नहीं हुआ और दोनों स्तन भी पतले रोमावलि मार्ग (मध्यभाग-कटिप्रदेश) को कम्पित करनेके लिए नहीं हुए अर्थात् अत्यन्त घने अन्धकारके होनेपर भी रमणी निर्भय होकर प्रियतमके पास जानेके लिए तैयार हो गयी [कार्यार्थी (उसमें भी कामी) को अन्धकारजन्य भय या क्लेशकी चिन्ता नहीं हुआ करती] ॥ २२ ॥

ददृशेऽपि भास्कररुचाह्नि न यः स तमीं तमोभिरभिगम्य तताम्।
द्युतिमग्रहीद्ग्रहगणो लघवः प्रकटीभवन्ति मलिनाश्रयतः ॥ २३ ॥

ददृश इति ॥ यो ग्रहगणोऽहनि सवितुस्त्विषा न ददृशे नेक्षितः स ग्रहगणस्तमोभिस्ततां व्याप्तां ताम्यन्त्यस्यामिति तमीं रात्रिम्। 'रजनी यामिनी तमी'इत्यमरः। अभिगम्य प्राप्य द्युतिमग्रहीत्। ग्रहेर्लुङि 'ग्रहोऽलिटि-' (७।२।३७) इति इटो दीर्घत्वेऽपि स्थानिवत्त्वेनेट्त्वात् सिचो लोपे सवर्णदीर्घः। तथा हि—लघवोऽल्पाः। 'त्रिष्विष्टेऽल्पे लघुः' इत्यमरः। मलिनाश्रयतो निकृष्टाश्रयणात् प्रकटीभवन्ति। अर्थान्तरन्यासः ॥ २३ ॥

जो तारा-समूह दिनमें सूर्यकी प्रभासे (अन्तर्हित रहनेके कारण) दिखलायी भी नहीं दिया वह बहुत अन्धकारसे व्याप्त रात्रिको प्राप्तकर चमकने लगा, क्योंकि छोटे लोग (पक्षा०—नीच प्रकृतिवाले क्षुद्रलोग) मलिनों (पक्षा०—तुच्छाभिप्रायवालों अर्थात् पापियों) के आश्रयसे प्रकट होते हैं ॥ २३ ॥

अनुलेपनानि कुसुमान्यबलाः कृतमन्यवः पतिषु दीपशिखाः[2]।
समयेन तेन चिरसुप्तमनोभवबोधनं[3] सममबोधिषत ॥ २४ ॥

अनुलेपनानीति ॥ तेन समयेन प्रदोषकालेन कर्त्रा, अनुलेपनानि कुङ्कुमचन्दनादीनि कुसुमानि माल्यादीनि। तथा पतिषु कृतमन्यवः कृतकोपा अबलाः स्त्रियः तथा दीपशिखाः दीपज्वालाश्चेत्येतानि सर्वाणि चिरं सुप्तस्य पूर्वं स्तब्धस्य मनोभवस्य कामस्य बोधनमुद्दीपनं यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा। तत्पूर्वकमित्यर्थः। इतरथा अनुलेपनादिबोधकस्य वैफल्यासम्भवाच्चेति भावः। समं सहैवावबोधिषत बोधितानि। बुध्यतेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ्। अत्र गन्धमाल्यसम्पादनस्त्रीमनःप्रसाददीपशिखोत्पादनानामबोधिषतेत्येकेन श्लिष्टशब्देनाभिधानात् श्लेषमूलाभेदाध्यवसायरूपातिशयोक्तिरेका। तथा सुप्तमनोभवबोधनमिति क्रियाविशेषणसामर्थ्यात् सममिति यौगपद्याभिधानाच्च मनोभवबोधनया कार्यकारणभूतयोस्तद्विपर्ययरूपापरा। तदुभयापेक्षया गन्धमाल्यादीनां प्रस्तुतानामबोधनरूपैकधर्मसम्बन्धात्तुल्ययोगिताभेदश्चेति सङ्करः ॥ २४ ॥

उस समय (प्रदोषकाल) ने (चन्दनकुङ्कुमादि) लेप, पुष्प (सौरभयुक्त पुष्प तथा पुष्पमालादि), पतियोंके ऊपर क्रुद्ध रमणियाँ और दीपकोंकी लौ—इन सबोंने चिरकालसे सोये (शिथिल पड़े) हुए कामदेवको प्रतिबोधित (उत्तेजित) करते हुए एक साथ प्रकट कर दिया अर्थात् इन सब सामग्रियोंसे चिरकालसे शिथिल पड़ी हुई कामीजनोंकी कामवासना उत्तेजित हो गयी ॥ २४ ॥

---

१. 'ददृशेऽथ' इति पा०। २. 'दीपदशाः' इति पा०। ३. 'सुचिरं शयितप्रतिबोधितस्मरमबो-' इति पा०।

अथ चन्द्रोदयवर्णनं प्रारभते—

वसुधान्तनिःसृतमिवाहिपतेः पटलं फणामणिसहस्ररुचाम् ।
स्फुरदंशुजालमथ शीतरुचः ककुभं समस्कुरुत माघवनीम्[1] ॥२५॥

वसुधेति ॥ अथ मनःप्रसादानन्तरं वसुधान्तेन भूप्रान्तेन निःसृतं बहिर्निर्गतमहिपतेः शेषस्य फणामणिसहस्राणां रुचां भासां पटलं स्तोम इवेत्युत्प्रेक्षा । शीतरुचश्चन्द्रस्य सम्बन्धि स्फुरदुल्लसदंशुजालं मघोन इमां माघवनीं माहेन्द्रीम् । 'मघवा बहुलम्' (६।४।१२८) इति विकल्पान्न आदेशः । ककुभं दिशं समस्कुरुतामूषयत । प्राच्यां दिशि चन्द्रकिरणजालमलंचयतेत्यर्थः । 'सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे' इति सम्पूर्वस्य सुडागमः 'अडभ्यासव्यवायेऽपि' (वा०) इति नियमात् ॥ २५ ॥

(अन्धकारका वर्णन करनेके उपरान्त अब अठारह श्लोकों (९।२५–४२) से चन्द्रोदयका वर्णन करते है) अनन्तर सर्पराज (पृथ्वीको धारण करनेवाले शेषनाग) की सहस्र फणाओंके रत्नोंकी कान्तिके समूहके समान, चन्द्रमाके स्फुरित होते हुए किरण–समूहने पूर्वदिशाको भूपित कर दिया अर्थात् पूर्वदिशामें उदित होते हुए चन्द्रमाका किरण–समूह ऐसा दिखलायी पड़ने लगा कि मानो पृथ्वीतलसे निकला हुआ शेषनागके सहस्र फणाओंमें स्थित नागमणियोंकी कान्तिका समूह हो ॥ २५ ॥

विशदप्रभापरिगतं विबभावुदयाचलव्यवहितेन्दुवपुः ।
मुखमप्रकाशदशनं शनकैः सविलासहासमिव शक्रदिशः ॥ २६ ॥

विशदेति ॥ विशदप्रभापरिगतं शुभ्रकान्तिव्यासम् । उदय इति अचलः । 'उदयः पूर्वपर्वतः' इत्यमरः' । तेन व्यवहितमिन्दुवपुरिन्दुमण्डलं यस्मिन् शक्रदिशः प्राच्या मुखमग्रभागः वक्त्रं च प्रतीयते तदभेदेनोत्प्रेक्ष्यते । अप्रकाशदशनमलक्ष्यदन्तं सविलासहासं सविलासस्मितमिव शनकैर्मन्दं विबभौ ॥ २६ ॥

शुभ्र चाँदनीसे व्याप्त तथा उदयाचलसे छिपा हुआ चन्द्रमण्डलवाला पूर्वदिशाका अग्रभाग (पक्षा०—पूर्वदिशारूपिणी नायिकाका मुख) जिसमें दाँत नहीं दिखलायी पड़ते हैं ऐसे मन्द मन्द विलासपूर्वक किये गये हास (मुस्कुराहट) के समान शोभने लगा ॥२६॥

कलया तुषारकिरणस्य पुरः परिमन्दभिन्नतिमिरौघजटम् ।
क्षणमभ्यपद्यत जनैर्न मृषा गगनं गणाधिपतिमूर्तिरिति ॥ २७ ॥

कलयेति ॥ पुरः प्राच्यामग्रभागे च तुषारकिरणस्येन्दोः कलया किरणेन अन्यत्रोपलक्षितं परिमन्दमल्पं भिन्ना विदलितास्तिमिरौघा एव जटा यस्य तत् गगनं न मृषा सत्यम् । गणाधिपतेः प्रमथपतेरीश्वरस्य । 'गणाः प्रथमसंख्यौघाः' इति वैजयन्ती । मूर्तिरिति जनैः क्षणमभ्यपद्यत । गगनमष्टानां शिवमूर्तीनामन्यतममिति यत्

[1] 'माघवतीम्' इति पा० ।

त्तसत्यम्, अभिपन्नमित्यर्थः। कलामात्रोदितश्चन्द्र इति फलितोऽर्थः। रूपकालङ्कारः॥

पूर्व दिशामें (पक्षा०—सामने या पहले) चन्द्रमाकी कला (षोडशांश) से थोड़ा विदीर्ण किये गये अन्धकाररूपी जटावाले आकाशको लोगोंने यह (प्रमथ आदि) गणोंके नायक (शिवजी) की मूर्ति है ऐसा क्षणमात्र (थोड़े समय) के लिए ठीक ही समझा।

विमर्श—'पृथिवी सलिलं तेजो वायुराकाशमेव च। सूर्याचन्द्रमसौ सोमयाजी चेत्यष्टया-मूर्तयः ॥' इस 'यादव' वचनके अनुसार शिवजीकी आठ मूर्तियोंमें एक आकाश भी है, अत एव अन्धकारको कुछ विदीर्ण करती हुई जब चन्द्रमाकी एक कला दृष्टिगोचर होती थी, तब 'यह चन्द्रकला शिवजीकी जटाको विदीर्ण कर स्थित हो रही है, अत एव यह आकाश शिवजीकी मूर्ति है' ऐसा लोगोंने क्षणमात्रके लिए ठीक ही समझा। भाव यह है कि चन्द्रमा का थोड़ा-सा भाग दृष्टिगोचर होने लगा ॥ २७ ॥

नवचन्द्रिकाकुसुमकीर्णतमःकबरीभृतो मलयार्द्रमिव।
ददृशे ललाटतटहारि हरेर्हरितो मुखे तुहिनरश्मिदलम् ॥ २८ ॥

नवेति ॥ नवचन्द्रिकाभिरेव कुसुमैः कीर्णं तम एव कबरी केशपाशः। 'जानपद-' (४।१।४२) इत्यादिना ङीप्। तां बिभर्तीति तद्भृतः हरेः शक्रस्य हरितो दिशो मुखेऽग्रभाग एव मुखं वक्त्रमिति। श्लिष्टरूपकम्। तस्यैव ललाटतटवद्धारि मनोहरं हिमरश्मिदलमिन्दुखण्डं मलयजेन चन्दनेनार्द्रमिव ददृशे। धावल्यादि भावः। अत्र नवचन्द्रिकाकुसुमेत्याद्येकदेशविवर्तिरूपकमहिम्ना हरिवधूत्वप्रतीतौ तत्सहकृतश्लेषावगतवक्त्राभेदाध्यवसितमुखप्रम्बन्धप्रसादासादितललाटतटोपमोज्जीवनेनेन्दुदलस्यानुपात्तनिजधावल्यगुणनिमित्तमलयजार्द्रत्वगुणस्वरूपोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ २८ ॥

नयी चाँदनीरूप पुष्पोंसे व्याप्त (पक्षा०—सजाये गये) अन्धकाररूपी केशसमूहको धारण करती हुई पूर्व दिशाके अग्रभाग (पक्षा०—तद्रूपिणी नायिकाके मुख) में ललाट-प्रदेशके समान मनोहर चन्द्रमाका आधा भाग मलयज चन्दनसे गीलेके समान दृष्टिगोचर होने लगा ॥ २८ ॥

प्रथमं कलाभवदथार्धमथो हिमदीधितिर्महदभूदुदितः।
दधति ध्रुवं क्रमश एव न तु द्युतिशालिनोऽपि सहसोपचयम् ॥ २९ ॥

प्रथममिति॥ हिमदीधितिश्चन्द्रः प्रथमं कला कलामात्रमभवत्। 'कला तु षोडशो भागः' इत्यमरः। अथार्धमात्रमभवत्। अथो अनन्तरम्। 'अथो अथ' इत्यमरः। उदितः साकल्यादुत्थितः सन् अमहान्महान्सम्पद्यमानोऽभून्महदभूत्। अभूत-तद्भावे च्विः। हलन्तत्वान्न कार्यान्तरप्राप्तिः। तथा हि—द्युतिशालिनस्तेजिष्ठा अपि क्रमशः क्रमेणैवोपचयं वृद्धिं दधति, सहसा झटिति तु न दधति ध्रुवम्। सामान्ये विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २९ ॥

---

१. 'मुखस्य हिम—' इति पा०। २. 'क्रमत···प्रथितौजसोऽपि' इति पा०।

पहले चन्द्रमा कलामात्र (सोलहवां भाग) था, बादमें आधा था और (सम्पूर्ण) उदित होनेपर विशाल हो गया क्योंकि यह सच है कि तेजस्वी लोग भी क्रमशः (धीरे-धीरे) ही वृद्धिको प्राप्त करते हैं, सहसा (एकाएक) वृद्धिको नहीं प्राप्त करते ॥ २९ ॥

उदमज्जि कैटभजितः शयनादपनिद्रपाण्डुरसरोजरुचा ।
प्रथमप्रबुद्धनदराजसुतावदनेन्दुनेव तुहिनद्युतिना ॥ ३० ॥

उदमज्जीति ॥ अपनिद्रपाण्डुरसरोजरुचा विकसितसितपुण्डरीकश्रिया तुहिनद्युतिना चन्द्रेण प्रथमं हरेः पूर्वमेव प्रबुद्धायाः । अन्यथा तन्मुखं न दृश्येतेति भावः । नदराजसुतायाः सिन्धुकन्यायाः श्रियो वदनेन्दुनेवेत्युत्प्रेक्षा । कैटभजितो हरेः शयनात् । समुद्रादित्यर्थः । उत्प्रेक्षासम्भादनार्थमित्थं निर्देशः । उदमज्जि उन्मग्नम् । उत्थितमित्यर्थः ॥ ३० ॥

विकसित श्वेत कमलके समान शुभ्र कान्तिवाला चन्द्रमा मानो (विष्णु भगवान्के जगनेसे) पहले ही जगी हुई नदीके स्वामी (समुद्र) की कन्या अर्थात् लक्ष्मीके मुखचन्द्रके समान कैटभासुरविजेता (विष्णु भगवान्) की शय्या अर्थात् समुद्रतलसे ऊपर उठा ॥३०॥

अथ लक्ष्मणानुगतकान्तवपुर्जलधिं विलङ्घ्य[1] शशिदाशरथिः ।
परिवारितः परित ऋक्षगणैस्तिमिरौघराक्षसकुलं[2] बिभिदे ॥ ३१ ॥

अथेति ॥ अथोदयानन्तरं लक्ष्मणा लाञ्छनेन लक्ष्मणेन सौमित्रिणा चानुगतमनुसृतं कान्तं वपुर्यस्य सः । लक्ष्मणानुगतकान्तवपुरिति शब्दश्लेषः । वस्तुतः शब्दभेदेनार्थद्वयाभावेऽपि जतुकाष्ठवदेकशब्दप्रतीतेः । परितः समन्तादृक्षगणैर्नक्षत्रगणैः, जाम्बवदादिभल्लूकसमूहैश्च इत्यर्थश्लेषः । एकनालावलम्बिफलद्वयवदखण्डैकशब्दादर्थद्वयप्रतीतेः । 'नक्षत्रमृक्षं भं तारा' इति । 'ऋक्षाच्छभल्लभल्लूका' इति चामरः । परिवारितः शश्येव दाशरथिर्दशरथपुत्रो रामः । अत इञ् । जलधिं विलङ्घ्य तिमिरौघ एव राक्षसकुलं तत् बिभिदे विभेदयामास । भिदेः कर्तरि लिट् । श्लेषसङ्कीर्णसमस्तवस्तुवर्तिसावयवरूपकालङ्कारः ॥ ३१ ॥

तदनन्तर शशकरूप चिह्न (पक्षा०—सुमित्रानन्दन लक्ष्मणजी) से अनुगत सुन्दर शरीरवाले, चारो ओरसे नक्षत्रसमूह (पक्षा०—जाम्बवान् आदि भालुओंके झुण्ड) से घिरे हुए चन्द्रमारूपी रामचन्द्रने समुद्रको लाँघकर अन्धकारसमूहरूपी राक्षसवंश (या राक्षस-समूह) का नाश कर दिया ॥ ३१ ॥

उपजीवति स्म सततं दधतः परिमुग्धतां वणिगिवोडुपतेः ।
घनवीथिवीथिमवतीर्णवतो निधिरम्भसामुपचयाय कलाः ॥ ३२ ॥

उपजीवतीति ॥ अम्भसां निधिः समुद्रो वणिगिव सततं परिमुग्धतां सौन्दर्यम्, अन्यत्र मौढ्यम् । व्यवहारानभिज्ञतामिति यावत् । 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इति

[1] 'व्यतीत्य' इति पा० ।
[2] '—बलम्' इति पा० ।

विश्वः। दधतो दधानस्य घनानां वीथिर्घनवीथिरन्तरिक्षं सा वीथिः पण्यवीथिरिवेत्युपमितसमासः। तामवतीर्णवतः प्रविष्टवत उडुपतेर्नक्षत्रनाथस्य कस्यचिद्धनिकवणिजश्च कलाः षोडशांशान्मूलधनवृद्धीश्च। 'कला स्यान्मूलरैवृद्धौ शिल्पादावंशमात्रके। षोडशांशेऽपि चन्द्रस्य' इति विश्वः। उपचयाय स्वाम्बुवृद्धये समृद्धये चोपजीवति स्म सेवते स्म। अन्यत्र लभते स्मेत्यर्थः। यथा क्रियाविकुशलो ह्यकुशलान्महान्तं लाभमाप्नोति तद्वदिति भावः। श्लेषसङ्कीर्णेयमुपमा। उपमासङ्कीर्णः श्लेष इत्यन्ये ॥ ३२ ॥

समुद्र बनियेके समान, सुन्दरता (पक्षा०—जडता अर्थात् व्यवहारज्ञानशून्यता) को धारण करते हुए मेघमार्ग (आकाश) रूपी बाजारमें उतरे (आये) हुए नक्षत्रस्वामी (चन्द्रमा, पक्षा०—किसी धनिक व्यापारी) की कलाओं (सोलहों कलाओं, पक्षा०—मूल धनकी वृद्धि) को अपनी उन्नतिके जलकी वृद्धि, (पक्षा०—धनकी वृद्धि) के लिए सेवन (पान) करने लगा अर्थात् चन्द्रकलाओंका पानकर समुद्रका जल उस प्रकार बढ़ गया, जिस प्रकार बाजारमें आये हुए व्यापारकी कलाको नहीं जाननेवाले किसी व्यापारीके धनको कपटपूर्वक लेकर किसी चतुर बनियेकी सम्पत्ति बढ़ जाती है ॥ ३२ ॥

रजनीमवाप्य रुचमाप शशी सपदि व्यभूषयदसावपि ताम्।
अविलम्बितक्रममहो महतामितरेतरोपकृतिमच्चरितम् ॥ ३३ ॥

रजनीमिति ॥ शशी रजनीमवाप्य रुचं शोभामाप। असौ शश्यपि तां रजनीं सपदि व्यभूषयत्। महतां सतां चरितमविलम्बितक्रमं यथा तथा इतरेतरोपकृतिमत् अन्योन्योपकारवत् अहो इत्यविलम्बादाश्चर्यम्। अत्र रजनीशशिनोर्मिथः शोभाकरत्वादन्योन्यालङ्कारः। 'तदन्योन्यं मिथो यत्रोत्पाद्योत्पादकता भवेत्' इति लक्षणात्। तत्समर्थकश्चायमर्थान्तरन्यास इत्यङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३३ ॥

रात्रिको प्राप्तकर चन्द्रमा शोभित हुआ तथा इस चन्द्रमाने भी उस रात्रिको शोभितकर दिया, क्योंकि बड़े लोगोंका स्वभाव होता है कि परस्परमें एक दूसरेका तत्काल उपकार कर दिया करते हैं, अहो यह आश्चर्य है ॥ ३३ ॥

दिवसं भृशोष्णरुचिपादहता रुदतीमिवानवरतालिरुतैः।
मुहुरामृशन् मृगधरोऽग्रकरैरुदशिश्वसन् कुमुदिनीवनिताम् ॥ ३४ ॥

दिवसमिति ॥ मृगधरश्चन्द्रो दिवसम्। दिवस इत्यर्थः। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे द्वितीया। भृशमुष्णरुचेरुष्णांशोः पादेन करेण, अङ्घ्रिणा च 'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः' इत्यमरः। हतां ताडिताम्। अत एवानवरतैरविच्छिन्नैरलिरुदतीं क्रन्दन्तीमिव स्थितां कुमुदिन्येव वनिता ताम्। अग्राणि च ते कराश्च इत्यभेदेन समास इति वामनः। तैरग्रकरैरग्रांशुभिरग्रहस्तैः मुहुरामृशन् स्पृशन् उदशिश्वसदुच्छ्वासयति स्म। परावमृष्टानां पतिभिराश्वासनीयत्वादिति भावः। श्वसधातोः

'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१)। अत्र पाद एव पादस्तेन हतामिति हननसाधितश्लिष्टरूपकोत्थापितेयमलिरुतैरिति व्यधिकरणपरिणामगर्भा रोदनोत्प्रेक्षेति विजातीयसङ्करः। तथा करैरेव करैः कुमुदिनीवनितेति श्लिष्टाश्लिष्टरूपणान्मृगधरे वल्लभत्वप्रतीतेरेकदेशवर्ति रूपकं तत्सापेक्षेयमुदश्विसदिति गम्योत्प्रेक्षेति सजातीयसंकरः। रोदनोत्प्रेक्षासापेक्षेयमुच्छ्वासनोत्प्रेक्षेति सजातीयसङ्करोऽपि ॥ ३४ ॥

चन्द्रमाने दिनमें अत्यन्त उष्ण किरणवाले (सूर्य) की किरणों (पक्षा०—चरणों) से ताडित, निरन्तर भ्रमरध्वनियोंसे मानो रोती हुई-सी कुमुदिनीरूपी अपनी स्त्रीको किरणाग्रों (पक्षा०—हाथके अग्रभाग हथेली) से बार-बार सहलाता (प्रेमपूर्वक स्पर्श करता) हुआ आश्वस्त किया ॥ ३४ ॥

प्रतिकामिनीति ददृशुश्चकिताः स्मरजन्मघर्मपयसोपचिताम्[1]।
सुदृशोऽभिभर्तृ शशिरश्मिगलज्जलबिन्दुमिन्दुमणिदारुवधूम् ॥ ३५ ॥

प्रतीति ॥ सुदृशोऽङ्गना अभिभर्तृ भर्तारमभि। 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' (२।१।१४) इत्यव्ययीभावः। शशिरश्मिभिर्गलन्तः स्रवन्तो जलबिन्दवो यस्यास्ताम्, इन्दुमणिश्चन्द्रकान्तशिला सैव दारु तस्य वधूस्तन्मयी वधूः स्त्रीप्रतिमा तां स्मराजन्म यस्य तेन स्मरजन्मना घर्मपयसा स्वेदाम्बुनोपचितां व्याप्ताम्। स्विन्नगात्रामित्यर्थः। प्रतिकूला कामिनी प्रतिकामिनी। सपत्नीति भ्रान्त्येति शेषः। चकिता भीता ददृशुः। अत्र चन्द्रशिलापुत्रिकायां सादृश्यनिबन्धनया प्रतिकामिनीभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ३५ ॥

सुलोचनाओंने पतिके सम्मुख चन्द्रकिरणों (के स्पर्श) से टपकते हुए जल-बिन्दुओं वाली चन्द्रकान्तमणिरूप काष्ठकी स्त्री (प्रतिमा) को कामजन्य स्वेदजलसे व्याप्त सपत्नी जानकर उसे चकित होकर देखा ॥ ३५ ॥

अमृतद्रवैर्विदधदब्जदृशामपमार्गमोषधिपतिः स्म करैः।
परितो विसर्पि परितापि भृशं वपुषोऽवतारयति मानविषम् ॥ ३६ ॥

अमृतेति ॥ ओषधिपतिश्चन्द्र एवौषधिपतिर्वैद्य इति श्लिष्टरूपकम्। अमृतमेवामृतमौषधविशेषः। तेन द्रवैरार्द्रैः करैः किरणैरेव करैर्हस्तैरब्जदृशामपमार्गमङ्गपरिमार्जनं विदधत् कुर्वन् परितो विसर्पि सर्वव्यापि भृशं 'परितापि सन्तापकारि मानः कोप एव विषं तद् वपुषः शरीरादवतारयति स्म अवारोपितवान्। अत्र सावयवरूपकेणौषधलिप्तजाङ्गुलिकहस्तसंस्पर्शाद्विषमिव निशाकरकरस्पर्शादेवाङ्गनानां वपुषि रोषो न स्पृष्ट इत्युपमा व्यज्यते ॥ ३६ ॥

ओषधिपति (चन्द्रमा, पक्षा०—ओषधियोंके गुणागुणको सम्यक् प्रकारसे जाननेके कारण उनका स्वामी अर्थात् वैद्य) अमृत (सुधा-पीयूष, पक्षा०—ओषधि-विशेष या जल) से सरस [पक्षा०—गीले] किरणों [पक्षा०—हाथों] से कमलनयनियोंके शरीरका परिमार्जन

---

१. '—पयसेव चिताम्' इति पाठा०।

करता हुआ, सर्वत्र फैले हुए अत्यन्त सन्तप्त करनेवाले मानरूप विष उतार रहा था अर्थात् चन्द्रमा अमृतसरस किरणोंके स्पर्शसे कमलनयनी रमणियोंके सब शरीरमें व्याप्त एवं अत्यन्त सन्तापदायक मानको उस प्रकार नष्ट कर रहा था, जिस प्रकार वैद्य औषधियुक्त गीले हाथसे स्पर्शकर लोगोंके सर्वत्र शरीरमें व्याप्त तथा अत्यन्त दाहकारक विषको झाड़कर नष्ट करता है। भाव यह है कि चन्द्रोदय होनेपर मानवती रमणियां अपना मान छोड़कर कामोन्मुख होने लगीं ॥ ३६ ॥

अमलात्मसु प्रतिफलन्नभितस्तरुणीकपोलफलकेषु मुहुः ।
विससार सान्द्रतरमिन्दुरुचामधिकावभासितदिशां निकरः ॥३७॥

अमलेति ॥ अधिकमवभासिताः प्रकाशिता दिशो याभिस्तासामिन्दुरुचां निकरोऽमलात्मसु निर्मलमूर्तिषु तरुणीनां ये कपोलाः फलकानीव तेष्वभितो मुहुः प्रतिफलन् संक्रामन् सान्द्रतरं प्रचुरतरं विससार । दर्पणसंक्रमणादिवेति भावः । अत्रेन्दुरुचां कपोलासंक्रमेऽपि संक्रमोक्तेरसम्बन्धे सम्बन्धोक्तिरूपातिशयोक्तिः ॥३७॥

दिशाओंको अधिक प्रकाशित करनेवाली चन्द्रमाकी कान्तियों (किरणों) का समूह (दर्पणके समान) रमणियोंके स्वच्छतम कपोलमण्डलोंपर बार-बार प्रतिबिम्बित होता हुआ अधिक सघन होकर फैल गया अर्थात् निर्मल दर्पणमें प्रतिबिम्बित प्रकाशके समान रमणियोंके निर्मल कपोलमण्डलमें प्रतिबिम्बित होकर चाँदनी अत्यधिक सघन होकर फैल गयी ॥

उपगूढवेलमलघूर्मिभुजैः सरितामचुक्षुभदधीशमपि ।
रजनीकरः किमिव चित्रमदो यदुरागिणां[1] गणमनङ्गलघुम् ॥ ३८ ॥

उपगूढेति ॥ रजनीकरश्चन्द्रः अलघुभिरूर्मिभिरेव भुजैरुपगूढा वेला येन तम् । सावष्टम्भमिति भावः । सरितामधीशं समुद्रमपि । स्वभावादक्षोभ्यमपीति भावः । अचुक्षुभत् क्षोभयति स्म । क्षुभ्यतेर्ण्यन्ताल्लुङ् 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१)। अनङ्गेन लघुं गतसारं यदव एव रागिणस्तेषां गणमचुक्षुभदित्यदः किमिव चित्रम् । न किञ्चिदित्यर्थः । अत्राक्षोभ्यमब्धिं क्षोभयतश्चन्द्रस्य दण्डापूपिकन्यायान्यक्षोभकत्वोक्तेरर्थापत्तिरलङ्कारः ॥ ३८ ॥

निशाकरने बड़े-बड़े तरङ्गरूपी बाहुओंसे वेला (तटप्रान्त) का आलिङ्गन करनेवाले नदियोंके प्रति (अत्यन्त गम्भीर समुद्र) को भी क्षुब्ध कर दिया, तब कामदेवसे लघु (हलके अर्थात् धैर्यरहित) अनुरागी यादवोंको क्षुब्ध कर दिया, इसमें आश्चर्य ही क्या है? अर्थात् कोई आश्चर्य नहीं है ॥ ३८ ॥

भवनोदरेषु परिमन्दतया शयितोऽलसः[2] स्फटिकयष्टिरुचः ।
अवलम्ब्य जालकमुखोपगतानुदतिष्ठदिन्दुकिरणान्मदनः ॥ ३९ ॥

भवनेति ॥ परिमन्दतया एकाकित्वादसमर्थतया भवनोदरेषु गृहाभ्यन्तरेषु

---

१. 'यदि रा—' इति पा० । २. 'लसत्स्फटिक—' इति पा० ।

शयितः सुप्तोऽत एवालसो मदनो जालकमुखोपगतान् गवाक्षविवरप्रविष्टान् अत एव स्फटिकयष्टीनां रुगिव रुक् शोभा येषां तान् स्फटिकदण्डसन्निभानिन्दुकिरणानवलम्ब्यावष्टभ्योदतिष्ठदुत्थितः। अत्रोद्बोधोत्थानयोरभेदविवक्षया 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' (१।३।२४) इति परस्मैपदसिद्धिः। एतत्पदे चाभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्त्या स्फटिकयष्टिरुच इत्युपमया च अवलम्ब्येत्यत्रावलम्ब्येवेत्युत्थानस्यावलम्बनहेतुकत्वोत्प्रेक्षा प्रत्याय्यत इत्येतासां सङ्करः॥ ३९॥

(अकेला होनेके कारण) असमर्थ होनेसे घरके भीतरमें सोया (ह्रस्व होकर बूढ़ेके समान पड़ा) हुआ अत एव आलसयुक्त कामदेव, खिड़कियोंके अग्रभाग (छिद्रों) से आयी हुई तथा स्फटिक मणिकी छड़ीके समान कान्तिवाली चन्द्रमाकी किरणोंका अवलम्बनकर उठ खड़ा हुआ।

विमर्श—जिस प्रकार असहाय होनेसे आलसयुक्त कोई वृद्ध या रोगी पुरुष घरके भीतर पड़ा रहता है और छड़ी आदिके मिलनेपर उसका सहारा लेकर उठकर खड़ा हो जाता है, उसी प्रकार मानो कामदेव भी पहले असहाय होनेसे आलसयुक्त शिथिल होकर पड़ा था और जब खिड़कियोंसे स्फटिककी छड़ीके समान पतली-पतली चन्द्रकिरणें भीतर प्रविष्ट हुईं तब उन्हींके सहारेसे वह उठ खड़ा हुआ। आशय यह है कि चन्द्रकिरणोंके खिड़कियोंके छिद्रोंसे भीतर प्रविष्ट होनेपर कामीजनोंका कामदेव बढ़ गया॥ ३९॥

अविभावितेषुविषयः प्रथमं मदनोऽपि नूनमभवत्तमसा।
उदिते दिशः प्रकटयत्यमुना यदघर्मधाम्नि धनुराचकृषे॥ ४०॥

अविभावितेष्विति॥ मदनोऽपि प्रथमं चन्द्रोदयात्प्राक् तमसा अविभावितोऽलक्षितः इषुविषयो बाणलक्ष्यं येन सोऽभवत्। नूनमित्युत्प्रेक्षा। यद्यस्मादघर्मधाम्नि शीतकरे उदिते दिशः प्रकटयति सति अमुना मदनेन धनुराचकृषे आकृष्टम्। चन्द्र एव महानुद्दीपको मदनस्याभूदिति भावः॥ ४०॥

मदन चन्द्रोदयके पहले अन्धकार होनेसे मानो अपने बाणोंका लक्ष्य नहीं देख रहा था (इसी कारण अब तक वह अपना धनुष नहीं उठाया था, क्योंकि अब इस कामदेवने) चन्द्रमाके उदित होकर दिशाओंको प्रकाशित करते ही धनुषको चढ़ा लिया॥ ४०॥

युगपद्विकासमुदयाद्गमिते शशिनः शिलीमुखगणोऽलभत।
द्रुतमेत्य पुष्पधनुषो धनुषः कुमुदेऽङ्गनामनसि चावसरम्॥ ४१॥

युगपदिति॥ पुष्पधनुः पुष्पधन्वा। 'वा संज्ञायाम्' (५।४।१३३) इति विकल्पानङादेशः। तस्य धनुः पुष्पचापं, पुष्पान्तरं च तस्माच्चलितो निःसृतः शिली शल्यं मुखं येषां ते शिलीमुखा बाणाः, अलयश्च। 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः। तेषां गणः शशिन उदयाद्विकासमौत्सुक्यं, उन्मीलनं च युगपदेकदा गमिते प्रापिते अङ्गनानां सुदृशां मनसि हृदये कुमुदे चावसरमवकाशमाश्वासमलभत। उभयत्र

प्रवेशं लब्धवानित्यर्थः। अत्र चन्द्रोदये कुमुदकामिनीहृदययोर्द्वयोरपि प्रकृतयोः शिलीमुखप्रवेशलक्षणैकधर्मयोगादौपम्यात्तुल्ययोगिता एकधर्मत्वं चात्र शिलीमुखेति श्लिष्टपदोपात्तयोरलिबाणयोरेकत्वाध्यवसायमूलातिशयोक्तिप्रसादादिति सङ्करः॥

पुष्पधन्वा कामदेवके धनुष तथा पुष्पसे निकले हुए (क्रमशः) बाण-समूह तथा भ्रमर-समूहने, चन्द्रमाके उदयसे एक साथ विकसित (प्रसन्न, पक्षा०—प्रफुल्लित) रमणियोंके मनमें तथा कुमुदोंपर पहुँच कर शीघ्र ही स्थान पा लिया अर्थात् चन्द्रमाके उदय होनेपर रमणियोंका हृदय कामबाण-समूहसे पीडित हो गया और कुमुदपर भ्रमर-समूह बैठ गया॥

ककुभां मुखानि सहसोज्ज्वलयन् दधदाकुलत्वमधिकं रतये।
अदिदीपदिन्दुरपरो दहनः कुसुमेषुमत्रिनयनप्रभवः॥ ४२॥

ककुभामिति॥ ककुभां दिशां मुखानि सहसा झटित्युज्ज्वलयन्नुद्भासयन् रतये सुरताय अधिकमाकुलत्वमौत्सुक्यं दधत्। यूनामिति शेषः। अन्यत्र रतये कामदेव्य आकुलत्वं भयविह्वलत्वं दधत्। अत्रेरत्रिमुनेर्नयनप्रभवः। 'अत्रिनेत्रसमुद्भवः' इति पुराणात्। त्रिनयनप्रभवो न भवतीत्यत्रिनयनप्रभवः। अपरस्त्रियनयनप्रभवादन्यो दहनोऽग्निरिन्दुः। कुसुमेषुं काममदिदीपद्दीपयति स्म। दीप्यतेर्णौ चङि 'भ्राज-' (७।४।३) इत्यादिना विकल्पाद्गोपधाह्रस्वः। अत्र प्रकृते कुसुमेषोर्दीपनं नाम प्रवर्धनं तस्य तत्र प्रतीयमानेन प्रज्वलनेनाभेदाध्यवसायात्तन्निमित्तमिन्दोर्दिङ्मुखोद्भासनादिधर्मसम्बन्धादपरोऽयं दहन इत्यपरशब्दप्रयोगसामर्थ्याद्दहनत्वोत्प्रेक्षा, न रूपकमिति रहस्यम्। चन्द्रोदयात्कामो ववृधे इति तात्पर्यम्॥ ४२॥

दिशाओंके मुख (अग्रभाग) को एकाएक उज्ज्वल (प्रकाशमान) करता हुआ रति (कामपत्नी, पक्षा०—सुरतक्रीडा) के लिए अत्यन्त आकुलता (पक्षा०—उत्कण्ठा) को धारण करता (पाठा०—देता) हुआ और 'अत्रि' नामक मुनिके नेत्रसे उत्पन्न दूसरा (त्रिनयन अर्थात् शङ्करजीसे नहीं उत्पन्न) अग्निरूप चन्द्रमा कामदेवको दीप्त करने (जलाने) लगा॥ ४२॥

एवं चन्द्रोदयाख्यमुद्दीपनविभावमुक्त्वा तत्फलमाह—

इति निश्चितप्रियतमागतयः सितदीधितावुदयवत्यबलाः।
प्रतिकर्म कर्तुमुपचक्रमिरे समये हि सर्वमुपकारि कृतम्॥ ४३॥

इतीति॥ इत्येवं सितदीधितावुदयवति अबलाः स्त्रियो निश्चिता प्रियतमानामागतिरागमनं याभिस्ताः सत्यः प्रतिकर्म प्रसाधनं कर्तुमुपचक्रमिरे। 'प्रतिकर्म प्रसाधनम्' इत्यमरः। चन्द्रोदयात् प्रियागमनं निश्चित्य अलङ्कर्तुं प्रक्रान्ता इत्यर्थः। तथा हि—समये कार्यकाले कृतमनुष्ठितं सर्वं कर्म उपकार्युपकारकं भवति। अन्यथा विफलमेवेति भावः। अतो निश्चित्य प्रवृत्तिरासां युक्तेत्यर्थान्तरन्यासः॥ ४३॥

---

१. 'दददा—' इति पा०। २. '-वुदितवत्य-' इति पा०।

इस प्रकार चन्द्रमाके उदय होनेपर जिनके प्रियतमों का आना निश्चित था ऐसी रमणियां शृङ्गार करनेके लिए प्रवृत्त हो गयीं, क्योंकि समय पर किया हुआ सब कार्य उपकार (कार्यसाधनमें सहायक) हुआ करता है ॥ ४३ ॥

अथ प्रसाधनमेव प्रपञ्चयति—

समसेकमेव दधतुः सुतनोरुरु[1] हारभूषणमुरोजतटौ ।
घटते हि संहततया जनितामिदमेव निर्विवरतां दधतोः ॥ ४४ ॥

सममिति ॥ सुतनोः स्त्रिया उरोजतटौ उरु श्लाघ्यमेकमेव भूषणं सममवैषम्येण दधतुः । संहततया, संश्लिष्टतया, ऐकमत्येन च जनितां निर्विवरतां निरन्तरालतां· नीरन्ध्रत्वं च दधतोरिदं समभागित्वमेव घटते । अन्तर्भेदान्तराया हि विषयिणां विषयोपभोगाः कुचयोस्तदभावात्समशोभार्थं हारधारणं युक्तमिति भावः ॥ ४४ ॥

(अब ग्यारह श्लोकों (९।४४-५४) से रमणियोंके शृङ्गार करने का वर्णन करते हैं) सुन्दरीके दोनों स्तनप्रान्तोंने बहुमूल्य एक ही मुक्तामालाको एक साथ धारण किया, क्योंकि परस्परमें सटे हुए (पक्षा०—एकमत) होनेसे उत्पन्न बीचमें अन्तरालशून्यता (पक्षा०— नीरन्ध्रता) को धारण करते हुए अर्थात् जिनके बीचमें खाली स्थान नहीं है ऐसे उन दोनों स्तनप्रान्तोंके लिए यही (यह समान भागवाला होना ही) उचित होता है ॥ ४५ ॥

कदलीप्रकाण्डरुचिरोरुतरौ जघनस्थलीपरिसरे महति ।
रशनाकलापकगुणेन वधूर्मकरध्वजद्विरदमाकलयत् ॥ ४५ ॥

कदलीति ॥ वधूः कदलीप्रकाण्डरुचिरे रम्भास्तम्भसुन्दरे । ऊरुरेव तरुर्बन्धनवृक्षो यस्मिन् । अत्र कदलीकाण्डस्य सौन्दर्यमात्रोपमानत्वान्न बन्धनयोग्यवृक्षवाचिना तरुशब्देन पुनरुक्तिः । महति जघनस्थल्येव परिसरः प्रदेशस्तस्मिन् रशनाकलापक एव गुणस्तेन मकरध्वजो मदनः स एव द्विरदस्तमाकलयदबध्नात् । रशनाबन्धेन जघनमतीव मदनोद्दीपकमासीदित्यर्थः । समस्तवस्तुवर्ति सावयवरूपकम् ॥ ४५ ॥

किसी एक रमणीने केलेके खम्भेके समान रमणीय जघनरूपी वृक्षवाले विशाल जघन- स्थलरूपी प्रदेश अर्थात् जघन-प्रदेशमें करधनीकी लड़ीरूपी मोटे रस्सेसे कामदेवरूपी हाथीको बांध लिया अर्थात् करधनी पहननेसे उस रमणीका जघन-प्रदेश अतिशय काम- वर्धक हो गया ॥ ४५ ॥

अधरेष्वलक्तकरसः सुदृशां विशदं कपोलभुवि लोध्ररजः ।
नवमञ्जनं नयनपङ्कजयोर्विभिदे न शङ्खनिहितात्पयसः ॥ ४६ ॥

अधरेष्विति ॥ सुदृशमधरेष्वोष्ठेषु अलक्तकरसो लाक्षाद्रवः तथा कपोलभुवि गण्डस्थले विशदं शुभ्रं लोध्ररजः तथा नयनपङ्कजयोर्नवमञ्जनं च शङ्खनिहितात्

---

१. '-गुरु' इति पा० । २. 'रांध्र'—इति पा० ।

पयसः क्षीरान्न विभिदे भिन्नं नाभूत्। कर्मकर्तरि लिट्। अधरादिनिहितं लाक्षारागादिकं शङ्खनिहितक्षीरवत् लावण्यादाश्रयतोऽभेदेन दुर्ग्रहमभूदित्यर्थः। अत्र यदधरालक्तकरसादिकं तच्छङ्खनिहितं क्षीरमित्येकवाक्यतया वाक्यार्थे वाक्यार्थसमारोपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धो वाक्यार्थनिष्ठो निदर्शनालङ्कारः। तेनाधरालक्तकादीनां गुणत एकत्वरूपः सामान्यालङ्कारो गम्यते। 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात्॥ ४६॥

सुन्दर नेत्रोंवाली रमणियोंके (अरुणवर्ण) अधरोंमें लाक्षारस, कपोलप्रदेशमें लगाया गया लोध्रपुष्पका पराग और (श्यामवर्ण) नेत्र कमलोंमें लगाया गया अञ्जन शङ्खमें रखे गये दूधसे भिन्न नहीं हुए।

विमर्श—जिस प्रकार शुभ्रवर्ण शङ्खमें रखा हुआ शुभ्रवर्ण दूध समानवर्ण होनेसे पृथक् मालूम नहीं पड़ता, उसी प्रकार लाल अधरमें लगाया गया लाल लाक्षारस आदि भी समानवर्ण होनेसे ये एक दूसरेसे अलग-अलग हैं, ऐसा ज्ञात नहीं हुआ॥ ४६॥

स्फुरदुज्ज्वलाधरदलैर्विलसद्दशनांशुकेशरभरैः परितः।
धृतमुग्धगण्डफलकैर्विबभुर्विकसद्भिरास्यकमलैः प्रमदाः॥ ४७॥

स्फुरदिति॥ प्रमदाः स्त्रियः स्फुरन्तश्चलन्तः उज्ज्वलाश्चामला अधरा ओष्ठा एव दलानि पत्राणि येषां तैः परितो विलसन्तो दशनांशवो दन्तकान्तय एव केशरभराः किंजल्कपुञ्जा येषां तैः। धृतानि मुग्धानि गण्डा एव फलकानि कर्णिका येषां तैर्विकसद्भिरास्यकमलैर्विबभुः। अत्रास्यकमलैरिति रूपणात् प्रमदा एव सरस्य इति सिद्धे रेकदेशविवर्ति सावयवरूपकम्। 'आस्यकुमुदैः' इति पाठे कुमुदस्य मुखोपमानकत्वं कविसमयविरुद्धं ज्ञेयम्॥ ४७॥

अधिक मदयुक्त रमणियाँ स्फुरित होते हुए उज्ज्वल अधररूप पंखुड़ियोंवाले, विलसित होती हुई दन्त-किरणरूपी केसरोंवाले और मनोहर कपोलरूप कर्णिका (कमलकोष) वाले विकसित (पक्षा०—प्रसन्न) होते हुए मुखरूपी कमलोंसे अत्यन्त शोभित होने लगीं॥४७॥

भजते विदेशमधिकेन जितस्तदनुप्रवेशमथवा कुशलः।
मुखमिन्दुरुज्ज्वलकपोलमतः प्रतिमाच्छलेन[1] सुदृशामविशत्॥ ४८॥

भजत इति॥ अधिकेन प्रबलेन जितो विदेशं देशान्तरं भजते, अथवा कुशलः कार्यचतुरः तदनुप्रवेशं भजते। तमेव शरणतया प्रविश्य जीवतीत्यर्थः। अतो हेतोरिन्दुरुज्ज्वलौ कपोलौ यस्य तदिति मुखस्य बिम्बग्रहणयोग्यतोक्तेः पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्। सुदृशां मुखं प्रतिमाच्छलेन प्रतिबिम्बव्याजेनाविशत् प्रविष्टः। साक्षाच्चन्द्र एवायं न प्रतिमाचन्द्र इति छलशब्दात्प्रतीतेः छलशब्देनासत्यत्वप्रतिपादन-

१. 'सुतनोरवि—' इति पा०।

रूपोऽपह्नवालंकारः। पूर्वोक्तकाव्यलिङ्गसापेक्ष इति संकरः। तेन कपोलयोर्लोकोत्तरं लावण्यं दर्पणौपम्यं च व्यज्यत इत्यलंकारेणालंकारध्वनिः ॥ ४८ ॥

बलवान्से जीता गया (दुर्बल व्यक्ति) दूसरे स्थानको चला जाता है अथवा चतुर व्यक्ति उसके शरणमें प्रवेशकर रहता है; इस कारण (सुन्दरियोंके सुन्दरतम मुखसे जीता गया) चन्द्रमा प्रतिबिम्बके छलसे सुन्दर नेत्रवाली रमणियोंके निर्मल कपोलवाले मुखमें प्रविष्ट हो गया ॥ ४८ ॥

ध्रुवमागताः प्रतिहतिं कठिने मदनेषवः कुचतटे महति ।
इतराङ्गवन्न यदिदं गरिमग्लपितावलग्नमगमत्तनुताम् ॥ ४९ ॥

ध्रुवमिति ॥ मदनेषवः कामशराः महति कठिने कुचतटे प्रतिहतिं प्रतिघातमागताः प्राप्ता ध्रुवम्। यद्यस्माद्गरिम्णा निजभारेण ग्लपितं कर्शितमवलग्नं मध्यं येन तदिदं कुचतटमितराङ्गेन तुल्यमितराङ्गवत्। 'तेन तुल्यम्—' (५।१।११५) इति वतिप्रत्ययः। तनुतां कार्श्यं नागमन्नाभजत्। 'पुषादि' (३।१।५५) सूत्रेण च्लेरङादेशः। तदा मदनेषुपातात् कुचातिरिक्तमङ्गनानामङ्गं कृशमासीदित्यर्थः ॥ ४९ ॥

(रमणियोंके) विशाल एवं कठिन स्तनप्रान्तपर कामदेवके बाण मानो प्रतिहत हो गये थे, क्योंकि अपने भारसे कटिप्रदेशको क्षीण (दुर्बल अर्थात् पतला) करनेवाले यह स्तनप्रान्त दूसरे अङ्गोंके समान क्षीण (दुर्बल) नहीं हुए थे (अत एव ज्ञात होता है कि स्तनप्रान्तोंको छोड़कर अन्यान्य अङ्गोंमें कामबाण प्रविष्ट होकर उन्हें दुर्बल कर दिये थे) ॥

न मनोरमास्वपि विशेषविदां निरचेष्ट योग्यमिदमेतदिति ।
गृहमेष्यति प्रियतमे सुदृशां वसनाङ्गरागसुमनःसु मनः ॥ ५० ॥

न मनोरमास्विति ॥ प्रियतमे गृहमेष्यति आगमिष्यति सति विशेषविदामपि सुदृशां सम्यग्दर्शनीयानां स्त्रीणां मनः कर्तृ मनोरमास्वपि वसनाङ्गरागसुमनःसु वस्त्रगन्धमाल्येषु इदमेतदिति इदं पुरोवर्ति वस्त्वेतदिति वसनमिति, अनुलेपनमिति, सुमनस इति, विशेषाकारेण तथा योग्यमस्माकं धारणार्हमिति च न निरचेष्ट न निरधारयत्। प्रियागमनहर्षातिरेकादितिकर्तव्यतामूढमभूदित्यर्थः। चिनोतेर्लुङि तङि च्लेः सिच् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' (७।३।८४) इति गुणः। हर्षोऽत्र संचारिभावः। निश्चयसंबन्धेऽप्यसंबन्धोक्तेरतिशयोक्तिः सुमनःसु मन इति यमकविशेषश्चेति संसृष्टिः ॥ ५० ॥

'भविष्यमें प्रियतम आनेवाले हैं' ऐसा सोचकर हर्षाधिक्यके कारण विशेषताको जाननेवाली (यह अधिक गुणवाला है तथा यह हीन गुणवाला है ऐसा समझनेवाली) भी सुलोचनाओंके मनने मनोहर भी (अङ्गराग, पुष्पमाला, वस्त्र, अञ्जन, आभूषण आदि) प्रसाधनसामग्रियोंमें 'यह वस्तु इस कार्यके योग्य है' ऐसा निर्णय नहीं किया (किन्तु हर्षाधिक्यसे किंकर्तव्यमूढ हो गया) ॥ ५० ॥

वपुरन्वलिप्त परिरम्भसुखव्यवधानभीरुकतया न वधूः ।
क्षममस्य बाढमिदमेव हि यत्प्रियसंगमेष्वनवलेपमदः ॥ ५१ ॥

वपुरिति ॥ वधूः स्त्री परिरम्भसुखव्यवधानभीरुकतया आलिङ्गनसुखविच्छेदभीरुत्वेन । 'क्रुकन्नपि वक्तव्यः' (वा०) इति क्रुकन्प्रत्ययः । वपुर्नान्वलिप्त नानुलिप्तवती । अङ्गरागमात्रव्यवधानमपि न सहत इत्यर्थः । लिम्पतेः कर्तरि लुङि तङ् । तथा हि—अदो वपुः प्रियसंगमेषु अनवलेपमचन्दनमगर्वं चेति यत् । 'अवलेपस्तु गर्वे स्याल्लेपने भूषणेऽपि च' इति विश्वः । इदमनवलेपनत्वमेवास्य वपुषो बाढं भृशं क्षमं युक्तम् । श्लेषानुप्राणितोऽयमर्थान्तरन्यासः ॥ ५१ ॥

किसी एक रमणीने आलिङ्गनके सुखमें अन्तराल पड़नेके भयसे शरीरमें (चन्दन-कुङ्कमादिके) लेपको नहीं लगाया, क्योंकि यह (शरीर) प्रियके समागमोंमें अवलेप (कुंकुमचन्दनादिके लेप, पक्षा०—गर्व) से रहित हो, यही इस शरीरके लिए उचित है ॥५१॥

निजपाणिपल्लवतटस्खलनादभिनासिकाविवरमुत्पतितैः ।
अपरा परीक्ष्य शनकैर्मुमुदे मुखवासमास्यकमलश्वसनैः ॥ ५२ ॥

निजेति ॥ अपरा स्त्री निजपाणिपल्लवतलस्य स्खलनादभिघातादभिनासिकाविवरं नासारन्ध्रं प्रति उत्पतितैरास्यकमलस्य श्वसनैर्मुखमारुतैर्मुखवासं मुखवासनां शनकैः परीक्ष्य मुमुदे । इत्थं वासकसज्जिका नायिका ॥ ५२ ॥

एक दूसरी रमणी अपनी हथेलीके अभिघातसे नाकके छिद्रकी ओर ऊपर उठी हुई, मुखकमलकी श्वास वायुसे मुखके सौरभको धीरेसे परीक्षाकर हर्षित हुई ॥ ५२ ॥

विधृते दिवा सवयसा च पुरः परिपूर्णमण्डलविकाशभृति ।
हिमधाम्नि दर्पणतले च मुहुः स्वमुखश्रियं मृगदृशो ददृशुः ॥ ५३ ॥

विधृत इति ॥ दिवा आकाशेन सवयसा वयस्यया च पुरोऽग्रे विधृते विधारिते परिपूर्णमण्डलविकाशं बिम्बशोभां बिभर्तीति तद्भृत् तस्मिन् हिमधाम्नि चन्द्रे दर्पणतले च मृगदृशः स्त्रियः स्वमुखश्रियम् । पूर्वत्रोपमानभूतामुत्तरत्रोपमेयभूतां चेत्यर्थः । मुहुर्ददृशुः । औपम्यपरीक्षार्थमिति भावः । अत्रान्यश्रियोऽन्यत्रासंभवाच्चन्द्रे तत्सदृशीमिति सादृश्याक्षेपादसंभवद्वस्तुसंबन्धा निदर्शना । तथा चन्द्रदर्पणयोर्द्युसवयसोश्च यथासंख्यमन्वयाद्यथासंख्यालंकारश्च । तदुभयापेक्षया चन्द्रदर्शनयोर्मुखश्रीदर्शनस्थानत्वेन प्रस्तुतयोरेवौपम्यस्य गम्यत्वात्तुल्ययोगितेति संकरः ॥ ५३ ॥

सामनेमें सखीरूपिणी दिव् अर्थात् आकाशसे धारण किये गये परिपूर्ण मण्डलसे प्रकाशको धारण करते हुए चन्द्रमामें तथा सामनेमें सखीके द्वारा (हाथमें) पकड़े गये सम्पूर्ण प्रतिबिम्बको धारण करनेवाले (विशालतम) दर्पणमें मृगनयनी सुन्दरियोंने अपने मुखकी शोभाको बार-बार देखा ॥ ५३ ॥

---

१. '—भीलुक' इति पा० । २. 'तट—' इति पा० ।

अधिजानु बाहुमुपधाय नमत्करपल्लवार्पितकपोलतलम् ।
उदकण्ठि कण्ठपरिवर्तिकलस्वरशून्यगानपरयापरया ॥ ५४ ॥

अधिजान्विति ॥ नमति कपोलार्पणाय प्रह्वीभवति करपल्लवे अर्पितं निहितं कपोलतलं गण्डस्थलं यस्य तं बाहुमधिजानु जानुनि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । उपधाय निधाय । कूर्परेण जानुमवष्टभ्येत्यर्थः । कण्ठे परिवर्तत इति कण्ठपरिवर्ति । नतु मुखोच्चारितमित्यर्थः । कलमव्यक्तमधुरं स्वरशून्यं तारध्वनिहीनम्, षड्जादिस्वराभिव्यक्तिहीनं वा यद्गानं तत्परया तदासक्तया । मन्दकण्ठेनैव गायन्त्येत्यर्थः । कालक्षेपार्थमिति भावः । अयं चोत्कण्ठानुभावः । अपरया स्त्रिया उदकण्ठि उत्कण्ठितम् । प्रियसंगमायोत्सुकया स्थितमित्यर्थः । भावे लुङि चिणो लुक् । अत्र कालक्षेपासहिष्णुत्वलक्षणमौत्सुक्यं संचारि तन्निबन्धनात्प्रेयोलंकारः । परयापरयेति यमकविशेषसंसृष्टिः । नायिका विरहोत्कण्ठिता । 'चिरं पत्युरनालोके विरहोत्कण्ठितोन्मनाः' इति लक्षणात् ॥ ५४ ॥

झुकते हुए पाणिपल्लव (हथेली) पर कपोलमण्डलको रखनेवाले हाथ (की केहुनी) को जघनप्रदेशमें रखकर (जघनप्रदेशमें रखी हुई केहुनीवाली हथेलीपर गाल रखकर) कण्ठके भीतर ही घूमते हुए अव्यक्त मधुर स्वरसे गाती हुई (मुखमें ही अस्पष्ट गुनगुनाती हुई) दूसरी रमणी (प्रियतमके समागमके लिए) उत्कण्ठित हो रही थी ॥ ५४ ॥

प्रणयप्रकाशनविदो मधुराः सुतरामभीष्टजनचित्तहृतः[1] ।
प्रजिघाय कान्तमनु मुग्धतर[2]स्तरुणीजनो दृशइवाथ सखीः ॥ ५५ ॥

प्रणयेति ॥ अथ प्रसाधनानन्तरं मुग्धतरोऽत्यन्तकाममोहितस्तरुणीजनः प्रणयप्रकाशनविदः । अनुरागव्यञ्जनचतुरा इत्यर्थः । मधुरा मधुरभाषिणीः; अन्यत्र रम्याकृतीः सुतरामभीष्टजनस्य चित्तहृतो मनोहारिणीः सखीः दृश इव कान्तमनु प्रयोजनं प्रति प्रजिघाय प्रेषितवान् । हिनोतेर्लिट् । इवेन सह समासवचनाद्दृश इवेत्युपमासमासः । तथा सखीनामासत्यन्तरङ्गत्वकार्यदर्शित्वादिव्यञ्जनादलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ५५ ॥

इस (शृङ्गार करने) के उपरान्त अधिक सुन्दरी (अथवा काम मोहित हुई) तरुणियोंने अनुरागको प्रकाशित करने (प्रियतमके सामने समझाने) में चतुर, मधुर भाषण करनेवाली और सहज ही प्रियतमके मनको आकृष्ट (वशीभूत) करनेवाली नेत्रोंके समान सहेलियोंको पतिके समीप भेजा ॥ ५५ ॥

तथा काचिन्नायिका दूतीं वाचिकमनुशास्ति—

न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां करुणां यथा च कुरुते स मयि ।
निपुणं तथैनमुपगम्य वदेरभिदूति काचिदिति संदिदिशे ॥ ५६ ॥

१. '—गृहः' इति पा०, २. 'तरा—' इति पा० ।

न चेति ॥ स मे दयितो यथा मयि करुणां कुरुते यथा लघुतामल्पतां च नावगच्छति न मन्यते। एनं दयितमुपगम्य प्राप्य तथा तेन प्रकारेण निपुणं वदेः। विध्यर्थे प्रार्थने वा लिङ्। इतीत्थं काचिन्नायिका अभिदूति दूतीमभि। 'लक्षणेनाभिप्रती-' (२।१।१४) इत्यव्ययीभावे नपुंसकह्रस्वत्वम्। संदिदिशे संदिष्टवती। कर्तरि लिट्। स्वरितेत्वादात्मनेपदम्। नायिका तु कलहान्तरिता। 'कोपात्कान्तं पराणुद्य पश्चात्तापसमन्विता' इति लक्षणात्॥ ५६॥

'जिस प्रकार वह (मेरा प्रियतम) मुझपर दया करे (दया कर सम्भोग करनेके लिए यहां आ जावे) तथा मेरी लघुताको भी नहीं समझे' इस प्रकार अच्छी तरहसे 'उस मेरे प्रियतमके पास जाकर तुम कहना' इस प्रकार किसी (कलहान्तरिता) नायिकाने दूतीको सन्देश दिया अर्थात् दूतीसे कहा॥ ५६॥

दयिताय मानपरयाऽपरया त्वरितं ययावगदितापि सखी।
किमु चोदिताः[1] प्रियहितार्थकृतः कृतिनो भवन्ति सुहृदः सुहृदाम्[2]॥ ५७॥

दयितायेति॥ मानपरया अभिमानवत्या अत एवापरया नायिकया अगदिता दयितमानयेत्यनुक्त्वा सखी दयिताय दयितमानेतुम्। 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' (२।३।१४) इति चतुर्थी। त्वरितं शीघ्रं ययौ। अन्यथा मरणशङ्केति भावः। तथा हि—सुष्ठु शोभनं हृदयं येषां ते सुहृदो मित्राणि। 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' (५।४।१५०) इति निपातः। चोदिताः प्रेरिताः सन्तः सुहृदां प्रियो हृद्यः हितः श्रेयस्करश्च योऽर्थस्तं कुर्वन्तीति प्रियहितार्थकृतः। कृतमेषामस्तीति कृतिनः कृतकृत्या भवन्ति किमु। किन्तु चोदनां विनैवेति भावः। अर्थान्तरन्यासः। नायिका च पूर्ववत्॥

मानवती दूसरी (किसी कलहान्तरिता) नायिकाके बिना कहे ही सखी प्रियतम (को लाने) के लिए शीघ्र चल पड़ी, क्योंकि सुहृद् (अच्छे हृदयवाले मित्र) लोग प्रेरणा करनेपर मित्रोंके प्रिय तथा हित कार्यको करके कृतकृत्य होते हैं क्या? अर्थात् सुहृद् जन बिना कहे ही मित्रोंके प्रिय तथा हितकार्यका सम्पादन करके कृतकृत्य होते हैं॥ ५७॥

अथ काचित्कलहान्तरिता कान्तं प्रति त्रिभिर्दूतीं संदिशति (विशेषकम् ५७–६०)—

प्रतिभिद्य कान्तमपराधकृतं यदि तावदस्य पुनरेव मया।
क्रियतेऽनुवृत्तिरुचितैव[3] ततः कलयेदमानमनसं सखि माम्॥ ५८॥

प्रतिभिद्येत्यादि॥ अपराधकृतमागस्कारिणं कान्तं प्रतिभिद्य निराकृत्य पुनर्मयैवास्यानुवृत्तिरनुसरणं क्रियते यदि तावदुचितैव। पतिव्रतानां प्राणेश्वरचित्तानुवृत्तेर्धर्मत्वादिति भावः। किन्तु हे सखि! ततोऽनुवृत्तेर्मामानमनसमभिमानहीनचित्तां कलयेन्मन्येत॥ ५८॥

---

१. 'नोदिताः' इति पा०। २. 'सुकृताम्' इति पा०। ३. '—तैव' इति पा०।

(अब कोई कलहान्तरिता नायिका दूतीको समझाकर प्रियतमके पास भेजती है, इसका तीन श्लोकों (९।५८-६०) से वर्णन करते हैं) हे सखि! अपराध करनेवाले कान्तको तिरस्कृतकर मैं ही फिर उसका अनुसरण करूँ, या मेरे लिए उचित ही है (क्योंकि पतिव्रताका प्रियतमकी चित्तवृत्तिके अनुकूल आचरण करना धर्म माना गया है), किन्तु उससे (उनका अनुसरण करनेसे) यदि मुझे वे मानसे हीन (ओछी वृत्तिवाली) समझें (तब मेरे हकमें जरा अच्छा नहीं होगा) ॥ ५८ ॥

तर्ह्यलाघवाय विगृह्यैव स्थीयतां तत्राह—

अवधीर्य धैर्यकलिता दयितं विदधे विरोधमथ तेन सह।
तव गोप्यते किमिव कर्तुमिदं न सहास्मि साहसमसाहसिकी ॥ ५९ ॥

अवधीर्येति ॥ धैर्यकलिता कलितधैर्या सती। 'वाहिताग्न्यादिषु' (२।२।३७) इति निष्ठायाः परनिपातः। दयितमवधीर्य निरस्कृत्य तेन सह विरोधं विदधे करोमीति चेत्। दधातेः कर्तरि लट्। हे सखि! तव किमिव गोप्यते निगूह्यते। न किञ्चिदित्यर्थः। किन्तु कथ्यत एवेति कथयति। सहसा बलेन वर्तत इति साहसिकी। 'ओजःसहोऽम्भसा वर्तते' (४।४।२७) इति ठक्। सा न भवतीत्यसाहसिकी। अहमिति शेषः। इदं साहसं विरोधं विरोधाचरणरूपं साहसकृत्यं कर्तुम्। 'शकधृष—' (३।४।६५) इत्यादिना तुमुन्। सहत इति सहा समर्था। पचाद्यच्। नास्मि। अत्रासाहसिकत्वस्य विशेषणगत्या साहसासहनहेतुत्वोक्तेः पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ५९ ॥

और धैर्यको धारणकर मैं प्रियतमको तिरस्कृतकर उनके साथ विरोध ही करूं (जिससे मेरी लघुता प्रकट न हो) तो हे सखि! तुमसे क्या छिपाना है? साहसरहित मैं वैसा करनेके लिए समर्थ नहीं हूँ ॥ ५९ ॥

तर्हि किमत्र कार्यमत आह—

तदुपेत्य मा स्म तमुपालभथाः किल दोषमस्य न हि विद्म वयम्।
इति सम्प्रधार्य रमणाय वधूर्विहितागसेऽपि विससर्ज सखीम् ॥ ६० ॥

तदिति ॥ तत्तस्मात्तं वल्लभमुपेत्य मा स्मोपालभथाः नोपालभस्व। तद्दोषं न गणयेरित्यर्थः। 'स्मोत्तरे लङ् च' (३।३।१७६) इत्युपाङ्पूर्वाल्लभेर्लङ्। 'न माङ्योगे' (६।४।७४) इत्यट्प्रतिषेधः। ननु सापराधः कथं नोपालभ्यस्तत्राह—वयमस्य दोषमपराधं न विद्म किल। अजानाना एव तिष्ठाम इत्यर्थः। कार्यार्थिनः कुतो गर्व इति भावः। 'विदो लटो वा' (३।४।८३) इति णलादेशः। इति सम्प्रधार्य निश्चित्य वधूर्नायिका विहितागसे कृतापराधायापि रमणाय प्रेयसे। क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी। सखीं विससर्ज प्रजिघाय। विरहासहिष्णुतयेति भावः। एषा कलहान्तरिता प्रौढा च ॥

इस कारणसे उस (मेरे प्रियतम) के पास जाकर तुम उसे उलाहना मत देना, मानो

हम उनके दोषको जानते ही नहीं हैं, ऐसा निश्चयकर किसी एक कलहान्तरिता प्रौढा नायिकाने अपराध किये हुए पतिके पास में सखीको भेजा ॥ ६० ॥

ननु सन्दिशेति सुदृशोदितया त्रपया न किञ्चन किलाभिदधे।
निजमैक्षि मन्दमनिशं निशितैः कृशितं शरीरमशरीरशरैः ॥ ६१ ॥

नन्विति ॥ ननु सन्दिश सन्देशं ब्रूहि इत्युदितया दूत्या कथितया सुदृशया नायिकया कर्त्र्या त्रपया हेतुना किञ्चन नाभिदधे किल नाभिहितं खलु। किन्तु निशितैरशरीरशरैरनङ्गबाणैरनिशं कृशितं कृशीकृतम् । कृशशब्दात् 'तत्करोति' (ग०) इति ण्यन्तात्कर्मणि क्तः। णाविष्ठवद्भावे 'र ऋतो हलादेर्लघोः' (६।४।१६१) इत्यृकारस्य रेफादेशः। निजं शरीरं मन्दमैक्षि ईक्षितम्। एषापि कलहान्तरिता मध्यमा च। त्रपया निजहृदयानभिधानान्निजशरीरनिरीक्षणेन स्वावस्थानिवेदनाच्च तुल्यलज्जास्मरत्वावगमादिति। इयं च पञ्चमी कार्श्याख्या कामावस्था 'दृङ्मनःसङ्गसङ्कल्पाज्जागरः कृशताऽरतिः। ह्रीत्यागोन्मादमूर्च्छान्ता इत्यनङ्गदशा दश ॥' इति ॥

'पतिके लिए सन्देश कहो' ऐसा दूतीके द्वारा कहनेपर लज्जासे सुन्दर नेत्रवाली (कलहान्तरिता मध्यमा) नायिकाने लज्जासे कुछ नहीं कहा, किन्तु तीक्ष्ण कामबाणोंसे निरन्तर दुर्बल अपने शरीरको धीरेसे देखा (और इस प्रकार कुछ स्पष्ट नहीं कहनेपर भी उसने कामवाण पीडित अपने शरीरकी अवस्थाकी ओर सङ्केतकर तदनुसार कार्य करनेके लिए सखीको एक प्रकारसे प्रत्युत्तर दे दिया) ॥ ६१ ॥

इत्थं नायिकाभिरुपदिष्टा दूत्यः किमकुर्वन्नित्यत आह—

ब्रुवते स्म दूत्य उपसृत्य नरान्नरवत्प्रगल्भमतिगर्भगिरः।
सुहृदर्थमीहितमजिह्मधियां प्रकृतेर्विराजति विरुद्धमपि ॥६२॥

ब्रुवत इति ॥ प्रगल्भा धृष्टाः मतिगर्भाः प्रतिभासाराश्च गिरो यासां ता दूत्यो नरान् पुरुषानुपसृत्य नरवत् नरैः पुंभिस्तुल्यम् । 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (५।१।११५) इति वतिप्रत्ययः। ब्रुवते स्म। न चैतावता वैजात्यं दूषणमित्यर्थान्तरन्यासेनाह—सुहृदर्थमिति। तथा हि—अजिह्मधियामकुटिलबुद्धीनां सम्बन्धि सुहृदे सुहृदर्थम्। 'अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' (वा०)। ईहितं चेष्टितं प्रकृतेर्विरुद्धमपि स्वभावविपरीतमपि विराजति शोभते । तस्मान्न धाष्टर्यं दोष इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

पुरुषके समान निर्भीक तथा प्रतिभासे भरी हुई बात कहनेवाली दूतियाँ प्रियतमोंके पास जाकर बोलीं अर्थात् अपनी-अपनी सखियोंका सन्देश सुनाकर प्रियतमोंको उनके पास जानेके लिए कहीं, निष्कपट बुद्धिवाले लोगों का मित्रके लिए प्रकृतिके विरुद्ध भी की गयी

---

१. 'वल्गु-' इति पा०।

चेष्टा शोभती है, (अतः उन दूतियोंका पुरुषके समान प्रगल्भ वचन कहना भी दोषाधायक नहीं हुआ) ॥ ६२ ॥

अथ काचिद्दूती कञ्चित्प्रियं प्रति सप्तभिः प्रार्थयते (कुलकम् ६३–६९)—

मम रूपकीर्तिमहरद्भुवि 'यस्तदनुप्रविष्टहृदयेयमिति ।
त्वयि मत्सरादिव निरस्तदयः सुतरां क्षिणोति खलु तां मदनः ॥ ६३ ॥

ममेत्यादि ॥ यो भुवि मम रूपकीर्तिं सौन्दर्यं प्रथममहरत् इयं त्वत्प्रिया तदनुप्रविष्टहृदया तस्मिन्नासक्तचित्तेति अतो हेतोस्त्वयि मत्सरादिव मदनो निरस्तदयो निष्कृपः सन् तां त्वत्प्रियां सुतरां क्षिणोति क्षपयति खलु । एतेन कार्श्यावस्थोक्ता । अत्र साक्षात्प्रतिपक्षभूतनायकपीडासमर्थस्य मदनस्य तदीयनायिकापीडनोक्त्या प्रत्यनीकालङ्कारः । त्वयि मत्सरादिवेति हेतूत्प्रेक्षोत्थापित इति सङ्करः । 'बलिनः प्रतिपक्षस्य प्रतीकारे सुदुष्करे । यस्तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीकं तदुच्यते ॥' इति लक्षणात् ॥

(अब कोई दूती किसी कलहान्तरिता नायिकाकी अवस्थाको सात श्लोकों (९।६३-६९) में उसके पतिसे कहती है, यह वर्णन करते हैं) 'पृथ्वीमें मेरे अर्थात् कामदेवके सौन्दर्यकी कीर्तिको जिसने हरण कर लिया, वह नायिका उसीमें आसक्त चित्तवाली है' मानो ऐसा सोचकर तुम्हारे विषयमें द्वेष करनेसे निर्दय होकर कामदेव उस (नायिका) को अत्यन्त क्षीण कर रहा है अर्थात् तुमने अपने रूपसे कामको पराजित कर दिया है और वह नायिका तुममें अनुरागवती हो रही है, अतः तुम्हारे साथ ईर्ष्या करता हुआ कामदेव तुम्हारा कोई अनिष्ट करनेमें असमर्थ होकर निर्दयतापूर्वक तुम्हारी प्रियाको ही अत्यन्त पीडित कर रहा है ॥

तव सा कथासु परिघट्टयति श्रवणं यदङ्गुलिमुखेन मुहुः ।
घनतां ध्रुवं नयति तेन भवद्गुणपूगपूरितमतृप्ततया ॥ ६४ ॥

तवेति ॥ सा त्वत्प्रिया तव कथासु गुणकीर्तनेषु मुहुरङ्गुलिमुखेनाङ्गुल्यग्रेण श्रवणं श्रोत्रविवरं परिघट्टयति स्फालयतीति यत् । यदृच्छयेति शेषः । तेन परिघट्टनेन भवद्गुणपूगपूरितं श्रवणं अतृप्ततया तावद्गुणग्रहणेनासन्तुष्टतया घनतां नयति । बहुतण्डुलमानार्थं प्रस्थादिवद्भूयो गुणप्रवेशाय श्लेषयतीत्यर्थः । ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् । अत्र कण्डूविनोदार्थं श्रोत्रघट्टने घनतानयनमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ६४ ॥

वह (तुम्हारी प्रिया) तुम्हारी चर्चाके समयमें अङ्गुलिके अग्रभागसे जो बार-बार कान को खुजलाती है, उससे वह मानो पूर्ण तृप्त नहीं होनेके कारण आपके गुणोंसे भरे हुए कानको दबा-दबाकर (तुम्हारे गुण-समूहको कानमें) सघन करती (ठूस-ठूसकर अधिक भरती) है ॥ ६४ ॥

उपताप्यमानमलघूष्णिमभिः श्वसितैः सितेतरसरोजदृशः ।
द्रवतां न नेतुमधरं क्षमते नवनागवल्लिदलरागरसः ॥ ६५ ॥

---

१. 'यस्तमनुप्रसक्त–' इति पा० । २. 'पूग–' इति पा० ।

उपेति ॥ अलघुरन्तः सन्तापोपाधिक उष्णिमा उष्णत्वं येषां तैः श्वसितैर्निःश्वासैरुपताप्यमानं सितेतरसरोजदृशो नीलोत्पलाक्ष्या अधरं नवनागवल्लिदलानां ताम्बूलदलानां रागरसो रञ्जनद्रवो द्रवतामार्द्रतां नेतुं न क्षमते न शक्नोति। एतेन ज्वरावस्थोक्ता। अत्र द्रवत्वसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ६५ ॥

अत्यन्त उष्ण श्वासवायुसे सन्तप्त होते हुए नीलकमलके समान नेत्रवाली उस (तुम्हारी प्रिया) के अधरको नये पान (के बीड़े) का रस गीला नहीं रख सकता है अर्थात् उष्णतम निःश्वाससे उसका अधर इतना सन्तप्त रहता है कि पानका बीड़ा खानेपर भी उसके रससे वह गीला नहीं रहता ॥ ६५ ॥

दधति स्फुटं रतिपतेरिषवः शिततां यदुत्पलपलाशदृशः ।
हृदयं निरन्तरबृहत्कठिनस्तनमण्डलावरणमप्यभिदन् ॥ ६६ ॥

दधतीति ॥ रतिपतेरिषवः शिततां नैशित्यं दधति । स्फुटमित्युत्प्रेक्षायाम्। यद्यस्मान्निरन्तरं निरन्ध्रं बृहत्कठिनं च यत् स्तनमण्डलं तदेवावरणं वर्म यस्य तत्तदपि उत्पलपलाशदृश उत्पलदलाक्ष्याः हृदयमभिदन् भिन्दन्ति स्म । भिदेर्लुङि 'इरितो वा' (३।१।५७) इति च्लेरङादेशः। सावरणमपि भिन्नमिति विरोधोत्थापितेयं स्मरशरनैशित्योत्प्रेक्षा। तथा च रन्ध्रान्वेषिणा कामेन निपीड्यमानायास्तस्यास्त्वद्विरहो जीवितसंशयमापादयतीति वस्तु द्योत्यते ॥ ६६ ॥

कामदेवके बाण मानो सचमुच ही तीक्ष्ण होते हैं, क्योंकि परस्पर में सटे हुए एवं बड़े-बड़े कठोर स्तन-मण्डलसे ढके हुए भी कमलनयनीके हृदयको उन कामबाणोंने विदीर्ण कर दिया है ॥ ६६ ॥

कुसुमादपि स्मितदृशः सुतरां सुकुमारमङ्गमिति नापरथा ।
अनिशं निजैरकरुणः करुणं[1] कुसुमेषुरुत्तपति यद्विशिखैः ॥ ६७ ॥

कुसुमादिति ॥ स्मितदृशः स्मेराक्ष्या अङ्गं कुसुमादपि सुतरां सुकुमारं कोमलमितीदमपरथा अन्यथा न। किन्तु सत्यमेवेत्यर्थः। यद्यस्मात् कुसुमेषुरकरुणो निष्कृपः सन् निजैर्विशिखैर्बाणैः। 'पृषत्कबाणविशिखाः' इत्यमरः। कुसुमैरेवेत्यर्थः । करुणं दीनं यथा तथा अनिशं नित्यमुत्तपति । तापयतीत्यर्थः । तपतिरयं भौवादिकः सकर्मकः। कुसुमाधिकसौकुमार्याभावे कुसुमैः पीड्यत इति कुसुमाधिकसौकुमार्यगुणोत्प्रेक्षा नापरथेति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्या ॥ ६७ ॥

विकसित नेत्रोंवाली (तुम्हारी प्रिया) का अङ्ग स्वभावतः पुष्पसे भी अधिक कोमल है, यह असत्य नहीं है, क्योंकि पुष्पबाण (कामदेव) निष्करुण होकर (पुष्परूप) अपने बाणोंसे हाय! उसके अङ्गको नित्य सन्तप्त कर रहा है। यदि उस रमणीका अङ्ग पुष्पसे भी अधिक कोमल नहीं होता तो पुष्प (कामदेवके बाण) के द्वारा आहत होकर सन्तप्त नहीं होता ॥

विपतां निषेवितमपक्रियया समुपैति सर्वमिति सत्यमदः ।
अमृतस्रुतोऽपि विरहाद्भवतो यदमूं दहन्ति हिमरश्मिरुचः ॥ ६८ ॥

---

१. 'करणम्' इति पा० ।

विषतामिति ॥ अपक्रियया विपरीतप्रयोगेण निषेवितमुपयुक्तं सर्वम् । अमृतमपीति भावः । विषतां विषवदहितत्वं समुपैति इत्यद इदं विषत्वं सत्यं ध्रुवम् । यद्यस्मादमृतस्रुतोऽपि । स्रवतेः क्विपि तुक् । हिमरश्मिरुचश्चन्द्रपादाः भवतो विरहाद्धेतोस्त्वया विना सेवनादित्यर्थः । अमूं त्वत्प्रियां दहन्ति । याः पूर्वं त्वया सह सेवनादाह्लादयन्निति भावः । एतेन विषयद्वेषरूपाऽरत्यवस्थोक्ता । अत्र विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६८ ॥

विपरीत उपचारसे प्रयोग किया गया (उत्तम भी) सब पदार्थ विषैले (विषतुल्य हानिकारक) हो जाते हैं, यह सत्य ही है, क्योंकि अमृतक्षरण करनेवाली भी चाँदनी आपके विरहसे इसे (तुम्हारी प्रियाको) जला रही है ॥ ६८ ॥

उदितं प्रियां प्रति सहार्दमिति श्रदधीयत प्रियतमेन वचः ।
विदितेङ्गिते हि पुर एव जने सपदीरिताः खलु लगन्ति गिरः ॥ ६९ ॥
(कुलकम्)

उदितमिति ॥ प्रियां प्रति प्रियामुद्दिश्य हृदयस्येदं हार्दं प्रेम । 'प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहः' इत्यमरः । 'तस्येदम्' (४।३।१२०) इत्यण्प्रत्ययः । 'हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु' (६।३।५०) इति हृदयस्य हृदादेशः । सहार्दं सस्नेहमित्युदितम् । वदेः कर्मणि क्तः 'वचिस्वपि-' (६।१।१५) इत्यादिना सम्प्रसारणम् । वचो दूतीवाक्यं प्रियतमेन श्रदधीयत विश्वसितम् । दधातेः कर्मणि लङ् । श्रदन्तरोरुपसर्गवचनात् श्रच्छब्दस्य प्राक्प्रयोगः । हि यस्मात्पुरः पूर्वमेव विदितेङ्गिते विदितपराभिप्राये जने । इङ्गितं हृद्गतो भावः । सज्जने समुदीरिता गिरः सपदि लगन्ति सज्जन्ति खलु । स्वयं प्रियाहृदयवेदित्वात् स्वबुद्धेः संवादेन दूतीकथितं प्रियाविरहदुःखं विशश्वासेत्यर्थः । अर्थान्तरन्यासः । एषा कलहान्तरिता । अत एव मानाख्यो विप्रलम्भः शृङ्गारः । 'पूर्वानुरागमानाख्यप्रवासकरुणात्मना । विप्रलम्भाभिधानोऽयं शृङ्गारः स्याच्चतुर्विधः ॥' इति चतुर्थोऽयमुक्तः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार (९।६३–६८) प्रियाके विषयमें प्रेमपूर्वक (दूतीके द्वारा) कहे गये वचनपर प्रियतमने विश्वास कर लिया, क्योंकि पहलेसे ही अभिप्रायको जाने हुए व्यक्तिमें कहे गये वचन तत्काल (शीघ्र) ही लग जाते (विश्वास उत्पन्न कर देते) हैं ॥ ६९ ॥

दयिताहृतस्य युवभिर्मनसः परिमूढतामिव गतैः प्रथमम् ।
उदिते ततः सपदि लब्धपदैः क्षणदाकरेऽनुपदिभिः प्रयये ॥ ७० ॥

दयितेति ॥ प्रथमं चन्द्रोदयात्प्राक् परिमूढतां निजमनोपहर्तृमार्गानभिज्ञतां गतैः ततः पश्चात् क्षणदाकरे चन्द्रे उदिते सति सपदि लब्धपदैर्दृष्टचोरपदचिह्नैः दयिताभिर्हृतस्याकृष्टस्यापहृतस्य च मनसोऽनुपदिभिरन्वेष्टृभिः । अन्विष्यद्भिरित्यर्थः । अत एव गम्योत्प्रेक्षा प्रागवलम्बितधैर्यत्यागनिमित्ता । 'अनुपद्यन्वेष्टा' (५।२।९०) इति

निपातः। 'अन्वेष्टानुपदी प्रोक्ता' इति वैजयन्ती। युवभिः प्रचये प्रयातम्। यातेर्भावे लिट्। अत्रोक्तपदान्वेषणोत्प्रेक्षया यूनां चोरग्राहिरूपकं गम्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः॥ ७७॥

मानो (चन्द्रोदय होनेके) पहले (अपने मनके हरण करनेवालेको जाननेके विषयमें) अत्यन्त अजानकार और चन्द्रमाके उदय होनेपर तत्काल पदचिह्नको प्राप्त किये (जाते) हुए, प्रियतमाके द्वारा अपहृत (चुराये गये) मनको खोजनेवाले युवक चल पड़े।

विमर्श—जिस प्रकार किसी वस्तुको चोरी होनेपर अन्धकार होनेके कारण चुरानेवाला किधर गया है? इसका पता नहीं लगता और प्रकाश हो जानेपर उस चुरानेवालेके चरण-चिह्नोंको देखकर चुरायी गयी अपनी वस्तुको खोजने वाला व्यक्ति उस चोरके पीछे चल पड़ता है, उसी प्रकार मानो दयिताके द्वारा चुराये हुए मनको खोजनेवाले युवक भी चन्द्रोदय होनेपर उनके पास चल पड़े। भाव यह है कि जिन दयिताओंके पास उनका मन था, उनके पास वे चल पड़े, क्योंकि चन्द्रोदय होनेपर उनका काम उद्दीप्त हो उठा था॥

अथ यूनां गृहप्राप्त्यनन्तरं वृत्तान्तं वर्णयति—

निपपात सम्भ्रमभृतः श्रवणादसितभ्रुवः प्रणदितालिकुलम्।
दयितावलोकविकसन्नयनप्रसरप्रणुन्नमिव वारिरुहम्॥ ७१॥

निपपातेति॥ सम्भ्रमभृतः प्रत्युत्थानसम्भ्रमिण्याः असितभ्रुवोऽङ्गनायाः प्रणदितालिकुलं गुञ्जदलिपुञ्जम्। 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८।४।१४) इति णत्वम्। वारिरुहं श्रवणोत्पलं दयितावलोकेन विकसतो विस्तारं गच्छतो नयनस्य प्रसरेण प्रसारेण प्रणुन्नमिव। पूर्ववण्णत्वम्। निपपात। तथा सम्भ्रान्तमित्यर्थः। अत्र सम्भ्रमहेतुकस्य कर्णोत्पलपातस्य नयनप्रसारहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते। एषा च हृष्टा॥७१॥

(अब प्रियतमोंके प्रियतमाओंके पास पहुंचनेपर होनेवाले वृत्तान्तका वर्णन करते हैं, प्रियतमके आनेपर अभ्युत्थानके लिए) सम्भ्रमयुक्त नील भ्रूवाली नायिकाके कानसे, जिस पर भ्रमरसमूह गूँज रहे थे ऐसा (अवतंसभूत) कमल मानो प्रियतमके देखनेसे विकसित होते हुए नेत्रोंके विस्तारसे प्रेरित होकर गिर पड़ा॥ ७१॥

उपनेतुमुन्नतिमतेव दिवं कुचयोर्युगेन तरसा कलिताम्।
रभसोत्थितामुपगतः सहसा परिरभ्य कश्चन वधूमरुधत्॥ ७२॥

उपनेतुमिति॥ सहसोपगतो हठादागतः कश्चन युवा अत एव रभसेनोत्थितामत एवोन्नतिमता कुचयोर्युगेन करणेन दिवमाकाशमुपनेतुमिवोर्ध्वमुत्क्षेप्तुमिवेति फलोत्प्रेक्षा उत्थाननिमित्तौन्नत्यगुणनिमित्ता। तरसा बलेनाकलितां व्याक्षिप्तां वधूं प्रियां परिरभ्याश्लिष्यारुधत् रुद्धवानुपवेशितवान्। ऊर्ध्वोत्क्षेपान्निवारितवानिति चार्थः। रुधेर्लुङि 'इरितो वा' (३।१।५७) इति विकल्पात् च्लेरङादेशः। एषा हृष्टा रोमाञ्चिताद्यनुभाववती च॥ ७२॥

एकाएक आये हुए किसी युवकने (प्रियतमके एकाएक आनेसे ही उसका स्वागत करनेके

लिए) सहसा उठी हुई (अत एव) उन्नत स्तनद्वयके द्वारा ऊपर ले जानेके लिए वेगयुक्त नायिकाको सहसा (झटपट) आलिङ्गन कर बैठा लिया (पक्षा०—ऊपर जानेसे रोक लिया) ॥

अनुदेहमागतवतः प्रतिमां परिणायकस्य गुरुमुद्वहता ।
मुकुरेण वेपथुभृतोऽतिभरात् कथमप्यपाति न वधूकरतः ॥ ७३ ॥

अनुदेहमिति ॥ अनुदेहं देहस्य पश्चात् । 'अव्ययं विभक्ति–' (२।१।६) इत्यादिना पश्चादर्थेऽव्ययीभावः । आगतवतः परिणायकस्य परिणेतुः । वोढुरित्यर्थः । नयतेर्ण्वुल् प्रत्ययः । 'उपसर्गादसमासेऽपि–' (८।४।१४) इति णत्वम् । गुरुं पूज्यां, भारवतीं च प्रतिमां प्रतिबिम्बमुद्वहता पश्चात्स्थितस्यापि तदाभिमुख्यादिति भावः । मुकुरेण दर्पणेन कर्त्रा । 'दर्पणे मुकुरादर्शौ' इत्यमरः । वेपथुभृतो नवोढतया भयशृङ्गाराभ्यां कम्पमानात् । अति अतिमात्रो भरो यस्य तस्मादतिभरात् । प्रतिबिम्बगुरुमुकुरधारणादिति भावः । वध्वा नवोढायाः करतः पाणितलात् । पञ्चम्यास्तसिल् । कथमपि नापाति न पतितम् । महता प्रयत्नेन धारित इत्यर्थः । भावे लुङ् । एषा च मुग्धा । अत्र वधूकरस्य भारासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । गुरुमिति श्लेषोत्थापितेति सङ्करः ॥ ७३ ॥

(चुपकेसे) देहके पीछे आये हुए पतिके पूज्य (पक्षा०—विशाल होनेसे भारयुक्त) प्रतिबिम्बको धारण करता हुआ दर्पण अत्यन्त बोझिल होनेके कारण काँपते हुए रमणीके हाथसे किसी प्रकार नहीं गिरा अर्थात् उक्तरूप दर्पणको रमणीने बड़ी कठिनतासे गिरनेसे बचाया ॥ ७३ ॥

अवनम्य वक्षसि निमग्नकुचद्वितयेन गाढमुपगूढवता ।
दयितेन तत्क्षणच[2]लद्रशनाकलकिङ्किणीरवमुदासि वधूः ॥ ७४ ॥

अवनम्येति । अवनम्य गाढमुपगूढवता आश्लिष्टवता, अत एव वक्षसि निमग्नकुचद्वितयेन दयितेन तत्क्षणे चलन्नुद्गच्छन् रशनायाः कलकिङ्किणीरवो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा वधूरङ्गना उदासि उत्क्षिप्ता । अस्यतेः 'कर्मणि लुङ्' । एषा च हृष्टा रोमाञ्चाद्यनुभाववती च । स्वभावालंकारः ॥ ७४ ॥

कुछ झुककर (प्रियतमाका) गाढ आलिङ्गन किये हुए तथा वक्षःस्थलमें निमग्न (चिपके) हुए (प्रियतमाके) स्तनद्वयवाले प्रियतमने उस समय हिलती हुई करधनीके घुँघरुओंके मधुर ध्वनि करते रहनेपर प्रियतमाको उठा लिया ॥ ७४ ॥

कररुद्धनीवि दयितोपगतौ गलितं त्वराविरहितासनया ।
क्षणदृष्टहाटकशिलासदृशस्फुरदूरुभित्ति वसनं ववसे ॥ ७५ ॥

करुद्धेति ॥ दयितोपगतौ प्रियागमने सति अत एव त्वरया विरहितं त्यक्त-

१. '—माताऽति—' इति पा० । २. '—गल—' इति पा० । ३. 'हसितम्' इति पा० ।

मासनं यथा तथा। उत्थितयेत्यर्थः। कयाचिदिति शेषः। अत एव गलितं स्रस्तं, अत एव कररुद्धनीवि करगृहीतबन्धं वसनं क्षणं दृष्टा हाटकशिलासदृशी हेमशिलाप्रतिमा स्फुरन्ती ऊरुभित्तिरूरुदेशो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा। 'हिरण्यं हेम हाटकम्' इत्यमरः। ववसे आच्छादितम्। वसेराच्छादनार्थात्कर्मणि लिट्। ऊरुभित्तिरिवेत्युपमितसमासः। अत्रोपमयोः संसृष्टिः ॥ ७५ ॥

प्रियतमके (एकाएक) आनेपर शीघ्रतापूर्वक उठी हुई किसी नायिकाने नीचेकी ओर सरके (गिरते) हुए तथा हाथसे पकड़ी गयी नीवि(नाभिप्रदेशके नीचे लगायी गयी कपड़ेकी गाँठ) वाले कपड़ेको पहन लिया तथा उस (कपड़ा पहनने) के पहले सोनेके खम्भेके समान स्फुरित होता हुआ जघनरूप भित्तिप्रदेश क्षणमात्र दिखलायी पड़ गया ॥७५॥

पिदधानमन्वगुपगम्य दृशौ ब्रुवते जनाय वद कोऽयमिति ।
अभिधातुमध्यवससौ न गिरा पुलकैः प्रियं नववधूर्न्यगदत ॥ ७६ ॥

पिदधानमिति ॥ नववधूर्नवोढा अन्वक्पश्चादुपगम्य दृशौ पिदधानं छादयन्तं प्रियं दृष्टिच्छादकः कः वद इति ब्रुवते पृच्छते जनाय गिरा वाचा अभिधातुं नाध्यवससौ नोत्सेहे। लज्जयेति भावः। अध्यवपूर्वात् स्यतेः कर्तरि लिट्। किन्तु पुलकैर्न्यगदत। अत्र प्रियज्ञानस्यार्थस्य लज्जया असंलक्षितस्य पुलकैः प्रकाशनात् सूक्ष्मालंकारः। 'असंलक्षितसूक्ष्मार्थप्रकाशः सूक्ष्म उच्यते' इति लक्षणात् ॥ ७६ ॥

किसी नवविवाहिता रमणीने पीछेसे आकर दोनों नेत्रोंको बन्द किये हुए प्रियतमको 'यह कौन (तुम्हारे नेत्रोंको बन्द किया) है ?' ऐसा पूछनेवाली सखीसे वचन द्वारा (स्पष्ट कहकर) उत्तर नहीं दिया, किन्तु (सात्त्विकभावजन्य) रोमाञ्चोंसे प्रियतमको बतला दिया ॥

उदितोरुसादमतिवेपथुमत्सुदृशोऽभिभर्तृ विधुरं त्रपया ।
वपुरादरातिशयशंसि [1]पुनः प्रतिपत्तिमूढमपि बाढमभूत् ॥ ७७ ॥

उदितेति ॥ अभिभर्तृ भर्तृसमक्षम्। 'लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये' (२।१।१४) इत्यव्ययीभावः। उदित उत्पन्न ऊरुसादः ऊर्वोर्निश्चेष्टता यस्य तत् अतिवेपथुमदतिकम्पवत्। एतेन विशेषणद्वयेन प्रत्युत्थानालिङ्गनविरोधेन स्तम्भवेपथू सात्त्विकावुक्तौ। त्रपया विधुरं विलक्षम्। एतेन लज्जासञ्चारिणा प्रियवाक्कुण्ठत्वमुक्तम्। एवं प्रतिपत्तिमूढमपि इतिकर्तव्यतामूढमपि सुदृशो वपुर्बाढं भृशमादरातिशयशंसि मुखरागादिलिङ्गैरादरविशेषव्यञ्जकमभूत्। सत्यादरे किमुपचारैरिति भावः ॥७७॥

पतिके सामने (आ जानेपर, जड़तासे) जघनद्वयकी चेष्टासे हीन, अत्यन्त कम्पनयुक्त तथा लज्जासे व्याकुल हुए सुन्दर नेत्रोंवाली रमणीका शरीर यद्यपि (प्रियतमके) सत्कार (क्रमशः अभ्युत्थान, आलिङ्गन तथा प्रिय-मधुर भाषण) करनेमें ज्ञानशून्य (किंकर्तव्य-

---

१. 'पुरः' इति पा० ।

विमूढ) हो गया; तथापि वह (मुख-नेत्र आदिकी प्रसन्नताके द्वारा प्रियतमके प्रति) अत्यन्त आदरको प्रकट करनेवाला हुआ ॥ ७७ ॥

परिमन्थराभिरलघूरुभरादधिवेश्म पत्युरुपचारविधौ ।
स्खलिताभिरप्यनुपदं प्रमदाः प्रणयातिभूमिमगमन्गतिभिः ॥ ७८ ॥

परीति ॥ प्रमदा अधिवेश्म निजवेश्मनि पत्युरुपचारविधौ प्रत्युत्थानादिकर्मणि अलघोर्महत ऊरुभराव परिमन्थराभिरलसाभिः अनुपदं पदे पदे स्खलिताभिरपि गतिभिः प्रणयातिभूमिं प्रेमप्रकर्षमगमन्। परप्रेमास्पदीभूता इत्यर्थः। प्रत्युत्थानादपि स्खलितगमनमेव पत्युः प्रीतिकरमभूदिति भावः। स्त्रीणां स्खलनं पत्युः प्रीतिकरमिति विरोधाभासोऽलंकारः ॥ ७८ ॥

प्रमदाओं (अधिक काममदयुक्त रमणियों) ने घरमें प्रियतमके (अभ्युत्थान, आलिङ्गन आदिरूप) सत्कार करनेमें, बोझिल जघनके भारसे आलसयुक्त तथा पद-पदपर स्खलित होती हुई भी गतियोंसे (प्रियतमोंके) प्रेमाधिक्यको ही प्राप्त किया अर्थात् उन प्रमदाओंके प्रत्युत्थान आदिकी अपेक्षा उनकी स्खलित गति ही प्रियतमोंके लिए प्रीति करनेवाली हुई ॥

मधुरोन्नतभ्रु [1]ललितं च दृशोः [2]सकरप्रयोगचतुरं च वचः ।
प्रकृतिस्थमेव निपुणागमितं स्फुटनृत्यलीलमभवत्सुतनोः ॥ ७९ ॥

मधुरेति ॥ मधुरं मनोहरं यथा तथोन्नते उच्चलिते भ्रुवौ यस्मिंस्तन्मधुरोन्नतभ्रु । 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (१।२।४८) इति ह्रस्वत्वम् । दृशोर्ललितं नयनचेष्टा च सकरप्रयोगं हस्ताभिनयसहितं तच्चतुरं च तद्वचश्च सुतनोः स्त्रियाः प्रकृतिस्थमेव स्वभावसिद्धमेव सदपि निपुणेन निपुणाचार्येणागमितमभ्यासितम्। अत एव स्फुटं प्रथितं यन्नृत्यं तस्य लीलेव लीला यस्य तत्तथोक्तमभवदिति निदर्शनालङ्कारः। तया नर्तक्युपमा गम्यते ॥ ७९ ॥

यद्यपि सुन्दरी सुन्दर भ्रूद्वयको उन्नत कर, नेत्रद्वयको विलसित (कटाक्षादिसे युक्त) कर तथा हाथसे इधर-उधर संकेत कर चातुर्ययुक्त वचन स्वभावसे ही बोल रही थी, तथापि ऐसा ज्ञात होता था कि यह सब मानो नाट्याचार्यके सिखलानेसे प्राप्त हुआ हो ॥ ७९ ॥

अथ कस्याश्चित्सपत्नीनामग्रहणाद्धूताया: कान्तोपालम्भं विशेषकेणाह—

तदयुक्तमङ्ग तव विश्वसृजा न कृतं यदीक्षणसहस्रतयम् ।
प्रकटीकृता जगति येन खलु स्फुटमिन्द्रताद्य मयि गोत्रभिदा ॥८०॥

तदिति ॥ अङ्गेत्यामन्त्रणे। विश्वसृजा विधात्रा तव ईक्षणसहस्रतयं नेत्रसहस्रसमूहः। 'संख्याया अवयवे तयप्' (५।२।४२) न कृतं न सृष्टमिति यत्तदयुक्तम्। कुतः। येन कारणेन मयि विषये स्फुटं प्रत्यक्षमेव गोत्रभिदा नामभेदिनाद्रिभेदिना च। 'गोत्रं नाम्नि कुलेऽप्यद्रौ' इति यादवः। त्वयेति शेषः। अद्य इन्द्रता जगति

१. 'लसितम्' इति पा० । २. 'स्वकर—' इति पा० । ३. 'गमिते···नाट्य–' इति पा० ।

प्रकटीकृता खलु। अत्र गोत्रभिदेति श्लेषानुप्राणितं सहस्राक्षत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ८० ॥

(अब सपत्नीका नाम लेकर पतिके द्वारा बुलायी गई कोई रमणी पतिसे उलाहना देती है, इसका तीन श्लोकों (९।८०-८२) से वर्णन करते हैं) "हे अङ्ग (प्रियतम) ! ब्रह्माने तुम्हें सहस्र नेत्रोंवाला नहीं किया, यह अनुचित ही किया, मेरे विषयमें सामने ही गोत्रभेदी (भिन्न नामका उच्चारण करनेवाले, पक्षा०—पर्वतोंका भेदन करनेवाले) तुमने संसारमें आज इन्द्रत्व (गोत्रभेदित्व) को प्रकट ही कर दिया है ॥ ८० ॥

न विभावयत्यनिशमक्षिगतामपि मां भवानतिसमीपतया।
हृदयस्थितामपि पुनः परितः कथमीक्षते बहिरभीष्टतमाम् ॥ ८१ ॥

नेति ॥ अनिशमक्षिगतां चक्षुःसन्निकृष्टामपि, द्वेष्यामिति च गम्यते। 'द्वेष्ये त्वक्षिगतः' इत्यमरः। मामतिसमीपतया भवान्न विभावयति। 'शेषे प्रथमः' (१।४।१०८) इति प्रथमपुरुषः। इन्द्रियसन्निकृष्टमपि न लक्षयत इति विरोधाभासनार्थोऽपिशब्दः। परमार्थस्तु द्वेष्यत्वादतिसामीप्याच्चाविभावनं न चित्रमिति भावः। अभीष्टतमां पुनर्हृदयस्थितां हृदयादनपेताम्, अन्तर्हितामिति च गम्यते। अत एव विरोधाभासकोऽपिशब्दः। बहिः पुरतः कथं भवान् ईक्षते इदं तु चित्रम्। अतिसामीप्यव्यवधानस्यापि दर्शनप्रतिबन्धकत्वादिति भावः। प्रेमास्पदं वस्तु परोक्षमप्यपरोक्षमीक्षते इतरदपरोक्षमपि परोक्षमेवेति तात्पर्यार्थः। विरोधाभासयोः सङ्करः ॥

तुम सर्वदा नेत्रके सामने स्थित (पक्षा०—द्वेषार्ह) भी मुझे अत्यन्त समीप होनेसे नहीं पहचानते हो, किन्तु हृदय (भीतर) में स्थित भी उस प्रियतमाको बाहरमें चारों ओर कैसे देखते हो ? (सामने स्थितको नहीं देखनेसे और कहीं (भीतरमें) छिपी हुईको देखनेसे आश्चर्य होता है) ॥ ८१ ॥

इति गन्तुमिच्छुमभिधाय पुरः क्षणदृष्टिपातविकसद्वदनाम्[1]।
स्वकरावलम्बनविमुक्तगलत्कलकाञ्चि[2] काञ्चिदरुणत्तरुणः ॥ ८२ ॥

इतीति ॥ इत्यभिधाय पुरो गन्तुमिच्छुं क्षणं दृष्ट्योः पातेन विकसद्वदनाम्। परस्परदृष्टिपातमात्रगतकोपामित्यर्थः। काञ्चिन्नायिकां तरुणो युवा स्वकरावलम्बनं प्रियकरेण ग्रहणं तेन विमुक्ता मुक्तबन्धना अत एव गलन्ती भ्रंशमाना कला मधुरा काञ्ची यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा अरुणत् रुद्धवान्। रुधेर्लङि 'रुधादिभ्यः श्नम्' (३।१।७८)। एषा च कलहान्तरिता ॥ ८२ ॥

ऐसा (९।८०-८१) कहकर (पतिके) सामनेसे जाना चाहती हुई किन्तु क्षणमात्र प्रसन्नतापूर्वक देखनेसे प्रसन्न मुखवाली किसी नायिकाको युवकने रोक लिया; उस समय प्रियतमके हाथसे पकड़े जानेसे नायिकाकी मधुर ध्वनि करती हुई करधनी बन्धनके ढीला पड़नेसे नीचेकी ओर सरक गयी ॥ ८२ ॥

---

१. 'विहस—' इति पा०। २. '—ममुक्त—' इति पा०।

अपयाति सरोषया निरस्ते कृतकं कामिनि चुक्षुवे मृगाक्ष्या ।
कलयन्नपि सव्यथोऽवतस्थेऽशकुनेन स्खलितः किलेतरोऽपि ॥८३॥

अपयातीति ॥ सरोषया मृगाक्ष्या निरस्ते कामिनि भर्तर्यपयाति निर्याते सति कृतकं कृत्रिमं यथा तथा चुक्षुवे । तन्निर्गमनप्रतिबन्धार्थं क्षुतं कृतमित्यर्थः । 'क्षु शब्दे' भावे लिट् । इतरोऽपि नायकोऽपि कलयन्नपि कृतकोपमिति जानन्नपि अशकुनेन स्खलितः किल निरुद्ध इव सव्यथः सनिर्वेद इवावतस्थे स्थितः । न गत इत्यर्थः । उभावपि समानानुरागाविति भावः । एषा च कलहान्तरिता ॥ ८३ ॥

क्रुद्ध मृगनयनीके द्वारा तिरस्कृत कामी (पति) को वापस लौटते रहनेपर बनावटी छींक दिया और इसे अर्थात् यह वास्तविक छींक नहीं है इस बातको जानता हुआ भी वह (कामीं पति) 'अपशकुनसे मैं रोका गया' ऐसा प्रकट करता हुआ-सा मानो दुःखित होकर रुक गया । (वास्तवमें तो नायिका तथा नायक दोनों ही सम्भोगेच्छुक थे, अत एव नायिकाने झूठे छींका और नायक झूठी छींक जानकर भी अपशकुनका बहाना कर रुक गया) ॥ ८३ ॥

आलोक्य प्रियतममंशुके विनीवौ यत्तस्थे नमितमुखेन्दु मानवत्या ।
तन्नूनं पदमवलोकयाम्बभूवे मानस्य द्रुतमपयान[1]मास्थितस्य ॥ ८४ ॥

आलोक्येति । मानवत्या कोपवत्या स्त्रिया । 'स्त्रीणामीर्ष्याकृतः कोपो मानोऽन्यासङ्गिनि प्रिये' । प्रियतममालोक्य । स्थित्यासमानकर्तृकत्वात्क्त्वानिर्देशः । अंशुके विनीवौ प्रियावलोकनाद्विगलितबन्धे सति । भाषितपुंस्कत्वात्पुंवद्भावः । 'स्त्रीकटीवस्त्रबन्धेऽपि नीविः परिपणेऽपि च' इत्यमरः । नमितमुखेन्दु यथा तथा तस्थे स्थितमिति यत्तस्मान्नम्रमुखावस्थानाद्द्रुतं शीघ्रम् । प्रियावलोकनेक्षण एवेत्यर्थः । अपयानमास्थितस्य प्रयाणं गतस्य मानस्य कोपस्य पदं पदचिह्नमवलोकयाम्बभूवे । अन्वेषितमित्यर्थः । लज्जानिमित्ताया मुखनतेः अन्वेषणार्थत्वमुत्प्रेक्ष्यते नूनमिति । मानगन्धोऽप्यस्तमित इति भावः ॥ ८४ ॥

मानवती रमणी प्रियतमको देखकर वस्त्रके नीविरहित होनेपर लज्जासे मुखचन्द्रको नीचेकी हुई जो स्थित हुई, वह मानो शीघ्र ही (पतिको देखते ही) भगे हुए मानके चरणों के चिह्नोंको देख रही थी अर्थात् जिस प्रकार कोई व्यक्ति भगे हुये व्यक्तिके चरणचिह्नोंको झुककर देखता है, उसी प्रकार मानों वह नायिका भी नम्रमुखी होकर तत्काल ही भागे (नष्ट) हुए अपने मानके चरणोंके चिह्नों को ढूंढ़ रही थी ॥ ८४ ॥

सुदृशः सरसव्यलीकतप्तस्तरसाश्लिष्टवतः सयौवनोष्मा ।
कथमप्यभवत्स्मरानलोष्णः [2]स्तनभारो न नखंपचः प्रियस्य ॥८५॥

सुदृश इति ॥ सरसमार्द्रम् । नूतनमिति यावत् । तेन व्यलीकेन प्रियकृतेनापराधेन

१.—'यातुमा—' पा० । २. 'कुच—' इति पा० ।

तप्तः तथा यौवनोष्मणा सह वर्तते इति सयौवनोष्मा। किञ्च स्मरानलोष्णः कामाग्निसन्तप्तः एवं त्रिविधाग्नितप्तोऽपि सुदृशः स्तनभारस्तरसा वेगेन। अतिदाहदशामेवेत्यर्थः। आश्लिष्टवत आलिङ्गितवतः प्रियस्य कथमपि कथं वा। कुतो हेतोरित्यर्थः। नखं पचति क्वाथयतीति नखंपचः। पचिरत्र तापवाची। 'मितनखे च' (३।२।३४) इति खश्प्रत्ययः। 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (६।३।६७) इति मुमागमः। नाभवत्। तथोष्ण ईषदुष्णोऽपि नाभूदित्यर्थः। प्रियासङ्गप्रतीकाराः खलु कामिनां सन्तापा इति भावः। तादृगौष्ण्यसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः॥ ८५॥

पतिके नवीन अपराधसे तप्त, यौवनावस्थाकी गर्मीसे युक्त तथा कामाग्निसे सन्तप्त (इस प्रकार त्रिविध अग्नि से सन्तप्त भी) सुलोचनाका स्तनभार वेगपूर्वक (गाढ) आलिङ्गन किए हुए प्रियतमके लिए क्यों सन्तापकारक नहीं हुआ? (क्योंकि कामियोंके सन्ताप प्रियजनके शरीरसंसर्ग तक ही ठहरते हैं॥)॥ ८५॥

दधत्युरोजद्वयमुर्वशीतलं भुवो गतेव स्वयमुर्वशी तलम्।
बभौ मुखेनाप्रतिमेन काचन श्रियाधिका तां प्रति मेनका च न॥८६॥

दधतीति॥ उरु महदशीतलं स्मरयौवनोष्मभ्यामुष्णमुरोजद्वयं कुचद्वयं दधती भुवस्तलं गता स्वयं साक्षादुर्वशीव स्थितेत्युत्प्रेक्षा। काचन स्त्री अप्रतिमेन मुखेन बभौ। तां प्रति मेनका मेनकाख्याप्सराश्च श्रिया सौन्दर्येणाधिका नेत्यतिशयोक्तिः। तयोर्यमकेन संसृष्टिः। वंशस्थं वृत्तम्॥ ८६॥

बड़े-बड़े तथा (कामदेव तथा यौवनावस्थाकी) उष्णतासे युक्त दोनों स्तनोंको धारण करती हुई भूतल पर आयी हुई साक्षात् 'उर्वशी' (नामकी स्वर्गीय अप्सरा) के समान स्थित कोई नायिका अनुपम मुखसे शोभने लगी और उसके प्रति मेनका (नामकी स्वर्गीय अप्सरा) भी शोभासे अधिक नहीं हुई॥ ८६॥

इत्थं नारीर्घटयितुमलं कामिभिः काममासन्
प्रालेयांशोः सपदि रुचयः शान्तमानान्तरायाः।
आचार्यत्वं रतिषु विलसन्मन्मथश्रीविलासा
ह्रीप्रत्यूहप्रशमकुशलाः शीधवश्चक्रुरासाम्॥ ८७॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्र्यङ्के प्रदोषवर्णनं नाम नवमः सर्गः॥९॥

इत्थमिति॥ इत्थमनेन प्रकारेण। 'इदमस्थमुः' (५।३।२४) इति थमुप्रत्ययः। सपदि शान्तः शमितो मानः कोप एवान्तरायो याभिस्ताः 'वा दान्त–' (७।२।२७) इत्यादिना शमेर्ण्यन्ताच्छान्तेति निपातः। प्रालेयांशोश्चन्द्रस्य रुचयो नारीः कामिभिर्घटयितुम्। 'मितां ह्रस्वः' (६।४।९२) 'पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु' (३।४।६६)

इति तुमुन्प्रत्ययः। कामं प्रकामं समर्था आसन्। दूत्य एवेति भावः। विलसन्तो मन्मथश्रीविलासा भणितसीत्कारादिमदनातिरेकविकारा याभिस्ताः ह्रीरेव प्रत्यूहो विघ्नस्तस्य प्रशमे निवारणे कुशलाः शेरते आभिरिति शीधवो मदिराः 'शीङो धुक्' (उ० ४७८) इत्यौणादिको धुक्प्रत्ययः। आसां रतिषु आचार्यत्वमुपदेशं चक्रुः। नर्मसख्य इवेति भावः। अत्र प्रथमार्धे प्रस्तुतचन्द्रभासां मानशमनकामिघटनपाटव-विशेषणसाम्यादप्रस्तुतदूतीत्वप्रतीतेः समासोक्तिः। द्वितीयार्धे तु शीधुष्वारोपितस्याचार्यत्वस्य प्रकृतोपयोगात्परिणामः। तयोः सापेक्षत्वात्सङ्करः। तेन च दूतीनर्मसख्युपमाध्वनिः। उत्तरसर्गे मधुपानरतोत्सववर्णनायाश्चायमेव प्रस्तावः। मन्दाक्रान्ता वृत्तम्। 'मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौ नतौ तो गुरू चेत्' इति लक्षणात्॥ ७७॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते शिशुपालवधकाव्य-व्याख्याने सर्वंकषाख्ये नवमः सर्गः॥ ९॥

इस प्रकार मानरूप विघ्नको तत्काल (शीघ्र ही) शान्त करनेवाली चन्द्रमाकी किरणें रमणियोंको कामियों (कामी पुरुषों) के साथ संयुक्त करनेके लिए सम्यक् प्रकारसे समर्थ हुई तथा (मधुर भाषण एवं दन्तक्षतादिजन्य सीत्कारादिरूप) कामश्रीके विलासको विलसित करनेवाली और (रमणियोंकी) लज्जारूपी विघ्नको दूर करनेमें निपुण मदिराने इन (रमणियों) की रतिमें आचार्यत्व किया।

विमर्श—यहाँ चन्द्ररुचिको दूती तथा मदिराको नर्मसखी होनेकी कल्पना की गयी है। उत्तरार्द्धसे अग्रिम दशम सर्गमें वर्णन किये जानेवाले मदिरापानयुक्त सुरतोत्सवका संकेत किया गया है॥ ८७॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'प्रदोषवर्णन' नामक नवम सर्ग समाप्त हुआ॥ ९॥

दशमः सर्गः

आचर्यंत्वं रतिषु शीधवश्चक्रुरित्युक्तं तत्प्रपञ्चनायास्मिन् सर्गे मधुपानं तावद्वर्णयति—

सज्जितानि सुरभीण्यथ यूनामुल्लसन्नयनवारिरुहाणि ।

आययुः सुघटितानि सुरायाः पात्रतां प्रियतमावदनानि ॥ १ ॥

सज्जितानीति ॥ अथ पानगोष्ठीप्रस्तावानन्तरं सज्जितानि यावकक्षालनादिना संस्कृतानि सुरभीणि यथायोगं स्वभावसंस्काराभ्यां सुगन्धीनि नयनानि वारिरुहाणीव, अन्यत्र नयनानीव वारिरुहाणि वासनार्थं क्षिप्तानि तान्युल्लसन्ति तेषु तानि तथोक्तानि सुघटितानि सुष्ठु सुखैर्योजितानि शोभनसंस्थानवत्तया निर्मितानि वा प्रियतमावदनानि यूनां कामिनां सुरायाः पात्रतां पानभाजनतां ययुः । प्रियामुखसम्पर्कजनितरसास्वादलोभात्तासां मुखसुरामेव पपुरिति भावः । अत्र वदनेष्वारोप्यमाणायाः पात्रतायास्तादात्म्येन तेषां पानसाधनतापादनेन कृतवदनोपयोगात्परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः' इति लक्षणात् । तेन श्लेषसङ्कीर्णेनोपमा व्यज्यते । अस्मिन् सर्गे स्वागता वृत्तम् । 'स्वागतेति रनभा गुरुयुग्मम्' ॥ १ ॥

(गत सर्गके अन्तिम श्लोक (९।८७) के उत्तरार्द्धमें प्रस्तुत मदिरा (के पान) का वर्णन इस दसवें सर्गमें है) इस (पानगोष्ठीके प्रस्ताव होने) के बाद सजाए गए (यावक आदि लगाकर सुशोभित किए गए, पक्षा०—अच्छी तरह धो-पोंछकर व्यवस्थित रखे गए), सुवासयुक्त (स्वभावतः सुगन्धयुक्त, पक्षा०—विविधोपचारसे सुगन्धयुक्त), जिनमें कमलके समान नेत्र विलास कर रहे हैं ऐसे (पक्षा०—जिनमें नेत्रके समान कमल सुशोभित हो रहे हैं ऐसे), सुघटित (सृष्टिकर्ताके द्वारा सुन्दर रचे गये, पक्षा०—सुन्दर-गोलाकार मुखवाले, प्रियतमाओंके मुख युवकोंके मदिरापात्र (मदिरा-पान करनेके प्याले) बन गए अर्थात् युवकोंने प्रियाओंके मुखोंसे संसृष्ट मदिराको अधिक स्वादयुक्त होनेके लोभसे उनका ही पान किया ॥ १ ॥

सोपचारमुपशान्तविचारं सानुतर्षमनुतर्षपदेन ।

ते मुहूर्तमथ मूर्तमपीप्यन् प्रेम मानमवधूय वधूः स्वाः ॥ २ ॥

सोपचारमिति ॥ अथ पात्रीकरणानन्तरं ते युवानःसोपचारं सप्रार्थनमुपशान्तविचारं निवृत्तशङ्कम् । 'विवादम्' इति पाठे मानमवधूयेति पुनरुक्तिः । चारं चारमित्यनुप्रासक्रमभङ्गश्च स्यात् । सानुतर्षं सतृष्णं च तथा अनुतर्षयत्यनेनेत्यनुतर्षो मद्यम् । 'मद्येऽनुतर्षं तत्पाने पात्रे तृष्णाभिलाषयोः' इत्युभयत्रापि विश्वः । तस्य पदेन छलेन मूर्तं मूर्तिमत् स्वाः स्वीया वधूर्मुहूर्तं क्षणं मानं कोपमवधूयापीप्यन्

१. वधूस्ताः' इति पा० ।

पाययन्ति स्म। पिबतेर्णौ चङि 'लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य' (७।४।४) इति धात्वाकारलोपः ईकारोऽभ्यासस्य। 'न पादमि–' (१।३।८९) इत्यादिना निगरणार्थत्वात्परस्मैपदनिषेधेऽपि 'णिचश्च' (१।३।७४) इत्यात्मनेपदविकल्पात्पाक्षिकं परस्मैपदम्। 'गतिबुद्धि–' (१।४।५२) इत्यादिना वधूरित्यणिकर्तुः कर्मत्वम्। अनुतर्षपदेनेत्यनुतर्षापह्नवेन मूर्तप्रेमत्वोत्प्रेक्षणात् व्यञ्जकाप्रयोगाच्च प्रतीयमाना सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥२॥

इस (प्रियामुखको पात्र बनाने) के बाद युवकोंने प्रार्थनापूर्वक शङ्कारहित तथा सतृष्ण होकर मदिराके कपटसे मूर्तिमान् प्रेम अपनी रमणियोंको मानरहित होकर पिलाया ॥२॥

क्रान्तकान्तवदनप्रतिबिम्बे भग्नबालसहकारसुगन्धौ।
स्वादुनि प्रणदितालिनि शीते निर्ववार मधुनीन्द्रियवर्गः ॥ ३ ॥

क्रान्तेति ॥ क्रान्तं संक्रान्तं कान्तवदनप्रतिबिम्बं यस्मिंस्तस्मिन्। नेत्रनिर्वृतिकर इत्यर्थः। भग्नाः छिन्नाः बालसहकाराश्चूतविशेषपल्लवाः। 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ सहकारोऽतिसौरभः' इत्यमरः। तैः सुगन्धौ सुरभिणि। घ्राणतर्पण इत्यर्थः। 'तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य' (७।१।७४) इति पुंवद्भावः। स्वादुनि मधुरे रसनाकर्षिणीत्यर्थः। प्रणदितालिनि गुञ्जन्मधुकरे। श्रुतिसुख इत्यर्थः। शीते। स्पर्शसुखे इत्यर्थः। एवं पञ्चविषयसमष्टौ मधुनि मद्ये इन्द्रियवर्गश्चक्षुरादिपञ्चकं निर्ववार निर्वृतमभूत्। अत्र रूपरसादिपदार्थानां मधुविशेषणभावेन निर्वृतिहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ३ ॥

प्रियतमके प्रतिबिम्बसे युक्त (अत एव रूपग्राही नेत्रको सुखप्रद), तोड़े गये नवीन एवं सौरभयुक्त आम्रपल्लवसे सुगन्धियुक्त (अत एव गन्धग्राहिणी नासिकाको सुखप्रद), स्वादिष्ट (अतएव रसग्राहिणी जीभको सुखप्रद), भ्रमरोंके गुञ्जारसे युक्त (अतएव शब्दग्राहक कानको सुखप्रद) तथा शीतल (अतएव स्पर्शग्राहिणी त्वचाको सुखप्रद) मद्यमें (क्रमशः नेत्र, नासिका, रसना, कान और त्वचा) इन्द्रियोंका समूह अत्यन्त तृप्त हो गया ॥ ३ ॥

कापिशायनसुगन्धि विघूर्णन्नुन्मदोऽधिशयितुं समशेत।
फुल्लदृष्टि वदनं [1]प्रमदानामब्जचारु चषकं च षडङ्घ्रिः ॥ ४ ॥

कापिशायनेति ॥ उन्मद उद्रिक्तमदः अत एव विघूर्णन् भ्रमन् षडङ्घ्रिः षट्पदः कापिशायनेन सुगन्धि सुरभि। 'कश्यं कल्यं तथा मद्यं मैरेयं कापिशायनम्' इति वैजयन्ती। फुल्लदृष्टि विकसितनेत्रं प्रमदानां वनितानां वदनं अधिवासनार्थेन अब्जेन चारु चषकं पानपात्रं च। 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमरः। अधिशयितुमधिष्ठातुं समशेत। इदं भजामि इदं भजामि वेत्युभयलोभाद्दोलायमानमानस आसीदित्यर्थः। अत्र प्रकृतयोरेव वदनचषकयोः षट्पदाभिलाषास्पदत्वरूपैकधर्मयोगादौपम्यस्य गम्यतायां तुल्ययोगिताभेदः ॥ ४ ॥

---

१. वनितानां—' इति पा०।

मतवाला (अतएव) भ्रमण करता (उड़ते हुए इधर-उधर चक्कर लगाता) हुआ भ्रमर, मद्यसे सुगन्धयुक्त, विकसित नेत्रोंवाले रमणीके मुखपर तथा (सुवासित करनेवाले) कमलसे मनोहर प्यालेपर बैठनेमें संशयालु (सन्देहयुक्त) हो गया अर्थात् 'उक्तरूप रमणीके मुखपर बैठूँ या प्यालेपर बैठूँ' यह निर्णय नहीं कर सका ॥ ४ ॥

बिम्बितं भृतपरिस्रुति जानन् भाजने जलजमित्यबलायाः ।
घ्रातुमक्षि पतति भ्रमरः स्म भ्रान्तिभाजि भवति क्व विवेकः ॥ ५ ॥

बिम्बितमिति ॥ भृता परिस्रुद्वारुणी यस्मिंस्तस्मिन् । 'परिस्रुद्वरुणात्मजा' इत्यमरः । भाजने पानपात्रे बिम्बितं प्रतिबिम्बितमबलाया अक्षि जलजमिति जानन् । सादृश्यात्तथा भ्राम्यन्नित्यर्थः । भ्रमरः घ्रातुं पतति स्म । तथा हि—भ्रान्तिर्भ्रमणं, विपरीतज्ञानं च तद्भाजि विवेको विचारः क्व भवति । न क्वापीत्यर्थः । अत्र भ्रमरस्याक्षिजलजभ्रान्तेर्भ्रान्तिमदलङ्कारः । तत्समर्थकत्वाच्छ्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितोऽर्थान्तरन्यासः । तेन सहाङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥ ५ ॥

मद्यसे भरे हुए प्यालेमें प्रतिबिम्बित रमणीके नेत्रको 'यह कमल है' ऐसा जानता हुआ भ्रमर उसे सूँघनेके लिए गिरा (उसपर बैठना चाहा) अथवा घूमनेवाले (पक्षा०—भ्रमसे युक्त) व्यक्तिमें विचार कहाँ होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥ ५ ॥

दत्तमिष्टतमया मधु पत्युर्बाढमपि पिबतो रसवत्ताम् ।
यत्सुवर्णमुकुटांशुभिरासीच्चेतनाविरहितैरपि पीतम् ॥ ६ ॥

दत्तमिति ॥ इष्टतमया दत्तं मधु मद्यं कर्तृ पिबतः पत्युः रसवत्तां प्रेयसीकरस्पर्शादतिस्वादुतामाप । अतिशायने मतुप् । बाढं ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा । कुतः यद्यस्माच्चेतनाविरहितैरचेतनैः सुवर्णमुकुटांशुभिरपि । मधुनि प्रसृतैरिति भावः । पीतं पीतवर्णं पीतं चासीत् । अत्र पीतमिति श्लेषमूलातिशयोक्त्या पीतिघ्नः क्रियाभेदाध्यवसायेनाचेतनांशुकर्तृकपानक्रियानिमित्ता प्रेयसीस्वहस्तदानाहितरसवत्त्वोत्प्रेक्षा । तथा च यदचेतनानामपि पेयं तच्चेतनानां किं वक्तव्यमित्यर्थापत्तिध्वननादलंकारेणालंकारध्वनिः ॥ ६ ॥

प्रियतमाके द्वारा दिया गया मद्य पीते हुए पतिको मानो (प्रियतमाके हाथके स्पर्शसे) अत्यन्त स्वादिष्ट हो गया, क्योंकि वह मद्य अचेतन सुवर्ण-मुकुट किरणोंसे पीत (पीले वर्णवाला हो गया, पक्षा०—पीया गया) था अर्थात् जो मद्य अचेतनोंको पीने योग्य था, यह सचेतनोंके लिए भी पीने योग्य था, इस विषयमें कहना ही क्या है ? ॥ ६ ॥

स्वादनेन सुतनोरविचारादोष्ठतः समचरिष्ट रसोऽत्र ।
अन्यमन्यदिव यन्मधु यूनः स्वादमिष्टमतनिष्ट तदेव ॥ ७ ॥

स्वादनेनेति । सुतनोः कन्र्याः स्वादनेनास्वादनेन ओष्ठतः ओष्ठाद्रसः स्वादोऽत्र मधुनि अविचारादसंशयात् समचरिष्ट संक्रान्ता । सम्पूर्वाच्चरतेर्लुङ् । 'समस्तृतीयायुक्तात्' (१।३।५४) इत्यात्मनेपदम् । कुतः । यद्यस्मात्तदेव पूर्वभुक्तमेव मधु अन्य-

दिवापूर्वमिवान्यमपूर्वमिष्टं प्रियं स्वादं रसं यूनोऽतनिष्ट। तनोतेर्लुङि तङ्। ओष्ठस्पर्शानन्तरमेव रसान्तरप्रादुर्भावादनन्तरन्यायात्तद्रससंक्रमणोत्प्रेक्षा। सा चाविचारादिति व्यञ्जकप्रयोगाद्गम्या॥ ७॥

सुन्दरीके पीनेसे इस मद्यमें स्वभावतः उसके ओष्ठसे रस संक्रान्त हो गया है, क्योंकि उसी मद्यने युवकके लिए अपूर्वके समान दूसरे ही अभीष्ट स्वादको बढ़ा दिया॥ ७॥

विभ्रतौ मधुरतामतिमात्रं[1] रागिभिर्युगपदेव पपाते।
आननैर्मधुरसो विकसद्भिर्नासिकाभिरसितोत्पलगन्धः॥ ८॥

विभ्रताविति॥ रागिभिः कामिभिरतिमात्रं मधुरतां स्वादुतां प्रियत्वं वा बिभ्रतौ 'मधुरं रसवत्स्वादु प्रियेषु मधुरोऽन्यवत्' इति विश्वः। तस्य भावस्ताम्। विकसद्भिर्विकसन्तीभिश्च विकसद्भिः तृष्णया विजृम्भमाणैः। 'नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्' (१।२।६९) इति नपुंसकैकशेषः। आननैः मधुरसो मद्यरसः नासिकाभिर्घ्राणैरसितोत्पलगन्धश्च युगपदेव पपाते पीतौ। भिन्नेन्द्रियग्राह्यावपि गन्धरसौ युगपत्स्वेन्द्रियसम्बन्धाद्युगपद्गृहीतावित्यर्थः। अत्र मनस आशुसञ्चाराद्यौगपद्याभिमानः। शतपत्रशरव्यतिभेदवदित्यणुपरिमाणवादिनः। वास्तवमेव यौगपद्यमिति मध्यमपरिमाणवादिनः। सार्वपथीनास्तु कवय इत्यलमतिपल्लवितेन। अत्र रसगन्धयोः प्रकृतयोरेकपानक्रियासम्बन्धात्तुल्ययोगिताभेदः॥ ८॥

प्रेमियोंने अत्यधिक मधुरता (स्वादिष्टता, पक्षा०—प्रियता) को धारण करते हुए विकसित होते हुए मुखोंमें मद्यरसका तथा विकसित प्रसन्न होती हुई नाकसे नीलकमलकी गन्धका एक साथ ही पान किया अर्थात् कामियोंने मुखसे अत्यन्त स्वादिष्ट मद्यका पान किया और नाकसे अत्यन्त प्रिय कमलगन्धको सूंघा॥ ८॥

पीतवत्यभिमते मधुतुल्यस्वादमोष्ठरुचकं विदशङ्क्षौ।
लभ्यस्ते स्म परिर[2]क्ततयात्मा यावकेन वियतापि युवत्याः॥ ९॥

पीतवतीति॥ विदशङ्क्षौ विदंष्टुमिच्छौ। उपदंशेच्छावतीत्यर्थः। दंशेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। अभिमते वल्लभे मधुना तुल्यस्वादं तुल्यरसम्। तुल्यत्वं च हृद्यतामात्रेण नान्यथा विलक्षणरसस्य अनुपदंशत्वात् ओष्ठो रुचकमाभरणमिवेत्युपमितसमासः। 'रोचनायां तु रुचकमश्वाभरणमाल्ययोः' इति विश्वः। तमोष्ठरुचकमोष्ठश्रेष्ठं पीतवति सति वियता अपगच्छतापि। इणो लटः शत्रादेशे 'इणो यण्' (६।४।८१) इति यणादेशः। युवत्याः युवतेः। 'ङिति ह्रस्वश्च' (१।४।६) इति वा नदीत्वादाडागमः। यावकेनालक्तकेन परिरक्ततया दन्तनिष्पीडनकृतेन रागेण हेतुना आत्मा स्वरूपं लभ्यते स्म लब्धः। पुनरुद्भूतमित्यर्थः। अत्राधरपानादपगतस्यापि यावकस्य रागप्रादुर्भावनिमित्ता विरोधगर्भा पुनरुद्भवोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या च॥ ९॥

---

१. '—माधिपात्रम्' इति पा०। २. '—तिक्त—' इति पा०।

दन्तक्षत करनेके इच्छुक प्रियतमके (हृदयप्रिय होनेसे) मद्यके तुल्य स्वादवाले आभरणके समान ओष्ठका पान करनेपर नष्ट हुआ भी तरुणीके (ओष्ठका) लाक्षारस अरुणवर्ण होनेसे अपने स्वरूप (लाक्षारसगत लालिमा) को प्राप्तकर रहा था अर्थात् अधरपान करनेसे यद्यपि उसका लाक्षारस छूट गया था, किन्तु दन्तक्षत होनेसे वह अधर पुनः अरुण वर्ण होनेके कारण लाक्षारससे युक्त ही प्रतीत होता था ॥ ९ ॥

कस्यचित्समदनं मदनीयप्रेयसीवदनपानपरस्य ।
स्वादितः सकृदिवासव एव प्रत्युत क्षणविदंशपदेऽभूत् ॥ १० ॥

कस्यचिदिति ॥ समदनं यथा तथा मदयतीति मदनीयं मदकारि । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३।३।११३) इति कर्तर्यनीयर्प्रत्ययः । तस्य प्रेयसीवदनस्य पानं परं प्रधानं यस्य तस्य कामुकत्वात् प्रियामुखपानासक्तस्य कस्यचित्कामिनः सकृदिव स्वादितोऽबाहुल्येन पीतः । इवशब्दो वाक्यालंकारे । आसव एव, प्रत्युत वैपरीत्ये इति गणव्याख्याने । क्षणं विदंशपदे उपदंशस्थानेऽभूत् । अन्येषां मधुपानलोलुपानामधरास्वाद उपदंशः । अस्य त्वधरपानैकपरस्य मध्वेवोपदंश इत्यर्थः । अधरपानस्योपदंशत्वसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धः आसवस्य तदसम्बन्धेऽपि संबन्ध इत्यतिशयोक्त्योरसापेक्षत्वात्संसृष्टिः ॥ १० ॥

कामपूर्वक प्रियतमाके मादक मुख (के अधर) का पान करनेमें आसक्त किसी युवकके लिए एक बार आस्वादित किया गया मद्य ही उलटे क्षणमात्र विदंश (मद्यपान करते समय अभिरुचिको बढ़ानेके लिए बीचमें एकाध बार खाया जानेवाला नमकीन एवं चटपटे चने आदि) के स्थानमें हो गया ॥

विमर्श—मद्यपान करते समय विदंशका भक्षण एकाध बार और मद्यपान बार-बार किया जाता है, किन्तु उस युवकने उलटे मद्यपान एक बार तथा प्रियाके अधरका पान अनेक बार किया, अतः उसके लिए मद्यपान ही विदंशके स्थानमें हो गया ॥ १० ॥

पीतशीधुमधुरैर्मिथुनानामाननैः परिहृतं चषकान्तः ।
व्रीडया रुददिवालिविरावैर्नीलनीरजमगच्छदधस्तात् ॥ ११ ॥

पीतेति ॥ पीतशीधूनि पीतमद्यानि अत एव मधुराणि मनोज्ञानि तैर्मिथुनानां स्त्रीपुंसानामाननैः चषकान्तः पानपात्राभ्यन्तरे । 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमरः । परिहृतं त्यक्तं नीलनीरजं वासनार्थं निक्षिप्तं नीलोत्पलं व्रीडया परिहारलज्जया अलिविरावैः रुददिवाधस्तादगच्छत् । अत्र मद्याधगमननिमित्तस्य नीलनीरजाधोगमनस्य रोदनविशिष्टलज्जाहेतुकत्वोत्प्रेक्षा । सा चालिविरावैरिति व्यधिकरणकारिपरिणामोज्जीवितेति संकरः ॥ ११ ॥

पीये गये मद्यसे सुन्दर स्त्री-पुरुषोंके मुखोंसे प्यालेमें छोड़ा गया (मद्यपानके पूर्व

---

१. '—मदिरैः—' इति पा० ।

मद्यको सुवासित करनेके लिए डाला गया) नीलकमल (त्यागजन्य) लज्जासे भ्रमरोंके गुञ्जारके द्वारा रोता हुआ-सा नीचे बैठ गया ॥ ११ ॥

अथ मदानुभावान् वर्णयति—

प्रातिभं त्रिसरकेण गतानां वक्रवाक्यरचनारमणीयः ।
गूढसूचितरहस्यसहासः[1] सुभ्रुवां प्रववृते परिहासः ॥ १२ ॥

प्रातिभमिति ॥ त्रयाणां सरकाणां समाहारस्त्रिसरकं त्रिवारमधुपानम् । 'सरकं शीधुपात्रे स्याच्छीधुपाने च शीधुनि' इति विश्वः । 'तद्धितार्थ–' (२।१।५१) इत्यादिना समाहारे द्विगुः पात्रादित्वान्नपुंसकत्वम् । तेन त्रिसरकेण त्रिपानं मदातिभूमिरिति पानप्रसिद्धिः । प्रतिभैव प्रातिभं प्रतिभाविशेषः । प्रज्ञादित्वात्स्वार्थऽण्प्रत्ययः । यद्वा 'ज्ञानबीजभूतः संस्कारविशेषः प्रतिभा' इति काव्यप्रकाशकारः । तत्र भवं प्रातिभं ज्ञानप्रभाविशेष एव । भावार्थेऽण्प्रत्ययः । तत्प्रातिभं गतानाम् । त्रिवारमधुपानोत्कटमदोद्बुद्धसंस्कारप्रभावितप्रगल्भमतीनामित्यर्थः । सुभ्रुवां स्त्रीणां वक्रवाक्यरचनारमणीयः प्रतिकूलवाक्यप्रयोगरम्यः । गूढानि पूर्वं लज्जया संवृतानि सूचितानि संप्रति मदेन प्रकाशितानि रहस्यानि ग्राम्यावयवचेष्टाप्रलपितानि यस्मिन् स गूढसूचितरहस्यः स चासौ सहासश्चेति विशेषणसमासः वैवक्षिकविशेषणविशेष्यभावात् । 'हासो हास्यम्' इत्यमरः । परिहासो नर्मकेलिहासक्रीडेति यावत् । 'द्रवकेलिपरीहासाः' इत्यमरः । प्रववृते प्रवृत्तः । इतः परं मदः संचारी ॥ १२ ॥

(अब सत्ताइस श्लोकों (९।१२–३८) से मद्यके प्रभावका वर्णन करते हैं) तीन बार अर्थात् तीन प्याला मद्यका पान करनेसे बढ़े हुए नशेमें चूर सुन्दर भौंहोंवाली रमणियोंका, अट-पट बात कहनेसे रमणीय तथा (पूर्वकृत) गुप्त कामचेष्टादि रहस्य (एकान्तकी विविध क्रीडाओं) को जिसमें हँस-हँसकर रमणियाँ कहने लगीं ऐसा परिहास होने लगा अर्थात् तीन बार मद्यपान करनेसे रमणियाँ नशेमें चूर होकर अट-पट बकने लगीं और छिपाये गये गुप्त कामरहस्यों को हंस-हंसकर कहने लगीं तथा जोरसे हँसने लगीं ॥ १२ ॥

हावहारि हसितं वचनानां कौशलं दृशि विकारविशेषाः ।
चक्रिरे भृशमृजोरपि वध्वाः कामिनेव तरुणेन मदेन ॥ १३ ॥

हावेति ॥ तरुणेनोत्कटेन यूना च मदेन कामिनेव मृजोर्मुग्धाया अपि वध्वाः किमुत प्रौढानामिति भावः । हावहारि विलासमनोहरं हसितं हासः वचनानां कौशलं प्रागल्भ्यं दृशि विकारविशेषाः विलासविशेषाश्चक्रिरे कृतानि । पुंसेव मौग्ध्यं त्याजयित्वा प्रौढयं नीतेत्यर्थः । अत्र हसितकौशलविकाराणां यौगपद्योक्त्या समुच्चयः । 'गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः' इति लक्षणम् । तस्यौपम्ययोगेन संकरः । तेन ऋजोरपीत्यत्र किमुत प्रौढानामित्यर्थापत्तिर्व्यज्यते ॥ १३ ॥

---

१. '—हास्यः—' इति पा० ।

बढ़े हुए नशेने (धृष्ट युवकके समान) सरल प्रकृतिवाली भी रमणीकी हँसीको विलाससे मनोहर, वचनोंको चातुर्यपूर्ण तथा नेत्रोंमें अनेक (कटाक्षादि विलासरूप) विकारोंको बढ़ा दिया (तो फिर प्रौढ़ा रमणियोंके विषयमें कहना ही क्या ? अर्थात् प्रौढ़ा रमणियोंके ये सब अधिक बढ़ गये, इसमें कौन बड़ी बात है ? ॥ १३ ॥

अप्रसन्नमपराद्धरि पत्यौ कोपदीप्तमुररीकृतधैर्यम् ।
क्षालितं नु शमितं नु वधूनां द्रावितं नु हृदयं मधुवारैः ॥ १४ ॥

अप्रसन्नमिति ॥ अपराद्धरि आगस्कारिणि । राधेस्तृच्प्रत्ययः । पत्यौ विषये अप्रसन्नं कलुषम् । क्षुभितमित्यर्थः । कोपदीप्तं कोपेन ज्वलितम्, उररीकृतधैर्यमङ्गीकृतकाठिन्यम् । 'ऊरीकृतमुररीकृतम्' इत्यमरः । 'ऊर्यादिच्विडाचश्च' (१।४।६१) इति गतित्वात् 'कुगतिप्रादयः' (२।२।१८) इति समासः । वधूनां हृदयं मधुवारैर्मद्यपर्यायैः । 'मधुवारा मधुक्रमाः' इत्यमरः । क्षालितं धौतं नु । शमितं निर्वापितं नु । द्रावितं द्रवीकृतं नु । अन्यथा कथं तादृगप्रसन्नतादीप्तताकठिनतानां हठान्निवृत्तिरिति भावः । अत्र क्षालितत्वादीनामेकत्राविरोधात्सादृश्याच्च न संशयालंकारः । सति सादृश्ये विरुद्धानेककोटिगोचरत्वात्तस्य, किंत्वप्रसन्नत्वादिनिरासनिमित्तकं क्षालितत्वाद्युत्प्रेक्षात्रयं नुशब्दानुवृत्तेः तच्चाप्रसन्नत्वाद्युद्देशिनां क्षालितत्वाद्यनुद्देशिभिर्यथासंख्येनान्वयमपेक्षत इति यथासंख्यालंकारेण संकीर्यते ॥ १४ ॥

अपराध करनेवाले पतिके विषयमें अप्रसन्न अर्थात् क्षुब्ध (मलिन), क्रोधसे सन्तप्त और धैर्य (कठोरता) को धारण किये हुए रमणियोंके हृदयको मद्यके जलने क्रमशः धो दिया क्या ? ठण्डाकर दिया क्या ? और पिघला दिया क्या ? (अपराधी पतियोंके विषयमें अप्रसन्न क्रोधसन्तप्त, कठोर रमणियोंका हृदय मद्यपान करते ही प्रसन्न, क्रोधहीन तथा मृदु हो गया) ॥ १४ ॥

सन्तमेव चिरमप्रकृतत्वादप्रकाशितमदिद्युतदङ्गे ।
विभ्रमं मधुमदः प्रमदानां धातुलीनमुपसर्ग इवार्थम् ॥ १५ ॥

सन्तमिति ॥ मधुमदः प्रमदानामङ्गे वपुषि अन्यत्र 'यस्मात्प्रत्ययविधिः—' (१।४।१३) इत्युक्तलक्षणे प्रकृत्याख्ये शब्दरूपे । चिरं सर्वदा सन्तमेव । एकत्र स्वभावात्, अन्यत्र त्वनेकार्थत्वाद्धातूनामिति भावः । किंचाप्रकृतत्वादप्रस्तुतत्वात् । अप्रसक्तत्वादिति भावः । अप्रकाशितमव्यञ्जितं विभ्रमं विलासं धातौ भूवादिके लीनं गूढमर्थमभिधेयं उपसर्गः प्रादिरिव अदिद्युतद् द्योतयति स्म । द्युतेः 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः (७।४।१) 'द्युतिस्वाप्योः संप्रसारणम्' (७।४।६७) इत्याभ्यासस्य संप्रसारणमिकारः । उपसर्गस्य धातुलीनार्थद्योतकत्वमादानसंदानादावनुसंधेयम् । उपमालंकारः ॥

मद्यके नशेने प्रमदाओंके अङ्गोंमें चिरकालसे विद्यमान हो, किन्तु प्रयुक्त नहीं होनेसे अप्रकाशित विलासको उस प्रकार प्रकट कर दिया, जिस प्रकार (भू आदि) धातुओंमें

चिरकालसे अन्तर्हित ही किन्तु प्रयोग नहीं करनेसे अप्रकाशित अर्थको (प्र, परा आदि) उपसर्ग प्रकाशित कर देते हैं ।

विमर्श—'धातूनामनेकार्थः' अर्थात् 'धातुओंके अनेक अर्थ हैं' इस वैयाकरणसिद्धान्तके अनुसार 'भू' आदि धातुओंमें अनेक अर्थ सर्वदा हि विद्यमान रहते हैं, जो व्यवहारमें प्रयुक्त नहीं होनेसे अप्रकाशित रहते हैं, और जब उपसर्गके साथ उन धातुओंका प्रयोग किया जाता है, तब वे अर्थ प्रकाशित हो जाते हैं, उसी प्रकार रमणियोंमें पूर्वकालसे विद्यमान अनेक कटाक्ष हासपरिहासादि विलासोंको मद्यके नशेने प्रकट कर दिया ॥ १५ ॥

सावशेषपदमुक्तमुपेक्षा स्रस्तमाल्यवसनाभरणेषु ।
गन्तुमुत्थितमकारणतः स्म द्योतयन्ति मदविभ्रममासाम् ॥ १६ ॥

सावशेषमिति ॥ सावशेषाण्यर्धोक्तानि पदानि यस्मिंस्तदुक्तमुक्तिर्वाक्यं स्रस्तेषु माल्यवसनभरणेषूपेक्षानादरः अकारणतोऽकस्मादेव गन्तुमुत्थितमुत्थानं च आसां स्त्रीणां मदविभ्रमं मदविकारं द्योतयन्ति स्म । एतैरनुभावैरासां मदसंचारो ज्ञात-इत्यर्थः । अत्रार्धोक्तादीनां खलेकपोतिकया मदद्योतने प्रवृत्तत्वात्कारणाख्यो द्वितीय-समुच्चयः । 'खलेकपोतन्यायेन बहूनां कार्यसाधने । कारणानां समुद्योगः स द्वितीयः समुच्चयः ॥' इति लक्षणात् ॥ १६ ॥

असम्पूर्ण कहे हुए वचन, गिरे हुए हार, वस्त्र तथा भूषणोंकी उपेक्षा और निष्कारण जानेके लिए उठ जाना—ये सब कार्य इन रमणियोंके नशेके विकारको प्रकट करते थे ॥१६॥

मद्यमन्दविगलत्त्रपमीषच्चक्षुरुन्मिषितपक्ष्म[1] दधत्या ।
वीक्ष्यते स्म शनकैर्नववध्वा कामिनो मुखमधोमुखयैव ॥ १७ ॥

मद्येति ॥ मद्येन मद्यपानेन मन्दमल्पं विगलन्ती त्रपा यस्य तत् । अत एवेषदु-न्मिषितानि पक्ष्माणि लोमानि यस्य तच्चक्षुर्दधत्या नववध्वा नवोढया कामिनः प्रियस्य मुखमधोमुखयैव नमितवदनयैव । 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्–'(४।१।५४) इति विकल्पादनीकारः । शनकैरसम्भ्रमेण वीक्ष्यते स्म । तिर्यगीक्षितमित्यर्थः । अत्रापि मदमानाभ्यां त्रपैव बलीयसीति मौग्ध्यातिशयोक्तिः । 'समुद्यद्यौवना मुग्धा लज्जा-पिहितमन्मथा' ॥ १७ ॥

मद्य (के पान करने) से कुछ लज्जारहित (अतएव) अर्धोन्मीलित नेत्रको धारण करती हुई नवपरिणीता रमणी अधोमुखी होकर ही कामी (पति) के मुखको धीरे-से देख रही थी ॥ १७ ॥

या कथञ्चन सखीवचनेन प्रागभिप्रियतमं प्रजगल्भे ।
व्रीडजाड्यमभजन्मधुपा सा स्वां मदात्प्रकृतिमेति हि सर्वः ॥ १८ ॥

---

१. '—रुच्छ्वसित—' इति पा० ।

येति ॥ या स्त्री कथञ्चन कृच्छ्रेण सखीवचनेन सखीप्रेरणया प्राक् मदात्पूर्वम् अभिप्रियतमं प्रियतमसमक्षम् । आभिमुख्येऽव्ययीभावः । प्रजगल्भे प्रगल्भते स्म । सा स्त्री मधु पिबतीति मधुपा । 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) व्रीडं जाड्यं मौग्ध्यम-भजत् । विहायागन्तुकं धर्मं स्वभावमभजन्मदादित्यर्थः । तथा हि—सर्वो जनो मदा-द्धेतोः स्वां स्वकीयां प्रकृतिमेति स्वभावं गच्छति । स्वाभाविकधर्मप्रकाशनं मद-धर्मः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १८ ॥

जो रमणी मद्यपान करनेके पहले किसी प्रकार सखीके कहनेसे प्रियतमके समक्ष प्रगल्भ हो रही थी, मद्यका पान की हुई वही रमणी लज्जासे जड़ हो गयी; क्योंकि सभी लोग नशेसे अपनी स्वाभाविक अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं ॥ १८ ॥

छादितः कथमपि त्रपयान्तर्यः प्रियं प्रति चिराय रमण्याः ।
वारुणीमदविशङ्कमथाविश्चक्षुषोऽभवदसाविव रागः ॥ १९ ॥

छादित इति ॥ रमण्या यः प्रियं प्रति रागो विषयाभिलाषः चिराय त्रपया व्रीड-याऽन्तश्छादितः संवृतः असावयमेव रागोऽथास्मिन्नवसरे वारुणीमदविशङ्कं मद्यमदेन निःशङ्कं चक्षुषो नेत्रादाविरभवदिव आविर्भूतः किम् । अत्र रतिरागमदरागयोरभि-लाषपाटलिमरूपयोः श्लेषप्रतिभोत्थापिताभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिमहिम्ना योऽन्तर्गतो रागः स एव चिरनिरुद्धः सम्प्रति मदोद्घाटितत्रपाकपाटया चक्षुर्द्वारा बहिरुद्भिन्न इत्युत्प्रेक्ष्यते । आविर्भुवोर्व्यवधानं कविस्वातन्त्र्यात् ॥ १९ ॥

रमणीने प्रियसे जिस विषयाभिलाष (अनुराग) को किसी प्रकार (बड़ी कठिनाईसे) मनमें बहुत समयतक छिपा रखा था, मानो वही (विषयानुराग पक्षा०—लालिमा) मद्यके नशेसे निःशङ्क होकर नेत्रसे प्रकट हो गया अर्थात् मद्यपान करनेसे रमणियोंके नेत्र लाल हो गये ॥ १९ ॥

आगताननगणितप्रतियातान् वल्लभानभिसिसारयिषूणाम् ।
प्रापि चेतसि सविप्रतिसारे सुभ्रुवामवसरः सरकेण ॥ २० ॥

आगतानिति ॥ आगतान् स्वयम्प्राप्तान् तथाप्यगणितांश्च ते प्रतियाताश्चेति । स्नातानुलिप्त इतिवत्पूर्वकाले समासः । तान्वल्लभानभिसिसारयिषूणां सम्प्रति चन्द्रोदये स्वयमेवाभिसारयितुमभिसर्तुमिच्छूनाम् । अभिसारयतेः स्वार्थण्यन्ता-त्सन्नन्तादुप्रत्ययः । सुभ्रुवां स्त्रीणां चेतसि सविप्रतिसारे कष्टमस्माभिरकार्यं कृत-मिति पश्चात्तापयुक्ते सति । 'पश्चात्तापोऽनुतापश्च विप्रतीसार इत्यपि' इत्यमरः । सरकेण मधुना मधुपानेन वा । 'सरकं शीधुपात्रे स्याच्छीधुपाने च शीधुनि' इति विश्वः । अवसरः प्रापि प्राप्तः । स्वयं गमनसौकर्याय मधुपानं चक्रुरित्यर्थः । अत्राभि-सारणस्य पश्चात्तापकरणकस्य मदयोगात्सौकर्योक्तेः समाध्यलङ्कारः । 'समाधिः सुकरं कार्यं कारणान्तरयोगतः' इति काव्यप्रकाशे ॥ २० ॥

(संकेत स्थानपर स्वयमेव) आये हुए तथा लौटनेकी चिन्तासे रहित प्रियतमोंके पास अभिसार करनेकी इच्छा करनेवाली सुभ्रुओं (सुन्दर भौंहोंवाली रमणियों) के (मैंने यह बड़ा अनुचित किया, इस प्रकारके) पश्चात्तापयुक्त चित्तमें मद्य (या–मद्यपान) ने अवसर पा लिया। (रमणियोंने प्रियतमोंके पास स्वयं अभिसार करनेके लिए मद्यपान कर लिया)॥

मा पुनस्तमभिसीसरमागस्कारिणं मदविमोहितचित्ता[1]।
योषिदित्यभिललाष न हालां दुस्त्यजः खलु सुखादपि मानः ॥ २१ ॥

मा पुनरिति ॥ मदेन विमोहितचित्ता भ्रमितचित्ता सती । अहमिति शेषः। आगस्कारिणमपराधकृतम्। 'अतः कृकमि–' (८।३।४६) इत्यादिना विसर्जनीयस्य सत्वम्। तं पुनर्भूयो माभिसीसरं नाभिसारयाणि। सरतेः स्वार्थे 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) 'दीर्घो लघोः' (७।४।९४) इत्यभ्यासस्य दीर्घः। इति । इत्यालोच्येत्यर्थः। गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः अन्यथा पौनरुक्त्यमित्यालङ्कारिकाः। योषित् काचित्स्त्री हालां सुराम्। 'सुरा हलिप्रिया हाला' इत्यमरः। नाभिललाष। तथा हि–सुखादपि मानो दुस्त्यजः खलु। अतोऽल्पकारणादधिकार्थहानिरिति नाशङ्कनीयमित्यर्थान्तरन्यासः ॥ २१ ॥

'नशेसे अत्यन्त मोहित चित्तवाली मैं फिर अपराधकर्ता उस (पति) का अभिसार नहीं करूंगी अर्थात् उसके पास कभी नहीं जाऊंगी' ऐसा विचारकर रमणीने मद्यपान करना नहीं चाहा, (यह उचित ही है, क्योंकि मान सुखसे भी अधिक दुस्त्याज्य है अर्थात् सुखको छोड़ देना सरल है, किन्तु मानको छोड़ना नहीं)॥ २१॥

ह्रीविमोहमहरद्दयितानामन्तिकं रतिसुखाय निनाय।
सप्रसादमिव[2] सेवितमासीत्सद्य एव फलदं मधु तासाम् ॥ २२ ॥

ह्रीति ॥ सप्रसादं मनःप्रसादपूर्वकम्। ममेदं श्रेयस्करमिति भावनापूर्वकमित्यर्थः। अन्यथा फलोदय एव न स्यात्। 'दैवज्ञे भिषजे गुरौ' इति वचनादिति भावः। सेवितमुपभुक्तमिति हेतोर्मधु तासां सद्य एव फलदमासीत्। कुतः। ह्रीविमोहं व्रीडाजाड्यमहरत् रतिसुखाय सुरतसुखाय दयितानामन्तिकं निनाय। अत्र ह्रीहरणान्तिकनयनवाक्याभ्यां फलदानवाक्यार्थसमर्थनादनेकवाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २२ ॥

('यह मद्यपान हमारे लिए हितकर है' इस भावनापूर्वक) पीया गया मद्य उन रमणियोंके लिए शीघ्र ही फल देनेवाला हो गया, क्योंकि वह (मद्य) रमणियोंके लज्जोत्पन्न मूढताको दूर कर दिया और उन्हें उनके प्रियतमोंके पास ले गया ॥ २२ ॥

दत्तमात्तमदनं दयितेन व्याप्तमातिशयिकेन रसेन।
सस्वदे मुखसुरं प्रमदाभ्यो[3] नाम रूढमपि च व्युदपादि ॥ २३ ॥

१. '–चेताः' इति पा०। २. '–मिति' इति पा०। ३. '–दानाम्' इति पा०।

दत्तमिति ॥ आत्तमदनमाहितमदनं यथा तथा दयितेन दत्तम् । अत एवातिशयिकेनातिशयप्रचुरेण । विनयादिभ्यष्ठक् । रसेन स्वादेन व्याप्तम् । स्वादुतरमित्यर्थः । मुखस्य सुरा मुखसुरं गण्डूषमद्यम् । 'विभाषा सेनासुराच्छायाशालानिशानाम्' (२।४।२५) इति नपुंसकत्वम् । प्रकृष्टो मदो यासां ताभ्यः प्रमदाभ्यः स्त्रीभ्यः । 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (१।४।३३) इति सम्प्रदानसंज्ञा । सस्वदे रुरुचे । प्रीतिकरमभूदित्यर्थः । कर्तरि लिट् । अत एव तदेव तासां मदकरं चासीदित्याह । नामेति रूढं प्रागश्वकर्णादिवदव्युत्पन्नं नामापि प्रमदेति नामधेयं च व्युदपादि व्युत्पन्नं जातम् । यथा प्रकृष्टमदयोगात्प्रमदेत्यन्वर्थनामत्वं भवेत्तथा तास्तेनामाद्यन्नित्यर्थः । पद्यतेरण्यन्तात्कर्तरि लुङ् 'चिण् ते पदः' (३।१।६०) इति चिण्प्रत्यये चिणो लुक् । 'प्रमदाभिः' इति पाठे सस्वदे । स्वदयाञ्चक्रे इत्यर्थः । 'स्वादनमशनं भक्षणमाहारो भोजनं स्वदनम्' इति हलायुधे । स्वदिस्वाद्योरेकार्थत्वाभिधानात्कर्मणि लिट् । अत्र पूर्ववाक्यार्थस्योत्तरवाक्यार्थहेतुत्वात् काव्यलिङ्गम् ॥ २३ ॥

कामासक्त प्रियतमके द्वारा दिया गया (अत एव) अत्यधिक रससे व्याप्त अर्थात् बहुत स्वादु वह मुखमध प्रमदाओं (अधिक मदवाली रमणियों) को रुचिकर हुआ और रूढ (अवयवार्थ शून्य) भी ('प्रमदा' इस) नामको व्युत्पत्तियुक्त (उन रमणियों को मद्यपान करनेके बाद प्रकृष्ट मदसे युक्त बनाकर अवयवार्थ युक्त) कर दिया ॥ २३ ॥

लब्धसौरभगुणो मदिराणामङ्गनास्यचषकस्य च गन्धः ।
मोदितालिरितरेतरयोगादन्यतामभजतातिशयं नु ॥ २४ ॥

लब्धेति ॥ लब्धसौरभगुणो मेलनात्प्राप्तसौरभोत्कर्षः । अत एव मोदितालिः आनन्दितभृङ्गः मदिराणां मद्यानां अङ्गनास्यमेव चषकं तस्य च गन्धो गन्धगुणः इतरेतरस्य योगान्मिश्रणादन्यतामपूर्वतामतिशयं नु तत्रैवोत्कर्षं वाऽभजत । यक्षकर्दमादौ घृताक्तकुङ्कुमादौ चोभयथा दर्शनादयं संशय इति भावः । अत एव संशयालङ्कारः ॥ २४ ॥

(संसर्ग होनेसे) अधिक सुगन्धयुक्त (अत एव) भ्रमर-समूहको आनन्दित करनेवाला मदिराका गन्ध तथा रमणियोंके मुखरूप चषक (प्याले) का गन्ध परस्पर के संसर्ग होनेसे दूसरे ही हो गये क्या ? अथवा पहलेकी अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट हो गये ? ॥ २४ ॥

मानभङ्गपटुना सुरतेच्छां तन्वता प्रथयता दृशि रागम् ।
लेभिरे सपदि भावयतान्तर्योषितः प्रणयिनेव मदेन ॥ २५ ॥

मानेति ॥ मानभङ्गपटुना कोपशमनसमर्थेन सुरतेच्छां तन्वता मदनोद्दीपकेन दृशि रागमारुण्यं प्रीतिं च प्रथयता प्रकाशयता अन्तरन्तःकरणं भावयता रञ्जयता मदेन प्रणयिनेव योषितः स्त्रियो लेभिरे प्राप्ताः । रागमिति श्लेषमूलातिशयोक्तिसङ्कीर्णेयमुपमा ॥ २५ ॥

१. '—कमलस्य' इति पा० ।

(मानवती रमणियोंके) मानको भग्न करनेमें समर्थ, सुरतकी इच्छाको बढ़ानेवाला, नेत्रमें लालिमा (पक्षा०—प्रीति) को प्रकट करता हुआ और अन्तःकरणको रञ्जित करता हुआ मद्य प्रियतमके समान रमणियोंको प्राप्त किया अर्थात् अपनेमें तन्मय कर लिया ॥

पानधौतनवयावक[1]रागं सुभ्रुवो निभृतचुम्बनदक्षाः ।
प्रेय[2]सामधररागरसेन स्वं किलाधरमुपालि ररञ्जुः ॥ २६ ॥

पानेति ॥ उपालि आल्याः समीपे । समीपार्थेऽव्ययीभावः । 'आलिः सखी वयस्या च' इत्यमरः । अत एव निभृतचुम्बनदक्षाः गूढचुम्बनचतुराः सुभ्रुवः पानधौतनवयावकरागं मधुपानक्षालितलाक्षारागं स्वमधरं प्रेयसामधरेषु यो रागरसस्ताम्बूलरागद्रवस्तेन ररञ्जुः किल । अन्यगुणस्यान्यत्राधानमिह रञ्जेरर्थः । किलेत्यपरमार्थे । तेन पानधौतरागेषु स्वाधरेषु प्रेयोधररागसंक्रमणनाटितकेन सखीसमक्षमेव प्रियांश्चुम्बनं कारयामासुरित्यर्थः । अत्रागन्तुना रञ्जनेन सहजचुम्बननिगूहनान्मीलनालङ्कारभेदः । 'मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वन्तरनिगूहनम्' इति लक्षणात् ॥२६॥

सखियोंके सामने (ही) गूढ चुम्बन करनेमें चतुर सुभ्रुओं (सुन्दर भ्रू वाली रमणियों) ने मद्यपान करनेसे धुले हुए लाक्षारागवाले अपने अधरको प्रियतमोंके अधरके रागके रस (लालिमा) से रंग लिया अर्थात् 'मद्यपान करनेसे धुले हुए लाक्षारसवाले अपने अधरको मैं प्रियतमके अधरके रससे रंग रही हूँ' ऐसा सखीके सामने प्रदर्शित करती हुई रमणीने प्रियतमके अधरको चूम लिया ॥ २६ ॥

अर्पितं रसितवत्यपि नामग्राहमन्ययुवतेर्दयितेन ।
उज्झति स्म मदमप्यपिबन्ती वीक्ष्य मद्यमितरा[3] तु समाद ॥ २७ ॥

अर्पितमिति ॥ दयितेनान्ययुवतेः सपत्न्या नामग्राहं नाम गृहीत्वा । 'नाम्न्यादिशिग्रहोः' (३।४।५८) इति णमुल् प्रत्ययः । अर्पितं दत्तं मद्यं रसितवत्यास्वादितवत्यपि । रसतेरास्वादनार्थात् क्तवतौ 'उगितश्च' (४।१।६) इति ङीप् । काचिदिति शेषः । मदमुज्झति स्म, न ममादेत्यर्थः । इतरा तु सपत्नी तु मद्यमपिबन्त्यपि वीक्ष्य दृष्ट्वैव समाद मत्ता । मनोनिर्वृतिरेव मदहेतुरिति भावः । अत्र पूर्वार्धे रसितवत्यपि न ममादेति विशेषोक्तिः । उत्तरार्धे त्वपिबन्त्यपि ममादेति विभावना । 'कारणेन विना कार्यस्योत्पत्तिः स्याद्विभावना । तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते ॥' तयोः सङ्करः ॥ २७ ॥

दूसरी रमणी (सपत्नी) का नाम लेकर पति प्रियतम के द्वारा दिये गये मद्यपान की हुई भी किसी रमणीने मदको छोड़ दिया अर्थात् मद्यको पीकर भी मदयुक्त नहीं हुई (पक्षा०—मद, पति मुझसे प्रेम करता है, ऐसे अभिमान को छोड़ दिया) और मद्यपान नहीं की हुई भी दूसरी रमणी अर्थात् सपत्नी उसे देखकर ही मदयुक्त हो गयी अर्थात् मत

१. '—पिङ्गं कामिनी''' ''''दक्षा' इति पा० । २. 'भर्तुरोष्ठदल—' इति पा० ।
३. '—तराश्च' इति पा० ।

वाली (नशेसे युक्त पक्षा०–पति मुझसे ही प्रेम करता है, ऐसे अभिमानसे युक्त) हो गयी ॥

अन्ययान्यवनितागतचित्तं चित्तनाथमभिशङ्कितवत्या ।
पीतभूरिसुरयापि न मेदे निर्वृतिर्हि मनसो मदहेतुः ॥ २८ ॥

अन्ययेति ॥ चित्तनाथं भर्तारमन्यवनितागतचित्तं सपत्नीसंक्रान्तचेतसमभिशङ्कितवत्या तस्मिन्नविश्वसत्या अन्यया कयाचित्स्त्रिया पीतभूरिसुरयापि न मेदे न मत्तम् । माद्यतेर्भावे लिट् । तथा हि—मनसो निर्वृतिर्मदहेतुर्हि । सामान्येन विशेषसमर्थनादर्थान्तरन्यासः । एषा नवोढा भीरुश्च, अन्यथा साशङ्कायाः पानाघटनादिति ॥

पति दूसरी रमणी (सपत्नी) में आसक्त चित्तवाला है, ऐसी शङ्का की हुई दूसरी रमणी बहुत मद्यको पीकर भी मतवाली (नशायुक्त, पक्षा०—पतिकृत प्रेमजन्य अभिमानसे युक्त) नहीं हुई, क्योंकि मनको आनन्दित होना ही मदका कारण होता है ॥ २८ ॥

कोपवत्यनुनयानगृहीत्वा प्रागथो मधुमदाहितमोहा ।
कोपितं विरहखेदितचित्ता[1] कान्तमेव कलयन्त्यनुनिन्ये ॥ २९ ॥

कोपवतीति ॥ प्राक् प्रथमं कोपवती सरोषा अत एवानुनयान् प्रियप्रार्थनानि अगृहीत्वा अनादृत्य । अथो सम्प्रति विरहखेदितचित्ता पश्चात्तापतप्ता काचिन्मधुमदेनाहितमोहा कृतचित्तविभ्रमा सती कान्तमेव कोपितमात्मना रोषितं कलयन्ती जानती अनुनिन्ये । सापराधाहं क्षमस्वेति प्रार्थितवती । मत्तेषु किं न सम्भावितमिति भावः । एषा कलहान्तरिता ॥ २९ ॥

पहले कुपित हुई (अत एव) पतिकी प्रार्थनाका अनादर कर मद्यके नशेसे मोहित हुई वह (कलहान्तरिता) रमणी विरहसे खिन्न मनवाली होकर अपने द्वारा क्रुद्ध किये गये पतिको ही मनाने (मैंने आपसे अपराध, किया है, उसे क्षमा कीजिये इत्यादि पतिसे प्रार्थना करने) लगी ॥ २९ ॥

कुर्वता मुकुलिताक्षियुगानामङ्गसादमवसादितवाचाम् ।
ईर्ष्ययेव हरता ह्रियमासां तद्गुणः स्वयमकारि मदेन ॥ ३० ॥

कुर्वतेति ॥ मुकुलिताक्षयुगानामवसादितवाचां कुण्ठितगिरामासां स्त्रीणां अङ्गसादं अङ्गसादरूपशरीरनिश्चेष्टतां कुर्वता ह्रियं हरता मदेन ईर्ष्ययेवेत्युत्प्रेक्षा । तस्या ह्रियो गुणस्तद्गुणः अक्षिनिमीलनवाक्सादाङ्गसादरूपः । स्वयमकारि कृतः । ह्रीमदयोस्तुल्यानुभाविकत्वादिति भावः ॥ ३० ॥

(मद्यके नशेसे) नेत्रोंको बन्द की हुई, कुण्ठित वचनवाली अर्थात् स्पष्ट बोलनेमें असमर्थ रमणियोंके अङ्गोंको जड़ (शिथिल) करते हुए तथा उनकी लज्जाका हरण करते हुए मदने मानो ईर्ष्यासे (रमणियोंके आभूषणरूप) उस लज्जाके समस्त गुणों (लज्जासे

---

१. '—खेदितचेताः', इति, 'कोपितचेताः' इति च पा० ।

नेत्रोंको बन्द करना, स्पष्ट नहीं बोलना और शरीरका जड हो जाना आदि) को स्वयमेव पूरा कर दिया ॥ ३० ॥

गण्डभित्तिषु पुरा सदृशीषु व्याञ्जि नाञ्चितदृशां प्रतिमेन्दुः ।
पानपाटलितकान्तिषु पश्चाल्लोध्रचूर्णतिलकाकृतिरासीत् ॥ ३१ ॥

गण्डेति ॥ प्रतिमेन्दुः प्रतिबिम्बचन्द्रः सदृशीषु स्वसमानवर्णास्वञ्चितदृशां सुदृशां गण्डभित्तिषु पुरा सुरापानात्पूर्वं न व्याञ्जि नाभेदि । तदेकतापत्त्या तद्विविक्ततया न गृहीत इत्यर्थः । अत एव सामान्यालङ्कारः । 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् । विपूर्वादञ्जेः कर्मणि लुङ् 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) इत्याडागमः पश्चात् पानानन्तरं पानेन पानमदेन पाटलिता पाटलीकृता कान्तिर्यासां तासु गण्डभित्तिषु लोध्रचूर्णस्य लोध्रपरागस्य तिलकश्चित्रकम् । 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम् । द्वितीयं च तुरीयं च न स्त्रियाम्' इत्यमरः । तस्याकृतिरिवाकृतिर्यस्य स आसीत । वैवर्ण्याद्विविक्त एवासीदित्यर्थः । तिलकाकृतिरिति निदर्शना पूर्वोक्तसामान्यसंसृष्टा ॥ ३१ ॥

(मद्यपान करनेके) पहले समान वर्णवाले सुलोचनाओंके कपोलमण्डलों पर प्रतिबिम्बित चन्द्रमा नहीं व्यक्त होता था, किन्तु (मद्यपान करनेके) बादमें मद्यपान करनेसे अरुण वर्ण हुए कपोल-मण्डलोंपर वह प्रतिबिम्बित चन्द्रमा लोध्रचूर्णके तिलकके समान व्यक्त हो गया (दिखलायी पड़ने लगा) ॥ ३१ ॥

उद्धतैरिव परस्परसङ्गादीरितान्युभयतः कुचकुम्भैः ।
योषितामतिमदेन जुघूर्णुर्विभ्रमातिशयपुंषि वपूंषि ॥ ३२ ॥

उद्धतैरिति ॥ उद्धतैर्दृप्तैरिव कुचकुम्भैः परस्परसङ्गादन्योन्यसङ्घर्षादुभयत ईरितान्याकृष्टानि तथा विभ्रमातिशयं विलासविशेषं पुष्णन्ति तानि । 'नपुंसकस्य झलचः' (७।१।७२) इति नुमागमः । योषितां वपूंषि । पूर्ववन्नुमागमः । 'सान्तमहतः संयोगस्य' (६।४।१०) इति दीर्घ इति विशेषः । अतिमदेन जुघूर्णुः भ्रेमुः । इभसङ्घर्षस्तटस्थपीडाकरः । तथा वृषभकलहाद्वत्सपादभङ्ग इति भावः ॥ ३२ ॥

उद्धतके समान स्तनकलशोंसे परस्परमें सटे हुए होनेसे आकृष्ट तथा विलासको अधिक बढ़ानेवाले रमणियोंके अङ्ग बढ़े हुए नशेसे घूमने लगे ॥ ३२ ॥

चारुता वपुरभूषयदासां तामनूननवयौवनयोगः ।
तं पुनर्मकरकेतनलक्ष्मीस्तां मदो दयितसंगमभूषः ॥ ३३ ॥

चारुतेति ॥ आसां योषितां वपुश्चारुता सौन्दर्यमभूषयत् । तां चारुतामनूननवयौवनयोगः सम्पूर्णयौवनसम्पत्तिरभूषयत् । तं पुनर्नवयौवनयोगं तु मकरकेतन-

---

१. '--द्रोध्र--' इति पा० ।

लक्ष्मीर्मदनसम्पत्तिरभूषयत्। तां मकरकेतनलक्ष्मीं, दयितसङ्गम एव भूषा यस्य स मदोऽभूषयत्। तां मदः तं च दयितसङ्गम इत्यर्थः। प्रक्रमानुसारात्तां मदस्तमपि वल्लभसङ्ग इति प्रयोक्तव्ये विशेषणत्वेन प्रयोगो महाकवीनामनुद्वेगात्। यथा भारवेः प्रयोगः 'शुचि भूषयती'त्यादौ (किरातार्जुनीये २।३२) श्लोके 'स नयाङ्कः स च-सिद्धिभूषणः' इति वक्तव्ये 'स नयापादितसिद्धिभूषणः' इति। अत्रोत्तरोत्तरस्य पूर्व-पूर्वविशेषकत्वादेकावली। 'यत्रोत्तरोत्तरेषां स्यात् पूर्वपूर्वं प्रति क्रमात्। विशेषकत्व-कथनमसावेकावली मता॥' इति लक्षणात्॥ ३३॥

इन (रमणियों) के शरीरको सुन्दरताने सुशोभित किया, उस (सुन्दरता) को परिपूर्ण नवीन युवावस्थाके संसर्गने सुशोभित किया, उसको कामश्रीने सुशोभित किया और उसे प्रियतमके सहवासरूपी भूषणवाले मद (मद्यपानजन्य नशे) ने सुशोभित किया॥ ३३॥

क्षीबतामुपगतास्वनुवेलं तासु रोषपरितोषवतीषु।
अग्रहीन्नु सशरं धनुरुज्झामास नूज्झितनिषङ्गमनङ्गः॥ ३४॥

क्षीबतामिति॥ क्षीबतां मत्तताम्। 'मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः' इत्यमरः। 'क्षीबृ मदे' इत्यस्माद्धातोः 'अनुपसर्गात्फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः' (८।२।५५) इति निष्ठान्तो निपातितः। उपगतासु प्राप्तासु। अत एवानुवेलं प्रतिक्षणं रोषपरितोषवतीषु तासु स्त्रीषु विषये अनङ्गः सशरं धनुरग्रहीन्नु, उज्झितनिषङ्गं त्यक्ततूणीरं यथा तथोज्झा-मास नु तत्याज किम्। उज्झतेर्लिट् 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (३।१।३६) इत्या-म्प्रत्ययः। रुष्टासु धनुर्ग्रहणं परितुष्टासु त्यागश्च रोषपरितोषाभ्यामुत्प्रेक्ष्यते। अन्यथा रोषानन्तरं परितोषः। परितोषानन्तरं रोषश्च न स्यादिति भावः। रोष-परितोषयोर्धनुर्ग्रहणाभ्यां यथासंख्येनान्वयाद्यथासंख्यालङ्कारभेदः। तेनोत्प्रेक्षयोर-ङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥ ३४॥

(मद्यपानसे) मतवाली (अतएव) कभी रुष्ट तथा कभी तुष्ट हुई उन (रमणियों) पर काम-देवने बाणसहित धनुषको ग्रहण किया था क्या? अथवा तरकसको छोड़ दिया था क्या?।

विमर्श—रमणियोंके रुष्ट होनेपर बाण-सहित धनुषको ग्रहण करना तथा तुष्ट होनेपर तरकसको भी छोड़कर धनुषको छोड़ देना कामदेवको उचित था। नशेमें मस्त रमणियोंके क्षणमात्रमें रुष्ट तथा क्षणमात्रमें ही तुष्ट होनेसे उक्त कल्पना की गयी है॥ ३४॥

शङ्कयान्ययुवतौ वनिताभिः प्रत्यभेदि दयितः स्फुटमेव।
न क्षमं भवति तत्त्वविचारे मत्सरेण हतसंवृति चेतः॥ ३५॥

शङ्कयेति॥ वनिताभिरन्ययुवतौ सपत्न्यां शङ्कया तत्सङ्गशङ्कामात्रेण दयितः स्फुटमेव निश्चितवदेव प्रत्यभेदि। सिद्धवत्कृत्वोद्घाटित इत्यर्थः। अनुचितोऽयमवि-मृश्य मिथ्याभियोग इति शङ्कां परिहरति—नेति। मत्सरेण वैरेण हता संवृतिर्गोप्य-

गोपनं यस्य तच्चेतस्तत्त्वविचारे भूतार्थचिन्तायां क्षमं सहिष्णु न भवति। मत्सरग्रस्तचेतसामेष स्वभाव इति भावः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥

रमणियोंने दूसरी युवतीमें (सपत्नीके साथ सम्भोग करनेकी) आशङ्कासे प्रियतमको स्पष्ट ही (मानो उसने सचमुच ही सपत्नीके साथ सम्भोग किया है इस प्रकारसे ही) पति पर मिथ्या अभियोग लगाया, क्योंकि ईर्ष्यासे गोपनीय विषयको नष्ट किया हुआ चित्त वास्तविकताके विचार करनेमें समर्थ नहीं होता है ॥ ३५ ॥

आननैर्विचकसे हृषिताभिर्वल्लभानभि तनूभिरभावि।
आर्द्रतां हृदयमाप च रोषो लोलति स्म वचनेषु वधूनाम् ॥ ३६ ॥

आननैरिति ॥ वल्लभानभि। वल्लभसमक्षमित्यर्थः। 'अभिरभागे' (१।४।९१) इति लक्षणार्थकर्मप्रवचनीयत्वाद् द्वितीया। वधूनामाननैर्विचकसे विकसितम्। भावे लिट्। तनूभिरङ्गैर्हृषिताभिः पुलकिताभिः। 'हृषेर्लोमसु' (७।२।२९) इतीडागमः। अभावि भूतम्। भावे लुङ्। हृदयं चार्द्रतामाप। काठिन्यं जहावित्यर्थः। वचनेषु रोषो लोलति चलति स्म। वचनगतो रोषो वक्रतापि निवृत्तेत्यर्थः। अत्र वधूनामाननविकासाद्यनेकक्रियायौगपद्यात्समुच्चयालङ्कारः। 'गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः' इति लक्षणात् ॥ ३६ ॥

प्रियतमोंके सामने रमणियोंके मुख विकसित हो गये, शरीर रोमाञ्चयुक्त हो गये, हृदय सरस हो गया और वचनगत कोप दूर हो गया ॥ ३६ ॥

रूपमप्रतिविधानमनोज्ञं प्रेम कार्यमनपेक्ष्य विकासि।
चाटु चाकृतकसम्भ्रममासां कार्मणत्वमगमन् रमणेषु[1] ॥ ३७ ॥

रूपमिति ॥ अप्रतिविधानमप्रतियत्नमेव मनोज्ञम्। स्वभावसुन्दरमित्यर्थः। रूपमाकृतिः। कार्यं प्रयोजनमनपेक्ष्य विकासि वर्धमानम्। अनौपाधिकमित्यर्थः। प्रेम अकृतकसम्भ्रममकृत्रिमसंरम्भं चाटु प्रियवचनं चासां स्त्रीणां रमणेषु विषये कार्मणत्वं वशीकरणकर्मत्वम्। 'वशक्रिया संवननं मूलकर्म तु कार्मणम्' इत्यमरः। तद्युक्तात्कर्मणोऽण्। अगमन् प्रापानि। गमेर्लुङ् च्लेरङादेशः। अत्र रूपादिष्वारोप्यमाणस्य कार्मणस्य प्रकृतोपयोगात्परिणामालङ्कारः ॥ ३७ ॥

बिना संस्कार (शृङ्गार आदि) के ही मनोहर रूप, कार्यकी अपेक्षा किये बिना ही बढ़नेवाला प्रेम, स्वाभाविक विलासपूर्ण प्रियवचन—रमणियोंके ये सब कार्य प्रियतमोंको वशीकरण (वशमें करनेवाले साधन) हो गये अर्थात् रमणियोंके वैसे रूप प्रेम तथा प्रिय वचनोंसे प्रियतम उनके वशीभूत हो गये ॥ ३७ ॥

लीलयैव सुतनोस्तुलयित्वा गौरवाढ्यमपि लावणिकेन।
मानवञ्चनविदा वदनेन क्रीतमेव हृदयं दयितस्य[2] ॥ ३८ ॥

---

१. '—मद्रमणेषु' इति पा०। २. '—तेन' इति पा०।

लीलयेति ॥ लावण्यं कान्तिविशेषोऽस्यास्तीति लावणिकं लावण्यवत्। 'अत इनिठनौ' (५।२।११५) इति ठन्प्रत्यये 'ठस्येकः' (७।३।५०) 'यस्येति च' (६।४।१४८) इत्यल्लोपे 'हलस्तद्धितस्य' (६।४।१५०) इति यकारलोपः। अन्यत्र तु लवणं पण्यमस्यास्तीति लावणिको लवणव्यवहारी। लवणाट्ठञ् प्रत्ययः। तेन लावणिकेन मानवञ्चनविदाऽहङ्कारहरणदक्षेण, अन्यत्र परिमाणप्रतारणपटुना सुतनोः स्त्रियाः वदनेन कर्त्रा गौरवाढ्यं गाम्भीर्यसम्पन्नमपि, अन्यत्र गुरुत्वयुक्तमपि दयितस्य हृदयं लीलया विलासेनैव तुलयित्वा, अन्यत्रानायासेनैवोन्माय। गुर्वपि लघुतया मीत्वे-त्यर्थः। क्रीतं वशीकृतमेव अन्यत्र दानेन स्वीकृतमेव। अत्र विशेषणमहिम्नैव वदने लावणिकत्वस्य, हृदये पण्यत्वस्य च प्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः। हृदयस्य प्रतीय-मानपण्याभेदेन क्रीतत्वोक्तेरलौकिकहृदयावर्जने लौकिकक्रयव्यवहारसमारोपः ॥३८॥

मानको दूर करनेमें निपुण (पक्षा०—तौलसे ठगनेमें निपुण) सौन्दर्ययुक्त सुन्दरीके मुखने (पक्षा०—नमक बेचनेवाले व्यापारीने) गौरव (गाम्भीर्य, पक्षा०—भारीपन) से परिपूर्ण अर्थात् अत्यन्त गम्भीर (पक्षा०—अत्यन्त वजनदार) भी प्रियतमके हृदय (रूप सौदे) को लीलासे ही तौलकर (पक्षा०—अनायास ही तौलकर अर्थात् वजनदारको भी हलका तौलकर) खरीद (पक्षा०—वशीभूत कर) ही लिया ॥ ३८ ॥

एवं मदानुभावं वर्णयित्वा सम्प्रति सुरतकेलिवर्णनं प्रस्तौति। तत्र सुरतं द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं चेति। बाह्यं च प्रेक्षणभाषणाश्लेषणचुम्बनाद्यनेकभेदभिन्नम्। तत्र दृष्टिविशेषं तावदाह—

स्पर्शभाजि विशदच्छविचारौ कल्पिते मृगदृशां सुरताय।
सन्नतिं दधति पेतुरजस्रं दृष्टयः प्रियतमे शयने च ॥ ३९ ॥

स्पर्शेति ॥ स्पर्शभाजि सुखस्पर्शे विशदा विमला शुभ्रा च या छविः कान्तिस्तया चारौ रम्ये सुरताय कल्पिते रतिसुखदानाय सृष्टे विहारयोग्यतया सज्जीकृते च सन्नतिमानुकूल्यं सर्वतः साम्यं च दधति दधाने प्रियतमे, शयने च मृगदृशां दृष्टयोऽजस्रमविच्छिन्नं पेतुः पतिताः। युगपदुभयावलोकनादभिलाषं व्यञ्जयामासु-रित्यर्थः। अत्र प्रियतमशयनयोः प्रकृतयोरेव धर्मसाम्यादौपम्यप्रतीतेः केवलप्रकृत-गोचरा तुल्ययोगिता ॥ ३९ ॥

(इस प्रकार (९।१२-३८) मदके अनुभावका वर्णनकर बाह्य तथा आभ्यन्तर भेदसे द्विविध सुरतोंमेंसे पहले सोलह श्लोकों (९।३९-५४) क्रम तथा औचित्यसे प्राप्त बाह्य सुरतका वर्णन करते हैं। उसमें भी पहले देखनेका वर्णन करते हैं) स्पर्शमें सुखप्रद, निर्मल (पक्षा०—स्वच्छ-सफेद) कान्तिसे सुन्दर, सुरतके लिये तैयार (पक्षा०—सम्भोगके योग्य बनाये गये) और सर्वतोभावसे विनम्र (मनके अनुकूल, पक्षा०—बराबर अर्थात् समतल) प्रियतममें तथा शय्यामें मृगनयनियोंकी दृष्टि निरन्तर पड़ने लगी अर्थात् प्रियतम तथा शय्याको मृगनयनियां निरन्तर देखने लगीं ॥ ३९ ॥

यूनि रागतरलैरपि तिर्यक्पातिभिः श्रुतिगुणेन युतस्य ।
दीर्घदर्शिभिरकारि वधूनां लङ्घनं न नयनैः श्रवणस्य ॥ ४० ॥

यूनीति ॥ रागेण तरलैश्चपलैरपि । दर्शनोत्सुकैरपीत्यर्थः । यूनि प्रिये तिर्यक्पातिभिस्त्रपया साचि विप्रसारिभिः दीर्घदर्शिभिरायतान्तैः । आलोकनव्यापारपरैरित्यर्थः। अन्यत्र रागद्वेषचपलैः अत एव तिर्यक्पातिभिः कुटिलवृत्तिभिरपि दीर्घदर्शिभिः। आगामिकार्यज्ञैरित्यर्थः । वधूनां नयनैः श्रुतिगुणेन शब्दग्रहणपाटवेन युतस्य श्रूयतेऽनेनेति श्रवणं श्रोत्रं तस्य लङ्घनमतिक्रमो नाकारि न चक्रे । कर्णान्ते विश्रान्तमित्यर्थः । अन्यत्र तु श्रुतिः श्रवणम् । अभ्यास इति यावत् । सैव गुणस्तेन युतस्य श्रूयत इति श्रवणं शास्त्रं तस्य लङ्घनं नाकारि । रागद्वेषग्रस्तोऽपि शास्त्रज्ञः कदाचिच्छास्त्रातिक्रमाद्बिभेतीति भावः । अयं च व्यवहारो नयनेषु रागतरलैरित्यादिश्लिष्टविशेषणमहिम्ना गम्यत इति समासोक्तिभेदः । इयं च रागदृष्टिरौत्सुक्यानुभावः ॥

अनुरागसे चञ्चल अर्थात् प्रियतमको देखनेके लिए उत्कण्ठित, (पक्षा०—राग-द्वेषसे अस्थिर), युवक अर्थात् प्रियतमपर तिरछे पड़नेवाले अर्थात् लज्जाके कारण प्रियतमको सामने न देखकर तिरछा देखनेवाले (पक्षा०—कुटिल वृत्तिवाले), दूरतक देखनेवाले (पक्षा०—भविष्यके कार्यको सोचनेवाले) रमणियोंके नेत्र (पक्षा०—शास्त्रज्ञ विद्वान्) सुनने (शब्दग्रहण करने) के गुणसे युक्त (पक्षा०—अभ्यासरूप गुणसे युक्त) कान (पक्षा०—शास्त्र) का उल्लङ्घन नहीं किये ॥ ४० ॥

संकथेच्छुरभिधातुमनीशा संमुखी न च बभूव दिदृक्षुः ।
स्पर्शनेन दयितस्य नतभ्रूरङ्गसङ्गचपलापि चकम्पे ॥ ४१ ॥

संकथेति ॥ नतभ्रूः स्त्री संकथायां संभाषणे इच्छुरिच्छावत्यपि । 'विन्दुरिच्छुः' (३।२।१६९) इत्युप्रत्ययान्तो निपातः । अभिधातुं संभाषयितुमनीशा अक्षमा बभूव। अप्यर्थश्चशब्दः । दिदृक्षुर्द्रष्टुमिच्छुरपि । दृशेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । संमुखी अभिमुखी न बभूव । अङ्गसङ्गचपला गात्रस्पर्शचपलापि दयितस्य स्पर्शनेन चकम्पे कम्पितवती । एते कम्पादयो लज्जासाध्वसानुभावः । लज्जाविजितमन्मथेयं मुग्धा ॥ ४१ ॥

नम्र (टेढ़े) भ्रूवाली रमणी (पतिके साथ) सम्भाषण करना चाहती हुई भी बोल नहीं सकी, देखना चाहती हुई भी सामने नहीं हो सकी और अङ्गके संस्पर्शके लिए चञ्चल (उत्कण्ठित) होती हुई भी प्रियतमके स्पर्शसे काँप गयी ॥ ४१ ॥

अथालिङ्गनं वर्णयति—

उत्तरीयविनयात्त्रपमाणा रुन्धती किल तदीक्षणमार्गम् ।
आवरिष्ट विकटेन विवोढुर्वक्षसैव कुचमण्डलमन्या ॥ ४२ ॥

---

१. '—लङ्घना' इति पा० ।

उत्तरीयेति ॥ अन्या स्त्री उत्तरीयविनयात् कुचांशुकाकर्षणात्। त्रपमाणा तद्वीक्षणमार्गं तस्य वोढुर्दृष्टिपथं रुन्धती किल आवृण्वतीव, न तु वस्तुत इति किलार्थः। विकटेन विशालेन। 'विशङ्कटं विशालं स्यात्करालं विकटं तथा' इति वैजयन्ती। 'संप्रोदश्च कटच्' (५।२।२९) इति चकाराद्वेः कटच् प्रत्ययः। विवोढुः परिणेतुः वक्षसैव कुचमण्डलम् आवरिष्ट आवृतवती कुचावरणव्याजेनालिङ्गितवती। वृणो लुङि तङ् इडागमः। अत्र कुचसंवरणेनालिङ्गनेच्छानिगूहनान्मीलनभेदः। एषा लज्जामन्मथमध्यस्था मध्यमा ॥ ४२ ॥

(अब दश श्लोकों (९।४२–५१) से आलिङ्गनरूप बाह्य सुरतका वर्णन करते हैं) दुपट्टे को (पतिके द्वारा) हटानेसे लज्जित अत एव मानो उस (प्रियतम) के देखनेको रोकती हुई किसी (मध्यमा) नायिकाने पतिके विशाल वक्षःस्थलसे ही अपने स्तनमण्डलको ढक लिया अर्थात् स्तनमण्डलको ढकनेके कपटसे पतिका आलिङ्गन कर लिया ॥ ४२ ॥

अंशुकं हृतवता तनुबाहुस्वस्तिकापिहितमुग्धकुचाग्रा।
भिन्नशङ्खवलयं परिणेत्रा पर्यरम्भि रभसादचिरोढा ॥ ४३ ॥

अंशुकमिति ॥ अंशुकमुत्तरीयं हृतवता परिणेत्रा भर्त्रा तन्वोः कृशयोः बाह्वोः स्वस्तिको बन्धविशेषः तेनापिहिते आच्छादिते मुग्धे सुन्दरे कुचाग्रे यस्याः सा तथोक्ता। अचिरोढा। भिन्नानि शङ्खस्य वलयानि यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा रसाद्वेगात्पर्यरम्भि। गाढमाश्लिष्टेत्यर्थः। रभेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ्। 'रभेरशब्लिटोः' (७।१।६३) इति नुमागमः। एषा तिरोहितमुग्धा ॥ ४३ ॥

(रमणीके) दुपट्टेको हटाये हुए नायकने, कृश (लताके समान पतली) दोनों भुजाओंसे स्वतिकाकार बन्धन–विशेष करके मनोहर स्तनाग्रोंको आच्छादित की हुई नवोढाका वेगपूर्वक आलिङ्गन कर लिया, जिसमें उस रमणीके शङ्खके बने हुए कङ्कण भी (दबकर) फूट गये ॥ ४३ ॥

संजहार सहसा परिरब्धप्रेयसीषु विरहय्य विरोधम्।
संहितं रतिपतिः स्मितभिन्नक्रोधमाशु तरुणेषु महेषुम् ॥ ४४ ॥

संजहारेति ॥ तरुणेषु युवसु विरोधं प्रणयकलहं विरहय्य विहाय। रहयतेः स्वार्थण्यन्तात् क्त्वा तस्य ल्यप् 'ल्यपि लघुपूर्वात्' (६।४।५६) इत्ययादेशः। सहसा परिरब्धाः प्रेयस्यो यैस्तेषु परिरब्धप्रेयसीषु आश्लिष्टवधूकेषु सत्सु। 'ईयसश्च' (५।४।१५६) इति कपोऽभावः। 'ईयसो बहुव्रीहौ प्रतिषेधो वक्तव्यः' (वा०) इत्युपसर्जनस्य ह्रस्वनिषेधः। रतिपतिः कामः संहितं प्रागारोपितं महेषुं महान्तमिषुं शरं स्मितभिन्नक्रोधं स्वयत्नसाफल्यात् स्मितेनोज्झितपूर्वरोषं च यथा तथा आशु संजहार। सिद्धेऽर्थ साधनानवकाशादित्यर्थः। परिरम्भान्तो यूनां विरह इति भावः ॥ ४४ ॥

---

१. 'तरुणीषु' इति पा०।

विरोधको छोड़कर युवकोंके सहसा प्रियतमाओंका आलिङ्गन करनेपर कामदेवने (अपने कार्यमें सफल होनेसे) स्मितसे क्रोधको दूर करते हुए, चढ़ाये हुए महान् बाणको शीघ्र उतार लिया ॥ ४४ ॥

स्रंसमानमुपयन्तरि वध्वाः श्लिष्टवत्युपसपत्नि रसेन ।
आत्मनैव रुरुधे कृतिनेव स्वेदसङ्गि वसनं जघनेन ॥ ४५ ॥

स्रंसमानमिति ॥ उपयन्तरि भर्तरि रसेन । रागान्धतयेत्यर्थः । उपसपत्नि सपत्नीसमीपे । समीपार्थेऽव्ययीभावे नपुंसकह्रस्वत्वम् । श्लिष्टवति आश्लिष्टवति सति स्रंसमानं स्पर्शसुखपारवश्याद् भ्रश्यमानं तथापि स्वेदसङ्गि स्वेदेन सात्त्विकेन सक्तं वध्वा वसनं कृतिना कुशलेन । स्वस्येदं लाघवमिति जानतेवेत्यर्थः । जघनेन कर्त्रा आत्मनैव स्वयमेव रुरुधे रुद्धम् । सा तु न वेत्तीति भावः । स्वेदहेतुकस्य वसनरोधस्य स्वलाघवज्ञानहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ४५ ॥

राग (अनुराग) के कारण सपत्नीके पास ही पतिको रमणीका आलिङ्गन करनेपर (प्रियतमके शरीरके स्पर्शजन्य आनन्दके कारण) नीचे सरकते हुए, (सात्त्विक भावोत्पन्न) पसीनेसे युक्त रमणीके कपड़ेको कुशल (मानों इसे अपनी लघुताको समझते हुए-से) जघनने स्वयमेव रोक लिया अर्थात् पतिके आलिङ्गन करनेपर रमणी पतिके स्पर्शसुखसे स्वेदयुक्त हो गयी तथा उसका गिरता हुआ वस्त्र जघन-प्रदेशपर रुक गया अन्यथा उसकी बड़ी लघुता होती ॥ ४५ ॥

पीडिते पुर[1] उरःप्रतिपेषं भर्तरि स्तनयुगेन युवत्याः ।
स्पष्टमेव दलतः प्रतिनार्यास्तन्मयत्वमभवद्धृदयस्य ॥ ४६ ॥

पीडित इति ॥ युवत्या युवतेः स्तनयुगेन भर्तरि प्रतिनार्याः पुरोऽग्रे समक्षमेव उरःप्रतिपिष्य उरःप्रतिपेषम् । 'परिक्लिश्यमाने च' (३।४।५५) इति णमुल् 'कृन्मेजन्तः' (१।१।३९) इत्यव्ययसंज्ञा । वक्षः प्रतिपीड्येत्यर्थः । पीडिते सति दलतः ईर्ष्यया दीर्यमाणस्य प्रतिनार्याः सपत्न्या हृदयस्य तन्मयत्वं भर्तृतादात्म्यं स्पष्टमभवदेव । अन्यथा कथमन्यपीडनादन्यदलनमिति भावः । अत एवेयमसङ्गत्यलङ्कारोपजीविनी तन्मयत्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः । 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिः' ॥४६॥

सपत्नीके सामने ही रमणीके दोनों स्तनोंसे वक्षःस्थल को दबाकर पतिके पीडित होनेपर (ईर्ष्यासे) विदीर्ण होते हुए सपत्नीके हृदयकी तन्मयता (पतिके साथ अभेदभाव) मानो स्पष्ट हो गयी । (यही कारण था कि रमणीके स्तनोंसे पतिके वक्षःस्थलके पीडित होनेपर पतिके हृदयके साथ भेद नहीं होनेके कारण उसकी सपत्नीका हृदय विदीर्ण होने लगा) ॥

दीपितस्मरमुरस्युपपीडं वल्लभे घनमभिष्वजमाने ।
वक्रतां न ययतुः कुचकुम्भौ सुभ्रुवः[2] कठिनतातिशयेन ॥ ४७ ॥

१. 'पुनरुरः' इति पा० । २. '—मपि स्वब—' इति पा० ।

दीपितेति ॥ वल्लभे दीपितस्मरमुद्दीपितकामं यथा तथा उरस्युपपीडमुरस्युपपीड्य। 'सप्तम्यां चोपपीडरुधकर्ष–' (३।४।५९) इति णमुल्। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (६।३।१४) इत्यलुक् घनं गाढमभिष्वजमाने परिरम्भमाणे सति। 'परिरम्भः परिष्वङ्गः संश्लेष उपगूहनम्' इत्यमरः। सुभ्रुवः कुचकुम्भौ कठिनतातिशयेन वक्रतां परिमण्डलतां न ययतुर्न प्राप्तौ। अत्र गाढालिङ्गनात् कुचकुम्भयोर्वक्रत्वसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः ॥ ४७ ॥

कामाधिक्यपूर्वक (प्रियतमाके) वक्षःस्थलको पीडितकर प्रियतमके गाढालिङ्गन करनेपर अत्यन्त कठोर होनेके कारण सुन्दर भ्रू वाली रमणीके दोनों स्तन टेढ़े नहीं हुए ॥४७॥

सम्प्रवेष्टुमिव योषित ईषुः श्लिष्यतां हृदयमिष्टतमानाम्।
आत्मनः सततमेव तदन्तर्वर्तिनो न खलु नूनमजानन् ॥ ४८ ॥

सम्प्रवेष्टुमिति ॥ योषितः श्लिष्यतामालिङ्गतामिष्टतमानां हृदयं सम्प्रवेष्टुमीषुरिच्छन्ति स्मेव इति गाढालिङ्गननिमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा वा गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा विवक्षाभेदात्। अत एवात्मनः स्वान् सततमेव तदन्तर्वर्तिनस्तेषामिष्टतमानाम् अन्तर्हृदयेष्वेव स्थितान्नाजानन्नूनम्। अन्यथा कथं पुनः प्रवेशेच्छेति भावः। इयम ज्ञानोत्प्रेक्षा पूर्वोत्प्रेक्षासापेक्षेति सजातीयरुङ्करः ॥ ४८ ॥

रमणियां आलिङ्गन करते हुए प्रियतमोंके हृदयमें मानो प्रविष्ट हो जाना चाहती थीं, (अत एव) उन्होंने उन (प्रियतमों) के हृदयमें सर्वदा स्थित रहनेवाली अपनेको मानो नहीं जाना (अन्यथा यदि वे अपनेको प्रियतमके हृदयमें सर्वदा निवास करनेवाली जानतीं तो उसमें प्रविष्ट होनेकी इच्छा नहीं करतीं) ॥ ४८ ॥

स्नेहनिर्भरमधत्त वधूनामार्द्रतां वपुरसंशयमन्तः।
यूनि गाढपरिरम्भिणि वस्त्रक्नोपमम्बु ववृषे यदनेन ॥ ४९ ॥

स्नेहेति ॥ स्नेहनिर्भरं प्रेमरसपूर्णं तैलादिकद्रवद्रव्यपूर्णं च। 'स्नेहोऽस्त्री द्रवहार्दयोः' इति वैजयन्ती। अत एव वधूनां वपुरन्तरार्द्रतां द्रवत्वमधत्त। स्नेहद्रव्यसम्पूर्णमन्तरार्द्रं भवतीति भावः। असंशयं संशयस्याभावः। अर्थाभावेऽव्ययीभावः। कुतः। यद्यस्माद्यूनि पुंसि गाढं परिरम्भत इति परिरम्भिणि गाढाश्लेषिणि सति अनेन वपुषा कर्त्रा 'वस्त्रं क्नोपयित्वा परिषिच्य वस्त्रक्नोपम्। क्नूयीधातोर्ण्यन्तात् 'अतिह्री–' (७।३।३६) इत्यादिना पुगागमे, 'चेले क्नोपेः' (३।४।३३) इति णमुल्। अम्बु ववृषे। वृषेः कर्मणि लिट्। अन्तरार्द्रस्य निष्पीडनाद्बहिरम्बुस्रावसम्भवात्तन्निमित्तेयमन्तरार्द्रत्वोत्प्रेक्षा। प्रियाङ्गसङ्गात् ताः स्विन्ना इति सात्त्विकोदयोक्तिः ॥४९॥

स्नेह (अनुराग, पक्षा०—तैल आदि द्रव पदार्थ) से परिपूर्ण रमणियोंका शरीर

भीतरमें निःसन्देह आर्द्रता (सरसता, पक्षा०—गीलापन) को धारण करता था, क्योंकि युवक अर्थात् प्रियतमके गाढ़ आलिङ्गन करनेपर यह (रमणियोंका शरीर) वस्त्रके भिगोकर पानी (पक्षा०—स्वेदजल) बरसाने लगा अर्थात् प्रियतमोंके आलिङ्गन करनेपर रमणियोंके शरीरसे सात्त्विकभावजन्य इतना पसीना निकला कि उनके वस्त्र भींग गये और उनसे पानी बहने लगा ॥ ४९ ॥

न स्म माति वपुषः प्रमदानामन्तरिष्टतमसङ्गमजन्मा ।
तद्बहुर्बहिरवाप्य विकासं व्यानशे तनुरुहाण्यपि हर्षः ॥ ५० ॥

न स्मेति ॥ प्रमदानामिष्टतमसङ्गमेन जन्म यस्य सः। जन्माद्युत्तरपदत्वाद्व्यधिकरणबहुव्रीहिरिति वामनः। बहुर्विपुलः। 'विपुलानेकयोर्बहुः' इति वैजयन्ती हर्षो वपुषोऽन्तर्न माति स्म। अत्युद्रेकान्नान्तः संमित इत्युत्प्रेक्षा। कुतः। यद्यस्माद्बहिर्वपुषो बहिर्विकासं वृद्धिमवाप्य तनुरुहाणि रोमाण्यपि व्यानशे व्याप। कर्तरि लिट्। 'अश्नोतेश्च' (७।४।७२) इति नुडागमः। अत्र बहिर्विकासननिमित्तकान्तरमानोत्प्रेक्षा आनन्दरोमाञ्चयोः श्लेषमूलाभेदाध्यवसायातिशयोक्त्यनुप्राणितेति सङ्करः ॥ ५० ॥

प्रियतमके सङ्गमसे उत्पन्न रमणियोंका अधिक हर्ष आधारभूत हृदयके छोटे तथा आधेयभूत हर्षके अधिक होनेसे शरीरके भीतर नहीं समा सका अर्थात् अधिक हो गया, क्योंकि वह शरीरके बाहर विकसित (प्रकट) होकर रोमोंमें फैल गया। (रमणियां पतिके आलिङ्गन करनेसे उत्पन्न हर्षातिशयसे रोमाञ्चित हो गयीं) ॥ ५० ॥

यत्प्रियव्यतिकराद्वनितानामङ्गजेन पुलकेन बभूवे ।
प्रापि तेन भृशमुच्छ्वसिताभिर्नीविभिः सपदि बन्धनमोक्षः ॥ ५१ ॥

यदिति ॥ वनितानां स्त्रीणां प्रियस्य भर्तुः व्यतिकरात्सम्पर्कात् सङ्गमाच्चाङ्गजेनाङ्गव्यापिना पुत्रेण च पुलकेन बभूवे भूतमिति यत्। भावे लिट्। तेन पुलकोदयेन पुत्रोदयेन च भृशमुच्छ्वसिताभिरच्छ्रिताभिर्मोक्षाशया। आश्वसिताभिश्च नीविभिः लक्षणया कटिवस्त्रैः अन्यथा बन्धनशब्देन पौनरुक्त्यात्। सपदि बन्धनमोक्षो ग्रन्थिभेदो निगडमोचनं च प्रापि प्राप्तः। कर्मणि लुङ्। अभ्युदयेषु राजानो बद्धान् मोचयन्तीति भावः। अत्र प्रकृतपुलकनीविगताङ्गजत्वोच्छ्वसितत्वादिविशेषणसाम्याद्बन्धनमोचणसम्बन्धाच्च अप्रकृतपुत्रकारागतिप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ५१ ॥

रमणियोंको प्रियतमके स्पर्श (पक्षा०—सम्भोग) से जो शरीरमें उत्पन्न रोमाञ्च (पक्षा०—शरीरसे उत्पन्न पुत्र) हुआ, उस (पुत्र, पक्षा०—रोमाञ्च) के होनेसे स्फुरित

---

१. '—त्प्रमदाना—' इति पा० ।

(पक्षा०—बन्धनमुक्त होने अर्थात् कैदसे छूटनेकी आशासे युक्त) नीवियों (वन्दीस्थानीय रमणियोंके कटिप्रदेशस्थ वस्त्र) शीघ्र ही बन्धनसे मुक्ति पा लिये अर्थात् रमणियोंके कटि-प्रदेश वस्त्र खुल गये (पक्षा०—कैदसे छूट गये) ॥ ५१ ॥

अथ चुम्बनक्रीडां वर्णयति—

ह्रीभरादवनतं परिरम्भे रागवानवटुजेष्ववकृष्य ।
अर्पितोष्ठदलमाननपद्मं योषितो मुकुलिताक्षमधासीत् ॥ ५२ ॥

ह्रीति ॥ परिरम्भे आलिङ्गने ह्रीरेव भरस्तस्मादवनतम् । भाराक्रान्तं नमतीति भावः । अर्पितं स्वमुखे निहितमोष्ठ एव दलं पत्रं यस्य तद्योषित आननमेव पद्मं रागवान् रागी अवटुजेषु चरमशिरोरुहेषु । 'अवटुर्घाटा कृकाटिका' इत्यमरः । अवकृष्य । अवटुजाकर्षणेनोन्नमय्येत्यर्थः । मुकुलिताक्षं निमीलितनेत्रं यथा तथा । 'बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्' (५।४।११३) इति षच् प्रत्ययः । अधासीत् पपौ । धेटो लुङ् 'आदेच–' (६।१।४५) इत्यात्वम् । 'विभाषा घ्राधेट्–' (२।४।७८) इति सिचो वैकल्पिके लुगभावे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' (७।३।९६) इतीडागमः । अत्राननोष्ठस्य पद्मदलत्वरूपणात्तत्रानुरागिणो मधुपत्वं च गम्यत इत्येकदेशविवर्ति रूपकम् ॥ ५२ ॥

आलिङ्गन करनेपर लज्जारूपी भारसे झुके हुए तथा (अपने ऊपर) ओष्ठरूपी दल (कमल पुष्पकी पँखडी) को रखे हुए रमणीके मुखरूपी कमलको अनुरागी पतिने गर्दनके पिछले भागमें आकृष्टकर अर्थात् झुके हुए मुखकमलको कुछ ऊँचा उठाकर नेत्रोंको मूँदे हुए पान (चुम्बन) किया ॥ ५२ ॥

'पल्लवोपमितिसाम्यसपक्षं दष्टवत्यधरबिम्बमभीष्टे ।
पर्यकूजि सरुजेव तरुण्यास्तारलोलवलयेन करेण ॥ ५३ ॥

पल्लवेति ॥ पल्लवेनोपमित्या सादृश्येन यत्साम्यं तेन सपक्षम् उभयोरपि पल्लवैकोपमानत्वसाधर्म्यात्सुहृद्भूतमधरो बिम्बमिव तदधरबिम्बमभीष्टे प्रियतमे दष्टवति सति । सह रुजा सरुक् । 'तेन सह–' (२।२।२८) इति बहुव्रीहिः । सहस्य सः । तेन सरुजेन सव्यथेनेव । 'स्त्री रुग्रुजा चोपताप' इत्यमरः । ताराण्युच्चैः क्रोशन्ति । कुतः । लोलानि चलानि वलयानि कङ्कणानि यस्य तेन तरुण्याः करेण पर्यकूजि परिकूजितम् । भावे लुङ् । सुहृद् दुःखाद्दुःखायन्ते सुहृद इति भावः । अत्र कङ्कणद्वारकस्य करकूजनस्य विधूननहेतुकस्य सरुजेवेति रुग्घेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ५३ ॥

पल्लवकी उपमा होनेसे अपने समान पक्षवाले तरुणीके अधरबिम्बको प्रियतमके द्वारा काटे जानेपर उच्च स्वर करते (चिल्लाते) हुए चञ्चल कङ्कणवाला तरुणीका हाथ मानो पीडासे चिल्लाने लगा ।

---

१. 'पल्लवोऽयमिति' इति पा० ।

विमर्श—हाथ तथा अधरकी पल्लवके साथ उपमा होनेसे अधर हाथका सपक्ष (मित्र) था, अतः उस मित्ररूप अधरके काटे जानेपर दुःखित हुए हाथका चिल्लाना उचित ही था। भाव यह है कि—अधरपल्लवके पतिके द्वारा काटे जानेपर रमणीने जब सहसा उसे अपना पाणिपल्लव उठाकर रोका, तब उसका कङ्कण झनकार कर उठा ॥ ५३ ॥

केनचिन्मधुरमुल्बणरागं बाष्पतप्तमधिकं विरहेषु ।
ओष्ठपल्लवमपास्य मुहूर्तं सुभ्रुवः सरसमक्षि चुचुम्बे ॥ ५४ ॥

केनचिदिति ॥ केनचिद्रागिणा मधुरं रसवन्तमुल्बणरागमतिरक्तं तथापि विरहेष्वधिकं बाष्पेण विरहोष्मणा तप्तं सुभ्रुव ओष्ठपल्लवमपास्य सरसं सान्द्रशीतमक्षि चुचुम्बे चुम्बितम् । अत्र तप्तत्वरसवत्वयोर्विशेषणगत्याधरत्यागाक्षिचुम्बनहेतुकं काव्यलिङ्गद्वयं सापेक्षत्वात्सङ्कीर्यते ॥ ५४ ॥

किसी रागी पतिने मधुर, अधिक राग (अरुणिमा) से युक्त तथा विरहावस्थाओंमें वाष्पसे अत्यधिक तप्त (उष्ण) सुन्दर भ्रू वाली प्रियाके अधर-पल्लवको छोड़कर क्षणमात्र (कुछ समय तक) सरस नेत्रका चुम्बन किया ॥ ५४ ॥

एवं बाह्यसुरतमुक्त्वाभ्यन्तरसुरतवर्णनं प्रस्तौति—

रेचितं परिजनेन महीयः केवलाभिरतदम्पति धाम ।
साम्यमाप कमलासखविष्वक्सेनसेवितयुगान्तपयोधेः ॥ ५५ ॥

रेचितमित्यादि ॥ परिजनेन रेचितं रिक्तीकृतम् । अत एव केवलावेकाकिनावभिरतौ दम्पती जायापती यस्मिंस्तत् । 'दम्पती जम्पती जायापती भार्यापती च तौ' इत्यमरः । राजदन्तादिषु जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च विकल्पान्निपातितः । महीयो महत्तरं धाम केलिगृहं कमलासखेन लक्ष्मीभर्त्रा विष्वक्सेनेन जनार्दनेन विष्णुना सेवितस्याधिष्ठितस्य युगान्तपयोधेः साम्यमाप इत्युपमालङ्कारः । युगान्तविशेषणं विविक्तताद्योतनार्थम् । एतेनेच्छाविहारतोक्ता ॥ ५५ ॥

(इस प्रकार (९।३९-५४) बाह्य सुरतका वर्णन करनेके बाद आभ्यन्तर सुरतके वर्णन करनेका उपक्रम करते हैं) परिजनों (दास, दासी तथा सखीजनों) से खाली किया गया, एकमात्र स्त्री-पुरुषसे युक्त विशाल क्रीडाभवन लक्ष्मीसे युक्त विष्णु भगवान्‌से सेवित प्रलयकालके समुद्रकी समानता पा रहा था ॥ ५५ ॥

अथ विस्रम्भविहाराण्येवाह—

आवृतान्यपि निरन्तरमुच्चैर्योषितामुरसिजद्वितयेन ।
रागिणामित इतो विमृशद्भिः पाणिभिर्जगृहिरे हृदयानि ॥ ५६ ॥

आवृतानीति ॥ उच्चैरुन्नतेनोरसिजद्वितयेन निरन्तरं नीरन्ध्रमावृतानि संवृतान्यपि

योषितां हृदयानि वक्षांसि, चेतांसि च इत इतो विमृशद्भिरितस्ततः परामृशद्भिः रागिणां पाणिभिर्जगृहिरे, गृहीतानि। निगूढं वस्तु हस्तपरामर्शाल्लभ्यत इति एकत्र भावः, अन्यत्र कृच्छ्रलब्धः प्रियकरस्पर्शस्तासां हृदयग्राह्योऽभूदिति भावः। नैरन्तर्येण प्रतिबध्नतोरपि कुचयोः कथञ्चिदन्तरं सम्पाद्य हृदयानि स्पृष्टान्येवेति वाक्यार्थः। अत्र द्वितयानामपि हृदयानां प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतश्लेषः ॥ ५६ ॥

ऊँचे-ऊँचे दोनों स्तनोंसे नीरन्ध्र (सम्यक् प्रकारसे) ढके हुए रमणियोंके हृदय (पक्षा०—चित्त) को अनुरागवान् पतियोंके इधर-उधर खोजते हुए हाथोंने पा लिया अर्थात् रमणियोंके हृदयपर अनुरागवान् पतियोंने हाथ रखा ॥ ५६ ॥

कामिनामसकलानि विभुग्नैः स्वेदवारिमृदुभिः करजाग्रैः।
आक्रियन्त कठिनेषु कथञ्चित्कामिनीकुचतटेषु पदानि ॥ ५७ ॥

कामिनामिति ॥ स्वेदवारिणा सात्त्विकेनाङ्गुलीस्वेदेन मृदुभिः कोमलतां गतैरत एव विभुग्नैर्विनम्रैः कामिनां करजाग्रैर्नखाग्रैः कठिनेषु कामिनीकुचतटेषु असकलान्यसमग्राणि पदानि क्षतानि कथञ्चिदक्रियन्त कृतानि। कठिनेषु मृदूनां पदलाभो दुःसम्पाद्य इति भावः। नखक्रिया प्रवृत्तेत्यर्थः। अत्र कुचानामीदृक्काठिन्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ५७ ॥

(सात्त्विक भावसे उत्पन्न हुए) स्वेदजलसे (भींगनेके कारण) कोमल (अत एव) मुड़े हुए, कामियोंके नखाग्रोंने कामिनियोंके कठोर स्तनोंपर किसी प्रकारसे अर्थात् बड़ी कठिनतासे अपूर्ण स्थान बनाया अर्थात् थोड़ा ही नखक्षत किया ॥ ५७ ॥

सोष्मणः स्तनशिलाशिखराग्रादात्तधर्मसलिलैस्तरुणानाम्।
उच्छ्वसत्कमलचारुषु हस्तैर्निम्ननाभिसरसीषु निपेते ॥ ५८ ॥

सोष्मण इति ॥ सोष्मणो यौवनोष्मयुक्तात् स्तनावेव शिलाशिखरे तयोरग्रादुपरिभागादात्तधर्मसलिलैरुष्णदेशविहारात् प्राप्तस्वेदैः तरुणानां हस्तैरुच्छ्वसत्कमलवद्विकचकमलैश्च चारुषु निम्ननाभिष्वेव सरसीषु निपेते निपेतितम्। ऊष्मस्विन्नानां कुतश्चिदुन्नतात्पयसि पातो युक्त इति भावः। प्रथमं कुचौ स्पृष्ट्वा ततो नाभिदेशमस्पृशन्नित्यर्थः। अत्र कुचयोः शिलाशिखरत्वेन नाभीनां सरसीत्वेन च रूपणाद्धस्तानामापातिपुरुषत्वरूपणं गम्यत इत्येकदेशविवर्ति रूपकम् ॥ ५८ ॥

(युवावस्थाकी) उष्णतासे युक्त स्तनरूपी चट्टानकी चोटीके ऊपरी भाग (के सेवन करने) से पसीनेसे युक्त (अर्थात् सात्त्विक भावसे पसिजे हुए) युवकोंका हाथ विकसित होते हुए कमलों (के समान) से मनोहर गहरी नाभिरूपी तड़ागमें कूद गया अर्थात् रमणोंने रमणियोंके स्तनोंका स्पर्श करनेके बाद उनके नाभिप्रदेशका स्पर्श किया ॥ ५८ ॥

आमृशद्भिरभितो वलिवीचीर्लोलमानविततांङ्गुलिहस्तैः ।
सुभ्रुवामनुभवात्प्रतिपेदे मुष्टिमेयमिति मध्यमभीष्टैः ॥ ५९ ॥

आमृशद्भिरिति ॥ वलयो वीचय इव वलिवीचीरभित आमृशद्भिः लोलमानाश्चलनशीलाः । 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (३।२।१२९) इति चानश्प्रत्ययः । न तु शानच् । लोलतेः परस्मैपदित्वात् । अत एव 'लोलमानादयश्चानशि' इति वामनः । लोलमाना विततः प्रसारिताश्चाङ्गुलयो येषां ते तथाविधा हस्ता येषां तैरभीष्टैः प्रियतमैः सुभ्रुवां मध्यं मुष्टिमेयमिति मुष्ट्या मातुं शक्यमित्यनुभवाप्रत्ययेन मुष्ट्या मानं कृत्वैवं प्रतिपेदे प्रतिबुद्धं न तु प्रसिद्धिमात्रादिति भावः । अमुष्टिमेयस्य मुष्टिमेयत्वोक्तेरतिशयोक्तिभेदोऽलङ्कारः ॥ ५९ ॥

(तरुणियोंके उदरस्थ) त्रिवलिरूपी तरङ्गोंको सब ओरसे स्पर्श करते हुए, (अत एव) चञ्चल एवं फैली हुई अङ्गुलियोंसे युक्त हाथवाले प्रियतमोंने 'सुभ्रुओं (सुन्दर भ्रूवाली रमणियों) का कटिभाग मुट्ठीभर है' इसे साक्षात् अनुभवसे मालूम किया ॥ ५९ ॥

[1]प्राप्य नाभि[2]नदमज्जनमाशु प्रस्थि[3]तं निवसनग्रहणाय ।
औपनीविकमरुन्ध किल स्त्री वल्लभस्य करमात्मकराभ्याम् ॥ ६० ॥

प्राप्येति ॥ नाभिरेव नदो ह्रद इति रूपकं तत्र मज्जनं प्राप्याशु निवसनग्रहणाय । वस्त्राकर्षणायेत्यर्थः । स्नातस्य वस्त्रग्रहणं युक्तमिति भावः । प्रस्थितं प्रवृत्तम् । उपनीवि नीविसमीपे प्रायेण तत्र भवमौपनीविकम् । तत्र व्यापृतमित्यर्थः । 'उपजानूपकर्णोपनीवेष्ठक्' (४।३।४०) इति ठक् । वल्लभस्य करं स्त्री आत्मकराभ्यामरुन्ध किल । रोधं नाटितवतीत्यर्थः ॥ ६० ॥

(रमणीकी) नाभिरूपी तडागमें मज्जन (स्नान) कर (रत्यर्थ, पक्षा०—परिधानार्थ) शीघ्र ही कपड़ेको ग्रहण करनेके लिए प्रवृत्त एवं नीविके समीप पहुँचे हुए,

---

१. 'प्राप्त—' इति पा० ।

२. 'अत्र 'नाभिह्रदमज्जनम्' इति पाठः सर्वत्र दरीदृश्यते, यथा च '–प्राप्यनाभिह्रद–' इति माघप्रयोगे ह्रदशब्दमपनीय नदशब्दः पठनीय' इति दुर्घटवृत्तिकारवचनं च सुस्फुटं प्रत्याययतीमं पाठम् । वृत्तरत्नाकरनारायणभट्टी–व्याख्या-छन्दोमञ्जर्यादिच्छन्दोग्रन्थेषु 'ह्रद' पाठमादृत्योद्धृतोऽयं श्लोकोऽगुरुत्वनिदर्शनार्थं, मल्लिनाथेन च कथं नादृत इत्यपरमाश्चर्यम् । वस्तुतस्तु छन्दोविदां परिभाषया 'ह्रद' पाठादरेऽपि न गुरुत्वम् , इति 'संयोगे गुरु' (१।४।११) सूत्रे सिद्धान्तकौमुदीविलासः । इति नि० सा० पुस्तके टिप्पण्युपलभ्यते । अत्र 'ह्रद' पाठादरे 'प्रह्रे वा' इति पिङ्गलसूत्रानुरोधात् संयोगपरत्वेऽपि न गुरुत्वमिति तदाशय इति बोध्यम् । ३. '—रुद्ध' इति पा० ।

प्रियतमके हाथको रमणीने अपने दोनों हाथोंसे रोक-सा लिया अर्थात् प्रियतम द्वारा नीविको खोलनेके लिए हाथ बढ़ानेपर स्वयं भी सम्भोगेच्छा रहनेपर रमणीने उसे केवल रोकनेका अभिनयमात्र किया--वास्तविकमें तो नहीं ही रोका ॥ ६० ॥

कामिनः कृतरतोत्सवकालक्षेपमाकुलवधूकरसङ्गि ।
मेखलागुणविलग्नमसूयां दीर्घसूत्रमकरोत्परिधानम् ॥ ६१ ॥

कामिन, इति ॥ आकुले प्रियकरनिवारणव्यग्रे वधूकरे सङ्गि सक्तं मेखलैव गुणस्तत्र विलग्नं दीर्घसूत्रं आतततन्तुकम् । अत्यायतत्वाद्बहुधा वेष्टितमित्यर्थः । चिरक्रियं च । 'दीर्घसूत्रश्चिरक्रियः' इत्यमरः । एवं कृतो रतस्यैवोत्सवस्य कालक्षेपः कालविलम्बो येन तत्परिधानमधोंऽशुकं कामिनोऽसूयामकरोत् । इच्छाविघातादीर्ष्यां जनयामासेत्यर्थः । अत्र करसङ्गादिपदार्थानां विशेषणगत्याऽसूयाहेतुत्वादनेकपदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ६१ ॥

(प्रियतमके अपनी नीविको खोलनेके लिए तत्पर हाथको रोकनेमें) आकुल रमणीके हाथमें पकड़ा गया, करधनीकी लड़ीके (बड़ी होनेसे उसमें) अनेक बार लपेटकर बांधा गया और रतोत्सवकाल में विलम्ब किया हुआ वह (रमणीका) वस्त्र कामियोंका ईर्ष्यापात्र हो गया ॥ ६१ ॥

अम्बरं विनयतः प्रियपाणेर्योषितश्च करयोः कलहस्य ।
वारणामिव विधातुमभीक्ष्णं [1]कक्ष्यया च वलयैश्च शिशिञ्जे ॥ ६२ ॥

अम्बरमिति ॥ अम्बरं विनयतोऽपसारयतः प्रियपाणेर्योषितः करयोश्च तस्मिन् रोधकयोरिति भावः । कलहस्य वारणां विधातुं निरावरणं कर्तुमिवेति फलोत्प्रेक्षा । कक्ष्यया काञ्च्या । 'कक्ष्या कक्षे वरत्रायां काञ्च्यां गेहप्रकोष्ठयोः' इति वैजयन्ती । 'कक्ष्या' इति क्षान्तपाठे तु 'कक्षा प्रहणिकाकाञ्चीप्रकोष्ठगजरज्जुषु' इति क्षान्तेषु विश्वः । वलयैः कङ्कणैश्चाभीक्ष्णं शिशिञ्जे चुक्रुशे । भावे लिट् । 'भूषणानां तु शिञ्जितम्' इत्यमरः । द्वयोः कलहायमानयोः पार्श्वस्थाः साक्रोशं निवारयन्तीति भावः । शिञ्जतिरयं तालव्यादिर्न दन्त्यादिः । 'योषेव शिङ्क्ते' इति श्रुतेः ॥ ६२ ॥

(रमणीकी कटिके) वस्त्रको हटाने (खोलने) में प्रवृत्त प्रियतमके हाथ और (उसे रोकनेवाले) रमणीके दोनों हाथोंके कलहको मानो रोकनेके लिए करधनी तथा कङ्कण बहुत हल्ला करने लगे, (तटस्थ व्यक्तिके समान जोरसे बोलकर मानो उन्हें रोकने लगे) ॥६२॥

ग्रन्थिमुद्ग्रथयितुं हृदयेशे वाससः स्पृशति मानधनायाः ।
भ्रूयुगेण सपदि प्रतिपेदे रोमभिश्च सममेव विभेदः ॥ ६३ ॥

---

१. 'कक्षया' इति पा० ।

ग्रन्थिमिति ॥ हृदयेशे प्रिये वाससो ग्रन्थिमुद्ग्रथयितुं विस्रंसयितुम् । ग्रथयते-श्शरादिकात्तुमुन् । स्पृशति सति मानधनाया मानवत्याः । कामिन्या इति शेषः । भ्रूयुगेण रोमभिश्च । 'कर्तरि तृतीया' इति तृतीया । सपदि समं युगपदेव विभेदो भङ्गो हर्षश्च प्रतिपेदे प्राप्तः । अत्र मानवत्त्वात्कामिनीत्वाच्च नीविस्पर्शे युगपदमर्षहर्षयोरुदयात्तदनुभावयोरपि युगपदाविर्भाव इति भावः । अत्र भ्रूभङ्गरोमाञ्चक्रिययोः समुच्चयात् समुच्चयभेदः स च विभेद इति श्लेषप्रतिभोत्थापिताभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्त्यनुप्राणित इति सङ्करः ॥ ६३ ॥

हृदयेश्वर (पति) के (रमणीके कटिमें पहने हुए कपड़ेकी) गांठको खोलनेके लिए वस्त्रका स्पर्श करनेपर मान ही है धन जिसका ऐसी अर्थात् अत्यन्त मानिनी रमणीकी दोनों भौंहें तथा सब रोएँ शीघ्र एक साथ ही विभिन्न हो गये अर्थात् क्रोधसे दोनों भौंहें टेढ़ी हो गयीं तथा (रमणीके भी सम्भोगार्थिनी होनेसे) रोएँ हर्षित हो गये ॥ ६३ ॥

आशु लङ्घितवतीष्टकराग्रे नीविमर्धमुकुलीकृतदृष्ट्या ।
रक्तवैणिकहताधरतन्त्रीमण्डलक्वणितचारु चुकूजे ॥ ६४ ॥

आश्विति ॥ इष्टस्य प्रियस्य कराग्रे नीविं वस्त्रग्रन्थिमाशु हठाल्लङ्घितवत्यतिक्रान्तवति । ऊरुमूलं गते सतीत्यर्थः । अर्धमुकुलीकृतदृष्ट्या सुखपारवश्यादर्धनिमीलिताक्ष्या स्त्रिया रक्तो रक्तकण्ठः स्वयं गानकुशलः । वीणा शिल्पमस्य वैणिको वीणावाद्यनिपुणः । 'शिल्पम्' (४।४।५५) इति ठक् । रक्तेन वैणिकेन यन्त्रगानकुशलेन हतं वादितं यदधरं तन्त्रीणां मण्डलं समूहः बहुतन्त्रीकस्वरमण्डलाद्विभेदस्तस्य क्वणितमिव चारु यथा तथा चुकूजे कूजितम् । भावे लिट् । अधरग्रहणं तन्त्रीमाधुर्यातिशयात् । स्पर्शसुखातिरेकार्थं तन्त्रीकण्ठस्वरव्यतिकरमनोहरः कोऽपि रससर्वस्वभूतः कण्ठकूजितविशेषः कृत इत्यर्थः । अत एव रक्तवैणिकहतेति विशेषणम् । क्वणितचार्वित्युपमालङ्कारः ॥ ६४ ॥

प्रियतमके कराग्र (हाथकी अङ्गुलियों) को नीविका अतिक्रमण (जघनस्पर्श) करनेपर (हर्षातिरेकसे) नेत्रोंको आधा बन्दकी हुई रमणी गाने तथा वीणा बजानेमें निपुण व्यक्तिके द्वारा बजाये गये अधर तन्त्री-समूहकी झन्कारके समान मनोहर अव्यक्त कूजन करने लगी ॥ ६४ ॥

आयताङ्गुलिरभूदतिरिक्तः सुभ्रुवां कृशिमशालिनि मध्ये ।
श्रोणिषु प्रियकरः पृथुलासु स्पर्शमाप सकलेन तलेन ॥ ६५ ॥

आयतेति ॥ आयता अङ्गुलयो यस्य स प्रियकरः । कृशस्य भावः कृशिमा कार्श्यम् । 'पृथ्वादिभ्य इमनिच्' (५।१।१२२) 'र ऋतो हलादेर्लघोः' (६।४।१६१)

इति रेफादेशः। तेन शालते शोभते तस्मिन् सुभ्रुवां मध्येऽतिरिक्तोऽधिकोऽभूत्। मध्यस्यातिकार्श्यादस्पृष्टैकदेशोऽभूदित्यर्थः। पृथुलासु श्रोणिषु कटिषु। 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्ला–' इति सूत्रेण श्रुधातोर्निप्रत्ययः। सफलेन कृत्स्नेन तलेन स्पर्शमाप। अन्तर्भागेन क्रमेण श्रोणिमस्पृशदित्यर्थः। अत एव मध्यातिरेकोक्तेरतिशयोक्तिः॥ ६५॥

बड़ी-बड़ी अङ्गुलियोंवाला प्रियतमका हाथ कृशतासे शोभनेवाले सुभ्रुओं (सुन्दर-टेढ़ी तथा श्यामल-भौंहोंवाली रमणियों) के कटिभागमें अधिक अर्थात् बड़ा हो गया (कटिभागके पतला तथा अङ्गुलियोंके बड़ी होनेसे हाथके असम्पूर्ण भागसे ही सम्पूर्ण भागका स्पर्श हो गया), तथा विशाल नितम्बोंको सम्पूर्ण हथेलीसे उस (प्रियतमके हाथ) ने स्पर्श किया। (इससे रमणीको कटिका कृशतम एवं नितम्बका विशालतम होना सूचित होता है)॥ ६५॥

चक्रुरेत्र ललनोरुषु राजीः स्पर्शलोभवशलोलकराणाम्।
कामिनामनिभृतान्यपि रम्भास्तम्भकोमलतलेषु नखानि॥ ६६॥

चक्रुरेवेति॥ स्पर्शलोभवशेनोरुस्पर्शतृष्णापारतन्त्र्येण लोलकराणां चपलपाणीनां कामिनामनिभृतान्यनर्पितान्यपि नखानि कररुहाः। 'पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। रम्भास्तम्भकोमलतलेषु कदलीप्रकाण्डपेलवस्वरूपेषु ललनानामूरुषु राजीः रेखाश्चक्रुरेव। ऊरुपरामर्शानान्तरीयकनखस्पर्शमात्रादेव रेखा जाता इत्यर्थः। अत्र कोमलतायाः विशेषणगत्या राजीकरणहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः॥ ६६॥

(मृदु तथा चिकना होनेके कारण सुखप्रद) स्पर्शके लोभके परवश होनेसे चञ्चल हाथवाले कामियोंके (नखक्षत करनेके लिए) अप्रेरित अर्थात् नहीं प्रयुक्त किये गये भी नखोंने केलेके खम्भेके समान कोमल तलवाले रमणियोंके जघनोंमें रेखाओंको कर ही दिया अर्थात् रमणियोंके कोमल जघनोंमें प्रियतमोंके चञ्चल हाथोंके नखोंका खरोंच लग ही गया॥६६॥

ऊरुमूलचपलेक्षणमघ्नन् यैर्वतंसकुसुमैः प्रियमेताः।
चक्रिरे सपदि तानि यथार्थं मन्मथस्य कुसुमायुधनाम॥ ६७॥

ऊर्विति॥ एताः स्त्रिय ऊरुमूले चपलेक्षणं लोलचक्षुषं प्रियं यैः वतंसकुसुमैः कर्णावतंसपुष्पैः। 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यकारलोपः। अघ्नन् अताडयन्। हन्तेर्लङ्। 'गमहन–' (६।४।९८) इत्यादिना उपधालोपः। 'हो हन्तेः–' (७।३।५४) इति कुत्वम्। तानि वतंसकुसुमानि सपदि मनो मथ्नातीति मन्मथः। पृषोदरादित्वात्साधुः। तस्य मन्मथस्य कुसुमायुधं यस्येति कुसुमायुध इति यन्नाम

१. '—मनिहितान्यपि······तरेषु' इति पा०।

तद्यथार्थं चक्रिरे चक्रुः। तदा तेषां तत्कार्यकारित्वादिति भावः। अत्र वतंसेष्वारोप्य-माणस्य मन्मथायुधत्वस्य प्रकृतोपयोगात् परिणामालङ्कारः॥ ६७॥

इन्हीं (कामिनियों) ने जघनमूलको चञ्चल नेत्रोंसे देखते हुए पतिको कर्णावतंसीभूत जिन पुष्पोंसे मारा, वे पुष्प मन्मथ (मनको मन्थन करनेवाले कामदेव)के कुसुमायुध (पुष्प ही हैं शस्त्र—बाण जिसके ऐसे) नामको शीघ्र ही चरितार्थकर दिये, (क्योंकि उन पुष्पोंके शरीरपर लगते ही वे पति कामपीडित हो गये)॥ ६७॥

धैर्यमुल्बणमनोभवभावा वामतां च वपुरर्पितवत्यः।
व्रीडितं ललितसौरतधाष्टर्यास्तेनिरेऽभिरुचितेषु तरुण्यः॥ ६८॥

धैर्यमिति। तरुण्यो रमण्य उल्बण उद्रिक्तो मनोभवभावो रतिरागो यासां ता अपि अभिरुचितेषु प्रियेषु धैर्यमौदासीन्यं च तेनिरे। वपुः स्वाङ्गमर्पितवत्यो यथेष्टकरणाय दत्तवत्योऽपि वामतां वक्रतां च तेनिरे। ललितं मनोहरं सौरतं सुरतसम्बन्धि धाष्टर्यं प्रागल्भ्यं यासां तास्तथापि व्रीडितं व्रीडां तेनिरे। इह स्त्रीणां रहसि रागाङ्गार्पणधाष्टर्यादिगुणा अप्यागन्तुकतया सहजधैर्यवक्रताव्रीडितैः पुनः पुनः प्रतिबध्यन्त एवेति भावः। अत्र रागादीनां धैर्यादिभिः सह समावेशविरोधस्य सहजागन्तुकाभ्यामाभासीकरणाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः, धैर्यादिगुणसमुच्चयात् समुच्चयालङ्कारश्चेति सङ्करः॥ ६८॥

तरुणियां तीव्रतम कामभाव (सम्भोगेच्छा) वाली होकर भी धीरताको, (सम्भोगार्थ) शरीरको समर्पणकी हुई भी प्रतिकूलताको और मनोहर सुरतसम्बन्धी धाष्टर्य (धृष्टता) युक्त होती हुई भी लज्जाको बढ़ा (दिखला) रही थीं॥ ६८॥

पाणिरोधमविरोधितवाञ्छं भर्त्सनाश्च मधुरस्मितगर्भाः।
कामिनः स्म कुरुते करभोरूर्हारि शुष्करुदितं च सुखेऽपि॥ ६९॥

पाणीति॥ 'मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः। करभ इव ऊरुर्यस्याः सा करभोरूः स्त्री। 'ऊरूत्तरपदादौपम्ये' (४।१।६९) इत्यूङ् प्रत्ययः। अविरोधितवाञ्छमनिवारितप्रियमनोरथं यथा तथा कामिनः पाणिरोधं नीविमोक्षणे व्यापृतस्य प्रियपाणेर्निवारणं कुरुते स्म। तथा मधुरं मनोहरं स्मितं गर्भेऽन्तर्वर्ति यासु ता मन्दहासमिश्राः भर्त्सनास्तर्जनाश्च कुरुते स्म। तथा सुखेऽपि अधरपीडनादौ सुखातिरेके सत्यपि हारि मनोहारि शुष्करुदितमनश्रुरवादनार्द्रं कृत्रिमरोदनं च कुरुते स्म। स्त्रीणामेष स्वभावो यदिष्टमप्यनिष्टतया निवारयन्त्य एव, सुरतसुखमुपभुञ्जत इत्यर्थः। अत्र सुखेऽपि दुःखवदुपचारात्कुट्टमिताख्योऽनुभावो द्रष्टव्यः। 'केशाधरादिग्रहणे मोदमानेऽपि मानसे। दुःखितेव बहिः कुप्येद्यत्र कुट्टमितं हि तत्॥' इति लक्षणात्॥ ६९॥

करभ (हाथकी कनिष्ठा अङ्गुलिसे कलाई तकका हथेलीके भाग) के समान (गावदुम—क्रमिक आरोहावरोहयुक्त) जघनोंवाली कोई रमणी पतिकी इच्छाका विरोध नहीं करती हुई भी उसके हाथको रोक रही थी, मधुर मुस्कान करती हुई उसे भर्त्सितकर रही थी और (अधरदंशन–स्तनमर्दन आदि करनेसे) सुख होनेपर भी मनोहर शुष्करोदन कर रही थी अर्थात् बनावटी रोना रो रही थी ॥ ६९ ॥

वारणार्थपदगद्गदवाचामीर्ष्यया मुहुरपत्रपया च ।
कुर्वते स्म सुदृशामनुकूलं प्रातिकूलिकतयैव युवानः ॥ ७० ॥

वारणार्थेति ॥ ईर्ष्यया अतिपीडनासहिष्णुतया, अपत्रपया च रहस्यप्रकाशनवैलक्ष्येण च मुहुर्वारणार्थपदेषु मा मेत्यादिनिषेधवाचकशब्दप्रयोगेषु गद्गदवाचां स्खलद्गिरां सुदृशां प्रतिकूलं वर्तन्त इति प्रातिकूलिकाः प्रतिकूलचारिणः । 'तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम्' (४।४।२८) इति ठक् । तत्तया प्रातिकूलिकतयैव प्रतिकूलाचरणेनैव युवानोऽनुकूलमिष्टं कुर्वते स्म । कृत्रिमनिवारणाद्यत्प्रतिकूलमिवाचरितमधरपीडनादिकं तत्तासामिष्टत्वादनुकूलमेवेति । प्रतिकूलाचरणमेवानुकूलं भवतीत्यर्थः । अत एव प्रतिकूलमप्यनुकूलमिति विरोधाभासोऽलंकारः ॥ ७० ॥

ईर्ष्या तथा निर्लज्जतासे (बस करो, हो चुका, मुझे छोड़ दो इत्यादि रूप) निषेधक पदोंको गद्गद वचनसे कहनेवाली सुलोचनाओंके प्रतिकूलाचरण करनेसे युवक उनके अनुकूल (अभिलषित अधरदंशन, स्तनपीडन आदि कार्य) करते थे ॥ ७० ॥

अन्यकालपरिहार्यमजस्रं तद्द्वयेन विदधे द्वयमेव ।
धृष्टता रहसि भर्तृषु ताभिर्निर्दयत्वमितरैरबलासु ॥ ७१ ॥

अन्येति ॥ अजस्रं नित्यमन्यकालपरिहार्यं सुरतेतरकाले तु त्याज्यं तद्द्वयं कर्म द्वयेन कर्त्रा विदधे विहितमेव । धाञः कर्मणि लिट् । एतदेव व्यनक्ति । रहसि ताभिरबलाभिर्भर्तृषु विषये धृष्टता विदधे । इतरैर्भर्तृभिरबलासु स्त्रीषु निर्दयत्वं च विदधे । अन्यदा यथा पुंसां स्त्रीषु दया तासां तेष्वप्रागल्भ्यमलंकारस्तद्वत् सुरतेषु तद्विरुद्धमेवालंकार इति भावः । अत्र स्त्रीपुंसधाष्टर्यनिर्दयत्वयोः प्रकृतयोर्विधानक्रियायोगपद्यं गम्यत इति तुल्ययोगिताभेदः ॥ ७१ ॥

दूसरे (सुरतसे भिन्न) समयमें सर्वदा छोड़ने योग्य उन दोनों कार्यों को ही दोनों (स्त्री–पुरुष) ने सुरतकालमें किया, प्रथम तो एकान्त (सम्भोगकाल) में रमणियोंने पतिके विषयमें धृष्टता की और उन पतियोंने रमणियोंके विषयमें निर्दयता की अर्थात् सम्भोगकालमें रमणीने पतिके विषयमें लज्जाको छोड़ा और पतिने स्त्रीके विषयमें दयाको छोड़ दिया ॥ ७१ ॥

बाहुपीडनकचग्रहणाभ्यामाहतेन नखदन्तनिपातैः ।
बोधितस्तनुशयस्तरुणीनामुन्मिमील [1]विशदं विषमेषुः ॥ ७२ ॥

बाह्विति ॥ तरुणीनां तनौ शेते इति तनुशयस्तनुषु सुप्तः । 'अधिकरणे शेते' (३।२।१५) इत्यच् प्रत्ययः । विषमेषुः कामः बाहुपीडनं निर्दयाश्लेषः, कचग्रहणं ताभ्यामाहतेन मुष्टिघातेन । नपुंसके भावे क्तः । नखानां दन्तानां च निपातैः क्षतैश्च बोधितः सन् विशदं निर्जाड्यं यथा तथा उन्मिमीलोद्बुद्धः । सर्वमेतत्कामस्योद्दीपकमासीदित्यर्थः । अत्र प्रकृतविषमेषु विशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतसुप्तप्रबुद्धपुरुषप्रतीतेः समासोक्तिरलंकारः । एवमेव प्रबोध्यते खलु निद्रालुरित्यलौकिके वस्तुनि लौकिकवस्तुव्यवहारसमारोपः ॥ ७२ ॥

युवतियोंके शरीरमें सोया (शिथिल पड़ा) हुआ काम (पतिके द्वारा किये गये) गाढालिङ्गन, केशग्रहण, नखक्षत और दन्तक्षतसे जगकर अतिशय बढ़ गया ॥ ७२ ॥

कान्तया सपदि कोऽप्युपगूढः प्रौढपाणिरपनेतुमियेष ।
संहतस्तनतिरस्कृतदृष्टिर्भ्रष्टमेव न दुकूलमपश्यत् ॥ ७३ ॥

कान्तयेति ॥ कान्तया सपदि वस्त्राकर्षणक्षण एवोपगूढ आश्लिष्टः कोऽपि युवा कामी प्रौढपाणिर्व्यग्रहस्तः सन् अपनेतुं दुकूलमाक्रष्टुमियेष । संहताभ्यां निरन्तरश्लिष्टाभ्यां स्तनाभ्यां तिरस्कृतदृष्टिस्तिरोहिताक्षः सन् भ्रष्टमेव प्रागेव स्रस्तं दुकूलं नापश्यत् । अत्र दृष्टितिरस्कारस्य विशेषणगत्या अदर्शनहेतुकत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । तच्च दृष्टेः स्तनतिरस्कारासम्बन्धेऽपि सम्बन्धरूपातिशयोक्त्युत्थापितमिति सङ्करः । तेन च कुचयोर्लोकोत्तरसौन्दर्यं व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ७३ ॥

(रमणीके द्वारा तत्काल (रमणीके वस्त्रको आकृष्ट करते समय) ही आलिङ्गित कोई प्रियतम हाथको चञ्चल (या—कड़ा) करके (उस रमणीके) कपड़ेको हटाना चाहा, क्योंकि (रमणीके) सटे हुए दोनों स्तनोंसे छिपी हुई दृष्टिवाला उस प्रियतमने गिरे हुए वस्त्रको नहीं देखा ॥ ७३ ॥

आहतं कुचतटेन तरुण्याः साधु सोढममुनेति पपात ।
त्रुट्यतः प्रियतमोरसि हारात्पुष्पवृष्टिरिव मौक्तिकवृष्टिः ॥ ७४ ॥

आहतमिति तरुण्याः सम्बन्धिना कुचतटेनाहतमाहतिरमुना उरसा साधु सोढमिति हेतोस्त्रुट्यतः शीर्यमाणाद्धारान्मौक्तिकवृष्टिः पुष्पवृष्टिरिव प्रियतमोरसि पपातेत्युत्प्रेक्षा । विक्रान्तः पूज्यते पुष्पवृष्ट्येति प्रसिद्धिः ॥ ७४ ॥

---

१. 'विशिखम्' इति पा० ।

युवतिके स्तनतटके आघातको इस (प्रियतमके वक्षःस्थल) ने अच्छी तरह सह लिया, मानो इसी कारणसे टूटते हुए हार (मुक्तामाला) से प्रियतमके वक्षःस्थलपर पुष्पवृष्टिके समान मोतियोंकी वृष्टि होने लगी अर्थात् युवतीके स्तनतटके आघातसे प्रियतमका हार टूट गया और उससे मोती गिरने लगे ॥ ७४ ॥

सीत्कृतानि मणितं करुणोक्तिः स्निग्धमुक्तमलमर्थवचांसि ।
हासभूषणरवाश्च रमण्याः कामसूत्रपदतामुपजग्मुः ॥ ७५ ॥

सीत्कृतानीति ॥ तरुण्याः सीत्कृतानि सीत्काराः । दन्तनिष्पीडनायां सीरिति शब्दप्रयोगः । मणितं रतिकाले स्त्रीणां कण्ठकूजितविशेषः । 'मणितं रतिकूजितम्' इत्यभिधानात् । करुणोक्तिः त्रायस्वेत्यादिदीनोक्तिः । स्निग्धं स्नेहार्द्रमुक्तमुक्तिः । त्वं मे प्राणा इति प्रियवाद इत्यर्थः । अलमर्थानि निषेधार्थानि वचांसि मा मेत्यादीनि वारणवचनानि । हासानां भूषणानां च रवाः स्वनाश्च कामसूत्रस्य वात्स्यायनादिकामतन्त्रप्रतिपादकशास्त्रस्य पदतां पद्यत इति पदमर्थः । प्रमेयलक्षणमिति यावत् । तत्तामुपजग्मुरिति गम्योत्प्रेक्षा । यद्वा कामेनैव कृतं सूत्रं तस्य पदानि सुप्तिङन्तशब्दरूपाणि तस्य शास्त्रस्यैतान्येव पदानि तत्तामुपजग्मुरित्युत्प्रेक्षैव ॥ ७५ ॥

रमणीके सीत्कार (दन्तक्षत करनेपर किया गया 'सी-सी' शब्द), मणित (रतिकालमें स्त्री द्वारा किया गया कण्ठका कूजित (अव्यक्त शब्द-विशेष), करुण वचन (मुझे क्षमा कर दो, इत्यादि दीनतापूर्वक बोलना), प्रेमयुक्त कथन (तुम मेरे प्राण हो इत्यादि स्नेहपूर्ण वचन), निषेधार्थक (बस हो चुका, ऐसा निर्दय व्यवहार मेरे साथ मत करो इत्यादि) वचन और हँसने तथा अलङ्कारोंकी ध्वनि—ये सब मानो (वात्स्यायनरचित) कामसूत्रके पद हो गये ॥ ७५ ॥

उद्धतैर्निभृतमेकमनेकैश्छेदवन्मृगदृशामविरामैः ।
श्रूयते स्म मणितं कलकाञ्चीनूपुरध्वनिभिरक्षतमेव ॥ ७६ ॥

उद्धतैरिति ॥ निभृतमनुद्धतम् । सूक्ष्ममित्यर्थः । एकमेकाकि छेदवद्विच्छेदयुक्तम् । मृगदृशां मणितं रतिकूजितम् उद्धतैः स्थूलैरनेकैर्बहुभिरविरामैरविच्छेदैः कलैरव्यक्तमधुरैः काञ्चीनां नूपुराणां च ध्वनिभिरक्षतमतिरस्कृतमेव श्रूयते स्म श्रुतम् । मणितस्य तिरोधायकशब्दान्तरसद्भावेऽपि तद्रूप्यानापत्तेरतद्गुणालंकारः । 'सति हेतावतद्रूपस्वीकारः स्यादतद्गुणः' इति लक्षणात् ॥ ७६ ॥

(रतिकालमें) अनुद्धत अर्थात् सूक्ष्म, अकेला तथा रुक-रुककर होनेवाला मृगनयनियोंका मणित (रतिकालमें होनेवाला अव्यक्त कण्ठरव) उद्धत अर्थात् उच्च स्वरसे युक्त, अनेक तथा निरन्तर होने वाले करधनी और नूपुरोंके अव्यक्त मधुर झन्कारोंसे अतिरोहित होकर सुनाई पड़ता था ॥ ७६ ॥

ईदृशस्य भवतः कथमेतल्लाघवं मुहुरतीव रतेषु ।
क्षिप्तमायतमदर्शयदुर्व्यां काञ्चिदाम जघनस्य महत्त्वम् ॥ ७७ ॥

ईदृशस्येति ॥ रतेषु उर्व्यां क्षिप्तं रतिसंभ्रमात्पतितम् आयतं दीर्घभूतं काञ्चिदाम रसनागुणः कर्तृ ईदृशस्येति काञ्चिदाम्नः स्वायामदृष्टान्तेन जघनपरिमाणप्रदेशेनेत्थं महत्तरस्यातिमहतस्तव जघनस्य रतेषूपरिसुरतेषु मुहुः कथमेतल्लाघवं मुहुरुत्पतनपाटवं यस्येत्थमायतमहमपि एकवेष्टनपर्याप्तमिति भावः । इति जघनस्य महत्त्वदर्शनादिव । इत्थं विस्मितस्येति शेषः । गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । अत्रोर्व्यामायतत्वनिमित्तकाञ्चीदामकर्तृकं विस्मयपूर्वकजघनमहत्त्वदर्शनमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ७७ ॥

(रतिकालमें दम्पतीके सम्भ्रमसे) पृथ्वीपर लम्बी पड़ी हुई करधनोकी लड़ोने, '(हे जघन !) ऐसे (जिसे मैं एक बार लपेट सकती हूँ, अथ च पृथ्वीपर पड़ी हुई मैं जितनी लम्बी हूँ—इतने) बड़े एवं भारी तुम्हारी रतिमें बार-बार (उत्पतनरूप) लघुता कैसे हो गयी है ?' इस प्रकार जघनके महत्त्व (विशालता तथा गुरुता) को दिखलाया ॥ ७७ ॥

प्राप्यते स्म गतचित्रकचित्रैश्चित्रमार्द्रनखलक्ष्म कपोलैः ।
[१]दध्रिरेऽथ रभसच्युतपुष्पाः स्वेदबिन्दुकुसुमान्यलकान्ताः ॥ ७८ ॥

प्राप्यत इति ॥ गतानि विमर्दात्प्रमृष्टानि चित्रकचित्राणि तमालपत्ररचनानि येषां तैः कपोलैरार्द्रं यन्नखलक्ष्म तदेव चित्रमिति रूपकम् । प्राप्यते स्म, प्राप्तम् । किं च रभसेन रतिसम्भ्रमेण च्युतपुष्पा अलकान्ताश्चूर्णकुन्तलाग्राणि स्वेदबिन्दुनेव कुसुमानीति रूपकम् । दध्रिरे दधुः । धरतेर्भौवादिकाल्लिटि ञित्वादात्मनेपदम् । स्वेदोऽत्र श्रमानुभवः । 'श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः श्वासस्वेदातिभूमिकृत्' ॥ ७८ ॥

(रतिकालमें परस्पर विमर्द होनेसे तमालपत्रादिकी रचनारूप) चित्र जिसके नष्ट हो गये हैं ऐसे (रमणियोंके) कपोलोंने सरस (अभिनव होनेसे आर्द्र) नखक्षतके चिह्नरूप चित्रको प्राप्त कर लिया और वेगसे जिनसे पुष्प गिर पड़े हैं ऐसे (रमणियोंके) केशाग्र (श्रमजन्य) स्वेदबिन्दुओंसे मानो पुष्पोंको धारण कर लिये ॥ ७८ ॥

यद्यदेव रुरुचे रु[२]चिरेभ्यः सुभ्रुवो रहसि तत्तदकुर्वन् ।
आनुकूलिकतया हि नराणामाक्षिपन्ति हृदयानि तरुण्यः ॥ ७९ ॥

यद्यदेवेति ॥ रुचिरेभ्यो रमणेभ्यो यद्यदेव चेष्टितं रुरुचे रोचते स्म । प्रियमभूदित्यर्थः । 'रुच दीप्तावभिप्रीतौ च' इति धातोर्लिट् । 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' (१।४। ३३) इति सम्प्रदानत्वम् । सुभ्रुवो रहसि तत्तदकुर्वन् । तथा हि—तरुण्यः अनुकूलं

१. 'दध्रिरे च' इति पा० । २. 'रुचितेभ्य' इति पा० ।

वर्तन्त इत्यानुकूलिकाः। 'तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम्' (४।४।२८) इति ठक् तासां भावस्तत्ता तया आनुकूलिकतया अनुकूलवर्तितयैव नराणां पुंसां हृदयान्याक्षिपन्त्यावर्जयन्तीत्यर्थान्तरन्यासः ॥ ७९ ॥

रुचिरों (हृदयको प्रिय लगनेवाले रमणों) को जो-जो रुचा (अच्छा लगा), सुभ्रुओं (सुन्दर भ्रूवाली रमणियों) ने वही वही किया, (उनका ऐसा करना स्वाभाविक ही था) क्योंकि युवतियां अनुकूल आचरणोंसे पुरुषोंके हृदयोंको वशमें कर लेती हैं ॥ ७९ ॥

प्राप्य मन्मथरसादतिभूमिं दुर्वहस्तनभराः सुरतस्य।
शश्रमुः श्रमजलार्द्रललाटश्लिष्टकेशमसितायतकेश्यः ॥ ८० ॥

प्राप्येति ॥ दुर्वहः स्तनभरो यासां ताः। एतेनोपरि सुरतं व्यज्यते। अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यात्। असिता आयताश्च केशा यासां ता असितायतकेश्यः स्त्रियः। 'स्वाङ्गाच्च-' (४।१।५४) इत्यादिना ङीष्। मन्मथरसात् स्मररागात् सुरतस्यातिभूमिं परां काष्ठां प्राप्य। महान्तं सुरतं प्राप्येत्यर्थः। श्रमजलेन स्वेदाम्बुना आर्द्रे ललाटे श्लिष्टाः केशा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा शश्रमुरिति। सानुभावस्य श्रमभावोक्तिः। भावनिबन्धनात् प्रेयोऽलंकारः ॥ ८० ॥

(सुरतजन्य श्रमके कारण) कठिनाईसे स्तनभारको ढो सकनेवाली तथा काले एवं लम्बे केशोंवाली रमणियां कामानुरागसे सुरतकी पराकाष्ठा (चरमसीमा) को पाकर ऐसी थक गयीं कि पसीनेके जलसे गीले (भींगे हुए, उन रमणियोंके) ललाटपर केश चिपक गये ॥ ८० ॥

अथ सुरतावसानं वर्णयति—

संगताभिरुचितैश्चलितापि प्रागमुच्यत चिरेण सखीव।
भूय एव समगंस्त रतान्ते ह्रीर्वधूभिरसहा विरहस्य ॥ ८१ ॥

संगताभिरिति ॥ उचितैः परिचितैः प्रियतमैः सह संगताभिर्वधूभिः प्राक् सुरतादौ चलिता गन्तुं प्रचलितापि ह्रीः सखीव चिरेणामुच्यत मुक्ता। न सहत इत्यसहा। पचाद्यजन्तेन नञ्समासः। विरहस्यासहा। विरहमसहमाना सतीत्यर्थः। 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५) इति कर्मणि षष्ठी। रतान्ते भूय एव वधूभिः समगंस्त संगता सखीवेत्येव। संपूर्वाद्गमेर्लुङ् 'समो गम्यृच्छिभ्याम्-' (१।३।२९) इत्यात्मनेपदम्। 'वा गमः' (१।२।१३) इति सिचः पक्षे कित्त्वाभावात् 'अनुदात्तोपदेश-' (६।४।३७) इत्यादिनानुनासिकलोपो न। सुरतेतरकाले स्त्रीणां लज्जैव भूषणमिति भावः। उपमालंकारः ॥ ८१ ॥

---

१. '—मदा—' इति पा०

परिचितों (प्रियतमों) से सङ्गत रमणियोंने (दम्पत्तियोंके साथ रहना अनुचित होनेसे) सुरतके पहले वहाँसे जानेके लिए तत्पर लज्जाको सखीके समान छोड़ दिया था, रमणियोंके विरहको नहीं सह सकनेवाली वही लज्जा सखीके समान रतिके बादमें पुनः उन रमणियोंसे आकर मिल गयी ॥ ८१ ॥

प्रेक्षणीयकमिव क्षणमासन् ¹ह्रीविभङ्गुरविलोचनपाताः ।
संभ्रमद्रुतगृहीतदुकूलच्छाद्यमानवपुषः सुरतान्ताः ॥ ८२ ॥

प्रेक्षणीयकमिति ॥ ह्रिया विभङ्गुराः स्खलिता विलोचनपाता दृष्टिपाता येषु ते संभ्रमेण द्रुतं गृहीतेन दुकूलेन छाद्यमानानि वपूंषि अन्तरङ्गाणि येषु ते सुरतान्ताः सुरतावसानानि क्षणं प्रेक्षणीयकं दृश्यमिवासन्नित्युपमा । नाटकादिरूपकेष्वाहार्यकं वस्तु तद्दृश्यं प्रेक्षणीयकमिति चोच्यते । इहाविर्भावतिरोधानादिना तत्तुल्यत्वम् ॥

लज्जासे स्खलित दृष्टिपातवाले तथा सम्भ्रमसे शीघ्र ग्रहण किये गये कपड़ेसे ढके जा रहे हैं शरीर जिनमें ऐसे सुरतावसान क्षणमात्र नाटकके समान हो गया, (क्योंकि नाटकके अन्तमें जिस प्रकार पर्दा झट गिराकर दृश्यपदार्थको आच्छादित कर दिया जाता है, उसी प्रकार इस सुरतान्तमें भी रमणियोंने झटपट कपड़ेको गिराकर उससे अपने शरीरको आच्छादित कर लिया) ॥ ८२ ॥

अप्रभूतमतनीयसि तन्वी काञ्चिधाम्नि पिहितैकतरोरु ²।
क्षौममाकुलकरा विचकर्ष क्रान्तपल्लवमभीष्टतमेन ॥ ८३ ॥

अप्रभूतमिति ॥ तन्वी कृशाङ्गी अभीष्टतमेन प्रेयसा क्रान्तपल्लवं गृहीताञ्चलम् अत एवातनीयसि महीयसि काञ्चिधाम्नि जघने अप्रभूतं छादयितुमपर्याप्तम् । अत एव पिहितश्छादित एकतर एवोरुर्येन तत् क्षौमं दुकूलम् आकुलकरा व्यग्रपाणिः सती विचकर्ष कृत्स्नापिधानार्थमाचकर्ष । लज्जानुभावोऽयम् । अत्र क्षौमविशेषणानामाकर्षणहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलंकारः ॥ ८३ ॥

कृशाङ्गीने प्रियतमसे पकड़े गये अञ्चलवाले (अतएव) विशालतम तथा काञ्चनके समान गौरवर्ण जघनपर अपर्याप्त अर्थात् जघनोंको ढकनेमें असमर्थ (अत एव) एक ही जघनको ढके हुए रेशमी साड़ीको दोनों जघनोंको ढकनेके लिए व्यग्र हाथों से खींचा ॥ ८३ ॥

मृष्टचन्दनविशेषकभक्तिर्भ्रष्टभूषणकदर्थितमाल्यः ।
सापराध इव मण्डनमासीदात्मनैव सुदृशामुपभोगः ॥ ८४ ॥

मृष्टेति ॥ मृष्टा प्रमृष्टा चन्दनानां विशेषकाणां तमालपत्राणां च भक्ती रचना

१. 'ह्रीत—' इति पा० । २. 'तरोरूः' इति पा० ।

येन सः । 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्' इत्यमरः । भ्रष्टानि भूषणानि यस्मिन् स भ्रष्टभूषणः कुत्सितोऽर्थः कदर्थः । लोकतो विशेषलिङ्गत्वम् । 'कोः कत्तत्पुरुषेऽचि' (६।३।१०१) इति कुशब्दस्य कदादेशः । कदर्थानि कृतानि कदर्थितानि दूषितानि माल्यानि येन सः । ततस्तयोर्वैवक्षिकविशेष्यविशेषणभावाद्विशेषणसमासः । एवंभूत उपभोगः सापराध इव पूर्वमण्डनापहारात् कृतापराध इव सुदृशामात्मनैव स्वयमेव । प्रकृत्यादित्वात्तृतीया । मण्डनमासीत् । प्रतिनिधिकरणेन स्वापराधनिरासार्थमिवेत्युत्प्रेक्षा । स्त्रीणां संभोग एव मण्डनं तदभावे मण्डनान्तरस्याप्यमण्डनत्वादिति भावः ॥ ८४ ॥

चन्दनके तिलक तथा तमालपत्रोंकी रचना को नष्ट करने (पोछकर छुड़ा देने) वाला, आभूषणोंको गिरा देनेवाला तथा पुष्पमालाओंको मर्दित कर देनेवाला उपभोग (उक्त मण्डनोंको नष्ट-भ्रष्ट कर देनेसे) अपराधी-सा होकर सुलोचनाओंका स्वयमेव मण्डन (अलङ्कृत करनेवाला शृङ्गारसाधन) बन गया ॥ ८४ ॥

योषितः पतितकाञ्चनकाञ्चौ मोहनातिरभसेन नितम्बे ।
मेखलेव परितः स्म विचित्रा राजते नवनखक्षतलक्ष्मीः ॥ ८५ ॥

योषित इति ॥ मोहनातिरभसेन सुरतसंभ्रमेण पतिता काञ्चनी काञ्चनस्य विकारा काञ्चिर्यस्मात्तस्मिन्निर्मेखले योषितो नितम्बे परितः सर्वतो विचित्रा विविधरचना नवनखक्षतलक्ष्मीर्मेखलेव राजते स्म । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥ ८५ ॥

सुरतके वेगाधिक्यसे करधनीके गिरनेसे करधनीशून्य रमणीके नितम्बपर चारों ओर विशिष्ट रचनायुक्त नवीन नखक्षतकी सुन्दरता करधनीके समान शोभती थी ॥ ८५ ॥

भातु नाम सुदृशां दशनाङ्कः पाटलो धवलगण्डतलेषु ।
दन्तवाससि समानगुणश्रीः संमुखोऽपि परभागमवाप ॥ ८६ ॥

भात्विति ॥ सुदृशां संबन्धी पाटलोऽरुणो दशनाङ्को दन्तक्षतं धवलगण्डतलेषु कपोलेषु भातु नाम वैवर्ण्याद्भेदेन प्रकाशताम् । नामेत्यङ्गीकारे । दन्तवाससि अधरे तु समानगुणश्रीस्तुल्यवर्णोऽपि तथा संमुखोऽपि सन् परभागं गुणोत्कर्षं तथा पश्चाद्भागं चावाप इति सावर्ण्यवैवर्ण्ययोःसंमुखपराङ्मुखत्वयोश्च विरोधः । उपरिभागमवापेत्युभयत्र परिहाराद्विरोधाभासद्वयसंसृष्टिः । तत्राद्यः श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायमूलस्तद्गुणोत्थापित इति संकरः ॥ ८६ ॥

सुन्दर नेत्रोंवाली रमणियोंके (चन्दन-कुङ्कुमादिरचित पत्ररचनासे नष्ट हो जानेसे) स्वच्छ कपोलतलोंपर (चुम्बनकालजनित) लाल-लाल दन्तक्षत (दोनोंके भिन्न-भिन्न) वर्ण होनेसे भले ही शोभित हों, किन्तु अधरपर समान वर्णवाला तथा सम्मुख भी वर

(दन्तक्षत) चिह्न गुणके उत्कर्षको प्राप्त कर रहा था अर्थात् अधिक सुन्दर लग रहा था (पक्षा०—पीछे हो रहा था अर्थात् समान वर्ण होनेसे स्पष्ट दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था) ॥

सुभ्रुवामधिपयोधरपीठं पीडनैस्त्रुटितवत्यपि पत्युः ।
मुक्तमौक्तिकलघुर्गुणशेषा हारयष्टिरभवद् गुरुरेव ॥ ८७ ॥

सुभ्रुवामिति ॥ सुभ्रुवां पयोधरपीठके कुचतटे अधिपयोधरपीठम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । पत्युः पीडनैः परिरम्भादिविमर्दैस्त्रुटितवती छेदं गतापि । अत एव मुक्तमौक्तिका ला च सा लघुश्च अतएव गुणशेषा सूत्रमात्रशेषापि हारयष्टिर्गुरुः श्लाघ्यैवाभवत् । लघुरिति गुरुरिति विरोधाभासोऽलंकारः ॥ ८७ ॥

सुन्दर भ्रूवाली रमणियोंके स्तनोपर (सुरतमें) वेगपूर्वक आलिङ्गनादि करनेसे टूटी हुई और सब मोतियोंके गिर जानेपर धागामात्र बचनेसे हलकी हुई भी हारकी लड़ी गौरवान्वित (भारीपनसे युक्त—भारवती. पक्षा०—श्लाघ्य ही हुई ॥ ८७ ॥

विश्रमार्थमुपगूढमजस्रं यत्प्रियैः प्रथमरत्यवसाने ।
योषितामुदितमन्मथमादौ तद्द्वितीयसुरतस्य बभूव ॥ ८८ ॥

विश्रमेति ॥ योषितां प्रथमरत्यवसाने विश्रमार्थं श्रमापनोदार्थम् । श्राम्यतेर्घञ्प्रत्ययः । 'नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः' (७।३।३४) इति वृद्ध्यभावः । अजस्रं प्रियैरुपगूढमुपगूहनम् । नपुंसके भावे क्तः । 'न लोका–' (२।३।६९) इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । उदितमन्मथमुत्पादितकामम् । अतएव तदुपगूहनं द्वितीयसुरतस्यादौ बभूव । श्रमापनोदमन्मथोद्बोधाभ्यामुभयोपयोगादुभयार्थमभूत् । संयोगपृथक्त्वन्यायादित्यर्थः । अत्र मध्यवर्तिन उपगूढस्यैकस्यपूर्वोत्तरसुरतशेषत्वेन विशेषणगत्या विश्रमार्थोदितमन्मथपदार्थयोर्हेतुत्वात्काव्यलिङ्गद्वयं तदङ्गाङ्गिभावेन संकीर्यते ॥ ८८ ॥

रमणियोंके प्रथम रतिके बादमें थकावटको दूर करनेके लिए प्रियतमोंने जो आलिङ्गन किया, कामदेवको उद्दीप्त किया हुआ वह आलिङ्गन द्वितीय रतिका आरम्भ हो गया । (थकावट दूर होनेसे तथा कामदेवके पुनः उद्दीप्त हो जानेसे वह दोनोंके लिए हुआ) ॥ ८८ ॥

आस्तृतेऽभिनवपल्लवपुष्पैरप्यनारतरयाभिरताभ्यः ।
दीयते स्म शयितुं शयनीये न क्षणः क्षणदयापि वधूभ्यः ॥ ८९ ॥

आस्तृत इति ॥ अनारतमश्रान्तं रते सुरते अभिरताभ्य आसक्ताभ्यो वधूभ्यः क्षणमुत्सवसुखं ददातीति क्षणदा रात्रिस्तयाप्यभिनवैः पल्लवैः पुष्पैश्चास्तृत आच्छादितेऽपि । सुखशयनार्हेऽपीत्यर्थः । शेतेऽस्मिन्निति शयनीये तल्पे । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३।३।११३) इत्यधिकरणेऽनीयर् । शयितुं शयनं कर्तुं क्षणोऽल्पकालोऽपि न दीयतेस्म न दत्तः किंत्वाप्रभातमरमयत् । क्षणदात्वादेवेति भावः । क्षणदयापि क्षणो

न दत्त इति विरोधस्योत्सवार्थत्वेन परिहाराद्विरोधाभासोऽलंकारः। 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इत्यमरः॥

निरन्तर सुरतमें संलग्न रमणियोंके लिये क्षणदा (रात्रि, पक्षा०—क्षण अर्थात् उत्सवको देनेवाली) ने भी ताजे-ताजे पल्लवों तथा फूलोंसे ढकी हुई शय्या पर सोनेके लिए क्षण (मात्र समय) भी नहीं दिया था अर्थात् रमणियाँ रातभर सुरतमें ही संलग्न रहीं एक क्षण भी नहीं सो सकीं ॥ ८९ ॥

योषितामतितरां नखलूनं गात्रमुज्ज्वलतया न खलूनम्।
क्षोभमाशु हृदयं नयदूनां रागवृद्धिमकरोन्न यदूनाम्॥ ९०॥

योषितामिति॥ नखलूनं न खलु ऊनम्। नयत् ऊनां न यदूनाम् इति पदच्छेदः। अतितरामतिमात्रम्। अव्ययादामुप्रत्ययः। नखैर्लूनं क्षतं नखलूनम्। 'ल्वादिभ्यः' (८।२।४४) इति निष्ठानत्वम्। तथाप्युज्ज्वलतया औज्ज्वल्येन न ऊनं न न्यूनम्। किं तु समग्रमेवेत्यर्थः। नखक्षतानां कामिनीगात्रमण्डनत्वादिति भावः। अत एवाशु हृदयं प्रियचित्तं क्षोभं विकारं नयत् प्रापयत्। नयतेर्लटः शत्रादेशः। योषितां गात्रं यदूनां यादवानां रागवृद्धिमूनां न्यूनां नाकरोत् खलु। किं तु भूयोऽपि समग्रमेवाकरोदित्यर्थः। अत्र यमकं शब्दालंकारः। औज्ज्वल्यस्य विशेषणगत्या रागवृद्धिहेतुत्वात्काव्यलिङ्गमर्थालंकारः॥ ९०॥

अत्यधिक नखक्षत युक्त (तथापि) उज्ज्वलतासे अन्यून अर्थात् परिपूर्ण (कामिनियोंके शरीरका भूषण-स्वरूप होनेसे शोभता हुआ अतएव) शीघ्र ही (प्रियतमके) चित्तको (कामजन्य विकारसे) क्षुब्ध करता हुआ रमणियोंका अङ्ग यादवोंके अनुरागको कम नहीं बढ़ाया अर्थात् नखक्षतोंसे युक्त रमणियोंके अङ्गोंको देखकर यादव पुनः कामविकारसे क्षुब्ध होकर पूर्णतः अनुरागी हो गये॥ ९०॥

इति मदमदनाभ्यां रागिणः स्पष्टरागाननवरतरतश्रीसङ्गिनस्तानवेक्ष्य।
अभजत परिवृत्तिं साथ पर्यस्तहस्ता रजनिरवनतेन्दुर्लज्जयाधोमुखीव॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्र्यङ्के सुरतवर्णनो नाम दशमः सर्गः॥ १०॥

इतीति॥ इतीत्थं मदमदनाभ्यां स्पष्टरागान् सर्वदा रागित्वेऽपि तदा। ताभ्यामपि व्यञ्जितरागानित्यर्थः। अनवरतरतश्रीसङ्गिनः अविच्छिन्नसुरतसंपत्संपन्नांस्तान् रागिणो रागिण्यश्च रागिणश्चतान् रागिणः। 'पुमान्स्त्रिया' (१।२।६७) इत्येकशेषः। अवेक्ष्य अथावेक्षणानन्तरं पर्यस्तः परिवृत्तो हस्तो नक्षत्रविशेषः, करश्च यस्याः सा। 'हस्तो नक्षत्रभेदे स्यात्करेभकरयोरपि' इत्युभयत्रापि विश्वः। अवनतेन्दुः स्रस्तचन्द्र

अत एव सा रजनिर्लज्जया। ग्राम्यचेष्टादर्शनजनितयेति भावः। अधोमुखी नम्रमुखी-वेत्युत्प्रेक्षा। परिवृत्तिं निवृत्त्युन्मुखतामभजत। प्रभातप्रायाऽभूदित्यर्थः। स्त्रियो हि परकीयग्राम्यचेष्टादर्शने त्रपावनतमुख्यो हस्तेन दृष्टिमन्तर्धाय द्रागपसरन्तीति भावः। अत एवानन्तरसर्गे प्रभातवर्णनाय प्रस्तावः। मालिनीवृत्तमेतत्। लक्षणं तूक्तं वक्ष्यते चोत्तरसर्गादौ॥ ९१॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते शिशुपालवध-काव्यव्याख्याने सर्वंकषाख्ये दशमः सर्गः॥ १०॥

इस प्रकार मद (मद्यपानके नशे) तथा कामदेवसे (पहलेसे अनुरागी होनेपर भी इस सुरतकालमें) अभिव्यक्त राग (अनुराग) वाले, अतएव निरन्तर सुरतश्रीमें आसक्त रागियों (अनुरागिणी रमणियों तथा अनुरागी रमणों) को देखकर हस्त (हाथ, पक्षा०—हस्त नक्षत्र) को घुमाकर अर्थात् नीचे की ओर करके और नम्र (अस्त होते हुए) चन्द्रवाला रात्रि मानो लज्जासे अधोमुखी होकर निवृत्तिको प्राप्त हुई अर्थात् समाप्तप्राय हो गयी।

विमर्श—जिस प्रकार कोई स्त्री किसी दूसरे स्त्री-पुरुषके सम्भोगमें अत्यासक्तिरूप अश्लीलताको देखकर तथा हाथको हिलाकर लज्जासे मुखको नीचा करके फेर लेती है, उसी प्रकार मानो रजनी भी सुरतमें अत्यासक्त होनेसे अपने अनुरागको बाहर प्रदर्शित करते हुए देखकर हाथको घुमाकर (हस्त नक्षत्रकी ताराको नीचाकर) मुखचन्द्रको लज्जासे नम्रकर (चन्द्रमाको अस्तोन्मुखकर) पराङ्मुखी हो गयी (लौट पड़ी अर्थात् बीत गयी)॥ ९१॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'सुरतवर्णन' नामक दशम सर्ग समाप्त हुआ॥१०॥

समाप्तमिदं पूर्वार्धम्।

अथोत्तरार्धम्

एकादशः सर्गः

अथ प्रस्तुतं प्रभातवर्णनं प्रारभते—

श्रुतिसमधिकमुच्चैः पञ्चमं पीडयन्तः
सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम् ।
प्रणिजगदुरका[1]कुश्रावकस्निग्धकण्ठाः
परिणतिमिति रात्रेर्मागधा माधवाय ॥ १ ॥

श्रुतीति ॥ नास्ति काकुर्यस्येत्यकाकुः अविकृतध्वनिः । 'काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेः' इत्यमरः । श्रावयतीति श्रावको दूरध्वनिः । स्निग्धो मधुरः कण्ठः स्वरो येषां ते अकाकुश्रावकस्निग्धकण्ठाः । रक्तकण्ठा इत्यर्थः । मागधा वैतालिकाः । श्रुतयो नाम षड्जादिस्वरारम्भकावयवाः शब्दविशेषाः । तदुक्तम्— 'प्रथमश्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रिकः । सा श्रुतिः संपरिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा ॥' इति । ताभिः श्रुतिभिः समधिकं बहुलं षड्जविशेषणं, पञ्चमविशेषणं वा, उभयोरपि तथात्वात् । तदुक्तम्—'चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपञ्चमाः । द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रींस्त्रीनृषभधैवतौ ॥' इति षड्जो मयूरस्य कूजितानुकारी स्वरविशेषः । 'षड्जं मयूरो वदति' इति लक्षणात् । तं षड्जं भिन्न एव भिन्नकस्तं कृत्वा भिन्नकीकृत्य । तत्कालनिषिद्धस्वरासंकीर्णं कृत्येत्यर्थः । पञ्चमो नाम कोकिलकूजितानुकारी स्वरविशेषः । 'पिकः कूजति पञ्चमम्' इति लक्षणात् । तं पञ्चमं पीडयन्तः । तत्कालनिषेधात्परित्यजन्त इत्यर्थः । सततं वीणादिवाद्ययुक्तम् । 'ततं वीणादिकं वाद्यम्' इत्यमरः ऋषभोऽपि वृषभनर्दितानुकारी स्वरभेद एव । 'गावस्त्वृषभभाषिणः' इति लक्षणात् । तेन हीनम् । तस्यापि तत्कालनिषिद्धत्वादित्यर्थः । सततं ऋषभहीनं च यथा तथा रात्रेः परिणतिम् । परिवृत्तिमित्यर्थः । इति वक्ष्यमाणप्रकारेणोच्चैर्यथा तथा माधवाय कृष्णाय । क्रियाग्रहणात्सम्प्रदानत्वम् । प्रणिजगदुः । गानेनाचख्युरित्यर्थः । 'नेर्गदनद—' (८।४।१७) इत्यादिना णत्वम् । पञ्चमादिनिषेधे भरतः । 'प्रभाते सुतरां निन्द्य ऋषभः पञ्चमोऽपि च । जनयेत्प्रधनं ह्येवा पञ्चत्वं पञ्चमोऽपि

---

१. 'काकि—' इति पा० ।

च ॥ पञ्चमस्य विशेषोऽयं कथितः पूर्वसुरभिः। प्रगे प्रगीतो जनयेद्दशनस्य विपर्ययम् ॥' इति। वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः। अस्मिन्सर्गे मालिनी वृत्तम्। 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

(अब पूर्व सर्गके अन्तिम श्लोक (१०।९१) में प्रस्तुत प्रभातकालका वर्णन करनेके लिए महाकवि 'माघ' एकादश सर्गका प्रारम्भ करते हैं) बहुत दूर तक सुनाई पड़नेवाली विकारहीन ध्वनि वाले एवं मधुर कण्ठवाले बन्दी लोग श्रुति (स्वरारम्भके शब्द-विशेष) से अतिशयित षड्ज स्वरको छोड़कर एवं पञ्चम स्वरको पीडित करते हुए अर्थात् पञ्चम स्वरको भी छोड़कर वीणादि वाद्योंके साथ (या-सर्वदा) ऋषभ स्वरको भी छोड़कर रात्रिके परिणाम अर्थात् समाप्तिको इस प्रकार (११।१-६७) श्रीकृष्ण भगवान्से गानद्वारा कहने लगे।

विमर्श—प्रातःकालमें पञ्चम, षड्ज तथा ऋषभ स्वरसे गायनका निषेध होनेसे उनका त्यागकर प्रभातका वर्णन करते हुए बन्दी लोग श्रीकृष्ण भगवान्को जगानेके लिए गान करने लगे ॥ १ ॥

अथ पूर्वश्लोके इतिशब्दपरामृष्टानपररात्रप्रभृत्युत्तरोत्तरक्रमभाविनः प्रभातवृत्तान्तानासर्गसमाप्ति वर्णयन्नाह—

रतिरभसविलासाभ्यासतान्तं न याव-
न्नयनयुगममीलत्तावदेवाहतोऽसौ।
रजनिविरतिशंसी कामिनीनां भविष्य-
द्विरहविहितनिद्राभङ्गमुच्चैर्मृदङ्गः ॥ २ ॥

रतीति ॥ रतिरभसविलासानां सुरतसंभ्रमलीलानामभ्यासेनावर्तनेन तान्तं क्लान्तं नयनयुगं कर्तृ। कामिनामिति शेषः। यावन्नामीलन्न मुकुलीभवति तावदेवासौ रजनिविरतिशंसी निशावसानसूचक उच्चैर्मृदङ्गः कामिनीनां भविष्यता उत्तरक्षणभाविना विरहेण विहितः कृतो निद्राभङ्गो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा आहतस्ताडितः। अत्र विरहशब्देन सामर्थ्यात्तच्चिन्ता लक्ष्यते। अन्यथा असतः साम्प्रतिकनिद्राभङ्गहेतुत्वायोगादिति। अत्र रतितान्तत्वरजनिविरतिशंसनयोर्विशेषणगत्या नेत्रनिमीलननिद्राभङ्गहेतुत्वात्पदार्थहेतुके काव्यलिङ्गे ॥ २ ॥

सुरतोत्कण्ठामें बार-बार विलास करनेसे खिन्न (आलसी) दोनों नेत्र जबतक बन्द भी नहीं हुए अर्थात् जबतक कामिजनोंको अच्छी तरहसे निद्रा भी नहीं आयी, तभी तक रात्रिके पूरा होनेकी सूचना देनेवाला मृदङ्ग (कामिजनोंके) वियोगकी (चिन्तासे) नींदको भङ्ग करता हुआ उच्च स्वरसे बजने लगा ॥ २ ॥

---

१. 'रत—' इति पा०।

स्फुटतरमुपरिष्टादल्पमूर्तेर्ध्रुवस्य
स्फुरति सुरमुनीनां मण्डलं व्यस्तमेतत् ।
शकटमिव महीयः शैशवे शार्ङ्गपाणे-
श्चपलचरणकाञ्जप्रेरणोत्तुङ्गिताग्रम् ॥ ३ ॥

स्फुटेति ॥ अल्पमूर्तेर्दूरत्वात्सूक्ष्मबिम्बस्य ध्रुवस्यौत्तानपादेः । 'ध्रुव औत्तानपादिः स्यात्' इत्यमरः । उपरिष्टात्स्फुटतरमुज्ज्वलतरं व्यस्तं पर्यस्तमेतत्सुरमुनीनां सप्तर्षीणां मण्डलं शार्ङ्गपाणेः केशवस्य कृष्णस्य । तवेत्यर्थः । शैशवे प्रचलितस्य चपलस्य चरणकाञ्जस्याल्पचरणारविन्दस्य । 'अल्पे' (५।३।८५) इत्यल्पार्थे कन्प्रत्ययः । प्रेरणया नोदनेनोत्तुङ्गीकृतमग्रं यस्य तत् । विपर्यासिताग्रमित्यर्थः । महीयो महत्तरं शकटमिव शकटाकारं शकटासुरशरीरमिव स्फुरति दीप्यते । उपमालङ्कारः । पुरा किल बाल्ये कृष्णः शकटरूपधारिणं शकटासुरं पादघातेन पातयामासेति पौराणिकी कथाऽत्रानुसंधेया ॥ ३ ॥

(दूरवर्ती होनेसे) सूक्ष्म आकारवाली ध्रुव ताराके ऊपर स्पष्ट चमकता एवं फैला हुआ यह सप्तर्षि–मण्डल (सप्तर्षियोंकी सात तारायें), बाल्यावस्थामें श्रीकृष्णभगवान्‌के चपल चरणकमल द्वारा मारनेसे ऊपर उठे हुए अग्रभागवाले विशाल शकट (शकटासुर) के समान शोभता है ॥ ३ ॥

प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जागृहीति ।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां ददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः ॥

प्रहरकमिति ॥ स्वं स्वकीयम् । स्वपाल्यमित्यर्थः । प्रहर एव प्रहरको यामः । 'द्वौ यामप्रहरौ समौ' इत्यमरः । तमपनीय नीत्वा निदिद्रासता निद्रातुमिच्छता । निद्रातेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः । केनचिदतीतप्रहरपालेनेत्यर्थः । जागृहि प्रबुध्यस्वेति प्रतिपदं पदे पदे उच्चैरुपहूतो मनुष्योऽनन्तरयामिको मुहुर्निद्रया अविशदवर्णामस्पष्टाक्षरामत एव शून्यशून्यां शून्यप्रकाराम् । अनर्थप्रायामित्यर्थः । 'प्रकारे गुणवचनस्य' (८।१।१२) इति द्विर्भावः 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' (८।१।११) इति कर्मधारयवद्भावाद्वयवसुपो लुक् गिरमयमहं जागर्मीति प्रतिवाचं ददपि प्रयच्छन्नपि । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) इति नुमागमप्रतिषेधः । अन्तः अन्तःकरणे नो बुध्यते न जागर्ति । बुध्यतेर्दैवादिकात्कर्तरि लट् । अत्राप्रबोधप्रतिवचनदानयोर्विरोधे अपिशब्दः । निद्राह्वानाभ्यां तत्समाधानाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ४ ॥

अपने प्रहर (पहरेके घण्टों) को पूराकर सोनेके लिए चाहता हुआ पहरेदार ने आगे पहरादेनेवाले साथीको 'जागो, उठो' ऐसा उच्च स्वरसे बार-बार कहकर जगाया, किन्तु नींदसे अस्पष्ट अक्षरोंको एवं अर्थरहित वचनको कहता हुआ भी वह मनुष्य (दूसरा पहरेदार) भीतरसे (अच्छी तरह) नहीं जागा ॥ ४ ॥

विपुलतरनितम्बाभोगरुद्धे रमण्याः
शयितुमनधिगच्छञ्जीवितेशोऽवकाशम् ।
रतिपरिचयनश्यन्नैद्रतन्द्रः कथंचि-
द्गमयति शयनीये शर्वरीं किं करोतु ॥ ५ ॥

विपुलेति ॥ रमण्या विपुलतरस्य नितम्बस्याभोगेन विस्तारेण रुद्धे आक्रान्ते शयनीये शयितुमवकाशमनधिगच्छन्नलभमानो जीवितेशः प्रेयान् रतिपरिचयेन पुनःपुनः सुरतावृत्त्या नश्यन्ती निवर्तमाना निद्राया इयं नैद्री निद्राप्रयुक्ता तन्द्रा आलस्यं यस्य स तथाभूतः सन् शर्वरीं कथंचिद्गमयति कृच्छ्रेण नयति । किं करोतु किमन्यत्कुर्यात् । शयनानवकाशे सुरतमेव कालयापनोपाय इति तत्रैव प्रवृत्त इति भावः । अत्र शयनीयस्येद्दग्रोधासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः । तादृग्रोधस्य विशेषणगत्या शयनावकाशाधिगमहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेद इति सङ्करः ॥५॥

रमणीके अतिशय बड़े बड़े नितम्ब-मण्डलसे अवरुद्ध शय्यापर (आरामसे) सोनेके लिए स्थानको नहीं पाता हुआ प्रियतम बार-बार रतिके सेवन करनेसे निद्रा-सम्बन्धी तन्द्राको दूर करता हुआ किसी प्रकार अर्थात् बड़े कष्ट के साथ रात्रिको बिता रहा है, (वह विचारा और) क्या करे ? अर्थात् उक्त कारणसे यथावत् सोनेके लिए पलंगपर स्थान नहीं मिलनेके कारण रति करते हुए ही रात बिता रहा है ॥ ५ ॥

क्षणशयितविबुद्धाः कल्पयन्तः प्रयोगा
नुदधिमहति राज्ये काव्यवद्दुर्विगाहे ।
गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः
कवय इव महीपाश्चिन्तयन्तयन्त्यर्थजातम् ॥ ६ ॥

क्षणेति ॥ क्षणं शयिताः सुरतश्रमापनोदाय विसुप्ता विबुद्धाः तदैव प्रबुद्धाः । यथाकालं प्रबुद्धत्वादिति भावः । क्षणशयितविबुद्धाः । स्नातानुलिप्तवत् 'पूर्वकाल-' (२।१।४९) इति समासः । महीपाः । कवय इव अपररात्रे । रात्रेः पश्चिमयाम इत्यर्थः । 'पूर्वापर-' (२।२।१) इत्यादिना एकदेशिसमासे समासान्तोऽच् । 'रात्राह्नाहाः पुंसि' (२।४।२९) इति पुंस्त्वम् । तत्र प्राप्तबुद्धिप्रसादा लब्धबुद्धिप्रकाशाः सन्तः उदधिमहति समुद्रगम्भीरे । एकत्र तुरगादिभिरपरत्र रसभावादिभिश्चेति भावः । अत एव दुर्विगाहे दुष्प्रवेशे राज्ये काव्ये इव काव्यवत् । 'तत्र तस्येव' (५।१।११६) इति वतिप्रत्ययः । प्रयोगान् सामाद्युपायानुष्ठानानि, अन्यत्रार्थगुणसाधुशब्दगुम्फान् कल्पयन्तस्तर्कयन्तः 'ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम्' (याज्ञ० आचा० अ० ११५) इति स्मरणादिति भावः । गहनं दुष्प्रापमन्यत्र दुर्दर्शमर्थजातं पुरुषार्थजातम् । त्रिवर्गमित्यर्थः । अन्यत्र वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यरूपमभिधेयजातं चिन्तयन्ति

विचारयन्ति । इवशब्दस्योपलक्षणत्वात् काव्यवदिति वतिप्रत्ययेऽप्यनेकशब्दार्थगता श्रौती पूर्णा वाक्यार्थोपमा काव्यवदिति तद्धितगता, कवय इति समासगता चेति सङ्कीर्णा ॥ ६ ॥

(सुरतके बाद उसके श्रम दूर करनेके लिए) थोड़ी देर सोकर जागे हुए राजालोग, रात्रिके अन्तिम प्रहर (ब्राह्ममुहूर्त) में बुद्धिके नैर्मल्यको पाये हुए तथा समुद्रके समान हाथी-घोड़े आदिसे, पक्षा०—अभिधा लक्षणादि एवं रस-भावादिसे गम्भीर और काव्यके समान दुष्प्रवेश्य राज्यमें सामादि उपाय (पक्षा०-अर्थ तथा गुणयुक्त रमणीय पदसमुदाय) की कल्पना करते हुए कविके समान (धर्मार्थकामरूप) पुरुषार्थ (पक्षा०—अभिधा लक्षणा व्यञ्जनादि युक्त अर्थ समुदाय) का विचार कर रहे हैं ।

विमर्श—ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेपर बुद्धि बहुत विशद रहती है, वही समय कविता रचनाके लिए तथा राजालोगोंके राज्य-सम्बन्धी विविध विषयोंका विचार करनेके लिए विशेष उपयुक्त माना गया है । इस पद्यसे महाकवि माघके भी ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर काव्यरचना करनेका अनुमान होता है ॥ ६ ॥

क्षितितटशयनान्तादुत्थितं दानपङ्कप्लुतबहुलशरीरं शाययत्येष भूयः ।
मृदुचलदपरान्तोदीरितान्दूनिनादं गजपतमधिरोहः पक्षकव्यत्ययन ॥

क्षितीति ॥ क्षितितटं भूतलमेव शयनान्तः शयनस्थानं तस्मादुत्थितम् । सुप्तोत्थितमित्यर्थः । अत एव दानपङ्कप्लुतबहुलशरीरं मदकर्दमोक्षितमहाकायं गजपतिमेषोऽधिरोहतीत्यधिरोह आरोहणः । पचाद्यच् । मृदु मन्दं चलता अपरान्तेन पश्चिमपादेनोदीरित उत्पादितोऽन्दूनिनादः शृङ्खलारवो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । पक्ष एव पक्षकः पार्श्वः । 'पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति वैजयन्ती । तस्य व्यत्ययेन । पार्श्वान्तरेणेत्यर्थः । भूयः शाययति शयनं कारयति । 'गतिबुद्धि–' (१।४।५२) इत्यादिना अणि कर्तुः कर्मत्वम् । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ ७ ॥

महावत भूतलरूपिणी शय्यासे उठे हुए, मदजलके पङ्कसे लथपथ शरीरवाले हाथीको करवट बदल कर पुनः सुला रहा है तथा ऐसा करनेसे उस हाथीके पिछले पैरके लोहेकी सांकल धीरे-धीरे हिलनेसे बज रही है ॥ ७ ॥

द्रुततरकरदक्षाः क्षिप्तवैशाखशैले दधति दधनि धीरानारवान्वारिणीव ।
शशिनमिव सुरौघाःसारमुद्धतुमेते कलशिमुदधिगुर्वी बल्लवा लोडयन्ति ॥

द्रुतेति ॥ द्रुततरकरा अतिलघुहस्तास्ते च ते दक्षाश्च बल्लवा गोपालाः । 'आभीरः स्यान्महाशूद्रो गोपालो बल्लवस्तथा' इति वैजयन्ती । विशाखा प्रयोजनमस्येति वैशाखो मन्थनदण्डः । 'वैशाखमन्थमन्थानमन्थानो मन्थदण्डके' इत्यमरः । 'विशाखाषाढादण्मन्थदण्डयोः (५।१।११०) इत्यण्प्रत्ययः । वैशाखः शैल इवेत्युपमित-

१. '—बहल'—इति पा० । २. '—दक्षाऽऽक्षिप्त'—इति पा० ।

समासः। साहचर्यात्त्विषो वैशालशैलो यस्मिन्। धीरान् गम्भीरानारवान् दधति दधनि दध्नि। 'विभाषा ङिश्योः' (६।४।१३६) इति विकल्पादल्लोपाभावः। वारिणीव सुरौघाः शशिनमिव सारं नवनीतमुद्धर्तुमुत्कण्ठमुदधिरिव गुर्वीम्। 'उपमानानि सामान्यवचनैः' (२।१।५५) इति समासः। तां कलशिं कुम्भीमेते लोडयन्ति मथ्नन्ति। एषापि पूर्वतरवत्पूर्णा वाक्यार्थोपमा वाक्यसमाससङ्कीर्णा च ॥ ८ ॥

हाथको अतिशीघ्र चलानेमें निपुण गोपलोग मथनीरूपी (मन्दराचल) पर्वत जिसमें छोड़ा गया है ऐसे, गम्भीर ध्वनि करते हुए दहीमें-से मक्खन (नैनू) निकालनेके लिए समुद्रवत् बड़े महड़े (दही महनेके बड़े बर्तन) को इस प्रकार आलोडित कर मथ रहे हैं, जिस प्रकार शीघ्रतापूर्वक हाथ चलानेमें निपुण देवतालोग मन्दराचल पर्वत डाले हुए अतएव गम्भीर ध्वनियुक्त समुद्रजलमें-से चन्द्रमाको निकालनेके लिए समुद्रको आलोडित (मथित) किये थे ॥ ८ ॥

अनुनयमगृहीत्वा व्याजसुप्ता पराची
रुतमथ कृकवाकोस्तारमाकर्ण्य कल्ये[1]।
कथमपि परिवृत्ता निद्रयान्धा किल स्त्री
मुकुलितनयनैवा[2]श्लिष्यति प्राणनाथम् ॥ ९ ॥

अनुनयमिति ॥ अनुनयं प्रियप्रार्थनामगृहीत्वा नाङ्गीकृत्य पराची पराङ्मुखी व्याजेन कपटेन सुप्ता स्त्री। अथ कल्ये प्रभाते। 'प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यम्' इत्यमरः। कृकवाकोः कुक्कुटस्य। 'कृकवाकुस्ताम्रचूडः कुक्कुटश्चरणायुधः' इत्यमरः। 'कृके वचः कश्च' (उ० १।६) इत्यण्प्रत्ययः। तारमुच्चै रुतं कूजितमाकर्ण्य कथमपि गात्रजृम्भणादिव्याजेन परिवृत्ता सम्मुखीभूता निद्रयान्धा किल अजानतीव मुकुलितनयनैव मीलिताक्षी सत्येव प्राणनाथमाश्लिष्यति। एषा कलहान्तरिता ॥ ९ ॥

(अपराध करनेवाले) पतिके मनानेसे नहीं मानी हुई अतएव पतिको ओर पीठ करके छलपूर्वक सोई हुई (अर्थात् वास्तवमें जगती हुई) रमणी प्रातःकालमें उच्च स्वरसे मुर्गेका बोलना सुनकर, किसी प्रकार उलट (पतिकी ओर मुख फेर) कर मानो नींदसे नहीं देखती हुई नेत्रोंको बन्द किये ही प्रियतमका आलिङ्गन कर रही है ॥ ९ ॥

गतमनुगतवीणैरेकतां वेणुनादैः कलमविकलतालं गायकैर्बोधहेतोः।
असकृदनवगीतं गीतमाकर्णयन्तः सुखमुकुलितनेत्रा यान्ति निद्रां नरेन्द्राः ॥

गतमिति ॥ अनुगतवीणैरनुसृतवीणैर्वीणासंवादिभिर्वेणुनादैर्वंशस्वरैः एकतामेकरूपतां गतं कलमव्यक्तमधुरं अविकलोऽविसंवादी तालः कांस्यादितालो यस्य तत्। बोध एव हेतुस्तस्य बोधहेतोः बोधकारणेन। बोधनार्थमित्यर्थः। फलस्यापि कारणत्वमिच्छाद्वारा स्वर्गादिवत्फलरागस्य तत्साधनप्रवृत्तिहेतुत्वात्षष्ठी। गायकैर्वैतालि-

१. 'काले' इति पा०। २. '—नैवं श्लिष्यति'—इति पा०।

कैरनवगीतमगर्हितम्। 'अवगीतं तु निर्वादे मुहुर्दुष्टेऽपि गर्हिते' इति विश्वः। गीतं गीयमानं वस्तु आवृत्तिर्वा। गीतशब्दस्य गीतं गानं समाकर्णयन्तो नरेन्द्राः सुखेन गानसुखेन मुकुलितनेत्रा निमीलिताक्षाः सन्तो निद्रां यान्ति भजन्ति। वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः॥ १० ॥

वीणाके साथ बजते हुए वेणुके स्वरमें एकताको प्राप्त किए (मिले) हुए तथा कर्णमधुर ध्वनियुक्त एवं सोते हुए राजाओंको जगानेके लिए बन्दियों द्वारा बार-बार गाये गये प्रशंसापरक गीतोंको सुनते हुए (गीतके सुननेसे उत्पन्न) आनन्दसे नेत्रोंको बन्द किए हुए राजा लोग पुनः सो रहे हैं॥ १० ॥

परिशिथिलितकर्णग्रीवमामीलिताक्षः क्षणमयमनुभूय स्वप्नमूर्ध्वज्ञुरेव।
रिरसयिषति भूयःशष्पमग्रे विकीर्णं पटुतरचपलौष्ठः प्रस्फुरत्प्रोथमश्वः॥

परीति॥ अयमश्वः परिशिथिलितं स्रस्तमुक्तं कर्णग्रीवं कर्णौ च ग्रीवा च यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा आमीलिताक्षः ऊर्ध्वे जानुनी यस्य स ऊर्ध्वज्ञुः। ऊर्ध्वजानुस्तिष्ठन्नित्यर्थः। 'ऊर्ध्वज्ञुरूर्ध्वजानुः स्यात्' इत्यमरः। 'ऊर्ध्वाद्विभाषा' (५।४।१३०) इति जानुशब्दस्य ज्ञुरादेशः। क्षणं स्वप्नं निद्रामनुभूय। उत्तमाश्वलक्षणमेतत्। भूयः पुनरपि पटुतरौ ग्रासग्रहणसमर्थौ चपलौ चञ्चलौ चोष्ठौ यस्य स सन् प्रस्फुरत्प्रोथं प्रस्फुरमाणघोणं यथा तथा। 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्' इत्यमरः। अग्रे विकीर्णं क्षिप्तं शष्पं घासम्। 'शष्पं बालतृणं घासः' इत्यमरः। रिरसयिषति रसयितुमास्वादयितुमिच्छति। रसयतेः सन्नन्ताल्लट्। स्वभावोक्तिरलङ्कारः। 'स्वभावोक्तिरसौ चारु यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति॥ ११ ॥

अपने कानों एवं गर्दनको ढीला किया हुआ तथा नेत्रोंको मूँदा हुआ एवं उठी हुई जङ्घाओंवाला अर्थात् खड़ा-खड़ा ही यह घोड़ा क्षणमात्र सोकर सामने बिखेरी हुई घासको ओठोंको अत्यन्त चलाता हुआ एवं नथुनेको स्फुरित करता हुआ खानेकी इच्छा करता है॥

उदयमुदितदीप्तिर्याति यः संगतौ मे
पतति न वरमिन्दुः सोऽपरामेष गत्वा।
स्मितरुचिरिव सद्यः साभ्यसूयं प्रभेति
स्फुरति विशदमेषा पूर्वकाष्ठाङ्गनायाः॥ १२ ॥

उदयमिति॥ य इन्दुः मे मम संगतावुदितदीप्तिः प्रवृद्धद्युतिः सन् उदयमुदयाद्रिम्, अभ्युदयं च याति स इन्दुरेषोऽपरां पश्चिमाशां, पराङ्गनां च गत्वा पतत्यस्तमेति, पातित्यं च गच्छति। न वरम्। अनर्हमित्यर्थः। इति सद्यः साभ्यसूयं यथा तथा पूर्वकाष्ठा प्राची सैवाङ्गना, पूर्वनायिका च गम्यते। तस्याः स्मितरुचिर्मन्दहा-

१. 'चपलौष्ठम्' इति पा०।

सकान्तिरिवैषा प्रभा विशदं निर्मलं स्फुरति प्रकाशते । प्राच्यामीषच्छिशदा प्रभा प्रादुरभूदित्यर्थः । अत्र प्राचीगतप्राभातिकप्रभायामिन्दोः पराङ्गनासङ्गपातित्यनिमित्ता चेतनधर्मस्मितत्वचिस्वोत्प्रेक्षापूर्वकाष्ठाङ्गनाया इति रूढिव्यूढेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ १२ ॥

मेरे साथ समागम करनेसे प्रकट कान्तिवाला जो यह चन्द्रमा उदयाचल (पक्षा०—अभ्युन्नति) को पाता है, वही यह चन्द्रमा दूसरी दिशाको जाकर (पक्षा०—दूसरी नायिकाके साथ सम्भोगकर) गिर रहा है । (पक्षा०—परस्त्री-गमन करनेके कारण पतित हो रहा है), यह अच्छा नहीं हुआ, इस प्रकार मानो ईर्ष्यायुक्त पूर्वदिशारूपिणी रमणीकी मुसकुराहटकी शोभाके समान कान्ति, निर्मल होती हुई स्फुरित हो रही है ॥ १२ ॥

विमर्श—जिस प्रकार कोई रमणी अपने साथ सम्भोगकर उन्नति पाये हुए पतिको परस्त्रीके नाथ सम्भोग करनेपर पतित होता हुआ देखकर ईर्ष्या करती हुई उस कार्यको अनुचित मानकर मुस्कुराती है, उसी प्रकार यहाँ चन्द्रमाको पश्चिम दिशामें गिरते हुए देखकर पूर्व दिशारूपिणी नायिकाके करनेकी कल्पना की गयी है ॥ १२ ॥

चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः ।
अपरिचलितगात्राः कुर्वतेन प्रियाणामशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ॥

चिरेत् ॥ चरममपि शयित्वा पश्चात्सुप्त्वापि पूर्वमेव प्रबुद्धाः । 'सुप्ते पश्चाच्च या शेते पूर्वमेव प्रबुध्यते । नान्यं कामयते चित्ते सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥' इति स्मरणादिति भावः । तथापि तरुण्योऽपरिचलितगात्रा अस्पन्दवपुष्काः सत्यः चिररतिपरिखेदेन प्राप्तनिद्रासुखानां प्रियाणामशिथिलो गाढो यो भुजचक्रेण परस्परभुजवलयेनाश्लेषस्तस्य भेदं विश्लेषं विस्रंसनं न कुर्वते किंत्वाश्लिष्यैव स्थिताः, अन्यथा तन्निद्राभङ्गः स्यात् । 'शयानं न प्रबोधयेत्' (याज्ञ० आचा०—अ० १३८) इति निषेधास्कन्दभयादिति भावः । रतिश्रमोऽत्र सञ्चारी तदनुभावो निद्रा ॥ १३ ॥

(पतिके) बादमें सोनेपर भी (उनसे) पहले ही जगी हुई रमणियाँ, अपने अङ्गोंको सर्वथा स्थिर (अचञ्चल) रखती हुई चिरकालतक रति करनेसे सुखपूर्वक सोये हुए प्रियतमोंकी बाहुके गाढालिङ्गनको नहीं हटा रही है । (किन्तु उनके निद्राभङ्ग होनेके भयसे आलिङ्गन की हुई ही स्थित हैं) ॥ १३ ॥

कृतधवलिमभेदैः कुङ्कुमेनेव किञ्चिन्मलयरुहरजोभिर्भूषयन्पश्चिमाशाम् ।
हिमरुचिररुणिम्ना राजते रज्यमानैर्जरठकमलकन्दच्छेदगौरैर्मयूखैः ॥१४॥

कृतेति ॥ हिमरुचिश्चन्द्रःअरुणिम्नाऽस्तमयरागेण हेतुना रज्यमानैर्लोहितायमानैः । रञ्जेर्दैवादिकात्कर्तरि शानच् । 'अनिदिताम्'(६।४।२४) इति नलोपः । 'त्रीणि रज्यति राजति लोहितायति चात्मन्'इति भट्टमल्लः । जरठस्य परिणतस्य कमलक-

१. '-तररतखेद-' इति पा० ।

न्दस्य छेदा इव गौराः शुभ्राः छेदग्रहणं धावल्यार्थम्। 'गौरः पीते सितेऽरुणः' इति विश्वः। तैर्मयूखैः कुङ्कुमेन किञ्चित्कृतो धवलिमभेदो धावल्यभङ्गो येषां तैरीषद्रक्तस्वधावल्यैः मलयरुहरजोभिश्चन्दनरेणुभिरिव पश्चिमाशां प्रेयसीमिवेति भावः। भूषयन् राजते। उपमालङ्कारः ॥ १४ ॥

यह चन्द्रमा (अस्तकालीन) लालिमासे रंगी जाती हुई तथा परिपक्व कमलनालके समान शुभ्रवर्णवाली किरणोंसे—मानो कुङ्कुमसे शुभ्रताको कुछ कम किये हुए चन्दनरेणुओंसे (प्रेयसीरूपिणी) पश्चिम दिशाको विभूषित करता हुआ-सा शोभ रहा है ॥ १४ ॥

दधदसकलमेकं खण्डितामानमद्भिः
श्रियमपरमपूर्णामुच्छ्वसद्भिः पलाशैः।
कलरवमुपगीते षट्पदौघेन धत्तः
कुमुदकमलषण्डे तुल्यरूपामवस्थाम् ॥ १५ ॥

दधदिति ॥ एकं कुमुदषण्डमानमद्भिर्मुकुलीभवद्भिः पलाशैर्दलैरसकलमधं खण्डिताम्। क्षीयमाणामित्यर्थः। श्रियं दधत्। अपरं कमलषण्डमुच्छ्वसद्भिर्विकसद्भिः पलाशैरपूर्णां वर्धमानां श्रियं दधत्। षट्पदौघेन कलरवं यथा तथा उपगीते। उभे अपीत्यर्थः। कुमुदकमलषण्डे कुमुदानां कमलानां च षण्डे कदम्बे 'कदम्बे षण्डमस्त्रियाम्' इत्यमरः। तुल्यरूपामवस्थां धत्तः दधाते। अत्र क्षयवृद्ध्योरर्थप्रवृत्तेरैकरूप्ये कस्य क्षयः कस्य वा वृद्धिरिति दुर्ग्रहमिति भावः। अत्रोभयविशेषणानां तुल्यावस्थाधारणहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गम्। तेन द्वयोः क्रमेणोपमानोपमेयभावरूपोपमेयोपमा व्यज्यते ॥ १५ ॥

भ्रमर-समूहके गुञ्जार से युक्त एक कुमुद-समूह (मुकुलित होनेके लिए) नम्र होती हुई पँखुड़ियोंसे असम्पूर्ण क्षीण हुई (अर्द्धावशिष्ट) शोभाको धारण करता हुआ, तथा भ्रमर-समूहके गुञ्जारसे युक्त दूसरा कमल समूह (विकसित होनेके लिए) नम्र होती हुई पँखुड़ियोंसे बढ़ती हुई असम्पूर्ण शोभाको धारण करता हुआ (अवनति तथा उन्नतिकी मध्यावस्था में स्थित होनेसे अर्द्धशोभायुक्त कुमुद-कमल-समूह) समान अवस्थाको प्राप्त कर रहे हैं ॥ १५ ॥

मदरुचिमरुणेनोद्गच्छता लम्भितस्य
त्यजत इव चिरायं स्थायिनीमाशु लज्जाम्।
वसनमिव मुखस्य स्रंसते सम्प्रतीदं
सितकरकरजालं वासवाशायुवत्याः ॥ १६ ॥

मदेति ॥ सम्प्रति सितकरस्येन्दोरिदं करजालं कर्तृ उद्गच्छता उद्यता अरुणेनानूरुणा मदरुचिं तत्तुल्यां रुचिम्। अरुणिमानमित्यर्थः। अत एव निदर्शनालङ्कारः। लम्भितस्य प्रापितस्य। लभेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः। 'रभेरशब्लिटोः' (७।१।६३) इति

१. 'चिरावस्था—' इति पा०।

-रुणागमः। अत एव चिराय स्थायिनीं लज्जामाशु त्यजत इव। मुखप्रकाशनादियमुत्प्रेक्षा। वासवाशा प्राची तस्या एव युवत्या मुखस्य प्राग्भागस्याननस्य च वसनमिवावगुण्ठनपट इव स्रंसते गलति। रक्ताः स्त्रियः पाटलमुखा निर्लज्जाः स्रस्तवस्त्राश्च भवन्तीति भावः। अत्र मुखस्येति प्राग्भागवदनयोरभेदाध्यवसायाच्छ्लेषमूलातिशयोक्तिः तया पूर्वोक्तनिदर्शनोत्प्रेक्षाभ्यां चानुगृहीता वसनमिवेत्युत्प्रेक्षेति सङ्करः॥

चन्द्रमाका किरण-समूह, निकलते हुए अरुण (सूर्यकी लालिमा) से मद्यकी शोभाको प्राप्त अर्थात् अरुण वर्ण (अतएव नशायुक्त होनेसे) चिरस्थायिनी लज्जाको शीघ्र छोड़ते हुए मानो पूर्वदिशारूपिणी तरुणीके मुखके कपड़ेके समान इस समय गिर रहा है॥ १६॥

अविरतरतलीलायासजातश्रमाणा-
मुपशममुपयान्तं निःसहेऽङ्गेऽङ्गनानाम्।
पुनरुषसि विविक्तैर्मातरिश्वावचूर्ण्य
ज्वलयति मदनाग्निं मालतीनां रजोभिः॥ १७॥

अविरतेति॥ अविरतरतलीलायासेन अविच्छिन्नसुरतक्रीडाप्रयासेन जातश्रमाणामङ्गनानां सम्बन्धिनि निःसहत इति निःसहेऽक्षमे। पचाद्यच्। अङ्गे उपशममुपयान्तं शाम्यन्तं मदन एवाग्निस्तं पुनरुषसि मातर्यन्तरिक्षे श्वयति वर्धत इति मातरिश्वा। 'श्वन्नुक्षन्-' (उ० १।१५७) इत्यादिना औणादिको निपातः। विविक्तैरमलैरनार्द्रैश्च मालतीनां जातीकुसुमानाम्। 'सुमना मालती जातिः' इत्यमरः। रजोभिः परागैः करीषैरिवेति भावः। अवचूर्ण्यावध्वस्य। संयुज्येति भावः। ज्वलयत्युद्दीपयति। प्राभातिकमालतीवातस्पर्शात्पुनरुद्बुद्धो मदन इत्यर्थः॥ १७॥

निरन्तर सुरतलीलासक्त रहनेसे थकी हुई रमणियोंके शिथिल पड़े हुए अङ्गमें मन्द कामाग्निकी वायु प्रातःकालमें पुनः शुभ्र वर्ण (पक्वा—सूखे हुए) मालती पुष्पके परागोंसे चूर्णयुक्तकर (भूसा आदि महीन वस्तु डाल-डालकर) उद्दीप्त कर रही है अर्थात् (मालती के पुष्प-परागोंसे युक्त वायुसे बहनेसे रातभर सुरत करनेसे थकी हुई रमणियोंकी मन्द पड़ी हुई कामाग्नि प्रातःकालमें पुनः उद्दीप्त हो रही है॥ १७॥

अनिमिषमविरामा रागिणां सर्वरात्रं
नवनिधुवनलीलाः कौतुकेनातिवीक्ष्य[1]।
इदमुदवसितानामस्फुटालोकसंप-
न्नयनमिव सनिद्रं घूर्णते दैपमर्चिः॥ १८॥

अनिमिषमिति॥ इदं पुरोवर्ति अस्फुटा सूर्यतेजोभिभवान्मन्दायमाना आलोकसंपत् प्रकाशसंपत्तिर्यस्य तत्, अन्यत्र निद्राभिभवादनुबुद्धविषयावधानशक्तिकं

१. '—नामिवीक्ष्य' इति पा०।

दीपस्येदं दैपयर्चिर्ज्वाला। 'ज्वालाभासोर्न पुंस्यर्चिः' इत्यमरः। सर्वस्यां रात्राविति सर्वरात्रम्। 'पूर्वकाल–' (२।१।४९) इत्यादिना समासः। 'अहः सर्व–' (५।४।८७) इत्यादिना समासान्तः, 'रात्राह्नाहाः पुंसि' (२।४।२९) इति पुंल्लिङ्गता। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। अविरामा अविच्छिन्नाः रागिणा कामिनां, कामिनीनां च। 'पुमान्स्त्रिया' (१।२।६२) इत्येकशेषः। नवा निधुवनलीलाः सुरतविलासान्। 'व्यवायो ग्राम्यधर्मश्च रतं निधुवनं च सः' इति कोशः। कौतुकेन न निमिषतीत्यनिमिषं यथा तथा। पचाद्यच्। कुटादित्वान्न गुणः। अतिवीक्ष्य अत एव सनिद्रमुद्वसितानां गृहाणां संबन्धि। 'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्' इत्यमरः। नयनमिवेत्युत्प्रेक्षा। घूर्णते भ्रमति ॥ १८ ॥

(सूर्योदयकालीन प्रकाशके कारण, पक्षा०—निद्राभिभूत होनेके कारण) मन्द होती हुई प्रकाशश्रीवाली दीपककी लौ निरन्तर निर्निमेष होकर सम्पूर्ण रात्रिमें अनुरागी पुरुषों एवं अनुरागिणी रमणियोंकी नयी–नयी सुरतक्रीडाओंको कौतुकसे अत्यन्त देखकर मानो निद्रापरवश इन मकानोंके नेत्रोंके समान घुस रही है ॥ १८ ॥

विकचकमलगन्धैरन्धयन्भृङ्गमालाः सुरभितमकरन्दं मन्दमावाति वातः[1]।
प्रमदमदनमाद्यद्यौवनोद्दामरामारमणरभसखेदस्वेदविच्छेददक्षः[2] ॥ १९ ॥

विकचेति ॥ प्रमदमदनाभ्यां हर्षमन्मथाभ्यां माद्यन्तीनां यौवनेनोद्दामानां च रामाणां स्त्रीणां रमणरभसखेदेन सुरतसंरम्भश्रमेण यः स्वेदस्तस्य छेदे हरणे दक्षो वातः प्रभातमारुतः विकचकमलगन्धैर्भृङ्गमाला अन्धयन्नन्धाः कुर्वन् मोहयन्। अन्धयतेः 'तत्करोति—' (ग०) इति ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः। सुरभितः सुरभीकृतो मकरन्दो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा मन्दमावाति प्रचलति। अत्र वृत्त्यनुप्रासोऽलंकारः। 'श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता। अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥' इति आचार्योक्ता दश गुणाः प्रायेणात्र संभवन्तीति निपुणैरुन्नेयाः ॥

हर्ष तथा कामवासनासे उन्मत्त एवं युवावस्थासे गर्वयुक्त रमणियोंके सुरतके वेग (की अधिकता) से उत्पन्न थकावटमें होनेवाले पसीनेकी बूँदोंको दूर करनेमें निपुण अर्थात् सुखानेवाली यह (प्रातःकालकी) हवा, विकसित हुए कमलोंके गन्धोंसे भ्रमर–समूहोंको अन्धा (मदोन्मत्त) तथा मकरन्दको सुगन्धयुक्त करती हुई मन्द-मन्द बह रही है ॥ १९ ॥

लुलितनयनताराः क्षामवक्त्रेन्दुबिम्बा
रजनय इव निद्राक्लान्तनीलोत्पलाद्यः।
तिमिरमिव दधानाः स्रंसिनः केशपाशा-
नवनिपतिगृहेभ्यो यान्त्यमूर्वारवध्वः ॥ २० ॥

---

१. 'वायुः' इति पा०। २. 'समद—' इति पा०।

लुलितेति ॥ लुलितनयनताराः निद्राकलुषिताक्षिकनीनिकाः, अन्यत्राप्रसन्नचन्द्राः । 'ऋक्षाक्षिमध्ययोस्तारा' इति विश्वः । वक्त्राणीन्दुबिम्बानीवेत्युपमितसमासः। तिमिरमिवेत्यादिलिङ्गात्, अन्यत्र वक्त्राणीवेन्दुबिम्बानि तानि क्षामाणि सुरतप्रभाताभ्यां ग्लानानि यासां ताः निद्रया स्वप्नेन मुकुलीभावेन क्रान्तानि नीलोत्पलानि अक्षीणीव नीलोत्पलानीवाक्षीणि यासां ताः स्रंसिनः केशपाशांस्तिमिरमिवान्यत्र तु तानिव तिमिरं दधानाः अत एव रजनय इव स्थिताः । अमूर्वारवध्वो वेश्याः । 'वारस्त्री गणिका वेश्या' इत्यमरः । अवनिपतिगृहेभ्यो यान्ति निर्यान्ति । श्लिष्टविशेषणेयमुपमेत्येके । श्लेष एवायमुभयविषयः । उपमा तु प्रतिभामात्रसारा इत्यन्ये ॥

निद्रासे कलुषित नेत्रोंकी पुतलियोंवाली (पक्षा०—मन्द प्रकाश युक्त नक्षत्रोंवाली) (सुरतसे) क्षीण (शोभाहीन) मुखरूप चन्द्रोंवाली (पक्षा०—प्रकाशहीन मुखके समान चन्द्रवाली), निद्रासे खिन्न नीलकमलतुल्य नेत्रोंवाली (पक्षा०—नीलकमलरूप नेत्रोंवाली) नीचे की ओर लटकते हुए काले-काले केश-समूहको (पक्षा०—फैलते हुए केशोंके समान अन्धकारको) धारण करती हुई रात्रियोंके समान ये वाराङ्गनाएँ राजाओंके महलों अर्थात् शिविरोंसे (अपने-अपने निवासस्थानको) जा रही हैं ॥ २० ॥

शिशिरकिरणकान्तं वासरान्तेऽभिसार्य
श्वसनसुरभिगन्धिः साम्प्रतं सत्वरेव ।
व्रजति रजनिरेषा तन्मयूखाङ्गरागैः
परिमलितमनिन्द्यैरम्बरान्तं वहन्ती ॥ २१ ॥

शिशिरेति ॥ एषा रजनिर्वासरान्ते रात्रौ शिशिरकिरणचन्द्रस्तमेव कान्तमभिसार्याभिसृत्य । स्वार्थे णिच् । सांप्रतं श्वसनैस्तत्कालवातैर्निवासैश्च सुरभिगन्धिः सुगन्धिः अनिन्द्यैर्मनोहरैर्मयूखैरेवाङ्गरागैः परिमलितं व्याप्तं वासितं चाम्बरान्तं नभःप्रान्तं वस्त्रान्तं च वहन्ती भजन्ती सत्वरेव व्रजति । अत्रेन्दुतन्मयूखादीनां कान्तत्वाङ्गरागत्वादिरूपणाद्गमादेकदेशविवर्ति रूपकम् ॥ २१ ॥

यह रात्रि (तथा रात्रिरूपिणी नायिका) रात्रिमें चन्द्ररूप प्रियतमका अभिसरण कर (उनके पास जाकर) इस समय (प्रभातकालकी) वायु (पक्षा०—निःश्वास) से सौरभयुक्त तथा उस चन्द्रकी किरणरूपी अङ्गरागों (अरुणवर्ण कुङ्कुमादि अङ्गलेपों) से व्याप्त (पक्षा०—सुगन्धयुक्त) वस्त्राञ्चल (पक्षा०—आकाश प्रान्त) को धारण करती (सम्हालती) हुई मानो शीघ्रतासे जा (बीत) रही है ॥ २१ ॥

नवकुमुदवनश्रीहासकेलिप्रसङ्गा-
दधिकरुचिरसेषामप्युषां जागरित्वा ।
अयमपरदिशोऽङ्के मुञ्चति स्रस्तहस्तः
शिशयिषुरिव पाण्डुं म्लानमात्मायमिन्दुः ॥ २२ ॥

नवेति ॥ अधिकरुचिरयमिन्दुर्नवकुमुदवनश्रियो विकासः परिहासश्च स एव केलिस्तस्यां प्रसङ्गादासङ्गादशेषामप्युषां सकलामपि रात्रिम् । 'विभावरी नक्तमुषा शर्वरी' इति विश्वः । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । जागरित्वा जागरणं कृत्वा शिशयिषुः शयितुमिच्छुरिव । शेतेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । हस्तो हस्तो नक्षत्रविशेषः, करश्च यस्य स सन् अपरदिशः पश्चिमदिशोऽङ्के समीपे, उत्सङ्गे च पाण्डु पाण्डुवर्णं ग्लानं क्लान्तमात्मानं स्वशरीरं मुञ्चति । दक्षिणनायकः कयाचित्सह विहृत्य श्रान्तः कस्याश्चिदङ्के शेते तद्वदिति भावः । अत्र प्रहासकेल्यङ्कहस्तसनादिव्यवहारादिन्दुकुमुदवनश्रीपश्चिमानां नायकत्वप्रतीतेः समासोक्तिरलंकारः । विशेषणसाम्यं तूपलक्षणमित्यलंकारसर्वस्वकारः । सा चोत्प्रेक्षासंकीर्णा ॥ २२ ॥

अतिशय शोभायुक्त यह चन्द्रमा, नवीन कुमुदवनोंकी शोभाकी (शुभ्र विकास, पक्षा०—हास) क्रीड़ाके प्रसङ्गसे अर्थात् उसमें आसक्त होनेके कारण रातभर जागकर इस समय (प्रभात कालमें) सोनेकी इच्छा करता हुआ सा हाथको शिथिलकर (पक्षा०—हस्त नक्षत्र को नीचा अर्थात् अस्तोन्मुखकर) पश्चिम दिशाकी गोदमें पाण्डुवर्ण एवं मन्द अपने (शरीर) को छोड़ रहा है अर्थात् नीचेकी ओर गिरा रहा है ।

विमर्श—जिस प्रकार चतुर नायक किसी रमणीके हास्यादिमें आसक्त हो पूरी रात जागकर थकनेसे शिथिल हाथोंवाला होकर रमणीकी गोदमें अपने क्लान्त शरीरको रख देता है, वैसा ही नायकरूप चन्द्र भी कर रहा है । यहां पर प्रातःकालमें श्लेषद्वारा हस्त नक्षत्र के अस्तोन्मुख होनेका वर्णन करनेसे उस समय शरदृतुका मध्य होना सूचित होता है ॥

सरभसपरिरम्भारम्भसंरम्भभाजा[1] यदधिनिशमपास्तं वल्लभेनाङ्गनायाः ।
वसनमपि निशान्ते नेष्यते तत्प्रदातुं रथचरणविशालश्रोणिलोलेक्षणेन ॥

सरभसेति ॥ अधिनिशं निशायाम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । सरभसः सत्वरः परिरम्भ एवारम्भो व्यापारस्तत्र संरम्भस्तद्भाजा वल्लभेनाङ्गनायाः संबन्धि यद्वसनमपास्तं तद्वसनं निशान्ते प्रभातेऽपि रथचरणं चक्रं तद्वद्विशालायां श्रोणौ लोलं सतृष्णमीक्षणं यस्य तेन वल्लभेन प्रदातुं नेष्यते । अत्र वसनाप्रतिदानस्य श्रोणीक्षणलौल्यहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गम् ॥ २३ ॥

रात्रिमें वेगपूर्वक (या—हर्षपूर्वक) आलिङ्गन करनेके उपक्रममें आकुल (या-आग्रहवान्) प्रियतमने रमणीके जिस कपड़ेको हटा दिया था, उसे प्रभातकालमें भी पहियेके समान विशाल रमणीके नितम्बभाग (को देखने) में चञ्चल नेत्रवाला प्रियतम देनेकी इच्छा नहीं करता है ॥ २३ ॥

---

१. '—'भाजो' इति पा० ।

सपदि कुमुदिनीभिर्मीलितं हा क्षपापि
क्षयमगमदपेतास्तारकास्ताः समस्ताः ।
इति दयितकलत्रश्चिन्तयन्नङ्गमिन्दु-
र्वहति कृशमशेषं भ्रष्टशोभं शुचेव ॥ २४ ॥

सपदीति ॥ सपदि सद्यः कुमुदिनीभिर्मीलितम् । भावे क्तः । हा हन्त क्षपा रात्रिरपि क्षयमगमत् । ताः समस्ततारका अपेता इति शुचा शोकेन चिन्तयन्दयितकलत्रः प्रियभार्य इन्दुः कृशमशेषं निःशेषं यथा तथा भ्रष्टशोभं नष्टप्रभमङ्गं वहति । कलत्रप्रियस्य युगपत्सकलकलत्रनाशे महान् शोको भवतीति भावः । अत्रेन्दोः प्रभातप्रयुक्ताङ्गकार्श्यशोभाभ्रंशयोर्युगपत्कुमुदिन्यादिसकलकलत्रनाशनिमित्तहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ २४ ॥

अभी-अभी (मेरी प्रियतमारूपिणी) कुमुदिनियाँ मुकुलित (पक्षा०—आँख बन्द कर मृत) हो गयीं, हाय ! रात्रि भी नष्ट हो गयी, वे सभी ताराएँ भी अस्त हो गयीं; इस प्रकार चिन्ता करता हुआ पत्नीवत्सल चन्द्रमा मानो शोकसे शोभाहीन सम्पूर्ण अङ्गोंको धारण कर रहा है ॥ २४ ॥

व्रजति विषयमक्ष्णामंशुमाली न याव-
त्तिमिरमखिलमस्तं तावदेवारुणेन ।
परपरिभवि तेजस्तन्वतामाशु कर्तुं
प्रभवति हि विपक्षोच्छेदमग्रेसरोऽपि ॥ २५ ॥

व्रजतीति ॥ अंशुमाली सूर्यः । व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः । यावदक्ष्णां विषयं भूमिं न व्रजति । न दृश्यत इत्यर्थः । तावदेवारुणेनानूरुणाखिलं तिमिरमस्तमपास्तं परेषां परिभवि तिरस्कारकम् । 'जिदृक्षि-' (३।२।१५७) इत्यादिना इनिप्रत्ययः । तेजः प्रतापं तन्वतां प्रथयतामग्रे सरतीत्यग्रेसरः पुरःसरोऽपि । 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः' (३।२।१८) इति टप्रत्ययः । विपक्षस्य शत्रोरुच्छेदं कर्तुमाशु प्रभवति शक्नोति हि । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ २५ ॥

सूर्य जबतक दृष्टिगोचर नहीं हुआ, तभी तक (सूर्यके दृष्टिगोचर होनेके पहले ही) अरुणने सम्पूर्ण अन्धकारको नष्ट कर दिया; दूसरोंके परिभव कारक तेजको फैलानेवालोंका अग्रसर (आगे रहनेवाला) भी शत्रुओं को नष्ट करनेके लिए समर्थ होता है ॥ २५ ॥

विगततिमिरपङ्कं पश्यति व्योम याव-
द्धुवति विरहखिन्नः पक्षती यावदेव ।
रथचरसमाह्वस्तावदौत्सुक्यनुन्ना
सरिदपरतटान्तादागता चक्रवाकी ॥ २६ ॥

विगतेति ॥ विरहेण खिन्नः रथचरणेन चक्रेण समाह्वस्तुल्याख्यः, तस्यैव समाह्वा समाख्या यस्येति वा रथचरणसमाह्वः। चक्रवाक इत्यर्थः । 'कोकश्चक्रश्चक्रवाको रथाङ्गाह्वयनामकः' इत्यमरः। तिमिरं पङ्कमिवेत्युपमितसमासः। तद्विगतं यस्मात्तद्व्योम यावत्पश्यति, यावदेव पक्षती पक्षमूले । 'स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्' इत्यमरः। 'पक्षात्तिः' (५।२।२५) इति तिप्रत्ययः। धुवति उत्पतितुं धुनोति । 'धू विधूनने' इति धातोस्तौदादिकत्वादुवङादेशः। तावदेवोत्पतनात्प्रागेव चक्रवाकी चक्रवाकस्य स्त्री। 'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' (४।१।६३) इति ङीप्। औत्सुक्येनोत्कण्ठया नुन्ना प्रेरिता सती सरितोऽपरतटान्तात्परभूमेः सकाशादागता। एतेनानयोरुन्मनस्कता समश्चानुराग इत्युक्तम्। अत्र रागौत्सुक्ययो रसभावयोस्तिर्यग्गतत्वेनाभासयोर्निबन्धनादूर्जस्वी नामालङ्कारः। 'रसभावतदाभासप्रशमानां निबन्धने । रसवत्प्रेय ऊर्जस्विसमाहितानि' इति लक्षणात् ॥ २६ ॥

विरहसे खेदयुक्त चकवेने पङ्कोपम अन्धकारसे रहित आकाशको जबतक देखा तथा (उड़कर प्रियतमाके समीप जानेके लिए) जबतक अपने पङ्खमूलको फड़फड़ाया, तभीतक उत्कण्ठाप्रेरित चकई नदीके उस पारसे (उस चकवेके पास) आ गयी ॥ २६ ॥

मुदितयुवमनस्कास्तुल्यमेव प्रदोषे
रुचमदधुरुभय्यः कल्पिता भूषिताश्च ।
परिमलरुचिराभिर्न्यक्कृतास्तु प्रभाते
युवतिभिरुपभोगान्नीरुचः पुष्पमालाः ॥ २७ ॥

मुदितेति ॥ प्रदोषे रात्रौ मुदितानि यूनां मनांसि याभिस्ताः मुदितयुवमनस्काः। 'उरःप्रभृतिभ्यः कप्' (५।४।१५१)। कल्पिता उपभोगाय सम्पादिता भूषिता वलयवसनादिभिरुपस्कृताश्च उभय्य उभयविधा युवतयः पुष्पमालाश्च। 'उभादुदात्तो नित्यम्' (५।२।४४) इति उभस्यायजादेशः 'टिड्ढाणञ्—' (४।१।१५) इत्यादिना ङीप्। तुल्यमेवाविशेषं यथा तथा रुचं शोभामदधुर्धृतवत्यः । धाञो लिट्। प्रभाते तूपभोगान्नीरुचो निष्प्रभाः पुष्पमालाः परिमलेन विमर्दगन्धेन रुचिराभिरुपभोगादधिसुरभिभिर्युवतिभिर्न्यक्कृतास्त्यक्ता अवधीरिताश्च । अत्र पुष्पमालाभ्यो युवतीनां साम्योक्तिपूर्वकविमर्दसहत्वेनाधिक्योक्तेर्व्यतिरेकः ॥ २७ ॥

रात्रिमें युवकोंके मनको मुदित करनेवाला उपभोगके लिए कल्पित एवं वस्त्र तथा भूषणसे अलङ्कृत (अथ च—वस्त्र तथा भूषणमें उपयुक्त) पुष्पमालाएँ तथा रमणियाँ—ये दोनों ही समान शोभा धारण करती थीं, किन्तु प्रभातकालमें उपभोग (मर्दनादि) से कान्तिहीन पुष्पमालाओंको मर्दनादिजन्य सुगन्धिसे रुचिर रमणियोंने तिरस्कृत कर दिया (फेंक दिया)।

विमर्श—रात्रिमें सम्भोग करनेसे रमणियाँ प्रसन्नतासे प्रफुल्लित तथा पुष्पमालाएँ मर्दनादिसे कान्तिहीन हो जाती हैं, अतः रात्रिमें दोनों समानरुचि रहनेपर भी प्रभातमें

रुचिहीन होनेसे पुष्पमालाका रुचिसम्पन्न रमणीके द्वारा तिरस्कृत होना उचित ही है, क्योंकि लोकमें भी देखा जाता है कि पहले समानावस्थावाला व्यक्ति कुछ समय बाद उन्नतावस्थाको प्राप्तकर अपनेसे हीनावस्थावाले पूर्व-सहचरका तिरस्कार कर देता है ॥ २७ ॥

विलुलितकमलौघः कीर्णवल्लीवितानः प्रतिवनमवधूताशेषशाखिप्रसूनः ।
क्वचिदयमनवस्थः स्थास्नुतामेति वायुर्वधुकुसुमविमर्दोद्गन्धिवेश्मान्तरेषु ॥

विलुलितेति ॥ वने वने प्रतिवनम् । याथार्थ्येऽव्ययीभावः । विलुलिता व्यालोलिताः कमलौघा येन सः । कीर्णा विक्षिप्ता वल्लीनां मालत्यादीनां वितानाः विस्तारा येन सः । अवधूतान्यशेषशाखिनां वकुलचम्पकादीनां प्रसूनानि येन सः । तथापि क्वचित्पूर्वोक्तकमलवनादौ कुत्रापि नास्त्यवस्था स्थितिरस्येत्यनवस्थः स्थितिमप्राप्तोऽयं वायुर्वधूनां कुसुमानां च विमर्दन संघर्षणोद्गन्धिषूद्गतगन्धेषु । गन्धस्येत्वम् । वेश्मान्तरेषु गृहान्तरेषु स्थास्नुतां स्थायित्वमेति । पूर्वोक्तसर्वोत्कृष्टसौरभलोभादिति भावः । 'ग्लाजिस्थश्च—' (३।२।१३९) इति ग्स्नुप्रत्ययः । वधुशब्दो ह्रस्वोकारान्तोऽप्यस्ति । यद्वा 'मधुकुसुम' इति पाठः । मधुयुक्तानि कुसुमानि तेषां विमर्दनेत्यर्थः । अत्र वायोरस्थायित्वेऽपि स्थायित्वसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । तथा विमर्दगन्धस्य कमलादिगन्धादाधिक्यरूपव्यतिरेकप्रतीतेरलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ २८ ॥

प्रत्येक वनमें कमल-समूहोंको कम्पित करनेवाली, लता-प्रतानको अस्त-व्यस्त करनेवाली सम्पूर्ण (मौलसरो, चम्पा आदि) वृक्षोंके पुष्पोंको हिलाने-डुलानेवाली तथापि कहीं पर स्थिर नहीं होती हुई यह हवा; रमणियोंके पुष्पोंके मर्दनसे अधिक सुरभित भवनोंके भीतरमें स्थिर हो गयी है ॥ २८ ॥

नखपदवलिनाभीसन्धिभागेषु लक्ष्यः
क्षतिषु च दशनानामङ्गनायाः सशेषः ।
अपि रहसि कृतानां वाग्विहीनोऽपि जातः
सुरतविलसितानां वर्णको वर्णकोऽसौ ॥ २९ ॥

नखपदेति ॥ नखपदेषु नखक्षतेषु वलिषु त्रिवलिषु नाभ्यां सन्धिभागेषु कूर्परादिदेहसन्धिस्थानेषु तथा दशनानां क्षतिषु दन्तव्रणेषु च सशेषः सावशेषः किंचिद्दृश्यमानः अत एव लक्ष्यो दृश्योऽङ्गनायाः सम्बन्धी असौ वर्णयति वर्णं करोति रञ्जयतीति वर्णकोऽङ्गरागो वाग्विहीनो वागिन्द्रियरहितोऽपि सन् रहसि कृतानामपि सुरतविलसितानां सुरतचेष्टितानां वर्णयति वक्तीति वर्णको वक्ता । व्यञ्जक इत्यर्थः । वर्णयतेर्ण्वुल्प्रत्ययः । 'वर्णक्रियायां विस्तारे गुणोक्तौ वर्णनेऽप्यदः' इति भट्टमल्लः । जातः नखक्षतादिष्वेव लक्ष्यमाणोऽङ्गरागोऽन्यत्र स्वविलोपाच्चेष्टाविशेषानुमापको

---

१. 'दिश—' इति पा० ।
२. 'मधु—' इति पा० ।

जात इत्यर्थः। अत्र वाग्विहीनोऽपि रहस्यकृतानामपि वर्णको वक्तेति विरोधस्य व्यञ्जकत्वलक्षणया परिहाराद्विरोधाभासोऽलङ्कारः॥ २९॥

(प्रियतम द्वारा किये गये) नखक्षत, त्रिवलि, नाभि, (केहुनी आदि) सन्धिस्थल और दन्तक्षतोंमें कुछ-कुछ अवशिष्ट होनेसे दिखलाई पड़ता हुआ रमणियोंका रंगनेवाला (कुङ्कुमादिकृत) अङ्गराग जिह्वाहीन अर्थात् मूक होता हुआ भी एकान्तमें की गई सुरत-लीलाओंका वर्णन करनेवाला हो रहा था अर्थात् उक्त स्थानोंमें कुछ-कुछ अवशिष्ट अङ्गरागसे रमणीकी रातमें की गयी सुरत क्रीडाओंका अनुमान हो रहा था॥ २९॥

प्रकटमलिनलक्ष्मा [1]मृष्टपत्रावलीकै-
रधिगतरतिशोभैः प्रत्युषः प्रोषितश्रीः।
उपहसित इवासौ चन्द्रमाः कामिनीनां
परिणतशरकाण्डापाण्डुभिर्गण्डभागैः॥ ३०॥

प्रकटेति॥ उषसि प्रत्युषः। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। यद्वा प्रत्युषः प्रभातम्। 'उषःप्रत्युषसी अपि' इत्यमरः। तत्र प्रोषितश्रीर्भ्रष्टशोभः अत एव प्रकटमलिनलक्ष्मा स्पष्टदृष्टकलङ्कोऽसौ चन्द्रमाः मृष्टाः प्रमृष्टाः पत्त्रावल्यः पत्त्रभङ्गाः येषां तैः। 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इति कप्। तथाप्यधिगता रतिशोभा संभोगश्रीर्येषां तैः। परिणताः परिपक्काः शरकाण्डा बाणाख्यतृणकाण्डिकाः। 'शरो वाणे बालतृणे' इति शब्दार्णवे। तद्वदापाण्डुभिः कामिनीनां गण्डभागैर्गण्डस्थलैरुपहसित इवेत्युत्प्रेक्षा। पण्डिमगुण-निमित्ता निष्कलङ्काः सकलङ्कं समानमानिनमुपहसन्तीति भावः॥ ३०॥

प्रातःकालमें श्रीहीन होनेसे स्पष्ट कलङ्कवाले चन्द्रमाको, (सम्भोग करनेसे) नष्ट हुई पत्त्ररचनावाले, रतिकालकी शोभाको प्राप्त किये हुए और परिपक्क सरकण्डे (मूंज) के समान पाण्डुवर्ण रमणियोंके कपोलने मानो हंस दिया अर्थात् प्रभातकालके कान्तिहीन चन्द्रमाकी अपेक्षा रमणियों के उक्तरूप कपोलकी शोभा अधिक हो गयी, या—उक्त चन्द्रमाके समान रमणियोंका कपोल हो गया था॥ ३०॥

अथ काचित्खण्डिता नायिका सागसं प्रेयांसं प्रातरागतं पञ्चभिरुपालभते—

सकलमपि निकामं कामलोलान्यनारीर्[2]रतिरभसविमर्दैर्भिन्नवत्यङ्गरागे।
[3]इदमतिमहदेवाश्चर्यमाश्चर्यधाम्नस्तव खलु मुखरागो यन्न भेदं प्रयातः॥

सकलमित्यादि॥ कामेन लोलाया अन्यनार्याः सपत्न्या रतिरभसेषु सुरत-सम्भ्रमेषु विमर्दैः पीडनैः। रज्यतेऽनेनेति रागः अङ्गस्य रागोऽङ्गरागः विलेपनं, अङ्गविकासश्च तस्मिन्नङ्गरागे सकलमपि निःशेषं यथा तथा निकामं भिन्नवति

---

१. 'भ्रष्टपत्राङ्गुलीके···रतशोभैः' इति पा०। २. रतरभसविमर्दै···रागम्' इति पा०।
३. 'इदमिति—' इति पा०।

विश्लिष्टवति सति आश्चर्यधाम्नः सर्वाद्भुतनिधानस्य तव मुखरागो मुखविकासो भेदं विश्लेषं न प्रयात इति यत्। इदमेवातिमहदाश्चर्यं खलु। मुखस्याप्यङ्गत्वेन तद्रागस्याप्यङ्गरागत्वादिति भावः। अत्र विलेपनविकासाख्ययोरङ्गरागयोरेवात्राध्यवसायेन विरोधः। भेदाननुसन्धानत्वेनाविरोध इति श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितो विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ३१ ॥

(अत्र कुलक द्वारा पाँच श्लोकों (११।३१-३५) से रातभर अन्य सपत्नीके पास रहकर प्रातःकालमें आये हुए अपराधी पतिको फटकारती हुई किसी खण्डिता रमणीका वर्णन करते हैं।) 'कामपरवशा दूसरी रमणी (सपत्नी) के सुरतवेगके सङ्घर्षोंसे सम्यक् प्रकारसे सम्पूर्ण अङ्गरागों (कुङ्कुमादिकृत अङ्गलेपों) के भिन्न (विरलित) हो जानेपर आश्चर्यके स्थानरूप तुम्हारे (अद्भुत) मुखका राग (रङ्ग, पक्षा०—विकास अर्थात प्रफुल्लता) भिन्न नहीं हुआ अर्थात नहीं घटा, यह बहुत ही आश्चर्य है ॥ ३१ ॥

प्रकटतरमिमं मा द्राक्षुरन्या रमण्यः
स्फुटमिति सविशङ्कं कान्तया तुल्यवर्णः।
चरणतलसरोजाक्रान्तिसंक्रान्तयासौ
वपुषि नखविलेखो लाक्षया [1]रक्षितस्ते ॥ ३२ ॥

प्रकटेति ॥ किञ्च प्रकटतरमतिस्फुटमिममेनं नखविलेखम् अन्या रमण्यो निजसपत्न्यः स्फुटं मा द्राक्षुः न पश्यन्तु। दृशेर्लुङ् 'न दृशः' (३।१।४७) इति क्साभावपक्षे सिचि वृद्धिः। इति बुद्ध्या कान्तया सविशङ्कं यथा तथा तुल्यवर्णो लाक्षासमानवर्णः। विवर्णस्य दुरपह्नवत्वादिति भावः। असौ ते तव वपुषि नखविलेखो नखव्रणश्चरणतलं सरोजमिवेत्युपमितसमासः। आक्रान्तिलिङ्गात्तस्याक्रान्त्या आघातेन संक्रान्तया लाक्षया रक्षितो गुप्तः। आच्छादित इत्यर्थः। हन्त सा तु पापीयसी लाक्षा स्वयमेव सर्वदुर्वृत्तपिशुनेति भावः। अत्र नखविलेखस्य लाक्षासावर्ण्यात्तदेकतापत्तेः सामान्यालंकारः। 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात्।

अत्यन्त स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हुए इस नखक्षतको दूसरी रमणियाँ (मेरी सपत्नियाँ) न देखें, इस शङ्काके साथ समान रंगवाली कमलतुल्य पैरके तलवेके आघातसे लगी हुई लाक्षा (महावर) से तुम्हारे शरीर (वक्षःस्थल) में किये गये नखक्षतको रमणी (मेरी सपत्नी) छिपा दिया है ॥ ३२ ॥

तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति प्रियजनपरिभुक्तं यद्दुकूलं दधानः।
मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्रीर्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥

तदिति ॥ किञ्च मम त्वमेव प्रियेति यदवादीरवोचः। वदेर्लुङि 'वदव्रज-

---

[1] 'रञ्जितस्ते' इति पा०।

(७।२।३) इत्यादिना वृद्धिः । तदवितथं सत्यम् । कुतः । यद्यस्मात् प्रियजनेन परिभुक्तं दुकूलम् । तदीयमित्यर्थः । दधानः धारयन्नित्यर्थः । 'दधान' इत्यत्र 'वसानः' इति पाठे वसान आच्छादयन् । वस आच्छादनार्थाल्लटः शानजादेशः। स त्वं मदधिवसतिं मम निवासभागाः प्राप्तः । 'इणो गा लुङि' (२।४।४५) । युक्तं चैतदित्याह–कामिनां मण्डनश्रीर्वल्लभानां प्रेयसीनामालोकनेन सफलत्वं व्रजति हि । अप्रिया चेत्कथमीदृशी मे सम्भावनेति भावः । अर्थान्तरन्यासः ॥ ३१ ॥

'तुम ही मेरी प्रिया हो' यह जो तुमने कहा था, वह बिल्कुल सत्य था, क्योंकि प्रियजन (मेरी सपत्नी) के द्वारा धारण किये गये कपड़ेको पहने (पाठा०–ओढ़े) हुए तुम मेरे भवन में आये हो, (यह ठीक ही है), क्योंकि कामियोंके मण्डनोंकी शोभा प्रियाके दर्शनमात्रसे ही सफल हो जाती है (अर्थात् व्यङ्ग्यसे उसने यह कहा कि मुझे तुम जो प्रिया कहते थे वह बिलकुल ही झूठ बोलते थे, क्योंकि मेरी सपत्नीके कपडेको पहनकर यहाँपर तुम्हारा आना ही सूचित करता है कि तुम मुझसे नहीं, अपितु मेरी सपत्नीसे प्रेम करते हो) ॥ ३३ ॥

नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्पन्नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥

नवेति ॥ किञ्च नवानि नखपदानि यस्मिंस्तदङ्गं वपुरंशुकेन गोपयसि छादयसि । गुपेश्चौरादिकात्स्वार्थे णिच् । दन्तेन दष्टमोष्ठं पुनरोष्ठं तु पाणिना स्थगयसि छादयसि । स्थगिरपि चौरादिकः । दिशि दिशि प्रतिदिशम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' (५।४।१०७) इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः । विसर्पन् प्रसर्पन् अपरस्त्रीसङ्गशंसी स्त्र्यन्तरसङ्गसूचकः । अन्यप्रभवत्वात्तस्येति भावः । नवः परिमलाख्यो गन्धः परिमलगन्धः । 'विमर्दोत्थे परिमलः' इत्यमरः । केन केनोपायेन वरीतुमाच्छादयितुम् । 'वृतो वा' (७।२।३८) इतीटो दीर्घः । शक्यः । न केनापि शक्य इत्यर्थः । अत्र नखदन्तक्षतयोरङ्गौष्ठाच्छादने विसर्पणस्य गन्धानाच्छाद्यत्वे च विशेषणगत्या हेतुकत्वात्काव्यलिङ्गद्वये सजातीयसङ्करः ॥ ३४ ॥

(मेरी सपत्नीके द्वारा किये गये) नये नखक्षतों से चिह्नित अङ्गको कपड़ेसे (ढककर) छिपाते हो और दन्तक्षतयुक्त अधरको हाथसे ढकते हो; किन्तु प्रत्येक दिशामें अर्थात् सब तरफ फैलनेवाले, दूसरी रमणीके सङ्गको बतलानेवाले नव सम्मर्दनोत्पन्न गन्धको किससे (ढककर) छिपा सकते हो ? अर्थात् उसे किसी प्रकार नहीं छिपा सकते, अतएव इस गन्ध से तुम्हारा परस्त्रीसम्भोग करना स्पष्ट हो जाता है ॥ ३४ ॥

इति कृतवचनायाः कश्चिदभ्येत्य बिभ्यद्गलितनयनवारेर्याति पादावनामम् ।
करुणमपि समर्थं मानिनां मानभेदे रुदितमुदितमस्त्रं योषितां विग्रहेषु ॥
(कुलकम् ३१–३५)

---

१. 'मुहु–' इति पा० ।

इतीति ॥ इति पूर्वोक्तश्लोकचतुष्टयरीत्या कृतवचनायाः कृतोपालम्भायाः गलितनयनवारेरधैर्यान्मुक्ताश्रोः । प्रेयस्या इति शेषः । कश्चिन्नायको बिभ्यत् त्रस्यन् । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) इति नुमभावः । अभ्येत्यागत्य पादयोरवनाममव-नतिं याति । प्रणामेन प्रसादयतीत्यर्थः । ननु कथमीदृङ्मार्दवं तथाहंकारिणस्तस्य रोदनमात्रेण तत्राह—करुणमिति । तथा हि—विग्रहेषु प्रणयकलहेषु योषितां करुणं दीनमपि रुदितमश्रुमोचनं मानिनामहंकारिणां पुंसां मानभेदेऽहङ्कारनिरासे समर्थं शक्तमस्त्रं साधनमुदितमुक्तम् । वदेः कर्मणि क्तः 'वचिस्वपि—' (६।१।१५) इत्या-दिना सम्प्रसारणम् । दीने प्रणयिजने पुंसां कोऽहङ्कार इति भावः । अर्थान्तरन्यासः । एषा च खण्डिता नायिका । 'नीत्वान्यत्र निशां प्रातरागते प्राणवल्लभे । अन्या-सम्भोगचिह्नैस्तु खण्डितेर्ष्याकषायिता ॥' इति लक्षणात् । नायकस्तु धृष्टः । 'व्यक्ताङ्गो निर्भयो धृष्टः' इति लक्षणात् । न चेह बिभ्यद्विशेषणविरोधः । आगमनकालेऽनिर्भी-कताया एव लक्षणोपयोगात् । अन्यथा वैरं स्यादिति भावः । अयं च सुहृदयः, अन्यथा रसाभास इत्याहुः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार (११।३१–३४) उपालम्भ देती हुई एवं आँसू बहाती हुई रमणीसे डरता हुआ कोई धृष्ट नायक उसके चरणोंपर पड़ गया, क्योंकि प्रणयकलहमें रमणियोंका करुण रोना भी मानी पुरुषोंका मानभङ्ग करनेमें अमोघ अस्त्र होता है ॥ ३५ ॥

मदमदनविकासस्पष्टधाष्ट्योंदयानां
रतिकलहविकीर्णैर्भूषणैरर्चितेषु ।
विदधति न गृहेषूत्फुल्लपुष्पोपहारं
विफलविनययत्नाः कामिनीनां वयस्याः ॥ २६ ॥

मदेति ॥ मदमदनयोर्विकासेन विजृम्भणेन स्पष्टो धाष्ट्यंस्योदय आविर्भावो यासां तासां कामिनीनां रतिरेव कलहः तस्मिन्विकीर्णैरितस्ततो विक्षिप्तैर्भूषणैर-र्चितेषु गृहेषु वयस्याः स्निग्धपरिचारिकाः विनीयन्तेऽस्मिन्निति विनयोऽधिकारः तत्र यत्नो विफलो यासां ता विफलविनययत्नाः निष्फलस्वाधिकारोद्योगाः सत्यः उत्फुल्लैः पुष्पैरुपहारं पूजां न विदधति न कुर्वन्ति । अत्र समृद्धवस्तुवर्णनादुदात्ता-लङ्कारः । 'तदुदात्तं भवेद्यत्र समृद्धं वस्तु वर्ण्यते' इति लक्षणात् । तेन तासां तेष्वा-भरणेषु मुक्तवस्त्रमाल्यादिवन्निर्माल्यबुद्धिर्ध्वन्यते ॥ ३६ ॥

मद तथा कामवासनाके बढ़नेसे उत्पन्न धृष्टतासे युक्त रमणियोंके रतिरूपी कलहमें इधर-उधर फैले हुए अलंकारोंसे शोभायमान भवनोंमें उनकी प्रिय परिचारिकाएँ अपने अधिकारके प्रयत्नोंमें विफल होकर पुष्पोंसे उन गृहोंकी पूजा नहीं कर रही हैं अर्थात् फैले उक्त अल-ङ्कारोंसे ही पुष्पपूजनका कार्य सम्पादन हो जानेके कारण पुनः पुष्पोंसे उनकी पूजा करना (उन्हें फूलोंसे सजाना) व्यर्थ जानकर वैसा नहीं कर रही हैं ॥ ३६ ॥

करजदशनचिह्नं नैशमङ्गेऽन्यनारी-
जनितमिति सरोषामीर्ष्यया शङ्कमानाम् ।
स्मरसि न खलु दत्तं मत्तयैतत्त्वयैव
स्त्रियमनुनयतीत्थं व्रीडमानां विलासी ॥ ३७ ॥

करजेति ॥ विलसनशीलो विलासी । 'वौ कषलस–' (३।२।१४३) इत्यादिना घिनुण्प्रत्ययः । अङ्गे निजाङ्गे निशायां भवं नैशम् । 'निशाप्रदोषाभ्यां च' (४।३।१४) इत्यण्प्रत्ययः । करजदशनचिह्नं नखदन्तक्षतमन्यनारीजनितं सपत्नीकृतमिति शङ्कमानां विश्वसतीमत एवेर्ष्यया अक्षमया सरोषां स्त्रियं निजवधूं मत्तया मदमूढया त्वयैवैतद्दत्तमेवं कृतं खलु न स्मरसि नाभिजानासि किमिति काकुः । इत्थमनेन प्रकारेण व्रीडमानां स्वकृतत्वप्रत्यभिज्ञानाल्लज्जितां सतीमनुनयत्यङ्गीकारयति । स्वमौग्ध्यव्याघातो निर्वेदश्च लज्जया व्यज्यते ॥ ३७ ॥

कोई विलासी पुरुष, रात्रिमें स्वयं किए गए नखक्षत तथा दन्तक्षतको 'इसे दूसरी रमणीने किया है' ऐसी शङ्का करके क्रुद्ध हुई रमणीको 'मदसे मतवाली तुमने ही इसे (इस नखक्षत तथा दन्तक्षतको) किया है, यह स्मरण नहीं करती हो ?' यह सुनकर लज्जित हुई रमणीको मना रहा है ॥ ३७ ॥

कृतगुरुतरहारच्छेदमालिङ्ग्य पत्यौ
परिशिथिलितगात्रे गन्तुमापृच्छमाने ।
विगलितनवमुक्तास्थूलबाष्पाम्बुबिन्दु-
स्तनयुगमबलायास्तत्क्षणं रोदितीव ॥ ३८ ॥

कृतेति ॥ कृतो गुरुतरस्य हारस्य छेदो यस्मिंस्तत्तथा आलिङ्ग्य परिशिथिलितगात्रे शिथिलीकृताङ्गे पत्यौ भर्तरि गन्तुमापृच्छमाने आमन्त्रयमाणे सति । 'आङि नुप्रच्छ्योः' (वा०) इत्युपसंख्यानादात्मनेपदम् । कर्तरि लिटः शानजादेशः । तत्क्षणं तस्मिन्क्षणे । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । अबलायाः स्तनयुगं कर्तृ । विगलिता निःसृता नवमुक्ता नूतनमौक्तिकान्येव स्थूलबाष्पाम्बुबिन्दवो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा रोदितीव विरहासहिष्णुतया रोदनं करोतीवेत्युत्प्रेक्षा रूपकसङ्कीर्णा । 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' इतीडागमः ॥ ३८ ॥

रमणने रमणीका ऐसा गाढ़ालिङ्गन किया कि उसका मोतीका लम्बा हार टूट गया, ऐसा आलिङ्गन करनेके बाद अपने अङ्गको ढीलाकर रमणने जब जाने के लिए रमणीसे पूछा तब ऐसा ज्ञात हो रहा था कि उस रमणीके दोनों स्तन मानो गिरते हुए नये मोतियोंके समान बड़े-बड़े अश्रुबिन्दुओं को टपकाते हुए रो रहे हैं ॥ ३८ ॥

बहु जगद पुरस्तात्तस्य मत्ता किलाहं
चकर च किल चाटु प्रौढयोषिद्वदस्य ।
विदितमिति सखीभ्यो रात्रिवृत्तं विचिन्त्य
व्यपगतमदयाह्नि व्रीडितं मुग्धवध्वा ॥ ३९ ॥

बह्विति । अह्नि दिवसे व्यपगतमदया मुग्धवध्वा सखीभ्यो विदितम् । रात्रौ त्वयेत्थं कृतमिति सखीभिराख्यातमित्यर्थः । रात्रिवृत्तम् । रात्रौ कृतं स्वचेष्टितमित्यर्थः । मत्ता मदमूढा अहं तस्य प्रियस्य पुरस्तादग्रे बहु अनेकं जगद किल गदानि स्म । किलेति ऐतिह्ये । अत एव 'परोक्षे लिट्' (३।२।११५) 'णलुत्तमो वा' (७।१।९१) इति पक्षे णित्वाभावादवृद्ध्यभावः । च पुनः प्रौढयोषिता तुल्यं प्रौढयोषिद्वदित्युपमा। 'तेन तुल्यम्–' (५।१।११५) इति वतिप्रत्ययः । अस्य प्रियस्य। चाटु प्रियवचनं चकर किल अकार्षं किल । लिडादिपूर्ववद्गुणो विशेषः । विचिन्त्य विमृश्य व्रीडितं लज्जितम् । भावे क्तः । निजकार्यप्रकाशेन लज्जात्र सञ्चारी भावः । भावनिबन्धनाश्रेयोऽलङ्कारः ॥ ३९ ॥

'(रातको सुरतकालमें कामवासनासे) मतवाली होकर मैंने उस (प्रियतम) के सामने बहुत कुछ कहा, तथा प्रौढ़ रमणीके समान इस (प्रियतम) की चाटुकारी (चापलूसी) भी की' सखियोंसे मालूम हुए रात्रीके इस वृत्तान्तको सोचकर काममदशून्य नवोढा दिनमें लज्जित हो गयी ॥ ३९ ॥

अरुणजलजराजीमुग्धहस्ताग्रपादा बहुलमधुपमालाकज्जलेन्दीवराक्षी[1] ।
अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरन्ती रजनिमचिरजाता पूर्वसन्ध्या सुतेव॥

अरुणेति ॥ अरुणजलजराज्येव रक्तकमलश्रेण्येव मुग्धं सुन्दरं हस्ताग्रपादं हस्तौ च अग्रपादौ च यस्याः सा बहुलं मधुपमालाकज्जलं कज्जलमिव मधुपमाला ययोस्ते अक्षिणी इन्दीवरे इव यस्याः सा बहुलमधुपमालाकज्जलेन्दीवराक्षी पत्रिणां पक्षिणां विरावैः व्याहरन्ती आलपन्ती । 'व्याहार उक्तिर्लपितम्' । इत्यमरः । अचिरजाता सद्योभवा बाला च पूर्वसन्ध्या प्रातःसन्ध्या सुतेव पुत्रीव रजनिमनुपतत्यनुधावति । जननीमिवेत्यर्थः । इह विरावैर्व्याहरन्तीति व्यधिकरणपरिणामः तत्सङ्कीर्णेयमुपमा ॥

लाल कमल-समूहरूपी सुन्दर हस्ततल तथा पादतल (हथेली तथा पैरके तलुवे) वाली, बहुतसे भ्रमररूप कज्जलसे युक्त नीलकमलके समान (या-नीलकमलरूप) नेत्रों वाली और पक्षियोंके कलवरसे बोलती हुई थोड़े दिनकी उत्पन्न (किशोरी) बालिकाके समान प्रातःकालकी सन्ध्या रात्रिके पीछे पीछे दौड़ रही है ॥ ४० ॥

---

१. 'बहल—' इति पाठा० ।

प्रतिशरणमशीर्णज्योतिरग्न्याहितानां
विधिविहितविरिब्धैः सामिधेनीरधीत्य ।
कृतगुरुदुरितौघध्वंसमध्वर्युवर्यै-
र्हुतमयमुपलीढे साधु सान्नाय्यमग्निः ॥ ४१ ॥

प्रतीति ॥ अग्निराहितो यैस्तेषामग्न्याहितानाम् । 'वाहिताग्न्यादिषु' (२।२।१३) इति निष्ठायाः परनिपातः । प्रतिशरणं प्रतिगृहम् । 'शरणं गृहरक्षित्रोः' इत्यमरः । अशीर्णज्योतिरक्षतार्चिरयमग्निराहवनीयः विधिना 'यज्ञकर्मण्यजपन्यूङ्खसामसु' (१।२।३४) इत्यादिशास्त्रोक्तरीत्या विहिता यथायोगमुच्चारिता विरिब्धाः स्वरा एकश्रुत्यादयश्चत्वारो यैस्तैः । 'क्षुब्धस्वान्त–' (७।२।१८) इत्यादिना 'रेभृ शब्दे' इति धातोः स्वरे विरिब्धशब्दो निष्ठान्तोऽनिट्त्वेन निपातितः । अध्वर्युवर्यैः ऋत्विक्श्रेष्ठैः । ऋत्विग्विशेषवाचिनाध्वर्युशब्देन ऋत्विङ्मात्रलक्षणात् । यद्वा अध्वर्युः वर्यो मुख्यो येषां तैरध्वर्युप्रमुखैः, चतुर्भिर्ऋत्विग्भिरित्यर्थः । तस्माद्दर्शपौर्णमासयोर्यज्ञक्रत्वोश्चत्वार ऋत्विज इति श्रवणात् । दर्शश्चाय सत्यत्रैव सांनाय्यविधानादिति । सामिधेनीः 'प्र वो वाजा' (ऋग्वेदे ३।२।१५) इत्यादिका अग्निसमिन्धनीर्ऋचोऽधीत्य पठित्वा 'ऋक्सामिधेनी धाय्या च या स्यादग्निसमिन्धने' इत्यमरः । सामिधेनीग्रहणं याज्यापुरोनुवाक्यादिमन्त्रान्तराणामप्युपलक्षणम् । कृतो गुरुतरदुरितानामोघस्य ध्वंसो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा साधु सम्यक् हुतं देवतोद्देशेन त्यक्तं संनीयत इति सांनाय्यं हविर्विशेषम् । 'ऐन्द्रं दध्यमावास्यायामैन्द्रं पयोऽमावास्याया'मिति विहिते दधिपयसी इत्यर्थः । 'पाय्यसांनाय्यनिकाय्य–' (३।१।१२९) इत्यादिना हविर्विशेषे संपूर्वान्नयतेर्ण्यन्तादायादेशोपसर्गदीर्घनिपातः । उपलीढे आस्वादयति । 'लिह आस्वादने' इति धातोः स्वरितेत्वाल्लटि तङि टेरेत्वं ढत्वधत्वष्टुत्वढलोपदीर्घाः । अत्राग्नेः सांनाय्योपलेहनस्योत्तरकालभावित्वेऽपि तदुपलक्षितस्य कर्मण उदिते आदित्ये पौर्णमास्यास्तन्त्रं प्रक्रमति प्रागुदयादमावास्याया इति शास्त्रात्सत्कालप्रक्रान्तस्य वर्तमानत्वात्तस्यापि वर्तमानताव्यपदेशः । एतच्चाहिताग्नित्वमात्रेण कालविशेषानादरेणोक्तमिति पूर्वोक्तचन्द्रोदयाद्यविरोधः । अथवा 'उदिते जुहोत्यनुदिते जुहोति प्रातर्जुहोत्यग्निहोत्रम्' इति तत्कालत्वात्सामिधेनीसांनाय्यशब्दयोर्मन्त्रहविर्मात्रपरत्वमाश्रित्याग्निहोत्रपरत्वेन व्याख्येयम् । तस्मादग्निहोत्रस्य यज्ञक्रत्वोः एकऋत्विग्त्येकाध्वर्युकत्वेऽध्वर्युवर्यैरिति बहुवचनं यजमानबहुत्वादुपपद्यत इत्याहुरित्यलं छान्दसगोष्ठीव्यसनेन । वृत्त्यनुप्रासोऽलंकारः स्पष्ट एव ॥ ४१ ॥

अग्निहोत्रियोंके प्रत्येक गृह (अग्निहोत्रशालाओं) में सम्यक् प्रकारसे जलती हुई अग्नि, शास्त्रोक्त विधिसे एक श्रुत्यादि स्वरोंका उच्चारण करनेवाले श्रेष्ठ ऋत्विजोंके द्वारा सामधेनी (अग्निको प्रज्वलित करनेवाला 'प्र वो वाजा' इत्यादि मन्त्रविशेष) को पढ़कर

बड़े-बड़े पाप-समूहोंके विनाशपूर्वक हवन किये गये (अथवा—वहन किये गये बड़े-बड़े पाप-समूहोंको नष्ट करनेवाले) हविष-विशेषको सम्यक् प्रकारसे आस्वादन कर (जला) रही है ॥ ४१ ॥

प्रकृतजपविधीनामास्यमुद्रश्मिदन्तं मुहुरपिहितमोष्ठ्यैरक्षरैर्लक्ष्यमन्यः।
अनुकृतिमनुवेलं घट्टितोद्घट्टितस्य व्रजति नियमभाजां मुग्धमुक्तापुटस्य ॥

प्रकृतेति ॥ प्रकृतजपविधीनां प्रक्रान्तजपकर्मणां नियमभाजां तपस्विनां सम्बन्धे ओष्ठे भवैरोष्ठ्यैः। 'शरीरावयवाच्च' (४।३।५५) इति यत्प्रत्ययः। अक्षरैर्वर्णैः। उपूपध्मानीयैरित्यर्थः। 'उपूपध्मानीयानामोष्ठौ' इत्यनुशासनात्। मुहुरपिहितमावृतमन्यैरनोष्ठ्यैरक्षरैर्लक्ष्यं दर्शनीयं अत एवोद्रश्मय उद्गतांशवो दन्ता यस्य तदास्यं मुखमनुवेलं प्रतिक्षणं घट्टितोद्घट्टितस्य प्राणित्वान्मुहुर्घटितविघटितस्य। विशेषणसमासः। मुग्धं सुन्दरं यन्मुक्तानां मुक्ताफलानां पुटं कोटिः। शुक्तिरिति यावत्। तस्यानुकृतिं साम्यं व्रजति। उपमालङ्कारः। एतेन श्लोकद्वयेन बहवः कर्मनिष्ठास्तपोनिष्ठाश्च ब्राह्मणा भगवन्तमनुयान्तीति कथितम् ॥ ४२ ॥

जप करते हुए नियमतत्पर (तपस्वियों) के, (उ ऊ प फ ब भ म ≍प≍फ—इन) ओष्ठ्य अक्षरोंसे बार-बार बन्द तथा दूसरे (उक्त अक्षरोंको छोड़कर अन्य) अक्षरोंसे दिखलाई पड़ता हुआ (अतएव) बाहर निकलती हुई प्रभा से युक्त दाँतोंवाला मुख, प्रतिक्षण बन्द होते तथा खुलते हुए सुन्दर मोतीके बन्द शुक्तिपुटकी समानताको प्राप्त करता है।

विमर्श—पूर्वोक्त दो श्लोकों (११।४१-४२) से यह सूचित होता है कि श्रीकृष्ण भगवान्‌के साथ केवल सैनिक तथा राजा-रानी आदि ही यात्रा नहीं कर रहे हैं, किन्तु बहुत-से कर्मनिष्ठ एवं तपोनिष्ठ महात्मा भी यात्रा कर रहे हैं ॥ ४२ ॥

नवकनकपिशङ्गं वासराणां विधातुः
ककुभि कुलिशपाणेर्भाति भासां वितानम्।
जनितभुवनदाहारम्भमम्भांसि दग्ध्वा
ज्वलितमिव महाब्धेरूर्ध्वमौर्वानलार्चिः ॥ ४३ ॥

नवेति ॥ कुलिशं पाणौ यस्य स कुलिशपाणिरिन्द्रः। 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' (वा०) इति पाणेः परनिपातः। एतदेवात्र व्यधिकरणबहुव्रीहेश्च ज्ञापकम्। तस्य ककुभि प्राच्यां दिशि नवकनकवत्पिशङ्गं वासराणां विधातुर्दिनकरस्य भासां वितानं करजालं महाब्धेरम्भांसि दग्ध्वा जनितभुवनदाहारम्भं कृतजगद्दाहोद्योगं सदूर्ध्वमब्धेरुपरि ज्वलितमौर्वानलार्चिर्वडवानलज्योतिरिव भातीत्युत्प्रेक्षा ॥

पूर्व दिशामें नये (तपाये गये) सोनेके समान पिङ्गलवर्ण, सूर्य की किरणों का समूह,

१. 'मुहुरुपहित' इति पा०।

(समुद्रके) पानीको जलाकर संसारको जलानेके लिए उद्यत, महासमुद्रके ऊपर जलती हुई वडवाग्नि-ज्वालाके समान शोभता है ॥ ४३ ॥

विततपृथुवरत्रातुल्यरूपैर्मयूखैः
कलश इव गरीयान्दिग्भिराकृष्यमाणः ।
कृतचपलविहंगालापकोलाहलाभि-
र्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः ॥ ४४ ॥

विततेति ॥ वितताभिः प्रसारिताभिः पृथुवरत्राभिर्महारज्जुभिः तुल्यरूपैस्तुल्याकारैः मयूखैः किरणैः गरीयान् कलश इवाकृष्यमाणः सन्नेषोऽर्कः कृतश्चपलः सत्वरो विहंगालाप एव कोलाहलः कलकलो याभिस्ताभिः दिग्भिर्जलनिधेः जलमध्यादुत्तार्यते उद्ध्रियते । तरतेऽर्ण्यन्तात्कर्मणि लट् । यथा कुतश्चित्कूपात्कुम्भः पाशैराकृष्य सकलकलं बहुभिः स्त्रीभिरुद्ध्रियते तद्वदिति भावः । अत्र वरत्रातुल्यरूपैः कलश इवेति चोपमाभ्यां विहंगालापकोलाहलेति रूपकेण चोज्जीवितार्कस्य दिक्कर्तृकोत्तारणोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगात्प्रतीयमानेति संकरः ॥ ४४ ॥

फैली हुई बड़ी-बड़ी रस्सियोंके समान किरणोंसे, चञ्चल पक्षियोंके कलरवरूप कोलाहलको करती हुई (कुएँसे पानीका भरा हुआ-बड़ा सा घड़ा खींचनेवाली स्त्रीरूपिणी) दिशाएँ बड़े भारी घड़ेके समान इस सूर्यको समुद्रके पानीके भीतरसे बाहर निकाल (खींच) रही हैं ॥ ४४ ॥

पयसि सलिलराशेर्नक्तमन्तर्निमग्नः
स्फुटमनिशमतापि ज्वालया वाडवाग्नेः ।
यदयमिदमिदानीमङ्गमुद्यन्दधाति
ज्वलितखदिरकाष्ठाङ्गारगौरं विवस्वान् ॥ ४५ ॥

पयसीति ॥ अयं च विवस्वान् नक्तं सलिलराशेः पयसि निमग्नोऽन्तर्वाडवाग्नेर्ज्वालयानिशमतापि तप्तः स्फुटमित्युत्प्रेक्षा । कुतः । यदिदानीमुद्यन् इदं ज्वलितः प्रज्वलन् यः खदिरकाष्ठस्याङ्गारः तद्वद्गौरमरुणमङ्गं दधाति । 'गोरोऽरुणे सिते पीते' इति विश्वः ॥ ४५ ॥

रात्रिमें समुद्रके पानीमें डूबा हुआ यह सूर्य भीतरमें स्थित बडवाग्निकी ज्वालासे मानो बहुत ही सन्तप्त हो गया है, क्योंकि ऊपर निकलता (उदय होता) हुआ यह सूर्य इस समय जलती हुई खैरकी लकड़ीके अङ्गारेके समान लाल शरीरको धारण कर रहा है ॥४५॥

अतुहिनरुचिनासौ केवलं नोदयाद्रिः क्षणमुपरिगतेन क्ष्माभृतः सर्व एव ।
नवकरनिकरेण स्पष्टबन्धूकसूनस्तबकरचितमेते शेखरं बिभ्रतीव ॥ ४६ ॥

---

१. —चटुल—' इति पा० ।

अतुहिनेति ॥ क्षणमुपरिगतेन स्थितेनातुहिनरुचिनार्केण केवलमसावुदयाद्रिः पूर्वाद्रिर्न। 'उदयः पूर्वपर्वतः' इत्यमरः। किंत्वेते सर्वं एव क्षमाभृतः सर्वेऽपि शैलाः क्षणमुपरिगतेनावस्थितेन नवकरनिकरेण स्पष्टैर्विकसितैः बन्धूकसूनस्तबकैर्बन्धुजीवककुसुमगुच्छैः विरचितम्। 'बन्धूको बन्धुजोवकः' इत्यमरः। शेखरं शिखामाल्यम्। 'शिखास्वापीडशेखरौ' इत्यमरः। बिभ्रतीवेत्युत्प्रेक्षा। न केवलमर्केणोदयाद्रिरेव बन्धूकशेखरं बिभर्ति, किन्तु तत्करजालेन सर्वेऽपि पर्वतास्तथेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

क्षणमात्र ऊपर स्थित हुए सूर्यसे केवल उदयाचल ही नहीं, किन्तु ये सभी पर्वत, मानो क्षणमात्र ऊपरमें स्थित नवीन किरण-समूहसे विकसित ओढ़उलके फूलोंके गुच्छोंसे बनाये गये शिरोमाल्यको धारण कर रहे हैं ॥ ४६ ॥

उदयशिखरिशृङ्गप्राङ्गणेष्वेष रिङ्खन्[1]
सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः।
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः।
परिपतति दिवाऽङ्के हेलया बालसूर्यः ॥ ४७ ॥

उदयेति ॥ एष बाल उदितमात्रः बालश्चासौ सूर्यश्च बालसूर्यः उदयशिखरिशृङ्गस्योदयाद्रिशिखरस्य प्राङ्गणेषु रिङ्खन् संचरन् पद्मिनीभिर्नलिनीभिः स्त्रीविशेषैश्च। 'पद्मिनी स्त्रीविशेषेऽपि' इति विश्वः। कमलान्येव मुखानि तेषां हासेन विकासेन, हास्येन च सह यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा वीक्षितः सन्। वयोभिः पक्षिभिः। 'वयः पक्षिणि बाल्यादौ' इति विश्व'। शब्दयन्त्याः शब्दं कुर्वत्याः। 'आगच्छागच्छ वत्स' इति व्याहरन्त्या इत्यर्थः। शब्दशब्दात् 'तत्करोति—' (ग०) इति ण्यन्ताल्लटः शतरि ङीप्। दिवोऽन्तरिक्षस्य मातुश्चाङ्के समीपे, उत्सङ्गे च विततानि प्रसृतानि मृदूनि कराग्राणि किरणाग्राणि हस्ताग्रे च यस्य सन् हेलया लीलया परिपतति। श्लेषमूलातिशयोक्त्यनुगृहीतरूपकम् ॥ ४७ ॥

उदयाचलके शिखररूपी आँगनमें रेंगता (पक्षा०—घुटनेके बलसे चलता) हुआ, कमलिनियोंके द्वारा कमलरूपी मुखके हास्यके साथ देखा गया कोमल हस्ताग्र (पक्षा०—अनुष्ण किरणाग्र) को फैलाया हुआ यह बालसूर्य (बालकरूपी सूर्य) पक्षियों (के कलरवों) के द्वारा बुलाती हुई (मातृतुल्य) दिव अर्थात् आकाशके अङ्क (गोद, बीच) में जा रहा है।

विमर्श—जिस प्रकार आँगनमें घुटनेके बलसे चलते हुए छोटे बच्चेको हँसती हुई स्त्रियाँ देखती हैं, और उच्च स्वरसे उसे जब बुलाती है तब वह कोमल-कोमल हाथोंको फैलाता हुआ गोदमें जानेके लिए आगे बढ़ने लगता है; उसी प्रकार यहाँपर बालसूर्य उदयाचलके शिखरपर घूमता है, उसे विकसित हुई कमलिनियाँ देख रही हैं तथा पक्षियोंके कलरव द्वारा आकाशरूपिणी माता उसे अपने पास बुला रही है, तब वह बालसूर्य अप्रखर

[1] १. 'रिङ्गन्' इति पा०।

किरणोंको फैलाता हुआ उस आकाशकी गोद (मध्य) की ओर वेगपूर्वक बढ़ रहा है। यह यह श्लेषमूलक अतिशयोक्तिसे युक्त रूपकका बहुत सुन्दर वर्णन कविने किया है ॥ ४७ ॥

क्षणमयमुपविष्टः क्ष्मातलन्यस्तपादः ।
प्रणतिपरमवेक्ष्य प्रीतमह्नाय लोकम् ।
भुवनतलमशेषं प्रत्यवेक्षिष्यमाणः
क्षितिधरतटपीठादुत्थितः सप्तसप्तिः ॥ ४८ ॥

क्षणमिति ॥ अयं सप्तसप्तिरर्कः क्षणमुपविष्टः क्षितिधरपीठमध्यासीनः क्ष्मातलन्यस्तपादः। प्रणामस्वीकाराय भूतलप्रसारिताङ्घ्रिरित्यर्थः। प्रणतिपरं नमस्कारं कुर्वाणं प्रीतं प्रणामस्वीकारात् संतुष्टं लोकं जनमह्नाय झटित्यवेक्ष्य। 'झटित्यञ्जसाह्नाय' इत्यमरः। रूपावलोकेन संभाव्याशेषं भुवनतलं लोकस्वरूपं प्रत्यवेक्षिष्यमाणोऽनुसंधास्यमानः क्षितिधरस्य तटं पीठमिव सिंहासनमिव। अन्यत्र तटमिव पीठं तस्मादुत्थितः। उदयाद्रिमतिक्रान्त इत्यर्थः। यथा कस्मिन्महाराजः सिंहासनोपनिविष्टः क्षणं प्रणतजनमाहत्य अथ सकलस्वराष्ट्रप्रत्यवेक्षणाय सहसोत्थाय गच्छति तद्वदित्यर्थः। अत्र प्राकृतार्कविशेषणवैभवादप्रकृतमहाराजप्रतीतेः समासोक्तिः ॥४८॥

(उदयाचलके शिखररूपी सिंहासनपर) क्षणभर बैठा हुआ, (और बादमें उठनेके लिए) भूतलपर पैर (पक्षा०—किरणों) को स्थापित किया हुआ, एवं प्रणाम करने में तत्पर अर्थात् प्रणाम करते हुए (और प्रणामके स्वीकार करनेसे) प्रसन्न जगत्को शीघ्रताके साथ देखकर सम्पूर्ण भूतलको देखना चाहनेवाला (नृपतिरूप) सूर्य (उदयाचल) पर्वतके तटरूपी सिंहासनसे उठ रहा है।

विमर्श—जिस प्रकार सिंहासनपर बैठा हुआ राजा प्रणामपरायण प्रजाको प्रणाम—स्वीकार करनेसे सन्तुष्ट देखकर भूतलपर पैर रखकर समस्त प्रजा-समूहका निरीक्षण करने के लिए सिंहासनसे उठता है, वैसे ही यहाँ सूर्यको राजा, उदयाचलशिखरको सिंहासन एवं लोकको प्रजा मानकर कविने समासोक्ति अलङ्कार द्वारा बहुत सुन्दर कल्पना की हैं ॥

परिणतमदिराभं भास्करेणांशुबाणै-
स्तिमिरकरिघटायाः सर्वदिक्षु क्षतायाः ।
रुधिरमिव वहन्त्यो भान्ति बालातपेन
च्छुरितमुभयरोधोवारितं वारि नद्यः ॥ ४९ ॥

परिणतेति ॥ नद्यः बालातपेन छुरितं रूषितम् अत एव परिणतमदिराभं सुपक्वसुरासंनिभमुभाभ्यां रोधोभ्यां वारितमवरुद्धमुभयरोधोवारितम्। 'उभादुदात्तो नित्यम्' (५।२।४४) इत्यत्र नित्यग्रहणसामर्थ्याद्वृत्तिविषये उभशब्दस्य स्थाने उभयशब्दप्रयोग इत्युक्तं प्राक्। वारि जलं भास्करेण। कस्कादित्वात्सत्वम्। अंशु-

भिरेव बाणैः। सर्वदिक्षु क्षतायाः प्रहृतायास्तिमिरमेव करिघटा गजसङ्घस्तस्या रुधिरमिवेत्युत्प्रेक्षा। वहन्त्यो भान्ति ॥ ४९ ॥

नदियाँ प्रातःकालके घामसे मिश्रित (अतएव), परिपक्व मदिराके समान अरुणवर्ण तथा दोनों तटोंसे अवरुद्ध जलको, सूर्य के द्वारा किरण रूपी बाणोंसे सब ओर क्षत (आहत किये गये) अन्धकाररूप गजोंके समूहके रक्तके समान धारण करती (बहाती) हुई शोभ रही हैं ॥ ४९ ॥

दधति परिपतन्त्यो जालवातायनेभ्य-
स्तरुणतपनभासो मन्दिराभ्यन्तरेषु।
प्रणयिषु वनितानां प्रातरिच्छत्सु गन्तुं
कुपितमदनमुक्तोत्तप्तनाराचलीलाम् ॥ ५० ॥

दधतीति ॥ जालवातायनेभ्यो गवाक्षविवरेभ्यः मन्दिराणामभ्यन्तरेषु परिपतन्त्यः तरुणतपनभासो बालार्ककिरणा वनितानां प्रणयिषु प्रातर्गन्तुमिच्छत्सु कुपितेन मदनेन मुक्तानामुत्तप्तानामग्निज्वलिततेजसां नाराचानां बाणविशेषाणां लीलां शोभां दधति। अत्र लीलेव लीलेति सादृश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसम्बन्धान्निदर्शना ॥

खिड़कियोंके छिद्रोंसे मकानोंके भीतरमें प्रविष्ट होती हुई कुछ ऊपर चढे हुए सूर्यकी किरणें, प्रातःकालमें (रतिगृहसे बाहर) जानेकी इच्छा करते हुए रमणियोंके प्रियतमोंपर क्रुद्ध कामदेवके द्वारा छोड़े गये (आगमें) तपाये हुए बाणोंके समान मालूम पड़ती हैं ॥५०॥

अधिरजनि वधूभिः पीतमैरेयरिक्तं कनकचषकमेतद्रोचनालोहितेन।
उदयदहिमरोचिर्ज्योतिषाक्रान्तमन्तर्मधुन इव तथैवापूर्णमद्यापि भाति ॥

अधीति ॥ अधिरजनि रजन्याम्। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। वधूभिः पीतं मैरेयं मद्यं यस्य तत् अत एव रिक्तं पीतमैरेयरिक्तं एतत्कनकचषकं स्वर्णस्य पानपात्रम्। अवयवषष्ठ्या विकारार्थता। 'चषकोऽस्त्री पानपात्रम्' इत्यमरः। रोचनालोहितेन गोरोचनारुणेन उदयत उदीयमानस्य अहिमरोचिषोऽर्कस्य ज्योतिषा तेजसा अन्तरभ्यन्तर आक्रान्तं व्याप्तं सत् अद्यापि इदानीमपि तथैव पूर्ववदेव मधुन अपूर्णमिव। सामान्यषष्ठ्या योऽर्थविशेषपर्यवसाननियमात् 'षष्ठी शेषे' (२।३।५०) इति सम्बन्धसामान्ये षष्ठीकरणस्यापि कारणत्वादिति। भाति शोभते। अत्रातपाक्रान्ते मधुपूर्णत्वोत्प्रेक्षया आतपे मधुभ्रमाद् भ्रान्तिमान् व्यज्यते ॥ ५१ ॥

रात्रिमें रमणियोंके द्वारा पीये गये मद्यसे खाली यह सोनेका प्याला गोरोचनके समान अरुणवर्णवाली उदय होते हुए सूर्यकी किरणने व्याप्त होकर इस समय भी उसी प्रकार (रातके समान ही) मद्यसे भरे हुएके समान शोभता है ॥ ५१ ॥

सितरुचिशयनीये नक्तमेकान्तमुक्तं
दिनकरकरसङ्गव्यक्तकौसुम्भकान्ति।
निजमिति रतिबन्धोर्जानतीमुत्तरीयं
परिहसति सखी स्त्रीमाददानां दिनादौ ॥ ५२ ॥

सितेति ॥ नक्तं रात्रौ शयनीये तल्पे। एकान्तमुक्तमत्यन्तत्यक्तं सितरुचि शुभ्रवर्णम्। किन्तु दिनादौ प्रभाते दिनकरकरसङ्गेनार्कांशुव्यतिकरेण व्यक्ता कौसुम्भी कुसुम्भस्य रागद्रव्यस्य सम्बन्धिनी कान्तिर्यस्य तत्तथा भासमानं रतिबन्धोः प्रियस्योत्तरीयं निजमात्मीयमिति जानतीम्। अत एवाददानां स्त्रीनायिकाम्। 'वाम्शसोः' (६।४।८०) इतीयङभावपक्षे 'अमि पूर्वः' (६।१।१०७) इति पूर्वरूपम्। सखी परिहसति। अत्राकौसुम्भे कौसुम्भभ्रमात् सादृश्यनिबन्धनाद्भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ५२ ॥

रात्रिमें पलङ्गपर सर्वथा छोड़े गये सफेद, (किन्तु) प्रातःकालमें सूर्यकी किरणोंके संसर्गसे कुसुम्भमें रंगे गयेके समान मालूम पड़ते हुए प्रियतमके दुपट्टेको अपना लाल दुपट्टा समझकर ग्रहण करनेवाली रमणीको उसकी सखी हँस रही है ॥ ५२ ॥

प्लुतमिव शिशिरांशोरंशुभिर्यन्निशासु
स्फटिकमयमराजद्राजताद्रिस्थलाभम्।
अरुणितमकठोरैर्वेश्म काश्मीरजाम्भः-
स्नपितमिव तदेतद्भानुभिर्भाति भानोः ॥ ५३ ॥

प्लुतमिति ॥ राजताद्रिस्थलाभं सुधाधवलितत्वात्कैलासतटसन्निभं यद्वेश्म निशासु शिशिरांशोरिन्दोरंशुभिश्चन्द्रिकाभिः प्लुतं धौतं सत् स्फटिकमयं स्फटिकविकार इवाराजद्रेजे। तदेतद्वेश्म भानोः सूर्यस्य अकठोरैः कोमलैर्भानुभिः अरुणितमरुणीकृतं सत् काश्मीरदेशे जातं काश्मीरजं कुङ्कुमं तस्याम्भसा स्नपितं सिक्तमिव भाति। उत्प्रेक्षयोः संसृष्टिः ॥ ५३ ॥

(बहुत बड़ा तथा चूनेसे पुता हुआ होनेके कारण) कैलासपर्वतके तटके समान जो मकान रात्रिमें चन्द्रमाकी किरणोंसे लिप्त होकर स्फटिक मणिरचितके समान शोभता था, वही यह मकान (इस समय प्रातःकालमें) सूर्यकी मृदु (प्रातःकालकी लाल) किरणोंसे (लाल होनेपर) कुङ्कुमके पानीसे नहलाये गयेके समान शोभता है ॥ ५३ ॥

---

१. '–सङ्गाव्यङ्ग–' इति पा०।

सरसनखपदान्त[१]र्दष्टकेशप्रमोकं
प्रणयिनि विदधाने योषितामुल्लसन्त्यः ।
विदधति दशनानां सीत्कृताविष्कृताना-
मभिनवरविभासः पद्मरागानुकारम् ॥ ५४ ॥

सरसेति ॥ प्रणयिनि योषितां सरसनखरदानामार्द्रनखक्षतानामन्तर्मध्ये दष्टानां लग्नानां केशानां शिरोरुहाणां प्रमोकं प्रमोचनं विदधाने सति सीत्कृतैर्व्यथाविर्भूत-सीत्कारैराविष्कृतानां दशनानामुल्लसन्त्यो वैमल्यादन्तेषु प्रतिफलन्त्यः अभिनवरविभासः पद्मरागाणामनुकारमनुकरणं विदधति । उपमालङ्कारः । रविभासामारुण्य-प्रतिपादकाभिनवविशेषणप्रसादलब्धः इति काव्यलिङ्गेन सङ्करः ॥ ५३ ॥

(नवीन होनेसे) सरस नखक्षतोंमें सटे हुए बालोंको जब प्रियतम छुड़ाने लगा तब सो-सो करनेसे दिखलायी पड़ते हुए रमणियोंके दाँतोंपर पड़ती हुई बालसूर्यकी किरणों से (लाल हुए वे दाँत) पद्मराग (माणिक्य) मणिके समान शोभने लगे ॥ ५४ ॥

अविरतदयिताङ्गासङ्गसञ्चारितेन
छुरितमभिनवासृक्कान्तिना कुङ्कुमेन ।
कनकनिकषरेखा[२]कोमलं कामिनीनां
भवति वपुरवाप्तच्छायमेवातपेऽपि ॥ ५५ ॥

अविरतेति ॥ अविरतेनाविच्छिन्नेन दयितानां प्रेयसामङ्गस्यासङ्गेन शरीरसम्पर्केण सञ्चारितेन संक्रामितेनाभिनवस्यासृजो रक्तस्येव कान्तिर्यस्य तेन कुङ्कुमेन छुरितं कनकस्य या निकषे निकषोपले रेखा राजिस्तद्वत्कोमलं मनोहरमित्युपमा । कामिनीनां वपुरातपेऽप्यवाप्तच्छायं लब्धवर्णोत्कर्षमेव भवति । स्वतः सुवर्णस्य ततः कुङ्कुमाङ्कितस्य कामिनीगात्रस्य पुनर्बालातपव्याप्तिरिति महती वर्णोत्कर्षसामग्रीति भावः । आतपे छायानातप इति विरोधाभासेऽपिशब्दः । 'छाया त्वनातपे कान्तौ' इत्यमरः । अत्र संक्रान्तकुङ्कुमच्छुरितत्वकनकनिकषरेखाकोमलत्वयोरुपमापेक्षया छायावाप्तिहेतुत्वादुपमासंकीर्णं काव्यलिङ्गं तदातपेऽप्यवाप्तच्छायमित्यत्र विरोधेनैकवाचकानुप्रवेशेन सङ्कीर्यते ॥ ५५ ॥

निरन्तर प्रियतम (का आलिङ्गन करनेमें उस) के अङ्गोंके संसर्गसे लगे हुए, नये रक्त के समान कान्तिवाले अर्थात् अरुण वर्ण कुङ्कुमके द्वारा कसौटी नामक काले पत्थरपर की गयी स्वर्णरेखाके समान सुन्दर अर्थात् अत्यन्त गौरवर्ण रमणियोंका शरीर धूपमें भी अधिक शोभासे (पक्षा०—छायासे) युक्त ही हुआ ।

---

१. 'मन्तःश्लिष्ट–' इति, 'मन्तर्भ्रष्ट–' इति च पा० । २. '–लेखा–' इति पा० ।

विमर्श—यहाँपर 'धूपमें छायायुक्त होना' विरुद्ध होनेसे अधिक शोभायुक्त होना अर्थ करके उक्त विरोधका परिहार करना चाहिए, अतएव यहाँ विरोधाभास अलङ्कार है ॥ ५५ ॥

सरसिजवनकान्तं बिभ्रदभ्रान्तवृत्तिः
करनयनसहस्रं हेतुमालोकशक्तेः ।
अखिलमतिमहिम्ना लोकमाक्रान्तवन्तं
हरिरिव हरिदश्वः साधु वृत्रं हिनस्ति ॥ ५६ ॥

सरसीति ॥ सरसि जातानि सरसिजानि । 'सप्तम्यां जनेर्डः' (३।२।२७) । 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (६।३।१४) इत्यलुक् । तद्वनस्य कान्तं प्रियम्, अन्यत्र तद्वत्कान्तं रम्यं आलोकशक्तेर्लोकलोचनानां विषयग्रहणशक्तेर्हेतुं आलोकान्तरसहकृतानामेव तेषां तत्सामर्थ्यात्, अन्यत्र आलोकशक्तेर्दर्शनव्यापारस्य हेतुम् । दर्शनसाधनमित्यर्थः । करा नयनानीव, अन्यत्र करा इव नयनानि तेषां सहस्रं करनयनसहस्रं बिभ्रत् । अभ्रान्ते नभोमध्ये वृत्तिर्यस्य सोऽभ्रान्तवृत्तिः । अन्यत्राभ्रान्ते मेघे वृत्तिर्यस्य सः । मेघवाहन इत्यर्थः । 'अभ्रं नभः स्वर्गवलाहकेषु' इति विश्वः । हरितोऽश्वो यस्य स हरिदश्वोऽर्कः हरिरिन्द्र इवातिमहिम्नातिमहत्तया । स्ववृद्धयेत्यर्थः । लोकमाक्रान्तवन्तं व्याप्तवन्तं एकत्र प्रत्यक्षादन्यत्र 'स इषुमात्रमिषुमात्रं विष्वग्वर्धते । स इमांल्लोकानावृणोत्' इत्यागमादिति भावः । वृत्रं ध्वान्तं दानवं च त्वाष्ट्रं साधु हिनस्ति हन्ति । ध्वान्तारिदानवा वृत्राः' इत्यमरः । उपमा श्लेषो वा मतभेदात् ॥ ५६ ॥

कमलवनका प्रिय (पक्षा०—कमलवनके समान रमणीय), लोगोंके नेत्रोंके विषयग्रहण करनेकी शक्ति (पक्षा०—देखने) का कारणभूत, नेत्रोंके समान सहस्र किरणोंको (पक्षा०—किरणोंके समान सहस्र नेत्रोंको) धारण करते हुए, आकाशके बीचमें चलनेवाले (पक्षा०—मेघपर चढ़कर चलनेवाले) हरित वर्णके घोड़ोंवाला यह सूर्य इन्द्रके समान. अत्यधिक महिमासे अर्थात् सर्वत्र फैलनेसे (पक्षा०—अत्यधिक बलसे) सम्पूर्ण लोकोंमें आक्रान्त किये हुए (फैले हुए, पक्षा०—सम्पूर्ण लोकोंको दबाये पीड़ित किये हुए) अन्धकार (पक्षा०—वृत्रासुर नामक राक्षस) को सम्यक् प्रकारसे नष्ट कर रहा है ॥ ५६ ॥

अवतमसभिदायै भास्वताभ्युद्गतेन
प्रसभमुडुगणोऽसौ दर्शनीयोऽप्यपास्तः ।

---

१. 'ध्वान्त वृत्रम्' इति पा० ।

निरसितुमरिमिच्छोर्ये तदीयाश्रयेण
श्रियमधिगतवन्तस्तेऽपि हन्तव्यपक्षे ॥ ५७ ॥

अवतमसेति ॥ अवतमसं तिमिरम् । 'अवसमन्धेभ्यस्तमसः' (५।४।७९) इति समासान्तः । यद्यपि 'क्षीणेऽवतमसं तमः' इत्युक्तम्, तथापीह विरोधाद्विशेषानादरेण सामान्यमेव ग्राह्यम् । तस्य भिदायै भेदाय । 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' (३।३।१०४) अभ्युद्गतेनाभ्युदितेनोद्यतेन च भास्वता सूर्येण दर्शनीयोऽप्युडुगणोऽसौ प्रसभं बलादपास्तः । तथा हि—अरिं निरसितुमिच्छोर्ये तदीयेनाश्रयेणाश्रयणेन श्रियं सम्पदं शोभां च । 'शोभासम्पत्तिपद्मासु लक्ष्मीः श्रीरपि गद्यते' इति विश्वः । अधिगतवन्तः प्राप्तवन्तस्तेऽपि हन्तव्यपक्षे वध्यकोटावेव । अरिवदरिपक्षा अपि वध्या एवेत्यर्थः । उडुगणोऽपि तमसि शोभते अतस्तत्पक्ष इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५७ ॥

घने अन्धकारको नष्ट करनेके लिए उदयको प्राप्त किए हुये सूर्यने रमणीय तारासमूहको भी बलपूर्वक नष्ट कर दिया, क्योंकि शत्रुका नाश करनेकी इच्छा करनेवाले व्यक्तिके लिए, जो शत्रुके आश्रयसे श्री (शोभा, या—समृद्धि) को पाये, हुए हैं, वे भी नष्ट करने योग्य ही हुआ करते हैं (अतः अन्धकारके आश्रयसे चमकती हुई ताराओंको नष्ट करना सूर्यका उचित ही कार्य था ॥ ५७ ॥

प्रतिफलति करौघे सम्मुखावस्थितायां
रजतकटकभित्तौ सान्द्रचन्द्रांशुगौर्याम् ।
बहिरभिहतभद्रैः संहृतं कन्दरान्त-
र्गतमपि तिमिरौघं घर्मभानुर्भिनत्ति ॥ ५८ ॥

प्रतीति ॥ घर्मभानुरुष्णांशुः सम्मुखावस्थितायां सान्द्रचन्द्रांशुवद्गौर्यां धवलायामित्युपमा । 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (४।१।४१) इति ङीष् । रजतकटकमेव भित्तिः तस्यां करौघे स्वकिरणजाले प्रतिफलति सति अग्रैर्बहिरभिहतं कन्दराणां दरीणामन्तर्गतं संहृतं तिमिरौघमपि भिनत्ति । पुरोगतरजतभित्तिप्रतिहतस्य निजतेजसः कन्दरान्तःप्रवेशादिति भावः । अत्र करौघस्यान्तःसम्बन्धाभावेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ५८ ॥

सूर्य, सामने स्थित तथा सघन चाँदनीके समान शुभ्र चाँदीकी दिवालपर किरणसमूहके प्रतिबिम्बितमें होनेपर बाहरमें नष्ट किये गये (अतएव) गुफाके भीतर घुसकर एकत्रित हुए अन्धकार-समूहको भी नष्ट कर रहा है ॥ ५८ ॥

बहिरपि विलसन्त्यः काममानिन्यिरे यद्-
दिवसकररुचोऽन्तं ध्वान्तमन्तर्गृहेषु[1]।
नियतविषयवृत्तेरप्यनल्पप्रताप-
क्षतसकलविपक्षस्तेजसः स स्वभावः ॥ ५९ ॥

बहिरिति ॥ बहिर्विलसन्त्योऽपि दिवसकररुचोऽर्कभासः अन्तर्गृहेषु गर्भागारेषु कामं यथेष्टं ध्वान्तमन्तं नाशमानिन्यिरे प्रापयामासुरिति यत्। नयतेर्द्विकर्मकात्कर्तरि लिट्। सोऽन्तर्गृहध्वान्तनिरासो नियतविषये नियतस्थाने वृत्तिर्यस्य तस्य। नियत-देशवर्तिनोऽपीत्यर्थः। 'तृतीयादिषु' (४।१।७४) इति पुंवद्भावः। तेजसोऽनल्पेन प्रतापेन स्वप्रकाशेन। स्वप्रभावेनैवेत्यर्थः। 'प्रतापौ पौरुषातपौ' इति वैजयन्ती। क्षतसकलविपक्षो निरस्तसमस्तप्रतिपक्षः। स्वभावः तेजस्विनामेष स्वभावो यत्प्रतापेनैव परोच्छेदनमतो युक्तमर्कभासामप्यन्तर्ध्वान्तहरणमित्यर्थः। अत्र समर्थ्यसमर्थकयोः सामान्यविशेषभावादर्थान्तरन्यासः ॥ ५९ ॥

बाहर फैली हुई भी सूर्यकी किरणोंने भीतरवाले घरोंके अन्धकारको जो नष्ट कर दिया, वह नियत अर्थात् किसी एक स्थानमें स्थित भी तेजका अत्यधिक प्रताप (अपने प्रकाश, पक्षा०—अपने प्रभाव) से सम्पूर्ण विपक्षियोंको नष्ट करनेका प्रसिद्ध स्वभाव ही है ॥५९॥

चिरमतिरसलौल्याद्बन्धनं लम्भितानां
पुनरयमुदयाय प्राप्य धाम स्वमेव।
दलितदलकपाटः षट्पदानां सरोजे
सरभस इव गुप्तिस्फोटमर्कः करोति ॥ ६० ॥

चिरमिति ॥ अयमर्कः पुनर्भूयोऽप्युदयाय स्ववृद्धये स्वं स्वकीयमेव धाम स्थानं तेजो वा प्राप्य अतिरसलौल्यादतिमात्राद्रसेषु मकरन्देषु, विषयेषु च लौल्यादासक्तेः सरोजे चिरं बन्धनं लम्भितानां प्रापितानां षट्पदानां सरभसः सत्वरो दलितं विघट्टितं दलमेव कपाटं येन स सन् गुप्तिस्फोटं बन्धनमोक्षं करोतीवेत्युत्प्रेक्षा। यथा कश्चित्पदभ्रष्टः पुनर्लब्धपदः पूर्ववदात्मबन्धूनागत्य स्वयमेव करात्कपाटमुद्घाट्य मोचयति तद्वदिति भावः ॥ ६० ॥

यह सूर्य उदय (अभिवृद्धि) के लिये फिर अपने ही तेज (पक्षा०—स्थान) को पाकर विषयों (पक्षा०—कमल-परागों) में अत्यन्त लोलुपताके कारण चिरकाल तक (कारागार-

---

१. 'गृहेभ्यः' इति पा०।

तुल्य) कमलोंमें बन्धनको प्राप्त हुए (स्वजनतुल्य) भ्रमरोंको दल (कमलोंकी पंखुड़ियाँ) रूप किवाड़ खोलकर मानों बन्धनसे मुक्त-सा कर रहा है।

विमर्श—कोई पदभ्रष्ट व्यक्ति पुनः अपने स्थानको प्राप्तकर विषयलोलुपतासे जेलमें चिरकाल तक पड़े हुए स्वजनोंको जेलका फाटक खोलकर जिस प्रकार छुड़ा लेता है, उसी प्रकार पहले तेजहीन यह सूर्य पुनः अपने तेजको प्राप्त करके कमलपरागमें लोलुपता होनेसे उसमें बँधे हुए भ्रमरोंको कमलोंको विकसित करनेसे उनकी पंखुड़ियोंको खोलकर स्वजनरूप उन भ्रमरोंको मानो बन्धनमुक्त कर रहा है ॥ ६० ॥

युगपदयुगसप्तिस्तुल्यसंख्यैर्मयूखै-
र्दशशतदलभेदं कौतुकेनाशु कृत्वा ।
श्रियमलिकुलगीतैर्लालितां पङ्कजान्त-
र्भवनमधिशयानामादरात्पश्यतीव ॥ ६१ ॥

युगपदिति ॥ अयुगा विषमाः सप्तयोऽश्वा यस्य सोऽयुगसप्तिः सप्ताश्वोऽर्कः । युगशब्दस्य युग्मशब्दस्य च विशेषलिङ्गतावगन्तव्या । युगपदेकदैव तुल्यसंख्यैः । सहस्रसंख्यैरित्यर्थः । मयूखैः करैः दश शतानि येषां तानि दशशतानि । सहस्रमित्यर्थः । तेषां दलानां भेदं विघटनं कौतुकेनाशु कृत्वा अलिकुलस्य गीतैर्लालितां सत्कृतां पङ्कजमेवान्तर्भवनं गर्भगृहमधिशयानाम् । 'अधिशीङ्स्थासां कर्म' (१।४।४६) इति कर्मत्वम् । श्रियमादरात्पश्यतीवेत्युत्प्रेक्षा । कश्चित्कान्तः कान्तामिवैकान्तगतामिति भावः ॥ ६१ ॥

सात घोड़ोंवाला (यह सूर्य) एक साथ बराबर अर्थात् सहस्र सङ्ख्यावाली किरणोंसे सहस्रदल कमलको कौतुकसे शीघ्र विकसितकर भ्रमर-समूहके गीतों (गुञ्जारों) से आदृत एवं कमलरूप गृहके भीतर अर्थात् अन्तर्गृहमें सोयी हुई (नायिकारूपिणी) श्री अर्थात् शोभाको मानो आदरपूर्वक देख-सा रहा है ॥ ६१ ॥

अदयमिव कराग्रैरेष निष्पीड्य सद्यः
शशधरमहरादौ रागवानुष्णरश्मिः ।
अवकिरति नितान्तं कान्तिनिर्यासमब्द-
स्रुतनवजलपाण्डुं पुण्डरीकोदरेषु ॥ ६२ ॥

अदयमिति ॥ अहरादौ प्रभाते रागवानुदयरागवान् पुण्डरीकस्नेहवांश्चैष उष्णरश्मिरर्कः शशधरं चन्द्रं कराग्रैः रश्म्यग्रैः हस्ताग्रैश्चादयं निर्दयं सद्यो निष्पीड्य अब्दान्मेघात्स्रुतं स्रस्तं नवजलमिव पाण्डुं शुभ्रं कान्तिनिर्यासं लावण्यसारं पुण्डरीकाणां सिताब्जानामुदरेष्वभ्यन्तरेषु नितान्तमवकिरतीवविक्षिपतीव । अत्र सूर्योदये

चन्द्रस्य कान्तिक्षयात् पुण्डरीकाणां तत्प्रादुर्भावाच्च सूर्यश्चान्द्रीमेव कान्तिं पुण्डरीकस्नेहात्परेषु सिञ्चतीवेत्युत्प्रेक्षा। यथा द्विषन्तं प्रपीड्य तदीयं वसुसारं सुहृदे प्रयच्छति तद्वदिति भावः॥ ६२॥

दिनके आरम्भ (प्रातःकाल) में रागवान् (अरुण वर्णवाला, पक्षा०—कमलोंमें स्नेहवान्) यह सूर्य चन्द्रमाको कराग्र (किरणोंके अग्रभाग, पक्षा०—हथेली) से निर्दयतापूर्वक शीघ्र ही निचोड़कर मेघसे गिरे हुए नवीन (ताजे) पानीके समान श्वेत सौन्दर्यरसको श्वेतकमलोंके भीतरमें मानो अच्छी तरह छोड़-सा रहा है॥ ६२॥

> प्रविकसति चिराय द्योतिताशेषलोके
> दशशतकरमूर्तावक्षिणीव द्वितीये।
> [1]सितकरवपुषासौ लक्ष्यते संप्रति द्यौ-
> र्विगलितकिरणेन व्यङ्गितैकेक्षणेव॥ ६३॥

प्रविकसतीति॥ द्योतितः प्रकाशितोऽशेषलोको येन तस्मिन्, दश शतानि येषां ते दशशतास्ते करा यस्याः सा दशशतकरा सहस्रकरा मूर्तिर्यस्य तस्मिन्दशशतकरमूर्तौ सूर्ये द्वितीयेऽक्षिणि चक्षुषीव चिराय प्रविकसति सति संप्रत्यसौ द्यौराकाशं स्त्री च गम्यते। विगलितकिरणेन निष्प्रकाशेन सितकरं शुभ्रकिरणं वपुर्यस्य तेन सितकरवपुषा चन्द्रेण व्यङ्गितं विकलीकृतमेकेक्षणमेकनेत्रं यस्याः सा व्यङ्गितैकेक्षणा काणेव लक्ष्यते। अत्र दिवः काणत्वमुत्प्रेक्ष्यते। तच्च काणत्वमक्षित्वेनाध्यवसितेन निष्काशितेन चन्द्रेणेति। तत्र 'येनाङ्गविकारः' (२।३।२०) इति तृतीया॥ ६३॥

समस्त लोकको प्रकाशित करनेवाले सहस्र किरणोंसे युक्त मूर्तिवाले सूर्य के चिरकाल तक दूसरे नेत्रके समान प्रकाशित होते रहनेपर इस समय (नायिकारूपिणी) यह दिव् (आकाश) किरण-हीन (निष्प्रभ) चन्द्रमासे काणी (फूटे हुए एक नेत्रवाली)-सी दिखलाई पड़ रही है॥ ६३॥

> कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजषण्डं
> त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।
> [2]उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
> [3]हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः॥ ६४॥

---

१. 'सितरुचि—' इति पा०। २. 'उदयति दिननाथो याति' इति पा०।
३. 'हत विधिललितानाम्' इति पा०।

कुमुदेति ॥ कुमुदवनं अपगतां श्रीर्यस्य तदपश्रि विगतशोभम्। 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (१।२।४८) इति ह्रस्वत्वम्। अम्भोजषण्डं श्रीमच्छोभायुक्तम्। उलूकः पेचको मुदं त्यजति। तस्य दिवान्धत्वादिति भावः। चक्रवाकः प्रीतिमान्। रजनीविरहाभावत्वात्तस्येति भावः। अहिमरश्मिरुष्णांशुरुदयं याति। 'हिमांशुरिन्दुरस्तमदर्शनं याति। अस्तमित्यव्ययम्। कथमेतद्वैषम्यं तत्राह—हतेति। हतविधिलसितानां दुष्टदैवचेष्टितानां विपाकः परिपाकः तत्तत्प्राणिकर्मानुरूपफलदानप्रकार इति यावत्। विचित्रो विविधः। न त्वेकविध इत्यर्थः। हीति विस्मये। 'अहो ही च विस्मये' इत्यमरः। विधिविपाकवैचित्र्याज्जगद्वैचित्र्यं युज्यत इति कारणेन कार्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६४ ॥

कुमुदवन श्रीहीन हो रहा है, कमल-समूह शोभायुक्त हो रहा है, उल्लू (दिनमें नहीं देख सकनेके कारण) प्रसन्नताको छोड़ रहा है, (दिनमें प्रियाका सङ्ग होनेके कारण) चकवा प्रसन्न हो रहा है, सूर्य उदयको प्राप्त कर रहा है और चन्द्रमा अस्त हो रहा है; (इनमें ऐसी विषमता इस कारण है कि) दुर्दैवकी चेष्टाओंका परिणाम विचित्र होता है, यह आश्चर्य है ॥ ६४ ॥

क्षणमतुहिनधाम्नि प्रोष्य भूयः पुरस्ता-
दुपगतवति पाणिग्राहवद्दिग्वधूनाम्।
द्रुततरमुपयाति स्रंसमानांशुकोऽसा-
वुपपतिरिव नीचैः पश्चिमान्तेन चन्द्रः ॥ ६५ ॥

क्षणमिति ॥ अतुहिनधाम्नि उष्णांशौ दिशो वध्व इवेत्युपमितसमासः। तासां दिग्वधूनां पाणिं गृह्णातीति पाणिग्राहो निजभर्ता तस्मिन्निव पाणिग्राहवत्। 'तत्र तस्येव' (५।१।११६) इति तत्रार्थे वतिः। क्षणं प्रोष्य प्रवासं कृत्वा। प्रपूर्वाद्वसधातोः क्त्वा। तस्य 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७।१।३७) 'वचिस्वपि—' (६।१।१५) इत्यादिना संप्रसारणम्। भूयः पुनरपि पुरस्तात्पूर्वस्यां दिशि मार्गे चोपगतवत्यागतवति सति असौ चन्द्र उपपतिर्जार इव। 'जारस्तूपपतिः समौ' इत्यमरः। स्रंसमानांशुको गलद्रश्मिकः। शैषिकः कप्प्रत्ययः। स्रस्तवस्त्रश्च नीचैर्नम्रः सन्पश्चिमान्तेन पश्चिमदिक्कोणेन केनचिदपरद्वारेण द्रुततरमपयात्यपसरति। यथा पूर्वद्वारेण निजपतावागते पश्चान्मार्गेणोपपतिरपसरति तद्वदित्यर्थः उपमालंकारः ॥ ६५ ॥

दिशारूपिणी रमणियोंके अपने पतिके समान सूर्यके कुछ समय अर्थात् रात्रिभर प्रवास करके फिर पूर्व दिशामें (पक्षा०—सामने) आनेपर गिरती हुई किरणोंवाला

१. —'मपयाति' इति पा०।

(पक्षा०—गिरते हुए कपड़ेवाला) यह चन्द्रमा जारके समान नम्र होकर पश्चिम दिशाके कोणसे (पक्षा०—पीछेके मार्ग से) शीघ्र भाग रहा है ॥ ६५ ॥

प्रलयमखिलतारालोकमह्नाय नीत्वा
श्रियमनतिशयश्रीः सानुरागां दधानः ।
गगनसलिलराशिं रात्रिकल्पावसाने
मधुरिपुरिव भास्वानेष एकोऽधिशेते ॥ ६६ ॥

प्रलयमिति ॥ अखिलस्तारालोको लोक इव तारा नक्षत्रं तमखिलं तारालोकमह्नाय द्राक् प्रलयं क्षयं नीत्वा अत एव यतो नास्त्यतिशयं सानतिशया सर्वातिशायिनी श्रीर्महिमा यस्य सोऽनतिशयश्रीः सानुरागामुदयरागवतीं श्रियं शोभामन्यत्र सानुरागामनुरागवतीं श्रियं रमां च दधान एव भास्वानेको मधुरिपुर्विष्णुरिव रात्रिः कल्पावसानं कल्पान्त इव तस्मिन् रात्रिकल्पावसाने गगनं सलिलराशिरिव तं गगनसलिलराशिमधिशेतेऽधितिष्ठति । अत्र मधुरिपुरिवेति वाक्यगतोपमैव समासगतोपमानां प्रसाधिकेति सर्वत्रोपमितसमासाश्रयणमेवोचितम् ॥ ६६ ॥

सम्पूर्ण ताराओं (नक्षत्रों) के समूहको संसारके समान शीघ्र नष्टकर सर्वाधिक महिमावाला तथा उदयकालकी अरुणिमासे युक्त शोभा (पक्षा०—स्नेहयुक्त लक्ष्मीजी) को धारण करता हुआ यह सूर्य एकाकी श्रीविष्णुके समान रात्रिरूपी कल्पके बीतनेपर आकाशरूपी (क्षीर) समुद्रमें सो रहा है ॥ ६६ ॥

कृतसकलजगद्विबोधोऽवधूतान्धकारोदयः
क्षयितकुमुदतारकश्रीर्वियोगं नयन्कामिनः ।
बहुतरगुणदर्शनादभ्युपेताल्पदोषः कृती
तव वरद करोतु सुप्रातमह्नामयं नायकः ॥ ६७ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्र्यङ्के प्रत्यूषवर्णनो नामैकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

कृतेति ॥ कृतसकलजगद्विबोधः कृताखिलजगत्प्रबोधः अवधूतो विक्षिप्तोऽन्धकारस्योदय उज्जृम्भणं येन सोऽवधूतान्धकारोदय इति महागुणोक्तिः। दोषमाह—क्षयिता नाशिता कुमुदानां तारकाणां च श्रीर्येन सः कामिनः स्त्रीपुंसां वियोगं नयन् प्रापयंस्तथापि बहुतरगुणस्य पूर्वोक्तमहागुणस्य दर्शनादभ्युपेतो लोकैरङ्गीकृतोऽल्पदोषः पूर्वोक्त एव यस्य सः। 'एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः

किरणैष्विवाङ्कः' (कुमारसंभवे १।३) इति न्यायादिति भावः। अत एव कृती कृतार्थोऽयमह्नां गाथकः प्रभुः सूर्यः हे वरद कामद! तव सुप्रातं सुप्रभातं करोतु। 'आशिषि लिङ्लोटौ' (३।३।१७३) इत्याशीरर्थे लोट्। शोभनं प्रातर्यस्येति सुप्रातः शोभनप्रातर्वानुच्यते 'सुप्रातसुश्व-' (५।४।१२०) इत्यादिना बहुव्रीहावच्प्रत्ययान्तो निपातितः। अत्र भावप्रधानो निर्देशः। तव सुप्रातं सुप्रभातत्वं करोत्वित्यर्थः। महामालिकावृत्तमेतत्। 'यदिह नयुगलं ततो वेदरेफैर्महामालिका' इति लक्षणात्॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते शिशुपालवध-काव्यव्याख्याने सर्वंकषाख्ये एकादशः सर्गः॥ ११॥

समस्त संसारको प्रबुद्ध करानेवाला तथा अन्धकारके उदग्र (विस्तार) को नष्ट करनेवाला (ऐसा करनेसे महागुणवान् होकर भी), कुमुदों तथा नक्षत्रोंकी शोभाको नष्ट करनेवाला और कामिनियों एवं कामियोंको विरहयुक्त करता हुआ (इन दो कार्योंके करनेसे दोषयुक्त, अतएव) अधिकतर गुणोंके दिखलाई पड़नेसे थोड़े-से दोषयुक्त (अतएव) कृतार्थ यह दिनपति (सूर्य) हे वर देनेवाले (श्रीकृष्णजी)! आपका सुप्रभात करे। (अथवा—समस्त संसारको विशिष्ट बोधयुक्त करनेवाले तथा अज्ञानान्धकारको नष्ट करनेवाले, भूतलपर हर्षित होनेवाले तारकासुरके प्रभावको नष्ट करनेवाले और स्वयं बालब्रह्मचारी होनेसे कामियोंको वियुक्त करनेवाले सेनानी अर्थात् कार्तिकेय, हे वरद (श्रीकृष्णजी)! आपका सुप्रभात करें।)

विमर्श—वल्लभदेवसम्मत पक्षान्तरीय द्वितीय अर्थ द्वारा सेनानी कार्तिकेयके वर्णन करनेसे अग्रिम द्वादश सर्गमें आनेवाली श्रीकृष्ण भगवान्‌के सेना सहित पुनः यात्राका प्रसङ्ग सूचित किया गया है जिसे सर्गान्तमें होना महाकाव्यका अन्यतम लक्षण माना गया है॥ ६७॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'प्रभातवर्णन' नामका एकादश सर्ग समाप्त हुआ॥ ११॥

द्वादशः सर्गः

एवं प्रभातं वर्णयित्वा भगवतः प्राभातिकप्रस्थानवर्णनाय प्रक्रमते—

इत्थं रथाश्वेभनिषादिनां प्रगे गणो नृपाणामथ तोरणाद्बहिः ।
प्रस्थानकालक्षमवेषकल्पनाकृतक्षणक्षेपमुदैक्षताच्युतम् ॥ १ ॥

इत्थमिति ॥ इत्थं भूते । पूर्वसर्गोक्तविध इत्यर्थः । प्रगे प्रातःकाले । 'सायं साये प्रगे प्रातः' इत्यव्ययेष्वमरः । अथ सूर्योदयानन्तरं रथाश्वेभे निषीदन्तीति रथाश्वेभनिषादिनाम् । रथेषु अश्वेषु इभेषु च स्थितानामित्यर्थः । नृपाणां गणः । तोरणाद्भगवतो बाह्यद्वाराद्बहिः । 'अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या' (२।१।१२) इति पञ्चमीसमासविधानाज्ज्ञापकात्पञ्चमी । 'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्' इत्यमरः । प्रस्थानकाले प्रयाणकाले क्षम उचितो वेष आकल्पः । 'आकल्पवेषौ नेपथ्यम्' इत्यमरः । तस्य कल्पनया सम्पादनेन कृतः क्षणक्षेपः क्षणविलम्बो येन तमच्युतं हरिमुदैक्षत । प्रतीक्षितवानित्यर्थः । अत्राच्युतविलम्बस्य विशेषणगत्या प्रतीक्षणहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः । अस्मिन्सर्गे विषमपादयोर्जागतमिन्द्रवंशा वृत्तम् 'स्यादिन्द्रवंशा ततजै रसंयुतैः' इति लक्षणात् । समपादयोस्तु जागतमेव वंशस्थं वृत्तम् । 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति लक्षणात् । तदेवमुभयमेलनादुपजातिभेदोऽयम् । अत एव त्रिष्टुबिन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रालक्षणानन्तरम् 'अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः' इत्युक्त्वोक्तम् । 'इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम' इति ॥ १ ॥

(पूर्वोक्त एकादश सर्गमें वैतालिक मुखसे प्रभातवर्णन करानेके बाद माघकवि श्रीकृष्ण भगवान्के प्रस्थानका वर्णन करनेके लिये इस द्वादश सर्गका आरम्भ करते हैं) इस प्रकार (पूर्व एकादश सर्गमें वर्णित) प्रातःकालमें इस (सूर्योदय) के बाद रथों, घोड़ों तथा हाथियोंपर चढ़े हुए राजसमूह बाहरी द्वारपर प्रस्थानकालके योग्य वेष-भूषा ग्रहण करनेमें कुछ विलम्ब किये हुए श्रीकृष्ण भगवान्की प्रतीक्षा करने लगे ॥ १ ॥

स्वक्षं सुपत्रं कनकोज्ज्वलद्युतिं जवेन नागाञ्जितवन्तमुच्चकैः ।
आरुह्य तार्क्ष्यं नभसीव भूतले ययावनुद्धातसुखेन सोऽध्वना ॥ २ ॥

स्वक्षमिति ॥ स हरिः शोभनोऽक्षश्चक्रधारणदारुभेदो यस्य तं स्वक्षम् । 'स्यादक्षश्चक्रधारणः' इति वैजयन्ती । अन्यत्र शोभनेन्द्रियम् । 'अथाक्षमिन्द्रियम्' इत्यमरः । सुपत्रं शोभनं पत्रं वाहनं यस्य तम् । स्वश्वमित्यर्थः । अन्यत्र सुपक्षम् । 'पत्रं वाहनपक्षयोः' इत्यमरः । कनकोज्ज्वलद्युतिं कनकरचनावन्तम् । अन्यत्र कनकवदुज्ज्वलद्युतिं कनकवर्णम् । जवेन नागान् गजान्, उरगांश्च जितवन्तम् । ततोऽधिकवेगमि-

-त्यर्थः। अन्यत्र नागान्तकमित्यर्थः। उच्चकैरुन्नतं तार्क्ष्यं रथं गरुडं च। 'तार्क्ष्यः स्याद्-अश्वकर्णाख्यवृक्षे रथतुरङ्गयोः। तार्क्ष्यं रसाञ्जने तार्क्ष्यो गरुडे गरुडाग्रजे॥' इति विश्वः। आरुह्य नभसीव भूतलेऽनुद्घातेनाप्रतिघातेन सुखः सुगमस्तेनाध्वना ययौ गरुड-मारुह्य नभसीव रथमारुह्य भूतलेऽप्यप्रतिहतं ययौ गरुडवदेव तद्रथस्यापि सर्वत्रा-प्रतिहतगतित्वादित्यर्थः। नायं श्लेषः प्रकृताप्रकृतत्वादेऽपि तार्क्ष्यमिति विशेष्यश्ले-षायोगादन्यत्राप्रसङ्गाच्च श्लेषसङ्कीर्णेयमुपमा॥ २॥

वे श्रीकृष्ण भगवान्, सुन्दर धुरे (पक्षा०—सुन्दर इन्द्रियों-या अङ्गों) वाले, सुन्दर वाहन (घोड़ों, पक्षा०—पङ्खों) वाले, सुवर्णरचित होनेसे चमकती हुई कान्तिवाले (पक्षा०—सुवर्णके समान उज्ज्वल (देदीप्यमान) (कान्तिवाले), वेग अर्थात् शीघ्रगामी होनेसे हाथियोंको (पक्षा०—वेगसे सर्पोंको) जीते हुए और ऊँचे ऊँचे रथ (पक्षा०—गरुड़) पर चढ़कर आकाशके समान पृथ्वीपर ऊँची-नीची भूमिपर भी नहीं हिलने (समतल होने) से सुखद मार्गसे चले॥ २॥

हस्तस्थिताखण्डितचक्रशालिनं द्विजेन्द्रकान्तं श्रितवक्षसं श्रिया।
सत्यानुरक्तं नरकस्य जिष्णवो गुणैर्नृपाः शार्ङ्गिणमन्वयासिषुः॥ ३॥

हस्तेति॥ अत्र नृविशेषणानि शार्ङ्गिण्यपि विभक्तिविपरिणामेन योज्यानि। हस्तस्थितैरखण्डितैश्चक्ररेखाभिः शालन्त इति तथोक्ताः, अन्यत्र चक्रं सुदर्शनं तच्छालिनम्। द्विजेन्द्रकान्ता ब्राह्मणोत्तमप्रियाः, अन्यत्र द्विजेन्द्रश्चन्द्रः 'तस्मात् सोमराजानो ब्राह्मणाः' इति श्रुतेः। अत एव 'द्विजराजः शशधरः' इत्यमरः। तद्व-त्कान्तं सुन्दरं श्रिया शोभया श्रितवक्षसो व्याढोरस्काः, अन्यत्र रमयाधिष्ठितो-रस्कम्। सत्ये सत्यवचनेऽनुरक्ताः, अन्यत्र सत्यायां सत्यभामायामनुरक्तम्। नर-कस्य जिष्णवः, अन्यत्र नरकासुरस्य जेतारम्। 'ग्लाजिस्थश्च' (३।२।१३९) इति ग्स्नुः। 'नरको निरये दैत्ये' इति विश्वः। एवम्भूता नृपा एवम्भूतं शार्ङ्गिणं गुणैर्विनयादि-भिर्हेतुना अन्वयासिषुरनुजग्मुः, गुणैः पूर्वोक्तैरन्वकार्षुश्च। यातेर्लुङि च्लेः सिच्। यमरम-' (७।२।७३) इति सगागमः सिच इडागमश्च। 'सिजभ्यस्त-' (३।४। १०९) इति झेर्जुस्। अत्र शार्ङ्गिणो नृपाणां च प्रकृतत्वाच्छब्दमात्रसाधर्म्याच्च केवलः प्रकृतविषयः शब्दश्लेषः॥ ३॥

हाथमें रेखारूपसे स्थित चक्रचिह्नसे शोभते हुए, चन्द्रमाके समान सुन्दर, शोभायुक्त वक्षःस्थलवाले, सत्यभाषणमें अनुरागी और (धार्मिक होनेसे) नरकको जीतनेवाले राजा लोगोंने हाथमें स्थित सुदर्शन चक्रसे शोभनेवाले, ब्राह्मणोंके प्रिय, हृदयस्थ लक्ष्मीवाले, सत्यभामामें अनुरक्त और नरकासुरको जीतनेवाले श्रीकृष्ण भगवान्के पीछे विनयादि गुणोंसे अनुगमन (पक्षा०—उक्त गुणोंसे अनुकरण) किया॥ ३॥

शुक्लैः सतारैर्मुकुलीकृतैः स्थुलैः कुमुद्वतीनां कुमुदाकरैरिव ।
व्युष्टं प्रयाणं च वियोगवेदनाविदूननारीकमभूत्समं तदा ॥ ४ ॥

शुक्लैरिति ॥ शुक्लैः शुभ्रैः सतारैः सरज्जूकैः सकर्णिकैश्च मुकुलीकृतैर्वहनसौकर्यांय सङ्कोचितैः, अन्यत्र रात्रिविकासित्वान्मुकुलतां नीतैः प्राह्णैः स्थुलैर्दीर्घैः पटमण्डपैरिति यावत् । कुमुदाकरैः कुमुदह्रदैरिवोपलक्षितम् । अन्यत्र स्थुलैरिव कुमुदाकरैरुपलक्षितं वियोगवेदनया विरहव्यथा विदूनाः परितप्ताः । 'ल्वादिभ्य' (८।२।४४) इति निष्ठानत्वम् । ता नार्यो यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । द्वयोरपि वियोगकालत्वादिति भावः । 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इति कप् । कुमुदान्यासु सन्तीति कुमुद्वत्यः कुमुदप्राया भूमयः । 'कुमुद्वान्कुमुदप्राये' इत्यमरः । कैरविण्यो वा । 'कुमुद्वती कैरविण्याम्' इति विश्वः । 'कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप्' (४।२।८१) इति मतुप्प्रत्ययः । 'झयः' मादुपधायाः–' (८।२।९) इति मकारस्य वत्वम् । तासां कुमुद्वतीनां सम्बन्धे व्युष्टं प्रभातम् । 'व्युष्टं प्रभातं प्रत्यूषम्' इत्यभिधानचिन्तामणिः । तत्र किञ्चित्करत्वात्तत्सम्बन्धित्वं प्रयाणं च सेनानामिति शेषः । तदा तस्मिन् काले समम् उक्तरीत्या अन्योन्यसदृशमभूत् । व्युष्टप्रयाणयोर्द्वित्वेऽपि समुदायविवक्षायामभूदित्येकवचनम् । व्युष्टं प्रयाणं च द्वयमपि सममभूदित्यर्थः । अत्र वर्ण्यत्वेन प्रकृतस्य प्रयाणस्य प्रकृतव्युष्टसाम्योक्तेरुपमा श्लेषसङ्कीर्णा ॥ ४ ॥

उस समय शुभ्रवर्ण रस्सियों (या चन्द्रको–कपड़े के बने सिले हुए पुष्पों अर्थात् बेलबूटों) से युक्त (मार्गमें सरलतापूर्वक गाड़ी आदि पर लादकर ले जानेके लिए) समेटे गये (अतएव शुभ्रवर्ण, कर्णिकाओंसे युक्त, (प्रातःकाल होनेसे) मुकुलित कुमुदाकरों (कुमुदवाले जलाशयों) के समान पटमण्डपों (शामियाने कनातों एवं टेण्टों) से उपलक्षित, विरहपीडासे रमणियोंको पीडित करनेवाला वह प्रयाण (श्रीकृष्ण भगवान्का गमन) और उक्तरूप पटमण्डपोंके समान उक्तरूप कुमुदाकरोंसे उपलक्षित तथा विरहपीडासे रमणियों (कुमुदिनियों) को पीडित करनेवाला वह प्रभातकाल एक समान (या–एक साथ) हुआ ॥ ४ ॥

उत्क्षिप्तगात्रः स्म विडम्बयन्नभः समुत्पतिष्यन्तमगेन्द्रमुच्चकैः ।
आकुञ्चितप्रोहनिरूपितक्रमं करेणुरारोहयते निषादिनम् ॥ ५ ॥

उत्क्षिप्तेति ॥ उत्क्षिप्तगात्र उन्नमितपूर्वकायः अत एव नभः खं प्रति समुत्पतिष्यन्तमुत्पतनोन्मुखमगेन्द्रं महाद्रिं विडम्बयन्ननुकुर्वन्निवेत्युत्प्रेक्षा । अभूतोपमेति केचित् । उच्चकैरुन्नतः करेणुरिभः । 'करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे' इत्यमरः आकुञ्चितो नमितः प्रोहो गजाङ्घ्रिः । 'गजाङ्घ्रिः प्रोहः' इति विश्वः । तत्र निरूपितक्रमं कृतपादन्यासं निषादिनं यन्तारं आरोहयते स्म । स्वयमेव स्वात्मन्यारोपयतीत्यर्थः । रोहेर्गत्यर्थत्वात्

१. 'कृतैस्थुलेः' इति पाठान्तरपक्षे 'थुले' इति देशीयं पदं दूष्यवाचकं बोध्यम् ।

'गतिबुद्धि=' (१।४।५२) इत्यादिना अणि कर्तुर्निषादिनः कर्मत्वम् । अत्र कर्त्रभिप्राये, 'णिचश्च' (१।३।७४) इत्यात्मनेपदे सिद्धेऽपि प्रयोगवैचित्र्यस्याप्यलङ्कारत्वादकर्त्रभिप्रायेऽपि 'णेरणौ यत्कर्म णौ चेत्स कर्तानाध्याने' (१।३।६७) इत्यात्मनेपदं वदन्ति । अणि कर्मणः करेणोरेवात्र ण्यन्ते कर्तृत्वात्तस्यैव चार्थात्कर्मत्वादिति । ननु यत्सग्रहणमनन्यकर्मार्थमित्युक्तं तेन कर्ममात्रनिषेधात्कथं निषादिनि कर्मण्यात्मनेपदम् । सत्यम् । अन्येषां मतम् । भाष्यकारस्य तु 'दर्शयते भृत्यान् राजा' इत्युदाहरणादणिकर्तृकर्मव्यतिरिक्तकर्मण एव निषेधो विवक्षित इति कैयटः । तदेतत्सम्यग्विवेचितमस्माभिः किरातार्जुनीयटीकायां घण्टापथे 'स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः' (किरातार्जुनीये १।१०) इत्यत्र । स्वभावोक्तिः ॥ ५ ॥

शरीरके पूर्वभाग (आगेके हिस्से) को ऊपर उठाया हुआ तथा भविष्य में आकाशकी ओर उठते हुए पर्वतराजका अनुकरण करता हुआ और ऊँचा (विशालकाय) हाथी अपने (हाथीके) सङ्कुचित किये हुए पिछले पैरके निचले सन्धिस्थानपर पैरको रखे हुए महावत को चढ़ा रहा था ॥ ५ ॥

स्वैरं कृतास्फालनलालितान्पुरः स्फुरत्तनून्दर्शितलाघवक्रियाः ।
वङ्क्षावलग्नैकसवल्गपाणयस्तुरङ्गमानारुरुहुस्तुरङ्गिणः ॥ ६ ॥

स्वैरमिति ॥ तुरङ्गिणोऽश्वारोहाः पुरः पूर्वं स्वैरं मन्दं कृतं यदास्फालनं पाणितलेनाङ्गसङ्घट्टनं तेन ललितानुपालितान् । त्याजितोद्वेगानित्यर्थः अत एव स्फुरत्तनून् कम्पितदेहांस्तुरङ्गमानश्वान् दर्शितं लाघवं शैघ्र्यं यासु ताः क्रिया उत्पतनकर्माणि येषां ते । वङ्क्षः पल्ययाणकोटिः । 'वङ्क्षः पल्ययागभागे स्यात्' इति विश्वः । तत्रावलग्नः सक्त एकैकः सवल्गो मुखरज्जुसहितः पाणिः येषां ते तथोक्ताः सन्त आरुरुहुरारूढाः । स्वभावोक्तिः ॥ ६ ॥

घुड़सवारलोग पहले धीरेसे (घोड़ोंकी) पीठको ठोककर शान्त किये गये तथा स्फुरित शरीरवाले घोड़ोंपर चढ़नेमें शीघ्रता दिखलाते हुए जीनपर बायें हाथको रखे एवं दहने हाथ में रास (घोड़ोंके लगामकी रस्सी) पकड़े हुए चढ़ गये ॥ ६ ॥

अह्नाय यावन्न चकार भूयसे निषेदिवानासनबन्धमध्वने ।
[2]तीव्रोत्थितास्तावदसह्यरंहसो विश्रृङ्खलं शृङ्खलकाः प्रतस्थिरे ॥ ७ ॥

अह्नायेति ॥ निषेदिवानुपर्युपविष्टः । निषादीति शेषः । 'भाषायां सदवसश्रुवः' (३।२।१०८) इति क्वसुप्रत्ययः । भूयसे दवीयसे अध्वने । भूयांसमध्वानं गन्तुमित्यर्थः । 'क्रियार्थोपपदस्य=' (२।३।१४) इती चतुर्थी । अह्नाय झटिति । 'द्राक् झटित्यञ्जसाह्नाय' इत्यमरः । यावदासनबन्धं दूराध्वगमनौपयिकमासनविशेषं न चकार तावत्तीव्रं तीक्ष्णमुत्थिता असह्यरंहसो दुःसहवेगाः शृङ्खलकाः करभा उष्ट्र-

१. 'लालनान्' इति पा० । २. 'तीक्ष्णो-' इति पा० ।

भेदाः। 'करभाः स्युः श्रृङ्खलका दारवैः पादबन्धनैः' इत्यमरः। विश्रृङ्खलमनर्गलं प्रतस्थिरे प्रस्थिताः। 'समवप्रविभ्यः स्थः' (१।३।२२) इत्यात्मनेपदम्। एषापि स्वभावोक्तिः॥ ७॥

लम्बे मार्गके लिए जब तक चढ़नेवालेने अपना आसन अच्छी तरहसे नहीं जमाया, तभी तक शीघ्र उठे हुए एवं दुःसह वेगवाले अर्थात् तीव्रगामी ऊँट बे-रोकटोकके (अतिशीघ्र) चल दिये॥ ७॥

गण्डोज्ज्वलामुज्ज्वलनाभिचक्रया विराजमानां नवयोदरश्रिया।
कश्चित्सुखं प्राप्तुमनाः सुसारथी रथीं युयोजाविधुरां वधूमिव॥ ८॥

गण्डेति॥ सुखमक्लिष्टं यथा तथा प्राप्तुं गन्तुं मनो यस्य स प्राप्तुमनाः, अन्यत्र सुखमानन्दं लब्धुकामः। 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः। शोभनः सारथिर्यस्य स सुसारथिः, अन्यत्र सुसहायवान्। कश्चित्कोऽपि रथी, कामी च। गण्डैश्चिह्नैरुज्ज्वलाम्, अन्यत्र कपोलोज्ज्वलाम्। 'गण्डः कपोले चिह्ने च' इति विश्वः। उज्ज्वलो नाभिर्बिलमध्यं ययोस्ते चक्रे रथाङ्गे यस्यास्तयोज्ज्वलनाभिचक्रया, अन्यत्रोज्ज्वलं नाभिचक्रं नाभिमण्डलं यस्यास्तया। 'नाभिः प्राण्यङ्गके क्षेत्रे चक्राङ्गचक्रवर्तिनोः' इति विश्वः। नवया प्रत्यग्रया उदुपता अराश्चक्रशलाकाः। 'अरः शीघ्रे च चक्राङ्गे' इति विश्वः। तेषां श्रिया, अन्यत्र उदरस्य मध्यस्य श्रिया शोभया विराजमानां विगता धूरग्रं यस्याः सा विधुरा। 'धूः स्त्री क्लीबे यानमुखम्' इत्यमरः। 'ऋक्पूः-' (५।४।७४) इत्यादिना समासान्तः। सा न भवतीत्यविधुरा ताम्। सधुरामित्यर्थः। अन्यत्राविधुरामविकलां रथीं शकटीम्। 'बह्वादिभ्यश्च' (४।१।४५) इति विकल्पेन ङीष्। वधूमिव युयोज योजयामास। अत्र शब्दमात्रसाधर्म्यात्सभङ्गाभङ्गपदमिश्रणादुभयगोचरत्वाच्च प्रकृताप्रकृतगोचरागोचरः शब्दार्थश्लेषः॥ ८॥

सुखपूर्वक जानेका इच्छुक अच्छे (चतुर) सारथिवाला कोई रथसवार चिह्नोंसे सुन्दर, सुन्दर नाभि (पहियेके बीचवाला बिलयुक्त काष्ठ) वाली पहियेसे और नये अराओंसे सुशोभित धुरावाले रथ (छकड़े) को; इस प्रकार जोड़ दिया जिस प्रकार सुख पानेके इच्छुक, उत्तम सहायकवाला, कोई कामी पुरुष कपोल-मण्डलसे जिस प्रकार सुख पानेके इच्छुक, उत्तम सहायकवाला, कोई कामी पुरुष कपोल-मण्डलसे मनोरम तथा सुन्दर नाभिचक्र एवं नवीन (यौवनोपलक्षित) उदरकी शोभासे शोभती हुई अविकल अर्थात् चतुर वधूको युक्त (साथ) करता है॥ ८॥

उत्थातुमिच्छन्विधृतः पुरो बलान्निधीयमाने भरभाजि यन्त्रके[1]।
अर्धोज्झितोद्गारविझर्झरस्वरः स्वनाम निन्ये रवणः स्फुटार्थताम्[2]॥ ९॥

उत्थातुमिति॥ रौतीति रवणः उष्ट्रः। 'रु शब्दे' इति धातोः 'चलनशब्दार्थाद-

१. उत्थाय गच्छन्' इति पा०। २. अर्द्धोदधृतोद्गाराविजर्जरः' इति पा०।

कर्मकाद्युच्' (३।२।१४८) इति युच्प्रत्ययः । भारारोपणाय यन्त्ररूपेण निर्मिते भरभाजि भारयुक्ते यन्त्रके गोण्यादौ निधीयमाने सति बलादुत्थातुमिच्छन्नुत्थाय गन्तुमिच्छन् अत एव पुरो मुखभागे विधृतो गृहीतः एवं स्वैरचारव्याघाततः अर्धोज्झितेनोद्गारेण स्वजग्धपिचुमर्दादिपत्ररसनेन विझर्झरो विषमः स्वरो यस्य स रवणः ऊष्ट्रः स्वनाम स्फुटार्थतां निन्ये । रौतीति रवण इति व्युत्पन्नं स्वनाम यथार्थमकरोदित्यर्थः ॥ ९ ॥

भारयुक्त गोणी आदिको (पीठपर) रखनेपर उठनेकी इच्छा करता हुआ (अतएव नकेल खींचकर) बलपूर्वक पकड़ा (उठनेसे रोका) गया रवण (बहुत शब्द करनेवाला अर्थात् ऊँट), आधे चबाये गये बकायन (नीम) आदिकी पत्तियोंके खानेसे विषम (कर्ण-कटु) शब्दको करता हुआ अपने नामको स्पष्ट अर्थवाला अर्थात् सार्थक कर दिया ॥ ९ ॥

नस्यागृहीतोऽपि धुवन्विषाणयोर्युगं ससूत्कारविवर्तितत्रिकः ।
गोणीं जनेन स्म निधातुमु[१]द्धृतामनुक्षणं नोक्षतरः प्रतीच्छति ॥ १० ॥

नस्येति ॥ नस्या । नासिकाया नसादेशः । नासिकाभवा नस्या । दिगादित्वाद्यत् । तस्यां नासिकाप्रोतरज्जौ गृहीतोऽपि विषाणयोर्युगं धुवन् विधुन्वन् शृङ्गद्वयं कम्पयन् । ससूत्कारेति । सूत्कार इति शब्दानुकरणम् । अमर्षजः सशब्दनिश्वासो वा ससूत्कारं यथा तथा विवर्तितं त्रिकं पृष्ठवंशाधरसन्धिर्येन । 'पृष्ठवंशाधरे त्रिकम्' इत्यमरः । उक्षतरो महोक्षः पृष्ठे निधातुं जनेनानुक्षणमुद्धृतां गोणीं न प्रतीच्छति स्म न स्वीकृतवान् । निधातुमवसरं न दत्तवानित्यर्थः ॥ १० ॥

नाथ (नाकमें छिद्रकर पहनायी गयी रस्सी) को पकड़नेपर भी दोनों सीगोंको हिलाता हुआ तथा सूत्कारपूर्वक (क्रोधसे 'सू-सू' करनेके साथ-साथ) नितम्बको इधर-उधर घुमाता हुआ बैल, पीठपर रखनेके लिए लोगोंसे बार-बार उठायी गयी कन्धेलीको नहीं रखने देता है ॥ १० ॥

नानाविधाविष्कृतसामजस्वरः सहस्रवर्त्मा चपलैर्दुरध्ययः ।
गान्धर्वभूयिष्ठतया समानतां स सामवेदस्य दधौ बलोदधिः ॥ ११ ॥

नानेति ॥ सामजा गजाः । 'सामजौ गजसामोत्थौ' इति शाश्वतः । नानाविधमाविष्कृताः सामजानां स्वरा ध्वनयो बृंहितानि यस्मिन् स सहस्रवर्त्मा बहुभिर्मार्गैर्गच्छन् । गन्धर्वा एव गान्धर्वा अश्वाः । 'वाजिवाहार्वगन्धर्व–' इत्यमरः । तैर्भूयिष्ठतया चपलैरस्थिरैः दुरध्ययो दुष्प्रापः । 'इण् गतौ' इत्यस्मात्कृच्छ्रार्थे खल् । ईदृशः स बलोदधिः सेनासमुद्रः सामवेदस्य समानतां दधौ । तत्समोऽभूदित्यर्थः । सामवेदोऽपि बहुधाविष्कृतबृहद्रथन्तरादिसामोत्थितस्वरः सहस्रशाखत्वात्सहस्र-

१. 'मुद्धृता—' इति पा० ।

वर्त्मा। गान्धर्वगानबहुत्वाच्चपलमतिभिरध्येतुमशक्य इत्यर्थः। 'इङ् अध्ययने' इत्यस्माद्धातोः खलु दुरध्यय इत्येवं रूपम् ॥ ११ ॥

हाथियोंकी नानाविध ध्वनियोंको प्रकट करनेवाला, सहस्रों मार्गोंसे चलता हुआ, घोड़ों की बहुलतासे चञ्चल लोगोंके द्वारा कठिनाईसे जाने योग्य वह सेना-समुद्र; अनेकविध बृहद्रथन्तर आदि स्वरोंको प्रकट करनेवाले, सहस्रों शाखाओंवाले, गान्धर्व-गानकी बहुलतासे अस्थिर बुद्धिवाले व्यक्तियोंके द्वारा कठिनाईसे पढ़ने योग्य सामवेदके समान हो गया ॥११॥

प्रत्यन्यनागं चलितस्त्वरावता निरस्य कुण्ठं दधतान्यमङ्कुशम् ।
मूर्धानमूर्ध्वायतदन्तमण्डलं धुवन्नरोधि द्विरदो निषादिना ॥ १२ ॥

प्रत्यन्येति ॥ अन्यनागं प्रति चलित ऊर्ध्वायतदन्तमण्डलं मूर्धानं धुवन् कम्पयन् द्विरदः कुण्ठमतीक्ष्णमङ्कुशं निरस्य अन्यमकुण्ठमङ्कुशं दधता त्वरावता निषादिना अरोधि रुद्धः ॥ १२ ॥

दूसरे हाथीके प्रति (उससे लड़कर मारनेके लिए) चले (आगे बढ़े) हुए तथा ऊपर उठे हुए एवं बड़े-बड़े दन्तमण्डलसे युक्त मस्तकको हिलाते हुए हाथीको; शीघ्रतायुक्त तथा भोथर (कुण्ठित) अङ्कुशको फेंककर दूसरे (तीक्ष्ण) अङ्कुशको लिये हुए महावतने रोक दिया ॥

सम्मूर्च्छदुच्छृङ्खलशङ्खनिःस्वनः स्वनः प्रयाते पटहस्य शार्ङ्गिणि ।
सत्त्वानि निन्ये नितरां महान्त्यपि व्यथां द्वयेषामपि मेदिनीभृताम् ॥

सम्मूर्च्छदिति ॥ 'मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः' इति धातुः। सम्मूर्च्छन्नुच्छ्रायं गच्छन् प्रचुरीभवन्नुच्छृङ्खलोऽनर्गलः सर्वव्यापी शङ्खस्य निःस्वनो यस्मिन् सः शार्ङ्गिणि प्रयाते यातुमुपक्रान्ते पटहस्य स्वनः द्वयेषामुभयेषामपि मेदिनीभृतां राज्ञां पर्वतानां च महान्त्यपि सत्त्वानि बलानि, भूतानि च नितरां व्यथां निन्ये। कृष्णस्य पटहश्रवणाद्राज्ञां बलान्यभिभवशङ्कया व्यथितान्यासन्। तथा गिरिस्थिताः सिंहादयो जन्तवश्च किमिदमिति ससाध्वसा आसन्नित्यर्थः। 'व्यवसाये स्वभावे च पिशाचादौ गुणे बले। द्रव्यात्मभावयोश्चैव सत्त्वं प्राणेषु जन्तुषु ॥' इति शाश्वतः ॥ १३ ॥

सर्वत्र व्याप्त होते हुए निर्बाध शङ्खकी ध्वनिवाला श्रीकृष्ण भगवान्‌के चलनेपर (बजाये गये (नगाड़ेका शब्द दोनों प्रकारके भूभृतों अर्थात् शत्रुभूत राजाओं तथा पर्वतोंके अत्यन्त अधिक सेनाओं (पक्षा०—पर्वतनिवासी जीवों) को (राजपक्षमें—इतने बलशाली ये श्रीकृष्ण हम लोगोंको पराजित कर देंगे, पर्वतपक्षमें—कोई अभूतपूर्व जनोपद्रव आनेवाला प्रतीत होता है इस आशङ्कासे दोनोंको) व्यथित कर दिया ॥ १३ ॥

कालीयकक्षोदविलेपनश्रियं दिशद्दिशामुल्लसदंशुमद्द्युति ।
खातं खुरैर्मुद्गभुजां विपप्रथे गिरेरधः काञ्चनभूमिजं रजः ॥ १४ ॥

कालीयेति ॥ कालीयं कुङ्कुमम्। 'काश्मीरजन्म घुसृणं कालीयं कुङ्कुमं विदुः' इति शाश्वतः। कालीयकक्षोदैः कुङ्कुमचूर्णैः कृतानुलेपनश्रियं दिशां दिशद्वत्।

उल्लसदंशुमान् उद्यदादित्यस्तत्समा द्युतिर्यस्य तत् मुद्गभुजामश्वानां खुरैः खातं विदारितं काञ्चनभूमिजं रजो गिरेरधो गुरुत्वाद्गिरेरधस्तादेव विपप्रथे विस्तीर्णमभवत् ॥

कुङ्कुमचूर्णकृत अङ्गरागकी शोभाको दिशाओंके लिए देती हुई अर्थात् दिङ्मण्डलको कुङ्कुमचूर्णरञ्जित करती हुई, उदय होते हुए सूर्यके समान कान्तिवाली अर्थात् अरुणवर्ण और घोड़ोंके खुरोंसे विदीर्ण स्वर्णमयी भूमिकी धूलि (भारी होनेसे ऊपर न उड़कर) पहाड़के नीचे ही फैल गयी ॥ १४ ॥

मन्द्रैर्गजानां रथमण्डलस्वनैर्निजुह्नुवे तादृशमेव बृंहितम् ।
तारैर्बभूवे परभागलाभतः परिस्फुटैस्तेषु तुरङ्गहेषितैः ॥ १५ ॥

मन्द्रैरिति । मन्द्रैर्गंभीरैः। 'मन्द्रस्तु गम्भीरे' इत्यमरः । रथमण्डलस्वनैः तादृशं तद्रूपमेव गजानां बृंहितं निजुह्नुवे तिरस्कृतम् । गजध्वनिरेकरूपत्वेन रथशब्दान्न पृथगश्रावीत्यर्थः । तारैरुच्चैस्तरैर्मन्द्रस्वरविलक्षणैस्तुरङ्गहेषितैः परभागलाभतस्तेषु तादृशध्वनिगुणभेदलाभात्तेषु गजादिस्वनेषु परिस्फुटैर्बभूवे । तुरङ्गहेषाः सुव्यक्ता एव शुश्रुविर इत्यर्थः । 'बृंहितं करिणां शब्दो हेषा ह्रेषा च वाजिनाम्' । बभूवे इति भावे लिट् । निजुह्नुव इति कर्मणि लिट् ॥ १५ ॥

रथ-समूहकी गम्भीर ध्वनियोंके साथ वैसा ही गम्भीर हाथियोंका बृंहित (गरजना, एकरूप होनेके कारण) छिप गया अर्थात् अलग सुनायी नहीं पड़ा, किन्तु उच्च घोड़ोंका हिनहिनाना तीक्ष्ण होनेके कारण उन (रथ-गजादिकी ध्वनियों) में स्पष्ट हो गया अर्थात् रथध्वनिके समान गम्भीरता होनेसे हाथियोंका गरजना तो अलग स्पष्ट सुनायी नहीं॥ पड़ता था, किन्तु उच्च स्वर होनेसे घोड़ोंका हिनहिनाना स्पष्ट सुनायी पड़ता था ॥ १५

अन्वेतुकामोऽवमताङ्कुशग्रहस्तिरोगतं साङ्कुशमुद्वहञ्शिरः ।
स्थूलोच्चयेनागमदन्तिकागतां गजोऽग्रयाताग्रकरः करेणुकाम् ॥ १६ ॥

अन्वेतिविति ॥ अन्तिकागतां करेणुकां करिणीमन्वेतुकामोऽनुगन्तुकामः अङ्कुशं गृह्णातीत्यङ्कुशग्रहो निषादी सोऽवमतो येन सः निषादिना साङ्कुशं तिरोगतम् । अङ्कुशाकर्षणेन तिर्यग्भूतं शिरो मस्तकमुद्वहन् गजः अग्रयाताग्रकरः करिणीग्रहणाय प्रसारितकराग्रो भूत्वा स्थूलोच्चयेन गतिविशेषेणागमज्जगाम । 'गजमध्यगतौ स्थूलोच्चयः साकल्यपुञ्जयोः' इति रत्नप्रकाशः ॥ १६ ॥

हथिनीके पीछे जाना चाहता हुआ, (अतएव) अङ्कुश लिये हुए महावतको अपमानित किया हुआ अर्थात् महावतके रोकनेपर नहीं रुका हुआ और अङ्कुशसहित (महावतके द्वारा) तिरछा किये गये शिरको धारण करता हुआ, (हथिनीको पकड़नेके लिए) सूँड़को आगे फैलाया हुआ हाथी स्थूलोच्चय संज्ञक मध्यम गतिसे चल पड़ा ॥ १६ ॥

यान्तोऽस्पृशन्तश्चरणैरिवावनिं जवात्प्रकीर्णैरभितः प्रकीर्णकैः ।
अद्यापि सेनातुरगाः सविस्मयैरलूनपक्षा इव मेनिरे जनैः ॥ १७ ॥

यान्त इति ॥ जवाद्वेगाच्चरणैरवनिमस्पृशन्त इव यान्तः सेनातुरगा अभितः प्रकीर्णैरुभयतः प्रसृतैः प्रकीर्णकैश्चामरैः । 'चामरं तु प्रकीर्णकम्' इत्यमरः । कण्ठभूषणचामरैर्हेतुभिरद्यापि अलूनपक्षा इवेति स्वविस्मयैर्जनैर्मेनिरे । पूर्वं तुरगाणामपि पक्षा आसन् पश्चात्केनचित्कारणेन देवैःपक्षच्छेदः कारित इति प्रसिद्धिः ॥ १७ ॥

वेगके कारण मानो पृथ्वीको पैरोंसे बिना स्पर्श किये ही जाते हुए सेनाके घोड़ोंको (उनकी तीव्रगतिसे) आश्चर्यित लोगोंने दोनों ओर फैले हुए ग्रीवाभरणरूप चामरोंसे आज भी बिना काटे गये पक्षोंवाला समझा ॥ १७ ॥

ऋज्वीर्दधानैरवतत्य कन्धराश्चलावचूडाः कलघर्घरारवैः ।
भूमिर्महत्यप्यविलम्बितक्रमं क्रमेलकैस्तत्क्षणमेव चिच्छिदे ॥ १८ ॥

ऋज्वीरिति ॥ ऋज्वीरवक्राः चलावचूडाः चलितकण्ठभूषणाः । 'शिरःशिखाभूषणेषु चूडा' इति यादवः । चलितशिरस इति वा । कन्धराः शिरोधरा अवतत्य वितत्य दधानैः कलघर्घरारवैः 'घर्घरा क्षुद्रघण्टा स्यात्' इति शाश्वतः । अथवा घर्घरारव इति शब्दानुकरणम् । क्रमेलकैरुष्ट्रैः अविलम्बितक्रमम्, क्रमः पदक्षेपः । द्रुतपादक्षेपं यथा तथा महत्यपि भूमिस्तत्क्षणमेव चिच्छिदेऽतिक्रान्ता । स्वभावोक्तिः ॥ १८ ॥

सीधी तथा चञ्चल कण्ठभूषणोंवाली (या–हिलते हुए मस्तकवाली) गर्दनको लम्बी कर धारणकी गयी छोटे-छोटे घुंघुरुओंवाले (या–किये गये 'घर्घर' शब्द (ध्वनि–विशेष) (वाले) ऊँट जल्दी–जल्दी पैर रखते हुए लम्बे मार्गको भी तत्काल अर्थात् अतिशीघ्र ही पार कर गये ॥ १८ ॥

तूर्णं प्रणेत्रा कृतनादमुच्चकैः प्रणोदितं वेसरयुग्यमध्वनि ।
आत्मीयनेमिक्षतसान्द्रमेदिनीरजश्चयाक्रान्तिभयादिवाद्रवत् ॥ १९ ॥

तूर्णमिति ॥ प्रणेत्रा सारथिना प्रणोदितं गमनाय प्रेरितम् । अत एव उच्चकैरुच्चैस्तरां कृतनादं यथा तथा वेसरयुग्यम् । शङ्कराश्वो वेसरः । वेसराभ्यां युग्यं शकटमात्मीयनेमिः स्वचक्रधारा तया क्षतस्य सान्द्रस्य मेदिनीरजसश्चयेन समूहेन यदाक्रमणं तद्भयादिव तूर्णमध्वन्यद्रवत् । आत्मीयनेमिसमुद्भूतधूलिजालेनास्पृष्टं सत् द्रुतमगमदित्यर्थः ॥ १९ ॥

कोचवान् (रथ हाँकनेवाले सारथि) से प्रेरित अर्थात् हाँके गये (अतएव) उच्च स्वर करते हुए खच्चरोंसे खींचा जाता हुआ छकड़ा मानो अपने नेमि (पहिये पुट्ठे) से क्षत होकर बढ़ी हुई भूमिकी धूलिके आक्रमण करनेके भयसे ('मेरे पहियेसे कटी हुई भूमिसे उत्पन्न होकर बढ़ी हुई धूल उड़कर मेरे ऊपर न पड़ जाय' इस भयसे) शीघ्र चलने लगा ॥ १९ ॥

व्यावृत्तवक्त्रैरखिलैश्चमूचरैर्व्रजद्भिरेव क्षणमीक्षिताननाः ।
वल्गद्गरीयःस्तनकम्प्रकञ्चुकं ययुस्तुरङ्गाधिरुहोऽवरोधिकाः ॥ २० ॥

१.–'चूडाकलघर्घरा–'इति, '–चूडास्ततघर्घरा–' इति च पा० । २. '–युक्त–' इति पा० ।

व्यावृत्तेति ॥ व्यावृत्तवक्त्रैर्विवृत्तमुखैः व्रजद्भिरेवाखिलैः चमूचरैः क्षणमीक्षिताननाः तुरङ्गाधिरुहः । तुरङ्गानधिरुहन्तीति क्विप् । तुरङ्गाधिरूढा अवरोधिका अवरोधस्त्रियो वल्गद्भिश्चलद्भिः गरीयोभिर्गुरुतरैः स्तनैः कम्प्रः कम्पनशीलः कञ्चुकः कूर्पासो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा ययुः । 'नमिकम्पि-' (३।२,१६७) इत्यादिना रः प्रत्ययः ॥२०॥

चलते हुए ही (पीछेकी ओर) मुखको घुमाये हुए सभी सैनिकोंसे क्षणमात्र देखे गये मुखवाली घोड़ोंपर चढ़ी हुई अन्तःपुरकी रानियाँ (या—सामान्य स्त्रियाँ) बड़े-बड़े स्तनोंके हिलनेसे चोलीको कँपाती हुई जा रही थीं ॥ २० ॥

पादैः पुरः कूबरिणां विदारिताः प्रकाममाक्रान्ततलास्ततो गजैः ।
भग्नोन्नतानन्तरपूरितान्तरा बभुर्भुवः कृष्टसमीकृता इव ॥ २१ ॥

पादैरिति ॥ कूबरिणां रथानाम् । 'कूबरस्तु युगन्धरः' इत्यमरः । स एषामस्तीति ते रथास्तेषां पादैः चक्रैः पुरः पूर्वं विदारिताः ततो गजैः प्रकाममाक्रान्ततलाः भग्नैरुक्तप्रकारेण पूर्वं भग्नत्वादुन्नतैरनन्तरैरुभयभागैः पूरितान्तराः समीकृतनिम्नप्रदेशाः । यद्वा पूर्वं रथचक्रविदारितत्वाद्भग्नोन्नता अनन्तरं गजपतिपरिक्रमणेन पूरितानतप्रदेशाः भुवः कृष्टसमीकृताः पूर्वं हलैः कृष्टा अनन्तरं बीजवपनार्थं समीकृता इव बभुः शुशुभिरे ॥ २१ ॥

पहले रथोंके पहियोंसे विदीर्ण की गयी और बादमें हाथियोंके पैरसे सम्यक् प्रकार आक्रान्त होकर समतलकी गयी (अतएव) टूटे हुऐ उन्नत स्थानोंवाली एवं भरे हुए नीचे (गर्तादिमय) स्थानोंवाली भूमि जोतकर (हेंगेसे—पटेलेसे) बराबरकी गयी-सी शोभने लगी ॥

दुर्दान्तमुत्कृत्य[2] निरस्तसादिनं सहासहाकारमलोकयज्जनः ।
पर्याणतः[3] स्रस्तमुरोविलम्बिनस्तुरङ्गमं प्रद्रुतमेकया दिशा ॥ २२ ॥

दुर्दान्तमिति ॥ उरोविलम्बिनः पर्याणतः पल्ययनतः स्रस्तमत एवोत्प्लुत्य निरस्तसादिनां स्वपृष्ठात्पातितावरोहमेकया दिशा प्रद्रुतं पलायितं दुर्दान्तं दुर्विनीतं तुरङ्गमं हासकृतेन हाकारेण सह यथा तथा जनोऽवलोकयदवलोकितवान् ॥ २२ ॥

(ढीला होनेके कारण ऊपरसे नीचेकी ओर सरककर) पेटमें लटके हुए जीन (खोंगीर) से उछलकर सवारको गिराये हुए और एक ओर भागते हुए दुष्ट घोड़ेको लोगोंने हँसते एवं 'हा-हा'कार करते हुए देखा अर्थात् वैसे घोड़ेको देखकर कुछ लोग हँसने लगे और कुछ सभ्य लोग किसीको चोट लगनेके भयसे 'हा-हा'कार करने लगे ॥ २२ ॥

[4]भूभृद्भिरप्यस्खलिताः खलून्नतैरपह्नुवाना सरितः पृथूरपि ।
अन्वर्थसंज्ञैव परं त्रिमार्गगा ययावसंख्यैः पथिभिश्चमूरसौ ॥ २३ ॥

---

१. '-तानता···कृष्टमती-' इति पा० । २. '-मुत्प्लुत्य-' इति पा० । ३. '-तन्नस्त-' इति पा० । ४. '-ता खलून्नतै-' इति पा० ।

भूभृद्भिरिति ॥ उन्नतैरपि भूभृद्भिः भूधरैर्भूपैश्चास्खलिता अप्रतिहताः पृथूर्मं-हतीरपि सरितो यमुनाप्रभृतीर्नदीरपह्नुवाना स्वमहीम्नाच्छादयन्ती त्रिभिर्मार्गैर्गं-च्छतीति त्रिमार्गगा गङ्गा परमत्यन्तमन्वर्था अनुगतार्था सञ्ज्ञा 'त्रिमार्गगा' इति नामधेयं यस्याः सैव खलु त्रिभिरेव मार्गैर्ययौ न चतुर्थेनेत्यर्थः। असौ चमूस्त्व-संख्यैः पथिभिर्ययौ। अतो गङ्गाया अभ्यधिका चमूरिति भावः। अत एव व्यतिरे-कालङ्कारः। 'भेदप्राधान्यसाधर्म्यमुपमानोपमेययोः। अधिकाल्पत्वकथनाद्व्यतिरेकः स उच्यते॥' इति तल्लक्षणात् ॥ २३ ॥

ऊँचे-ऊँचे पर्वतोंसे भी नहीं रुकी हुई और (यमुना आदि) बड़ी-बड़ी नदियोंको भी आच्छादित (अपनी विशालता से आत्मसात) करती हुई गङ्गा नदी तीन मार्गोंसे चलनेके कारण अन्वर्थ नामवाली हुई अर्थात् 'त्रिमार्गगा' कहलायी; किन्तु बड़े-बड़े राजाओंसे भी नहीं पराजित हुई एवं बड़ी-बड़ी नदियोंको आच्छादित करती हुई यह सेना असङ्ख्य मार्गोंसे चलने लगी (अतएव गङ्गासे भी यह सेना बड़ी थी) ॥ २३ ॥

त्रस्तौ समासन्नकरेणुसूत्कृतान्नियन्तरि व्याकुलमुक्तरज्जुके।
क्षिप्तावरोधाङ्गनमुत्पथेन गां विलङ्घ्य लघ्वीं[1] करभौ बभञ्जतुः ॥ २४ ॥

त्रस्ताविति ॥ समासन्नस्य प्रत्यासन्नस्य करेणोरिभस्य सूत्कृतात्सूत्कारात्त्रस्तौ करभौ वेसरौ। 'करभो वेसरेऽप्युष्ट्रे' इति सज्जनः। नियन्तरि सारथौ व्याकुलं व्यग्रं यथा तथा मुक्तरज्जुके त्यक्तप्रग्रहे सति क्षिप्ताः पतिता अवरोधाङ्गना यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा उत्पथेनापथेन। 'ऋक्पूः—' (५।४।७४) इत्यादिना समासान्तः। गां भूमिं विलङ्घ्य दूरमतीत्य लघ्वीं रथविशेषम्। लघ्वी लाघवयुक्तायां प्रभेदे स्यन्दनस्य च' इति हैमः। बभञ्जतुर्भग्नवन्तौ। अत्र त्रासस्य विशेषणगत्या भञ्जन-हेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं स्वभावोक्त्या सङ्कीर्यते ॥ २४ ॥

पासमें आये हुए हाथीके सूत्कार ('सू-सू' करने) से डरे हुए (छकड़ेमें जुते हुए) दो खच्चरोंने सारथिके घबड़ाकर रास (बागडोर) को छोड़ देनेपर (उसपर चढ़ी हुई) अन्तःपुरकी स्त्रीको गिराकर वेरास्ते (ऊँची-नीची) भूमिको पारकर छकड़ी (छोटीगाड़ी) को तोड़ दिया ॥ २४ ॥

स्रस्ताङ्गसन्धौ विगताशपाटवे रुजा निकामं विकलीकृते रथे।
आप्तेन तक्ष्णा भिषजेव तत्क्षणं प्रचक्रमे लङ्घनपूर्वकः क्रमः ॥ २५ ॥

स्रस्तेति ॥ स्रस्ता विश्लिष्टा अङ्गयो रथाङ्गयोरङ्गानां करचरणादीनां च सन्धयः सन्धिभागा यस्य तस्मिन् विगतमश्वस्य चक्रधारकाष्ठस्याशानामिन्द्रियाणां च पाटवं समर्थ्यं यस्य तस्मिन् रथे स्यन्दने, शरीरे च। 'रथः स्यात्स्यन्दने काये' इति विश्वः। रुजा भङ्गेन, रोगेण च निकामं विकलीकृते सति आप्तेन हितेन तक्ष्णा वर्धकिना,

१. 'लध्वी' इति पा०।

आप्तेन हितेन भिषजा वैद्येनेव। 'तक्षा तु वर्धकिस्त्वष्टा' इत्यमरः। तत्क्षणं तस्मिन्नेव क्षणे। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। लङ्घनं पादेनाक्रमणम्, उपवासश्च। 'लङ्घनं तूपवासे स्यादुद्गमने प्लवनेऽपि च' इति विश्वः। तत्पूर्वकः क्रमो विधिः प्रचक्रमे प्रक्रान्तः। प्रायेण ज्वरादिचिकित्साया लङ्घनपूर्वकत्वादिति भावः। श्लेषालङ्कारः॥ २५॥

ढीली पड़ी हुई पहियों की सन्धिवाले नष्ट हुई, धुरेकी शक्तिवाले रथके टूटनेसे निकम्मे होनेपर चतुर बढ़ईने पादाक्रमणपूर्वक कार्य (रथको सुधारनेका कार्य) उस प्रकार आरम्भ कर दिया; जिस प्रकार शिथिलित (हाथ पैर आदि) अङ्गोंके जोड़नेवाले नष्ट हुई, नेत्रादि इन्द्रियों के सामर्थ्यवाले (अतएव) रोगसे अत्यन्त विकल होनेपर चतुर (चिकित्सा करनेमें निपुण) वैद्य उपवासपूर्वक चिकित्साकार्यको आरम्भ कर देता है॥ २५॥

धूर्भङ्गसंक्षोभविदारितोष्ट्रिकागलन्मधुप्लावितदूरवर्त्मनि।
स्थाणौ निषङ्गिण्यनसि क्षणं पुरः शुशोच लाभाय कृतक्रयो वणिक्॥

धूर्भङ्गेति॥ स्थाणौ कीले। 'स्थाणुः कीले स्थिरे हरे' इति विश्वः। निषङ्गिणि सक्ते अनसि शकटे। 'क्लीबेऽनः शकटोऽस्त्री स्यात्' इत्यमरः। धुरोऽक्षस्य भङ्गेन यः संक्षोभो विपर्यासस्तेन विदारिता भिन्ना या उष्ट्रिका मृण्मयं मद्यभाण्डम्। 'उष्ट्रिका मृत्तिकाभाण्डभेदे करभयोषिति' इति विश्वः। ततो गलता स्रवता मधुना मद्येन प्लावितं सिक्तं दूरवर्त्म दीर्घाध्वा येन तस्मिन्। तथा सति पुरः पूर्वलाभाय कृतः क्रयः क्रयणं येन स वणिक् क्षणं शुशोच। अत्र मधुस्रावधनक्षययोर्विशेषणगत्या शोक-हेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः॥ २६॥

ठूँठमें गाडीके फँस जानेपर धुरेके टूटनेसे हिलनेके कारण फूटे हुए मद्य रखे हुए मिट्टीके बर्तनसे बहते हुए मद्यसे सुदूर तक मार्गके भींग जानेपर लाभके लिए (मद्यको) खरीदनेवाला व्यापारी शोक करने लगा (कि मद्यपात्रके फूटने से लाभ होना तो दूर रहा, मेरा मूल धन भी नष्ट हो गया)॥ २६॥

भेरीभिराक्रुष्टमहागुहामुखो ध्वजांशुकैस्तर्जितकन्दलीवनः।
उत्तुङ्गमातङ्गजितालघूपलो बलैः स पश्चात्क्रियते स्म भूधरः॥ २७॥

भेरीभिरिति॥ भेरीभिराक्रुष्टानि निन्दितानि महान्ति गुहामुखानि येन सः। भेरीझङ्कारभर्त्सितनितान्तवास्यामुखरमहागुहाद्वार इत्यर्थः। ध्वजांशुकैस्तर्जितानि भर्त्सितानि कन्दलीदलानि गुल्म पत्राणि येन सः। उत्तुङ्गैर्मातङ्गैर्जिता अलघूपलाः स्थूलपाषाणा येन स भूधरो रैवतकाद्रिः बलैः सैन्यैः पश्चात्क्रियते स्म पश्चात्कृतः। स्वयं दूरगमनेन पृष्ठतः कृत इत्यर्थः। उक्तविशेषणमहिम्ना अधरीकृत इति च प्रती-

१. 'विषङ्गि—' इति पा०। २. 'राक्रुष्टगुहामुखो मुहुर्ध्वं—' इति पा०।
३. अनेन पर्यायेण मूले 'कन्दलीदलः' इति पाठो व्याख्यातुरभिमतः प्रतीयते।

यते । 'लट् स्मे' (३।२।११८) इति भूतार्थे लट् । आक्रुष्टेति क्रोशतेः कर्मणि क्तः । मश्वादित्वात्पत्वे ष्टुत्वम् । अत्र पश्चात्करणस्याक्रुष्टादिपदार्थहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गम् । तच्चोक्तं प्रतीयमानाभेदाध्यवसायादिति श्लेषमूलातिशयोक्तिसङ्कीर्णम् । तेन बलानां भूधरौपम्यं गम्यत इत्यर्थालङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ २७ ॥

भेरियों (की झङ्कारों) से पराजित किए गये, (वायु-समूहसे पूर्ण होकर ध्वनि करते हुए) गुहाओं (गुफाओंके बिलों) वाले, ध्वजाओंके कपड़ोंसे तर्जित किए गए केलेके वनोंवाले और ऊँचे हाथियोंसे पराजित बड़े-बड़े चट्टानोंवाले उस (रैवतक) पर्वतको सेनाओंने आगे बढ़कर पीछे (पश्चा०—हीन, पराजित) कर दिया ॥ २७ ॥

वन्येभदानानिलगन्धदुर्धराः क्षणं तरुच्छेदविनोदितक्रुधः ।

व्यालद्विषा यन्तृभिरुन्मतिष्णवः कथंचिदारादपथेन निन्यिरे ॥ २८ ॥

वन्येभेति ॥ वन्येभदानानिलगन्धेन वनगजमदमारुतगन्धाघ्राणेन दुर्धराः क्रोधान्धा दुर्ग्रहाः अत एव क्षणं तरुच्छेदेन विनोदितक्रुधः प्रतिगजासान्निध्ये वृक्षाणां भङ्गेनापनीतक्रोधाः उन्मदिष्णवोऽत्यन्तमदशीलाः । 'अलंकृञ्-' (३।२।१३६) इत्यादिना इष्णुच् । व्यालद्विपा दुष्टगजा यन्तृभिराधोरणैः कथंचिद्दूरादपथेनामार्गेण । 'पथो विभाषा' (५।४।७२) इति निषेधविकल्पात् 'ऋक्पूः' (५।४।७४) इत्यादिना समासान्तः । 'अपथं नपुंसकम्'(२।४।३०) इति नपुंसकत्वम् । निन्यिरे नीताः। अत्रापि द्विपविशेषणानां तदुपमेयहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गं स्वभावोक्त्या सङ्कीर्यते ॥

जङ्गली हाथियोंके मदजलकी गन्धसे युक्त वायुको सूँघनेसे दुर्धर (कठिनाईसे वशमें किए जानेवाले) और (उन प्रतिपक्षी जङ्गली हाथियोंके नहीं मिलनेसे) पेड़ोंको तोड़नेसे कुछ समय तक क्रोधको शान्त किए हुए उन्मत्त दुष्ट हाथियोंको महावत लोग किसी प्रकार दूरसे मार्ग छोड़कर ले गये ॥ २८ ॥

तैर्वैजयन्तीवनराजिराजिभिर्गिरिप्रतिच्छन्दमहामतङ्गजैः ।

बह्व्यः प्रसर्पज्जनतानदीशतैर्भुवो बलैरन्तरयांबभूविरे ॥ २९ ॥

तैरिति ॥ वैजयन्त्यः पताकाः ता वनराजय इव तासी राजन्तीति तथोक्तैः गिरीणां प्रतिच्छन्दाः प्रतिनिधयः । तत्सदृशा इत्यर्थः । एतस्मादेव स्पष्टोपमालिङ्गादन्यत्राप्युपमितसमासाश्रयणम् । ते महामतङ्गजा येषु तैः । जनता जनसमूहास्ता नद्य इव तासां शतानि प्रसर्पन्ति प्रवहन्ति येषु तैस्तथोक्तैः बलैः सैन्यैः । बह्व्यो बह्वः । 'बह्वादिभ्यश्च' (४।१।४५) इति विकल्पादीकारः । भुवो भूमयः अन्तरयांबभूविरेऽन्तरा दूराःकृता इति । अतिक्रान्ता इत्यर्थः । न केवलं रैवतकाद्रिरेवेति भावः।

---

१. '-निवर्तित-' इति बा० । २. 'सन्देहविषोपध्यामाभ्यां श्लोकाभ्यां (२१-३१) प्राक् निम्नानि-अध्ययत्व' (३१-३२)' इति श्लोकौ व्याख्यातौ वल्लभदेवेने'ति बोध्यम् ।

बलैर्वैपुल्यादाच्छादिता इत्यर्थः। उक्तविशेषणावगतसादृश्यादगृहीतभेदाः कृता इति च गम्यते। एतेनाभेदाध्यवसायादेवास्याक्रमणरूपान्तरीकरणस्य बलविशेषणावगत सादृश्यस्य हेतुकत्वात्तदङ्गभूतोपमासङ्कीर्णं पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं श्लेषमूलाभेदातिशयोक्त्युत्थापितमिति सङ्करः। अन्तरशब्दात् 'तत्करोति–' (ग०) इति ण्यन्तात्कर्मणि क्विप्। आम्प्रत्यये भुवोऽनुप्रयोगः॥ २९॥

पताकारूपिणी वनराजियोंसे शोभनेवाले, पर्वतके प्रतिनिधि अर्थात् पर्वततुल्य बड़े-बड़े गजराजोंवाले और चलते हुए जन-समूह-रूपिणी सैकड़ों नदियोंवाले उन सैनिकोंने बहुत-सी भूमिको अतिक्रमण कर लिया अर्थात् वे सैनिक केवल रैवतक पर्वतको ही नहीं छोड़ दिए, किन्तु लम्बे भू-भागको भी पार कर गए (पक्षा०—अपने उक्त विशेषणोंसे बहुत-सी भूमिको आच्छादित कर लिया अर्थात् बहुत-से भूभागपर फैल गये)॥ २९॥

तस्थे मुहूर्तं हरिणीविलोचनैः सदृंशि दृष्ट्वा नयनानि योषिताम्।
मत्वाथ सत्रासमनेकविभ्रमक्रियाविकाराणि मृगैः पलाय्यत॥ ३०॥

तस्थ इति॥ हरिणीविलोचनैःसदृंशि सदृशानि। 'नपुंसकस्य झलचः' (७।१।७२) इति नुम्। योषितां नयनानि दृष्ट्वा मृगैः कृष्णसारैः कर्तृभिः मुहूर्तमल्पकालम्। 'मुहूर्तमल्पकाले स्याद्घटिकाद्वितयेऽपि च' इति विश्वः। तस्थे स्थितम्। हरिणीविलोचनशङ्कयेति भावः। अथानन्तरमनेका विभ्रमक्रिया विलासक्रिया एव विकारा येषां तानि मत्वा। सविलासानि ज्ञात्वेत्यर्थः। सत्रासं सभयं यथा तथा पलाय्यत पलायितम्। हरिणदुर्लभैर्विलासैर्योषिन्निश्चयादिति भावः। अत एव निश्चयान्तः संशयालङ्कारः। परापूर्वादयतेर्भावे लङ्। 'उपसर्गस्यायतौ' (८।२।१९) इति लत्वम्॥

मृगियोंके नेत्रोंके समान रमणियोंके नेत्रोंको देखकर (उन्हें मृगियोंका नेत्र जानकर) मृग क्षणमात्र रुक गये, बादमें अनेक विलासक्रियारूप विकारवाले अर्थात् अनेक विलासयुक्त जानकर (मृगियोंके नेत्रोंमें विलासका सर्वथा अभाव होनेके कारण मृगियोंके नेत्र नहीं होनेका निश्चय हो जानेपर) भयपूर्वक (वे मृग) भाग गए॥ ३०॥

निम्नानि दुःखादवतीर्य सादिभिः सयत्नमाकृष्टकशाः शनैः शनैः।
उत्तेरुरुत्तालखुरारवं द्रुताः श्लथीकृतप्रग्रहमर्वतां व्रजाः॥ ३१॥

निम्नानीति॥ अर्वतामश्वानाम्। 'वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः' इत्यमरः। 'अर्वणस्त्रसावनञः' (६।४।१२७) इति त्रादेशः। व्रजाः समूहाः सादिभिरश्वारूढैः। सयत्नमाकृष्टकशा दृढगृहीतवल्गाः सन्तः। यद्यपि 'अश्वादेस्ताडनी कशा' इत्यमरः, तथाप्यत्र ताडनीवल्गयोः कशा' इति दर्शनाद्विरोधः। शनैः शनै दुःखात्कृच्छ्रात् निम्नानि निम्नभूप्रदेशानवतीर्य उत्तालखुरारवमुच्चतरशफशब्दं श्लथीकृतप्रग्रहं शिथिलितवल्गं च यथा द्रुताः सत्वराः सन्त उत्तेरुः उत्पुप्लुविरे। निम्नेषु शनैरवतीर्य दीर्घं धावन्तीत्यश्वानां स्वभाव इति भावः। अत एव स्वभावोक्तिः॥३१॥

घुड़सवारोंसे प्रयत्नपूर्वक खींचे हुए रास (लगामकी रस्सी) वाले अश्व-समूह धीरे-धीरे ढालू भूमिपर दुःखसे उतरकर (समतल भूमिमें) लगामकी रस्सी ढीली करनेपर खुरोंकी उच्च ध्वनि ('टप-टप' शब्द करते हुए शीघ्रतापूर्वक चलने लगे ॥ ३१ ॥

अध्यध्वमारूढवतैव केनचित्प्रतीक्षमाणेन जनं मुहुर्धृतः ।
दाक्ष्यं हि सद्यः फलदं यदग्रतश्चखाद दासेरयुवा वनावलीः ॥ ३२ ॥

अध्यध्वमिति ॥ दक्षस्य भावो दाक्ष्यं कौशलं सद्यः फलदम् । कुतः, यद्यस्माद-ध्यध्वमध्वनि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः, 'अनश्च' (५।४।१०८) इति समासान्तोऽ-त्प्रत्ययः 'नस्तद्धिते' (६।४।१४४) इति टिलोपः । आरूढवतैवारुह्यैव स्थितेन । निष्ठेति रुहेः क्तवतुप्रत्ययः । जनं शनैः पश्चादागच्छन्तं स्वजनं प्रतीक्षमाणेन । केन-चित्पुंसेति शेषः । मुहुर्धृतः स्थापितोऽपि दासेरयुवा तरुणोष्ट्रः । विशेषणसमासः । अग्रतो वनावलीश्चखाद । पुरः पिचुमर्दादिकं भक्षयन्नास्त इत्यर्थः । न हि कुशलो वृथा कालं यापयतीति भावः । अत्र दाक्ष्यसाफल्यस्य सामान्यस्य तद्विशेषेण दासे-रककौशलेन समर्थनाद्विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ३२ ॥

चातुर्य तत्काल फलप्रद होता है, क्योंकि मार्गमें चढ़े हुए ही, किसीकी प्रतीक्षा करने-वाले किसी सवारसे पकड़ा गया युवक ऊँट सामनेवाली वनावली (के नीम आदिके पत्तों) को खाने लगा ॥ ३२ ॥

शौरेः प्रतापोपनतैरितस्ततः समागतैः प्रश्रयनम्रमूर्तिभिः ।
एकातपत्रा पृथिवीभृतां गणैरभूद्बहुच्छत्रतया पताकिनी ॥ ३३ ॥

शौरेरिति ॥ शौरेः कृष्णस्य पताकिनी सेना । व्रीह्यादित्वादिनिः । प्रतापेन हरि-तेजसा उपनतैर्नम्रैः । विधेयैरित्यर्थः । अत एवेतस्ततः समागतैः पार्श्वदेशादागतैः प्रश्रयनम्रमूर्तिभिर्हरिसन्निधौ विनयनम्रविग्रहैः पृथिवीभृतां राज्ञां गणैर्हेतुना बहु-च्छत्रतया असंख्यातातपत्रवत्तया निमित्तेन एकानि केवलान्यातपत्राणि यस्याः सा एकातपत्रा केवलातपत्रमय्यभूत् । आतपत्रातिरिक्तं न किञ्चिदलक्ष्यतेत्यर्थः । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । बहुच्छत्राप्येकच्छत्रेति विरोधभासनाद्विरोधाभासो-ऽलङ्कारः ॥ ३३ ॥

वह सेना श्रीकृष्ण भगवान्के प्रतापसे उपनत (नम्र, अतएव) विनयसे नम्रीभूत राज-समूहोंसे बहुत छत्रोंवाली होनेसे केवल छत्रोंवाली ही हो गयी अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान्के प्रतापसे आये हुए बहुत-से छत्रधारी राजाओंके छत्र ही उस सेनामें दिखलायी पड़ते थे । (यहाँपर अनेक छत्रोंवाली सेनाका एक छत्रवाली होना विरुद्ध है और 'केवल छत्रवाली' अर्थ करके उसका परिहास होनेसे विरोधाभास अलङ्कार है) ॥ ३३ ॥

---

१. '-तयाऽपि मेदिनी' इति पा० ।

आगच्छतोऽनूचि गजस्य घण्टयोः स्वनं समाकर्ण्य समाकुलाङ्गनाः ।
दूरादपावर्तितभारवाहणाः पथोऽपसस्रुस्त्वरितं चमूचराः ॥ ३४ ॥

आगच्छत इति ॥ अन्वञ्चतीत्यन्वङ् तस्मिन्ननूचि पृष्ठदेशे । 'ऋत्विग्–'(३।२।३५) इत्यादिनाऽञ्चेः क्विन्प्रत्ययः। आगच्छतो गजस्य घण्टयोः स्वनं समाकर्ण्य समाकुलाङ्गनाः सम्भ्रान्तवधूकाश्चमूचराः दूरादेवापवर्तिता अपसारिता भारस्याबादेर्वाहना भारवाहणा भारवाहिन उष्ट्रादयो यैस्ते तथा सन्तः । 'वाहनमाहितात्' (८।४।८) इति णत्वम् । वहेर्ण्यन्तात्कर्तरि ल्युट् । त्वरितं शीघ्रं पथो मार्गादपसस्रुः अपजग्मुः । स्वभावोक्तिः ॥ ३४ ॥

पीछे आते हुए हाथीके (दोनों पार्श्वोंमें लटकती हुई) दो घण्टाओंके शब्दको सुनकर घबड़ाई हुई रमणियोंवाले सैनिक दूरसे ही भार ढोनेवालों (ऊँट, बैल आदि) को हटाकर शीघ्र ही मार्गसे अलग हो गये ॥ ३४ ॥

ओजस्विवर्णोज्ज्वलवृत्तशालिनः प्रसादिनोऽनुज्झितगोत्रसंविदः ।
श्लोकानुपेन्द्रस्य पुरःस्म भूयसो गुणान्समुद्दिश्य पठन्ति बन्दिनः ॥३५॥

ओजस्वीति ॥ बन्दिनः स्तुतिपाठकाः । 'बन्दिनः स्तुतिपाठकाः' इत्यमरः । ओजस्विवर्णस्य तेजस्विवर्णस्य क्षत्रजातेर्यदुज्ज्वलं वृत्तमुदग्रव्यापारः विजयाख्यं तेन शालत इति ओजस्विवर्णोज्ज्वलवृत्तशाली तस्य, अन्यत्र ओजस्विवर्णैः समासभूयिष्ठाक्षरैरुज्ज्वलास्ते च वृत्तशालिनो वसन्ततिलकादिच्छन्दोविशेषशालिनश्च । 'वृत्तं चारित्रच्छन्दसोरपि' इति विश्वः । तान् प्रसादोऽस्यास्तीति प्रसादी तस्य प्रसादिनोऽनुग्रहशीलस्य । अन्यत्र प्रसादगुणयुक्तान् । 'प्रसिद्धार्थपदत्वं यत्स प्रसादो निगद्यते इति अनुज्झितौ गोत्रसंविदौ कुलाचारौ येन तस्य। यादववंशोत्पन्नस्येत्यर्थः।अन्यत्र कुलनामनी यैस्तान् । वंशनामाङ्कितानित्यर्थः। 'संविद्युद्धे प्रतिज्ञायां सङ्केताचारनामसु' इति वैजयन्ती । एवंभूतस्योपेन्द्रस्य हरेर्गुणान् समुद्दिश्याधिकृत्य भूयसो बहुलान् श्लोकान् स्तुतिपद्यानि पुरोऽग्रे पठन्ति स्म। अत्रोपेन्द्रस्य तच्छ्लोकानां च वर्ण्यत्वेन प्रकृतानां श्लेषसाधर्म्यादौपम्यगम्यतायां श्लेषप्रतिभोत्थापिता केवलप्रकृतगोचरा तुल्ययोगिता । श्लेषश्च प्रकृतिषु प्रत्ययेषु नेति ॥ ३५ ॥

स्तुति पाठ करनेवाले बन्दीलोग, तेजस्वी वर्ण (क्षत्रिय) के उज्ज्वल व्यवहार (विजय) से शोभनेवाले, अनुग्रह करनेवाले एवं कुल तथा आचारको नहीं छोड़े हुए अर्थात् यादववंशोत्पन्न श्रीकृष्ण भगवान्‌के गुणोंको लक्षित कर ओज गुण (अधिक समास आदि) से युक्त अक्षरोंवाले, छन्द (वसन्ततिलका आदि) से शोभनेवाले, प्रसाद गुणसे युक्त और कुल तथा नामसे युक्त बहुत-से श्लोकोंको पढ़ते थे ॥ ३५ ॥

निःशेषमाक्रान्तमहीतलो जलैश्चलन्समद्रोऽपि समुज्झति स्थितिम् ।
ग्रामेषु सैन्यैरकरोदवारितैः किमव्यवस्थां चलितोऽपि केशवः ॥ ३६ ॥

निःशेषमिति ॥ चलन् कल्पान्ते क्षुभितः समुद्रोऽपि जलैर्निःशेषमाक्रान्तमहीतलः सन् स्थितिं मर्यादां वेलालङ्घनलक्षणां समुज्झति त्यजति। केशवस्तु चलितोऽपि प्रस्थितोऽप्यवारितैरपरिमितैः सैन्यैः निःशेषमाक्रान्तमहीतलः सन् ग्रामेषु अव्यवस्थाममर्यादां अकरोत् किम्। नाकरोदेवेत्यर्थः। अत्रोपमानात् समुद्रादुपमेयस्य केशवस्य मर्यादानतिक्रमेणाधिक्यकथनाद्व्यतिरेकालङ्कारः। लक्षणं तूक्तम् ॥ ३६ ॥

कल्पान्तमें क्षुब्ध होता हुआ समुद्र भी सम्पूर्ण भूतलको पानीसे आक्रान्त (प्लावित-हुआ) कर मर्यादाको छोड़ देता है, किन्तु चले (यात्रा किये हुए) भी श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अपरिमित सैनिकोंसे सम्पूर्ण भूतलको आक्रान्त (व्याप्त) कर ग्रामोंमें अव्यवस्था किये (मर्यादाको छोड़ दिये) क्या? अर्थात् नहीं छोड़े ॥ ३६ ॥

कोशातकीपुष्पगुलुच्छकान्तिभिर्मुखैर्विनिद्रोल्बणबाणचक्षुषः।
ग्रामीणवध्वस्तमलक्षिता जनैश्चिरं वृतीनामुपरि व्यलोकयन् ॥ ३७ ॥

कोशातकीति ॥ कोशातकीपुष्पगुलुच्छकान्तिभिः पटोलीप्रसूनगुच्छसच्छायैः। स्मरपाण्डुरैरित्यर्थः। 'कोशातकी पटोली स्यात्' इति हलायुधः। मुखैरुपलक्षिताः विनिद्रं विकसितमत एवोल्बणं विपुलं बाणं नीलसैरेनपुष्पमिव चक्षुर्यासां ताः। 'नीली झिण्टी द्वयोर्बाणा' इत्यमरः। ग्रामेषु भवा ग्रामीणाः। 'ग्रामाद्यखञौ' (४।२।९४) इति खञ्प्रत्ययः। ताश्च वध्वः स्त्रियस्तं कृष्णम्। ग्रामान्तर्गामिनमिति भावः। जनैश्चमूचरैरलक्षिता। वृतिभिस्तिरोहिता इत्यर्थः। चिरं वृतीनां कण्टकशाखावरणानामुपर्युपरितनावकाशे व्यलोकयन्। उपमास्वभावोक्त्योः सङ्करः ॥ ३७ ॥

परवलके फूलके गुच्छेके समान (स्मरसे पाण्डुवर्ण) कान्तिवाले मुखोंसे उपलक्षित तथा विकसित बड़े नीली कटसरैयाके फूलके समान (नीले) नेत्रोंवाली ग्रामीण रमणियाँ लोगोंसे अलक्षित होकर काँटोंके घेरोंके ऊपरसे श्रीकृष्ण भगवान्‌को बहुत देर तक देखती रहीं ॥ ३७ ॥

गोष्ठेषु गोष्ठीकृतमण्डलासनान्सनादमुत्थाय मुहुः स वल्गतः।
ग्राम्यानपश्यत्कपिशं पिपासतः स्वगोत्रसङ्कीर्तनभावितात्मनः ॥ ३८ ॥

गोष्ठेष्विति ॥ स कृष्णो गावस्तिष्ठन्त्येष्विति गोष्ठानि गोस्थानानि। 'गोष्ठं गोस्थानकम्' इत्यमरः। 'सुपि स्थः' (३।२।४) इति कप्रत्ययः। 'अम्बाम्बगोभूमि-' (८।३।९७) इत्यादिना षत्वम्। गोष्ठीषु वार्तासु। 'गोष्ठी सभायामालापे' इति विश्वः। कृतानि मण्डलासनानि मण्डलाकारेणोपवेशनानि यैस्तान्मुहुः सनादं क्ष्वेलाट्टाट्टहासाद्यारावसहितं यथा तथोत्थाय वल्गत उत्प्लवमानान् कपिशं मद्यम्। 'कश्यं मद्यं च मरेयं कपिशं कापिशायनम्' इति हलायुधः। पिपासतो मुहुर्मुहुः पातुमिच्छतः। पिबतेः सन्नन्ताल्लटः शतरि शप्। स्वगोत्रसङ्कीर्तने स्वनामसङ्कीर्तने भावितात्मनः। प्रवर्तितचित्तान्। कृष्णनामानि गायत इत्यर्थः। ग्रामेषु भवान्

ग्राम्यान्। घोषजनानित्यर्थः। 'ग्रामाद्यखञौ' (४।२।९४) इति यप्रत्ययः। अपश्यद्दालोकितवान्। स्वभावोक्तिः॥ ३८॥

उन श्रीकृष्ण भगवान्‌ने गौओंके रहनेके स्थानमें मण्डलाकार (गोलाकार) बैठकर बातचीत (गप्प) करते हुए, अट्टहासपूर्वक उठकर बार-बार उछलते-कूदते हुए, मद्य पीनेकी इच्छा करते हुए और अपने (श्रीकृष्ण भगवान्‌के) नाम कीर्तनमें चित्तको लगाये हुए ग्रामीणोंको देखा॥ ३८॥

पश्यन्कृतार्थैरपि बल्लवीजनो जनाधिनाथं न ययौ वितृष्णताम्।
एकान्तमौग्ध्यानवबुद्धविभ्रमैः[1] प्रसिद्धविस्तारगुणैर्विलोचनैः॥ ३९॥

पश्यन्निति॥ एकान्तमौग्ध्येनात्यन्तमुग्धतया अनवबुद्धविभ्रमैरज्ञातविलासैः किन्तु प्रसिद्धो विस्तार एव गुणो येषां तैः। अतिविशालैरित्यर्थः। कृतार्थैरपि। सकृद्दर्शनाल्लब्धविस्तारफलैरित्यर्थः। विलोचनैर्जनाधिनाथं कृष्णं पश्यन् बल्लवीजनो गोपाङ्गनाजनः वितृष्णतां तृप्ततां न ययौ। भूयो भूयः पश्यन्नपि नालम्बुद्धिमवापेत्यर्थः। अत्र तृप्तिकारणे दर्शने सत्यपि तृप्तिकार्यानुपपत्तेर्विशेषोक्तिः। सा कृष्णस्य मदनकोटिलावण्यलक्ष्मीं व्यञ्जयति॥ ३९॥

(ग्रामीण होनेके कारण) अत्यन्त मुग्धता (सीधापन) से विलासशून्य, विस्तारगुणसे प्रसिद्ध अर्थात् बहुत बड़े-बड़े (श्रीकृष्ण भगवानको एक बार भी देख लेनेसे) कृतकृत्य हुए नेत्रोंसे राजा (द्वारकाधीश श्रीकृष्ण भगवान्) को देखती हुई गोपियाँ तृष्णारहित नहीं हुई अर्थात् निरन्तर उन्हें देखनेकी इच्छुक ही बनी रहीं॥ ३९॥

प्रीत्या नियुक्ताँल्लिहती स्तनंधयान्निगृह्य पारीमुभयेन जानुनोः।
वर्धिष्णुधाराध्वनि रोहिणीः पयश्चिरं निदध्यौ दुहतः स गोदुहः॥ ४०॥

प्रीत्येति॥ नियुक्तान्वामपादे एव संयतान् स्तनं धयन्ति पिबन्तीति स्तनंधयान् वत्सान्। 'नासिकास्तनयोर्ध्माधेटोः' (३।२।२९) इति धेटः खश्प्रत्ययः। प्रीत्या वत्सांल्लिहतीर्जिह्वया स्वादयन्तीः। रोहिणीर्गाः। 'अर्जुन्याघ्न्या रोहिणी स्यात्' इत्यमरः। पयः क्षीरं जानुनोरुभयेन जानुद्वयेन पारीं दोहनपात्रीम्। 'पारी पात्रीपरागयोः' इति विश्वः। निगृह्य निरुध्य। वर्धिष्णुधाराध्वनि वर्धनशीलक्षीरधाराशब्दं यथा भवति तथा दुहतः प्रपूरयतः। दुहेर्लटः शतरि शप् 'दुह्याच्-' (१।४।५१) इति द्विकर्मकत्वम्। गां दुहन्तीति गोदुहो गोदोहकान्। 'सत्सूद्विष-' (३।२।६१) इत्यादिना क्विप्। स हरिश्चिरं निदध्यावबलोकयति स्म। 'निध्यानमवलोकनम्' इति वैजयन्ती। स्वभावोक्तिः॥ ४०॥

(बाएँ पैरमें) बाँधे गये बछड़ोंको स्नेहसे चाटती हुई गायोंसे, दोनों घुटनोंसे दुहनेके

---

१. '—विभ्रमप्रसिद्ध—' इति पा०।

वर्तनको दबाकर बढ़ते हुए धाराके शब्दके साथ-साथ, दूधको दूहते हुए गाय दूहनेवालोंको उन श्रीकृष्ण भगवान्‌ने देर तक अच्छी तरह देखा ॥ ४० ॥

अभ्याजतोऽभ्यागततूर्णतर्णकान्निर्याणहस्तस्य पुरो दुधुक्षतः ।
वर्गाद्‌गवां हुंकृतिचारु निर्यतीमरिर्मधोरैक्षत गोमतल्लिकाम् ॥ ४१ ॥

अभ्येति ॥ अभ्याजतः दोग्धुमभिमुखमागच्छतः । अजेर्लटः शत्रादेशः । निर्याणं पादबन्धनं दाम । 'निर्याणं दाम संदानं पशूनां पादबन्धने' इति वैजयन्ती । तद्धस्ते यस्य तस्य निर्माणहस्तस्य दुधुक्षतो दोग्धुमिच्छतः । दोग्धुरिति शेषः । दुहेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः घत्वभत्वे । पुरोऽग्रेऽभ्यागतोऽभिमुखमागतस्तूर्णस्तनपाने त्वरमाणस्तर्णकोऽतिबालवत्सो यस्यास्ताम् । 'सद्योजातस्तु तर्णकः' इत्यमरः । गवां वर्गाद्गोव्रजाद्धुंकृतिचारु हुङ्कारमनोहरं यथा तथा निर्यातीं निर्गच्छन्तीम् । इणः शतरि ङीप् । इणो यणादेशः । प्रशस्तां गां गोमतल्लिकाम् । 'प्रशंसावचनैश्च' इति नित्यसमासः । 'मतल्लिका मचर्चिका प्रकाण्डमुद्धतल्लजौ । प्रशस्तवाचकान्यमूनि' इत्यमरः । मधोररिर्मधुसूदन ऐक्षत ईक्षितवान् । ईक्षतेर्लङि 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) इत्याट् 'आटश्च' (६।१।९०) इति वृद्धिः । स्वभावोक्तिः ॥ ४१ ॥

(गायको दूहनेके लिए) सामने आते हुए तथा हाथमें नोयड़ा (दूहनेके समय गायके पिछले दोनों पैरोंको बाँधनेवाली पतली रस्सी) लिए हुए दूहनेवाले गोपके सामने आकर शीघ्रता करते हुए छोटे (थोड़े दिनोंके पैदा हुए) बच्चेवाली, (अतएव) गौओंके झुण्डसे सुन्दर हुङ्कारकर निकलती हुई श्रेष्ठ गायको मधुसूदन (श्रीकृष्ण भगवान्) ने देखा ॥४१॥

स व्रीहिणां यावदपासितुं गताः शुकान्मृगैस्तावदुपद्रुतश्रियाम् ।
कैदारिकाणामभितः समाकुलाः सहासमालोकयतिस्म गोपिकाः ॥ ४२ ॥

स इति ॥ यावच्छुकान् कीरानपासितुं गतास्तावन्मृगैरुपद्रुतश्रियामुपद्रुतसम्पदां व्रीहिणां व्रीहिमताम् । 'व्रीह्यादिभ्यश्च' (५।२।११६) इतीनिप्रत्ययः । कैदारिकाणां क्षेत्रसमूहानाम् । 'पुंनपुंसकयोर्वप्रः केदारः क्षेत्रमस्य तु । कैदारकं स्यात्कैदार्यं क्षेत्रं कैदारिकं गणे । इत्यमरः । 'ठञ्कवचिनश्च' (४।२।४१) इति चकाराट्ठञ्प्रत्ययः । कृद्योगात्कर्मणि षष्ठी । गोपिकाः गोप्त्रीरभितः समाकुला व्यग्राः । उभयतः समाकृष्यमाणाः सतीरित्यर्थः । स हरिः सहासमालोकयति स्म । अत्र सहासावलोकनस्य विशेषणगत्या समाकुलपदार्थहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ ४२ ॥

(धानकी रखवाली करनेवाली) जब तक (खेतके एक ओर धानको खाते हुए) सुग्गोंको उड़ानेके लिए गयीं, तब तक (उसी खेतकी दूसरी ओर) मृगोंसे चरे जाते धानोंवाले खेतोंके समूहों के दोनों ओर (कभी सुग्गोंको और कभी मृगोंको भगानेमें) घबड़ायी हुई (धानकी) रखवाली करनेवाली स्त्रियोंको मुस्कुराते हुए श्रीकृष्ण भगवान् देखते थे ॥ ४२ ॥

व्यासेद्धुमस्मानवधानतः पुरा चलत्यसावित्युपकर्णयन्नसौ ।
गीतानि गोप्याः कलमं मृगव्रजो न नूनमत्तीति [१]हरिर्व्यलोकयत् ॥ ४३ ॥

व्यासेद्धुमिति ॥ गोप्याः शालिगोप्याः । गौरादित्वान्ङीष् । गीतान्युपकर्णयन् शृण्वन् असौ मृगव्रजो नूनं निश्चितं कलमं नात्ति न खादति इति । किं कलमभक्षणे गीतश्रवणविशेष इत्यत आह—असौ गोपी अस्मान् व्यासेद्धुं निवारयितुमवधानतो गीतैकाग्र्यात् पुरा चलति चलिष्यति । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' (३।३।४) इति भविष्यदर्थे लट् । इतीत्थं वितर्कयन्निति शेषः । हरिर्व्यलोकयत् । अत्र मृगाणां कलमखादननिवृत्तेर्गीतासक्तिनिमित्तायास्तदाकर्णनसुखभङ्गभयहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ४३ ॥

'(धानकी) रखवाली करनेवाला स्त्रियोंके गीतको सुनते हुए मृगोंके झुण्ड सचमुच ही धानको नहीं खाते हैं, (वे मृग ऐसा सोचते हैं कि हमलोग धानको खाने लगेंगे तो) यह स्त्री (गानेमें की गयी) तन्मयताको छोड़कर हमलोगों को भगानेके लिए चल पड़ेगी (इस प्रकार हमलोग इनके मधुर गीत सुननेसे वञ्चित हो जायेंगे, अतएव इनके मधुर गीत को सुननेके लिए धान खाना छोड़ देना ही अच्छा है, ऐसा मृगोंके विषयमें तर्क करते हुए) श्रीकृष्ण भगवान्ने उन्हें देखा ॥ ४३ ॥

लीलाचल[२]स्त्रीचरणारुणोत्पलस्खलत्तुलाकोटिनिनादकोमलः ।
शौरेरुपानूपमपा[३]हरन्मनः स्वनान्तरादुन्मदसारसारवः ॥ ४४ ॥

लीलेति ॥ अनुगता आपो येषु ते अनूपा जलप्राया देशाः । 'जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः । 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपश्च' (वा०) इति बहुव्रीहिः 'ऋक्पूः–' (५।४।७४) इत्यादिना समासान्तः 'ऊदनोर्देशे' (६।३।९८) इत्यूकारः । तेषां समीपे उपानूपम् । समीपार्थेऽव्ययीभावः । लीलया चलति चलनशीले स्त्रियाश्चरणे अरुणोत्पले इव तयोः स्खलन्त्यौ ये तुलाकोटी नूपुरौ । 'पादाङ्गदं तुलाकोटिर्मञ्जीरो नूपुरोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । तयोर्निनाद इव कोमलो मधुर उन्मदसारसारवः मत्तहंसकूजितम् । 'चक्राङ्गसारसौ हंसे' इति शब्दार्णवे । शौरेर्मनः स्वनान्तरादपाहरत् । अत्र मनोहरणस्य लीलेत्यादिविशेषणार्थहेतुकत्वादुपमासङ्कीर्णं काव्यलिङ्गम् ॥ ४४ ॥

जल–बहुल स्थानमें विलासके साथ चलती हुई स्त्रीके रक्तकमलके समान चरणोंमें चञ्चल होते हुए नूपुरकी ध्वनिके समान मधुर मतवाले हंसोंके शब्दने श्रीकृष्ण भगवान्के मनको हर (आकृष्ट कर) लिया ॥ ४४ ॥

उच्चैर्गतामस्खलितां गरीयसीं तदातिदूरादपि तस्य गच्छतः ।
[४]एके समूहुर्बलरेणुसंहतिं शिरोभिराज्ञामपरे महीभृतः ॥ ४५ ॥

---

१. 'हरिर्व्यकल्पयत' इति पा० । २. '—चलस्त्री—' इति पा० । ३. 'मुपान्छिन'— इति पा० । ४. 'एकेऽप्यहीपु—' इति पा० ।

उच्चैरिति ॥ तदा तस्मिन् समये अतिदूराद्गच्छतोऽपि तथा हरेः सम्बन्धिनी मुच्चैर्गतामत्यूर्ध्वमुन्नताम् अन्यत्रोर्ध्वलोकेष्वपि व्याप्तामस्खलितामभङ्गुरां, सत्यां च गरीयसीमतिमहतीं, पूज्यां च। बलरेणुसंहतिं सेनारेणुसंघातमेके कतिपये महीभृतः पर्वता आज्ञां शासनम्, अपरे महीभृतः, राजानश्च। शिरोभिः शेखरैः, शीर्षैश्च समूहुः संवहन्ति स्म। वहेर्लिटि झेरुसि 'वचिस्वपि–' (६।१।१५) इत्यादिना सम्प्रसारणम्। अत्र हरिमहिमवर्णनायामभयेषामपि महीभृतां प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता श्लेषप्रतिभोत्थापिता चेति सङ्करः ॥ ४५ ॥

उस समय अत्यन्त दूरसे भी जाते हुए उन (श्रीकृष्ण भगवान्) को ऊपर तक बढ़ी हुई (पक्षा०—स्वर्गलोक तक व्याप्त हुई), कभी विच्छिन्न नहीं होनेवाली (पक्षा०—सच्ची, गौरवान्वित (वजनदार, पक्षा०—पूज्य), सेनासे उड़ायी गयी धूलिके समूहको कुछ महीभृतों अर्थात् पर्वतोंने शिखरपर धारण किया और दूसरे महीभृतों अर्थात् राजाओंने उक्तरूप आज्ञाको मस्तकसे धारण (शिरोधार्य) किया ॥ ४५ ॥

प्रायेण नीचानपि मेदिनीभृतो जनः समेनैव पथाधिरोहति।
सेना मुरारेः पथ एव सा पुनर्महामहीध्रान्परितोऽध्यरोहयत् ॥ ४६ ॥

प्रायेणेति ॥ प्रायेण प्राचुर्येण नीचान् कुब्जानपि मेदिनीभृतोऽद्रीन् जनो लोकः समेन सुगमेन पथा मार्गेणैवाधिरोहति। सा मुरारेः सेना पुनः पथो मार्गानेव महामहीध्रान् महाद्रीन् परितोऽध्यरोहयत्। लोके हि सति क्षुण्णेऽध्वनि तेन शैलारोहणसम्भवः। सेना तु सर्वपथातिरेकिण्यभूत्। पूर्वापराः सहस्रं पन्थानः स्वारोहणेन प्रवर्तिता इत्यर्थः॥ रोहतेर्गत्यर्थत्वात् 'गतिबुद्धि–' (१।४।५२) इत्यादिना पथामणिकर्तॄणां णौ कर्मत्वम्। महीं धरन्तीति महीध्राः मूलविभुजादित्वात्कः। अत्र सेनायाः पथां शैलाधिरोहणेनोपमानाज्जनादधिक्यकथनाद्व्यतिरेकः ॥ ४६ ॥

लोग छोटे पर्वतोंपर भी प्रायः समान अर्थात् सरल मार्गसे ही चढ़ते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण भगवान्की सेनाने पर्वतोंके चारों ओर मार्गोंको चढ़ा दिया अर्थात् चारों ओरसे पर्वतपर चढ़कर उनपर अनेक मार्गोंको बना दिया ॥ ४६ ॥

दन्ताग्रनिर्भिन्नपयोदमुन्मुखाः शिलोच्चयानारुरुहुर्महीयसः।
तिर्यक्कटप्लाविमदाम्बुनिम्नगाविपूर्यमाणश्रवणोदरं द्विपाः ॥ ४७ ॥

दन्ताग्रेति ॥ द्वाभ्यां पिबन्तीति द्विपाः। 'सुपि' (३।२।४) इति योगविभागात्कप्रत्ययः। उन्मुखा उन्नमितमुखाः सन्तः दन्ताग्रैर्निर्भिन्ना विदारितः पयोदाः शृङ्गगता यस्मिन् कर्मणि तत्तथा तथा तिर्यगूर्ध्वमुखत्वात्तिरश्चीनं यथा तथा कटेभ्यः प्लवन्ते चरन्तीति कटप्लाविनीभिः मदाम्बुनिम्नगाभिः मदजलप्रवाहैः विपूर्यमाणानि श्रवणोदराणि श्रोत्रोदराणि यस्मिन् कर्मणि तत्तथा तथा महीयसो महत्तरान् शिलोच्चयान् शैलानारुरुहुः। स्वभावोक्तिः ॥ ४७ ॥

(श्रीकृष्ण भगवान्‌की सेनाके) हाथी मुखको ऊपर कर दन्ताग्रसे (पर्वत-शिखरस्थ) मेघोंको विदीर्ण करते एवं (ऊर्ध्वमुख होनेसे) तिरछे गण्डस्थलोंसे बहते हुए मदजलके प्रवाहसे अच्छी तरहसे कानोंके बिलोंको भरते हुए; बहुत बड़े-बड़े पर्वतोंपर चढ गये ॥४७॥

श्च्योतन्मदाम्भःकणकेन केनचिज्जनस्य जीमूतकदम्बकद्युता ।
नगेन नागेन गरीयसोच्चकैररोधि पन्थाः पृथुदन्तशालिना ॥ ४८ ॥

श्च्योतदिति ॥ श्च्योतन्तः क्षरन्तो मदाम्भःकणा यस्य तेन । शैषिकः कप्प्रत्ययः । जीमूतकदम्बकस्येव द्युत द्युतिर्यस्य तेन । पृथुभ्यां दन्ताभ्यां शालत इति तच्छालिना गरीयसा गुरुतरेणोच्चकैरुन्नतेन केनचिन्नागेन गजेन जनस्य पन्था मार्गः यथाऽरोधि अगेन अचलेन न तथाऽरोधि रुद्धः । मत्तमातङ्गस्य दुरासदत्वाच्छैलवदनतिक्रमणीयत्वादिति भावः । अत एवोपमानादगादुपमेयस्य नागस्याधिक्याद्व्यतिरेकः ॥

मदजलके कणोंको गिराते हुए (पक्षा०—शिखरोंपर चढ़े हुए हाथियोंके मदजलके कणोंको शिखरोंसे गिराते हुए, या—मदके समान जलकणको झरनों आदिसे गिराते हुए), मेघ-समूहके समान कान्तिवाले अर्थात् काले (पक्षा०—मेघ-समूहसे (मेचकित) कान्तिवाले), विशालकाय (पक्षा०—बहुत बड़े), ऊँचे और बड़े-बड़े दाँतोंसे (पक्षा०—लुढ़के हुए बड़ी-बड़ी चट्टानोंसे) शोभनेवाले हाथीने जिस प्रकार लोगोंके मार्गोंको रोक दिया, उस प्रकार उक्तरूप पर्वतने लोगोंके मार्गोंको नहीं रोका (अतएव पर्वतकी अपेक्षा भी श्रीकृष्ण भगवान्‌की सेनाके हाथी ही श्रेष्ठ थे) ॥ ४८ ॥

भग्नद्रुमाश्चक्रुरितस्ततो दिशः समुल्लसत्केतनकाननाकुलाः ।
पिष्टाद्रिपृष्ठास्तरसा च दन्तिनश्चलन्निजाङ्गाचलदुर्गमा भुवः ॥ ४९ ॥

भग्नेति ॥ दन्तिनो गजा इतस्ततो भग्नद्रुमाः स्वभग्नाखिलवृक्षा दिशः समुल्लसद्भिः केतनैरेव काननैराकुलाः सङ्कीर्णाश्चक्रुः । तथा तरसा बलेन पिष्टानि चूर्णितान्यद्रिपृष्ठानि यासु ताः । भुवो भूमीः चलद्भिर्निजाङ्गैरेवाचलैः दुर्गमा दुष्प्रापाश्चक्रुः । अत्र केतनेष्वङ्गेषु च काननाचलस्वरूपणाद्रूपकालंकारः । तेन गजानां पुरातनसृष्टिसंहारेण सृष्ट्यन्तरप्रवर्तनरूपं लोकोत्तरं सामर्थ्यं गम्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ।

हाथियोंने इधर-उधर तोड़े गये वृक्षोंवाली दिशाओंको उल्लसित होती हुई पताकारूपी वनोंसे व्याप्त कर दिया तथा पर्वतके चूर्ण किये गये पृष्ठदेश (ऊपरी भाग) वाली भूमिको अपने शरीररूपी पर्वतसे दुर्गम बना दिया ॥ ४९ ॥

आलोकयामास हरिर्महीधरानधिश्रयन्तीर्गजताः परःशताः ।
उत्पातवातप्रतिकूलपातिनीरुपत्यकाभ्यो बृहतीः शिला इव ॥ ५० ॥

आलोकेति ॥ हरिर्महीधरान् गिरीनधिश्रयन्तीः परःशताः शतात्पराः । असंख्याता

१. '—कटकेन' इति पा० ।

इत्यर्थः। 'परश्शताद्यास्ते येषां परा संख्या शतादिकात्' इत्यमरः। 'पञ्चमी' (२।१।३७) इति योगविभागात्समासः। राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्यापि शतशब्दस्य परनिपातः। पारस्करादित्वात्सुडागमः। गजताः गजसमूहान्। गजाच्चेति वक्तव्यम्' (वा०) इति सामूहिकस्तलप्रत्ययः। उपत्यकाभ्य आसन्नभूमिभ्यः। 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिः' इत्यमरः। 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः (५।२।३४) इति त्यकन्प्रत्ययः। उत्पातवातेन। 'तत्प्रतिकूलं पतन्तीति प्रतिकूलपातिनीः। ऊर्ध्वगामिनीरित्यर्थः। बृहतीः शिला इवेत्युत्प्रेक्षा। आलोकयामास ॥ ५० ॥

श्रीकृष्ण भगवान्‌ने पर्वतोंपर चढ़ते हुए शताधिक अर्थात् अगणित गज-समूहोंको, पर्वतोंके पासवाली भूमियोंसे उत्पातवायुके द्वारा उलटा गिरते अर्थात् ऊपरकी ओर जाते हुए बड़े बड़े चट्टानोंके समान देखा ॥ ५० ॥

शैलाधिरोहाभ्यसनाधिकोद्धुरैः पयोधरैरामलकीवनाश्रिताः।
तं पर्वतीयप्रमदाश्चचायिरे विकासविस्फारितविभ्रमेक्षणाः ॥ ५१ ॥

शैलेति ॥ शैलाधिरोहाभ्यसनेन पर्वतारोहणाभ्यासेन अधिकोद्धुरैरत्युन्नतैः पयोधरैः स्तनैरुपलक्षिता आमलकीवनाश्रिता धात्रीवनगताः। पर्वतो निवासो येषां ते पर्वतीयाः किरातादयः। 'पर्वताच्च' (४।२।१४३) इति छप्रत्ययः। तेषां प्रमदाः। विकासेन विस्मयकृतविस्तारेण विस्फारिता विवर्तिता विभ्रमा विलासा येषां तानीक्षणानि यासां तास्तथा सत्यः तं हरिं चचायिरे ददृशुः। 'चायृ पूजानिशामनयोः' इति धातोः कर्तरि लिट्। निशामनं दर्शनम्। 'निरीक्षणनिशामने' इति दर्शनपर्यायेषु भट्टमल्लः। एतेन हरेर्लोकोत्तरं लावण्यं व्यज्यत इति वस्तुना वस्तुध्वनिः। स्वभावोक्तिवृत्त्यनुप्रासयोः संसृष्टिः ॥ ५१ ॥

पर्वतोंपर चढ़नेका अभ्यास होनेसे बड़े-बड़े स्तनोंवाली तथा आँवलेके वनोंमें रहनेवाली और विकाससे बढ़ाये गये विलासयुक्त नेत्रोंवाली पर्वतनिवासियों (किरातादि) की स्त्रियोंने उन्हें (श्रीकृष्ण भगवान्‌को) देखा ॥ ५१ ॥

सावज्ञमुन्मील्य विलोचने सकृत्क्षणं मृगेन्द्रेण सुषुप्सुना पुनः।
सैन्यान्न यातः समयापि विव्यथे कथं सुराजंभवमन्यथाथवा ॥ ५२ ॥

सावज्ञमिति ॥ सावज्ञमनादरं यथा तथा विलोचने सकृदेकवारम्। 'एकस्य सकृत्' (५।४।१९) इति सकृदर्थे निपातः। क्षणमुन्मील्योन्मिष्य। पुनः सुषुप्सुना स्वप्तुमिच्छुना। स्वपेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। 'रुदविद–' (१।२।८) इत्यादिना सनः कित्वात् 'वचिस्वपि–' (६।१।१५) इत्यादिना संप्रसारणम्। मृगेन्द्रेण सिंहेन समया समीपे। 'समयानिकषाशब्दौ समीपे संप्रकीर्तितौ' इति सज्जनः। यातो गच्छतोऽपि। यातोर्लटः शत्रादेशः। सैन्यात् सेनातः। भीत्रार्थानां भयहेतुः' (१।४।२५) इत्यपादानत्वम्। न विव्यथे न बिभ्ये। 'व्यथ भयसंचलनयोः' इति धातोर्भावे लिट्। अथवा। तथा हीत्यर्थः। अन्यथा भीतत्वे कथं सुराजंभवं सुखेन राज्ञा

भूयते। न कथमपीति भावः। राजा चायं मृगाणामिति भावः। 'कर्तृकर्मणोश्च भूकृञोः' (३।२।१२७) इति कर्तरीश्वरादौ चोपपदे भवतेः खल्प्रत्यये नलोपमुमागमौ। अर्थान्तरन्यासः ॥ ५२ ॥

अनादरके साथ दोनों नेत्रोंको एक बार क्षणमात्र खोलकर फिर सोनेकी इच्छा करता हुआ सिंह समीपमें भी जाते हुए सैनिकोंसे नहीं डरा, अथवा, अन्यथा (डरनेपर उसका) सुखपूर्वक राजा होना कैसे हो सकता था ? अर्थात् यदि वह सिंह उन सैनिकोंसे डर जाता तो उसका श्रेष्ठ राजा (मृगराज) होना असङ्गत हो जाता ॥ ५२ ॥

उत्सेधनिर्धूतमहीरुहां ध्वजैर्जनावरुद्धोद्धतसिन्धुरंहसाम्।
नागैरधिक्षिप्तमहाशिलं मुहुर्बलं बभूवोपरि तन्महीभृताम् ॥ ५३ ॥

उत्सेधेति ॥ नागैर्गजैः अधिक्षिप्तास्तिरस्कृता महाशिला येन तद्बलं सैन्यं ध्वजैरुत्सेधेनौन्नत्येन निर्धूता अवगणिता महीरुहो येषु तेषाम्। 'उत्सेधश्चोच्छ्रयश्च सः' इत्यमरः। जनैरवरुद्धं प्रतिबद्धमुद्धतमुद्वेलं सिन्धुरंहो नदीवेगो येषां तेषां महीभृतां पर्वतानामुपरि मुहुर्बभूव। मार्गवशाद्भूयसो भूधरान् मुहुरारुरोहेत्यर्थः। 'हयौघरुद्ध' इति पाठे हयौघेन घोटकसमूहेन रुद्धमित्यादि पूर्ववत्। अत्रावरोहणवदुत्कर्षश्चोपरिभावो विशेषणवैभवात्प्रतीयत इति तदभेदेनोपरिभावस्य बलभूधरविशेषणपदार्थहेतुकत्वाच्छ्लेषप्रतिभोत्थापितकाव्यलिङ्गविशेषः ॥ ५३ ॥

(विशालकाय) हाथियोंसे बड़े-बड़े चट्टानोंको तिरस्कृत (हीन) की हुई वह (श्रीकृष्ण भगवान्‌की) सेना ध्वजाओंसे ऊँचाईमें तिरस्कृत किये गये वृक्षोंवाले तथा जन-समूहसे रोके गये तीव्र नदीप्रवाहवाले पर्वतोंके फिर ऊपर हो गयी।

विमर्श—श्रीकृष्णजीकी सेना पर्वतोंके बड़े-बड़े चट्टानोंको विशालकाय हाथियोंसे, वृक्षोंकी ऊँचाईको उनसे भी अधिक ऊँची-ऊँची ध्वजाओंसे और तीव्र नदीप्रवाहको जनसमूहसे पराजितकर उन पर्वतोंके ऊपर चढ़ गयी (पक्षा०—उन्हें हीनकर उनसे श्रेष्ठ हो गयी) ॥

श्मश्रूयमाणे मधुजालके तरोर्गजेन गण्डं कषता विधूनिते।
क्षुद्राभिरक्षुद्रतराभिराकुलं विदश्यमानेन जनेन दुद्रुवे ॥ ५४ ॥

श्मश्रूयेति। तरोर्वृक्षस्य श्मश्रूयमाणे श्मश्रुवदाचरति। तद्वदालम्बमान इत्यर्थः। उपमालंकारः श्मश्रुशब्दादाचारे क्यङन्ताल्लटः शानजादेशः 'अकृत्सार्वधातुकयोः' (७।४।२५) इति दीर्घः। गण्डं कपोलं कषता तरुस्कन्धे कण्डूयमानेन गजेन मधुजालके क्षौद्रपटले विधूनिते कम्पिते सति। धूञो ण्यन्तात्कर्मणि क्तः। 'धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' (वा०) इति नुगागमः। अक्षुद्रतराभिरतिस्थूलाभिः क्षुद्राभिः सरघाभिः। 'क्षुद्रा व्यङ्गा नटी वेश्या सरघा कण्टकारिका' इत्यमरः। विदश्यमानेन चञ्चुभिस्तु-

---

१. '—रुहम्' इति पा०। २. '—हयौघरुद्धो—' इति पा०।

च्यमानेन जनेन समाकुलं व्यग्रं यथा तथा दुद्रुवे पलायितम् । भावे लिट् । स्वभावोक्तिरुक्तोपमासंसृष्टा ॥ ५४ ॥

वृक्षकी दाढ़ीके समान आचरण करते हुए अर्थात् वैसा ज्ञात होते हुए मधुमक्खीके छत्तेके गाल रगड़ते हुए हाथीके द्वारा हिलाये जानेपर बड़ी-बड़ी मधुमक्खियोंसे काटे जाते हुए लोग व्याकुलतापूर्वक भाग गये ॥ ५४ ॥

नीते पलाशिन्युचिते शरीरवद्गजान्तकेनान्तमदान्तकर्मणा ।
संचेरुरात्मान इवापरं क्षणात्क्ष्मारुहं देहमिव प्लवंगमाः ॥ ५५ ॥

नीत इति ॥ उचिते परिचिते पलाशिनि द्रुमे । 'पलाशी द्रुद्रुमागमाः' इत्यमरः । शरीरवत्पूर्वशरीरवत् । 'तत्र तस्येव' (५।१।११६) इति वतिप्रत्ययः । अदान्तकर्मणा दुर्दान्तव्यापारेण गजोऽन्तक इवेत्युपमितसमासः साहचर्यात् । तेन गजान्तकेनान्तं नाशं नीते गमिते सति प्लवैर्गच्छन्तीति प्लवंगमाः कपयः । 'गमश्च' (३।२।४७) इति खच्प्रत्यये मुमागमः । आत्मानो जीवा इवापरं क्ष्मारुहं देहमिव क्षणात् संचेरुः । संप्रविष्टा इत्यर्थः । अनेकेवशब्दवाक्यार्थोपमा । सा च शरीरवदिति तद्धितगता, अन्यत्र समासगतेति संकरः॥ ५५ ॥

(निवास करनेके कारण) पूर्व परिचित शरीरके समान (पूर्वपरिचित) वृक्षके दुर्दान्त कर्मवाले यमराजके समान हाथी द्वारा नष्ट किये जानेपर वन्दर क्षणमात्रमें दूसरे वृक्षों पर उस प्रकार संचार करने (चलने-फिरने) लगे, जिस प्रकार पूर्वपरिचित देहके दुर्दान्त कर्मवाले यमराजके द्वारा नष्ट किये जानेपर आत्मा दूसरे देहको पाकर संचार करने लगता है ॥ ५५ ॥

प्रह्वानतीव क्वचिदुद्धतिश्रितः क्वचित्प्रकाशानथ गह्वरानपि ।
साम्यादपेतानिति[1] वाहिनी हरेस्तदातिचक्राम गिरीन्गुरूनपि ॥ ५६ ॥

प्रह्वानिति ॥ क्वचिदतीव नितान्तं प्रह्वान् प्रवणान् । अन्यत्रानुकूलान् क्वचिदुद्धतिं श्रयन्तीत्युद्धतिश्रितः औन्नत्यभाजः, औद्धत्यभाजश्च । श्रयतेः क्विप् तुक् । क्वचित्प्रकाशान्प्रकटाननवगूढवृत्तींश्च क्वचिदनिगह्वरानपि । अपिः चार्थे । अप्रवेशान्, अन्यत्र गूढांश्च । इतीत्थं साम्यादपेतान् विषमरूपान् विषमवृत्तांश्च । अत एव गुरून् महतोऽपि पूज्यानपि गिरींस्तदा हरेः वाहिनी सेना अतिचक्रामातीत्य गता, उल्लङ्घिता च । 'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः । उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ।' इति स्मरणादिति भावः । गुरूणामप्यतिक्रम इति विरोधेऽपिशब्दः । स चोक्तवैषम्यदोषोद्घाटनेन परिहृत इति विरोधाभासः । स च गुरूनिति वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायाच्छ्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापित इति संकरः ॥ ५६ ॥

१.—'तानपि' इति पा० ।

कहींपर नम्र (पक्षा०—अनुकूल) तथा कहींपर ऊँचे (पक्षा०—उद्धत), कहींपर प्रकट (पक्षा०—स्पष्ट व्यवहार युक्त) तथा कहींपर प्रवेशके अयोग्य (पक्षा०-गुप्त); इस प्रकार समतासे रहित अर्थात् ऊबड़-खावड़ (ऊँच-नीच, पक्षा०—विषम आचारसे युक्त) बड़े-बड़े पर्वतोंको (पक्षा०—पूज्य गुरुजनोंको) भी उस समय श्रीकृष्ण भगवान्‌की सेना पार (पक्षा०—अतिक्रमण अर्थात् उल्लङ्घन) कर गयी।

विमर्श—बड़े पूज्य गुरुजनोंका उल्लङ्घन करना अनुचित होनेपर भी उक्तरूप होनेसे उन्मार्गगामी गुरुजनोंका उल्लङ्घन करना शास्त्रविरुद्ध नहीं माना गया है ॥ ५६ ॥

स[1] व्याप्तवत्या परितोऽपथान्यपि स्वसेनया सर्वपथीनया तया।
अम्भोभिरुल्लङ्घिततुङ्गरोधसः प्रतीपनाम्नीः कुरुते स्म निम्नगाः ॥

स इति ॥ स हरिः परितः समन्तादपथान्यपमार्गाण्यपि । 'पथो विभाषा' (५।४।७२) इति निषेधविकल्पात् 'ऋक्पूः—' (५।४।७४) इत्यादिना समासान्तः। 'अपथं नपुंसकम्' (२।४।३०) इति नपुंसकत्वम् । व्याप्तवत्यापि सर्वान्पथो व्याप्नोतीति सर्वपथीना । 'तत्सर्वादेः—'(५।२।७) इत्यादिना खप्रत्ययः । तथा सर्वपथीनया तया स्वसेनया निमित्तेन अम्भोभिरुल्लङ्घितानि युगपदखिलसेनाप्रवेशेन प्रतीपगमनादुपर्याक्रान्तानि तुङ्गरोधांसि यासां ता निम्नं गच्छन्तीति निम्नगा नद्यः प्रतीपनाम्नीः कुरुते स्म । प्रतिगता उत्तानगा आपो यासां ताः प्रतीपाः । 'ऋक्पूः—' (५।४।७४) इत्यादिना समासान्तः । 'द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्' (६।३।९७) इतीकारः । अथवा प्रतीपं निम्नगानामविरुद्धं नाम उत्तानगा इति नामधेयं यासां ताः प्रतीपनाम्न्यः । 'अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्' (४।१।२८) इति ङीप् । तास्तथा चकारेत्यर्थः । अत्र निम्नगानां प्रतीपनामासंबन्धेऽपि संबन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥

वे श्रीकृष्ण भगवान् चारों ओर अमार्गमें भी फैली हुई एवं सब मार्गोंसे व्याप्त (चलती) हुई उस अपनी सेनासे (एक साथ बहुत-से सैनिकोंके प्रवेश करनेके कारण रुककर उलटा बहते हुए) पानीसे ऊँचे-ऊँचे किनारोंको पारकी हुई निम्नगा अर्थात् नीचे जानेवाली नदियोंको (पानीके ऊपरकी ओर उलटा बहनेसे) प्रतिकूलनामवाली कर रहे थे ॥ ५७ ॥

यावद्व्यगाहन्त न दन्तिनां घटास्तुरङ्गमैस्तावदुदीरितं खुरैः।
क्षिप्तं समीरैः सरितां पुरः पतज्जलान्यनैषीद्रज एव पङ्कताम् ॥ ५८ ॥

यावदिति ॥ दन्तिनां घटा गजव्रजा यावन्न व्यगाहन्त न व्यलोडयंस्तावत्तुरङ्गमैः कर्तृभिः खुरैः करणैरुदीरितमुत्थापितम् । अथ समीरैः मारुतैः क्षिप्तं विकीर्णम् । अत एव पुरो गजप्रवेशात्प्रागेव पतद्रजो भूरेणुरेव सरितां जलानि पङ्कतामनैषीन्निनाय । नयतेर्द्विकर्मकत्वाल्लुङि सिचि वृद्धिः । अत्रापि सरितां पङ्कत्वासंबन्धेऽपि संबन्धोक्तेः पूर्ववदतिशयोक्तिः ॥ ५९ ॥

---

१. 'सन्देहविषौषधि' व्याख्यायामेतौ (५७-५८) श्लोकौ व्यत्यासेन व्याख्यातौ।

जबतक हाथियोंके झुण्डने (जलाशयमें घुसकर उसे) आलोडित नहीं किया, तभीतक घोड़ोंके द्वारा खुरोंसे उठी हुई तथा हवासे फैलाई गई (अतएव, हाथियोंके प्रवेशकर आलोडित करनेके) पहले गिरती हुई धूलिने ही नदियोंके जलोंको पङ्किलकर दिया ॥ ५८ ॥

रन्तुं क्षतोत्तुङ्गनितम्बभूमयो मुहुर्व्रजन्तः प्रमदं मदोद्धताः ।

पङ्कं करापाकृतशैवलांशुकाः समुद्रगाणामुदपादयन्निभाः ॥ ५९ ॥

रन्तुमिति ॥ रन्तुं क्रीडितुं क्षता एकत्र विषाणैरन्यत्र नखैश्च विदलिता उत्तुङ्गा नितम्बभूमयो रोधो भागाः श्रोणिभागाश्च यैस्ते । 'नितम्बो रोधसि स्कन्धे शिखरेऽपि कटीतटे' इति विश्वः । मुहुः प्रमदं हर्षं व्रजन्तः मदेन दानेन दर्पेण चोद्धताः । करैर्हस्तैरपाकृतानि शैवलानि अंशुकानीवांशुकानि यैस्तै इभा नागाः समुद्रं गच्छन्तीति समुद्रगाणां समुद्रपत्नीनां नदीनाम् । 'एकाजुत्तरपदे णः' (८।४।१२) इति णत्वम् । पङ्कं कर्दमं कलुषं चोदपादयत् । 'पङ्कोऽस्त्री कर्दमैनसोः इति विश्वः । यथा मदोद्धताः पराङ्गनानां बलाद्दोषमुत्पादयन्ति तद्वदिति भावः । अत्र प्रस्तुतेभविशेषणादप्रस्तुतस्त्रीसंग्रहणसाहसिकप्रतीतेः समासोक्तिः । स्त्रीपङ्कयोरभेदाध्यवसायादिति श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितेति सङ्करः ॥ ५९ ॥

जलक्रीडा (पक्षा०—रमण) करनेके लिए, (दाँतोंसे) बड़े-बड़े तटभागोंको तोड़े हुए (पक्षा०—नखोंसे विशाल कटिभागको क्षत किए हुए), बार-बार हर्षित होते हुए, दानजल (पक्षा०—गर्व) से उद्धत और सूँड़ों (पक्षा०—हाथों) से वस्त्रके समान सेवालको हटाये हुए (नायकस्थानीय) हाथियोंने (दूसरेकी नायिकास्थानीया) समुद्रगामिनी नदियोंको पङ्कयुक्त (पक्षा०—कलुषित दूषित) कर दिया ॥ ५९ ॥

रुग्णोरुरोधः परिपूरिताम्भसः समस्थलीकृत्य पुरातनीर्नदीः ।

कूलंकषोघाः सरितस्तथापराः[1] प्रवर्तयामासुरिभा मदाम्बुभिः ॥६०॥

रुग्णेति । इभा रुग्णैर्भग्नैरुरुभिर्महद्भी रोधोभिस्तटैः परिपूरिताम्भसः । मृत्क्षेपशोषिताम्भस इत्यर्थः । पुराभवाः । पुरातनीः । 'सायंचिरम्—' (४।३।२३) इत्यादिना ट्युप्रत्ययः तुडागमश्च । 'टिड्ढाणञ्—' (४।१।१५) इत्यादिना ङीप् । नदीः समस्थलीकृत्य स्थलसमाः कृत्वा । मदाम्बुभिः स्वमोदकैः कूलं कषन्तीति कूलंकषाः ओघा यासां ता उभयकूलप्रवाहिन्योऽपरा अन्याः सरितः प्रवर्तयामासुः । एतेन गजसम्पत्तिरुक्ता । अत्र नदीनां समस्थलत्वासम्बन्धे मदाम्बूनां च सरित्वासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरिति सजातीयसङ्करः ॥ ६० ॥

हाथियोंने ढहे (टूटकर गिरे) हुए बड़े-बड़े तीरोंसे भरे अर्थात् सूखे हुए जलोंवाली पुरानी नदियोंको स्थलके समान बनाकर (अपने गण्डस्थलसे बहते हुए) मदके जलोंसे तीरोंको तोड़नेवाली वैसी दूसरी नदियोंको उत्पन्न कर दिया ॥ ६० ॥

---

१. '—तदाऽपराः' इति पा० ।

पद्मैरनन्वीतवधूमुखद्युतो गता न हंसैः श्रियमातपत्रजाम् ।
दूरेऽभवन्भोजबलस्य गच्छतः शैलोपमातीतगजस्य निम्नगाः ॥ ६१ ॥

पद्मैरिति ॥ पद्मैरनन्वीता अप्राप्ता वधूमुखस्य द्युत् श्रीर्याभिस्ताः । वधूमुखश्रीजितपद्मा इत्यर्थः । अन्वीतेति । 'इण् गतौ' इति धातोः कर्मणि क्तः । हंसैरातपत्रजां छत्रजन्यां श्रियं न गता अगताः । आतपत्रजितहंसश्रीका इत्यर्थः । निम्नगा नद्यः शैलोपमामतीताः शिलासाम्यमतिक्रान्ता गजा यस्मिंस्तस्य गच्छतो भोजबलस्य यादवसैन्यस्य दूरेऽभवन् । अतिव्यवहिता इत्यर्थः । अपकृष्टाश्चेति गम्यते । तदभेदाध्यवसायेनैव निम्नगानां दूरभवनस्य तद्विशेषणपदार्थहेतुकत्वाच्छ्लेषमूलातिशयोक्तिसमुत्थापितः काव्यलिङ्गभेदः ॥ ६१ ॥

कमलोंसे रमणियोंके मुखकी शोभाको नहीं पायी हुई अर्थात् रमणियोंकी मुखश्रीसे पराजित कमलोंवाली तथा हंसोंसे छत्रभावको नहीं पायी हुई अर्थात् छत्रोंसे पराजित हुए हंसोंवाली नदियाँ पर्वतोंकी उपमाको अतिक्रान्त (पर्वतोंसे भी बड़े-बड़े होनेके कारण उनकी समानताको पार) किए हुए हाथियोंवाली जाती हुई यादवों की सेनासे दूर (बहुत पीछे, पक्षा०—बहुत तुच्छ) हो गयीं ॥ ६१ ॥

स्निग्धाञ्जनश्यामतनूभिरुन्नतैर्निरन्तराला करिणां कदम्बकैः ।
सेना सुधाक्षालितसौधसम्पदां पुरां बहूनां परभागमाप सा ॥ ६२ ॥

स्निग्धेति ॥ स्निग्धाञ्जनमिव श्यामाभिस्तनूभिरुन्नतैः करिणां कदम्बकैर्निरन्तराला नीरन्ध्रा सा सेना सुधया लेपनविशेषेण क्षालिता धवलिताः सौधसम्पदो यासां तासाम् । 'लेपभेदेऽमृते सुधा' इति वैजयन्ती । बहूनां पुरां पुरीणां परभागं विप्रकृष्टदेशमाप । दूरमतीत्य गतेत्यर्थः । वर्णोत्कर्षश्च परभागः । तदभेदाध्यवसायेन परभागासौ विशेषणगत्या श्यामकरिकदम्बकनैरन्तर्यस्य हेतुत्वात्पूर्ववत्काव्यलिङ्गभेदः ॥ ६२ ॥

चिकने कज्जलके समान श्याम शरीरवाले और ऊँचे-ऊँचे हाथियोंके झुण्डोंसे संकुल (ठसाठस भरी हुई) वह सेना चूनेसे पुते हुए भवनोंकी शोभावाले बहुत—से नगरोंके दूर देशको प्राप्त हुई अर्थात् उक्तरूप नगरोंसे दूर हटकर चलने लगी (पक्षा०—उक्तरूप बहुत—से नगरोंसे श्रेष्ठवर्ण (रंग) वाली हुई) ॥ ६२ ॥

प्रासादशोभातिशयालुभिः पथि प्रभोर्निवासाः पटवेश्मभिर्बभुः ।
नूनं सहानेन वियोगविक्लवा पुरः पुरश्रीरपि निर्ययौ तदा ॥ ६३ ॥

प्रासादेति ॥ पथि मार्गे प्रभोः कृष्णस्य निवासाः सेनानिवेशाः प्रासादशोभामतिशयालुभिरतिशायकैः । आलुचि शीङ्ग्रहणमपि कर्तव्यमित्यालुच्प्रत्ययः । पटवेश्मभिः पटवस्त्रैर्बभुः तेनोत्प्रेक्ष्यते । तदा द्वारकानिर्याणकालेऽनेन कृष्णेन सह वियो-

---

१. 'शिलोपमा—' इति पा० । २. '—रिव' इति पा० ।

गविक्लवा विरहभीरुः पुरश्रीर्द्वारकानगरलक्ष्मीरपि पुरोऽग्रे निर्ययौ निर्गता । नूनं द्वारकातो न भिद्यन्ते अस्य निवासाः शोभयेति भावः ॥ ६३ ॥

मार्गमें द्वारकाधीश (श्रीकृष्ण भगवान्) के शिविर महलोंकी शोभाको अतिक्रान्त करनेवाले तम्बुओंसे शोभने लगे (अतएव ज्ञात होता है कि) उस समय अर्थात् द्वारकापुरीसे चलनेके समय (श्रीकृष्ण भगवान्‌के) विरहसे व्याकुल नगर (द्वारकापुरी) की शोभा भी इन (श्रीकृष्ण भगवान्) के साथ आगे निकल आयी थी, (अतएव द्वारकापुरीके समान ही ये तम्बू शोभते थे) ॥ ६३ ॥

वर्ष्म द्विपानां विरुवन्त उच्चकैर्वनेचरेभ्यश्चिरमाचचक्षिरे ।
गण्डस्थलाघर्षगलन्मदोदकद्रवद्रुमस्कन्धनिलायिनोऽलयः[1] ॥ ६४ ॥

वर्ष्मेति ॥ गण्डस्थलानामाघर्षेण सङ्घर्षेण गलता स्रवता मदोदकेन द्रवेष्वार्द्रेषु द्रुमस्कन्धेषु निलीयन्त इति निलायिनस्तन्निवासिन उच्चकैर्विरुवन्तो गुञ्जन्तोऽलयः द्विपानां सेनागजानां वर्ष्म प्रमाणम् । 'वर्ष्म देहप्रमाणयोः' इति विश्वः । वनेचरेभ्यः किरातेभ्यः चिरमाचचक्षिरे । इयन्तो गजा इत्याख्यातवन्त इत्यर्थः । गजवर्ष्मानुमापकेष्वलिषु विरावयोगादाख्यानमुत्प्रेक्ष्यते । वाचकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा ॥ ६४ ॥

कपोल-मण्डलके रगड़नेसे गिरते हुए मदजलसे आर्द्र वृक्षोंके स्कन्ध (दो शाखाओंके मूलभाग) में बैठनेवाले तथा उच्चस्वरसे गुञ्जार करनेवाले भ्रमरोंने मानों वनेचरोंसे हाथियोंका प्रमाण (संख्या) कह दिया ॥ ६४ ॥

आयामवद्भिः करिणां घटाशतैरधःकृताट्टालकपङ्क्तिरुच्चकैः ।
दूष्यैर्जितोदग्रगृहाणि सा चमूरतीत्य भूयांसि पुराण्यवर्तत ॥ ६५ ॥

आयामेति ॥ आयामो दैर्घ्यं सोऽस्ति येषां तद्वद्भिः । आयतैरित्यर्थः । करिणां सम्बन्धिभिर्घटाशतैर्व्यूहशतैः । 'करिणां घटना घटा' इत्यमरः । अधः कृतास्तिरस्कृता अट्टालकपङ्क्तयोऽट्टश्रेण्यो यया सा । 'अट्टास्वट्टालकः स्मृतः' इति वैजयन्ती । सा चमूरुच्चकरुन्नतैः दूष्यैः पटमण्डपैः जितान्युदग्राणि गृहाणि येषां तानि भूयांसि पुराण्यतीत्यावर्तत । अतिक्रम्य गतेत्यर्थः । शोभया अतिशय्य स्थितेति च गम्यते । तदभेदाध्यवसायेन श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितं पूर्ववत्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥

हाथियोंके लम्बे-लम्बे सैकड़ों समूहोंसे अटारियोंकी श्रेणिको नीचे (पक्षा०—तिरस्कृत) की हुई वह सेना ऊँचे-ऊँचे पटमण्डप (तम्बुओं) से जीते गये उन्नत महलोंवाले बहुत नगरोंको अतिक्रान्त (पार) कर स्थित हुई अर्थात् उक्तरूपिणी सेना उक्त बहुत-से नगरोंको पीछे छोड़कर आगे बढ़ गयी (पक्षा०—उक्त साधनोंसे बहुत-से नगरोंका अपनी शोभासे अतिक्रमण कर गयी) ॥ ६५ ॥

---

१. '—लिनः' इति पा० ।

अथ हरिसेनाः कालिन्दीं प्रत्यासेदुरित्याह—

उद्धूतमुच्चैर्ध्वजिनीभिरंशुभिः प्रतप्तमभ्यर्णतया विवस्वतः ।
आह्लादिकह्लारसमीरणाहते पुरः पपाताम्भसि यामुने रजः ॥ ६६ ॥

उद्धूतमिति ॥ ध्वजिनीभिः सेनाभिरुच्चैरुद्धूतमूर्ध्वं क्षिप्तम् । अत एव अभ्यर्णतयान्तिकतया । 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णा' इत्यमरः । विवस्वतोऽशुभिः प्रतप्तम् । प्रतप्तमिवेत्यर्थः । अत एव व्यञ्जकाप्रयोगादुत्प्रेक्षा । आह्लादिन आह्लादका ये कह्लारसमीरणाः सौगन्धिकमारुताः । 'सौगन्धिकं तु कह्लारम्' इत्यमरः । तैराहते चालिते यामुने यमुनासंबन्धिन्यम्भसि पुरोऽग्रे रजो धूलिः पपात । सन्तप्ता हि सन्तापमसहमानाः पुरो धावित्वा क्वचन शिशिरे पयसि पतन्तीति भावः ॥ ६६ ॥

सेनाओं (सेनामें रहनेवाले सैनिकों) से ऊँचे उठायी गयी तथा सामीप्य होनेके कारण सूर्यकी किरणोंसे तपी (गर्म) हुई धूल, विकसित रक्तकमलके वायुसे चञ्चल यमुना नदीके पानी में पहले गिरी ॥ ६६ ॥

अथ चतुर्भिर्यमुनां वर्णयति (कलापकम् ६७–७०)—

या घर्मभानोस्तनयापि शीतलैः स्वसा यमस्यापि जनस्य जीवनैः ।
कृष्णापि शुद्धेरधिकं विधातृभिर्विहन्तुमंहांसि जलैः पटीयसी ॥ ६७ ॥

येत्यादि ॥ या यमुना घर्मभानोरुष्णांशोस्तनयापि सती शीतलैरपि । अपिविरोधे । स चोष्णजातायाः शैत्यानुपपत्तेरिति भावः । यमस्यान्तकस्य स्वसापि जनस्य जीवनैरुज्जीवकैः । अत्राप्येकोदराणां भिन्नक्रियानुपपत्तेर्विरोधः । 'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' इत्युभयत्राप्यमरः । किञ्च कृष्णा कृष्णवर्णा मलिना च तथापि शुद्धेर्वैमल्यस्याधिकं विधातृभिः सम्पादकैर्जलैरहांसि पापानि विहन्तुं पटीयसी समर्थतरा । अत्र यमुनातज्जलगतत्वेन निर्दिष्टयोर्गुणक्रियोविरोधेन त्रिषु विरोधेषु संसृष्टेषु तृतीयः कृष्णेति श्लेषप्रतिभोत्थापित इति संक्षेपः ॥ ६७ ॥

(अब चारश्लोकों (१२।६७–७०) से यमुना नदीका वर्णन करते हैं) जो (यमुना नदी), उष्ण किरणोंवाले अर्थात् सूर्यकी पुत्री होकर भी शीतल, यमराजकी बहन होकर भी सबकी जीवन (प्राणभूत), कृष्ण वर्णवाली होती हुई भी शुद्धिको अधिक करनेवाले जलोंसे पापोंको नष्ट करनेमें अतिशय समर्थ है ॥ ६७ ॥

यस्या महानीलतटीरिव द्रुताः प्रयान्ति पीत्वा हिमपिण्डपाण्डुराः[2] ।
कालीरपस्ताभिरिवानुरञ्जिताः क्षणेन भिन्नाञ्जनवर्णतां घनाः ॥ ६८ ॥

यस्या इति ॥ हिमपिण्डपाण्डुरा हिमसङ्घशुभ्राः घना मेघाः द्रुता द्रवीकृता महानीलतटीरिन्द्रनीलस्थलानीव कालीः कृष्णवर्णाः । 'जानपद–' (४।१।४२) इत्यादिना ङीप् । यस्याः कालिन्द्या अपः पीत्वा ताभिः पीताभिरद्भिरनुरञ्जिता इव

१. '—भास—' इति पा० । २. '—पाण्डवः' इति पा० ।

चणेन भिन्नाञ्जनवर्णतां स्नेहमृदितकज्जलवर्णतां प्रयान्ति। अत्र तटीरिवानुरञ्जिता इवेति चोत्प्रेक्षया सङ्कीर्णेयं घनानामञ्जनोपमेति संग्रहः ॥ ६८ ॥

बर्फके पिण्डके समान शुभ्रवर्ण मेघ, पिछले हुए महानील (नीलम) मणिके चट्टानोंके समान जिस (यमुना) के कृष्णवर्ण पानीको पीकर उनसे अनुरञ्जित हुएके समान शीघ्र ही रगड़े गये अञ्जनके रंगवाले (कृष्णवर्ण) हो जाते हैं ॥ ६८ ॥

व्यक्तं बलीयान् यदि हेतुरागमादपूरयत्सा जलधिं न जाह्नवी।
गाङ्गौघनिर्भस्मितशम्भुकन्धरासवर्णमर्णः कथमन्यथास्य तत् ॥ ६९ ॥

व्यक्तमिति ॥ हेतुर्युक्तिः। अनुमानमिति यावत्। आगमात् 'गङ्गा सागरपूरिणी' इत्यागमप्रमाणात्। बलीयान् यदि प्रबलश्चेत् सा यमुना जलधिमपूरयत्। जह्नोरपत्यं स्त्री जाह्नवी नापूरयत्, व्यक्तं सत्यमित्युत्प्रेक्षा। कुतः। अन्यथा विपर्यये अस्य जलधेः तत्प्रसिद्धमर्णोऽम्भः। 'अम्भोऽर्णस्तोयपानीयम्' इत्यमरः। गाङ्गेन गङ्गासम्बन्धिना ओघेन प्रवाहेण निर्भस्मितायाः निर्भस्मीकृतायाः शम्भुकन्धराया हरकण्ठस्य सवर्णं समानवर्णम्। कृष्णवर्णमित्यर्थः। कथं स्यात्, न स्यादेव। 'ज्योतिर्जनपद–' (६।३।८५) इत्यादिना समानस्य सभावः। अन्यथा गङ्गौघस्य धावल्याद्धवलमेव स्यात्। तथा च ग्रावाप्लवनवाक्यवदागमोऽप्यन्यथा नेय इति कवेराशयः ॥

यदि शास्त्रसे हेतु अर्थात् अनुमान प्रबल है तो उस (यमुना) ने ही समुद्रको पूरा किया है, गङ्गाने नहीं, यही स्पष्ट (ठीक) है; अन्यथा (यदि गङ्गाने समुद्रको पूरा किया होता तो) समुद्रका पानी गङ्गाके प्रवाहोंसे भस्मरहित किये गये शङ्करजीके कण्ठके समान (कृष्ण वर्ण) कैसे होता ? अर्थात् कदापि नहीं होता ॥ ६९ ॥

अभ्युद्यतस्य क्रमितुं जवेन गां तमालनीला नितरां धृतायतिः।
सीमेव सा तस्य पुरः क्षणं बभौ बलाम्बुराशेर्महतो महापगा ॥ ७० ॥

अभीति ॥ तमालवन्नीला कृष्णा नितरां धृतायतिरत्यन्तं कृतदैर्घ्या सा महापगा महानदी यमुना। जवेन गां भुवं क्रमितुमाक्रमितुमभ्युद्यतस्योद्युक्तस्य तस्य महतो बलाम्बुराशेः सेनासमुद्रस्य पुरोऽग्रे क्षणं सीमेव वेलेव बभावित्युत्प्रेक्षा। क्षणमिति क्षणमात्रनिरोधिकाभवत्। अनन्तरमेव तरणादिति भावः ॥ ७० ॥

तमालके समान कृष्ण वर्णवाली और बहुत लम्बी वह यमुना नदी, वेगसे पृथ्वीका अतिक्रमण करनेके लिए तत्पर सेनारूपी समुद्रके आगे थोड़े समय तक (उसकी) सीमाके समान शोभित हुई ॥ ७० ॥

लोलैररित्रैश्चरणैरिवाभितो जवाद्व्रजन्तीभिरसौ सरिज्जनैः।
नौभिः प्रतेरे परितः प्लवोदितभ्रमीनिमीलज्ज्वलनावलम्बितैः ॥ ७१ ॥

१. 'गङ्गौघ–' इति पा०। २. —'ऽनुचितप्लवो—' इति पा०।

लोलैरिति ॥ अभितः उभयतो लोलैश्चलद्भिररित्रैः केनिपातकदण्डैः । 'क्षेपणी स्यादरित्रं केनिपातकः' इत्यमरः । चरणैः पादैरिवेत्युत्प्रेक्षा । जवाद्व्रजन्तीभिर्गच्छन्तीभिर्नौभिः साधनैरसौ सरिद्यमुना कर्म, प्लवेनोदिता नौवेगेनोत्पन्ना भ्रमी भ्रान्तिस्तस्या भयान्निमीलन्तीभिर्भयादक्षिनिमीलनं कुर्वतीभिर्ललनाभिरवलम्बितैर्जनैः कर्तृभिः । परितः सर्वतः । सर्वोभयार्थे वर्तमानाभ्यां पर्यभिभ्यां तसिल्विधानात् । प्रतेरे प्रतीर्णा ॥ ७१ ॥

दोनों ओर चलते हुए डाँड़ाओंमें चरणोंके समान वेगसे चलती हुई नावोंके द्वारा उस (यमुना नदी) को, नाव (के वेग) से चक्कर आनेके कारण नेत्रोंको बन्दकी हुई रमणियोंसे पकड़े गये लोगोंने सब ओरसे पारकर लिया ॥ ७१ ॥

तत्पूर्वमंसद्वयसं द्विपाधिपाः क्षणं सहेलाः परितो जगाहिरे ।
सद्यस्ततस्तेरुरनारतस्रुतस्वदानवारिप्रचुरीकृतं पयः ॥ ७२ ॥

तत्पूर्वमिति ॥ द्विपाधिपा महागजाः पूर्वं प्रथमं अंसौ प्रमाणमस्यांसद्वयसमंसप्रमाणम् । तेषां तथोन्नतत्वादिति भावः । 'प्रमाणे द्वयसज्–' (५।२।३७) इति द्वयसच्प्रत्ययः । तत्तथा गम्भीरं पयो यमुनाजलं सहेलाः सावज्ञाः परितो जगाहिरे प्रविशन्ति स्म । ततः प्रवेशानन्तरं सद्योऽविलम्बेन अनारतमविच्छिन्नं स्रुतेन स्रवता स्वदानवारिणा स्वमदोदकेन प्रचुरीकृतं बहुलीकृतं तत्पयस्तेरुः तरन्ति स्म । अत्रातिगम्भीरस्यात्यम्भसोऽसद्घ्नत्वातिशयोक्त्या गजानामौन्नत्यं पुरस्तस्यैव तन्मदाम्बुसम्भेदतात्पर्योक्त्या तेषां मदातिरेकश्च व्यज्यते ॥ ७२ ॥

(अत्यन्त ऊँचे–ऊँचे) गजराज पहले कन्धेतक गहरे यमुना नदीके जलमें अवज्ञाके साथ सब ओरसे प्रविष्ट हो गये, उसके बाद निरन्तर बहते हुए अपने मदजलसे बढ़े (अथाह) हुए (यमुना नदीके) उस जलको शीघ्र तैर गये ॥ ७२ ॥

प्रोथैः स्फुरद्भिः स्फुटशब्दमुन्मुखैस्तुरङ्गमैरायतकीर्णवालधि ।
उत्कर्णमुद्वाहितधीरकन्धरैरतीयताग्रे तटदत्तदृष्टिभिः ॥ ७३ ॥

प्रोथैरिति ॥ स्फुटशब्दं स्पष्टध्वानं यथा तथा स्फुरद्भिश्चलद्भिः प्रोथैर्घोणाभिरुपलक्षितैः । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्' इत्यमरः । उन्मुखैरूर्ध्वमुखैस्तथा उत्कर्णमुन्नमितकर्णं यथा तथा उद्वाहिता ऊर्ध्वं प्रसारिताः धीरा निश्चलाः कन्धरा ग्रीवा येषां तैरग्रे पुरः तटे दत्तदृष्टिभिस्तुरङ्गमैरायताः प्रसारिताः कीर्णा विक्षिप्ता वालधयो यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथाऽतीयत अतारि । सरिदिति शेषः । कर्मणि लङि यक् । स्वभावोक्तिः ॥ ७३ ॥

स्पष्ट ध्वनि करते हुए एवं स्फुरित होते हुए नथुनों (नाकों) वाले, मुखको ऊपरकी ओर उठाये हुए, कानोंको खड़ाकर निश्चल गर्दनको ऊपरकी ओर किए हुए और पहले तट की ओर एक बार देखे हुए घोड़े पूँछको फैलाये–फैलाये (यमुना नदीको) पारकर गये ॥ ७३ ॥

तीर्त्वा जवेनैव नितान्तदुस्तरां नदीं प्रतिज्ञामिव तां गरीयसीम् ।
शृङ्गैरपस्कीर्णमहत्तटीभुवामशोभतोच्चैर्नदितं ककुद्मताम् ॥ ७४ ॥

तीर्त्वेति ॥ नितान्तदुस्तरामतिमहत्तयात्यन्ताशक्यतरणां तां नदीं गरीयसीमतिदुस्तरां प्रतिज्ञामिव प्रतिज्ञावचनमिव जवेन वेगेनैव तीर्त्वा शृङ्गैर्विषाणैरपस्कीर्णा आलेखिता महत्यस्तटीभुवस्तीरप्रदेशा यैस्तेषाम् । 'अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने' (६।१।१४२) इति किरतेः कात्पूर्वतः सुडागमः । ककुद्मतामुच्चैस्तरं नदितं नादः अशोभत । उपमासङ्कीर्णा स्वभावोक्तिः ॥ ७४ ॥

अत्यन्त दुस्तर (कठिनाईसे तैरने योग्य) विशाल उस (यमुना) नदीको (अत्यन्त कठिनाईसे पार करने योग्य बहुत बड़ी) प्रतिज्ञाके समान वेगसे ही पारकर सींगोंसे ऊँचे-ऊँचे किनारोंको उखाड़ते (खोदकर तोड़ते) हुए बैलोंका उच्च स्वरसे हँकाड़ना (गरजना) शोभ रहा था ॥ ७४ ॥

सीमन्त्यमाना यदुभूभृतां बलैर्बभौ तरद्भिर्गवलासितद्युतिः ।
सिन्दूरितानेकपकङ्कणाङ्किता तरङ्गिणी वेणिरिवायता भुवः ॥ ७५ ॥

सीमन्त्यमानेति ॥ तरद्भिः यदुभूभृतां यादवभूपानां बलैः सैन्यैः सीमन्त्यमाना सीमन्तवती क्रियमाणा । सीमन्तवच्छब्दात् 'तत्करोति–' (ग०) इति ण्यन्तात्कर्मणि लटः शानजादेशः । णाविष्ठवद्भावाद्विन्मतोर्लुक् । गवलासितद्युतिः माहिषविषाणमेचकप्रभा । 'गवलं माहिषं शृङ्गम्' इत्यमरः । सिन्दूरिताः सिन्दूरवत्कृताः । सिन्दूरशब्दात् 'तत्करोति–' (ग०) इति ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । णाविष्ठवद्भावाद्विन्मतोर्लुक् । तैरनेकपैर्द्विपैरेव कङ्कणैः शेखरैः अङ्किता चिह्निता । 'कङ्कणं शेखरे हस्तसूत्रमण्डनयोरपि' इति विश्वः । तरङ्गिणी यमुना नदी आयता दीर्घा भुवो वेणिरिव बभौ इत्युत्प्रेक्षा ॥ ७५ ॥

यादव राजाओंकी तैरती हुई सेनाओंसे सीमन्वित (केश रचनाके समान दो भागोंमें विभक्त) की गयी, भैंसेकी सींगके समान (श्याम वर्ण) कान्तिवाली और सिन्दूर लगाये हुए गजरूप कङ्कणों (शिरोभूषणों) वाली वह (यमुना) नदी पृथ्वीकी लम्बी वेणी-जैसी शोभने लगी ॥ ७५ ॥

अभ्याहतक्षिप्रगतैः समुच्छ्रितानुज्झितद्राघिमभिर्गरीयसः ।
नाव्यं पयः केचिदतारिषुर्भुजैः क्षिपद्भिरूर्मीनपरैरिवोर्मिभिः ॥ ७६ ॥

अभ्याहतेति ॥ अत्रोर्मीणां भुजानां विशेषणान्युभयविपरिणामेन योज्यानि । केचिज्जनाः नावा तार्यं नाव्यम् । 'नाव्यं त्रिलिङ्गं नौतार्ये' इत्यमरः । 'नौवयोधर्म–' (४।४।९१) इत्यादिना यत्प्रत्ययः । पयो जलं अभ्याहतक्षिप्रगतैरप्रतिहतशीघ्रगमनैरनुज्झितो द्राघिमा दैर्घ्यं यैस्तैः । अतिदीर्घैरित्यर्थः । समुच्छ्रितानुन्नतान् गरीयसो

१. '–बृहत्तटी–' इति पा० । २. '–लावलि–' इति पा० ।

गुरुतरानूर्मीन्क्षिपद्भिरपाकुर्वद्भिरत एवापरैरूर्मिभिरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा। भुजैर्बाहुभिरतारिषुस्तरन्ति स्म। तरेर्लुङि सिचि वृद्धिरिडागमश्च ॥ ७६ ॥

(तैरनेमें निपुण) कुछ लोग (गहरा होनेके कारण) नावसे तैरने (पार होने) योग्य (यमुना नदी) के पानीको निरन्तर जल्दी-जल्दी चलनेवाले, लम्बाईको नहीं छोड़ते हुए अर्थात् फैलानेसे अत्यन्त लम्बे-लम्बे उन्नत एवं अत्यन्त बड़े तरङ्गोंको हटाते हुए (अतएव पूर्वोक्त विशेषणोंवाले) दूसरे तरङ्गोंके समान स्थित बाहुओंसे तैर गये ॥ ७६ ॥

विदलितमहाकूलामुक्ष्णां विषाणविघट्टनै-
रलघुचरणाकृष्टग्राहां विषाणिभिरुन्मदैः ।
सपदि सरितं सा श्रीभर्तुर्बृहद्रथमण्डल-[1]
स्खलितसलिलामुल्लङ्घ्यैनां जगाम वरूथिनी ॥ ७७ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्र्यङ्के प्रयाणवर्णनो नाम द्वादशः सर्गः।

विदलितेति ॥ प्रकृता श्रीभर्तुः कृष्णस्य वरूथिनी सेना उक्ष्णामनडुहां विषाणविघट्टनैः शृङ्गाघातैर्विदलितानि महाकूलानि यस्यास्यां उन्मदैरुद्भूतमदैर्विषाणिभिरलघुभिर्गुरुभिश्चरणैः पादैराकृष्टा बहिर्नीता ग्राहा जलग्राहा यस्यास्तां बृहद्भी रथमण्डले रथसमूहैः स्खलितानि व्याकुलीकृतानि सलिलानि यस्यास्तामेनां सरितं यमुनां सपदि उल्लङ्घ्य जित्वा। तीर्त्वेत्यर्थः। भुक्त्वेति च गम्यते। विशेषणसामर्थ्यात्। जगाम। अत्र जयस्य विशेषणगत्या कूलदलनादिहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गभेदः। हरिणीवृत्तम्। 'भवति हरिणी न्सौ म्रौ स्लौ गो रसाम्बुधिविष्टपैः' इति लक्षणात् ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां शिशुपालवधकाव्यव्याख्यायां सर्वङ्कषाख्यायां द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

लक्ष्मीपति (श्रीकृष्ण भगवान्) की वह सेना, बैलोंकी सींगोंके आघातोंसे विदीर्ण किये गये तीरोंवाली, अत्यन्त मतवाले हाथियोंसे आकृष्ट किये (खींचकर बाहर निकाले) गये बड़े-बड़े ग्राहोंवाली और बड़े-बड़े रथ समूहोंसे स्खलित (क्षुब्ध) हुए जलवाली उस (यमुना) नदीको शीघ्र लाँघकर (पक्षा०--उपभोगकर) चली (आगेकी ओर बढ़ी) ॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'प्रयाणवर्णन' नामक द्वादश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १२ ॥

१. 'मण्डलै--' इति पा० ।

त्रयोदशः सर्गः

यमुनामतीतमथ शुश्रुवानमुं तपसस्तनूज इति नाधुनोच्यते ।
स यदाचलन्निजपुरादहर्निशं नृपतेस्तदादि समचारि वार्तया ॥ १ ॥

यमुनामिति ॥ अथ यमुनातरणानन्तरं तपसस्तनूजो धर्मनन्दनः अधुना यमुनामतीतममुं हरिं शुश्रुवान् । 'भाषायां सदवसश्रुवः' (३।२।१०८) इति क्वसुप्रत्ययः। इति नोच्यते, किन्तु स हरिर्यदा निजपुरादचलत् तच्चलनमादिर्यस्मिन्कर्मणि तत्तदादि तत्प्रभृति अहश्च निशा चाहर्निशम् । समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावे अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । नृपतेर्धर्मराजस्य वार्तया इह निविष्ट इतो निर्गत इति वृत्तान्तेन समाचारि सञ्चरितम्, आगतमिति यावत् । भावे लुङ् । सन्निहितयमुनातरणवृत्तान्तवद्भूर्ववहितसकलदैनन्दिनवृत्तान्तो निजनगरप्रस्थानात्प्रभृति प्रतिक्षणमागत एवेत्यर्थः । अस्मिन्सर्गे मञ्जुभाषिणी वृत्तम् । 'सजसा जगौ भवति मञ्जुभाषिणी' इति लक्षणात् ॥

इस (यमुना नदीको पार करने) के बाद धर्मराजपुत्र (युधिष्ठिर) ने इस समय यमुना नदी पार किये हुए इन (श्रीकृष्ण भगवान्) को सुना यह नहीं कहा जाता अर्थात् यमुना नदी पार करनेके बाद युधिष्ठिरको श्रीकृष्ण भगवान्के वहाँ आनेका हाल मालूम हुआ ऐसी बात नहीं थी, किन्तु वे (श्रीकृष्ण भगवान्) जब अपने नगर (द्वारकापुरी) से चले, तबसे लेकर रात-दिनका हाल युधिष्ठिरको मिलता था ॥ १ ॥

यदुभर्तुरागमनलब्धजन्मनः प्रमदादमानिव पुरे महीयसि ।
सहसा[1] ततः स सहितोऽनुजन्मभिर्वसुधाधिपोऽभिमुखमस्य निर्ययौ ॥

यदुभर्तुरिति ॥ ततो हरेर्यमुनोत्तरणश्रवणानन्तरं स वसुधाधिपो धर्मराजः यदुभर्तुर्हरेरागमनेन लब्धजन्मनो लब्धोदयात् । जातादित्यर्थः । प्रमदाद्धर्षात् । 'प्रमदसम्मदौ हर्षे' (३।३।६८) इत्यप्प्रत्ययान्तो निपातः । महीयस्यतिविपुलेऽपि पुरे अमान् हर्षकृतशरीरवृद्धेरिवापरिमितविकासः सन्नित्युत्प्रेक्षा । सहसा अनुजन्मभिरनुजैः सहितोऽस्य हरेरभिमुखं निर्ययौ । नगरान्निर्गत इत्यर्थः ॥ २ ॥

इस (श्रीकृष्ण भगवान्के यमुना नदीको पार करने) के बाद यदुपति (श्रीकृष्ण भगवान्) के आनेसे उत्पन्न हर्षके कारण बहुत बड़े नगरमें नहीं समा सकते हुए-से राजा युधिष्ठिर छोटे भाइयोंके साथ (अगवानी करनेके लिए नगरसे) इन (श्रीकृष्ण भगवान्) के सामने चल पड़े ॥ २ ॥

[2]रभसप्रवृत्तकुरुचक्रदुन्दुभिध्वनिभिर्जनस्य बधिरीकृतश्रुतेः ।
समवादि वक्तृभिरभीष्टसङ्कथाप्रकृतार्थशेषमथ हस्तसंज्ञया ॥ ३ ॥

---

१. '—साधनः' इति पा० ।   २. '—गुरु—' इति पा० ।

रभसेति ॥ रभसो हर्षः । 'रभसो वेगहर्षयोः' इति विश्वः । तेन प्रवृत्तैः कुरुचक्र-दुन्दुभिध्वनिभिः कौरवसेनातूर्यघोषैः, बधिरीकृतश्रुतेर्विकलीभूतश्रोत्रेन्द्रियस्य श्रोतृजनस्य, वक्तृभिः कथकैरभीष्टसङ्कथास्विष्टालापेषु प्रकृतस्य वक्तुं प्रकान्तस्यार्थस्याभिधेयस्य शेषं वक्तव्यावशिष्टम्, अथ बाधिर्यानन्तरं हस्तसंज्ञया हस्तसङ्कोचेन समवादि संवादितम् । श्रीकृष्णस्यागमनसन्तोषात्तथा दुन्दुभीनाजघ्नुः यथा कण्ठोक्तशेषं करसंज्ञया निष्पाद्यत इत्यर्थः । अत्र बधिरीकरणस्य जनविशेषणद्वारा हस्तसंज्ञया वदनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ ३ ॥

(श्रीकृष्ण भगवान्के आनेसे उत्पन्न) हर्षसे होनेवाले कौरवोंकी सेनाकी दुन्दुभिके शब्दोंसे बहरे (सुननेमें सामर्थ्यहीन) किये गये कानोंवाले लोगोंसे, कहनेवालोंने अभिलषित बातके अवशिष्ट कथनको हाथके सङ्केतसे कहा ॥ ३ ॥

अपदान्तरं च परितः क्षितिक्षितामपतन्द्रुतभ्रमितहेमनेमयः ।
'जविमारुताञ्चितपरस्परोपमक्षितिरेणुकेतुवसनाः पताकिनः ॥ ४ ॥

अपदेति ॥ द्रुतं शीघ्रं भ्रमिताः परिवर्तिताः । हेमनेमयः कनकप्रधयो येषां ते । 'चक्रं रथाङ्गं तस्यान्ते नेमिः स्त्री स्यात्प्रधिः पुमान्' इत्यमरः । अत एव जविना वेगवता मारुतेनाञ्चितानि कम्पितानि परस्परमुपमान्तीति परस्परोपमान्यन्योन्यसदृशानि क्षितिरेणुकेतुवसनानि स्वोत्थापितभूरेणवः स्वारोपितध्वजपटाश्च येषां ते, क्षितिं क्षियन्तीशते इति क्षितिक्षितः क्षितीशाः । 'क्षि ऐश्वर्ये निवासे च' इति धातोस्तौदादिकात्क्विपि तुक् । क्षितिपतिष्वेवासौ क्षितिक्षिदिति भट्टमल्लः । तेषां सम्बन्धिनः पताकाः सन्तीति पताकिनो रथाः । व्रीह्यादित्वादिनिः । परितः सर्वतः नास्ति पदस्यान्तरमवकाशो यस्मिन् कर्मणि तदपदान्तरं संसक्तं यथा तथा । 'संसक्ते त्वव्यवहितमपदान्तरमित्यपि' इत्यमरः अपतन्नधावन् । अत्र स्वराड्वर्णने रेणूनां केतूनां च प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता । तथा च परस्परोपमेति विशेषणाद्रेणुवत्केतवः, केतुवच्च रेणव इत्युपमेयोपमया के रेणवः के वा केतव इति संशयश्च व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ४ ॥

वेगसे घूमते हुए स्वर्णमय नेमिवाले (अतएव) तीव्र वायुसे कम्पित होते हुए एक दूसरेके समान (अपनेसे उत्पन्न की हुई) भूमिकी धूलि तथा (अपनेसे उठायी हुई) ध्वजाओंके कपड़ोंवाले, राजाओंके रथ मध्यमें पैरका भी अन्तर नहीं छोड़कर अर्थात् एक दूसरेसे सटे हुए दौड़ रहे थे ॥ ४ ॥

द्रुतमध्वनन्नुपरि पाणिवृत्तयः पणवा इवाश्वचरणक्षता² भुवः ।
ननृतुश्च वारिधरधीरवा³रणध्वनिहृष्टकूजितकलाः कलापिनः ॥ ५ ॥

१. 'जव—' इति पा० । २. '—चरणाहता' इति पा० । ३. '—घोरणध्वनिधृष्ट—' इति पा० ।

द्रुतमिति ॥ अश्वचरणक्षतास्तुरगखुरताडिता भुव उपरि पृष्ठभागे पाणिवृत्तयः करताडनानि येषां ते उपरिपाणिवृत्तयः पणवा वाद्यविशेषा इवेत्युपमा । द्रुतं द्रुततरमेवाध्वनन् ध्वनन्ति स्म । 'द्रुतं शीघ्रम्' इत्यमरः । वारिधरशब्देन तद्गर्जितं लक्ष्यते । तद्वद्धीरगम्भीरैः वारणध्वनिभिर्गजबृंहणैर्हृष्टा अतएव कूजितकलाः । कलकूजिता इत्यर्थः । ततो विशेषणसमासः । कलापा येषां सन्तीति कलापिनो बर्हिणश्च ननृतुः नृत्यन्ति स्म । अत्रोपमयोः संसृष्टिः । वारिधरोपमया कलापिनां गजबृंहितेषु घनगर्जितभ्रान्तिमन्तरेण नृत्यासम्भवाद्भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनिः ॥ ५ ॥

घोड़ोंके टापोंसे आहत भूमि ऊपरमें हाथसे बजाये जानेवाले वाद्य विशेषके समान शीघ्र ही ध्वनि करने लगी और मेघ (के गरजने) के समान हाथियोंके गरजनेसे (मेघका गरजना जानकर) प्रसन्न हुए (अतएव) मधुर शब्द करनेवाले मोर नाचने लगे ॥ ५ ॥

व्रजतोरपि प्रणयपूर्वमेकतामसुरारिपाण्डुसुतसैन्ययोस्तदा ।
रुरुषे विषाणिभिरनुक्षणम्मिथो मदमूढबुद्धिषु विवेकिता कुतः ? ॥ ६ ॥

व्रजतोरिति ॥ तदा तस्मिन्समये असुरारिपाण्डुसुतसैन्ययोः हरिपार्थसैन्ययोः प्रणयपूर्वं स्नेहपूर्वकमेकतामैक्यं व्रजतोर्गच्छतोः सतोरपि विषाणिभिरुभयसेनावर्तिभिः गजैरनुक्षणं प्रतिक्षणं मिथः परस्परं रुरुषे चुक्रुधे । भावे लिट् । तथा हि—मदेन मूढबुद्धिषु विपरीतप्रज्ञेषु प्राणिषु विवेकिता कार्याकार्यविचारिता कुतः । नास्त्येवेत्यर्थः । अथ तेषां स्वामिसौहार्देऽपि स्वयं विरोधिता न दोषायेति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६ ॥

उस समय श्रीकृष्ण भगवान् तथा युधिष्ठिरकी दोनों सेनाओंके परस्पर में एकताको प्राप्त होते रहनेपर भी हाथी (दूसरी सेनाके हाथीको देखकर) प्रतिक्षण क्रुद्ध हो रहे थे, क्योंकि मदसे मूढ बुद्धिवालोंमें विचार कहाँ होता है ? अर्थात् नहीं होता ॥ ६ ॥

अवलोक एव नृपतेः स्म दूरतो रभसाद्रथादवतरीतुमिच्छतः ।
अवतीर्णवान्प्रथममात्मना हरिर्विनयं विशेषयति सम्भ्रमेण सः ॥ ७ ॥

अवलोक इति ॥ दूरतो दूरादवलोके हरेर्दर्शन एव रभसाद्धर्षाद्रथादवतरीतुमवरोढुम् । 'वृतो वा' (७।२।३८) इति विकल्पाद्दीर्घः । इच्छतो नृपतेर्धर्मराजात्प्रथमम् । तदवतरणात्पूर्वमेवेत्यर्थः । आत्मना स्वयमेव । प्रकृत्यादित्वात्तृतीया । अवतीर्णवान् रथादवरूढः सन् । 'निष्ठा' (३।२।१०२) इति तरतेः क्तवतुप्रत्ययः 'ऋत इद्धातोः' (७।१।१००) इतीत्वं 'वोरुपधाया दीर्घ–' (८।२।७६) इति दीर्घे 'रदाभ्याम्–' (८।२।४२) इति निष्ठानत्वे 'रषाभ्याम्–' (८।४।१) इति णत्वम् । स हरिः

१. '—तां कुकुराधिनाथकुरुनाथसैन्ययोः' इति पा० । २. 'हरे—' इति पा० ।

सम्भ्रमेण त्वराविशेषेण विनयं अनौद्धत्यं विशेषयति स्मातिशाययति स्म। एतेन हरेः पूज्यविषयो रत्याख्यो भावो ध्वन्यते ॥ ७ ॥

दूरसे ही (श्रीकृष्ण भगवान्‌को) देखकर रथसे वेगपूर्वक अर्थात् शीघ्र उतरना चाहते हुए राजा युधिष्ठिरसे पहले ही स्वयं रथसे उतरे हुए वे (श्रीकृष्ण भगवान्) शीघ्रतावश विनयको विशिष्टकर (बढ़ा) रहे थे ॥ ७ ॥

वपुषा पुराणपुरुषः पुरःक्षितौ परिपुञ्ज्यमानपृथुहारयष्टिना ।
भुवनैर्नतोऽपि[1] विहितात्मगौरवः प्रणनाम नाम तनयं पितृष्वसुः ॥ ८ ॥

वपुषेति ॥ पुराणपुरुषो हरिः। सर्वलोकज्येष्ठोऽपीति भावः। तथा भुवनैर्लोकैः नतो नमस्कृतो विहितं सम्पादितमात्मानो गौरवमुत्कर्षो येन स सन्। पूज्येषु नमस्याया औन्नत्यहेतुत्वादिति भावः। अत एवात्र विचित्रालङ्कारः। 'विचित्रं स्वविरुद्धस्य फलस्य स्यात्समुद्यमे' इति लक्षणात्। पुरःक्षितावग्रभूमौ परिपुञ्ज्यमाना परितः पुञ्जीक्रियमाणा पृथुः स्थूलो हारो मुक्तावलिः यष्टिरिव यस्य तेन वपुषा शरीरेण। न त्वञ्जलिमात्रेण। तथास्य पूज्यत्वादिति भावः। पूज्यत्वे हेतुमाह—पितृष्वसुस्तनयमिति पितृभगिनीपुत्रम्। धर्मराजमित्यर्थः। 'विभाषा स्वसृपत्योः' (६।३।२४) इत्यस्य वैकल्पिकत्वेन षष्ठ्यालुक्। 'मातृपितृभ्यां स्वसा' (८।३।८४) इति षत्वम्। नाम प्रकाशं प्रणनाम। प्रणामं कृतवानित्यर्थः। प्रपूर्वान्नमेर्लिट्। 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८।४।१४) इति णत्वम्। अत्रापि पूर्ववद्भावध्वनिः। भुवनैर्नतोऽपि हरिः लोकत्रयानुवर्तितया स्वयमेनं नतवानिति विरोधाभासोऽलङ्कारो विचित्रेणोक्तेन सङ्कीर्णः नामनामेति वृत्त्यनुप्रासभेदश्च संसृष्ट इत्याद्यूह्यम् ॥ ८ ॥

समस्त लोकोंसे नमस्कृत भी पुराणपुरुष (आदि पुरुष श्रीकृष्ण भगवान्) अपनी श्रेष्ठताको बढ़ाये हुए, सामने भूमिपर राशिभूत होती (एक स्थानमें लटकनेसे ढेर लगती) हुई लम्बी हारकी लड़ियोंवाले मस्तकसे फूआ (कुन्ती)के पुत्र अर्थात् युधिष्ठिरको प्रणाम किये ॥

मुकुटांशुरञ्जितपरागमग्रतः स न यावदाप शिरसा महीतलम् ।
क्षितिपेन तावदनपेक्षितक्रमं भुजपञ्जरेण रभसादगृह्यत ॥ ९ ॥

मुकुटेति ॥ स हरिः मुकुटांशुभी रञ्जितः स्ववर्णमापादितः परागो रेणुर्यस्य तदग्रतः पुरतो महीतलं शिरसा यावन्नाप। नास्पृशदित्यर्थः तावत्क्षितिपेन धर्मराजेनानपेक्षितक्रमं अनपेक्षितः क्रमः परिपाटी यस्मिन् कर्मणि तत्तथा। भुजाभ्यामेव पञ्जरेणेति रूपकम्। रभसाद्वेगादगृह्यत गृहीतः। प्रणामक्रियासमाप्तेः प्रागेवोत्थाप्याश्लिषदित्यर्थः ॥ ९ ॥

वे (श्रीकृष्ण भगवान्) मुकुट (में जड़े हुए रत्नों) की किरणोंसे रञ्जित भूतलको जबतक शिरसे स्पर्श नहीं किये, तभीतक राजा युधिष्ठिरने क्रमकी अपेक्षाको छोड़कर भुज-

१. '—त्यरहिता—' इति पा० ।

पञ्जरसे (उनको) वेगसे ग्रहण कर लिया. अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान्‌को झुके हुए शिरसे भूतलका स्पर्शकर पूर्णतया प्रणाम करनेके पहले ही युधिष्ठिरने क्रमका त्याग कर उन्हें उठाकर दोनों भुजाओंको फैलाकर गाढालिङ्गन कर लिया ॥ ९ ॥

न ममौ कपाटतटविस्तृतं तनौ मुरवैरिवक्ष उरसि क्षमाभुजः ।
भुजयोस्तथापि युगलेन दीर्घयोर्विकटीकृतेन परितोऽभिषस्वजे ॥ १० ॥

नेति ॥ कपाटतटविस्तृतं विशालं मुरवैरिणो हरेः वक्षः, तनावल्पे क्षमाभुजो धर्मराजस्योरसि न ममौ । न परिमितमित्यर्थः । तथापि विकटीकृतेन विपुलीकृतेन दीर्घयोर्भुजयोर्युगलेन युग्मेन परितः समन्तादभिषस्वजे आलिङ्गितम् । वक्षसा भुजाभ्यां च कथंचित्परिच्छिन्नमभून्न तु वक्षसैवेत्यर्थः । 'सदिस्वञ्जोः परस्य लिटि' इति धातुसकारस्य षत्वनिषेधात्स्थादित्वेऽप्यभ्यासस्यैव षत्वम् । अत्र हरिवक्षसो वैपुल्यादतिशयद्योतनाय नृपवक्षःसंमानेऽप्यसंमानोक्तेः सम्बन्धेऽसम्बन्धरूपातिशयोक्तिश्च । अनयोश्च स्वतःसिद्धकविप्रौढोक्तिसिद्धयोरप्यतिशययोरभेदाध्यवसायादुत्थापनमिति रहस्यम् ॥ १० ॥

किवाड़के समान विशाल श्रीकृष्ण भगवान्‌का वक्षःस्थल राजा (युधिष्ठिर) के हृदयपर नहीं आ सका अर्थात् युधिष्ठिरके वक्षःस्थलकी अपेक्षा श्रीकृष्ण भगवान्‌का वक्षःस्थल चौड़ा होनेसे अधिक हो गया, तथापि युधिष्ठिरने फैलाये गये लम्बे-लम्बे दोनों बाहुओंसे किसी प्रकार (श्रीकृष्ण भगवान्‌के वक्षःस्थलका) आलिङ्गन किया ॥ १० ॥

गतया निरन्तरनिवासमध्युरः परिनाभि नूनमवमुच्य वारिजम् ।
कुरुराजनिर्दयनिपीडनाभयान्मुखमध्यरोहि मुरविद्विषः श्रिया ॥ ११ ॥

गतयेति ॥ नाभ्यां परिनाभि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । वारिजम् । नाभिकमलमित्यर्थः । अवमुच्य विहाय अध्युर उरसि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । निरन्तरं निवासं गतया सर्वदोरसि स्थितया श्रिया शोभया, रमया च नाभिसरोजत्यागेनात्र निवासेन तस्मादपहृतमिति ध्वनितम् । कुरुराजस्य या निर्दयनिपीडना गाढाश्लेषरूपा ततो भयान्मुरवैरिणो मुरद्विषो मुखमध्यरोहि अधिरूढम् । भीता ह्युत्सेधमारोहन्तीति लोकवेदयोः प्रसिद्धमिति भावः । नूनमित्युत्प्रेक्षा । अत्र वाच्यायाः सुहृदाश्लेषप्रभवायाः शोभायाः श्रियेति श्लेषमहिम्ना प्रतीयमानया रमया सहाभेदाध्यवसायात्क्रमेण नाभिमुखकमलाधारसम्बन्धाभिधानाच्छ्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितः तावदाद्यः पर्यायभेदः । 'क्रमेणैकमनेकस्मिन्नाधारे वर्तते यदि । एकस्मिन्नथ वानेकः पर्यायालंकृतिर्मता ॥' इति लक्षणात् । तदुपजीविना च श्रीमुखारोहणस्य भयहेतुकत्वकथनादुत्प्रेक्षेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ११ ॥

(श्रीकृष्ण भगवान्‌की) नाभिके कमलको छोड़कर सर्वदा (उनके) हृदयमें रहती हुई

---

१. तनोर्मुर—' इति पा० ।

लक्ष्मी (या शोभा), कुरुराज (युधिष्ठिरके) द्वारा (गाढालिङ्गनरूप) निर्दय पीडनके भयसे श्रीकृष्ण भगवान्‌के मुखपर चढ़ गयी ।

विमर्श—कमलको लक्ष्मीद्वारा छोड़े जानेसे कमलका श्रीहीन होना ध्वनित होता है । युधिष्ठिरको वेगपूर्वक आलिङ्गन करते देखकर श्रीकृष्ण भगवान्‌का मुख प्रसन्नतासे हर्षित होकर शोभने लगा ॥ ११ ॥

शिरसि स्म जिघ्रति सुरारिबन्धने छलवामनं विनयवामनं तदा ।
यशसेव वीर्यविजितामरद्रुमप्रसवेन वासितशिरोरुहे नृपः ॥ १२ ॥

शिरसीति ॥ नृपो धर्मराजः सुरारिबन्धने पुरा बलिबन्धने छलवामनं कपटवामनं तदा पार्थोपपत्तिसमये तु विनयवामनम् । विनयनम्रमित्यर्थः । तं हरिमिति शेषः । वीर्यविजितामरद्रुमप्रसवेन पारिजातहरणे शौर्यलब्धपारिजातकुसुमेन यशसेव पारिजातविजयप्रसूतया कीर्त्येवेत्युत्प्रेक्षा । वासितशिरोरुहे सुरभितकेशे शिरसि जिघ्रति स्म । 'प्रवासादेत्य मूर्धन्यवघ्राणम्' इति स्मरणात् । पुरा किल भगवान्सत्यभामाप्रीतये बलादिन्द्रलोकादपहृत्य पारिजातं निजगृहेष्वारोपितवानिति कथात्रानुसन्धेया ॥ १२ ॥

राजा युधिष्ठिर, पहले बलि दैत्यको बाँधनेमें कपटसे वामन बने हुए तथा उस समय (राजा युधिष्ठिरसे मिलनेके समय) विनयसे वामन (नम्र) बने हुए श्रीकृष्ण भगवान्‌को मानो यशके समान पराक्रमसे जीते गये कल्पवृक्षके फूलसे सुवासित केशोंवाले मस्तकमें सूँघने लगे ॥ १२ ॥

सुखवेदनाहृषितरोमकूपया शिथिलीकृतेऽपि वसुदेवजन्मनि ।
कुरुभर्तुरङ्गलतया न तत्यजे विकसत्कदम्बनिकुरम्बचारुता ॥ १३ ॥

सुखेति ॥ वसुदेवाजन्म यस्य तस्मिन्वसुदेवजन्मनि वासुदेवे । जन्मोत्तरपदत्वाद्व्यधिकरणो बहुव्रीहिः वामनवचनादित्युक्तं प्राक् । शिथिलीकृतेऽपि विश्लेषिते सत्यपि सुखवेदनया आलिङ्गनसुखानुभवेन हृषिता उद्धता रोमकूपा रोममूलानि यस्यां तया । 'हृषेर्लोमसु' (७।२।२९) इतीडागमः । कुरुभर्तुर्धर्मराजस्याङ्गलतया विकसतः कदम्बनिकुरम्बस्य कदम्बमुकुलजालस्य चारुता कमनीयत्वं न तत्यजे न त्यक्ता । किन्तु स्वीकृतेत्यर्थः । आश्लेषापगमेऽपि तज्जन्मसुखानुवृत्त्या तत्कार्यस्य रोमहर्षस्यानुवृत्तिरिति तात्पर्यार्थः । अत एव शिथिलीकृते हृषितरोमकूपयेत्यकारणकार्यकथनाद्विभावना तदपेक्षया चेयमुत्पन्ना कदम्बनिकुरम्बचारुतानिदर्शनतया सहाङ्गेन सङ्कीर्यते ॥ १३ ॥

वसुदेव पुत्र (श्रीकृष्ण भगवान्) के ढीला करने (आलिङ्गन करना छोड़कर पृथक् हो जाने) पर भी (आलिंगनसे उत्पन्न) सुखके अनुभवसे हर्षित रोममूलोंवाली कुरुपति

१. '–बन्धनच्छल–' पा० । २. 'विदलत्क–' इति पा० ।

(युधिष्ठिर) की शरीरलताने विकसित होते हुए कदम्ब कलिका-समूहकी सुन्दरताको नहीं छोड़ा अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान्‌के आलिङ्गन कर हट जाने पर भी तज्जन्य सुखके अनुभवको बार-बार होते रहनेसे युधिष्ठिरका शरीर रोमाञ्च युक्त होकर विकसित होती हुई कदम्ब-कलिकाके समूहके समान शोभता रहा ॥ १३ ॥

इतरानपि क्षितिभुजोऽनुजन्मनः प्रमनाः प्रमोदपरिफुल्लचक्षुषः ।
स यथोचितं[1] जनसभाजनोचितः प्रसभोद्धृतासुरसभोऽसभाजयत् ॥

इतरानिति ॥ जनसभाजनोचितः सर्वजनसम्भावनार्हः प्रसभेन बलादुद्धृता असुरसभासुरसङ्घो येन सः प्रमनाः हृष्टचित्तः स हरिः प्रमोदपरिफुल्लचक्षुषो हर्षोत्फुल्लनेत्रानितरान् भीमादीन् क्षितिभुजो नृपस्यानु पश्चाज्जन्म येषांताननुजन्मनोऽनुजान्यथोचितं यथार्हमसभाजयत्सभाजयति स्म । आलिङ्गनादिभिरानन्दयामासेत्यर्थः । 'आनन्दनसभाजने' इत्यमरः । 'सभाज प्रीतिदर्शनयोः' इति धातोश्चौरादिकाल्लुङ् ॥

लोगोंके सत्कार करनेवाले, असुर समूहको नष्ट करने वाले वे (श्रीकृष्ण भगवान्) हर्षित होकर, अत्यधिक हर्षसे प्रफुल्ल नेत्रोंवाले, राजा (युधिष्ठिर) के दूसरे (भीम अर्जुन आदि) छोटे भाइयोंको भी आलिंगन आदिके द्वारा यथायोग्य सत्कृत किया ॥ १४ ॥

सममेत्य तुल्यमहसः[2] शिलाघनान्घनपक्षदीर्घतरबाहुशालिनः ।
परिशिश्लिषुः क्षितिपतीन्क्षितीश्वराः कुलिशात्परेण गिरयो गिरीनिव ॥

सममिति ॥ तुल्यमहसः समतेजस्कान्, शिला इव शिलाभ्यश्च घनान् दृढान् घनैः पक्षैरिव दीर्घतरबाहुभिः, बाहुभिरेव पक्षैश्च शालन्त इति तथोक्तानेवंभूतान् क्षितिपतीनेवंभूताः क्षितीश्वराः समं युगपदेत्यागत्य । आङ्पूर्वादिणः क्त्वो ल्यपि तुक् । कुलिशात्परेण परतः । कुलिशक्षतेः पविपक्षच्छेदात् । पूर्वमित्यर्थः । तत्प्रत्यसम्भवादिति भावः । परेणेति विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययम् । गिरयो गिरीनिव परिशिश्लिषुरालिङ्गितवन्तः । उपमा ॥ १५ ॥

समान तेजवाले, शिला (पत्थरके चट्टान) के समान (या—शिलाओं की अपेक्षा) दृढ़ और घने पङ्कके समान लम्बे बाहुओं (पक्षा०—लम्बे बाहुओंके समान घने पङ्खों) से शोभनेवाले राजाओंने राजाओंका उस प्रकार आलिंगन किया, जिस प्रकार वज्रसे पङ्ख काटे जानेके पहले पर्वतोंने पर्वतोंका आलिङ्गन किया था ॥ १५ ॥

इभकुम्भतुङ्गकठिनेतरेतरस्तनभारदूरविनिवारितोदराः ।
परि[3]फुल्लगण्डफलकाः परस्परं परिरेभिरे कुकुरकौरवस्त्रियः ॥१६ ॥

इभेति ॥ इभकुम्भा इव ये तुङ्गाः कठिनाश्च इतरेतरासां स्तनभारास्तैर्दूरे विनिवारितान्यतिकार्श्यादस्फुटतया स्थापितान्युदराणि यासां ताः । 'स्वाङ्गाच्च-'(४।१।५४)

१. '-चितान्' इति पा० । २. '-महतः' इति पा० । ३. 'प्रति-' इति पा० ।

इति विकल्पादनीकारः । परिफुल्लगण्डफलकाः हर्षपुलकितगण्डस्थलाः कुकुरकौरवस्त्रियो यादवपाण्डवाङ्गनाः परस्परं परिरेभिरे आश्लिष्टवत्यः । 'परिरम्भः परिष्वङ्ग आश्लेष उपगूहनम्' इत्यमरः । परिफुल्लेति फुल्लतेः पचाद्यजन्तं न तु फलतेः निष्ठान्तम् । अनुपसर्गादिति कथनविरोधात् ॥ १६ ॥

गजकुम्भके समान ऊँचे एवं कठोर परस्परके स्तनोंके भारसे पृथक् स्थित (नहीं सटे हुए) उदरोंवाली तथा हर्षसे रोमाञ्चित कपोलफलकों वाली यादवों तथा पाण्डवों की रमणियोंने परस्पर में (एक दूसरेका) आलिंगन किया ॥ १६ ॥

रथवाजिपत्तिकरिणीसमाकुलं तदनीकयोः समगत द्वयं मिथः ।
दधिरे पृथक्करिण एव दूरतो महतां हि सर्वमथवा जनातिगम् ॥ १७ ॥

रथेति ॥ रथवाजिपत्तिकरिणीभिः समाकुलं सङ्कीर्णम् । करिणीग्रहणं पुङ्गजव्यावृत्त्यर्थम् । अतो युद्धानर्हतया तासामसेनाङ्गत्वान्न द्वन्द्वैकवद्भावः । तदनीकयोः तयोर्यादवपाण्डवसैन्ययोः । 'वरूथिनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्' इत्यमरः । द्वयं मिथश्चान्योन्यं समगत सङ्गतम् । गमेर्लुङि 'समो गम्यृच्छि–' (१।३।२९) इत्यादिनात्मनेपदं 'वा गमः' (१।२।१३) इति सिचः कित्वात् 'अनुदात्तोपदेश–' (६।४।३७) इत्यादिनानुनासिकलोपः 'ह्रस्वादङ्गात्' (८।२।२७) इति सकारलोपः । करिणः पुङ्गजाः दूरत एव पृथगसङ्गतं दधिरे धृताः । स्थापिता इत्यर्थः । अथवा किमत्र चित्रमिति भावः । महतां महासत्त्वानां सम्बन्धि सर्वं चेष्टितमिति शेषः । जनानतिगच्छतीति जनातिगमतिजनम् । सर्वलोकविलक्षणमिति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १७ ॥

रथों, घोड़ों, पैदलों एवं हथिनियोंसे व्याप्त दोनों सेनाएँ परस्परमें मिल गयीं अर्थात् एकमें सम्मिलित हो गयीं, किन्तु हाथी अलग ही रखे गये; अथवा बड़ोंका सब कुछ कार्य लोकोत्तर होता है ॥ १७ ॥

अधिरुह्यतामिति महीभृतोदितः कपिकेतुनार्पितकरो रथं हरिः ।
अवलम्बितैलविलपाणिपल्लवः श्रयति स्म मेघमिव मेघवाहनः ॥ १८ ॥

अधीति ॥ अथ हरिरधिरुह्यतां रथ आरुह्यतामित्येवं महीभृता धर्मराजेनोदित उक्तः सन् । वदेः कर्मणि क्तः । 'वचिस्वपि–' (६।१।१५) इत्यादिना सम्प्रसारणम् । कपिकेतुनार्जुनेनार्पितकरो दत्तहस्तः सन् । अवलम्बितोऽवष्टब्ध ऐलविलस्य कुबेरस्य पाणिपल्लवो हस्तो येन स मेघवाहन इन्द्रो मेघमिव रथं श्रयति स्म आरूढवानित्यर्थः । उपमा ॥ १८ ॥

इस (परस्परमें एक दूसरेसे मिलने) के बाद '(रथपर) सवार होइये' इस प्रकार राजा (युधिष्ठिर) से कहे गये तथा अर्जुनका हस्तावलम्ब किये हुए श्रीकृष्ण भगवान् रथपर

---

१. 'केतना–' इति पा० ।

इस प्रकार सवार हुए, जिस प्रकार कुबेरका हस्तावलम्बन किये हुए मेघवाहन अर्थात् इन्द्र मेघपर सवार होते है ॥ १८ ॥

रथमास्थितस्य च पुराभिवर्तिनस्तिसृणां पुरामिव रिपोर्मुरद्विषः ।
अथ धर्ममूर्तिरनुरागभावितः स्वयमादित प्रवयणं प्रजापतिः ॥ १९ ॥

रथमिति ॥ किञ्चेति चार्थः । अथ रथारोहणानन्तरं रथमास्थितस्यारूढस्य पुराभिवर्तिन इन्द्रप्रस्थाभिगामिनः, त्रिपुराभिवर्तिनश्च मुरद्विषो हरेस्तिसृणां पुराणां रिपोस्त्रिपुरान्तकस्येव । 'न तिसृचतसृ' (६।४।४) इति नामि दीर्घप्रतिषेधः । धर्ममूर्तिर्धर्मात्मा प्रजापतिर्जनेश्वरो धर्मराजो, ब्रह्मा च अनुरागभावितः सन् । प्रवीयते प्रेर्यतेऽनेनेति प्रवयणं प्राजनम् । प्रतोद इति यावत् । अत एव 'प्रवयणो दण्डः प्राजनो दण्डः' इति काशिका । अजेः करणे ल्युट् । 'वा यौ' (२।४।५७) इति विकल्पादजेर्वीभावः 'पूर्वपदात्संज्ञायाम्–' (८।४।३) इति णत्वम् । स्वयमादित गृहीतवान् । सारथ्यं कृतवानित्यर्थः । ददातेः कर्तरि लुङि तङ् । 'स्थाघ्वोः–' (१।२।१७) इतीकारे कृते सिचः किर्वे च 'ह्रस्वादङ्गात्' (८।२।२७) इति सलोपः । अत्र त्रिपुरहरणे ब्रह्मा रहस्येव हरेरयं सारथ्यं चकारेत्युपमा । तस्याः प्रजापतिरिति राजब्रह्मणोः श्लेषमूलाभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिनिर्व्यूढतेति ॥ १९ ॥

रथपर चढ़े हुए (इन्द्रप्रस्थ) नगरके समान जानेवाले श्रीकृष्ण भगवान्के, धर्ममूर्ति युधिष्ठिरने अनुरागसे व्याप्त होते हुए उस प्रकार कोड़ेको स्वयं ग्रहण किया अर्थात् उनके सारथिका कार्य किया, जिस प्रकार रथपर चढ़े हुए, त्रिपुरासुरके सामने (उसे मारनेके लिए) जानेवाले त्रिपुरारि शिवजीके अनुरागसे व्याप्त होते हुए धर्ममूर्त्ति ब्रह्माने (देवकार्य-सम्पादनार्थ तत्पर शिवजी को देखकर) स्वयं सारथिका कार्य किया था ॥ १९ ॥

शनकैरथास्य[1] तनुजालकान्तरस्फुरितक्षपाकरकरोत्कराकृति ।
पृथुफेनकूटमिव निम्नगापतेर्मरुतश्च[2] सूनुरधुवत्प्रकीर्णकम् ॥ २० ॥

शनकैरिति ॥ किञ्चेति चार्थः । अथास्य हरेस्तनुषु सूक्ष्मेषु जालकान्तरेषु गवाक्षरन्ध्रेषु स्फुरितस्य प्रसृतस्य क्षपाकरकरोत्करस्य शशिकिरणपुञ्जस्याकृतिरिवाकृतिर्यस्य तत्प्रकीर्णकं चामरं निम्नगापतेः समुद्रस्य पृथु विपुलं फेनकूटं फेनपुञ्जमिव मरुतः सूनुर्भीमसेनः शनकैरधुवद्धुवतिस्म । धुवतिरयं तौदादिक इत्युक्तम् । उपमयोः सङ्करः ॥ २० ॥

और इन (श्रीकृष्ण भगवान्) के, छोटे-छोटे खिड़कियोंके छिद्रोंमें स्फुटित होनेवाले चन्द्र–किरण–समूहके समान आकृति वाले चामरको नदीपति (समुद्र) के विशाल फेन–समूहके समान वायुपुत्र (भीमसेन) डुलाते थे ॥ २० ॥

---

१. 'शनकैश्च तस्य ··· रक्षरित–' इति पा० । २. '–दस्य' इति पा० ।

विकसत्कलायकुसुमासितद्युतेरलघूडुपाण्डु जगतामधीशितुः ।
यमुनाह्रदोपरिगहंसमण्डलद्युतिजिष्णु जिष्णुरभृतोष्णवारणम् ॥ २१ ॥

विकसदिति ॥ विकसत्कलायकुसुमं कालपुष्पम् । 'कलायः स्यात्काले' इति वैजयन्ती । तद्वदसितद्युतेर्नीलवर्णस्य जगतामधीशितुर्जगन्नाथस्य हरेः जिष्णुरर्जुनः अलघूडुपाण्डु स्थूलनक्षत्रधवलम् अत एव यमुनाह्रदस्योपरिगमुपरिगतम् । 'अन्यत्रापि दृश्यते' (वा०) इति डप्रत्ययः । तस्य हंसमण्डलस्य द्युतिं शोभां जिष्णु जयनशीलम् । 'ग्लाजिस्थश्च–' (३।२।१३९) इति ग्स्नुः । उष्णवारणमातपत्रमभृत भृतवान् । भृञः कर्तरि लुङ् । 'स्वरितञितः–' (१।३।७२) इत्यात्मनेपदम् । 'उश्च' (१।२।१२) इति सिचः कित्त्वादगुणता 'ह्रस्वादङ्गात्' (८।२।२७) इति सकारलोपः । अत्राप्युपमासङ्करः ॥ २१ ॥

अर्जुनने विकसित होते हुए मटरके फूलके समान श्यामल कान्तिवाले जगत्पति (श्रीकृष्ण भगवान्) के, बड़े नक्षत्र या–बड़े तथा नक्षत्र अर्थात् चन्द्रके समान शुभ्र तथा यमुना-ह्रदके ऊपर स्थित हंस–समूहकी शोभाको जीतनेवाले छत्रको धारण किया ॥ २१ ॥

पवनात्मजेन्द्रसुतमध्यवर्तिना नितरामरोचि रुचिरेण चक्रिणा ।
दधतेव योगमुभयग्रहान्तरस्थितिकारितं दुरुधराख्यमिन्दुना ॥ २२ ॥

पवनेति ॥ पवनात्मजेन्द्रसुतमध्यवर्तिना भीमार्जुनमध्यगतेन रुचिरेण चारुणा चक्रिणा हरिणा उभयोरर्कादिग्रहाणामन्यतमयोरन्तरे मध्ये स्थित्या वासेन कारितं सम्पादितम् । वृत्तिविषये उभशब्दस्य स्थानेऽप्युभयशब्दस्यैव प्रयोगो व्याख्यातः । दुरुधरेत्याख्या यस्य तं दुरुधराख्यं योगं दधता । अर्कान्यग्रहमध्यगतेनेत्यर्थः । इन्दुनेवेत्युपमा । नितरामतिशयेन । 'किमेत्तिङव्ययघा–' (५।४।११) इत्यामुप्रत्ययः । अरोचि । अशोभि । रोचतेर्भावे लुङ् । स्वभावरमणीयस्यानुरूपान्तरसमायोगाच्छोभातिशयो जायते । रत्नकाञ्चनयोरिवेति भावः । अत्र भगवानाचार्यमिहिरः— 'हित्वार्कं सुनफाऽनफादुरुधराः स्वान्त्योभयस्थैर्ग्रहैः शीतांशोः' (बृहज्जातके १३।३) इति । एतदेव स्पष्टीकृतं कल्याणवर्मणा 'रविवर्जं द्वादशगैरनफा चन्द्राद्द्वितीयगैः सुनफा । उभयस्थितैर्दुरुधरा केमद्रुमसंज्ञिकोऽतोऽन्यः ॥' इति ॥ २२ ॥

पवनसुत (भीमसेन) तथा इन्द्रसुत (अर्जुन) के मध्यमें स्थित एवं रुचिर श्रीकृष्ण भगवान् सूर्यभिन्न किन्हीं दो ग्रहों (या–गुरु तथा शुक्र) के मध्यमें स्थित होनेसे 'दुरुधर' नामक योगको धारण करते हुए रुचिर चन्द्रमाके समान अत्यधिक शोभ रहे थे ।

विमर्श—वराहमिहिराचार्यकृत—

'हित्वार्कं सुनफाऽनफादुरुधराः स्वान्त्योभयस्थैर्ग्रहैः ।
शीतांशोः कथितोऽन्यथा तु बहुभिः केमद्रुमोऽन्यैस्त्वसौ ॥'

बृहज्जातकके त्रयोदश(योगा)ध्यायोक्त वचनके अनुसार सूर्यभिन्न किसी ग्रहके चन्द्रमासे द्वितीय स्थानमें रहने पर 'सुनफा' योग, द्वादश स्थानमें रहने पर 'अनफा' योग, दोनों (द्वितीय तथा द्वादश) स्थानोंमें रहने पर 'दुरुधरा' योग और इन दोनों स्थानोंमें किसी ग्रहके नहीं रहने पर 'केमद्रुम' योग होता है।

यही 'सर्वङ्कषा' व्याख्यामें उद्धृत कल्याणवर्माके 'रविवर्जं......तोऽन्यः ॥' वचनसे भी सिद्ध होता है। बृहज्जातककी संस्कृतव्याख्यामें भट्टोत्पलने 'त्रिंशत्सरूपाः सुनफानफाख्याः षष्टित्रयं दौरधरे प्रमेयाः।' वचनद्वारा 'सुनफा' तथा 'अनफा' योगोंके ३१-३१ और 'दुरुधर' योगके १८० भेद कहे हैं। परन्तु 'अवादि मैमी......' (नैषधचरित १५।४२) की 'नैषध-प्रकाश' नामकी व्याख्यामें नारायण भट्टने 'गुरुभार्गवयोर्योगश्चन्द्रेणैव यदा भवेत् । तदा 'दुरुधराख्यः स्यात्' इस ज्योतिःशास्त्रोक्त वचनको उद्धृतकर बृहस्पति तथा शुक्रके मध्यमें चन्द्रमाकी स्थिति होने पर उक्त 'दुरुधर' योग होनेका प्रतिपादन किया है ॥ २२ ॥

वशिनं क्षितेरयनयाविवेश्वरं नियमो यमश्च नियतं यतिं यथा।

विजयश्रिया वृतमिवार्कमारुतावनुसस्रतुस्तमथ दस्रयोः सुतौ ॥ २३ ॥

वशिनमिति ॥ अथ भीमार्जुनोपवेशनानन्तरं वशिनमिन्द्रियजयवन्तम्। अव्यसनिनमिति यावत्। क्षितीश्वरं भूपतिम्। अयः शुभावहो विधिर्नीतिर्नयस्ताविव। दैवपुरुषकाराविवेत्यर्थः। नियतमाचारनिष्ठं यतिं जितेन्द्रियम्। 'यतिनो यतयश्च ते' इत्यमरः। नियमः शरीरातिरिक्तदेशकालादिसाधनापेक्षः सन्ध्योपासनजपादिः। यमः शरीरमात्रसाधनापेक्षोऽहिंसादिः। 'शरीरसाधनापेक्षं नित्यं यत्कर्म तद्यमः। नियमस्तु स यत्कर्मानित्यमागन्तुसाधनम् ॥' (इत्यमरः) स च यथा यमनियमाविवेत्यर्थः। 'इववद्वायथाशब्दाः' इति दण्डिनाभिधानात्। विजयश्रिया युतं आसन्नविजयम्। विजिगीषुं रिपुमित्यर्थः। अर्कमारुताविव दस्रयोरश्विनोः सुतौ नकुलसहदेवौ। 'नासत्यावश्विनौ दस्रौ' इत्यमरः। तं हरिमनुसस्रतुरनुचेरतुः। पृष्ठोपसर्पणं चक्रतुरित्यर्थः। इह सर्वकर्तृमनोरथानुकूलव्यापारवत्त्वमनुसरणम्। इयं मालोपमा ॥ २३ ॥

इस (श्रीकृष्ण भगवान्‌के दोनों पार्श्वोंमें भीमसेन तथा अर्जुनके बैठने) के बाद, जितेन्द्रिय (अव्यसनी) राजाके पीछे शुभकारक विधि तथा नीति (दैव तथा पुरुषार्थ) के समान और आचारवान् यति (जितेन्द्रिय) के पीछे यम तथा नियमके समान, विजयलक्ष्मीसे परिवेष्टित (निकट भविष्यमें ही शिशुपाल नामक शत्रुको मारकर विजयश्री पानेवाले) श्रीकृष्ण भगवान्‌के पीछे सूर्य तथा वायुके समान, अश्विनी कुमारोंके पुत्र (नकुल और सहदेव) चलने लगे।

विमर्श—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को 'यम' तथा शौच (पवि-

व्रता), सन्तोष, तपश्चर्या, वेदादिग्रन्थोंका स्वाध्याय और प्रणिधानको 'नियम' कहते हैं। इनके विस्तृत लक्षण भगवत्पतञ्जलिकृत 'योगसूत्र' में देखना चाहिये ॥ २३ ॥

मुदितैस्तदेति दितिजन्मनां रिपावविनीतसम्भ्रमविकासिभक्तिभिः ।
उपसेदिवद्भिरुपदेष्टरीव तैर्ववृते विनीतमविनीतशासिभिः ॥ २४ ॥

मुदितैरिति ॥ तदा तस्मिन्समये इतीत्थं मुदितैर्हृष्टैरविनीयोऽकल्कः । अकपट इति यावत् । यः सम्भ्रम आदरस्तेन विकासिनी स्फुटीभवन्ती भक्तिर्येषां तैः । 'विपूयविनीयजित्या मुञ्जकल्कहलिषु' (३।१।११७) इति कल्कार्थे निपातः । नपुंसकपूर्वपदः स्त्रीलिङ्गपूर्वपदो वा बहुव्रीहिः । अविनीतं शासतीत्यविनीतशासिभिः दुष्टशिक्षकैः पाण्डवैः दितिजन्मनां रिपौ कृष्णविषये उप समीपे सीदन्ति स्मेत्युपसेदिवांसोऽन्तेवासिनः । 'भाषायां सदवसश्रुवः' (३।२।१०८) इति सदेर्लिटः क्वसुरादेशः । तैरुपसेदिवद्भिरन्तेवासिभिः शिष्यैः इति यावत् । उपदेष्टरि गुराविवेत्युपमा । विनीतमनुद्धतं ववृते वृत्तम् । भावे लिट् । ननु विकासिभक्तिरित्यत्र कथं पूर्वपदस्य पुंवद्भावः । भक्तिशब्दस्य प्रियादिपाठात् 'स्त्रियाः पुंवत्—' (६।३।३४) इति पुंवद्भावसूत्रेऽप्रियादिष्विति निषेधादिति । विकासिशब्दस्याविकासिनीवृत्तिमात्रपरतयाऽस्त्रीत्वस्य विवक्षितत्वान्नपुंसकपूर्वपदो बहुव्रीहिरिति केचित् । तदेतदभिप्रेत्योक्तं वृत्तिकारेण 'दृढभक्तिरित्येवमादिषु स्त्रीपूर्वपदस्याविवक्षितत्वात्सिद्धिः' इति । एतदेव स्पष्टीकृतं गणव्याख्याने—'दृढं भक्तिर्यस्येति नपुंसकं पूर्वपदम्, धात्वर्थविशेषणमात्रपरे दृढशब्दे लिङ्गविशेषस्यानुपकारकत्वात्स्त्रीत्वमविवक्षितम्' इति । भोजराजस्तु 'भक्तौ कर्मसाधनायाम्'इत्यनेन सूत्रेण भज्यते सेव्यते इति कर्मार्थत्वेन दृढभक्तिरित्यादि भवति । 'भावसाधनायां तु दृढभक्तिर्भवत्येव' इत्याह । तदेतत्सर्वमस्माभिः कालिदासत्रयसञ्जीविन्यां 'दृढभक्तिरिति ज्येष्ठे' (रघुवंशे १२।१९) इत्यादिषु विवेचितम् । तस्माद्विकासिभक्तिभिरित्यत्रापि मतभेदेन पूर्वपदस्य स्त्रीत्वे नपुंसकत्वे च रूपसिद्धिरस्तीति सिद्धम् ॥ २४ ॥

उस समय इस प्रकार हर्षित, निष्कपट आदरसे विकसित (स्पष्ट) होती हुई भक्तिवाले और दुष्टोंके शासक वे पाण्डव गुरुके समीप शिष्योंके समान श्रीकृष्ण भगवान्के समीप शान्त मुद्रासे अवस्थित हुए ॥ २४ ॥

गतयोरभेदमिति सैन्ययोस्तयोरथ भानुजह्नुतनयाम्भसोरिव ।
प्रतिनादितामरविमानमानकैर्नितरां मुदा परमयेव दध्वने ॥ २५ ॥

गतयोरिति ॥ इति इत्थं गतयोः सैन्ययोः भानुजह्नुतनये यमुनाजाह्नव्यौ तयोरम्भसी प्रवाहौ तयोरिवाभेदमैक्यं गतयोः सतोः । 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२।३।३७) इति सप्तमी । एतेन सैन्ययोरवार्यत्वमुक्तम् । अथ सैन्यमेलनानन्तरम्

१. '–वनिनेय–' इति पा० । २. '—ताम्बर—' इति पा० ।

आनकमङ्गलदुन्दुभिभिः परमया मुदेव हर्षेणेवेत्युत्प्रेक्षा । प्रतिनादितानि प्रतिध्वनितान्यमरविमानानि द्रष्टुमागत्याम्बरस्थितानि विमानानि देवयानानि यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा नितरां दध्वने ध्वनितम् । भावे लिट् ॥ २५ ॥

इस प्रकार यमुना तथा गङ्गाके जलके समान उन दोनों सेनाओंके (एकमें मिलकर) अभिन्न हो जानेपर इसके बाद (माङ्गलिक) दुन्दुभि अत्यन्त हर्षसे उच्चस्वरसे बजने लगी जिससे (उनके समागमनको देखनेके लिए आकर स्थित) देवोंके विमान प्रतिध्वनित हो गये॥

मखमीक्षितुं क्षितिपतेरुपेयुषां परितः प्रकल्पितनिकेतनं बहिः ।
उपरुध्यमानमिव भूभृतां बलैः पुटभेदनं दनसुतारिरैक्षत ॥ २६ ॥

मखमिति ॥ क्षितिपतेर्धर्मराजस्य मखं क्रतुमीक्षितुमुपेयुषां ततस्तत आगतानां भूभृतां राज्ञां बलैः सैन्यैः बहिः परितः प्रकल्पितानि निर्मितानि निकेतनानि निवासा यस्य तदत एवोपरुध्यमानं शत्रुसेनावेष्ट्यमानमिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा । पुटभेदनं पत्तनं मयकृतमिन्द्रप्रस्थम् । 'पत्तनं पुटभेदनम्' इत्यमरः । दनुसुतारिर्दानवहन्ता हरिः पुरोऽग्रे ऐक्षतापश्यत् ॥ २६ ॥

राजा (युधिष्ठिर) के यज्ञको देखनेके लिए आये हुए राजाओंकी सेनाके द्वारा बाहरमें चारों ओरसे लगाये गये शिविरवाला उस (इन्द्रप्रस्थ) नगरको श्रीकृष्ण भगवान्ने (शत्रु-सेनासे) घिरे हुएके समान पहले देखा ॥ २६ ॥

प्रतिनादपूरितदिगन्तरः पतन्पुरगोपुरं प्रति स सैन्यसागरः ।
रुरुचे हिमाचलगुहामुखोन्मुखः पयसां प्रवाह इव सौरसैन्धवः ॥ २७ ॥

प्रतीति ॥ प्रतिनादैः प्रतिध्वानैः पूरितं व्याप्तं दिशामन्तरमन्तरालं येन सः पुरगोपुरं पुरद्वारं प्रति । 'गोपुरं तु पुरद्वारि द्वारमात्रे नपुंसकम्' इति विश्वः । एवं च न परशब्दस्य पौनरुक्त्यशङ्का । पतन् धावन् स सैन्यसागरः सेनासमुद्रः हिमाचलगुहामुखस्योन्मुखोऽभिमुखः सुरसिन्धोर्गङ्गाया अयं सौरसैन्धवः । 'हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च' (७।३।१९) इत्युभयपदवृद्धिः । पयसां प्रवाह इव रुरुचे रेजे । उपमालङ्कारः ॥ २७ ॥

प्रतिध्वनियोंसे दिङ्मण्डलको पूर्ण करता हुआ तथा नगरके द्वारके सम्मुख तीव्र गतिसे चलता हुआ वह सेनारूपी समुद्र हिमालय पर्वतकी गुफाके अग्रभागको जाते हुए गङ्गाके जलप्रवाहके समान शोभने लगा ॥ २७ ॥

असकृद्गृहीतबहुदेहसम्भवस्तदसौ विभक्तनवगोपुरान्तरम् ।
पुरुषः पुरं प्रविशति स्म पञ्चभिः सममिन्द्रियैरिव नरेन्द्रसूनुभिः ॥ २८ ॥

असकृदिति ॥ असकृद्बहुशो गृहीतो लोकधारणाय स्वीकृतो बहुषु देहेषु मत्स्यकूर्मादिषु शरीरेषु सम्भवः प्रादुर्भावो येन स, अन्यत्र स्वकर्मणा प्राक्तनयोनिसम्बन्ध-

१. 'प्रतिशब्द—' इति पा० ।

रूपसम्भव इत्यर्थः। असौ पुरुषः पुराणपुरुषो हरिर्जीवश्च विभक्तानि नवानि प्रत्यग्राणि गोपुरान्तराणि द्वारविशेषा यस्य तत्, अन्यत्र नवसंख्याकानि गोपुरान्तराणीन्द्रियद्वारभेदा यस्मिंस्तत् पुरं पत्तनं शरीरं च। 'पुरं पुरि शरीरे च' इति विश्वः। पञ्चभिरिन्द्रियैः सममिव पञ्चभिर्नरेन्द्रसूनुभी राजपुत्रैः पाण्डवैः सहासौ हरिस्तत्पुरं प्रविशति स्म। जीवो हि देहाद्देहान्तरं पूर्वेन्द्रियैः सह प्रविशति। लिङ्गशरीरस्यानपायादिति भावः। श्लेषसङ्कीर्णेयमुपमा ॥ २८ ॥

(शिष्टरक्षा एवं दुष्टनिग्रहके लिए) अनेक बार (मत्स्य, कूर्म, बराह, नृसिंह, वामन, रामचन्द्र आदि) बहुतसे देहोंके प्रादुर्भाव (उत्पत्ति) को धारण किये हुए पुराणपुरुष (वे श्रीकृष्ण भगवान्) विभक्त हुए नये-नये नगरद्वारोंवाले (इन्द्रप्रस्थ) नगरमें युधिष्ठिर आदि पाँच राजकुमारोंके साथ उस प्रकार प्रवेश किये; जिस प्रकार अनेक बार (नाना योनिरूप) देहोंके प्रादुर्भाव (उत्पत्ति) को धारण किया हुआ पुराना पुरुष अर्थात् जीव विभक्त हुए इन्द्रियरूप नव द्वारोंवाले शरीरमें पाँच इन्द्रियोंके साथमें प्रवेश करता है।

विमर्श—यहाँपर जीवपक्षमें नव इन्द्रियोंसे 'गुदा, शिश्न, मुख, दो नेत्र, दो कान और दो नाक, (१+१+१+१+२+२+२=९) विवक्षित हैं; तथा पाँच इन्द्रियोंसे नेत्र, कान, जिह्वा, हाथ और पैर ये ५ कर्मेन्द्रियाँ विवक्षित हैं ॥ २८ ॥

तनुभिस्त्रिनेत्रनयनानवेक्षितस्मरविग्रहद्युतिभिरद्युतन्नराः।
प्रमदाश्च यत्र खलु राजयक्ष्मणः परतो निशाकरमनोरमैर्मुखैः ॥ २९ ॥

तनुभिरिति ॥ यत्र पुरे नराः पुरुषाः त्रिनेत्रस्त्र्यम्बकः। 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' (८।४।३) इति णत्वं तु रघुनाथादिवण्णरवरहितस्य संज्ञात्वे न प्रवर्तते। तस्य नयनेनानवेक्षितस्य स्मरविग्रहस्य द्युतिरिव द्युतिर्यासां ताभिस्तनुभिर्मूर्तिभिः। 'स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः' इत्यमरः। अद्युतन् द्योतन्तेऽस्म। 'द्युत दीप्तौ' 'द्युद्भ्यो लुङि' (१।३।९१) इति विकल्पात्परस्मैपदं। 'पुषादि' (३।१।५५) सूत्रेण च्लेरङादेशः। प्रमदाः स्त्रियश्च राज्ञश्चन्द्रस्य यक्ष्मा राजयक्ष्मा क्षयरोगः। 'राजानं यक्ष्मा आरत्' इति श्रवणात्। 'राजयक्ष्मा क्षयः शोथः' इत्यमरः। तस्मात्परतः। पूर्वमित्यर्थः। निशाकरवन्मनोरमैः। अक्षीणेन्दुसुन्दरैरित्यर्थः। मुखैरद्युतन्। तत्पुरं प्रविष्ट इति पूर्वेणान्वयः। उपमयोः संसृष्टिः ॥ २९ ॥

जिस (इन्द्रप्रस्थ) नगरमें पुरुष, शिवजीके तृतीय नेत्रसे नहीं देखे (जलाये) गये काम-शरीरके समान कान्तिवाले शरीरसे शोभते थे और रमणियाँ क्षयरहित चन्द्रमाके समान मनोरम मुखोंसे शोभती थीं; (उस (इन्द्रप्रस्थ) नगरमें श्रीकृष्ण भगवान्ने प्रवेश किया) ॥ २९ ॥

अवलोकनाय सुरविद्विषां द्विषः पटहप्रणादविहितोपहूतयः।
अवधीरितान्यकरणीयसत्वराः पतिरथ्यमीयुरथ पौरयोषितः ॥ ३० ॥

अवलोकनायेति ॥ अथ हरेः पुरप्रवेशानन्तरं पटहप्रणादैर्दुन्दुभिध्वनिभिर्विहितो-

पङ्क्तयः । कृताह्वाना इवेत्यर्थः । पुरे भवाः पौरास्तेषां योषितः पौरयोषितः । स्त्रियाः पुंवद्भावः । सुरद्विषामसुराणां द्विषो हरेरवलोकनाय दर्शनार्थमवधीरितान्यकरणीयास्त्यक्तान्यकार्याः ताश्च ताः सत्वराश्च ताः सत्यः रथ्यां प्रति प्रतिरथ्यम् । यथार्थेऽव्ययीभावः । इयुः प्रापुः । एतेन स्त्रीणां हरिविलोकने कालाक्षमत्वलक्षणमौत्सुक्यमुक्तम् । अत्र पौराङ्गनाप्राप्तेः प्रवेशवाद्यश्रवणानन्तर्यात्तदुपाह्वानोत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ३० ॥

इस (श्रीकृष्ण भगवान्के इन्द्रप्रस्थ नगर में प्रवेश करने) के बाद दुन्दुभियोंके बजनेसे मानो बुलायी गयी-सी नागरिकोंकी रमणियाँ श्रीकृष्ण भगवान्को देखनेके लिए दूसरे कार्योंको छोड़कर शीघ्रतापूर्वक प्रत्येक मार्गोंमें आ गयीं ॥ ३० ॥

अथाष्टादशभिः पौराङ्गनाशृङ्गारचेष्टां वर्णयति—

अभिवीक्ष्य सामिकृतमण्डनं यतीः कररुद्धनीविगलदंशुकाः स्त्रियः ।
दधिरेऽधिभित्ति पटहप्रतिस्वनैः स्फुटमट्टहासमिव सौधपङ्क्तयः ॥३१॥

अभीति ॥ सामिकृतमण्डनमर्धविरचितप्रसाधनं यथा तथा यतीर्गच्छन्तीः । इणः शतरि ङीप् । कररुद्धनीवीनि करगृहीतग्रन्थीनि गलदंशुकानि स्रंसमानपरिधानानि यासां ताः । लसदिति पाठान्तरं तदा लसदुल्लसदित्यर्थः । 'अंशुकं वस्त्रमात्रे स्यात्परिधानोत्तरीययोः' इति शब्दार्णवे । स्त्रियः स्त्रीरभिवीक्ष्य सौधपङ्क्तयः अधिभित्ति भित्तिषु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । पटहप्रतिस्वनैस्तूर्यप्रतिध्वनिभिः स्फुटमुद्गतमट्टहासमुच्चैर्हसितमिव दधिरे इवेत्युत्प्रेक्षा । विकृतिदर्शनाद्धासो भवतीति भावः । अत्र कुतूहलाख्या चेष्टोक्ता । 'कुतूहलं रम्यदृष्टौ चापल्यं परिकीर्तितम्' इति लक्षणात् ॥

(अब श्रीकृष्ण भगवान्को देखनेवाली रमणियोंकी चेष्टाओंका अठारह श्लोकों (१३। ३१–४८) से वर्णन करते हैं) आधे शृङ्गारको की हुई (श्रीकृष्ण भगवान्का आगमन सुनकर उनके दर्शनार्थ शृङ्गारके पूरा होनेके पहले ही जाती हुई तथा शीघ्रताके कारण) नीचे सरकती हुई नीविको हाथसे पकड़ने पर शोभती हुई साड़ीवाली जाती हुई रमणियोंको देखकर चूनेसे पुते हुए विशाल महलोंकी श्रेणियाँ दीवारों पर दुन्दुभियोंकी प्रतिध्वनि होनेसे मानो स्पष्टतया अट्टहास-सी कर रही थी अर्थात् उन रमणियोंको जोरसे हँस रही थीं ॥

रभसेन हारपददत्तकाञ्चयः प्रतिमूर्धजं निहितकर्णपूरकाः ।
परिवर्तिताम्बरयुगाः समापतन्वलयीकृतश्रवणपूरकाः स्त्रियः ॥ ३२ ॥

रभसेनेति ॥ रभसेन त्वरया हारपदे मुक्तादामस्थाने वक्षसि दत्तकाञ्चयो न्यस्तरशनाः प्रतिमूर्धजं मूर्धजेषु केशेषु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । विहिताः कर्णपूरकाः

---

१. '—मण्डना···निर्लसदुरोंऽशुकाः' इति पा० । २. '—लसदं—' इति पा० ।
३. '—कुण्डलाः' इति पा० ।

कर्णावतंसा याभिस्ताः। परिवर्तितं विपर्यासेन धृतमम्बरयुगं उत्तराधरवाससी याभिस्ताः। परिधानीकृतमुत्तरीयं कुचांशुकं च जघने धृतमित्यर्थः। वलयीकृताः कङ्कणीकृताः श्रवणपूरकाः कुण्डलानि याभिस्ताः स्त्रियः समापतन्नधावन्। एतेन विभ्रमाख्या चेष्टोक्ता। 'विभ्रमस्त्वरया काले भूषास्थानविपर्यये' इति लक्षणात्। स च भ्रममूल इति भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते ॥ ३२ ॥

शीघ्रताके कारण हारके स्थानमें करधनीको पहनी हुई, केशोंमें कर्णपूरको लगायी हुई, दोनों कपड़ोंको उलटा पहनी हुई अर्थात् ओढ़नेवाले दुपट्टेको पहनी हुई एवं पहनने वाली साड़ीको ओढ़ी हुई और कर्णभूषणका कङ्कण बनायी हुई रमणियाँ (श्रीकृष्ण भगवान्‌को देखनेके लिए) वेगसे चल पड़ीं ॥ ३२ ॥

व्यतनोदपास्य चरणं प्रसाधिकाकरपल्लवाद्रसवशेन काचन ।
द्रुतयावकैकपदचित्रितावनिं पदवीं गतेव गिरिजा हरार्धताम् ॥ ३३ ॥

व्यतनोदिति ॥ काचन स्त्री रसवशेन हरिवीक्षणपारतन्त्र्येण। 'गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः। प्रसाधिकाया अलङ्कर्त्र्याः करपल्लवाच्चरणमपास्य असमाप्तावेवाक्षिप्य। हरार्धतां हरस्यार्धाङ्गतां गता। अन्यथैकपादालक्तकासम्भवादिति भावः। गिरिजा गौरीव। द्रव (द्रुत) यावकेनार्द्रालक्तकेन एकपदेन चित्रिता चित्रवर्णीकृता अवनिर्यस्यास्तां पदवीं व्यतनोदकरोत्। उपमालङ्कारः। एषापि कुतूहलाख्या चेष्टा रम्यदिदृक्षाजनितचापलरूपत्वादिति ॥ ३३ ॥

किसी रमणी (श्रीकृष्ण भगवान्‌को देखनेके) अनुरागसे, रंगने वालीके करपल्लवसे पैरको खींचकर शिवजीकी अर्द्धाङ्गिनी बनी हुई पार्वतीके समान मार्गको गीले (आर्द्र) महावर वाले एक पैरसे चित्रित भूमिवाला बना दिया ॥ ३३ ॥

व्यचलन्विशङ्कटकटीरकस्थलीशिखरस्खलन्मुखरमेखलाकुलाः ।
भवनानि तुङ्गतपनीयसंक्रमक्रमणक्वणत्कनकनूपुराः स्त्रियः ॥ ३४ ॥

व्यचलन्निति ॥ विशङ्कटानां विशालानां कटीरकस्थलीनां कटिभागानां शिखरेष्वग्रेषु स्खलन्त्यो लुठन्त्योऽत एव मुखराः शब्दायमानास्ताभिर्मेखलाभिराकुलाः तुङ्गेषु तपनीयसंक्रमेषु कनकसोपानेषु क्रमणेन क्वणन्तः कनकनूपुरा यासां ताः स्त्रियः भवनानि हर्म्याणि व्यचलन्। तत्र गत्वारोहन्नित्यर्थः। चलेर्गत्यर्थाल्लङ्। एतदपि पूर्ववदतिकुतूहलमेव। वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ३४ ॥

विशाल कटिप्रदेशके अग्रभाग हिलनेसे बजती हुई करधनियोंसे आकुल (घबड़ायी हुई) सी तथा ऊँची स्वर्णमयी सीढ़ियोंपर चढ़नेसे बजते हुए सुवर्णके नूपुरोंवाली रमणियाँ महलों को चलीं अर्थात् महलोंके ऊपर चढ़ीं ॥ ३४ ॥

---

१. 'व्यगलन्' इति पा०।

अधिरुक्ममन्दिरगवाक्षमुल्लसत्सुदृशो रराज मुरजिद्दिदृक्षया।
वदनारविन्दमुदयाद्रिकन्दराविवरोदरस्थितमिवेन्दुमण्डलम् ॥ ३५ ॥

अधीति ॥ मुरजितो हरेर्दिदृक्षया द्रष्टुमिच्छया। दृशेः सन्नन्तात् 'अ प्रत्ययात्' (३।३।१०२) इति स्त्रियामप्रत्यये टाप्। रुक्ममन्दिरस्य कनकहर्म्यस्य गवाक्षेऽधिरुक्ममन्दिरगवाक्षम्। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। उल्लसत्प्रकाशमानं सुदृशः स्त्रिया वदनारविन्दमुदयाद्रेः कन्दराया गुहाया विवरस्योदरे मध्ये स्थितमिन्दुमण्डलमिव रराजेत्युपमा। अत्रापि सुदृशो गवाक्षाक्रमणस्य रम्यदर्शनार्थचापलरूपत्वात्कुतूहलं मुरजिद्दिदृक्षयेत्यादिना व्यक्तमेव ॥ ३५ ॥

मुरारि (श्रीकृष्ण भगवान्) को देखनेकी इच्छासे स्वर्णके बने महलोंकी खिड़कियोंमें प्रकाशमान रमणीका मुखकमल उदयाचलकी गुफाके भीतर स्थित चन्द्रमण्डलके समान शोभने लगा ॥ ३५ ॥

अधिरूढया निजनिकेतमुच्चकैः पवनावधूतवसनान्तयैकया।
विहितोपशोभमुपयाति माधवे नगरं व्यरोचत पताकयेव तत् ॥ ३६ ॥

अधीति ॥ उच्चकैर्निजनिकेतं स्वसौधमधिरूढया आरूढवत्या पवनेनावधूतः कम्पितो वसनान्तो वस्त्राञ्चलो यस्यास्तया एकया कदाचिदङ्गनया हेतुना तन्नगरमिन्द्रप्रस्थं माधवे उपयात्यागच्छति। यातेर्लटः शत्रादेशः। पताकया वैजयन्त्या विहितोपशोभं कृतशोभमिवालंकृतमिवेत्युत्प्रेक्षा। व्यरोचत व्यराजत। कृत्स्नस्यापि नगरस्य स्वयं पताकेव बभाविस्युत्प्रेक्षा। तस्याः सकलपौराङ्गनातिशायि लावण्यं व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः। अत्रापि प्रासादारोहणं पूर्ववत्कुतूहलमेव ॥३६॥

ऊँचे अपने महलके ऊपर चढ़ी हुई, हवासे उड़ते हुए वस्त्राञ्चलवाली किसी रमणीसे श्रीकृष्ण भगवान्के (नगरमें) आते रहनेपर पताकाके द्वारा सुशोभित किया गया-सा वह (इन्द्रप्रस्थ) नगर शोभने लगा अर्थात् वह समस्त नगरकी पताका-जैसी शोभने लगी ॥

करयुग्मपद्ममुकुलापवर्जितैः प्रतिवेश्म लाजकुसुमैरवाकिरन्।
अवदीर्णशुक्तिपुटमुक्तमौक्तिकप्रकरैरिव प्रियरथाङ्गमङ्गनाः ॥ ३७ ॥

करेति ॥ प्रतिवेश्म वेश्मनि। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। अङ्गनाः पुरन्ध्रयः करयुग्मान्यञ्जलयस्तानि पद्ममुकुलानीवेत्युपमितसमासः। तैरपवर्जितैरावर्जितैरत एवावदीर्णैर्विभिन्नैः शुक्तिपुटैः शुक्तिकोशैर्मुक्ता उत्सृष्टा ये मौक्तिकप्रकरा मुक्तानिकरास्तैरिव स्थितैरित्युत्प्रेक्षा। लाजाः कुसुमानीव तैर्लाजकुसुमैः। आचारलाजैरित्यर्थः। प्रियं रथाङ्गं चक्रं यस्य तं प्रियरथाङ्गं चक्रिणम्। हरिमित्यर्थः। अवाकिरन् व्याक्षिपन्, मङ्गलार्थमित्यर्थः ॥ ३७ ॥

१. 'व्यराजत' इति पा०। २. '—रिवाहिरिपुकेतुम—' इति पा०।

प्रत्येक भवनमें रमणियोंने हस्तद्वयाञ्जलिरूप कमलकलिकाओंसे छोड़े गये फटी हुई शुक्तिपुटसे निकले हुए मुक्ता-समूहके समान पुष्पतुल्य खीलों (धानके लावा) को श्रीकृष्ण भगवान्पर बिखेरा ॥ ३७ ॥

हिममुक्तचन्द्ररुचिरः सपद्मको मदयन्द्विजाञ्जनितमीनकेतनः ।
अभवत्प्रसादितसुरो महोत्सवः प्रमदाजनस्य स चिराय माधवः ॥३८॥

हिमेति ॥ हिममुक्तः शिशिरापगमाद्धिमान्निर्मुक्तो यश्चन्द्रः स इव रुचिः, अन्यत्र तेन रुचिरः । पद्मेन, पद्मया च सह वर्तत इति सपद्मः स एव सपद्मकः पद्महस्तः, सश्रीकश्च । शैषिकः स्वार्थिको वा कप् प्रत्ययः । अन्यत्र सपङ्कजः । शैषिकः कप्प्रत्ययः । द्विजान्ब्राह्मणान्, अन्यत्र पक्षिगणान् कोकिलादीन् मदयन् हर्षयन् जनितमीनकेतनः प्रद्युम्नजनकः, अन्यत्र मदनोद्दीपक इत्यर्थः । प्रसादिता अनुगृहीताः सुरा देवा येन सः । अन्यत्र प्रसादिता निर्मलीकृता सुरा मदिरा यस्मिन् स माधवो हरिर्वसन्तश्च । 'माधवस्तु वसन्ते स्याद्वैशाखे गरुडध्वजे' इति विश्वः । प्रमदैव जनस्तस्य प्रमदा-जनस्य । जातवेकवचनम् । चिराय महोत्सवोऽभवत् । तद्वदानन्दकरोभूदित्यर्थः । इहानन्दकरत्वसाम्येन माधवे महोत्सवरूपणाद्रूपकसिद्धिः। श्लेषस्तु हरिवसन्तयोरिह नास्त्येव । प्रकृताप्रकृतश्लेषे विशेष्यश्लेषायोगात् । किन्तु शब्दशक्तिमूलो ध्वनिरेव ॥

(शिशिर ऋतुके बीत जानेसे) हिमसे रहित चन्द्रमाके समान मनोहर, लक्ष्मीयुक्त ब्राह्मणोंको हर्षित करते हुए, प्रद्युम्नको उत्पन्न किये हुए तथा देवोंको प्रसन्न किये हुए वे श्रीकृष्ण भगवान् रमणियोंके लिए—हिमरहित चन्द्रमाके होनेसे मनोहर, कमलयुक्त (कोकिल आदि) पक्षियोंको हर्षित करते हुए, कामको उत्पन्न (वृद्धि) करनेवाले, मदिराको निर्मल किये हुए वसन्तऋतुके समान चिरकालके लिए महोत्सव (आनन्ददायक महोत्सव-तुल्य) हुए ॥ ३८ ॥

धरणीधरेन्द्रदुहितुर्भयादसौ विषमेक्षणः स्फुटममूर्न पश्यति ।
मदनेन वीतभयमित्यधिष्ठिताः क्षणमीक्षते स्म स पुरोविलासिनीः ॥३९॥

धरणीति ॥ असौ स्वदाहको विषमेक्षणस्त्र्यक्षः धरणीधरेन्द्रदुहितुः पार्वत्याः सपत्नीशङ्किन्या इति भावः । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' (१।४।२५) इति पञ्चमी । भयात्स्फुटं सत्यं अमूः पौरयोषितः न पश्यतीति हेतोरिति विश्वासादित्यर्थः । अत एव गम्योत्प्रेक्षा । मदनेन वीतभयमधिष्ठिता आक्रान्ताः अत्यारूढमदना इत्यर्थः । पुरोविलासिनीः स हरिः क्षणमीक्षते स्म । सविस्मयमिति भावः ॥ ३९ ॥

त्रिनेत्र (शिवजी) मानो (सपत्नीकी आशङ्का करनेवाली) पार्वतीके भयसे इन रमणियोंको नहीं देखते हैं, ऐसे विश्वासके कारणसे कामदेवके द्वारा भयरहित होकर सेवित नगरकी विलासिनियोंको वे श्रीकृष्ण भगवान् क्षणमात्र देखते रहे ॥ ३९ ॥

विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये ।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥ ४० ॥

विपुलेनेति ॥ युगक्षये कल्पान्ते । सागरे शेते इति सागरशयस्य । 'अधिकरणे शेतेः' (३।२।१५) इत्यच्प्रत्ययः । 'शयवासवासिष्वकालात्' (६।३।१८) इति विकल्पादलुगभावः । यस्य हरेर्विपुलेन कुक्षिणा भुवनानि पपिरे पीतानि । पिबतेः कर्मणि लिट् । स हरिरेकतमया पुरस्त्रिया पुनः कयाचित्पौराङ्गनया मदविभ्रमेण मदविकारेणासकलया असमग्रया एकया दृशा पपे पीतः । सतृष्णं दृष्ट इत्यर्थः । कुक्षिकोणनिविष्टनिखिलविष्टपस्य हरेर्महत आधेयस्यात्यल्पतरैककान्ताकटाक्षकोणाधारत्वोक्त्या चमत्कारोधिकालङ्कारः । 'आधाराधेययोरानुरूप्याभावोऽधिको मतः' इति लक्षणात् । अयं च तात्कालिकविकारात्मा विलासाख्यो भावो तत्कटाक्षवीक्षणम् । 'तात्कालिको विशेषः स्याद्विलासोऽङ्गक्रियादिषु' (२।२८) इति दशरूपकात् ॥ ४० ॥

(अब छः (१३।४०-४५) श्लोकोंसे प्रौढ़ा सामान्य नायिकाओंकी चेष्टाओंका वर्णन करते हैं) प्रलयकालमें क्षीरसमुद्रमें सोनेवाले जिन श्रीकृष्ण भगवान्‌की विशाल कुक्षि (उदर) ने भुवनों (तीनों लोकों) का पान कर लिया था, उन श्रीकृष्ण भगवान्‌को मदविलास (कटाक्ष) से असम्पूर्ण एक दृष्टिसे किसी पौराङ्गना (नगरकी रमणी) ने पान किया अर्थात् अनिमेष दृष्टिसे देखा ॥ ४० ॥

अधिकोन्नमद्घनपयोधरं मुहुः प्रचलत्कलापिकलशङ्खकस्वना ।
अभिकृष्णमङ्गुलिमुखेन काचन द्रुतमेककर्णविवरं व्यघट्टयत् ॥ ४१ ॥

अधिकेति ॥ काचन काचित् कान्ता अभिकृष्णं कृष्णाभिमुखम् । आभिमुख्येऽव्ययीभावः । अधिकं भुजोन्नमनाद्भृशमुन्नमन् घनः कठिनः पयोधरः स्तनो यस्याः सा मुहुः प्रचलतो नृत्यतः कलापिनो बर्हिण इव कलो मधुरः शङ्खकस्वनो वलयध्वनिर्यस्याः सा सती । 'शङ्खकं वलये कम्बौ' इति विश्वः । अङ्गुलिमुखेनाङ्गुल्यग्रेणैकस्य कर्णस्य विवरं रन्ध्रं द्रुतं शीघ्रं व्यघट्टयत् । कण्डूविनोदार्थमिवाताडयत् । वस्तुतस्तु भावाविष्करणार्थमेवेति भावः । अयं च पूर्ववद्विलास एव । कलापिकलेत्युपमा ॥

श्रीकृष्ण भगवान्‌के सम्मुख सटे हुए स्तनोंको अधिक ऊपर उठाकर तथा नाचते हुए मोरके समान (हिलनेसे) मधुर ध्वनि करते हुए कङ्कणोंवाली कोई रमणी अङ्गुलिके अग्रभागसे शीघ्रतापूर्वक एक कानके छिद्रको विघट्टित करने (खुजलाने) लगी अर्थात् कान खुजलानेके कपटसे हाथको ऊपर उठाकर कठिन स्तनोंको दिखलाती हुई अपना अभिप्राय प्रकट करने लगी ॥ ४१ ॥

---

१. 'पुरः' इति पा० । २. '-कलापि-' इति पा० ।

परिपाटलाब्जदलचारुणासकृच्चलिताङ्गुलीकिसलयेन पाणिना ।
सशिरःप्रकम्पमपरा रिपुं मधोरनुदीर्णवर्णनिभृतार्थमाह्वयत् ॥ ४२ ॥

परीति ॥ अपरा स्त्री परिपाटलाब्जदलचारुणा रक्ताब्जपत्ररुचिरेण असकृन्मुहुश्चलितान्यङ्गुलयः किसलयानीवाङ्गुलीकिसलयानि यस्य तेन पाणिना सशिरःप्रकम्पं शिरःकम्पयुक्तं यथा तथा मधो रिपुं हरिमनुदीर्णवर्णमनुच्चारिताक्षरम् अत एव निभृतार्थं परेषामप्रकाशितार्थं च यत्तदनुदीर्णवर्णनिभृतार्थं यथा तथा आह्वयत् । परप्रकाशनभयादव्याहरन्ती चेष्टयैवाह्वानं कृतवतीत्यर्थः । अत्रापि पूर्ववद्विलासोपमे भावालङ्कारौ ॥ ४२ ॥

दूसरी कोई रमणी रक्तकमलकी पंखुड़ियोंके समान सुन्दर तथा बार-बार चलती हुई किसलय (नवपल्लव) के समान अङ्गुलियोंवाले हाथसे शिरको कँपाती हुई वर्णोच्चारण नहीं करनेसे चुपचाप (दूसरोंसे अप्रकाशितकर) श्रीकृष्ण भगवान्‌को बुला रही थी ॥ ४२ ॥

नलिनान्तिकोपहितपल्लवश्रिया व्यवधाय चारु मुखमेकपाणिना ।
स्फुरदङ्गुलीविवरनिःसृतोल्लसद्दशनप्रभाङ्कुरमजृम्भतापरा ॥ ४३ ॥

नलिनेति ॥ अपरा स्त्री नलिनान्तिके उपहितस्य पल्लवस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य तेन । मुखसन्निधानादिति भावः । एकपाणिना चारु निसर्गसुन्दरं मुखं व्यवधाय तिरोधाय स्फुरदङ्गुलीविवरनिःसृता उज्ज्वलाङ्गुल्यन्तरालनिर्गता अत एवोल्लसन्त उत्सर्पन्तो दशनप्रभा एवाङ्कुरा यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा अजृम्भत । जृम्भमाणस्य विवरणं तच्चेष्टवस्तुसाक्षात्कारकृतजाड्यानुभावः । अत्र नलिनपल्लवयोरसम्बन्धयोः सम्भावनया सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः ॥ ४३ ॥

दूसरी कोई रमणी कमलके समीपस्थ पल्लवके समान शोभनेवाले हाथसे सुन्दरतापूर्वक मुखको व्यवहितकर अर्थात् उक्तरूप हाथको मुखपर रखकर स्फुरित होती हुई अङ्गुलियोंके छिद्रोंसे निकलनेके कारण दांतोंकी कान्तिको फैलाती हुई जम्हाई लेने लगी ॥ ४३ ॥

वलयार्पितासितमहोपलप्रभाबहुलीकृतप्रतनुरोमराजिना ।
हरिवीक्षणाक्षणिकचक्षुषान्यया करपल्लवेन गलदम्बरं दधे ॥ ४४ ॥

वलयेति ॥ हरिवीक्षणेऽक्षणिकचक्षुषा स्थिरदृष्ट्या । विस्मयादराभ्यां स्तिमितनेत्रयेत्यर्थः । अन्यया स्त्रिया गलत्सुखपारवश्यात्स्रंसमानमम्बरं वलयेष्वर्पिताः खचिता ये असितमहोपला नीलमहामणयः । 'उपलौ मणिपाषाणौ' इति विश्वः । तेषां प्रभाभिर्बहुलीकृता सान्द्रीकृता प्रतनुः सूक्ष्मा रोमराजिर्यस्य तेन करपल्लवेन दधे धृतम् । अयं च तात्कालिकविहारलक्षणविलासः । अत्रेन्द्रनीलप्रभाणां रोमा-

१. '–लोर्ध्वतल–' इति पा० । २. 'स्फुरिता–' इति पा० । ३. '–बहुली–' इति पा० ।

बलीवहुलीकरणोक्त्या प्रभास्वपि रोमराजित्वप्रतीतेर्भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते इति वस्तुनालङ्कारध्वनिः ॥ ४४ ॥

(विस्मय तथा आश्चर्यपूर्वक) श्रीकृष्ण भगवान् को देखनेमें स्थिर दृष्टिवाली किसी दूसरी रमणीने (सुखकी परवशतासे सरककर) नीचेकी ओर गिरते हुए कपड़ेको कङ्कणमें जड़े गये इन्द्रनीलमणि (नीलम) के बड़े टुकड़ेकी प्रभासे सघन की गयी सूक्ष्म रोमपङ्क्तिवाले हाथसे पकड़ लिया ॥ ४४ ॥

निजसौरभभ्रमितभृङ्गपक्षतिव्यजनानिलक्षयितघर्मवारिणा ।
अभिशौरि काचिदनिमेषदृष्टिना पुरदेवतेव वपुषा व्यभाव्यत ॥ ४५ ॥

निजेति ॥ काचित्स्त्री निजेनात्मीयेन सौरभेण सौगन्ध्येन भ्रमितानां भ्रमणंकारितानां भृङ्गाणां पक्षतयः पक्षमूलानि । 'स्त्री पक्षतिः पक्षमूलम्' इत्यमरः । 'पक्षात्तिः' (५.२.२५) इति तिप्रत्ययः । ता एव व्यजनानि इति रूपकं स्वेदहरणलिङ्गात् । तासामनिलेन क्षयितं नाशितं घर्मवारि स्वेदोदकं यस्य तेन अभिशौरि शौरेरभिमुखम् । अभिमुखेऽव्ययीभावः । अनिमेषा दृष्टिर्यस्य तेन वपुषा निमित्तेन पुरदेवतेव इन्द्रप्रस्थाधिदेवतेव व्यभाव्यत विभाविता । तर्कितेति यावत् । अनिमेषत्वं चेष्टदर्शनजन्यजाड्यसञ्चार्यनुभावः ।'अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः । अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र ॥' इति लक्षणात् । इहाङ्गसौरभानिमेषत्वाभ्यां पुराधिवासाच्च पुराधिदेवतात्वमुत्प्रेक्ष्यते इत्युपात्तगुणनिमित्ता जातिस्वरूपोत्प्रेक्षा । तया चास्या जात्याः पद्मिनीत्वं व्यज्यते इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः । निजसौरभेत्यनेन 'कमलमुकुलमृद्वी फुल्लराजीवगन्धिः सुरतपयसि यस्याः सौरभं दिव्यमङ्गम्' इत्यादिपद्मिनीलक्षणोपलक्षणादिति । विपुलेनेत्यादिश्लोकोक्ताः षडपि नायिकाः प्रौढाः साधारणाश्च तत्र त्रासासम्भवात् । अन्यथासां कृतचेष्टावर्णनानौचित्याच्चेत्यलमतिप्रपञ्चेन ॥

दूसरी कोई रमणी, अपने सौरभ (सुवास) से भ्रमरोंके चञ्चल किये (हिलाये) गये पक्षमूलकरूप पङ्खेकी हवासे सुखाये गये पसीनेवाली तथा श्रीकृष्ण भगवान्के सामने (उनको देखनेके लिए) निमेषरहित नेत्रोंवाली देहसे नगरकी देवता-जैसी शोभ रही थी ॥ ४५ ॥

अभियाति नः सतृष एष चक्षुषो हरिरित्यखिद्यत नितम्बिनीजनः ।
न विवेद यः सततमेनमीक्षते न वितृष्णतां व्रजति खल्वसावपि ॥ ४६ ॥

अभियातीति ॥ असौ नितम्बिनीजनः स्त्रीजनो नोऽस्माकं चक्षुषः सतृष एव सतृष्णस्यैव सतश्चक्षुषि सतृष्णे सत्येव । अनादृत्येत्यर्थः 'षष्ठी चानादरे' (२।३।३८) इति षष्ठी । एष हरिरभियात्यभिगच्छतीत्यखिद्यत खेदं गतः । खिदेर्दैवादिकात्कर्तरि लुङ् । अत्रोत्प्रेक्ष्यते—नेति । यो जन एनं हरिं सततमीक्षते असावपि खलु

-१. 'क्षपित-' इति पा० । २. 'अतियाति' इति पा० ।

वितृष्णतां न व्रजति न समुपैतीति न विवेद । नित्यदर्शनेऽप्यपूर्ववदेव भवतीति नावुध्यतेत्यर्थः वेद चेन्नाखिद्येतेति भावः। अत्राखिद्यतेति स्त्रीणां प्रारब्धहरिवीक्षणसुखविच्छेदकृतविषादाख्यसञ्चारिभावनिबन्धनात्प्रेयोलङ्कारः । तदुत्थापिता चेयमुक्तावेदनोत्प्रेक्षेति सङ्करः । 'प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषादः सत्त्वसंक्षयः' इति दशरूपके (४।३१) सत्त्वसंक्षयश्चित्तभङ्गः ॥ ४६ ॥

'ये श्रीकृष्ण भगवान् हमलोगोंके नेत्रोंके सतृष्ण (देखनेके लिए अपूर्णाभिलाष) रहनेपर ही जा रहे हैं' ऐसा सोचकर रमणियाँ खिन्न हुईं, किन्तु वे यह नहीं जानती थीं कि 'इन्हें (श्रीकृष्ण भगवान्को) जो निरन्तर देखता रहता है, वह भी तृष्णारहित नहीं होता', (अन्यथा यदि वे यह बात जानतीं तो खिन्न नहीं होतीं । इसीसे कहा भी है कि 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः' अर्थात् जो प्रतिक्षण नवीन ज्ञात हो, वही रमणीय है) ॥ ४६ ॥

अकृतस्वसद्मगमनादरः क्षणं लिपिकर्मनिर्मित इव व्यतिष्ठत ।
गतमच्युतेन सह शून्यतां गतः प्रतिपालयन्मन इवाङ्गनाजनः ॥ ४७ ॥

अकृतेति ॥ अङ्गनाजनः अच्युतेन सह गतं मनः प्रतिपालयन् प्रतीक्षमाण इवेत्युत्प्रेक्षा । शून्यतां निरोजस्कतां गतः । अकृतस्वसद्मगमनादरः निवृत्तनिजगृहप्राप्त्यपेक्षश्च सन् लिपिकर्मनिर्मितः चित्रलिखित इत्युत्प्रेक्षा । क्षणं व्यतिष्ठत विस्पन्दमास्तेत्यर्थः । 'समवप्रविभ्यः स्थः' (१।३।२२) इत्यात्मनेपदम् । अतः शून्यतानुभावाच्चिन्तावगम्यते । 'ध्यानचिन्ते हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत्' इति दशरूपके (४।१६) । अत्रोत्प्रेक्षयोः सापेक्षत्वात्सङ्करः ॥ ४७ ॥

श्रीकृष्ण भगवान्के साथ गये हुए मनके लौटनेकी प्रतीक्षा करती हुई–सी (अतएव श्रीकृष्ण भगवान्के चले जाने पर भी) अपने घर जानेमें आदररहित अर्थात् घर लौटना नहीं चाहती हुई वे रमणियां थोड़े समयतक चित्रलिखित–सी (ज्योंकी त्यों) स्थित रहीं ॥

अलसैर्मदेन सुदृशः शरीरकैः स्वगृहान्प्रति प्रतिययुः शनैः शनैः ।
अलघुप्रसारितविलोचनाञ्जलिद्रुतपीतमाधवरसौघनिर्भरैः ॥ ४८ ॥

अलसैरिति ॥ अलघु अधिकं प्रसारितैर्विलोचनैरेवाञ्जलिभिः द्रुतं सत्वरम् । 'लघु क्षिप्रमरं द्रुतम्' इत्यमरः । पीतो यो माधवो हरिरेव रसोऽमृतम् । अन्यत्र मधु मद्यं तत्सम्बन्धि रसो माधुर्यं माधवरसः । 'रसो रागे विषे वीर्ये तिक्तादौ पारदे द्रवे । रेतस्यास्वादने हेम्नि निर्यासेऽमृतशब्दयोः ॥' इति वैजयन्ती । तस्यौघः समूहस्तेन निर्भरैर्दुर्भरैः । गुरुभिरिति यावत् । अत एव मदेनालसैर्मन्थरैः शरीरकाणि । अल्पशरीराणीत्यर्थः । 'अल्पे' (५।३।८५) इति परिमाणे कन्प्रत्ययः । तैरुपलक्षिताः सुदृशः शनैःशनैः स्वगृहान्प्रति प्रतिययुः प्रतिनिर्गताः । स्वयं लघून्यपि द्रव्याणि रसद्रवभरणाद् गुरूभवन्तीति भावः । अत्र माधवरसौघनिर्भरत्वविशेषण-

गत्या शनैःशनैः प्रतियानहेतुत्वात्कार्यहेतुकं काव्यलिङ्गं तच्च माधवरसेनेति श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितमिति सङ्करः ॥ ४८ ॥

(श्रीकृष्ण भगवान्‌को अच्छी तरह देखनेके लिए) अत्यधिक फैलाये गये नेत्ररूपी अञ्जलिसे शीघ्रतापूर्वक पीये गये अधिक मद्यरस (पक्षा०—श्रीकृष्ण भगवान्‌के रूपाधिक्य) से बोझिल एवं मदसे आलसी शरीरोंसे युक्त रमणियाँ अपने घरको धीरे-धीरे लौटीं ॥ ४८ ॥

नवगन्धवारिविरजीकृताः पुरो घनधूपधूमकृतरेणुविभ्रमाः ।
प्रचुरोद्धतध्वजविलम्बिवाससः पुरवीथयोऽथ हरिणातिपेतिरे ॥ ४६ ॥

नवेति ॥ अथ पुरप्रवेशानन्तरं हरिणा पुरः पूर्वं नवगन्धवारिभिः नूतनगन्धवासितोदकैर्विरजीकृता अविरजसो विरजसः सम्पद्यमानाः कृताः । 'अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च' (५।४।५१) इत्यभूततद्भावे च्विप्रत्यये सकारलोपः । 'अस्य च्वौ' (७।४।३२) इतीकारः । घनैः सान्द्रैः धूपानामगुरुधूपानां धूमैः कृतो रेणुविभ्रमो रजोभ्रमो याभिस्ताः प्रचुरं बहुलमुद्धतेषूच्छ्रितेषु ध्वजेषु ध्वजस्तम्भेषु विलम्बीनि विलम्बमानानि वासांसि पताका यासु ताः पुरवीथयोऽतिपेतिरेऽतिपातिताः । अतिक्रान्ता इत्यर्थः । पतेः कर्मणि लिट् । एत्वाभ्यासलोपौ । अत्र सादृश्याद् भूरेणुभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारः । रेणुविभ्रमशब्देन रजोविलासस्यापि प्रतीतेरतस्य विरजीकरणेन विरोधाद्विरोधाभासश्चेत्यनयोरेकवाचकानुप्रवेशलक्षणः सङ्करः ॥ ४९ ॥

इसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान्‌ने पहले ताजे (केवड़ा, गुलाब, खश, चन्दन, आदिके) सुगन्ध युक्त पानी (के छिड़काव) से धूलिरहित की गयी, (तदनन्तर) अत्यधिक (अगर आदिके) धूपके धूएँ से धूलिके भ्रमको उत्पन्न करती हुई और अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे ध्वजाओं पर उड़ते हुए कपड़ों वाली नगरकी गलियों (बाजारके मार्गों) को पार किया ॥ ४९ ॥

उपनाय बिन्दुसरसो मयेन या मणिदारु चारु किल वार्षपर्वणम् ॥
विदधेऽवधूतसुरसद्मसम्पदं समुपासदत्सपदि संसदं स ताम् ॥ ५० ॥

उपनीयेति ॥ मयेनासुरशिल्पिना वृषपर्वा नाम कश्चिदसुरेश्वरः वृषपर्वण इदं वार्षपर्वणम् । 'तस्येदम्' (४।३।१२०) इत्यण् । चारु मनोहरं मणिरेव दारु काष्ठम् । मणिमयं स्तम्भादिकलापमित्यर्थः । तद्बिन्दुसरसो हैमवतात्सरोविशेषादुपनीय समीपमानीय । किलेत्यैतिह्ये । या संसद्विदधे निर्मिता । अवधूताधरीकृता सुरसद्मसम्पदिन्द्रभवनलक्ष्मीर्यया सा तां संसदं सभाम् 'सभासमितिसंसदः । आस्थानी क्लीबमास्थानं स्त्रीनपुंसकयोः सदः' इत्यमरः । स हरिः सपदि समुपासदत्प्रापत् । सदेर्लुङि 'पुषादि-' (३।१।५५) इति च्लेरङादेशः । पुरा किल खाण्डवदाहे पाण्डवेनाग्निदाहान्मोचितेन मयेन प्रत्युपकारार्थं पूर्वमात्मनैव बिन्दुसरसि गुप्तेन वृषपर्वगृहनिर्माणावशिष्टेन मणिशिलाकलापेन काञ्चनसभा धर्मराजाय निर्मितेति

भारते । सभावर्णनाङ्गत्वेनार्जुनमयचरितवर्णनादुदात्तालङ्कारः । 'प्रभूतमहापुरुषचिन्तनं चे'ति सूत्रम् ॥ ५० ॥

'मय' नामक असुरने वृषपर्वाके सुन्दर मणिमय काष्ठको (हिमाचलके) 'बिन्दुसरोवर'से लाकर जिस (सभा) को रचा था, इन्द्रपुरीकी शोभाको तिरस्कृत करनेवाली (युधिष्ठिरकी) उस सभाको श्रीकृष्ण भगवान्ने शीघ्र प्राप्त किया अर्थात् वे सभा-स्थलमें पहुँचे ॥ ५० ॥

अथ दशभिः सभां वर्णयति—

अधिरात्रि यत्र निपतन्नभोलिहा[1] कलधौतधौतशिलवेश्मनां रुचौ ।
पुनरप्यवापदिव दुग्धवारिधि[2]क्षणगर्भवासमनिदाघदीधितिः ॥ ५१ ॥

अधीत्यादि ॥ अधिरात्रि रात्रिषु । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । यत्र सभायां नभोलिहामभ्रंलिहाम् । क्विप् । कलधौतं रौप्यम् । 'कलधौतं रूप्यहेम्नोः' इत्यमरः । तद्वद्धौता धवलाः शिला येषां तानि वेश्मानि स्फटिकभवनानीत्यर्थः । तेषां रुचौ प्रभायां निपतन् प्रविशन् । अनिदाघदीधितिरनुष्णरश्मिर्हिमांशुः । पुनरपि दुग्धवारिधौ क्षीराब्धौ क्षणं गर्भवासम् । न तु मथनात्प्रागिव चिरगर्भवासमिति भावः । अवापत्प्रापदिवेत्युत्प्रेक्षा । तया वेश्मनां चन्द्रमण्डलातिक्रमो व्यज्यते ॥ ५१ ॥

(अब दश (१३।५१-६०) श्लोकोंसे सभाका वर्णन करते हैं) जहाँ पर रात्रिमें आकाशस्पर्शी तथा चांदीके समान उज्ज्वल चट्टानोंसे बने हुए महलोंकी प्रभामें प्रवेश करता हुआ चन्द्रमा पुनः क्षणमात्र क्षीरसमुद्रके भीतर स्थित हुआ-सा प्रतीत होता है ॥ ५१ ॥

[3]लयनेषु लोहितकनिर्मिता भुवः शितिरत्नरश्मिहरितीकृतान्तराः ।
जमदग्निसूनुपितृतर्पणीर[4]पो वहति स्म या विरलशैवला इव ॥ ५२ ॥

लयनेष्विति ॥ लीयते एष्विति लयनानि तेषु लयनेषु गृहेषु शितिरत्नानां नीलमणीनां रश्मिभिः हरितीकृतानि हरितवर्णीकृतान्यन्तराणि मध्यानि यासां ताः लोहितमणयो लोहितकाः पद्मरागाः । 'लोहितान्मणौ' (५।४।३०) इति कन्प्रत्ययः । तैर्निर्मिता या भुवो भूमीर्विरलाः शैवला यासु ताः जमदग्निसूनोः परशुरामस्य पितॄणां तर्पणीस्तृप्तिकरीरप इवेत्युपमा । या सभा वहति स्म । जामदग्न्यः क्षत्रियास्रैः पञ्चशो ह्रदानुत्पाद्य ताभिरद्भिः पितॄनतर्पयत्, ताश्च रुधिरप्रकृतिकत्वाद्रक्तवर्णा एवेति पुराणम् ॥ ५२ ॥

भवनोंमें इन्द्रनील मणि (नीलम) की किरणोंसे हरित वर्ण किये गये मध्य भागवाली पद्मराग मणिकी बनी हुई भूमिको धारण करती हुई यह सभा ऐसी प्रतीत हो रही थी कि मानों वह कहीं-कहीं शेवालयुक्त परशुरामजीके पितृतर्पण करनेवाले जलको धारण करती हो ॥

---

१. '—लिहः···धौतशिल···रुचः' इति पा० ।   २. 'वारिधेः क्षण—' इति पा० ।
३. 'निलयेषु' इति पा० ।   ४. '—रपस्ततुते' इति पा० ।

विशदाश्मकूटघटिताः क्षपाकृतः क्षणदासु यत्र च रुचैकतां गताः ।
गृहपङ्क्तयश्चिरमतीयिरे जनैस्तमसीव हस्तपरिमर्शसूचिताः ॥ ५३ ॥

विशदेति ॥ किञ्चेति चार्थः । यत्र सभायां विशदाश्मकूटघटिताः स्फटिकशिलासङ्घातनिर्मिता अत एव क्षणदासु निशासु क्षपाकृतो निशाकरस्य रुचा चन्द्रिकयैकतां सावर्ण्यादभेदं गताः अत एव तमसीव हस्तपरिमर्शसूचिताः । पाणिस्पर्शैकगम्या इत्यर्थः । गृहपङ्क्तयो जनैश्चिरमतीयिरेऽतिक्रान्ताः । पुरोगतान्यपि स्फटिकभवनानि चन्द्रिकाभ्रमादतीत्य गत्वा पश्चात्करपरामर्शैः कथंचित्प्राप्यन्त इत्यर्थः । अत्र प्रकृतानां स्फटिकवेश्मनां गुणसाम्यादप्रस्तुतचन्द्रिकैक्योक्त्या सामान्यालङ्कारः । 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् ॥ ५३ ॥

जिस सभामें स्फटिक मणिकी चट्टानोंसे बनायी गयी, अतएव रात्रियों (प्रत्येक रात्रि) में चन्द्रमाकी कान्ति (चाँदनी) से एकीभावको प्राप्त हुई भवनश्रेणियोंको लोगोंने अन्धकारमें जैसा हाथके स्पर्शसे मालूमकर अतिक्रमण किया अर्थात् चाँदनीके साथ एकता होनेसे यह चाँदनी है या भवन है ? इसे हाथसे स्पर्शकर उस प्रकार अतिक्रमण किया, जिस प्रकार अन्धकारमें करते हैं ॥ ५३ ॥

निलयेषु नक्तमसिताश्मनां चयैर्बिसिनीवधूपरिभवस्फुटागसः ।
मुहुरत्रसद्भिरपि यत्र गौरवाच्छशलाञ्छनांशव उपांशु जघ्निरे ॥ ५४ ॥

निलयेष्विति ॥ यत्र सभायां निलयेषु नक्तं रात्रौ बिसिन्यो दीर्घिकाः पद्मिन्यस्ता एव वध्वस्तासां परिभवेन निमीलनेन दूषणेन च स्फुटागसः स्पष्टापराधाः शशलाञ्छनांशवश्चन्द्रपादाः । अत्रसद्भिरत्रस्यद्भिरपि निर्दोषैरपि इति चार्थः । 'त्रासो भीर्मणिदोषयोः' इति विश्वः । 'वा भ्राश–' (३।१।७०) इत्यादिना श्यनभावपक्षे शतृप्रत्ययः । असिताश्मनामिन्द्रनीलमणीनां चयैः समूहैः गौरवात्स्वयं प्रभूतत्वात्, सम्भावितत्वाच्च उपांशु अंशुसमीपे, रहश्च । 'रहश्चोपांशु चालिङ्गे' इत्यमरः । मुहुर्जघ्निरे तिरोहिताः, मारिताश्च । हन्तेः कर्मणि लिट् । समीपगताश्चन्द्रांशवः प्रभूतैरिन्द्रनीलांशुभिस्तिरस्कृता इत्यर्थः । अन्यत्रान्तःपुरद्रोहिणो 'निर्भीकैरपि सम्भावितैर्दुष्कीर्तिभयाद् गूढं हन्यन्त इति भावः । अत्र बिसिनीनां वधूत्वरूपणात्तत्परिभाविनां चन्द्रांशूनां धूर्तकामुकत्वरूपणप्रतीतेरेकदेशविवर्तिरूपकं तच्च गौरवादुपांशु जघ्निरे इति श्लेषेणात्रसद्भिरपीति विरोधेन च सङ्कीर्यते ॥ ५४ ॥

जिस सभामें रात्रिमें कमलिनीरूपिणी रमणियोंके (निमीलनरूप) तिरस्कारसे स्पष्ट अपराधवाले चन्द्रांशुओं (चन्द्र–किरणों) को निर्भय अर्थात् दोषरहित भी इन्द्रनील मणियोंके समूह गौरव (स्वयं अधिक होने) से किरण समूहके पास (पक्षा०–एकान्तमें) छिपा (तिरस्कृत कर) लेते थे (पक्षा०–मारते थे) ।

विमर्श—उस पाण्डव–सभामें नीलम मणिकी प्रचुरता थी, अतएव उनके प्रभा-समूहसे

चन्द्रमाकी किरणें छिप (फीकी पड़) जाती थीं। जिस प्रकार अन्तःपुरमें रहनेवाले स्वयं निर्दोष रहनेपर भी रमणियोंके प्रति अपराध करनेवाले जार आदि को एकान्तमें मारते या छिपा लेते हैं, उसी प्रकार कमलिनियोंको रात्रिमें बन्द करनेसे उनके अपराधी चन्द्र-किरण-समूहको स्वयं अधिक होनेसे निर्भीक इन्द्रनीलमणि (नीलम) कान्ति-समूह छिपा लेते अर्थात् दबा देते या मारते थे ॥ ५४ ॥

सुखिनः पुरोऽभिमुखतामुपागतैः प्रतिमासु यत्र गृहरत्नभित्तिषु ।
नवसङ्गमैरबिभरुः प्रियाजनैः प्रमदं त्रपाभरपराङ्मुखैरपि ॥ ५५ ॥

सुखिन इति ॥ यत्र सभायां नवः सङ्गमो येषां तैर्नवसङ्गमैरत एव त्रपाभरेण पराङ्मुखैर्विमुखैरपि गृहाणां रत्नभित्तिषु प्रतिमासु तत्संक्रान्तप्रतिबिम्बेषु पुरोऽग्रेऽभिमुखतामुपागतैः प्रियाजनैः कान्ताजनैः सुखिनो भोगिनः प्रमदं हर्षमबिभरुः बिभ्रति स्म । 'भृञो लङि श्लौ' (६।१।१०) इति द्विर्भावे 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' (३।४।१०९) इति झेर्जुसादेशः । स्त्रीणां वैमुख्येऽपि तत्प्रतिबिम्बाभिमुख्यात्पुंसां सुखमेव, स्त्रीणां तु उभयत्रापि क्लिष्टमित्यर्थः । अत्र वैमुख्येऽप्याभिमुख्यमिति विरोधस्य प्रतिमास्विति निरासाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ५५ ॥

जिस सभामें नवीन समागमवाला (नवविवाहिता) अधिक लज्जा होनेसे विमुख हुई (पतिके सामने न होकर पीठ फेरी हुई) रमणियाँ भवनोंके रत्नोंकी दिवारोंमें प्रतिबिम्बित होकर कामिजनोंके सामने ही स्थित होकर प्रियतमोंको हर्षित करती थीं। (स्वयं प्रियतमकी ओर पीठ करने पर भी सामनेवाली रत्नरचित दीवारोंमें प्रतिबिम्बित होनेसे सामने पड़ते हुए प्रतिबिम्बमें उनके रूपको देखकर वे प्रियतम हर्षित हो जाते थे ॥ ५५ ॥

तृणवाञ्छया मुहुरवाञ्चिताननान्निचयेषु यत्र हरिताश्मवेश्मनाम् ।
रसनाग्रलग्नकिरणाङ्कुराञ्जनो हरिणान्गृहीतकवलानिवैक्षत ॥ ५६ ॥

तृणेति ॥ यत्र सभायां हरिताश्मनां मरकतमणीनां गृहाणाम् । 'गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः' इत्यमरः । निचयेषु सङ्घेषु तृणवाञ्छया तृणाशया मुहुरवाञ्चिताननान्नमितमुखान् अत एव रसनाग्रेषु लग्नाः किरणा अङ्कुरा इव येषां ते तान् । अत एव गृहीतकवलानुपात्ततृणग्रासानिव स्थितान् हरिणान् जन ऐक्षत ईक्षितवान् । ईक्षतेर्लङि 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) इत्याट् 'आटश्च' (६।१।९०) इति वृद्धिः । अत्र तृणवाञ्छयेति हरिणानां मरकतेषु तृणभ्रान्तेर्भ्रान्तिमदलङ्कारः । तन्मूला चेयं गृहीतकवलत्वोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ५६ ॥

जिस सभामें मरकत (पन्ना) मणियोंसे बने हुए भवनोंके समूहोंमें उन (मरकतमणि) की किरणोंको दूर्वा समझकर) उसको खाने की इच्छासे बार-बार मुखको नीचे किये हुए (अतएव) जिह्वाग्र भागमें संलग्न होती हुई (दूर्वाके) अङ्कुरके समान तृणोंवाले हरिणोंको लोग (दूर्वाके) ग्रासको लिये हुए से देखते हैं ॥ ५६ ॥

विपुलालवालभृतवारिदर्पणप्रतिमागतैरभिविरेजुरात्मभिः ।
यदुपान्तिकेषु दधतो महीरुहः सपलाशराशिमिव मूलसंहतिम् ॥ ५७ ॥

विपुलेति ॥ यदुपान्तिकेषु यस्याः सभाया उपान्तिकेषु समीपेषु महीरुहो वृक्षाः । विपुलेष्वालवालेषु मूलजलाधारेषु । 'स्यादालवालमावालम्' इत्यमरः । भृतानि सम्भृतानि वारीण्येव दर्पणास्तेषु प्रतिमागतैः प्रतिबिम्बतां गतैः । प्रतिबिम्बितैरित्यर्थः । आत्मभिः । स्वस्वमूर्तिभिरित्यर्थः । सपलाशराशिं सपत्रसन्ततिं मूलसंहतिं दधत इव दधाना इवाभिविरेजुः । स्वालवालेषु स्वप्रतिबिम्बितैरधोमुखैः मूलेष्वपि सपत्रा इव रेजुरित्युत्प्रेक्षा ॥ ५७ ॥

जिस सभाके निकट वृक्ष, बड़े-बड़े थालाओंमें भरे हुए पानीरूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित अपनी आकृतियोंसे पत्र-समूह सहित मूल-राशि (जड़ों) को धारण करते हुए से शोभते थे ॥

उरगेन्द्रमूर्धरुहरत्नसन्निधेर्मुहुरुन्नतस्य रसितैः पयोमुचः ।
अभवन्यदङ्गणभुवः समुच्छ्वसन्नववालवायजमणिस्थलाङ्कुराः ॥ ५८ ॥

उरगेन्द्रेति ॥ उरगेन्द्राणां मूर्धसु रुहाणि रूढानि । इगुपधलक्षणः कः । तेषां रत्नानां सन्निधेः सन्निधानान्मुहुरुन्नतस्य । यदा यदा तत्सन्निधिस्तदा तदोदितस्येत्यर्थः । पयोमुचो मेघस्य रसितैः स्तनितैर्यदङ्गणभुवो यस्याः सभायाः प्राङ्गणप्रदेशाः समुच्छ्वसन्तः प्रादुर्भवन्तो नवाः प्रत्यग्रा वालवायजमणिस्थलाङ्कुरा वैदूर्यभूप्ररोहा यासु तास्तथोक्ता अभवन् । 'वैदूर्यं वालवायजम्' इत्यमरः । वालवायो नाम वैदूर्यप्रभवो देशविशेषः । उरगेन्द्रमूर्धन्यरत्नाङ्कुरैः सहोदितमेघध्वनेर्विदूरभूमिरुद्भिन्नाङ्कुरा भवतीति प्रसिद्धः । तदुक्तम्–'उरगमूर्धन्यरत्नसंनिधानादकालेऽपि मेघा गर्जन्तीति वार्ता' । केचित्तु यत्रैवोरगरत्नं मेघरसितं च तत्रैव वैदूर्यभूमिः । अत्र समृद्धिमद्वस्तुवर्णनादुदात्तालङ्कारभेदः । 'तदुदात्तं भवेद्यत्र समृद्धं वस्तु वर्ण्यते' इति लक्षणात् ॥

सर्पराजोंके मस्तकमें उत्पन्न होनेवाले रत्नों (नागमणियों) के सामीप्य होनेसे बार-बार ऊपर उठकर मेघोंके गरजनेसे जिस सभाके आँगनकी भूमि नये वैदूर्य मणिके उत्पन्न होने वाले अङ्कुरोंसे युक्त हो जाती है ।

विमर्श—'जहाँ नागमणि रहती है, वहाँ पर उनकी किरणों के सामीप्यसे बार-बार मेघ गरजते हैं, एवं वहीं पर वैदूर्य मणि की उत्पत्ति होती है' ऐसी किंवदन्ती है । प्रकृतमें-उस सभाके आँगनकी भूमि नागमणियोंसे बनी हुई थी और उनकी किरणोंके सामीप्यसे मेघोंके गरजने पर उस भूमिमें वैदूर्य मणिके अङ्कुर उत्पन्न होते थे ॥ ५८ ॥

नलिनी निगूढसलिला च यत्र सा स्थलमित्यधः पतति या सुयोधने ।
अनिलात्मजप्रहसनाकुलाखिलक्षितिपक्षयागमनिमित्ततां ययौ ॥ ५९ ॥

१. 'लेऽखिल–' इति पा० ।

नलिनीति ॥ यत्र सभायां निगूढसलिला दलच्छन्नत्वाददृश्यसलिला नलिनी। वर्तत इति शेषः। या नलिनी सुष्ठु युध्यत इति सुयोधने दुर्योधने। 'भाषायां शासियुधिदृशिधृषिभ्यो युच वक्तव्यः' (वा०)। स्थलमिति भ्रान्त्या अधः पतति सति अनिलात्मजस्य भीमसेनस्य प्रहसनेनाकुलानां क्षुभितानामखिलक्षितिपानां क्षयागमे नाशप्राप्तौ निमित्ततां ययौ। नलिनीदलच्छन्नत्वात्सुयोधनस्य जले स्थलभ्रान्तिः तया तस्य पातस्तेन भीमसेनप्रहासस्तेन राज्ञां क्षोभस्ततस्तेषां मारणो रणः प्रवृत्त इति परम्परया तत्क्षयकारणत्वं गतेत्यर्थः। अत्र सभावर्णनाङ्गतया भीमसेनादिचरितवर्णनादुदात्तालङ्कारभेदः। लक्षणं चोक्तम् ॥ ५९ ॥

जिस सभामें पानीको छिपायी हुई (अपने पत्तोंसे आच्छादित करनेके कारण नहीं दिखलायी पड़ते हुए पानीवाली) नलिनी थी, वह (नलिनी), 'यह स्थल (सूखी भूमि) है' ऐसा समझकर सुयोधन (धृतराष्ट्रके बड़े पुत्र राजा दुर्योधन) के गिर जानेपर वायुपुत्र (भीमसेन) के अट्टहास (ठहाका मारकर हँसने) से क्षुब्ध हुए सम्पूर्ण राजाओंके नाशका कारण बन गयी ॥ ५९ ॥

हसितुं परेण परितः परिस्फुरत्करवालकोमलरुचावुपेक्षितैः।
उदकर्षि यत्र जलशङ्कया जनैर्मुहुरिन्द्रनीलभुवि दूरमम्बरम् ॥ ६० ॥

हसितुमिति ॥ यत्र सभायां परितः परिस्फुरन्ती करवालकोमला असिश्यामा रुचिर्यस्यास्तस्यामिन्द्रनीलभुवि हसितुं परेण जानतान्येन जनेनोपेक्षितैः स्थलमेतत्, न जलमित्युपदिष्टैर्जनैरज्ञैरागन्तुकजनैर्जलशङ्कया जलभ्रान्त्या मुहुर्दूरमम्बरं वस्त्रमुदकर्षि नितम्बादुद्धृतम्। अत्रेन्द्रनीलस्थलसादृश्यात्सलिलभ्रान्तेर्भ्रान्तिमदलङ्कारः॥

जिस सभामें सब ओर स्फुटित होती हुई खड्ग (तलवार) के समान सुन्दर कान्तिवाली इन्द्रनील मणिकी भूमिमें ('यह स्थल है; जल नहीं है' ऐसा ठीक-ठीक जाननेवाले) दूसरे व्यक्तिके द्वारा हँसनेके लिए उपेक्षित ('यह व्यक्ति नवागन्तुक होनेसे भ्रमवश स्थलको भी जल समझकर कपड़ेको ऊपर उठा रहा है' अतएव ऐसे भ्रान्त नवागन्तुकका उपहास करना अनुचित जानकर उस जानकार व्यक्तिके द्वारा नहीं हँसे गये) लोगोंने पानीकी शङ्कासे दूर (बहुत ऊपर) तक कपड़े को उठा लिया ॥ ६० ॥

अभितः सदोऽथ हरिपाण्डवौ रथादमलांशुमण्डलसमुल्लसत्तनू।
अवतेरतुर्नयननन्दनौ नभः शशिभार्गवावुदयपर्वतादिव ॥ ६१ ॥

अभित इति ॥ अथामलांशुमण्डलेन तेजःपुञ्जेन समुल्लसन्त्यौ भासमाने तनू मूर्ती ययोस्तौ नयननन्दनौ नेत्रानन्दकरौ हरिपाण्डवौ सदोऽभितः सभाभिमुखम्। 'अभितःपरितः—' (वा०) इति द्वितीया। रथात् शशिभार्गवौ अमलेत्यादिविशेषणविशिष्टौ शशिभार्गवौ चन्द्रशुक्रौ नभोऽभितो नभोऽभिमुखमुदयाख्यात्पर्वतादुदया-

१. '—भास्करा—' इति पा०।

चलादिव अवतेरवतीर्णवन्तौ। तरतेर्लिट् 'तॄफलभजत्रपश्च' (६।४।१२२) इत्येत्वाभ्यासलोपौ। उपमालङ्कारः॥ ६१॥

इस (सभामें पहुँचने) के बाद देदीप्यमान तेजोमण्डलसे शोभमान शरीरवाले नेत्रानन्ददायक श्रीकृष्ण भगवान् तथा युधिष्ठिर सभाके सामने (आगे) उस प्रकार रथसे उतरे, जिस प्रकार निर्मल किरण-समूहसे शोभमान आकृतिवाले नेत्रानन्ददायक चन्द्रमा तथा शुक्र आकाशके सम्मुख उदयाचलसे उतरते (उदयको प्राप्त होते) हैं॥ ६१॥

तदलक्ष्यरत्नमयकुड्यमादरादभिधातरीत इत इत्यथो नृपे।
धवलाश्मरश्मिपटलाविभावितप्रतिहारमाविशदसौ सदः शनैः॥ ६२॥

तदिति॥ अथो रथावतरणानन्तरं असौ हरिः नृपे युधिष्ठिरे आदरादित इत इत्यभिधातरि सति। इत इत आगम्यतामित्यभिदधाने सतीत्यर्थः। तत्पूर्वोक्तमलक्ष्यरत्नमयकुड्यं प्रभापटलव्याप्त्या अदृश्यरत्नभित्तिकम्। धवलेन शुभ्रेण रश्मिपटलेन मणिप्रभापुञ्जनाविभावितप्रतिहारमलक्ष्यद्वारम्। 'स्त्री द्वार्द्वारं प्रतीहारः' इत्यमरः। सदः सभां शनैराविशत्प्रविष्टवान्। अत्र कुड्यप्रतिहारयोरलक्ष्यत्वासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः॥ ६२॥

इस (रथसे उतरने) के बाद श्रीकृष्ण भगवान्ने आदरसे 'इधर आइये, इधर आइये' ऐसा (युधिष्ठिरके) कहते रहनेपर नहीं दिखलायी पड़ती हुई रत्नमयी (रत्नोंसे बनी हुई) दीवारोंवाली तथा स्फटिक मणियोंके किरण-समूहसे मालूम पड़ते हुए द्वारवाली उस सभामें धीरे से प्रवेश किया॥ ६२॥

नवहाटकेष्टकचितं ददर्श स क्षितिपस्य पस्त्यमथ तत्र संसदि।
गगनस्पृशां मणिरुचां चयेन यत्सदनान्युदस्मयत नाकिनामपि॥६३॥

नवेति॥ अथ प्रवेशानन्तरं स हरिस्तत्र संसदि सभायां नवभिर्हाटकेष्टकाभिः हिरण्येष्टकाभिश्चितम्। 'हिरण्यं हेम हाटकम्' इत्यमरः। 'इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु' (६।३।६५) इति ह्रस्वः। पङ्कमृत्तिकाविशेषवाचकस्येष्टिकाशब्दस्य तादृशि सुवर्णविकारे सुवर्णघटवदुपचारात्प्रयोगः। क्षितिपस्य युधिष्ठिरस्य पस्त्यं सदनम्। 'निशान्तपस्त्यसदनम्' इत्यमरः। ददर्श। यत्सदनं गगनस्पृशामुच्चैस्तराणां मणिरुचां रत्नप्रभाणां चयेन समूहेन नाकिनां देवानामपि सदनान्युदस्मयतापहसत्। स्मयतेरुत्पूर्वात्कर्तरि लङ्। अत्रापि नृपसदनस्य सुरसदनादाधिक्यासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः॥ ६३॥

इस (सभाद्वारमें प्रवेश करने) के बाद श्रीकृष्ण भगवान्ने उस सभामें नये सोनेकी ईंटोंसे बने हुए उस महलको देखा, आकाशस्पर्शी जो (महल) मणियोंकी किरणोंसे देवोंके भवनोंको भी उच्च स्वरसे हँस रहा था॥ ६३॥

[१] उदयाद्रिमूर्ध्नि युगपच्चकासतोर्दिननाथपूर्णशशिनोरसम्भवाम्।

---

१. '-मिव' इति पा०।

रुचिमासने रुचिरधाम्नि बिभ्रतावलघुन्यथ न्यषदतां नृपाच्युतौ ॥६४॥

उदयाद्रीति ॥ अथ नृपसदनदर्शनानन्तरमुदयाद्रेर्मूर्ध्नि शिखरे युगपच्चकासतोः प्रकाशमानयोः । 'चकासृ दीप्तौ' इति धातोर्लटः शत्रादेशः । दिननाथपूर्णशशिनोः सूर्यपूर्णचन्द्रमसोरसम्भवां सम्भवरहिताम् । तयोस्तथाभूतयोर्यौगपद्यायोगादभूतपूर्वामित्यर्थः । रुचिं शोभां बिभ्रतौ नृपाच्युतौ रुचिरधाम्न्युज्ज्वलतेजसि । अलघुनि विपुले आसने सिंहासने न्यषदतामुपविष्टौ । सदेर्लुङि 'पुषादि–' (३।१।५५) इति च्लेरङादेशः 'सदिरप्रतेः' (८।३।६६) इति षत्वम् । अत्र सम्भावनया अर्कपूर्णेन्दुशोभासम्बन्धोक्तेरसम्बन्धरूपातिशयोक्तिः ॥ ६४ ॥

इस (राजा युधिष्ठिरके महलको देखने) के बाद उदयाचलके शिखरपर एक साथ शोभते हुए सूर्य तथा पूर्ण चन्द्रकी असम्भव शोभाको धारण करते हुए राजा युधिष्ठिर तथा श्रीकृष्ण भगवान् मनोहर और विशाल सिंहासन पर बैठे ॥ ६४ ॥

सुतरां सुखेन सकलक्लमच्छिदा सनिदाघमङ्गमिव मातरिश्वना ।
यदुनन्दनेन तदुदन्वतः पयः शशिनेव राजकुलमाप नन्दथुम् ॥ ६५ ॥

सुतरामिति ॥ तद्राजकुलं कुरुकुलम् । सकलक्लमच्छिदा सकलदुःखहारिणा यदुनन्दनेन कृष्णेन सनिदाघं ससन्तापमङ्गं मातरिश्वना वायुनेव उदकान्यस्य सन्तीत्युदन्वानुदधिः 'उदन्वानुदधौ च' (८।२।१३) इति निपातः । तस्य पयो जलं शशिनेव सुतरामत्यन्तम् । 'किमेत्तिङव्यय–' (५।४।११) इत्यामुप्रत्ययः । सुखेनाक्लेशेन नन्दथुमानन्दमाप । 'स्यादानन्दथुरानन्दः' इत्यमरः । 'ट्वितोऽथुच्' (३।३।८९) इत्यथुच्प्रत्ययः । मालोपमा ॥ ६५ ॥

वह (कुरुवंशज) राज–समूह सम्पूर्ण क्लम (कष्ट) को नष्ट करनेवाले श्रीकृष्ण भगवान् से उस प्रकार आनन्दको प्राप्त किया; जिस प्रकार सन्ताप युक्त शरीर थकावट दूर करनेवाले पवनसे तथा समुद्रका जल शिथिलता दूर करनेवाले चन्द्रमासे आनन्दको प्राप्त करता है ॥

अनवद्यवाद्यलयगामि कोमलं नवनीतमप्यनवगीततां दधत् ।
स्फुटसात्त्विकाङ्गिकमनृत्यदुज्ज्वलंसविलासलासिकविलासिनीजनः ॥६६॥

अनवद्येति ॥ सविलासो विलासयुक्तो लासिकविलासिनीजनो नर्तकस्त्रीजनः सविलासलासिकविलासिनीजनः । 'नर्तकीलासिके समे' इत्यमरः । अनवद्यमगर्ह्यं यद् वाद्यं वंशादि तस्य लयः साम्यं गीतस्य समकालत्वं तद्गामि । द्रुतविलम्बादिमानानुवर्तीत्यर्थः । 'तालः कालक्रियामानं लयः साम्यम्' इत्यमरः । नवं गीतं यस्य तन्नवगीतं तथाप्यनवगीततां दधदिति विरोधेऽपिशब्दः । अविगर्हितत्वं दधदित्यविरोधाद्विरोधाभासः । 'अवगीतं तु निर्वादे मुहुर्गीतेऽविगर्हिते' इति विश्वः । सत्त्वमन्तःकरणं तेन निर्वृत्तं नृत्यं सात्त्विकम् । अङ्गं हस्तादि तेन निर्वृत्तमाङ्गिकम् ।

१. '—लासक' इति पा० ।

'निर्वृत्ते त्वङ्गसत्त्वाभ्यां द्वे त्रिष्वाङ्गिकसात्त्विके' इत्यमरः। ते स्फुटे यस्मिंस्तत्तथोक्तम्। वाचिकस्याप्युपलक्षणमेतत्। तथाह भगवान्भरतः—'पदार्थाभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः' इति। अत एव कालिदासोऽपि 'अङ्गसत्त्ववचनाश्रयं मिथः स्त्रीषु नृत्तमुपधाय दर्शयन्' (रघुवंशे १९।३६) इति। कोमलं मधुरनृत्यमुज्ज्वलमुद्धतं चानृत्यत्। तथोक्तं दशरूपके—'भावाश्रयं तु नृत्यं स्यान्नृत्तं ताललयाश्रयम्। आद्यं पदार्थाभिनयो मार्गो देशी तथापरः॥ मधुरोद्धतभेदेन तद्द्वयं द्विविधं पुनः। लास्यताण्डवरूपेण नाटकाद्युपकारकम्॥' (१–९, १०) इति॥ ६६॥

विलासयुक्त नर्तकियोंने, अनिन्दनीय (तत, आनद्ध, घन और शुषिर रूप चतुर्विध) वाद्योंके (द्रुत, मध्य और विलम्बितरूप त्रिविध) लयों से (अथवा—अभिनन्दनीय वाद्यों एवं लयोंसे) अनुगत, नवगीत (नया गाया हुआ) होनेपर भी अनवगीत (नवगीतसे भिन्न) ऐसे अर्थद्वारा विरोध आनेपर, (विरोधपरिहार पक्षमें–अभिनन्दनीय) और स्पष्ट (स्तम्भादि रूप) सात्त्विक तथा (भ्रूविक्षेपादिरूप) आङ्गिक भावोंसे युक्त मनोहर नर्तन किया।

विमर्श—जड़ता, पसीना, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्पन, विवर्णता, अश्रु (आँसू) और प्रलय—ये आठ 'सात्त्विक' भाव हैं। शिर, नेत्र, हाथ, वक्षःस्थल, कटि और चरणके भेदसे छः 'आङ्गिक' भाव हैं। श्रीकृष्ण भगवान्‌के सामने इन सबका प्रदर्शन करते हुए।तथा वाजोंके साथ लय मिलाती हुई नर्तकियाँ विलासपूर्वक मनोहर नृत्य करने लगीं॥ ६६॥

सकले च तत्र गृहमागते हरौ नगरेऽप्यकालमहमादिदेश सः।
सततोत्सवं तदिति नूनमुन्मुदो रभसेन विस्मृतमभून्महीभृतः॥ ६७॥

सकल इति॥ किंचेति चार्थः। स राजा हरौ कृष्णे गृहमागते सकले तत्र नगरे इन्द्रप्रस्थे। अकाले प्रसिद्धवसन्ताद्युतिरिक्ते काले। महमुत्सवम्। 'मह उद्धव उत्सवा' इत्यमरः। आदिदेशाज्ञापयामास। नूनमन्त्रोत्प्रेक्ष्यते—उन्मुदः कृष्णागमनादुत्कटानन्दस्य महीभृतो धर्मनन्दनस्य तन्नगरं सततमुत्सव यस्मिंस्तत्सततोत्सवमिति एतद्रभसेन त्वरया विस्मृतमभूत्। अन्यथा कथं कृतकरणोपदेश इति भावः॥

श्रीकृष्ण भगवान्‌के अपने भवनमें आनेपर उस राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण नगरमें असामयिक महोत्सव करनेका आदेश दे दिया, युधिष्ठिरका नगर सदैव उत्सवपूर्ण रहता था, इस बातको मानों श्रीकृष्ण भगवान्‌के आनेसे अत्यधिक हर्षित युधिष्ठिर भूल-से गये थे॥ ६७॥

हरिराकुमारमखिलाभिधानवित्स्वजनस्य वार्तमयमन्वयुङ्क्त च[2]।
महतीमपि श्रियमवाप्य विस्मयः सुजनो न विस्मरति जातु किंचन॥

हरिरिति॥ किञ्चेति चार्थः। अखिलान्यभिधानानि नामानि वेत्तीत्यखिलाभिधानवित्सकलनामप्रपञ्चाभिज्ञः। 'नामरूपे व्याकरवाणि' इति श्रुतेरिति भावः।

१. 'तत्र नगरे हरौ गृहान्यातवत्यकाल—' इति पा०। २. 'सः' इति पा०।

'आख्याह्वे अभिधानं च नामधेयं च नाम च' इत्यमरः। अयं हरिः कृष्णः कुमारमारभ्येत्याकुमारम्। आकुमारेभ्य इत्यर्थः। 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' (२।१।१३) इत्यभिधानादव्ययीभावः। स्वजनस्य बन्धुजनस्य। 'बन्धुस्वस्वजनाः समाः' इत्यमरः। वार्तमनामयम्। आरोग्यमित्यर्थः। 'वार्त्तं फल्गुन्यरोगे च' इत्यमरः। 'ब्राह्मणं कुशलं पृच्छेत् क्षत्रबन्धुमनामयम्' इति मनुस्मरणात् (२।१२७)। अन्वयुङ्क्तापृच्छत्। 'प्रश्नोऽनुयोगः पृच्छा च' इत्यमरः। युजेः कर्तरि लङ्। तथा हि—महतीं श्रियं सम्पदमवाप्यापि विस्मयो निरहङ्कारः सुजनः अत एव जातु कदाचिदपि किञ्चन किमपि न विस्मरति। सुजनः सम्पन्नोऽप्यहङ्कारं न करोतीति भावः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ ६८॥

स्वजनोंके बच्चों तकके नामको जाननेवाले श्रीकृष्ण भगवान्‌ने सबकी स्वस्थताका समाचार पूछा, (यह उनके अनुरूप ही था, क्योंकि) बड़े भारी ऐश्वर्यको पाकर भी अहङ्काररहित सज्जन लोग कभी कुछ (साधारण बात भी) नहीं भूलते हैं॥ ६८॥

मर्त्यलोकदुरवापमवाप्तरसोदयं नूतनत्वमतिरक्ततयानुपदं दधत्।
श्रीपतिः पतिरसाववनेश्च परस्परं सङ्कथामृतमनेकमसिस्वदतामुभौ॥६९॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्रयङ्के श्रीकृष्णसमागमो नाम त्रयोदशः सर्गः॥

मर्त्येति॥ उभौ श्रीपतिः कृष्णः असाववनेः पतिर्धर्मसुतश्च परस्परं मर्त्यलोके मनुष्यलोकैर्दुरवापं दुर्लभमवाप्तरसोदयं प्राप्तरसोत्कर्षम्। स्वादुभवदित्यर्थः। अतिरक्ततयाऽतिस्निग्धतया अनुपदमनुक्षणं प्रतिवाक्यं च नूतनत्वमपूर्वतां दधत् अनेकं बहुलं सङ्कथां सम्भाषणं चेदिराजजरासन्धवधादिकार्यचिन्तारूपं तदेवामृतं तदसिस्वदतां स्वादितवन्तौ। 'आकरः स्वपरभूरिकथानां प्रायशो हि सुहृदोः सहवासः' (नैषधीयचरिते ५।१२) इति भावः। स्वदतेर्णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः। सङ्कथामृतमिति रूपकालङ्कारः स्वादनलिङ्गात्। रमणीयकं वृत्तम्। 'रान्नभङ्गितयरैरुदितं रमणीयकम्' इति लक्षणात्॥ ६९॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचितसर्वङ्कषाख्यायां त्रयोदशः सर्गः॥ १३॥

लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण भगवान् तथा भूपति युधिष्ठिर–दोनों ही मर्त्य लोकमें दुर्लभ, रसता को प्राप्त, अत्यधिक स्नेहसे युक्त होनेके कारण क्षण–क्षणमें नवीनताको प्राप्त अनेक प्रकारके सम्भाषणरूपी अमृतरसका परस्परमें आस्वादन करने लगे अर्थात् बातचीत करने लगे॥६९॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'श्रीकृष्णसमागम' नामका त्रयोदश सर्ग समाप्त हुआ॥१३॥

१. '—मविदुत—' इति पा०।

चतुर्दशः सर्गः

तं जगाद गिरमुद्गिरन्निव स्नेहमाहितविकासया दृशा।
यज्ञकर्मणि मनः समादधद्वाग्विदां वरमकद्वदो नृपः॥ १॥

तमिति॥ वदतीति वदः पचाद्यच्। कुत्सितस्य वदः कद्वदः गर्ह्यवाक्। 'गर्ह्यवादी तु कद्वदः' इत्यमरः। 'रथवदयोश्च' (६।३।१०२) इति कोः कदादेशः। स न भवतीत्यकद्वदः साधुवादी नृपो युधिष्ठिरो यज्ञकर्मणि यज्ञानुष्ठाने मनः समादधत्सम्यगादधत्। तदेव हृदि निधायेत्यर्थः। आहितविकासया कृतप्रसादया दृशा दृष्ट्या स्नेहमुद्गिरन्नुद्वमन्निवेत्युत्प्रेक्षा। दृष्टिविकासात्प्रकटितस्नेहः सन्नित्यर्थः। वाचो विन्दन्ति वक्तुं विवेकं च जानन्तीति वाग्विदो वाक्यकोविदाः। 'सत्सूद्विष–' (३।२।६१) इत्यादिना क्विप्। तेषां वरं श्रेष्ठं तं हरिं गिरं जगाद ब्रूतेरर्थग्रहणात् 'दुह्याच्–' इत्यादिना गदेर्द्विकर्मकत्वम्। अत्रोत्प्रेक्षावृत्त्यनुप्रासयोः संसृष्टिः। अस्मिन्सर्गे रथोद्धता वृत्तम्। 'रान्नराविह रथोद्धता लगौ' इति लक्षणात्॥ १॥

अनिन्दित भाषण करनेवाले यज्ञकार्यमें मनको रखते हुए एवं विकासयुक्त अर्थात् प्रसन्नतापूर्ण दृष्टिसे मानो स्नेह उगलते (प्रकट करते) हुए से राजा (युधिष्ठिर) वचन जाननेवालोंमें श्रेष्ठ उन (श्रीकृष्ण भगवान्) से बोले॥ १॥

'गिरं जगाद' (१४।१) इत्युक्तं तामेव गिरं दशभिः प्रपञ्चयति—

लज्जते न गदितः प्रियं परो वक्तुरेव भवति त्रपाधिका।
व्रीडमेति न तव प्रियं वदन्ह्रीमतात्रभवतैव भूयते॥ २॥

लज्जत इत्यादिभिः॥ परोऽन्यः कश्चित्पुमान्प्रियं गदितः। प्रियवाक्यमुक्तः सन्नित्यर्थः। गदेर्दुहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः। 'अप्रधाने दुहादीनाम्' इति वचनात्। न लज्जते। तस्योत्सुकत्वादिति भावः। किन्तु वक्तुः। स्तोतुरेवाधिका त्रपा भवति। भयादिना मिथ्यास्तावकत्वादिति भावः। प्रकृते तु नैवमित्याह–तव प्रियं वदन्। त्वां स्तुवन्नित्यर्थः। व्रीडं नैति। अनन्तगुणाधारे त्वयि बह्वोरपि प्रियस्यामिथ्यात्वादिति भावः। किन्तु स्तवनेनात्रभवता पूज्येनैव ह्रीमता त्रपावता भूयते प्रत्युत त्वमेवात्र जिह्रेषीत्यर्थः। महतामनुत्सुकत्वादिति भावः। 'पूज्यस्तत्रभवान्' इति सज्जनः। 'इतराभ्योऽपि–' (५।३।१४) इति सार्वविभक्तिके तसिल्प्रत्यये 'सुप्सुपा' इति समासः॥

(अब दश (१४।२–११) श्लोकोंसे उक्त कथनका वर्णन करते हैं) दूसरे (सामान्य) लोग प्रिय कहने पर अर्थात् किसीसे प्रशंसित होनेपर (स्वगुणश्रवणार्थं उत्सुकता रहनेसे) स्वयं लज्जित नहीं होते हैं, किन्तु (मिथ्या अधिक प्रशंसा करनेके कारण) बोलने वालेको ही

---

१. 'वाग्मिनाम्' इति पा०। २. 'प्रियंवदो ह्रीमता तु' इति पा०।

अधिक लज्जा होती है; (परन्तु आपके विषयमें सर्वथा उल्टा ही होता है क्योंकि अनन्त गुणोंसे युक्त होनेसे) आपका प्रिय कहनेवाला अर्थात् आपकी प्रशंसा करनेवाला लज्जित नहीं होता है, किन्तु (स्वगुणश्रवणार्थं उत्सुकता नहीं रहनेसे) पूज्य आप ही लज्जित होते हैं ॥

तोषमेति वितथैः स्तवैः परस्ते च तस्य सुलभाः शरीरिभिः ।

अस्ति न स्तुतिवचोऽनृतं तव स्तोत्रयोग्य न च तेन तुष्यसि ॥ ३ ॥

तोषमिति ॥ परस्तदन्यः । वितथैरसत्यभूतैः स्तवैः स्तोत्रैः । 'स्तवः स्तोत्रं नुतिः स्तुतिः' इत्यमरः । तोषमुत्सुकतामेति । ते च तस्य परस्य ते मिथ्यास्तवाः शरीरिभिः प्राणिभिः सुलभाः असम्बद्धप्रलापानामनिरर्गलत्वादिति भावः । त्वयि तु नैवमित्याह—अस्तीति । हे स्तोत्रयोग्य ! गुणाकरत्वादिति भावः । अत एव तत्र सम्बन्धि स्तुतिवचोऽनृतं नास्ति न भवति, तेन स्तुतिवचसा न च तुष्यसि न प्रसीदसि । गम्भीरत्वादिति भावः । अत्र श्लोकद्वये पुरुषान्तरादुपमानभूतादाधिक्यकथनाद्व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ३ ॥

(आपसे भिन्न) दूसरे लोग झूठी प्रशंसाओंसे सन्तुष्ट होते हैं, (असम्बद्ध प्रलापके निरर्गल होनेसे) वे प्रशंसाएँ प्राणियोंके द्वारा उनको सुलभ हैं, (किन्तु गुणाधिक सम्पन्न होनेसे) हे स्तुतिके योग्य (श्रीकृष्णजी) आपके प्रशंसात्मक वचन झूठे नहीं हैं (और अतिशय गम्भीर होनेसे) आप उस (प्रशंसात्मक वचनसे) सन्तुष्ट नहीं होते हैं अर्थात् अपनी प्रशंसा सुननेमें उदासीन ही रहते हैं ॥ ३ ॥

बह्वपि प्रियमयं तव ब्रुवन्न व्रजत्यनृतवादितां जनः ।

सम्भवन्ति यददोषदूषिते सार्व सर्वगुणसम्पदस्त्वयि ॥ ४ ॥

बह्वपीति ॥ अयं जनः । स्वयमित्यर्थः परामृश्यते । बह्वपि तव प्रियं ब्रुवन् सन् अनृतवादितां मिथ्यावादित्वं न व्रजति न गच्छति । यद्यस्मात् हे सार्व ! सर्वहितत्वात्सार्वः तत्सम्बोधने । 'सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ' (५।१।१०) इति णप्रत्ययः । दोषदूषितो न भवतीत्यदोषदूषिते सर्वागुणवर्जिते त्वयि सर्वगुणवर्जिते त्वयि सर्वगुणसम्पदः सम्भवन्ति । अनारोपितगुणवादो भूयानपि न विपर्येतीति भावः । अत्रोत्तरवाक्यार्थेन पूर्ववाक्यार्थसमर्थनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ४ ॥

यह व्यक्ति अर्थात् आपकी स्तुति करनेवाला मैं आपकी बहुत स्तुति करता हुआ भी असत्य बोलनेवाला नहीं होता, क्योंकि हे सर्वहितकारक (श्रीकृष्ण भगवान्) ! दोषसे अदूषित आपमें सभी गुणोंकी संपत्तियोंका रहना सम्भव है अर्थात् दोषहीन आपके सर्वगुणसम्पन्न रहनेसे आपकी स्तुति करनेवाला सत्यवादी ही रहता है असत्यवादी नहीं होता ॥

सा विभूतिरनुभाव सम्पदां भूयसी तव यदायतायति ।

एतदूढगुरुभार भारतं वर्षमद्य मम वर्तते वशे ॥ ५ ॥

---

१. 'वितथस्तवैः' इति पां० ।

सेति ॥ हे ऊढगुरुभार ! विश्वम्भरत्वादिति भावः । एतत् भरतस्य राज्ञ इदं भारतं भारताख्यं वर्षम् । 'वर्षोऽस्त्री भारतादौ च' इति हैमः । 'लोकोऽयं भारतं वर्षम्' इत्यमरः । अद्येदानीमायतायति बहुतरकालम् । स्थितं यथा तथेत्यर्थः । 'उत्तरः काल आयतिः' इत्यमरः । मम वशे आयत्ततायां वर्तत इति यावत् । 'वश आयत्ततायां च' इति विश्वः । सा तद्वशवर्तनम् । विधेयप्राधान्यात्स्त्रीलिङ्गता । तवानुभावसम्पदां सामर्थ्यातिशयानां भूयसी महती विभूतिर्महिमा । कार्यमिति यावत् । त्वत्प्रसादलब्धमिदमैश्वर्यमित्यर्थः । अत्र निजैश्वर्यस्य भगवदनुभावसम्पदं विना सम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ५ ॥

(विश्वम्भर होनेसे) गुरुतर भारको धारण करनेवाले (हे श्रीकृष्णजी) यह भारतवर्ष इस समय बहुत समयतक मेरे वशमें है, यह आपके प्रतापश्रीका बहुत बड़ा ऐश्वर्य है अर्थात् आपके प्रतापके प्रभावसे ही मैं इस भारतवर्षका बहुत समयतक सम्राट् बना हुआ हूँ ॥ ५ ॥

तदेवं स्तुत्या हरिमभिमुखीकृत्य कृत्यांशमावेदयति—

सप्ततन्तुमधिगन्तुमिच्छतः कुर्वनुग्रहमनुज्ञया मम ।
मूलतामुपगते प्रभो त्वयि प्रापि धर्ममयवृक्षता मया ॥ ६ ॥

सप्तेति ॥ सप्त तन्तवः संस्था यस्य तं सप्ततन्तुं क्रतुम् । 'सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः' इत्यमरः । अधिगन्तुं प्राप्तुमिच्छतो ममानुज्ञयानुज्ञादानेनानुग्रहं प्रसादं कुरु । साहाय्यं कुर्वित्यर्थः । स्वतः समर्थस्य किं मदनुग्रहेणेत्याह—हे प्रभो ! त्वयि मूलतां मुख्यकारणतामङ्घ्रित्वं चोपगते सति मया धर्ममयवृक्षता धर्मात्मकवृक्षता प्रापि प्राप्ता । प्राप्नोतेः कर्मणि लुङ् । प्रागपि त्वदनुग्रहादेव धर्ममर्जयन् धर्मराजोऽहमस्मीति भावः । अत्र नृपस्य धर्मवृक्षत्वेन हरेस्तन्मूलत्वेन च रूपणात्सावयवरूपकम् । तेन त्वदनुग्रहः सर्वथा प्रार्थनीयो मया धर्मार्थिनेति तात्पर्यं व्यज्यते ॥ ६ ॥

यज्ञ करनेकी इच्छा करनेवाले मेरे ऊपर आज्ञा देकर आप अनुगृहीत कीजिये, क्योंकि हे प्रभो ! आपके प्रधान (पक्षा०–मूल) बनने पर धर्ममय वृक्षत्वको मैंने प्राप्त किया है अर्थात् मेरे धर्मराज कहलानेमें आप ही मुख्य कारण हैं ॥ ६ ॥

सम्भृतोपकरणेन निर्मलां कर्तुमिष्टिमभिवाञ्छता मया ।
त्वं समीरण इव प्रतीक्षितः कर्षकेण वलजान्पुपूषता ॥ ७ ॥

सम्भृतेति ॥ निर्मलां निर्दोषामिष्टिं यागम् । यजेः स्त्रियां क्तिन् 'वचिस्वपि–' (६।१।१५) इत्यादिना सम्प्रसारणम् । कर्तुमभिवाञ्छता अत एव सम्भृतोपकरणेन सम्पादितसाधनेन मया त्वं वलजान् धान्यराशीन् । 'वलजो धान्यराशिः स्यात्' इति वैजयन्ती । पुपूषता पवितुं शोधितुं निर्बुसीकर्तुमिच्छता । पुनातेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः 'सनि ग्रहगुहोश्च (७।२।१२) इति चकारादिटः प्रतिषेधः । कर्षकेण कृषी,

१. 'खलु' इति पा० । २. 'कर्षुकेण' इति पा० ।

बलेन समीरणो वायुरिव प्रतीक्षितः। प्रवाते शूर्पादिना धान्यस्योत्क्षेपः पवनम्। तद्वातं विनेव त्वां विना समाहृतसम्भारेणापि मया यागो दुष्कर इति भावः॥ ७॥

दोषरहित यज्ञको करनेकी इच्छा करनेवाला (अतएव) समस्त सामग्रियोंको एकत्रित किया हुआ मैं आपकी उस प्रकार प्रतीक्षा कर रहा हूँ, जिस प्रकार (धान्यके दँवनी करनेके बाद) उसको ओसाने (साफ करने) वाला किसान हवाकी प्रतीक्षा करता है॥ ७॥

वीतविघ्नमनघेन भाविता सन्निधेस्तव मखेन मेऽधुना।
को विहन्तुमलमास्थितोदये वासरश्रियमशीतदीधितौ॥ ८॥

वीतविघ्नमिति॥ अधुना तव सन्निधेर्हेतोर्मे मखेन क्रतुना कर्त्रा वीतविघ्नमविघ्नं अनघेन निर्दोषेण भाविता। भविष्यत इत्यर्थः। भावे लुट् 'स्यसिच्सीयुट्–' (६।४।६२) इत्यादिना लुटि चिण्वद्भावाद्वृद्धिः। तथा हि—अशीतदीधितावुष्णांशावास्थितोदये प्राप्तोदये सति को वासरश्रियं दिनशोभां विहन्तुमलं शक्तः। न कोऽपीत्यर्थः। अत्र हरिमरीचिमालिनोर्वाक्यभेदाद्बिम्बप्रतिबिम्बतया सन्निहितद्योतितया समानधर्मतया निर्दोषो दृष्टान्तालङ्कारः। 'यत्र वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बतयोच्यते। सामान्यधर्मवाक्योक्तेः स दृष्टान्तो निगद्यते॥' इति लक्षणात्॥ ८॥

इस समय आपके सान्निध्यसे मेरा यज्ञ निर्विघ्नतापूर्वक सम्यक् प्रकारसे पूर्ण हो जायेगा, क्योंकि सूर्यके उदय होनेपर दिनकी शोभा (प्रकाश) को नष्ट करनेके लिए कौन समर्थ होता है? अर्थात् कोई भी समर्थ नहीं होता॥ ८॥

स्वापतेयमधिगम्य धर्मतः पर्यपालयमवीवृधं च यत्।
तीर्थगामि करवै विधानतस्तज्जुषस्व जुहवानि चानले॥ ९॥

स्वापतेयमिति॥ यत्स्वपतौ स्वामिनि साधु तत् स्वापतेयं वित्तम्। 'पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ्' (४।४।१०४) 'द्रव्यं वित्तं स्वापतेयम्' इत्यमरः। धर्मतः क्षत्रियस्य विजितमिति शास्त्रोक्तप्रकारादित्यर्थः। अधिगम्य लब्ध्वा यत्नेन पर्यपालयं पालितवान्, अवीवृधं वृद्धिं च प्रापितवान्। तत्तीर्थगामि विप्राधीनं करवै करिष्यामि। विधानतः 'पालितं वर्धयेन्नीत्या वृद्धं पात्रेषु निक्षिपेत्' (याज्ञ० आ० ३१७) इति स्मरणात्। तच्च पात्रं त्वमेवेत्याह—तत्सर्वं जुषस्व सेवस्व। सदैव भुङ्क्ष्वेत्यर्थः। 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' इति धातोर्लोट्। अनले जुहवानि च जुहुयाम्। तन्मुखेनापि तवैव भोक्तृत्वादिति भावः। जुहोतेः मध्यप्रश्नलोटि मेर्निरादेशः॥ ९॥

मैंने जिस धनको धर्मपूर्वक पाकर उसकी रक्षा की तथा उसे बढ़ाया, उस धनको विधिपूर्वक मैं सत्पात्रोंमें दान करूँगा, आप उसका सेवन (स्वीकार) करें तथा मैं अग्निमें हवन करूँगा॥ ९॥

पूर्वमङ्ग जुहुधि त्वमेव वा स्नातवत्यवभृथे ततस्त्वयि।
सोमपायिनि भविष्यते मया वाञ्छितोत्तमवितानयाजिना॥ १०॥

पूर्वमिति ॥ वेति पक्षान्तरे । अथवेत्यर्थः । अङ्ग हे कृष्ण ! 'अथ सम्बोधनार्थकाः । स्युः प्याट्पाडङ्ग हे है भोः' इत्यमरः । पूर्वं त्वमेव जुहुधि । यजस्वेत्यर्थः । 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (६।४।१०१) इति हेर्धिरादेशः । सोमपायिनि त्वयि अवभृथे यज्ञे । 'दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञे' इत्यमरः । स्नातवति सति ततोऽनन्तरं मया वाञ्छित उत्तमो वितानः क्रतुः राजसूयाख्यः । 'क्रतुविस्तारयोरस्त्री वितानं त्रिषु तुच्छके' इत्यमरः । तेन यथा याजिना भविष्यते । भावे लृट् । त्वयि इष्टवति पश्चादहं यक्ष्य इत्यर्थः । अत्र श्लोकद्वयेन हरेर्यागासम्बन्धे तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ १० ॥

अथवा हे अङ्ग ! पहले आप ही हवन करें, सोमपान करनेवाले आपके अवभृथ स्नान (यज्ञके निर्विघ्न पूर्ण होनेके बाद किये जानेवाले स्नान-विशेष) करनेपर बादमें मैं (विश्वजित् नामक) अभिलषित उत्तम यज्ञको करूँगा ॥ १० ॥

किं विधेयमनसा विधीयतां त्वत्प्रसादजितयार्थसम्पदा[1] ।
शाधि शासक जगत्त्रयस्य मामाश्रवोऽस्मि भवतः सहानुजः ॥११॥

किमिति ॥ अथवा त्वत्प्रसादेन त्वदनुग्रहेण जितया जयलब्धयाऽनयाऽर्थसम्पदा धनसम्पदा किं विधेयं किमनुष्ठेयं विधीयतां त्वयैव क्रियताम् । अहं तु न स्वतन्त्र इत्याह—हे जगत्त्रयस्य शासक ! न तु ममैवेति भावः । मां शाधि । नियुङ्क्ष्वेत्यर्थः । शासेर्लोटि 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' (६।४।१०१) इति धिरादेशः । 'झलो झलि' (८।२।२६) इति सकारलोपः । सहानुजः सानुजः सन् 'वोपसर्जनस्य' (६।३।८२) इति सहशब्दस्य सभावविकल्पः । भवतस्तवाश्रवो विधेयोऽस्मि । 'विधेयो विनयग्राही वचने स्थित आश्रवः' इत्यमरः । अत्रानाश्रवस्याश्रवसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरिति दण्डश्लोक्यामाचार्यमतेऽतिप्रियतराख्यानात्प्रेयोऽलङ्कारः । 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' इति लक्षणात् । आधुनिकास्तु भावनिबन्धने प्रेयोऽलङ्कार इति लक्षयन्ति । स चोन्नीतस्तत्र तत्रोन्नेष्यते च ॥ ११ ॥

अथवा आपके अनुग्रहसे विजयमें मिली हुई धन-सम्पत्तिसे क्या करना चाहिये, इसे हे तीनों लोकोंके शासन करनेवाले (श्रीकृष्णजी !) आप मुझे शासित कीजिये अर्थात् मुझे सिखाइये-बतलाइये, छोटे भाइयोंके सहित मैं आपका आज्ञाकारी हूँ ॥ ११ ॥

तं वदन्तमिति विष्टरश्रवाः श्रावयन्नथ समस्तभूभृतः ।
व्याजहार दशनांशुमण्डलव्याजहारशबलं दधद्वपुः ॥ १२ ॥

तमिति ॥ अथानन्तरं विष्टराविव श्रवसी यस्य स विष्टरश्रवाः कृष्णः । 'विष्णुर्नारायणः कृष्णो वैकुण्ठो विष्टरश्रवाः' इत्यमरः । इति एतादृशं तं वदन्तं नृपम् । समस्तभूभृतः सर्वान्नृपाञ्श्रावयन् दशनांशुमण्डलमिति व्याजोऽपदेशो यस्य तेन

१. 'त्वत्प्रताप—' इति पा० ।

हारेण मुक्ताहारेण शबलं शारं वपुर्दधद्व्याजहार व्याहृतवान्। अत्र दशनांशुमण्डलस्य व्याजशब्देनासत्यत्वप्रतिपादनादपह्नवभेदः ॥ १२ ॥

इस (युधिष्ठिरके ऐसा कहने) के बाद श्रीकृष्ण भगवान् ऐसा (१४।२–११) कहते हुए युधिष्ठिरसे, समस्त राजाओंको सुनाते हुए और दाँतोंके किरण–समूहके कपटसे हारसे कर्बुर (चित्रित) शरीरको धारण करते हुए बोले ॥ १२ ॥

यदुक्तं 'सा विभूतिः' (१४।५) इत्यादि तत्रोत्तरमाह—

'सादिताखिलनृपं महन्महः सम्प्रति स्वनयसम्पदैव ते।
किं परस्य स गुणः समश्नुते पथ्यवृत्तिरपि[2] यद्यरोगिताम् ॥ १३ ॥

सादितेति ॥ सम्प्रति ते तव महन्महस्तेजः स्वनयसम्पदैव निजनीतिमहिम्नैव सादिताखिलनृपं विजितसमस्तराजकं न तु मदनुभावादिति भावः। तथा हि पथ्या हिता वृत्तिरन्नपानादिक्रिया यस्य सोऽप्यरोगितामारोग्यं समश्नुते यदि प्राप्नोतीति चेत्। सोऽपि तदारोग्यमित्यर्थः। विधेयप्राधान्यात्पुंल्लिङ्गता। परस्य भिषजः स गुणः किं नेत्यर्थः। अपथ्यवृत्तेरारोग्यमौषधसाध्यत्वाद्भिषजो गुणोऽस्तु, हितमेध्याशिनो न तथेत्यर्थः। स्वयमसमर्थः। पराधीनसिद्धिरित्युपचार इति भावः। दृष्टान्तालङ्कारः सुगमः ॥ १३ ॥

(श्रीकृष्ण भगवान् युधिष्ठिरोक्त 'सा विभूतिः' (१४।५) वचनका उत्तर देते हैं) 'इस समय तुम्हारा महान् प्रताप अपनी नीतिकी महिमासे ही समस्त राजाओंको पराजित करनेवाला बना हुआ है (इसमें मेरी कोई महिमा नहीं है), क्योंकि पथ्यसेवन करनेवाला यदि नीरोग होता हैं तो उसमें दूसरे का कौन गुण है ? अर्थात् कोई नहीं, किन्तु वह पथ्य–सेवन करनेवालेका ही गुण है ॥ १३ ॥

यदुक्तं 'पूर्वमङ्ग जुहुधि त्वमेव' (१४।१०) इति तत्राह—

तत्सुराज्ञि भवति स्थिते [3]पुनः कः क्रतुं यजतु राजलक्षणम्।
उद्धृतौ भवति कस्य वा भुवः श्रीवराहमपहाय योग्यता ॥ १४ ॥

तदिति ॥ तत्तस्मादुक्तरीत्या। तत्रैवाधिकारित्वादित्यर्थः। सुराज्ञि विजयप्रजारक्षणादिगुणयोगाच्छुद्धक्षत्रिये। 'न पूजनाद्' (५।४।६९) इति समासान्तप्रतिषेधः। भवति त्वयि पुरः स्थिते सति। कः। त्वदन्यः क इत्यर्थः। राज्ञः क्षत्रियस्य लक्षणं चिह्नमसाधारणं यस्य तं क्रतुम्। राजसूयमित्यर्थः। यजतु। न कोऽपीत्यर्थः। 'राजा राजसूयेन यजेत' इति राजाधिकारताश्रवणाद्राजा त्वमेवेति भावः। सम्भावनायां लोट्। अत्र दृष्टान्तमाह–भुव उद्धृतौ भुव उद्धरणे श्रीवराहमादिवराहमपहाय कस्य पुनर्योग्यता सामर्थ्यं भवति। न कस्यापीत्यर्थः। योगाय प्रभवतीति योग्यः।

---

१. 'साधिता—' इति पा०। २. '—रिह' इति पा०।
३. व्याख्यानुरोधात्'पुरः' इति पाठः साधुः। वल्लभदेवेन'परः' इति पठित्वा व्याख्यातम्।

'योगाद्यच्च' (५।१।१०२) इति यत्प्रत्ययः। अत्र राजवराहयोर्वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकरणाद् दृष्टान्तालङ्कारः॥ १४॥

(अब युधिष्ठिरोक्त 'पूर्वमङ्ग जुहुधि—' (१४।१०) वचनका श्रीकृष्ण भगवान् उत्तर देते हैं) इस कारण (अपने पराक्रमसे विजयलाभ, निरुपद्रव एवं पुत्रवत् स्नेहपूर्वक प्रजारक्षणादि करने) से सुन्दर नृपतिरूप आपके रहते हुए फिर असाधारण क्षत्रियके चिह्नरूप (विश्वजित् नामक) यज्ञ को दूसरा कौन करे? अर्थात् उक्त यज्ञ करनेका अधिकार एकमात्र आपको ही है, दूसरे किसीको नहीं, क्योंकि पृथ्वीका उद्धार करनेमें श्रीवराह भगवान्‌को छोड़कर किसकी योग्यता थी अर्थात् किसीकी नहीं॥ १४॥

यच्चोक्तं 'सम्भृतोपकरणेन (१४।७) इत्यादिना, तत्र गृहीतलक्षणोऽस्मीत्याह—

शासनेऽपि गुरुणि व्यवस्थितं कृत्यवस्तुषु नियुङ्क्ष्व कामतः।
त्वत्प्रयोजनधनं धनञ्जयादन्य एष इति मां च मावगाः॥ १५॥

शासन इति॥ गुरुण्यतिदुष्करेऽपि शासने नियोगे व्यवस्थितम्। त्वदाज्ञाकरमित्यर्थः। मां कृत्यवस्तुषु कर्तव्यार्थेषु कामतो यथेच्छं नियुङ्क्ष्व प्रेषय। अनुचितमेतन्नियन्तरीति सङ्कोचं वारयन्नाह—त्वदिति। त्वत्प्रयोजनमेव धनं यस्य तम्। त्वदर्थैकनिष्ठमित्यर्थः। मां धनानि जयतीति धनञ्जयोऽर्जुनः। 'संज्ञायां भृतवृजिधारिसहितपिदमः' (३।२।४६) इति खश्प्रत्यये मुमागमः। तस्मादेषोऽन्यः कृष्ण इति मां मावगाः मावेहि च नियोगसमुच्चयार्थश्चकारः। अवपूर्वादिणो 'माङि लुङ्' (३।३।१७५) 'इणो गा लुङि' (२।४।४५) इति गादेशः 'न माङ्योगे' (६।४।७४) इत्यट्प्रतिषेधः। उभयोस्तत्कार्यनिबन्धनान्नारायणात्मत्वाच्च नावयोर्भेदप्रतिपत्तिः कार्येत्यर्थः। तथा च तद्वदेव कर्मसु नियोगेऽप्यसङ्कोच उचित इति भावः। अत एवानयोर्वाक्यार्थयोर्हेतुमद्भावाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। स च कृष्णयोर्भेदाभेदरूपातिशयोक्तिमूल इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥ १५॥

(अब युधिष्ठिरोक्त 'सम्भृतोपकरणेन—' (१४।७) वचनका उत्तर श्रीकृष्ण भगवान् देते हैं) बड़े भारी शासनमें भी तत्पर अर्थात् कठोर आज्ञाका भी पालन करनेके लिए तत्पर मुझको आप इच्छानुसार कर्तव्य कार्योंमें नियुक्त कीजिये, और आपका प्रयोजन (इष्टसाधन) ही है धन जिसका ऐसे मुझको आप अर्जुनसे भिन्न मत समझिये अर्थात् अपने छोटे भाई अर्जुनके समान ही मुझे भी आपके अभीष्ट साधनमें तत्पर समझिये॥

यच्चोक्तं 'वीतविघ्नम्' (१४।८) इत्यादि तत्राभयदानं प्रतिजानीते—

यस्तवेह सवने न भूपतिः कर्म कर्मकरवत्करिष्यति।
तस्य नेष्यति वपुः कबन्धतां बन्धुरेव जगतां सुदर्शनः॥ १६॥

य इति॥ यो भूपतिः तवेहास्मिन् सवने यज्ञे। 'सवनं यजने स्नाने सोमे निर्दलनेऽपि च' इति विश्वः। कर्मकरवद्भृत्यवत्कर्म न करिष्यति तस्य भूपतेर्वपुः जगतां

बन्धुः । क्षेमङ्करत्वादिति भावः । एष सुदर्शनो मच्चक्रम् । 'शङ्खो लक्ष्मीपतेः पाञ्चजन्यश्चक्रं सुदर्शनम्' इत्यमरः । कबन्धतां शिरःशून्यतां नेष्यति प्रापयिष्यति । चक्रेणास्य शिरश्छेत्स्यामि इत्यर्थः । 'कबन्धं सलिले प्रोक्तमपमूर्धकलेवरे' इति विश्वः। अतो विघ्नशङ्का न कार्येति भावः । अत्र सुदर्शने बन्धुत्वरूपणाद्रूपकालङ्कारः ॥१६॥

(अब युधिष्ठिरोक्त 'वीतविघ्नम्—' (१४।८) वचनका उत्तर देते हुए श्रीकृष्ण भगवान् युधिष्ठिरको अभयदान देते हैं) आपके इस यज्ञमें जो राजा भृत्य के समान (बतलाया गया छोटा-बड़ा सब प्रकारका) काम नहीं करेगा, (रक्षक होनेसे) संसारका बन्धु यह सुदर्शन चक्र उस (राजा) के शरीरको कबन्ध बना देगा अर्थात् उसके शिरको काट देगा॥

इत्युदीरितगिरं नृपस्त्वयि श्रेयसि स्थितवति स्थिरा[१] मम ।
सर्वसम्पदिति शौरिमुक्तवानुद्वहन्मुदमुदस्थित क्रतौ ॥ १७ ॥

इतीति ॥ इतीत्थमुदीरितगिरमुपन्यस्तवाचं शौरिं हरिं नृपो युधिष्ठिरः त्वयि श्रेयस्यभ्युदये विषये स्थितवति सति । त्वयि क्षेमङ्करे सतीत्यर्थः । मम सर्वसम्पत् स्थिरेत्युक्तवान् । मुदमुद्वहन् सहायसम्पत्त्या सन्तुष्यन् सन् । क्रतावुदस्थित । क्रतुं कर्तुमुद्युक्तवानित्यर्थः । तिष्ठतेर्लुङि 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' (१।३।२४) इत्यादिनात्मनेपदं 'स्थाघ्वोरिच्च' (१।२।१७) इति सिचः कित्वादिकारः । 'ह्रस्वादङ्गात्' (८।२।२७) इति सकारलोपः ॥ १७ ॥

इस प्रकारके (१४।१३-१६) वचन कहे हुए श्रीकृष्ण भगवान्से 'आपके हितकर्ता रहनेपर मेरी सब सम्पत्ति स्थिर है अर्थात् मेरे सब मनोरथ पूर्ण ही हैं' ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर यज्ञ करनेके लिए उद्यत हो गये ॥ १७ ॥

अथ पञ्चत्रिंशच्छ्लोकैरनेकधा क्रतुं वर्णयति—

आननेन शशिनः कलां दधद्दर्शनक्षयितकामविग्रहः[२] ।
आप्लुतः स विमलैर्जलैरभूदष्टमूर्तिधरमूर्तिरष्टमी ॥ १८ ॥

आननेनेत्यादि ॥ आननेन शशिनः कलामिव कलां कान्तिं दधत् । निदर्शनालङ्कारः । शशिमुख इत्यर्थः । अन्यत्र शशिखण्डधरेत्यर्थः । दर्शनेन ज्ञानेन क्षयितौ नाशितौ कामविग्रहौ कामक्रोधौ येन सः, अन्यत्र दृष्टिदग्धस्मरशरीरः । विमलैर्जलैः आप्लुतः स्नातः । नद्यां स्नातीति दीक्षायां स्नानविधानादिति भावः । अन्यत्र गङ्गोदकसिक्तः । गङ्गाधरीत्यर्थः । स नृपः अष्टानां पूरणी अष्टमी । 'तस्य पूरणे डट्' (५।२।४८) इति डट् प्रत्ययः । 'नान्तादसंख्यादेर्मट्' (५।२।४९) इति मडागमः । 'टिड्ढाणञ्' (४।१।१५) इत्यादिना ङीप् । अष्टानां मूर्तीनां समाहारोऽष्टमूर्तिः । 'तद्धितार्थ-' (२।१।५१) इत्यादिना समाहारे द्विगुरेकवचनं नपुंसकं च । तस्य धर्ता धारयिताऽष्टमूर्तिधरः शिवः तस्याष्टमी मूर्तिरभूत् । सोमदीक्षितोऽभूदित्यर्थः । तस्याः

---

१. 'स्थिरे' इति पा० ।   २. '—क्षपितकामविभ्रमः' इति पा० ।

ध्यागमे शिवमूर्तित्वप्रसिद्धेः। अत्र प्राकृताप्रकृतयोर्नृपशिवयोः शिवशब्दमात्रसाधर्म्याच्छ्लेषालङ्कारः ॥ १८ ॥

(अब पैंतीस (१४।१८–५२) श्लोकों द्वारा यज्ञका अनेक प्रकारसे वर्णन करते हैं) 'मुखसे चन्द्रमाकी शोभा धारण करते हुए, ज्ञानसे काम तथा क्रोधको नष्ट किये हुए और (नदीके) निर्मल जलसे स्नान किये हुए वे युधिष्ठिर; मुख अर्थात् शिरपर चन्द्रकलाको धारण करती हुई, देखनेसे कामदेवके शरीरको नष्ट (भस्मीभूत) की हुई और (गङ्गाजीके) निर्मल जल (के प्रवाह) से आर्द्र आठ मूर्तियोंको धारण करनेवाले शिवजीकी 'यजमान' नामकी आठवीं मूर्ति हुए अर्थात् वे यज्ञमें दीक्षित हो गये।

विमर्श—अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और यजमान–शिवजीकी ये आठ मूर्तियाँ शास्त्रोंमें वर्णित हैं ॥ १८ ॥

तस्य सांख्यपुरुषेण तुल्यतां बिभ्रतः स्वयमकुर्वतः क्रियाः।
कर्तृता तदुपलम्भतोऽभवद्वृत्तिभाजि करणे यथर्त्विजि ॥ १९ ॥

तस्येति ॥ क्रियाः कर्माणि होमादीनि, अन्यत्र पुण्यपापकर्माणि। स्वयमकुर्वतोऽननुतिष्ठतः, अन्यत्र उदासीनस्य। अत एव सांख्यपुरुषेण सांख्यशास्त्रोक्तेनात्मना तुल्यतां बिभ्रतस्तस्य राज्ञः करणेऽन्तःकरणे यथा। बुद्धाविवेत्यर्थः। ऋतौ यजतीति ऋत्विग्याजकः। 'ऋत्विजो याजकाश्च ते' इत्यमरः। 'ऋत्विग्दधृग्–' (३।२।५९) इति निपातः। तस्मिन् वृत्तिभाजि। होमादिव्यापारं कुर्वतीत्यर्थः। अन्यत्र पुण्यपापकारिणि सति तदुपलम्भतः तस्या ऋत्विग्वृत्तेरुपलम्भान्ममेदमित्यनुसन्धानादेव कर्तृता क्रियानुष्ठातृत्वमभवत्। तथैव विधिसामर्थ्यादिति भावः। अत एवाह भगवाञ्जैमिनिः—'अन्यो वा स्यात्परिक्रिया स्नानात्सत्यप्यात्मनेपदे' इति, अन्यत्र तदुपलम्भतस्तस्या बुद्धिवृत्तेरुपलम्भात्साक्षित्वेनानुसन्धानादेव कर्तृत्वमभवत्। स्वयं क्रियाभोगरहितोऽप्यात्मा बुद्धेः सन्निधानाद्रक्तस्फटिकवत्तथा भवतीत्यर्थः। उपमालङ्कारः ॥ १९ ॥

स्वयं (हवनादि) कार्य नहीं करते (पक्षा०—पुण्य–पापादिसे उदासीन रहते) हुए, (अत एव) साङ्ख्यशास्त्रसम्मत आत्माकी समानताको धारण करते हुए उस युधिष्ठिरका, अन्तःकरणमें (हवनादि) कार्योंको ऋत्विजोंके (पक्षा०—पुण्य–पापादि कर्मोंको बुद्धिके) करते रहनेपर उसकी प्राप्ति होनेसे कर्तृत्व हुआ।

विमर्श—साङ्ख्य शास्त्रका यह मत है कि आत्मा स्वयं पुण्य–पापादि कर्म नहीं करता, किन्तु बुद्धि ही करती है, और उसकी प्राप्ति होनेसे आत्मा ही उन कार्योंको 'करनेवाला माना जाता है, उसी प्रकार युधिष्ठिर यज्ञमें स्वयं हवनादि कार्य नहीं करते थे, ऋत्विज् लोग ही करते थे और उसका फल युधिष्ठिरको प्राप्त होनेसे युधिष्ठिर अपनेको उन कर्मोंको करनेवाला मानते थे ॥ १९ ॥

शब्दितामनपशब्दमुच्चकैर्वाक्यलक्षणविदोऽनुवाक्यया ।
याज्यया यजनक[1]र्मिणोऽत्यजन्द्रव्यजातमपदिश्य देवताम् ॥ २० ॥

शब्दितामिति ॥ वाक्यलक्षणविदो मीमांसाशास्त्रज्ञाः । यजनकर्मिणो यजनव्यापारवन्त ऋत्विजः । व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः । अनूच्यत इत्यनुवाक्या तयानुवाक्यया । 'अनूच्यया याज्यया जुहोति' इति श्रुतेः । सा च प्रशास्तृपाठ्या । तदभावे होतृपाठ्या देवताह्वानी ऋक् । वचेः 'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१।१२४) 'चजोः कु घिण्यतोः' (७।३।५२) इति कुत्वम् । शब्दसंज्ञात्वात् 'वचोऽशब्दसंज्ञायाम्' (७।३।६७) इति न प्रतिषेधः । उच्चकैः अनपशब्दं यथा तथा शब्दिताम् । मन्त्रवर्णेनोच्चैः प्रकाशितामित्यर्थः । 'उच्चैर्ऋचा क्रियत' इति विधानात् । 'शब्द संशब्दने' इति धातोश्चौरादिकात्कर्मणि क्तः । देवतामिन्द्रादिकामपदिश्य द्रव्यजातं पशुपुरोडाशादि हविःसमूहं इज्यतेऽनयेति याज्या सा च होतृपाठ्या यागाङ्गसाधनमृक् । 'याज्यया जुहोति' इति श्रुतेः । पूर्ववत् 'ऋहलोर्ण्यत्' (३।१।१२४) इति करणे ण्यत् । 'यजयाचरुचप्रवचर्चश्च' (७।३।६६) इति कुत्वप्रतिषेधः । तथा अत्यजन् अयजन्नित्यर्थः । 'देवतोद्देशेन द्रव्यस्यागो याग' इति लक्षणात् । स च त्यागः सामान्यत आहवनीये जुहोतीति तदाहवनीय इति सामान्यन्यायाद्विधानादन्यत्रेति ध्येयम् । द्रव्यत्यागस्याध्वर्युमात्रकर्तृत्वेऽपि याज्यापुरोनुवाक्यद्वारा होतृप्रशास्त्रोरपि साहित्यादत्यजन्निति बहुत्वव्यपदेशः । तथा च मैत्रावरुणेन पुरोनुवाक्यायामनूक्तायां तत्प्रकाशितदेवतोद्देशेनाध्वर्युहोतृपठितयाज्यान्ते वषट्कारेण सोमादिकं हविरग्नावत्याक्षीदित्यर्थः । स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ २० ॥

मीमांसा शास्त्रके ज्ञाता ऋत्विज् लोगोंने अनुवाक्या (देवताका आह्वान करनेवाले मन्त्र-विशेष) से उच्चस्वरोच्चारणपूर्वक प्रकाशित (इन्द्रादि) देवताके उद्देश्यसे (घृत, पायस आदि हवनीय) पदार्थोंको याज्या (यज्ञाङ्ग-साधनभूत मन्त्र-विशेष) से (अग्निमें) छोड़ा अर्थात् वे तत्तद्देवताओंके आह्वानके मन्त्रोंका उच्चस्वरसे उच्चारणकर उन-उन देवताओंके उद्देश्यसे हवन करने लगे ॥ २० ॥

सप्तभेदकरकल्पितस्वरं साम सामविदसङ्गमुज्जगौ ।
तत्र सूनृतगिरश्च सूरयः पुण्यमृग्यजुषमध्यगीषत ॥ २१ ॥

सप्तेति ॥ तत्र क्रतौ । सामानि वेत्तीति सामवित् उद्गाता सप्तभेदं सप्तप्रकारं यथा तथा करेण हस्तेन कल्पिताः सम्पादिताः स्वरा निषादादयो यस्य तत् । करविन्यासभेदादिभिर्व्यञ्जितसप्तस्वरमित्यर्थः । 'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः । पञ्चमश्चेत्यमी सप्त' इत्यमरः । यद्वा स्वराः क्रुष्टादयः ।'क्रुष्टः प्रथमो द्वितीयो मन्दो नीच' इत्यादयः ।·साम बृहद्रथन्तरादिकमसङ्गमस्खलितमुज्जगावुच्चैरगायत् । किञ्च सूनृ-

---

१. '—धर्मिणो—' इति पा० ।

तगिरः प्रियसत्यवाचः। 'प्रियं सत्यं च सूनृतम्' इत्यमरः। सूरयो विद्वांसो होत्रादयः पुण्यं श्रेयस्करम्। ऋचश्च यजूंषि च तत् ऋग्यजुषम् 'अग्निमीळे' 'इषे त्वा' इत्यादिकम्। द्वन्द्वैकवद्भावः 'अचतुर–' (५।४।७७) इत्यादिना द्वन्द्वे समासान्तनिपातः। अध्यगीषत। इङो लुङि 'विभाषा लुङ्लृङोः' (२।४।५०) इति गाङादेशपक्षे 'गाङ्कुटादि–' (१।२।१) इति सिचः ङित्वे 'घुमास्था–' (६।४।६६) इत्यादिना ईत्वम्। अत्र सामसामेत्यादौ वृत्त्यनुप्रासभेदो द्रष्टव्यः॥ २१॥

सामवेदके ज्ञाता (उद्गाता) लोग हाथके सञ्चालन-विशेषसे व्यक्त किये गये निषादादि (या—कष्ट, मन्द आदि) सात स्वरोंवाले सामवेदको स्खलनरहित अर्थात् कहींपर स्खलित नहीं होते हुए उच्च स्वरसे गाने लगे और सत्य तथा प्रिय बोलनेवाले (होता आदि) विद्वान् लोग कल्याणकारक ऋग्वेद तथा यजुर्वेदको पढ़ने लगे।

विमर्श—हस्तसञ्चालनके द्वारा स्वरोच्चारण नहीं करने पर उच्चारण करनेवालेका वियोनिमें जन्म होता है तथा हस्तसञ्चालनके द्वारा स्वर, वर्ण तथा अर्थके साथ मन्त्रोंका उच्चारण करनेवाला ऋगादि वेदोंसे पवित्र होकर ब्रह्मलोकमें पूजित होता है, ऐसा पाणिनि भगवानने कहा है[1]; अतएव युधिष्ठिरके यज्ञमें सामवेदके गान करनेवाले ऋत्विज् लोग हस्तसञ्चालनके द्वारा स्वरोंका सङ्केत करते हुए उच्चारण करते थे॥ २१॥

बद्धदर्भमयकाञ्चिदामया वीक्षितानि यजमानजायया।
शुष्मणि प्रणयनादिसंस्कृते[2] तैर्हवींषि जुहवाम्बभूविरे॥ २२॥

बद्धेति॥ बद्धं दर्भमयं दर्भविकारं काञ्चिदाम रशनागुणो यस्यास्तया। आग्नीध्रसन्नद्धयेत्यर्थः। 'आशासाना सौमनसमित्युत्तरेण गार्हपत्यमुदङ्मुखमासीनां पत्नीं सन्नह्य तिष्ठन्तीं वाचयतीत्येके, मौञ्जेन दाम्नान्यतरतः पाशेन योक्त्रेण च' इत्यापस्तम्बवचनात्। दामेति 'डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्' (४।१।१३) इति डाप्प्रत्ययः। यजमानो यष्टा। 'पूङ्यजोः शानन्' (३।२।१२८) इति यजेः शानन्प्रत्ययः। तस्य जायया पत्न्या वीक्षितानि दृष्टानि हवींष्याज्यानि। 'पत्न्यवेक्षते' इत्याज्यस्य पत्न्यवेक्षणसंस्कारविधानादर्थप्रधानत्वात्सर्वेषामाज्यादीनां प्राणभृन्न्यायेन वीक्षितत्वव्यपदेशः। प्रणयनं नाम गार्हपत्यादुद्धृत्य मन्त्रेणायतने सादनम्। आदिशब्दात् परिस्तरणसमिदाधानसम्मार्गादिसंस्कारसंग्रहः। तैः प्रणयनादिभिः संस्कृते अहितातिशये शुष्मण्यग्नौ। 'बर्हिः शुष्मा कृष्णवर्त्मा' इत्यमरः। अत्राप्याहवनीये जुहोतीति हूय-

---

१. तदुक्तं पाणिनीयशिक्षायाम्—

'हस्तहीनं तु योऽधीते स्वरवर्णविवर्जितम्। ऋग्यजुःसामभिर्दग्धो वियोनिमधिगच्छति॥
हस्तेन वेदं योऽधीते स्वरवर्णार्थसंयुतम्। ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते॥'

(पा० शि० ५४–५५)

२. '—नाभि—' इति पा०।

ध्यानेऽध्वर्युः कर्ता। 'जुहूपात्रव्यापृतया स्रुवाहवनीयं प्रधानम्' इति न्यायवचनात्। तैः ऋत्विग्भिः जुहवाञ्चभूविरे। जुहोतेः कर्मणि लिट् 'भीह्रीभृहुवाम्–' (३।१।३९) इति विकल्पादाम्प्रत्ययः। अत्र विषयस्य योक्त्रस्यानुपादानेन विषयिणः काञ्चीगुणस्यैव तदभेदेन निर्देशाद्भेदेऽभेदरूपातिशयोक्तेरनुप्रासेन सङ्करः॥ २२॥

कुशाओंकी बनी हुई मेखलाको पहनी हुई यजमान (युधिष्ठिर) की धर्मपत्नी (द्रौपदी) के द्वारा देखे गये हविष्यों (यज्ञीय घृत आदि पदार्थों) की प्रणयन आदि (परिस्तरण, समिदाधान, संमार्जन आदि) से संस्कार युक्त अग्निमें वे ऋत्विज् लोग हवन करने लगे।

विमर्श—यजमानकी धर्मपत्नीको हविष्य आदि पदार्थोंको देखनेके बाद संस्कार युक्त होनेपर हवन करनेका 'पत्न्यवेक्षते–' मन्त्रद्वारा विधान किया गया है॥ २२॥

नाञ्जसा निगदितुं[1] विभक्तिभिर्व्यक्तिभिश्च निखिलाभिरागमे।
तत्र कर्मणि[2] विपर्यणीनमन् मन्त्रमूहकुशलाः प्रयोगिणः॥ २३॥

नेति॥ तत्र तस्मिन्कर्मणि यज्ञकर्मणि। अन्यथाश्रुतस्य शब्दस्यान्यथालिङ्गवचनादिभेदेन विपरिणमनमूहः। तत्र कुशलाः। प्रयोग एषामस्तीति प्रयोगिणः प्रयोक्तार ऋत्विजः आगमे आम्नाये निखिलाभिर्विभक्तिभिः प्रथमादिभिः सुब्विभक्तिभिस्तिङ्विभक्तिभिश्च। विभक्तिग्रहणं वचनोपलक्षणम्। व्यक्तिभिर्लिङ्गैश्चाञ्जसा सुखेन निगदितुं पठितुं न भवन्त्यशक्यत्वादिति नाञ्जसा निगदितुम्। 'अञ्जस उपसंख्यानम्' (वा०) इति अलुक्। नञर्थस्य सुप्सुपेति समासः। अथवा अञ्जसेति तृतीयान्तप्रतिरूपकमव्ययं तत्त्वार्थे। 'अञ्जसा तत्त्वतूर्णयोः' इति विश्वः। अञ्जसा तत्त्वत इत्यर्थः। अस्मिन्पक्षे नैकपद्यनियमः। तं मन्त्रं कर्माङ्गदेवतारूपवाक्यं विपर्यणीनमन् विपरिणमन्ति स्म। विपरिणमितवन्त इत्यर्थः। विपरिपूर्वकाण्ण्यन्तात् णमधातोर्लुङ्। सन्वद्भावे 'सन्यतः' (७।४।७९) इत्यभ्यासस्येत्वम्। 'दीर्घो लघोः' (७।४।९४) इति दीर्घः। 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८।४।१४) इति णत्वम्। अत्र नाञ्जसेति पाठविशेषणगत्या मन्त्रविपरिणमनहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्॥

उस यज्ञक्रियामें ऊह[3] (दूसरे रूपमें प्रतिपादित शब्दोंका लिङ्ग-वचनादिके भेदसे परिवर्तन करने) में निपुण प्रयोक्ता (ऋत्विज्) लोग, शास्त्रमें सब विभक्तियों (सुप्-तिङ्रूप विभक्तियों, एकवचन-द्विवचनादि वचनों और पुंल्लिङ्गादि तीन लिङ्गों) से कहना शक्य नहीं है, (अत एव आवश्यकतानुसार उन-उन स्थलोंमें) मन्त्र (के विभक्ति वचनों तथा लिङ्गों) को परिवर्तित कर दिये॥ २३॥

---

१. 'निगदितम्' इति पा०। २. 'कर्मसु' इति पा०।

३. तदुक्तं पस्पशाह्निके महाभाष्ये व्याकरणशास्त्रस्य प्रयोजनं वदता भगवता पतञ्जलिना–'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्।' इति।

संशयाय दधतोः सरूपतां दूरभिन्नफलयोः क्रियां प्रति ।
शब्दशासनविदः समासयोर्विग्रहं व्यवससुः स्वरेण ते ॥ २४ ॥

संशयायेति ॥ संशयाय सन्देहोत्पादनाय सरूपतां सादृश्यं दधतोः । उभयत्र रूपसाम्यादयं समासोऽयं वेति संशयं कुर्वतोरित्यर्थः । यथेन्द्रशत्रुरित्यत्रेन्द्रस्य शत्रुः शातयिता हन्तेति षष्ठीतत्पुरुषः, उतेन्द्रः शत्रुर्यस्येति बहुव्रीहिरिति सारूप्यसंशयः । तत्रानियमे दोषमाह—दूरेति । क्रिया प्रकृतं कर्म तां प्रति । तामुद्दिश्येत्यर्थः । दूरभिन्नमत्यन्तविलक्षणं फलं ययोर्दूरभिन्नफलयोस्तयोरर्थभेदात्कर्मणः फलभेदं प्रतिपादयतोरित्यर्थः । यथेन्द्रशत्रुरित्यत्रैव षष्ठीसमासस्येष्टत्वे वृत्रस्येन्द्रहन्तृत्वम्, बहुव्रीहौ तु तस्येन्द्रेण वध्यत्वमिति फलभेद इति भावः । समासयोरेवंविधयोः प्रसक्तयोः सतोरित्यर्थः । भावलक्षणे सप्तमी । शब्दशासनविदः शब्दशास्त्रज्ञाः । अन्येषामनधिकारादिति भावः । ते प्रकृता ऋत्विजः स्वरेण तत्तत्समासविहितस्वरवशेन विग्रहं वाक्येन समर्थाभिधानं व्यवससुर्निश्चिक्युः । अस्मिन् स्वरेऽयं समासः, तत्रायं विग्रह इति अन्यतरपक्षावधारणं चक्रुः । यथेन्द्रशत्रुरित्यत्रैव पूर्वपदे उदात्तत्वेन बहुव्रीहिस्वरेण बहुव्रीहिसमासनिश्चयः । इन्द्रः शत्रुर्यस्येति विग्रहावधारणमित्यर्थः । व्यवपूर्वस्य स्यतेर्लिटि 'आदेश—' (८।३।५९) इत्यात्वे द्विर्वचनादिकार्ये षत्वादेशः । अत्र संशयजनकत्वफले भेदप्रतिपादकपदार्थयोर्विशेषणगत्या सन्दिग्धे न्यायः प्रवर्तत इति न्यायेन विग्रहस्य व्यवसायहेतुकत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ २४ ॥

व्याकरण शास्त्रके ज्ञाता वे (ऋत्विज्) लोग, सन्देह (उत्पन्न करने) के लिए समान रूपवाले अर्थात् समान रूप होनेसे सन्देहोत्पादक, (किन्तु) कार्यके प्रति भिन्न फल देनेवाले दो समासोंके विग्रहका स्वरके द्वारा निर्णय करते थे ।

विमर्श—स्वर या वर्णके शुद्ध उच्चारण नहीं होनेपर दोषयुक्त मन्त्र वास्तविक अर्थको नहीं कहता है अर्थात् मन्त्रोक्त फलको नहीं देता है, अपितु वह मन्त्रात्मक वाग्वज्र यजमानका ही नाश कर देता है, जिस प्रकार स्वरके अपराध (दोष) से यज्ञ करनेवाला इन्द्रका शत्रु ही मारा गया[1] । विशिष्ट विवरण इसी ग्रन्थके 'पौराणिक कथा' नामक परिशिष्टमें देखिये ॥ २४ ॥

लोलहेतिरसनाशतप्रभामण्डलेन लसता हसन्निव ।
प्राज्यमाज्यमसकृद्वषट्कृतं निर्मलीमसमलीढ पावकः ॥ २५ ॥

लोलेति ॥ लसता प्रकाशमानेन लोलाश्चला हेतयो ज्वाला एव रसना रसज्ञाः ।

---

१. तदुक्तं भगवता पाणिनिना—
'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात् ॥' इति (पा० शि० ५२)

'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलावर्चिर्हेतिः शिखा स्त्रियाम्' इति, 'रसज्ञा जिह्वा' इति चामरः। तासां शतानि तेषां प्रभामण्डलेन हसन्निवेति रूपकसङ्कीर्णोत्प्रेक्षा। पावको वह्निः वषट्कृतं वषट्कारेण त्यक्तम्। हुतमित्यर्थः। 'हुतं त्रिषु वषट्कृतम्' इत्यमरः। निर्मलीमसम् अमालिनम्। शुद्धमित्यर्थः। 'मलीमसं तु मलिनम्' इत्यमरः। 'ज्योत्स्नातमिस्रा-' (५।२।११४) इत्यादिना मलिनशब्दान्मत्वर्थे ईमसच्प्रत्ययान्तो निपातः। प्राज्यं प्रभूतमाज्यमसकृदलीढ आस्वादयत्। लिहेः स्वरितेत्त्वाल्लुङि कृते 'हो ढः' (८।२।३१) इति ढत्वं 'झषस्तथोर्धोऽधः' (८।२।४०) इति धत्वे ष्टुत्वे ढूलोपदीर्घौ ॥ २५ ॥

प्रकाशित होती हुई चञ्चल ज्वालारूपी सैकड़ों जिह्वाओंके प्रभासमूहसे मानो हँसते हुए-से अग्निने मलिनतारहित अर्थात् शुद्ध और 'वषट्' शब्दोच्चारणपूर्वक छोड़े गये प्रचुर (प्रमाणमें अधिक) घी का अनेक बार आस्वादन किया अर्थात् 'वषट्' कहकर छोड़े गये घृतको हवनकुण्डमें छोड़नेपर अग्निज्वाला तीव्र हो गयी ॥ २५ ॥

तत्र मन्त्रपवितं हविः क्रतावश्नतो न वपुरेव केवलम्।
वर्णसम्पदमतिस्फुटां दधन्नाम चोज्ज्वलमभूद्धविर्भुजः ॥ २६ ॥

तत्रेति ॥ तत्र क्रतौ। मन्त्रैरुत्पवनादिमन्त्रैः पवितं पवित्रितम्। शोधितमित्यर्थः। 'पूङश्च' (७।२।५१) इति विकल्पादिडागमः। हविराज्यादिकमश्नतो भुञ्जानस्य। अशेर्भोजनार्थाल्लटः शत्रादेशः। हवींषि भुङ्क्त इति हविर्भुजोऽग्नेः सम्बन्धि। अतिस्फुटामतिविकसितां वर्णसम्पदं रूपसमृद्धिं दधत् केवलमेकम्। 'केवलं त्वेककृत्स्नयोः' इति शाश्वतः। वपुरेवोज्ज्वलमोजिष्ठं नाभूत्। किन्तु अतिस्फुटामतिव्यक्तार्थां वर्णसम्पदमक्षरसमुदायं दधत्। 'वर्णो द्विजादौ शुक्लादौ स्तुतौ वर्णं तु चाक्षरे' इत्यमरः। नाम हविर्भुगिति नामधेयं चोज्ज्वलं रूढमभूत्। निरन्तरं हविर्भोजनाद्वपुः पुष्टिमाप, नाम चार्थवदासीदित्यर्थः। अत्र भोजनस्याश्नत इति विशेषणगत्या हेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ २६ ॥

उस यज्ञमें मन्त्रसे पवित्र किये गये हविष्य (घृत आदि हवनीय पदार्थ) को खाते अर्थात् जलाते हुए अग्निका अत्यन्त स्पष्ट प्रकाशश्रीको धारण करता हुआ केवल शरीर ही उज्ज्वल (प्रकाशमान) नहीं हुआ, किन्तु अत्यन्त स्पष्ट अक्षरश्रीको धारण करता हुआ (हविर्भुज् अर्थात् हविष्को खानेवाला) नाम भी उज्ज्वल (अवयवार्थघटित होनेसे रूढ) हो गया ॥ २६ ॥

स्पर्शमुष्णमुचितं दधच्छिखी यद्ददाह हविरद्भुतं न तत्।
गन्धतोऽपि हुतहव्यसम्भवाद् देहिनामदहदोघमंहसाम् ॥ २७ ॥

स्पर्शमिति ॥ उचितं स्वाभाविकमुष्णमुष्णाख्यं स्पर्शं स्पर्शनेन्द्रियमात्रग्राह्यं गुणविशेषं दधद् बधानः शिखी शिखावानग्निः। व्रीह्यादित्वादिनिः। हविराज्यादिकं

ददाह भस्मीचकारेति यत् तदद्भुतं न। उष्णस्पर्शसहकृतस्याग्नेः पार्थिवद्रव्यदहनशक्तेः स्वाभाविकत्वादिति भावः। कुतः। हुतहव्यसम्भवाद्धुतहवनीयद्रव्यविजन्याद्गन्धतो गन्धादपि। साङ्क्रामिकगुणादपीत्यर्थः। देहिनां गन्धं जिघ्रतां प्राणिनामित्यर्थः। अंहसां पापानां ओघं समूहं, अदाह्यमपीति भावः। अदहद्भस्मीकृतवान्। नाशितवानित्यर्थः। अदाह्यदहनं त्वाश्चर्यमिति भावः। अत्रोष्णस्पर्शधारणस्य शिखिविशेषणभावेनास्य हविर्दाहहेतुकत्वात्पदार्थहेतुकं तावदेकं काव्यलिङ्गम्। उत्तरार्धे त्वंहसां भस्मीकरणाभावलक्षणदाहविरोधस्य नाशलक्षणया समाधानाद्विरोधाभासे लक्ष्यस्य वाच्याभेदाध्यवसायमूलातिशयोक्तिप्रतिभोत्थापितः स एवादाह्यदाहकत्वरूपो वाक्यार्थभूतपूर्वोक्तपदार्थहेतुककाव्यलिङ्गसहकृतो हविर्दहनाद्भुतत्वहेतुरिति वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमन्यैः प्राधान्येन सङ्कीर्यते ॥ २७ ॥

(स्वाभाविक होनेसे) उचित उष्ण स्पर्शको धारण करते हुए अग्निने जो हविष्य (हवन किये गये घृत पायस आदि हवनीय पदार्थों) को जलाया, वह आश्चर्य नहीं है; किन्तु हवन किये गये पदार्थोंसे उत्पन्न गन्धसे (सम्बन्ध होनेसे) प्राणियों (गन्धको सूंघनेवाले जीवों) के पाप-समूहको भी जला (नष्ट कर) दिया, यह आश्चर्य है ॥ २७ ॥

उन्नमन्सपदि धूम्रयन्दिशः सान्द्रतां दधदधःकृताम्बुदः ।
द्यामियाय दहनस्य केतनः [1]कीर्तयन्निव दिवौकसां प्रियम् ॥२८॥

उन्नमन्निति ॥ सपदि होमक्षण एवोन्नमन्नुद्गच्छन् दिशो धूम्रवर्णाः कुर्वन् सान्द्रतां नीरन्ध्रतां दधत् अत एवाधःकृताम्बुदः शोभयावधीरितमेघो मेघोपरि गतश्च दहनस्याग्नेः केतनः केतुः। धूम इत्यर्थः। द्यौरोको येषां तेषां दिवौकसां देवानाम्। पृषोदरादित्वात्साधुः। अथवा दिवमोको येषामिति विग्रहः। 'दिवं स्वर्गान्तरिक्षयोः' इति विश्वः। तेषां प्रियमिष्टं कीर्तयन् कथयन्निव कीर्तनहेतोरिव। कीर्तनार्थमिवेत्यर्थः। अतएव फलोत्प्रेक्षा। कीर्तयन्निति 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' (३।२। १२६) इति हेत्वर्थे लटः शत्रादेशः। द्यामन्तरिक्षमियाय प्राप। इणो लिट् ॥ २८ ॥

शीघ्र ही ऊपर उठता हुआ, दिशाओंको धूमिल करता हुआ सघनताको धारण करता (बढ़ता) हुआ एवं मेघको नीचे किया हुआ अग्निका झण्डा अर्थात् धूआँ मानो देवताओं से प्रिय (सन्देश) कहता हुआ-सा स्वर्गको पहुँच गया ॥ २८ ॥

निर्जिताखिलमहार्णवौषधिस्यन्दसारममृतं [2]ववल्गिरे ।
नाकिनः कथमपि प्रतीक्षितुं हूयमानमनले विषेहिरे ॥ २९ ॥

निर्जितेति ॥ नाकः स्वर्ग एषामस्तीति नाकिनो देवाः अखिलानां महार्णवौष-

---

१. 'केतयन्निव' इति पा० ।

२. 'ववल्भिरे' इति पा० सम्यक् प्रतिभाति, भोजनार्थकस्य 'वल्ग'धातोरनुपलम्भान्मूलोक्तपाठः चिन्त्यः ।

षीनां महार्णवमन्थनसमये उत्थितानां दिव्यौषधिलतानां स्यन्दो मन्थनान्निःसृतो रसः तस्य सारो मृष्टांशः। अमृतमिति यावत्। स निर्जितो येन तत्। अमृतादपि स्वाद्वित्यर्थः। अमृतं हविराख्यातम्। 'अमृतं यज्ञशेषे स्यात्पीयूषे सलिले घृते' इति मेदिनी। ववल्गिरेऽभ्यवजह्नुः। 'वल्ग भोजने' कर्तरि लिट्। 'वल्गं चाभ्यवहारं प्रत्यवसानं च जेमनं जग्धिः' इति हलायुधः। तस्यामृताधिक्यं व्यनक्ति। अनले हूयमानं दीयमानममृतमिति भावः। प्रतीक्षितुं कथमपि विषेहिरे सोढवन्तः। होमविलम्बं कथञ्चिदसहन्तेत्यर्थः। तृष्णा तु प्रागेव जिघ्रतीति रसातिशयोक्तिः। अत्र हविषोऽमृतमित्यभेदोक्त्या भेदरूपातिशयोक्तिस्तद्विशेषणपदार्थस्य वल्गनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदस्तया सङ्कीर्यते। 'परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसह–' (८।३।७०) इत्यादिना सहेः षत्वम् ॥ २९ ॥

देवताओंने, महासमुद्र (में मन्थन करनेके समय छोड़ी गयी) ओषधियोंके रसके सारको सम्यक् प्रकारसे पराजित किये गये (हवनीय घृत आदि हविष्य रूप) अमृतका भोजन किया; और अग्निमें हवन किये जाते हुए (उस हवनीय घृत आदि हविष्य) को किसी प्रकार (बड़ी कठिनाईसे) प्रतीक्षा करनेके लिए सहन किया अर्थात् अग्निमें हवनीय द्रव्यको हवन करने तक उसके गन्धको सूँघनेसे देवता लोग उसे हवन करनेके उपरान्त भोजन करनेके लिए उतावले हो रहे थे ॥ २९ ॥

तत्र नित्यविहितोपहूतिषु प्रोषितेषु पतिशु द्युयोषिताम्।
गुम्फिताः शिरसि वेणयोऽभवन्न प्रफुल्लसुरपादपस्रजः ॥ ३० ॥

तत्रेति ॥ तत्र क्रतौ नित्यं विहितोपहूतिषु कृताह्वानेषु पतिषु भर्तृषु इन्द्रादिषु प्रोषितेषु प्रवासं गतेषु। वसेः कर्तरि क्तः 'वसतिक्षुधोः–' (७।२।५२) इतीडागमः। द्युयोषितां स्वर्गस्त्रीणामिन्द्राण्यादीनां शिरसि वेणयो जटा एव गुम्फिता ग्रथिता अभवन्। प्रफुल्ला विकसिताः सुरपादपस्रजो मन्दारमाला न गुम्फिता अभवन्। अत्र सुरयोषितां वेण्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेः स्रक्सम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेश्च सम्बधेऽसम्बन्धरूपा असम्बन्धे सम्बन्धरूपा चातिशयोक्तिः। ताभ्यां च क्रतोरजस्रत्वं व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ३० ॥

(युधिष्ठिरके) उस यज्ञमें नित्य बुलाये गये पतियोंके (यज्ञमें उपस्थित रहनेसे) प्रोषित (परदेशस्थ) रहनेपर देवाङ्गनाओंके शिरमें (शृङ्गारादि नहीं करनेसे) जटाएँ हो गयीं, परन्तु विकसित (मन्दरादि) देववृक्षोंकी पुष्पमालाएँ नहीं हुईं अर्थात् पतियोंके नित्य यज्ञमें उपस्थित रहनेसे प्रोषितपतिका पतिव्रता देवाङ्गनाओंके शृङ्गार करना छोड़ देनेसे उन्होंने शिरकी चोटियोंमें मन्दार पुष्पोंकी मालाओंको नहीं धारण किया और शृङ्गारसाधनभूत सुवासित तैलादिका भी त्याग करनेसे उन देवाङ्गनाओंकी चोटियोंमें जटा बँध गयी ॥ ३० ॥

प्राशुराशु हवनीयमत्र यत्तेन दीर्घममरत्वमध्यगुः।
उद्धतानधिकमेधितौजसो दानवांश्च विबुधा विजिग्यिरे ॥ ३१ ॥

प्राशुरिति ॥ विबुधाः सुरा अत्र क्रतौ आशु क्षिप्रं हूयत इति हवनीयं हविर्यत्प्राशुः प्राशितवन्तः। 'अश भोजने' लिट् द्विर्वचनादिकार्ये 'अत आदेः' (७।४।७०) इत्यभ्यासदीर्घः। तेन हविःप्राशनेन दीर्घं चिरभोज्यममरत्वं देवत्वमध्यगुः प्रापुः। 'इणो गा लुङि' (२।४।४५) इति गादेशः। किञ्च अधिकमत्यन्तमेधितौजसो वर्धितबलाः सन्तः उद्धतानुद्दृप्तान् दानवान्, असुरांश्च विजिग्यिरे जितवन्तः। विपूर्वाज्जयतेः कर्तरि लिट्। 'विपराभ्यां जेः' (१।३।१९) इत्यात्मनेपदम्। अत्र विबुधानां दीर्घामरत्वासुरविजयित्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः। एधितौजस्त्वस्य विशेषणगत्या विजयहेतुत्वात् काव्यलिङ्गं तदुत्थापितश्चामरत्वासुरविजयक्रियासमुच्चय इति सङ्करः। गुणक्रियायौगपद्यं समुच्चयः ॥ ३१ ॥

देवोंने इस यज्ञमें हवनीय (घृत, पायस आदि हवन किये गये हविष्य द्रव्य) का जो शीघ्र भोजन किया, उससे वे दीर्घकालके लिए अमर (नहीं मरनेवाले) हो गये (और इसीसे) बढ़े हुए बलवाले वे (देवलोग) उद्धत असुरोंको भी जीत लिये ॥ ३१ ॥

नापचारमगमन्क्वचित्क्रियाः सर्वमत्र समपादि साधनम्।
अत्यशेरत परस्परं धियः सत्रिणां नरपतेश्च सम्पदः ॥ ३२ ॥

नापचारमिति ॥ अत्र क्रतौ क्वचित् कुत्रापि क्रियाः कर्माण्यपचारं लोपविषयविपर्यासादिदोषं नागमन्। गमेर्लुङि 'पुषादि–' (३।१।५५) इति च्लेरङादेशः। अनपचारे हेतुमाह—अत्र सर्वं साधनं समपादि सम्पन्नम्। पद्यतेः कर्तरि लुङ् 'चिण् ते पदः' (३।१।६०) इति चिण् प्रत्ययः कर्मणि वा। सम्पादितमित्यर्थः। 'चिण् भावकर्मणोः' (३।१।६६) इति चिण्प्रत्ययः। साधनसम्पत्तिमेव व्यनक्ति—अतीति। सत्रं यज्ञतन्त्रं येषामस्तीति सत्रिणामृत्विजाम्। 'सत्रमाच्छादने यज्ञे' इत्यमरः। धिय उत्तरोत्तरप्रयोगविज्ञानानि। तदुक्तम्—'आचतुर्थात्कर्मणोऽन्ते समीक्षेतेदं करिष्यामि' इति। तथा नरपते राज्ञः सम्पदः पदार्थसमृद्धयश्च परस्परमत्यशेरतातिशयितवत्यः। उभयेऽप्यतिसमग्रा इत्यर्थः। ज्ञानद्रव्ये हि क्रियासाधने तत्सम्पन्नस्य कुतः क्रियापचार इति भावः। अत्रानपचारवाक्यार्थस्य साधनसम्पत्तिवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्। तस्य परस्परातिशयक्रियारूपधर्मसाम्यगम्यौपम्यकेवलप्रकृतधीसम्पद्गोचरया तुल्ययोगितयोज्जीवितेत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३२ ॥

इस यज्ञमें कहींपर भी किसी विधिका अपचार (अभाव या विपर्यास आदि दोष अर्थात् किसी द्रव्यके अभावमें उसके प्रतिनिधि द्रव्यका उपयोग करना आदि) नहीं हुआ, क्योंकि सभी साधन सम्पन्न (सम्यक् प्रकारसे संगृहीत) थे; यज्ञकर्ता ऋत्विजोंकी बुद्धि

अर्थात् ज्ञान एवं राजा युधिष्ठिरकी सम्पत्ति (यज्ञसामग्री) दोनों ही परस्परमें अत्यधिक हो रही थी ॥ ३२ ॥

दक्षिणीयमवगम्य पङ्क्तिशः पङ्क्तिपावनमथ द्विजव्रजम् ।
दक्षिणः क्षितिपतिर्व्यशिश्रणद्दक्षिणाः सदसि राजसूयकीः ॥ ३३ ॥

दक्षिणीयमिति ॥ अथानन्तरं दक्षिण औदार्यवान् । 'दक्षिणे सरलोदारौ' इत्यमरः । क्षितिपतिः राजा । दक्षिणामर्हतीति दक्षिणीयो दक्षिणार्हः । 'दक्षिणीयो दक्षिणार्हस्तत्र दक्षिण्य इत्यपि' इत्यमरः । 'कडङ्करदक्षिणाच्छ च' (५।१।६९) इति छप्रत्ययः । तं पङ्क्तेः स्वाधिष्ठितायाः पावनं पावयितारं पङ्क्तिपावनम् । पावयतेः कर्तरि ल्युट् । द्विजव्रजं ऋत्विग्वर्गमित्यर्थः । पङ्क्तिशः पङ्क्त्यनुसारेणाधिगम्य प्राप्य सदसि राजसूयकीः । राजसूयकाण्डोक्ता इत्यर्थः । दक्षिणाशब्दः स्फुटार्थः । राजसूयकीति दक्षिणार्थ एव ढको विधानात् । व्यशिश्रणद्विश्राणयति स्म । वितीर्णवानित्यर्थः । 'विश्राणनं वितरणम्' इत्यमरः । 'श्रण दाने' इति धातोः 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ३३ ॥

इसके बाद उदार राजा युधिष्ठिरने दक्षिणाके योग्य और पङ्क्तिपावन ब्राह्मण-समूहको पङ्क्तिके क्रमसे प्राप्तकर सभामें राजसूय यज्ञकी दक्षिणाको (उस ब्राह्मण-समूहके लिये) दिया ॥

वारिपूर्वमखिलासु सत्क्रियालब्धशुद्धिषु धनानि बीजवत् ।
भावि बिभ्रति फलं महद्द्विजक्षेत्रभूमिषु नराधिपोऽवपत् ॥ ३४ ॥

वारीति ॥ नराधिपो राजा सत्क्रियाभिरभिषेकसंस्कारैर्लब्धा शुद्धिर्निर्दोषता याभिस्तास्वखिलासु । द्विजा एव क्षेत्रभूमयः केदारभूमयस्तासु । 'क्षेत्रं गेहे पुरे देहे केदारे योनिभार्ययोः' इति वैजयन्ती । भावि भविष्यन्महत्फलं स्वर्गादिकं धान्यादिकं च बिभ्रति । बिभ्राणानीत्यर्थः । 'वा नपुंसकस्य' (७।१।७९) इति विकल्पान्नुमागमप्रतिषेधः । धनानि बीजवद्बीजैस्तुल्यं वारिपूर्वमुदकदानपूर्वकमवपदुप्तवान् । दत्तवानित्यर्थः । अत्र बीजवदित्युपमानम् 'तेन तुल्यम्–' (५।१।११५) इति तुल्यार्थे वतेर्विधानात् । तथापि वापक्रियायोगाद्द्विजक्षेत्रेति रूपकसमासो नोपमितसमासः । किंतु रूपकस्याङ्गमुपमा तदुत्थापितत्वादिति सङ्करः ॥ ३४ ॥

राजा (युधिष्ठिर) ने (अभिषेक संस्काररूप) सत्क्रियासे शुद्ध बनी हुई, सम्पूर्ण ब्राह्मण-रूपी खेतकी भूमिमें भविष्यमें अधिक फलको देनेवाले धनको बीजके समान जलपूर्वक अर्थात् पहले जल देकर बोया (बाँटा) ।

विमर्श—जिस प्रकार चतुर किसान हल चलाकर एवं कङ्कड़-पत्थर आदि हटाकर शुद्ध की गयी सम्पूर्ण खेतकी भूमिमें पहले पानी देकर बीजको बोता है और यह बीज भविष्यमें अधिक फल देनेवाला होता है; उसी प्रकार राजा युधिष्ठिरने अभिषेकादि सत्क्रियासे शुद्ध समस्त ब्राह्मणोंके लिए पहले सङ्कल्प जलको देकर बादमें धनोंको दान

किया, जो भविष्यमें बहुत फल देनेवाले थे, दान देनेके पूर्व सङ्कल्पके जलको भी देना शास्त्रीय विधि है ॥ ३४ ॥

किं नु चित्रमधिवेदि भूपतिर्दक्षयन्द्विजगणानपूयत ।
राजतः पुपुविरे निरेनसः प्राप्य तेऽपि विमलं प्रतिग्रहम् ॥ ३५ ॥

किमिति ॥ भूपतिरधिवेदि वेद्याम् । मखवेद्यामित्यर्थः । अत्र विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । द्विजगणानृत्विग्गणान् दक्षयन्हर्षयन् दक्षिणाप्रतिग्रहेण सदक्षिणान्कुर्वन् । प्रतिग्राहयन्नित्यर्थः । तत्क्षणे दक्षिणां प्रतिगृह्णीतेति श्रुतिदर्शनात् । 'दक्ष नैपुण्ये' इति धातोर्ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः । अत एव 'निष्णाते दक्षिणे चापि नैपुण्ये निपुणेऽपि च' इति भट्टः । अपूयत पूतोऽभवदिति कर्मकर्तरि लङ् । किं चित्रं दाता पूत इति । न चित्रमित्यर्थः । किंतु प्रतिग्रहीतापि पूत इति चित्रमाह । ते द्विजगणा अपि निरेनसो निष्पापाः राजतो राज्ञः । पञ्चम्यास्तसिल् । विमलं शुद्धं प्रतिग्रहं प्राप्य पुपुविरे पूता बभूवुः । 'विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः' इत्यभिधानादिति भावः । अत्रापि पूञः कर्मकर्तरि लिट् । प्रतिग्रहीतापि शुद्ध इति विरोधः । स एव वाक्यार्थभूतश्चित्रत्वनिषेधहेतुरिति विरोधवाक्यार्थहेतुककाव्यलिङ्गयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ३५ ॥

राजा (युधिष्ठिर) यज्ञ-वेदीपर ब्राह्मण-समूहको हर्षित (या-दक्षिणा देकर दक्षिणा-युक्त) करते हुए स्वयं पवित्र हो गये, इसमें क्या आश्चर्य है ? वे (ब्राह्मण-समूह) भी दोष-रहित राजा (युधिष्ठिर) से विमल (दोष रहित) दान पाकर पवित्र हो गये ।

विमर्श—राजाके द्रव्यको दण्डादि प्राप्त होनेसे उसका प्रतिग्रह लेनेका ब्राह्मणोंको निषेध किया गया है; किन्तु न्यायपूर्वक संगृहीत राजाके द्रव्यका प्रतिग्रह लेनेका शास्त्रमें निषेध नहीं किया है, अतएव राजा युधिष्ठिरने न्यायपूर्वक संगृहीत धनको ब्राह्मणोंके लिए दान किया और उसे लेनेवाले वे ब्राह्मण भी दूषित नहीं हुए, किन्तु उस दानके शास्त्र-सम्मत होनेसे उसे लेकर वे पवित्र ही हुए ॥ ३५ ॥

स स्वहस्तकृतचिह्नशासनः पाकशासनसमानशासनः ।
आ शशाङ्कतपनार्णवस्थितेर्विप्रसादकृत भूयसीर्भुवः ॥ ३६ ॥

स इति ॥ पाको नाम कोऽपि राक्षसस्तस्य शासनः शासको हन्ता पाकशासन इन्द्रस्तेन समानं शासनं तुल्याज्ञा यस्य स इत्यर्थः । स राजा स्वहस्तेन कृतं लिखितं चिह्नं स्वनामलेखनादिलाञ्छनं येषु तानि शासनानि नियमपत्राणि यस्य सः । दत्तस्वहस्तलेखाङ्कितशासनः सन्नित्यर्थः । आ शशाङ्कतपनार्णवस्थितेः शशाङ्कतपनार्णवानभिव्याप्य । आकल्पमित्यर्थः । अभिविधावाङ् । 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' (२।१।१३) इति विकल्पादसमासः । भूयसीर्भुवो देयभूमीः विप्रसाद्विप्राधीनाः । 'देये त्रा च' (५।४।५५) इति चकारात्सातिप्रत्ययः । अकृत कृतवान् । दत्तवानित्यर्थः ।

१. '—सनाः' इति पा० ।

क्नो लुङि तङ् 'उश्च' (१।२।१२) इति सिचः कित्वात् 'ह्रस्वादङ्गात्' (८।२।२७) इति सकारलोपो गुणाभावश्च। पाकशासनसमानशासन इत्युपमानुप्रासयोः संसृष्टिः ॥

इन्द्रके समान (अप्रतिहत) शासनवाले वे (राजा युधिष्ठिर) आज्ञापत्रको अपने हाथसे चिह्नित करके चन्द्रमा सूर्य और समुद्रकी स्थिति तक अर्थात् कल्पान्ततक बहुत-सी भूमिको ब्राह्मणोंके लिए दिये ॥ ३६ ॥

शुद्धमश्रुतिविरोधि बिभ्रतं शास्त्रमुज्ज्वलमवर्णसङ्करैः।
पुस्तकैः सममसौ गणं मुहुर्वाच्यमानमशृणोद्द्विजन्मनाम् ॥ ३७ ॥

शुद्धमिति ॥ असौ नृपः शुद्धमाचारपूतम्। अन्यत्र विभक्तिविपरिणामेन शुद्धैरकलङ्कैः। श्रुतिविरोधि वेदविरुद्धं न भवतीत्यश्रुतिविरोधि शास्त्रं बिभ्रतमात्मनि धारयन्तम्। सकलवैदिकशास्त्राभिज्ञमित्यर्थः। 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) इति नुम्प्रतिषेधः। अन्यत्र श्रुत्यविरोधिभिः पुराणादिभिः। वाच्यमानमन्वयगुणादिक्रमेण प्रस्तूयमानम्, अन्यत्र वाच्यमानैर्द्विजगणेन व्याख्यायमानैरित्यर्थः। वचेश्चौरादिकात्कर्मणि लटः शानजादेशः। द्विजन्मनां ब्राह्मणानां गणं अवर्णसंकरैरसङ्कीर्णाक्षरैः, अन्यत्र जातिसङ्कररहितमिति विपरिणामः। पुस्तकैः समं पुस्तकाक्षरैर्वाक्यैः सह अशृणोत्। दानकाले प्रत्येकं ब्राह्मणानां गुणान् गोष्ठीश्च श्रुतवानित्यर्थः। मुखस्थविद्यानामपि पुस्तकधारणं विलक्षणत्वेनोक्तमित्यदोषः। अन्यत्र 'पुस्तकैः समं द्विजगणमशृणोदि'ति सम्बन्धिभेदभिन्नयोः श्रवणयोरभेदाध्यवसायभेदेऽभेदरूपातिशयोक्तिचमत्कारिणी द्विजानां प्रकृतत्वात् पुस्तकानीव द्विजानिति वैवक्षिकोपमानोपमेयभावपर्यवसायिनी श्लेषसङ्कीर्णसहोक्तिरलङ्कारः। 'सहार्थेनान्वयो यत्र भवेदतिशयोक्तितः। कल्पितौपम्यपर्यन्ता सा सहोक्तिरिहेष्यते' इति लक्षणात्। केचित्पुस्तकैः समं वाच्यमानमिति योजयित्वा पुस्तकेषु द्विजगणान्, लेख्येऽवायतमानामिति व्याचक्षते। तैः पुस्तकेषु शास्त्रभरणासम्भवादवर्णसङ्करेति श्लिष्टविशेषणावगतप्रकृतश्लेषभङ्गः पुस्तकानां च वाचनकरणत्वात्समादिशब्दवैयर्थ्यमुक्तसहोक्त्यलङ्कारभ्रंशश्चेत्येवमादयो दोषा दुस्तरा इत्यलं विस्तरेण ॥ ३७ ॥

इस (राजा युधिष्ठिर) ने आचरणसे पवित्र, वेदाविरुद्ध (पुराणादि) शास्त्रको धारण करते (हाथमें लिए, या-अभ्यास द्वारा कण्ठस्थ किये) हुए, वर्ण-सङ्करतासे हीन अर्थात् सत्कुलोत्पन्न, ब्राह्मण-समूहको; (अपशब्द रहित होनेसे) शुद्ध, (सुननेमें मधुर होनेसे) कानके अनुकूल व्याख्यान किये जाते हुए (अथवा-वेदाविरुद्ध पुराणादि शास्त्रोंसे अन्वय-गुणादिके क्रमसे प्रस्तुत किये जाते हुए), असङ्कीर्ण अक्षरोंवाले पुस्तकोंके (पुस्तकाक्षर वाक्योंके) सहित गोष्ठी (या-स्वस्त्ययन) करते हुए सुना।

विमर्श—ब्राह्मण लोग गोष्ठी (या-स्वस्त्ययन पाठ) कर रहे थे, जो पवित्र सदाचारी, वेदसम्मत मीमांसादि शास्त्रोंसे युक्त तथा कुलीन थे और असङ्कीर्ण अक्षरोंवाले, श्रवणमधुर,

व्याख्या किये जाते हुए (या-वेदानुकूल पुराणादि शास्त्रके अनुसार वंशादिक्रमसे प्रस्तूयमान) पुस्तकोंसे युक्त थे; अर्थात् युधिष्ठिरने दान देनेके समयमें प्रत्येक ब्राह्मणोंके गुणों एवं उनकी गोष्ठियों को सुना ॥ ३७ ॥

तत्प्रतीतमनसामुपेयुषां द्रष्टुमाहवनमग्रजन्मनाम् ।
आतिथेयमनिवारितातिथिः कर्तुमाश्रमगुरुः स नाश्रमत् ॥ ३८ ॥

तदिति ॥ अनिवारिता अप्रत्याख्याता अतिथयो येन स आश्रमाणां ब्रह्मचर्यादीनां गुरुर्नियन्ता स राजा । आ समन्ताज्जुह्वत्यस्मिन्नित्याहवनं यागम् । जुहोतेर्ल्युट् । द्रष्टुमुपेयुषामागतानाम् । अत एव प्रणीतमनसां सत्कर्मदर्शनाद्धृष्टचित्तानामग्रजन्मनाम् द्विजानाम् । अतिथिषु साध्वातिथेयमतिथिसत्कारम् । 'पथ्यतिथि–' (४।४।१०४) इत्यादिना ढञ्प्रत्ययः । कर्तुं नाश्रमन्न श्रान्तः । श्राम्यतेः पुष्पादित्वाल्लुङि च्लेरङादेशः । अत्रानिवारितातिथित्वस्य विशेषणगत्या श्रमनिषेधहेतुत्वात्काव्यलिङ्गं तदनुप्रासेन संसृज्यते ॥ ३८ ॥

अतिथियों का निषेध नहीं करनेवाले तथा (ब्रह्मचर्य आदि चार) आश्रमोंके नियन्ता वे (राजा युधिष्ठिर) उस यज्ञको देखनेके लिए आये हुए ब्राह्मणोंके आतिथ्य (अतिथि-सत्कार) करनेके लिए श्रान्त नहीं हुए अर्थात् उन ब्राह्मणोंका आतिथ्य बराबर करते रहनेपर भी नहीं थके ॥ ३८ ॥

मृग्यमाणमपि यद् दुरासदं भूरिसारमुपनीय तत्स्वयम् ।
आसतावसरकाङ्क्षिणो बहिस्तस्य रत्नमुपदीकृतं नृपाः ॥ ३९ ॥

मृग्यमाणमिति ॥ यद्रत्नं मृग्यमाणमन्विष्यमाणमपि दुरासदं दुर्लभम् । भूरिसारं महासारमुपदीकृतमुपायनीकृतम् । मनसा यथासङ्कल्पितमित्यर्थः । 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमरः । तद्रत्नं श्रेष्ठवस्तु । 'रत्नं श्रेष्ठे मणावपि' इति विश्वः । नृपाः स्वयमुपनीय तस्य राज्ञोऽवसरकाङ्क्षिणः सेवावसरं प्रतीक्षमाणा बहिरासत स्थिता इत्यैश्वर्यातिशयोक्तिः । अत्र रत्ने उपदात्वस्यारोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगात्परिणामालङ्कारः ॥ ३९ ॥

जो (बहुमूल्य रत्न) खोजनेसे भी दुर्लभ है, मानसिक सङ्कल्पद्वारा युधिष्ठिरके लिए भेंट दिये गये बहुमूल्य उस रत्नको स्वयं लाकर (राजा युधिष्ठिरके आनेके) अवसरको चाहनेवाले राजा लोग बाहरमें (उनकी प्रतीक्षा करते हुए) ठहरे थे ॥ ३९ ॥

एक एव वसु यद्ददौ नृपस्तत्समापकमतर्क्यत क्रतोः ।
त्यागशालिनि तपःसुते ययुः सर्वपार्थिवधनान्यपि क्षयम् ॥ ४० ॥

एक इति ॥ एक एव नृपो यद्वसु धनं ददौ । उपायनमिति भावः । तद्धनमेव क्रतोः समापकं सम्पूरकमतर्क्यत । दक्षिणादानादिसर्वक्रतुव्ययपर्याप्ततया तर्कित-

१. 'तत्प्रणीत—' इति पा० ।

मित्यर्थः। तपःसुते धर्मपुत्रे त्यागशालिनि सति सर्वपार्थिवधनान्यपि व्ययं ययुः। अत्रैकपार्थिवधनस्य क्रतुसमापकत्वासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः। तयोश्च सापेक्षत्वात्सजातीयसङ्करः॥ ४० ॥

किसी एक राजाने (राजा युधिष्ठिरके लिए) जो धन (उपहार-भेंटमें) दिया, उसी धनसे यज्ञ समाप्त हो जायेगा ऐसा अनुमान होता था; किन्तु युधिष्ठिरके दान करते रहनेपर सब राजाओंके (उपहारमें मिले हुए) धन भी समाप्त हो गये।

विमर्श—राजाओंसे उपहारमें प्राप्त सब धनके साथ ही युधिष्ठिरके अपने राजकोषके भी धन दान करते-करते समाप्त हो गये, यह 'अपि' शब्दसे सूचित होता है, अथवा—राजा युधिष्ठिरके अपने राजकोषके सब धन भी समाप्त हो गये एवं राजाओंके द्वारा उपहारमें प्राप्त बहुमूल्य धन तो समाप्त हो गये ही, यह 'अपि' शब्दसे सूचित होता है अर्थात् महादानी राजा युधिष्ठिरने अपने राजकोषके धनके साथ राजाओंसे उपहारमें प्राप्त हुए बहुमूल्य धनको भी दान कर दिया॥ ४० ॥

प्रीतिरस्य ददतोऽभवत्तथा येन तत्प्रियचिकीर्षवो नृपाः।
स्पर्शितैरधिकमागमन्मुदं नाधिवेश्म निहितैरुपायनैः॥ ४१ ॥

प्रीतिरिति॥ ददतो दानं कुर्वतोऽस्य राज्ञस्तथा तेनैव प्रकारेण राजोपायनानामर्थिसात्करणेनैव प्रीतिरभवदासीत्। न तु कोशगृहार्पणेनेत्यर्थः। कुतः। येन प्रकारेण तस्य राज्ञः प्रियचिकीर्षवः प्रियं कर्तुमिच्छवः। मधुपिपासुप्रभृतित्वाद् द्वितीयासमासः। नृपाः स्पर्शितैः प्रतिपादितैः। 'स्पर्शनं प्रतिपादनम्' इत्यमरः। उपायनैरुपहारैरधिकं यथा तथा मुदमागमन् प्राप्ताः। तथैव प्रभुप्रीतिसिद्धेः स्वोपायनानां सिद्धिनियोगलाभाच्चेति भावः। अधिवेश्म वेश्मनि निहितैरुपायनैर्मुदं नागमन्। तथोक्तप्रयोजनासिद्धेरिति भावः। येनैव राज्ञां मोदः स्वस्य च महान्धर्मलाभः तेनोपायनानामर्थिसात्करणादेव राज्ञः प्रीतिरासीत्, न कोशगृहार्पणादित्यर्थः। अत एव दानसंग्रहयोः प्रकृतयोः प्रीतेः संग्रहपरिहारेण दान एव नियमनात् परिसंख्यालङ्कारः। 'एकस्यानेकत्र प्राप्तावेकत्र नियमनं परिसंख्ये'ति लक्षणात्। एतेन सर्वस्वदानं व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः॥ ४१ ॥

दान करते हुए इस (युधिष्ठिर) को उस प्रकारसे अर्थात् याचकोंको दान देनेसे प्रसन्नता हुई. जिससे उस (युधिष्ठिर) के प्रिय करनेकी इच्छा करनेवाले राजा लोग दिये गये उपहारोंसे अधिक हर्षको प्राप्त किये, घर (कोषागार) में रखे गये उपहार द्रव्योंसे हर्षको प्राप्त नहीं किये।

विमर्श—हम लोग राजा युधिष्ठिरको बहुमूल्य वस्तु उपहारमें देते हैं, इसे वे अपने कोषागारमें नहीं रखकर साधारण-सी वस्तुके समान याचकोंके लिए क्यों दान कर रहे हैं—ऐसा करनेसे वे हमलोगोंकी वस्तुओंका मूल्य नहीं समझते, या हम लोगोंका अपमान कर

रहे हैं; उपहार देनेवाले राजालोग ऐसा सोचकर दुखित नहीं हुए, क्योंकि वे लोग राजा युधिष्ठिरका प्रिय करना चाहते थे, अतः वे राजा युधिष्ठिर जब उपहारमें मिले हुए बहुमूल्य वस्तुओंको भी याचकोंके लिए देनेसे ही अधिक प्रसन्न होते हैं, इस कारण राजालोग भी राजाके उसी कार्य (याचकोंके लिए अपने उपहृत बहुमूल्य वस्तुओंको दान करने) से ही प्रसन्न होते थे, उनके कोषागारमें रखने से नहीं ॥ ४१ ॥

यं लघुन्यपि लघूकृताहितः शिष्यभूतमशिषत्स कर्मणि ।
सस्पृहं नृपतिभिर्नृपोऽपरैर्गौरवेण ददृशेतरामसौ ॥ ४२ ॥

यमिति ॥ लघूकृता अल्पीकृता अहिताः शत्रवो येन सः । स राजा शिष्येण तुल्यं शिष्यभूतम् । 'भूतं क्ष्मादौ पिशाचादौ न्याय्ये सत्योपमानयोः' इति विश्वः । सुप्सुपेति नित्यसमासः । यं नृपं लघुन्यप्यल्पेऽपि वल्लीवपशुरक्षणादिकर्मण्यशिषदाज्ञापितवान् । 'सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च' (३।१।५६) इति लुङि च्लेरङादेशः 'शास इदङ्हलोः' (६।४।३४) इतीकारः । असौ कर्मकरो नृपः अपरैस्ततोऽन्यैर्नृपतिभिः सस्पृहम् अहो सम्मान इति साभिलाषं गौरवेण ददृशेतरामतिशयेन दृष्टः । दृशेः कर्मणि लिट् 'तिङश्च' (५।३।५६) इति तरप्प्रत्यये 'किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे' (५।४।११) इत्यामुप्रत्ययः । 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (१।१।३८) इत्यव्ययसंज्ञा । अत्र कर्मकरनृपस्येतरनृपकर्तृकविशिष्टदर्शनकर्मत्वासम्बन्धेपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । तया राज्ञो निरङ्कुशाज्ञत्वं व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ४२ ॥

(पराजित करने से) शत्रुओंको तुच्छ बनाये हुए उस युधिष्ठिरने (पशुकी रखवाली आदि) जिस साधारण-से भी कार्यमें जिस राजाको नियुक्त किया, (आज्ञापित कार्यको करते हुए) उस राजाको दूसरे राजालोग स्पृहापूर्वक बड़े गौरवकी दृष्टिसे देखते थे ॥ ४२ ॥

आद्यकोलतुलितां प्रकम्पनैः कम्पितां मुहुरनीदृगात्मनि ।
वाचि रोपितवताऽमुना महीं राजकाय विषया [1]विभेजिरे ॥ ४३ ॥

आद्येति ॥ आद्यकोल आदिवराहः । 'वराहः सूकरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरिः किटिः' इत्यमरः । तेन तुलितां कल्पादौ उद्धृताम् । तथापि प्रकम्पनैः प्रक्षोभकैर्हिरण्याक्षप्रमुखैः कम्पितां क्षोभितां महीम् । अनीदृगात्मन्यनेवंरूपायां केनाप्यकम्पितायामस्खलितायां वाचि रोपितवता स्थापितवता । स्थिरेण रोपणेन स्थिरीकुर्वतेत्यर्थः । अमुना राज्ञा राजकाय राज्ञां समूहाय । 'गोत्रोक्ष-' (४।२।३९) इत्यादिना वुञ्प्रत्ययः । विषया देशाः । 'नीवृज्जनपदो देशविषयौ तूपवर्तनम्' इत्यमरः । विभेजिरे अस्यायमिति विभक्ताः । प्राक् दिग्विजयोद्धृतान् राज्ञः पुनः पदेषु स्थापयामासेत्यर्थः । अत्रादिवराहो महीमुद्धृतवानेव वाचैवासौ तु निरातङ्कं स्थापितवांश्चेत्युपमानादुपमेयस्याधिक्यकथनाद्व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ४३ ॥

---

१. 'विलेभिरे' इति पा० ।

आदिवराह (के अवतार धारण किये हुए विष्णु भगवान्) के द्वारा (सृष्टिके-आरम्भ) में उद्धृत की गयी, किन्तु (हिरण्याक्ष आदि) क्षोभकारक असुरोंमें पुनः कम्पित की गयी पृथ्वीको इस प्रकारसे भिन्न बचनमें रखनेवाले इस युधिष्ठिरने राज-समूहके लिए बाँट दिया।

विमर्श—भगवान्ने वराहावतार धारणकर पृथ्वीको सृष्टिके आरम्भमें उद्धृत किया था, किन्तु बादमें हिरण्याक्ष आदि असुर उसे कम्पित किया करते थे-स्थिर नहीं रहने देते थे, और युधिष्ठिरने राजाओंको पराजित कर पुनः देशोंकी सीमा विभाजन कर पृथ्वीको इस प्रकार राजाओंमें बाँट दिया कि फिर वह सदाके लिए स्थिर ही बनी रही; अतएव आदिवराह द्वारा किया गया पृथ्वीका उद्धार हिरण्याक्षादि असुरोंसे पृथ्वीके क्षुब्ध किये जानेसे युधिष्ठिरके वचन-जैसा स्थिर नहीं रहा ॥ ४३ ॥

आगताद्व्यवसितेन चेतसा सत्त्वसम्पदविकारिमानसः ।
तत्र नाभवदसौ महाहवे शात्रवादिव पराङ्मुखोऽर्थिनः ॥ ४४ ॥

आगतादिति ॥ सत्त्वसम्पदा सत्त्वगुणाधिक्येन अविकारिमानसः । लोभाभिभवाभ्यामनुपप्लुतचित्त इत्यर्थः । 'सत्त्वं गुणे पिशाचादौ बले द्रव्यस्वभावयोः' इति विश्वः । असौ राजा तत्र तस्मिन्नासमन्ताज्जुह्वत्यस्मिन्नित्याहवो यागः । 'ऋदोरप्' (३।३।५७) इति जुहोतेरप्प्रत्यये गुणावादेशौ । आहूयन्ते शत्रवो यस्मिन्नित्याहवो युद्धम् । 'आङि युद्धे' इति ह्वयतेराङ् पूर्वादप्प्रत्ययः सम्प्रसारणम् । 'आहवो यागयुद्धयोः' इति विश्वः । महांश्चासौ स च महाहवस्तस्मिन्महाहवे व्यवसितेन निश्चितेन धनलाभं निश्चितवता । अन्यत्र शत्रोर्मृत्युरेवेति निश्चितवतेत्यर्थः । व्यवपूर्वात्स्यतेः सकर्मकत्वादप्यविवक्षिते कर्मणि कर्तरि क्तः । 'प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इति वचनात् । चेतसा आगतात् । चेतसा स्वयं निश्चित्यागतादित्यर्थः । अर्थिनो याचकात् । शत्रुरेव शात्रवः । स्वार्थेऽण्प्रत्ययो राक्षसवत् । तस्मादिव पराङ्मुखो नाभवत् । 'आहवेष्वनिवर्तित्वं प्रजानां चैव पालनम् । शुश्रूषा ब्राह्मणानां च राज्ञां श्रेयस्करं परम् ॥' (मनु० ७।८८) इति मनुस्मरणादिति भावः । श्लेषसङ्कीर्णेयमुपमा ॥ ४४ ॥

(लोभ एवं अभिमानसे हीन होनेके कारण) सत्त्वसम्पत्ति (सात्त्विक गुण, पक्षा०—बल) की अधिकतासे विकारहीन चित्तवाले वे (राजा युधिष्ठिर) उस महायज्ञमें स्थिर चित्त ('मुझे युधिष्ठिरके महायज्ञके इच्छानुसार धन अवश्यमेव प्राप्त होगा' ऐसा मनमें किये गये निश्चित विचार) से आये हुए याचकसे उस प्रकार पराङ्मुख नहीं हुए, जिस प्रकार बलकी अधिकतासे विकारहीन (निर्भय) चित्तवाले युधिष्ठिर महायुद्धमें निश्चित चित्त ('इस महायुद्धमें मैं शत्रुको अवश्य पराजित करूँगा' इनमें निश्चित किये गये ऐसे विचार) से आये हुए शत्रुसे पराङ्मुख नहीं होते थे अर्थात् अपने महायज्ञमें आये हुए याचकोंको युधिष्ठिरने उनकी इच्छानुसार दान दिया ॥ ४४ ॥

नैक्षतार्थिनमवज्ञया मुहुर्याचितस्तु न च कालमाक्षिपत् ।
नादिताल्पमथ न [1]व्यकत्थयद्दत्तमिष्टमपि नान्वशेत सः ॥ ४५ ॥

नैक्षतेति ॥ स राजा अर्थिनं याचकं मुहुरवज्ञया अनादरेण नैक्षत । तर्हि विलम्बितं किं, नेत्याह—याचितस्तु प्रार्थित एव कालं नाक्षिपन्न यापयामास । याचकबहुत्वात् । तर्ह्यल्पदाता नेत्याह—अल्पमपि नादित न ददौ । किन्तु यथार्थिकाममिति भावः । ददातेर्लुङि 'स्थाघ्वोरिच्च' (१।२।१७) इतीकारः 'ह्रस्वादङ्गात्' (८।२।२७) इति सलोपः । तर्हि विकत्थनः किं नेत्याह—न व्यकत्थयदात्मश्लाघां न चकार । 'कत्थ श्लाघायाम्' । किञ्च इष्टं प्रियमपि दत्तं वस्तु नान्वशेत नानुतप्तवान् । दत्तानुतापस्यातिप्रत्यवायहेतुत्वादिति भावः । अत्रार्थिसन्दोहयाच्ञादिबाहुल्यरूपकारणसामग्र्येऽपि विलम्बादिकार्यानुत्पत्तेर्विशेषोक्तिरलङ्कारः । 'तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते' इति लक्षणात् । तथा दातुः सात्त्विकत्वं व्यज्यत इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ॥ ४५ ॥

उस (राजा युधिष्ठिर) ने किसी याचकको अनादरसे नहीं देखा, और याचना करने पर समय-यापन नहीं किया अर्थात् विना विलम्ब किये तत्काल ही दे दिया, थोड़ा नहीं दिया, (अधिक देकर भी) अपनी प्रशंसा नहीं की और (याचककी) इच्छाके अनुसार देकर भी पश्चात्ताप नहीं किया ॥ ४५ ॥

निर्गुणोऽपि विमुखो न भूपतेर्दानशौण्डमनसः [2]पुरोऽभवत् ।
वर्षुकस्य किमपः कृतोन्नतेरम्बुदस्य परिहार्यमूषरम् ॥ ४६ ॥

निर्गुण इति ॥ दानशौण्डमनसो दानशूरचित्तस्य । बहुप्रदस्येत्यर्थः । 'स्युर्वदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे । मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः' इत्यमरः । भूपतेः पुरोऽग्रे निर्गुणस्तपोविद्यादिगुणहीनोऽपि विमुखो निष्फलो नाभवत्, किन्तु पूर्णकाम एवाभवत् । भूरिदाने सर्वस्यापि पात्रत्वादिति भावः । अत एव तेनापात्रवर्षदोषोऽपि न करुणवृत्तेरित्याशयेन दृष्टान्तमाह-वर्षुकस्येति । अपो जलानि । 'न लोक—' (२।३।६९) इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । वर्षुकस्य वर्षणशीलस्य । 'लषपत—' (३।२। १५४) इत्यादिना उकञ्प्रत्यये लघूपधगुणः । कृतोन्नतेः कृतोदयस्याम्बुदस्य । अम्बुदेनेत्यर्थः । 'कृत्यानां कर्तरि वा' (२।३।७१) इति षष्ठी । 'स्यादूषः क्षारमृत्तिका' इत्यमरः । तद्वत्क्षेत्रमूषरम् । 'ऊषवानूषरो द्वावप्यन्यलिङ्गौ स्थलं स्थली' इत्यमरः । 'ऊषसुषिमुष्कमधो रः' (५।२।१०७) इति रप्रत्ययः । परिहार्यं त्याज्यं किम् । नेत्यर्थः । अत्र पर्जन्यभूपालयोर्वाक्यभेदेन बिम्बप्रतिबिम्बतया समानधर्माभिधानाद् दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ४६ ॥

दानशूर चित्तवाले राजा (युधिष्ठिर) के आगे (विद्यादि न पढ़नेसे) गुणहीन भी

---

१. 'व्यकत्थत प्रत्त—' इति पा० ।   २. 'परो—' इति पा० ।

कोई (याचक पुरुष) विमुख (विना दान पाये) नहीं लौटा; क्योंकि पानी बरसाने वाला, उन्नतिको प्राप्त किया हुआ अर्थात् आकाशमें छाया हुआ (पक्षा०—उदार होनेसे उन्नत चित्तवाला) मेघ ऊसर (बीजाङ्कुर नहीं पैदा करनेवाली भूमि) को क्या छोड़ देता है ? अर्थात् नहीं छोड़ता, (अतएव दानशील राजा युधिष्ठिरने निर्गुणको भी दान दिया) ॥

प्रेम तस्य न गुणेषु नाधिकं न स्म वेद न गुणान्तरं च सः ।
दित्सया तदपि पार्थिवोऽर्थिनं गुण्यगुण्य इति न [1]व्यजीगणत् ॥ ४७ ॥

प्रेमेति ॥ तस्य राज्ञो गुणेष्वधिकं प्रेम नेति न, किंत्वस्त्येवेत्यर्थः । राजा गुणान्तरं गुणविशेषं न वेद न वेत्ति स्मेति न च, किन्तु वेदैवेत्यर्थः । 'लट् स्मे' (३।२। ११८) इति भूतार्थे लट् 'विदो लटो वा' (३।४।८३) इति णलादेशः । 'सम्भाव्यनिषेधनिवर्तने द्वौ प्रतिषेधौ' इति वामनः । सम्भावितयोरविमर्शादेवागुणप्रीतिज्ञानयोर्निषेध इति भावः । तदपि तथापि । पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवः । 'सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ' (५।१।४१) इत्यञ्प्रत्ययः । दित्सया दातुमिच्छया । सर्वपात्रदानकौतुकेनेत्यर्थः । 'सनि मीमा–' (७।४।५४) इत्यादिना इसादेशः । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' (७।४।५८) इत्यभ्यासलोपः । अर्थिनं याचकं गुणी गुणवान् अगुण्यो नायं गुणवानिति न व्यजीगणन्न गणयति स्म । गुणप्रियोऽपि गुणज्ञोऽपि दानशौण्डोऽर्थितया गुण्यगुण्यौ न गणयामासेत्यर्थः । गणतेर्णौ चङि 'ई च गणः' (७।४।९७) इत्यभ्यासस्य विकल्पादीकारः । अत्र गुणप्रियत्वगुणज्ञत्वरूपकारणसामग्र्येऽपि गुणागुणविमर्शरूपकार्यानुत्पत्तेः दित्सयेत्युक्तनिमित्ता विशेषोक्तिरलङ्कारः । 'तत्सामग्र्यामनुत्पत्तिर्विशेषोक्तिर्निगद्यते' इति लक्षणात् ॥ ४७ ॥

उस (राजा युधिष्ठिर) को गुणोंमें अधिक प्रेम नहीं था ऐसी बात नहीं थी और वे गुणोंके भेद (न्यूनाधिक्य—कमी-वेशी) को नहीं जानते थे, यह बात भी नहीं थी अर्थात् वे गुणोंमें अधिक प्रेम रखते थे एवं किसमें कम और किसमें अधिक गुण है ? इस बातको भी जानते थे; तथापि देनेकी इच्छासे उन्होंने यह याचक गुणवान् है और यह निर्गुण है, इसकी गणना ही नहीं की ॥ ४७ ॥

दर्शनानुपदमेव कामतः स्वं वनीयकजनेऽधिगच्छति ।
प्रार्थनार्थरहितं तदाऽभवद् दीयतामिति वचोऽतिसर्जने ॥ ४८ ॥

दर्शनेति ॥ वनीयकजनेऽर्थिजने । दर्शनानुपदं राजविलोकनानन्तरमेव । प्रार्थनामकृत्वेत्यर्थः । 'वनीयको याचनको मार्गणो याचकार्थिनौ' इत्यमरः । कामतो यथेच्छं स्वं धनमधिगच्छति लभमाने सति तदा दीयतामिति वचो दीयतामित्येतत्पदं प्रार्थना याच्ञा 'मह्यं दीयताम्' इति वाञ्छा, सैवार्थस्तेन रहितं शून्यं सत्तदा अतिसर्जने

---

१. 'व्यचारयत्' इति पा० ।

त्यागोऽभवद्वर्तत । 'मह्यं दीयताम्' इत्यर्थिवाक्याभावात् 'अस्मै दीयताम्' इति दातृवाक्यमेवान्वर्थमभूदित्यर्थः । अर्थिनामागमनमेव याचनमिति विवेकिनां किं याच्ञादैन्यदर्शनपापलेनेति भावः । अत्र दीयतामिति वचः सम्प्रार्थनार्थवर्जनेनासीत् । तेनातिसर्जनार्थताकथनादेकस्यानेकत्वप्रसक्तावेकत्र नियमनाख्या परिसंख्या ॥४८॥

याचक लोगोंके (राजा युधिष्ठिरके) दर्शन होनेके बाद ही इच्छानुसार धन प्राप्त करते रहनेपर उस समय 'दीयताम्' (दीजिये) यह वचन प्रार्थनार्थक (याचना अर्थवाला) न होकर दानार्थक हो गया ॥ ४८ ॥

नानवाप्तवसुनाऽर्थकाम्यता नाचिकित्सितगदेन रोगिणा ।
इच्छताशितुमनाशुषा न च प्रत्यगामि तदुपेयुषा सदः ॥ ४९ ॥

नेति ॥ अर्थकाम्यता अर्थमात्मन इच्छता धनार्थिना । 'काम्यच्च' (३।१।९) इति काम्यच्प्रत्यये सनाद्यन्तत्वेन धातुत्वाच्छटि शत्रादेशः । तत्सद उपेयुषा प्राप्तवता पुरुषेणानवाप्तवसुना अलब्धधनेन न प्रत्यगामि न प्रत्यावर्त्ति । रोगिणोपेयुषा अचिकित्सितगदेनाशमितरोगेण । 'रोगव्याधिगदामयाः' इत्यमरः । न प्रत्यगामि । अशितुं भोक्तुं इच्छता उपेयुषा अनाशुषा च अनशितेन । अभुक्तवतेत्यर्थः । 'उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च' (३।२।१०९) इति क्वसुप्रत्ययान्तो निपातितः । न प्रत्यगामि किन्तु सर्वेणापि पूर्णकामेनैव प्रत्यगामीत्यर्थः । गमेर्भावे लुङ् । अत्रार्थिरोगिबुभुक्षितानां प्रकृतानामेव पूर्णकामत्वसाम्याद्धर्म्यौपम्यत्वात्केवलप्रकृतविषया तुल्ययोगिता । तथा च यो यत्काम आगतः स तत्सर्वमेवास्मादलभतेति व्यज्यते ॥ ४९ ॥

उस (युधिष्ठिरकी) सभामें धनकी इच्छासे आया हुआ पुरुष बिना धन पाये नहीं गया (रोगकी चिकित्सा करानेकी इच्छासे) आया हुआ रोगी रोगकी बिना चिकित्सा कराये नहीं गया और खानेकी इच्छासे आया हुआ पुरुष बिना भोजन किये नहीं गया अर्थात् जिस इच्छाको मनमें रखकर उस सभामें जो पुरुष उपस्थित हुआ, वहाँ उसकी वह इच्छा पूरी हो गयी ॥ ४९ ॥

स्वादयन् रसमनेकसंस्कृत-प्राकृतैरकृतपात्रसङ्करैः ।
भावशुद्धिसंहितैर्मुदं जनो नाटकैरिव बभार भोजनैः ॥ ५० ॥

स्वादयन्निति ॥ अनेकानि बहूनि संस्कृतानि हिङ्गुमरिचादिना कृतसंस्काराणि प्राकृतानि प्रकृतिसिद्धानि संस्कारं विना स्वादूनि चूतफलादीनि च येषु तैः । अन्यत्रानेकविचित्रसंस्कृतप्राकृतौ भाषाविशेषौ येषु तैः । अकृतः पात्राणां भाजनानाम्, अन्यत्र भूमिकानां च सङ्करो व्यतिकरो येषु तैः । भावशुद्धिः पदार्थानां स्पष्टता अथवा भावशुद्धिः गर्हाविरहः तत्सहितैः । अन्यत्र भावाः स्थायिनो रत्यादयः तेषां शुद्धिः सजातीयविजातीयातिरस्कृतरूपकम् । 'सजातीयैर्विजातीयैरतिरस्कृतमूर्तिमान् । या-

१. '—विहितै—' इति पा० ।

वद्रसं वर्तमानः स्थायिभाव उदाहृतः ॥' इति तल्लक्षणात् । तत्सहितैर्भोजनैरभ्यवहार्यैर्नाटकै रूपकविशेषैरिव रसं मधुरादिकं शृङ्गारादिकं च स्वादयन्ननुभवन् जनो भोक्तृजनः सामाजिकजनश्च मुदमानन्दं बभार । श्लेषसङ्कीर्णेयमुपमा ॥ ५० ॥

अनेक तरहके हींग, मिर्च, जीरा आदिसे संस्कृत करनेसे स्वादिष्ठ (यथा—शाकादि) और स्वभावतः स्वादयुक्त (यथा आम, सन्तरा आदि), वर्तनोंको मिश्रणसे रहित अर्थात् एक वर्तनमें एक ही भोज्य पदार्थ परोसे गये (या एक–एक बर्तनमें एक–एक ही आदमीके लिए परोसे गये), भावशुद्धि (पदार्थोंकी स्वच्छता, या–अनिन्दनीयता, या–प्रसन्नचित्तता) से युक्त भोजनोंसे अनेकविध (छः प्रकारके) रसोंको, अनेकविध (चित्र-विचित्र) संस्कृत तथा प्राकृत भाषावाले, पात्रोंके मिश्रणसे रहित भाव (रति आदि स्थायी भाव) की शुद्धि (एकजातीय एवं भिन्नजातीयसे अतिरस्कृत रूपवाले) से युक्त नाटकोंके द्वारा (शृङ्गारादि) अनेक रसोंका आस्वादन करते हुए लोग हर्षको प्राप्त हुए अर्थात् उक्तरूप नाटकोंके द्वारा शृङ्गारादि रसोंका आस्वादन करते हुए दर्शकोंके समान युधिष्ठिरके यज्ञमें उक्तरूप भोजनोंसे मधुरादि रसोंका आस्वादन करते हुए भोजनकर्ता लोग प्रसन्न हुए ॥ ५० ॥

रक्षितारमिति तत्र [1]कर्मणि न्यस्य दुष्टदमनक्षमं हरिम् ।
अक्षतानि निरवर्तयत्तदा दानहोमयजनानि भूपतिः ॥ ५१ ॥

रक्षितारमिति ॥ इतीत्थं भूपतिर्युधिष्ठिरः तत्र कर्मणि राजसूयाध्वरे दुष्टानां दमने मर्दने क्षमं समर्थं हरिं रक्षितारं विघ्नेभ्यस्त्रातारं न्यस्य निधाय अक्षतान्यविहतानि दानहोमयजनानि निरवर्तयदन्वतिष्ठत् । स्वकीयस्य द्रव्यस्य स्वत्वनिवृत्त्या परस्वत्वोत्पादनं दानम् । देवतोद्देशेनाग्नौ हविषः प्रक्षेपो होमः । हुतस्य देवतोद्देशेन वाङ्मनसाभ्यां न ममेति त्यागो यागः । अत्र दुष्टदमनक्षमत्वस्य विशेषणगत्या हरे रक्षाधिकारहेतुन्यासहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ५१ ॥

इस प्रकार राजा (युधिष्ठिर) ने उस (राजसूय नामक महायज्ञरूप) कर्ममें दुष्टोंके दमन करनेमें समर्थ श्रीकृष्ण भगवान्को रक्षक बनाकर अविकल्प दान, हवन तथा यज्ञको पूरा किया ॥ ५१ ॥

एक एव सुसखैष सुन्वतां शौरिरित्यभिनया[2]दिवोच्चकैः ।
[3]यूपरूपकमनीनमद् भुजं भूभ्रषालतुलिताङ्गुलीयकम् ॥ ५२ ॥

एक इति ॥ सुन्वतां सोमाभिषवं कुर्वताम् । सोमयाजिनामित्यर्थः । सुनोतेर्लटः शत्रादेशः । सुसखा सत्सहायः । 'न पूजनात्' (५।४।६९) इति समासान्तप्रतिषेधः । एषः शौरिरेक एवेत्यभिनयादिव तद्व्यञ्जकचेष्टां कृत्वेवेत्युत्प्रेक्षा । 'व्यञ्जकाभिनयौ

१. 'कर्मणाम्' इति पा० । २. '—नयं वितन्वती' इति पा० । ३. 'यूपमङ्गुलिमिवोदनीनमद्' इति पा० ।

समौ' इत्यमरः। भूर्देवयजनभूमिः। चषालो यूपकटकः। 'चषालो यूपकटकः' इत्यमरः। तेन तुलितं। समीकृतमित्यर्थः। तुलयतेः 'तत्करोति–' (ग०) इति ण्यन्तात्कर्मणि क्तः। तदङ्गुलीयकमूर्मिका यस्य तम्। अङ्गुलीयकोपमानचषालमित्यर्थः। 'अङ्गुलीयकमूर्मिका' इत्यमरः। 'जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः' (४।३।६२) इति भावे छप्रत्ययः। उच्चकैरुन्नतं यूपं पशुबन्धनदारुविशेषं रूपकं स्वरूपं यस्य तं भुजमनीनमदुन्नमितवती। नमेर्णौ चङि सन्वत्कार्यम्। अत्र सापेक्षत्वादुपमोत्प्रेक्षणयोः सङ्करः॥ ५२॥

'सोमपान करनेवालों (सोमयाजियों) के उत्तम सहायक एकमात्र ये श्रीकृष्ण भगवान् ही हैं' मानो इसका अभिनय (प्रदर्शन) करके पृथ्वीने अंगूठीके समान चषाल (यज्ञस्तम्भके मध्यमें गोला वलयाकार) बनाया गया (चिह्न–विशेष) वाले यूपरूप (यज्ञपशु बांधे जानेवाले स्तम्भरूप) बाहुको उठाया।

विमर्श—जिसके बीचमें गोलाकार चिह्न बनाया गया था, ऐसा यज्ञीय पशुको बांधने का खूंटा पृथ्वीमें गाड़ा गया, वह ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो पृथ्वी अंगूठीसे शोभित हाथको उठाकर अभिनय करती हुई यह सूचित कर रही है कि सोमयाजियोंके एकमात्र उत्तम रक्षक श्रीकृष्ण भगवान् ही हैं॥ ५२॥

इत्थमत्र विततक्रमे क्रतौ वीक्ष्य धर्ममथ धर्मजन्मना।
अर्घदानमनु [1]चोदितो वचः सभ्यमभ्यधित शन्तनोः सुतः॥ ५३॥

इत्थमिति॥ इत्थमत्र क्रतौ विततक्रमे विस्तृतानुष्ठाने सति अथानन्तरं धर्माज्जन्म यस्य तेन धर्मजन्मना धर्मात्मजेन। 'जन्माद्युत्तरपदो बहुव्रीहिर्व्यधिकरण' इति वामनः। धर्मं वीक्ष्य। धर्मशास्त्रमनुस्मृत्येत्यर्थः। अर्घदानं पूजादानमनु। सदस्यपूजामुद्दिश्येत्यर्थः। 'सदस्यं सप्तदशं कौषीतकिनः समामनन्ति' इति शास्त्रात्। 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः। चोदितः कस्मै देयमिदमिति पृष्टः शन्तनोः सुतो भीष्मः। सभ्यं सभायां साधु। 'सभाया यः' (४।४।१०५) इति यत्प्रत्ययः। वचो वाक्यमभ्यधिताभिहितवान्। दधातेर्लुङि तङि 'स्थाघ्वोरिच्च' (१।२।२७) इति सिचः कित्त्वे 'ह्रस्वादङ्गात्' (८।२।२७) इति सकारलोपः। वृत्त्यनुप्रासोऽलङ्कारः॥ ५३॥

इस प्रकार इस यज्ञके क्रमविस्तार होनेपर धर्मको देखकर धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे अर्घ देने के विषयमें (प्रथम अर्घ किसके लिए देना चाहिये? इस प्रकार) पूछे गये शन्तनुपुत्र (भीष्मपितामह) सभ्य (सभामें श्रेष्ठ) वचन बोले॥ ५३॥

अथा सर्गसमाप्तेर्भीष्मवचः सप्रपञ्चमेव सफलं दर्शयति—

आत्मनैव गुणदोषकोविदः किं न वेत्सि[2] करणीयवस्तुषु।
यत्तथापि न गुरून्न पृच्छसि त्वं क्रमोऽयमिति तत्र कारणम्॥ ५४॥

आत्मनेति॥ तत्रात्मनो बहुमानकारणात् प्रीतस्तत्रभवान्भीष्मो राजानं तावदु-

---

१. 'नोदितो' इति पा०। २. 'वेत्थ' इति पा०।

त्साहार्थमेकेनोपश्लोकयति। वेत्तीति विदो ज्ञाता। इगुपधलक्षणः कप्रत्ययः। कस्मो विद्यास्थानस्य विदः कोविदो। गुणदोषयोः कोविदो विवेक्ता। करणीयवस्तुषु कर्तव्यार्थेष्वात्मनैव स्वयमेव। परोपदेशानपेक्षयैवेत्यर्थः। प्रकृत्यादित्वात्तृतीया। किं न वेत्सि। सर्वं जानासीत्यर्थः। तथापि ज्ञातापि त्वं गुरून् पृच्छसीति न, किन्तु पृच्छस्येवेति यत्। ज्ञानप्रसक्तपृच्छानिवारणाय नञ्द्वयम्। तत्र गुर्वनुयोगे अयं क्रम इति एषा सदाचारपरिपाटीत्येतदेव कारणं न स्वज्ञानमित्यर्थः। अत्र कर्तव्यार्थप्रश्नस्याज्ञानहेतुकत्ववारणेनापरहेतुकत्वे नियमनात्पूर्वोक्तलक्षणपरिसंख्यानम्॥ ५४॥

(अब सर्गान्त तक भीष्मोक्त वचनको सविस्तार कहते हैं) गुण तथा दोषको जाननेवाले तुम कर्तव्य कार्योंके विषयमें स्वयं नहीं जानते हो क्या? अर्थात् अवश्य ही जानते हो, तथापि गुरुजनोंसे नहीं पूछते हो, ऐसा नहीं है अर्थात् पूछते ही हो; उसमें यह सदाचार-परम्परा ही कारण है॥ ५४॥

एवं राजानमुपश्लोक्य प्रश्नस्योत्तरमाह—

स्नातकं गुरुमभीष्टमृत्विजं संयुजा च सह मेदिनीपतिम्।
अर्घभाज इति कीर्तयन्ति षट् ते च ते युगपदागताः सदः॥ ५५॥

स्नातकमिति॥ स्नातको गृहस्थविशेषस्तम्, गुरुं पित्रादिकम्, अभीष्टमिष्टबन्धुम् ऋत्विजं याजकम्, संयुज्यत इति संयुक् सम्बन्धी जामाता तेन सह मेदिनीपतिं राजानं च। तं च मेदिनीपतिं चेत्यर्थः। षट् षडेतेऽर्घभाजः पूजार्हा इति। इतिशब्देनाभिहितत्वाच्च कर्मणि द्वितीया यथाह वामनः—'निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः परिगणनस्य प्रायिकत्वात्' इति। कीर्तयन्ति कथयन्ति। वृद्धा इति शेषः। न च ते दूर इत्याह—ते च षडपि ते तव सदः सभां युगपदागताः प्राप्ताः। अत्र स्नातकादीनां प्रकृतानामेवार्घभाक्त्वसाधर्म्यादौपम्यावगमात्तुल्ययोगिताभेदः॥

(सदाचारी) गृहस्थ-विशेष, (पिता आदि) गुरुजन, इष्ट बन्धु, ऋत्विज्, जामाता और राजा—ये छः अर्घके प्राप्त करने योग्य होते हैं ऐसा शास्त्रज्ञ कहते हैं और वे सभी तुम्हारी सभामें एक साथ आये हुए हैं॥ ५५॥

शोभयन्ति परितः [1]प्रतापिनो मन्त्रशक्तिविनिवारितापदः।
त्वन्मखं मुखभुवः स्वयम्भुवो भूभुजश्च परलोकजिष्णवः॥ ५६॥

शोभयन्तीति॥ किञ्च प्रतापयितुं शीलं येषां ते प्रतापिनः शत्रुतापकाः। ताच्छील्ये णिनिः। अन्यत्र तेजस्विनः। 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः। 'अत इनिठनौ' (५।२।११५) इति इनिप्रत्ययः। मन्त्रशक्त्या वेदमहिम्ना, अन्यत्र विचारसामर्थ्येन विनिवारिता आपदो दैवमानुषविपत्तयो यैस्ते। 'वेदभेदे गुप्तवादे मन्त्रः' इत्यमरः। परलोकस्य लोकान्तरस्य, शत्रुजनस्य च जिष्णवो जयशीलाः।

१. 'प्रभाविनो' इति पा०।

स्वयम्भुवो ब्रह्मणो मुखभुवो मुखजाता ब्राह्मणाः। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इति श्रुतेः। भूभुजो राजानश्च। त्वन्मखं तव क्रतुं परितः शोभयन्ति परिष्कुर्वन्ति। सर्वेऽप्यागत्य वसन्तीत्यर्थः। अत्र राज्ञां ब्राह्मणानां च प्रकृतानामेव प्रतापित्वादिसाधर्म्येणौपम्यावगमात्तुल्ययोगिताभेदः। साधर्म्यं च श्लेषनिबन्धनमिति सङ्करः॥५६॥

प्रतापी (तेजस्वी, पक्षा०—प्रतापसे शत्रुओंको सन्तप्त करनेवाले), मन्त्र (विचार, पक्षा०—वेदमन्त्र) की शक्तिसे (दैवकृत एवं मानवकृत, पक्षा०—शत्रुकृत) आपत्तियोंको रोके हुए तथा परलोक (स्वर्गादि लोकान्तर, पक्षा०—शत्रु-समूह) को जीतनेवाले, ब्रह्माके मुखसे उत्पन्न (ब्राह्मण) तथा राजालोग तुम्हारे यज्ञको सब ओरसे सुशोभित कर रहे हैं॥

आभजन्ति गुणिनः पृथक्पृथक्पार्थ सत्कृतिमकृत्रिमाममी।
एक एव गुणवत्तमोऽथवा पूज्य इत्ययमपीष्यते विधिः॥ ५७॥

आभजन्तीति॥ हे पार्थ पृथापुत्र, 'तस्येदम्' (४।३।१२०) इत्यण्। सामान्यस्य योग्यविशेषपर्यवसाननियमादपत्यार्थलाभः। अन्यथा 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२०) इति ढक् स्यात्। गुणिनो गुणाढ्या अमी पूर्वश्लोकद्वयोक्ताः स्नातकादयः पृथक्पृथक् प्रत्येकमकृत्रिमामकपटां सत्कृतिं सत्कारमाभजन्ति अर्हन्ति। सममेषां प्रत्येकं पूजा कार्येत्यर्थः। अथ स्वाभिमतं पक्षान्तरमाह—अथवेति। अथवा गुणवत्तमोऽतिगुणवानेक एव पूज्य इत्ययमपि विधिः शास्त्रमनुष्ठानं वेष्यते। वृद्धैरिति शेषः। अत्र स्नातकादीनां पूज्यत्वे गुणो विशेषणगत्या हेतुरिति काव्यलिङ्गभेदः। तदपेक्षया गुणवत्तमत्वमेकस्यैव पूज्यत्वे तथैव हेतुरिति काव्यलिङ्गान्तरमिति सजातीयसङ्करः॥ ५७॥

हे पृथापुत्र (युधिष्ठिर) ये (पूर्व दो (१४।५५-५६) श्लोकोंमें कहे गये स्नातकादि) गुणवान् सभी अलग-अलग सत्कारके योग्य हैं; अथवा अधिक गुणवान् एक ही व्यक्ति पूज्य (पूजाके योग्य) होता है, यह भी (शास्त्रानुमोदित) विधि है॥ ५७॥

अत्र क एकस्तथा सर्वोत्तरः पुमानस्तीत्याकाङ्क्षायां कोऽन्यो हरिं विनेत्याह—

अत्र चैष सकलेऽपि भाति मां प्रत्यशेषगुणबन्धुरर्हति।
भूमिदेवनरदेवसङ्गमे पूर्वदेवरिपुरर्हणां हरिः॥ ५८॥

अत्रेति॥ अत्रास्मिन्कालेऽपि भूमिदेवा ब्राह्मणाः नरदेवा राजानस्तेषां सङ्गमे। ब्राह्मणक्षत्रियसमवाय इत्यर्थः। अशेषगुणानां बन्धुः सुहृत्। सर्वगुणाढ्य इत्यर्थः। असाधारणगुणानाह—पूर्वेति। पूर्वदेवाः सुरद्विषस्तेषां रिपुर्हन्ता एष हरिः कृष्णः अर्हणां पूजामर्हति प्राप्नोतीति मामधिकृत्य भाति। मम प्रतिभातीत्यर्थः। अन्ये तु नार्हन्तीत्यपि सिद्धमिति भावः। अत्र तत्रान्येषु च प्रसक्तायां पूजायां हरावेव नियमात्परिसंख्यालङ्कारः। 'एकस्य वस्तुनः प्राप्तावनेकत्रैकधा यदा। एकत्र नियमः सा हि परिसंख्या निगद्यते' इति तल्लक्षणात्॥ ५८॥

(अब भीष्म पितामह स्वाभिमत अधिक गुणवान् व्यक्ति श्रीकृष्ण भगवान्‌को बतलाते

हुए कहते हैं) इस सम्पूर्ण ब्राह्मणों तथा राजाओंके समुदायमें सम्पूर्ण गुणोंके बन्धु अर्थात् सर्वगुणसम्पन्न असुरारि श्रीकृष्ण भगवान् पूजाके योग्य हैं, ऐसा मुझको जँचता है ॥ ५८ ॥

ननु एतस्मिन्ब्राह्मणक्षत्रियसमूहे कथमस्यैव पूज्यत्वमित्याशङ्क्य सर्वोत्तमत्वादस्येत्याशयेनासर्गसमाप्तेरेनं स्तौति—

सत्यमात्रमवदीधरद्भवान् मैनमानमितदैत्यदानवम् ।
अंश एष जनतातिवर्तिनो वेधसः प्रतिजनं कृतस्थितेः ॥ ५९ ॥

मर्त्येत्यादि ॥ आनमिताः प्रह्वीकृता दैत्या दितिसुताः, दानवा दनुसुताश्च येन तमेनं हरिं भवान्मर्त्यमात्रं मनुष्यमात्रं मावदीधरत् न जानीयात्। 'शेषे प्रथमः' (१।४।१०८) इति प्रथमपुरुषः। कुतः। एषः कृष्णो जनतातिवर्तिनः सर्वलोकातीतस्य प्रतिजनं जने जने कृतस्थितेः कृता स्थितिः येन तस्य। सर्वभूतान्तर्यामिण इत्यर्थः। वेधसः परमात्मनोंऽशः कला। अतो न मर्त्यमात्रमित्यर्थः। अत एव वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ५९ ॥

('इस ब्राह्मण-क्षत्रिय-समुदायमें श्रीकृष्ण भगवान् ही सर्वाधिक गुणसम्पन्न हैं' इसके पुष्ट्यर्थ भीष्म पितामह सर्गकी समाप्तितक उनकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं) दैत्यों एवं दानवोंको नम्र करने (पराभूतकर दबाने) वाले इनको तुम केवल मानव मात्र मत जानो, क्योंकि ये (श्रीकृष्ण भगवान्) जनसमूहातिशायी एवं प्रत्येक जनमें स्थित परमात्माके अंश हैं ॥ ५९ ॥

पुनरप्यमानुषत्वमेव व्यनक्ति—

ध्येयमेकमपथे स्थितं धियः स्तुत्यनुत्तममतीतवाक्पथम् ।
आमनन्ति यमुपास्यमादराद् दूरवर्तिनमतीव योगिनः ॥ ६० ॥

ध्येयमिति ॥ योगिनो नारदादयः एकमद्वितीयमुत्तमं सर्वोत्तमं यमेनं ध्येयं ध्यातव्यम्। एकार्थगोचरात्मधारणं ध्यानं तदर्हमित्यर्थः। तथापि धियो ज्ञानस्यापथेऽमार्गे स्थितम्। तदगोचरमित्यर्थः। 'पथो विभाषा' (५।४।७२) इति समासान्तः। 'अपथं नपुंसकम्' (२।४।३०) इति नपुंसकत्वम्। आमनन्ति कथयन्ति। 'पाघ्रा-' (७।३।७८) इत्यादिना म्नाधातोर्मनादेशः। स्तुत्यं स्तोतुमर्हम्। तथापि अतीतो वाक्पथो येन तम्। अवाङ्मनसगोचरमित्यर्थः। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतेः। आमनन्ति आदरास्थया उपास्यं सेव्यम्। तथापि अतीवात्यन्तम्। अतीवेति निपातसमुदायोऽत्यन्तार्थेऽव्ययम्। दूरवर्तिनमामनन्ति यमेनमचिन्त्यरूपमामनन्ति तमेनं मर्त्यमात्रं कोऽवधारयेदिति पूर्वेणान्वयः। अवाङ्मनसगोचरदूरवर्तित्वानां ध्येयत्वस्तुत्यत्वोपास्यत्वैः सह विरोधस्य हरेरचिन्त्यमहिमत्वेन समाधानाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ६० ॥

(नारदादि) योगीलोग एक (अद्वितीय) एवं सर्वश्रेष्ठ जिन (श्रीकृष्ण भगवान्) को

ध्यानके योग्य (होने पर भी) बुद्धिमार्गके परे स्थित अज्ञानके अविषय मानते हैं, स्तुतिके योग्य (होने पर भी) वाक्पथको अतिक्रान्त अर्थात् वचन एवं मनके अविषय (वचनसे अवर्णनीय एवं मनसे अचिन्तनीय) मानते हैं और आदरसे उपासना (पूजा) के योग्य (होनेपर भी) अत्यन्त दूरवर्ती अर्थात् अचिन्तनीय रूपवाले मानते हैं; (अतएव हे पृथा-पुत्र युधिष्ठिर ! तुम इन (श्रीकृष्ण भगवान्) को केवल मानवमात्र मत जानो) ॥ ६० ॥

ननु हरिहरहिरण्यगर्भादयस्त्रयो देवाः सर्वोत्तरमहिमानः सन्ति, एनं न जानीम इत्यत आह—

पद्मभूरिति सृजञ्जगद्रजः सत्त्वमच्युत इति स्थितिं नयन् ।
संहरन्हर इति श्रितस्तमस्त्रैधमेष भजति त्रिभिर्गुणैः ॥ ६१ ॥

पद्मभूरिति ॥ एष हरिः रजः रजोगुणं श्रित आश्रितो जगत्सृजन् पद्मभूर्ब्रह्मेति, सत्त्वं सत्त्वगुणं श्रितः जगत्स्थितिं नयन् स्थापयन् अच्युतो विष्णुरिति, तमस्तमोगुणं श्रितो जगत् संहरन् हर इति, त्रिभिर्गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिस्त्रैधं त्रैविध्यं भजति । 'द्वित्र्योश्च धमुञ्' (५।३।४५) इति विधार्थे धमुञ् प्रत्ययः । अस्यैव गुणभिन्नास्ता-स्तिस्रोऽपि मूर्तय इत्ययमेव सर्वोपास्य इति भावः । अत्र सत्त्वादिगुणयोगस्य सृष्ट्यादिगुणयोगस्य च विशेषणगत्या त्रैविध्यहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥६१॥

ये श्रीकृष्ण भगवान् रजोगुणका आश्रयकर संसारकी रचना करते हुए ब्रह्मा, सत्त्वगुण का आश्रयकर संसारको स्थितिपर रखते हुए अर्थात् पालन करते हुए विष्णु और तमोगुणका आश्रयकर संसार का संहार करते हुए हर (शिव) कहलाते हैं; अतः (सत्त्व, रजः और तमोरूप) तीन गुणोंसे (ब्रह्मा, विष्णु और शिवरूप) त्रैविध्यको धारण करते हैं अर्थात् सत्त्वादि गुणत्रयसे भिन्न ब्रह्मा आदिकी तीनों मूर्तियाँ इन्हींकी हैं ॥ ६१ ॥

तर्हि कीदृशमस्य स्वरूपं कुतो वा मानुषविग्रहसम्बन्ध इत्यपेक्षायामुभयं निरूपयन्नाह—

सर्ववेदिनमनादिमास्थितं देहिनामनुजिघृक्षया वपुः ।
क्लेशकर्मफलभोगवर्जितं पुंविशेषममुमीश्वरं विदुः ॥ ६२ ॥

सर्वेति ॥ अमुं कृष्णं सर्ववेदिनम् । नित्यसर्वमित्यर्थः । अत एवानादिमादिरहितम् । अनादिनिधनमित्यर्थः । तथापि देहिनां प्राणिनामनुजिघृक्षयाऽनुग्रहीतुमिच्छया । भूभारावतरणार्थमित्यर्थः । गृहेः सन्नन्तास्त्रियाम् 'अ प्रत्ययात्' (३।३।१०२) इत्यप्रत्यये टाप् । वपुरास्थितं मानुषविग्रहमास्थितम् । न तु कर्मारब्धशरीरभाजमित्यर्थः । अत एव क्लेशकर्मफलभोगवर्जितम् । क्लेशाः पञ्च अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाख्याः । कर्माणि पुण्यपापानि तेषां फले सुखदुःखे तयोर्भोगोऽनुभवस्तेन क्लेशैश्च वर्जितम् । तैरसंस्पृष्टमित्यर्थः । ईश्वरमीश्वरशब्दितं पुंविशेषं क्षेत्रज्ञ-

विलक्षणं पुरुषविशेषं परमपुरुषं वा विदुर्विदन्ति । सन्त इति शेषः । 'विदो लटो वा' (३।४।८३) इति झेरुसादेशः । अत्राकर्मारब्धत्वाच्चित्यज्ञानत्वादिविरोधसमर्थनाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः । तेषामेव गुणानां विशेषणगत्या पुंविशेषहेतुत्वात्काव्यलिङ्गमिति सङ्करः ॥ ६२ ॥

(अब भीष्म पितामह श्रीकृष्ण भगवान्‌के स्वरूप तथा मनुष्य देहसे सम्बन्ध होनेका कारण कहते हैं-तत्त्वदर्शी लोग) इन (श्रीकृष्ण भगवान्) को सर्वज्ञ, आदि रहित (होने पर भी, भूभारको दूर करनेसे) प्राणियोंको अनुगृहीत करनेकी इच्छासे (मनुष्यके) शरीरको प्राप्त किये हुए अर्थात् प्रारब्ध कर्मके वशसे मानव-शरीरको नहीं प्राप्त किए हुए, (अतएव, अविद्या, अहङ्कार, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप पांच) क्लेशों एवं (पुण्य-पापरूप दो) कर्मोंके फलको नहीं भोगनेवाले 'ईश्वर'[1] संज्ञक पुरुष-विशेष परमपुरुष, या-पुराणपुरुष, आदिपुरुष आदि कहते हैं ॥ ६२ ॥

एवं हरेः स्वरूपं निरूप्य तदुपासनाफलं युग्मेनाह (युग्मम् ६३-६४)—

भक्तिमन्त इह भक्तवत्सले सन्ततस्मरणरीणकल्मषाः ।
यान्ति निर्वहणमस्य संसृति-क्लेशनाटकविडम्बनाविधेः ॥ ६३ ॥

भक्तिमन्त इति ॥ भक्तवत्सले भक्तप्रिये इहास्मिन् हरौ भक्तिमन्तोऽनुरागवन्तो जनाः । पूज्येष्वनुरागो भक्तिः । सन्ततं सततं तत्स्मरणेन निरन्तरध्यानेन रीणकल्मषाः क्षीणपापाः सन्तः । 'री क्षये' 'ल्वादिभ्यः' (८।२।४४) इति निष्ठानत्वम् । अस्यानुभूयमानस्य कृष्णस्य संसृतिः संसारस्तस्य क्लेशो दुःखं तदेव नाटकमिति रूपकम् । तस्य विडम्बनाभिनयस्तस्य निर्वहणं समाप्तिं यान्ति । मुच्यन्त इत्यर्थः । 'तमेवं विद्वानमृत इह भवति' (श्वेता० ६।१५) इति श्रुतेरिति भावः ॥ ६३ ॥

(इस प्रकार (१४।५९-६२) श्रीकृष्ण भगवान्‌के स्वरूपका संक्षेपतः निरूपणकर अब उनकी उपासना करनेका फल दो (१४।६३-६४) श्लोकोंसे भीष्म पितामह कहते हैं) भक्तवत्सल इन (श्रीकृष्ण भगवान्) में भक्ति करनेवाले लोग (इनका) सर्वदा स्मरण करनेसे क्षीण पापवाले होकर इन (श्रीकृष्ण भगवान्) के संसारके क्लेशरूपी नाटककी विडम्बनाकी समाप्तिको प्राप्त करते हैं अर्थात् सांसारिक क्लेशसे छूटकर मुक्त हो जाते हैं ॥

ग्राम्यभावमपहातुमिच्छवो योगमार्गपतितेन चेतसा ।
दुर्गमेकमपुनर्निवृत्तये यं विशन्ति वशिनं मुमुक्षवः ॥ ६४ ॥

ग्रामेति ॥ ग्रामे भवा ग्राम्याः प्राकृताः । मूढा इति यावत् । 'ग्रामाद्यखञौ' (४।२।९४) इति यत्प्रत्ययः । तेषां भावस्तमपहातुं मोक्तुमिच्छवो मुमुक्षवो मोक्षार्थिनः अपुनर्निवृत्तयेऽपुनरावृत्तये पुनरावृत्त्यभावाय । मोक्षायेत्यर्थः । दुःखेन गम्यत इति दुर्गं दुष्प्राप्यं एकमेवाद्वितीयं वशिनं स्वतन्त्रं यं हरिं योगमार्गपतितेन ध्यान-

१. तदुक्तं योगसूत्रे-'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥' इति ।

मार्गनिविष्टेन । 'योगः संनहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः । चेतसा विशन्ति ध्यायन्तीत्यर्थः । यं विशन्ति इह भक्तिमन्त इति पूर्वेणान्वयः ॥ ६४ ॥

(इन (श्रीकृष्ण भगवान्) में भक्ति करनेवाले) मूढता का त्याग करनेके इच्छुक मुमुक्षु लोग (संसारमें जन्म लेकर) फिर नहीं लौटनेके लिए अर्थात् मुक्तिके लिए दुःखसे प्राप्य एवं एकमात्र वशी (सर्वथा स्वतन्त्र) जिन (श्रीकृष्ण भगवान्) को योगमार्गमें लगाये हुए चित्तसे प्रवेश करते हैं अर्थात् मुमुक्षुलोग मुक्तिके लिए इन्हींका ध्यान करते हैं ॥ ६४ ॥

अथ भक्त्युद्रेकान्नमस्करोति—

आदितामजननाय देहिनामन्ततां च दधतेऽनपायिने ।
बिभ्रते भुवमधः सदाथ च ब्रह्मणोऽप्युपरि तिष्ठते नमः ॥ ६५ ॥

आदितामिति ॥ देहिनां प्राणिनामादितां कारणताम् । अन्तोऽन्तकरो नाशहेतुः । 'तत्करोति–' (ग०) इति ण्यन्तादन्तयतेः पचाद्यच् । तस्य भावस्तत्तामन्ततां च दधते । 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' (तैत्ति० ३।१) इत्यादिश्रुतेः । स्वयमजननाय जन्मरहिताय । अपायोऽस्यास्तीत्यपायी स न भवतीत्यनपायी तस्मै अनपायिने नाशरहिताय च । कालतोऽपरिच्छन्नायेत्यर्थः । देशतोऽपि तथेत्याह— सदाऽधः पाताले भुवं बिभ्रते कूर्मरूपेण दधते । अथ च तथैव ब्रह्मणो लोकस्याप्युपरि तिष्ठते । सर्वव्यापिन इत्यर्थः । तस्मै । हरय इति शेषः । नमः नमस्कारः । 'नमः स्वस्ति–' (२।३।१६) इत्यादिना चतुर्थी । अत्र हरेरनादिनिधनत्वेन तद्वतः पुरुषान्तरादाधिक्यवर्णनाद्व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ६५ ॥

(अब भीष्म पितामह भक्तिकी अधिकतासे श्रीकृष्ण भगवान्को नमस्कार करते हैं) प्राणियोंके कारणत्व तथा नाशहेतुको धारण करते हुए, (स्वयं) जन्म और नाशसे रहित, सर्वदा पाताल लोकमें (कूर्मरूपसे अवस्थित होकर) पृथ्वीको धारण करते हुए, (तथापि) ब्रह्मासे भी ऊपर रहते हुए (आप श्रीकृष्ण भगवान्) के लिए नमस्कार है ॥ ६५ ॥

केवलं दधति कर्तृवाचिनः प्रत्ययानिह न जातु कर्मणि ।
धातवः सृजतिसंहृशास्तयः स्तौतिरत्र विपरीतकारकः ॥ ६६ ॥

केवलमिति ॥ सृजतिश्च संहृतिश्च शास्तिश्च सृजतिसंहृशास्तयः । 'सृज विसर्गे' 'हृञ् हरणे' सम्पूर्वोऽयं 'शासु अनुशिष्टौ' इत्येते त्रय इत्यर्थः 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' (वा०) इति वचनादेवं निर्देशः । धातवो 'भूवादयो धातवः' (१।३।१) इत्युक्तलक्षणाः शब्दविशेषाः । इहास्मिन्भगवति विषये केवलमन्ययोगव्यवच्छिन्नं यथा तथा कर्तृवाचिनः कर्तृकारकवाचकान्दधति । तदन्ता एव भवन्तीत्यर्थः । जातु कदाचित् कर्मणि प्रत्ययान् कर्मार्थे विहितान् यगादीन् न दधति । न तदन्ता भवन्तीत्यर्थः । सर्वकर्तृत्वान्नियन्तृत्वाच्च सृजति स्रष्टा, संहरति हर्ता, शास्तीति शासिता इत्यादिभिः कर्तृत्वेन । निर्दिश्यते न कदाचित्सृज्यते, संह्रियते, शिष्यत इत्यादिभिः कर्मत्वेन ।

अनादिनिधनत्वादनियम्यत्वाच्चेति भावः। किंच अत्र भगवति स्तौतिः। 'ष्टुञ् स्तुतौ' इति धातुः। विपरीतं कारकं यस्य स विपरीतकारकः स्तूयते स्तुत्य इत्यादि-कर्मप्रत्ययान्त एव न तु कदाचित्स्तौति स्तोता इत्यादिकर्तृप्रत्ययान्तः। सकल-लोकस्तुत्यस्य तस्य स्तुत्यन्तराभावादित्यर्थः। शब्दानां कर्मकर्तृप्रत्ययविधिनिषे-धद्वारा 'भङ्ग्यन्तरेण सर्वकर्तृकत्वसर्वोपास्यत्वादिसूक्ष्मार्थबोधपरत्वात् सौक्ष्म्याख्यो गुणः। 'अन्तः सङ्कल्परूपत्वं शब्दानां सौक्ष्म्यमुच्यते' इति लक्षणात्। अत्र भगवतः सृष्ट्यादिकर्तृत्वकर्मत्वोभयप्राप्तावेकत्रैकनियमात्परिसंख्या। तत्र न जातु कर्मणीति शब्दादेव कर्मत्वनिषेधादितरनिवृत्तिः, शब्दात्स्तुतौ कर्तृत्वनिवृत्तिरार्थीति भेदद्वय-संसर्गः। अनया च भगवतः पुरुषान्तराधिक्यप्रतीतेर्व्यतिरेकश्च प्रतीयत इत्यलङ्कारे-णालङ्कारध्वनिः॥ ६६॥

सृज् (सृज् विसर्गे), संहृ ('सम्' उपसर्ग पूर्वक हृञ् हरणे) और शास् (शासु अनुशिष्टौ) धातु इन (श्रीकृष्ण भगवान्) के विषयमें केवल कर्तृवाची प्रत्ययोंको धारण करते हैं ('हरिः सृजति, हरिः संहरति और हरिः शास्ति' इस प्रकार प्रयुक्त होनेसे वे सर्वदा कर्तृवाचक प्रत्यय युक्त ही रहते हैं), किसी समय कर्ममें प्रत्ययोंको नहीं धारण करते हैं (कश्चित् हरिं सृजति, हरिं संहरति और हरिं शास्ति इस प्रकार कर्मवाचक प्रत्यययुक्त कभी नहीं प्रयुक्त होते; क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान्‌की रचना, संहार या शासन करनेवाला संसारमें कोई भी नहीं है); परन्तु स्तु (ष्टुञ् स्तुतौ) धातु इनके विषयमें विपरीत कारकवाला रहता है। ('जनो हरिं स्तौति' इस प्रकार कर्मवाचक प्रत्ययसे ही युक्त रहता है, 'हरिः कञ्चित् स्तौति' इस प्रकार कर्तृवाचक प्रत्ययसे युक्त नहीं होता, क्योंकि इन हरिकी सब स्तुति करते हैं, हरि किसीकी स्तुति नहीं करते)।

विमर्श—महाकवि माघने व्याकरण-सम्बन्धी अपने प्रकाण्ड पाण्डित्यका परिचय इस श्लोकमें बड़ी निपुणतासे दिया है॥ ६६॥

पूर्वमेष किल सृष्टवानपस्तासु वीर्यमनिवार्यमादधौ।
तच्च कारणमभूद्धिरण्मयं ब्रह्मणोऽसृजदसाविदं जगत्॥ ६७॥

पूर्वमिति॥ एष हरिः पूर्वं प्रथममपः सृष्टवान्। किलेत्यैतिह्ये। तास्वप्सु अनि-वार्यं दुर्वारं वीर्यं रेतः। 'शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च' इत्यमरः। आद-धावाहितवान्, तद्वीर्यं तु हिरण्यस्य स्वर्णस्य विकारः हिरण्मयम्। 'दाण्डिनायन—' (६।४।१७४) इत्यादिना निपातः। ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य कारणमभूत्। ब्रह्माण्डं जात-मित्यर्थः। असौ तदुत्पन्नो ब्रह्माण्डमिदं जगदसृजत्। सर्वस्यापि प्रपञ्चस्यायमेव मूलकारणमिति भावः। अत्र मनुः—'अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमथासृजत्। तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्॥ तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥' (मनु० १।८-९) इति। अत्र वीर्यमनिवार्यमिति वृत्त्यनुप्रासः॥ ६७॥

१. 'तत्र' इति पा०।

इन्होंने (श्रीकृष्ण भगवान्‌ने) पहले जलकी सृष्टि की, फिर उस (जल) में दुर्वार (कभी भी निष्फल नहीं होनेवाले) वीर्य (शुक्र) को छोड़ा, हिरण्मय (सुवर्णका विकार-रूप) वह वीर्य ब्रह्माका कारण हुआ अर्थात् उस हिरण्मय वीर्यसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए और उस ब्रह्माने इस संसारकी सृष्टि की ॥ ६७ ॥

अथैनं त्रिभिर्विशिनष्टि—

मत्कुणाविव पुरा परिप्लवौ सिन्धुनाथशयने निषेदुषः ।
गच्छतः स्म मधुकैटभौ विभोर्यस्य नैद्रसुखविघ्नतां क्षणम् ॥ ६८ ॥

मत्कुणाविवेत्यादिना ॥ पुरा पूर्वं परिप्लवौ चञ्चलौ । मुहुरितस्ततश्चलन्ताविऽत्यर्थः । 'चञ्चलं चपलं तूर्णं पारिप्लवपरिप्लवे' इत्यमरः । मधुकैटभावसुरविशेषौ मत्कुणौ सुप्तासृक्पायिनौ मञ्चोद्भवौ कीटविशेषौ ताविवेत्युपमा । सिन्धुनाथः सरित्पतिः स एव शयनं तत्र निषेदुषो निषण्णस्य । समुद्रशायिना इत्यर्थः । 'भाषायां सदवसश्रुवः' (३।२।१०८) इति लिटः क्वसुरादेशः विभोः प्रभोः यस्य हरेः क्षणं निद्रायाः संबन्धिनः आगतं वा नैद्रं यत्सुखं तस्य विघ्नतां विघातुकतां गच्छतः स्म गतौ । तादृशावपि महासुरौ मत्कुणाविव क्षणमात्रेण प्रनष्टाविति भगवतः प्रभावातिशयोक्तिः । एषां त्रयाणां पूर्वेणान्वयः ॥ ६८ ॥

पूर्वकालमें चञ्चल मधु तथा कैटभ नामके दो राक्षस चञ्चल खटमलके समान, सरित्पति (समुद्र) में सोये हुए सर्वसमर्थ जिन (श्रीकृष्ण भगवान्) के क्षणमात्र निद्रा-सम्बन्धी सुखमें विघ्न करनेवाले बने थे ॥ ६८ ॥

श्रौतमार्गसुखगानकोविदब्रह्मषट्चरणगर्भमुज्ज्वलम् ।
श्रीमुखेन्दुसविधेऽपि शोभते यस्य नाभिसरसीसरोरुहम् ॥ ६९ ॥

श्रौतेति ॥ श्रौतमार्गस्य सुखं सुखकरं यद्गानं तस्य कोविदोऽभिज्ञः । कोविदो व्याख्यातः । स चासौ ब्रह्मा च स एव षट्चरणः भृङ्गः स गर्भे यस्य तत् उज्ज्वलं निर्मलं यस्य हरेर्नाभिरेव सरसी । सरः कासारः । 'कासारः सरसी सरः' इत्यमरः । तस्यां रोहतीति सरोरुहं पद्मं श्रियो मुखमेवेन्दुस्तस्य सविधे समीपेऽपि शोभत इति विरोधः । स च मुखस्येन्दुत्वरूपणायत्त इत्यनयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ६९ ॥

कर्णपथको सुखप्रद (गुञ्जार, पक्षा०—वैदिक पथको सुखप्रद सामादि वेदगान) के ज्ञाता ब्रह्मारूपी भ्रमर जिसके भीतर है ऐसा तथा निर्मल, जिन (श्रीकृष्ण भगवान्) के नाभिरूपी जलाशयमें उत्पन्न कमल लक्ष्मीजीके मुखरूपी चन्द्रमाके समीप भी शोभता है (इन्हीं की नाभिसे उत्पन्न जिस कमलमें गुञ्जार करते हुए भ्रमरके समान सामादिवेद-चतुष्टयका गान करते हुए ब्रह्मा स्थिर रहते हैं, वह कमल लक्ष्मीके मुखचन्द्रके समीपमें शोभता है) ॥ ६९ ॥

सत्यवृत्तमपि मायिनं जगद्वृद्धमप्युचितनिद्रमर्भकम् ।
जन्म बिभ्रतमजं नवं बुधा यं [1]पुराणपुरुषं प्रचक्षते ॥ ७० ॥

सत्येति ॥ यं हरिं सत्यवृत्तमकपटचरितमपि । मायिनं मायाविनं कपटवृत्तमिति विरोधः । माया नाम शक्तिः तद्वन्तमित्यविरोधः । व्रीह्यादित्वादिनिप्रत्ययः । जगद्वृद्धं सर्वलोकपितामहत्वात्स्थविरमपि । 'प्रवयाः स्थविरो वृद्धः' इत्यमरः । उचितनिद्रं परिचितयोगनिद्रमर्भकं डिम्भम् । 'वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि' इत्यागमवचनादिति भावः । 'पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः' इत्यमरः । न जायत इत्यजो जन्मरहितः । 'अन्येष्वपि दृश्यते' (३।२।१०१) इति जनेर्डप्रत्ययः । तमपि जन्म बिभ्रतम् । कामवशात्कृष्णादिजन्मभाजमित्यर्थः । नवं रमणीयत्वादभिनवं तथापि पुराणं प्राचीनमनादि च पुरुषं प्रचक्षते । बुधा इति वाक्यं सर्वत्र सम्बध्यते । सर्वेऽपि विरोधा हरेरचिन्त्यमहिमत्वेनाभास्या इति विरोधाभासचतुष्टयसंसृष्टिः ॥ ७० ॥

जिन (श्रीकृष्ण भगवान्) को विद्वान् लोग सत्य आचरण युक्त होने पर भी मायावी (पक्षा०—'शक्ति' रूपिणी मायासे युक्त), (सर्वलोकपितामह होनेसे) संसारमें वृद्ध होने पर भी योगनिद्रामें सोये हुए बालमुकुन्दरूप, अज (जन्मरहित) होनेपर भी (भूमारोद्धारार्थ राम–कृष्णादिरूप) जन्मको धारण करनेवाले और (रम्याकृति होनेसे) नवीन होनेपर भी पुराणपुरुष कहते हैं (अचिन्तनीय महिमावाले श्रीकृष्ण भगवान्के परस्परमें विरुद्ध भी ये रूप आभासमात्र हैं, वास्तविक नहीं हैं) ॥ ७० ॥

अथ षोडशभिरवतारान्वर्णयिष्यन्वराहावतारं तावदेकेनाह—

स्कन्धधूननविसारिकेसरक्षिप्तसागरमहाप्लवामयम् ।
उद्धृतामिव मुहूर्तमैक्षत स्थूलनासिकवपुर्वसुन्धराम् ॥ ७१ ॥

स्कन्धेति ॥ स्थूलनासिकवपुर्वराहमूर्तिरयं हरिः स्कन्धस्य कन्धरायाः धूननेन कम्पनेन विसारिभिरुत्सर्पिभिः केसरैः सटाभिः क्षिप्तोऽवकीर्णः सागरस्य महाप्लवो महापूरः यस्यास्ताम् । जलापसारेण प्रकाशितामित्यर्थः वसुन्धरां भुवं मुहूर्तं क्षणमात्रम् । 'मुहूर्तमल्पकालेऽपि' इति शब्दार्णवे । उद्धृतामनावृतत्वात्सागरादुत्क्षिप्तामिव ऐक्षत प्रेक्षितवानित्युत्प्रेक्षा । ईक्षतेर्लङि 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) 'आटश्च' (६।१।९०) इति वृद्धिः ॥ ७१ ॥

अब सोलह (१४।७१–८६) श्लोकोंसे श्रीकृष्णजीके अवतारोंका वर्णन करनेवाले भीष्म पितामह पहले इस एक श्लोकसे वराहावतारका वर्णन करते हैं) मोटी नाकयुक्त शरीरवाले (वराहरूपधारी) इन्होंने (श्रीकृष्ण भगवान्ने) गर्दनके कँपानेसे फैले हुए

१. 'नवंनवम्' इति पा० ।

केसरों (बालों) से समुद्रके महाप्रवाहको हटायी हुई अर्थात् उक्तरूप केसरोंसे समुद्रके जलप्रवाहको हटाकर प्रकाशमान पृथ्वीको उठायी गयी-सी (आवरणहीन होनेसे समुद्रसे बाहर निकाली गयी-सी) देखा था ॥ ७१ ॥

द्वाभ्यां नृसिंहावतारमाह (युग्मकम् ७२-७३)

दिव्यकेसरिवपुः सुरद्विषो नैव लब्धशमसायुधैरपि ।
दुर्निवाररणकण्डु कोमलैर्वक्ष एष निरदारयन्नखैः ॥ ७२ ॥

दिव्येति ॥ दिव्यकेसरिवपुर्दिव्यसिंहमूर्तिः । एष हरिः आयुधैर्वज्रादिभिरपि नैव लब्धशममप्राप्तशान्ति । दुर्निवारा दुर्जया रणकण्डूर्यस्य तत् । रणव्यसनीत्यर्थः । 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (१।२।४८) इति ह्रस्वः । सुरद्विषो हिरण्यकशिपोर्वक्षः कोमलैर्नखैः निरदारयदभिनत् । वज्राद्यभेद्यस्य कोमलनखविदार्यत्वं भगवत्प्रभावादिति विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ७२ ॥

(अब दो (१४।७२-७३) श्लोकोंसे नृसिंहावतारका वर्णन करते हैं) दिव्य सिंह शरीरवाले ये (श्रीकृष्ण भगवान्) आयुधोंसे भी शान्तिको नहीं पाये हुए अतएव दुर्निवार (कठिनाईसे दूर करने योग्य) युद्धके कण्डू (खुजलाहट) वाले, देवशत्रु (हिरण्यकशिपु) के वक्षःस्थलको कोमल नखोंसे विदीर्ण कर दिये ॥ ७२ ॥

वारिधेरिव कराग्रवीचिभिर्दिङ्मतङ्गजमुखान्यभिघ्नतः ।
यस्य चारुनखशुक्तयः स्फुरन्मौक्तिकप्रकरगर्भतां दधुः ॥ ७३ ॥

वारिधेरिति ॥ कराग्राणि वीचय इवेत्युपमितसमासः । वारिधेरिवेति लिङ्गात् । ताभिः कराग्रवीचिभिः । दिगन्तविततािभिरिति भावः । अत एव दिङ्मतङ्गजानां मुखान्यभिघ्नतो रोषातिरेकात्प्रहरतो यस्य सिंहमूर्तेर्हरेर्वारिधेरिव चारुनखाः शुक्तय इव । पूर्ववदुपमितसमासः । स्फुरन्मौक्तिकप्रकरो दिग्गजकुम्भसम्भूतमुक्ताव्रातो गर्भेऽन्तर्गतो यासां तासां भावस्तत्ता तां दधुः । एष निरदारयदिति पूर्वेणान्वयः । एतेन नरहरिक्रोधस्य सामर्थ्यं महासुरेऽपि न पर्याप्तमिति व्यज्यत इति वस्तुना वस्तुध्वनिः । उपमालङ्कारः ॥ ७३ ॥

समुद्रकी तरङ्गोंके समान (दिगन्ततक बड़े-बड़े) कराग्रोंसे दिग्गजोंके मुखोंको भी विदीर्ण करते हुए जिन (नृसिंहरूपधारी श्रीकृष्ण भगवान्) के सीपके समान सुन्दर नख चमकते हुए मोतियों (पक्षा०-दिग्गजोंके कुम्भस्थलगत गजमुक्ताओं) के समूहोंसे पूर्ण गर्भ (भीतरी भाग) वाले हो गये अर्थात् समुद्रके सीपोंमें जिस प्रकार मोतियोंके समूह (बहुत-से मोती) रहते हैं, उसी प्रकार नृसिंहरूपधारी श्रीकृष्ण भगवान्के बड़े-बड़े नख भीतर दिग्गजोंके कुम्भस्थलस्थ गजमुक्ताओंके समूहसे भर गये ॥ ७३ ॥

अथ चतुर्भिर्वामनावतारमाह—

दीप्तिनिर्जितविरोचनादयं [1]गां विरोचनसुतादभीप्सतः ।
आत्मभूरवरजाखिलप्रजः स्वर्पतेरवरजत्वमाययौ ॥ ७४ ॥

दीप्तीत्यादि ॥ आत्मनो भवतीति आत्मभूः स्वयंभूरपि । अवरजाश्चरमजा अखिलाः प्रजा जना यस्य सोऽपि । सर्वज्येष्ठोऽपीत्यर्थः । अयं हरिः दीप्तिनिर्जितविरोचनात् ज्योतिर्विजितमार्तण्डात् । विरोचनः प्रह्लादपुत्रः । 'विरोचनोऽर्के दहने चन्द्रे प्रह्लादनन्दने' इत्युभयत्रापि विश्वः । तस्य सुताद् बलेर्गां भुवमभीप्सतः प्राप्तुमिच्छतोऽभ्याहर्तुमिच्छतः । सन्नन्तादाप्नोतेर्लटः शत्रादेशः । स्वर्पतेरवरजत्वमिन्द्रानुजत्वं ययौ । बलिध्वंसनार्थमिति शेषः । लोकानुग्रहार्थिनः किं न कुर्वन्तीति भावः । अत्रात्मत्वावरजत्वसामानाधिकरण्यविरोधो भगवत्प्रभावादाभासीकृत इति विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ७४ ॥

(अब चार (१४।७४-७७) श्लोकोंसे वामनावतारका वर्णन करते हैं) स्वयम्भू तथा अपनेसे बादमें उत्पन्न हुई सम्पूर्ण प्रजाओंवाले होनेपर भी ये (श्रीकृष्ण भगवान्) प्रभा-विशेषसे सूर्यको पराजित किये हुए प्रह्लादके पुत्र (राजा बलि) से पृथ्वीको पानेकी इच्छा करते हुए इन्द्रके अनुज बन गये ॥ ७४ ॥

किं क्रमिष्यति किलैष वामनो यावदित्थमहसन्न दानवाः ।
तावदस्य न ममौ नभस्तले लङ्घितार्कशशिमण्डलः क्रमः ॥ ७५ ॥

किमिति ॥ एष वामनः खर्वः । 'खर्वो ह्रस्वश्च वामनः' इत्यमरः । किं क्रमिष्यति इत्थमनेन प्रकारेण दानवा यावन्नाहसन् तावत्ततः प्रागेव लङ्घिते अतिक्रान्ते अर्कशशिमण्डले येन सोऽस्य हरेः क्रमः पादविक्षेपो नभस्तले न ममौ न परिमाणं गतवान् । यथा न माति तथा ववृधे इत्यर्थः । अत्राधारान्नभस्तलादाधेयस्य क्रमस्याधिक्यकथनादधिकालङ्कारभेदः । आश्रयाश्रयिणोराधिक्यमधिकमिति लक्षणात् ॥ ७५ ॥

दानव 'यह वामन कितनी पृथ्वीको लाँघेगा ?' इस प्रकार जब तक नहीं हँस पाये, तभी तक अर्थात् अत्यन्त शीघ्र ही सूर्य तथा चन्द्रमाके मण्डलको पार किया हुआ इन (श्रीकृष्ण भगवान्) का चरण आकाशमें नहीं समा सका अर्थात् आकाशसे भी बड़ा हो गया ॥

गच्छतापि गगनाग्रमुच्चकैर्यस्य भूधरगरीयसाङ्घ्रिणा ।
क्रान्तकन्धर इवाबलो बलिः स्वर्गभर्तुरगमत्सुबन्धताम् ॥ ७६ ॥

गच्छतेति ॥ गगनाग्रं गगनोपरिभागं गच्छतापीति विरोधः । भूधरगरीयसेत्युपमा । यस्य वामनस्योच्चकैरुन्नतेनाङ्घ्रिणा क्रान्तकन्धरोऽवष्टब्धकण्ठ इवाबलो दुर्बलो बलिर्वैरोचनिः स्वर्गभर्तुरिन्द्रस्य सुखेन बध्यत इति सुबन्धः । 'ईषद्दुःसुषु—' (३।३।

१. 'धाम्' इति पा० ।

१२६) इत्यादिना खल्प्रत्ययः। तत्तामगमत्। गुरुद्रव्यावष्टब्धकण्ठो हि सुखेन बध्यत इति भावः। 'न लोका-' (२।३।६९) इत्यादिना कृद्योगलक्षणाया एव षष्ठ्या निषेधात्स्वर्गभर्तुरिति शेषे षष्ठी। अत्र क्रान्तकन्धर इवेत्युत्प्रेक्षाया भूधरगरीयसेत्युपमासापेक्षत्वात्सङ्करः। विरोधेन स्वनपेक्षिता संसृष्टिः ॥ ७६ ॥

आकाशके ऊपर जाते (बढ़ते) हुए भी, पर्वतके समान अत्यन्त बोझिल इन (वामनरूपधारी श्रीकृष्ण भगवान्) के चरणसे कन्धेपर आक्रान्त हुए (दबाये गये-से) शक्तिहीन बलि इन्द्रके द्वारा सुखपूर्वक बाँधने योग्य हो गये ॥ ७६ ॥

क्रामतोऽस्य ददृशुर्दिवौकसो दूरमूरुमलिनीलमायतम् ।
व्योम्नि दिव्यसरिदम्बुपद्धतिस्पर्धयेव यमुनौघमुत्थितम् ॥ ७७ ॥

क्रामत इति॥ क्रामतः पादं विक्षिपतोऽस्य सम्बन्धिनं दूरमायतमलिनीलं भृङ्गश्याममूरुं सक्थि दिवौकसो देवा व्योम्नि दिव्यसरितो मन्दाकिन्या अम्बुपद्धत्या जलप्रवाहेण स्पर्धया उत्थितमूर्ध्वतः प्रवृत्तं यमुनौघं यमुनाप्रवाहमिव ददृशुरित्युत्प्रेक्षेयमुपमासङ्कीर्णा ॥ ७७ ॥

लाँघते (चरणको फैलाते) हुए इन (वामनरूपधारी श्रीकृष्ण भगवान्) के दूर तक लम्बे तथा भ्रमरों के समान श्यामवर्ण ऊरुप्रदेशको, देवोंने आकाशमें गङ्गाके जलप्रवाहके साथ स्पर्द्धा होनेसे मानो ऊपर उठे हुए यमुना नदीके प्रवाहके समान देखा ॥ ७७ ॥

अवतारान्तरमाह—

यस्य किंचिदपकर्तुमक्षमः कायनिग्रहगृहीतविग्रहः ।
कान्तवक्त्रसदृशाकृतिं कृती राहुरिन्दुमधुनापि बाधते ॥ ७८ ॥

यस्येति ॥ कायनिग्रहेणामृतविभागकाले देहच्छेदेन गृहीतविग्रहो बद्धवैरः कृती कुशलो राहुर्यस्य हरेः किंचिदपकर्तुमक्षमः सन् कान्तं रम्यं यद्वक्त्रं हरिमुखं तेन सदृशी आकृतिर्यस्य तम्। तत्सुहृदमित्यर्थः। इन्दुमधुनापि बाधते पीडयति। उपरागमिषेणेति भावः। अत्र साक्षात्प्रतिपक्षहरिनिग्रहाशक्त्या राहोस्तदीयेन्दुनिग्रहोक्त्या प्रत्यनीकालङ्कारः। तथा च सूत्रम्—'प्रतिपक्षप्रतीकाराशक्तौ तदीयतिरस्कारः प्रत्यनीकम्' इति ॥ ७८ ॥

(अब मोहिनीरूपका वर्णन करते हैं—समुद्रमन्थनके बाद अमृत बाँटनेके समयमें देवोंकी पङ्क्तिमें आकर धोखेसे अमृत लेकर पान करने से) शरीर (मस्तक) के काटे जानेपर विरोधी बना हुआ चतुर राहु जिन (मोहिनीरूपधारी श्रीकृष्ण भगवान्) का कुछ अपकार (हानि) करनेमें असमर्थ होकर रमणीय मुख (श्रीकृष्ण भगवान्के मुख) के समान (सुन्दर) आकारवाले चन्द्रमाको अब (बहुत समय बीत जानेपर) भी पीडित करता है ॥ ७८ ॥

दत्तात्रेयावतारमाह—

सम्प्रदायविगमादुपेयुषीरेष नाशमविनाशिविग्रहः ।
स्मर्तुमप्रतिहतस्मृतिः श्रुतीर्दत्त इत्यभवदत्रिगोत्रजः ॥ ७९ ॥

सम्प्रदायेति ॥ अविनाशिविग्रहोऽनपायस्वरूपः अत एव अप्रतिहता स्मृतिः स्मरणशक्तिर्यस्य स एष हरिः सम्प्रदाय उपदेशपरम्परा तस्य विगमादपायान्नाशं कालदोषादध्ययनविच्छेदमुपेयुषीः प्राप्ताः । 'उगितश्च' (४।१।६) इति ङीप् । श्रुतीर्वेदान् । 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' इत्यमरः । स्मर्तुम् । श्रुतिसम्प्रदायं प्रवर्तयितुमित्यर्थः । दत्त इति विख्यात इति शेषः । अत्रिगोत्रे जातोऽत्रिगोत्रजोऽभवत् । दत्तात्रेयोऽभूदित्यर्थः । अत्रानपायित्वस्मृत्यप्रतिघातयोर्विशेषणगत्या श्रुतिस्मृतिहेतुत्वोक्त्या काव्यलिङ्गम् ॥ ७९ ॥

(अब दत्तात्रेयावतारका वर्णन करते हैं) नाशरहित शरीरवाले (अतएव) अविनष्ट स्मरण शक्तिवाले ये (श्रीकृष्ण भगवान्) उपदेश–परम्पराके अभाव होनेसे नष्ट हुए वेदोंको स्मरण करनेके लिए अत्रिगोत्रमें उत्पन्न 'दत्त' अर्थात् 'दत्तात्रेय' (नामसे प्रसिद्ध) हुए ॥

परशुरामावतारमाह—

रेणुकातनयतामुपागतः शातितप्रचुरपत्रसंहति ।
लूनभूरिभुजशाखमुज्झितच्छायमर्जुनवनं व्यधादयम् ॥ ८० ॥

रेणुकेति ॥ अयं हरिः रेणुकातनयतां परशुरामत्वमुपागतः सन् । अर्जुनः कार्तवीर्यार्जुनः । 'अर्जुनः ककुभे पार्थे कार्तवीर्यमयूरयोः' इत्यनेकार्थत्वेऽपि रेणुकेयविरोधित्वान्निश्चयः । तदुक्तं हरिणा—'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता । अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥ सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः । शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥' इति । स एव वनं तत् । शातिता छिन्ना प्रचुरा प्रभूता पत्रसंहतिर्वाहनसमूहः पर्णसङ्घातश्च यस्य तत् । 'पत्रं स्याद्वाहने पर्णे' इति विश्वः । लूनाश्छिन्ना भूरयः प्रचुरा भुजा एव शाखा यस्य तत् । उज्झिता छाया कान्तिरनातपश्च यस्य तत्तथा व्यधाद्विहितवान् । दधातेर्लुङि 'गातिस्था–' (२।४।७७) इत्यादिना सिचो लुक् । 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्यमरः । अत्र समस्तवस्तुविषयं सावयवं रूपकं व्यक्तं तच्च छायेति पत्रेति च श्लेषप्रतिभोत्थापिताभेदातिशयोक्त्यानुप्राणितमिति सङ्करः ॥ ८० ॥

(अब परशुरामावतारका वर्णन करते हैं) ये (श्रीकृष्ण भगवान्) रेणुकाके पुत्र अर्थात् परशुराम होकर कार्तवीर्यरूपी वनको, नष्ट किये गये बहुत–से वाहनों (पक्षा०–पत्तों) के समूहवाला, काटी गयी बहुत–सी शाखाओंके समान भुजाओंवाला और शोभा (पक्षा०—छाया अर्थात् परछाईं) से रहित बना दिया ॥ ८० ॥

रामावतारमाह—

एष दाशरथिभूयमेत्य च ध्वंसितोद्धतदशाननामपि ।
राक्षसीमकृत रक्षितप्रजस्तेजसाधिकविभीषणां पुरीम् ॥ ८१ ॥

एष इति ॥ किंचेति चार्थः । रक्षितप्रजः एष हरिर्दशरथस्यापत्यं पुमान्दाशरथी रामः । 'अत इञ्' (४।१।९५) तस्य भावः दाशरथिभूयं रामत्वम् । 'भुवो भावे' (३।१।१०७) इति क्यप् । एत्य प्राप्य ध्वंसितो हत उद्धतो दृप्तो दशाननो रावणो यस्यां तामपि राक्षसीं रक्षःसम्बन्धिनीं पुरीं लङ्कां तेजसा स्ववीर्येणाधिकविभीषणामत्यन्तभीषणामकृतेति विरोधः । भयहेतोरुद्धतस्य रावणस्य ध्वंसनादधिको महान्विभीषणो रावणानुजो यस्यां तामित्यविरोधः । अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥

(अब रामचन्द्रावतारका वर्णन करते हैं) प्रजापालन करनेवाले ये (श्रीकृष्ण भगवान्) मारे गये उद्धत रावणवाली राक्षसोंकी (लङ्का) पुरीको अपने तेजसे अत्यन्त भयानक (पक्षा०–राज्याभिषिक्त होनेसे श्रेष्ठ विभीषणसे युक्त) कर दिया (प्रथम अर्थसे आनेवाले विरोधका पक्षान्तरीय अर्थसे परिहार होनेसे यहाँ विरोधालङ्कार हैं) ॥ ८१ ॥

अथ पञ्चभिः प्रस्तुतं कृष्णावतारमाह—

निष्प्रहन्तुममरेशविद्विषामर्थितः स्वयमथ स्वयंभुवा ।
सम्प्रति श्रयति सूनुतामयं कश्यपस्य वसुदेवरूपिणः ॥ ८२ ॥

निष्प्रहन्तुमिति ॥ अथ रामावतारानन्तरं अयं हरिः अमरेशविद्विषां निष्प्रहन्तुम् । चैद्यादीनिन्द्रशत्रून् हन्तुमित्यर्थः । 'जासिनिप्रहण–' (२।३।५६) इत्यादिना कर्मणि षष्ठी । स्वयंभुवा ब्रह्मणा स्वयमात्मनैवार्थितः प्रार्थितः सन्, सम्प्रतीदानीं वसुदेवरूपिणो वसुदेवमूर्तिधरस्य कश्यपस्य पुत्रतां श्रयति व्रजति कृष्णरूपेणेति भावः । अत्र स्वयम्भूप्रार्थनाया विशेषणगत्या वसुदेवपुत्रताप्राप्तिहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ८२ ॥

(अब प्रस्तुत श्रीकृष्णावतारका पुनः पाँच (१४।८२–८६) श्लोकोंसे वर्णन करते हैं) देवशत्रु (शिशुपाल आदि) को मारनेके लिए ब्रह्माके द्वारा स्वयं प्रार्थित ये (श्रीकृष्ण भगवान्) इस समय वसुदेवरूपी कश्यपके (श्रीकृष्ण नामक) पुत्र बने हुए हैं ॥ ८२ ॥

तात नोदधिविलोडनं प्रति त्वद्विनाथ[3] वयमुत्सहामहे ।
यः सुरैरिति सुरौघवल्लभो बल्लवैश्च जगदे जगत्पतिः ॥ ८३ ॥

तातेति ॥ सुरौघवल्लभः सुरगणप्रियः । जगत्पतिर्यो हरिः सुरैर्देवैः बल्लवैर्गोपालैश्च हे तात जनक ! नेति छेदे, उदधिविलोडनं समुद्रमथनं प्रति, नो इति छेदे, दधिविलोडनं दधिमन्थनं च प्रति त्वद्विना । त्वां विहायेत्यर्थः । 'पृथग्विना–' (२।३।३२)

१, '—धिप—' इति पा० । २. 'निप्र—' इति पा० । ३. '–च' इति पा० ।

इत्यादिना विकल्पात्पञ्चमी। अथ वयं न नो वोत्सहामहे न क्षमामहे इति जगदे गदितम्। अत्र हरिवर्णनाङ्गत्वेन सुराणां बल्लवानां च प्रकृतानामेव नोदधिशब्द-मूलाभेदाध्यवसायलब्धदध्युदधिविलोडनक्षमत्वकर्मसाम्यादुपगम्योपम्यत्वात्तुल्ययोगिताभेदः। तेन च हरेर्दधिमन्थनकलावदुदधिमन्थनमपीति वस्तु व्यज्यत इत्यलंकारेण वस्तुध्वनिः॥ ८३॥

देव-समूहके प्रिय तथा जगत्स्वामी इन (श्रीकृष्ण भगवान्) से देवों तथा गोपोंने कहा कि—हे तात! समुद्रमन्थनके प्रति अर्थात् समुद्र-मथनेके लिए (पक्षा०—दधि-मन्थन के प्रति अर्थात् दही मथनेके लिए) हमलोग आपके बिना असमर्थताके कारण उत्साह नहीं करते हैं। अर्थात् देवोंने कहा कि आपके बिना हम समुद्र-मन्थन करनेमें समर्थ नहीं हैं और गोपोंने कहा कि आपके बिना हम लोग दधि-मन्थन करनेमें समर्थ नहीं हैं॥ ८३॥

नात्तगन्धमवधूय शत्रुभिश्छायया च शमितामरश्रमम्।
योऽभिमानमिव वृत्रविद्विषः पारिजातमुदमूलयद्दिवः॥ ८४॥

नात्तगन्धमिति॥ किंचेति चार्थः। यो हरिः शत्रुभिरवधूयाभिभूय नात्तगन्धमनाघ्रातसौरभमनभिभूतं च। 'आत्तगन्धोऽभिभूतः स्यात्' इत्यमरः। नञर्थस्य नशब्दस्य सुप्सुपेति समासः। छाययानातपेन, पालनेन च 'छाया स्यादातपाभावे प्रतिबिम्बार्कयोषितोः। पालनोत्कर्षयोः कान्तिसच्छोभापङ्क्तिषु स्त्रियाम्' इति विश्वः। शमितामरश्रमं निवारितसुरखेदं पारिजातं वृत्रविद्विषः शक्रस्याभिमानमहंकारमिव दिवः स्वर्गादुदमूलयदुन्मूलितवानिति पारिजातहरणोक्तिः। श्लेषसविशेषणेयमुपमेति केचित्। श्लेषवच्चान्ये॥ ८४॥

और जो श्रीकृष्ण भगवान् शत्रुओंके द्वारा अभिभूत (तिरस्कृत) होकर नहीं सूंघे गये (पक्षा०—नहीं पराजित किये गये), छाया (परछाहीं, पक्षा०—पालन) से देवोंके श्रमको दूर करनेवाले, इन्द्रके अभिमानके समान 'पारिजात' नामक देववृक्षको उखाड़ लाये॥८४॥

यं समेत्य च ललाटलेखया बिभ्रतः सपदि शंभुविभ्रमम्।
चण्डमारुतमिव प्रदीपवच्चेदिपस्य निरवाद्विलोचनम्॥ ८५॥

यमिति॥ किंचेति चार्थः। ललाटमेव लेखा तया ललाटलेखया ललाटदेशेन शंभोर्विभ्रमं सौन्दर्यं बिभ्रतः। ललाटलोचनमित्यर्थः। चेदिपस्य शिशुपालस्य लोचनं तृतीयनेत्रं कर्तृ यं हरिमेव चण्डमारुतं चण्डमारुतमिव समेत्य प्रदीपवत्प्रदीपेन तुल्यम्। 'तेन तुल्यम्–'(५।१।११५) इति वतिप्रत्ययः। निरवान्निर्वाति स्म। नष्टमित्यर्थः। निर्पूर्वाद्वाधातोर्लङ्। 'निरवाप' इति क्वाचित्कः पाठः स न सम्यक्। वाते प्रक्रियाविरोधादाप्नोतेरसंगतार्थत्वादिति अनेकार्थेयमुपमा॥ ८५॥

---

१. 'मुञ्चतः' इति पा०। २. 'निरवाप' इति पा०।

और ललाटरूपी रेखासे अर्थात् ललाटप्रदेशसे शिवजीके भ्रम (या—सौन्दर्य) को धारण करते हुए चेदिदेशाधिपति (शिशुपाल) का तृतीय नेत्र जिन (श्रीकृष्ण भगवान्) को प्राप्तकर (सामने देखकर) आँधीको प्राप्तकर दीपकके समान शीघ्र ही बुझ गया (पक्षा०—लुप्त हो गया)॥ ८५ ॥

यः कोलतां बल्लवतां च बिभ्रद् दंष्ट्रामुदस्याशु भुजां च गुर्वीम् ।
मग्नस्य तोयापदि दुस्तरायां गोमण्डलस्योद्धरणं चकार ॥८६॥

य इति ॥ यो हरिः कोलतां वराहत्वम् । 'वराहः सूकरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरिः किटिः' इत्यमरः । बल्लवतां गोपालत्वं च बिभ्रत् । आशु गुर्वी दंष्ट्रां भुजां च यथासंख्यमिति भावः । उदस्योद्यम्य दुस्तरायां तोयापदि जलसंकटे एकत्र समुद्रकृतायां, अन्यत्र वर्षकृतायामिति विवेकः । मग्नस्य गोमण्डलस्य भूगोलस्य, धेनुवृन्दस्य चोद्धरणं चकार । अत्र कोलत्वबल्लवत्वयोः प्रकृतयोरेव श्लेषमूलाभेदाध्यवसायेन गोमण्डलोद्धरणस्य बिम्बप्रतिबिम्बभावेन दंष्ट्राभुजोद्यमनस्य च साम्यादौपम्यगम्यतायां तुल्ययोगिता सती यथासंख्येन संकीर्यते । इन्द्रवज्रा वृत्तम् । 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः' इति लक्षणात् ॥ ८६ ॥

वराहत्व तथा गोपालत्वको धारण करते हुए अर्थात् वराह तथा गोपालरूपसे अवतार ग्रहण किये हुए जिन्होंने क्रमशः विशाल दाँत तथा बाहुको उठाकर दुस्तर (कठिनाईसे पार करने योग्य) पानीरूपी आपत्तिमें डूबते हुए पृथ्वी-मण्डल (पक्षा०—धेनु-समूह) का उद्धार किया (उसे बचाया) था ॥ ८६ ॥

एवं देवं स्तुत्वानन्तरं कर्तव्यमुपदिशति—

धन्योऽसि यस्य हरिरेष समक्ष एव दूरादपि क्रतुषु यज्वभिरिज्यते यः ।
दत्त्वार्घमत्रभवते भुवनेषु यावत्संसारमण्डलमवाप्नुहि साधुवादम् ॥८७॥

धन्योऽसीति ॥ धनं लब्धो धन्यः पुण्यवानसि । 'सुकृती पुण्यवान् धन्यः' इत्यमरः । 'धनगणं लब्धा' (४।४।८४) इति यत्प्रत्ययः यस्य ते एष हरिः समक्ष एव अक्ष्णोः समीप एव । पुरत एवेत्यर्थः । स्थित इति शेषः । सामीप्येऽव्ययीभावः । 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' (५।४।१०७) इति समासान्तः । अत एव 'तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्' (२।४।८४) इति सप्तम्या अमभावः । अन्यत्र को विशेषस्तत्राह—यो हरिः दूरादपि परोक्षेऽपि क्रतुषु योगेषु यज्वभिर्विधिवदिष्टवद्भिः । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्' इत्यमरः । 'सुयजोर्ङ्वनिप्' (३।२।१०३) इति ङ्वनिप्प्रत्ययः । इज्यते पूज्यते स ते प्रत्यक्ष इति धन्यस्त्वमित्यर्थः । फलितमाह—अत्रभवते । पूज्यायेत्यर्थः । 'पूज्यस्तत्रभवान्' इति सज्जनः । 'इतरेभ्योऽपि दृश्यते' (५।३।१४) इति सार्वविभक्तिके त्रल्प्रत्यये सुप्सुपेति समासः । अर्घं पूजां दत्त्वा यावत्संसारमण्डलं वर्तते तावदिति शेषः । भुवनेषु साध्विति वादः शब्दस्तं साधुवादं साधुसमाख्यामवाप्नुहि ।

लभस्वेत्यर्थः। अत्र राज्ञो धन्योऽसीति विशेषणगत्या यस्येत्यादिवाक्यार्थहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ८७ ॥

अब भीष्म पितामह श्रीकृष्ण भगवान् की स्तुति करनेके उपरान्त युधिष्ठिरके प्रति कर्तव्यका उपदेश करते हैं) जिन (श्रीकृष्ण भगवान्) की विधिपूर्वक यज्ञ करनेवाले लोग यज्ञोंमें दूरसे भी पूजा करते हैं, वे (श्रीकृष्ण भगवान्) तुम्हारे सामने हैं (अतएव हे युधिष्ठिर!) तुम धन्य हो। पूज्य इन (श्रीकृष्णभगवान्) के लिए अर्घ देकर संसार-समूद्रके रहने तक अर्थात् कल्पान्ततक साधुवाद (प्रशंसा-वाहवाही) को प्राप्त करो ॥ ८७ ॥

भीष्मोक्तं तदिति वचो निशम्य सम्यक्
साम्राज्यश्रियमधिगच्छता नृपेण।
दत्तेऽर्घे महति महीभृतां पुरोऽपि
त्रैलोक्ये मधुभिदभूदनर्घ एव ॥ ८८ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्रयङ्के श्रीकृष्णार्घदानो नाम चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

भीष्मेति ॥ 'येनेष्टं राजसूयेन मण्डलस्येश्वरश्च यः। शास्ति यश्चाज्ञया राज्ञः स सम्राट्' इत्यमरः। सम्राजो भावः साम्राज्यं तदेव श्रीस्तां श्रियमधिगच्छता भजता नृपेण युधिष्ठिरेण इतीत्थं भीष्मोक्तं तद्वचः सम्यङ्निशम्य श्रुत्वा। महीभृतां राज्ञां पुरोऽग्रे महति अर्घे पूजायां दत्तेपि मधुभिद्धरिः त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम्। चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः। तत्र त्रैलोक्ये कृष्णोऽनर्घः पूजारहित एवाभूदिति विरोधः। अमूल्य एवाभूदित्यविरोधः। 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः। अत्रार्घयोरभेदाध्यवसायाद्विरोधः, तदनध्यवसायादविरोध इति विरोधाभासोऽलङ्कारः। प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ ८८ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां शिशुपालवधकाव्यव्याख्यायां सर्वङ्कषाख्यायां चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार (१४।५४–८५) भीष्म पितामहके कहे गये वचनको सम्यक् प्रकारसे सुनकर साम्राज्य लक्ष्मीको प्राप्त राजा युधिष्ठिरके द्वारा राजाओंके सामने ही श्रेष्ठ अर्घके देनेपर भी श्रीकृष्ण भगवान् तीनों लोकोंमें अनर्घ (अर्घरहित, पक्षा०—अमूल्य अर्थात् अतिशय श्रेष्ठ) ही रहे। (यहाँ प्रथम अर्थसे उपस्थित विरोधका द्वितीय अर्थसे परिहार करना चाहिये) ॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'श्रीकृष्णार्घदान' नामक चतुर्दश सर्ग समाप्त हुआ ॥१४॥

१. '—मथ बिभ्रता' इति पा०। २. '—नर्घ्यं' इति पा०।

पञ्चदशः सर्गः

अथ तत्र पाण्डुतनयेन सदसि विहितं मुरद्विषः।
मानमसहत न चेदिपतिः परवृद्धिमत्सरि मनो हि मानिनाम् ॥ १ ॥

अथेति ॥ अथ हरिपूजानन्तरं चेदिपतिः शिशुपालः तत्र सदसि सभायां पाण्डुसुतेन युधिष्ठिरेण विहितं मुरद्विषो हरेर्मानं पूजां नासहत । ईर्ष्यां चकारेत्यर्थः । 'परोत्कर्षाक्षमेर्ष्या स्याद् दौर्जन्यान्मन्युतोऽपि च' इति लक्षणात् । तथा हि—मानिनामहङ्कारिणां मनः परवृद्धौ मत्सरि मत्सरवत् । परशुभद्वेषि खल्वित्यर्थः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः । अस्मिन्सर्गे उद्गता वृत्तम् । 'सजमादिमे सलघुकौ च नसजगुरुकेष्वथोद्गता । त्र्यङ्घ्रिगतभनजला गयुताः सजसा जगौ चरममेकतः पठेत् ॥' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

इसके बाद उस सभामें युधिष्ठिरके द्वारा किये गये श्रीकृष्ण भगवान्के मान (प्रथम पूजनरूप सत्कार) को चेदिदेशके राजा शिशुपालने नहीं सहन किया, क्योंकि अभिमानियोंका मन दूसरेकी समृद्धिमें मात्सर्ययुक्त होता है ॥ १ ॥

पुर एव शार्ङ्गिणि सवैरमथ पुनरमुं तदर्चया।
मन्युरभजदवगाढतरः समदोषकाल इव देहिनं ज्वरः ॥ २ ॥

पुर इति ॥ पुरः पूर्वमेव शार्ङ्गिणि सवैरं सक्रोधममुं चैद्यं अथ पुनः अतः परं तदर्चया हरिपूजया अवगाढतरो निबिडतरो मन्युः क्रोधः । रौद्ररसस्य स्थायी भाव इति भावः । देहिनं शरीरिणं समौ मिलितौ दोषः अपथ्यसेवा कालः कर्मविपाकश्च यस्य स ज्वर इवाभजत् । उपमालङ्कारः ॥ २ ॥

श्रीकृष्ण भगवान्पर पहलेसे ही वैरयुक्त शिशुपालको, फिर उनकी (युधिष्ठिर द्वारा की गयी) पूजासे अधिक बढ़ा हुआ क्रोध उस प्रकार प्राप्त किया, जिस प्रकार अपथ्यसेवन एवं भाग्यके परिणामसे बढ़ा हुआ ज्वर मनुष्यको प्राप्त करता है अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान् पर पहलेसे ही क्रुद्ध शिशुपालका क्रोध उनकी अग्रपूजा करनेसे और बढ़ गया ॥ २ ॥

अथाष्टभिरस्य गात्रारब्धक्रोधचेष्टां प्रपञ्चयति—

अभितर्जयन्निव समस्तनृपगणमसावकम्पयत् ।
लोलमुकुटमणिरश्मि शनैरशनैः प्रकम्पितजगत्त्रयं शिरः ॥ ३ ॥

अभीत्यादि ॥ असौ चैद्यः । समस्तनृपगणमभितर्जयन्निवेत्युत्प्रेक्षा । 'तर्ज भर्त्सने' चौरादिकस्यानुदात्तत्वेन प्राप्तस्य आत्मनेपदस्य चक्षिङादेशस्य ख्याञः स्थानिवद्भावानादरेण पुनर्निरकरणसामर्थ्यादनित्यत्वज्ञापनात्परस्मैपदम् । अत एव तर्जयतीत्यपि दृश्यते क्वचिच्चिति [1]भट्टमल्लः । अशनैरतिमात्रं प्रकम्पितं जगत्त्रयं येन तत् त्रैलोक्य-

---

१. 'तर्जयति च दृश्यते क्वचित्' (आ० च० १।१०५) इति पाठो भट्टमल्लोक्त इति बोध्यम् ।

भीषणं शिरः शनैर्लोलाश्चपला मुकुटमणिरश्मयो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा अकम्पयत्। क्रोधातिरेकादिति भावः ॥ ३ ॥

(अब आठ (१५।३-१०) श्लोकोंसे शिशुपालके कुपित शरीरका वर्णन करते हैं) सम्पूर्ण राजसमूहको सम्यक् प्रकारसे तर्जित (भययुक्त) करता हुआ-सा वह (शिशुपाल) चञ्चल मुकुट-मणियोंकी किरणोंवाले तथा तीनों लोकोंको अधिक कम्पित किये हुए मस्तकको धीरे-धीरे कँपाने लगा ॥ ३ ॥

स वमन्रुषाश्रु घनघर्मविगलदुरुगण्डमण्डलः।
स्वेदजलकणकरालकरो व्यरुचत्प्रभिन्न इव कुञ्जरस्त्रिधा ॥ ४ ॥

स इति ॥ रुषा रोषेणाश्रु वमन्मुञ्चन्। घनेन सान्द्रेण घर्मेण क्रोधोष्मणा विगलत्स्रवदुरु महत् गण्डमण्डलं यस्य सः। स्विद्यत्कपोल इत्यर्थः। स्वेदजलकणैः स्वेदबिन्दुभिः करालकरो दन्तुरहस्तः स चैद्यः त्रिधा नेत्रकपोलहस्तदेशैः प्रभिन्नो मदस्रावी मत्तः। 'प्रभिन्नो मत्तः स्यात्' इति वैजयन्ती। कुञ्जर इव व्यरुचत्। रुचेः 'द्युद्भ्यो लुङि' (१।३।९१) इति विकल्पात्परस्मैपदम्। एतेन स्वेदाख्यः सात्त्विकभाव उक्तः। उपमालङ्कारः ॥ ४ ॥

क्रोधसे आँसू गिराता हुआ, क्रोधकी अधिक उष्णतासे पसीना बहते हुए विशाल कपोलमण्डलवाला तथा पसीनेके जलकणोंसे भयानक बाहुवाला वह शिशुपाल, तीन प्रकार (नेत्र, गण्डस्थल तथा सूँड़) से मदको प्रवाहित करनेवाले मतवाले हाथीके समान शोभने लगा ॥

स निकामघर्मितमभीक्ष्णमधुवदवधूतराजकः।
क्षिप्तबहुलजलबिन्दु वपुः प्रलयार्णवोत्थित इवादिशूकरः ॥ ५ ॥

स इति ॥ राज्ञां समूहो राजकम्। 'गोत्रोक्ष–' (४।२।३९) इत्यादिना वुञ्प्रत्ययः। तदवधूतमभिभूतं येन स तथोक्तः स चैद्यो निकामं घर्मितं सञ्जातघर्मम्। उद्भवत्स्वेदमित्यर्थः। 'घर्मः स्यादातपे ग्रीष्म उष्णस्वेदाम्भसोरपि' इति विश्वः। तारकादित्वादितच्प्रत्ययः। वपुः प्रलये अर्णवस्तस्मादुत्थितः। आदिशूकर इव क्षिप्ताः प्रेरिता बहुलाः सान्द्रा जलबिन्दवो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा अभीक्ष्णमधुवत् क्रोधाद् धुनति स्म। 'धूञ् विधूनने' इति धातोस्तौदादिकाल्लङ्। अत्रापि स्वेदः सात्त्विक एवोक्तः। उपमालङ्कारः ॥ ५ ॥

राज-समूहको अत्यन्त भर्त्सित किया हुआ वह शिशुपाल, अत्यधिक बहते हुए पसीनेवाले शरीरको उस प्रकार कंपाने लगा, जिस प्रकार प्रलयकालमें समुद्रसे ऊपर निकले हुए आदिवराह (भगवान्) अत्यधिक जल-कणोंको फेंकनेके साथ-साथ शरीरको कँपाये थे ॥

क्षणमाश्लिषद् घटितशैलशिखरकठिनांसमण्डलः।
स्तम्भमुपहितविधूतिमसावधिकावधूनितसमस्तसंसदम् ॥ ६ ॥

१. '—मंसलः' इति पा०।

क्षणमिति ॥ घटितं सुसंहितं यच्छैलशिखरं तद्वत्कठिनमंसमण्डलं यस्य सः असौ चैद्यः उपहितावगाहिता। आरोपितेत्यर्थः। विधूतिः कम्पो यस्मिंस्तम्। अधिकमत्यन्तमवधूनिता कम्पिता समस्ता सकला संसद् सभा येन तं स्तम्भं क्षणं आश्लिषत् श्लिष्टवान्। तेनांसमण्डलेनाहतवानित्यर्थः। अत एव कठिनांसमण्डल इति विशेषणं च। पुषादित्वाच्च्लेरङादेशः। आलिङ्गनार्थत्वे तु 'श्लिष आलिङ्गने' इति क्सादेशः स्यात्। क्रोधान्धाः किमु न कुर्वन्तीति भावः। अत्रांसकाठिन्यस्य विशेषणगत्या स्तम्भाश्लेषहेतुत्वात् काव्यलिङ्गं शैलशिखरोपमया सङ्कीर्यते ॥ ६ ॥

सुसङ्घटित पर्वत-शिखर के समान कठोर कन्धोंवाले उस (शिशुपाल) ने (क्रोधसे) कँपाये गये (अतएव) समस्त सभाको अधिक कँपानेवाले खम्भेका आलिङ्गन किया अर्थात् उस कठोर कन्धेसे उस खम्भेपर धक्का दिया ॥ ६ ॥

कनकाङ्गदद्युतिभिरस्य गमितमरुचत् पिशङ्गताम्।
क्रोधमयशिखिशिखापटलैः परितः परीतमिव बाहुमण्डलम् ॥ ७ ॥

कनकेति ॥ कनकस्याङ्गदयोः केयूरयोः द्युतिभिः पिशङ्गतां पिङ्गलवर्णतां गमितं प्रापितमिति तद्गुणालङ्कारः। अथास्य चैद्यस्य बाहुमण्डलं क्रोधमयशिखिशिखापटलैः क्रोधाग्निज्वालाजालैः परितः परीतं परिवृतमिवारुचदित्युत्प्रेक्षा। 'द्युद्भ्यो लुङि' (१।३।९१) इति परस्मैपदम् ॥ ७ ॥

सुवर्णमय अङ्गदों (बाजूबंदों–विजायठों) से पिङ्गल वर्ण वाला इस (शिशुपाल) का बाहुमण्डल मानो क्रोधाग्निकी ज्वालाओंके समूहसे चारों ओरसे घिरा हुआ-सा शोभ रहा था ॥

कृतसन्निधामिव तस्य पुनरपि तृतीयचक्षुषा।
क्रूरमजनि कुटिलभ्रु गुरुभ्रुकुटीकठोरितललाटमाननम् ॥ ८ ॥

कृतेति ॥ कुटिले भ्रुवौ यस्य तत्कुटिलभ्रु। उपसर्जनस्य ह्रस्वः। गुर्व्या भ्रुकुट्या भ्रूभङ्गेन कठोरितं भीषणीकृतं ललाटं यस्य तत्। तस्य चैद्यस्याननं पुनरपि तृतीयचक्षुषा कृतसन्निधानं कृतसंसर्गमिवेत्युत्प्रेक्षा। क्रूरमजनि भयङ्करमभूत्। जनेः कर्तरि लुङ् 'दीपजन-' (३।१।६१) इत्यादिना विकल्पाच्चिण्प्रत्ययः ॥ ८ ॥

टेढ़े भ्रूद्वयवाला एवं अधिक भ्रूभङ्ग होनेसे भयङ्कर ललाट वाला इस (शिशुपाल) का मुख मानो फिर तृतीय नेत्रसे युक्त-सा होकर क्रूर (भयावह) हो गया ॥ ८ ॥

अतिरक्तभावमुपगम्य कृतमतिरमुष्य साहसे।
दृष्टिरगणितभयासिलतामवलम्बते स्म समया सखीमिव ॥ ९ ॥

अतिरक्तेति ॥ अमुष्य चैद्यस्य दृष्टिः। अतिरक्तस्य भावो धर्मस्तमतिरक्तभावं रोषातिरेकादत्यरुणतामन्यत्र कर्मातिरेकादत्यनुरागितामुपगम्य प्राप्य। साहसे कृष्णादिवधरूपे, अन्यत्र युद्धे कृतमतिः। सर्वथा गमिष्यामि हनिष्यामि इति च कृतनिश्चयोऽर्थनिर्धारणं मतिरिति। अगणितमविचारितं भयं शत्रोर्गुरुजनाच्च यया

सा सती समया समीपे असिलतां सखीमिवावलम्बते स्म साधनत्वेन च स्वीचकार। क्रोधाज्जिघांसया खड्गमद्राक्षीदित्यर्थः। अत्र प्रस्तुतदृष्टिविशेषणसाम्यादप्रस्तुतनायिकाप्रतीतेः समासोक्तिरुपमासङ्कीर्णा ॥ ९ ॥

(क्रोधसे) अधिक लालिमा (पक्षा०—कर्माधिक्यसे अनुराग) को प्राप्त की हुई (कृष्णवधरूप, पक्षा०-युद्ध) में साहस ('कार्यं वा साधयामि, शरीरं वा पातयामि' ऐसा दृढ़ निश्चय) की हुई इस (शिशुपाल) की दृष्टिने (शत्रु-श्रीकृष्ण भगवान् , पक्षा०-गुरुजनों) से भयका विचार विना किये समीपमें सखीके समान तलवारको ग्रहण किया-अपनी इष्टसिद्धि का साधन बनाया ॥ ९ ॥

करकुड्मलेन निजमूरुमुरुतरनगाश्मकर्कशम् ।
त्रस्तचपलचलमानजनश्रुतभीमनादमयमाहतोच्चकैः ॥ १० ॥

करेति ॥ अयं चैद्य उरुतरो महत्तरो नगाश्मवत् शैलशिलेव कर्कश इत्युपमा। तं निजमात्मीयमूरुं सक्थि। 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' इत्यमरः। करः कुड्मल इवेत्युपमितसमासः। तेन संहतप्रसारिताङ्गुलिना पाणितलेनेत्यर्थः। त्रस्तो भीतः अत एव चपलं चञ्चलं चलमानेन जनेन श्रुतो भीमनादो भयङ्करध्वनिर्यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा उच्चकैस्तारं आहत आहतवान्। अकठधलचयाः क्रोधान्धाः स्वात्मानमेव घ्नन्तीति भावः। आङ्पूर्वाद्धन्तेर्लङ् 'आङो यमहनः' (१।३।२८) इत्यकर्मकाधिकारेऽपि 'स्वाङ्गकर्मकाच्चेति वक्तव्यम्' (वा०) इत्यात्मनेपदे 'अनुदात्तोपदेश–'(६।४।३७) इत्यादिनानुनासिकलोपः ॥ १० ॥

उस (शिशुपाल) ने विशाल पर्वतके चट्टानके समान कठोर अपने जङ्घे पर हाथ पटकते हुए जोरसे ताल ठोका, जिसके भयङ्कर शब्दको, डरे और घबड़ाकर चञ्चल हुए (समासद) लोगोंने सुना ॥ १० ॥

इति चुक्रुधे भृशमनेन ननु महदवाप्य विप्रियम् ।
याति विकृतिमपि संवृतिमत् किमु यन्निसर्गनिरवग्रहं मनः ॥ ११ ॥

इतीति ॥ इतीत्थमनेन प्रकारेण अनेन चैद्येन भृशं चुक्रुधे क्रुद्धम्। भावे लिट्। संवृतिमदपि संवृतिर्निकारगुप्तिः तद्वदपि। धीरमपीत्यर्थः। मनो महद्विप्रियमप्रियमवाप्य विकृतिं विकारं याति ननु प्राप्नोति खलु। यन्मनो निसर्गात्स्वभावान्निरवग्रहम्। चपलमित्यर्थः। ग्रहेः खल्प्रत्ययः। तदिति शेषः। किमु। विकृतिं यातीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः। चपलचित्तश्चायं चैद्य इति भावः। अत्र चैद्यक्रोधस्य नन्वित्यादिवाक्यार्थहेतुकत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ११ ॥

यह (शिशुपाल) इस प्रकार (१५।२–१०) क्रुद्ध हो गया, क्योंकि जब विकारको दबानेवाला (धीर) मन भी अधिक विकारको पाकर विकृत (क्षुब्ध) हो जाता है, तब जो

---

१. '—वलमान—' इति पा० ।

स्वभावतः चञ्चल मन विकृत हो जाय, इस विषयमें क्या कहना है ? अर्थात् स्वभावतः चञ्चल शिशुपालके मनका विकृत होना कोई नयी बात नहीं है ॥ ११ ॥

एवं गात्रारब्धविकारानुक्त्वा वागारब्धान् वक्तुमुपोद्घातयति—

प्रथमं शरीरजविकारकृतमुकुलबन्धमव्यथी ।
भाविकलहफलयोगमसौ वचनेन कोपकुसुमं व्यचीकसत् ॥ १२ ॥

प्रथममिति ॥ न व्यथते बिभेतीत्यव्यथी निर्भीकः । 'जिदृक्षि–' (३।२।१५७) इत्यादिना नञ्पूर्वाद् व्यथतेरिनिः । असौ चैद्यः प्रथमं शरीरजैर्विकारैः पूर्वोक्तैः शिरःकम्पनादिभिः कृतो मुकुलबन्धो मुकुलप्रादुर्भावो यस्य तत् । भाविकलहस्य रणस्यैव फलयोगो यस्य तत् । 'अस्त्रियां समरानीकरणाः कलहविग्रहौ' इत्यमरः । कोप इव कुसुमं तत् वचनेन 'यदपूपुज' (१५।१४) इत्यादि वक्ष्यमाणवाक्येन व्यचीकसद्विकासयति स्म । कसेः 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) 'दीर्घो लघोः'(७।४।९४) इत्यभ्यासदीर्घः । अत्र विकारकलहवचनकोपेषु मुकुलफलविकासकुसुमत्वरूपणात् समस्तवस्तुवर्तिसावयवरूपकम् ॥ १२ ॥

व्यथा (शत्रुजन्य भय) से रहित इस (शिशुपाल)ने पहले शरीरजन्य विकारसे उत्पन्न कोरकवाले एवं भविष्यमें होनेवाले युद्धरूप फलवाले क्रोधरूपी पुष्पको वचन से विकसित किया अर्थात् क्रोधको और बढ़ाते हुए बोला ॥ १२ ॥

ध्वनयन् सभामथ सनीरघनरवगभीरवागभीः ।
वाचमवददतिरोषवशादतिनिष्ठुरस्फुटतराक्षरामसौ ॥ १३ ॥

ध्वनयन्निति ॥ अथ सनीरघनरवगभीरवाक् । सजलमेघगर्जितगभीरस्वर इत्यर्थः । अभीः निर्भीकः असौ चैद्यः सभामास्थानं ध्वनयन्नतिरोषवशादतिनिष्ठुराण्यतिपरुषाणि स्फुटतराणि चाक्षराणि यस्यास्तां वाचमवदत् । घनरवगभीरेत्युपमालङ्कारः ॥

इसके बाद जलपूर्ण मेघके गरजनेके समान गम्भीर बोलनेवाला एवं निर्भय शिशुपाल सभाको प्रतिध्वनित करता हुआ बढ़े हुए क्रोधसे अत्यन्त निष्ठुर एवं स्पष्ट अक्षरोंवाला अर्थात् कटु एवं उच्च स्वरयुक्त वचन कहने लगा ॥ १३ ॥

'वाचमवदत्' (१५।१३) इत्युक्तम् , अथ तामेव प्रपञ्चयन् पञ्चभिः पाण्डवोपालम्भमाह—

यदपूपुजस्त्वमिह पार्थ मुरजितमपूजितं सताम् ।
प्रेम विलसति महत्तदहो दयितं जनः खलु गुणीति मन्यते ॥ १४ ॥

यदिति ॥ हे पार्थ पृथापुत्रेति मातृप्राधान्येनामन्त्रणं मर्मोद्घाटनार्थम् । सतामपूजितम् । सद्भिरपूज्यमानमित्यर्थः । 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' (३।२।१८८) इति

१. '—दितिरोष—' इति पा० ।

वर्तमाने क्तः । 'क्तस्य च वर्तमाने' (२।३।६७) इति षष्ठी । मुरजितं कृष्णम् इह सद्सि यदस्मादपूपुजः पूजयसि स्म । 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) तत्तस्मान्मे हृत्प्रेम विलसति स्फुरति । अन्यथा कथमपूज्ये पूज्यत्वाभिमान इत्यभिप्रेत्याह–जनो लोकः दयितं प्रियं जनं गुणीति मन्यते खलु । अगुणिनमपीत्यर्थः । अहो आश्चर्यम् । कृष्णः प्रेम्णा पूजितो न गुणादिति भावः । अत्र प्रेमविलसितस्योत्तरवाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ १४ ॥

(पहले शिशुपाल युधिष्ठिरको फटकारता हुआ कहता है) 'हे पृथाके पुत्र (युधिष्ठिर) ! सज्जनोंसे पूजाको नहीं प्राप्त करते हुए मुरारि (श्रीकृष्ण) की जो तुमने पूजा की है, इससे (तुम्हारा इनके प्रति) अत्यधिक स्नेह प्रकट होता है, लोग (गुणहीन भी) प्रियजनको गुणवान् मानते हैं, अहो आश्चर्य है । (तुमने इस कृष्णकी पूजा प्रेमाधिक्यवश की है, इसके अधिक गुणी होनेसे नहीं) ॥ १४ ॥

यदराज्ञि राजवदिहार्घ्यमुपहितमिदं मुरद्विषि ।
ग्राम्यमृग इव हविस्तदयं भजते ज्वलत्सु न महीशवह्निषु ॥ १५ ॥

यदिति ॥ अराज्ञि । अभिषेकादिराजगुणविरहिणीत्यर्थः । 'नञस्तत्पुरुषात्' (५।४।७१) इति समासान्तप्रतिषेधः । इहास्मिन्मुरद्विषि कृष्णे । अपात्रत्वद्योतनार्थमसंप्रदानविभक्तिनिर्देशः । राजानमर्हतीति राजवद्राजार्हम् । तदर्हमिति वतिप्रत्ययः, 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (१।१।३८) इत्यव्ययत्वम् । यदिदमर्घ्यमघार्थं द्रव्यम् । अर्हणमित्यर्थः । उपहितमर्पितं तदर्घ्यमयं कृष्णः महीशा अवनिपा वह्नयश्चाहवनीयादय इवेत्युपमितसमासः । तेषु महीशवह्निषु ज्वलत्सु सत्सु, अन्यत्र महीशा इव वह्नयस्तेषु ज्वलत्सु सत्स्वित्यर्थः । ग्राम्यमृगः शुनको हविरिव न भजते न प्राप्नोति । उपमालंकारः ॥ १५ ॥

जो तुमने राजभिन्न इस मुरारि (कृष्ण) को राजाओंके समान अर्घ दिया है, वह (मुरारि) नृपरूप इन अग्नियोंके जलते (प्रतापसे प्रकाशमान) होते रहनेपर हविष्यको पानेके लिए कुत्तेके समान योग्य नहीं है (जिस प्रकार अग्निके जलते रहनेपर हविष्य पानेके योग्य कुत्ता नहीं होता, उसी प्रकार इन राजाओंके यहाँ उपस्थित रहते यह मुरारि इस अर्घ (प्रथम पूजा) पानेके योग्य नहीं है) ॥ १५ ॥

अनृतां गिरं न गदसीति जगति पटहैर्विघुष्यसे ।
निन्द्यमथ च हरिमर्चयतस्तव कर्मणैव विकसत्यसत्यता ॥ १६ ॥

अनृतामिति ॥ हे पार्थ ! अनृतामसत्यां गिरं न गदसि न वदसीति जगति लोके पटहैर्वाद्यविशेषैः कर्तृभिर्विघुष्यसे उद्घोष्यसे । अथ च तथापि निन्द्यं हरिमर्चयतस्तव

१. '—मुपहृत—' इति पा० ।

कर्मणा अपूज्यपूजाकरणेनैवासत्यता सत्यहीनता विकसति प्रकाशते। अत्रासत्यप्रसिद्धसत्याचरणयोर्विरूपयोर्घटनाद्विरूपघटनारूपो विषमालंकारः॥ १६॥

'तुम असत्य वचन नहीं बोलते हो' ऐसा संसारमें नगाड़ेकी चोटसे घोषित (सुप्रसिद्ध) किये जाते हो, किन्तु निन्दनीय कृष्णकी पूजा करते हुए तुम्हारे कार्यसे ही (तुम्हारी) असत्यता प्रकट होती है॥ १६॥

तव धर्मराज इति नाम कथमिदमपष्ठु पठ्यते।
भौमदिनमभिदधत्यथवा भृशमप्रशस्तमपि मङ्गलं जनाः॥ १७॥

तवेति॥ हे पार्थ तवेदं धर्मराज इति नाम कथमपष्ठु असत्यमेव पठ्यते। जनः इति शेषः। 'अपदुःसुषु स्थः' (उ० २५) इत्यौणादिकः कुप्रत्ययः। 'अम्बाम्बगोभूमि–' (८।३।९७) इत्यादिना षत्वम्। यद्वा युक्तमेवैतदित्याह–अथवा जनाः भृशमप्रशस्तमपि भौमदिनमङ्गारकवारं मङ्गलमभिदधति व्यपदिशन्ति तद्वदिदमपीत्यर्थः। लोकैरप्रशस्तं प्रशस्तशब्देन विरुद्धार्थेनापि व्यपदिश्यते तदुच्चारणदोषात् तद्वदधर्मराजस्यापि ते धर्मराजव्यपदेश इति भावः। अत्र धर्मराजभौमदिनयोर्निरपेक्षवाक्यद्वये प्रतिबिम्बकरणाद् दृष्टान्तालंकारः॥ १७॥

लोग तुम्हारे नामको 'धर्मराज' ऐसा झूठे ही क्यों कहते हैं? अथवा–अत्यन्त अशुभ भी पृथ्वीपुत्र (मङ्गल ग्रह) को लोग मङ्गल कहते हैं (अतएव लोगोंके कहनेसे सत्यका निर्णय नहीं होता है)॥ १७॥

यदि वार्चनीयतम एव किमपि भवतां पृथासुताः।
शौरिरवनिपतिभिर्निखिलैरवमाननार्थमिह निमन्त्रितैः॥ १८॥

यदि वेति॥ हे पृथासुताः कौन्तेयाः, एष शौरिर्वा शौरिरेवेत्यर्थः। 'वा स्याद्विकल्पोपमयोरेवार्थे च समुच्चये' इति विश्वः। किमपि कथमपि भवतां अर्चनीयतमो यदि पूज्यश्चेत्। तर्हीति शेषः। अवमानस्तिरस्कारः तस्मै तदर्थमेव। अर्थेन सह नित्यसमासः सर्वलिङ्गता च वक्तव्या। क्रियाविशेषणम्। निमन्त्रितैराहूतैः निखिलैरवनिपतिभिरिह किम्। कोऽर्थः साध्य इत्यर्थः। अत एव साधनक्रियापेक्षया करणत्वे तृतीया। अत्र गम्यमानक्रियापेक्षयापि कारकवृत्तिरिति न्यायो द्योत्यते। अत्र सकलराजनिषेधस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गभेदः॥ १८॥

हे पृथापुत्र! यदि किसी कारणसे यह कृष्ण ही तुमलोगोंका पूज्यतम (सर्वोपरि पूज्य) अभीष्ट था, तो अपमान करनेके लिए यहांपर (इस यज्ञमें) निमन्त्रित किये गये सब राजाओंसे क्या प्रयोजन था? अर्थात् इस कृष्णको अर्घ देकर इस यज्ञमें निमन्त्रण देकर बुलाये गये इन राजाओंका तुम लोगोंने अपमान किया है॥ १८॥

अथ त्रिभिर्भीष्मोपालम्भमाह—

अथवा न धर्ममसुबोधसमयमवयात बालिशाः ।
काममयमिह वृथापलितो हतबुद्धिरप्रणिहितः सरित्सुतः ॥ १९ ॥

अथेत्यादि ॥ अथवा बालिशा मूर्खाः । यूयमिति शेषः । सुबोधो न भवतीत्य-सुबोधो दुर्बोधः समय आचारो यस्य तं धर्मं नावयात न जानीत । अवपूर्वाद्याधा-तोर्लोटः 'तस्थस्थ–' (३।४।१०१) इत्यादिना थस्य तादेशः । किन्तु वृथा निष्फलं पलितं यस्य स वृथापलितः । वृथापरिणत इत्यर्थः । 'पलितं जरसा शौक्ल्यम्' इत्य-मरः । वृथात्वे हेतुः—हतबुद्धिर्नष्टमतिरयं सरित्सुतो भीष्मोऽपि काममप्रणिहितोऽ-नवहितः प्रमत्तः । बालाः पार्था न जानन्तु हन्त, वृद्धोऽपि न जानातीति चित्रमि-त्यर्थः । अत एव सत्यपि कारणे कार्यानुदयाद्विशेषोक्तिरलङ्कारः । तथा बालिशत्वध-र्मदुर्बोधत्वयोर्विशेषणगत्या धर्मज्ञानाहेतुत्वात्काव्यलिङ्गं चेत्यनयोः सापेक्षत्वात्सङ्करः ॥

(अब शिशुपाल तीन (१५।१९–२१ (श्लोकोंसे भीष्म पितामहको फटकारता है)

'अथवा हे मूर्खो ! अत्यन्त दुर्बोध धर्म (के स्वरूप) को तुम लोग नहीं जानते हो, (किन्तु) व्यर्थमें पके हुए बालोंवाला अर्थात् बूढ़ा हुआ बुद्धिहीन नदीका पुत्र (भीष्म) अच्छी तरहसे पागल हो (सठिया) गया है अर्थात् अबोध होनेके कारण यदि तुम लोगोंको दुर्बोध धर्मका स्वरूप नहीं मालूम है तो इस बूढ़े भीष्मको तो अवश्य मालूम होना चाहिये था, किन्तु यह भी सठिया गया है, अधिक वृद्ध होनेसे बुद्धिहीन हो गया है ॥ १९ ॥

स्वयमेव शन्तनुतनूज यमपि गणमर्घ्यमभ्यधाः ।
तत्र मुररिपुरयं कतमो यमनिन्द्यबन्दिवदभिष्टुषे वृथा ॥ २० ॥

स्वयमेवेति ॥ हे शन्तनुतनूज भीष्म । स्वयमेवेत्यर्थः । यमपि गणं वर्गमर्घ्य-मर्घार्हं पूज्यम् । 'दण्डादिभ्यो यत्' (५।१।६६) इति यत्प्रत्ययः । अभ्यधा अवोचः । 'स्नातकं गुरुम्' (१४।५५) इत्यादिश्लोक इति भावः । धाधातोर्लङि 'गातिस्था–' (२।४।७७) इत्यादिना सिचो लुक् । तत्र स्नातकादिगणे अयं मुररिपुः कतमः । न कोऽपीत्यर्थः । मास्तु अस्तु वा, अस्मदुपालम्भे को हेतुरत आह—यमिति । यं मुररिपुमनिन्द्यबन्दिवत्प्रगल्भवैतालिकवदित्युपमा । अभिष्टुषे मिथ्या स्तौषि । त्वमिति शेषः । अतस्त्वमेवोपालभ्य इति भावः । 'उपसर्गात्सुनोति–' (८।३।६५) इत्यादिना षत्वम् ॥ २० ॥

हे शन्तनुके पुत्र (भीष्म) ! तुमने जिस समुदायको पूज्य बतलाया, उनमें–से यह मुरारि (कृष्ण) कौन–सा है, जिसे तुम प्रगल्भ बन्दीके समान व्यर्थ स्तुति कर रहे हो अर्थात् तुमने पहले (१४।५५) जिन स्नातक आदिको पूज्य कहा है, उनमें–से यह कृष्ण कोई भी नहीं है, अतएव प्रगल्भ बन्दीके समान इसकी झूठी प्रशंसा क्यों कर रहे हो ? ॥

१. 'यमिह' इति पा० । २. 'यमवद' इति पा० ।

अवनीभृतां त्वमपहाय गणमतिजडः समुन्नतम् ।
नीचि नियतमिव यच्चपलो निरतः स्फुटं भवसि निम्नगासुतः ॥२१॥

अवनीति ॥ अतिजडोऽतिमूढोऽतिशीतश्च चपलोऽस्थिरः सत्वरश्च त्वं समुन्नतमुच्चतमवनीभृतां राज्ञां, भूधराणां च गणमपहाय । न्यञ्चतीति न्यङ् तस्मिन्नीचि नीचवृत्ते, निम्ने च । 'अचः' (६।४।१३८) इत्यकारलोपे 'चौ' (६।३।१३७) इति दीर्घः । इहास्मिन्कृष्णे यद्यस्मान्नियतं नित्यं निरतोऽनुरक्तः प्रवणश्च स इति शेषः । निम्नं नीचं गच्छतीति निम्नगा नदी । 'डोऽन्यत्रापि दृश्यते' (वा०) इति डप्रत्ययः । तस्याः सुतो भवसि स्फुटं व्यक्तम् । नीचनिरतत्वादिधर्मसंक्रमादिति भावः । उक्तं च—'न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदाः' इति । अत्र चतुर्थपादार्थस्य पूर्ववाक्यार्थहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ २१ ॥

अत्यन्त मूर्ख (पक्षा०—शीतल-ठण्डे) तथा चञ्चल (पक्षा०—वेगवान्) तुम श्रेष्ठ (पक्षा०—ऊँचे) राजाओं (पक्षा०—पर्वतों) के समूहको छोड़कर नीच आचरणवाले (पक्षा०-नीचेकी ओर) इस (कृष्ण) में जो संलग्न (अनुरक्त, पक्षा०—जानेको तत्पर) हो; अतएव स्पष्ट ही तुम निम्नगा (नदी अर्थात् गङ्गा, पक्षा०-नीचेकी ओर जानेवाली-नीचगामिनी) के पुत्र हो ॥ २१ ॥

अथ सप्तदशभिः कृष्णोपालम्भं करोति—

प्रतिपत्तुमङ्ग घटते च न तव नृपयोग्यमर्हणम् ।
कृष्ण कलय ननु कोऽहमिति स्फुटमापदां पदमनात्मवेदिता ॥२२॥

प्रतिपत्तुमिति ॥ हे अङ्ग, तव नृपयोग्यं राजार्हमर्हणं पूजनं प्रतिपत्तुं स्वीकर्तुं न च घटते न युज्यते । नन्वहमपि राजैव कथमर्हणं मे न युक्तं तत्राह—कृष्णेति । हे कृष्ण, अहं क इति कलय । अहं राजा न वेति निजस्वरूपमालोचयेत्यर्थः । अनालोचनेऽनर्थमाह—अनात्मवेदिता अनात्मज्ञत्वं आपदां पदं स्थानं स्फुटं खलु । सत्यमित्यर्थः । आत्मा च कंसकिङ्करस्तस्य पशुपालकत्वादिति भावः । अतो निजस्वरूपं चिन्त्यमिति हेतुमत्त्वात्काव्यलिङ्गम् ॥ २२ ॥

(अब शिशुपाल सत्रह (१५।२२-३८) श्लोकोंसे श्रीकृष्ण भगवान् को फटकारता है) 'हे अङ्ग ! राजाके योग्य पूजा पाना तुम्हें योग्य नहीं है' । हे कृष्ण ! 'मैं कौन हूँ' यह तुम (अपनेको) समझो, क्योंकि 'अपने स्वरूपको नहीं समझना आपत्तिका स्थान होता है ।' यह ध्रुव सत्य है ॥ २२ ॥

असुरस्त्वया न्यवधि कोऽपि मधुरिति कथं प्रतीयते ।
दण्डदलितसरघः प्रथसे मधुसूदनस्त्वमिति सूदयन्मधु ॥ २३ ॥

असुर इति ॥ मधुरिति कोऽप्यसुरस्त्वया न्यवधि हतः । 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' (२।४।४४) इति हन्तेर्लुङि विकल्पाद्वधादेशः । इति कथं प्रतीयते विश्वस्यते ।

न कथञ्चिदित्यर्थः। 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः। किन्तु दण्डेन दलिता ध्वस्ता सरघा मधुमक्षिका येनेदृशस्त्वम्। 'सरघा मधुमक्षिका' इत्यमरः। अत एव मधु क्षौद्रं सूदयन्पीडयन् मधुसूदन इति प्रथसे प्रथितोऽसि। मक्षिकासूदनमेव मधुसूदनसंज्ञाप्रवृत्तिनिमित्तं, न तु मधुनाम्नो दैत्यस्य सूदनमित्यर्थः। अत्र मधुसूदनसंज्ञायां प्रसिद्धार्थनिषेधस्योत्तरवाक्यस्यान्यथा व्युत्पादनहेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्॥ २३॥

(अब शिशुपाल श्रीकृष्णजीके जगद्विख्यात मधुसूदनादि नामोंका प्रकारान्तरसे दोषपूर्ण अर्थद्वारा सङ्घटित करता हुआ उन्हें फटकारता है। उसमें 'मधुसूदन' नाम का खण्डन करता हुआ शिशुपाल कहता है) 'मधु' नामके किसी असुरको तुमने मारा है, यह कैसे विश्वास किया जाय? अर्थात् यह विश्वसनीय बात नहीं है, (किन्तु) डण्डेसे मधुमक्खीके छत्तेको तोड़कर मधु (शहद) निचोड़नेसे तुम 'मधुसूदन' कहलाते हो (न कि बलवान् 'मधु' नामके असुरको मारनेसे)॥ २३॥

मुचुकुन्दतल्पशरणस्य मगधपतिशातितौजसः।
सिद्धमबल सबलत्वमहो तव रोहिणीतनयसाहचर्यतः॥ २४॥

मुचुकुन्देति॥ हे अबल बलहीन, कुतः मुचुकुन्दो नाम कश्चिद्राजा। यस्यासुरविजयश्रान्त्या निद्रायमाणस्य देवतावरप्रसादान्निद्राविघातकारी दृष्टिपाताद्भस्मीभवतीति तस्य तल्पं शय्या तदेव शरणं रक्षकं यस्य तस्य। कालयवनविद्रावितस्येति भावः। तथा मगधपतिना जरासन्धेन शातितौजसः अष्टादशकृत्वो नष्टवीर्यस्य तव रोहिणीतनयस्य बलापरनाम्नो बलभद्रस्य साहचर्यतः साहचर्यात् बलत्वं सिद्धम्। न तु स्वबलसम्पत्त्येत्यर्थः। अहो इति कारणं विना कार्योदयादाश्चर्यम्। अत एव विभावनालङ्कारः॥ पुण्यैर्यशो लभ्यत इति भावः॥ २४॥

हे बलहीन (कृष्ण)! 'मुचुकुन्द' की शय्यापर सोकर आत्मरक्षार्थ शरण प्राप्त किये हुए और मगधराज (जरासन्ध) से (अठारह वार) पराजित किये गये तुम्हारा बल बलरामजीके साथसे हुआ है अर्थात् बलरामजीके साथसे तुम बलवान् बने हो वास्तविकमें तुम बलहीन ही हो॥ २४॥

छलयन्प्रजास्त्वमनृतेन कपटपटुरैन्द्रजालिकः।
प्रीतिमनुभवसि नग्नजितः सुतयेष्टसत्य इति सम्प्रतीयसे॥ २५॥

छलयन्निति॥ इन्द्रजालं वेत्तीत्यैन्द्रजालिकः। अत एव कपटपटुर्वञ्चनाकुशलस्त्वमनृतेनासत्येन प्रजाश्छलयन्वञ्चयन् इष्टं सत्यं यस्य स इष्टसत्यः प्रियसत्य इति सम्प्रतीयसे सम्यक्ख्यायसे। 'प्रतीते प्रथितख्यातवित्तविज्ञातविश्रुताः' इत्यमरः।

१. 'यवनपति—' इति पा०।

नग्नजितो नग्नजिन्नाम्नो राज्ञः। सुतया सत्यभामया सत्यापराख्यया प्रीतिमानन्दमनुभवसि। सत्ययोगादिष्टसत्यो न तु सत्ययोगादिति भावः। अत्र हरेः सत्यसम्बन्धेऽपि तदसम्बन्धोक्तेः सम्बन्धेऽसम्बन्धरूपातिशयोक्तिः॥ २५॥

(अब श्रीकृष्ण भगवान्‌के 'इष्टसत्य' (सत्यवक्ता) नामका खण्डन करता हुआ शिशुपाल कहता है) इन्द्रजाल करनेवाले कपटमें चतुर तुम असत्यसे प्रजाओंको ठगते हुए लोगोंसे 'इष्टसत्य' (सदा सत्यवक्ता–सत्यप्रतिज्ञ) कहे जाते हो, (किन्तु 'इष्टसत्य' कहे जानेमें सत्य बोलना कारण नहीं है, अपि तु) 'नग्नजित्' राजाकी कन्या सत्यभामासे 'इष्टसत्य' (इष्ट = प्रिया है सत्या—सत्यभामा जिसकी वह) कहलाते हुए प्रसन्न होते हो॥ २५॥

[1]धृतवान्न [2]चक्रमरिचक्रभयचकितमाहवे निजम्।

चक्रधर इति रथाङ्गमदः सततं बिभर्षि भुवनेषु रूढये॥ २६॥

धृतवानिति॥ आहवे युद्धे अरिचक्रादरिसैन्याद्भयेन चकितं सम्भ्रमं 'चकितं भयसम्भ्रमः' इति सज्जनः। निजमात्मीयं चक्रं सैन्यं न धृतवान्नावलम्बितवान्। न रक्षितवानित्यर्थः। किन्तु चक्रधर इति भुवनेषु रूढये प्रसिद्धये। अदः इदं रथाङ्गं चक्रापराख्यं सततं बिभर्षि दधासि। वृथाभारमिति भावः। 'चक्रं सैन्यरथाङ्गयोः' इति [3]हेमसज्जनौ। अयोविकारधरः चक्रधरो भवान्नारिभीतिचक्रधारकत्वादित्यर्थः। अत्र हरौ भगवति चक्रधारणसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः॥ २६॥

(अब श्रीकृष्ण भगवान्‌के 'चक्रधर' नामका खण्डन करता हुआ शिशुपाल कहता है) युद्धमें शत्रु–समूहके भयसे घबराये हुए अपने सेना–समूहको तुमने नहीं धारण किया (नहीं सुरक्षित रखा, किन्तु) संसारमें 'चक्रधर' इस नामकी प्रसिद्धिके लिए इस पहियेको सर्वदा धारण करते हो (लोहेके बने हुए भाररूप पहियेको सर्वदा धारण करनेसे तुम 'चक्रधर' कहलाते हो, न कि युद्धमें शत्रुओंसे भयभीत अपने सेनाचक्र (सेना–समूह) के धारण (रक्षा) करनेसे)॥ २६॥

जगति श्रिया विरहितोऽपि यदुदधिसुतामुपायथाः।

ज्ञातिजनजनितनामपदां त्वमतः श्रियः पतिरिति प्रथामगाः॥२७॥

जगतीति॥ श्रिया राजलक्ष्म्या विरहितोऽपि। यदूनां ययातिशापाद्राज्यानधि-

---

१. एतस्मात् प्राक् 'बहुशो रणेषु' एतावन्मात्रं पद्यांशो दृश्यते, मल्लिनाथेन च न व्याख्यातोऽसौ, परं 'वल्लभदेव' टीकानुसन्धानेन—

'बहुशो रणेषु रथचक्रमधितपरिमण्डलं त्वया।

साधु तदिदमयशः शकलं करणे धृतं नु यदुचक्रसम्पदः॥'

इति पद्यं वल्लभदेवसम्मतं प्रतीयते।

२. '–चलित–' इति पा०।

३. हेम—(चन्द्राचार्यकृतायामनेकार्थरत्नमालायान्तु 'चक्रं……राष्ट्रे सैन्यरथाङ्गयोः' इत्येवं पाठो दृश्यते।

कारित्वादिति भावः। ज्ञातिजनेन बन्धुजनेन जनितं प्रवर्तितं नामपदं श्रीरिति पारिभाषिकसंज्ञाशब्दो यस्यास्तासुदधिसुतामब्धिकन्यां यद्यस्मादुपायथाः। उदूढवानित्यर्थः। 'विवाहोपयमौ समौ' इत्यमरः। 'उपाद्यमः स्वकरणे' (१।३।५६) इत्यात्मनेपदम्। 'तनादिभ्यस्तथासोः' (२।४।७९) इति सिचो लुक् 'अनुदात्तोपदेश—' (६।४।३७) इत्यादिनानुनासिकलोपः। अतो जगति श्रियः पतिरिति प्रथां ख्यातिमगाः प्राप्तवानसि। 'इणो गा लुङि' (२।४।४५) इति गादेशः। न राजान्तरवद्राज्यलक्ष्मीयोगात्तव श्रीपतित्वम्, किंतु श्रीसंज्ञिकायाः कस्याश्चिद्वराक्याः परिग्रहादिति भावः। अत्रोग्रसेनस्याभिषेकसंस्कारेऽपि त्रैलोक्यप्रतिष्ठापकस्य हरेरेव सकलराज्यश्रीधुरंधरत्वसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ २७ ॥

(अब श्रीकृष्ण भगवान्के 'श्रीपति' नामका खण्डन करता हुआ शिशुपाल कहता है) (ययातिके शापसे राज्याधिकारी नहीं होनेके कारण) राजश्री से रहित तुमने जातिके लोगोंसे (रूढिरूपमें) परिभाषित नामवाली समुद्रकी कन्या (श्री) के साथमें विवाह किया है, इसीसे 'श्रीपति' नामसे तुम प्रसिद्ध हुए हो ॥ २७ ॥

अभिशत्रु संयति कदाचिदविहितपराक्रमोऽपि यत्।
व्योम्नि कथमपि चकर्थ पदं व्यपदिश्यसे जगति विक्रमीत्यतः ॥२८॥

अभीति ॥ संयति युद्धे कदाचित् कदापि अभिशत्रु शत्रुमभिव्याप्य। आभिमुख्येऽव्ययीभावः। अविहितपराक्रमोऽप्यकृतपौरुषोऽपि यद्यस्मात्कथमपि महता प्रयत्नेन व्योम्नि पदं पादक्षेपं चकर्थ कृतवानसि। 'ऋतो भारद्वाजस्य' (७।२।६३) इति इट्प्रतिषेधः पित्त्वेनाकित्वाद् गुणः। अतो जगति विक्रमी विक्रमवानिति व्यपदिश्यसे व्यवह्रियसे, न तु पराक्रमयोगादित्यर्थः। अत्रापि पराक्रमसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥

(अब श्रीकृष्ण भगवान्के 'विक्रमी' (पराक्रमी) कहलानेका खण्डन करता हुआ शिशुपाल कहता है) तुमने युद्धमें शत्रुके सामने कभी भी पराक्रमको नहीं करके जो किसी प्रकार (बड़ी कठिनाईसे वामनावतारमें) आकाशमें पैरको किया था, इस कारणसे संसारमें 'विक्रमी' कहलाते हो ॥ २८ ॥

पृथिवीं बिभर्थ यदि पूर्वमिदमपि गुणाय [1]वर्तते।
भूमिभृदिति परहारितभूस्त्वमुदाह्रियस्व कथमन्यथा जनैः ॥ २९ ॥

पृथिवीमिति ॥ पूर्वं प्रागपि। सम्प्रत्यसम्भवेऽपीति भावः। पृथिवीं बिभर्थ यदि भृतवांश्चेत्। भृञो लिटि भारद्वाजीयेट्प्रतिषेधः। पित्त्वेनाकित्वाद् गुणः। इदं भूधारणमपि गुणायोत्कर्षाय वर्तते। भूतपूर्वंगत्यापि व्यपदेशत्वात्तदपि नास्तीति भावः। प्रत्युत परैः शत्रुभिः हारितभूः परिहारितभूमिकः जरासन्धेन मथुरानगरान्निष्कासितत्वादिति भावः। अत्र हर्तुरवहरणक्षमत्वमेव हारयितृत्वमिति णिजर्थोपपत्तिः। जनैः

1. 'कल्पते' इति पा०।

कथमन्यथा अर्थवैपरीत्येन भूमिभृदित्युदाहियस्व उदाह्रियेथाः । संभावनायां लोट् । असम्भावितमेवेत्यर्थः । अत्रापि भूधरणसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥२९॥

(अब श्रीकृष्ण भगवान्के 'भूमिभृत्' (राजा) नामका खण्डन करता हुआ शिशुपाल कहता है) यदि तुमने पहले भी (किसी समय) में पृथ्वीको धारण किया था, (यह पृथ्वी का धारण करना) तुम्हारे गुणके लिए (तुम्हारे लिए महत्त्वप्रद) है, अन्यथा शत्रु (जरासन्ध) के द्वारा तुम्हारी पृथ्वीको छीने जानेसे लोग तुम्हें 'भूभृत्' (पृथ्वीको धारण करनेवाला = राजा) कैसे कहते ? अर्थात् जरासन्धके द्वारा अठारह बार पराजित कर मथुरासे निकाले जानेपर इस समय भूभृत् (राजा) नहीं रहनेपर भी भूतपूर्व 'भूभृत्' होनेसे तुम्हें अब भी 'भूभृत्' कहते हैं, अतएव भूतपूर्व 'भूभृत्' होना भी तुम्हारे लिए महत्त्वका विषय है ॥ २९ ॥

तव धन्यतेयमपि सर्वनृपतितुलितोऽपि यत्क्षणम् ।
क्लान्तकरतलधृताचलकः पृथिवीतले तुलितभूभृदुच्यसे ॥ ३० ॥

तवेति ॥ तवेयं धन्यता पुण्यवत्ता कथं सर्वैर्नृपतिभिस्तुलितोऽवधूतोऽपि । तिरस्कृतोऽपीत्यर्थः । क्षणं क्लान्ते भारवत्तयैव श्रान्ते करतले धृतः अचलकोऽल्पाचलो येन स सन् पृथिवीतले तुलितभूभृदुद्धृतराजकश्चोच्यस इति यत् इयमप्यपरा ते धन्यतेत्यर्थः । गोवर्धनाख्यक्षुद्रभूधरतोलनात्तुलितभूभृत्त्वं भवति न मादृशामिव महावीरातितुलनादिति भावः । अत्र सर्वनृपतितुलितोऽपि तत्तोलक इति विरोधो भूभृदिति श्लेषमूलाभेदाध्यवसायोत्थापित इति विरोधातिशयोक्त्योः सङ्करः । तेन गोवर्धनोद्धरणमपि नातीवाद्भुतं बाहुबलशालिनामिति वस्तु व्यज्यते ॥ ३० ॥

(अब श्रीकृष्ण भगवान्के गोवर्धन पर्वतको उठानेसे 'तुलितभूभृत्' नामका खण्डन' करता हुआ शिशुपाल कहता है) तुम्हारे लिये यह धन्यता (महत्त्वपूर्ण बात) है कि—सब राजाओंसे तिरस्कृत भी तुम भारसे श्रान्त हाथपर क्षणमात्र छोटे-से (गोवर्धन) पर्वत को धारण करने (उठाने) से भूतलमें 'तुलितभूभृत्' (पर्वतको उठानेवाला) कहे जाते हो ॥

त्वमशक्नुवन्न शुभकर्मनिरत ! परिपाकदारुणम् ।
जेतुमकुशलमतिर्नरकं यशसेऽधिलोकमजयः सुतं भुवः ॥ ३१ ॥

त्वमिति ॥ हे अशुभकर्मनिरत पापाचारपर, अत एवाकुशलमतिर्दुर्बुद्धिस्त्वं परिपाके फलकाले दारुणम् । विचित्रपापयातनामयत्वाद्भयङ्करमित्यर्थः । नरकं निरयम् । 'स्यान्नारकस्तु नरको निरयो दुर्गतिः स्त्रियाम्' इत्यमरः । जेतुमशक्नुवन् । पापिष्ठैर्दुर्जयत्वादिति भावः । अधिलोकं लोके । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । यशसे नरकविजयीति प्रसिद्ध्ये भुवः सुतं नरकाख्यमजयो जितवानसि । परलोकप्रतारणमात्रपरो न परलोकवाञ्छोऽसीति भावः । अत्र निरयापराख्यनरकविजयाशक्तेर्विशेषण-

१. '—कलितोऽपि' इति पा० । २. 'नियतपरि' इति पा० ।

गत्या तज्जयस्यार्थिनो हरेर्नरकासुरविजयप्रकृतिहेतुकत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्। तच्च नरकयोः श्लेषमूलाभेदात्तदुत्थापितमिति सङ्करः ॥ ३१ ॥

हे अशुभ कर्मों (पापाचरणों) में लीन रहनेवाले (कृष्ण) ! दुर्बुद्धि तुम फल देनेके समय भयङ्कर नरकको जीतनेमें असमर्थ होकर संसारमें यश (ख्याति) होने के लिए पृथ्वी-पुत्र नरकासुरको जीत लिए हो ॥ ३१ ॥

सकलैर्वपुः सकलदोषसमुदितमिदं गुणैस्तव ।
त्यक्तमपगुण गुणत्रितयत्यजनप्रयासमुपयासि किं मुधा ॥ ३२ ॥

सकलैरिति ॥ हे अपगुण निर्गुण, सकलैः सर्वदोषैः समुदितं युक्तं तवेदं वपुः सकलैर्गुणैः शौर्यादिभिस्त्यक्तम्। सर्वगुणान्निवर्तितमेवेत्यर्थः। एवं च सति गुणत्रितयस्य त्यजने त्यागे यः प्रयासः तं मुधा वृथा किं किमर्थमुपयासि। मुमुक्षयेति भावः। यत्र सकलगुणस्य त्यागस्तत्र गुणत्रयस्य त्यागोऽन्तर्गत्या सिद्ध एव, अन्यथा साकल्यव्याघातादित्यर्थः। स्वभावतो निर्गुणस्य परवस्तुनः कुतो गुणत्रयचिन्तेति ध्वनिः। गुणत्रयत्यागनिषेधस्य सकलैरित्यादिवाक्यार्थहेतुकत्वात् काव्यलिङ्गभेदः ॥

(अब श्रीकृष्ण भगवान्‌के 'निर्गुण अर्थात् गुणत्रयातीत होनेका प्रकारान्तरसे समर्थन करता हुआ शिशुपाल कहता है) हे अपगुण (दुर्गुणोंसे युक्त कृष्ण) ! तुम्हारा यह शरीर सम्पूर्ण दोषसे व्याप्त तथा सब गुणोंसे हीन है, तब तुम तीनों गुणों (सत्त्व, रज और तम पक्षा०—केवल तीन गुणमात्र) को छोड़नेका व्यर्थ प्रयास क्यों करते हो ? (जहाँ सभी गुणोंकी हीनता है, वहां केवल तीन गुणोंसे हीन होनेकी चिन्ता करना व्यर्थ है, क्योंकि सब गुणोंके अन्तर्गत ही तीन गुण होते हैं । यहां शिशुपालने सत्त्वादि गुणत्रयसे परे रहनेके कारण 'गुणत्रयातीत या निर्गुण' कहलानेको प्रकारान्तरसे सब गुणोंसे हीन होना कहकर श्रीकृष्ण भगवान्‌की निन्दा की है) ॥ ३२ ॥

त्वयि पूजनं जगति जाल्म कृतमिदमपाकृते गुणैः ।
हासकरमघटते[1] नितरां शिरसीव कङ्कतमपेतमूर्धजे ॥ ३३ ॥

त्वयीति ॥ हे जाल्म असमीक्ष्यकारिन्, 'जाल्मोऽसमीक्ष्यकारी स्यात्' इत्यमरः। गुणैरपाकृते निरस्ते गुणैर्हीने त्वयि पूजनं कृतं जगति हासकरं परिहासजनकम् इदं पूजनम्। अपेतमूर्धजेऽपगतकेशे शिरसि कङ्कतं दारुदन्तादिमयः केशप्रसाधनविशेषः। 'प्रसाधने कङ्कतिका' इति [2]विश्वामरौ। कङ्कतमेव कङ्कतिका। 'कङ्कणम्' इति पाठे शेखरमित्यर्थः। 'कङ्कणं शेखरे हस्तसूत्रमण्डनयोरपि' इति विश्वः। तदिव नितरामघटते। न सङ्गच्छत इत्यर्थः। 'नञो नलोपस्तिङि क्षेपे' (वा०) इत्युपसंख्यानमिति निन्दायां तिङ्योगेऽपि नलोपः। उपमालङ्कारः ॥ ३३ ॥

१, 'मधधृते······कङ्कणमपोढ' इति पा०। २, 'विश्वे' नेदं वचनमुपलभ्यते, अमरेऽपि 'प्रसाधनी कङ्कतिका' इत्येवंविधः पाठो वर्तते।

हे जाल्म (बिना सोचे-विचारे काम करनेवाले कृष्ण) ! गुणोंसे हीन तुम्हारे विषयमें संसारमें हँसी करानेवाला यह पूजन (युधिष्ठिरकृत प्रथमार्घदान) केशरहित मस्तकमें कंघीके समान असङ्गत होता हैं ॥ ३३ ॥

सम्प्रति राज्ञां रोषमुत्पादयन्नाह—

मृगविद्विषामिव यदित्थमजनि मिषतां पृथासुतैः ।
अस्य वनशुन इवापचितिः परिभाव एष भवतां भुवोऽधिपाः ॥३४॥

मृगेति ॥ हे भुवोऽधिपा राजानः, मृगविद्विषां सिंहानामिव भवतां मिषतां पश्यतां भवत्सु मिषत्सु । मिषतो युष्माननादृत्येत्यर्थः । 'षष्ठी चानादरे' (२।२।३८) इति विकल्पान्नावलक्षणे षष्ठी । इत्थं पृथासुतैः कौन्तेयैः । पितरमेतेषां न वेद्मीति भावः । अस्य कृष्णस्य वनशुनो वनशुनकस्येव । जम्बुकस्येवेति यावत् । अपचितिः पूजा अजनि जनिता । कृतेति यत् । जनेर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । एष भवतां परिभावः परिभवः । 'परौ भुवोऽवज्ञाने' (३।३।५५) इति विभाषया घञ्प्रत्ययः ॥ ३४ ॥

(अब राजाओंके क्रोधको बढ़ाता हुआ शिशुपाल कहता है) हे राजा लोग ! सिंहके समान आप लोगोंके देखते रहनेपर अर्थात् सिंह के समान आप लोगों का अनादर करके पृथाके पुत्र (युधिष्ठिरादि) के द्वारा गीदड़के समान इस (कृष्ण) की जो पूजा की गयी, वह आप लोगोंका ही तिरस्कार है ॥ ३४ ॥

अवधीज्जनंगम इवैष यदि हतवृषो वृषं ननु ।
स्पर्शमशुचिवपुरर्हति न प्रतिमाननां तु नितरां नृपोचिताम् ॥३५॥

अवधीदिति ॥ हतवृषो हतसुकृतः । 'सुकृतं वृषभे वृषे' इति विश्वः । एष कृष्णो जनङ्गमश्चाण्डाल इव । 'चाण्डालप्लवमातङ्गदिवाकीर्तिजनङ्गमाः' इत्यमरः । 'गमेश्च' (३।२।४७) इति संज्ञायां जनपूर्वाद्गमू धातोः खच्प्रत्ययः 'अरुर्द्विषत्–' (६।३।६७) इत्यादिना मुमागमः । वृषं वृषभरूपिणमरिष्टाख्यमसुरमवधीद्यदि हतवांश्चेत् । 'लुङि च' (२।४।४३) इति हनो वधादेशः । अत एव अशुचिवपुरशुद्धात्मा स्पर्शं नार्हति । नृपोचितां राजार्हां प्रतिमाननां पूजां तु नितरां नार्हति । स्पर्शायोग्यो गोघ्नः कथं पूज्य इत्यर्थः । उपमा ॥ ३५ ॥

(अब शिशुपाल वृषासुरादिके वधको पापकर्म बतला रहा है) पुण्यहीन इस (कृष्ण) ने चण्डालके समान, यदि वृष (बछड़े अर्थात् वृषासुर) को मारा है, तो (गोहत्या करनेसे) अपवित्र शरीरवाला यह स्पर्श करने योग्य भी नहीं है, फिर राजोचित पूजाके योग्य कैसे हो सकता है ? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता ॥ ३५ ॥

यदि नाङ्गनेति मतिरस्य मृदुरजनि पूतनां प्रति ।
स्तन्यमघृणमनसः पिबतः किल धर्मतो भवति सा जनन्यपि ॥३६॥

यदीति ॥ अस्य कृष्णस्य मतिः पूतना नाम बालग्रहविशेषः, तां प्रति अङ्गनेति

हेतोर्मृदुः कृपा दया नाजनि यदि न जाता चेत् मास्त्विति शेषः। जनेः कर्तरि लुङ् 'दीपजन-' (३।१।६१) इत्यादिना च्विण्प्रत्ययः। अघृणमनसो निर्घृणचित्तस्य। स्तने भवं स्तन्यं पयः। 'शरीरावयवाच्च' (५।१।६) इति यत्प्रत्ययः। पिबतोऽस्य सा पूतना धर्मतः शास्त्रतो जनन्यपि माता च भवति खलु। स्त्रीति कृपाभावेऽपि मातेति जुगुप्साप्यस्य नास्तीत्यहो न केवलं स्त्रीहन्ता, किन्तु मातृहन्ता चायम्। स्तनप्रदाया उपमातृत्वादिति भावः। अत्र स्तनपानस्य विशेषणगत्या जननीत्वहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् ॥ ३६ ॥

(अब शिशुपाल पूतनावधको पापकर्म बतला रहा है) यदि पूतनाके प्रति इस (कृष्ण) की बुद्धि ('यह स्त्री है अतएव इसे नहीं मारना चाहिये' इस भावनासे) कोमल नहीं हुई अर्थात् इस कृष्णने पूतनाको स्त्री जानकर उसपर दयाकर उसे नहीं छोड़ा (तो भले न छोड़े, किन्तु) दूध पीते हुए निर्दय चित्तवाले इस (कृष्ण) की वह (पूतना) धर्मसे माता भी होती है, (अतएव माता होनेके नाते तो इस कृष्णको पूतनाका वध नहीं ही करना चाहिये था, इस कारणसे यह कृष्ण केवल स्त्रीघातक ही नहीं, किन्तु मातृघातक भी है) ॥

शकटव्युदासतरुभङ्गधरणिधरधारणादिकम्।[1]
कर्म यदयमकरोत्तरलः स्थिरचेतसां क इव तेन विस्मयः ॥ ३७ ॥

शकटेति ॥ तरलश्चपलोऽयं कृष्णः शकटव्युदासः शकटासुरमर्दनं तरुभङ्गो यमलार्जुनभञ्जनं धरणिधरधारणं गोवर्धनोद्धरणम्, तानि आदिर्यस्य तत्तथोक्तं यत्कर्माकरोत्तेन कर्मणा स्थिरचेतसां धीरचित्तानां क इव विस्मयः। न कोऽपीत्यर्थः। अत्र स्थिरचेतस्कताया विशेषणगत्या विस्मयनिषेधहेतुत्वात्काव्यलिङ्गं वृत्त्यनुप्रासेन संसृज्यते ॥

(अब शिशुपाल श्रीकृष्णजी द्वारा किये गये शकटासुरवध, यमलार्जुनभङ्ग और गोवर्धन धारण आदिकी लघुता बतला रहा है) चपल इस (कृष्ण) ने शकटासुरका वध, यमलार्जुनको उखाड़ना और गोवर्धन पर्वतको उठाकर धारण करना आदि जो कार्य किया; स्थिर चित्तवालों को उस (कृष्णकृत उक्त कार्य) से कौन आश्चर्य होता है ? अर्थात् कृष्णकृत शकटासुर वध आदिसे कोई भी स्थिरबुद्धि विस्मित नहीं होता ॥ ३७ ॥

अयमुग्रसेनतनयस्य नृपशुरपरः पशूनवन्।
स्वामिवधमसुकरं पुरुषैः कुरुते स्म यत्परममेतदद्भुतम् ॥ ३८ ॥

अयमिति ॥ अपरोऽन्यः ना पशुरिवेति नृपशुरित्युपमितसमासः। कार्याकार्यविवेकशून्यत्वादेवेत्यर्थः। अयं कृष्णः उग्रसेनतनयस्य कंसस्य पशूनवन् गाः पालयन् पुरुषैरसुकरं लोकवेदविगीतत्वाद् दुष्करं स्वामिवधं यत्कुरुते स्म। चकारेति यावत्। एतत्परममद्भुतम्। अभूतपूर्वमिति भावः। अत्र पश्ववनस्य विशेषणगत्या कंसकृष्णयोः स्वामिभृत्यभावहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् ॥ ३८ ॥

---

१. 'शकटं व्युदास तरु' इति पा०।

(कार्याकार्यके विवेकसे शून्य होनेके कारण) नृपशु (पशुतुल्य मनुष्य) यह (कृष्ण) उग्रसेनके पुत्र (कंस) के पशुओं (गाय आदि) को पालता (चरवाही करता) हुआ मनुष्य मात्रसे दुष्कर जो स्वामिवध किया (कंसको मार दिया); यह (भृत्यके द्वारा किया गया स्वामिवधरूपी निन्दनीयतम कार्य) बहुत आश्चर्यजनक है ॥ ३८ ॥

ये चतुस्त्रिंशच्छ्लोकाः 'प्रक्षिप्ताः' इति मन्यमानेन मल्लिनाथेन न व्याख्यातास्ते वल्लभदेवकृतव्याख्यासमेताः प्रदर्श्यन्ते—

निम्न चौतीस श्लोकोंको प्रक्षिप्त मानकर महोपाध्याय मल्लिनाथने उनकी व्याख्या नहीं की है, अतएव 'वल्लभदेव' की संस्कृत व्याख्या ही दी गयी है।

[किमबोचदित्याह—

ननु सर्व एव समवेक्ष्य कमपि गुणमेति पूज्यताम्।
सर्वगुणविरहितस्य हरेः परिपूजया कुरुनरेन्द्र को गुणः ॥ १ ॥

नन्विति ॥ हे कुरुनरेन्द्र कौरवनाथ, ननु सर्व एव कश्चित्कमपि पौरुषश्रुतादिकं गुणं समवेक्ष्य पूज्यतामेति पूज्यते। गुणाः पूजाया निमित्तमित्यर्थः। यदि वा गुणं स्वप्रयोजनं पर्यालोच्य। अतश्चैवंस्थिते अस्य हरेर्वानरतुल्यस्य सर्वैर्गुणैः कृतज्ञत्वा-दिभिर्विरहितस्य विशेषेण रहितस्य परिपूजनात्को गुणः। एनमर्चयित्वा न कश्चिद्-गुणस्त्वया प्राप्तः। ननुरमर्षे। कमपि। स्वल्पमपीत्यर्थः। हरिर्वानरः तत्साधर्म्या-द्भगवानत्र हरिर्विवक्षितः। यथाग्निर्माणवक इति तत्त्वम्। यादृशस्तादृशस्त्वम्। येनागुणं पूजयसीति 'कुरुनरेन्द्र' इत्यामन्त्रणपदेन सूच्यते ॥

अत्र कविरतिभक्तत्वाद्भगवतः कथाक्रमागतामपि निन्दामसहमानः प्रतीयमानां स्तुतिं व्यरचयदिति तदर्थोऽधुना व्याख्यायते—हरेर्विष्णोः परिपूजया कोऽगुणः, अपि तु स्वर्गादिको गुणः। न तु गुण एवेत्यर्थः। यदि वा को गुणो नीरागत्वेन। नैवास्य उपकार इत्यर्थः। कीदृशस्य। सर्वैस्त्रिभिरपि गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिर्विरहि-तस्य। 'निर्गुणो हि पुरुषः' इति सांख्याः। अत्र द्वितीयार्धमेव तेन भिद्यते। प्रथमार्धे तु न किञ्चित्प्रयोजनम्। न हि तत्र ते गुणा निन्दागताः। पूज्यतामेतीतीण्धात्वर्थस्य तु अदेस्त्वेकः कर्ता। य एव हि समीक्षते स एव पूज्यते इति ल्यप् भवत्येव। सर्वो गुणान्दृष्ट्वा पूज्यत इत्यर्थः। वक्रश्लेषोऽत्र। निन्दास्तुतावकारः ॥ १ ॥

(क्रोधसे शिशुपाल कहता है कि) हे कौरवेश (युधिष्ठिर) सब कोई (विद्या-बल आदि) किसी गुणको देखकर पूज्य होता है, अतएव सर्वगुणहीन वानरके समान इस (कृष्ण) की पूजासे क्या लाभ है? अर्थात् कोई भी लाभ नहीं है।

(परम वैष्णव महाकवि 'माघ' श्रीकृष्ण भगवान्‌की शिशुपालकृत अधिक निन्दाको सहन नहीं कर सकते थे, अतएव उन्होंने इन चौतीस श्लोकोंमें पक्षान्तरसे श्रीकृष्ण भगवान्

की स्तुतिपरक अर्थ भी समाविष्ट कर दिया है, उस स्तुतिपरक अर्थको भी सब श्लोकोंमें लिख दिया जाता है)।

स्तुतिपक्ष—पूर्वोक्त क्रोधसे···पूज्य होता है, (ऐसा पूर्वोक्त अर्थ ही पूर्वार्द्धका है और उत्तरार्धका अर्थ यह है कि) निर्गुण अर्थात् सत्त्वादि गुणत्रयसे रहित इस हरि (श्रीकृष्ण भगवान्) की पूजासे स्वर्ग आदि रूप गुण हैं या कौनसा अगुण (गुणाभाव) अर्थात् कोई गुणाभाव नहीं हैं, सब गुण ही गुण है ॥ १ ॥

तदेव निर्गुणत्वं दर्शयितुमाह—

न महानयं न च बिभर्ति गुणसमतया प्रधानताम् ।
स्वस्य कथयति चिराय पृथग्जनतां जगत्यनभिमानतां दधत् ॥२॥

नेति ॥ अयं हरिः न महान् सर्वोत्कृष्टः । सर्वनाम सर्वत्र प्रत्यक्षनिर्देशे । कदाचिदन्येषां प्रधानानां गुणैः समः स्यात्तदापि पूज्यः । एतदपि नेत्याह—गुणसमतया गुणसाम्येन या प्रधानता विवक्षितत्वं तदपि न बिभर्ति । यतोऽन्येषां गुणैरसम इत्यर्थः । गुणोत्कर्षाद्धि प्राधान्यमाप्यते । कदाचित् महत्प्रधानं च न भवेद्यावद्धेतोऽपि (?) न तत्स्यात् । तदपि नेत्याह—अनभिमानितां निरहंकारित्वं दधत्स्वस्यात्मनः चिराय जगति पृथग्जनतां हीनत्वं कथयति । प्राकृतोऽपि निरभिमानो भवति । इति निन्दा ॥

स्तुतिस्तु—अयं न महान् महत्तत्त्वं न भवति । गुणानामुद्रेके साम्याभावे बुद्धेरेव महत्त्वम् । अथ गुणानां सत्त्वरजस्तमसां समतया या प्रधानता तामपि न बिभर्ति । प्रधानमप्ययं न भवतीत्यर्थः । अनुभूतविक्रियाणि प्रकृतिस्थानि सत्त्वरजस्तमांसि प्रधानशब्देनाहुः । तथाऽनभिमानितामनहङ्कारितां दधत्स्वस्यात्मनः पृथग्जनतां जनव्यतिरिक्तत्वं कथयतीति वा । जनाः पञ्चतन्मात्राणि । पृथग्भूतो जनेभ्यः, पृथग्वा जनो यस्मात्स पृथग्जनः । तद्भावस्तत्ता तां कथयति । सर्वातीतत्वात् । तेनायं 'न महान्, न प्रधानम्, न भूतानि, न तन्मात्राणि, नाहङ्कारः' इति वाक्यार्थः । पञ्चविंशकोऽयं पुरुषः । चतुर्विंशकबाह्य इति यावत् ॥ २ ॥

(पूर्वोक्त (१५।२ प्रक्षिप्त) निर्गुणताको की ही शिशुपाल कहता है) यह कृष्ण महान् (गुणोंसे श्रेष्ठ) नहीं हैं, गुण–समुदायसे भी प्रधानताको नहीं धारण करता है और निरभिमानिताको धारण करता हुआ अर्थात् अभिमानहीन यह संसारसे चिरकालतक अपनेको नीच कहता (सूचित करता) है ।

स्तुतिपक्ष—ये हरि (श्रीकृष्ण भगवान्) महान् अर्थात् महत् तत्त्व नहीं हैं और (सत्त्वादि तीन) गुणोंकी समतासे ये प्रधान भी नहीं हैं और अहङ्कारशून्यताको धारण करते हुए ये अपनेको संसारमें (सर्वातीत होनेके कारण) लोगोंसे पृथग्भूत (या–जिनसे लोग पृथग्भूत हैं ऐसे) कहते हैं (अतएव ये श्रीकृष्ण भगवान् न तो महान् हैं, न तो प्रधान हैं,

न तो भूत हैं, न तन्मात्रा हैं और न तो अहङ्कार हैं; किन्तु चौबीस तत्त्वोंसे बहिर्भूत पच्चीसवां पुरुष हैं) ॥ २ ॥

भूयोऽपि निर्गुणत्वमाह—

रहितं कलाभिरखिलाभिरकृतरसभावसंविदम् ।
क्षेत्रविदमपदिशन्ति जनाः पुरबाह्यमेनमगतं विदग्धताम् ॥ ३ ॥

रहितमिति ॥ एनं हरिं क्षेत्रविदमपदिशन्ति कर्षकमाहुः । अत एव पुरबाह्यं ग्राम्यम् । कार्षिका हि नगराद्बहिर्वसन्ति । यद्वा पुरस्य वाहनीयो वाह्यः पुरायत्तः । तथा सर्वाभिः कलाभिर्गीतवाद्यादिभिर्वर्जितम् । यतः अकृता रसानां शृङ्गारादीनां भावानां रत्यादिकानां च संवित् सङ्केतः संवचनं येन । विदग्धशास्त्राणां सङ्केतमपि यो न वेदेत्यर्थः । यतो विदग्धतां वैदग्ध्यमगतमप्राप्तम् । इति निन्दा ॥

स्तुतिस्तु—एनं भगवन्तं क्षेत्रज्ञमात्मानमामनन्ति । क्षेत्रं शरीरम् । कीदृशम् । समग्राभिः कलाभिरवयवै रहितं निष्कलम् । अकृतरसा अविहितरागा भावसंवित्पदार्थसंवेदनं यस्य । पुरुषो हि भावान् वेत्ति नतु तत्र रसज्ञतां भजते । यद्वा अविद्यमानाः कृतरसभावाः कर्मरागोत्पत्तयो यस्य स चासौ संवित् चिद्रूपः । पुराद्देहाद्बाह्यं विलक्षणम् । विदग्धतां विशेषेण दाह्यत्वमगतम् । यदाह 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः' (भ. गी. २।२३) इति ॥ ३ ॥

लोग इस (कृष्ण) को सब कलाओं (गाना-बजाना आदि) से हीन, रस (शृङ्गारादि नवरस) और भाव (रत्यादि भाव) को नहीं जाननेवाला, नगरसे बाहर रहनेवाला (या—नगरका बोझा ढोनेवाला—कुली) और चातुर्यहीन खेतिहर (किसान) कहते हैं ।

स्तुतिपक्ष—लोग इन (श्रीकृष्ण भगवान्) को क्षेत्रज्ञ अर्थात् आत्मा, (हाथ-पैर आदि अवयवरूप) सब कलाओंसे रहित अर्थात् निष्कल (रसभावादिको जानकर भी पुरुषको उनका रसज्ञ नहीं होनेसे) पदार्थ संवेदन में अनुराग रहित (अथवा—कर्म-रागोत्पत्तिसे रहित तथा चिद्रूप), देहसे बाह्य (विलक्षण) और (दाह करने योग्य नहीं होनेसे) विशेषतः अदाह्य कहते हैं ॥ ३ ॥

अतिभूयसापि सुकृतेन दुरुपचर एष शक्यते ।
भक्तिशुचिभिरुपचारपरैरपि न ग्रहीतुमभियोगिभिर्नृभिः ॥ ४ ॥

अतीति ॥ अयमेवंविधैरपि नृभिर्ग्रहीतुमावर्जयितुं न शक्यते । कीदृशैः । भक्त्या तत्त्वतः शुचिभिः शुद्धमतिभिः उपचारपरैराराधनपरैरभियोगिभिः एतन्मनोभिः । कथं तर्हि न शक्यत इत्याह—यतोऽतिभूयसापि बहुतरेणापि सुकृतेनोपकारेण दुरुपचरो दुराराधः । अकृतज्ञोऽयमिति वाक्यार्थः । इति निन्दा ॥

स्तुतिस्तु—एषोऽभियोगिभिराभिमुख्येन योगिभिरपि नृभिर्ग्रहीतुं परिच्छेत्तुं न शक्यते । आत्मतत्त्वस्य दुर्ज्ञानत्वात् । कीदृगेषः । अतिभूयसापि सुकृतेन यज्ञादानः

दिना दुरुपचरो दुराराधः भक्तिगम्यो हि भगवान्। कीदृशैर्नृभिः। भक्त्या शुचिभि-निर्मलीमसैः। केचित्त्वन्यसत्ताशङ्कया नञं काक्का व्याचक्षते। नैष सुकृतेन दुरुपचरो योगिभिरपि न ग्रहीतुं शक्यते। परन्तु तैरेव ज्ञायत इत्यर्थः। यदुक्तम्—'नाहं वेदैर्न तपसा—' (भ. गी. ११।५३) इत्यादि ॥ ४ ॥

अत्यन्त अधिक पुण्य (उपकार) से भी दुराराध्य इस (कृष्ण) को भक्तिसे पवित्र अर्थात् शुद्धमतिवाले, सर्वदा सेवामें लगे हुए एवं इस (कृष्ण) में ही मन लगाये हुए लोग भी ग्रहण अर्थात् अपने अनुकूल (या–प्रत्यक्ष) नहीं कर सकते हैं, (अतएव यह कृतघ्न है)।

स्तुतिपक्ष—अत्यन्त अधिक पुण्य (यज्ञादि कर्म) से भी दुराराध्य (किन्तु भक्तिके द्वारा सुलभ) यह (कृष्ण) योगी लोग भी (आत्मतत्त्व का कष्टसे ज्ञान होनेके कारण) नहीं ग्रहण कर सकते हैं, किन्तु भक्तिसे शुद्ध चित्तवाले एवं सर्वदा इन (श्रीकृष्ण भगवान्) के उपचारमें लगे हुए भक्तलोग ग्रहण (प्रत्यक्ष) कर सकते हैं। (अथवा–अत्यधिक पुण्यसे भी दुराराध्य इनको भक्तिसे शुद्ध बुद्धिवाले, सर्वदा इनके उपचारमें संलग्न और आग्रह-शील (बार-बार इनके ग्रहण करनेके लिए प्रयत्न परायण या–योगी) लोग नहीं ग्रहण कर सकते हैं ? अर्थात् भक्तिसे शुद्ध बुद्धिवाले, इनके उपचारमें सदा संलग्न एवं आग्रह-शील लोग इनका ग्रहण कर ही लेते हैं ॥ ४ ॥

> व्रजति स्वतामनुचितोऽपि सविनयमुपासितो जनैः।
> नित्यमपरिचितचित्ततया पर एव सर्वजगतस्तथाप्ययम् ॥ ५ ॥

व्रजतीति ॥ अयमनुचितोऽप्ययोग्योऽपि स्वतां जन्मना ज्ञातित्वं याति। अस-मोऽपि शिशुपालस्याहं स्वजन इति वक्तीत्यर्थः। तथा जनैः सविनयं साचारं सेवि-तोऽपि परः शत्रुरेवायं त्रिभुवनस्य। यद्यमकृतज्ञः सेवितोऽपि शत्रुस्तत्कथं जनाः सेवन्त इत्याह—अपरिचितचित्ततया चलचित्ततया अविश्वस्तहृदयत्वेन सर्वजगतः परमेवेति योज्यम्। इति निन्दा ॥

स्तुतिश्च—असौ स्वतामात्मत्वं व्रजति प्रतिपद्यते। क्षेत्रज्ञोऽयमित्यर्थः। लोक-प्रसिद्ध्यात्र स्वशब्देनात्मोक्तः। आत्मात्मीयज्ञातिधनवचनः स्वशब्दः। सांख्या ह्यात्मानं स्वामिशब्दवाच्यमाहुः। कीदृशोऽयम्—अनुचितोऽप्यनभ्यस्तोऽप्यज्ञे-योऽपि सविनयमेकाग्रेण योगिभिरुपासितश्चिन्तितः। तस्मात्सर्वस्माज्जगतो व्यक्ता-त्परो विलक्षणः। कुतः। अपरिचितमसंगतं चित्तं मनो बुद्धिर्वा यस्य सोऽपरिचित-चित्तः तद्भावस्तत्ता तया। अन्यो ह्यात्मा, अन्या च बुद्धिः, अन्यच्च चित्तम्, जग-च्चेदं प्राकृतो भागः ॥ ५ ॥

अयोग्य भी यह (कृष्ण जन्मसे) अपने ज्ञातिभावको पाता है अर्थात् अपनेको मेरा सम्बन्धी (ममेरा भाई–मेरे मामाका लड़का) बतलाता है, सर्वदा अपरिचित (इसके चित्तके चञ्चल होनेसे लोगोंसे अज्ञात चित्तवाला) लोगोंसे विनयके साथ सेवित भी यह

संसारका सर्वदा शत्रु ही है, (इसके समान अकृतज्ञ एवं अस्थिरबुद्धिवाला तथा जगतका शत्रु कोई नहीं है)।

स्तुति पक्ष—अज्ञेय भी एकाग्रतापूर्वक योगियोंसे सेवित ये (श्रीकृष्ण भगवान्) क्षेत्रज्ञ हैं, (अतएव) सम्पूर्ण जगत्से परे अर्थात् विलक्षण हैं, क्योंकि असङ्गत मन (या—बुद्धिवाले) हैं। (आत्मा, बुद्धि और मन—ये सब भिन्न-भिन्न हैं तथा यह जगत् प्राकृत भाग है) ॥ ५ ॥

उपकारिणं निरुपकारमनरिमरिमप्रियं प्रियम्।
साधुमितरमबुधं बुधमित्यविशेषतः सततमेष पश्यति ॥ ६ ॥

उपकारिणमिति ॥ अयमुपकारिणमपकारिणं च अविशेषेण पश्यति। अपकारिणमिवोपकारकमप्यसौ स्वया दृष्ट्या पश्यतीत्यर्थः। इत्यकृतज्ञत्वकथनम्। एवमन्यत्र। तथा अरिं शत्रुं त्वनरिं मित्रम्। नायं नियमो यन्मित्रमुपकार्येव भवति। अनुपकारकश्च शत्रुरेव संभवति। अप्रियं द्वेष्यं प्रियं मनोज्ञम्। साधुमार्यमितरं खलम्। अबुधं मूर्खं बुधं पण्डितम्। इति दुष्टकृनिर्देशः। एषा निन्दा ॥

स्तुतौ तु—निर्गुणत्वात्पुरुषस्य समदृष्टित्वम् ॥ ६ ॥

यह (कृष्ण) उपकारीको अनुपकारी, शत्रुमित्र (मित्र) को शत्रु, अप्रियको प्रिय अर्थात् द्वेष्यको मनोहर, साधुको असाधु, मूर्खको विद्वान्—इस प्रकार सर्वदा अविशेषरूपसे देखता है (अतएव यह कृष्ण कृतज्ञत्व आदि गुणोंसे हीन है)।

स्तुतिपक्ष—श्रीकृष्ण भगवान् निर्गुण (गुणातीत) होनेके कारण उपकारी आदिको समान दृष्टिसे ही देखते हैं, किसीको श्रेष्ठ एवं किसीको हीन नहीं समझते ॥ ६ ॥

उपकारकस्य दधतोऽपि बहुगुणतया प्रधानताम्।
दुःखमयमनिशमाप्नुवतो न परस्य किंचिदुपकर्तुमिच्छति ॥ ७ ॥

उपकारकस्येति ॥ अयं परस्यान्यस्य किंचिदपि मनागपि नोपकर्तुमिच्छति। उपकारकरणे बुद्धिरेवास्य न भवतीत्यर्थः। कदाचित्परोऽनुपकारी स्यादित्याह—उपकारकस्यापि अत एवैतदर्थमनिशं दुःखं क्लेशमाप्नुवतः प्राप्तस्य। कदाचिदमुख्यः परः स्यात्, तदप्रत्युपकारित्वेन तथा लज्जादोषो भवेदित्याह—बहुगुणतया श्रुतशौर्यादिसद्भावेन प्रधानतां मुख्यत्वं दधतो बिभ्रतः। तदेतेन पूर्वोक्तार्थो दृढीकृतः। इति निन्दा ॥

स्तुतिस्तु—अयं परस्य बुद्धितत्त्वस्य प्रधानसंज्ञकस्य किंचिदपि नोपचिकीर्षति। द्रष्टा हि पुरुषो न सक्रियः। कीदृशस्य। पुरुषप्रवृत्तिद्वारेणोपकारकस्य, तथा बहवः त्रयोऽपि ये गुणास्तद्भावेन प्रधानतां प्रकृतित्वं दधतः। सत्त्वरजस्तमांसि प्रधानम्। तथा दुःखं जननमरणादिकं सदा प्राप्तस्य। सर्वं हि बुद्धिरनुभवति न पुरुषः ॥ ७ ॥

यह (कृष्ण) अनेक गुणोंसे प्रधान तथा सर्वदा दुःखमें पड़े हुए भी दूसरे उपकारी का

कोई (थोड़ा-सा भी) उपकार करना नहीं चाहता है (दूसरे किसी उपकारीका उपकार करता तो दूर रहा, उपकार करनेकी इच्छा भी यह नहीं करता है; किन्तु सर्वदा अपना ही स्वार्थसाधन करता रहता है) ।

स्तुतिपक्ष—ये (श्रीकृष्ण भगवान्) निरन्तर जन्म-मरण आदि दुःखको प्राप्त पुरुषकी प्रवृत्तिके द्वारा उपकार तथा (सत्त्वादि गुणत्रयसे) प्रधानत्वको प्राप्त 'प्रधान' संज्ञक बुद्धि-तत्त्वका कुछ भी उपकार (साहाय्य) नहीं करते हैं; (क्योंकि पुरुष केवल देखनेवाला ही होता है, क्रिया करनेवाला नहीं; पुरुषको कुछ भी अनुभव नहीं होता, केवल बुद्धिको ही सर्वानुभव होता है) ॥ ७ ॥

स्वयमक्रियः कुटिलमेष तृणमपि विधातुमक्षमः ।
भोक्तुमविरतमलज्जतया फलमीहते परकृतस्य कर्मणः ॥ ८ ॥

स्वयमिति ॥ एष देवः परकृतस्यान्यनिष्पादितस्य कर्मणः क्रियायाः फलं भोक्तुमीहते वाञ्छति । कथम् । अलज्जतया निस्त्रपत्वेन । कदाचिदैश्वर्यादेवं स्यादित्याह—आत्मना तृणमपि कुटिलं कर्तुमक्षमोऽसमर्थोऽनीशः । यतोऽक्रियोऽलसः । अशक्त्या स्वयं निष्क्रियः पराधीनोऽन्यदत्तेन पिण्डेन जीवति । इति निन्दा ॥

अथ च वाक्यार्थपर्यालोचनया स्तुतिः—एष भगवान्परजनितस्य बुद्धिकृतस्य कर्मणः शुभाशुभस्य फलं सुखदुःखात्मकं भोक्तुमीहते । आत्मा हि फलभागीति सांख्याः । कीदृगेष इति पुरुषस्य स्वरूपमाह—स्वयमक्रियो निष्कर्मा । तथा तृणमपि कुटिलं कर्तुमनीशः । निर्लज्जत्वं निर्गुणत्वात् ॥ ८ ॥

आलसी होनेसे स्वयं तृणको भी टेढ़ा करनेमें असमर्थ यह (कृष्ण) निर्लज्जतासे सर्वदा दूसरेके ही किये हुए कर्मका फल पानेकी इच्छा करता है ।

स्तुतिपक्ष—स्वयं निष्क्रिय (कर्म नहीं करनेवाले), तृणको भी टेढ़ा करनेमें असमर्थ और (निर्गुण-गुणातीत होनेसे) निर्लज्ज (लज्जासे से परे स्थित) ये (श्रीकृष्ण भगवान्) दूसरे अर्थात् बुद्धिके किये हुए कर्मका फल भोगते हैं । (साङ्ख्यके मतसे बुद्धि ही सब कर्मोंको करती है और पुरुष स्वयं निष्क्रिय रहता हुआ द्रष्टा होनेसे उस कर्मके फलको प्राप्त करता है) ॥ ८ ॥

य इमं समाश्रयति कश्चिदुदयविपदोर्निराकुलम् ।
तस्य भवति जगतीह कुतः पुनरुद्भवो विकरणत्वमेयुषः[1] ॥ ९ ॥

य इति ॥ यः कश्चिन्मूर्ख इमं कृष्णं समाश्रयति सेवते तस्यास्मिन्संसारे कुतः पुनरुद्भवो भवति । नैव समुत्थानं भवतीत्यर्थः । य एनमुदये विपदि च निराकुलं निश्चिन्तमाश्रितस्य । यदि संपत्ततोऽस्य नैव सुखम् , यदि वा विपत्ततो नैव दुःख-

१. 'मीयुषः' इति पा० ।

मित्यर्थः। तस्य कीदृशस्य। विकरणत्वं मृतिमेयुषः प्राप्तस्य। एतदाश्रयणात्स मृत एव। सामग्रीवकल्यं वा विकरणत्वम् इति निन्दा॥

स्तुतिश्च—यः कश्चिद्योगी एनं परमात्मानं सेवते तस्य विकरणत्वमेयुषो नष्टदेहस्य पुनरिह कुत उद्भवो जन्म। मुक्त एवासावित्यर्थः। कीदृशम्। समुदयविपदोर्निराकुलमव्यग्रम्। अक्रियत्वात्। करणानीनिन्द्रियाणि। एयुष इत्याङ्पूर्वस्येणः क्वसुः। 'उपेयिवान्–' (३।२।१७९) इत्यत्र हि उपसर्गनिर्देशोऽतन्त्रम्॥ ९॥

जो (मूर्ख व्यक्ति) अभ्युन्नति तथा विपत्तिमें निराकुल इस (कृष्ण) का आश्रय करता है, इन्द्रियशून्य अर्थात मृतप्राय (या–सामग्रियों–साधनोंसे हीन) उस (मूर्ख व्यक्ति) का इस संसारमें फिर अभ्युदय कैसे हो? अर्थात् इस कृष्णके आश्रय करनेवाले व्यक्तिका इस संसारमें कभी अभ्युदय नहीं होता।

स्तुतिपक्ष—अभ्युदय तथा विपत्तिमें निराकुल इस (परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण) का जो (योगी आदि) आश्रय (सेवन) करता है, इन्द्रियशून्य अर्थात् मरे हुए उस (योगी आदि) की इस संसारमें फिर उत्पत्ति कैसे हो? अर्थात् परब्रह्मस्वरूप इस श्रीकृष्णकी सेवा करने वाले योगी आदि मरकर मुक्त होनेसे फिर इस संसारमें नहीं आते हैं॥ ९॥

गुणवन्तमप्ययमपास्य जनमखिलमव्यवस्थितैः।
याति सुचिरमतिबालतया धृतिमेक एव परिवारितो जडैः॥१०॥

गुणवन्तमिति॥ अयं सर्वमेव गुणिनं जनमतिबालतयातिचापलेन हित्वा अव्यवस्थितैश्चपलैः जडैरज्ञैः परिवारितः सन्नजस्रमेक एव धृतिमेति प्रीयते। एतद्बुजं नान्यो नाकलोकमपास्य गोपमध्ये रमते। इति निन्दा॥

स्तुतिस्तु—एष भगवान् बालतया बालरूपो भवन् जलैरद्भिः परिवारित आवृतः सुचिरं धृतिमेति। उक्तं च—'संभक्ष्य सर्वभूतानि कृत्वा चैकार्णवं जगत्। बालः स्वपिति यश्चैकस्तस्मै मायात्मने नमः॥' (महाभारते शान्तिप० ४७।५७) इति। कीदृशैर्जलैः। अव्यवस्थितैर्भरितसकलभुवनः। किं कृत्वा धृतिं याति। गुणवन्तं सत्त्वाद्याश्रयं जनमपास्य क्षिप्त्वा विनाश्य। सर्वं जनं संहृत्य बालरूपधरो जलमध्येऽयं शेते॥ १०॥

अत्यन्त चपलता के कारण सब गुणवानोंको छोड़कर अव्यवस्थित (मर्यादाहीन) मूर्खों (गोपों) से युक्त एकमात्र यह (कृष्ण ही) सर्वदा प्रसन्न होता है अर्थात् इस कृष्णके अतिरिक्त कोई भी ऐसा नहीं है जो स्वर्गको छोड़कर सर्वदा ग्वालोंके साथ रहनेमें प्रसन्न होता हो।

स्तुतिपक्ष—अव्यवस्थित (प्रलयकालमें मर्यादाको छिन्न-भिन्नकर संसारको प्लावित किये हुए) जलसे वेष्टित बालरूप ये (श्रीकृष्ण भगवान् सत्त्वादि) गुणत्रययुक्त जीवोंको नष्टकर अकेला ही बहुत समय तक प्रसन्न होते हैं अर्थात् प्रलयकालमें सत्त्वादि गुणत्रययुक्त

प्राणिमात्रका संहारकर समुद्रवेला लांघकर संसारको प्लावित किये हुए जलसे परिवेष्टित बालमुकुन्दरूप ये श्रीविष्णु भगवान् समुद्रमें शयन करते हैं ॥ १० ॥

सुकृतोऽपि सेवकजनस्य बहुदिवसखिन्नचेतसः ।
सर्वजनविहितनिर्विदयं सकृदेव दर्शनमुपैति कस्यचित् ॥ ११ ॥

सुकृत इति ॥ अयं सुकृतोऽप्युपकारकस्याप्याश्रितजनस्य सकृदेकवारमेव दर्शनमुपैति दर्शनं ददाति कस्यचित् , न सर्वस्य । किंभूतः । सर्वजनविहितनिर्विद् सर्वजनस्य विहिता निर्वित् खेदो येन । कीदृशस्य जनस्य । बहुदिवसखिन्नचेतसः बहुभिर्दिवसैः खिन्नं चेतो यस्य तस्य । चिरकालमेवोद्विग्नचित्तस्येत्यर्थः । इति निन्दा ॥

स्तुतिस्तु—अयं कस्यचिदेव सेवकजनस्य भक्तलोकस्य सकृदेव दर्शनमुपैति । न हि चेत्रज्ञः सर्वस्य सदैव । कीदृशस्य । सुकृतः पुण्यकृतः । तथा बहुभिर्दिवसैर्भूयसा कालेन खिन्नचेतसः क्षुण्णमनसः । दीर्घेण योगेन श्रान्तचेतस इत्यर्थः । न ह्यनभ्यासगम्य ईश्वरः । अत एव सर्वजनविहितनिर्वेदः । श्रेयस्यपि चिरकालमभ्यसनो निर्विद्यते । यदि वा सर्वेषु जनेषु विगतौ हितनिर्वेदौ यस्य स सर्वजनविहितनिर्विद् । नास्य कश्चित्प्रियो न च द्वेष्य इत्यर्थः । यदि वा सर्वे जना यत्र स सर्वजनः, विगते हितनिर्विदौ सुखदुःखे यस्य स विहितनिर्वित् । ततः कर्मधारयः । सर्वजनस्य विहिता निर्वित् निर्वाणो येनेत्यन्ये । आश्रितजनं संसारान्मोचयतीत्यर्थः । शोभनं करोति सुकृदुपकारी, पुण्यकृच्च । निर्विन्निर्वेदो निर्वाणं च ॥ ११ ॥

सबको खिन्न करनेवाला यह (कृष्ण, इसको देखनेके लिए) बहुत दिनोंसे खिन्नचित्त उपकारी किसी सेवक (आश्रयकर्ता) को भी एक बार ही दर्शन देता है ।

स्तुतिपक्ष—सब लोगोंको खिन्न करनेवाले (इन श्रीकृष्ण भगवान्के दर्शनरूप श्रेयः-प्राप्त्यर्थ) चिरकालसे अभ्यास करने पर भी दर्शनप्राप्ति नहीं होनेसे खिन्न अथवा (किसीको द्वेष्य एवं प्रिय नहीं होनेसे) सब लोगोंके हित एवं खेदसे रहित, (अथवा—सब लोगोंको मुक्ति देनेवाले) ये (परमात्मरूप श्रीकृष्ण भगवान्) बहुत समय से (अभ्यास करनेके कारण) खिन्न और पुण्यात्मा किसी-किसी सेवक जनको एक बार ही दर्शन देते हैं ॥११॥

स्वजने सखिष्वनुगतेषु नियतमनुरागवत्स्वपि ।
स्नेहममृदुहृदयः क्षपयन्निरपेक्ष एष समुपैति निर्वृतिम् ॥ १२ ॥

स्वजन इति ॥ एष बन्धुमित्राश्रितेषु प्रीतिं नाशयन्निर्वृतिं सदा समुपैति सुखं प्राप्नोति । सर्वत्रैव वैरायमाणः सुखयत इत्यर्थः । कदाचिदेते विरक्ताः स्युरित्याह-अनुरक्तेष्वपीति कथं तर्हि निःस्नेह इत्याह-यतो हृदयेऽमृदुहृदयः क्रूरचित्तः । तथा निरपेक्षो निर्विवेकः । इति निन्दा ॥

स्तुतिस्तु—एष स्वजनादिषु अनुरागवत्स्वपि स्नेहं क्षपयंस्तृष्णां तनूकुर्वन्निर्वृतिं समुपैति निर्वाणं याति । तृष्णाक्षयात्किल मुक्तिः । अमृदुहृदयः नार्द्रभावो वीतरा-

गरत्वात् । यद्वि वा अमृदु दुर्बोधं हृदयं स्वरूपं यस्य । निरपेक्षो निःसङ्गः । [1]क्षपिर्घा-तुष्वपठितोऽपि क्रियावाचित्वात्स्वचि मिलोपस्यार्धधात्वादिक(?)वद्धातुरेव ॥ १२ ॥

सर्वदा अनुरक्त रहनेवाले भी स्वजनों (बन्धु-बान्धवों), मित्रों तथा अनुचरों (आश्रय में रहनेवाले सेवकों) के विषयमें सर्वदा स्नेहशून्य रहता हुआ, कठोरहृदय एवं विवेकशून्य यह (कृष्ण) सुखी होगा है ।

स्तुतिपक्ष—सर्वदा अनुराग करनेवाले स्वजनों, मित्रों एवं अनुचरोंके स्नेह (तृष्णा) को घटाते हुए (वीतराग होने से) आर्द्रताहीन (अथवा—दुःखसे जानने योग्य चित्तवाले) ये (श्रीकृष्ण भगवान्) निर्वृतिको पाते हैं ॥ १२ ॥

क्षणमेष राजसतयैव जगदुदयदर्शितोद्यतिः ।
सत्त्वहितकृतमतिः सहसा तमसा विनाशयति सर्वमावृतः ॥ १३ ॥

क्षणमिति ॥ एष राजसतया चापलेन क्षणं जगदुदये लोकहिते दर्शितोद्यतिर्द-र्शितोद्यम इति क्रिया । राजसिकत्वेन क्षणमुपकुरुते इत्यर्थः । तमसा तु मोहेन पुनरनन्तरमावृतत्वादहितकृतमतिरुपद्रवविहितबुद्धिः सन् सहसैव सर्वं सत् सुकृतं विनाशयति । यदेव पूर्वमुपकृतं तदेव मोहयन्नाशयतीत्यर्थः । सत् सुकृतम् । तु भिन्नक्रमः । इति गर्हा ॥

स्तुतिरपि—एष त्रिमूर्तिः राजसतया रजोगुणेनाश्रितः सन् ब्रह्मरूपेण जगदुदये प्रजासर्गे दर्शितोद्यमः । तथा सत्त्वेन गुणेन हिते रक्षायां विहितचित्तो विष्णुरूपेण । तथा तमसा गुणेनावृतः सन् सहसैव सर्वं व्यक्तं रुद्ररूपेण नाशयति ॥ १३ ॥

यह (कृष्ण) चपलताके कारण क्षणमात्र (कुछ समयतक) संसारका हित करनेमें अपने प्रयत्नको दिखलाता है अर्थात् संसारका उपकार करता है और फिर एकाएक तत्काल ही मोह (अज्ञान) युक्त होकर उपद्रव करनेका विचारकर उस सबको नष्ट कर देता है अर्थात् क्षणमात्रमें चपलतावश उपकार करता है और मोहयुक्त हो क्षणमात्रमें ही उसे नष्ट कर देता है (अतएव अव्यवस्थितचित्त होनेसे इसका प्रसन्न होना भी भयसे शून्य नहीं है)।

स्तुतिपक्ष—(ब्रह्मा-विष्णु-रुद्रात्मक त्रिमूर्तिस्वरूप) ये (श्रीकृष्ण भगवान्) रजोगुण का आश्रयकर (ब्रह्मारूप होकर) क्षणमात्रमें संसारकी सृष्टि करते हैं, सत्त्व गुणसे (विष्णु-रूप होकर) संसारके हितमें बुद्धि रखते हैं अर्थात् संसार का पालन करते हैं और सहसा तमोगुणयुक्त (रुद्र) होकर सब संसारको नष्ट करते हैं ॥ १३ ॥

---

१. अत्र भट्टोजिदीक्षितः-'अत्र 'भोजः-इलि-चलि-स्खलि-रणि-ध्वनि-त्रपि-क्षपयश्च' इति पपाठ ।......क्षै-क्षये वक्ष्यमाणस्य कृतात्त्वस्य पुका निर्देशः । 'क्षपयति' इत्याह । अतएव भट्टमल्लोऽपि—'......जम्भयति क्षपयति च नाशयति च नाशनार्थाः स्युः' । (आख्यात-चन्द्रिका २।३।८७) इति पठितवान् ।

अभिहन्यते यदभिहन्ति परितपति यच्च तप्यते ।
नास्य भवति वचनीयमिदं चपलात्मिका प्रकृतिरेव हीदृशी ॥ १४ ॥

अभीति ॥ यदेष हरिरन्येनाभिहन्यते ताड्यते यच्चैषोऽन्यानभिहन्ति । तथा यत्परितपति बाधते । यच्च तप्यते उपद्रूयते । अतोऽस्य वचनीयता वाच्यता भवति । यतोऽस्यैवंविधैव चपलात्मिका अविनीता प्रकृतिः स्वभावः । स्वभावाच्चपलस्त्वयोग्यतामर्हति । इति क्षेपः ॥

स्तुतिस्तु—अस्य परमात्मनो यथोक्तं वचनीयं वचनं न भवति न प्रवर्तते । 'एष हन्ति हन्यते तपति परितप्यते च' इति न वाच्यमित्यर्थः । यत ईदृशी चपलात्मिकाऽनेकरूपा प्रकृतिर्बुद्धिः । नश्वेयः । हननादिकं तमसा भवति । पुरुषश्च निर्गुण इत्यर्थः । उक्तं च—'य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥' (भ. गी. २।१९) इति । 'तस्मान्न बध्यतेऽसौ न मुच्यते नापि संसरति । संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥' तपिः सकर्मकोऽपि । शारीरं दुःखमभिघातः । मानसं तु परितापः ॥ १४ ॥

इस (कृष्ण) को जो (दूसरे लोग) मारते हैं और जो यह दूसरों (शत्रुओं) को मारता है तथा जो यह दूसरोंको सन्तप्त करता है और जो इसको दूसरे सन्तप्त करते हैं; यह (सब कार्य) इस (कृष्ण) के लिए निन्दाकी बात नहीं है, क्योंकि इसका ऐसा चञ्चल स्वभाव ही है (अतएव स्वभावतः चञ्चल होनेसे दूसरों के लिए निन्दनीय उन कार्यों का होना इसके लिए निन्दनीय नहीं है) ।

स्तुतिपक्ष—ये (श्रीकृष्ण भगवान्) किसीसे मारे जाते हैं, किसीको मारते हैं, किसी को सन्तप्त करते हैं या किसी से सन्तप्त होते हैं, (निर्गुण इनके विषयमें) यह सब नहीं कहना चाहिये; क्योंकि इनकी बुद्धि अनेक रूपोंवाली है ये नहीं हैं अर्थात् मारना आदि कार्य तो तमोगुणसे होते हैं, परमपुरुषके निर्गुण (गुणातीत) होनेसे उनके विषयमें उन कार्यों का होना नहीं कहना चाहिये ॥ १४ ॥

अतिसत्त्वयुक्त इति पुंभिरयमतिशयेन वर्ण्यते ।
सूक्ष्ममतिभिरथ चापगते समुपैति नाल्पमपि सत्त्वसंकरम् ॥ १५ ॥

अतीति ॥ एष सूक्ष्ममतिभिः स्वल्पप्रज्ञैर्नृभिः महता सत्त्वेन धैर्येण युक्त इति सुष्ठु वर्ण्यते । अथानन्तरं चापगते प्राप्तचापे गृहीतधनुषि कस्मिंश्चित्स्वल्पमपि सत्त्वसंकरं पौरुषलेशं न भजति पलायनादिना । परेणोत्तब्धरयास्य सत्त्वलेशोऽपि न लभ्यत इत्यर्थः । तस्मादयुक्तं च तैर्वर्ण्यत इति भावः । इति निन्दा ॥

स्तुतिस्तु—चापं गतश्चापगतः । यद्वा चापस्य गतं प्राप्तिश्चापगतं तस्मिंश्चापगते । धनुःसन्निधाने सतीत्यर्थः । अथ च सबीजनिर्बीजसमाधौ पुंभिर्योगिभिः 'सत्त्वेन गुणेन युक्त' इति कथ्यते । सूक्ष्ममतिभिः कुशाग्रीयबुद्धिभिर्वंद्धुक्ष्वभिरपगते ज्ञाते

सति निर्बीजसमाधौ स्वल्पमपि सत्त्वसंकरं नोपैति। निर्गुणो हि पुरुषः। अथ चेति विस्मये॥ १५॥

थोड़ी बुद्धिवाले अर्थात् अल्पज्ञ पुरुष इस (कृष्ण) को 'यह अधिक धैर्य (या-बल) से युक्त है' ऐसा अनेक बार कहते हैं, किन्तु (किसी शत्रु आदिके) धनुष ग्रहण करनेपर यह थोड़ा भी पराक्रम नहीं दिखलाता है (अतः उन लोगोंका इसे बहुत धैर्यवान् (या-बलवान्) कहना सर्वथा असत्य है)।

स्तुतिपक्ष—कुशाग्रबुद्धि अर्थात् तीव्रबुद्धि पुरुषलोग इन (श्रीकृष्ण भगवान्) को 'ये (श्रीकृष्ण भगवान्) अत्यन्त सत्त्व (सत्त्वगुण) से युक्त हैं और (सबीज-निर्बीज समाधिके नष्ट हो जानेपर) थोड़े भी सत्त्व गुणको नहीं धारण करते हैं' ऐसा कहते हैं। (अथवा सबीज-निर्बीज समाधि होनेपर कुशाग्रबुद्धि पुरुषलोग इनको अत्यन्त सत्वगुणसे युक्त कहते हैं तथा इनको जानने पर (निर्बीज समाधि होने पर) ये थोड़े भी सत्त्वसे युक्त नहीं रहते हैं ऐसा कहते हैं)॥ १५॥

प्रलयं परस्य महतोऽपि नियतमिह निःसुखे गुणाः।
यान्ति जगदपि सदोषमदः स्वरुचैव पश्यति गुणान्द्विषन्नयम्॥ १६॥

प्रलयमिति॥ परस्यान्यस्य महतोऽपि मुख्यस्यापीह कृष्णे गुणाः शौर्यादयो नियतमवश्यं प्रलयं यान्ति नश्यन्ति। नैष कस्यचिद् गुणानङ्गीकरोतीत्यर्थः। अविद्यमानं सुखमस्मादिति निःसुखः। गुणापहाराद्धि कुतः सुखम्। यद्वा अविद्यमानं सुखमस्मादिति निःसुखः। अत एव ते नाशमत्र यान्ति। अतश्चायं गुणान्द्विषन्नखिलमप्येतज्जगद्विश्वं स्वरुचैवात्मेच्छयैव सदोषं पश्यति। गुणद्वेषित्वादन्यानपि सदोषान्वेत्तीत्यर्थः। इति निन्दा॥

अथ स्तुतिः—इह परमात्मनि कृष्णे परस्य बुद्धितत्त्वस्य महतोऽपि महत्तत्त्वस्य च गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि प्रलयं यान्ति नाशं गच्छन्ति। पुरुषं प्राप्य निवर्तन्त इत्यर्थः। कीदृशेऽत्र। निःसुखे सुखवर्जिते। अविक्रियत्वात्। सुखासुखे नात्मनः। तथैव गुणान्सत्त्वादीन् द्विषन्न (न)भिनन्दन्नस्पृशन् अदो जगत्प्रकृतिं सदोषं क्लेशयुक्तं पश्यतीक्षते। द्रष्टा हि पुरुषः प्रकृतेरिष्यते जगत्प्रकृतिर्हि भागो व्यक्तम्। तच्च सदोषं जननमरणयोगात्। केन पश्यति। स्वरुचा आत्मभासा[1] निजशक्त्येत्यर्थः॥

बड़े भी दूसरेके (शूरता आदि) गुण जिससे सुख नहीं हो सकता है ऐसे इस (कृष्ण) में नष्ट हो जाते हैं (यह कृष्ण बड़े विशिष्ट किसी पुरुषके गुणको भी स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि गुणग्राही नहीं है); गुणोंके साथमें द्वेष करता हुआ यह (कृष्ण) अपनी इच्छासे ही सम्पूर्ण संसारको भी दोषयुक्त ही देखता है (गुणविरोधी होनेसे गुणवानोंमें दोष ही देखता है)।

१. 'आत्मभावेनेत्यर्थः' इति पा०।

स्तुतिपक्ष—(विकारहीन होनेसे) सुखरहित (परमात्मरूप) इन (श्रीकृष्ण भगवान्) में बुद्धितत्त्व तथा महत्तत्त्वके गुण (सत्त्व, रजस् और तमस्) नष्ट हो जाते हैं तथा (सत्त्वादि) गुणोंका स्पर्श नहीं करते हुए ये इस संसारको अपनी शक्तिसे सदोष (क्लेश युक्त) देखते हैं ॥ १६ ॥

एवं सांख्यदर्शनेन स्तुत्वा अधुना पुराणदर्शनेन तुष्टूषुर्निनिन्दिषुश्चाह—

क्षितिपीठमम्भसि निमग्नमुदहरत यः परः पुमान् ।
एष किल स इति कैरबुधैरभिधीयमानमपि तत्प्रतीयते ॥ १७ ॥

क्षितीति ॥ कैरबुधैर्मूर्खैरिति तदभिधीयमानमप्युच्यमानमपि प्रतीयते । मूर्ख एव सत्यमवगच्छतीत्यर्थः । इतीति किम् । स एव परमपुरुषः । यो वराहरूपेणाम्भसि निमग्नं क्षितिपीठं पृथ्वीमण्डलमुदहरत्तोद्धृतवान् । इति निन्दा ॥

स्तुतिस्तु—कैश्चिदभिधीयमानं तत्त् मूर्खैरपि प्रतीयते । मूर्खा अपि सत्यमवगच्छन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

(इस प्रकार साङ्ख्यके अनुसार श्रीकृष्ण भगवान्की निन्दा तथा पक्षान्तरीय अर्थसे स्तुति करनेके बाद अब पुराणके अनुसार उसकी निन्दा तथा पक्षान्तरीय अर्थसे स्तुति करते हैं) जिसने पानीमें डूबे हुए भूतलको बाहर निकाला, ये (श्रीकृष्ण भगवान्) वे ही परमपुरुष हैं, इस प्रकार कही जाती हुई बातका कुछ मूर्खलोग ही विश्वास करते हैं (विवेकशील व्यक्ति तो उक्त बातपर बिलकुल ही विश्वास नहीं करते और मूर्खों में भी कुछ लोग ही विश्वास करतें हैं, सब मूर्ख नहीं) ।

स्तुतिपक्ष—जिसने......परम पुरुष हैं, इस प्रकार कही जाती हुई बातका मूर्ख लोग भी विश्वास करते हैं, हाँ, कुछ (शिशुपाल आदि-जैसे) मूर्ख भले ही विश्वास नहीं करते हैं । (अथवा—जिसने......परमपुरुष हैं) इस प्रकार किन्हीं (पुराणज्ञ) लोगोंसे कही जाती हुई बातपर मूर्ख लोग भी विश्वास करते हैं, अतएव उसपर अविश्वास करनेवाले शिशुपाल आदि उन मूर्खों से भी हीन (गये-गुजरे) हैं ॥ १७ ॥

नरसिंहमूर्तिरयमेव दितिसुतमदारयन्नखैः ।
आप्तजनवचनमेतदपि प्रतिपत्तुमोमिति जनोऽयमर्हति ॥ १८ ॥

नरसिंहेति ॥ नरसिंहमूर्त्तिः नृसिंहवपुः सन्नयमेव नखैर्हिरण्यकशिपुमदारयदिति यदाप्तजनवचनं बान्धवभाषितं तदप्ययमेव जनो भीष्मादिकवत् ओमित्येवमेवैतदिति प्रतिपत्तुं ज्ञातुम् अङ्गीकर्तुमर्हति । सुहृद एवेत्थमेनं स्तुवन्ति, तच्च मूर्खैरेव सत्यं बुध्यत इत्यर्थः । इतिशब्दोऽत्रार्थयोः संबन्धोपादानायाध्याहार्यः ॥

स्तुतौ त्वयमर्थः—अयमेव भगवानापरो नरसिंहमूर्तिमाश्रित्य नखैर्दैत्येन्द्रमदारयदित्येतदप्याप्तजनवचनं शिष्टवाक्यमयं मनीषी जनः प्रतिपत्तुमर्हति नान्यः । आप्तोक्त्वात्पण्डिता एव सत्यं जानन्तीत्यर्थः । आप्ता अवितथवादिनो व्यासादयः ॥१८॥

'इस (कृष्ण) ने ही नरसिंहमूर्ति होकर दितिपुत्र (हिरण्यकशिपु) को नखोंसे विदीर्ण कर दिया' इस आप्तोक्त वचनको भी यही (भीष्म आदि) स्वीकार करते हैं अर्थात् दूसरा कोई विवेकशील व्यक्ति उसे स्वीकार नहीं करता।

स्तुतिपक्ष—'इस''' दिया' इस आप्त (व्यास आदि) के कहे हुए वचनको भी ये (विद्वान्) लोग ही स्वीकार करते हैं (दूसरे (शिशुपाल आदि मूर्ख) लोग आप्तों (सत्यवादी व्यासादि) के द्वारा कहे जानेपर भी उसे स्वीकार नहीं करते हैं) ॥ १८ ॥

अपहाय तुङ्गमपि मानमुचितमवलम्ब्य नीचताम् ।
स्वार्थकरणपटुरेष पुरा बलिना परेण सह संप्रयुज्यते ॥ १९ ॥

अपहायेति ॥ एष बलिना बलवता परेणान्येनारिणा वा सह पुरा अचिरात्संप्रयुज्यते संबध्यते। समर्थं चेत्पदं वेति तद्भयात्तमेव प्रविशतीत्यर्थः। सर्वनामनिर्देशः सर्वत्र निन्दायामनास्थां सूचयति। स्तुतौ तु गौरवम्। किं कृत्वा। उचितं योग्यं तुङ्गमुन्नतं मानमप्यपहायाहंकारमपि त्यक्त्वा। तथा नीचता प्राकृतत्वमाश्रित्य। यतः स्वार्थकरणपटुरात्मप्रयोजनसंपादनचतुरः। [1]शक्तिः किलात्मनो नाशाय। इति निन्दा।

स्तुतिस्तु—एष तुङ्गं मानं प्रमाणं हित्वा नीचतां खर्वत्वं चावलम्ब्य। पुरा पूर्वं परेणोत्कृष्टेन बलिना वैरोचनिना सह संप्रयुज्यते संप्रयुयुजे। यतः स्वस्य ज्ञातेरिन्द्रस्य योऽर्थः शत्रुवशीकरणलक्षणस्तत्र पटुः कुशलः। इन्द्रप्रीतये वामनरूपत्वमवलम्ब्यैष भगवान्बलिं बबन्धेत्यर्थः ॥ १९ ॥

अपने स्वार्थके साधनेमें चतुर यह (कृष्ण) उचित भी स्वाभिमानको छोड़कर तथा नीचता को प्राप्तकर पहले (शीघ्र ही) बलवान् शत्रुके साथ मिल जाता है अर्थात् यह यदि शत्रुको बलवान् जान लेता है तो स्वाभिमान को छोड़कर एवं नीचताको धारण कर उस (बलवान्) शत्रुमें प्रविष्ट हो जाता (उसके साथ सन्धि कर लेता) है।

स्तुतिपक्ष—स्वज्ञाति अर्थात् इन्द्रके अर्थ (शत्रुभूत बलिको वशीकरण रूप प्रयोजन) के साधनेमें चतुर ये (श्रीकृष्ण भगवान्) ऊँचे मान (औन्नत्य) को छोड़कर एवं वामन होकर पूर्वकालमें बलि (नामक दैत्यराज) के साथ मित्रता कर लिये थे ॥ १९ ॥

क्रमते नभो रभसयैव विरचयति विश्वरूपताम् ।
सर्वमतिशयगतं कुरुते स्फुटमिन्द्रजालमिदमेष मायया ॥ २० ॥

क्रमत इति ॥ एष कृष्णः स्फुटं नूनम् इदमिन्द्रजालसमुद्भूतं मायया हेतुभूतया कुरुते। किमित्याह—रभसया रभसेन युद्धादौ नभः क्रमते आरोहति। वयः पक्षिणः, श्वानः कुक्कुराः तद्रूपा मृगाः तद्भावं विरचयति। यदि वा विश्वरूपतां नानारूपत्वम्। तथा सर्वमतिशयगतं विशेषप्राप्तं कुरुते। तात्त्विकोऽस्य व्यवहारो न कश्चित्। इति निन्दा ॥

---

[1] 'शक्तिविकलात्मनोऽनाशाय'।

स्तुतिस्तु—इदमीदृक् स्फुटमेष भगवान्मायया बुद्ध्या इन्द्रजालं कुरुते। इन्द्रजालमिवेन्द्रजालं भ्रमकारित्वात्। तदेवाह—नभः क्रमते बलिबन्धनार्थं विश्वरूपत्वं सर्वदेवमयत्वं विरचयति। सर्वं च जगदतिशयगतं प्राप्तविशेषं कुरुते। कीदृश्या मायया। रभसमौत्सुक्यं करोतीति रभसा तया रभसया। क्रमते इति, 'अनुपसर्गाद्वा' (१।३।४३) इत्यात्मनेपदम् ॥ २० ॥

यह (कृष्ण) वेगसे आकाशको लांघ जाता है, तथा पक्षी, कुत्ता और मृग (या-पक्षी तथा कुक्कुररूप पशु) का रूप धारण करता है (अथवा—अनेकविध रूपोंको धारण करता है), इस प्रकार मायासे सब कुछ मानो अतिशय-सा (इन्द्रजाल) करता है अर्थात् ऐन्द्रजालिकके समान इसका वास्तविक रूप कोई भी नहीं है।

स्तुतिपक्ष—ये (श्रीकृष्ण भगवान्) उत्कण्ठा उत्पन्न करनेवाली ऋद्धिसे इस जगत्को (भ्रमजनक होनेसे) इन्द्रजाल-सा कहते हैं, आकाशको लांघते हैं, विश्वरूप (सर्वदेवमय) हो जाते हैं और (इस प्रकार) सब कुछ अतिशयगत (विशिष्टतासे युक्त) करते हैं। (अथवा—इस प्रकार स्पष्ट ये (श्रीकृष्ण भगवान्) उत्कण्ठा······ऋद्धिसे इन्द्रजाल करते हैं, आकाशको लांघते हैं, विश्वरूप (सर्वमय) हो जाते हैं और सम्पूर्ण जगत्की विशिष्टताको प्राप्त अर्थात् विशिष्ट करते हैं) ॥ २० ॥

किल रावणारिरयमेव किमिदमियदेव कथ्यते।
सत्त्वमतिबलमधिद्युति यत्तदशेषमेष इति धृष्टमुच्यताम् ॥ २१ ॥

किलेति ॥ अयं हरिः किल रावणारिरिति। एतेन दशास्यो हत इति यदेवैतत्स्वल्पमात्रमपि किमिति कस्मादुच्यते। अतिबलं महाशक्ति अधिद्युति महातेजश्च तत्सत्त्वं प्राणी तत्सर्वमेष एवेति धृष्टं निःशङ्कमुच्यताम्। न ह्यलीकस्यान्तो भवतीति भावः। अतश्च येनासत्यं वाच्यं स बह्वेव कस्मान्नाह। तस्मान्नैतेन किंचिदपि कृतमिति वाक्यार्थः। इति निन्दा ॥

स्तुतिस्तु—अयं किल रावणारिरेवेति किमेतावदेवोच्यते। यस्माद्यदतिबलमधिद्युति च सत्त्वं तत्सर्वमेष इति धृष्टं निःशङ्कमुच्यताम्। उक्तं च किलागमे—'यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम् ॥' (भ. गी. १०।४१) इति ॥ २१ ॥

यह (कृष्ण) ही रावणशत्रु (रावणको मारनेवाला राम) है, इतना (अत्यन्त थोड़ा) ही (लोग) क्यों कहते हैं ? (क्योंकि जब इसकी असत्य ही प्रशंसा करनी है, तब) 'जो अत्यन्त बलवान् एवं अधिक तेजस्वी व्यक्ति हैं, वह सब यही (कृष्ण) ही हैं' ऐसा (लोगोंको) निश्शङ्क होकर कहना चाहिये। (अतएव इस कृष्णने रावणको मारा है, यह लोग असत्य कहते हैं)।

स्तुतिपक्ष—ये (श्रीकृष्ण भगवान्) ही रावणारि (रावणको मारनेवाले राम)

हैं,……कहना चाहिये, (क्योंकि जो-जो ऐश्वर्यवान् , श्रीमान् एवं बलवान् जीव हैं; वे सब इन (श्रीकृष्ण भगवान्) के अंशसे उत्पन्न हुए हैं) ॥ २१ ॥

यच्च बाल्ये शकटमेष एव चिक्षेपेत्युच्यते तदप्यसत्यमिति वक्तुमाह—

चलतैष पादयुगलेन गुरु शकटमीषदस्पृशत ।
दैवकलितमथ चोदलसद्दलितोरुभाण्डचयमात्मनैव तत् ॥ २२ ॥

चलतेति ॥ एष वै चलद्भ्यां चरणाभ्यां गुरु शकटं किंचिदस्प्राक्षीत् । तच्च दैवकलितं दैवचोदितं स्वयमेवोदलसदपतत् । न त्वेतस्यात्र किंचित्पौरुषम् । दलितः स्फुटित उरुर्महान्भाण्डानां चयो राशिर्यत्र । इति निन्दा ॥

स्तुतिस्तु—एष भगवांश्चलता पादयुगलेन गुरु शकटमीषदेवास्पृशत् । अथ चोदलसत्परिवृत्तम् । यत् पुनेन दैवेन भगवता कलितं प्रेरितम् । अथेति विस्मये । ईषत्स्पर्शमात्रात्किल भङ्गो न युक्तः । शकटशब्दोऽस्त्रीलिङ्गः ॥ २२ ॥

(अब शकटासुरवध आदिके प्रसङ्गको लेकर श्रीकृष्ण भगवान्‌की निन्दा-स्तुति करते हैं) इस (कृष्ण) ने चपल दोनों पैरोंसे भारी गाड़ीका थोड़ा-सा (अत्यल्प) ही स्पर्श किया था, किन्तु भाग्य-प्रेरणावश फूटे हुए (दही-दूध-मक्खन आदिके) बर्तनोंवाली वह गाड़ी स्वयमेव उलट गयी ।

स्तुतिपक्ष—इन्होंने (श्रीकृष्ण भगवान्‌ने) चञ्चल दोनों पैरोंसे भारी गाड़ीका थोड़ा सा ही स्पर्श किया था, इन भगवान् श्रीकृष्णजीसे ढकेली गयी अतएव फूटे हुए बर्तनोंवाली वह गाड़ी स्वयमेव उलट गयी, यह आश्चर्य है; (क्योंकि बालकके चञ्चल पैरके अत्यल्प स्पर्शसे भारी गाड़ीका उलट जाना एवं उसपर लदे हुए बर्तनोंका फूट जाना साधारण बात नहीं है)॥

स्नुवतामुना स्तनयुगेन जनितजननीजनादरा ।
स्त्रीति सदयमविधाय मनस्तदकारि साधु यदघाति पूतना ॥ २३ ॥

स्नुवतेति ॥ अमुना यत् पूतना राक्षसी स्त्री इति सदयं मनः अकृत्वा अघाति हता तत्साध्वकारि युक्तं कृतमिति काक्वा प्रयोजने, नैव साधु कृतमित्यर्थः । कीदृशी सा । स्नुवता क्षीरं स्रवता स्तनयुगेन कृतो जननीजनादरो मातृस्नेहो यया, अतश्च मातृघात्येवायम् । इति निन्दा ॥

स्तुतिस्तु—यदमुना स्नुवता स्तनयुगेन कृतमातृस्नेहापि पूतना राक्षसी स्त्रीति मनः सदयमकृत्वा हता तत्साध्वकारि युक्तमेवानुष्ठितमिति स्पष्ट एवार्थः । सा हि राक्षसी स्तनाभ्यां सविषं क्षीरं स्रवन्ती तन्मारणार्थमेवागमदित्यागसार्थः । निष्कारणवधोद्यतस्य वधे कथमधर्मः स्यात् ॥ २३ ॥

(दूधको) चुवाते हुए स्तनद्वयसे मातृ-स्नेहको प्रकट की हुई पूतनाको, इस (कृष्ण)

---

१. 'स्रवता—' इति पा० ।

ने 'यह स्त्री है' इस प्रकार दयार्द्रमन नहीं करके जो मारा यह अच्छा किया ? अर्थात् अच्छा नहीं किया, किन्तु मातृघात किया।

स्तुतिपक्ष—(दूधको) चुवाते⋯⋯यह अच्छा किया, क्योंकि जो पूतना कपटपूर्वक मातृ-स्नेह प्रकट कर इनको मारना चाहती थी, निष्कारण वधोद्यत उस पूतना राक्षसीको निर्दयमना होकर मारना उचित ही है) ॥ २१ ॥

अभनक्तरू कथमिवैष कृतधरणिरिङ्गणः क्षणात्।
बाढमिदमपि न बालकृतं ननु देवताविधिरियं विजृम्भते ॥ २४ ॥

अभनगिति ॥ कृतधरणिरिङ्गणो विहितोर्वीगतिः स कथमिव केन प्रकारेण क्षणेनैव तरू अर्जुनाख्यौ बाढं भृशमभनग्बभञ्ज। न संभावयाम एतदित्यर्थः। ननु सर्वत्रैव तेनैव भिन्नाविति प्रतीतिः, तत्कथं भवतो न संभावनेत्याह—इदमपि न बालकृतं न शिशुकर्म। ननु देवताविधिरयं विजृम्भते विलसति। केनाप्यदृष्टेन देवेन तत्कृतं न त्वनेन। यस्य हि गमनमात्रे न शक्तिः स कथममानुषं कर्म कुर्यादिति भावः। ननु अमर्षे। न केवलं शकटभङ्गो देवताविधिर्यावदयमपीत्यपिशब्दार्थः। इति निन्दा ॥

स्तुतिस्तु—यदेष कृतधरणिरिङ्गणः कथमिवावस्त्विव क्षणादर्जुनौ बभञ्ज इदमपि न बालकृतम्। नन्वयं देवताविधिरुज्जृम्भते। एतस्य देवरूपत्वं देवत्वमाश्रित्यैतदेतेन कृतम्, न तु तत्त्वतो बालेनेत्यर्थः। ननुराभिमुख्ये। अभनगिति भञ्जेर्लङि रूपम् ॥

थोड़े समयसे पृथ्वीपर घुटनेके बल चलनेवाले अर्थात् अत्यन्त बालक इस (कृष्ण) ने (अथवा—पृथ्वीपर⋯⋯वाले अर्थात् बालक इसने क्षणभरमें यमलार्जुन नामके) दो वृक्षों को कैसे गिरा दिया ? अर्थात् नहीं गिराया, निश्चय ही यह भी बालक का किया कार्य नहीं है, किन्तु दैव (भाग्य) वश ही हुआ है।

स्तुतिपक्ष—थोड़े समयसे⋯⋯कैसे गिरा दिया, यह बालककृत कर्म नहीं है, किन्तु देवकृत कर्म है अर्थात् देवरूप बालक श्रीकृष्ण भगवान्ने ही यमलार्जुन नामके दोनों वृक्षों को क्षणमात्र में गिरा दिया ॥ २४ ॥

विहरन् वने विजन एव महति दधदेष गोपताम्।
नाम जगति मधुसूदन इत्यगमद्धतेन मधुना महीयसा ॥ २५ ॥

विहरन्निति ॥ एष महति विशाले विजने वनेऽरण्ये गोपरूपो विहरन् बृहता मधुना माक्षिकपटलेन हतेन जगति मधुसूदन इति नाम प्राप्तवान्। वने मधु सूदितवान् न तु मधुनामानं दैत्यम् इति निन्दा ॥

स्तुतिस्तु—एष कृष्ण एव महीयसा बलवत्तरेण मधुना दैत्येन हतेन मधुसूदन इति नाम जगति अगमत्प्राप। कीदृगेषः—वने तोये महति सर्वलोकव्यापिनि विगतजने विहरन्। तथा गां पृथ्वीं पातीति गोपस्तद्भावं बिभ्रत् ॥ २५ ॥

निर्जन बड़े जङ्गलमें घूमते हुए ग्वाला इस (कृष्ण) ने मधुमक्खियोंके बहुत बड़े-बड़े छत्ते को तोड़नेसे संसार में 'मधुसूदन' नामको प्राप्त किया है ('मधु' नामके महाबलवान् दैत्यको मारनेसे 'मधुसूदन' नामको नहीं पाया है)।

स्तुतिपक्ष—(प्रलयकालमें) निर्जन एवं (सर्वलोकव्यापी) जलमें विहार करते हुए तथा पृथ्वीकी रक्षा करते हुए इन्हों (श्रीकृष्ण भगवान्) ने बहुत बलवान् 'मधु' नामके दैत्यको मारनेसे संसार में 'मधुसूदन' नामको प्राप्त किया है ॥ २५ ॥

अविमृश्य गोवधसमुत्थमयमघममीमरद्रुषा।
रिष्टमुपगु समुपोढमदं यदसौ किलासुर इति प्रमार्ष्टि तत् ॥ २६ ॥

अविमृश्येति ॥ अयं गोवधसमुत्थं तन्मारणोद्भवं पापमविमृश्यागणयित्वा यद्रुषा कोपेन रिष्टमनड्वाहममीमरदवधीत् तदकार्यम्। असौ पापी असुर इति किल प्रमार्ष्टि नाशयति। दान्तरूपी असुरो मया हतो न तु गौरिति लोकस्य परिशुध्यति। किलालीके। तत्त्वतस्त्वसौ गौरेव, अयं गोघातीत्यर्थः। कीदृशं रिष्टम्। उपगु गवां समीपे समुपोढमदं धृतहर्षम्। सुरभीः कामयमानमित्यर्थः। अतश्च सुरतासंक्तदान्तवधपातकित्वान्नायं पूजार्ह इति निन्दा ॥

स्तुतिस्तु—किलशब्दस्य परमार्थत्वात्। यदसावुपगु गोनिकटे रिष्टमतृणेट् तदसौ किलासुर इति प्रमार्ष्टि। असुर एवानेन हत इत्यर्थः। कीदृशं तम्। अविमृश्यश्चिन्तयितुमशक्यो गोवधस्तत्र समुत्थ उत्थानमुद्यमो यस्य तमविमृश्यगोवधसमुत्थं यतोऽघं पापिनम्। अघमस्यास्तीति कृत्वा। तथा समुपोढमदं धृतदर्पम्। अतश्च गोवधसमुत्थस्य दर्पिष्ठस्य पापमतेर्दानवस्य वधाद्भगवतो महती नुतिरेव। अविमृश्येति क्यप्। 'ऋदुपधात्—' (३।१।११०) इति क्यप्। अमीमरदिति मारयतेर्लुङ् चङ्। प्रमार्ष्टीति मृजेर्वृद्धिः ॥ २६ ॥

इस (कृष्ण) ने गोवधजन्य पापका विचार नहीं करके गौके पास अत्यधिक हर्षित अर्थात् गायके समीपमें कामासक्त हुए सांड़को क्रोधमें मार डाला, अब 'वह रिष्टासुर था (इस कारणसे मैंने उसको मारा)' ऐसा (संसारमें) प्रसिद्ध कर उस पापका परिमार्जन करता है (इसने रिष्टासुरको नहीं मारा किन्तु कामासक्त सांड़को मारा, अत एव महापापी है)।

स्तुतिपक्ष—अविचारणीय गोवधमें उद्यमी अर्थात् गौओंका वधरूप महापाप करनेकी इच्छा करनेवाले, पापी और दर्पयुक्त रिष्ट नामके असुरको गौओंके समीपमें जो इन्होंने (श्रीकृष्ण भगवान्) ने क्रोधसे मारा, यह सत्य ही है ॥ २६ ॥

मुखकन्दरान्तरगतोऽपि विकटदशनेन केशिना।
नास्य सपदि यदखादि भुजस्तदहो तिरश्चि सहजैव मूढता ॥ २७ ॥

मुखेति ॥ अस्य केशिनाम्ना अश्वेन यद्भुजो नाखादि न जग्धः तदहो तिरश्चि तिर्यक्षु सहजैव स्वाभाविक्येव मूढता अज्ञत्वं, तिर्यक्त्वात्। मूर्खेण तेन न भक्षितो न

-स्वस्य कापि शक्तिरिति वाक्यार्थः। कदाचिदप्राप्तोऽसौ भवेन्नेत्याह—आस्यदरीविव-रप्राप्तः। कदाचिद्दन्ताभावः स्यादित्याह-विकटदशनेन दन्तुरेणापि सपदि अस्य प्राप्त्यनन्तरम्। अहो विषादे॥

स्तुतिरत्र—परमतमाशङ्क्य काकुप्रयोगेण। यदस्य केशिना दैत्येन भुजो नाखादि तत्किं, तिरश्चि सहजैव मूढता न त्वस्य माहात्म्यमित्यर्थः। एतस्यैव ह्येव-मसौ शक्तिः। न स तात्त्विकोऽर्थः। अहोशब्दः परस्योल्लुण्ठनाय। तिरश्चीति सप्तमी॥

मुखरूपी कन्दरा (कन्दराके समान विशाल मुख) में घुसे हुए इस (कृष्ण) के बाहुको जो भयङ्कर दांतोंवाले (अश्वरूपधारी) केशीने तत्काल नहीं खा लिया (काट डाला), अहो! पशुमें मूर्खता स्वाभाविक ही होती है।

स्तुतिपक्ष—मुखरूपी⋯खा लिया, यह क्या पशुमें मूर्खता स्वभावतः होती है, इससे हुआ? अर्थात् नहीं किन्तु इन (श्रीकृष्ण भगवान्) के बाहुको काटनेमें असमर्थ होनेके कारण ही ऐसा वह नहीं कर सका॥ २७॥

यदुदस्य बाहुमयमेकमधृत गिरिमद्भुतं न तत्।
भूरि सलिलमविषह्यमियं जलदे विमुञ्चति गवां सभाग्यता॥ २८॥

यदिति॥ मेघे समन्ततं दुःसहं प्रभूतं वारि वर्षति यदयं हरिरेकं भुजमुत्क्षिप्य गिरिं गोवर्धनमधृत दध्रे तन्नाद्भुतं नाश्चर्यम्। इयं गवां सभाग्यता पुण्यवत्त्वम्। गवां महिम्नासौ धृतो न त्वेतस्य काचिच्छक्तिरित्यर्थः। इति निन्दा॥

स्तुतिस्तु—परमतमाशङ्क्य काकुप्रयोगेण न तदद्भुतम्, अपि त्वाश्चर्यमेव। तथेयं गवां सभाग्यता किम्, न त्वस्य सा। अयमेव स्वमहिम्ना बभारेत्यर्थः॥२८॥

मेघके अत्यन्त अधिक एवं असह्य पानी बरसाते रहनेपर इस (कृष्ण) ने जो कि हाथ उठाकर गोवर्धन पर्वत को धारण कर लिया, यह आश्चर्य नहीं है, किन्तु (इसका ऐसा करना) गौओंका सद्भाग्य था अर्थात् गौओंके भाग्य अच्छे थे जो ऐसा हो गया, इस कृष्णने अत्यधिक समर्थ होनेके कारण गोवर्धनको एक हाथपर नहीं उठाया।

स्तुतिपक्ष—मेघके⋯धारण कर लिया, यह आश्चर्य नहीं है क्या? अर्थात् ऐसा करना आश्चर्य ही है और यह क्या गौओंके सद्भाग्यसे हुआ? अर्थात् नहीं, किन्तु इन श्रीकृष्ण भगवान्की शक्तिसे ही ऐसा हुआ॥ २८॥

किमिवात्र चित्रमयमन्नमचलमहकल्पितं यदि।
प्राश निखिलमखिलेऽपि जगत्युदरं गते बहुभुजोऽस्य न व्यथा॥२९॥

किमिवेति॥ अयं हरिरचलमहकल्पितं पर्वतोत्सवकृतमन्नं यदि प्राश प्रकर्षेण बुभुजे तत्किमिवात्र चित्रमाश्चर्यम्। यतोऽस्य बहुभुजः बह्वाहारस्य सकलेऽपि जग-

१. '—भुजस्य' इति पा०।

त्युदरं प्राप्ते न व्यथा पीडा अजीर्णत्वात्। अतश्च यः कुक्षिंभरत्वात्सर्वमेव जिघत्सति तस्यौदनमात्रभोजनात्को विस्मयः। इत्यात्मम्भरित्वकथनेन निन्दा॥

स्तुतिस्तु—अस्याच्छादनात्को विस्मयः। यतोऽस्य जगन्निवासस्य सर्वेषु जगत्सूदरस्थितेषु न व्यथा। बहु भुनक्तीति बहुभुक् निखिलभुवनपालकः। यदि वा बहवो भुजा यस्य स बहुभुजोऽयम्। पूर्वत्र तु बहु भुङ्क्त इति बहुभुक्। प्राशेत्यत्राश्नातेर्लिट्॥

(गोवर्धन) पर्वतके उत्सव (गोवर्धन पूजाके समय) में बनाये गये अन्नको जो इस (कृष्ण) ने बहुत अधिक खा लिया, इसमें कौन-सा आश्चर्य है ? अर्थात् कोई भी आश्चर्य नहीं है, क्योंकि बहुत खानेवाले अर्थात् 'पेटू' इस कृष्णको (प्रलयकालमें) सम्पूर्ण संसार भी पेटमें चले जानेपर कष्ट नहीं होता (तो उक्त अन्नको अधिक खानेमें कोई आश्चर्य नहीं है, अर्थात् यह बड़ा भारी 'पेटू' है)।

स्तुतिपक्ष—प्रलयकालमें सम्पूर्ण संसार भी उदरमें समा जानेपर बहुत रक्षा करनेवाले अर्थात् विश्वम्भर (या पाठा०—बहुत बाहुओंवाले) इन (कृष्ण भगवान्) को पीडा नहीं होती, तब पर्वतोत्सवके लिए तैयार किये गये अन्नको इन्होंने खा लिया, इसमें क्या आश्चर्य है ? अर्थात् कोई भी आश्चर्य नहीं है ॥ २९ ॥

अमुना करेण पृथुदन्तमुसलमुदखानि दन्तिनः।
तेन यदवधि स एव पुनर्बलशालिनां क इव तत्र विस्मयः ॥ ३० ॥

अमुनेति ॥ अमुना हरिणा दन्तिनः कुवलयापीडस्य यत्पृथुदन्तमुसलं करेणोदपाटि उत्खातम्। तेनोत्खातेन योऽसौ हस्ती अवधि हतः तत्र बलशालिनां क इव विस्मयः। न युक्तस्तत्र विस्मयः। मर्महननाद्धि शिशुरपि मारयति। इति निन्दा॥

स्तुतिस्तु काक्वा गम्यते—को विस्मयः। विस्मय एवेत्यर्थः। स तु हस्तिनो हन्तुमशक्यत्वादिति भावः। यदुक्तम्—'एकः क्रुद्धो गजो हन्ति षट्सहस्राणि वाजिनाम्'। अवधीति कर्मणि लकारः च्लेश्चिण् अकारलोपः॥ ३०॥

इस (कृष्ण) ने ('कुवलयापीड' नामक) हाथीके मुसलके समान विशाल दाँतको हाथसे उखाड़ दिया और उस (दाँतके उखाड़े जाने) से वह हाथी मर गया, इसमें बलवानोंको कौन आश्चर्य है ? अर्थात् कोई भी आश्चर्य नहीं है, (क्योंकि मर्मस्थलमें आहत महाबलवान्‌को एक साधारण-सा बालक भी मार सकता है, उसमें बलवानोंको कोई आश्चर्य नहीं होता)।

स्तुतिपक्ष—इस…आश्चर्य है अर्थात् आश्चर्य ही है (क्योंकि 'क्रुद्ध एक ही हाथी छः सहस्र घोड़ोंको मार सकता है इस लोकोक्तिके आधारपर कुवलयापीड—जैसे मतवाले हाथीको मार देना साधारण बालकका काम नहीं माना जा सकता) ॥ ३० ॥

शिशुरेव शिक्षितनियुद्धकरणमकृतक्रियः स्वयम्।
मल्लमलघुकठिनांसतटं न्यवधीदेव तददृष्टकारितम् ॥ ३१ ॥

शिशुरिति ॥ तथा एष हरिः शिशुरेव बालः सन् यन्मल्लं चाणूराख्यं न्यवधीज-घान तददृष्टकारितं दैवविहितम्। विधिवशाद्धयबलोऽपि बलीयांसमभिभवति। तदेव बलवत्त्वमाह—कीदृशं मल्लम्। शिक्षितानि नियुद्धकरणानि बाहुयुद्धक्रियाः येन तं शिक्षितनियुद्धकरणं युद्धज्ञं, अलघु पीनं कठिनमंसतटं यस्य तम्। एष तु स्वयमकृतक्रियोऽशिक्षितकरणः। यतः शिशुः। इति निन्दा॥

स्तुतिस्तु—पूर्ववत्काका। तत्किमदृष्टकारितं नैतद् दैवविजृम्भितम्, अपि त्वस्यै-वायं महिमेत्यर्थः॥ ३१॥

युद्धकलाको नहीं सीखे हुए बालक इस (कृष्ण) ने युद्धकलाको सीखे हुए तथा चौड़े एवं कठोर कन्धोंवाले ('चाणूर' नामक) पहलवान्‌को जो मार दिया, इसमें अदृष्ट भाग्य ही कारण है अर्थात् इस बालक कृष्णकी कोई बहादुरी नहीं है (क्योंकि भाग्यवश बलवान् भी एक दुर्बलसे मारा जाता है)।

स्तुतिपक्ष—युद्धकलाको…मार दिया, इसमें इन (श्रीकृष्ण भगवान्) का अदृष्ट कारण नहीं है। अर्थात् इनकी महिमाका प्रभाव है कि उक्तरूप महाबलवान् 'चाणूर' को इन्होंने मार दिया॥ ३१॥

यदयुध्यमानमपि सन्तमुपहितसुरौघसाध्वसम्।
कंसमभियमयमभ्यभवत्समुदा जनेन तदपि प्रशंस्यते॥ ३२॥

यदिति॥ यदयमयुध्यमानं कंसं स्वजनमप्यभ्यभवदाचकर्ष तदपि समुदा जनेन प्रशंस्यते नैवाभिनन्द्यत इति काकुप्रयोगः। निष्क्रियस्य हि वधे का नाम स्तुतिः। कीदृशं तम्—जनितदेवपूगकम्पम्। अभियं त्रासरहितम्। वीरमित्यर्थः। इति निन्दा॥

स्तुतिस्तु—अयुध्यमानमपि सन्तं कंसमभियं त्रासरहितं वीरं यदभ्यभवत्तदपि सन्तोषवता जनेन प्रशंस्यते स्तूयत एव। यत उपहितसुरौघसाध्वसं, सदर्पं च। कण्टकोद्धरणेन चावश्यं प्रहृष्टो जनः प्रशंसां करोति॥ ३२॥

इस (कृष्ण) ने देव-समूहको भयभीत करनेवाले तथा स्वयं निर्भय और युद्ध नहीं करते हुए अर्थात् सिंहासनपर बैठे हुए भी कंस (अपने मामा) को जो मार दिया, उसे भी हर्षित होते हुए लोग प्रशंसा करते हैं अर्थात् निष्क्रिय कंसको मारनेवाले इस कृष्णकी प्रशंसा करते हैं, यह लोगोंकी मूर्खता है।

स्तुतिपक्ष—इस…प्रशंसा करते हैं, क्योंकि संसारके कण्टकरूप कंसको मारकर इन्होंने (श्रीकृष्ण भगवान्‌ने) वस्तुतः प्रशंसाका कार्य किया है॥ ३२॥

इति निन्दितुं कृतधियापि वचनममुना यदाददे।
स्तोतुमनिशमुचितस्य परैः स्तुतिरेव सा मधुनिघातिनोऽभवत्॥ ३३॥

इतीति॥ इत्युक्तप्रकारेण अमुना चैद्येन यद्वच आददेऽभ्यधायि। सा मधुरिपोः

१. '—मभय' इति पा०।

भगवतो नुतिरेवाभवत्। कदाचित्तुष्टूषुरसौ स्यादित्याह–निन्दितुं कृतधियापीति। किंविधस्य हरेः। परैः शत्रुभिरपि स्तोतुमजस्रं योग्यस्य। अत एतत्स्तुतिरभवत्। एतेन पूर्वेषां वाक्यानामुभयार्थता, ख्याता यथा तथा व्याख्यातमेव। आददे इत्यस्य विहरणस्याशब्दार्थत्वात्प्रतिषेधाभावः प्रतीयते। अत्र तत्र तु शब्दोपात्तं यथा आस्यं व्याददातीति। मधुं निहन्तीत्यावश्यके णिनिः। 'कर्मणि हन' (३।२।८६) इत्यर्थकुत्सायाम् ॥ ३३ ॥

इस प्रकार (श्लो० १–३२) निन्दा करनेके लिए उद्यत भी इस शिशुपालने जो (निन्दात्मक) वचन कहे, वे वचन सर्वदा दूसरोंके प्रशंसनीय श्रीकृष्ण भगवान्‌के प्रशंसात्मक हुए ॥ ३३ ॥

यदुवाच दुष्टमतिरेष परिविवदिषुर्मुरद्विषम्।
द्व्यर्थमपि सदसि चेदिपतेस्तदतोऽपराधगणनामपाद्वचः ॥ ३४ ॥

यदुवाचेति ॥ एष चैद्यः सभायां यद्वचोऽवोचत्तदुभयार्थं निन्दास्तुतिवाचकमप्यतो हेतोरपराधगणनामगादपराधमध्ये गणितम्। यत एष दुष्टत्वान्मुरारिं परिविवदिषुर्निनिन्दिषुः। तेन हि तद्वच आक्रोशतयोक्तम्। या तु तस्य स्तोत्ररूपता सा काकतालीयेति भगवतो वा माहात्म्यम्। नैतावतासौ प्रियंवद इति अपराधगणनामगात्। यस्मादेष दुष्टमतिः सन् देवं परिविवदिषुराह इत्येवं वा योज्यम् ॥३४॥

इति प्रक्षिप्तश्लोकाः ॥ ३४ ॥

(श्रीकृष्ण भगवान्‌की) निन्दा करनेका इच्छुक दुर्बुद्धि इस (शिशुपाल) ने श्रीकृष्ण भगवान्‌से जो वचन कहे, (निन्दा तथा प्रशंसारूप) दो अर्थवाले भी शिशुपालके वे वचन उस सभामें अपराधकी गणनामें आ गये अर्थात् पक्षान्तरीय अर्थसे श्रीकृष्ण भगवान्‌को स्तुतिपरक भी उन वचनोंको कहनेवाला शिशुपाल दुष्टबुद्धि होकर निन्दा करनेके लिए उन वचनोंको उस सभामें कहा, अत एव वह अपराधी माना गया ॥ ३४ ॥

(पृष्ठ ५७१ से यहाँ तक श्रीकृष्ण भगवान्‌की निन्दा तथा पक्षान्तरसे प्रशंसा अर्थवाले ये चौंतीस क्षेपक श्लोक समाप्त हुए)

इति वाचमुद्धतमुदीर्य सपदि सह वेणुदारिणा।
सोढरिपुबलभरोऽसहनः स जहास दत्तकरतालमुच्चकैः ॥ ३६ ॥

इतीति ॥ सोढः क्षान्तो रिपूणां बलभरो वीर्यातिशयो येन सः न सहत इत्यसहनः असहिष्णुः स चैद्य इतीत्थमुद्धतं निष्ठुरं यथा तथा वाचमुदीर्य सपदि वेणुदारिणा नरकात्मजेन सह दत्तः करतालः परस्परपाणिताडनं यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा उच्चकैस्तारं जहास। कृष्णदोषोद्घाटनहर्षादट्टहासं चकारेत्यर्थः। स्वभावोक्तिः॥

१. श्लोकोऽयं वल्लभदेवेन 'अयमुग्रसेन...द्भुतम्' (१४।३८) श्लोकानन्तरमेव व्याख्यातः।

शत्रुओंके महापराक्रमको सहनेवाला एवं (श्रीकृष्ण भगवान्‌के युधिष्ठिरकृत सत्कारको) नहीं सहन करता हुआ शिशुपाल इस प्रकार (१५।२२-३८ तथा क्षेपक १-३४) निष्ठुर वचन कहकर तत्काल नरकात्मजके साथ ताल ठोककर उच्चस्वर से अट्टहास किया ॥३९॥

कटुनापि चैद्यवचनेन विकृतिमगमन्न माधवः ।
सत्यनियतवचसं वचसा सुजनं जनाश्चलयितुं क ईशते ॥ ४० ॥

[2]कटुनेति ॥ माधवः । कटुनापि चैद्यवचनेन विकृतिं नागमत् । गमेर्लुङि 'पुषादि–' (३।१।५५) इति च्लेरङादेशः । तथा हि—सत्ये नियतवचसमस्खलितवचसं सत्यसन्धं सुजनं के जनाः वचसा । तीव्रेणापीति भावः । चलयितुमीशते शक्नुवन्ति । न केऽपीत्यर्थः । 'सहिष्ये शतमागांसि' (२।१०८) इति प्रतिज्ञाभङ्गभयादसहतेति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४० ॥

श्रीकृष्ण भगवान् शिशुपालके कटु वचनसे भी विकृत (क्षुभित) नहीं हुए, क्योंकि सत्यपर स्थिर रहनेवाले सज्जनको (कटु भी) वचनसे चञ्चल करनेमें कौन-से लोग समर्थ होते हैं ? अर्थात् ,सत्यप्रतिज्ञ सज्जनको कटुवचन कहकर भी कोई क्षुभित नहीं कर सकता है ॥ ४० ॥

न च तं तदेति शपमानमपि यदुनृपाः प्रचुक्रुधुः ।
शौरिसमयनिगृहीतधियः प्रभुचित्तमेव हि जनोऽनुवर्तते ॥ ४१ ॥

न चेति ॥ किं चेति चार्थः । तदा तत्काले इतीत्थं शपमानमाक्रोशन्तमपि । 'शपतेराक्रोशे' इति भट्टमल्लः । तं चैद्यं यदुनृपा यादवाः शौरेः कृष्णस्य समयेन संकेतेन निगृहीतधियो निरुद्धबुद्धयः सन्तो न प्रचुक्रुधुः । 'क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः कर्म' (१।४।३८) इति कर्मत्वम् । तथा हि—जनो लोकः प्रभुचित्तमेवानुवर्तते । शौरिसंकेतनिरुद्धबुद्धेर्यदुविशेषणगत्या क्रोधाभावहेतुत्वात् काव्यलिङ्गमर्थान्तरन्यासेन संकीर्यते ॥ ४१ ॥

उस समय इस प्रकार (१५।२२–३८ तथा क्षे० १–३४) उन (श्रीकृष्ण भगवान्) की निन्दा करते हुए भी शिशुपालपर श्रीकृष्ण भगवान् के संकेतसे अपने विचारको रोके हुए यदुवंशी राजा लोग क्रुद्ध नहीं हुए, क्योंकि लोग अपने स्वामीके मनका ही अनुसरण करते हैं अर्थात् स्वामीकी चित्तवृत्तिके अनुसार ही काम करते हैं ॥ ४१ ॥

विहितागसो मुहुरलङ्घ्यनिजवचनदामसंयतः ।
तस्य कतिथ इति तत्प्रथमं मनसा समाख्यदपराधमच्युतः ॥ ४२ ॥

विहितेति । अलङ्घ्येन निजवचनदाम्ना स्वप्रतिज्ञापाशेन संयतो बद्धोऽच्युतः मुहुर्विहितागसः पूर्वं सहस्रशः कृतापराधस्यापि तस्य चैद्यस्यापराधं स एव प्रथमो यस्मिन्कर्मणि तत्प्रथमं यथा तथा कतिथः । कतीनां पूरण इति 'तस्य पूरणे डट्' (५।२।४८) इति डट्प्रत्ययः । 'षट्कतिकतिपयचतुरां थुक्' (५।२।५१) इति थुगागमः । मनसा समाख्यत् गणनां चकार । 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (३।१।५२)

१. 'वचसः' इति पा० । २. अथेत आरभ्यते पुनर्मल्लिनाथकृता 'सर्वंकषा' व्याख्या ।

इति चक्षेरङादेशः। अत्र प्रतिज्ञापाशबन्धनस्य विशेषणगत्या प्राचीनापराधानन्त्येऽपि तात्कालिकापराधगणनाहेतुत्वात् काव्यलिङ्गभेदः ॥ ४२ ॥

('सात्वती' नामका अपनी फूआ अर्थात् शिशुपालकी मातासे शिशुपालके सौ अपराधोंको सहनेकी प्रतिज्ञा करनेसे) अलङ्घनीय (उक्त प्रतिज्ञारूप) अपने वचनसे बँधे हुए श्रीकृष्ण भगवान् (पहले सहस्रों अपराधोंको करनेपर भी यहाँ किये गये ही अपराधको) उसका पहला अपराध मानकर यह कितनी संख्यावाला अपराध है ? यह मनसे गिनने लगे।

विमर्श—यद्यपि शिशुपालने श्री कृष्ण भगवान् के साथ अनेकशः अपराध पहले किये थे, किन्तु उनकी गणना न करके उन्होंने उसके यहां किये गये अपराधोंको ही आरम्भसे एक, दो आदिसे गिनते हुए यह कहाँ (कितना संख्यावाला) अपराध हुआ, यह मनसे ही चुपचाप गिनने लगे ॥ ४२ ॥

स्मृतिवर्त्म तस्य न समस्तमपकृतमियाय विद्विषः।
स्मर्तुमधिगतगुणस्मरणाः पटवो न दोषमखिलं खलूत्तमाः ॥ ४३ ॥

स्मृतीति ॥ विद्विषश्चैद्यस्य सम्बन्धि समस्तमपकृतमपकारजातम्। नपुंसके भावे क्तः। तस्य हरेः कृष्णस्य स्मृतिपथं नेयाय न प्राप। न तमपकारं सस्मारेत्यर्थः। अर्थान्तरं न्यस्यति—अधिगतगुणस्मरणाः परिचितोपकारस्मृतय उत्तमाः सज्जना अखिलं दोषमपकारं स्मर्तुं न पटवः खलु। नालं भवन्तीत्यर्थः। 'पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु' (३।४।६६) इति तुमुन्प्रत्ययः। उपकारमेव स्मरन्ति साधवो नापकारमित्यर्थः॥

परमशत्रु (शिशुपाल) के पूर्वक्त सम्पूर्ण अपराधोंका उन (श्रीकृष्ण भगवान्) ने स्मरण नहीं किया, क्योंकि परिचितोंके गुणों(उपकारों) को ही स्मरण करनेमें चतुर, श्रेष्ठलोग सम्पूर्ण दोषोंको कभी स्मरण नहीं करते हैं ॥ ४३ ॥

नृपतावधिक्षिपति शौरिमथ सुरसरित्सुतो वचः।
स्माह चलयति भुवं मरुति क्षुभितस्य नादमनुकुर्वदम्बुधेः ॥ ४४ ॥

नृपताविति ॥ अथ नृपतौ चेदिपे शौरिं हरिमधिक्षिपति सति सुरसरित्सुतो भीष्मः मरुति प्रलयमारुते भुवं चलयति कम्पयति सति क्षुभितस्योद्वेलस्याम्बुधेर्नादमनुकुर्वत्तद्वद्गम्भीरं वच आह स्म उवाच। 'लट् स्मे' (३।२।११८) इति भूतार्थे लट्। 'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' (३।४।८४) इति णल्याहादेशः। यद्यपि 'न पादादौ खल्वादयः' इत्याह वामनः, तथापि कविप्रौढ्या स्मशब्दस्य पादादौ प्रयोगः। उपमालंकारः ॥ ४४ ॥

इसके बाद राजा (शिशुपाल) के श्रीकृष्ण भगवान्की निन्दा करते रहनेपर गंगाजी के पुत्र (भीष्म पितामह), (प्रलय कालमें) वायुके द्वारा पृथ्वीको कँपाते रहनेपर समुद्रके शब्दका अनुकरण करते हुए अर्थात् अत्यन्त गम्भीर वचन बोले ॥ ४४ ॥

उक्तमेवार्थं वक्तुराशयाविष्कारार्थमाह—

अथ गौरवेण परिवादमपरिगणयंस्तमात्मनः ।
प्राह मुररिपुतिरस्करणक्षुभितः स्म वाचमिति जाह्नवीसुतः ॥ ४५ ॥

अथेति ॥ अथ शिशुपालप्रलापानन्तरं मुररिपुतिरस्करणेन हरिनिन्दया क्षुभितः कलुषमना जाह्नवीसुतो गाङ्गेयः गौरवेण धैर्येण तमात्मनः परिवादं 'काममयं वृथा-पलित' इत्यादि स्वनिन्दामपरिगणयन् इति वक्ष्यमाणप्रकारेण वाचं प्राह स्म प्रोक्त-वान्। गतमेतत् । धीराः स्वनिन्दामेव सहन्ते, न गुरुदेवादिनिन्दामिति भावः। अत्र क्षोभस्य विशेषणगत्या वचनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ ४५ ॥

इस (शिशुपालके द्वारा श्रीकृष्ण भगवान्‌की निन्दा करने) के बाद श्रीकृष्ण भगवान्‌के तिरस्कारसे क्षुब्ध भीष्मपितामह धैर्यसे अपनी उस निन्दा (१५।१९–२१) की गणना नहीं करते हुए ऐसा (१५।४६) वचन बोले ॥ ४५ ॥

विहितं मयाद्य सदसीदमपमृषितमच्युतार्चनम् ।
यस्य नमयतु स चापमयं चरणः कृतः शिरसि सर्वभूभृताम् ॥४६॥

विहितमिति ॥ मया अद्य सदसि सभायां विहितं कृतं इदमच्युतार्चनं यस्याप-मृषितमतितिक्षितम् । असोढमित्यर्थः ।"मृष तितिक्षायाम्' इति धातोः कर्मणि क्तः। उपसर्गवशाद्विपरीतार्थता । अत एव मृषस्तितिक्षायामेव किस्वनिषेधादतितिक्षार्थ-त्वाच्च गुणः। 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' (३।२।१८८) इति चकाराद्वर्तमानार्थता। 'क्तस्य च वर्तमाने' (२।३।६७) इति षष्ठी। सोऽपत्रष्टा पुरुषश्चापं नमयतु आरोप-यतु । सर्वभूभृतां मिषतामिति भावः । शिरस्ययं चरणः कृतो न्यस्तः । अयमिति भूमौ पात्यमानस्य चरणस्य हस्तेन निर्देशः । अयं कोपामर्ष इत्यनुसन्धेयम् ॥४६॥

'मेरे द्वारा इस सभामें की गयी श्रीकृष्ण भगवान्‌की पूजाको जो नहीं सहन करता है, वह व्यक्ति (युद्ध करनेके लिए) धनुष चढ़ावे, (देखते हुए ऐसे) सब राजाओंके मस्तक-पर मेरा पैर रखा है' (ऐसा कहते हुए भीष्म पितामहने अपने बाएँ पैरको पृथ्वीपर रख-कर हाथसे सङ्केत किया) ॥ ४६ ॥

इति भीष्मभाषितवचोऽर्थमधिगतवतामिव क्षणात् ।
क्षोभमगमदतिमात्रमथो शिशुपालपक्षपृथिवीभृतां गणः ॥ ४७ ॥

इतीति ॥ इतीत्थं भीष्मेण भाषितस्योक्तस्य वचसोऽर्थमभिधेयं शिरसि पादन्या-सरूपं क्षणादधिगतवताम् । प्राप्तवतामिव सतामित्यर्थः । शिशुपालस्य पक्षा ये पृथिवीभृतो राजानस्तेषामसौ गणोऽतिमात्रं क्षोभं क्रोधं विकारमगमत् । एतेनैषा-मात्मविनाशावसायी रौद्रस्थायी क्रोधः प्रादुरभूदित्युक्तम् । उत्प्रेक्षा ॥ ४७ ॥

इस प्रकार (१५।४६) भीष्मपितामहके कहे गये वचनके अर्थ (शिरपर बायें पैरके

रखे जाने) को प्राप्त हुएके समान, शिशुपालके पक्षपाती राजाओंका समुदाय इसके बाद क्षणमात्रमें अत्यधिक क्षुब्ध हो गया ॥ ४७ ॥

अथैषां दशभिर्गात्रारम्भान्क्रोधानुभावानाह—

शितितारकानुमितताम्रनयनमरुणीकृतं क्रुधा ।
बाणवदनमुददीपि भिये जगतः सकीलमिव सूर्यमण्डलम् ॥ ४८ ॥

शितीत्यादि ॥ क्रुधा क्रोधेन अरुणीकृतमत एव शिती श्यामे ये तारके कनीनिके ताभ्यामनुमिते अनुमापिते ताम्रे नयने यस्य तत् । 'तारकाक्ष्णः कनीनिका' इत्यमरः । सर्वमुखस्य रक्तत्वादिति भावः । बाणो नृपस्तस्य वदनं सकीलं कीलाकारच्छायासहितम् । परिधियुक्तमिति यावत् । सूर्यमण्डलमिव जगतो भिये भयाय उददीपि प्रजज्वाल । दीप्यतेः कर्तरि लुङि 'दीपजन–' (३।१।६१) इत्यादिना चिण्प्रत्यये तलुक् । अत्र नयनयोः स्वधावल्यत्यागेनारुण्यस्वीकारात्तद्गुणः । तत्सापेक्षत्वादौत्पातिकसूर्यमण्डलोपमासङ्करः ॥ ४८ ॥

अब दस (१५।४८–५७) श्लोकोंसे इन राजाओंके क्रोधके अनुभावोंका वर्णन करते हैं) क्रोधसे रक्तवर्ण (अतएव) काली पुतलियोंसे अनुमित लाल नेत्रवाला बाणासुरका मुख कीलयुक्त (या–शनि तथा मङ्गलरूप पापग्रहोंसे युक्त) सूर्य–मण्डलके समान संसारके भय के लिए प्रज्वलित हो गया ॥ ४८ ॥

प्रविदारितारुणतरोग्रनयनकुसुमोज्ज्वलः स्फुरन् ।
प्रातरहिमकरताम्रतनुर्विषजद्रुमोऽपर इवाभवद्द्रुमः ॥ ४९ ॥

प्रवीति ॥ प्रविदारिते अतिविकासिते अरुणतरे क्रोधादतिरक्ततरे अत एवोग्रे भयंकरे ये नयने ते एव कुसुमे ताभ्यामुज्ज्वलो दीप्तः स्फुरन्स्वतेजसा दीप्यमानः प्रातरहिमकरताम्रतनुः प्रभातार्कारुणविग्रहः प्रसिद्धो द्रुमो द्रुमाख्यो नृपः अपरो विषजद्रुम इवाभवदित्युत्प्रेक्षा रूपकसङ्कीर्णा ॥ ४९ ॥

अत्यन्त विकसित किये गये (क्रोधसे) लाल–लाल नेत्ररूपी पुष्पोंसे दीप्त तथा तेजसे स्फुरित होता हुआ (क्रोधसे) प्रातःकालके सूर्यके समान अरुण वर्णयुक्त शरीरवाला 'द्रुम' नामक राजा विषवृक्षके समान (भयंकर) हो गया ॥ ४९ ॥

अनिशान्तवैरदहनेन विरहितवतान्तरार्द्रताम् ।
कोपमरुदभिहतेन भृशं नरकात्मजेन तरुणेव जज्वले ॥ ५० ॥

अनिशान्तेति ॥ अनिशान्तोऽनिर्वाणो वैरदहनो विरोधाग्निर्यस्य तेन अत एवान्तरभ्यन्तरे आर्द्रतां सारस्यं विरहितवता त्यक्तवता । रहयतेः क्तवतुप्रत्ययः । कोपो मरुदिव तेनाभिहतः प्रज्वलितः तेन नरकात्मजेन तरुणा वृक्षेणेव भृशं वेणुदारिणा जज्वले ज्वलितम् । भावे लिट् । उपमालङ्कारः ॥ ५० ॥

---

१. '—विषविद्रुमो—' इति पा० ।

नहीं बुझे (नहीं शान्त) हुए विरोधाग्निवाला, भीतर आर्द्रता (सरसता = गीलापन, पक्षा०—नम्रता) रहित और वायुके समान क्रोधसे प्रेरित नरकासुर-पुत्र (जलते हुए अग्निसे युक्त, सूखे हुए तथा हवासे प्रज्वलित) वृक्षके समान अत्यन्त जलने लगा ॥ ५० ॥

अभिधित्सतः किमपि राहुवदनविकृतं व्यभाव्यत ।
[1]ग्रस्तशशधरमिवोपलसत्सितदन्तपङ्क्ति मुखमुत्तमौजसः ॥ ५१ ॥

अभीति ॥ किमप्यभिधित्सतोऽभिधातुमिच्छतः । दधातेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः । उत्तमौजसो नाम राज्ञः सम्बन्धि राहुवदनविकृतं व्यात्तत्वाद्राहुवक्त्रवत्करालम्, उपलसन्ती लक्ष्यमाणा सिता दन्तपङ्क्तिर्यस्य तन्मुखं ग्रस्तशशधरमिव संदष्टचन्द्रमिव व्यभाव्यतातर्क्यत । इत्युत्प्रेक्षा ॥ ५१ ॥

कुछ कहना चाहते हुए, (फैलानेसे) राहुके समान विकारयुक्त और दिखलायी पड़ती हुई दन्तश्रेणिवाला 'उत्तमौजा' नामके राजाका मुख ग्रस्त हुए चन्द्रमाके समान मालूम पड़ने लगा, (अथवा–कुछ कहना चाहते हुए, दिखलायी पड़ती हुई दन्तश्रेणिवाला 'उत्तमौजा' नामके राजाका मुख मानो चन्द्रमाको पकड़े हुए राहुके समान विकृत (भयङ्कर) मालूम पड़ने लगा) ५१ ॥

कुपिताकृतिं प्रथममेव हसितमशनैरसूचयत् ।
क्रुद्धमशनिदलिताद्रितटध्वनि दन्तवक्रमरिचक्रभीषणम् ॥ ५२ ॥

कुपितेति ॥ प्रथमं प्रागेव । अकुपितावस्थायामपीत्यर्थः । कुपितस्येवाकृतिर्मुखरागो यस्येत्युपमा । अरिचक्रभीषणं परबलभयङ्करं दन्तवक्रं दन्तवक्रनामानं राजानम् । अशनिदलितस्य वज्रहतस्याद्रितटस्य ध्वनिरिव ध्वनिर्यस्य तदित्युपमा । न शनैः अशनैः । उच्चैर्हसितमट्टहासः । स क्रुद्धमसूचयत् । सर्वदा मुखरागस्य विशेषणादनुभावान्तरवेद्यः । क्रुद्ध इत्यर्थः । अत्र कोपव्यञ्जकसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरूपमासङ्कीर्णा ॥ ५२ ॥

पहले ही (क्रुद्ध नहीं रहनेपर भी) क्रुद्ध-सी आकृतिवाले तथा शत्रु-समूहके लिए भयङ्कर 'दन्तवक्र' नामके राजाको, वज्रसे विदीर्ण किये गये पर्वततटकी ध्वनिके समान ध्वनिवाला उच्च स्वरयुक्त हास अर्थात् अट्टहासने क्रुद्ध बतला दिया अर्थात् उच्च स्वरयुक्त अट्टहाससे दन्तवक्रका क्रुद्ध होना मालूम हो गया ॥ ५२ ॥

प्रतिघः कुतोऽपि समुपेत्य नरपतिगणं समाश्रयत् ।
[2]जामिहरणजनितानुशयः समुदाचचार निज एव रुक्मिणः ॥ ५३ ॥

प्रतिघ इति ॥ प्रतिघः कोपः । 'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघा–' इत्यमरः । कुतोऽपि समुपेत्यागत्य नरपतिगणं राजमण्डलं समाश्रयत्समाविशत् । रुक्मिणस्तु जामिः

---

१. 'यामि–' इति पा० । २. 'जनितोऽनुशयः' इति पा० ।

स्वसा। 'जामिः स्वसृकुलस्त्रियोः' इत्यमरः। तस्या रुक्मिण्या हरणेन जनितोऽनुशयो 'हा कष्टमापन्नं! कदा निर्यातयामि' इत्यनुतापो यस्मिन्सः। 'अथानुशयो दीर्घद्वेषानुतापयोः' इत्यमरः। निजो नित्य एव प्रतिघः। 'निजमात्मीयनित्ययोः' इति विश्वः। समुद्राचचार समुद्दिदीपे। भीष्मवाक्यमन्येषां कोपोत्पादकमासीत्, रुक्मिणस्तु प्रागेवावरूढकोपस्योद्दीपकमासीदित्यर्थः। अत्रानुशयस्य विशेषणगत्या कोपोद्दीपनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः॥ ५३॥

(कहीं पर दृष्टिगोचर नहीं होनेवाला) कोप (इस समय) कहीं से आकर (शिशुपालके पक्षवाले) राज-समूहका आश्रय कर रहा था; किन्तु (श्रीकृष्ण भगवान्के द्वारा) बहन (रुक्मिणी) का हरण करनेसे पश्चात्तापको पैदा किया हुआ (पूर्वकालिक) अपना ही कोप 'रुक्मी' (रुक्मिणीके भाई) को जलाने लगा अर्थात् रुक्मी भी कृष्ण भगवान्पर पहलेसे क्रुद्ध होनेके कारण यहाँपर निमित्त पाकर क्रोधसे जलने लगा॥ ५३॥

चरणेन हन्ति सुबलः स्म शिथिलितमहीध्रबन्धनाम्।
तीरतरलजलराशिजलामवभुग्नभोगिफणमण्डलां भुवम्॥ ५४॥

चरणेनेति॥ सुबलो नाम राजा महीं धारयन्तीति महीध्राः। 'कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम्' (वा०) इति कप्रत्ययः। शिथिलितानि विश्लेषितानि महीध्राणां बन्धनानि सन्धयो यस्यास्ताम्। तीरेण तरलानि भूकम्पाच्चलितानि जलराशेरम्बुधेर्जलानि यस्यास्ताम्। अवभुग्नं कुटिलम् अतिभारादित्यर्थः। भोगिनां फणिनां फणमण्डलं फणासमूहो यस्यास्तां भुवं चरणेन हन्ति स्म जघान। 'लट् स्मे' (३।२।११८) इति भूतार्थे लट्। अत्र पादाघाताद्भुवः कम्पासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः॥ ५४॥

'सुबल' नामके राजाने शिथिल पड़े हुए पर्वतोंके सन्धियोंवाली, किनारेपर चञ्चल समुद्रजलवाली तथा शेषनाग (वासुकि) के नम्र हुए फणा–समूहवाली पृथ्वीको पैरसे मारा अर्थात् पृथ्वीपर पैर पटका॥ ५४॥

[1]कुपितेषु राजसु तथापि रथचरणपाणिपूजया।
चित्तकलितकलहागमनो मुदमाहुकिः सुहृदिवाधिकां दधौ॥ ५५॥

कुपितेष्विति॥ रथचरणपाणेश्चक्रपाणेः पूजया राजसु तथा कुपितेष्वपि चित्ते कलितं निश्चितं कलहागमनं युद्धलाभो येन स आहुकिः आहुकिर्नाम राजा शोभनं हृदयं यस्य स सुहृन्मित्रमिव। कृष्णपक्षपातीवेत्यर्थः। 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' (५।४।१५०) इति निपातः। अधिकां मुदं दधौ संतोषं धृतवान्। सुदुःसहोऽपि कृष्णोत्कर्षः कलहकण्डूलबाहोराहुकेः मोदहेतुरासीदित्यर्थः। उपमालंकारः॥ ५५॥

---

१. 'हर्षितेषु' इति पा०। २. 'मुदमाहृतिः' इति पा०।

(सुदर्शन) चक्रधारी (श्रीकृष्ण भगवान्) की पूजासे (शिशुपाल-पक्षके) राजाओंके क्रुद्ध होनेपर मनमें भावी युद्धकी सम्भावना करनेवाला 'आहुकि' नामका राजा मित्रके समान अधिक प्रसन्न हुआ ॥ ५५ ॥

गुरुकोपरुद्धपदमापदसितयवनस्य रौद्रताम् ।
व्यात्तमशितुमिव सर्वजगद्विकरालमास्यकुहरं विवक्षतः ॥ ५६ ॥

गुर्विति ॥ विवक्षतः किमपि वक्तुमिच्छतः। वचेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः। असितयवनस्य कालयवनस्य राज्ञः संबन्धि सर्वजगदशितुमत्तुमिव व्यात्तं विवृतम्। अत एव विकरालमतिविकृतम्। 'करालो दन्तुरे तुङ्गे विशाले विकृतेऽपि च' इति वैजयन्ती। गुरुणा कोपेन रुद्धपदं प्रतिबद्धवचनमास्यकुहरं वक्त्रविवरं रौद्रतां भयंकरतामापत्। अत्राशितुमिवेति फलोत्प्रेक्षा व्यादानक्रियानिमित्ता ॥ ५६ ॥

कुछ कहना चाहते हुए 'कालयवन' नामक राजाके मानो सम्पूर्ण संसारको खानेके लिए बाया (फैलाया) गया एवं अत्यन्त विकृत, अत्यधिक क्रोधके कारण (कण्ठमें ही) रुके हुए (कथनीय) पदोंवाला मुखका छिद्र अत्यन्त भयङ्कर हो गया (कालयवनने कुछ कहनेके लिए मुखको फैलाया, किन्तु अधिक क्रोधके कारण वह कुछ नहीं कह सका और उस प्रकार फैलाया गया उसका मुखच्छिद्र ऐसा भयङ्कर मालूम पड़ने लगा कि मानो वह क्रोधसे सम्पूर्ण संसारको खा जानेके लिए मुखको फैलाये हो) ॥ ५६ ॥

विवृतोरुबाहुपरिघेण सरभसपदं निधित्सता ।
हन्तुमखिलनृपतीन्वसुना वसने विलम्बिनि निजे विचस्खले ॥ ५७ ॥

विवृतेति ॥ अखिलनृपतीन् हन्तुं विवृतः प्रसारित उरुबाहुरेव परिघ आयुधविशेषो येन तेन। 'परिघः प्रतिघातेऽस्त्री' इति हैमः। सरभसं ससत्वरं यत्पदं तन्निधित्सता निधातुमिच्छता। दधातेः सन्नन्ताल्लटः शत्रादेशः। वसुना तन्नाम्ना राज्ञा विलम्बिनि उत्पातवेगाद्विस्रंसिनि निजे वसने स्वाम्बरे विचस्खले स्खलितम्। तद्वध्यस्य दुर्निमित्तमिति भावः। भावे लिट्। अत्र वस्त्रस्रंसनस्य विशेषणगत्या स्खलनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गं यद्बाहुपरिघेति रूपकेण संसृज्यते ॥ ५७ ॥

(श्रीकृष्ण भगवान्के पक्षवाले) सम्पूर्ण राजाओंको मारनेके लिए फैलाये हुए परिघाकार बाहुवाले तथा पैरको रखना चाहते हुए 'वसु' नामक राजा लटकते हुए कपड़ेमें स्खलित हो गया (फँसकर गिर पड़ा—इस प्रकार होना इसके लिए अपशकुन हुआ) ॥ ५७ ॥

इति तत्तदा विकृतरूपमभजत्तदविभिन्नचेतसम् ।
मारबलमिव भयंकरतां हरिबोधिसत्त्वमभि राजमण्डलम् ॥ ५८ ॥

इतीति ॥ इतीत्थं तदा तस्मिन्काले विकृतरूपं रोषभीषणाकारं तद्राजमण्डलं

---

१. 'विवृतोरु……निधित्सता' इति पा०। २. '—मपि' इति पा०।

मारबलमिव मदनसैन्यमिव । 'मदनो मन्मथो मारः' इत्यमरः । अविभिन्नचेतसम-विकृतचित्तं बोधिसत्त्वो बुद्धः । 'बुद्धस्तु श्रीघनः शास्ता बोधिसत्त्वो विनायकः' इति वैजयन्ती । स हरिरिवेत्युपमितसमासः । तं हरिबोधिसत्त्वमभि । तत्समक्षमित्यर्थः । 'अभिरभागे' (१।४।९१) इत्यभेः कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । भयं करोतीति भयंकरः । 'मेघर्तिभयेषु कृञः' (३।२।४३) इति खच्प्रत्यये मुमागमः । तस्य भावस्तत्तामभजत् । उपमालङ्कारः । तेन भगवतो बुद्धस्य समाधिभङ्गाय प्रवृत्तं मारबलं यथा तेन भग्नं तथा राजमण्डलमपि हरिणा भक्ष्यत इति वस्तु व्यज्यते ॥ ५८ ॥

इस प्रकार (१५।४८–५७) विकारयुक्त वह राज–समूह, विकारहीन अर्थात् शान्तचित्तवाले कृष्णरूपी बुद्धदेवके प्रति कामदेवकी सेनाके समान भयङ्कर बन गया ।

विमर्श—जिस प्रकार महात्मा 'बुद्धदेव' की समाधिको भङ्ग करनेके लिए प्रयत्नशील कामदेवकी सेना भयङ्कर हो गयी थी और उसे बुद्धदेवने असफल (नष्ट) कर दिया, उसी प्रकार शिशुपालोक्त निन्दावचन सुननेपर भी विकाररहित श्रीकृष्ण भगवान्‌के प्रति वह शिशुपालपक्षीय विकारयुक्त राज–समूह भयङ्कर हो गया, और श्रीकृष्ण भगवान् भी बुद्धदेव के समान ही इस राजसमूहको नष्ट कर डालेंगे यह सूचित किया गया है ॥ ५८ ॥

रभसादुदस्थुरथ युद्धमनुचितभियोऽभिलाषुकाः ।
सान्द्रमुकुटकिरणोच्छलितस्फटिकांशवः सदसि मेदिनीभृतः ॥ ५९ ॥

रभसादिति ॥ अथानन्तरमनुचितभियोऽनभ्यस्तसाध्वसाः । 'अभ्यस्तेऽप्युचितम्' इति यादवः । अत एव युद्धमभिलाषुका युद्धार्थिनः । 'लषपत–' (३।२।१५४) इत्यादिना उकञ्प्रत्यये 'न लोका'–(२।३।६९) इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । सदसि मेदिनीभृतः सदसि स्थिताश्चैद्यपक्षीया राजानः । सान्द्रैर्मुकुटकिरणैरुच्छलिताः स्फटिकांशवः सभाभित्तिस्फटिकमणिमयूखा यैस्ते तथोक्ताः सन्तो रभसाद्वेगात् । उदस्थुरुत्थिताः । 'उदोऽनूर्ध्वकर्मणि' (१।३।२४) इत्यस्य प्रत्युदाहरणमेतत् । अत्र युद्धाभिलाषुकस्य विशेषणगत्योत्थानहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ ५९ ॥

इसके बाद कभी भयभीत नहीं होनेवाले, युद्धाभिलाषुक सभामें बैठे हुए (शिशुपाल–पक्षीय) राजा लोग (क्रोधसे) वेगपूर्वक उठ गये, जिससे उनके मुकुट (में जड़े गये रत्नों) की सघन किरणोंसे (सभाकी दीवालोंके) स्फटिक मणियोंकी किरणें और भी अधिक चमकने लगीं ॥ ५९ ॥

स्फुरमाणनेत्रकुसुमोष्ठ[1]दलमभृत भूभृदङ्घ्रिपैः ।
धूतपृथुभुजलतं चलितैर्द्रुतयातपात[2]वनविभ्रमं सदः ॥ ६० ॥

स्फुरमाणेति ॥ स्फुरमाणानि नेत्राण्येव कुसुमान्योष्ठा एव दलानि च यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा धूताः कम्पिताः पृथवो भुजा एव लताः शाखा यस्मिन्कर्मणि

१. '—मौष्ठ—' इति पा० । २. '—वानवन—' इति पा० ।

तद्यथा तथा। चलितैः भूभृतो राजानस्त एव अङ्घ्रिपाः पादपास्तैः सदः सभामण्डलं द्रुतः शीघ्रो वातपातो वायुप्रचारो यस्य तस्य वनस्य विभ्रमं शोभाम्। 'विभ्रमः संशये भ्रान्तौ शोभायां च' इति वैजयन्ती। अभृत बभार। भृञो लुङि तङ् 'उश्च' (१।२।१२) इति सिचः कित्वाद्गुणाभावः 'ह्रस्वादङ्गात्' (८।२।२७) इति सलोपः। अत्र वनविभ्रममिति सादृश्याक्षेपादसंभवद्वस्तुसंबन्धा निदर्शना नेत्रकुसुमेत्यादिरूपकोत्थापितेति संकरः॥ ६०॥

(क्रोधसे) स्फुरित होते हुए नेत्ररूपी पुष्पों तथा ओष्ठरूपी पल्लवोंसे और हिलती हुई मोटी-मोटी बाहुरूपी लताओंसे, चलते हुए उन राज-रूपी वृक्षोंके द्वारा वह सभा तीव्र वायुसे युक्त वनके समान शोभित हुई॥ ६०॥

हरिमप्यमंसत तृणाय कुरुपतिमजीगणन्न वा।
मानतुलितभुवनत्रितयाः सरितः सुतादबिभयुर्न भूभृतः॥ ६१॥

हरिमिति॥ मानतुलितभुवनत्रितया अहंकारावधीरितजगत्त्रयाः भूभृतश्चैद्यपक्षा राजानः। हरिमपि तृणायामंसत तृणसमममन्यन्त। तथा लघुं मेनिरे इत्यनादरोक्तिः। मन्यतेः कर्तरि लुङि च्लेः सिच्। अनुदात्तत्वादिट्प्रतिषेधः। 'मन्यकर्मणि-' (२।३।१७) इति चतुर्थी। कुरुपतिं च नाजीगणन्। न धर्मराजं गणयन्ति स्मेत्यर्थः। गणेर्णौ चङि 'ई च गणः' (७।४।९७) इत्यभ्यासस्येकारः। सरितः सुताद्भीष्मादपि नाबिभयुर्न भीताः। बिभेतेर्लुङि 'श्लौ' (६।१।१०) इति द्विर्भावे 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' (३।४।१०९) इति झेर्जुसादेशः। 'जुसि च' (७।३।८३) इति गुणः। अत्र राजसु हर्यवमानाद्यनेकक्रियायौगपद्यात्समुच्चय इति सर्वस्वकारः॥ ६१॥

अभिमानसे तीनों लोकोंको तिरस्कृत किए हुए उन राजालोगोंने श्रीकृष्ण भगवान्को भी तृणवत् (तुच्छ) माना, कौरवाधीश (युधिष्ठिर) को भी कुछ नहीं गिना और वे भीष्म पितामहसे भी नहीं डरे॥ ६१॥

गुरु निःश्वसन्नथ विलोलसदवथुवपुर्वचोविषम्।
कीर्णदशनकिरणाग्निकणः फणवानिवैषं विससर्ज चेदिपः॥ ६२॥

गुर्विति॥ अथैष चेदिपः फणवान्फणीव। गुर्वधिकं निःश्वसन्फूत्कुर्वन्। विलोलं सदवथु ससंतापम्। 'संतापो दवथुः' इत्यनेकार्थादिति सज्जनः। तद्वपुर्यस्य स विलोलसदवथुवपुः। 'ट्वितोऽथुच्' (३।३।८९)। कीर्णा विक्षिप्ता दशनकिरणा अग्निकणा इव यस्य स तथा सन् वचो विषमिव तद्वचोविषं विससर्ज। विषप्रायं वच उज्जगारेत्यर्थः। अत फणवानिवेति व्यस्तोपमालिङ्गात्सर्वत्रोपमितसमासाश्रयणम्॥ ६२॥

---

१. '—निवेति' इति पा०।

इन (राजा लोगोंके उठ जाने) के बाद लम्बा श्वास लेता (पक्षा०–फुफकारता) हुआ, चञ्चल तथा सन्ताप (क्रोधसे उष्णता) युक्त शरीरवाला और अग्निकण (चिनगारी) के समान दशन–किरणोंको फेंकता (फैलाता) हुआ शिशुपाल उक्तरूप साँपके समान विषतुल्य वचन बोला ॥ ६२ ॥

अथैतद्वचोविषमेव चतुर्भिराह—

किमहपो नृपाः सममभीभिरुपपतिसुतैर्न पञ्चभिः ।
वध्यमभिहत भुजिष्यममुं सह चानया स्थविरराजकन्यया ॥ ६३ ॥

किमित्यादि ॥ हे नृपाः, अमीभिः पञ्चभिरुपपतिसुतैः समं जारजैः सह । पाण्डवानां क्षेत्रजत्वादित्थं प्रलापः । अनया स्थविरराजकन्यया क्षत्रियाङ्गनया च सह । 'कन्या कुमारिकानार्योः' इति विश्वः । भीष्मस्योर्ध्वरेतस्कत्वेन निन्दा । वध्यं वधार्हम् । अराज्ञो राजार्हणग्रहणापराधादिति भावः । अराजत्वं व्यनक्ति—अमुं भुजिष्यं किंकरम् । कंसपशुपालनादिति भावः । 'भुजिष्यः किंकरो मतः' इति हलायुधः । किं नाभिहत किमिति न मारयत । किंत्वभिहतेत्यर्थः । हन्तेर्वधार्थे लोट् । 'लोटो लङ्वत्' (३।४।८५) इति थस्य तादेशः । 'अनुदात्तोपदेश–' (६।४।३७) इत्यादिनानुनासिकलोपः । अहो अतिवध्योऽपि न हन्यत इत्याश्चर्ये अत्रामर्षानुभावो वागारम्भः । 'क्रोधः कृपापराधेषु स्थिरोऽमर्ष इतीर्यते' इति ॥ ६३ ॥

हे राजालोग ! इन पाँच जारजपुत्रों (युधिष्ठिरादि पाँचों पाण्डवों) तथा वृद्ध राजकन्या (नपुंसक या ऊर्ध्वरेता होनेसे कन्यारूप भीष्म पितामह) के साथ (राजोचित पूजाको राजा न होकर भी ग्रहण करनेसे) वध करनेके योग्य इस (कंसके) दास (कृष्ण) को क्यों नहीं मारते हो ? (वधार्ह भी इन लोगोंको जो तुमलोग नहीं मारते हो) यह आश्चर्य है ॥६३॥

अथवाध्वमेव खलु यूयमगणितमरुद्गणौजसः ।
वस्तु कियदिदमयं न मृधे मम केवलस्य मुखमीक्षितुं क्षमः ॥ ६४ ॥

अथवेति ॥ अथवा अगणितमरुद्गणौजसोऽवधीरितसुरसङ्घसत्त्वाः यूयमाध्वमेव तूर्ष्णीं तिष्ठतैव खलु । आस्तेर्लोटि 'धि च' (८।२।२५) इति सकारलोपः । इदं कृष्णहननं कियद्वस्तु कियत्कार्यम् । अल्पमित्यर्थः । कुतः । अयं कृष्णो मृधे युद्धे । 'मृधमास्कन्दनं संख्यम्' इति युद्धपर्यायेष्वमरः । केवलस्यैकाकिनो ममैव मुखमीक्षितुं न क्षमः युष्माकं का वार्तेति भावः । एतेनास्य बलगर्वो व्यज्यते । 'आत्मोत्कर्षोऽन्यधिक्कारो यच्चावण्यविभूतिभिः' इति लक्षणात् ॥ ६४ ॥

अथवा (अपने पराक्रमके सामने) देव–समूहके भी पराक्रमको नहीं गिननेवाले आप लोग ठहरें (चुपचाप रहें–इसे मत मारें), यह (इस कृष्णका वधरूप कार्य) क्या वस्तु है ? अर्थात् अत्यन्त साधारण कार्य है, क्योंकि युद्धमें यह कृष्ण अकेले मेरा ही मुख

देखनेमें (मेरे सामने होकर खड़ा होनेमें) समर्थ नहीं है, (फिर महापराक्रमी आप लोगोंके विषयमें कहना ही क्या है ?) ॥ ६४ ॥

विदतुर्यमुत्तममशेषपरिषदि नदीजधर्मजौ ।
यातु निकषमधियुद्धमसौ वचनेन किं भवतु साध्वसाधु वा ॥ ६५ ॥

विदतुरिति ॥ किंच नदीजधर्मजौ भीष्मयुधिष्ठिरौ । अशेषपरिषदि समग्रसंसदि । 'परिषत्संसत्' इति विश्वः । यं कृष्णमुत्तमं विदतुः । विदितवन्तावित्यर्थः । 'विदो लटो वा' (३।४।८३) इति तसोऽतुसादेशः । असौ कृष्णः । अधियुद्धं युद्धे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । निकषं निकषणं यातु । परीचयतामित्यर्थः । ततः साधूत्कर्षोऽसाध्वनुत्कर्षो वा भवतु । व्यक्तमस्त्वित्यर्थः । वचनेन किम् । वृथा वाग्वीर्यैरलमित्यर्थः । अत्रापि गर्वामर्षौ व्यज्येते ॥ ६५ ॥

भीष्म तथा युधिष्ठिर सम्पूर्ण सभामें जिस (कृष्ण) को श्रेष्ठ जानते हैं, वह कृष्ण युद्धमें कसौटीपर चढ़े अर्थात् युद्धमें उसकी परीक्षा हो जाय, श्रेष्ठ हो या हीन हो, कहनेसे क्या प्रयोजन है ? (अभी युद्धमें ही इस कृष्णके श्रेष्ठ या हीन होनेका निर्णय हो जाता है, अतः इस विषयमें कुछ भी कहना व्यर्थ है) ॥ ६५ ॥

अचिरान्मया सह गतस्य समरमुरगारिलक्ष्मणः ।
तीक्ष्णविशिखमुखपीतमसृक्पततां गणैः पिबतु सार्धमुर्वरा ॥ ६६ ॥

अचिरादिति ॥ किंच मया सह समरं गतस्योरगारिलक्ष्मणो गरुडध्वजस्य संबन्धि तीक्ष्णैर्विशिखमुखैः पीतम् । मद्बाणोच्छिष्टमित्यर्थः । असृक् रक्तमुर्वरा भूमिः । 'उर्वरा सर्वसस्याढ्यभूमौ स्याद्भूमिमात्रके' इति विश्वः । पततां गणैः पक्षिसमूहैः । 'पतत्पत्त्ररथाण्डजाः' इत्यमरः । सार्धमचिरात्पिबतु । अद्यैवाहमेनं हनिष्यामीत्यर्थः । अत्राप्यमर्ष एवेति भावः ॥ ६६ ॥

मेरे साथ युद्धमें आये हुए गरुडध्वज (कृष्ण) के, (मेरे) तीक्ष्ण बाणाग्रोंसे पीये गये रक्तको शीघ्र ही पक्षियोंके साथ पृथ्वी पीये अर्थात् मैं शीघ्र ही इस कृष्णको युद्धमें तीक्ष्ण बाणोंसे मारता हूँ और पृथ्वीपर गिरे कृष्णके रक्तका पान पक्षी करते हैं ॥ ६६ ॥

अभिधाय रूक्षमिति मा स्म गम इति पृथासुतेरिताम् ।
वाचमनुनयपरां स ततः सहसावकर्ण्य निरियाय संसदः ॥ ६७ ॥

अभिधायेति ॥ स चैद्य इतीत्थं रूक्षं परुषमभिधाय ततः पृथासुतैः पार्थैरीरितामुक्तामनुनयपरां मा स्म गमो न गच्छेति वाचम् । 'स्मोत्तरे लङ् च' (३।३।१७६) इति चकाराद्भूमेराशिषि लुङि 'पुषादि–' (३।१।५५) इति च्लेरङादेशः 'न माङ्योगे'

१. 'भवति' इति पा० । २. 'साक—' इति पा० ।

(६।४।७४) इत्यङभावः। अवकर्ण्य अनादरेण श्रुत्वा सहसा संसदः सदसो निरियाय निर्ययौ। अमर्षादेवेति भावः॥ ६७॥

इस प्रकार (१५।६३-६६) कटुवचन कहकर तदनन्तर 'तुम मत जाओ' इस प्रकार कहे गये युधिष्ठिरके अनुनययुक्त वचनको अनादरके साथ सुनकर वह शिशुपाल सभासे एकाएक (वेगपूर्वक) चला गया॥ ६७॥

गृहमागताय कृपया च कथमपि निसर्गदक्षिणाः।
क्षान्तिमहितमनसो जननीस्वसुरात्मजाय चुकुपुर्न पाण्डवाः॥ ६८॥

गृहमिति॥ निसर्गदक्षिणाः स्वभावतो दाक्षिण्यसंपन्नाः। परच्छन्दानुवर्तिन इत्यर्थः। 'त्रिषु वाक्कुशलावामपरच्छन्दानुवर्तिषु। दक्षिणा' इति वैजयन्ती। किंच क्षान्त्या क्षमया महितमनसः पूजितचित्ताः क्षमावन्तः पाण्डवाः। किंच गृहमागताय। अभ्यागतायेत्यर्थः। किंच जननीस्वसुर्मातृष्वसुरात्मजाय शिशुपालाय कृपया च कथमपि। असह्यापराधेऽपीत्यर्थः। न चुकुपुः न चुक्रुधुः। सद्योवध्यस्यापि तस्याभ्यागतत्वान्मातृबन्धुत्वात्स्वयं क्षान्तत्वाद्दाक्षिण्यात्कृपया च कथमपि जिघांसां न चक्रुरित्यर्थः। 'क्रुधद्रुह-' (१।४।३७) इत्यादिना संप्रदानत्वाच्चतुर्थी। अत्राभ्यागतत्वादिविशेषणानां साभिप्रायत्वादकोपहेतुत्वाच्च परिकरः काव्यलिङ्गे सति सापेक्षत्वात्संकीर्यते॥ ६८॥

स्वभावसे ही दूसरेके अनुकूल बर्ताव करनेवाले तथा क्षमासे श्रेष्ठ चित्तवाले पाण्डव घरपर आये हुए मौसीके पुत्र (शिशुपाल) पर (उसके अक्षम्य अपराध करनेपर भी) कृपा करके क्रुद्ध नहीं हुए॥ ६८॥

चलितं ततोऽनभिहतेच्छमवनिपतियज्ञभूमितः।
तूर्णमथ ययुमिवानुययुर्दमघोषसूनुमवनीशसूनवः॥ ६९॥

चलितमिति॥ अथ चैद्यनिर्याणानन्तरं अवनीशसूनवस्तत्पक्षराजपुत्रास्ततस्तस्याः अवनिपतेर्युधिष्ठिरस्य यज्ञभूमितो यज्ञभूमेर्देवयजनात्। पञ्चम्यास्तसिल्। अनभिहतेच्छमप्रतिहतमनोरथं यथा तथा चलितं प्रस्थितं दमघोषसूनुं शिशुपालम्। याति परलोकमिति ययुः परलोकप्रापकोऽश्वमेधीयोऽश्वः। 'ययुरश्वोऽश्वमेधीयः' इत्यमरः। 'यो द्वे च' (उ० २१) इति यातेरौणादिक उक् द्वित्वं च। तं ययुमिव तूर्णमनुययुः। ययुरपि राजकै राजपुत्रै राजपुत्रैरन्वीयते। 'चतुःशता रक्षन्ति' इति श्रुतेः। अश्वमेधीयाश्वोपमया चैद्यस्य वध्यत्वं व्यज्यत इत्यलंकारेण वस्तुध्वनिः॥ ६९॥

इस (शिशुपालके सभास्थानसे चले जाने) के बाद (उसके पक्षवाले) राजकुमार लोग राजा (युधिष्ठिर) के यज्ञस्थलसे स्वतन्त्र मनोरथवाले शिशुपालके पीछे उस प्रकार

१. '—सहित—' इति पा०। २. '—हितेच्छ—' इति पा०।

चल दिये, जिस प्रकार यज्ञस्थलसे स्वतन्त्र (स्वेच्छानुसार) जानेवाले यज्ञीय घोड़ेके पीछे राजकुमार लोग जाते हैं ।

विमर्श—शिशुपालको यज्ञपशुकी उपमा देकर कविने उसे शीघ्र मारा जाना सूचित किया है ॥ ६९ ॥

विशिखान्तराण्यतिपपात सपदि जवनैः स वाजिभिः ।
द्रष्टुमलघुरभसापतिता वनिताश्चकार न सकामचेतसः ॥ ७० ॥

विशिखान्तराणीति ॥ स चैद्यः सपदि जवनैर्वेगशालिभिर्वाजिभिरश्वैर्विशिखान्तराणि रथ्यान्तराणि । 'रथ्या प्रतोली विशिखा' इत्यमरः । अतिपपात अतिचक्राम । अत एव द्रष्टुमलघुरभसेनातिवेगेनापतिता आधावन्तीर्वनिताः सकामानि साभिलाषाणि चेतांसि चित्तवृत्तयो यासां ताः सकामचेतसः । सफलमनोरथा इत्यर्थः । न चकार । अतिशीघ्रलङ्घनाच्च दर्शनावकाशस्तासामासीदित्यर्थः । अत एव वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ७० ॥

वह शिशुपाल तेज घोड़ेसे शीघ्र ही गलियोंको पारकर (चला) गया, अतएव उसे देखनेके लिए वेगपूर्वक आयी हुई रमणियाँ सफल मनोरथ नहीं हुईं अर्थात् उसे नहीं देख सकीं ॥ ७० ॥

क्षणमीक्षितः पथि जनेन किमिदमिति जल्पता मिथः ।
प्राप्य शिबिरमविशङ्किमनाः समनीनहद्द्रुतमनीकिनीमसौ ॥ ७१ ॥

क्षणमिति ॥ असौ चैद्यः पथि किमिदमिति मिथः जल्पता कोऽयमनर्थः संवृत्त इति परस्परमालपता जनेन क्षणमीक्षितः सन् शिबिरं स्वकटकं प्राप्याविशङ्किमना निःशङ्कचित्तः द्रुत शीघ्रमनीकिनीं सेनां समनीनहत् सन्नाहयति स्म । नह्यतेः सम्पूर्वकाल्लुङि 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) अभ्यासदीर्घश्च । शिबिरं शकटमिति केचित् । एतेनास्य रौद्रस्थायिनः कोपस्य प्ररूढत्वं वेदितव्यम् ॥ ७१ ॥

मार्गमें 'यह क्या बात है ! (जो यह शिशुपाल यज्ञस्थलसे रुष्ट-सा चला जा रहा है)' इस प्रकार कहते हुए लोगोंसे क्षणमात्र देखा गया शिशुपाल अपने शिविरमें जाकर निडर हो शीघ्र ही सेनाको सुसज्जित करने लगा ॥ ७१ ॥

त्वरमाणशाङ्खिकसवेगवदनपवनाभिपूरितः ।
शैलकटकतटभिन्नरवः प्रणनाद सांनहनिकोऽस्य वारिजः ॥ ७२ ॥

त्वरमाणेति ॥ शङ्खः शिल्पमस्येति शाङ्खिकः । 'तदस्य शिल्पम्' इति ठक् । त्वरमाणस्य जवमानस्य शाङ्खिकस्य यः सवेगो वदनपवनो मुखमारुतः तेनाभिपूरितः प्रध्मातः शैलानां कटकतटेषु नितम्बप्रदेशेषु भिन्नरवो मूर्च्छितप्रतिध्वनिरस्य चैद्यस्य सम्बन्धि सन्नहनं प्रयोजनमस्येति सांनहनिकः । योधानां रणसन्नाहप्रवर्तक इत्यर्थः । 'तदस्य प्रयोजनम्' इति ठक् । वारिजः शङ्खः । 'वारिजः शङ्खपद्मयोः' इति विश्वः ।

प्रणनाद दध्वान। सन्नहनशङ्खं दध्मावित्यर्थः। 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८।४।१४) इति णत्वम्। एतेनास्य महानुत्साहो वीररसस्थायी व्यज्यते ॥ ७२ ॥

(सैनिकोंको शीघ्र सुसज्जित होनेके लिए) शीघ्रता करनेवाले शंखवादक (शंख बजाने वाले) के वेगसहित मुखवायुसे भरा हुआ, तथा पर्वतोंके मध्यभागमें प्रतिध्वनित होनेवाला सेनाको सुसज्जित होनेकी सूचना देनेवाला इस (शिशुपाल) का शङ्ख बजने लगा ॥ ७२ ॥

जगदन्तकालसमवेतविषदविषमेरितारवम्।
धीरनिजरवविलीनगुरुप्रतिशब्दमस्य रणतूर्यमावधि ॥ ७३ ॥

जगदिति ॥ जगदन्तकाले कल्पान्ते समवेता मिलिता ये विषदास्तोयदाः पुष्करावर्तकाद्यो मेघाः। 'विषं तु गरले तोये' इति विश्वः। तैर्विषमं दारुणं यथा तथेरित उत्पादितो य आरवः स इवारवो यस्य तत्। धीरे गम्भीरे निजरवे विलीना अन्तर्गता गुरवः प्रतिशब्दाः शब्दान्तराणि यस्य तत्। अस्य चैद्यस्य रणतूर्यं रणदुन्दुभिरावधि आहतम्। आहन्तेः कर्मणि लुङ्। 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' (२।४।४४) इति हनो वधादेशः। अत्राप्युत्साहो व्यज्यते। उपमालङ्कारः ॥ ७३ ॥

संसारके अन्त (प्रलय) कालमें सम्मिलित हुए (पुष्करावर्त आदि) मेघोंके समान भयङ्कर शब्दको करनेवाली तथा अपने गम्भीर ध्वनिसे अन्य ध्वनियोंको तिरोहित करती (दबाती) हुई इस (शिशुपाल) की रणदुन्दुभि बजने लगी ॥ ७३ ॥

सहसा ससम्भ्रमविलोलसकलजनतासमाकुलम्।
स्थानमगमदथ तत्परितश्चलितोडुमण्डलनभःस्थलोपमाम् ॥ ७४ ॥

सहसेति ॥ अथ रणदुन्दुभिताडनानन्तरं सहसा झटिति ससम्भ्रमं सव्यग्रं यथा तथा विलोलया चलन्त्या सकलया समग्रया जनतया जनसमूहेन समाकुलं सङ्कीर्णं तत्स्थानं परितश्चलितं प्रस्थितमुडुमण्डलं ज्योतिश्चक्रं यस्मिंस्तस्य नभःस्थलस्योपमां सादृश्यमगमत्। अत्रोडुमण्डलस्य चलनासम्बन्धेऽपि सम्भावनया तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः। उपमा तु तदुज्जीविता प्रतीतिमात्रसारा तदङ्गम्। तत्रैव चमत्कारस्फुरणात्। 'पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात्' इत्यादिवत् ॥ ७४ ॥

इस (रणदुन्दुभिके बजने) के बाद सहसा घबड़ाये हुए सम्पूर्ण जन-समूहसे सङ्कीर्ण (व्याप्त) वह स्थान सब तरफसे चलते हुए नक्षत्र समूहवाले आकाशस्थलके समान हो गया ॥

दधतो भयानकतरत्वमुपगतवतः समानताम्।
धूमपटलपिहितस्य गिरेः समवर्मयन्सपदि मेदिनीभृतः ॥ ७५ ॥

दधत इति ॥ मेदिनीभृतो राजानः धूमपटलेन पिहितस्य छादितस्य अत एव भयानकतरत्वमतिभयङ्करत्वमुपगतवतो गिरेः समानतां सादृश्यं दधतो दधानाः

१. 'नभस्तलो—' इति पा०।

सपदि समवर्मयन् संवर्मयन्ति स्म। सम्यग्वर्मणानह्यन्नित्यर्थः। 'सत्यापपाश—' (३।१।२५) इत्यादिना णिच्। उपमालङ्कारः॥ ७५॥

धूम-समूहसे आच्छादित (अत एव) भयङ्कर पर्वतकी समानताको धारण करते हुए राजालोग शीघ्र (लोहेके श्यामल) कवचोंको पहन लिए॥ ७५॥

परिमोहिणा परिजनेन कथमपि चिरादुपाहृतम्।
वर्म करतलयुगेन महत्तनुचूर्णपेषमपिषद्रुषा परः॥ ७६॥

परिमोहिणेति॥ परोऽन्यो नृपः। परिमुह्यतीति परिमोही। 'संपृच—' (३।२।१४२) इत्यादिना घिनुण्प्रत्ययः। तेन। खेदयुक्तेनेत्यर्थः। परिजनेन सेवकजनेन कथमपि विलम्बेन कष्टसृष्ट्या चिरादुपाहृतमानीत महद्वर्म सन्नाहं करतलयुगेन पाणितलद्वयेन तनुचूर्णपेषं पिष्ट्वा। 'शुष्कचूर्णरूक्षेषु पिषः' (३।४।३५) इति णमुल्प्रत्ययः। अपिषच्चूर्णितवान्। तच्च जिगीषोर्दुर्निमित्तमिति भावः। 'कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः' (३।४।४६) इत्यनुप्रयोगः। पिषेर्लुङि 'पुषादि—' (३।१।५५) इति च्लेरङादेशः। अत्र वर्मणः पोषणासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः। तया चामानुषं वीर्यमस्य व्यज्यते॥ ७६॥

दूसरे किसी राजाने अपने (अपने निकट सम्बन्धी उस राजाके युद्धमें मारे जानेके भयसे) मोहयुक्त परिजन (आत्मीय व्यक्ति) के द्वारा किसी प्रकार (अतिशय कठिनाईके साथ—अधिक विलम्ब करके) लाये गये बड़े कवचको क्रोधके कारण हाथोंसे पीस (मसल-कर चूर्णितकर) दिया। (इससे इसका अंकुश न होना तथा मानवातिशायी पराक्रम होना ध्वनित होता है)॥ ७६॥

रणसम्मदोदयविकासिबलकलकलाकुलीकृते।
शारिम[2] शकदधिरोपयितुं द्विरदे मदच्युति जनः कथञ्चन॥ ७७॥

रणेति॥ रणेन रणारम्भेण यः सम्मदो हर्षः। 'प्रमदसम्मदौ हर्षे' (३।३।६८) इति निपातः। तस्योदयेन जन्मना विकासिभिर्विस्तारिभिर्बलकलकलैः सैन्यकोलाहलैराकुलीकृते संक्षोभिते। अत एव मदं च्योततीति मदच्युति मदस्राविणि। क्विप्। द्विरदे गजे जनः परिजनः शारिं पर्याणम्। 'ना पर्याणे विहङ्गे स्त्री शारिद्यूतगुडे न पुम्' इति वैजयन्ती। 'शारिर्नाऽक्षोपकरणे स्त्रियां शकुनिकान्तरे। युद्धार्थगजपर्याणे व्यवहारान्तरे क्वचित्॥' इति [3]विश्वप्रकाशश्च। अधिरोपयितुमारोपयितुं कथञ्चन कृच्छ्रादशकच्छशाक। शकेर्लुङि 'पुषादि—' (३।१।५५) इति च्लेरङादेशः। अत्र विशेषणगत्या सेनाकलकलस्य मदहेतुत्वान्मदस्य शारिदुरारोपत्वहेतुत्वाच्च काव्यलिङ्गद्वयं तत्सापेक्षत्वात्सङ्कीर्यते॥ ७७॥

---

१. 'वृद्द—' इति पा०। २. '—मतर' इति पा०। ३. तत्रैवं पाठः—'शारिस्त्वक्षोपकरणे तथा शकुनिकान्तरे। युद्धार्थगजपर्याणे व्यवहारेऽपि च क्वचित्॥' इति।

युद्ध (के आरम्भ होने) से हर्षके उत्पन्न होनेसे बढ़े हुए सेनाके कलरव (कल-कल ध्वनि) से क्षुब्ध (अत एव) मदको चुवाते हुए हाथीपर (महावत आदि) लोगोंने किसी प्रकार (बड़ी कठिनाईसे) गद्देलेको चढ़ाया ॥ ७७ ॥

परितश्च धौतमुखरुक्मविलसदहिमांशुमण्डलाः ।
तेनुरतनुवपुषः पृथिवीं स्फुटलक्ष्यतेजस इवात्मजाः श्रियः ॥ ७८ ॥

परित इति ॥ किं चेति चार्थः । धौतेषु शोधितेषु मुखरुक्मेषु मुखस्य रुक्माभरणेषु विलसत्प्रत्येकं प्रतिफलदहिमांशुमण्डलमर्कबिम्बं येषां ते तथोक्ताः । अतएव स्फुटलक्ष्यमन्तर्गत्वा बहिः स्फुरितं तेजोऽन्तःसारो येषां ते इव स्थिता इत्युत्प्रेक्षा । तेजो व्याख्यातं पञ्चमे तेजोनिरोधे (५।१०) त्यत्र । अतनुवपुषो महाकायाः श्रियः आत्मजा अश्वाः । 'लक्ष्मीपुत्रोऽश्व आढ्ये च' इति वैजयन्ती । परितः पृथिवीं तेनुर्व्याप्तवन्तः ॥ ७८ ॥

मुखके, शुद्ध सुवर्ण (के भूषणों) में (प्रतिबिम्बित होकर) विलसित होते हुए सूर्य-बिम्बवाले (अत एव) मानो (भीतरसे बाहर निकलनेसे) स्पष्ट दिखलायी पड़ते हुए तेज (वेग) वाले विशालकाय (अत्यन्त ऊँचे-ऊँचे) घोड़े पृथ्वीपर सब ओर से व्याप्त हो गये ॥७८॥

प्रधिमण्डलोद्धतपरागघनवलयमध्यवर्तिनः ।
पेतुरशनय इवाशनकैर्गुरुनिःस्वनव्यथितजन्तवो रथाः ॥ ७९ ॥

प्रधीति ॥ 'चक्रधारा प्रधिर्नेमिः' इति हलायुधः । प्रधिमण्डलैर्नेमिवलयैरुद्धता उत्थापिताः परागाः पांसव एव घना मेघास्तेषां वलयानि मण्डलानि तेषां मध्यवर्तिनः गुरुभिर्निःस्वनैः स्वघोषैर्व्यथिता भीषिता जन्तवः प्राणिनो यैस्ते रथा अशनयः वज्रा इवाशनकैः पेतुस्तीव्रमधावन् । अत्र रथानामशनित्वेनोत्प्रेक्षा परागाणां घनत्वरूपणसापेक्षेति संकरः ॥ ७९ ॥

परिधि (नेमि—पहियेका बाहरी घेरा) के समूहसे उड़ी हुई धूलरूपी मेघोंके समूहके बीचमें स्थित, तथा भयङ्कर ध्वनिसे प्राणियोंको भयभीत करते हुए वज्रके समान रथ वेगसे दौड़ने (पक्षा०—गिरने) लगे ॥ ७९ ॥

दधतः शशाङ्कितशशाङ्करुचि लसदुरश्छदं वपुः ।
चक्रुरथ सह पुरन्ध्रिजनैरयथार्थसिद्धि सरकं महीभृतः ॥ ८० ॥

दधत इति । लसन्नुरश्छदः कवचो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । 'उरश्छदः कङ्कटकोऽजगरः कवचोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः । अत एव शशाङ्कितो मृगलाञ्छितो यः शशाङ्कः इन्दुस्तस्य रुचिरिव रुचिर्यस्येत्युपमा । तद्वपुर्दधतो दधानाः महीभृतो राजानः पुरन्ध्रिजनैरङ्गनाजनैः सह । अयथार्था असत्या सिद्धिर्मदकार्योत्पत्तिर्यस्मिंस्तद्यथार्थसिद्धिरहितम् । अनिर्वृतचित्तत्वादमादकमित्यर्थः । सरकं मधुपानं चक्रुः ।

उत्साहवर्धनार्थमिति भावः। 'मणौ शीधौ शीधुपाने सरकं मधुभाजनम्' इति वैजयन्ती ॥ ८० ॥

शोभते हुए कवचयुक्त (अत एव) मृगलाञ्छित चन्द्रमाके समान शोभावाले शरीरको धारण करते हुए राजा लोगोंने (युद्धोत्साह बढ़ानेके लिए) रमणियोंके साथमें, अवास्तविक सिद्धिवाले अर्थात् चित्तके सुखी नहीं रहनेके कारण नशा उत्पन्न नहीं करनेवाले मद्यपानको किया ॥ ८० ॥

अथासर्गसमाप्तेः प्रायाणिकामन्त्रणाय प्रियासंगतानां भटानामागामिशुचः सूचिकास्तात्कालिकचेष्टा वर्णयति—

दयिताय सासवमुदस्तमपतदवसादिनः करात्।
कांस्यमुपहितसरोजपतद्भ्रमरौघभारगुरु राजयोषितः ॥ ८१ ॥

दयितायेत्यादि ॥ दयिताय प्रेयसे उदस्तं पानार्थमुत्क्षिप्तं सासवं समद्यं अत एवोपहिते वासनार्थं निहिते सरोजे 'पतन् भ्रमरौघ एव भारः तेन गुरु दुर्भरम्। 'गुरुस्तु वाक्पतौ श्रेष्ठे तुङ्गे पितरि दुर्भरे' इति शब्दार्णवे। कांस्यं पानभाजनम्। 'कंसोऽस्त्री पानभाजनम्' इत्यमरः। 'वृतृवदिहनिकमिकषिभ्यः सः' (उ० ३४२) कमेर्धातोरौणादिकः सप्रत्ययः। तस्मै हितं कंसीयं लोहविशेषः। 'प्राक्क्रीताच्छः' (५।१।१) इति छप्रत्ययः। तस्य विकारः कांस्यं पानपात्रम्। 'कंसीयपरशव्ययो-र्यञञौ लुक्च' (४।३।१६८) इति यञ्प्रत्यये छस्य लुक्। राजयोषितः कस्याश्चिद्राज-वध्वाः संबन्धिनः अवसादिनः शैथिल्यभाजः करादपतत्। तच्च दुर्निमित्तमिति भावः। एतेनास्या भाविविरहशोकादेवाप्रसन्नदृष्टेः काचिच्चिन्ता व्यज्यते। अत्राव-सादभारगौरवयोर्विशेषणगत्या पात्रपातहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् ॥ ८१ ॥

(अब यहांसे आगे इस सर्गकी समाप्ति तक युद्धमें जानेकी अनुमति पानेके लिए प्रियाओंसे मिले हुए शूरवीरोंकी भावी शोकसूचक चेष्टाओंका वर्णन करते हैं) प्रियतम (के पानार्थ देने) के लिए ऊपर उठाया गया तथा (मद्यको सुवासित करनेके लिए) रखे गये कमल-पुष्पपर घूमते हुए भ्रमर-समूहके भारसे भारी काँसेका प्याला किसी राजपत्नीके शिथिल हाथसे गिर पड़ा। (इससे इस राजपत्नीका अशकुन होना सूचित होता है) ॥८१॥

भृशमङ्गसादमरुणत्वमविशददृशः कपोलयोः।
वाक्यमसकलमपास्य मदं विदधुस्तदीयगुणमात्मना शुचः ॥ ८२ ॥

भृशमिति ॥ शुचो भाविविरहभावनाप्रसूताः शोकाः अविशददृशः शोकादेवाप्र-सन्नदृष्टेः। कस्याश्चिदिति शेषः। मदमपास्य तदुत्पत्तिं प्रतिरुध्य तदीयं गुणं तद्धर्मम्। मदकार्यभूतमित्यर्थः। अङ्गसादमङ्गशैथिल्यं कपोलयोररुणत्वमसकलमसमाप्तं वाक्यं चात्मना स्वयम्। प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानात्तृतीया। भृशं विदधुः। करुणेन श्रृङ्गार-

दितरस्कृत इत्यर्थः। अत्र मदाभावेऽपि तत्कार्योदयात्तस्यावलोकननिमित्तकत्वोक्त्या उक्तनिमित्ताख्यो विभावनाभेदः॥ ८२॥

(भविष्यमें पतिके वियोग होनेकी आशंकासे उत्पन्न) शोकोंने (मद्य पीनेसे उत्पन्न) नशेको छोड़कर अङ्गोंकी अत्यधिक शिथिलता, कपोलोंमें लालिमा, बातका पूरा नहीं कहा जाना—मदिराके इन गुणोंको स्वयं धारण कर लिया अर्थात् पतिके भावी विरहकी आशङ्का से मद्यपानका नशा तो नहीं हुआ, किन्तु शोकातिशयके कारण किसी राजपत्नीका शरीर अत्यन्त शिथिल पड़ गया, कपोल-मण्डल लाल हो गया और वह स्पष्ट बोल भी नहीं सकी, इस प्रकार नशेके अतिरिक्त मद्यपानके सब गुणोंको शोकातिशयने ही प्राप्त कर लिया॥ ८२॥

सुदृशः समीकगमनाय युवभिरथ संबभाषिरे।
शोकपिहितगलरुद्धगिरस्तरसागताश्रुजलकेवलोत्तराः॥ ८३॥

सुदृशः इति॥ अथास्मिन्नवसरे युवभिः समीकगमनाय युद्धगमनाय। 'समीकं सांपरायिकम्' इत्यमरः। सुदृशः शोकपिहिते शोकावृते गले कण्ठे रुद्धगिरः प्रतिबद्धोत्तरवाचस्तथापि तरसा वेगेनागतमश्रुजलमेव केवलं निर्णीतमुत्तरं यासां ताः। 'निर्णीतं केवलं चोक्तम्' इति विश्वः। संबभाषिरे संभाषिताः। योद्धुं गच्छामेत्यामन्त्रिताः। 'हा कष्टमिदमेवान्तिमदर्शनम्' इति वाक्यभेदेऽप्यश्रुपातेनैवानवरं दत्तोत्तराश्चासन्नित्यर्थः। अत्राप्यश्रुपातो दुर्निमित्तमिति भावः। एतेन गन्तव्यं चेद्गम्यतां, वयं च युष्मत्सालोक्यकामा इत्यनिष्टविध्याभासरूपाक्षेपालंकारो व्यज्यते। अनिष्टविध्याभासश्चेति सूत्रेणेष्टनिषेधाभासवदस्यापि लक्षणात्॥ ८३॥

युवकोंने, शोकयुक्त कण्ठमें अवरुद्ध वचनोंवाली और वेगपूर्वक निकले हुए केवल अश्रुजलसे ही उत्तर देती हुई सुनयनियोंसे युद्धमें जानेके लिये पूछा। (पतिके पूछनेपर शोकव्याकुल रमणी कुछ कह नहीं सकी, किन्तु वेगपूर्वक बहते हुए आँसूसे ही 'यदि जाना हो तो जाइये, मेरे लिए तो आपका यह अन्तिम दर्शन है' ऐसा बिना कहे ही उत्तर दे दिया। यात्राके समय रमणीके रोनेसे यहाँ भी अशकुन होना सूचित होता है)॥ ८३॥

विपुलाचलस्थलघनेन जिगमिषुभिरङ्गनाः प्रियैः।
पीनकुचतटनिपीडदलद्वरवारबाणमुरसाऽऽलिलिङ्गिरे॥ ८४॥

विपुलेति॥ जिगमिषुभिर्युद्धाय गन्तुमिच्छुभिः। प्रियैः कर्तृभिः अङ्गनाः विपुलं यदचलस्य स्थलं तद्वद्घनेन दृढेनोरसा निजवक्षसा करणेन पीने कुचतटे निपीडो नितरां पीडनं तेन दलन्तो विदीर्यमाणा वराः श्रेष्ठा वारबाणाः कञ्चुका यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा। 'कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री' इत्यमरः। आलिलिङ्गिरे आलिङ्गिताः। अत्र वारबाणानां दलनासंबन्धेऽपि तत्संबन्धोक्तेरतिशयोक्तिः॥ ८४॥

(युद्धमें) जाना चाहते हुए प्रियोंने विशाल पर्वतस्थलके समान कठोर वक्षःस्थलसे मोटे-मोटे स्तनतटमें अत्यधिक दबानेसे कवचको छिन्न-भिन्न करते हुए आलिङ्गन किया। (यहाँ भी कवचका रमणीस्तनतटके निपीडनसे छिन्न होना कहनेसे अशकुन होना सूचित होता है) ॥ ८४ ॥

न मुमोच लोचनजलानि दयितजयमङ्गलैषिणी ।
यातमवनिमवसन्नभुजान्न गलद्विवेद वलयं विलासिनी ॥ ८५ ॥

नेति ॥ दयितस्य जयमङ्गलम् । तदर्थंमङ्गलमित्यर्थः । अश्वघासादिवत्तदर्थे षष्ठी-समासः । तदिच्छतीति तदेषिणी विलासिनी काचिदङ्गना लोचनजलान्यश्रूणि न मुमोच । अश्रुपातस्यामङ्गलत्वादिति भावः । अमङ्गलं तदन्यतः प्रवृत्तमेवेत्याह—यातमिति । अवसन्नभुजाच्छोकशिथिलात्करादूलद्भ्रश्यदेवावनिं भुवं यातं प्राप्तं वलयं कङ्कणं न विवेद । अवश्यभाविनां को निवारक इति भावः । एषा च दैन्यचि-न्तेति । अत्रावसादस्य विशेषणगत्या वलयपातहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् ॥ ८५ ॥

प्रियतमके विजयरूप मङ्गलको चाहनेवाली किसी रमणीने आँसू नहीं गिराया, किन्तु (शोकसे) शिथिल हुए बाहुसे निकलकर पृथ्वीपर गिरे हुए कङ्कणको भी उसने नहीं जाना। अर्थात् प्रियतमके विजयमङ्गलार्थ आँसू रोकनेपर भी हाथसे कङ्कण गिरनेसे उसका अशकुन हो ही गया, (अवश्यम्भावी कार्यको कौन रोक सकता है ?) ॥ ८५ ॥

प्रविवत्सतः प्रियतमस्य निगडमिव चक्षुरक्षिपत् ।
नीलनलिनदलदामरुचि प्रतिपादयुग्ममचिरोढसुन्दरी ॥ ८६ ॥

प्रेति ॥ अचिरोढसुन्दरी काचिन्नवोढा स्त्री प्रविवत्सतः प्रवासं कर्तुमिच्छतः। वसेः सन्नन्तात्सटः शत्रादेशः । प्रियतमस्य प्रतिपादयुग्मं पादयुग्मे । विभक्त्यर्थेऽव्य-यीभावः । नीलनलिनदलदामरुचि नीलोत्पलमालासच्छायमित्युपमा । निगडमिव शृङ्खलामिव चक्षुर्नेत्रमक्षिपत् । प्रेरयदित्यर्थः । चक्षुषो दूरे पदमपि गन्तुं न शशाके-त्यर्थः । तच्च दुर्निमित्तमिति भावः । प्रयाणे स्त्र्यवलोकननिषेधात् । उक्तोपमासापेक्षा चक्षुषो निगडत्वोत्प्रेक्षेति संकरः ॥ ८६ ॥

किसी नवविवाहिता सुन्दरीने (युद्धके लिए) प्रवास करना चाहते हुए प्रियतमके दोनों चरणोंमें नीलकमलकी मालाकी शोभावाले नेत्रको मानो बेड़ी-सा डाल दिया।

विमर्श—युद्धार्थ जाता हुआ उसका प्रियतम उस रमणीके नेत्रसे एक पग भी दूर नहीं जा सका अर्थात् वह रमणी प्रियतमके दोनों चरणोंको ही एकटक देखती रही। यात्रामें इस प्रकार स्त्रीके देखनेका निषेध होनेसे यहाँ भी अशकुन होना सूचित होता है ॥ ८६ ॥

व्रजतः क्व तात वजसीति परिचयगतार्थमस्फुटम् ।
धैर्यमभिनदुदितं शिशुना जननीनिर्भर्त्सनविवृद्धमन्युना ॥ ८७ ॥

व्रजत इति ॥ जनन्याः अपशकुनभीतायाः मातुर्निर्भर्त्सनाद्विवृद्धमन्युना प्रवृद्धकोपेन शिशुना बालकेन हे तात जनक ! 'तातस्तु जनकः पिता' इत्यमरः । क्व वजसि कुत्र व्रजसि इत्यस्फुटमुदितमुक्तम् । वदेः कर्मणि क्तः । 'वचिस्वपि–' (६।१।१५) इत्यादिना सम्प्रसारणम् । व्रजसीति सरेफपदमपाटवाद्रेफमुच्चारितमित्यर्थः । तथापि परिचयादभ्यासपाटवाद्गतार्थम् । पितृभ्यां केवलावगताभिधेयं वचनमिति शेषः । व्रजतः प्रस्थातुः धैर्यं प्रयाणोत्साहमभिनत् । गमनकारिणा दुर्निमित्तत्वादिति भावः । उक्तं च योगयात्रायाम्–'यानात्पुरा निपतनं वृहतीव काचिद् गर्भेण भारबृहती स्वपुरःस्थिता स्त्री । आगच्छ तिष्ठ कुत इत्यलमर्थवाचिशब्दाश्च राजगमने प्रतिषेधकाः स्युः ॥' इति । अत्र दम्पत्योर्दैन्यविषादचिन्ताशङ्कादयः सञ्चारिणोऽनुसन्धेयाः ॥ ८७ ॥

माताके फटकारनेसे बढ़े हुए कोपवाले बालकसे 'हे पिताजी ! कहाँ जा रहे हैं ?' इस प्रकार तोतली वाणीमें कहनेपर भी अभ्यासके कारण समझे गये वचनने (युद्धमें) जाते हुए (शूरवीर) के धैर्यको भग्न कर दिया। अर्थात् यद्यपि बालक स्पष्ट अक्षरयुक्त वचन नहीं कह सका था, तथापि उस बालककी तोतली बोलीको समझनेका अभ्यास होनेके कारण जाते हुए पिताने समझ लिया और उसे समझते ही अमङ्गलकी आशङ्कासे उसका धैर्य टूट गया ॥ ८७ ॥

शठ नाकलोकललनाभिरविरतरतं रिरंससे ।
तेन वहसि मुदमित्यवदद्रणरागिणं रमणमीर्ष्ययाऽपरा ॥ ८८ ॥

शठेति ॥ अपरा स्त्री रणरागिणं युद्धोत्साहिनं रमणं हे शठ वञ्चक, नाकलोकललनाभिः । अप्सरोभिः सहेत्यर्थः । 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (२।३।१९) इति सहार्थे तृतीया वृद्धो यूनेतिवत् । अविरतरतमविच्छिन्नसुरतं यथा भवति तथा रिरंससे रन्तुमिच्छसि । रमेः सन्नन्ताल्लट् । 'पूर्ववत्सनः' (१।३।६२) इत्यात्मनेपदम् । तेनाप्सरोरिरंसाकरणेन मुदं वहसीति ईर्ष्यया सापत्न्याक्षमया अवदत् । अर्थाद्विरहासहनया प्रस्थानप्रतिषेधपरया व्याहृतमिदमेवास्य मरणशंसिनी दुरुपश्रुतिरिति भावः । ईर्ष्यात्र कण्ठोक्त एव सञ्चारी ॥ ८८ ॥

दूसरी किसी रमणीने युद्धके लिए उत्साहयुक्त पतिसे ईर्ष्याके साथ कहा कि—हे शठ ! (युद्धमें मरकर) स्वर्गीय रमणियों (देवाङ्गनाओं) के साथ निरन्तर रति करते हुए रमण

---

१. 'रसम्' इति पा० ।

करना चाहते हो, इसीसे हर्षित हो रहे हो अर्थात् पतिके वियोगको नहीं सह सकनेके कारण उसे युद्धमें नहीं जाने के लिए इस प्रकार रमणीका कहना ही युद्धमें जाते हुए उसके पतिके लिए अशकुन हो गया ॥ ८८ ॥

ध्रियमाणमप्यगलदश्रु चलति दयिते नतभ्रुवः ।
स्नेहमकृतकरसं दधतामिदमेव युक्तमतिमुग्धचेतसाम् ॥ ८९ ॥

ध्रियमाणमिति ॥ दयिते चलति प्रतिष्ठमाने सति नतभ्रुवः वध्वाः अश्रु ध्रियमाणममङ्गलभिया धार्यमाणमपि । धरतेः कर्मणि लटः शानजादेशः । अगलत् अस्रवत् । शोकातिरेकाद्धारयितुमशक्यमासीदित्यर्थः । तथा हि—अकृतकरसमकृत्रिमरागं स्नेहं प्रेम दधताम् अतएव अतिमुग्धचेतसामत्यन्ताकपटबुद्धीनामिदमेवासंवरणं युक्तम् । अन्यथा स्नेहव्याघातेन तत्कालविरुद्धमश्रुमोचनं नानुचितमिति भावः । रसस्नेहयो रागप्रेमापरनाम्नोरवस्थाभेदाद्भेदः । 'रागस्तत्सम्बन्धी प्रेम तद्वियोगासहिष्णुतां' इति रससागरे । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ८९ ॥

प्रियतमके जाते रहनेपर नम्रभ्रूवाली रमणीका रोका गया भी आँसू गिर पड़ा, क्योंकि अकृत्रिम अनुरागयुक्त स्नेहको धारण करते हुए अत्यन्त सरल चित्तवालोंके लिए यही उचित होता है ॥ ८९ ॥

सह कज्जलेन विरराज नयनकमलाम्बुसन्ततिः ।
गण्डफलकमभितः सुतनोः पदवीव शोकमयकृष्णवर्त्मनः ॥ ९० ॥

सहेति ॥ सुतनोः शुभाङ्ग्याः गण्डफलकमभितः । गण्डस्थलयोरित्यर्थः । 'अभितः परितः—' (वा०) इत्यादिना द्वितीया । नयनकमलाम्बुसन्ततिरश्रुधारा कज्जलेनानेन सह शोक एव शोकमयस्तस्य कृष्णवर्त्मनः शोकाग्नेः पदवी निःसरणमार्ग इव विरराज शुशुभे । येन वर्त्मना अग्निर्गच्छति तत्कृष्णं भवतीति कृष्णवर्त्मा । अत्राप्यश्रुपात एव दुर्निमित्तमिति भावः ॥ ९० ॥

सुन्दरीके कपोलोंपर नेत्रकमलोंका अश्रुप्रवाह कज्जलके साथमें शोकाग्निके मार्गके समान शोभता था । (यहाँ भी पतिके युद्धमें जाते समय रमणीका रोना उसके लिए अमङ्गलसूचक हुआ) ॥ ९० ॥

क्षणमात्ररोधि चलितेन कतिपयपदं नतभ्रुवः ।
स्रस्तभुजयुगगलद्वलयस्वनितं प्रतिक्षुतमिवोपशुश्रुवे ॥ ९१ ॥

क्षणेति ॥ कतिपयं च तत्पदं च तत् जातावेकवचनम् । कतिचित्पदानीत्यर्थः ।

१. 'प्रतिक्षिपदिवो—' इति पा० ।

पदशब्दस्य तदवच्छिन्नदेशवाचित्वादत्यन्तसंयोगे द्वितीया। चलितेन प्रस्थितेन। केनचिदिति शेषः। क्षणमात्रमरोधि क्षणमात्रप्रतिबन्धकम्। प्राणदानैकजीविनामवसरे सत्यधिकं स्थातुमनौचित्यादिति भावः। नतभ्रुवः त्रस्तानामङ्गसादेन झटिति प्रकोष्ठाग्रे पतितानां भुजयुगगलद्वलयानां हस्तद्वयचलत्कङ्कणानां स्वनितं रणत्कारं प्रति प्रतिमुखं क्षुतमिवोपशुश्रुवे उपश्रुतम्। 'स्त्री क्षुत्क्षुतं क्षवः पुंसि' इत्यमरः। रणत्कारे क्षुतभ्रान्त्या निवृत्तम्। क्षणमात्रं स्थितमित्यर्थः। अक्षुते क्षुतभ्रान्त्या भ्रान्तिमदलङ्कारः। दैन्यविषादाख्याः सञ्चारिणः॥ ९१॥

कुछ पग चले हुए किसी योद्धाने, क्षणमात्र रोकनेवाले नम्र भ्रूवाली रमणीके (शोकसे शिथिल) दोनों बाहुओं से गिरते हुए कङ्कणोंके शब्दको छींकके समान सुना अर्थात् रमणीके बाहुद्वयसे गिरते हुए कङ्कणोंकी ध्वनिको छींक समझकर कुछ पग गया हुआ उस रमणीका पति अपशकुन दोषकी शान्तिके लिए लौटकर कुछ समयतक रुक गया॥ ९१॥

अभिवर्त्म[1] वल्लभतमस्य विगलदमलायतांशुका।
भूमिनभसि रभसेन यती विरराज काचन समं महोल्कया॥ ९२॥

अभीति॥ वल्लभतमस्य प्रियतमस्याभिवर्त्माभिमार्गं विगलदङ्गसादात्स्रंसमानममलमायतं चांशुकं वस्त्रं यस्याः, अन्यत्र विगलन्तो विशीर्यमाणा अमला उज्ज्वलाः आयता दीर्घीभूता अंशवो रश्मयो यस्याः सा। शैषिकः कप्रत्ययः। भूमिर्नभ इव तस्मिन्भूमिनभसि रभसेन वेगेन यती यान्ती। इणः शतरि 'उगितश्च' (४।१।६) इति ङीप्। काचनाङ्गना महोल्कया समं सदृशं विरराज। अत्र प्रस्थातुरग्रे स्वकान्ताया महोल्कासादृश्यभवनमेव दुर्निमित्तमिति भावः। उपमालङ्कारः॥ ९२॥

(युद्धमें जाते हुए) प्रियतमके मार्गमें, (पतिविरहाशङ्कासे दुर्बल शरीरसे) सरककर गिरते हुए उज्ज्वल कपड़ेवाली (अतएव उसको उठानेके लिए) वेगसे पृथ्वीपर जाती अर्थात् झुकती हुई कोई रमणी फैलती हुई विमल किरणोंवाली तथा वेगसे आकाशमें आती हुई महोल्काके समान शोभने लगी। (पतिके यात्राकालमें रमणीका उल्का गिरनेके समान होनेसे उसका अशकुन होना सूचित होता है)॥ ९२॥

समरोन्मुखे[2] नृपगणेऽपि तदनुमरणोद्यतैकधीः।
दीनपरिजनकृताश्रुजलो न भटीजनः स्थिरमना विचक्लमे[3]॥ ९३॥

समरेति॥ नृपगणे समरोन्मुखेऽपि तस्य नृपगणस्यानुमरणे सहमरणे उद्यतोद्युक्ता अत एवैका मुख्या धीर्यस्य सः। दीनेनाप्यशोच्येन परिजनेन कृताश्रुजलो

१. 'अनु⋯तांशुकम्' इति पा०। २. 'समरोत्सुके⋯⋯नुसरणो—' इति पा०।
३. 'विचक्लवे' इति पा०।

मुक्तबाष्पः। दासीमुक्ताश्रुबिन्दुरित्यर्थः। तथापि स्वयं स्थिरमना अचलितचित्तो भटीजनो भटस्त्रीलोकः। जातावेकवचनम्। 'पुंयोगादाख्यायाम्' (४।१।४८) इति ङीप्। न विचक्लमे न तत्रास। सहमृत्युप्रियाणां कुतः सन्त्रास इति भावः। अत्र मरणोद्योगस्य विशेषणगत्या अवलैब्यहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ ९३ ॥

राज-समूहके युद्धके लिए उन्मुख होनेपर भी उनके पीछे मरनेके लिए निश्चित विचार की हुई और (उनके इस प्रकारके निश्चित विचारसे) दुःखित दासियोंको रुलाती हुई स्थिर मनवाली रमणियाँ भयभीत नहीं हुईं। (मरकर प्रियतमोंका अनुगमन करनेवाली सतियोंका भयभीत नहीं होना उचित ही है) ॥ ९३ ॥

विदुषीव दर्शनममुष्य युवतिरतिदुर्लभं पुनः।
यान्तमनिमिषमतृप्तमनाः पतिमीक्षते स्म भृशमा दृशः पथः ॥ ९४ ॥

विदुषीवेति ॥ युवतिः काचिदङ्गना अमुष्य पत्युर्दर्शनं पुनः पश्चादतिदुर्लभम्। तस्यापुनरावृत्तेरिति भावः। विदुषी जानतीवेत्युत्प्रेक्षा। 'विदेः शतुर्वसुः' (७।१।३६) इति वस्वादेशः 'उगितश्च' (४।१।६) इति ङीप्। अवितृप्तमना अवितृप्तचित्ता सती यान्तं योद्धुं गच्छन्तं पतिं भर्तारं आ दृशः पथः आ दृष्टिपथात्। दृष्टिपथातिक्रमपर्यन्तमित्यर्थः। 'आङ्मर्यादाभिविध्योः' (२।१।१३) इति विकल्पादाङो न समासः। भृशमनिमिषं निमेषरहितं यथा तथा ईक्षते स्म ॥ ९४ ॥

'(युद्धमें जाते हुए) इस (मेरे पति) का दर्शन मिलना फिर अत्यन्त दुर्लभ है' इस बातको जानती हुई-सी कोई रमणी, (पतिको देखनेमें) पूर्णतृप्तियुक्त मनवाली नहीं होकर जाते हुए पतिको तबतक देखती रही, जबतक वह आँखोंसे ओझल (अदृष्टिगोचर) नहीं हो गया ॥ ९४ ॥

सम्प्रत्युपेयाः कुशली पुनर्युधः सस्नेहमाशीरिति भर्तुरीरिता।
सद्यः प्रसह्य द्वितयेन नेत्रयोः प्रत्याचचक्षे गलता भटस्त्रियाः ॥ ९५ ॥

सम्प्रतीति। सम्प्रतीदानीमेव कुशली अक्षतः सन् युधो युद्धात्पुनः उपेयाः प्रत्यावर्तस्वेति सस्नेहं भर्तुरीरिता भर्त्रे प्रयुक्ता आशीराशीर्वादः सद्यः प्रसह्य बलादुलदम्भसा स्रवदश्रुणा तस्या भटस्त्रियास्तस्य वध्वा एव। अस्त्रीति प्रतिषेधान्नदीत्वादाडागमः। नेत्रयोर्द्वितयेन प्रत्याचचक्षे प्रत्याख्याता। निराकृतेत्यर्थः। अमङ्गलेनाश्रुपातेन निष्फलीकृतेत्यवश्यं भवितव्यं भवत्येवेति भावः। 'वा लिटि' (२।४।५५) इति विकल्पात्र चक्षिङः ख्याञादेशः। अत्राश्रुपातस्य नेत्रविशेषणद्वारा आशीःप्रत्याख्याने हेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ ९५ ॥

---

१. '—स्त्रिया' इति पा०।

'इस समय अर्थात् शीघ्र ही युद्धसे सकुशल फिर लौट आओ' इस प्रकार स्नेहके साथ पतिके लिए कहे गये आशीर्वादको योद्धाकी रमणीके बलपूर्वक तत्काल ही गिरते हुए आँसूवाले दोनों नेत्रोंने मग्नकर दिया अर्थात् जाते हुए पतिके लिए रमणीके द्वारा दिया गया उक्तरूप आशीर्वाद उस रमणीके दोनों नेत्रोंसे आँसू गिरनेसे निष्फल हो गया ॥ ९५ ॥

> काँचित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधे भिन्नवक्त्रेन्दुलक्ष्मी-
> रश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः ।
> भ्रेमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत् कम्पमापुः
> प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरो भावि नार्यः शशंसुः ॥ ९६ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्रयङ्के ([3]अपशकुनाविर्भावो नाम)
पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

काचिदिति ॥ काचित्स्त्री रजोभिरार्तवैरङ्गसंस्कारत्यागात्पांशुभिर्वा कीर्णा । 'स्याद्रजः पुष्पमार्तवम्' इति । 'पांशुर्ना न द्वयो रजः' इति चामरः । दिवस्त्वौत्पातिकपांसुवर्षणाद्रजःकीर्णता । वक्त्रमिन्दुरिव, अन्यत्र वक्त्रमिवेन्दुर्भिन्नास्तस्य लक्ष्म्यो यस्याः सा भिन्नवक्त्रेन्दुलक्ष्मीः । बहुवचनान्तो बहुव्रीहिः । एवमपि एकवचनान्तस्यैव लक्ष्मीशब्दस्योरःप्रभृतिषु पाठान्न तन्निमित्तः कप्प्रत्ययः । शैषिकस्तु वैभाषिक इत्यविरोधः । काचिन्नारी दिवमनुविदधेऽनुचकार । काश्चिन्नार्यो दिश इवाश्रीका वीतशोभाः । उद्भ्रान्तसत्त्वा उद्भ्रान्तचित्ता उद्भ्रान्तजन्तुकाश्च सत्यः । अन्तरात्मनि मध्ये च दाहं सन्तापम्, अन्यत्रौत्पातिकं प्रज्वलनं दधिरे दधुः । अन्या नार्यो वात्या इव वातसमूहा इव । 'शाखादिभ्यो यत्' (५।३।१०३) इति यत्प्रत्ययः । प्रतिदिशं दिशि दिशि । 'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' (५।४।१०७) इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः । भ्रेमुर्बभ्रमुः । 'वा जॄभ्रमुत्रसाम्' (६।४।१२४) इति विकल्पादेत्वाभ्यासलोपौ । अपरा नार्यो भूमिवत् भूम्या तुल्यं कम्पमापुः । इतीत्थं पार्थिवानां प्रस्थाने प्रयाणे नार्यो भाव्यशुभं पुरः पूर्वं शशंसुः । सूचयामासुरित्यर्थः । अत्र नारीणां भाव्यशुभसूचनस्य रजोदाहादिवाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । तत्र नारीणां द्युदिगाद्युपमाभिस्तद्रजोदाहादिवन्नारीरजोदाहादीनामशुभसूचकत्वमित्युपमाकाव्यलिङ्गयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । सञ्चारिणश्च पूर्ववद्विषादादयः सुगमाः । अत्र 'काश्चित्कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधुर्भिन्नवक्त्रेन्दुलक्ष्म्यो निश्रीकाः काश्चित्' इति पाठे काचित्कीर्णेत्येकवचनप्रक्रमभङ्गे दोषो नास्ति । न चैवमुपमानोपमेययोर्भिन्नवचन-

---

१. 'काश्चित्कीर्णा··· विदधुर्भिन्न··· लक्ष्म्यो निःश्रीकाः' इति पा० । २. '—मशुभ—' इति पा० । ३. अयं कोष्ठान्तर्गतः पाठो वल्लभदेवसम्मत इति बोध्यम् ।

स्वदोषः। लोकेषु चन्द्रादिष्वेकत्र नियतेषु दोषबुद्ध्यनुदयाद्। यथाह दण्डी-'न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा। उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥ इति स्रग्धरावृत्तम्। 'म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्॥ इति लक्षणात्॥ ९६॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितशिशुपालवध-
काव्यव्याख्यायां सर्वङ्कषाख्यायां पञ्चदशः सर्गः॥ १५॥

धूलिसे युक्त (या-मासिक रजोधर्म=रजस्वलात्वसे युक्त) कोई रमणी उस प्रकार शोभाहीन मुखचन्द्रवाली हो गयी, जिस प्रकार धूलिसे व्याप्त आकाश शोभाहीन चन्द्रमा-वाला हो जाता है; उद्भ्रान्त चित्तवाली एवं शोभाहीन किसी स्त्रीने उस प्रकार अन्तः-सन्तापको धारण किया, जिस प्रकार इधर-उधर भटकते हुए जन्तुओंवाली शोभाहीन दिशाएँ उत्पातसूचक अन्तर्दाह (भीतरमें अग्नि-या दावाग्नि) को धारण करती हैं; कुछ रमणियाँ बवण्डरके समान घूमने (चकराने) लगी और कुछ दूसरी रमणियाँ भूकम्प आनेपर भूमिके समान काँपने लगीं; इस प्रकार रमणियोंने (शिशुपालपक्षीय) राजाओंके (युद्धके लिए) प्रस्थान करनेपर भविष्यमें होनेवाले अशुभको पहले ही कह दिया॥ ९६॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'अपशकुनाविर्भाव' नामक पञ्चदश सर्ग समाप्त हुआ॥१५॥

षोडशः सर्गः

अथानन्तरसर्गे हरेश्चैद्यदूतसंवादं वर्णयति—

दमघोषसुतेन कश्चन प्रतिशिष्टः प्रतिभानवानथ ।
उपगम्य हरिं सदस्यदः स्फुटभिन्नार्थमुदाहरद्वचः ॥ १ ॥

दमघोषेत्यादि ॥ अथ सन्नाहानन्तरं दमघोषसुतेन शिशुपालेन प्रतिशिष्टः प्रहितः । 'प्रतिशिष्टः प्रेषिते स्यात्प्रत्याख्याने च वाच्यवत्' इति विश्वः । प्रतिभानमस्यास्तीति प्रतिभानवान् । अवसरोचितोत्तरस्फुरणशक्तिमानित्यर्थः । कश्चन कश्चिद् दूतः हरिं कृष्णमुपगम्य प्राप्य सदसि सभायां स्फुटौ भिन्नार्थौ पृथगर्थौ प्रियाप्रियरूपौ यस्मिंस्तत्स्फुटभिन्नार्थम् । युगपदुभयार्थाभिधायकमित्यर्थः । तथैव वक्ष्यति—'उभयं युगपन्मयोदितं त्वरया सान्त्वमथेतरच्च ते' (१६।४२) इति । अदः इदं वक्ष्यमाणं वचः उदाहरद् व्याहरत् । अस्मिन्सर्गे वैतालीयाख्यं मात्रावृत्तम् । 'षड्विषमेऽष्टौ समे कलाः षट् च समे स्युर्नो निरन्तराः । न समात्र पराश्रिता कला वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः ॥' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

'स्फुटभिन्नार्थमुदाहरद्वच' (१६।१) इत्युक्तं, तदेव चतुर्दशभिः श्लोकैरभिधत्ते—

इस (युद्धार्थ योद्धाओंके तैयार होने) के बाद शिशुपालके द्वारा भेजा गया, समयानुसार उत्तर देनेमें समर्थ कोई दूत श्रीकृष्ण भगवान्के समीप जाकर सभामें स्पष्टतः (प्रिय तथा अप्रियरूप) भिन्न अर्थयुक्त वचन कहने लगा ॥ १ ॥

अभिधाय तदा तदप्रियं शिशुपालोऽनुशयं परं गतः ।
भवतोऽभिमनाः समीहते सरुषः कर्तुमुपेत्य माननाम् ॥ २ ॥

अभिधायेत्यादि । शिशुपालस्तदा अर्घस्वीकारकाले तत्तादृशमप्रियमभिधाय परमनुशयमनुतापं गतः अभिमना उत्कण्ठितचित्तः सन् उपेत्यागत्य सरुषः समन्योर्भवतस्तव माननां पूजां कर्तुं समीहते । अनुनेतुमिच्छतीत्यर्थः । अयं मधुरोऽर्थः ॥

परुषस्तु—तदप्रियमभिधाय परम् अनुशयं केवलं न शाम्यः, किन्तु हन्तव्यश्चेति दीर्घद्वेषं गतः प्राप्तः । 'रन्ध्रे शब्देऽथानुशयो दीर्घद्वेषानुतापयोः' इत्युभयत्राप्यमरः । अतएव नास्ति भीर्यस्येत्यभि निर्भीकं मनो यस्य सोऽभिमनाः निःशङ्कचित्तः सन् उपेत्य स्वयमेवागत्य सरुषः सकोपस्य भवतो माननां हननं कर्तुं समीहते । 'मानना हनने माने' इत्युभयत्रापि केशवः । भवन्तं हन्तुमिच्छतीत्यर्थः । 'मन स्तम्भे' इति धातोश्चौरादिकाल्ल्युट् णिचो लुक् । अत्र चतुर्दशश्लोक्यां परहृदयपरीक्षापराणां दूतानां प्रियाप्रिये द्वे अपि वक्तव्ये, चमत्काराय तु श्लेषभङ्ग्याभिधीयेत इति प्रियाप्रिययोर्द्वयोरपि प्रकृतत्वादभिधेयत्वाच्छब्दमात्रसाधर्म्याच्च केवलप्रकृतगोचरः

१. 'तथा' इति पा० ।

श्लेषः। 'प्रकृताप्रकृतोभयगतमुक्तं चेच्छब्दमात्रसाधर्म्यम्। श्लेषोऽयमि'ति लक्षणात्। न चेयं व्याजस्तुतिः, निन्दास्तुत्योरन्यतरगम्यतायां तदुत्थापनात्। इह तु, 'उभयं युगपन्मयोदितं त्वरया सान्त्वमथेतरच्च ते' (१६।४२) इति वक्ष्यमाणलिङ्गादुभयोर्वाच्यत्वावगमादित्यलं प्रपञ्चेन ॥ २ ॥

पूर्व (१६।१) कथनानुसार चौदह (१६।२—१५) श्लोकोंसे क्रमशः उसी प्रिय तथा अप्रिय वचनको दूत कहता हैं) उस समय (युधिष्ठिर द्वारा आपकी पूजा करनेके समय) उस (१५।२२-३८ तथा क्षे० १-३४) अप्रिय वचनको कहकर अत्यन्त पश्चात्ताप करता हुआ शिशुपाल उत्कण्ठित होकर क्रोधयुक्त आपका सत्कार करना (आपको मनाना—प्रसन्न करना) चाहता है।

अप्रियपक्ष—उस (युधिष्ठिरकृत अग्रपूजाके) समय वह उस वचन (१५।२२-३८ तथा क्षे० २-३४) को कहकर 'मैंने कृष्णको केवल फटकार कर ही छोड़ दिया, उसका वध नहीं किया—यह बड़ी भूल हुई' इस प्रकार अधिक द्वेषयुक्त तथा निर्भयचित्त शिशुपाल यहाँ आकर क्रोधयुक्त आपका वध करना चाहता है।

विमर्श—शत्रुके हृद्गत भाव जाननेके लिए परम चतुर दूतलोग उससे प्रिय तथा अप्रिय—दोनों ही वचन कहते हैं ॥ २ ॥

विपुलेन निपीड्य निर्दयं मुदमायातु नितान्तमुन्मनाः।
प्रचुराधिगताङ्गनिर्वृतिं परितस्त्वां खलु विग्रहेण सः ॥ ३ ॥

विपुलेनेति ॥ उन्मना उत्सुकचेताः स चैद्यः परितः प्रचुरं प्रभूतं यथा तथा अधिगता प्राप्ता अङ्गनिर्वृतिः सुहृत्स्पर्शकृतमङ्गसुखं येन तं त्वां विपुलेन विशिष्टपुलकेन 'पुलः स्यात्पुलके नापि पुलं तु विपुलेऽन्यवत्' इति विश्वः। विग्रहेण वपुषा निर्दयं गाढं निपीड्यालिङ्ग्य नितान्तं मुदमायातु खलु ॥

परुषस्तु—उन्मना मनस्वी स चैद्यः प्रचुरेणाधिना मनोव्यथया गताङ्गनिर्वृतिं विगतशरीरसौख्यं त्वां विपुलेन महता विग्रहेण। 'विग्रहः समरे काये' इति विश्वः। निर्दयं निष्कृपं निपीड्य हत्वा मुदमायातु खलु ॥ ३ ॥

उत्कण्ठित वह (शिशुपाल) सब ओरसे (मित्रके शरीरस्पर्शसे) अत्यधिक शरीर-सुखको पाये हुए आपका, (हर्षसे) अधिक रोमाञ्चयुक्त शरीरसे निर्दय (अच्छी तरह) आलिङ्गनकर अत्यन्त हर्षित होवे।

अप्रियपक्ष—मनस्वी वह (शिशुपाल) अत्यधिक मानसिक व्यथाके कारण शरीर-सुखसे हीन तुमको विशाल युद्धसे निर्दयतापूर्वक मारकर अत्यन्त हर्षित होवे ॥ ३ ॥

प्रणतः शिरसा करिष्यते सकलैरेत्य समं धराधिपैः।
तव शासनमाशु भूपतिः परवानद्य यतस्त्वयैव सः ॥ ४ ॥

---

१. 'शिरसा प्रणतः' इति पा०। २. 'नराधिपैः' इति 'जनाधिपैः' इति च पा०।

प्रणत इति ॥ भूपतिः चैद्यः सकलैर्धराधिपैः समं सह एत्यागत्य शिरसा प्रणतः प्रणामं कृतवान्। कर्तरि क्तः। आशु तव शासनमाज्ञां करिष्यते त्वदाज्ञाकरो भविष्यति। कुतः। यतः स चैद्योऽस्मिन्नवसरे त्वयैव परवांस्त्वदेकपरतन्त्रः ॥

परुषस्तु—शिरसा प्रणतो नमस्कृतः। नराधिपैरिति भावः। कर्मणि क्तः। भूपतिस्तव शासनं शास्तिं शिक्षां करिष्यते। यतस्त्वयैव अद्य स परवान् शत्रुमान्। त्वमेक एवास्य शत्रुरवशिष्ट इति भावः। अन्यत्समानम्। 'शासनं राजदत्तोर्व्यां लेखाज्ञाशास्त्रशास्तिषु' इति विश्वः॥ ४ ॥

राजा वह (शिशुपाल) सम्पूर्ण राजाओंके साथ आकर शिरसे प्रणाम कर शीघ्र आपकी आज्ञाको करेगा अर्थात् आज्ञाकारी बनेगा, क्योंकि इस समय वह आपके अधीन है।

अप्रियपक्ष—(तुम्हारे अतिरिक्त सब राजाओंके द्वारा) शिरसे प्रणत वह राजा (शिशुपाल) सब राजाओंके साथ आकर शीघ्र तुम्हारा शासन करेगा अर्थात् तुम्हें दण्डित करेगा, क्योंकि आज वह तुमसे ही शत्रुवाला है अर्थात् एक तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कोई भी उसका शत्रु नहीं रह गया है ॥ ४ ॥

प्रणामे हेतुमाह—

अधिवह्निपतङ्गतेजसो नियतस्वान्तसमर्थकर्मणः।
तव सर्वविधेयवर्तिनः प्रणतिं बिभ्रति केन भूभृतः ॥ ५ ॥

अधीति ॥ अधिगतं वह्निपतङ्गयोरग्निभान्वोरिव तेजो येन तस्य। तत्तुल्यतेजस इत्यर्थः। नियतस्वान्तो नियतचित्तः स चासौ समर्थकर्मा च। खञ्जकुब्जवद्विशेषणसमासः। तस्य तथोक्तस्य सर्वे विधेयवर्तिनो वशवर्तिनः कर्मकरा यस्य तस्य तव के भूभृतः प्रणतिं नतिं न बिभ्रति। सर्वेऽपि बिभ्रतीत्यर्थः ॥

परुषस्तु—प्रणामे हेतुमाह—अधिवह्नि अग्नौ पतङ्गस्य शलभस्येव तेजः पौरुषं यस्य तस्य। 'पतङ्गः शलभे भानौ' इति विश्वः। नियते अव्यभिचारे स्वान्ते स्वविनाशे समर्थं हेतुभूतं कर्म यस्य तस्य सर्वेषां विधेये वर्तते विधेयं वर्तयति वा सर्वविधेयवर्तिनः सर्वकिंकरस्य निष्पौरुषस्य तव केन गुणेन भूभृतः प्रणतिं बिभ्रति। न केनापीत्यर्थः ॥ ५ ॥

अग्नि तथा सूर्यके तेजको प्राप्त किये हुए, वशीभूत चित्तवाले तथा कर्म में समर्थ और सबको (वशमें करनेसे) विनयशील बनाये हुए आपको कौन राजालोग प्रणाम नहीं करते हैं ? अर्थात् उक्तरूप आपका प्रणाम सभी राजालोग करते हैं।

अप्रियपक्ष—अग्निमें फतिंगेके समान तेज (पुरुषार्थ) वाले अर्थात् सर्वथा शक्तिहीन, निश्चितरूपसे अपना विनाश करनेमें समर्थ कार्य करनेवाले और सबके वशवर्ती तुम्हारा प्रणाम किस गुणसे राजालोग करेंगे ? अर्थात् तुममें ऐसा कोई भी गुण नहीं है, जिससे राजालोग आकर तुम्हारा प्रणाम करेंगे ॥ ५ ॥

जनतां भयशून्यधीः परैरभिभूतामवलम्बसे यतः ।
तव कृष्ण गुणास्ततो नरैरसमानस्य दधत्यगण्यताम् ॥ ६ ॥

जनतामिति ॥ हे कृष्ण हे हरे, भयशून्यधीर्निर्भीकचित्तः सन् परैः शत्रुभिरभिभूतां जनतां जनसमूहम् । 'ग्रामजन—' (४।२।४३) इत्यादिना समूहे तल्प्रत्ययः । यतोऽवलम्बसे परिगृह्णासि । रक्षसीत्यर्थः । ततो हेतोर्नरैरसमानस्य, असाधुषमहिम्न इत्यर्थः । तव गुणा आर्तभूभरणादयः । अगण्यतामसंख्येयतां दधति ॥

परुषस्तु—हे कृष्ण मलिनात्मक ! भयशून्यधीर्मूढबुद्धिः परैस्त्वदन्यैः 'परं दूरान्यमुख्येषु परोऽरिपरमात्मनोः' इत्युभयत्रापि वैजयन्ती । अभिभूतामवधीरितां जनतां पशुपालनपारतन्त्र्यादिना पृथग्जनत्वम् । भावेऽर्थे तल्प्रत्ययः । यतोऽवलम्बस आश्रयसि । ततो नरैरसमानस्य । ततोऽपि हीनस्येत्यर्थः । तव गुणाः लेशतः स्वभावतोऽपीति भावः । अगण्यतामनादरणीयतां दधति ॥ ६ ॥

हे कृष्णजी ! निर्भय शत्रुओंसे पीड़ित अपने जन-समुदायकी रक्षा करते हैं, अत एव मनुष्योंके असमान अर्थात् मानवातीत महिमावाले आपके गुण असङ्ख्यताको प्राप्त करते हैं अर्थात् आपके असङ्ख्य गुण हैं ।

अप्रियपक्ष—हे मलिन ! मूढबुद्धि तुम जिस कारण दूसरोंसे तिरस्कृत (गोचारणादि-कार्यरूप) नीचताका अवलम्बन करते हो, उस कारण मनुष्योंके असमान अर्थात् साधारण-मनुष्योंसे भी हीन तुम्हारे गुण गिनतीमें नहीं आते अर्थात् अनादृत होते हैं ॥ ६ ॥

अहितादनपत्रपस्त्रसन्नतिमात्रोज्झितभीरनास्तिकः ।
विनयोपहितस्त्वया कुतः सदृशोऽन्यो गुणवाननविस्मयः ॥ ७ ॥

अहितादिति ॥ त्वया सदृशोऽन्यो गुणवान् गुणाढ्यः कुतः । न कुत्रापीत्यर्थः । कुतस्त्वम् अहितादनर्थात्त्रसन् । अधर्मभीरुरित्यर्थः । अपत्रपो निस्त्रपो न भवतीति अनपत्रपस्त्रपावान् । अकार्यजुगुप्सुरित्यर्थः । अतिमात्रमत्यन्तमुज्झितभीः । त्यक्ता-रिभय इत्यर्थः । नास्तीति मतिरस्येति नास्तिकः नास्तिपरलोकः । 'अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः' (४।४।६०) इति ठक् । स न भवतीत्यनास्तिकः । आस्तिक इत्यर्थः । विनयेनानौद्धत्येनोपहितो विशिष्टः । विनयवानित्यर्थः । विस्मयो विशिष्टगर्वो न भवतीत्यविस्मयोऽगर्वः ॥

परुषस्तु—त्वया सदृशोऽन्यो गुणवान्न भवतीत्यगुणवान्निर्गुणः कुतः । न कुत्रापीत्यर्थः । कुतः त्वमहितात् शत्रोस्त्रसन् भीरुः । नास्त्यपत्रपा लज्जाविशेषो यस्येत्यनपत्रपो निर्लज्जः । 'लज्जा सापत्रपाऽन्यतः' इत्यमरः । नतिमात्रेण प्रणामेनैवोज्झितभीरपाकृतारिभयः, न तु पराक्रमेणेति भावः । अस्ति मतिरस्येत्यास्तिकोऽस्तिपरलोकः । पूर्ववट्ठक् । स न भवतीत्यनास्तिकः । नास्तिक इत्यर्थः । विनयो नयातीतः उपहितो

हिताद्पेतः विस्मयो विगर्वो न भवतीत्यविस्मयो गर्वी। गर्वयुक्त इत्यर्थः। अत्राहि-तादित्यर्थश्लेषः। अन्यत्र शब्दश्लेष इत्यनयोः संकरः॥ ७॥

आपके समान गुणवान् दूसरा कौन है? अर्थात् कोई नहीं; क्योंकि आप (अधर्मरूप) अहितसे डरनेवाले हैं, निर्लज्ज नहीं हैं अर्थात् निन्दित काम करनेमें लज्जित होते हैं (अतः ऐसा निन्दित कार्य नहीं करते कि जिससे लज्जित होना पड़े), निर्भीक (शत्रुसे भयरहित) हैं, नास्तिक नहीं हैं (किन्तु परलोक एवं ईश्वरको माननेवाले हैं), विनयी हैं और अभिमानी नहीं हैं।

अप्रियपक्ष—तुम्हारे समान गुणहीन दूसरा कौन है? अर्थात् कोई नहीं; क्योंकि तुम शत्रुसे डरनेवाले हो, निर्लज्ज हो, झुककर नतिसे भयरहित हो (शत्रुके सामने नम्र होकर अपना भय दूर करते हो, पराक्रम दिखलाकर नहीं), आस्तिक नहीं हो, नीतिशून्य हो, हितसे रहित हो और अभिमानी हो॥ ७॥

कृतगोपवधूरतेर्घ्नतो वृषमुग्रे नरकेऽपि संप्रति।
प्रतिपत्तिरधःकृतैनसो जनताभिस्तव साधु वर्ण्यते॥ ८॥

कृतेति॥ गोप्य एव वध्वो गोपवध्वः। 'स्त्रियाः पुंवत्—' (६।३।३४) इत्यादिना पुंवद्भावः। तासु रतिः कृता येन तस्य। गोपीजनवल्लभस्येत्यर्थः। वृषं वृषभरूपिणमरिष्टाख्यमसुरं घ्नतो मारयतः। हन्तेर्लटः शत्रादेशः। अधःकृतैनसो निरस्तकल्मषस्य तवोग्रे भयंकरे नरके नरकासुरे प्रतिपत्तिः प्रवृत्तिः। पुरुषकार इति यावत्। संप्रति जनताभिर्जनसमूहैः साधु वर्ण्यते। अहो महद् दुष्करं कृत-मित्युपश्लोक्यते॥

पक्षस्तु—गोपानां वधूषु रतिः कृता येन तस्य पारदारिकस्य वृषं धर्मं, वृषभं वा घ्नतः। 'सुकृते वृषभे वृषः' इति विश्वः। अत एव कृतैनसः पापकृतः तव उग्रे दारुणे नरके निरये अधःप्रतिपत्तिरधःप्राप्तिः। 'प्रतिपत्तिः पदप्राप्तौ पौरुषे गौरवेऽपि च' इति विश्वः। संप्रति जनताभिः साधु वर्ण्यते। दुस्तरोऽस्य पापिष्ठस्य नरकपात इत्युद्‌घोष्यत इत्यर्थः। अत्र गोपपरदारिकोऽप्यधःकृतैना इति विरोधा-भासः श्लेषेण संकीर्यते॥ ८॥

गोपियोंके साथ रति किये हुए, वृष (के रूप धारण किये हुए अरिष्टासुर) को मारने-वाले और पापको तिरस्कृत (दूर) किये हुए आपके इस समय भयङ्कर (लोकपीडक) नरकासुरमें पुरुषार्थको जन-समूह सम्यक् प्रकारसे वर्णन करते हैं अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान् बहुत दुष्कर कार्य कर रहे हैं। इस प्रकार जनता आपकी स्तुति कर रही है।

अप्रियपक्ष—गोपियों (परस्त्रियों) के साथ रति किये हुए, बैल (या—धर्म) को मारते हुए (अत एव) पाप किये हुए तुम्हें भयङ्कर नरककी प्राप्ति होनेवाली है, इस प्रकार जनता तुम्हारे विषयमें सम्यक् प्रकारसे (दृढ़निश्चयपूर्वक) कह रही है॥ ८॥

विहितापचितिर्महीभृता[1] द्विषतामाहितसाध्वसो बलैः ।
भव सानुचरस्त्वमुच्चकैर्महतामप्युपरि क्षमाभृताम् ॥ ९ ॥

विहितेति ॥ सहानुचरः सानुचरः सभृत्यो महीभृता चैद्येन विहितापचितिः कृतपूजः । लोकवेदयोः सानुचरस्यैव राज्ञः पूज्यत्वप्रसिद्धेरिति भावः । अत एव बलैः सैन्यैः द्विषतां शत्रूणामाहितसाध्वसो जनितभयः सन् स्वयं महतामपि क्षमाभृतां राज्ञामुपर्युच्चकैरुन्नतस्त्वं भव सर्वोत्कर्षेण वर्तस्व ॥

परुषस्तु—महीभृता चैद्येन विहितापचितिः कृतहानिः । 'अवेदपचितिः पूजाव्ययहानिषु निष्कृतौ' इति विश्वः । अत एव द्विषतां बलैराहितसाध्वसो भीषितः सन् त्वमुच्चकैः महतां क्षमाभृतां भूधराणामुपरि सानुषु चरतीति सानुचरः सन् भव । चरेष्टः । अत्रापि शब्दार्थश्लेषसंकरः ॥ ९ ॥

राजा (शिशुपाल) के द्वारा अनुचरोंके साथमें पूजित तथा सेनासे शत्रुओंको भयभीत किये हुए आप बड़े-बड़े राजाओं से भी श्रेष्ठ हो जावें ।

अप्रियपक्ष—राजा शिशुपालसे की गयी हानिवाले (अत एव) शत्रुओंकी सेनासे भयभीत तुम बड़े-बड़े एवं ऊँचे-ऊँचे पहाड़ोंके शिखरोंपर घूमनेवाले बनो अर्थात् शत्रुओंसे भयभीत होकर भागकर बड़े एवं ऊँचे पहाड़ोंके शिखरोंपर घूमते हुए प्राणरक्षा करते रहो ॥

घनजालनिभैर्दुरासदाः परितो नागकदम्बकैस्तव ।
नगरेषु भवन्तु वीथयः परिकीर्णा वनजैर्मृगादिभिः ॥ १० ॥

घनेति ॥ तव नगरेषु वीथयो रथ्या घनजालनिभैर्मेघसमूहकल्पैः वनजैर्वनभवैः मृगादिभिः मृगप्रभृतिभिः । भद्रो मन्द्रो मृगश्चेत्येवं त्रिविधैरपीत्यर्थः । नागकदम्बकैर्गजवृन्दैः परितः परिकीर्णा व्याप्ताः अत एव दुरासदा दुष्प्रवेशा भवन्तु । राज्ञां संधाने महदैश्वर्यं ते भविष्यतीत्यर्थः ॥

परुषस्तु—घनजालनिभैः सान्द्रानायतुल्यैः । 'आनायः पुंसि जालं स्यात्' इत्यमरः । नागकदम्बकैः सर्पसंघैर्वनजैर्मृगादिभिर्मृगव्यालपुलिन्दप्रभृतिभिः । अथवा मृगादिभिः मृगभक्षकैः शरभशार्दूलादिभिः दुरासदा भवन्तु । राजविग्रहादरण्यप्रायगता भवन्त्वित्यर्थः ॥ १० ॥

आपके नगरोंमें मार्ग मेघसमूहके समान (काले-काले एवं विशालकाय), वनमें होनेवाले मृग आदि (मृग, भद्र एवं मन्द्र जातिवाले) हाथियोंके समूहोंसे व्याप्त होकर कठिनाईसे प्रवेश करने योग्य हो जावें अर्थात् शिशुपालसहित राजाओंके आनेसे आपके नगरोंके मार्ग मृगादि उत्तम जातीय वनैले हाथियोंसे व्याप्त होकर दुष्प्रवेश्य हो जावें ।

अप्रियपक्ष—तुम्हारे नगरोंके मार्ग—सघन जालोंके समान सर्प-समूहोंसे तथा जङ्गली

१. 'महीभुजा' इति पा० ।

मृग आदि (किरात, कोल, भील आदि अथवा—मृगभक्षी सिंह-बाघ आदि) से व्याप्त (वनप्राय होनेसे) दुष्प्रवेश्य हो जावें ॥ १० ॥

सकलापिहितस्वपौरुषो नियतव्यापदवर्धितोदयः ।
रिपुरुन्नतधीरचेतसः सततव्याधिरनीतिरस्तु ते ॥ ११ ॥

सकलेति ॥ उन्नतमुदारं धीरमविकारं चेतो यस्य तस्य ते तव रिपुः सकलैरपिहितं तिरस्कृतं स्वपौरुषं यस्य सः । नियता नित्या व्यापदो विशिष्टापदो यस्य सः । अवर्धितोदयोऽसंपूरिताभ्युदयः सततव्याधिः संततरोगः । अनीतिर्नीतिरहितः एवंविधोऽस्तु ॥

परुषस्तु—अचेतसोऽमनस्विनः ते रिपुश्चेद्यः सकलैरपिहितस्वपौरुषः अतिरस्कृतात्मविक्रमः । 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यल्लोपे नञ्समासः । नियतं नित्यं व्यापद्विगतापत् अवर्धितोदयोऽच्छिन्नोदयः । 'वृधु च्छेदने वृद्धौ' इति धातोः कर्मणि क्तः । उन्नतधीरुदारबुद्धिः सततव्याधिः । विगताधिर्मनोव्यथारहितः । अनीतिरीतिबाधारहितोऽस्तु । 'अतिवृष्टिरनावृष्टिः शलभा मूषकाः शुकाः । अत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥' अत्र सर्वत्र पदभङ्गेनार्थद्वयप्रतिपादनाज्जतुकाष्ठवदेकशब्दप्रतीतेः शब्दश्लेषः ॥ ११ ॥

उदार एवं धीर चित्तवाले आपका शत्रु सब लोगोंसे तिरस्कृत स्वपुरुषार्थवाला, अवश्यम्भाविनी बड़ी आपत्तिवाला, रुकी हुई उन्नतिवाला, सर्वदा रोगी और नीतिहीन होवे ।

अप्रियपक्ष—चेतनाशून्य अर्थात् जडमति, तुम्हारा शत्रु (शिशुपाल) सबलोगोंसे अतिरस्कृत पुरुषार्थवाला, निश्चित रूपसे नष्ट हुई, आपत्तिवाला, अखण्डित उन्नतिवाला, उदार बुद्धिवाला, सर्वदा नष्ट हुई मानसिक व्यथावाला और (अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, शुक और राजाओंका अत्यन्त समीपमें आना—देशको हानि पहुँचानेवाली इन छः) ईतियोंसे रहित होवे ॥ ११ ॥

विकचोत्पलचारुलोचनस्तव चैद्येन घटामुपेयुषः[1] ।
यदुपुङ्गव बन्धुसौहृदात्त्वयि[2] पाता ससुरो नवासवः ॥ १२ ॥

विकचेति ॥ पुमान् गौरिव पुङ्गवः पुरुषर्षभः । उपमितसमासः । 'गोरतद्धितलुकि' (५।४।९२) इति समासान्तष्टच्प्रत्ययः । यदुषु पुङ्गवः यदुश्रेष्ठः । 'श्रेष्ठोत्तमौ तु पुङ्गवौ' इति वैजयन्ती । चैद्येन कर्त्रा घटां घनसन्धिमुपेयुषस्तव संबन्धीनि विकचोत्पलानि वासनार्थं विहितानि तान्येव चारुलोचनानि यस्य सः । सह सुरया माध्व्या गौड्या वा ससुरः 'गौडी पैष्टी च माध्वी च विज्ञेया त्रिविधा सुरा' (मनु० ११।९४) इति वचनात् । अत्र क्षत्रियवैश्ययोः पैष्ट्यामेव निषेधः । नवासवो नवमद्यं नारि-

१. '—युषा' इति पा० । २. 'बन्धुगौरवादपि' इति पा० ।

केलादिकमिति सुरासवयोर्न पौनरुक्त्यम् । बन्धुसौहृदाद्बन्धौ त्वयि स्नेहात्पाता पास्यते त्वद्गृहे सह पानं करिष्यते । संप्रति ते सत्प्रतिपथत्वादिति भावः । पिबतेः कर्मणि लुट् ॥

परुषस्तु—हे यदुपुङ्गव यादवबलीवर्द ! चैद्येन सह घटामुपेयुषः समराभियोगं गतस्य तव विकचोत्पलवच्चारुलोचनः । ससुरः सदेवो वासवोऽपि बन्धुसौहृदात् । उपेन्द्रे त्वयि सौभ्रात्रादित्यर्थः । पाता त्राता न । किं पुनर्मशका भीष्मादय इति भावः । पातेस्तृच् । सुहृदयस्य भावः सौहृदमिति विग्रहः । युवादित्वादण्प्रत्ययः 'हृदयस्य हृल्लेख—' (६।३।५०) इति हृद्भावविधानसामर्थ्याच्च 'हृद्भग—' (७।३। १९) इत्युभयपदवृद्धिः । अतएव 'सौहृददौर्हृदशब्दाभ्यामणि हृद्भावौ' इति वामनः । सुहृदस्तु सौहार्दमेव । शब्दार्थश्लेषसंकरः ॥ १२ ॥

हे यदुश्रेष्ठ (श्रीकृष्णजी) ! शिशुपाल—आपके दृढमित्रताको प्राप्त किये हुए (सुवासित करनेके लिये रखे गये) विकसित कमलरूपी नेत्रोंवाले सुरा (गुड़ या मीठेसे बनी हुई मदिरा) के साथ नवीन आसव (नारियल आदि) को बान्धव-स्नेहके कारण पान करेगा अर्थात् आपके साथ दृढमैत्री होनेपर शिशुपाल आपके यहाँ सुरा सहित नारियल आदिके आसवको पीयेगा ।

अप्रियपक्ष—हे यदुओंमें बैलतुल्य (मूढ कृष्ण) ! शिशुपालके साथ (युद्धभूमिमें) आक्रान्त हुए तुमको विकसित कमलोंके समान नेत्रोंवाला, देवोंके साथ इन्द्र (छोटा भाई—उपेन्द्र-होनेसे तुमको) बान्धवके सौहार्दके कारण भी नहीं बचायेगा ॥ १२ ॥

चलितानकदुन्दुभिः पुरः सबलस्त्वं सह सारणेन तम् ।
समितौ रभसादुपागतं सगदः संप्रतिपत्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

चलितेति ॥ रभसाद्धर्षादुपागतं प्राप्तं तं चैद्यं त्वं पुरश्चलितानकदुन्दुभिः पुरोगवसुदेवः । 'वसुदेवोऽस्य जनकः स एवानकदुन्दुभिः' इत्यमरः । सबलो बलभद्रसहितः । सारणेन सारणाख्येन पुत्रेण सह ससारणः सगदः गदाख्येनानुजेन सहितः समितौ सभायां संप्रतिपत्तुं संभावयितुमर्हसि । सर्वबन्धुसमेतः प्रत्येतुमर्हसीत्यर्थः ॥

परुषस्तु—समितौ समरे रभसाद्वेगादुपागतं 'रभसो वेगहर्षयोः' । 'समितिः समरे साम्ये सभायामपि संगतौ' इत्युभयत्रापि विश्वः । तं चैद्यं पुरतश्चलिता आनकाः पटहाः, दुन्दुभयो भेर्यश्च यस्य सः । 'आनकः पटहोऽस्त्री स्याद्भेरी स्त्री दुन्दुभिः पुमान्' इत्यमरः । सबलः ससैन्यः । सगदः गदया कौमोदक्या सहितः सन् सहसा झटिति रणेन युद्धेन संप्रतिपत्तुमभियोक्तुमर्हसि । अत्रापि शब्दार्थश्लेषसंकरः ॥१३॥

हर्षसे आये हुए शिशुपालको आप, वसुदेव (अपने पिता) को आगे करके बलरामजी

---

१. '—गतः' इति पा० ।

'सारण' नामक अपने पुत्र और 'गद' नामक अपने छोटे भाईके साथ सभामें सत्कार कीजियेगा।

अप्रियपक्ष—युद्धमें वेगपूर्वक आये हुए उस शिशुपालके साथ आगे चलते हुए नगाड़े एवं दुन्दुभियोंवाले, सेना और (कौमोदकी नामकी) गदाके सहित तुम्हें शीघ्र युद्धके लिए बढ़ जाना (आगे होना) चाहिए ॥ १३ ॥

समरेषु रिपून् विनिघ्नता शिशुपालेन समेत्य संप्रति।
सुचिरं सह सर्वसात्वतैर्भव विश्वस्तविलासिनीजनः ॥ १४ ॥

समरेष्विति ॥ किंच समरेषु रिपून्विनिघ्नता । अतिशूरेणेत्यर्थः । शिशुपालेन समेत्यैक्यं प्राप्य संप्रति सुचिरं बहुकालं सत्वतः अपत्यानि पुमांसः सात्वता यादवाः । 'उत्सादिभ्योऽञ्' (४।१।८६) । तैः सर्वैः सर्वसात्वतैः सह विश्वस्तविलासिनीजनः शिशुपालभयनिवृत्त्या विश्रब्धविलासिनीजनो भव । 'समौ विश्रम्भविश्वासौ' इत्यमरः ॥

परुषस्तु—रिपुघातिना शिशुपालेन सह समरेषु समेत्य संगत्य संप्रत्येव सर्वसात्वतैः सह विश्वस्तविलासिनीजनो भव । 'विश्वस्ताविधवे समे' इत्यमरः । 'आदितश्च' (७।२।१६) इति चकारादनुक्तसमुच्चयार्थाच्छ्वसेर्निष्ठायामिट्प्रतिषेधः । शिशूनामनुद्धतानामेवायं पालयिता नोद्धतानामिति सर्वथा यादवानघैव हनिष्यतीति भावः ॥ १४ ॥

युद्धमें शत्रुओं को मारनेवाले शिशुपालके साथ इस समय मिल (सन्धि) कर आप चिरकालतक सम्पूर्ण यादवोंके सहित (शिशुपालका भय दूर हो जानेसे) विश्वस्त (होनेसे निर्भय) रमणियोवाले हो जाइये।

अप्रियपक्ष—युद्धमें शत्रुओंको मारनेवाले शिशुपालके साथ इस समय भिड़कर तुम चिरकाल तक सम्पूर्ण यादवोंके साथ विधवा रमणियोंवाला हो जाओ अर्थात् यादवोंके साथ युद्धमें मारे जाओ ॥ १४ ॥

विजितक्रुधमीक्षतामसौ महतां त्वामहितं महीभृताम् ।
असकृज्जितसंयतं पुरो मुदितः सप्रमदं महीपतिः ॥ १५ ॥

विजितेति ॥ असौ महीपतिश्चैद्यः मुदितः सन् विजितक्रुधं मैत्रीसंबन्धान्निरस्तक्रोधं महतां महीभृतां राज्ञां महितं पूजितम् । 'गतिबुद्धि—' (३।२।१८८) इत्यादिना वर्तमाने क्तः । तद्योगे षष्ठी । असकृद्बहुशो जिताः संयताः आजयो येन स तम् । 'समुदायः स्त्रियां संयत्समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः । सप्रमदं सहर्षं त्वा त्वाम् । 'त्वामौ द्वितीयायाः' (८।१।२३) इति त्वादेशः । पुरोऽग्रे ईक्षतां पश्यतु ॥

परुषस्तु—विजितक्रुधं संत्यक्तक्रोधं महतां महीभृतां चैद्यादीनामहितमरिमसकृज्जितश्चासौ संयतो बद्धश्च तम् । स्नातानुलिप्तवत् पूर्वकालेति समासः । 'बद्धो

नद्धश्च संयतः' इति वैजयन्ती। सप्रमदं सस्त्रीकं त्वामिति पदच्छेदः असकृदीक्षताम् ॥

यह शिशुपाल (मित्रता होनेसे) क्रोधको छोड़े हुए, बड़े राजाओंसे सत्कारको पाते हुए और अनेक बार युद्ध में विजयी बने हुए हर्षित आपको पहले (या-अपने सामने) देखे।

अप्रियपक्ष—क्रोधरहित, बड़े-बड़े (शिशुपाल, बाणासुर और रुक्मी आदि) राजाओंके शत्रु, अनेक बार जीते एवं बाँधे गये रमणियों सहित तुमको प्रसन्न यह (शिशुपाल) अपने सामने देखे। (या-जीते एवं बाँधे गये···सामने अनेक बार देखे) ॥ १५ ॥

इति जोषमवस्थितं द्विषः प्रणिधिं गामभिधाय सात्यकिः।
वदति स्म वचोऽथ चोदितश्चलितैकभ्रु रथाङ्गपाणिना ॥ १६ ॥

इतीति ॥ इतीत्थंभूतां गां वाचम्। 'अर्जुनीनेत्रदिग्बाणभूवाग्वारिषु गौर्मता' इति विश्वः। अभिधाय जोषं तूष्णीमवस्थितम्। 'तूष्णीं जोषं भवेन्मौने' इति वैजयन्ती। द्विषः प्रणिधिं दूतं सात्यकिः। अथ दूतवाक्यानन्तरं रथाङ्गं चक्रं पाणौ यस्य तेन रथाङ्गपाणिना हरिणा। 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' इति पाणेः परनिपातः। चलिता प्रेरिता एका भ्रूर्यस्मिन्कर्मणि तत्। 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (१।२।४८) इति ह्रस्वः। चोदितः अस्योत्तरं देहीति भ्रूसंज्ञया प्रेरितः सन्नित्यर्थः। वचो वदति स्मावादीत् ॥ १६ ॥

ऐसा (१६।२-१५) वचन कहकर चुप लगाए हुए शत्रु (शिशुपाल) के दूतसे, सुदर्शनचक्रधारी (श्रीकृष्ण भगवान्) से एक भ्रूके सङ्केतसे उत्तर देनेके लिए प्रेरित सात्यकि कहने लगा ॥ १६ ॥

किं तद्वचस्तदेकविंशतिश्लोकैराह—

मधुरं बहिरन्तरप्रियं कृतिनाऽवाचि वचस्तथा त्वया।
सकलार्थतया विभाव्यते प्रियमन्तर्बहिरप्रियं यथा ॥ १७ ॥

मधुरमित्यादि ॥ कृतिना कुशलेन त्वया बहिः प्रकाशे मधुरं प्रियम् अन्तर्गर्भेऽप्रियं वचस्तथा तेन प्रकारेणावाचि उक्तम्। वचेः कर्मणि लुङि चिणि वृद्धिः। यथा येन प्रकारेण सकलार्थतया संपूर्णाभयार्थतया हेतुना अन्तःप्रियं बहिरप्रियं विभाव्यतेऽवधार्यते। अस्माभिरिति शेषः। अप्रियगर्भं प्रियं यदुक्तं तदस्माकं तु प्रियगर्भमप्रियमेव प्रतीयते। ईदृगुक्तिचातुर्यं तवैवेत्यभिप्रेत्योक्तं कृतिनेति। अतो न श्रद्धेयमिदं वच इति भावः ॥ १७ ॥

(अब सात्यकि के वचनको इक्कीस (१६।१७-३७) श्लोकों से कहते हैं) 'चतुर तुमने बाहर प्रिय तथा भीतर अप्रिय वचन उस प्रकारसे कहे, जिस प्रकार से (प्रिय तथा अप्रियरूप) सम्पूर्ण अर्थयुक्त होनेसे उस वचनको हमलोग बाहरसे अप्रिय तथा भीतर

१. 'नोदित—' इति पा०।

प्रिय समझ रहे हैं अर्थात् भीतर से अप्रिय तथा बाहरसे प्रिय तुम्हारा वचन हम लोगों को भीतरसे प्रिय होनेपर भी बाहरसे अप्रिय ही प्रतीत होता है ॥ १७ ॥

अथवा बहिरेव प्रियमन्तरेवाप्रियं तथापि न ग्राह्यमित्युपमया व्यनक्ति—

अतिकोमलमेकतोऽन्यतः सरसाम्भोरुहवृन्तकर्कशम् ।
वहति स्फुटमेकमेव ते वचनं शाकपलाशदेश्यताम् ॥ १८ ॥

अतीति ॥ एकतो बहिः अतिकोमलम्, अन्यतः अन्तः सरसमार्द्रं यदम्भोरुहस्य वृन्तं प्रसवबन्धनं तदिव कर्कशं परुषम् एकमेव ते तव वचनम् ईषदसमाप्तं शाकपलाशं शाकपलाशदेश्यं महापत्राख्यतरुपत्रं तत्तुल्यम् । 'शाकः पलाशसारः स्याद्वरदारुः करच्छदः । महापत्रो महाशाकः स्थिरदारुर्हनीटकः ॥' इत्यभिधानरत्नमालायाम् । 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः' (५।३।६७) इति देश्यप्रत्ययः । कल्पदेश्यदेशीयानि सादृश्यवाचकानीति दण्डी । तस्य भावस्तत्ता तां वहति । अन्तःपरुषस्य बहिर्माधुर्यं यथा शाकपलाशवदिति भावः । अत्र शाकपलाशोपमायाः पद्मवृन्तोपमासापेक्षत्वात्संकरः ॥ १८ ॥

एक ओर (बाहर) से अत्यन्त कोमल तथा दूसरी ओर (भीतर) से कमलके अभिनव वृन्त के समान कठोर तुम्हारा एक ही वचन 'महापत्र' नामक वृक्षके पत्तेकी समानता को प्राप्त कर रहा है ॥ १८ ॥

ननु अप्रियगर्भेऽपि वाक्ये गुणग्राहिभिः प्रियमेव गृह्यतां हंसैः क्षीरमिवाम्भसीत्याशङ्क्याह—

प्रकटं मृदु नाम जल्पतः परुषं सूचयतोऽर्थमन्तरा ।
शकुनादिव मार्गवर्तिभिः पुरुषादुद्विजितव्यमीदृशः ॥ १९ ॥

प्रकटमिति ॥ प्रकटं प्रकाशं मृदु नाम मृदुकल्पं जल्पतः कथयतः । अन्तरान्तः परुषमनिष्टमर्थं सूचयतः ईदृशोऽन्तःशुद्धिशून्यात्पुरुषादीदृशः शकुनादिव बहिः शुभङ्करं कुर्वतोऽन्तरा परुषं सूचयतः पिङ्गलादिपक्षिण इव मार्गवर्तिभिः सन्मार्गवर्तिभिरध्वगैश्चोद्विजितव्यम् । न चांशतोऽपि ग्राह्यम्, विषसंपृक्तान्नवदखिलस्यानर्थहेतुत्वादिति भावः । 'विज इट्' (१।२।२) इतीटः ङित्त्वान्न गुणः ॥ १९ ॥

('जिस प्रकार हंस जल-मिश्रित दूधमें से केवल दूधको ही ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार गुणग्राही तुम लोगोंको अप्रियगर्भित वचनमें-से भी प्रिय वचनको ग्रहण करना चाहिये' यह तुम नहीं कह सकते, क्योंकि) प्रत्यक्षमें मधुर कहते हुए तथा अप्रत्यक्षमें कटु (अप्रिय) अर्थको सूचित करते हुए (अन्तःकरणमें दूषित) ऐसे पुरुषसे सन्मार्गमें स्थित व्यक्तियोंको उस प्रकार डरना चाहिये, जिस प्रकार प्रत्यक्षमें मधुर बोलते हुए और अप्रत्यक्षमें अनिष्टको सूचित करते हुए (पिङ्गल, टिटिहरी आदि) पक्षीसे मार्गमें जानेवाले

(यात्री) डरते हैं। (अतएव विषसंसृष्ट अन्नके समान तुम्हारा कटुगर्भित प्रियवचन कुछ भी ग्राह्य नहीं है) ॥ १९ ॥

एवं दूतं निर्भर्त्स्य अथ चैद्यं च तद्दोषोद्घाटनपूर्वकं भर्त्सयते—

हरिमर्चितवान्महीपतिर्यदि राज्ञस्तव कोऽत्र मत्सरः।
न्यसनाय ससौरभस्य कस्तरुसूनस्य शिरस्यसूयति ॥ २० ॥

हरिमित्यादि ॥ महीपतिर्युधिष्ठिरो हरिमर्चितवान्यदि पूजितवांश्चेत्। अत्र हर्यर्चने तव राज्ञश्चैद्यस्य मत्सरः कः। न कोऽपीत्यर्थः। ससौरभस्य परिमलयुक्तस्य तरुसूनस्य। तरुग्रहणं सूनस्य साधारणत्वद्योतनार्थम्। शिरसि न्यसनायार्पणाय कोऽसूयति। न कोपीत्यर्थः। 'क्रुधद्रुह—' (१।४।३७) इत्यादिना संप्रदानसंज्ञा। सर्वत्र गुणवद्वस्तु गुणज्ञैर्बहु मन्यते, तटस्थानां किमत्र वृथा संतापेनेति भावः। अत्र हरितरुसूनयोर्वाक्यद्वये बिम्बप्रतिबिम्बभावेनार्चनाशिरोधारणारूपसमानधर्मनिर्देशाद् दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २० ॥

(इस प्रकार सात्यकि दूतको फटकारकर शिशुपाल के दोषोंको कहता हुआ उसको फटकारता है) यदि राजा (युधिष्ठिर) ने श्रीकृष्ण भगवान्‌की पूजा की, तो इसमें तुम्हारे राजा (शिशुपाल) को क्यों ईर्ष्या है ? अर्थात् युधिष्ठिरकृत श्रीकृष्ण पूजनसे शिशुपालको ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये, क्योंकि वृक्षके सुगन्धित पुष्प को शिरपर रखनेपर कौन ईर्ष्या करता है ? अर्थात् कोई भी ईर्ष्या नहीं करता (अतः गुणग्राहीके द्वारा गुणवान्‌का सत्कार करनेपर तटस्थ व्यक्तिका ईर्ष्या करना मूर्खता ही है) ॥ २० ॥

अथ कथं महान्महतः पूजां सहत इत्याशङ्क्य हरिचैद्ययोर्महदन्तरं मनसि निधाय सामान्यतः सुजनदुर्जनयोरन्तरं चतुर्भिराह—

सुकुमारमहो लघीयसां हृदयं तद्गतमप्रियं यतः।
सहसैव समुद्गिरन्त्यमी जरयन्त्येव हि तन्मनीषिणः ॥ २१ ॥

सुकुमारमित्यादि ॥ लघीयसामल्पीयसां हृदयं सुकुमारं तुच्छम्। कुतः यतोऽमी लघीयांसस्तद्गतं हृदयगतमप्रियं सहसैव झटित्येव समुद्गिरन्ति समुच्चारयन्ति। मनीषिणस्तु तदप्रियं कथंचित्। संभाव्यमानमपीति शेषः। जरयन्ति अन्तरेव क्षपयन्ति। न तूद्गिरन्तीत्यर्थः। अहो इत्याश्चर्ये। चैद्यश्चोद्गिरति नैवं हरिरित्यहो महदन्तरमनयोरिति भावः। अत एवाप्रस्तुतात्सामान्यात्प्रस्तुतविशेषप्रतिपत्तिरूपोऽयमप्रस्तुतप्रशंसाभेदः। 'अप्रस्तुतस्य कथनात्प्रस्तुतं यत्र गम्यते। अप्रस्तुतप्रशंसेयं सारूप्यादिनियन्त्रिता ॥' इति लक्षणात्। आदिशब्दात्सामान्यविशेषसंग्रहः। एवमुत्तरश्लोकत्रयेऽपि द्रष्टव्यं, विशेषं तु वक्ष्यामः ॥ २१ ॥

---

१. 'स भूपतिः' इति पा०। २. 'क्षपयन्त्येव हि तन्मनीषिणः' इति 'जरयन्त्येव तन्मनस्विनः' इति च पा०।

(समान गुणवाला महान् अपने समान गुणवाले व्यक्तिके सत्कारको नहीं सहन कर सकता, अतः शिशुपालका उक्त श्रीकृष्ण-पूजनसे ईर्ष्या करना उचित ही है, ऐसा तुम्हें नहीं सोचना चाहिये, क्योंकि शिशुपाल तथा श्रीकृष्ण भगवान्में आकाश–पातालका अन्तर है, यह बात मनमें रखकर सात्यकि चार (१६।२१–२४) श्लोकोंसे सज्जन और दुर्जनका भेद बतला रहा है) अत्यन्त तुच्छ व्यक्तियोंका हृदय बहुत हलका (तुच्छ) होता है, क्योंकि वे लोग तद्गत (हृदयमें स्थित) अप्रियको शीघ्र ही बाहर निकाल देते हैं और मनीषी (विद्वान्–अत्यन्त महान्) लोग (यथाकथञ्चित् उत्पन्न भी) उस (हृदयमें स्थित अप्रिय) को भीतर ही पचा डालते हैं (बाहर प्रकाशित नहीं करते) अहो, आश्चर्य है। (अतः अत्यन्त तुच्छ शिशुपालने हृदयके तुच्छ होनेसे श्रीकृष्ण भगवान्की पूजाको सहन नहीं करके उस तुच्छताको प्रकट कर दिया और शिशुपालके द्वारा अपशब्द कहे जानेपर महान् हृदयवाले भगवान् श्रीकृष्णजीने कुछ भी विकार प्रकट नहीं किया)॥२१॥

उपकारपरः स्वभावतः सततं सर्वजनस्य सज्जनः।
असतामनिशं तथाप्यहो गुरुहृद्रोगकरी तदुन्नतिः॥ २२॥

उपकारेति॥ किंच सज्जनस्वभावतः सततं सर्वजनस्योपकारपरः। न तूपाधिपरः कदाचित्कस्यचिदेवेति भावः। तथापि सर्वोपकारित्वेऽपि तदुन्नतिस्तस्य सज्जनस्योत्कर्षः असतामसाधूनामनिशं गुरुहृद्रोगकरी अत्यन्तहृदयसंतापकारिणी। 'कृञो हेतु—' (३।२।२०) इत्यादिना ताच्छील्ये टप्रत्यये 'टिड्ढाणञ्—' (४।१।१५) इत्यादिना ङीष्। हरिचैद्यौ चैवंभूताविति सैवाप्रस्तुतप्रशंसा॥ २२॥

सज्जन स्वभावसे ही दूसरोंके उपकार करनेमें सर्वदा तत्पर रहते हैं, तथापि उन (सज्जनों) की उन्नति दुर्जनोंको सर्वदा सन्तप्त करनेवाली होती है, अहो आश्चर्य है॥२२॥

परितप्यत एव नोत्तमः परितप्तोऽप्यपरः सुसंवृतिः[1]।
परवृद्धिभिराहितव्यथः स्फुटनिर्भिन्नदुराशयोऽधमः॥ २३॥

परितप्यत इति॥ किंच उत्तमः परवृद्धिभिर्न परितप्यते न व्यथत एव। उत्तमस्यापरशुभद्वेष एव नास्तीत्यर्थः। अपरो मध्यम एवेत्यर्थः। परितप्तोऽपि शोभना संवृतिः परितापगोपनं यस्य स सुसंवृतिः। सन्तमपि परशुभद्वेषं न प्रकाशयतीत्यर्थः। अधमस्तु परवृद्धिभिराहितव्यथः। उत्पादितसंतापः तथा स्फुटं निर्भिन्नः प्रकाशितो दुराशयः परशुभद्वेषलक्षणो दुरभिप्रायो यस्य सः। परशुभं द्वेष्टि प्रकाशयति चेत्यर्थः। चैद्यश्चाधमो हरिस्तूत्तम इति प्रतीतेः पूर्वोक्त एवालङ्कारः॥ २३॥

दूसरोंकी उन्नतिसे उत्तम व्यक्ति सन्तप्त ही नहीं होता है और मध्यम व्यक्ति सन्तप्त होकर भी (उस सन्तापको) छिपा लेता है तथा नीच व्यक्ति व्यथित होकर (दूसरेकी उन्नतिमें ईर्ष्या रूप) अपने सन्तापको स्पष्टरूपमें प्रकाशित कर देता है॥ २३॥

---

१. 'सुसंवृतः' इति पा०।

ननु मानिनां परोत्कर्षप्रद्वेषो भूषणमेवेत्याशङ्क्य नेत्याह—

अनिराकृततापसंपदं फलहीनां सुमनोभिरुज्झिताम् ।
खलतां खलतामिवासतीं प्रतिपद्येत कथं बुधो जनः ॥ २४ ॥

अनिराकृतेति ॥ अनिराकृता अनिवारिता तापसंपत् तापातिशयो यया ताम् । एकत्र संतापजननैकस्वभावादपरत्रासतश्छायाविरहाच्चेति भावः । तथा फलहीनाम् । एकत्र इहामुत्र चोपकारशून्यां प्रत्युतोभयत्राप्यनर्थकरीं चेति भावः । अन्यत्र सर्वत्रार्थरहितां सुमनोभिर्बुधैरुज्झिताम् अन्यत्र पुष्पैर्वर्जिताम् । 'सुमनाः पुष्पमालत्योः स्त्री देवबुधयोः पुमान्' इति वैजयन्ती । असतीं दुष्टाम्, अन्यत्र निरुपाख्यां खलस्य भावः खलता तां खलतां दुर्जनत्वम् । खस्य लता तां खलतां गगनलतिकामिव बुधो जनः सदसद्विवेककुशलो जनः कथं प्रतिपद्येतावलम्बेत । न कथमपीत्यर्थः । वृथा मत्सरो न कस्यापि गुण इति भावः । तथापि स खलतां प्रतिपद्यते चैद्यो न हरिरिति प्रतीतेः सैवाप्रस्तुतप्रशंसा खलतामिवेत्युपमया संकीर्यते । 'अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' इति न्यायादसत्याया अपि खलतिकायाः प्रतीतिसत्यतया खलतोपमत्वसिद्धिः ॥ २४ ॥

('परवृद्धिमत्सरि मनो हि मानिनाम्' (१.५।१) नीतिके अनुसार दूसरेकी उन्नतिसे ईर्ष्या करना मानियोंका भूषण है, दूषण नहीं, यह भी तुम्हें नहीं सोचना चाहिये, क्योंकि) सन्तापाधिक्यको दूर नहीं करनेवाली, इस लोकमें तथा परलोकमें भी निष्फल (उपकार नहीं करनेवाली, पक्षा०—सर्वस्वहीन), विद्वानोंके द्वारा छोड़ी गयी (पक्षा०—पुष्पोंसे रहित–फूल नहीं देनेवाली); दुष्ट (पक्षा०—अस्तित्वहीन) दुष्टताको आकाशलताके समान कौन विद्वान् (भले–बुरेको समझनेवाला चतुर , पक्षा०—देव) ग्रहण करेगा ? अर्थात् जिस प्रकार उक्तरूपिणी आकाशलताको कोई देव ग्रहण नहीं करता, उसी प्रकार उक्तरूप दुर्जनताको कोई भी विचारशील ग्रहण नहीं करता ॥ २४ ॥

नन्वेवं महानुभावो हरिः किमर्थं तथा सदसि राज्ञा निर्भर्त्स्यमानो मौनमास्थित इत्याशङ्क्य सत्यमनादरान्न तु कातर्यादित्याह—

प्रतिवाचमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभुजे ।
अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी ॥ २५ ॥

प्रतीति ॥ केशवः शपमानाय आक्रोशते । स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम् । चेदिभूभुजे । क्रियाग्रहणात्संप्रदानत्वम् । प्रतिवाचं प्रत्युत्तरं नादत्त । केसरी सिंहो घनध्वनिमनुहुङ्कुरुते प्रतिगर्जति । गोमायुरुतानि शिवारुतानि नानुहुङ्कुरुते । 'स्त्रियां शिवा भूरिमायगोमायुमृगधूर्तकाः' इत्यमरः । महतामधमेष्ववज्ञैव नीतिरिति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २५ ॥

(इस प्रकार महान् प्रभावसंपन्न श्रीकृष्ण भगवान् शिशुपालके अपशब्द कहनेपर भी कायरपनेके कारण नहीं; किन्तु उपेक्षाके कारण कुछ नहीं बोले, इस बातको उदाहरण-

पूर्वक समर्थन करता हुआ सात्यकि आगे कहाता है) अपशब्द कहते हुए चेदिपति (शिशुपाल) को श्रीकृष्ण भगवान्‌ने प्रत्युत्तर नहीं दिया, क्योंकि सिंह मेघके गरजनेपर गरजता है, स्यारके बोलनेपर नहीं (अतः शिशुपाल स्यारके समान तथा श्रीकृष्ण भगवान् सिंहके समान हैं) ॥ २५ ॥

किञ्च राज्ञो हरिणा विरोधोऽपि न योग्य इत्याह—

जितरोषरया महाधियः सपदि क्रोधजितो लघुर्जनः।
विजितेन जितस्य दुर्मतेर्मतिमद्भिः सह का विरोधिता ॥ २६ ॥

जितेति ॥ महाधियः सुधियो जितो रोषरयो यैस्ते तथोक्ताः। लघुरल्पो जनस्तु सपदि क्रोधजितः। एवं विजितेन जितस्य। जितेन क्रोधेन जितस्येत्यर्थः। दुर्मतेर्मूर्खस्य मतिमद्भिः पण्डितैः सह विरोधिता स्पर्धा का। मूर्खपण्डितयोर्मैत्रीव स्पर्धापि न संगतेत्यर्थः। मूर्खश्चायं चैद्य इत्यप्रस्तुतात्सामान्याद्विशेषप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसाभेदः ॥

(शिशुपालको श्रीकृष्ण भगवान्‌के साथ विरोध करना भी उचित नहीं है, क्योंकि) बुद्धिमान् लोग क्रोधके वेग (अधिक क्रोध) को जीत लेते हैं तथा क्षुद्रलोग क्रोधसे तत्काल ही जीते जाते (क्रोधके वशीभूत होते) हैं; अत एव पराजित (क्रोध) से जीते गये दुष्टका बुद्धिमानोंके साथ विरोध कैसा ? (महान् अन्तरवाले सज्जन तथा दुर्जनमें मित्रताके समान विरोध करना भी अनुचित ही है) ॥ २६ ॥

नापि चैद्यप्रलापैः कृष्णस्य किंचिल्लाघवमित्याशयेनाह—

वचनैरसतां महीयसो न खलु व्येति गुरुत्वमुद्धतैः।
किमपैति रजोभिरौर्वरैरवकीर्णस्य मणेर्महार्घता ॥ २७ ॥

वचनैरिति ॥ उद्धतैर्निष्ठुरैः असतां दुर्जनानां वचनैर्महीयसो महत्तमस्य गुरुत्वं गौरवं न व्येति नापैति खलु। और्वरैर्भौमैः। 'उर्वरा सर्वशस्याढ्यभूमौ स्याद्भूमिमात्रके' इति विश्वः। रजोभिरवकीर्णस्य छन्नस्य मणेर्महार्घता महामूल्यत्वम्। 'मूल्ये पूजाविधावर्घः' इत्यमरः। अपैति किम्। नापैत्येवेत्यर्थः। अत्र मणिमहीयसोर्वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकरणाद् दृष्टान्तालङ्कारः। महीयस इति सामान्याद्धरेरिति विशेषप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा चेति संकरः। हरिमण्योरुपमाध्वनिश्च ॥ २७ ॥

दुर्जनोंके उद्धृत वचनोंसे बहुत बड़े (सज्जन) लोगोंका गौरव कम नहीं होता है, (क्योंकि) पृथ्वीकी धूलियोंसे ढके हुए रत्नकी बहुमूल्यता (बेशकीमतीपन) नष्ट हो जाती है क्या ? अर्थात् नहीं नष्ट होती (किन्तु धूलिसे ढके हुए भी रत्नका मूल्य पूर्ववत् ही कायम रहता है, अतः तुम्हारे नीच राजाके अपशब्द कहनेसे भी श्रीकृष्ण भगवान्‌का गौरव कम नहीं हुआ है) ॥ २७ ॥

युक्तं चैतत्पारुष्यं दुरात्मनामित्याह—

परितोषयिता न कश्चन स्वगतो यस्य गुणोऽस्ति देहिनः ।
परदोषकथाभिरल्पकः 'स्वजनं तोषयितुं किलेच्छति ॥ २८ ॥

परीति ॥ यस्य देहिनो जन्तोः परितोषयिता परेषामानन्दयिता स्वगतो गुणः कश्चन कश्चिदपि नास्ति । अल्पकोऽतितुच्छः, स इति शेषः । यत्तदोर्नित्यसंबन्धात् । परदोषकथाभिरन्यजनदोषोक्तिभिः स्वजनम् । न तु मध्यस्थमिति भावः । तोषयितुमिच्छति किल ईहते खलु । अतोऽवश्यकर्तव्यमेतस्येत्यर्थः । चैद्यस्यापि निर्गुणत्वात्परदूषणं युक्तमिति । अत एवाप्रस्तुतप्रशंसाभेदः ॥ २८ ॥

जिस (नीच) व्यक्तिका अपना कोई गुण दूसरेको आनन्दित करनेवाला नहीं है, वह नीच व्यक्ति दूसरेके दोषोंको कहनेसे अपनेको (मध्यस्थ व्यक्तिको नहीं) सन्तुष्ट करना चाहता है। (अतएव गुणहीन तुच्छ शिशुपालका श्रीकृष्ण भगवान्‌में अवर्तमान भी दोषोंका कहना उचित ही है) ॥ २८ ॥

नन्वात्मनो निर्दोषत्वाभिमानादित्थं विजृम्भणमित्याशङ्क्याह—

सहजान्धदृशः स्वदुर्नये परदोषेक्षणदिव्यचक्षुषः ।
स्वगुणोच्चगिरो मुनिव्रताः परवर्णग्रहणेष्वसाधवः ॥ २९ ॥

सहजेति ॥ असाधवः खलाः स्वदुर्नये स्वदोषे । महत्यपीति भावः । सहजा स्वाभाविकी अन्धा अपश्यन्ती दृग् येषां ते । जात्यन्धा इत्यर्थः । परदोषाणां सूक्ष्माणामपीति भावः । ईक्षणे दर्शने दिव्यचक्षुषोऽप्रतिहतदृष्टयः । किंच स्वगुणेषूच्चगिरः । आत्मप्रशंसायामतिप्रगल्भवाच इत्यर्थः । परवर्णग्रहणेषु परस्तुतिवचनेषु । 'स्तुतौ वर्णं तु वाऽक्षरे' इत्यमरः । मुनिव्रता मौनव्रतिनः । 'अर्शआदिभ्योऽच्' (५।२।१२७)। चैद्यश्चैवंविध इति प्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा ॥ २९ ॥

दुर्जन लोग अपने दोष (के देखने) में स्वभावतः अन्धे (अपने दोषोंको नहीं देखनेवाले) होते हैं तथा दूसरोंके दोषोंको देखनेमें दिव्यदृष्टि होते हैं और अपने गुणोंको कहनेमें तेज बोलनेवाले होते हैं तथा दूसरोंके गुणोंको कहनेमें मौनी (चुप) होते हैं ॥ २९ ॥

साधवस्तु नैवमित्याह—

प्रकटान्यपि नैपुणं महत्परवाच्यानि चिराय गोपितुम् ।
विवरीतुमथात्मनो गुणान्भृशमाकौशलमार्यचेतसाम् ॥ ३० ॥

प्रकटानीति ॥ आर्यचेतसां सुमनसां प्रकटान्यपि परवाच्यानि परदूषणानि चिराय गोपितुं गोपायितुम् । संवरीतुमित्यर्थः । 'आयादय आर्धधातुके वा' (३।१।३१) इति विकल्पादायप्रत्ययाभावः । महन्नैपुणं कौशलम् । अथेति वाक्यारम्भे ।

१. 'स जनम्' इति पा० ।

अथात्मनो गुणान्विवरीतुं प्रकटयितुम् । आत्मप्रशंसां कर्तुमित्यर्थः । भृशमाकौशलमत्यन्तमकौशलम् । साधवो न परान्निन्दन्ति न वात्मानं प्रशंसन्ति । 'आत्मप्रशंसां परगर्हामिव वर्जयेदि'त्यापस्तम्बीये निषेधस्मरणादिति भावः । 'नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम्' (७।३।३०) इति विकल्पान्नञ्पूर्वपदस्यापि वृद्धिः । कृष्णश्चैवंभूत इति विशेषप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसैव ॥ ३० ॥

उत्तम चित्तवाले (सज्जन) लोगोंकी प्रत्यक्ष भी दूसरोंकी निन्दाओंको छिपानेमें बड़ी निपुणता होती है और अपने गुणोंको छिपानेमें अत्यधिक कौशल (चातुर्य) होता है अर्थात् सज्जन लोग दूसरे लोगोंके सर्वविदित दोषोंको तथा अपने गुणोंको छिपाते हैं (किसीसे भी नहीं कहते) ॥ ३० ॥

किमिवाखिललोककीर्तितं कथयत्यात्मगुणं महामनाः ।
वदिता न लघीयसोऽपरः स्वगुणं तेन वदत्यसौ स्वयम् ॥ ३१ ॥

किमिति ॥ किंच महामना महात्मा । अखिललोककीर्तितं स्वत एव सर्वैर्लोकैः प्रख्यातमात्मगुणं किमिव किमर्थं कथयति । न कथयत्येव । स्वत एव सर्वैर्लोकैः कीर्त्यमानत्वादित्यर्थः । लघीयसस्तुच्छस्य तु स्वगुणं वदिता वक्ता । वदेस्तृन्प्रत्ययः । अत एव 'न लोका—' (२।३।६९) इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । अपरोऽन्यो नास्ति तेन कारणेनासौ लघीयान् स्वगुणं स्वयमेव वदति, न केवलं निषेधात् । स्वत्वप्रयोजनत्वादपि महानात्मप्रशंसां न करोति, तुच्छस्तु वक्त्रन्तरासंभवात् स्वयमेव तां प्रलपतीत्यर्थः । पूर्वार्धे पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, उत्तरार्धे वाक्यार्थहेतुकं चोन्नेयम् । कृष्णचैद्यौ चैवंविधाविति विशेषप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसा चेति संकरः ॥ ३१ ॥

सज्जन व्यक्ति सब लोगोंसे कहे जाते हुए अपने गुणोंको क्यों कहे ? और अत्यन्त तुच्छ व्यक्तिके गुणको कहनेवाला कोई भी दूसरा व्यक्ति नहीं है, अतएव वह अत्यन्त तुच्छ व्यक्ति अपने गुणोंको स्वयमेव कहता है ॥ ३१ ॥

किंच महात्मानः क्रुद्धाः काले पराक्रमन्ति, दुरात्मानस्तु केवलं प्रलपन्तीत्याह—

विसृजन्त्यविकत्थिनः[1] परे विषमाशीविषवन्नराः क्रुधम् ।
दधतोऽन्तरसाररूपतां ध्वनिसाराः पटहा इवेतरे ॥ ३२ ॥

विसृजन्तीति ॥ परे नराः सत्पुरुषाः विषमाशीविषवत् क्रूरसर्पवदित्युपमा । अविकत्थिनोऽनात्मश्लाघिन एव क्रुधं क्रोधं विसृजन्ति वमन्ति । पराक्रमन्तीत्यर्थः । अन्तरभ्यन्तरे असाररूपतां निःसाररूपतां दधतो दधानाः । 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) इति नुमभावः । इतरे जना दुर्जनाः पटहा इव ध्वनिरेव सारो बलं येषां ते ध्वनिसारा वाक्शूरा एव । न तु बाहुबलशालिन इति भावः । अत्रापीदृशौ कृष्णचैद्याविस्यप्रस्तुतसामान्यात्प्रस्तुतविशेषप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसाभेदः ॥ ३२ ॥

---

१. '—विकत्थना' इति पा० ।

आत्मप्रशंसा नहीं करनेवाले सज्जन लोग भयङ्कर (विषैले) साँपके समान क्रोध करते हैं अर्थात् समय आनेपर ही अपना पराक्रम प्रदर्शित करते हैं, उसे सर्वत्र कहते नहीं फिरते और दूसरे (दुर्जन) लोग भीतरमें असारताको धारण करते हुए बहुत बोलने (ध्वनि करने) वाले नगाड़ेके समान (केवल बोलनेमें ही बहादुर) होते हैं ॥ ३२ ॥

'अभिधाय तदा तदप्रियम्' (१६।२) इत्यादिना यद् दूतेन युगपत्प्रियाप्रिये अभिहिते तत्रोत्तरमाह—

नरकच्छिदमिच्छतीक्षितुं विधिना येन स चेदिभूपतिः ।
द्रुतमेतु न हापयिष्यते सदृशं तस्य विधातुमुत्तरम् ॥ ३३ ॥

नरकेति ॥ स महीपतिश्चेदिभूपतिः येन विधिना येन प्रकारेण संधिना विग्रहेण वा नरकच्छिदं नरकस्याप्यन्तकम् । किमन्येषामशक्तानामिति भावः । ईक्षितुमिच्छति तस्य विधेः सदृशमुत्तरं प्रतिक्रिया स्नेहो विरोधो वा विधातुं न हापयिष्यते न यापयिष्यते । अविलम्बेन विधास्यत इत्यर्थः । जहातेर्ण्यन्तात्कर्मणि लृट् । विधानक्रियया अनभिहितेऽपि प्रधानभूतहापनक्रिययाभिहितत्वादुत्तरमिति न कर्मणि द्वितीया । द्रुतं शीघ्रमेतु आगच्छतु । आगमने स्वयमेव हीयत इति भावः ॥ ३३ ॥

(अब दूतोक्त पूर्ववचन (१६।२) का उत्तर देता हुआ सात्यकि कहता है) वह चेदिराज (शिशुपाल) नरकान्तक (श्रीकृष्ण भगवान्) को जिस विधिसे (मित्ररूपमें या शत्रुरूपमें) देखनेके लिये आना चाहता हैं; उसके योग्य उत्तर दिया जायेगा । (यदि मित्र बनकर वह आवेगा तो मित्रभावसे तथा शत्रु बनकर आयेगा तो शत्रुभावसे व्यवहार किया जायेगा) वह शीघ्र ही आये ॥ ३३ ॥

ननु 'अभिधाय' (१६।२) इत्यादौ मयापि सान्त्वमेव विवक्षितं न विग्रहस्तत्किमुभयाभ्यनुज्ञयेत्याशङ्क्याह—

समनद्ध किमङ्ग भूपतिर्यदि संधित्सुरसौ सहामुना ।
हरिराक्रमणेन संनतिं किल बिभ्रीत भियेत्यसंभवः ॥ ३४ ॥

समनद्धेति ॥ अङ्गेत्यामन्त्रणे । असौ भूपतिश्चैद्योऽमुना हरिणा सह संधित्सुर्यदि संधातुमिच्छुश्चेत् । दधातेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । किं समनद्ध किमर्थं संनद्धवान् । ततो नायं संधित्सुरिति भावः । नह्यतेः स्वरितेत्वात्कर्तरि लुङि तङ् 'झलो झलि' (८।२।२६) इति सकारलोपः । कृष्णभीषणार्थं संनाह इत्यत आह—हरिः सिंहः कृष्णश्च किलाक्रमणेनाभिभवेन या भीस्तया संनतिं नम्रतां बिभ्रीत बिभृयादित्यसंभवः । संभवो नास्ति खल्वित्यर्थः ॥ ३४ ॥

हे अङ्ग (स्वजनभूत दूत) ! यदि यह राजा (शिशुपाल) इन (श्रीकृष्ण भगवान्) के साथ सन्धि करना चाहता है तो उसने सन्नाह (युद्ध करनेके लिए सेनाको सुसज्जित क्यों किया ? (अतएव प्रतीत होता है कि वह श्रीकृष्ण भगवान्से सन्धि नहीं, अपितु युद्ध

करना चाहता है), श्रीकृष्ण भगवान् (पक्षा०—सिंह) आक्रमणसे उत्पन्न भयके द्वारा नम्र हो जायेंगे (पक्षा०—सिंह दब जायेगा) । यह असम्भव ही है । (अतएव श्रीकृष्ण भगवान्को डरानेके लिये युद्ध की तैयारी की है, यह भी तुम नहीं कह सकते) ॥ ३४ ॥

अथाक्रमणेऽनिष्टमाचष्टे—

महतस्तरसा विलङ्घयन्निजदोषेण कुधीर्विनश्यति ।
कुरुते न खलु स्वयेच्छया शलभानिन्धनमिद्धदीधितिः ॥ ३५ ॥

महत इति ॥ कुधीरासन्नविनाशत्वाद्विपरीतबुद्धिमान्महतो महानुभावांस्तरसा बलेन । 'तरसी बलरंहसी' इति विश्वः । विलङ्घयन्नाक्रामन्निजदोषेण स्वापराधेनैवोल्लङ्घनरूपेण विनश्यति । तथा हि—इद्धदीधितिर्दीप्तार्चिरग्निः स्वया निजयेच्छया शलभान्पतङ्गान् । 'समौ पतङ्गशलभौ' इत्यमरः । इन्धनं दाह्यं न कुरुते खलु, किंतु त एव निजौद्धत्यान्निपत्य दह्यन्त इत्यर्थः । इतः परं न क्षम्यत इति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ३५ ॥

(युद्धारम्भ करनेपर शिशुपालका ही अनिष्ट होगा, इस बातको दृष्टान्तके साथ समझाता हुआ सात्यकि कहता है—शीघ्रभावी विनाशसे) विपरीत बुद्धिवाला बड़ोंका बलपूर्वक उल्लंघन करता हुआ अपने ही दोषसे नष्ट हो जाता है, (क्योंकि) तीव्र ज्वालायुक्त अग्नि फतिङ्गोंको अपनी इच्छासे नहीं जलाता है (किन्तु वे अपने ही दोषसे जल जाते हैं) ॥ ३५ ॥

नन्वसहने शार्ङ्गिणः शतापराधसहनप्रतिज्ञाभङ्गः स्यादित्यत्राह—

यदपूरि पुरा महीपतिर्न मुखेन स्वयमागसां शतम् ।
अथ संप्रति पर्यपूपुरत्तदसौ दूतमुखेन शार्ङ्गिणः ॥ ३६ ॥

यदिति ॥ पुरा पूर्वं महीपतिश्चैद्यो मुखेन स्ववाचा यदागसामपराधानां शतम् । 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' इत्यमरः । शार्ङ्गिणः कृष्णस्य स्वयं नापूरि । नापूरयदित्यर्थः । पूरयतेः कर्तरि लुङ् 'दीपजन—' (३।१।६१) इत्यादिना विकल्पाच्चिण्प्रत्यये चिणो लुक् । अथ स्वप्रलापानन्तरं संप्रतीदानीमसौ चैद्यः दूतमुखेन दूतवाचा तत् आगसां शतं पर्यपूपुरत् परिपूरयामास । दूतमुखत्वाद्वाज्ञां तेन कृष्णक्रोधावसरदानेन महदुपकृतमायुष्मतेति भावः । पूरयतेर्लुङि 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' । (७।४।१) अभ्यासदीर्घः ॥ ३६ ॥

(यदि श्रीकृष्ण भगवान् शिशुपालको युद्धमें मारेंगे तो 'उसकी मातासे शिशुपालके सौ अपराधोंको सहनेके लिए की गयी उनकी प्रतिज्ञा भङ्ग हो जायेगी ?' इसका उत्तर देता हुआ सात्यकि कहता है) यदि राजा (शिशुपाल) ने पहले (सभास्थलसे आनेके पूर्व श्रीकृष्ण भगवान् की युधिष्ठिर द्वारा पूजा करनेपर) अपने मुखसे (श्रीकृष्ण भगवान्को

---

१. 'विधी—' इति पा०) २. 'महीभुजा न' इति पा० ।

अपशब्द कहता हुआ) सौ अपराधोंको पूरा नहीं किया था किन्तु श्रीकृष्ण भगवान्के प्रति कहे गये दुर्वचनोंके बाद अब उस (शिशुपाल) ने दूत अर्थात् तुम्हारे मुखसे उन सौ अपराधोंको पूरा कर दिया ॥ ३६ ॥

निगमयन्फलितमाह—

यदनर्गलगोपुराननस्त्वमितो[१] वक्ष्यसि किंचिदप्रियम् ।
विवरिष्यति तच्चिरस्य नः समयोद्वीक्षण[२]रक्षितां क्रुधम् ॥ ३७ ॥

यदिति ॥ अनर्गलमविष्कम्भम् । विवृतमिति यावत् । 'तद्विष्कम्भोऽर्गलं न ना' इत्यमरः । यद्गोपुरं पुरद्वारं तदिवाननं यस्य सः । वाच्यावाच्यविवेकशून्य इत्यर्थः । त्वमितः इतः परं यत्किंचिदप्रियं वक्ष्यसि तदप्रियं नोऽस्माकं चिरस्य चिरात्प्रभृति । 'चिराय चिररात्राय चिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' इत्यव्ययेष्वमरः । समयोद्वीक्षणेन संवित्प्रतीक्षणेन रक्षितां, निरुद्धामित्यर्थः । 'समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' इत्यमरः । क्रुधं क्रोधं विवरिष्यति । 'वॄतो वा' (७।२।३८) इति दीर्घविकल्पः । इतः परं त्वमपि दण्ड्य एवेति भावः ॥ ३७ ॥

(अब अन्तमें अपने वचनके उपसंहारके साथ-साथ पुनः उस प्रकार अप्रिय वचनको कहनेसे मना करता हुआ सात्यकि करता है) अनर्गल (खुले हुए) नगरद्वार (नगरके फाटक) के समान (विशाल-बाये हुए) मुखवाले तुम इसके आगे जो कुछ अप्रिय कहोगे वह (तुम्हारा अप्रिय कहना) समय की प्रतीक्षा करने के लिए चिरकालसे रोके गये हमारे क्रोधको प्रकट कर देगा अर्थात् अब पुनः अप्रिय कहनेपर तुझे ही हम दण्डित करेंगे ॥३७॥

निशमय्य तदूर्जितं शिनेर्वचनं नप्तुरनाप्तुरेनसाम् ।
पुनरुज्झितसाध्वसं[३] द्विषामभिधत्ते स्म वचो वचोहरः ॥ ३८ ॥

निशमय्येति ॥ एनसामनाप्तुरसंस्प्रष्टुः । सत्यवादिन इति भावः । आप्नोतेस्तृच् । शिनेः शिनिनाम्नः कस्यचिद्यादवस्य नप्तुः पौत्रस्य । सात्यकेरिति भावः । तदूर्जित- मर्थयुक्तं वचनं निशमय्य श्रुत्वा । 'ल्यपि लघुपूर्वात्' (६।४।५६) इति णेरयादेशः । पुनर्भूयोऽप्युज्झितसाध्वसं त्यक्तभयं यथा तथा द्विषां वचो हरतीति वचोहरो दूतः । 'हरतेरनुद्यमनेऽच्' (३।२।९) वचोऽभिधत्ते स्म अभिहितवान् ॥ ३८ ॥

दोषोंसे असंस्पृष्ट अर्थात् निर्दोष (सत्यवक्ता), 'शिनि' नामक यदुवंशीय राजाके पौत्र (सात्यकि) के बलयुक्त उस वचन (१६।१७-३७) को सुनकर शत्रुओंका संदेश पहुँचाने- वाला अर्थात् शिशुपालका दूत फिर निर्भयतापूर्वक बोला ॥ ३८ ॥

---

१. 'मतो' इति पा० । २. '—दीक्षण—' इति पा० ।
३. 'साध्वसो' इति पा० ।

विविनक्ति न बुद्धिदुर्विधः स्वयमेव स्वहितं पृथग्जनः।
यदुदीरितमप्यदः परैर्न विजानाति तदद्भुतं महत् ॥ ३९ ॥

विविनक्तीति॥ बुद्ध्या दुर्विधो दरिद्रः। बुद्धिशून्य इत्यर्थः। 'निःस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गतोऽपि सः' इत्यमरः। पृथग्जनः पामरजनः स्वयमेव परोपदेशं विनैवात्महितं न विविनक्ति तद्युक्तमेवेति भावः। किंतु परैरुदीरितमुपदिष्टमप्यदो हितं न विजानातीति यत्तन्महदद्भुतम्। यतः सूक्तं न गृह्णातीति भावः॥ ३९॥

(यहाँ से इस षोडश सर्गकी समाप्ति तक दूतके द्वारा कहे गये वचनका वर्णन है) बुद्धिहीन नीच स्वयं अपना हित नहीं समझता यह ठीक है, किन्तु जो दूसरोंसे कहे जाने-पर भी अपना हित नहीं समझता यह बड़ा आश्चर्य है ॥ ३९ ॥

अथ किमद्भुतं मूर्खेष्वित्याशयेनाह—

विदुरेष्यदपायमात्मना परतः श्रद्दधतेऽथवा बुधाः।
न परोपहितं न च स्वतः प्रमिमीतेऽनुभवादृतेऽल्पधीः ॥ ४० ॥

विदुरिति। बुधा बुद्धिमन्तः एष्यन्तमागामिनम् अपायमनर्थम् आत्मना स्वयमेव। प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानात्तृतीया। विदुर्विदन्ति। 'विदो लटो वा' (३।४।८३) इति विकल्पाज्जुसादेशः। अथवा परतोऽन्यस्मादाप्ताच्छ्रद्दधते विश्वसन्ति। आप्तोक्तं गृह्णन्तीत्यर्थः। 'श्रदन्तरोरुपसङ्ख्यानम्' (वा०) इत्युपसर्गसंज्ञोपसङ्ख्यानाद्धातोः प्राक्प्रयोगः। अल्पधीर्मूढस्तु अनुभवादृते स्वानुभवं विना। 'अन्यारादितरर्ते—' (२।३।२९) इति पञ्चमी। न प्रमिमीते न जानाति। स्वतः प्रमाता उत्तमः, परतः प्रमाता मध्यमः, अधमस्तु स्वानुभवैकप्रमाण इत्यर्थः। अधमस्त्वमिति भावः। अत एवाप्रस्तुतसामान्यात्प्रस्तुतविशेषप्रतीतेरप्रस्तुतप्रशंसाभेदः॥ ४०॥

बुद्धिमान् लोग आनेवाले अनर्थ को स्वयमेव जान जाते हैं, अथवा दूसरों (आप्तजनों) के कहने पर विश्वास करते हैं, किन्तु तुच्छ बुद्धिवाला व्यक्ति अनुभवके बिना (अपने भावी अनर्थको) न तो स्वयं जानता है और न दूसरेके कहने पर ही जानता है, (अपितु अनर्थके आनेपर अनुभव करनेके बाद ही जानता है। इस प्रकार स्वयमेव समझनेवाले उत्तम, दूसरोंके कहनेपर समझनेवाले मध्यम तथा अनुभव होनेपर ही समझनेवाले नीच मूर्ख होते हैं, इनमेंसे तुम मन्दबुद्धि हो, क्योंकि मेरे समझानेपर भी अपने भावी अहितको नहीं समझते हो, अतः अब जब तुम्हें अनुभव होगा तभी समझोगे) ॥ ४० ॥

अतः प्रस्तुते किमायातं तत्राह—

कुशलं खलु तुभ्यमेव तद्वचनं कृष्ण यदभ्यधामहम्।
उपदेशपराः परेष्वपि स्वविनाशाभिमुखेषु साधवः ॥ ४१ ॥

कुशलमिति॥ हे कृष्ण, अहं यद्वचनमभ्यधाम् 'अभिधाय—' (१।१२) इत्या-

दिना राज्ञां सन्धिगुणाय विग्रहस्त्वनर्थायेत्येवमवोचमित्यर्थः। तद्वचनं तुभ्यमेव कुशलं हितम्। 'चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः' (२।३।७३) इति चतुर्थी। नन्वहितेषु हितोपदेशात्प्रत्ययः कथमित्याशङ्क्यार्थान्तरन्यासेन परिहरति· साधवः सुजनाः स्वविनाशाभिमुखेषु। प्रबलविरोधादात्मविनाशहेतुभूतकर्मप्रवृत्ते· ष्वित्यर्थः। परेषु शत्रुष्वप्युपदेशपरा उपदिशन्त्येव कृपालुतयेति भावः॥ ४१॥

हे कृष्ण जी! मैंने जो वचन कहे, वे तुम्हारे लिए ही हितकर हैं, (क्योंकि) सज्जन लोग स्वविनाशोन्मुख शत्रुओंको (दयालुतासे) उपदेश देते हैं, (अतः मेरे कहे हुए वचनों को आप अन्यथा (अपना अहितकारक) मत समझें)॥ ४१॥

तथाऽप्यर्थद्वये त्वद्वाक्ये किं ग्राह्यं तत्राह—

उभयं युगपन्मयोदितं त्वरया सान्त्वमथेतरच्च ते।
प्रविभज्य पृथङ्मनीषया स्वगुणं यत्किल तत्करिष्यसि॥ ४२॥

उभयमिति॥ मया सान्त्वं सामादि। अथेति पक्षान्तरे। इतरत्। असान्त्वम्। विग्रहश्चेत्यर्थः। युगपदुदितं, श्लेषाश्रयणादेकशब्देनाभिहितमित्यर्थः। त्वं तु मनी· षया बुद्ध्या पृथग्भेदेन प्रविभज्य विविच्य यत्स्वगुणं तत्र द्वयेऽपि त्वरया यच्छु· भोदर्कं तत्करिष्यसि किल खलु। हंसः क्षीरमिवाम्भसीति भावः॥ ४२॥

(तुम्हारे प्रिय तथा अप्रिय दोनों अर्थयुक्त वचनमेंसे कौन-सा अर्थ ग्रहण किया जाय? इस विषयमें दूत कहता हैं) मेरे श्लेषद्वारा एक साथ कहे गये सान्त्व तथा असान्त्व दोनों प्रकारके वचनोंमेंसे 'तुम अपनी बुद्धिसे पृथग्भेद विभक्तकर अर्थात् विचारकर जो तुम्हारे गुणके अनुकूल हो अर्थात् शीघ्र सत्फलप्रद हो, उसे करना॥ ४२॥

अथवा सुजनः स्वभावात्कृतोऽपि हितोपदेशो मूर्खेषु निष्फल इत्याह—

अथवाभिनिविष्टबुद्धिषु व्रजति व्यर्थकतां सुभाषितम्।
रविरागिषु शीतरोचिषः करजालं कमलाकरेष्विव॥ ४३॥

अथवेति॥ अथवा अभिनिविष्टबुद्धिषु दुराग्रहग्रस्तचित्तेषु विषये सुभाषितं हितोपदेशवचनं रविरागिषु तपनानुरक्तेषु कमलाकरेषु शीतरोचिषः शीतभानोः करजालमिव व्यर्थकतां निरर्थकतां व्रजति। तस्मादलमेव त्वयि हितोपदेशचिन्त· येति भावः॥ ४३॥

(अथवा सज्जनप्रदत्त हितोपदेश भी मूर्खोंमें व्यर्थ ही होता है, इसको दृष्टान्तपूर्वक दूत कहता है) अथवा दुराग्रही चित्तवालोंके विषयमें (सज्जनोंके द्वारा कहा) गया भी सुभाषित (हितकर वचन, तीव्र होनेसे अग्राह्य भी) सूर्य-किरणोंमें अनुराग करनेवाले कमलाकरोंमें (शीतल होनेसे ग्रहण करने योग्य भी) चन्द्रमाके किरण-समूहके समान व्यर्थ हो जाते हैं॥ ४३॥

---

१. 'सगुणम्' इति पा०।

नन्वभिनिविष्टोऽपि सुजनैर्बलादपि हिते प्रवर्तयितव्य इत्याशङ्क्य न शक्यत इत्याह—

अनपेक्ष्य गुणागुणौ[1] जनः स्वरुचिं निश्चयतोऽनुधावति ।
अपहाय महीशमार्चिचत्सदसि त्वां ननु भीमपूर्वजः ॥ ४४ ॥

अनपेक्ष्येति ॥ जनस्त्वादृशः पृथग्जनः । गुणागुणौ गुणदोषौ । 'विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि' (२।४।१३) इति विभाषया न द्वन्द्वैकवद्भावः । अनपेक्ष्यानिरूप्य निश्चयतः स्वनिश्चयादेव स्वरुचिं स्वेच्छामनुधावति । न तु स्वहितमनुसरतीत्यर्थः । तत्र पार्थ एव प्रमाणमित्याह—भीमपूर्वजः भीमाग्रजो युधिष्ठिरः । मूर्खाग्रणीरिति भावः । महीशं चेदिमपहाय सदसि त्वामार्चिचदर्चितवान्खलु । अर्चयतेर्णौ चङि 'अजादेर्द्वितीयस्य' (६।१।२) 'न न्द्राः संयोगादयः' (६।१।३) इति रेफवर्जितस्यैकाचो द्विर्भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४४ ॥

नीच जन (हठी व्यक्ति) गुण तथा अगुणका विचार छोड़कर निश्चित रूपसे अपनी रुचिके अनुसार ही काम करता है, (अतः हठी और दुराग्रही व्यक्तिको सज्जन किसी प्रकार भी नहीं समझा सकते, क्योंकि) भीमसेनके बड़े भाई (मूर्खोंके अग्रगण्य-युधिष्ठिर) ने राजा (शिशुपाल) को छोड़कर सभामें तुम्हारी ही पूजा की ॥ ४४ ॥

पार्थानादरादेव राज्ञो लाघवं विज्ञेयमित्याशङ्क्य परिहरति—

त्वयि भक्तिमता न सत्कृतः कुरुराजा गुरुरेव चेदिपः ।
प्रियमांसमृगाधिपोज्झितः किमवद्यः करिकुम्भजो मणिः ॥ ४५ ॥

त्वयीति ॥ हे कृष्ण, त्वयि भक्तिमता प्रेमवता । कुरूणां राट् । 'सत्सूद्विष-' (३।२।६१) इत्यादिना क्विप् । तेन कुरुराजा कुरुराजेन पार्थेन न सत्कृतो नार्चितश्चेदिपो गुरुरेव पूज्य एव । तथा हि—प्रियं मांसं यस्य तेन मांसगृध्नुना मृगाधिपेन सिंहेनोज्झितस्त्यक्तः करिकुम्भजो मणिर्मुक्तामणिरवद्यो गर्ह्यः किम् । अनवद्य एवेत्यर्थः । मूर्खानादरान्न महतां किञ्चिल्लाघवमित्यर्थः । 'कुपूयकुत्सितावद्यखेटगर्ह्याणकाः समाः' इत्यमरः । 'अवद्यपण्य-' (३।१।१०१) इत्यादिना निपातः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥४५॥

(युधिष्ठिरके अनादर करनेसे हमारे राजा शिशुपालका अनादर होना नहीं समझना चाहिये-इस बातको वह दूत दृष्टान्तके साथ कहता है) तुम (कृष्ण) में भक्ति करनेवाले कौरवेश्वर (युधिष्ठिर) से पूजाको नहीं पाया हुआ भी शिशुपाल पूज्य ही है, क्योंकि मांसको प्रिय माननेवाले सिंहके द्वारा छोड़ा गया हाथीके कुम्भ (मस्तकस्थ मांसपिण्ड) से उत्पन्न मणि (गजमुक्ता) क्या निन्दनीय हो जाता है ? अर्थात् नहीं, (अतः मूर्खोंसे आदरको नहीं पाये हुए भी बड़े लोग पूज्य ही रहते हैं) ॥ ४५ ॥

---

१. 'गुणागुणम्' इति पा० ।

विदुषां तु पूज्य एव चैद्य इत्याशयेनाह—

क्रियते धवलः खलूच्चकैर्धवलैरेव सितेतरैरधः ।
शिरसौघमधत्त शङ्करः सुरसिन्धोर्मधु'जित्तमङ्घ्रिणा ॥ ४६ ॥

क्रियत इति ॥ धवलो निर्मलो धवलैर्निर्मलैरेवोच्चकैरुन्नतः क्रियते खलु । सितेतरैर्मलिनैरधः क्रियते । तथाहि—शंकरः शिवः सुरसिन्धोरोघं मन्दाकिनीपूरं शिरसा अधत्त । उभयोर्नैर्मल्यादिति भावः । मधुजिन्मधुशत्रुर्विष्णुस्तु तमोघमङ्घ्रिणा अधत्त । स्वयं मलिनत्वादिति भावः । अतो विशेषविदुषां राजा पूज्य एवेति भावः । विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ४६ ॥

(अब भी शिशुपाल पूज्य ही है, इसका समर्थन करता हुआ दूत कहता है) प्रकाश प्रकाशको ही ऊँचा करता है और अन्धकारको नीचा करता है (बड़ोंका आदर बड़े ही करते है, छोटे आदर नहीं करते हैं), शिवजीने गङ्गाजीके प्रवाहको मस्तकसे और विष्णुने पैरसे धारण किया ॥ ४६ ॥

किंच यथा पार्थानादराद्राज्ञो न किंचिल्लाघवं तथा तदादराच न ते किंचिद्गौरवमित्याह—

अबुधैः कृतमानसंविदस्तव पार्थैः कुत एव योग्यता ।
सहसि प्लवगैरुपासितं न हि गुञ्जाफलमेति सोष्मताम् ॥ ४७ ॥

अबुधैरिति । अबुधैरज्ञैः पार्थैः कृते मानसंविदौ पूजातोषणे यस्य तस्य । 'संवित्स्त्रियां प्रतिज्ञायां सङ्केताचारनामसु । सम्भाषणे तोषणे च' इति विश्वः । तव योग्यता पात्रता कुत एव । न कुतोऽपीत्यर्थः । तथाहि—सहसि मार्गशीर्षे । 'मार्गशीर्षे सहा मार्गः' इत्यमरः । प्लवगैः कपिभिः उपासितं सेवितं गुञ्जाफलं काकचिञ्चीबीजानि । जातावेकवचनम् । 'काकचिञ्चीगुञ्जे तु कृष्णला' इत्यमरः । सोष्मतामुष्णतां नैति हि । न हि पुंसां मूढपरिग्रहापरिग्रहौ गौरवागौरवयोः प्रयोजकावित्यर्थः । अत्र कृष्णगुञ्जाफलयोर्विशेषयोरेव वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बीकरणाद् दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ४७ ॥

('जिस प्रकार युधिष्ठिरके द्वारा पूजा नहीं करनेपर भी शिशुपालका गौरव कम नहीं हुआ, उसी प्रकार तुम्हारी पूजा करनेपर भी तुम्हारा गौरव नहीं बढ़ा' इस बातको वह सदृष्टान्त कहता है) मूर्ख पृथापुत्रों (युधिष्ठिरादि पाण्डवों) के द्वारा किया गया सत्कार तथा सन्तुष्टिवाले तुम्हारी योग्यता कहाँसे (किस प्रकार) हो सकती है ? अर्थात् कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि अगहन मासमें बन्दरोंसे सेवित घुँघची गर्म नहीं होती अर्थात् अग्निके समान गर्म होकर उनकी ठण्डक दूर नहीं करती ॥ ४७ ॥

१. '—र्मधुशत्रुरङ्घ्रिणा' इति पा० ।

'यदुपूरि पुरा' (१६।२६) इत्यादिना यत्सात्यकिना शतापराधक्षमत्वमुक्तं तत्रोत्तरमाह—

अपराधशतक्षमं नृपः क्षमयाऽत्येति भवन्तमेकया।
हृतवत्यपि भीष्मकात्मजां त्वयि चक्षाम समर्थ एव यत् ॥ ४८ ॥

अपराधेति ॥ नृपश्चैद्यः अपराधशतक्षमं राज्ञः शतापराधसहिष्णुं भवन्तं एकया क्षमया। एकापराधसहनेनेत्यर्थः। अत्येति अतिक्रामति। अपराधकोटीनामपि तस्यांशेनापि साम्यासम्भवादिति भावः। तामेव क्षमां दर्शयति—त्वयि भीष्मकात्मजां रुक्मिणीं हृतवत्यपि समर्थः प्रतीकारक्षम एव सन्नपि चक्षाम क्षाम्यति स्मेति यत् तया क्षमयेत्यर्थः ॥ ४८ ॥

(अब सात्यकिके पूर्वोक्त (१६।१६) वचनका उत्तर देता हुआ दूत कहता है) राजा (शिशुपाल) सौ अपराधोंको क्षमा करनेवाले तुम्हें (श्रीकृष्णको) एक क्षमा (तुम्हारा एक अपराध सहन करने) से अतिक्रमण कर जाता है, क्योंकि (तुम्हें दण्डित करनेमें) समर्थ भी शिशुपाल ने रुक्मिणी को हरण करनेपर तुम्हें क्षमा कर दिया ॥ ४८ ॥

'राक्षसं क्षत्रियस्यैकं' (मनु० ३।२४) इति स्मरणाद्राक्षसोद्वाहस्य क्षात्रधर्मत्वाद्रुक्मिणीहरणे कोऽस्माकमपराधः, राज्ञो वा कात्र क्षमेत्याकाङ्क्षायामाह—

गुरुभिः प्रतिपादितां वधूमपहृत्य स्वजनस्य भूपतेः।
जनकोऽसि जनार्दन स्फुटं हतधर्मार्थतया मनोभुवः ॥ ४९ ॥

गुरुभिरिति ॥ हे जनार्दन, गुरुभिः पित्रादिभिः प्रतिपादितां राज्ञे दत्ताम् अत एव स्वजनस्य बन्धोर्भूपतेर्महाराजस्य वधूं जायामपहृत्य हतौ धर्मार्थौ येन तत्तथा तया हतधर्मार्थतया स्फुटं मनोभुवः कामस्य जनकोऽसि। धर्मार्थबाधेन काममात्रनिष्ठोऽसीत्यर्थः। नायं राक्षसो विवाहः। 'हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्। प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते ॥' (मनु० ३।३३) इति कन्याहरणस्य राक्षसत्वस्मरणात्। अयं तु परदारापहरणो बन्धुद्रोहो राजद्रोहश्चेत्यहो पापिष्ठस्य कामान्धस्य ते परमसाहसिकत्वमिति भावः ॥ ४९ ॥

हे जनार्दन ! (पिता आदि) गुरुजनोंके द्वारा (शिशुपालके लिए) दी गयी अपने बान्धव (फूआके पुत्र) राजा शिशुपालकी स्त्री (रुक्मिणी) का अपहरण करके धर्म तथा अर्थको नष्ट करने (छोड़ देने) से सचमुच ही तुम कामदेवके बाप (कामपराधीन—महाकामी) हो, (अतएव कामाभिभूत होकर तुमने रुक्मिणीका अपहरणकर बन्धुद्रोह एवं राजद्रोहके साथ-साथ महान् पापपूर्ण साहसका कार्य किया है) ॥ ४९ ॥

सत्यमीदृगेवाहं ततः किमित्याशङ्क्य किमन्यद्बुधादित्याह—

अनिरूपितरूपसंपदस्तमसो वान्यभृतच्छदच्छवेः।
तव सर्वगतस्य संप्रति क्षितिपः क्षिप्नुरभीशुमानिव ॥ ५० ॥

अनिरूपितेति ॥ अनिरूपितरूपसंपदः शैलूषवद्बहुरूपधारित्वादज्ञातरूपविशेषस्यावाङ्मनसगोचरस्वरूपवैभवस्येति च गम्यते । अन्यत्र आरोपितं कृष्णरूपं तमः, तेजोविशेषाभावस्तम इति च मतद्वयेऽपि प्रमाणानवधृतरूपसंपद इत्यर्थः । अन्यभृतच्छदच्छवेः कोकिलपत्रकान्तेस्तव तमसो वा तिमिरस्येव । 'वा स्याद्विकल्पोपमयोः' इति विश्वः । सर्वगतस्य क्षितिपश्चेदिपोऽभीशुमानंशुमानिव संप्रतीदानीमेव क्षिप्णुः चेष्टा । हन्तेत्यर्थः । शास्तासौ दुरात्मनामिति भावः । 'त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः' (३।२।१४०) इति क्नुप्रत्ययः । 'न लोका–' (२।३।६९) इत्यादिना कृद्योगे षष्ठ्या निषेधे तवेति शेषे षष्ठी । पर्यवसानात्तु कर्मत्वलाभः । 'अभीशुः प्रग्रहे रश्मौ' इत्यमरः । विश्वप्रकाशादयः सर्वेऽप्याभिधानिका मूर्धन्यान्तेषु पेठुः । लोकवेदयोस्तु तालव्यान्तो दृश्यते । 'अभीशूनां महिमानम्' इत्यादि ॥ ५० ॥

(आगे इसका दुष्परिणाम कहता हुआ दूत कहता है—नटके समान विविधरूप धारण करनेसे) अनिश्चितरूप–विशेषवाले (अथ च–वचन तथा मनके अगोचर रूप वैभववाले अर्थात् जिसके रूपको न तो वचनसे कहा जा सकता है और न मनसे ध्यानादि करके जाना जा सकता है, ऐसे । पक्षा०—'कालारूपवाला 'तम' है, या–तेजो–विशेषका अभाव 'तम' है' इन दोनों पक्षोंमें जिसके रूपका निश्चय नहीं किया गया है, ऐसे–श्वेत, पीला आदि सात प्रकारके रूपोंमें तम कौन–सा रूप है यह निश्चय जिसके विषयमें नहीं किया जा सका है, ऐसे) कोयलके पंखके समान (काली) कान्तिवाले, हीन तथा उत्तम–सबका गमन करनेवाले (अथवा—विश्वरूप होनेसे सर्वत्र वर्तमान, पक्षा०—सर्वत्र फैले हुए) अन्धकारको सूर्यके समान राजा (शिशुपाल) इस समय अर्थात् आसन्नभविष्यमें ही नष्ट करेगा (मारेगा, पक्षा०–दूर करेगा) ॥ ५० ॥

तर्ह्यसमर्थं त्वया राजा सान्त्वयितव्य इत्याशङ्क्य नेत्याह—

क्षुभितस्य महीभृतस्त्वयि प्रशमोपन्यसनं वृथा मम ।
प्रलयोल्लसितस्य वारिधेः परिवाहो जगतः करोति किम् ॥ ५१ ॥

क्षुभितस्येति ॥ त्वयि विषये क्षुभितस्यातिक्रुद्धस्य महीभृतो राज्ञो मम प्रशमोपन्यसनं शान्त्युपदेशो वृथा निष्फलः । तथा हि—प्रलयोल्लसितस्य कल्पान्तक्षुभितस्य वारिधेः जगतः परिवाहो जगत्कृतो जलनिर्गममार्गः किं करोति । न किंचिदित्यर्थः । महतां क्षोभ उन्मूल्य विपक्षं निवर्तत इत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ५१ ॥

तुम्हारे ऊपर (क्रोधसे) क्षुब्ध राजा (शिशुपाल) से शान्ति रखनेके लिए मेरा कहना व्यर्थ होगा, क्योंकि प्रलयमें क्षुब्ध (तटप्रदेशको लांघकर सर्वत्र जलमय किये हुए) समुद्रका, लोगोंके द्वारा किया गया कनवाह (जलके अधिक भागको धीरे–धीरे निकलनेके लिए किया गया पतला–सा नाला) क्या करता है ? अर्थात् कुछ नहीं करता, (अतः मैं भी तुमपर क्रुद्ध राजा शिशुपालको शान्त रहनेके लिए कहकर कुछ नहीं कर सकता हूँ, क्योंकि बड़ोंका कोप तो शत्रुका समूह नाश करके ही शान्त होता है) ॥ ५१ ॥

तद्ध्वंसंधित्सुना राजा किमर्थं भवानिह प्रहितस्तत्राह—

प्रहितः प्रधनाय माधवानहमाकारयितुं महीभृता ।
न परेषु महौजसश्छलादपकुर्वन्ति मलिम्लुचा इव ॥ ५२ ॥

प्रहित इति ॥ प्रधनाय युद्धाय माधवान् यादवानाकारयितुमाह्वातुम् । 'युद्धमायोधनं जन्यं प्रधनं प्रविदारणम्' । 'हूतिराकारणाह्वानम्' इति चामरः । महीभृता राज्ञाहं प्रहितः प्रेषितः । ननु रन्ध्रे हन्तव्याः शत्रवो नाह्वातव्या इत्यत्राह—नेति । महौजसो महावीराः परेष्वरिषु मलिम्लुचाः पाटच्चरा इव । 'पाटच्चरमलिम्लुचाः' इत्यमरः । छलात्कपटात् नापकुर्वन्ति । तस्मादाह्वानं कर्तव्यमिति वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमुपमालङ्कारसंकीर्णम् ॥ ५२ ॥

युद्धके लिए यादवों (तुम्हारे पक्षवालों) को ललकारनेके लिए राजा (शिशुपाल) ने मुझे भेजा है, क्योंकि शूरवीरलोग चोरोंके समान कपटपूर्वक (छिप-लुककर) शत्रुओंपर आक्रमण नहीं करते हैं ॥ ॥ ५२ ॥

तदेवागमनप्रयोजनमुक्त्वा हितमुपदिशति—

तदयं समुपैति भूपतिः पयसां पूर इवानिवारितः ।
अविलम्बितमेधि वेतसस्तरुवन्माधव मा स्म भज्यथाः ॥ ५३ ॥

तदयमिति ॥ तत्तस्माद्युद्धार्थित्वादयं भूपतिश्चैद्यः पयसां पूरः प्रवाह इवानिवारितः समुपैति । हे माधव, अविलम्बितं शीघ्रं वेतसः एधि भव । तद्वन्नम्रमात्मानं रक्षेत्यर्थः । अस्तेर्लोट् सिपि हेर्धिः 'घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' (६।४।११९) इति एत्वम् । 'धि च' (८।२।२५) इति सकारलोपः । माधव, त्वं तरुवन्महावृक्षवत् मा स्म भज्यथा मा भज्यस्व । अतः आत्मानं न विनाशयेत्यर्थः । भजेः कर्मण्याशिषि लिङः (अर्थे) 'स्मोत्तरे लङ् च' (३।३।१७६) इति लङ् 'न माङ्योगे, (६।४।७४) इत्यडभावः । उपमालङ्कारः ॥ ५३ ॥

(अब दूत कृष्णजीसे अपने आनेका प्रयोजन कहकर आत्मरक्षा करनेका उपदेश देता हुआ कहता है) जलके प्रवाहके समान नहीं रोका जानेवाला यह राजा (शिशुपाल, तुम्हारे ऊपर आक्रमण करनेके लिए) आ रहा है, (अतएव अब तुम) शीघ्र वेंतके (समान नम्र) हो जाओ, पेडके समान (अड़ा हुआ रहकर) नष्ट मत हो जाओ अर्थात् शिशुपाल के सामने प्रणत होकर आत्मरक्षा कर लो ॥ ५३ ॥

ननु शक्ति शिशुपाले यूनामफलमित्याशङ्क्याह—

परिपाति स केवलं शिशूनिति तन्नामनि मा स्म विश्वसीः ।
तरुणानपि रक्षति क्षमी स शरण्यः शरणागतान् द्विषः ॥ ५४ ॥

परिपातीति ॥ स शिशुपालः । केवलमित्यवधारणे क्रियाविशेषणम् । शिशून्परि

---

१. '—तलव—' इति पा० ।

पातीति शिशूनेव पालयतीति तन्नामनि तस्य शिशुपालसंज्ञायां मा स्म विश्वसीः। मा विश्वासं कुर्वित्यर्थः। श्वसेः 'स्मोत्तरे लङ् च' (३।३।१७६) इति लङि 'रुदश्च पञ्चभ्यः' (७।३।९८) इतीडागमः। चकाराल्लुङि वा तत्र 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' (७।३।९६) इति ईडागमः 'ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्' (७।२।५) इति वृद्धिप्रतिषेधः। 'न माङ्योगे' (६।४।७४) इत्यडभावस्तूभयत्र। किंतु क्षमी क्षमावान्। व्रीह्यादित्वादिनिः। शरणे रक्षणे साधुः शरण्यः रक्षणक्षमः। 'तत्र साधुः' (४।४।९८) इति यत्प्रत्ययः। स शिशुपालः शरणं रक्षितारमागतान्प्राप्तान्। 'शरणं गृहरक्षित्रोः शरणं रक्षणे गृहे' इत्युभयत्रापि विश्वः। द्विषः शत्रून् तरुणान् यूनोऽपि रक्षति। अतो निःशङ्कं शरणमागच्छेत्यर्थः॥ ५४॥

(वह तुम्हारा राजा शिशुओंका पालन करनेसे 'शिशुपाल' कहा जाता है, तरुणोंको वह नहीं छोड़ता, अतः तरुण मेरा नम्र होना व्यर्थ होगा, इस आशङ्काको दूर करता हुआ दूत कहता है कि) वह (शिशुपाल) केवल शिशुओंकी रक्षा करता है, ऐसा उसके 'शिशुपाल' नामपर विश्वास मत करो, क्योंकि क्षमाशील एवं शरण्य (शरणागतके साथ सद्व्यवहार करनेवाला) वह शिशुपाल शरणमें आये हुए तरुण शत्रुओंको भी क्षमा कर देता है॥

ननु वयं द्रोग्धारः सोऽप्यतिक्षुभितः किल कथं नः पालयेदित्याशङ्क्याह—

न विदध्युरशङ्कमप्रियं महतः स्वार्थपराः परे कथम्।
भजते कुपितोऽप्युदारधीरनुनीतिं नतिमात्रकेण सः॥ ५५॥

नेति॥ स्वार्थपराः स्वार्थनिष्ठाः परे शत्रवो महतोऽधिकस्य कथमप्रियमपकारमशङ्कं यथा तथा न विदध्युः। कुर्युरेव कार्यवशादित्यर्थः। किंतु उदारधीर्महामतिः। 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः। स राजा कुपितोऽपि नतिमात्रकेण प्रणतिमात्रकेणानुनीतिमनुनयं भजते। अनुग्रहीष्यतीत्यर्थः। 'प्रणिपातप्रतीकारः संरम्भो हि महात्मनाम्' इति भावः॥ ५५॥

स्वार्थ–साधनमें लगे हुए शत्रुलोग निर्भयताके साथ बड़ों का अपकार क्यों न करें? अर्थात् कार्यवश शत्रुलोग बड़ोंका अपकार करते ही हैं, किन्तु क्रोधयुक्त भी उदार विचारवाला वह (शिशुपाल) प्रणाम करने मात्रसे शान्त हो जायगा; (अतः हमलोग शिशुपाल का बहुत बार अपकार किये हैं, और वह क्रुद्ध है, इस कारण नम्र होनेपर भी वह हमलोगों को क्षमा नहीं करेगा ऐसा मनमें मत सोचो)॥ ५५॥

किं बहुना तवायं हितोपदेशसंग्रह इत्याशङ्क्याह—

हितमप्रियमिच्छसि श्रुतं यदि संधत्स्व पुरा न नश्यसि[1]।
अनृतैरथ तुष्यसि प्रियैर्जयताज्जीव भवाऽवनीश्वरः॥ ५६॥

१. 'विनश्यसि' इति पा०।

हितमिति ॥ श्रुतं अप्रियं हितमिच्छसि यदि। अप्रियमपि हितमाप्तवाक्यर्णितं ग्रहीतुमिच्छसि चेदित्यर्थः। संधत्स्व राज्ञा संधेहि। पुरा न नश्यसि। अन्यथा विनङ्क्ष्यसीत्यर्थः। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' (३।३।४) इति भविष्यदर्थे लट्। अथेति पक्षान्तरे। अनृतैरसत्यैः प्रियैस्तुष्यसि यदि जयताजयतु। 'तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्' (७।१।३५) इति तोस्तातङादेशः। जीव अवनीश्वरः सार्वभौमो भव। ततः किमेभिः प्रियालापैः। अप्रियमपि हितमेव गृहाणेति भावः॥ ५६॥

यदि तुम अप्रिय परन्तु हित सुनना चाहते हो तो (शिशुपालके साथ) सन्धि (नम्र होकर मेल) कर लो, इससे नष्ट नहीं होओगे और यदि असत्य परन्तु प्रिय वचनोंसे सन्तुष्ट होते हो तो विजयी होओ-जीओ तथा राजा बनो॥ ५६॥

ननु कंसाद्यनेकविजयी कृष्णः कथं विजेष्यते राज्ञेत्याशङ्क्याह—

प्रतिपक्षजिदप्यसंशयं युधि चैद्येन विजेष्यते भवान्।
ग्रसते हि तमोपहं मुहुर्ननु राह्वाह्वमहर्पतिं तमः॥ ५७॥

प्रतिपक्षेति॥ प्रतिपक्षजिदप्यनेकारिहन्तापि भवानसंशयं संशयो नास्ति। अर्थाभावेऽव्ययीभावः। युधि सङ्ग्रामे चैद्येन शिशुपालेन विजेष्यते। जयतेः कर्मणि लृट्। शेषे प्रथमः। तमांस्यपहन्तीति तमोपहं सर्वतमोपहारिणम्। 'अपे क्लेशतमसोः' (३।२।५०) इति हन्तेर्डप्रत्ययः। अह्नां पतिमहर्पतिं सूर्यम्। 'अहरादीनां पत्यादिषूपसंख्यानम्' (वा०) इति वैकल्पिको रेफादेशः। राह्वाह्वं राह्वाख्यं तमः। 'आख्याह्वे अभिधानं च' इत्यमरः। मुहुर्ग्रसते ननु गिलति हि। अत्र हरिसूर्ययो राहुचैद्ययोश्च वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकरणाद् दृष्टान्तालङ्कारः॥ ५७॥

(कंस आदि अनेक महाबली) शत्रुओंको जीतनेवाले भी तुमको युद्धमें शिशुपाल जीत लेगा, क्योंकि अन्धकारको नष्ट करनेवाले भी सूर्यको 'राहु' नामक अन्धकाररूप ग्रह निगल जाता है (अतएव तुम यह मत समझो कि कंसादि महाबली शत्रुओंके विजयी मुझ कृष्ण को शिशुपाल नहीं जीत सकेगा)॥ ५७॥

किं च न भवानेक एव विजेष्यते, किंतु सर्वैर्यादवैः सहेत्याह—

अचिराज्जितमीनकेतनो विलसन् वृष्णिगणैर्नमस्कृतः।
क्षितिपः क्षयितोद्धतान्धको हरलीलां स विडम्बयिष्यति॥ ५८॥

अचिरादिति॥ स क्षितिपः राजा अचिरादविलम्बितमेव जितो मीनकेतनः कार्ष्णिः प्रद्युम्नः, स्मरश्च येन सः। वृष्णयो यादवभेदास्तेषां गणैरोघैर्नमस्कृतो भीत्या प्रणतः सन्। अत एव विलसन् दीप्यमानः। अन्यत्र वृष्णीति पदच्छेदः। वृष्णि उक्षणि विलसन्। वृषारूढ इत्यर्थः। गणैः प्रमथैर्नमस्कृतः। 'गणाः प्रमथसंख्यौघाः' इति, 'वृषा महेन्द्रे वृषभे' इति च वैजयन्ती। क्षयिता नाशिता उद्धता दृप्ता अन्धका

१. '—सद्वृ—' इति पा०। २. 'क्षपितो—' इति पा०।

यादवभेदाः। अन्यत्रान्धकोऽसुरो येन सः हरलीलां शम्भुविभ्रमं विडम्बयिष्यत्यनुकरिष्यति। अत्र हरलीलामिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शना श्लेषसङ्कीर्णा ॥ ५८ ॥

कृष्णपुत्र (प्रद्युम्न) को शीघ्र पराजित किया हुआ यादवोंके 'वृष्णी' नामक भेद-विशेषसे प्रणत, विलास करता हुआ (विजय होनेसे समृद्धिशाली और यादवोंके 'अन्धक' नामक भेदविशेषको नष्ट किया हुआ वह राजा शिशुपाल, कामदेवको जीतनेवाले, उक्षा (नन्दीके स्कन्धस्थ मांस-पिण्ड) पर विलास करते हुए अर्थात् नन्दी पर चढ़े हुए, (प्रमथ आदि) गणोंसे नमस्कृत और अन्धकासुरको नष्ट किये हुए शिवजीकी लीला का अनुकरण शीघ्र ही करेगा, (अकेले तुम्हें ही नहीं, अपितु समस्त यादवोंको भी जीत लेगा) ॥५८॥

ननु देवासुरैरप्यजय्या यादवाः कथं राज्ञा जेष्यन्ते तत्राह—

निहतोन्मददुष्टकुञ्जराद्दधतो भूरि यशः क्रमार्जितम्।
न बिभेति रणे हरेरपि क्षितिपः का गणनाऽस्य वृष्णिषु ॥ ५९ ॥

निहतेति ॥ क्षितिपश्चेदिपो निहत उन्मदो दुष्टकुञ्जरः कुवलयापीडाख्यो येन तस्मात्, अन्यत्र हतानेकमत्तमातङ्गात्। अत एव क्रमार्जितं भूरि यशो दधतः। हरेः कृष्णात्, सिंहाच्चेति ध्वनिः। रणे न बिभेति। अस्यैतादृशचैद्यस्य वृष्णिषु यादवेषु मेषेषु च। 'वृष्णिस्तु यादवे मेषे' इति विश्वः। का गणना। कृष्णमगणयतो यादवाः के इत्यर्थः। अत्र कुञ्जरघातिनः सिंहस्य का कथा मेषेष्वित्यर्थान्तरप्रतीतिध्वनिरेव न श्लेषः। हरेर्वृष्णिविशेषस्यापि श्लिष्टत्वात्प्रकृतश्लेषे तदङ्गीकारादित्युक्तं प्राक् ॥ ५९ ॥

(देवासुरों से भी नहीं जीते जा सकनेवाले यादवोंको भी वह शिशुपाल अवश्यमेव जीत लेगा, यह कहता हुआ दूत आगे कहता है) मतवाले तथा दुष्ट 'कुवलयापीड' नामक हाथी (पक्षा०—मतवाले तथा दुष्ट हाथियों) को मारे हुए तथा क्रमशः उपार्जित अत्यधिक कीर्तिको धारण करते हुए श्रीकृष्ण (पक्षा०-सिंह) से भी राजा (शिशुपाल) युद्धमें नहीं डरता है, तब यह शिशुपाल यादवों (पक्षा०-भेड़ों) को क्या गिनता है? अर्थात् अनेक उन्मत्त हाथियोंको मारनेवाले सिंहसे भी निर्भीक व्यक्ति जिस प्रकार भेड़ों को कुछ नहीं गिनता—उन्हें अत्यन्त तुच्छ समझता है उसी प्रकार 'कुवलयापीड'-जैसे मतवाले दुष्ट हाथीको दांत उखाड़कर मारनेवाले कृष्णसे भी नहीं डरनेवाला शिशुपाल यादवोंको क्या गिनता है? अर्थात् अत्यन्त तुच्छ समझता है ॥ ५९ ॥

हरेरपि न बिभेतीत्युक्तं तदेव संभावयितुं तस्य पराक्रमानासर्गसमाप्तेर्वर्णयति—

न तदद्भुतमस्य यन्मुखं युधि पश्यन्ति भिया न शत्रवः।
द्रवतां ननु पृष्ठमीक्षते वदनं सोऽपि न जातु विद्विषाम् ॥ ६० ॥

नेति ॥ युधि शत्रवो भियाऽस्य मुखं न पश्यन्तीति यत्तदद्भुतम्, कुतः सोऽपि न ईक्षते ननु खलु। द्रवतां भयात्पलायमानानां विद्विषां पृष्ठं कायपार्श्वाङ्गमीक्ष्यते।

जातु कदाचित् वदनं न ईक्षते ननु खलु । द्वयोरन्यतरमुखेऽप्यन्योन्यस्य मुखविलोकनासम्भवात्स्वयं विमुखानां विद्विषामभिमुखस्याप्यस्य मुखादर्शनादद्भुतमित्यर्थः । अत एव वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ६० ॥

(पूर्व (१५।५९) में कथित 'श्रीकृष्णसे भी शिशुपालके नहीं डरनेकी पुष्टि करनेके लिए दूत शिशुपालके पराक्रमोंका वर्णन यहांसे इस सर्गकी समाप्ति तक करता है) युद्धमें शत्रुलोग भयसे इस (शिशुपाल) के मुखको नहीं देखते (सामने खड़ा होकर युद्ध नहीं करते, किन्तु भयसे भाग जाते हैं), यह आश्चर्य नहीं है; क्योंकि वह (शिशुपाल) भी भागते हुए शत्रुओं की पीठको ही देखता है, (उनके) मुखको कभी नहीं देखता अर्थात् युद्धमें शिशुपालके सामने कोई भी शत्रु नहीं ठहरता ॥ ६० ॥

प्रतनूल्लसिताचिरद्युतः शरदं प्राप्य विखण्डितायुधाः ।
दधतेऽरिभिरस्य तुल्यतां यदि नासारभृतः [1]पयोभृतः ॥ ६१ ॥

प्रतन्विति ॥ शरदं शरदृतुं प्राप्य विखण्डितायुधाः खण्डितेन्द्रचापाः अन्यत्र शरान् ददातीति शरदस्तं शरदं शरवर्षिणं प्राप्य खण्डितशस्त्राः प्रतनूल्लसिताचिरद्युतोऽल्पस्फुरितविद्युतः । अन्यत्र प्रतनूल्लसिताः स्वल्पोल्लसितास्त एवाचिरद्युतोऽस्थिरद्युतः । पयोभृतो मेघा आसारभृतः वृष्टिमन्तः न यदि । शरदि वृष्टिशून्यत्वादिति भावः । सुहृद्बलशून्या इत्यर्थः । 'आसारः स्यात्प्रसरणे वेगवृष्टौ सुहृद्बले' इति वैजयन्ती । अस्यारिभिस्तुल्यतां दधते । अत्र पयोभृतामुपमानानामुपमेयभावोक्तेः प्रतीपालङ्कारः । तेषामासारसम्बन्धेऽपि असम्भावनया तदसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदश्चेति सङ्करः ॥ ६१ ॥

शरदृतुको पाकर खण्डित (नष्ट) हुए इन्द्र धनुषवाले तथा कम चमकती हुई बिजलीवाले और पानी नहीं बरसानेवाले मेघ; बाणोंको देने (बरसाने) वाले (शिशुपाल) को पाकर छिन्न-भिन्न आयुधवाले बहुत कम चमकनेवाले तथा अस्थिर कान्तिवाले और सहायक मित्रबलसे रहित इस (शिशुपाल) के शत्रुकी समानताको धारण करते हैं ॥ ६१ ॥

विशेषकमाह (६२–६४)—

मलिनं रणरेणुभिर्मुहुर्द्विषतां क्षालितमङ्गनाश्रुभिः ।
नृपमौलिमरीचिवर्णकैरथ [2]यस्याङ्घ्रियुगं विलिप्यते ॥ ६२ ॥

मलिनमित्यादि ॥ मुहुरसकृत् । रणरेणुभिर्मलिनमत एव द्विषतामङ्गनाश्रुभिः क्षालितं । नाहत्वारीन् रणान्निवर्तत इति भावः । यस्याङ्घ्रियुगं चरणयुगलम् । अथ रेणुक्षालनानन्तरं नृपाणां प्रणतानां राज्ञां मौलिमरीचयो मुकुटमणिरश्मयस्तैरेव वर्णकैर्विलेपनैश्चन्दनैः । 'चन्दने चापि वर्णकम्' इति विश्वः । विलिप्यते विशेष्यते । अत्राङ्घ्रियुगस्य विशेषणमहिम्ना स्नातानुलिप्तपुरुषसाम्यप्रतीतेः समासोक्तिः ॥६२॥

---

१. 'पयोमुचः' इति पा० । २. 'वर्णकैः खलु' इति पा० ।

अनेक बार युद्धकी धूलिसे मलिन तथा शत्रुओंकी रमणियोंके अश्रुओंसे धोये गये जिसके दोनों चरणोंको (नम्र होकर प्रणाम करते हुए) राजाओंके मुकुटकिरणरूपी चन्दन विलिप्त (लेपयुक्त) करते हैं ॥ ६२ ॥

समराय निकामकर्कशं क्षणमाकृष्टमुपैति यस्य च ।
धनुषा सममाशु विद्विषां कुलमाशङ्कितभङ्गमानतिम् ॥ ६३ ॥

समरायेति ॥ किंचेति चार्थः । निकामकर्कशमतिकठिनम् । दुर्धर्षमित्यर्थः । समराय सम्प्रहारायाकृष्टमाहूतमावर्जितं च क्षणम् आशङ्कितभङ्गं मनसोत्प्रेक्षितस्वपराजयम् ; अन्यत्रातिकर्षणात्सम्भावितदलनं यस्य विद्विषां कुलमाशु धनुषा सममानतिं नम्रतामुपैति । धनुर्नमनकार्यस्य द्विषन्नमनस्य तत्सहभावोक्तेः कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययनिमित्तरूपातिशयोक्तिमूला सहोक्तिरलङ्कारः ॥ ६३ ॥

अत्यन्त कठोर और युद्धके लिए खींचा (पक्षा०—ललकारा) गया शत्रु-समूह जिसके उत्करूप धनुषके साथ ही भग्न होने (टूटने, पक्षा०—पराजित होने) की आशंकाकर नम्र हो जाता है ॥ ६३ ॥

तुहिनांशुममुं सुहृज्जनाः कलयन्त्युष्णकरं विरोधिनः ।
कृतिभिः कृतदृष्टिविभ्रमाः स्रजमेके भुजगं यथापरे ॥ ६४ ॥

तुहिनेति ॥ अमुमेवंविधं चैद्यं सुहृजनाः तुहिनांशुं कलयन्ति आह्लादकत्वाच्चन्द्रं मन्यन्ते। विरोधिनः उष्णकरत्वात् तपनं कलयन्ति । एकस्यानेकप्रतीतिमुपमिमीते । कृतिभिरिति । कृतिभिः कुशलैरैन्द्रजालिकादिभिः कृतदृष्टिविभ्रमा जनितदृष्टिविपर्यया एके नराः यथा स्रजं मालां कलयन्ति, अपरे तु भुजगं कलयन्ति । एकमेव रज्ज्वादिकमिति शेषः । उपमालङ्कारः, स चैकस्य निमित्तवशाद्गृहीतभेदेनानेकधोल्लिखनात्मकेनोल्लेखेन सङ्कीर्यते ॥ ६४ ॥

ऐसे (१६।६२-६३) इस (एक ही) शिशुपाल को मित्रलोग (आह्लादक होनेसे) चन्द्रमा तथा शत्रुलोग (सन्तापकारक होनेसे) सूर्य समझते हैं; जिस प्रकार कुशल ऐन्द्रजालिक (जादूगर) के द्वारा दृष्टिमें विभ्रम युक्त किये गये कुछ लोग (एक ही रस्सी आदि को) माला समझते हैं और दूसरे लोग सांप समझते हैं ॥ ६४ ॥

दधतोऽसुलभक्षयागमास्तनुमेकान्तरतामर्मानुषीम् ।
भुवि सम्प्रति न प्रतिष्ठिताः सदृशा यस्य सुरैररातयः ॥ ६५ ॥

दधत इति ॥ असुलभक्षयागमाः दुर्लभगृहप्राप्तयः, अन्यत्रामरत्वाद् दुर्लभनाशयोगाः । 'निलयापचयौ क्षयौ' इत्यमरः । एकान्तरतां भयाद्विजनस्थाने निरताममानुषीं कार्श्यमालिन्यादिना पिशाचादिवत्प्रतीयमानाम्, अन्यत्रैकान्तरतां नियतसुरतां नित्यभोगाममानुषीं दिव्यां तनुं दधतो दधानाः भुवि सम्प्रति क्वचन न प्रति-

---

१. '—रुचिम्' इति पा० । २. 'साम्प्रतमप्रति—' इति पा० ।

ष्ठिताः राज्यभ्रंशात्क्वापि स्थितिमप्राप्ताः, अन्यत्र च भुवं न स्पृशन्तीत्यर्थः। देवत्वाद्यस्यारातयः सुरैः सदृशाः। अत्राप्यमुमिति पूर्वेण सम्बन्धः। श्लिष्टविशेषणेयमुपमा। श्लेष एवेत्यन्ये ॥ ६५ ॥

(इस शिशुपालके भयसे) जिनको गृहप्राप्ति (अपने घरोंमें आकर ठहरना) दुर्लभ हो गया है ऐसे, एकान्त (निर्जन) में निरत तथा (धूलिधूसरित एवं तैलादिमर्दनरहित होनेसे) अमानव (प्रेतादिके समान मालूम पड़ते हुए) शरीरको धारण करते हुए (राज्यच्युत होनेके कारण) इस समय पृथ्वीपर कहीं भी स्थित नहीं होते हुए जिस (शिशुपाल) के शत्रु, (अमरत्व प्राप्त करनेसे) दुर्लभ मृत्युवाले, नित्य भोगयुक्त अमानुष (दिव्य) शरीरको धारण करते हुए और इस समय (अमर रहने तक) पृथ्वी का स्पर्श नहीं करनेवाले देवोंके समान हो जाते हैं ॥ ६५ ॥

अतिविस्मयनीयकर्मणो नृ[1]पतेर्यस्य विरोधि किंचन।
यदमुक्तनयो नयत्यसावहितानां कुलमक्षयं क्षयम् ॥ ६६ ॥

अतीति ॥ अतिविस्मयनीयकर्मणोऽत्यन्तविस्मितपौरुषस्य। स्मयतेरनीयर्प्रत्ययः। यस्य नृपतेश्चैद्यस्य विरोधि चेष्टितं द्वेषिरूपं। न किंचिदस्तीत्यर्थः। यस्मादमुक्तनयोऽत्यक्तनीतिमार्गोऽसौ अक्षयमविनाशि। पूर्वं केनापि अयं न नीतमित्यर्थः। अहितानां कुलं शत्रुजातं क्षयं नाशं नयति। नीतिपौरुषाभ्यां द्विषन्निर्मूलयितुरस्य का विरोधिवार्तेति भावः। अक्षयमपि क्षयं नयतीति विरोधस्य नेतृभेदेन परिहाराद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ६६ ॥

अत्यन्त आश्चर्य करनेयोग्य कार्योंवाले जिस (शिशुपाल) का कुछ भी (कोई भी कार्य) विरुद्ध नहीं है, क्योंकि नीतिको नहीं छोड़नेवाला अर्थात् नीतिनिपुण यह (शिशुपाल) अक्षय (किसीसे नष्ट नहीं किये गये) शत्रुकुलको क्षययुक्त (नष्ट) कर देता है, (अतः नीति एवं पुरुषार्थसे शत्रुओंके अपराजित वंशको समूल नष्ट करनेवाले शिशुपालके लिए कोई काम विरोधी नहीं है) ॥ ६६ ॥

चलितोर्ध्वकबन्धसम्पदो मकरव्यूहनिरुद्धवर्त्मनः।
अतरत् स्वभुजौजसा मुहुर्महतः सङ्गरसागरानसौ ॥ ६७ ॥

चलितेति ॥ असौ चैद्यश्चलिताः प्रवृत्ता ऊर्ध्वा उत्थिताः कबन्धसम्पदः शिरोहीनकलेवरसम्पद एव कबन्धसम्पद उदकसमृद्धयो येषु तान्। इति श्लिष्टरूपकम्। 'कबन्धं सलिले प्रोक्तमपमूर्धकलेवरे' इति वैजयन्ती। मकरव्यूहाः मकराकारसैन्यविन्यासाः त एव मकरव्यूहा मकरादयः समूहाः इति श्लिष्टरूपकम्। 'व्यूहौ समूहविन्यासौ' इति वैजयन्ती। तैर्निरुद्धवर्त्मनो निरुद्धप्रवेशमार्गान्। अत एव महतो दुस्तरान्संगरसागरान्समरसमुद्रान्स्वभुजौजसा निजभुजबलेनैव मुहुरसकृदतरत्।

---

१. 'नृपतेः पश्य......चेष्टितम्' इति पा०।

भुजेनाब्धितरणमदृष्टचरमत्यद्भुतमिति भावः। अत्र कबन्धा एव कबन्धाः मकरव्यूहा एव कच्छपादिव्यूहा इति श्लिष्टरूपकस्य सङ्गरेषु सागररूपेण हेतुत्वात्केवलं श्लिष्टपरम्परितरूपकम् ॥ ६७ ॥

यह (शिशुपाल) ऊर्ध्वस्थित (पक्षा०—बढ़ते हुए) मस्तकहीन शरीररूप जल-समृद्धिवाले, मकराकार मोर्चाबन्दी (पक्षा०-मगरोंके समूह) से मार्गको रोके हुए बड़े-बड़े युद्धरूप समुद्रोंको अपने बाहुबलसे पार कर जाता है।

विमर्श—आगे तथा पीछेके भागमें फैली हुई तथा बीचमें पतली सेनाको जमाकर मोर्चाबन्दी करनेको 'मकरव्यूह' नामक मोर्चाबन्दी कहते हैं। इसी प्रकार 'दण्डव्यूह, शकटव्यूह, वराहव्यूह, सूचीव्यूह, गरुडव्यूह और पद्मव्यूह' नामकी मोर्चाबन्दियोंको युद्धमें किया जाता है। उन सबके लक्षण तथा किस अवस्थामें किस व्यूहकी रचना करनी चाहिये (यह सब मनुस्मृतिकी मत्कृत 'मणिप्रभा' नामकी टीकामें (७।१८७-१८८) जिज्ञासुओंको देखना चाहिये) ॥ ६७ ॥

न चिकीर्षति यः स्मयोद्धतो नृपतिस्तच्चरणोपगं शिरः।
चरणं कुरुते गतस्मयः स्वमसावेव तदीयमूर्धनि ॥ ६८ ॥

नेति ॥ स्मयोद्धतो गर्वेण दुर्विनीतो नृपतिः शिरो निजोत्तमाङ्गं तस्य शिशुपालस्य चरणमुपगच्छतीति तच्चरणोपगं तत्पादगतं यो न चिकीर्षति कर्तुं नेच्छति तदीये तस्य नृपतेः सम्बन्धिनि मूर्धनि गतस्मयो विगर्वोऽसौ शिशुपाल एव स्वं चरणं कुरुते। निधत्त इत्यर्थः। अनम्रान् सद्यो नमयति नम्रानवतीति तात्पर्यम् ॥

दर्पसे उद्धत जो राजा अपने मस्तकको उस (शिशुपाल) के चरणके पासमें (उसके चरणों को नम्र होकर प्रणाम) नहीं करता है, दर्पहीन यह शिशुपाल ही उस (राजा) के मस्तक पर अपने चरणको रखता है ॥ ६८ ॥

स्वभुजद्वयकेवलायुधश्चतुरङ्गामपहाय वाहिनीम्।
बहुशः सह शक्रदन्तिना स चतुर्दन्तमगच्छदाहवम् ॥ ६९ ॥

स्वेति ॥ स चैद्यश्चत्वार्यङ्गानि हस्त्यादीनि यस्यास्तां चतुरङ्गां वाहिनीं सेनामपहाय स्वभुजद्वयं केवलमेकमायुधं यस्य सः सन् शक्रदन्तिना ऐरावतेन सह। चत्वारो दन्ता यस्मिंस्तं चतुर्दन्तम्। आहवं रणं बहुशोऽगच्छत्। चतुर्दन्तेन शक्रदन्तिना दोर्द्वयेन योद्धुं चैद्यं विना कोऽन्यः शक्त इति भावः। दन्तिनोराहवश्चतुर्दन्त इत्युक्तं न तु मनुष्यदन्तिनोरिति विरोधः, स च शक्रदन्तिनेति परिहृतः, तस्य चतुर्दन्तत्वादिति विरोधाभासः ॥ ६९ ॥

केवल अपनी दो भुजाएँ ही हैं आयुध जिसकी ऐसा वह शिशुपाल चतुरङ्गिणी (हयदल,

१. '—द्धतम्' इति पा०।

गजदल, रथदल तथा पैदल) सेनाको छोड़कर ऐरावतके साथ 'चतुर्दन्त' नामक युद्धमें बहुत बार सम्मिलित हुआ है।

विमर्श—दो हाथियोंके युद्धको 'चतुर्दन्त' युद्ध कहते हैं, प्रकृतमें दो हाथियोंका युद्ध नहीं होनेसे उपस्थित होनेवाले विरोधका 'ऐरावत' हाथीके चार दाँत होनेसे परिहार हो जाता है ॥ ६९ ॥

अविचालितचारुचक्रयोरनुरागादुपगूढयोः श्रिया।
युवयोरिदमेव भिद्यते यदुपेन्द्रस्त्वमतीन्द्र एव सः ॥ ७० ॥

अविचालितेति ॥ अविचालितं परैरपर्यासितं अत एव चारु शोभनं चक्रं सुदर्शनं, राष्ट्रं च ययोस्तयोः। 'चक्रं राष्ट्ररथाङ्गयोः' इति विश्वः। श्रिया कमलया, सम्पदा चानुरागादुपगूढयोराश्लिष्टयोर्युवयोस्तव तस्य च। 'त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम्' (१।२।७२) इत्येकशेषः। इदमेव भिद्यते विशेष्यते। कर्मकर्तरि लट्। किं तदित्यत्राह—त्वमिन्द्रमुपगत उपेन्द्र इन्द्रानुजः। तदनुचर इति यावत्। स तु इन्द्रमतिक्रान्तः अतीन्द्रः। इन्द्रविजयीति यावत्। इदमेव भिद्यते इति सम्बन्धः। इन्द्रकिङ्करेन्द्रजयिनोः का साम्यकथेति भावः। अत्रोपमानात्कृष्णादुपमेयस्य चैद्यस्याधिक्यान्नेदप्राधान्यसाधर्म्योक्तेर्व्यतिरेकालङ्कारः ॥ ७० ॥

किसीसे भी नहीं चलाये जानेवाले सुदर्शन चक्र, पक्षा०—किसीसे भी विचलित (पराजित) नहीं होनेवाले राष्ट्रको धारण करनेवाले, लक्ष्मीके द्वारा अनुरागसे आलिङ्गित (पक्षा०-धनसे युक्त), तुम दोनोंमें यही भेद है कि तुम उपेन्द्र (इन्द्रसे छोटे) हो तथा वह शिशुपाल इन्द्रको जीतनेवाला है, (अतएव तुम दोनोंमें बहुत ही अन्तर है) ॥७०॥

किंच त्वत्तोऽप्यधिको राजेत्यवाच्योऽयमर्थः यदीश्वरादप्यधिक इत्याह—

भृतभूतिरहीनभोगभाग्विजितानेकपुरोऽपि विद्विषाम्।
रुचिमिन्दुदले करोत्यजः परिपूर्णेन्दुरुचिर्महीपतिः ॥ ७१ ॥

भृतेति ॥ भृता भूतिर्भस्म, सम्पच्च येन स भृतभूतिः। 'भूतिर्भस्मनि सम्पदि' इत्यमरः। अहीनां भोगिनामिनोऽहीनः शेषः तस्य भोगं कायं भजतीत्यहीनभोगभाक्। शेषभूषण इत्यर्थः। अन्यत्र अहीनमन्यूनं भोगं सुखानुभवं भजतीत्यहीनभोगभाक्। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः। विद्विषां विजितानेकपुरः। विजितानेकविद्विट्पुर इत्यर्थः। एकत्र त्रिपुरविजयादन्यत्र शत्रुनगरविजयाच्चेति भावः। सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। एवंभूतोऽप्यजो हरः। 'अजा विष्णुहरच्छागाः' इत्यमरः। इन्दुदले चन्द्रखण्डे विषये रुचिमभिलाषं करोति। इन्दुदले या रुचिः शोभा तां करोति दधातीति चार्थः। सामान्यशब्देन विशेषलक्षणा। महीपतिस्तु परिपूर्णेन्दो रुचिरिव रुचिः शोभा यस्य सः तस्मिन् रुचिरभि-

१. '—यदेव' इति पा०।

-लाषो यस्येति च परिपूर्णेन्दुरुचिः। 'रुचिर्मयूखे शोभायामभिषङ्गाभिलाषयोः' इति विश्वः। अत्र हरः खण्डेन्दुरुचिः, राजा पूर्णेन्दुरुचिरिति व्यतिरेकः। स च रुच्योरभे-दाश्रयादिति श्लेषमूलाभेदातिशयोक्त्या सङ्कीर्णः॥ ७१॥

(मेरा राजा शिशुपाल तुमसे ही नहीं, अपितु शिवजीसे भी श्रेष्ठ है इस बातको दूत श्रीकृष्णजीसे कहता है) भस्म (पक्षा०—ऐश्वर्य) को धारण करनेवाले, सर्पराज (शेष) के शरीरको ग्रहण किये (भूषण बनाये) हुए (पक्षा०—श्रेष्ठ लोगोंको भोगनेवाले), शत्रुओंके अनेक नगरों (त्रिपुर, पक्षा०—बहुत से राज्यों) को जीते हुए शिवजी केवल चन्द्रमाके टुकड़े (एक कलामात्र) की रुचिवाले (चाहते) हैं और मेरा राजा (शिशुपाल) परिपूर्ण चन्द्रमाकी रुचि अर्थात् शोभा वाला (चाहनेवाला) है; (अतः वह शिवजीसे भी श्रेष्ठ है)॥ ७१॥

अथ कलापकमाह (७२-७५)—

नयति द्रुतमुद्धतिश्रितः प्रसभं भङ्गमभङ्गुरोदयः।
नमयत्यवनीतलस्फुरद्भुजशाखं[1] भृशमन्यमुन्नतिम्॥ ७२॥

नयतीति॥ यः तटद्रुमैः सरितामुदकस्य पूर एव भूभृतां गणैः क्रीडतीति चतुर्थं वक्ष्यति। तं क्रीडाप्रकारं त्रिभिर्वर्णयति। अभङ्गुरोदयः स्थिरवृद्धिः य उद्धतिंश्रित औद्धत्यभाजः। अनम्रानिति यावत्। श्रयतेः क्विप्। नृपान् द्रुमांश्चेत्यर्थः। द्रुतं शीघ्रं प्रसभं प्रसह्य भङ्गं नयति। अवनीतले स्फुरन्त्यौ भुजौ शाखे इव भुजशाखे यस्य तम्। भुजौ प्रसार्य भुवि प्रणिपतितमित्यर्थः। अन्यं नृपं, द्रुमं च वेतसादिकं भृश-मुन्नतिं गमयति॥ ७२॥

(अब 'कलापक' (चार १६।७२-७५) श्लोकों) से शिशुपालके पराक्रमका वर्णन करता है) बढ़ते हुए जल-प्रवाहके समान बढ़ते हुए ऐश्वर्यवाला जो शिशुपाल औद्धत्यको धारण किए हुए (नहीं झुके हुए वृक्षों, पक्षा०—राजाओं) को बलपूर्वक झुका देता (उखाड़ देता-पक्षा०—समूल नष्ट कर देता) है, और भूतलपर स्फुरित होते हुए (झुककर नम्र हुए) भुजारूपी डालियोंवाले (बेंत आदि पक्षा०—विनम्र राजाओं) को उन्नत कर देता है॥

अधिगम्य च रन्ध्रमन्तरा जनयन्मण्डलभेदमन्यतः[2]।
खनति क्षतसंहति क्षणादपि मूलानि महान्ति कस्यचित्॥ ७३॥

अधिगम्येति॥ किंचेति चार्थः। अन्तरा मण्डलमध्ये, आलवालमध्ये च रन्ध्रम-वकाशं शुषिरं चाधिगम्य। अन्यतः मण्डलस्यामात्यादिचक्रस्य भेदमुपजापं जन-यन्, अन्यत्र मण्डलस्याधारदेशस्य भेदं विदारणं कुर्वन्नित्यर्थः। क्षता संहतिरैक-मत्यं, मूलानामाश्लेषश्च यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा क्षणात्कस्यचिद्राज्ञः,

1. 'शाखाभृतमन्यमानतिम्' इति पा०। 2. 'मन्ततः' इति पा०।

द्रुमस्य च महान्ति मूलानि मुख्याञ्जनानपि खनति तापयति, अन्यत्राद्रीनपि खनत्यवदारयति ॥ ७३ ॥

वृक्षके थालेमें छिद्र पाकर दूसरी ओर उसे विदीर्ण करता हुआ (पक्षा०–राज–मण्डलमें अवसर पाकर अमात्यादिको फोड़ता हुआ) जड़की एकता । (पक्षा०—राजा तथा मन्त्री आदिकी एक सम्मति) को नष्ट करनेके साथ–साथ किसी वृक्ष (पक्षा०—शत्रुभूत राजा) की जड़ मूलभूतपर्वत आदिको भी खोदता है (पक्षा०—मुख्य मन्त्री, राजकुमार आदिको भी सन्तप्त करता है) ॥ ७३ ॥

घनपत्रभृतोऽनुगामिनस्तरसाकृष्य करोति कांश्चन ।
दृढमप्यपरं प्रतिष्ठितं प्रतिकूलं नितरां निरस्यति ॥ ७४ ॥

घनेति ॥ घनानि सान्द्राणि पत्राणि वाहनानि, पर्णानि च बिभ्रतीति घनपत्रभृतः कांश्चन नृपान् द्रुमांश्च तरसा बलेन, वेगेन च। 'तरसी बलरंहसी' इति विश्वः । आकृष्यानुगामिनोऽनुचरान् करोति । दृढं यथा तथा प्रतिष्ठितं प्रतिष्ठां गतमपि । प्रतिकूलं प्रातिकूल्यभाजमपरं नृपं, द्रुमं च नितरां निरस्यति उत्पाट्यान्यतः क्षिपति । द्रुमपक्षे प्रतिकूलं कूले क्षिपतीति चार्थः ॥ ७४ ॥

सघन पत्तोंवाले किन्हीं वृक्षोंको, (पक्षा०—हाथी घोड़ा आदि दृढ़ वाहनोंवाले किन्हीं राजाओंको) वेग (पक्षा०—सेना, या–बल) से खींचकर अपना अनुगामी (अपने पीछे बहनेवाला, पक्षा०–अपने पीछे चलनेवाला अर्थात् अनुचर) बना लेता है और अत्यन्त दृढ़ स्थित–बहुत गहराई तक गयी हुई जड़वाले वृक्षको किनारे पर फेंक देता है (पक्षा०–अत्यन्त प्रतिष्ठाको पाये हुए विपरीत आचरण करनेवाले राजाको नष्ट-भ्रष्ट कर देता है) ॥

इति पूर इवोदकस्य यः सरितां प्रावृषिजस्तटद्रुमैः ।
क्वचनापि महानखण्डितप्रसरः क्रीडति भूभृतां गणैः ॥ ७५ ॥

इतीति ॥ इतीत्थं क्वचनाप्यखण्डितप्रसरः । सर्वत्राखण्डितप्रवृत्तिरित्यर्थः । महान् यः शिशुपालः प्रावृषि जातः प्रावृषिजः । 'सप्तम्यां जनेर्डः' (३।२।९७) इति डप्रत्ययः । 'प्रावृट्शरत्कालदिवां जे' (६।३।१५) इत्यलुक् । 'प्रावृषिकः' इति पाठे तत्र जात इत्यर्थे 'प्रावृषष्ठक्' (४।३।२३) इति ठक् प्रत्ययः । ठस्येकः । सरितामुदकस्य पूरस्तटद्रुमैरिव भूभृतां राज्ञां गणैः साधनैः क्रीडति । 'महतः कुकुर–'(१६।७९) इत्यागामिश्लोके स महीपतिरित्यनेनास्य सम्बन्धः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार (१६।७२–७४) कहीं भी नहीं रुकनेवाला वर्षाका बड़ा जलप्रवाह जिस प्रकार नदियोंके किनारेपर स्थित वृक्षोंसे क्रीडा करता है, उसी प्रकार कहीं भी नहीं रुकनेवाली गतिवाला महान् यह शिशुपाल राजाओंके समूहोंके साथ क्रीडा (बिना परिश्रमके ही युद्ध) करता है ॥ ७५ ॥

अथ विशेषकमाह (७६-७८)—

अलघूपलपङ्क्तिशालिनीः परितो रुद्धनिरन्तराम्बराः ।
अधिरूढनितम्बभूमयो न विमुञ्चन्ति चिराय मेखलाः ॥ ७६ ॥

अलघ्वित्यादि ॥ यस्यारिस्त्रियः संपद्यनुभूतमापद्यप्यनुभवन्तीति वक्ष्यति तत्प्रकारमेवाह । अधिरूढनितम्बभूमय उन्नतद्रोणिभागाः अलघुभिरुपलानां मणीनां, पाषाणानां च पङ्क्तिभिः शालन्त इति तच्छालिनीः । 'उपलौ मणिपाषाणौ' इति विश्वः । परितो रुद्धमावृतं निरन्तरं सान्द्रं संनिहितं च अम्बरं वस्त्रमाकाशं च याभिस्ताः । अधिरूढनितम्बभूमीः आक्रान्तश्रोणिभागा प्राप्तकटकभागश्चेति विभक्तिविपरिणामः । मेखला रशनाः पर्वतमध्यभूमीश्च चिराय न विमुञ्चन्ति । अत्र संपदादिविषयत्वेनोभयेषामपि मेखलादीनां वर्ण्यत्वेन प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतगोचरः श्लेषः॥

(जिस शिशुपालके शत्रुओंकी रमणियाँ यह अग्रिम (१६।७८) श्लोकसे अन्वित करना चाहिए) पहले बड़े-बड़े रत्न (जड़े गए माणिक्य, नीलम आदि) की श्रेणियोंसे शोभनेवाली, चारों ओर से सघन वस्त्र को दबाई हुई और रमणियोंके नितम्ब-मण्डलपर स्थित (लटकती हुई) करधनियोंको नहीं छोड़ती थीं । और इस समय (आपत्ति कालमें) बड़े-बड़े पत्थरोंकी श्रेणियोंसे शोभनेवाली, चारों ओरसे आकाशको रोकी (विस्तृत आकाशदेशमें फैली) हुई पर्वतके मध्य भागपर आरूढ़ मेखलाओं (पहाड़ोंके मध्यभागों) को नहीं छोड़ती हैं अर्थात् शिशुपालके भयसे पर्वतमालाओंमें भागती फिरती हैं ॥ ७६ ॥

कटकानि भजन्ति चारुभिर्नवमुक्ताफलभूषणैर्भुजैः ।
नियतं दधते च चित्रकैरतियोगं पृथुगण्डशैलतः ॥ ७७ ॥

कटकानिति ॥ किं च नवमुक्ताफलानि नूतनमौक्तिकानि भूषणानि येषां तैश्चारुभिः भुजैः कटकानि वलयानि भजन्ति, अन्यत्र नवमुक्तान्यचिरत्यक्तानि अतः अफलानि वेधव्याप्तिष्फलान्याभरणानि यैस्तैर्भुजैरुपलक्षिताः कटकानि तटानि भजन्ति । किंचेति चार्थः। पृथुगण्डशैलतः पृथुगण्डस्थलेषु चित्रकैः पत्ररचनाभिर्नियतमवियोगं संपर्कं दधते, अन्यत्र च्यूतस्थूलोपलेषु चित्रकैर्मृगविशेषैः सह वासं दधते। अत्रापि प्रकृतगोचरः श्लेषः ॥ ७७ ॥

पहले (सम्पत्तिकालमें पतिके साथ महलोंमें रहनेके समय) सुन्दर नये-नये मोतियोंसे युक्त भूषणोंवाली भुजाओंसे कङ्कणोंको धारण करती थीं और बड़े-बड़े कपोल-मण्डलोंपर चन्दनादिकृत पत्ररचनाओंको अवश्यमेव धारण करती थीं, और इस समय विपत्तिकालसे तत्काल छोड़े गये निष्फल भूषणोंवाले बाहुओंवाली वे रमणियां पर्वतोंके मध्यभागपर निवास करती हैं तथा बड़े-बड़े चट्टानों पर 'चित्रक' जातिके मृगोंके साथ रहती हैं ॥ ७७ ॥

इति यस्य ससंपदः पुरा यदवापुर्भवनेष्वरिस्त्रियः ।
स्फुटमेव समस्तमापदा तदिदानीमवनीध्रमूर्धसु ॥ ७८ ॥

इतीति ॥ यस्यारिस्त्रियः पुरा पूर्वं ससंपदः सश्रीकाः भवनेषु यद्वापुर्मल्लादिकमनुबभूवुः । समस्तमशेषं तदिदानीमापदा अवनीध्रमूर्धसु शैलश्रृङ्गेषु इतीत्थं स्फुटमेवावापुः । न ह्यस्य वैरिणां जीविताशेति भावः । अस्याप्युत्तरश्लोकेनान्वयः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार हमारे राजा शिशुपालके शत्रुओंकी पटरानियोंने पहले महलोंमें वैभवसहित रहती हुई जिन्हें प्राप्त किया था, उन सबको इस समय (शिशुपालके द्वारा पतियोंके मारे जानेपर) भी पर्वतोंके शिखरोंपर भी अवश्य ही प्राप्त कर रही हैं ॥ ७८ ॥

महतः कुकुरान्धकद्रुमानतिमात्रं दववद्दहन्नपि ।
अतिचित्रमिदं महीपतिर्यदकृष्णामवनीं करिष्यति ॥ ७९ ॥

महत इति ॥ यत्तदोर्नित्यसंबन्धात् । स महीपतिर्महतोऽधिकान् कुकुरांश्चान्धकांश्च यादवभेदास्तानेव द्रुमानतिमात्रं दववद्दवाग्निवत् । 'दवदावौ वनारण्यवह्नी' इत्यमरः । दहन्नपि अवनीमकृष्णामश्यामां करिष्यति इति यत् इदमितिचित्रम् । विरुद्धमित्यर्थः । कृष्णरहितामित्यविरोधः । अत एव विरोधाभासोऽलंकारः । कुकुरान्धकैः सह कृष्णं हनिष्यतीति श्लेषार्थः ॥ ७९ ॥

राजा (शिशुपाल) बड़े-बड़े 'कुकुर' तथा अन्धक' (यादव विशेष) रूप वृक्ष को दावाग्निके समान जलाता हुआ भी पृथ्वीको काली नहीं करेगा, यह आश्चर्य है (ऐसा अर्थ करनेसे आनेवाले विरोधका परिहार……तुम्हें मारकर पृथ्वीको कृष्णरहित कर देगा' करना चाहिये) ॥ ७९ ॥

अथ युग्मेनाह (८०-८१)—

परितः प्रमिताक्षरापि सर्वं विषयं व्याप्तवती गता प्रतिष्ठाम् ।
न खलु प्रतिहन्यते कुतश्चित्परिभाषेव गरीयसी यदाज्ञा ॥ ८० ॥

परित इति ॥ प्रकर्षेण मिताक्षरापि एकत्र मितभाषित्वादन्यत्र तु सूत्रत्वाच्चाल्पाक्षरापि सर्वं विषयं राष्ट्रकार्यं, प्रदेशं च परितो व्याप्तवती । सर्वत्र प्रवृत्तेत्यर्थः । प्रतिष्ठां प्रामाण्यं स्थितिं गता गरीयसी भूयिष्ठार्था यदाज्ञा यस्य राज्ञः शासनं परिभाषा अनियमनिवारको न्यायविशेषः सेव कुतश्चित्कुत्रापि न प्रतिहन्यते खलु न बाध्यते हि । परिभाषा ह्येकदेशे स्थित्वा सर्वशास्त्रमभिज्वलयति दीपवदिति भाष्यकारः । 'इको गुणवृद्धी' (१।१।३) इत्यादिका परिभाषा । 'सिचि वृद्धिः-' (७।२।१) इत्यादिविषयः । उपमालङ्कारः । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ८० ॥

अत्यन्त थोड़े अक्षरोंवाली (अत्यन्त छोटी) भी सम्पूर्ण देशमें व्याप्त हुई तथा प्रामाण्य को प्राप्त गौरव युक्त जिस शिशुपालकी आज्ञा, थोड़े अक्षरोंवाली, सम्पूर्ण लक्ष्योंमें व्याप्त (प्रवृत्त होनेवाली) कहीं भी बाधित नहीं होनेसे प्रतिष्ठाको प्राप्त विशिष्ट अर्थको कहनेवाली परिभाषाके समान कहीं भी नहीं रुकती है ॥ ८० ॥

---

१. '—ष्णां पृथिवीम्' इति पा० । २. 'प्राप्तवती' इति पा० ।

यामूढवानूढवराहमूर्तिर्मुहूर्तमादौ पुरुषः पुराणः ।
तेनोह्यते सांप्रतमक्षतैव क्षतारिणा सम्यगसौ पुनर्भूः ॥ ८१ ॥

यामिति ॥ यां भुवमादौ पूर्वं पुराणः पुरुषो विष्णुः ऊढवराहमूर्तिर्धृतवराहशरीरः, स च न तु स्वरूपेणेति भावः । मुहूर्तं क्षणमात्रमूढवान् धृतवान् क्षतारिणा संहृतसकलविपक्षेण अत एवैनां पुनस्तेन राज्ञा । अविकृतेनेति भावः । अक्षतैव विपक्षैरनुपद्रुतैवासौ भूः साम्प्रतमद्यापि न तु मुहूर्तमिति भावः । सम्यक् यथाशास्त्रमुह्यते धार्यते । वहेः कर्मणि लट् 'वचिस्वपि–' (६।१।१५) इत्यादिना सम्प्रसारणम् । अत्र राज्ञो विष्णोराधिक्यकथनाद्व्यतिरेकः । अत्र ध्वनिः । कश्चिद्वृद्धः स चोढवराहमूर्तिर्यामविकृतिमादौ प्रथमं मुहूर्तमूढवान्परिणीतवानिति भावः । अत एव अक्षता पूर्वेण अक्षतयोनिका । अत एवासौ भूर्वोढुः क्षतारिणा । शौर्यादिगुणाढ्येनेत्यर्थः । तेन केनचिद्यूना साम्प्रतं पुनरुह्यते पुनः परिणीयते । 'सा चेदक्षतयोनिः स्यात्पुनः संस्कारमर्हति' इति स्मरणाद्विति सा पुनर्भूरुच्यते इति योज्यम् । 'पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषुः पतिः' इत्यमरः । अत्राभिधायाः प्रकृतार्थ एव नियन्त्रणादप्रकृतार्थप्रतीतेर्ध्वनिरेव ॥ ८१ ॥

पूर्वकाल (सृष्टिके प्रारम्भ) में वराहरूपको धारण किये हुए पुराण–पुरुष (श्रीविष्णु भगवान्) ने जिस पृथ्वीको क्षणमात्र धारण किया था, उस सम्पूर्ण पृथ्वीको · शत्रुओंका वध करनेवाला वह (शिशुपाल) फिर इस समय अच्छी तरहसे धारण कर रहा है । (अथवा–पहले वराहरूपधारी पुराण–पुरुष अर्थात् किसी बूढ़े ने रमणीरूपिणी जिस पृथ्वीके साथ कुछ समयतक विवाह किया था, (पतिके वृद्ध होनेसे तथा कुछ समय तक ही साथ रहनेसे) अक्षतयोनिवाली एवं पुनर्भू (द्वितीय विवाह करनेवाली) रमणीरूपिणी उस पृथ्वीके साथ शत्रुको मारनेवाला (शिशुपाल) अच्छी तरह से फिर विवाह कर रहा है) ॥ ८१ ॥

भूयांसः क्वचिदपि काममस्खलन्तस्तुङ्गत्वं दधति च यद्यपि द्वयेऽपि ।
कल्लोलाः सलिलनिधेरवाप्य पारं शीर्यन्ते न गुणमहोर्मयस्तदीयाः ॥८२॥

भूयांस इति ॥ द्वयेऽपि समुद्रोर्मयो गुणोर्मयश्चेति द्वितया अप्यूर्मय इति । द्वेस्तयप् तस्य 'द्वित्रिभ्याम्–' (५।२।४३) इत्यनेनायजादेशः 'प्रथमचरम–' (१।१।३३) इत्यादिना जसि विभाषया सर्वनामसंज्ञा । भूयांसो बहुतराः क्वचिदप्यस्खलन्तः । अप्रतिहतप्रसरा इत्यर्थः । कामं तुङ्गत्वं दधति यद्यपि दधत्येव । 'यद्यपीत्यवधारणे' इति केशवः । तथापीति शेषः । सलिलनिधेः समुद्रस्य कल्लोला महोर्मयः । 'अथोर्मिषु । महत्सूल्लोलकल्लोलौ' इत्यमरः । पारं तीरमवाप्य शीर्यन्ते विलीयन्ते । शीर्यतेर्दैवादिकात्कर्तरि लट् । तदीया गुणमहोर्मयस्तु पारमवाप्यापि न शीर्यन्ते । अत्र गुणमहोर्मीणां भूयस्त्वादिसाधर्म्येण गुरुत्वेन समुद्रस्याधिक्याद्व्यतिरेकः अनेन राज्ञोऽपि समुद्रादाधिक्यं व्यज्यते । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥ ८२ ॥

बहुसङ्ख्य (अगणित) तथा कहीं भी नहीं रुकनेवाले समुद्रके तरङ्ग–समूह तथा शिशु

पालके गुणसमूह–ये दोनों ही उन्नत होते हैं, किन्तु (उनमें पहलेवाले) समुद्रके तरङ्ग-समूह पार (समुद्रके दूसरे तट) में जाकर स्खलित हो जाते हैं और उस (शिशुपाल) के गुणसमूहरूपी तरङ्ग स्खलित नहीं होते (समुद्रके पार भी चले जाते हैं अर्थात् शिशुपालके गुण–समूहकी प्रशंसा समुद्रके पारतक हो रही है) ॥ ८२ ॥

अथ युग्मेनाह (८३–८४)

लोकालोकव्याहतं घर्मरश्मेः शालीनं वा धाम नालं प्रसर्तुम् ।
लोकस्याग्रे पश्यतो धृष्टमाशु क्रामत्युच्चैर्भूभृतो यस्य तेजः ॥ ८३ ॥

लोकालोकेत्यादि ॥ लोक्यते आलोक्यते च पार्श्वान्तरेणेति लोकालोकः । 'लोकालोकश्चक्रवालः' इत्यमरः । विशेषणसमासः । तेन व्याहतं निरुद्धप्रसारं लोकस्यालोकेन चक्षुःप्रकाशेन व्याहतमित्यपि स्फुरति । अत एव शालीनमधृष्टता । लज्जया भग्नधार्ष्ट्यमिवेत्यर्थः । 'शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः' (५।२।२०) इति निपातः । इवार्थे वाशब्दः तद्वदुत्प्रेक्षा । घर्मरश्मेर्धाम तेजः पश्यतो लोकस्याग्रे उच्चैर्भूभृतः पर्वतान् राज्ञश्च प्रसर्तुं व्याप्तुं नालं न समर्थम् । लोकालोकव्याप्तस्य लोकाग्रे सञ्चारत्वादित्यर्थः । यस्य राज्ञस्तु तेजः पश्यतो लोकस्याग्रत एव धृष्टं केनाप्यव्याहतत्वात्प्रगल्भं सत् उच्चैर्भूभृतो राज्ञः पर्वतांश्च क्रामति व्याप्नोति । अत्राप्रतिहतप्रतापत्वेन राज्ञः सूर्यादाधिक्याद्व्यतिरेकः स च द्वयोर्लोकालोकयोर्द्वयानां भूभृतामभेदाध्यवसायाच्छ्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितया शालीनत्वोत्प्रेक्षया संकीर्यते । शालिनीवृत्तमेतत् ॥

लोकालोक (नामक पर्वत–विशेष) से रुका हुआ सूर्यका तेज लज्जासे अधृष्ट–सा होता हुआ देखते हुए लोक (पर्वतविशेष, पक्षा०—जन–समुदाय) के आगे फैलने (बढ़ने) में समर्थ नहीं होता है; किन्तु धृष्ट (लज्जाशील नहीं होनेसे धृष्टतायुक्त) जिस (शिशुपाल) का तेज देखनेवाले बड़े बड़े राजाओं (पक्षा०–पर्वतों) को शीघ्र ही अतिक्रमण कर (लाँघ) जाता है ॥ ८३ ॥

विच्छित्तिर्नवचन्दनेन वपुषो भिन्नोऽधरोऽलक्तकै-
रच्छाच्छे पतिताञ्जने च नयने श्रोण्योऽलसन्मेखलाः ।
प्राप्तो मौक्तिकहारमुन्नतकुचाभोगस्तदीयद्विषा-
मित्थं नित्यविभूषणा युवतयः संपत्सु चापत्स्वपि ॥ ८४ ॥

विच्छित्तिरिति ॥ वपुषो नवचन्दनेन विच्छित्तिर्वियोगः आपदि, अन्यत्र चन्दनालेपनमिति यावत् । अधरोष्ठोऽलक्तकैर्लाक्षारागैर्भिन्नो वियुक्तः, अन्यत्र युक्तः । नयने च पतिताञ्जने गलितकज्जले अत एवाच्छाच्छे अच्छप्रकारे । 'प्रकारे गुणवचनस्य' (८।१।१२) इति द्विर्भावः 'कर्मधारयवत्–' (८।१।११) इति सुपो लुक् । अन्यत्र अच्छाच्छे नयने पतिताञ्जने प्राप्ताञ्जने । श्रोण्यो नितम्बाः लसन्मेखला न भवन्तीत्यलसन्मेखलाः निर्मेखला इत्यर्थः । अन्यत्र लसन्मेखला इति पदच्छेदः । उन्नतः कुचाभोगः कुचविस्तारो मौक्तिकानां हारं हरणं प्राप्तः । अन्यत्र मुक्तादाम प्राप्तः ।

इत्थमुक्तरीत्या तद्विद्विषां युवतयः सम्पत्सु च आपत्स्वपि नित्यविभूषणाः नित्यविगलितभूषणाः अन्यत्र भूषणयुक्ताः। अत्रापत्सम्पदोः प्रकृताप्रकृतयोः युवतिविशेषणद्वारा वर्णनाच्छ्लेषः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। लक्षणमुक्तम् ॥ ८४ ॥

उस (शिशुपाल) के शत्रुओंकी रमणियाँ सम्पत्तिओंमें अर्थात् पतियोंके जीवित रहनेपर सुखावस्थामें तथा विपत्तियोंमें अर्थात् शिशुपालके द्वारा पतियोंके मारे जानेपर दुःखावस्थामें भी इस प्रकार सर्वदा भूषणोंको धारण करती हैं-(सम्पत्तिकालमें) शरीरपर नवीन चन्दन का लेप करती हैं, उनके ओष्ठ अलक्तक रससे युक्त रहते हैं, अत्यन्त विमल नेत्र अञ्जन युक्त रहते हैं, कटिप्रदेश करधनियोंसे शोभते हैं, उन्नत स्तन-मण्डल मोतियोंके हारको धारण करते हैं, (तथा आपत्ति कालमें-उनका शरीर) चन्दन लेपसे रहित रहता है, ओष्ठ अलक्तकरससे शून्य रहता है, (सर्वदा पति-वियोगमें रोते रहनेसे) धुले हुए कज्जलवाले नेत्र शुभ्र (अञ्जन-रहित होनेसे सफेद) रहते हैं, कटि-प्रदेश करधनीसे शून्य रहता है और विशाल स्तनप्रदेश हारों (मुक्तामालाओं) से शून्य रहता है ॥ ८४ ॥

सत्यमीदृशस्ते राजा ततः किमित्याशङ्क्य तर्हि तत्त्वमाकर्णयेत्याह—

विनिहत्य भवन्तमूर्जितश्रीर्युधि सद्यः शिशुपालतां यथार्थाम् ।
रुदतां भवदङ्गनागणानां करुणान्तःकरणः करिष्यतेऽसौ ॥ ८५ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्रयङ्के
दूतसंवादो नाम षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

विनिहत्येति ॥ ऊर्जितश्रीरधिकैश्वर्योऽसौ राजा युधि भवन्तं सद्यो विनिहत्य हत्वा रुदतां क्रन्दतां भवदङ्गनागणानां करुणान्तःकरणः कृपाविष्टचित्तः सन् शिशुपालतां यथार्थां करिष्यते। अङ्गनागणान्प्रति तच्छिशुपालनेन निजां शिशुपालसंज्ञामन्वर्थां करिष्यतीत्यर्थः। अत्र रोदनकरुणापदार्थयोर्विशेषणगत्या क्रमारकरुणाशिशुपालनहेतुकत्वात्काव्यलिङ्गयोः सङ्करः। औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ॥ ८५ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां शिशुपालवधकाव्यव्याख्यायां सर्वंकषाख्यायां षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

अधिक ऐश्वर्यवान् वह शिशुपाल युद्धमें तुम्हें शीघ्र ही मारकर रोती हुई तुम्हारी रमणियोंके करुणासे आर्द्रचित्त होकर अपने शिशुपाल (बच्चोंको पालने-रक्षा करनेवाले) नामको यथार्थ (अवयवार्थ घटित) करेगा ॥ ८५ ॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'दूतसंवाद' नामक षोडश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

इतीरिते वचसि 'वचस्विनामुना युगक्षयक्षुभितमरुद्गरीयसि ।
प्रचुक्षुभे सपदि तदम्बुराशिना समं महाप्रलयसमुद्यतं सदः ॥ १ ॥

इतीति ॥ इतीत्थममुना वचस्विना वाग्मिना । 'मनस्विना' इति पाठे मनस्विना धीरेण दूतेन युगक्षये कल्पान्ते क्षुभित उद्धतो मरुत्तद्वद्गरीयसि वचसि ईरिते सति । तदम्बुराशिना युगक्षयवर्धिना समं तुल्यं यथा तथा सदो हरेरास्थानं महाप्रलये सर्वसंहारे समुद्यतमुद्युक्तं सत् सपदि प्रचुक्षुभे प्रचुकोप । कल्पोद्धतमहामारुतेन महार्णव इव तद्वचनेन तत्सदः क्षुभितमासीदित्यर्थः । उपमा । रुचिरा वृत्तम् । 'चतुर्ग्रहैरिह रुचिरा जभस्जगा' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

वाग्मी दूतके, प्रलयकालमें क्षुब्ध वायुके समान गम्भीर वचनको इस प्रकार (१६।१९–८५) कहनेपर महाप्रलय (पक्षा०–जनसंहार) के लिए उद्यत वह सभा समुद्रके समान तत्काल क्षुब्ध हो गयी ॥ १ ॥

अथाष्टादशभिः सभाक्षोभं वर्णयति—

सरागया स्रुतघनघर्मतोयया कराहतिध्वनितपृथूरुपीठया ।
मुहुर्मुहुर्दशनविखण्डितोष्ठया रुषा नृपाः प्रियतमयेव भेजिरे ॥ २ ॥

सरागयेत्यादि ॥ नृपा राजानः सह रागेण पाटलिम्ना, अनुरागेण च सरागया । 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (२।२।२८) इति बहुव्रीहिः । स्रुतं घनं सान्द्रं घर्मतोयं स्वेदोदकं यस्यां सा तया कराहत्या पाणितलास्फालनेन ध्वनितं पृथु महदुरु पीठमिव उरुपीठं यस्यां तया मुहुर्मुहुर्दशनविखण्डितोष्ठया दन्तदष्टाधरया । रुषा प्रियतमयेव भेजिरे । आविष्टोऽनाविष्टश्च रौद्रस्थायी क्रोधः प्रादुरभूदित्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥२॥

(अब अठारह (१७।२–१९) श्लोकोंसे सभाके क्षोभका वर्णन करते हैं) अरुणिमा (क्रोधसे शरीरके लाल होने, पक्षा०–स्नेह) से युक्त, (क्रोधसे, पक्षा०–सात्त्विक भावसे) निकलते हुए अत्यधिक पसीनेसे युक्त, हाथसे जघनपर जिस क्रोधमें वीर लोग ताल ठोक रहे हैं ऐसे (पक्षा०–हाथसे कामवृद्धिके लिए जिसके मोटे ऊरुप्रदेशमें थपथपाया गया है ऐसी), (क्रोधके कारण, पक्षा०–चुम्बन करते समय) बारबार (वीरों, पक्षा०–कामियोंसे) दाँतोंसे काटा गया है अधर जिस क्रोधमें ऐसा, (पक्षा०–जिस रमणीका ऐसी) रमणीके समान क्रोधसे राजा लोग युक्त हो गये अर्थात् सभामें उपस्थित सभी राजालोगोंके नेत्र मुख आदि क्रोधसे लाल-लाल हो गये. शरीरसे पसीना बहने लगा, वे जंघेपर ताल ठोकने लगे और दाँतसे बार-बार ओठ काटने लगे ॥ २ ॥

---

१. 'चैद्यः' इति पा० । २. '—कल्पितौष्ठया' इति पा० ।

अथ सप्तदशभी राज्ञां क्रोधानुभावानाह—

अलक्ष्यत क्षणदलिताङ्गदे गदे करोदरप्रहितनिजांसधामनि।
²समुल्लसच्छकलितपाटलोपलैः स्फुलिङ्गवान्स्फुटमिव कोपपावकः॥

अलक्ष्यतेत्यादि ॥ करोदरप्रहितं पाणितलास्फालितं निजमंसधाम स्वांसप्रदेशो येन तस्मिन्। अत एव क्षणाद्दलिताङ्गदे भग्नकेयूरे गदे गदाख्ये कृष्णानुजे समुल्लसद्भिरुत्पतद्भिः शकलितैः शकलीकृतैर्दलदङ्गदगलितैः पाटलोपलैः पद्मरागैः कोपपावकः स्फुलिङ्गवानिव स्फुटं व्यक्तमलक्ष्यतेत्युत्प्रेक्षा। 'त्रिषु स्फुलिङ्गोऽग्निकणः' इत्यमरः॥

(उक्त सभाक्षोभके वर्णन-प्रसङ्गमें सत्रह श्लोकोंसे राजाओंके क्रोधानुभावका वर्णन करते हैं) अपनी हथेलीसे स्कन्धप्रदेशको स्फालित करने (ठोकने) पर गद (श्रीकृष्ण भगवानके छोटे भाई), बिजायटके टूट जानेपर टूट-टूटकर उछलते हुए पद्मराग मणियोंसे ऐसा मालूम होता था कि मानो चिनगारी युक्त यह क्रोधाग्नि ही स्पष्ट रूपमें निकल रही हो॥ ३॥

अवज्ञया यदहसदुच्चकैर्बलः समुल्लसद्दशनमयूखमण्डलः।
रुषारुणीकृतमपि तेन तत्क्षणं निजं वपुः पुनरनयन्निजां³ रुचिम्॥ ४॥

अवज्ञयेति ॥ बलो बलभद्रः समुल्लसत्समन्ततः प्रसरद्दशनमयूखमण्डलं दन्तरश्मिपटलं यस्य स सन् अवज्ञयाऽनादरेण उच्चैरहसदिति यत् तेन हासेन रुषारुणीकृतमपि निजं वपुः तत्क्षणं तस्मिन्क्षणे। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। पुनर्निजां रुचिं धावल्यमेवानयत्। अत्र वपुषः स्वधावल्यत्यागेन दन्तधावल्यस्वीकारात्तद्गुणालङ्कारः। 'तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाश्रयात्' इति लक्षणात्॥ ४॥

सब ओर फैलते हुए दाँतोंके किरण-समूहवाले बलरामजीने (दूतके वचनके विषयमें) अनादरके साथ जो अट्टहास किया, क्रोधसे लाल हुआ भी उनका शरीर उस समय अपने स्वाभाविक कान्ति को पा लिया॥ ४॥

यदुत्पतत्पृथुतरहारमण्डलं व्यवर्तत द्रुतमभिदूतमुल्मुकः।
बृहच्छिलातलकठिनांसघट्टितं ततोऽभवद्भ्रमितमिवाखिलं सदः⁴॥ ५॥

यदिति ॥ उल्मुको नाम राजा उत्पतदुल्लुठत्पृथुतरं हारमण्डलं मुक्ताकलापो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा अभिदूतं दूताभिमुखं व्यवर्तत विवृत्त इति द्रुतं यत् ततो विवर्तनादखिलं सदः बृहता शिलातलकठिनेनांसेन स्कन्धेन घट्टितं भ्रमितमिवाभवत्। विवर्तवेगवशोत्थादंसघट्टनाद् भ्रमितमिवाभूदित्युत्प्रेक्षा॥ ५॥

'उल्मुक' नामक राजाने एक ओरसे दूसरी ओर हटते हुए हार-समूहके साथ-साथ जो शीघ्र दूतके सन्मुख हुआ, उससे सम्पूर्ण सभा बड़े भारी चट्टान के समान कठोर एवं

१. 'महत' इति पा०। २. 'समुच्छलच्छ' इति पा०। ३. 'रुचम्' इति पा०। ४. 'जगत्' इति पा०।

विशाल कन्धेसे भ्रान्त (घुमायी—गयी)-सी हो गयी। (उस 'उत्सुक' राजाके सहसा दूतकी ओर घूमनेसे सभाको भी चक्कर-सा आ गया) ॥ ५ ॥

प्रकुप्यतः श्वसनसमीरणाहतिस्फुटोष्मभिस्तनुवसनान्तमारुतैः।
युधाजितः कृतपरितूर्णवीजनं पुनस्तरां वदनसरोजमस्विदत् ॥६॥

प्रकुप्यत इति ॥ प्रकुप्यतोऽतिक्रुध्यतो युधाजितो नाम राज्ञो वदनसरोजं श्वसनसमीरणस्य निःश्वासमारुतस्याहतिभिः स्फुटः प्रकट ऊष्मा उष्णत्वं येषां ते तैः तनुवसनान्तमारुतैः सूक्ष्मवस्त्राञ्चलवातैः कृतं परितूर्णवीजनं शीघ्रविधूननं यस्य तत्। अतिशीघ्रं वीज्यमानमपीत्यर्थः। पुनस्तरां पुनरत्यन्तम्। अव्ययादामुप्रत्ययः। अस्विदत्स्विद्यति स्म। स्विदेर्लुङि पुषादित्वादङ्प्रत्ययः। अत्रोष्मविशेषणगत्या स्वेदहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम्, वीजनेऽपि स्वेद इति विरोधः। विजिरयं चुरादिष्वन्वेषणीयः ॥

क्रुद्ध होते हुए 'युधाजित्' राजाका मुखकमल निःश्वास वायुके आघात (स्पर्श) से स्पष्ट मालूम पड़ती हुई गर्मीवाली अत्यन्त पतले कपड़ेकी हवासे बार-बार हवा करनेपर भी पुनः अधिक पसीनेसे युक्त हो गया। (कपड़ेसे हवा करके शीतल किया भी 'युधाजित्' राजाका मुख पुनः क्रोधजन्य पसीनेसे लथपथ हो गया) ॥ ६ ॥

प्रजापतिक्रतुनिधनार्थमुत्थितं व्यतर्कयज्ज्वरमिव रौद्रमुद्धतम्[1]।
समुद्यतं सपदि वधाय विद्विषामतिक्रुधं[2] निषधमनौषधं जनः ॥ ७ ॥

प्रजेति ॥ जनः सपदि विद्विषां वधाय समुद्यतमुद्युक्तं उद्धतं तीव्रम् अत एवातिक्रुधमधिकक्रोधि। अनौषधम्। अप्रतीकारमित्यर्थः। निषधं निषधाख्यं नृपं प्रजापतिक्रतुनिधनार्थं दक्षाध्वरध्वंसनार्थमुत्थितं रुद्रस्येमं रौद्रं रुद्रसम्बन्धिनं ज्वरमिव वीरभद्ररूपिणमित्यर्थः। व्यतर्कयत्। अत्र राज्ञोऽपि प्रजापतित्वात्पुनः प्रजापतिक्रतुनिधनार्थमुत्थितः साक्षाद्दक्षाध्वरविध्वंसी वीरभद्र एवायमित्युत्प्रेक्षितवानित्यर्थः। उपमा ॥

लोगोंने, तत्काल शत्रुओंके वध करनेके लिए तैयार, तीव्र तथा अत्यन्त क्रोधयुक्त किसी प्रकार शान्त नहीं होनेवाले 'निषध' नामक राजाको दक्षप्रजापतिके यज्ञको भ्रष्ट करनेके लिए उद्यत, रुद्रके उद्धत ज्वर ('वीरभद्र' नामक गणविशेष) के समान जाना ॥ ७ ॥

परस्परं परिकुपितस्य पिंषतः क्षतोर्मिकाकनकपरागपङ्किलम्[3]।
करद्वयं सपदि सुधन्वनो निजैरनारतस्रुतिभिरधाव्यताम्बुभिः[4] ॥ ८ ॥

परस्परमिति ॥ परिकुपितस्यातिक्रुद्धस्य अत एव परस्परं पिषतः पीडयतः करद्वयमित्यर्थः। सपदि सुधन्वनो राज्ञः क्षतानां पिष्टानामूर्मिकाणामङ्गुलीयकानां कनकपरागेण सुवर्णचूर्णेन पङ्किलं पङ्कवत्। पिच्छादित्वान्मत्वर्थीय इलच्प्रत्ययः। 'अङ्गु-

१. 'मुद्द्रुतः' इति पा०। २. 'क्रुतक्षणं……मधिक्रुधम्' इति पा०। ३. 'तम्' इति पा०। ४. 'नः स्वजैः' इति पा०।

लीयकमूर्मिका' इत्यमरः। करद्वयं पाणियुग्मं निजैः करद्वयजन्यैरेवानारतस्रुतिभिर-विरतस्रावैरम्बुभिः स्वेदोदकैरधाव्यताक्षाल्यत। 'धावुगतिशुद्ध्योः'। इति धातोः कर्मणि लङ्। अत्रोर्मिकाणां करद्वयस्य च परागस्वपङ्किलत्वासंबन्धेऽपि संबन्धोक्तेर-तिशयोक्तिस्तयोः संकरः ॥ ८ ॥

अत्यन्त क्रुद्ध होकर परस्पर दोनों हाथोंको रगड़ते हुए 'सुधन्वा' नामक राजाके, चूर्णित हुई अँगूठियोंके सोनेकी धूलिसे पङ्किल (कर्दमयुक्त) दोनों हाथों (हथेलियों) को निरन्तर बहते हुए पसीनेके पानीने धो दिया अर्थात् 'सुधन्वा' राजाने इतना अधिक क्रोध किया कि क्रोधसे हाथोंको परस्परमें रगड़नेसे उसकी सोनेकी अँगूठियाँ चूर होकर धूल-धूल हो गयीं और उससे पंकिल उसके हाथसे बहनेवाले पसीनेसे वह हाथ धुल गया ॥८॥

निरायतामनलशिखोज्ज्वलां ज्वलन्नखप्रभाकृतपरिवेषसंपदम्।
अविभ्रमद्भ्रमदनलोल्मुकाकृतिं प्रदेशिनीं जगदिव दग्धुमाहुकिः[2] ॥९॥

निरिति ॥ आहुकिर्नाम राजा निरायतां प्रसारितां अनलशिखाग्निज्वालातद्वदु-ज्ज्वलां ज्वलन्तीभिर्नखप्रभाभिः कृता परिवेषसंपत्परिधिशोभा यस्यास्ताम्। अत एव भ्रमतोऽनलोल्मुकस्यालातस्येवाकृतिः संस्थानं यस्यास्ताम्। 'अङ्गारोऽलातमु-ल्मुकम्' इत्यमरः। प्रदेशिनीं जगद्दग्धुमिवेत्युत्प्रेक्षा। अविभ्रमद्भ्रमयति स्म। भ्रमेणौं चङ्। दूतसंतर्जनाय भ्राम्यमाणनखप्रभापटला तर्जनी जगद्दाहाय भ्राम्यमा-णाऽलातचक्रवदलक्ष्यतेत्यर्थः ॥ ९ ॥

'आहुकि' नामका राजा फैलायी गयी, अग्निज्वालाके समान उज्ज्वल तथा जलती हुई नख-कान्तिके द्वारा घेरा बनायी हुई (अतएव गोलाकार) घूमते हुए अग्निके उल्मुक (लुकारी) के समान आकृतिवाली तर्जनी अङ्गुलिको मानों संसारको जलानेके लिए डरानेके लिए दूतके सन्मुख कर घुमाने लगा ॥ ९ ॥

दुरीक्षतामभजत मन्मथस्तथा यथा पुरा परिचितदाहधार्ष्ट्यया।
ध्रुवं पुरः सशरममुं तृतीयया हरोऽपि न व्यसहत वीक्षितुं दृशा ॥१०॥

दुरीक्षतामिति ॥ मन्मथः प्रद्युम्नावतारः कामस्तथा दुरीक्षतां दुर्दर्शनत्वम्। ईक्षतेः खलन्तात्तल्प्रत्ययः। अभजत। यथा हरोऽपि पुरा पूर्वजन्मनि परिचितम-भ्यस्तं दाहधार्ष्ट्यं दहनसाहसं यस्यास्तया तृतीयया दृशा सशरममुं मन्मथं ध्रुवं पुन-र्वीक्षितुं न व्यसहत न शक्तः। 'परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्' (८।३।७०) 'सिवादीनां वाड्व्यवायेऽपि' (८।३।७१) इति विकल्पान्न षत्वम्। अनयोत्प्रेक्षया रुद्रस्यापि भीषणः किमुतान्येषामिति वस्तु व्यज्यते ॥ १० ॥

'मन्मथ' (प्रद्युम्नावतार कामदेव) नामक राजा ऐसा दुर्निरीक्ष्य (बड़ी कठिनाईसे

---

१. '-लज्वल-' इति पा०। २. 'कः' इति पा०। ३. 'क्ष्यता' इति पा०।
४. 'व्यवहत' इति पा०।

देखने योग्य) हो गया कि पहले (कामदेवके जलानेके समयमें) जलानेकी धृष्टता करनेमें अभ्यस्त तृतीय नेत्रसे सामनेमें बाण धारण किये हुए इस ('मन्मथ' राजा) को नहीं देख सके अर्थात् क्रुद्ध होकर बाण लिए हुए 'मन्मथ' को शिवजी भी नहीं देख सके तो फिर दूसरे किसीके विषयमें कहना ही क्या है ॥ १० ॥

विचिन्तयन्नुपनतमाहवं रसादुरः स्फुरत्तनुरुहमग्रपाणिना।
परामृशत्कठिनकठोरकामिनीकुचस्थलप्रमुषितचन्दनं पृथुः ॥ ११ ॥

विचिन्तयन्निति ॥ पृथुर्नाम राजा उपनतं प्राप्तमाहवं युद्धं रसाद्रणरागाद्विचिन्तयन् कदेति ध्यायन् कठिनेन कर्कशेन कठोरेण प्रवृद्धेन कामिन्याः कुचस्थलेन प्रमुषितमपहृतं चन्दनं यस्य तत्। एतेनास्य सुरतसमरयोः समरसत्वं व्यज्यते। अत एव स्फुरत्तनुरुहमुदञ्चत्पुलकमुरः अग्रश्चासौ पाणिश्चेति समानाधिकरणसमासः। अत एव 'हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदयो'रिति वामनः। तेनाग्रपाणिना पाणितलेन परामृशत्परामृष्टवान्। रणकण्डूलपाणित्वादिति भावः। अत एव यदन्येषां रोषजनकं दूतवाक्यं तदागामिरणकारणतयास्य हर्षहेतुरिति श्लोकार्थः ॥११॥

'पृथु' नामक राजाने निकट भविष्यमें उपस्थित होनेवाले युद्धका स्मरण करते हुए ('कब युद्ध होगा ?' ऐसा सोचते हुए) कर्कश एवं विशाल रमणीके स्तनोंसे पोंछे गये चन्दनवाले रोमाञ्चयुक्त वक्षःस्थलको अनुराग (युद्धमें उत्कण्ठापूर्ण स्नेह) होनेके कारण हथेलीसे स्पर्श किया (रणकण्डूके विनोदनार्थ छातीपर हाथको रखा) ॥ ११ ॥

विलङ्घितस्थितिमभिवीक्ष्य रूक्षया रिपोर्गिरा गुरुमपि गान्दिनीसुतम्।
जनैस्तदा युगपरिवर्तवायुभिर्विवर्तिता गिरिपतयः प्रतीयिरे ॥ १२ ॥

विलङ्घितेति ॥ गुरुं स्वभावतो धीरमपि सन्तं रूक्षया परुषया रिपोर्गिरा दूतवाचा विलङ्घितस्थितिमुल्लङ्घितमर्यादं क्रोधादुन्मर्यादम्। विकुर्वाणमित्यर्थः। गान्दिनीसुतमक्रूरमभिवीक्ष्य जनैस्तदा अक्रूरविक्रियालोकनसमये युगपरिवर्तवायुभिः कल्पान्तवातैर्विवर्तिताः स्थानादुच्चालिता गिरिपतयोऽद्रयः प्रतीयिरे विशश्वसिरे। 'अक्रूरविक्रियादर्शनाद्गिरिचलनमपि युगान्ते संभावितमेवेति जनैर्विश्वस्तमित्यर्थः। 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः। प्रतिपूर्वादिणः कर्मणि लिट्। अत्र कल्पान्ते गिरिचलनविक्रियाकल्पेयमक्रूरविक्रियेति वाक्यभेदेन सादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः। तेनाक्रूरस्य लोकोत्तरं धैर्यं नैसर्गिकमिति वस्तु व्यज्यते ॥

स्वभावसे ही गम्भीर होनेपर भी शत्रु (दूत) के कटु वचनसे मर्यादा (गम्भीरता) को छोड़े हुए गान्दिनीसुत (अक्रूर) को देखकर लोगोंने उस समय बड़े-बड़े पर्वतोंको कल्पान्त कालके वायुसे कम्पित किया गया समझा। (अक्रूरके क्रुद्ध होनेपर पर्वतोंका भी कल्पान्त वायुसे प्रेरित-सा चञ्चल होना सम्भव है तो फिर अन्य लोगोंकी गणना ही क्या है ?) ॥ १२ ॥

विवर्तयन्मदकलुषीकृते दृशौ कराहतक्षितिकृतभैरवारवः ।
क्रुधा दधत्तनुमतिलोहिनीमगूत्प्रसेनजिद्गज इव गैरिकारुणः ॥१३॥

विवर्तयन्निति ॥ मदो मद्यविकारो दानं च । 'मदो मद्येभदानयोः' इति विश्वः । तेन कलुषीकृते आकुलीकृते दृशौ विवर्तयन्घूर्णयन्करेण पाणिना शुण्डादण्डेन चाहतायां क्षितौ भूमौ कृतो भैरवारवो भयङ्करध्वनिर्येन सः । क्रोधात्सध्वानं करेण क्षितिमाघ्नन्नित्यर्थः । क्रुधा क्रोधेन अतिलोहिनीमतिलोहिताम् । 'वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः' (४।१।३९) इति विकल्पान्ङीष् तकारस्य च नकारः । तनुं वपुर्दधत्प्रसेनजिन्नाम राजा गैरिकारुणो धातुरक्तो गज इवाभूत् । तद्वदलक्ष्यतेत्यर्थः ॥१३॥

मद्य-पान (पक्षा०–मदजल) से कलुषित दोनों नेत्रोंको घुमाता हुआ, हाथ (पक्षा०–सूँड) को भूमिपर पटककर भयङ्कर गर्जना किया हुआ, क्रोधसे अत्यन्त रक्तवर्ण (लाल) शरीरको धारण करता हुआ 'प्रसेनजित्' नामका राजा गेरूसे लाल शरीरवाले हाथीके समान (भयङ्कर) हो गया ॥ १३ ॥

सकुङ्कुमैरविरलमम्बुबिन्दुभिर्गवेषणः परिणतदाडिमारुणैः ।
स मत्सरस्फुटितवपुर्विनिः सृतैर्बभौ चिरं निचित इवासृजां लवैः ॥१४॥

सकुङ्कुमैरिति ॥ स प्रसिद्धो गवेषणो नाम राजा सकुङ्कुमैः सर्वाङ्गीणकश्मीरजलेपैरित्यर्थः । अत एव परिणतदाडिमारुणैः परिपक्वदाडिमबीजरक्तैरम्बुबिन्दुभिः । क्रोधसात्त्विकैः स्वेदबिन्दुभिरित्यर्थः । मत्सरेणान्तःसंभृतेनात्युत्कटवैरेण स्फुटिताच्छिन्नाद्वपुषो विनिःसृतैरसृजां लवैरसृग्बिन्दुभिरविरलं निरन्तरं निचितो व्याप्त इव चिरं बभौ । उत्प्रेक्षा ॥ १४ ॥

वह (सुप्रसिद्ध) 'गवेषण' नामका राजा (सम्पूर्ण शरीरमें लगाये गये) कुङ्कुमलेपोंसे पके हुए अनारके दानोंके समान लाल-लाल (क्रोधकालिक सात्त्विक भावोत्पन्न) पसीनेके बिन्दुओंसे मानो क्रोधसे विदीर्ण हुए शरीरसे निकले हुए रक्तबिन्दुओंसे चिरकालतक सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त हुआ-सा शोभने लगा ॥ १४ ॥

ससंभ्रमं चरणतलाभिताडनस्फुटन्महीविवरवितीर्णवर्त्मभिः ।
रवेः करैरनुचिततापितोरगं प्रकाशतां शिनिरनयद्रसातलम् ॥१५॥

ससंभ्रममिति ॥ शिनिः सात्यकेः पितामहः ससंभ्रमं सत्वरं चरणतलाभिताडनेन पादतलाभिघातेन स्फुटन्त्या दलन्त्या मह्या विवरैश्छिद्रैर्वितीर्णवर्त्मभिर्दत्तमार्गैः । तत्प्रसरणैरित्यर्थः । रवेः करैरनुचितं पूर्वमपरिचितमिदं यथा तथा तापिताः संतापं गमिता उरगा यस्मिंस्तत् रसातलं प्रकाशतां प्रकटत्वमनयत् । अत्र महीरवि-

१. '—भ्रमस्वरण—' इति पा० ।

करोरगरसातलानां क्रमेण स्फुटनान्तःप्रवेशतापप्रकाशनैरसंबन्धेऽपि संबन्धोक्तेरतिशयोक्तिः पादाहननैरमानुषीं तीव्रतां व्रजति स्मेति ध्वनिः ॥ १५ ॥

(सात्यकिके पितामह)'सिनि' नामके राजाने वेगपूर्वक पैर पटकनेसे फटी हुई पृथ्वीके द्वारा जिनके लिए छिद्रोंसे मार्ग दिया गया है ऐसी सूर्य-किरणोंसे जिसमें स्थित सर्प कभी नहीं सन्तप्त हुए थे ऐसे पाताललोकको प्रकट (या-प्रकाशित) कर दिया।

विमर्श—पहले (१६-३८) सात्यकिको माघ कविने भी शिनिका नप्ता (पौत्र) कहा है तथा वल्लभदेवने भी उसकी 'शिनेः यादवमुख्यस्य राज्ञो नप्तुः पौत्रस्य सात्यकेः……' व्याख्याद्वारा पौत्र ही स्वीकार किया है; पुनः इस श्लोकको व्याख्यामें 'शिनिः सात्यकिपिता……' कहते हुए उसी वल्लभदेवने शिनिको सात्यकिका पिता कैसे लिखा। सम्भव है कि लेखकोंके प्रमादसे 'पितामह'के स्थानपर 'पिता' शेष रह गया हो ॥ १५ ॥

प्रतिक्षणं विधुवति शारणे[1] शिरः शिखिद्युतः कनककिरीटरश्मयः।
अशङ्कितं युधमधुना विशन्त्वमी क्षमापतीनिति निरराजयन्निव ॥१६॥

प्रतीति ॥ शारणे नाम राज्ञि प्रतिक्षणं शिरो विधुवति क्रोधात्कम्पयति सति। धुवस्तौदादिकाल्लटः शत्रादेशः 'अचि श्नुधातु–' (६।४।७७) इत्यादिनोवङादेशः। शिखिवद्द्योतन्त इति शिखिद्युतोऽग्निप्रभाः। क्विप्। कनककिरीटरश्मयो नीराजनकर्तारः अमी भूपाः अधुना अशङ्कितं निःशङ्कं युधमाजिम्। 'समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः। विशन्त्विति क्षमापतीन्निरराजयन्निव नीराजयन्ति स्मेवेत्युत्प्रेक्षा। 'नीराजनात्स्याद्विजय' इत्यागमः ॥ १६ ॥

'शारण' नामक राजाके प्रत्येक क्षण (क्रोधसे) शिरको कँपाते रहनेपर अग्निके समान प्रभावाली सुवर्णमय मुकुटोंकी किरणें 'ये (राजालोग] इस समय निश्शङ्क होकर युद्धमें सम्मिलित होवें' ऐसा (सङ्केत करती हुई-सी) मानो राजाओंका (युद्ध-प्रयाणकालिक) नीराजन कर रही थीं ॥ १६ ॥

दधौ चलत्पृथुरसनं विवक्षया विदारितं विततबृहद्भुजालतः।
विदूरथः प्रतिभयमास्यकन्दरं चलत्[2]फणाधरमिव कोटरं तरुः ॥ १७ ॥

दधाविति ॥ वितते विस्तृते बृहत्यौ भुजे लते इव यस्य स विदूरथो नाम राजा। विवक्षया किमपि वक्तुमिच्छया विदारितं व्यात्तम् अत एव चलन्ती पृथुर्महती रसना जिह्वा यस्मिंस्तम्। 'रसज्ञा रसना जिह्वा' इत्यमरः। प्रतिभयं भयंकरमास्यं कन्दर इवास्यकन्दरस्तम्। 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री' इत्यमरः। तरुः चलन्फणाधरः फणी यस्मिंस्तत्कोटरमिव। 'निष्कुहः कोटरं वा ना' इत्यमरः। दधौ। श्रौती पूर्णोपमा ॥ १७ ॥

लता के समान फैलाये हुए बाहुवाले 'विदूरथ' नामक राजाने कुछ कहनेकी इच्छासे फैलाये गये (अतएव) चञ्चल एवं लम्बी जीभवाले भयङ्कर मुखरूपी कन्दराको उस प्रकार

१. 'सारणः' इति पा०। २. 'लसद्' इति पा०।

धारण किया, जिस प्रकार फैलाये हुए बाहुके समान लतावाला वृक्ष चञ्चल सर्पयुक्त (अतएव भयङ्कर) खोदरेको धारण करता है ॥ १७ ॥

समाकुले सदसि तथापि विक्रियां मनोऽगमन्न मुरभिदः परोदितैः ।
घनाम्बुभिर्बहुलितनिम्नगाजलैर्जलं न हि व्रजति विकारमम्बुधेः ॥ १८ ॥

समाकुल इति ॥ परोदितैः शत्रुवाक्यैः सदसि अस्थाने तथा समाकुले क्षुभितेऽपि मुरभिदो हरेर्मनो विक्रियां क्षोभं नागमत् । तथा हि—बहुलितानि बहुलीकृतानि क्षोभितानि निम्नगाजलानि यैस्तैर्घनाम्बुभिर्मेघोदकैरम्बुधेर्जलं विकारं न व्रजति । यथा वर्षोदकैर्नद्यः क्षुभ्यन्ति न समुद्रस्तद्वदिति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥

दूतकी कटूक्तियोंसे राजाओंके क्षुब्ध होनेपर भी श्रीकृष्ण भगवान् तथा उद्धव शान्त ही बने रहें यह बात दो (१७।१८–१९–श्लोकोंसे कहते हैं) शत्रु (के दूत) के कटु-वचनों (१६।३९–८५) से सभासदोंके उस प्रकार (१७।२–१७) क्षुब्ध होनेपर भी श्रीकृष्ण भगवान्का मन क्षुब्ध नहीं हुआ जैसे नदीके जलोंको बढ़ाने (बढ़ाकर क्षुब्ध–मलिन–करने) वाले मेघोंसे समुद्रका जल विकारयुक्त (मलिन) नहीं होता है ॥ १८ ॥

परानमी यदपवदन्त आत्मनः स्तुवन्ति च स्थितिरसतामसाविति ।
निनाय नो विकृतिमविस्मितः स्मितं मुखं शरच्छशधरमुग्धमुद्धवः ॥१९॥

परानिति ॥ अमी खलाः परानन्यानपवदन्ते निन्दन्ति । 'अपाद्वदः' (१।३।७३) इत्यात्मनेपदम् । आत्मनः स्वान् स्तुवन्ति चेति यत् असावसतां खलानां स्थितिः प्रकृतिरिति । इति मत्वेत्यर्थः । गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । अन्यथा पौनरुक्त्यमित्यालङ्कारिकाः । विस्मितो न भवतीत्यविस्मितो दूतप्रलापैर्न विस्मयं न गतः उद्धवः । स्मितं स्मेरम् । उभयत्र कर्तरि क्तः । अत एव शरच्छशधरमुग्धं शरदिन्दुसुन्दरमित्युपमा । मुखं विकृतिं न निनाय न प्रापयामास । न हि महतां निन्दा स्तुतिर्वा विकारकारणमिति भावः ॥ १९ ॥

'दूसरोंकी निन्दा करते हुए ये (दुष्ट) लोग जो आत्मीय जनोंकी स्तुति करते हैं, यह उनका स्वभाव ही है' इस कारण विकाररहित (दूतकी कटूक्तियोंसे भी शान्त) उद्धवजीने मुस्कराते रहनेसे शरदृतुके चन्द्रमाके समान मनोहर मुखको विकृत (क्षोभयुक्त) नहीं किया, (किन्तु पूर्ववत् प्रसन्न मुद्रामें ही रहे, क्योंकि बड़े लोग निन्दा या प्रशंसा से विकृत नहीं हुआ करते) ॥ १९ ॥

निराकृते यदुभिरिति प्रकोपिभिः स्पशे शनैर्गतवति तत्र विद्विषाम् ।
मुरद्विषः स्वनितभयानकानकं बलं क्षणादथ समनह्यताजये ॥ २० ॥

निराकृत इति ॥ तत्र सदसि इतीत्थं प्रकोपिभिरतिक्रुद्धैर्यदुभिः विद्विषां स्पशे चरे । 'अपसर्पश्चरः स्पशः' इत्यमरः । निराकृते धिक्कृते शनैर्गतवति गच्छति सति सागसोऽपि दूतस्यावध्यत्वादिति भावः । अथ दूतगमनानन्तरं स्वनितेन ध्वनिना

भयानका भयंकरा आनकाः पटहा यस्मिंस्तन्मुरद्विषो बलं क्षणादाजये युद्धाय समनह्यत संनद्धम् ॥ २० ॥

उस (श्रीकृष्ण भगवान्‌की सभा) में इस प्रकार (१७।२–१९) यादवोंसे तिरस्कृत होकर दूतके चले जानेपर बजनेसे भयङ्कर नगाड़ोंवाली श्रीकृष्ण भगवान्‌की सेना क्षणमात्रमें (अतिशीघ्र) युद्धके लिए तैयार हो गयी ॥ २० ॥

मुहुः प्रतिस्खलितपरायुधा युधि स्थवीयसीरचलनितम्बनिर्भराः ।
अदंशयन्नरहितशौर्यदंशनास्तनूरयं नय इति वृष्णिभूभृतः ॥ २१ ॥

मुहुरिति ॥ वृष्णिभूभृतो यादवनरेन्द्राः मुहुरसकृद्युधि प्रतिस्खलितपरायुधाः भग्नप्रतिपक्षायुधाः स्थवीयसीः स्थूलतराः। पराक्रमानुरूपप्रकर्षवतीरित्यर्थः। 'स्थूलदूर-' (६।४।१५६) इत्यादिना पूर्वस्य गुणलोपौ । अचलनितम्बनिर्भरा अद्रिकटकनिबिडाः। अन्तःसारवतीरित्यर्थः। अरहितमव्यक्तं शौर्यमेव दंशनं वर्म यासां तास्तनूर्देहान् अयं नय इति वर्मधारणं नीतिरिति हेतोः न तु भयादिति भावः। अदंशयन्नवर्मयन्। दंशेरनुदात्तेत्वात्परस्मैपदं चिन्त्यमित्याहुः। अत एव भट्टमल्लः—'संवर्मयति सनह्यत्यात्मने सज्जतीत्यमी। संदंशते दंशयते संनाहे पदपञ्चकम् ॥' इति। केचित्तु चुरादिषूभयपदिषु पठन्ति। अत्र साभिप्रायविशेषणत्वात्परिकरालङ्कारः॥

यदुवंशी राजाओंने, युद्धमें बार–बार शत्रुओंके आयुधोंको भग्न (विफल) किये हुए, अत्यन्त स्थूल, पर्वतके समान कठिन अप्रकटित शूरतारूपी कवचोंवाले शरीरोंको 'यह नीति है' (भयसे नहीं, किन्तु युद्धमें सम्मिलित होनेके लिए कवच पहनना नीति है) इस कारणसे कवचयुक्त कर लिया अर्थात् कवच पहन लिया ॥ २१ ॥

दुरुद्वहाः क्षणमपरैस्तदन्तरे रणश्रवादुपचयमाशु बिभ्रति ।
[1]महीभुजां महिमभृतां न संममुर्मुदोऽन्तरा वपुषि बहिश्च कञ्चुकाः ॥२२॥

दुरुद्वहा इति ॥ महिमभृतामैश्वर्यवतां महीभुजां राज्ञां संबन्धिनी रणश्रवाद्युद्धश्रवणादाशु शीघ्रमुपचयं वृद्धिं बिभ्रति बिभ्राणे वपुषि अपरैरन्यैः क्षणं क्षणमपि दुरुद्वहा दुर्भराः मुदः संतोषाः अन्तरा अन्तराले न संममुः। बहिः कञ्चुकाश्च न संममुः न मान्ति स्म। नावर्तन्तेत्यर्थः। पूर्वत्र आधेयाधिक्यादुत्तरत्राधाराधिक्यादिति विवेकः। अत्र मुदां कञ्चुकानां च प्रकृतानामेव विशेषणसाम्यादौपम्यगतायां केवलकृतास्पदा तुल्ययोगिता ॥ २२ ॥

महिमावाले राजाओंके युद्ध होनेकी चर्चा सुननेसे शीघ्र वृद्धिको धारण किये (स्थूल बने) हुए शरीरके भीतर दूसरे लोगोंसे क्षणमात्र भी कठिनाईसे वहन करने योग्य हर्ष नहीं समा सका और (अत्यन्त भारी होनेसे दूसरे लोगोंके द्वारा क्षणमात्र भी कठिनाईसे वहन करने (ढोने) योग्य) कवच शरीरके ऊपरी भागमें नहीं समा सका।

१. 'महीभृताम्' इति पा० ।

विमर्श—युद्धवार्ता श्रवणसे बढ़ा हुआ हर्ष शरीरके सङ्कीर्ण होनेसे उसमें नहीं समा सका–उन योद्धाओंका हर्ष बाहर प्रकट हो गया और युद्धवार्ताश्रवणसे बढ़े (मोटे) हुए शरीरमें उक्तरूप कवच नहीं समा सका–छोटा हो गया ॥ २२ ॥

संकल्पनं द्विरदगणं वरूथिनस्तुरङ्गिणो [1]जयनयुजश्च वाजिनः ।
[2]त्वरायुजः स्वयमपि कुर्वतो नृपाः पुनःपुनस्तदधिकृतानतत्वरन् ॥२३॥

संकल्पनमिति ॥ द्विरदगणं सह कल्पनया संकल्पनं यथोचितसंनाहसहितम् । 'कल्पना सज्जना समे' इत्यमरः । वरूथो रथगुप्तिरेषामस्तीति वरूथिनो रथान् । 'रथगुप्तिर्वरूथो ना' इत्यमरः । तुरङ्गिणोऽश्वयुक्तान् वाजिनोऽश्वान् जयनयुजः पल्ययनादिसंयुक्तान् । संपदादिभ्यः क्विप् । 'जयनं स्यात्तुरङ्गादिसंनाहे विजयेऽपि च' इति विश्वः । स्वयं त्वरायुजः त्वरायुक्तान् स्वतः कुर्वतोऽपि । स्वत एव त्वरया कुर्वाणानपीत्यर्थः तदधिकृतान्हस्त्यादिषु नियुक्तपुरुषान्नृपाः पुनःपुनरतत्वरन्त्वरयन्ति स्म । तेषां तथा रणौत्सुक्यादिति भावः । त्वरेन्ते चङि 'अत्स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तृस्पशाम्' (७।४।९५) इत्यभ्यासस्याकारः ॥ २३ ॥

हाथियोंको युद्धोचित सन्नाहयुक्त, रथगुप्तिसे युक्त रथोंको घोड़ोंसे युक्त, घोड़ोंकी जीन आदिसे युक्त और अपनेको भी शीघ्रतायुक्त करते हुए (युद्धार्थी) राजालोग उन (हाथियों, रथों तथा घोड़ोंके अधिकारियों–क्रमशः हाथीवानों (महावतों), सूतों तथा सईसों) को बार-बार शीघ्रतायुक्त (शीघ्र तैयार होनेके लिए बार–बार प्रेरित) कर रहे थे ॥ २३ ॥

युधे परैः सह दृढबद्धकक्ष्यया कलक्वणन्मधुपकुलोपगीतया ।
अदीयत द्विपघटया सवारिभिः करोदरैः स्वयमथ दानमक्षयम् ॥ २४ ॥

युध इति ॥ अथ परैः सह युधे युद्धाय दृढबद्धा कक्ष्या मध्यबन्धनं यस्यास्तया । 'कक्ष्या बृहतिकायां स्यात्काञ्च्यां मध्येभबन्धने' इति विश्वः । अन्यत्र दृढोद्योगायेत्यर्थः । कलं क्वणता मधुपकुलेनालिगणेनोपगीतया बन्दिमागधस्तुतया चेति गम्यते । द्विपघटया कर्त्र्या स्वयं सवारिभिः सोदकैः करोदरैः पुष्कराग्रैः पाणितलाग्रैश्चाक्षयमपरिमितं दानं मदः अदीयत, दानं द्रव्यं चादीयत दत्तम् । अत्र प्रस्तुतगजघटाविशेषणसाम्येनाप्रस्तुतदानकर्तृप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ २४ ॥

इसके बाद शत्रुओंके साथ युद्ध करनेके लिए अच्छी तरह कमर कसे हुए (पक्षा०—दृढ़ उद्योगके लिए), मधुर गुञ्जन करते हुए भ्रमरसमूहसे (पक्षा०—बन्दि–मागधोंसे) प्रशंसित, गज-समूहने (पक्षा०—युद्धमें जानेवाले शूरवीर राजाओंने) जलसहित सूँड़के अग्रभागसे (पक्षा०—हथेलीसे) स्वयं अक्षय (कभी क्षीण नहीं होनेवाला—अपरिमित) दान (मदजल, पक्षा०—द्रव्यादिका दान) दिया अर्थात् उक्तरूप हाथी निरन्तर मदस्राव कर रहे थे तथा युद्धार्थी राजालोग बहुत-सा द्रव्यादि दान कर रहे थे ॥ २४ ॥

---

१. 'जवन—' इति पा० । २. 'त्वरावतः' इति पा० ।

सुमेखलाः सिततरदन्तचारवः [1]समुल्लसत्तनुपरिधानसंपदः।
रणैषिणां पुलकभृतोऽधिकंधरं ललम्बिरे सदसिलताः प्रिया इव ॥ २५ ॥

सुमेखला इति ॥ शोभना मेखला बन्धनसूत्राणि काञ्च्यश्च यासां ताः सुमेखलाः। 'मेखला खड्गबन्धे स्यात्काञ्चीशैलनितम्बयोः' इति विश्वः। सिततरदंन्तैर्दन्तमयत्सरुभिर्दशनैश्च चारवः उल्लसन्त्यः तनवः सूक्ष्माः परिधानसंपदः कोशसंपदो वस्त्रसंपदश्च यासां ताः पुलकभृतः छायाभृतः रोमाञ्चधारिण्यश्च सदसिलताः चारुखड्गवल्ल्यः प्रिया इव रणैषिणां रणाकाङ्क्षिणां कंधरास्वधिकंधरमधिकण्ठम्। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। ललम्बिरे। लग्ना इत्यर्थः। श्लेषः श्लिष्टोपमा वा मतभेदात् ॥ २५ ॥

युद्धार्थी राजाओं के गलेमें सुन्दर करधनीवाली (पक्षा०—सुन्दर रस्सीवाली), अत्यन्त स्वच्छ दाँतों (पक्षा०—हाथी-दाँतोंकी बनी हुई मूठों) से सुन्दर, शोभमान महीन कपड़ों वाली (पक्षा०—पतली म्यानोंवाली) तथा रोमाञ्चयुक्त (पक्षा०—प्रतिबिम्बयुक्त) प्रियाओंके समान तलवारें लटक गयीं अर्थात् उक्तरूप प्रियाओंने योद्धाओंका गलेमें आलिङ्गन किया तथा योद्धाओंने तलवारोंको गलेमें लटका लिया ॥ २५ ॥

[2]मनोहरैः प्रकृतमनोरमाकृतिर्भयप्रदैः समितिषु भीमदर्शनः।
सदैवतैः सततमथानपायिभिर्निजाङ्गवन्मुरजिदसेव्यतायुधैः ॥ २६ ॥

मनोहरैरिति ॥ अथ प्रकृतिमनोरमाकृतिः स्वभावसुन्दरमूर्तिः समितिषु युद्धेषु भीमं दर्शनं यस्य स भीमदर्शनो मुरजिद्धरिः मनोहरैः प्रकृतिमनोहरैः समितिषु भयप्रदैः सदैवतैः अधिदेवतायुक्तैः सततमनपायिभिरायुधैः शार्ङ्गादिभिर्निजाङ्गवत्पृथगवस्थितैः शरीरैरिवेत्युत्प्रेक्षा। असेव्यत सेवितः ॥ २६ ॥

इस (योद्धाओंके सुसज्जित हो जाने) के बाद स्वभावतः सुन्दर तथा युद्धोंमें भयङ्कर दीखनेवाले श्रीकृष्ण भगवान् (स्वभावतः) सुन्दर तथा (युद्धोंमें) भय देनेवाले अधिदेवताओंसे युक्त, सर्वदा साथ रहनेवाले अपने शरीरके समान (शार्ङ्ग धनुष, 'कौमोदकी' गदा, 'नन्दक' खड्ग आदि) आयुधोंसे सेवित हुए अर्थात् वे हथियार उनकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ २६ ॥

अवारितं गतमुभयेषु भूरिशः क्ष्माभृतामथ कटकान्तरेष्वपि।
मुहुर्युधि क्षतसुरशत्रुशोणितप्लुतप्रधिं रथमधिरोहति स्म सः ॥ २७ ॥

अवारितमिति ॥ अथायुधसन्निधानानन्तरं स हरिरुभयेषु द्वयेषु। द्विविधेष्वित्यर्थः। क्ष्माभृतां राज्ञां, गिरीणां च कटकान्तरेष्वपि शिबिराभ्यन्तरेषु, नितम्बावकाशेषु च भूरिशो बहुशः अवारितमप्रतिहतं गतं प्रस्थितं मुहुरसकृद्युधि क्षतानां

---

१. 'परिवार—' इति पा०। २. 'मनोरमैः' इति पा०।

सुरशत्रूणामसुराणां शोणितैः प्लुताः सिक्ताः प्रधयो नेमयो यस्य तम्। 'चक्रधारा प्रधिर्नेमिः' हलायुधः। रथमधिरोहति स्म आरुरोह ॥ २७ ॥

इस (आयुधोंके सेवामें उपस्थित होने) के बाद श्रीकृष्ण भगवान् दोनों प्रकारके-राजाओंके शिविरोंमें तथा पर्वतोंके मध्यभागोंमें—अनेक बार बिना रोक-टोक प्रविष्ट हुए तथा बार-बार युद्धमें देवशत्रुओं (दानवों, दैत्यों एवं असुरों) के रक्तसे भींगे हुए नेमि (पहियेके ऊपरी भाग) वाले रथपर सवार हुए ॥ २७ ॥

उपेत्य च स्वनगुरुपक्षमारुतं दिवस्त्विषा कपिशितदूरदिङ्मुखः।
प्रकम्पितस्थिरतरयष्टि तत्क्षणं पतत्पतिः पदमधिकेतनं दधौ ॥ २८ ॥

उपेत्येति ॥ किंचेति चार्थः। पतत्पतिरण्डजमण्डलेश्वरः। 'पतत्पत्ररथाण्डजाः' इत्यमरः। त्विषा कान्त्या कपिशितानि कपिशीकृतानि दूराणि दिङ्मुखानि येन सः। स्वनेन गुरुर्महान्पक्षमारुतो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा दिवः स्वर्गादुपेत्यागत्य तत्क्षणं तस्मिन्क्षणे प्रकम्पिता स्थिरतरा निश्चला यष्टिरावासस्तम्भो यस्मिंस्तत्तथा अधिकेतनं केतने। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। पदं दधौ निहितवान् ॥ २८ ॥

(अपने शरीरकी) कान्तिसे दूरतक दिङ्मण्डलको कपिश वर्ण किये हुए पक्षि-राज (गरुड़) ने वेगसे तीव्र पङ्खोंकी हवाके साथ आकाश-मार्गसे आकर उस समय हिली हुई दृढ यष्टि (बाँस या काष्ठ) वाली ध्वजापर पैर रखा अर्थात् भगवान्की ध्वजापर गरुड़ आकाश-मार्गसे आकर बैठ गये ॥ २८ ॥

गँभीरताविजितमृदङ्गनादया स्वनश्रिया हतरिपुहंसहर्षया।
प्रमोदयन्नथ मुखरान्कलापिनः प्रतिष्ठते नवघनवद्रथः स्म सः ॥२९॥

गभीरतेति ॥ अथ गरुडागमनानन्तरं स रथो नवघनवत् नवघनेन नवाम्बुदेन तुल्यम्। 'तेन तुल्यम्–' (५।१।११५) इति वतिप्रत्ययः। गभीरतया गाम्भीर्येण विजितो मृदङ्गनादो यया तया हतो रिपुहंसानामिव रिपूणां हर्षो यया तया स्वनश्रिया ध्वनिसम्पदा मुखरान्कूजतः कलापिनो मयूरान्प्रमोदयन् प्रतिष्ठते स्म प्रतस्थे। 'समवप्रविभ्यः स्थः' (१।३।२२) इत्यात्मनेपदम्। 'लट् स्मे' (३।२।११८) इति भूते लट्। तद्धितगता श्रौती पूर्णोपमा ॥ २९ ॥

इस (ध्वजापर गरुड़के बैठने) के बाद वह रथ नवीन (जलपूर्ण) मेघके समान, गम्भीरतासे मृदङ्गध्वनिको दबा देनेवाली तथा शत्रुरूपी हंसोंके हर्षको नष्टकी हुई ध्वनि—सम्पत्ति (तीव्र ध्वनि) से बोलते हुए मोरोंको हर्षित करता हुआ चलने लगा ॥ २९ ॥

निरन्तरस्थगितदिगन्तरं ततः समुच्चलद्बलमवलोकयञ्जनः।
विकौतुकः प्रकृतमहाप्लवेऽभवद्विशृङ्खलं प्रचलितसिन्धुवारिणि ॥ ३० ॥

१. 'गभीरया विजि—' इति पा०। २. 'ततस्तदुच्चल—' इति पा०।
३. 'ह्वलप्रच—' इति पा०।

निरन्तरेति ॥ ततो रथप्रस्थानानन्तरं निरन्तरं नीरन्ध्रं स्थगितान्याच्छादितानि दिगन्तराणि येन तत् । समुच्चलत् प्रतिष्ठमानं तद्बलं सैन्यमवलोकयन् जनो लोकः प्रक्रुतः प्रक्रान्तो महाप्लवो महापूरो जगत्संप्लवरूपो येन तस्मिन् विशृङ्खलमप्रतिघातं प्रचलितं क्षुभितं यत्सिन्धोरब्धेर्वारि तस्मिन्निवकौतुको निवृत्तकौतूहलोऽभवत् । कल्पान्तक्षुभितवारिधेर्वारिवच्च तद्बलं सकलजगत्संहारशङ्कयालक्ष्यतेत्यर्थः । अत्रान्यदर्शनादन्यद्दिदृक्षानिवृत्तेर्बलवारिणोरेकत्वाक्षेपे बाधात्सादृश्याक्षेपाद्वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकरणान्निदर्शनालङ्कारः ॥ ३० ॥

इस (रथके चलने) के बाद सर्वतोभावसे दिशाओंको आच्छादित करता तथा चलती हुई उस (श्रीकृष्ण भगवान्‌की) सेनाको देखते हुए लोग मर्यादा छोड़कर बढ़ते हुए समुद्रके जलवाले प्रलयकालमें—के समान कौतुक—रहित हो गये अर्थात् प्रलयकालमें मर्यादाको छोड़कर सर्वत्र फैलते हुए समुद्र-जलके समान सर्वत्र फैलती हुई श्रीकृष्ण भगवान्‌की सेनाको देखा ॥ ३० ॥

बबृंहिरे गजपतयो महानकाः प्रदध्वनुर्जयतुरगा जिहेषिरे ।
असम्भवद्गिरिवरगह्वरैरभूत्तदा रवैर्दलित इव स्व आश्रयः ॥ ३१ ॥

बबृंहिर इति ॥ गजपतयो बबृंहिरे बृंहणं चक्रुरित्यर्थः । 'बृहि वृद्धौ शब्दे च' आत्मनेपदं चिन्त्यम् । अत एव भट्टमल्लः—'हेषते ह्रेषतेऽश्वानां हस्तिनां बृंहतीति च' इति । महानकाः प्रदध्वनुः । जयशीलास्तुरगा जयतुरगा जिहेषिरे । हेषां चक्रुरित्यर्थः । 'हेषृ ह्रेषृ अव्यक्ते शब्दे' । तदा तस्मिन्काले असम्भवन्त्यन्तर्धातुमपर्याप्नुवन्ति गिरिवरगह्वराणि येषां तैः गिरिवरगह्वरेषु अमाद्भिः । अवर्तमानैरित्यर्थः । रवैर्बृंहणादिघोषैः । स्व आश्रयः स्वसमवायिकारणमाकाशो दलित इव विदारित इवाभूदित्युत्प्रेक्षा तया तेषामतितीव्रत्वं व्यज्यते ॥ ३१ ॥

हाथी चिंघाड़ने लगे, बड़े-बड़े नगाड़े बजने लगे, घोड़े हिनहिनाने लगे तथा उस समय बड़े-बड़े पर्वतोंको गुफाओंमें नहीं समा सकते हुए शब्दोंसे मानो अपना आश्रय (आधारभूत गुहा—सम्बन्धी आकाशदेश) विदीर्ण—सा हो गया ॥ ३१ ॥

अनारतं रसति जयाय दुन्दुभौ मधुद्विषः फलदलघुप्रतिस्वनैः ।
विनिष्पतन्मृगपतिभिर्गुहामुखैर्गताः परां मुदमहसन्निवाद्रयः ॥ ३२ ॥

अनारतमिति ॥ मधुद्विषो हरेः दुन्दुभौ रणभेर्यां जयायानारतमश्रान्तं रसति ध्वनति सति फलन्तः संक्रामन्तोऽलघवो महान्तः प्रतिस्वनाः प्रतिध्वनयो येषु तैः विनिष्पतन्तः क्षोभान्निर्गच्छन्तः मृगपतयः सिंहा येभ्यस्तैर्गुहाभिरेव मुखैरद्रयः परां मुदं गताः सन्तः अहसन्निव । सिंहानां धावल्याद् ध्वनियोगाच्च हसनोत्प्रेक्षा ॥ ३२ ॥

श्रीकृष्ण भगवान्‌की दुन्दुभिके विजयके लिए निरन्तर बजते रहनेपर संक्रान्त होती हुई

---

१. 'असम्भवदभ्रुतगिरिगह्वरे—' इति, '—गिरिकन्दरे—' इति च पा० ।

गम्भीर ध्वनियोंवाले तथा (गम्भीर ध्वनि सुननेसे उत्पन्न क्षोभके कारण) निकलते हुए सिंहोंवाले गुफारूपी मुखोंसे, अत्यन्त हर्षको पाये हुए पर्वत मानों हँसने लगे ॥ ३२ ॥

जडीकृतश्रवणपथे दिवौकसां चमूरवे विशति सुराद्रिकन्दराः ।
अनर्थकैरजनि विदग्धकामिनीरतान्तरक्वणितविलासकौशलैः ॥ ३३ ॥

जडीकृतेति ॥ दिवमोको येषां दिवौकसां देवानाम् । कन्दरान्तर्गतानामित्यर्थः । जडीकृतश्रवणपथे बधिरीकृतश्रोत्रमार्गे । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः । चमूरवे सेनाघोषे सुराद्रिकन्दराः मेरुगह्वराणि विशति सति । विदग्धकामिनीनां प्रौढाङ्गनानां रतान्तरे सुरतमध्ये क्वणितविलासाः कूजितसम्पदस्तासु यानि कौशलानि तैरनर्थकैरजनि जातम् । प्रेयसां बाधिर्यादिति भावः । अत्र श्रोत्रजाड्यस्य विशेषणगत्या क्वणितानर्थक्यहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् । तदुपजीवितेन क्वणितानामानर्थक्यासंबन्धेऽपि तत्संबन्धोक्तेरतिशयोक्त्युत्पादनयोरङ्गाङ्गिभावेन संकरः ॥

(सुमेरुकी गुफाओंमें रमणियोंके साथ विहार करते हुए) देवोंके कानोंके बहरे करनेवाले सेनाघोषके सुमेरुकी गुफामें प्रवेश करते रहनेपर चतुर देवाङ्गनाओंके सुरतके मध्यमें ध्वनिके विलासविषयिणी निपुणता निरर्थक हो गयी; (क्योंकि सेनाघोषके कारण बहरे हुए उनके प्रियतम देवगण उन कामिनियोंके क्वणित–विलासकी निपुणताको नहीं जान सके) ॥ ३३ ॥

अरातिभिर्युधि सहयुध्वनो हताञ्जिघृक्षवः श्रुतरणतूर्यनिःस्वनाः ।
अकुर्वत प्रथमसमागमोचितं चिरोज्झितं सुरगणिकाः प्रसाधनम् ॥ ३४ ॥

अरातिभिरिति ॥ सह युध्यन्त इति तान्सहयुध्वनः । 'सहे च' (३।२।९६) इति क्वनिप् । अत एवारातिभिर्युधि हतान् जिघृक्षवो ग्रहीतुमिच्छवः । स्वयंवरणकामाः । ग्रहेः सन्नन्तादुप्रत्ययः । सुरगणिका अप्सरसः श्रुतरणतूर्यनिःस्वनाः सत्यश्चिरोज्झितम् । प्रायेण प्रवीरसंवादाभावादिति भावः । प्रथमसमागमोचितम् । अतिमोहनमित्यर्थः । प्राथम्यं च पुंसामिदं प्रथमत्वादिति भावः । प्रसाधनमकुर्वत । परिष्कृतवत्य इत्यर्थः । 'प्रतिकर्म प्रसाधनम्' इत्यमरः । अत्र स्वयंवरणतूर्यश्रवणयोर्विशेषणगत्या प्रसाधनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् ॥ ३४ ॥

साथ में युद्ध करते हुए एवं युद्धमें शत्रुओंसे मारे गये शूर-वीरोंका ग्रहण (स्वयंवरण) करना चाहती हुई अप्सराओंने युद्धके बाजोंकी ध्वनिको सुनकर प्रथम समागमके योग्य (अत्यन्त मोहक) शृङ्गार किया ॥ ३४ ॥

प्रचोदिताः परिचितयन्तृकर्मभिर्निषादिभिर्विदितयताङ्कुशक्रियैः ।
गजाः सकृत्करतललोलनालिकाहता मुहुः प्रणदितघण्टमाययुः ॥ ३५ ॥

---

१. 'सहयुध्यतो' इति पा० । २. 'प्रणोदिताः परिगत……मताङ्कुश—' इति पा० ।
३. 'लालिका—' इति पा० ।

प्रचोदिता इति ॥ परिचितं यन्तृकर्म सादिकृत्यं यैस्तैः । स्वभ्यस्तगजशास्त्रैरित्यर्थः । अत एव विदिते यताङ्कुशक्रिये यतयाताख्ये पादाङ्कुशकर्मणी यैस्तैः । 'पादकर्म यतं प्रोक्तं यातमङ्कुशवारणम्' इति हलायुधः । निषादिभिर्यन्तृभिः प्रचोदिता प्रेरिता गजाः सकृदेकवारमेव करतललोलाभिः पाणितलचलिताभिर्नालिकाभिरन्तर्नाडिकाभिः हतास्ताडिताः तथापि मुहुः प्रणदिता असकृद् ध्वनन्ती घण्टा यस्मिन् कर्मणि तद्यथा आययुः प्रस्थातुमागताः । स्वभावोक्तिः ॥ ३५ ॥

महावत (हाथीवान्) के कार्योंसे परिचित (अतएव) पैर चलाकर हाथीको हाँकना तथा अङ्कुश से मारना जाननेवाले महावतोंसे प्रेरित (हाँके गये) हाथी एक बार हाथमें चञ्चल नालिकाओंके द्वारा मारनेपर बार-बार घण्टाओंको बजाते हुए (तीव्र गतिसे) चलने लगे ॥ ३५ ॥

सविक्रमक्रमणचलैरितस्ततः प्रकीर्णकैः क्षिपत इव क्षिते रजः ।
व्यरंसिषुर्न खलु जनस्य दृष्टयस्तुरंगमादभिनवभाण्डभारिणः ॥ ३६ ॥

सविक्रमेति ॥ सविक्रमेण साङ्घ्रिविन्यासविशेषेण क्रमणेन गमनेन चलैः प्रकीर्णकैश्चामरैः । 'चामरं तु प्रकीर्णकम्' इत्यमरः । क्षिते रजः स्वखुरोद्धतमितस्ततः क्षिपतो निरस्यत इव स्थितादित्युत्प्रेक्षा । अभिनवभाण्डभारिणः प्रत्यग्राभरणधारिणः । 'स्याद्भाण्डमश्वाभरणे' इत्यमरः । तुरंगमात्तुरंगमेभ्यः । जातावेकवचनम् । 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्' (वा०) इत्यपादानत्वम् । जनस्य दृष्टयो न व्यरंसिषुर्न विरताः खलु । रमेर्लुङि 'व्याङ्परिभ्यो रमः' (१।३।८३) इति परस्मैपदं 'यमरमनमातां सक् च' (७।२।७३) इति सगिडागमौ इटि 'नेटि' (७।२।४) इति वृद्धिप्रतिषेधः ॥ ३६ ॥

(विशिष्ट गतियोंसे चलनेके कारण) विशेष ढङ्गसे पैरोंको रखनेसे हिलते हुए चामरसे (अपने खुरोंसे उड़ी हुई) पृथ्वीकी धूलिको मानो इधर-उधर हटाते हुए-से स्थित तथा नवीन भूषणोंको पहने हुए घोड़ोंसे लोगोंकी दृष्टि नहीं हटी अर्थात् उक्तरूप घोड़ेको लोग एकटक बहुत देरतक देखते ही रहे ॥ ३६ ॥

अथ त्रिभिर्विशेषकेणाह—(३७-३९)

चलाङ्गुलीकिसलयमुद्धतैः करैरनृत्यत स्फुटकृतकर्णतालया ।
मदोदकद्रवकटभित्तिसङ्गिभिः कलस्वरं मधुपगणैरगीयत ॥ ३७ ॥

चलेत्यादि ॥ स्फुटं कृतः कर्णतालः कर्णताडनं यया तया द्विपघटया कर्या चलाङ्गुल्य एव किसलया यस्मिन् कर्मणि तत्तथोद्धतैः करैर्हस्तैरनृत्यत अनर्ति । भावे लङ् । तथा मदोदकेन द्रवास्वार्द्रासु कटभित्तिषु गण्डस्थलेषु सङ्गिभिरासक्तैः मधुपगणैर्भ्रमरगणैः कलस्वरं मधुरस्वरमगीयत गीतम् । भावे लङ् ॥ ३७ ॥

---

१. '—धारिणः इति,—हारिणः' इति च० पा० । २. 'कलस्वनं भ्रमर—' इति पा० ।

स्पष्टतः कानोंको फटकारकर (बजाते हुए) गज-समूह अङ्गुलिरूपी नवपल्लवोंको चञ्चल करनेके साथ-साथ हाथोंसे नृत्य करने लगे, तथा मदजलसे आर्द्र (भीगे हुए) कपोलोंपर बैठे हुए भ्रमर मधुर स्वरपूर्वक गान करने लगे ॥ ३७ ॥

असिच्यत प्रशमितपांशुभिर्मही मदाम्बुभिर्धृतनवपूर्णकुम्भया ।
अवाद्यत श्रवणसुखं समुन्नमत्पयोधरध्वनिगुरु तूर्यमाननैः ॥ ३८ ॥

असिच्यतेति ॥ धृतौ नवौ पूर्णकुम्भौ शिरःपिण्डकलशौ यया तया द्विपघटया कर्त्र्या । 'कुम्भौ घटेभमूर्धांशौ' इत्यमरः । प्रशमितपांशुभिर्मदाम्बुभिर्मही पृथ्वी असिच्यत सिक्ता । आननैर्मुखैः करणैः श्रवणयोः सुखयतीति सुखं सुखकरम् । 'सुखहेतौ सुखे सुखम्' इति शब्दार्णवे । समुन्नमत्पयोधरध्वनिगुरु उद्यन्मेघगर्जितगम्भीरं तूर्यमवाद्यत वादितम् । स्वमुखबृंहणैरेव तूर्यं संपादितमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

नवीन पूर्णकुम्भों (मस्तकोपरिस्थित बड़े-बड़े कलशतुल्य मांस-पिण्डों, पक्षा०—भरे हुए कलशों) वाले गज-समूहने धूलिको नष्ट किये हुए मदजलोंसे पृथ्वीको छिड़क दिया और मुखोंसे कानोंको अच्छा लगनेवाला उठते हुए मेघोंके गरजनेके समान गम्भीर स्वरसे बाजा बजाया ॥ ३८ ॥

उदासिरे पवनविधूतवाससस्ततस्ततो गगनलिहश्च केतवः ।
यतः पुरः प्रतिरिपु शार्ङ्गिणः स्वयं व्यधीयत द्विपघटयेति मङ्गलम् ॥ ३९ ॥

उदासिर इति । पवनेन विधूतवाससः कम्पितपटाः गगनलिहोऽभ्रंकषाः केतवो ध्वजाश्च ततस्ततः तत्र तत्र उदासिरे उत्क्षिप्ताः इतीत्थं द्विपघटया प्रतिरिपु रिपून् प्रति । आभिमुख्येऽव्ययीभावः । यतो गच्छतः । इणो लटः शत्रादेशः । शार्ङ्गिणः पुरोऽग्रे स्वयं मङ्गलं व्यधीयत विहितम् । अत्र श्लोकत्रये प्रस्तुतद्विपघटविशेषणसाम्यादप्रस्तुतमङ्गलाचरणपरपुरन्ध्रीप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः ॥ ३९ ॥

वायुसे हिलते हुए कपड़ेवाले आकाशस्पर्शी ध्वजाओंको उठाया, इस प्रकार (३७।३७-३९) गज-समूहने शत्रुके सम्मुख जाते हुए श्रीकृष्ण भगवान्‌के आगे स्वयं मङ्गलकारक कार्योंको किया ॥ ३९ ॥

न शून्यतामगमदसौ निवेशभूः प्रभूततां दधति बले चलत्यपि ।
पयस्यभिद्रवति भुवं युगावधौ सरित्पतिर्न हि समुपैति रिक्तताम् ॥ ४० ॥

नेति ॥ प्रभूततां भूमानं दधति दधाने बले सैन्ये चलति प्रतिष्ठमानेऽपि असौ निवेशभूः सेनानिवेशभूमिः शून्यतां रिक्ततां नागमत् । तथा हि—युगावधौ युगान्ते पयसि भुवमभिद्रवत्यभिप्लवमाने सति सरित्पतिः समुद्रो रिक्ततां न समुपैति हि । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ४० ॥

---

१. 'मानकैः' इति पा० । २. '—वासस इतस्ततो' इति पा० ।

अधिकताको धारण करती हुई अर्थात् बहुत अधिक सेनाके चलते रहनेपर भी शिविर-की भूमि खाली (सूनी) नहीं हुई, क्योंकि युगान्त (प्रलय) कालमें पानीसे संसारको प्लावित करते रहनेपर भी समुद्र खाली (जल-रहित) नहीं होता ॥ ४० ॥

यियासितामथ मधुभिद्विवस्वता जनो जरन्महिषविषाणधूसराम् ।
पुरः पतत्परबलरेणुमालिनीमलक्षयद्दिशमभिधूमितामिव ॥ ४१ ॥

यियासितामिति ॥ अथ मधुभिद्धरिरेव विवस्वान् तेन यियासितां यातुमिष्टां जिगमिषिताम् । यातेः सन्नन्तात्कर्मणि क्तः । पततोऽभिधावतः परबलस्य शत्रुसैन्यस्य रेणून् मलते धारयतीति तन्मालिनीं । मलतेर्णिनिप्रत्ययः । अत एव जरतो वृद्धस्य महिषस्य विषाणवद्धूसरां धूम्रां पुरोऽग्रे दिशमभितो धूमोऽस्याः संजातस्तामभिधूमितामिव जनो लोकोऽलक्षयत् । मधुभिद्विवस्वतेति रूपकोत्थापिताऽप्रदिशि धूमितत्वोत्प्रेक्षेति संकरः । अत्राहुः—'अङ्गारिणी दिग्रविविप्रयुक्ता यस्यां रविस्तिष्ठति सा प्रदीप्ता । प्रधूमिता यास्यति यां दिनेशः शेषाः प्रशस्ताः शुभदाश्च ताः स्युः ॥' इति ॥ ४१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णरूप सूर्यसे जानेके लिए अभिलषित, दौड़ती हुई शत्रुकी सेनाकी धूलिको धारण की हुई (अतएव) बूढ़े भैंसेकी सींगके समान धूमिल, सामनेकी दिशाको लोगोंने सब तरफसे धूएँसे युक्त-सी देखा ।

विमर्श—सूर्य जिस दिशाको छोड़कर आगे बढ़ जाते हैं उस दिशाको 'अङ्गारिणी', जिस दिशामें स्थित रहते हैं, उस दिशाको 'प्रदीप्ता' और जिस दिशामें जानेवाले होते हैं, उस दिशाको 'प्रधूमिता' दिशा कहते हैं, शेष दिशाएँ 'प्रशस्ता' कहलाती हैं और वे शुभ करनेवाली होती है ॥ ४१ ॥

मनस्विनामुदितगुरुप्रतिश्रुतिः[1] श्रुतस्तथा न निजमृदङ्गनिःस्वनः ।
यथा पुरःसमरसमुद्यतद्विषद्बलानकध्वनिरुदकर्षयन्मनः ॥ ४२ ॥

मनस्विनामिति ॥ उदिता उत्पन्ना गुरुर्गंभीरा प्रतिश्रुतिः प्रतिध्वनिर्यस्य सः निजमृदङ्गनिःस्वनः स्वसेनातूर्यघोषः । श्रुतः सन् तथा मनस्विनां मनो नोदकर्षयन्नाचकर्ष । कृषिरयं स्वार्थण्यन्तः । यथा पुरोऽग्रे समरसमुद्यते समरोद्युक्ते द्विषद्बले शत्रुसैन्ये ये आनकास्तेषां ध्वनिरुदकर्षयत् । एतेनैषां वीररस्थायी महोत्साह उक्तः । अत्र भयङ्करस्यापि परसैन्यघोषस्योत्साहजनकत्वं महावीरेषु न विरुध्यत इति विरोधाभासोऽलङ्कारः । भीहेतौ सत्यपि भयानुत्पत्तेर्विशेषोक्तिविरुद्धकार्योत्पत्तेर्विषमभेदश्चेति संकरः ॥ ४२ ॥

अत्यन्त गम्भीर प्रतिध्वनिको करनेवाले एवं सुने गये अपने मृदङ्गके शब्दने शूरवीरोंके

---

१. '—श्रुतः श्रुतास्तथा······स्वनाः' इति पा० ।

मनको वैसा आकृष्ट नहीं किया, जैसा सामनेमें युद्धके लिए तैयार शत्रुओंकी सेनाके नगाड़ेके शब्दने आकृष्ट किया ॥ ४२ ॥

यथा यथा पटहरवः समीपतामुपागमत् स हरिवराग्रतः सरः ।
तथा तथा हृषितवपुर्मुदाकुला द्विषां चमूरजनि जनीव चेतसा ॥ ४३ ॥

यथा यथेति ॥ हरिर्वरो जामातेव हरिवरः । 'वरो जामातृवर्ययोः' इति विश्वः । तस्याग्रतः सरतीत्यग्रतःसरोऽग्रेसरः । 'पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः' (३।२।१८) इति टप्रत्ययः । स पूर्वोक्तः पटहरवो यथा यथा यावद्यावत् समीपतामासन्नतामुपागमत् तथा तथा तावत्तावत् द्विषतो चमूर्जनीव वधूरिव । 'जनी सीमन्तिनी वधूः' इति विश्वः । चेतसा मुदाकुला आनन्दाविला हृषितवपू रोमाञ्चिताङ्गी । 'हृषेर्लोमसु' (७।२।२९) इतीडागमः । अजनि जाता । जनेः कर्तरि लुङ् । 'दीपजन—' (३।१।६१) इत्यादिना चिण् प्रत्ययः । वधूवरसमागमवत्प्रतिद्वन्द्विसमागमो महोत्साहवर्धनो वीरसेनाया इत्युपमार्थः । तेन सैन्ययोरन्योन्यशब्दश्रवणकारिणी प्रत्यासत्तिरासीदिति व्यज्यते ॥

भगवान् श्रीकृष्णरूपी दुल्हेके आगे चलनेवाला वह नगाड़ेका शब्द जितना-जितना समीप होता गया, उतना-उतना शत्रुओंकी सेना वहूके समान मनसे आनन्दविह्वल तथा पुलकित शरीरवाली होती गयी । (नववधू-वरके समागमके समान प्रतिपक्षीका समागम वीरोंके लिए हर्ष बढ़ानेवाला हुआ करता है) ॥ ४३ ॥

प्रसारिणी सपदि नभस्तले ततः समीरणभ्रमितपरागरूषिता ।
व्यभाव्यत प्रलयजकालिकाकृतिर्विदूरतः प्रतिबलकेतनावलिः[1] ॥ ४४ ॥

प्रसारिणीति ॥ ततः श्रवणानन्तरं सपद्यविलम्बेन नभस्तले प्रसारिणी व्याप्ता समीरणेन वायुना भ्रमितेन परागेण रूषिता रूक्षीकृता अत एव प्रलयजायाः कल्पान्तप्रादुर्भूतायाः कालिकाया महाकाल्या आकृतिरिवाकृतिर्यस्याः सा प्रतिबले प्रतिपक्षसैन्ये केतनावलिर्ध्वजपङ्क्तिर्विदूरतो दूरादलक्ष्यत । एतावता प्रत्यासत्तिरासीदित्यर्थः । उपमालङ्कारः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर शीघ्र ही आकाशमें व्याप्त हुई और वायुसे उड़ायी गयी धूलिसे रूक्ष की गयी (अतएव) प्रलयकालोत्पन्न महाकालीके समान (कृष्णवर्ण) आकृतिवाली शत्रु-सैनिकोंकी ध्वजाश्रेणि दूरसे ही दिखलायी पड़ी अर्थात् पहले शत्रु-सेनाओंके नगाड़ेका शब्द सुनायी पड़ा तथा बादमें कुछ और आगे बढ़नेपर उनकी धूलिधूसरित ध्वजाएँ दिखलायी पड़ने लगीं ॥ ४४ ॥

क्षणेन च प्रतिमुखतिग्मदीधितिप्रतिप्रभास्फुरदसिदुःखदर्शना ।
भयङ्करा भृशमपि दर्शनीयतां ययावसावसुरचमूश्च भूभृताम् ॥ ४५ ॥

क्षणेनेति ॥ प्रतिमुखस्याभिमुखस्य तिग्मरश्मेरुष्णांशोः प्रतिप्रभाभिः प्रतिफलि-

१. 'वली' इति पा० ।

तद्दीप्तिभिः स्फुरद्भिर्देदीप्यमानैरसिभिः खड्गैर्दुःखं दुष्करं दर्शनं यस्याः सा। दुर्दर्शेत्यर्थः। असावसुरचमूश्चैद्यसेना क्षणेन च भूभृतां हरिसैनिकानां भृशं भयं करोतीति भयङ्करापि। 'मेघर्तिभयेषु कृञः' (३।२।४३) इति खच्प्रत्ययः। दर्शनीयतां मनोहरतामिति विरोधः। दृष्टिविषयतां ययावित्यविरोधः। अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः॥ ४५॥

सम्मुखस्थ सूर्यकी प्रतिबिम्बित प्रभासे चमकते हुए खड्गोंसे दुर्दर्श (दुःखपूर्वक देखी जानेवाली) यह असुरसेना (शिशुपालकी सेना) राजाओं के लिए अत्यन्त भयङ्कर होती हुई भी दर्शनीय अर्थात् रमणीय हुई (ऐसा अर्थ करनेसे आनेवाले विरोधका परिहार) देखी गयी अर्थात् उक्त यादव राजाओंने शिशुपालकी सेनाको देखा॥ ४५॥

पयोमुचामभिपततां दिवि द्रुतं विपर्ययः परित इवातपस्य सः।
समक्रमः[२] समविषमेष्वथ क्षणात् क्षमातलं बलजलराशिरानशे॥ ४६॥

पयोमुचामिति॥ अथासुरसेनादर्शनानन्तरं समविषमेषु निम्नोन्नतेषु समक्रमस्तुल्यसञ्चारः बलजलराशिः सैन्यसागरः दिवि व्योम्नि द्रुतमभिपततामभिधावतां पयोमुचां सम्बन्धी आतपस्य विपर्ययः छायेव परितः क्षणात्क्षमातलं भूतलमानशे। 'अशू व्याप्तौ' 'अत आदेः' (७।४।७०) इत्यभ्यासदीर्घः। 'अश्नोतेश्च' (७।४।७२) इति नुमागमः। उपमालङ्कारः॥ ४६॥

इस (शिशुपालकी सेनाके देखने) के बाद ऊँची-नीची भूमिमें समानरूपसे बढ़नेवाला सेनारूपी समुद्र, आकाशमें दौड़ते हुए मेघोंकी छायाके समान सब ओरसे भूतलपर फैल (व्याप्त हो) गया॥ ४६॥

ममौ पुरः क्षणमिव पश्यतो महत्तनूदरस्थितभुवनत्रयस्य तत्।
विशालतां दधति नितान्तमायते बलं द्विषां मधुमथनस्य चक्षुषि॥४७॥

ममाविति॥ पुरोऽग्रे क्षणमिव पश्यतः क्षणमात्रं विलोकयतः। इवशब्दो वाक्यालङ्कारे। तनौ क्षोदीयस्युदरे कुक्षौ स्थितं भुवनत्रयं यस्य तस्य मधुमथनस्य हरेः सम्बन्धिनि विशालतां वैपुल्यं दधति दधाने नितान्तमायते दीर्घे द्राघीयसि चक्षुषि महत् तद् द्विषां बलं ममौ ववृते। क्षणमीक्षणादेव परबले इयत्तां परिचिच्छेदेत्यर्थः। क्षोदीयस्यपि कुक्षौ भुवनत्रयं परिच्छिदतः हरेरतिमहति चक्षुषि अल्पबलपरिच्छेदः कियानिति भावः। अत्र भुवनत्रयापेक्षया आधारस्य कुक्षेरल्पत्वाच्चक्षुरपेक्षया आधेयस्य बलस्याल्पत्वाच्चाधिकालङ्कारौ संकीर्येते॥ ४७॥

सामने क्षणमात्र (अत्यन्त थोड़े समयतक) देखते हुए, छोटे-से उदरमें स्थित हुए तीनों भुवनोंवाले मधुसूदन (श्रीकृष्ण भगवान्) के विशाल तथा आयत नेत्रमें शत्रुओंकी सेना समा गयी अर्थात् छोटे-से उदरमें तीनों लोकोंको रखनेवाले श्रीकृष्ण भगवान्के

---

२. 'समक्रियः' इति पा०।

अत्यन्त बड़े नेत्रमें थोड़ी-सी शत्रु सेनाका समा जाना बहुत सरल कार्य है—श्रीकृष्ण भगवान्ने क्षणमात्रमें ही शत्रुसेनाको देखकर उसका परिमाण मालूम कर लिया ॥ ४७ ॥

भृशस्विदः पुलकविकासिमूर्तयो रसाधिके मनसि निविष्टसाहसाः ।
मुखे युधः सपदि रतेरिवाभवन् ससम्भ्रमाः क्षितिपचमूवधूगणाः ॥ ४८ ॥

भृशेति ॥ क्षितिपचम्वो वध्व इवेत्युपमितसमासः । रतेरिवेति लिङ्गात् । तासां गणाः युधो मुखे युद्धारम्भे रतेर्मुखे रत्यारम्भ इव सपदि भृशं स्विद्यन्तीति भृशस्विदः । क्विप् । पुलकविकासिमूर्तयो रोमाञ्चोदञ्चितगात्राः रसः वीरः शृङ्गारश्च तेनाधिके निर्भरे मनसि निविष्टसाहसाः प्रविष्टधार्ष्ट्याः ससम्भ्रमाः सत्वराश्चाभवन् । यादृशी वधूनां सुरतरसकर्मण्युत्कण्ठा तादृशी चमूनां समरकर्मणीत्युपमार्थः । तेनैतासां समरसुरतयोः समरसत्वं व्यज्यते ॥ ४८ ॥

राज-सेनारूपिणी वधुओंके समूह, युद्धके प्रारम्भमें रतिके प्रारम्भमें के समान अत्यन्त स्वेदयुक्त, रोमाञ्चसे प्रसन्न आकृतिवाले, रस (वीर रस, पक्षा०—शृङ्गार रस) से पूर्ण, चित्तमें साहसयुक्त और शीघ्रता करनेवाले हुए। (रमणियोंको रतिके आरम्भमें होनेवाली उत्कण्ठाके समान युद्धके आरम्भमें शूर-वीरोंको उत्कण्ठा हुई) ॥ ४८ ॥

ध्वजांशुकैर्ध्रुवमनुकूलमारुतप्रसारितैः प्रसभकृतोपहूतयः ।
यदूनभि द्रुततरमुद्यतायुधाः क्रुधा परं रयमरयः प्रपेदिरे ॥ ४९ ॥

ध्वजांशुकैरिति ॥ अरयः चैद्यपक्षा अनुकूलमारुतेन प्रसारितैर्ध्वजांशुकैर्ध्रुवं प्रसभेन बलात्कारेण कृतोपहूतयः । कृताह्वाना इवेत्यर्थः । यदूनभि यादवान्प्रति द्रुततरमुद्यतायुधा उत्क्षिप्तायुधाः सन्तः क्रुधा क्रोधेन परमधिकं रयं त्वरां प्रपेदिरे । ध्वजांशुकदर्शनोत्थक्रोधहेतुकस्य शीघ्राभिपातस्य ध्वजाह्वानहेतुकत्वमुत्प्रेक्ष्यते ध्रुवमिति ॥

अनुकूल वायुसे फैलाये गये झण्डोंसे मानो बलपूर्वक बुलाये गये-से शत्रुलोगों (शिशुपालके पक्षवाले शूरवीर लोगों) ने यादवोंके प्रति हथियारोंको उठाये हुए अत्यन्त शीघ्रता की अर्थात् हथियारोंको उठाये हुए शिशुपालपक्षीय वीर यादववीरोंके सामने तेजीसे बढ़े ॥ ४९ ॥

हरेरपि प्रति परकीयवाहिनीरधिस्यदं प्रववृतिरे चमूचराः ।
विलम्बितं न खलु सदा मनस्विनो विधित्सतः कलहमवेक्ष्य विद्विषः ॥

हरेरिति ॥ हरेरपि चमूषु चरन्तीति चमूचराः सैनिकाः । चरेष्टः । परेषामिमाः परकीया वाहिनीः सेनाः प्रति अधिस्यदमधिकरयं यथा तथा । 'रंहस्तरसी तु रयः स्यदः' इत्यमरः । प्रववृतिरे प्रवृत्ताः । तथा हि—मनस्विनो धीराः कलहं युद्धं विधित्सतः विधातुमिच्छतः । दधातेः सन्नन्ताल्लटः शतरि रूपम् । तान् विद्विषः शत्रूनवेक्ष्य

१. 'वाहिनीमधि' इति पा० ।

विलम्बितुम् । 'शकधृष-' (३।४।६५) इत्यादिना तुमुन् प्रत्ययः । सहन्त इति सहाः क्षमाः पचाद्यच् । न खलु । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५० ॥

श्रीकृष्ण भगवान्‌की सेनामें चलनेवाले सैनिक शत्रु-सेनाओंके प्रति अत्यधिक वेगपूर्वक प्रवृत्त हुए, क्योंकि धीर-वीर लोग युद्ध करनेके लिए इच्छुक शत्रुओंको देखकर विलम्ब नहीं सहते हैं ॥ ५० ॥

उपाहितैर्वपुषि निवातवर्मभिः स्फुरन्मणिप्रसृतमरीचिसूचिभिः ।
निरन्तरं नरपतयो रणाजिरे रराजिरे शरनिकराचिता इव ॥५१॥

उपाहितैरिति ॥ रणाजिरे रणाङ्गणे नरपतयो राजानो वपुषि उपाहितैरामुक्तैः स्फुरन्तो मणिप्रसृता रत्ननिर्गता मरीचय एव सूचयो येषां तैः निवातवर्मभिरच्छिद्रकञ्चुकैः । 'निवातो दृढसंनाहे निर्वाते चाश्रयेऽपि च' इति विश्वः । 'तनुत्रं वर्म कञ्चुकम्' । इत्यमरः । निरन्तरं नीरन्ध्रं शरनिकरैराचिताः प्रोता इव रराजिरे । 'फणां च सप्तानाम्' (६।४।१२५) इति विकल्पादेत्वाभ्यासलोपाभावः । मणिरोचिषः सादृश्याच्छरनिकरत्वोत्प्रेक्षा ॥ ५१ ॥

युद्धके मैदानमें राजालोग, पहने हुए (कवचोंमें जड़े गये) मणियोंकी फैलती हुई किरणरूपी सूइयोंवाले सघन (दृढ़तम-छिद्ररहित) कवचोंसे, निरन्तर बाण-समूहोंसे बिंधे हुए-से शोभते थे ॥ ५१ ॥

अथोच्चकैर्जरठकपोतकन्धरातनूरुहप्रकरविपाण्डुरद्युति ।
बलैश्चलच्चरणविधूतमुच्चरद्घनावलीरुदचरत क्षमारजः ॥ ५२ ॥

अथेति ॥ अथानन्तरं उच्चकैरुन्नतं जरठकपोतकंधरातनूरुहप्रकरविपाण्डुरद्युति जीर्णपारावतकंधरारोमनिकरधूसरच्छायमित्युपमा । 'पारावतः कलरवः कपोतः' इत्यमरः । बलः सैन्यैश्चलद्भिश्चरणैर्विधूतमुद्धूतं प्रेरितं सदुच्चरदुत्पतत्क्षमारजो भूरेणुर्घनावलीर्घनपङ्क्तीरुदचरत् ।प्रचक्रामेत्यर्थः । 'उदश्चरः सकर्मकात्' (१।३।५३) इत्यात्मनेपदम् । अस्य प्रत्युदाहरणमुच्चरदिति । अत्र भूरेणोर्मेघमण्डलाक्रमणासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरुपमासङ्कीर्णा ॥ ५२ ॥

इसके बाद उड़ी हुई, बूढ़े कबूतरकी गर्दनके रोम-समूहके समान धूसर कान्तिवाली, सैनिकोंके द्वारा चलते हुए चरणोंसे प्रेरित होकर उड़ती हुई पृथ्वीकी धूलि मेघ-समूहोंको भी पारकर गयी अर्थात् मेघ-समूहसे भी ऊपर चली गयी ॥ ५२ ॥

विषङ्गिभिर्भृशमितरेतरं क्वचित्तुरङ्गमैरुपरि निरुद्धनिर्गमाः ।
चलाचलैरनुपदमाहताः खुरैर्विबभ्रमुश्चिरमध एव धूलयः ॥ ५३ ॥

---

१. 'निवाततां दधदपि वर्म बिभ्रतः' इति पा० । २. 'भिः क्वचिदभितो निरन्तरं तुरङ्गमैः' इति पा० ।

विषङ्गिभिरिति ॥ चलाचलैश्चटुलैः खुरैरनुपदं प्रतिपदमाहता उद्धताः भृशमितरेतरं परस्परम् । 'निरन्तरम्' इति पाठेऽभितो निरन्तरं नीरन्ध्रं विषङ्गिभिर्मिथः श्लिष्टैस्तुरङ्गमैरुपरि निरुद्धो निर्गमो यासां ताः धूलयः क्वचित् चिरमध एव विबभ्रमुः नोत्पेतुरिति भावः । अत्रोद्धतानामधोभ्रमणविरोधस्योपरिनिर्गमरोधेन विशेषणगत्या परिहारात् काव्यलिङ्गसङ्कीर्णो विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ५३ ॥

अत्यन्त चञ्चल खुरोंसे उद्धत (उड़ायी गयी), परस्परमें अत्यन्त सटे हुए घोड़ोंसे ऊपरमें रुके हुए मार्गवाली धूलि कहींपर बहुत समयतक नीचे ही घूमती (ऊपरकी ओर नहीं जा सकनेके कारण नीचेकी ओर ही चक्कर काटती हुई उड़ती) रही ॥ ५३ ॥

गरीयसः प्रचुरमुखस्य रागिणो रजोऽभवद्व्यवहितसत्त्वमुत्कटम् ।
सिसृक्षतः सरसिजजन्मनो जगद् बलस्य तु क्षयमपनेतुमिच्छतः ॥५४॥

गरीयस इति ॥ गरीयसः सर्वलोकपितामहत्वात् पूज्यतरस्य, अन्यत्र महत्तरस्य प्रचुरमुखस्य । चतुर्मुखस्येत्यर्थः । अन्यत्र बहुप्रवाहस्य रागिणो रक्तवर्णस्य, अन्यत्र रणे रागिणोऽनुरागवतः एवंभूतस्य सरसिजजन्मनो ब्रह्मणो जगत् सिसृक्षतः जगत् स्रष्टुमिच्छतः सतः । सृजेः सन्नन्ताच्छतः शत्रादेशः । व्यवहितसत्त्वं तिरस्कृतसत्त्वगुणकं, अन्यत्र तिरोहितजन्तुकं रजो रजोगुणो रेणुश्चोत्कटकमुद्रिक्तमभवत् । बलस्य सैन्यस्य तु जगत्क्षयमपनेतुमिच्छतः सतोऽभवत् । अत्र ब्रह्मबलयोर्गरीयस्त्वादिसाधर्म्येऽपि रजःशब्देनैकस्य सिसृक्षोरन्यस्य सञ्जिहीर्षोरिति व्यतिरेकः श्लेषोत्थापित इति सङ्करः ॥ ५४ ॥

(सब लोगोंके पितामह होनेसे) अधिक पूजनीय, चार मुखवाले, अरुण वर्णवाले ब्रह्माका संसारकी सृष्टि करनेकी इच्छा करते रहनेपर सत्त्वगुणको तिरस्कृत करनेवाला रजोगुण बढ़ गया तथा अत्यन्त बढ़ी, सर्वतोगामिनी, युद्धमें अनुराग करनेवाली, संसारको नष्ट करने की इच्छा करती हुई सेना की दूसरे जीव-जन्तुओं को अन्तर्हित करनेवाली धूलि बढ़ गयी ॥ ५४ ॥

पुरा शरक्षतिजनितानि संयुगे नयन्ति नः प्रसभमसृञ्जि पङ्कताम् ।
इति ध्रुवं व्यलगिषुरात्तभीतयः खमुच्चकैरनलसखस्य केतवः ॥५५॥

पुरेति ॥ संयुगे युद्धे सति शरक्षतिजनितानि क्षतजानि असृञ्जि रुधिराणि नोऽस्मान् प्रसभं प्रसह्य पङ्कतां पुरा नयन्ति नेष्यन्ति । 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' (३।३।४) इति भविष्यदर्थे लट् । इतीत्थमालोक्य ध्रुवमात्तभीतयः प्राप्तभयाः सन्तोऽनलसखस्याग्निमित्रस्य वायोः केतवो रेणवः । तल्लिङ्गत्वात्तस्येति भावः । उच्चकैरुन्नतं खमाकाशं व्यलगिषुः । वियदारूढा इत्यर्थः । ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ५५ ॥

युद्ध होने पर बाणोंके प्रहारसे उत्पन्न रुधिर हम लोगों को अवश्य ही बलपूर्वक कीचड़

१. 'जनबलस्य' इति पा० । २. 'गलितानि' इति पा० ।

बना देगी, मानो ऐसा सोचकर डरी हुई पवनकी पताकाएँ अर्थात् धूलियाँ अत्यन्त ऊँचे आकाश पर चली गयीं ॥ ५५ ॥

क्वचिल्लसद्घननिकुरम्बकर्बुरः क्वचिद्धिरण्मयकणपुञ्जपिञ्जरः ।
क्वचिच्छरच्छशधरखण्डपाण्डुरः खुरक्षतक्षितितलरेणुरुद्ययौ ॥ ५६ ॥

क्वचिदिति ॥ क्वचिल्लसन्घननिकुरम्बवन्नवाभ्रपटलवत्कर्बुरः शबलः । क्वचिद्धिरण्मयकणपुञ्जपिञ्जरः कनकचूर्णराशिकपिशः । क्वचिच्छरच्छशधरखण्डपाण्डुरः खुरैः क्षतस्य क्षितितलस्य रेणुरुद्ययौ उज्जगाम । अत्रोपमात्रयस्य संसृष्टिः ॥ ५६ ॥

कहीं पर शोभते हुए मेघके समान कर्बुर, कहीं पर सुवर्ण-चूर्णके समान पिङ्गल और शरत्कालके चन्द्रमाके टुकड़ेके समान शुभ्र वर्णवाली (घोड़ोंके) खुरोंसे विदीर्ण भूतलकी धूलि ऊपर (आकाशमें) चली गयी ॥ ५६ ॥

महीयसां महति दिगन्तदन्तिनामनीकजे रजसि मुखानुषङ्गिणि ।
विसारितामजिहत कोकिलावलीमलीमसा [3]जलदमदाम्बुराजयः ॥५७॥

महीयसामिति ॥ महति अनीकजे सेनासमुत्थे रजसि महीयसां दिगन्ता एव दन्तिनः तेषां मुखानि पुरोभागा एव मुखान्याननानि इति श्लिष्टरूपकम् । तेष्वनुषङ्गिणि लग्ने सति । कोकिलावलीवन्मलीमसा मलिना जलदा दिङ्मुखसङ्गिन एव ये मेघास्त एव मदाम्बुराजयो मदरेखाः विसारितां प्रसृमरत्वमजिहताऽगच्छन् । प्राप्ता इत्यर्थः । पांसुपातस्य दन्तिनां मदहेतुत्वादिति भावः । तदुक्तं महाभारते—'स्त्रियो जारेण तुष्यन्ति गावः स्वच्छन्दचारतः । कुञ्जराः पांशुवर्षेण ब्राह्मणाः परनिन्दया ॥' इति । दिगन्तलम्बिनो मेघाः सेनारजोमेलनाद् बहुलीबभूवुरित्यर्थः । अत्र दिगन्तेषु तन्मेघेषु च दन्तित्वतन्मदत्वरूपणात् समस्तवस्तुवर्ति सावयवरूपकं मुखमेव मुखमिति श्लिष्टपरम्परितमिति सङ्करः । अजिहतेति ओहाङो लङि तङ् 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (६।४।११२) इत्याकारलोपः 'अदभ्यस्तात्'(७।१।४)इत्यदादेशः ॥

सेनासे उड़ी हुई अत्यधिक धूलिके दिगन्तरूपी हाथियोंके अग्रभागरूपी मुखमें पड़ने पर कोयल-समूहके समान काले (दिङ्मुखमें लगी हुई धूलिरूपी) मेघरूपी मदजलधाराएँ बढ़ गयीं ।

विमर्श—सेनासे उड़ी हुई बहुत-सी धूलि दिगन्त तक फैल गयी, उससे दिगन्तव्यापी मेघ सघन हो गये । यहाँ पर दिगन्तको हाथी और उनके अग्रिम भागको उनके मुख होने की और उक्त धूलिके लगनेसे उन दिगन्तरूपी हाथियोंके अग्रभागरूपी मुखसे मदजल धाराके बढ़ने की कल्पना की गयी है । धूलि पड़नेसे हाथियोंके हर्षित होकर अधिक मदजलका प्रवाहित करना गजशास्त्रमें प्रसिद्ध है ॥ ५७ ॥

---

१. 'समुल्लस' इति पा० । २. 'जलधर' इति पा० । ३. 'बहुल' इति पा० ।

शिरोरुहैरलिकुलकोमलैरमी मुधा मृधे मृषत युवान एव मा ।
बलोद्धतं धवलितमूर्धजानिति ध्रुवं जनाञ्जरत इवाकरोद्रजः ॥ ५८ ॥

शिरोरुहैरिति ॥ अलिकुलकोमलैर्भ्रमरवृन्दमनोरमैः शिरोरुहैः केशैरुपलक्षिता अमी राजानो युवान एव मुधा वृथा मृधे युद्धे। 'मृधमास्कन्दनम्' इति युद्धपर्यायेष्वमरः। मा मृषत न म्रियन्ताम्। म्रियतेर्माङि लुङि 'न माङ्योगे' (६।४।७४) इत्यडभावः। 'उश्च' (१।२।१२) इति सिचः कित्त्वान्न गुणः। इति। इत्थमालोच्येत्यर्थः। बलोद्धतं रजः कर्तृ धवलितमूर्धजान् धवलीकृतकेशाञ्जनान् जरत इवाकरोत्। वृद्धानिवाकरोदित्यर्थः। ध्रुवमित्युत्प्रेक्षायाम्। अत्रेवशब्दस्यावधारणार्थत्वान्न तेन पौनरुक्त्यम्। 'इवौपम्येऽवधारणे' इति विश्वः। 'प्रवयाः स्थविरो वृद्धो जीनो जीर्णो जरन्नपि' इत्यमरः। 'जीर्यतेरतृन्' (३।२।१०४) इत्यतृन्प्रत्ययः ॥ ५८ ॥

भ्रमर-समूहके समान (काले होनेसे) मनोहर केशोंसे युक्त ये युवक राजालोग ही युद्धमें व्यर्थमें न मरें, मानो ऐसा सोचकर सेनासे उड़ी हुई धूलिने श्वेत केशोंसे युक्तकर लोगों को वृद्धोंके समान बना दिया ॥ ५८ ॥

सुसंहतैर्दधदपि धाम नीयते तिरस्कृतिं बहुभिरसंशयं परैः[1] ।
यतः शितेरवयवसंपदोऽणवस्त्विषां निधेरपि वपुरावरीषत ॥ ५६ ॥

सुसंहतैरिति ॥ धाम तेजो दधदपि दधानोऽपि। तेजस्व्यपीत्यर्थः। परैरन्यैः सुसंहतैः सुसंगतैः परस्परैक्यं गतैश्च बहुभिस्तिरस्कृतिं नीयते। असंशयं निश्चितम्। अर्थाभावेऽव्ययीभावः। कुतः। यतोऽणवः सूक्ष्माः क्षितेरवयवसंपदो रेणुसमृद्धयः त्विषां निधेः सूर्यस्यापि वपुरावरीषत आच्छादितवत्यः। वृञो लुङि 'वृतो वा' (७।२।३८) इतीटो दीर्घः। विशेषेण सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५९ ॥

तेजको धारण करता हुआ अर्थात् तेजस्वी व्यक्ति भी सुसङ्गठित बहुत-से शत्रुओंसे अवश्यमेव तिरस्कृत हो जाता है, क्योंकि अत्यन्त सूक्ष्म भी पृथ्वीकी धूलियोंने तेजोनिधि (सूर्य) के भी बिम्बको ढक दिया ॥ ५९ ॥

द्रुतद्रवद्रथचरणक्षतक्ष्मातलोल्लसद्बहुलरजोवगुण्ठितम् ।
युगक्षयक्षणनिरवग्रहे जगत्पयोनिधेर्जल इव मग्नमाबभौ ॥ ६० ॥

द्रुतेति ॥ द्रुतं शीघ्रं द्रवतां धावतां रथानां चरणैश्चक्रैः क्षतात् क्षुण्णात् क्ष्मातलादुल्लसता पतता बहुलेन सान्द्रेण रजसावगुण्ठितमाच्छादितं जगद्युगक्षयक्षणे कल्पान्तकाले निरवग्रहे निष्प्रतिबन्धे पयोनिधेर्जले मग्नमिवाबभावित्युत्प्रेक्षा ॥ ६० ॥

वेगसे दौड़ते हुए रथोंको पहियोंसे क्षत भूतलसे उड़े हुए धूलि-समूहसे ढका हुआ संसार प्रलयकालमें निर्मर्याद (बढ़े हुए) समुद्र-जलमें डूबा हुआ-सा शोभने लगा ॥ ६० ॥

---

[1] 'पदैः' इति पा० ।

समुल्लसद्दिनकरवक्त्रकान्तयो रजस्वलाः परिमलिताम्बरश्रियः ।
दिगङ्गनाः क्षणमविलोकनक्षमाः शरीरिणां परिहरणीयतां ययुः ॥ ६१ ॥

समुल्लसदिति ॥ समुल्लसन्ती दिनकरस्येव वक्त्रस्य कान्तिर्यासां ताः रजो रेणुरेव रजः आर्तवमासामस्तीति रजस्वलाः । 'रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच्' (५।२।११२) इत्यादिना मत्वर्थीयो वलच्प्रत्ययः । धूलिधूसरा उदक्यश्च । परिमलिताः परितः संजातमला अम्बरस्याकाशस्येवाम्बरस्य वस्त्रस्य च श्रीर्यासां ताः अत एवाविलोकनक्षमा विलोकनानर्हाः दिश एवाङ्गना दिगङ्गनाः शरीरिणां प्राणिनां क्षणमीषत्कालं परिहरणीयतामगम्यतां ययुः । तस्मात् 'मलवद्वाससं न संविशेदेव' इत्यादिनिषेधादिति भावः । श्लिष्टपरम्परितरूपकम् ॥ ६१ ॥

शोभती हुई सूर्य-मुखके समान कान्तिवाली धूलि-धूसरित (पक्षा०—मासिक धर्मयुक्त), मलिन आकाशशोभावाली (पक्षा०—वस्त्रशोभावाली, अत एव) देखनेके अयोग्य दिशारूपिणी रमणियाँ लोगोंके लिए क्षणमात्र त्याग करने योग्य (सम्भोगके अयोग्य) हो गयीं ॥

निरीक्षितुं वियति समेत्य कौतुकात् पराक्रमं समरमुखे महीभृताम् ।
रजस्ततावनिमिषलोचनोत्पलव्यथाकृति त्रिदशगणैः पलाय्यत ॥ ६२ ॥

निरीक्षितुमिति ॥ त्रिदशगणैर्देवगणैः समरमुखे रणारम्भे महीभृतां राज्ञां पराक्रमं निरीक्षितुं वियति कौतुकात् समेत्य रजस्ततौ रजःस्तोमे न निमिषन्त्यनिमिषाणि पक्ष्मपातरहितानि । मिषेः पचाद्यच् । कुटादित्वान्न गुणः । तेषां लोचनोत्पलानां व्यथाकृति दुःखकारिण्यां सत्याम् । कृञः क्विप् । पलाय्यतापाय्यत । भावे परापूर्वादयतेर्लङि तङ् 'उपसर्गस्यायतौ' (८।२।१९) इति रेफस्य लत्वम् । अत्र लोचनोत्पलानां व्यथाऽसंबन्धेऽपि संबन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ६२ ॥

देव-समूह, युद्धारम्भमें राजाओंके पराक्रमको देखनेके लिए कौतुकसे आकाशमें आकर धूलि-समूहके निमेषरहित नेत्रकमलको पीड़ित करनेवाले होनेपर भाग गये अर्थात् युद्ध देखनेके लिए पहले देवलोग आकाशमें स्थित हुए, किन्तु निमेषरहित नेत्रोंके धूलिसे पीड़ित होनेपर वे देवलोग वहाँ से चले गये ॥ ६२ ॥

विषङ्गिणि प्रतिपदमापिबत्यपो हताचिरद्युतिनि समीरलक्ष्मणि ।
शनैःशनैरुपचितपङ्कभारिकाः पयोमुचः प्रययुरपेतवृष्टयः ॥ ६३ ॥

विषङ्गिणीति ॥ विषङ्गिणि विषक्ते अत एव हताचिरद्युतिनि विरमिताचिरद्युतिनि समीरलक्ष्मणि वातकेतौ रजसि प्रतिपदं प्रतिक्षणमपोऽम्भांस्यापिबत्याकर्षति सति अत एवापेतवृष्टयो निवृत्तवर्षाः पयोमुचः उपचिताः प्रवर्धिताः पङ्कभारिकाः पङ्कभरणानि येषां ते उपचितपङ्कभारिकाः सन्तः । 'पर्यायार्हणोत्पत्तिषु ण्वुल्'

१. 'अनुल्ल⋯⋯परिमलिनाम्बुद—' इति पा० । २. '—धराः' इति पा० ।

(३।३।१११) इत्यर्हणार्थे ण्वुल् प्रत्ययः। अर्हणं च करणसामर्थ्यम् । अत एव भाराच्छनैः शनैः प्रययुः प्राप्ताः। अत्र पयोमुचां पङ्कभरणासंबन्धेऽपि तत्संबन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ६३ ॥

संसक्त (अत एव) बिजलीको नष्टकी हुई धूलिके प्रतिक्षण जलको पीते (सुखाते) रहने पर वर्षारहित मेघ (जलके धूलि–मिश्रित हो जानेसे) बढ़े हुए पङ्कसे बोझिल होकर धीरे–धीरे गमन करने लगे ॥ ६३ ॥

नभोनदीव्यतिकरधौतमूर्तिभिर्वियद्गतैरनधिगतानि लेभिरे ।
चलच्चमूतुरगखुराहतोत्पतन्महीरजःस्नपनसुखानि दिग्गजैः ॥ ६४ ॥

नभोनदीति ॥ नभोनदीव्यतिकरेणाकाशगङ्गाया अवगाहेन धौतमूर्तिभिः क्षालिताङ्गैः वियद्गतैः खेचरैः अतएव दिग्गजैरनधिगतान्यननुभूतचराणि चलद्भिश्चमूतुरगखुरैराहतम् अत एवोत्पतदुद्गच्छन्महीरजस्तेन स्नपनमभिषेचनं तेन यानि सुखानि तानि लेभिरे । कुञ्जराः पांशुवर्षणैरित्युदाहृतम् । अत्रापि दिग्गजानां रजःस्नपनासंबन्धेऽपि संबन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ६४ ॥

आकाशगङ्गामें स्नान करनेसे धुले हुए अङ्गोंवाले आकाशमें गमन करते हुए दिग्गजोंने पहले कभी नहीं प्राप्त किये हुए, चलते हुए सेनाके घोड़ोंके खुरोंसे आहत होनेसे उड़ती हुई भूमिकी धूलिसे स्नान करनेसे सुखों को पाया। (क्योंकि हाथियोंको धूलि–स्नान करनेसे अत्यन्त सुख मिलता है, वह सुख उन दिग्गजोंको पहले धूलिरहित आकाशसे गमन करने से पहले कभी नहीं मिला था) ॥ ६४ ॥

गजव्रजाक्रमणभरावनम्रया रसातलं यदखिलमानशे भुवा ।
नभस्तलं बहुलतरेण[1] रेणुना ततोऽगमत् त्रिजगदिवैकतां स्फुटम् ॥६५॥

गजेति ॥ यद्यस्माद्गजव्रजानामाक्रमणभरेण पादक्षेपगौरवेणावनम्रया भुवाखिलं रसातलं पातालमानशे व्याप्तम् । यद्यस्माच्च नभस्तलं बहुलतरेण रेणुना आनशे ततः कारणात् त्रिजगज्जगत्त्रयम् । 'तद्धितार्थः—' (२।१।५१) इत्यादिना समाहारद्विगुः । 'द्विगुरेकवचनम्' (२।४।१) । एकतां भूलोकतामिवागमत् । स्फुटमित्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ६५ ॥

हाथियोंके झुण्डके चलनेके बोझसे दबी हुई पृथ्वी जो सम्पूर्ण पातालमें धस गयी और सम्पूर्ण आकाश जो अत्यधिक धूलिसे व्याप्त हो गया, इस कारण मानो तीनों लोक (पाताललोक, भूलोक तथा स्वर्गलोक) मानो एक (भूलोक) रूप हो गये ॥ ६५ ॥

समस्थलीकृतविवरेण पूरिता [2]महीभृतां बलरजसा महागुहाः ।
रहस्त्रपाविधुरवधूरतार्थिनां नभःसदामुपकरणीयतां ययुः ॥ ६६ ॥

१. बहुलतरेण'……'त्रिभुवनमेकतामिव' इति 'बहुल'……'स्फुटं ततस्त्रिजगदच्छदेकताम्' इति च पा० । २. 'क्षमा' इति पा० ।

समेति ॥ समस्थलीकृतानि विवराणि निम्नस्थानानि येन तेन बलरजसा पूरिताः महीभृतां भूधराणां महागुहाः। रहो रहसि। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। त्रपया विधुराणां विलक्षाणां वधूनां रतं सुरतमर्थयन्त इति तदर्थिनां नभःसदां सुराणामुपकरणीयतामुपकारकत्वं ययुः। तासां रजःपूरणात् पुंसामन्धकरणत्वादिति भावः। 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३।३।११३) इत्यनीयरः कर्त्रर्थता। अत्र रजःपूरणस्य विशेषणगत्योपकारकहेतुत्वात्काव्यलिङ्गमेवं तस्तथोपकारकत्वासंबन्धेऽपि संबन्धोक्तेरतिशयोक्तिरिति संकरः ॥ ६६ ॥

निम्न भागों (या—गुफाओं) को स्थलके समान करनेवाली सेनाके धूलिसे भरी हुई पहाड़ोंकी कन्दराएँ, एकान्तमें लज्जासे रमणियोंके साथ सम्भोगको चाहनेवाले (विद्याधर आदि) खेचरोंके साधन बन गयी, (क्योंकि सेनाकी धूलिसे कन्दराएँ व्याप्त हो गयी थीं, अतः वहाँके कार्यको कोई नहीं देख सकता था) ॥ ६६ ॥

गते मुखच्छदपटसादृशीं दृशः पथिस्थिरो दधति घने रजस्यपि।
मदानिलैरधिमधुचूतगन्धिभिर्द्विपा द्विपानभिययुरेव रंहसा ॥ ६७ ॥

गत इति ॥ छाद्यतेऽनेनेति छदः। मुखस्य छदो मुखच्छदः। 'पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण' (३।३।११८) इति घप्रत्ययः 'छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य' (६।४।९६) इति ह्रस्वः। स चासौ पटश्च तत्सादृशीं तत्सादृश्यम्। ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्प्रत्यये 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (४।१।४१) इति ङीष्। स च 'ष्यञः षित्करणादीकारो बहुल'मिति वामनवचनाद्वैकल्पिकः। गते प्राप्ते। गजानां युद्धपूर्वकाले मुखावरणकारणात्तत्सदृशे घने सान्द्रे रजसि दृशो दृष्टेः पथो मार्गांस्तिरोदधति छादयति सत्यपि। अधिमधोरधिकमकरन्दस्य चूतस्येव गन्धो येषां तैः। 'उपमानाच्च' (५।४।१३७) इति गन्धस्येत्त्वे तदेकान्तग्रहणं तु व्यभिचारि। मदानिलैरभिज्ञानैर्द्विपा गजाः द्विपान्गजान्प्रति रंहसा वेगेनाभिययुरेव। अत्र तिरोहितदृष्टेरभियानविरोधस्य मदानिलैः परिहाराद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ६७ ॥

मुखको ढकनेवाले कपड़ेकी समानता को प्राप्त की हुई सघन धूलिके दर्शनशक्तिको नष्ट करते रहने पर भी अधिक परागयुक्त (आम की मञ्जरी) के समान गन्धवाली मदजलकी हवासे हाथी दूसरे हाथियोंके प्रति वेगसे (युद्धमें प्रवृत्त होनेके लिए) चल ही पड़े ॥ ६७ ॥

मदाम्भसा परिगलितेन सप्तधा गजाञ्जनः शमितरजश्चयानधः।
उपर्यवस्थितघनपांशुमण्डलानलोकयत्ततपटमण्डपानिव ॥ ६८ ॥

मदाम्भसेति ॥ सप्तधा 'करात्कटाभ्यां मेढ्राच्च नेत्राभ्यां च मदस्रुतिः' इति पालकाप्ये। सप्तभिः स्रोतोभिः परिगलितेन स्रुतेन मदाम्भसा अधः शमितो रजश्चयो यैस्तान् उपर्यवस्थितानि तथैव स्थितानि घनानि सान्द्राणि पांशुमण्डलानि पूर्वो-

१. 'तुल्यताम्' इति पा०।

स्थरजःपुञ्जा येषां तान्गजान् जनो लोकस्तता उपरि वितताः पटमण्डपा येषां तानि- वेत्युत्प्रेक्षा । अलोकयत् ॥ ६८ ॥

(सूंड़, दोनों कपोल, शिश्न, गुदा, दोनों नेत्र–इन) सात स्थानोंसे गिरते हुए मद- जलसे नीचेकी धूलि–समूहको नष्ट किये हुए तथा ऊपरमें (उड़कर) स्थित सघन धूलि–समूह- वाले हाथियोंको लोगोंने मानो उन हाथियोंके ऊपर चँदवा टांगा गया है ऐसा समझा ॥६८॥

अन्यूनोन्नतयोऽतिमात्रपृथवः पृथ्वीधरश्रीभृतः
स्तन्वन्तः कनकावलीभिरुपमां सौदामनीदामभिः ।
वर्षन्तः शममानयन्नुपलसच्छृङ्गारलेखायुधाः
काले कालियकायकालवपुषः पांसून् गजाम्भोमुचः ॥ ६९ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्र्यङ्के 'यदुवंश- क्षोभणो' नाम सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

अन्यूनेति ॥ अन्यूनोन्नतयो महोच्छ्रायाः अतिमात्रपृथवोऽत्यन्तविपुलाः अत एव पृथ्वीधरश्रीभृतः शैलशोभाधारिण इति निदर्शनालङ्कारः । कनकावलीभिराव- रणहेतुहेमराजिभिः करणैः । सुदाम्ना पर्वतेनैकदिशः सौदामन्यो विद्युतः ।'तेनैकदिक्' (४।३।११२) इत्यण्प्रत्यये ङीप् । ताभिर्दामभिरिव सौदामनीदामभिर्विद्युल्लताभि- रुपमां सादृश्यं तन्वन्तः । 'तडित्सौदामनी विद्युत्' इत्यमरः । 'अतुलोपमाभ्याम्–' इति सदृशवचनस्यैव निषेधादिह सादृश्यवाचित्वात्तृतीया । उपलसन्तः शृङ्गाराः सिन्दुरादिमण्डलान्येव लेखायुधानि सुरधनूंषि येषां ते तथोक्ताः । 'शृङ्गारः सुरते नाट्ये रसे च गजमण्डने । लेखो लेख्ये सुरे' इति च विश्वः । कालियस्य कालियना- गस्य कायवत्कालवपुषः कृष्णदेहाः । गजा एवाम्भोमुचो मेघाः काले योग्यकाले वर्षन्तो मदाम्बु मुञ्चन्तः पांशून् शमं शान्तिमानयन् प्रापयन् । रूपकालङ्कारः शार्दूलविक्रीडितं वृत्तमुक्तम् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितशिशुपालवध- काव्यव्याख्यायां सर्वंकषाख्यायां सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

अत्यन्त ऊँचे–ऊँचे (पक्षा०–अत्यधिक ऊंचे आकाशमें स्थित) अत्यन्त विशाल शरीर वाले (पक्षा०–आकृतिवाले), पर्वतकी शोभाको धारण करते हुए, सुवर्णभूषणोंसे बिजलीकी श्रेणियों की समानताको बढ़ाते हुए अर्थात् सुवर्णभूषणोंसे विद्युल्लताओंसे युक्त (मेघ) के समान शोभते हुए, शोभते हुए (सिन्दूरादि रचित) शृङ्गाररूपी इन्द्रधनुषवाले, कालिय सर्पके समान काले शरीरवाले हाथीरूपी मेघ यथासमय (मदजलको, पक्षा०–पानीको) बरसाते हुए धूलि को शान्त कर दिये ॥ ६९ ॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'यदुवंशक्षोभण' नामक सप्तदश सर्ग समाप्त हुआ ॥१७॥

अष्टादशः सर्गः

अथाग्रिमसर्गे तुमुलयुद्धवर्णनाय सेनयोर्मेलनं तावदाह—

सञ्जग्माते तावपायानपेक्षौ सेनाम्भोधी धीरनादौ रयेण ।
पक्षच्छेदात्पूर्वमेकत्र देशे वाञ्छन्तौ वा विन्ध्यसह्यौ निलेतुम् ॥ १ ॥

सञ्जग्माते इति ॥ अपायोऽपगमो युद्धादपसरणं तस्यानपेक्षौ तमनिच्छन्तौ । युद्धादनिवर्तिनावित्यर्थः । ईक्षतेः पचाद्यचि नञ्समासः । धीरनादौ गम्भीरघोषौ तौ सेनाम्भोधी सेनासागरौ । पक्षच्छेदात्पूर्वं पश्चात्तदसम्भवादिति भावः । एकत्र देशे एकस्थाने निलेतुं वस्तुम् । 'लीङ् गतौ' इति धातोस्तुमुन्प्रत्यये गुणः । वाञ्छन्ता-विच्छन्तौ सह्यविन्ध्यौ वा सह्यविन्ध्याख्यौ पर्वताविव । 'वा स्याद्विकल्पोपमयोः' इति विश्वः । सञ्जग्माते मिलितवन्तौ । सम्पूर्वाद्गच्छतेरकर्मकाल्लिटि 'समो गम्यृच्छि—' (१।३।२९) इत्यादिना आत्मनेपदम् । अत्र सह्यविन्ध्ययोः सपक्षयोरप्येकत्र मिल-नस्याप्रसिद्धस्य सम्भावनामात्रेणोक्तत्वादुपमानाप्रसिद्धेर्नोपमा किंतूत्प्रेक्षेति संक्षेपः । अस्मिन्सर्गे शालिनी वृत्तम् । 'शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

युद्धसे नहीं भगनेवाले तथा गम्भीर ध्वनिवाले वे दोनों सेना-समुद्र पङ्ख कटनेसे पहले एक स्थानपर निवास करनेके लिये चाहते हुए विन्ध्य तथा सह्य पर्वतके समान वेगपूर्वक (एक दूसरेसे) मिल गये ॥ १ ॥

'सेनाम्भोधी सञ्जग्माते' (१८।१) इत्युक्तं तत्सङ्गतिप्रकारं तावद्वर्णयति—

पत्तिः पत्तिं वाहमेयाय वाजी नागं नागः स्यन्दनस्थो रथस्थम् ।
इत्थं सेना वल्लभस्येव रागादङ्गेनाङ्गं प्रत्यनीकस्य भेजे ॥ २ ॥

पत्तिरिति ॥ पत्तिः पदातिः पत्तिं पदातिम् । 'पदातिपत्तिपदगपादातिकपदा-तयः' इत्यमरः । एयाय प्राप । आङ्पूर्वादिणो लिट् । वाज्यश्वो वाहमश्वमेयाय । 'वाजिवाहार्वगन्धर्व—' इत्यमरः । नागो गजो नागमेयाय । स्यन्दनस्थो रथस्थमे-याय, न तु व्युत्क्रमेण, धर्मयुद्धत्वादिति भावः । इतीत्थमुक्तरीत्या सेना रागाद्रण-रागात् , रतिरागाच्च । अङ्गेन स्वाङ्गेन पत्त्यादिना, करचरणादिना च वल्लभस्य प्रियतमस्येव प्रत्यनीकस्य प्रतिबलस्य । 'वरूथिनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्' इत्यमरः । अङ्गं पत्त्यादिकं, करचरणादिकं च भेजे । यथा कान्ता कान्तस्योरुमूरुणा करं करेण मुखं मुखेन भजति तथा सेना प्रतिसैन्यस्य पत्तिं पत्तिना अश्वमश्वेनेत्या-दिक्रमेण भेजे न तु व्युत्क्रमेणेत्यर्थः । वल्लभस्येवेत्युपमया समरसुरतयोः समरसत्वं व्यज्यते ॥ २ ॥

---

१. 'सह्यविन्ध्यौ' इति पा० ।

(दोनों सेनाओंके परस्परमें मिलनेका वर्णन करते हैं) पैदल पैदलमें, घोड़ा घोड़ेमें, हाथी हाथीमें, रथपर चढ़ा हुआ रथपर चढे हुए में मिल गया; इस प्रकार सेनाने युद्ध के अनुरागसे शत्रुके (पैदल आदि) सेनाङ्गोंको अपने पैदल आदि सेनाङ्गोंसे उस प्रकार प्राप्त किया, जिस प्रकार कोई रमणी प्रियतमके (साथ रतिविषयक) अनुरागसे उसके हाथ-पैर आदि प्रत्येक अङ्गोंको अपने हाथ-पैर आदि अङ्गोंसे प्राप्त करती है अर्थात् अपने प्रत्येक अङ्गोंको प्रियतमके प्रत्येक अङ्गोंसे मिलाकर रति करना चाहती है ॥ २ ॥

रथ्याघोषैर्बृंहणैर्वारणानामैक्यं गच्छन् वाजिनां ह्रेषया च ।
व्योमव्यापी सन्ततं दुन्दुभीनामव्यक्तोऽभूदीशितेव प्रणादः ॥ ३ ॥

रथ्येति ॥ सन्ततं व्योमव्यापी गगनस्पृक्, अन्यत्र सर्वगत इत्यर्थः। दुन्दुभीनां रणभेरीणां प्रणादो महाघोषः। 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (८।४।१४) इति णत्वम्। रथानां समूहो रथ्या। 'त्रिषु द्वैपाद्यो रथ्या रथकट्या रथव्रजे' इत्यमरः। 'खलगोरथात्' (४।२।५०) इति यत्प्रत्ययः समूहार्थे। तासां घोषैः वारणानां बृंहणैः कण्ठघोषैः। 'बृंहणं गजगर्जितम्' इति वैजयन्ती। वाजिनामश्वानां ह्रेषया ह्रेषणेन च। 'ह्रेषा ह्रेषा च निस्वनः' इत्यमरः। 'गुरोश्च हलः' (३।३।१०३) इत्यप्रत्यये टाप्। ऐक्यं मेलनं गच्छन्। अन्यत्र तत्त्वम्पदार्थशोधनादद्वितीयतां गच्छन्। ईशिता ईशयिता ईश्वरत्वोपाधिमान्परमात्मेव। ईशेस्तृच्। अव्यक्तोऽभूत् अयं दुन्दुभिघोष इति दुर्भेदो बभूव। अन्यत्र जीवेश्वरोपाधिविलयात् 'अयमीश्वरः, अयं जीव' इति भेदरहितोऽभूदित्यर्थः। अत्रैक्यगमनस्य विशेषणगत्या अव्यक्तहेतुत्वात् काव्यलिङ्गमुपमाङ्गमिति सङ्करः ॥ ३ ॥

रथ-समूहके शब्दोंसे, हाथियोंके चिग्घाड़नेसे, घोड़ोंकी हिनहिनाहटसे एकताको प्राप्त करता हुआ सर्वदा आकाशस्पर्शी युद्धकी भेरियोंका महाघोष इस प्रकार अव्यक्त (यह रथ-समूहका शब्द है, यह हाथीके चिग्घाड़नेका शब्द है—इत्यादि पृथक्-पृथक् नहीं ज्ञात होने वाला) हो गया; जिस पकार सर्वतो व्याप्त एवं अभेदको प्राप्त होनेवाला ब्रह्मरूप महाप्रणाद अव्यक्त (यह जीव है, यह ईश्वर है इस प्रकार उपाधिके नाश होनेसे भेदशून्य) हो जाता है॥

रोषावेशाद्गच्छतां प्रत्यमित्रं दूरोत्क्षिप्तस्थूलबाहुध्वजानाम् ।
दीर्घास्तिर्यग्वैजयन्तीसदृश्यः पादातानां भ्रेजिरे खड्गलेखाः ॥ ४ ॥

रोषावेशादिति ॥ रोषावेशात्प्रत्यमित्रमभिशत्रुम् । आभिमुख्येऽव्ययीभावः। गच्छतां धावतां द्रवतां दूरादुत्क्षिप्ता उद्यताः स्थूलाः पीवराः बाहुध्वजाः ध्वजस्तम्भा इव बाहवो येषां तेषां पादातानां पदातिसमूहानाम्। 'पादातं पत्तिसंहतिः' इत्यमरः। 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' (३।३।१०४)। तिर्यग्दीर्घाः। तिर्यगायता इत्यर्थः। लेखा

१. 'बृंहणा वार—' इति पा० । २. 'क्रोधावेशाद्धावतः……ध्वजस्य' इति पा० ।
३. 'पादातस्य' इति पा० :

इव खड्गाः खड्गलेखाः वैजयन्तीसदृश्यः । पताकासदृश्यः सत्य इत्यर्थः । 'वैजयन्ती पताका स्यात्'इत्यमरः । 'दृशेः समानान्ययोश्च'(वा०) इति 'क्स च वक्तव्यः' इति समानशब्दोपपदाद् दृशेः क्सप्रत्ययः । 'दृक्षे चेति वक्तव्यम्' (वा०) इति समानस्य सभावः । भ्रेजिरे रेजिरे । 'भ्राजृ दीप्तौ' इति धातोः कर्तरि लिट् । 'फणां च सप्तानाम्' (६।४।१२५) इति विकल्पादेत्वाभ्यासलोपौ । आर्थीयमुपमा ॥ ४ ॥

क्रोधके आवेशसे शत्रुओंके सामने दौड़ते हुए पैदल शूरवीरोंके दूरसे ही ऊपर उठायी हुई ध्वजाके समान मोटे-मोटे बाहुओंमें तिरछी उठायी हुई तलवारें झण्डोंके समान शोभने लगीं ॥ ४ ॥

वध्रीबद्धा धौरितेन प्रयातामश्वीयानामुच्चकैरुच्चलन्तः[1] ।
रौक्मा रेजुः स्थासका मूर्तिभाजो दर्पस्येव व्याप्तदेहस्य शेषाः ॥५॥

वध्रीति ॥ धौरितेन धौरिताख्येन गतिविशेषेण प्रयातां धावताम् । यातेर्लटः शत्रादेशः । अश्वीयानामश्वसमूहानाम् । 'केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम्'(४।२।४८) इति छप्रत्ययः । उच्चकैरुच्चलन्तो गतिवशादूर्ध्वमुत्पतन्तः वर्धन्ते इति वध्र्राणि पर्याणबन्धनवरत्राः । 'वध्रं त्रपुवरत्रयोः' इति विश्वः । 'वृधुवधिवपिभ्यो रन्' इति रन्प्रत्ययः । लघूपधगुणो रपरः । तेष्वाबद्धाः स्थापिताः रौक्माः सौवर्णाः स्थासकाः बुद्बुदाकारमण्डलानि व्याप्तदेहस्य सर्वाङ्गीणस्य मूर्तिभाजो मूर्तिभृतः दर्पस्यान्तरस्य तेजसः शेषाः अन्तरमानाद्बहिर्निर्गता अतिरेका इव रेजुरित्युत्प्रेक्षा ॥ ५ ॥

दुलकी (या–सरपट) चालसे चलते हुए घोड़ोंके झुण्डोंके ऊपरकी ओर उछलते हुए तथा रस्सीमें बँधे हुए सोनेके बने स्थासक (पानीके बुल–बुलेके समान गोलाकार बने हुए भूषण–विशेष), सम्पूर्ण देहमें व्याप्त मूर्तिमान् अभिमानके शेष (अत्यधिक होनेसे शरीरके भीतर नहीं समाकर बाहर निकले हुए) के समान शोभते थे ॥ ५ ॥

सान्द्रत्वक्कास्तल्पलाश्लिष्टकक्षा[2] आङ्गीं शोभामाप्नुवन्तश्चतुर्थीम् ।
कल्पस्यान्ते [3]मारुतेनोपनुन्नाश्चेलुश्चण्डं गण्डशैला इवेभाः ॥ ६ ॥

सान्द्रेति ॥ सान्द्रत्वक्काः सान्द्रवर्माणः । शैषिकः कप्प्रत्ययः । तल्पलाः पृष्ठवंशास्तेषु श्लिष्टाः कक्षाः मध्यबद्धवरत्रा येषां ते । 'दूष्या कक्षा वरत्रा स्यात्' इत्यमरः । गजानां विंशत्युत्तरशतायुषां द्वादश दशा भवन्ति तत्र चतुर्दशारूढा प्रौढशोभा । तदेवाह—अथ चतुर्थीमाङ्गीं शारीरीं शोभामाप्नुवन्तः । चत्वारिंशद्वर्षदेश्या इत्यर्थः । इभा गजाः कल्पस्यान्ते मारुतेनोपनुन्नाः प्रलयमारुतप्रेरिताः गण्डशैलाः स्थूलोपला इव चण्डं तीव्रं चेलुः प्रतस्थिर इत्युपमा ॥ ६ ॥

सघन कवचवाले, पृष्ठवंशसे सटाकर बाँधे गये रस्सेवाले शरीर–सम्बन्धी चौथी शोभाको

१. '—रुच्छलन्तः' इति पा० । २. '—कक्ष्या' इति पा० । ३. 'मारुतेन प्रणुन्नाश्चेलुश्चण्डा' इति पा० ।

प्राप्त अर्थात् चालिस वर्षकी अवस्थावाले हाथी, प्रलयकालमें वायुसे सञ्चालित (पर्वतोंके) बड़े-बड़े चट्टानोंके समान चल पड़े।

विमर्श—हाथियोंकी पूर्णायु १२० वर्ष होती है, इसमें १२ दशाएँ होती हैं; अतएव चतुर्थी दशावाले हाथीकी अवस्था ४० वर्ष तक जाती है, ऐसा गजशास्त्रका सिद्धान्त है ॥६॥

संक्रीडन्ती तेजिताश्वस्य रागादुद्यम्यारांमग्रकायोत्थितस्य।
रंहोभाजामक्षधूः स्यन्दनानां [1]हाहाकारं प्राजितुः प्रत्यनन्दत् ॥ ७ ॥

संक्रीडन्तीति ॥ संक्रीडन्ती सङ्घर्षात्कूजन्ती। 'समोऽकूजने च [3]वक्तव्यम्' (वा०) इति वचनात्कूजने 'क्रीडोऽनुसम्परिभ्यश्च' (१।३।२१) इति नात्मनेपदम्। रंहोभाजां वेगभाजां स्यन्दनानां रथानामक्षस्य चक्राधारकाष्ठस्य धूरग्रमक्षधूः। 'अक्षं रथाङ्ग आधारे' इति वैजयन्ती। 'अनक्षे' इति निषेधात् 'ऋक्पूः—' (५।४।७४) इत्यादिना न समासान्तः। रागात् आरां प्रतोदमुद्यम्य तेजिता उत्साहिता अश्वा येन तस्य अग्रं चासौ कायश्च स उत्थितो यस्य तस्य। उत्थितपूर्वकायस्येत्यर्थः। आहिताग्न्यादित्वात्साधुः। प्राजितुः सारथेः। 'नियन्ता प्राजिता यन्ता सूतः क्षत्ता च सारथिः' इत्यमरः। हाहाकारमुत्साहवर्धनार्थं हाहाशब्दम्। एवकार इत्यत्रैवग्रहणस्योपलक्षणत्वादन्यत्रापि यथादर्शनं शब्दनिर्देशात्कारप्रत्ययः। अथवा हाहाकारं हाहाकरणम्। भावे घञ् प्रत्ययः। प्रत्यनन्दत् साधु साध्वित्यन्वमोदत्। किमित्युत्प्रेक्षा ॥७॥

शब्द करती हुई वेगसे चलते हुए रथोंकी धुरियाँ, (युद्धविषयक) स्नेहके चाबुकको उठाकर घोड़ोंको तेज किये हुए तथा शरीरके पूर्वार्द्ध भागको उठाये हुए सारथिके 'हा-हा' शब्दको मानो अनुमोदन कर रही थीं। (अथवा—अत्यन्त दूर (ऊँचे) तक शरीरके पूर्वार्द्ध भागको उठाये हुए एवं घोड़ोंके तेज किये हुए सारथिके···) ॥ ७ ॥

कुर्वाणानां [4]साम्परायान्तरायं भूरेणूनां मृत्युना मार्जनाय।
सम्मार्जन्यो नूनमुद्धूयमाना भान्ति स्मोच्चैः केतनानां पताकाः ॥८॥

कुर्वाणानामिति ॥ उच्चैरुन्नताः केतनानां ध्वजस्तम्भानां पताका वैजयन्त्यः साम्परायान्तरायं युद्धविघ्नं कुर्वाणानाम्। 'अनीकं साम्परायिकम्' इत्यमरः। भूरेणूनां मार्जनाय प्रमार्जनार्थं मृत्युनान्तकेनोद्धूयमानाः प्रकम्प्यमानाः सम्मार्जन्यः शोधन्य इव भान्ति स्म। 'सम्मार्जनी शोधनी स्यात्' इत्यमरः। नूनमित्युत्प्रेक्षा ॥

ऊँची-ऊँची ध्वजाओंकी पताकाएँ युद्धमें विघ्न करती हुई धूलियोंको बुहारने (दूर करने) के लिए मृत्युके द्वारा चलाये गये झाडुओंके समान शोभती थीं ॥ ८ ॥

उद्यन्नादं धन्विभिर्निष्ठुराणि स्थूलान्युच्चैर्मण्डलत्वं दधन्ति।
आस्फाल्यन्ते कार्मुकाणि स्म कामं हस्त्यारोहैः कुञ्जराणां शिरांसि ॥९॥

---

१. '—दग्रकायो—' इति पा०। २. 'हाकारं तु' इति पा०। ३. 'च वक्तव्यम्' इत्यधिकः पा०। ४. 'संपराया—' इति पा०।

उद्यन्नादमिति ॥ धन्विभिर्धनुष्मद्भिः । व्रीह्यादित्वादिनिः प्रत्ययः । निष्ठुराणि कर्कशानि स्थूलानि पीवराण्युच्चैरुन्नतानि मण्डलत्वं दधन्ति वर्तुलत्वं दधानानि । एकत्राकर्षणादन्यत्र स्वभावाच्चेति भावः । कर्मणि प्रभवन्तीति 'कर्मण उकञ्' (५।१।१०३) कार्मुकाणि धनूंषि । उद्यन्नादमुज्जृम्भमाणघोषं यथा तथा काममास्फालयन्ते स्म पाटवपरीक्षार्थं पाणिभिरास्फालितानि । हस्तिनं रोहन्तीति हस्त्यारोहैर्निषादिभिः । कर्मण्यण् । कुञ्जराणां शिरांसि आस्फालयन्ते स्म । उत्साहार्थमिति भावः । अत्र कार्मुकाणां कुञ्जरशिरसां च प्रकृतानामेव निष्ठुरत्वादिविशेषणसाम्येनौपम्यावगमात्केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता ॥ ९ ॥

धनुर्धारियोंने, कड़े, मोटे, बड़े तथा (खीचनेसे) गोलाकार (पाटवपरीक्षार्थ) होते हुए धनुषोंको सम्यक् प्रकार से ध्वनित करते हुए हाथोंसे आस्फालित किया और महावतोंने कर्कश, बड़े ऊँचे तथा (स्वभावतः) गोलाकार हाथियोंके कुम्भस्थलों को हाथोंसे आस्फालित किया (उत्साहवर्द्धनार्थ थपथपाया) ॥ ९ ॥

घण्टानादो निस्वनो डिण्डिमानां ग्रैवेयाणामारवो बृंहितानि ।
आमेतीव प्रत्यवोचन् गजानामुत्साहार्थं वाचमाधोरणस्य ॥ १० ॥

घण्टानाद इति ॥ घण्टानादः किङ्किण्यादिघोषः डिण्डिमानां वाद्यविशेषाणां निस्वनः । ग्रीवासु भवानां ग्रैवेयाणां कण्ठशृंखलानां ग्रीवाभ्य एवेति ढक् प्रत्ययः । आरवः बृंहितानि बृंहणानि गजानाम् उत्साहार्थमाधोरणस्य हस्तिपकस्य । 'आधोरणा हस्तिपकाः' इत्यमरः । 'वाचं बृंहणादिशब्दम् आमेति प्रत्यवोचन्निवैवमेवेत्यनुकूलमूचिर इवेत्युत्प्रेक्षा । 'आमानुगुण्ये स्मरणे' इत्यमरः ॥ १० ॥

(हाथीके दोनों ओर लटकती हुई) घण्टाओंका नाद, नगाड़ोंका शब्द, गर्दनकी जंजीरोंकी झनकार और हाथियोंका चिंघाड़ना—ये सब, हाथियोंके उत्साहको बढ़ानेके लिए (कहे गये) महावतके वचनको मानो 'हाँ, ऐसा ही है' इस प्रकार कह रहे थे ॥ १० ॥

यातैश्चातुर्विध्यमस्त्रादिभेदादव्यासङ्गैः सौष्ठवाल्लाघवाच्च ।
शिक्षाशक्तिं प्राहरन्दर्शयन्तो मुक्तामुक्तैरायुधैरायुधीयाः ॥ ११ ॥

यातैरिति ॥ आयुधेन जीवन्तीत्यायुधीया आयुधजीविनः । 'शस्त्राजीवे काण्डपृष्ठायुधीयायुधिकाः समाः' इत्यमरः । 'आयुधाच्छ च' (४।४।१४) इति छप्रत्ययः । शिक्षाशक्तिमभ्यासपाटवं दर्शयन्तः अस्त्रादिभेदादस्त्रमहास्त्रादिकभेदाच्चातुर्विध्यं यातैः प्राप्तैः । सुष्ठुभावः सौष्ठवं नैशित्यादिगुणवत्त्वं तस्मात् । उद्गात्रादित्वादञ्प्रत्ययः । लाघवाद्वेगवत्त्वाच्च 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' (५।१।१३१) इत्यण्प्रत्ययः । अव्यासङ्गैरप्रतिषिद्धैः मुच्यन्त इति मुक्तानि शरादीनि न मुच्यन्त इत्यमुक्तानि खड्गादीनि च तैस्तैर्मुक्तामुक्तैरिति द्वन्द्वः । आयुधैः प्राहरन् । स्वभावानुप्रासयोः संसृष्टिः ॥ ११ ॥

---

१. '—शक्तीः' इति पा० ।

शिक्षाके सामर्थ्यको प्रदर्शित करते हुए आयुधजीवी शूरवीरोंने अस्त्र आदि (अस्त्र, अपास्त्र, व्यस्त्र और महास्त्र) के भेदसे चार प्रकारके बने हुए तीक्ष्णता आदि गुणोंसे तथा वेगसे नहीं रुकनेवाले, मुक्त (फेंक कर चलाये जानेवाले बाण आदि) तथा अमुक्त (हाथमें पकड़कर चलाये जानेवाले (खड्ग, भाला, गदा आदि) आयुधोंसे प्रहार करने लगे।

विमर्श—धनुषको 'अस्त्र', उसके वहिःसन्धानको 'अपास्त्र', परिघ, फरसा आदि को 'व्यस्त्र' और आग्नेय, वायव्य, गारुड आदि हथियारोंको 'महास्त्र' कहते हैं ॥ ११ ॥

रोषावेशादाभिमुख्येन कौचित्पाणिग्राहं रंहसैवोपयातौ।
हित्वा हेतीर्मल्लवन्मुष्टिघातं घ्नन्तौ बाहूबाहवि व्यासृजेताम् ॥ १२ ॥

रोषावेशादिति ॥ कौचिद्योधौ रोषावेशाद्रोषपारवश्यादाभिमुख्येन रंहसा वेगेनैवोपयातौ मिथः प्रत्यासन्नौ अत एव पाणिग्राहमन्योन्यं पाणिं गृहीत्वा। 'द्वितीयायां च' (३।४।५३) इति णमुल्प्रत्ययः। हेतीः शस्त्राणि हित्वा त्यक्त्वा। वैकल्यादिति भावः। 'हेतिस्तु शस्त्रे द्वयोः' इति केशवः। मल्लवन्मल्लाभ्यां तुल्यम्। 'तेन तुल्यम्' (५।१।११५) इति वतिप्रत्ययः। मुष्टिघातं मुष्टिभिर्हत्वा। 'करणे हनः' (३।४।३७) इति णमुल्प्रत्ययः। घ्नन्तौ प्रहरन्तौ। हन्तेर्लटः शत्रादेशः। कषादित्वादनुप्रयोगः। मुष्टिभिर्घ्नन्ताविन्यर्थः। बाहुभ्यां बाहुभ्यां प्रहृत्य प्रवृत्तमिदं युद्धं बाहूबाहवि बाहुयुद्धम्। 'तत्र तेनेदमिति सरूपे' (२।२।२७) इति बहुव्रीहौ 'इच्कर्मव्यतिहारे' (५।४।१२७) इतीच्प्रत्ययः समासान्तः। 'अन्येषामपि दृश्यते' (६।३।१३७) इति दीर्घः। तिष्ठद्गुप्रभृतिषु पाठादव्ययीभावत्वादव्ययत्वम्। तत्र व्यासृजेतां व्यासक्तवन्तौ। 'कर्तरि कर्मव्यतिहारे' (१।३।१४) इत्यात्मनेपदम्। मल्लवदिति तद्धितगा श्रौती पूर्णोपमा ॥ १२ ॥

क्रोधके आवेशसे वेगपूर्वक सामने निकटमें आये हुए दो वीर हथियारोंको छोड़कर पहलवानोंके समान मुक्कोंका प्रहार करते (एक दूसरेको मुक्कोंसे मारते) हुए बाहुयुद्ध करने लगे ॥ १२ ॥

शुद्धाः सङ्गं न कचित्प्राप्नवन्तो[1] दूरान्मुक्ताः शीघ्रतां दर्शयन्तः।
अन्तःसेनं विद्विषामाविशन्तो युक्तं चक्रुः सायका वाजितायाः ॥ १३ ॥

शुद्धा इति ॥ शुद्धा निर्विषाः। 'न कर्णिभिर्नापि दिग्धैर्नाग्निज्वलिततेजनैः' (मनु० ७।९०) इति निषेधादिति भावः। अन्यत्र जात्येत्यर्थः। क्वचित्कुत्रापि सङ्गं प्रतिबन्धं न प्राप्नवन्तः न प्राप्ताः। दुर्वारा इत्यर्थः। दूरान्मुक्ता दूरत एव विसृष्टाः। 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' (२।१।३९) इति समासः। 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' (६।३।२) इत्यलुक्। शीघ्रतां जवनत्वं दर्शयन्तः। विद्विषां सेनास्वन्तः

---

१. 'प्राप्नुवन्तः' इति पा०।

अन्तःसेनम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । आविशन्तः । सेनामध्यं प्रविशन्त इत्यर्थः । सायका बाणाः वाजितायाः पत्रवत्तायाः, अश्वत्वस्य च । 'वाजो निःस्वनपत्रयोः' इति विश्वः । युक्तमनुरूपं कर्म चक्रुः । एवंविधसेनाप्रवेशस्य वाजिनामेव सम्भवादिति भावः । अत्राभिधायाः प्रकृतपत्रतामात्रोपक्षीणत्वाद्वाजिताशब्देन प्रकृतस्यैव प्रतीतेः ध्वनिरेवेति न श्लेषावकाशः । किन्तु शुद्धादिपदार्थपुञ्जविशेषणगत्या सायकानां युक्तकारिताहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ १३ ॥

शुद्ध (विषमें नहीं बुझाये गये, पक्षा०—स्वभावतः विषहीन), कहीं भी नहीं रुकते हुए, दूर से छोड़े गये, शीघ्रताको दिखलाते हुए और शत्रुओंकी सेनाओंके भीतर प्रवेश करते हुए बाणों ने पङ्खयुक्त होने (पक्षा०—अश्वत्व) के अनुकूल कार्य किया ॥ १३ ॥

आक्रम्याजेरग्रिमस्कन्धमुच्चैरास्थायाथो वीतशङ्कं शिरश्च ।
हेलालोला वर्त्म गत्वातिमर्त्यं द्यामारोहन्मानभाजः सुखेन ॥ १४ ॥

आक्रम्येति ॥ मानभाजोऽभिमानवन्तः । उच्चैरुन्नतम् आजेर्युद्धस्याग्रिमस्कन्धमग्रभागमंसप्रदेशं चाक्रम्यारुह्य वीतशङ्कं शिरःसम्मुखमुत्तमकायं चास्थायारुह्य हेलासु प्रयुद्धक्रीडासु, लीलासु च लोला उत्सुकाः सन्तः अतिमर्त्यं वर्त्म गत्वा । अमानुषं युद्धं कृत्वेत्यर्थः । अन्यत्रामानुषगम्यमारोहणमार्गं गत्वा सुखेनानायासेन द्यां स्वर्गमभ्रङ्कषं गिरिशिखरादिक्रीडास्थानम् । 'द्यौः स्वर्गसुखवर्त्मनोः' इति विश्वः । आरोहन्नारूढा 'युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः' (मनु० ७।८९) इति मनुस्मरणादिति भावः । यथा कश्चित्स्कन्धमूर्धारोहणक्रमेण किञ्चिद्दुरारोहमद्रितटादिकमारोहति तद्वदिति प्रतीतेर्विशेषणमहिम्नागता समासोक्तिः ॥ १४ ॥

मानो वीर लोग ऊंचे, युद्धके अग्रिम भागमें आक्रमण कर (पक्षा०—कन्धेपर चढ़कर) बादमें निर्भयतापूर्वक शिरपर (सम्मुखमें, पक्षा०—मस्तक पर) स्थित होकर युद्धक्रीडा (पक्षा०—विलास-विशेष) में उत्सुक होते हुए मानवातिशायी मार्गको प्राप्तकर अर्थात् (मानवशक्तिके बाहर युद्धकर, पक्षा०—जहाँ मनुष्य नहीं पहुँच सकता ऐसे मार्गको प्राप्तकर) सुखपूर्वक स्वर्ग (पक्षा०—पर्वतादिके आकाशस्पर्शी उन्नत प्रदेश) को चढ़ गये ॥ १४ ॥

रोदोरन्ध्रं व्यश्नुवानानि लोलैरङ्गस्यान्तर्मापितैः स्थावराणि ।
केचिद्गुर्वीमेत्य संयन्निषद्यां क्रीणन्ति स्म प्राणमूल्यैर्यशांसि ॥ १५ ॥

रोदोरन्ध्रमिति ॥ केचिद्वीराः गुर्वीं महतीं संयतो युध एव निषीदन्त्यस्यामिति निषद्यामापणम् । 'आपणस्तु निषद्यायाम्' इत्यमरः । 'संज्ञायां समजनिषद–' (३।३।९९) इत्यादिना क्यप् । एत्य प्राप्य । आङ्पूर्वादिणः क्त्वो ल्यप् । देहस्यान्तरभ्यन्तरे मापितैः परिच्छिन्नैः । मातेर्माङो वा ण्यन्तात्कर्मणि क्तः । 'अतिह्री–'

१. '—रेत्य संयन्निषद्याः' इति पा० ।

(७।३।३६) इत्यादिना पुमागमः। लोलैरस्थिरैः प्राणैरेव मूल्यैः प्राणमूल्य रोदसो· द्यावापृथिव्यो रन्ध्रमन्तरालं व्यश्नुवानानि व्याप्नुवन्ति । अश्नोतेर्लटः शानजा· देशः । स्थावराणि । यशांसि क्रीणन्ति स्म । स्वीचक्रुरित्यर्थः । अत्र न्यूनैः प्राणैस्त· तोऽधिकयशःपरिवर्तनान्न्यूनपरिवृत्तिरलङ्कारः। 'समन्यूनाधिकानां च यदा विनि· मयो भवेत् । साकं समाधिकन्यूनैः परिवृत्तिरसौ मता' ॥ १५ ॥

कुछ शूरवीरोंने युद्धरूपी बड़े बाजारमें जाकर देहके भीतर में स्थित चञ्चल प्राणरूपी मूल्योंसे पृथ्वी तथा आकाशमें व्याप्त स्थिर कीर्तियोंको खरीदा अर्थात् शरीरके भीतरमें स्थित होनेसे छोटे एवं चञ्चल प्राणों को देकर, पृथ्वी तथा आकाशके मध्यमें व्याप्त होनेसे अत्यन्त विशाल एवं स्थायी यशको प्राप्त किया। बड़े बाजारमें गया हुआ चतुर ग्राहक भी साधारण मूल्यसे उत्तम वस्तुको खरीदता है ॥ १५ ॥

वीर्योत्साहश्लाघि कृत्वाऽवदानं सङ्ग्रामाग्रे मानिनां लज्जितानाम् ।
अज्ञातानां शत्रुभिर्युक्तमुच्चैः श्रीमन्नाम श्रावयन्ति स्म नग्नाः ॥ १६ ॥

वीर्योत्साहेति ॥ सङ्ग्रामाग्रे रणाग्रे वीर्योत्साहाभ्यां श्लाघ्यते इति श्लाघि विक्र· माहंकारशोभि अवदानं महत्कर्म कृत्वा । 'अवदानं कर्म वृत्तम्' इत्यमरः । लज्जिता· नाम् । मानित्वात्स्वनामाख्याने संकोचवतामित्यर्थः । शत्रुभिरज्ञातानामज्ञातनाम· कानां मानिनां मानशालिनां शूराणां सम्बन्धि श्रीमत् शौर्यश्रीयुक्तं नाम नग्ना: वन्दिनः । 'वन्दिनि क्षपणे नग्नः' इति विश्वः । उच्चैः श्रावयन्ति स्म । अयमसा· विति कथयामासुरित्यर्थः । युक्तम् । सर्वमेतदुचितमित्यर्थः । अत्र लज्जामानाज्ञात· योर्विशेषणगत्या वन्दिश्रवणहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ १६ ॥

युद्धके अग्रिम भागमें पराक्रम तथा उत्साहसे प्रशंसनीय कार्य करके (मानी होनेके कारणसे अपना नाम कहनेमें) सङ्कोच करनेवाले तथा शत्रुओंसे अज्ञात नामवाले मानी वीरोंके वीर श्रीयुक्त नामको बन्दीलोग सुना रहे थे, यह उचित ही था ॥ १६ ॥

आधावन्तः सम्मुखं धारितानामन्यैरन्ये तीक्ष्णकौक्षेयकाणाम् ।
वक्षःपीठैरात्सरोरात्मनैव क्रोधेनान्धाः प्राविशन्पुष्कराणि ॥ १७ ॥

आधावन्त इति ॥ क्रोधेनान्धा अपश्यन्तोऽन्ये भटाः आधावन्तोऽभिमुखमाप· तन्तः सन्तः अन्यैः सैन्यैः प्रतिद्वन्द्वाभिसम्मुखं धारितानां धृतानां तीक्ष्णकौक्षेयका· णां निशितासीनाम् । 'कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु' (४।२।९६) इति ढकञ् प्रत्ययः । पुष्कराणि फलानि । खड्गमुखानीत्यर्थः । 'पुष्करं तूर्यवक्त्रे च काण्डे खड्ग· फलेऽपि च' इति विश्वः । वक्षांसि पीठानीव वक्षःपीठैर्वक्षस्थलैः आत्सरोरामुष्टेः । 'त्सरुः खड्गादिमुष्टौ स्यात्' इत्यमरः । 'आङ् मर्यादाभिविध्योः' (२।१।१३) इति विकल्पा·

१. '—त्सेक—' इति पा० ।

द्वसमासः। आत्मना स्वयमेव। परप्रयत्नं विनेत्यर्थः। प्राविशन् प्रविष्टाः। अत्र क्रोधान्धविशेषणगत्या पुष्करप्रवेशहेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः॥ १७॥

शत्रुके सामने दौड़ते हुए क्रोधसे अन्धे (सामने नहीं देखते हुए) दूसरे शूरवीरलोग, सामने पकड़ी गयी तीक्ष्ण तलवारोंके अग्रभागोंको वक्षस्थलोंसे स्वयमेव मूठतक प्रविष्ट हो गये अर्थात् वे क्रोधान्ध होकर शत्रुके सामने इतने वेगसे दौड़े कि सामने शत्रुके द्वारा पकड़ी गयी तलवारकी नोक उसकी मूठतक उनकी छातीमें शत्रुके प्रयत्न नहीं करनेपर भी घुस गयी॥ १७॥

मिश्रीभूते तत्र सैन्यद्वयेऽपि प्रायेणायं [1]व्यक्तमासीद्विशेषः।
आत्मीयास्ते ये पराञ्चः पुरस्तादभ्यावर्ती संमुखो यः परोऽसौ॥ १८॥

मिश्रीभूत इति॥ तत्र युद्धे सैन्यद्वयेऽपि मिश्रीभूते मिलिते सति प्रायेणायं विशेषोऽसाधारणधर्मो व्यक्तमासीत्। क इत्याह—पुरस्तादग्रे ये पराञ्चः पराङ्मुखाः। परेऽपीति भावः। ते आत्मीयाः। अवध्या इत्यर्थः। 'न भीतं न परावृत्तम्' इति वध-निषेधश्रवणात्। यः पुरस्तादभ्यावर्ती परावर्ती सम्मुखोऽभिमुखः। स्वकीयोऽपीति भावः। असौ परः शत्रुर्वध्य इत्यर्थः। प्राणलुब्धस्य स्वामिद्रोहित्वादित्यर्थः॥ १८॥

उन दोनों सेनाओंके परस्परमें मिश्रित हो जानेपर भी यह असाधारण कार्य अवश्य ही हुआ कि—जो पीठ दिखानेवाले शत्रु थे वे आत्मीय जन (स्वजन अर्थात् अवध्य) हो गये तथा जो अपने सम्मुख अर्थात् शत्रुओंकी ओर पीठ कर भागता हुआ स्वजन था, वह शत्रु अर्थात् वध्य हुआ॥ १८॥

सद्वंशत्वादङ्गसंसङ्गिनीत्वं नीत्वा कामं गौरवेणावबद्धा।
नीता हस्तं वञ्चयित्वा परेण द्रोहं चक्रे कस्यचित्स्वा कृपाणी॥ १९॥

सदिति॥ सद्वंशत्वाच्छुद्धाकरत्वात्कुलीनत्वाच्चाङ्गसंसङ्गिनीत्वमङ्गसम्बन्धित्वं नीत्वा। अगुणत्वविवक्षायां 'त्वतलोर्गुणवचनस्य' (वा०) इति न पुंवद्भावः। कामं गौरवेणादरेणावबद्धा संयता च कस्यचित्स्वा स्वकीया कृपाणी असिलता। परेणान्येन वञ्चयित्वा प्रतार्य हस्तं नीता स्वायत्तीकृता सती द्रोहं हिंसां व्यभिचारं च चक्रे कृतवती। अत्र प्रकृतकृपाणीविशेषणसाम्यादप्रकृतस्वैरिणीप्रतीतेः समासोक्तिः॥ १९॥

अच्छे खान (पक्षा०—कुल) में उत्पन्न होनेसे शरीरके सम्बन्धको प्राप्तकर अत्यन्त गौरवके साथ बाँधी गयी (पक्षा०—रखी गयी) किसी वीरकी अपनी ही कटार (पक्षा०—सहधर्मिणी) ने शत्रुके द्वारा ठगकर स्वाधीन किये जानेपर द्रोह (पतिकी हिंसा, व्यभिचार, या—पतिके साथ विरोध) किया अर्थात् अपनी ही कटारसे यह वीर शत्रुके द्वारा मारा गया॥

---

१. 'व्यक्त आसी—' इति पा०।

नीते भेदं धौतधारा[1]भिघातादम्भोदाभे शात्रवेणापरस्य ।
सास्रग्राजिस्तीक्ष्णमार्गस्य मार्गो विद्युद्दीप्रः कङ्कटे लक्ष्यते स्म ॥ २० ॥

नीत इति ॥ शात्रवेण शत्रुणा । प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽण्प्रत्ययः । धौताया उत्तेजिताया धारायाः खड्गधाराया अभिघाताद् भेदं नीते विदारितेऽम्भोदाभे मेघश्यामे अपरस्य भटस्य कङ्कटे कवचे । 'उरश्छदः कङ्कटकोऽजगरः कवचोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। सहास्रग्भ्याऽसृजा सास्रग्राजिः सरक्तरेखः तीक्ष्णमार्गस्य खड्गस्य मार्गः प्रहारो विद्युद्दीप्तस्तडिदुज्ज्वलो लक्ष्यते स्म । उपमालङ्कारः ॥ २० ॥

शत्रुके द्वारा तीक्ष्ण किये गये धारसे विपक्षीके मेघके समान श्यामल कवचके काटे जानेपर रक्तरेखायुक्त तलवारका प्रहार बिजलीके समान चमकता हुआ दिखलायी पड़ता था ॥

आमूलान्तात्सायकेनायतेन स्यूते बाहौ मण्डुकश्लिष्टमुष्टेः ।
प्राप्यासह्यां [2]वेदनामस्तधैर्यादप्यभ्रश्यच्चर्म नान्यस्य पाणेः ॥ २१ ॥

आमूलान्तादिति ॥ अन्यस्य भटस्य बाहौ आयतेन दीर्घेण सायकेन आमूलान्तान्मूलप्रदेशपर्यन्तम् । आकक्षमित्यर्थः । विकल्पादसमासः । स्यूते प्रोते सति असह्यां वेदनां व्यथां प्राप्य अत एवास्तधैर्यात्त्यक्तधैर्यादपि धारयितुमक्षमादपि मण्डुके संग्राहे श्लिष्टा सन्दष्टा मुष्टिर्यस्य तस्मात्पाणेश्चर्म फलकम् । 'फलकोऽस्त्री फलं चर्म संग्राहो मुष्टिरस्य यः' इत्यमरः । नाभ्रश्यन्नापतत् । अत्र सायकप्रोतमुष्टिश्लेषयोर्विशेषणगत्या धैर्यत्यागचर्मभ्रंशौ प्रति हेतुत्वात्काव्यलिङ्गभेदः ॥ २१ ॥

दूसरे किसी वीरके बाहुके काँख तक लम्बे बाणसे विद्ध हो जानेपर असह्य वेदनाको पाकर धैर्यरहित भी, पकड़नेकी रस्सीको पकड़कर बँधी हुई मुट्ठीवाले हाथसे ढाल नहीं गिरी ॥ २१ ॥

भित्त्वा घोणामायसेनाधिवक्षः स्थूरीपृष्ठो गार्ध्रपक्षेण विद्धः ।
शिक्षाहेतोर्गाढरज्ज्वेव [3]बद्धो हर्तुं वक्त्रं नाशकद् दुर्मुखोऽपि ॥ २२ ॥

भित्त्वेति ॥ आयसेन अयोमयेन गार्ध्रो गृध्रसम्बन्धी पक्षः पत्रं यस्य तेन गार्ध्रपक्षेण बाणविशेषेण घोणां नासां भित्त्वा । 'घोणा नासा च नासिका' इत्यमरः । अधिवक्षो वक्षसि । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । विद्धः प्रहतः । व्यधेः कर्मणि क्तः 'ग्रहिज्या–' (६।१।१६) इत्यादिना सम्प्रसारणम् । स्थूरीपृष्ठो नवारूढोऽश्वः शिक्षैव हेतुः तस्य शिक्षाहेतोः शिक्षया निमित्तेन । शिक्षार्थमिति यावत् । 'षष्ठी हेतुप्रयोगे' (२।३।२६) इति षष्ठी । गाढरज्ज्वा गाढपाशेन बद्ध इवेत्युत्प्रेक्षा । दुर्मुखोऽव्यशिक्षितमुखोऽपि वक्त्रं हर्तुमपाक्रष्टुं नाशकन्न शक्तः । शकेर्लुङि 'पुषादि–' (३।१।५५)

---

१. '—धारासिपाता—' इति पा० । २. 'वेदनां त्यक्तधै—' इति '…नष्टधै—' इति च पा० । ३. 'बद्धम्' इति पा० ।

इति श्लेषच्छादेशः। शिक्षितो हि शिक्षावशाद्बद्धोऽपि बद्धवदास्ते, अशिक्षितस्तु निबद्धोऽपि झटिति मुखमपहरतीति भावः। अपिर्विरोधे। अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः॥ २२॥

लोहेके बने, गीधके पक्षयुक्त बाण–विशेषसे नाकको काटकर छातीमें वेधा गया नवशिक्षित घोड़ा सिखलानेके लिए कड़ाकर रस्सीसे बाँधा गया–सा होता हुआ दुर्मुख (काटनेवाला) होकर भी मुखको नहीं घुमा सका।

विमर्श—घोड़े को सिखलानेके लिए लगामकी रस्सीको कड़ी कर उसकी पूंछमें बांध दिया जाता है, जिससे काटनेवाला होता हुआ भी वह घोड़ा मुखको दहिने या बायें नहीं घुमा सकता। वैसे नाकको काटकर छातीमें बाणसे विद्ध हुआ घोड़ा मुखको नहीं घुमा सकता था॥ २२॥

कुन्तेनोच्चैः सादिना हन्तुमिष्टान्नाजानेयो दन्तिनस्त्रस्यति स्म।
कर्मोदारं कीर्तये कर्तुकामान्किंवा जात्याः स्वामिनो ह्रेपयन्ति॥ २३॥

कुन्तेनेति॥ आजानेयः कुलीनाश्वः। 'आजानेयाः कुलीनाः स्युः' इत्यमरः। शुभ्रादिभ्यश्च' (४।१।१२३) इति ढक् प्रत्ययः। सादिना अश्वारोहेण कर्त्रा। उच्चैरुन्नतेन कुन्तेन प्रासेन करणेन हन्तुं प्रहर्तुमिष्टादभिप्रेताद्दन्तिनो न त्रस्यति स्म न त्रस्तः। 'वा भ्राश–' (३।१।७०) इत्यादिना श्यन्प्रत्ययः। तथा हि—जात्याः कुलीनाः। भवार्थे यत्प्रत्ययः। कीर्तये उदारं कर्म महापौरुषं कर्तुं कामो येषां तान्कर्तुकामान्। 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः। स्वमेषामस्तीति स्वामिनो भर्तॄन्। 'स्वामिन्नैश्वर्ये' (५।२।१२६) इति निपातः। ह्रेपयन्ति लज्जयन्ति किम्। न ह्रेपयन्तीत्यर्थः। 'अर्तिह्री–' (७।३।३६) इत्यादिना पुगागमः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः॥ २३॥

अच्छी नस्ल का घोड़ा, घुड़सवारके द्वारा बड़े भालेसे मारनेके लिए लक्ष्य बनाये गये हाथीसे नहीं डरा, क्योंकि कुलीन लोग कीर्तिके लिए उत्तम कार्य करनेकी इच्छा करनेवाले स्वामियोंको लज्जित करते हैं क्या? अर्थात् नहीं लज्जित करते (किन्तु उत्साहपूर्वक उनके कार्यमें सहायक होते हैं)॥ २३॥

जेतुं जैत्राः शेकिरे नारिसैन्यैः पश्यन्तोऽधो लोकमस्तेषुजालाः।
नागारूढाः पार्वतानि श्रयन्तो दुर्गाणीव त्रासहीनास्त्रसानि॥ २४॥

जेतुमिति॥ जेतार एव जैत्रा जयशीलाः। जेतृप्रकृतेः प्रज्ञादित्वात्स्वार्थेऽण् प्रत्ययः। लोकं जनमधः पश्यन्तः स्वयमुपर्यवस्थानाल्लोकमधोदेशे पश्यन्तः, 'अधः कृतं मन्यमानाश्च। अस्तेषुजालाः क्षिप्तशरनिकराः त्रासहीना दुर्गस्थत्वान्निर्भीका नागारूढा गजारोहास्त्रस्यन्ति गच्छन्तीति त्रसानि जङ्गमानि। 'चरिष्णु जङ्गमचरं त्रसमिङ्गं चराचरम्' इत्यमरः। पर्वतानि पर्वतसम्बन्धीनि दुर्गाणि। गिरिदुर्गाणी-

त्यर्थः। अयन्तोऽधितिष्ठन्त इत्युत्प्रेक्षा। तेष्वेवम्भूता एवेति भावः। अरिसैन्यैः कर्तृभिः जेतुं न शेकिरे। अशक्ताश्च भूवुरित्यर्थः। शक्तेः कर्मणि लिट्। अत्र मनुः-'धनुर्दुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वनमेव च। नृदुर्गं गिरिदुर्गं च समाश्रित्य वसेन्नृपः॥ सर्वेणैव प्रकारेण गिरिदुर्गं समाश्रयेत्। तेषां हि बहुगुण्येन गिरिदुर्गं विशिष्यते॥' (मनु० ७।७०, ७१) इति॥ २४॥

शत्रुकी सेनाएँ, (स्वयं उन्नत स्थानपर होनेसे) लोकोंको नीचेकी ओर देखते (पक्षा०-तिरस्कृत मानते) हुए, बाण-समूहको छोड़े हुए, (किलेमें रहनेसे) निर्भीक, जङ्गम (गमनशील) पर्वतसम्बन्धी दुर्गोंका आश्रय किये हुए के समान जङ्गम हाथियोंपर चढे हुए विजयशील (सर्वदा विजयी होनेवाले) वीरोंको नहीं जीत सकीं॥ २४॥

विष्वद्रीचीर्विक्षिपन्सैन्यवीचीराजावन्तः क्वापि दूरं प्रयातम्।
बभ्रामैको बन्धुमिष्टं दिदृक्षुः सिन्धौ वाद्यो मण्डलं गोर्वराहः॥ २५॥

विष्वगिति॥ एकः कोऽपि वीरः। विष्वगञ्चतीति विष्वद्रीचीः सर्वव्यापिनीः। 'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये' (६।३।९२) इति टेरद्र्यादेशः धातोरन्यञ्चतेरुपसंख्यानात् 'उगितश्च' (४।१।६) इति ङीप् 'अचः' (६।४।१३८) इत्यकारलोपे 'चौ' (६।३।१३८) इति दीर्घः। सैन्यानि वीचीरिव सैन्यवीचीरित्युपमितसमासः। सिन्धौ वेति लिङ्गाद्विक्षिपन्नपाकुर्वन् अन्तराजिमध्ये क्वापि दूरं प्रयातमिष्टं बन्धुं दिदृक्षुर्द्रष्टुमिच्छुः सन्। दृशेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। क्वापि प्रयातं मग्नं गोर्भूमेर्मण्डलं भूगोलं दिदृक्षुराद्यो वराहः सिन्धौ वा समुद्रे इव। 'उपमायां विकल्पे वा' इत्यमरः। आजौ बभ्राम। एकवीरस्य कुतो भयमित्यर्थः॥ २५॥

कोई एक शूरवीर सब ओर फैली हुई तरङ्गके समान सेनाओंको इधर-उधर करता हुआ युद्धके प्रांगणमें कहीं दूर गये हुए इष्ट-बान्धवको खोजता हुआ उस प्रकार घूमने लगा; जिस प्रकार सब ओर फैली हुई तरङ्गोंको इधर-उधर हटाते हुए कहीं दूर तक गये (डूबे) हुए भूमण्डलको खोजते हुए आदि वराह (भगवान्) समुद्रमें भ्रमण करते थे॥ २५॥

यावच्चक्रे नाञ्जनं बोधनाय व्युत्थानज्ञो हस्तिचारी मदस्य।
सेनास्वानाद्दन्तिनामात्मनैव स्थूलास्तावत्प्रावहन्दानकुल्याः॥ २६॥

यावदिति॥ व्युत्थानं गजोत्थापनं जानातीति व्युत्थानज्ञः हस्तिना चरतीति हस्तिचारी यन्ता। मदस्य बोधनायोत्थापनायाञ्जनमुद्दीपनं कर्म यावन्न चक्रे तावत्प्रागेव। असमासे विधावित्यर्थः। सेनास्वानात्। सेनाकलकलश्रवणादित्यर्थः। दन्तिनामात्मना स्वयमेव स्थूला महत्यो दानकुल्या मदसरितः प्रावहन्निति दन्तिनामुत्साहातिरेकोक्तिः। अञ्जनात्प्रागदानसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः॥ २६॥

---

१. 'विस्तारज्ञो' इति पा०। २. 'सैन्य—' इति पा०।

हाथीको उठाना (या–उत्साहित करना) जाननेवाला हाथीवान्‌ने जबतक मदको उद्दीप्त करनेके लिए अञ्जन (क्रिया–विशेष) को पूरा नहीं किया, तभी तक सेनाके कोला-हलसे हाथीके मदकी नहरें (मोटी धाराएँ) स्वयमेव बहने लगीं ॥ २६ ॥

क्रुध्यन् गन्धादन्यनागाय दूरादारोढारं धूतमूर्धावमत्य ।
घोरारावध्वानिताशेषदिक्के विष्के[1] नागः पर्यणंसीत्स्व एव ॥ २७ ॥

क्रुध्यन्निति ॥ दूराद्‌ दूरत एव गन्धान्मदगन्धाघ्राणात् अन्यनागाय प्रतिगजाय क्रुध्यन् । तं जिघांसुरित्यर्थः । 'क्रुधद्रुह–' (१।४।३८) इत्यादिना सम्प्रदानत्वम् । नागो धूतमूर्धा विधूतमस्तकः सन् । आरोढारं यन्तारमवमत्यावधूय घोरारावैः दारुणक्रन्दनैः ध्वानिता अशेषदिशो येन तस्मिंस्तथा उच्चैराक्रोशतीत्यर्थः । शैषिकः कप्प्रत्ययः । स्वे स्वकीय एव । स्वपुत्र एवेत्यर्थः । 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' (७।१।१६) इति विकल्पात्स्मिन्नादेशः । अत एव स्वे स्वपुत्रे विष्क इति श्लिष्टगत्या व्याख्याय पुत्रस्यापि ज्ञातित्वाग्न सर्वनामसंज्ञेति वल्लभोक्तिः प्रामादिकी । विष्के विंशतिवर्षके डिम्भे 'विष्को विंशतिवर्षकः' इति वैजयन्ती । पर्यणंसीत् । तिर्यक्प्रजहारेत्यर्थः । 'तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः' इति हलायुधः । 'यमरमनमातां सक्च' (७।२।७३) इति नमेर्लुङि सगिडागमौ 'नेटि' (७।२।४) इति वृद्धिप्रतिषेधः ॥ २७ ॥

दूरसे (दूसरे हाथीके) मदके सूंघनेसे दूसरे हाथीके प्रति क्रोधयुक्त हाथी शिर हिला-कर सवारका अनादर कर अर्थात् रोकनेके लिए किये गये अङ्कुशादिके प्रहारसे भी नहीं रुक कर भयङ्कर शब्दसे सम्पूर्ण दिशाओंको प्रतिध्वनित करनेवाले बीस वर्षकी अवस्थावाले अपने ही पुत्रपर तिर्छा दन्तप्रहार किया अर्थात् अपने ही पुत्रके शरीरमें दाँतोंको तिर्छा गड़ा दिया ॥ २७ ॥

प्रत्यासन्ने दन्तिनि प्रातिपक्षे यन्त्रा नागः प्रास्तवक्त्रच्छदोऽपि ।
क्रोधाक्रान्तः[2] क्रूरनिर्दारिताक्षः प्रेक्षांचक्रे नैव किञ्चिन्मदान्धः ॥ २८ ॥

प्रत्यासन्ने इति ॥ प्रातिपक्षे प्रतिपक्षसम्बन्धिनि । 'तस्येदम्' (४।३।१२०) इत्यण् । दन्तिनि गजे प्रत्यासन्ने सति यन्त्रा सादिनः प्रास्तवक्त्रच्छदोऽपि निरस्त-मुखपटोऽपि क्रोधाक्रान्तः अत एव क्रूरं घोरं निर्दारिताक्षः तथापि मदान्धो नागो गजो न किञ्चिदेव प्रेक्षांचक्रे । किमपि पुरोगतं प्रातिपक्षमन्यद्वा न ददर्शेत्यर्थः । आवरणान्तराभावेऽपि मदावरणस्यानपायादिति भावः । 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (३।१।३६) इत्याम्प्रत्ययः । अत्रानावृतोन्मीलिताक्षस्याप्यदर्शनविरोधस्य मदान्धे-नाविरोधाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ २८ ॥

प्रतिपक्षके हाथीके सम्मुख आनेपर सवारके द्वारा छोपनी (मुख-नेत्रको ढकनेवाले

---

१. 'दिक्के' इति पा० । २. '—क्रान्तक्रूर—' इति पा० ।

वस्त्र) को हटानेपर भी, क्रोधसे नेत्रोंको अत्यन्त फाड़े (बढ़ाये) हुए मदान्ध हाथीने कुछ भी नहीं देखा ॥ २८ ॥

तूर्णं यावन्नापनिन्ये निषादी वासश्चक्षुर्वारणं वारणस्य ।
तावत्पूगैरन्यनागा[1]धिरूढः कादम्बानामेकपातैरसीव्यत् ॥ २९ ॥

तूर्णमिति ॥ निषादी यन्ता वारणस्य गजस्य चक्षुर्वारणं नेत्रावरणं वासो मुखपटं यावत्तूर्णं नापनिन्ये नापचकार तावदन्याधिरूढः प्रतिगजाधिरोहः एक एकनागाकालीनः पातो येषां तैरेकपातैर्युगपत्पातिभिरिति शीघ्रतोक्तिः । कादम्बानां शराणाम् । 'कदम्बमार्गणशराः' इत्यमरः । पूगैर्व्रातैरसीव्यत् । चक्षुषा सह तद्वासः स्यूतवानित्यर्थः । सीव्यतेर्लङ् । अत्र चक्षुषः सीवनासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥

हाथीके सवारने शीघ्र ही जबतक हाथीके मुखको ढकनेवाले कपड़ेको नहीं हटाया, तभी तक दूसरे हाथीके सवारने एक साथ छोड़े हुए बाण-समूहोंसे उस कपड़ेको सी दिया अर्थात् शीघ्रतासे बाण-समूहोंको चलाकर कपड़ेके साथ हाथीके मुखको विद्ध कर दिया ॥

आस्थद्दृष्टेराच्छदं च प्रमत्तो यन्ता यातुः प्रत्यरीभं द्विपस्य ।
मग्नस्योच्चैर्बर्हभारेण शङ्कोरावव्राते वीक्षणे च क्षणेन ॥ ३० ॥

आस्थदिति ॥ यन्ता प्रमत्तः सन् प्रत्यरीभमरिगजं प्रति [2]। आभिमुख्येऽव्ययीभावः । यातुर्गन्तुः । यातेस्तृच् । द्विपस्य दृष्टेराच्छदमावरणम् । पुंसि संज्ञायां घः' । आस्थन्निरस्तवान् । 'अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' (३।१।५२) इति च्लेरङादेशः 'अस्यतेस्थुक्' (७।४।१७) इति थुगागमः । मग्नस्य मुखनिमग्नस्य शङ्कोः शल्यायुधस्य । 'वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना' इत्यमरः । उच्चैर्बर्हभारेण पिच्छपटलेन वीक्षणे चक्षुषी क्षणेनावव्राते आवृते । वृणोतेः कर्मणि लिट् । अन्योन्यसमुच्चयचकाराभ्यामावरणनिरासे पुनरावरणयोरेककाले सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ३० ॥

प्रमाद करते हुए महावतने शत्रुगजके सामने जाते हुए हाथीके नेत्रको ढकनेवाले वस्त्र (छोपनी) को हटा दिया, किन्तु क्षणमात्रमें मुखमें गड़े हुए बाणके पङ्खोंसे उसके दोनों नेत्र पुनः ढक गये ॥ ३० ॥

यत्नाद्रक्षन्सुस्थितत्वादनाशं निश्चित्या[3]न्यश्चेतसा भावितेन ।
अन्त्यावस्थाकालयोग्योपयोगं दध्रेऽभीष्टं रागमापद्धनं वा ॥ ३१ ॥

यत्नादिति ॥ अन्यः गजारोहः भावितेनालोचितेन चेतसा सुस्थितत्वादनपायिदेशत्वादनाशमनपायं निश्चित्य यत्नाद्रक्षन् वञ्चकेभ्यस्त्राय (माणः) न् सन् । अन्त्यावस्थाकाले साधनानन्तरकाले नाशकाले योग्योपयोगमत एवाभीष्टं नागं गजमापद्धनं वापद्धनमिव दध्रे अन्यतोऽपसार्य धारयामास । धरतेः स्वरितेत्वात्कर्तरि लिट् तङ् ॥ ३१ ॥

---

१. '—धिरोहः' इति पा० । २. 'यातः' इति पा० । ३. '—निश्चिन्तोऽन्य—' इति पा० ।

दूसरा कोई महावत स्वस्थ चित्तसे विचारपूर्वक रक्षाका निश्चयकर यत्नसे रक्षा करता (बचाता) हुआ, अपने प्रिय हाथीको अन्तिमावस्थाके योग्य उपयोगवाले आपत्तिकालिक धनके समान दूसरी जगह हटाकर रखा (युद्धभूमिसे अलग हटाकर उसकी रक्षा करनेलगा)।

अन्योन्येषां पुष्करैरामृशन्तो दानोद्भेदानुच्चकैर्भुग्नवालाः।
उन्मूर्धानः [1]सन्निपत्यापरान्तैः प्रायुध्यन्त स्पष्टदन्तध्वनीभाः ॥ ३२ ॥

अन्योन्येषामिति ॥ इभा गजाः अन्योन्येषां परस्परेषाम्। 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे भवत' इति वक्तव्याद् द्वित्वम्। 'समासवच्च बहुलम्' इति विकल्पादसमासत्वपक्षे पूर्वपदस्य प्रथमैकवचनं वक्तव्यम्। उद्भिद्यन्ते एष्विति उद्भेदाः। 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' (३।३।१९) इत्यधिकरणार्थे घञ् प्रत्ययः। दानोद्भेदान्कटादिमदस्थानानि पुष्करैर्हस्ताग्रैः। 'पुष्करं करिहस्ताग्रे' इत्यमरः। आमृशन्तो जिघ्रन्त उच्चकैरुन्नता भुग्नवालाः प्रह्वीकृतपुच्छाः। 'वालः केशे शिशौ मूर्खे वालो वाजीभपुच्छयोः' इति विश्वः। उन्मूर्धान उन्नतमस्तकाः सन्तः स्पष्टदन्तध्वनि यथा तथा सन्निपत्यापरान्तैः सह प्रायुध्यन्त। दिवादिकस्य युध्यतेः कर्तरि लङ्। स्वभावोक्तिः ॥

परस्परके (एक–दूसरेके) मदोत्पत्तिस्थान अर्थात् गण्डस्थलोंका सूँडके अग्रभागसे स्पर्श करते (सूँघते) हुए, ऊँचे (शरीरवाले), पूँछोंको समेटे हुए और मस्तकको ऊपर किये हुए हाथी परस्पर दाँतोंके आघातसे होनेवाले स्पष्ट 'खट–खट्' ध्वनिको करते हुए पिछले भागसे अच्छी तरह स्थित होकर (जमकर) युद्ध करने लगे ॥ ३२ ॥

द्राघीयांसः संहताः [2]स्थेमभाजश्चारूदग्रास्तीक्ष्णतामत्यजन्तः।
दन्ता दन्तैराहताः सामजानां भङ्गं जग्मुर्न स्वयं सामजाताः ॥३३॥

द्राघीयांस इति ॥ द्राघीयांसो दीर्घतराः। 'प्रियस्थिर–' (६।४।१५७) इत्यादिना दीर्घस्य ईयसुनि द्राघादेशः। संहताः सुघटिताः अत एव स्थेमभाजः स्थैर्यभाजः। 'प्रियस्थिर–' (६।४।१५७) इत्यादिना स्थिरशब्दस्येमनिचि स्थादेशः। चारवो रम्या उदग्रा उन्नताश्च ते चारूदग्राः। विशेषणसमासः। तीक्ष्णतां नैशित्यम् अत्यजन्तः सामजानां गजानां दन्ता दन्तैः प्रतिगजविषाणैराहताः सन्तो भङ्गं भेदं जग्मुः बभञ्जुः। सामजाता दन्तिनस्तु स्वयं भङ्गं पराजयं न जग्मुः। दन्तभङ्गेऽपि स्वयं न परावर्तन्त इत्यर्थः। अत्रापरावर्तित्वेन वर्ण्यतया प्रकृतत्वादुपमेयानां दन्तिनामुपमानदन्तापेक्षया अभग्नत्वेनाधिक्योक्तेर्व्यतिरेकस्तुल्ययोगिताया बाधक इति गमयितव्यम् ॥ ३३ ॥

बहुत लम्बे–लम्बे, सटे हुए, स्थिरतायुक्त, सुन्दर तथा ऊँचे, तीक्ष्णताको नहीं छोड़ते हुए हाथियोंके दाँत (प्रतिद्वन्द्वी हाथीके) दाँतोंसे आहत होकर टूट गये; किन्तु बहुत

---

१. 'संनिपत्यापराभिः' इति पा०। २. 'स्थाम—' इति पा०।

विशालकाय, (युद्ध करते समय परस्परमें) सटे हुए, स्थिर, सुन्दर तथा ऊँचे-ऊँचे हाथी पराजित नहीं हुए अर्थात् दाँतोंके टूटनेपर भी वे लड़ते ही रहे ॥ ३३ ॥

मातङ्गानां दन्तसङ्घट्टजन्मा हेमच्छेदच्छायचञ्चच्छिखाग्रः ।
लग्नोऽप्यग्निश्चामरेषु प्रकामं माञ्जिष्ठेषु व्यज्यते न स्म सैन्यैः ॥३४॥

मातङ्गानामिति ॥ मातङ्गानां दन्तिनां दन्तसङ्घट्टजन्मा दन्तसङ्घर्षोत्थः हेमच्छेदच्छायानि कनकपरागवर्णानि चञ्चन्ति चलन्ति च शिखाग्राणि ज्वालाग्राणि यस्य सोऽग्निः मञ्जिष्ठया ओषधिविशेषेण रक्तेषु माञ्जिष्ठेषु । 'तेन रक्तं रागात्' (४।२।१) इत्यण्प्रत्ययः । 'मञ्जिष्ठा विकसा जिङ्गी' इत्यमरः । चामरेषु लग्नोऽपि सैन्यैः प्रकामं न व्यज्यते न विविच्यते स्म । सावर्ण्यादिति भावः । अतः सामान्यालङ्कारः । 'सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरैकता' इति लक्षणात् । स च विशेषणोत्थकाव्यलिङ्गसङ्कीर्णः ॥ ३४ ॥

हाथियोंके दाँतोंकी टक्करसे उत्पन्न, सुवर्ण-चूर्णके समान पीले एवं चञ्चल ज्वालाग्रवाली अग्निको मंजीठके रंगवाले (पीतारुण) चामरोंमें लगनेपर भी (अग्निज्वाला तथा चामरोंके समान वर्ण होनेसे) सैनिकोंने नहीं मालूम किया ॥ ३४ ॥

ओषामासे मत्सरोत्पातवाताश्लिष्यद्दन्तक्ष्मारुहां घर्षणोत्थैः ।
यौगान्तैर्वा वह्निभिर्वारणानामुच्चैर्मूर्धव्योम्नि नक्षत्रमाला ॥३५॥

ओषामासे इति ॥ मत्सरो वैरमेवोत्पातवात आकस्मिकवायुस्तेनाश्लिष्यतां संयुज्यमानानां दन्तानामेव क्ष्मारुहां वृक्षाणां घर्षणेनोत्थो जन्म येषां तैर्वह्निभिर्यौगान्तैर्वा युगान्तभवैर्वह्निभिरिव वारणानामुच्चैरुन्नतैः मूर्धा व्योमेव तस्मिन्मूर्धव्योम्नि नक्षत्रमाला हारविशेषः । 'सैव नक्षत्रमाला स्यात्सप्तविंशतिमौक्तिकैः' इत्यमरः । ज्योतिर्मण्डलं च ओषामासे । दग्धेत्यर्थः । 'उष दाहे' इति धातोः कर्मणि लिट् । 'उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्' (३।१।३८) इत्याम्प्रत्ययः । लघूपधगुणः 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' (३।१।४०) इत्यस्तेश्चानुप्रयोगः । अत्र नक्षत्रमालयोरभेदाध्यवसायेन निर्देशाद्रूपकश्लेषसङ्कीर्णेयमुपमा ॥ ३५ ॥

विरोधरूपी उत्पातवायु (आँधी) से प्रेरित दाँतरूपी वृक्षोंकी रगड़से उत्पन्न अग्नि प्रलयकालिक अग्निके समान, हाथियोंके अत्यन्त ऊँचे मस्तकरूपी आकाशसे नक्षत्रमाला (सत्ताइस मोतियोंकी माला पक्षा०—तारा-समूह) को जलाने लगी ॥ ३५ ॥

सान्द्राम्भोदश्यामले सामजानां वृन्दे नीताः शोणितैः शोणिमानम् ।
दन्ताः शोभामापुरम्भोनिधीनां कन्दोद्भेदा वैद्रुमा वारिणीव ॥ ३६ ॥

सान्द्राम्भोदेति ॥ सान्द्रं च तदम्भोदश्यामलं च तस्मिन् सामजानां गजानां वृन्दे शोणितैः शोणिमानमारुण्यं नीता दन्ताः अम्भोनिधीनां वारिनिधीनां वारिणीव

विद्रुमाणां प्रवालानामिमे वैद्रुमाः। 'विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुंनपुंसकम्' इत्यमरः। कन्दो मूलपिण्डः तस्योद्भेदाः प्ररोहा इव शोभामापुरित्युपमा ॥ ३६ ॥

सघन (नवीन) मेघके समान काले हाथियोंके झुण्डमें रक्तोंसे अरुणवर्णको प्राप्त दाँत, समुद्रके जलमें मूँगेके प्रवालके कन्दसे उत्पन्न अङ्कुरोंके समान शोभने लगे ॥ ३६ ॥

आकम्प्राग्रैः केतुभिः सन्निपातं तारोदीर्णग्रैवनादं व्रजन्तः।
मग्नानङ्गे गाढमन्यद्विपानां दन्तान्दुःखादुत्खनन्ति स्म नागाः ॥३७॥

आकम्प्राग्रैरिति ॥ आकम्प्राणि दन्तोत्खननसंक्षोभाद् भृशं कम्प्राण्यग्राणि येषां तैः केतुभिर्ध्वजैः सन्निपातं सङ्घर्षं व्रजन्त इति दुःखहेतूक्तिः। नागा गजास्तारमुच्चैरुदीर्ण उत्पन्नः ग्रैवाणां ग्रीवासूत्पन्नानां शृङ्खलभूषणादीनां नादो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा· अन्यद्विपानां प्रतिगजानामङ्गे गाढं मग्नानन्तःप्रविष्टान्दन्तान् दुःखादुत्खनन्ति स्म। तेषां गाढमग्नत्वात्स्वयं केतुभाराक्रान्तत्वाच्च कृच्छ्रादुज्जहुरित्यर्थः। अत्रोक्तभारमज्जनयोर्विशेषणगत्या दुःखोत्खननहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् ॥ ३७ ॥

(धँसे हुए दाँतोंको उखाड़नेके सङ्घर्षसे) हिलते हुए अग्रभागवाली ध्वजाओंसे सङ्घर्षको पाते हुए हाथी गर्दनकी जञ्जीरों (या-भूषणादिको) उच्चस्वरसे ध्वनित करते हुए दूसरे (प्रतिद्वन्द्वी) हाथियोंके शरीरमें धँसे हुए अपने दाँतोंको बड़े कष्टसे निकाल रहे थे ॥ ३७ ॥

उत्क्षिप्योच्चैः [1]प्रस्फुरन्तं रदाभ्यामीषादन्तः कुञ्जरं शात्रवीयम्।
शृङ्गप्रोतप्रावृषेण्याम्बुदस्य स्पष्टं प्रापत्साम्यमुर्वीधरस्य ॥३८॥

उत्क्षिप्येति ॥ ईषे लाङ्गलदण्डाविव दन्तौ यस्य स ईषादन्तो महादन्तो दन्ती। 'ईषा लाङ्गलदण्डः स्यात्' इत्यमरः। प्रस्फुरन्तं प्राणोत्क्रमणदुःखादुल्लसन्तं शात्रवस्येदं शात्रवीयं कुञ्जरं रदाभ्यां दन्ताभ्याम् उच्चैरुत्क्षिप्योर्ध्वमुद्यम्य शृङ्गे शिखरे प्रोतः स्यूतः प्रावृषेण्यः प्रावृषि भवोऽम्बुदो यस्य तस्य। 'प्रावृष एण्यः' (४।३।१७) इत्येण्यप्रत्ययः। उर्वीधरस्य गिरेः साम्यं सादृश्यं स्पष्टं प्रापत्। आप्नोतेर्लुङि 'पुषादि—' (३।१।५५) इति च्लेरङादेशः ॥ ३८ ॥

हरिस (हलके डण्डे) के समान लम्बे दाँतोंवाले किसी हाथीने (ऊपर उठानेसे) छटपटाते हुए शत्रुके हाथीको दोनों दाँतोंसे ऊपर उठाकर चोटीपर स्थित वर्षाकालके मेघवाले पर्वतकी शोभाको स्पष्टरूपसे प्राप्त कर लिया अर्थात् जिसकी चोटीपर काला बादल स्थित है ऐसे पर्वतके समान वह हाथी शोभने लगा ॥ ३८ ॥

भग्नेऽपीभे स्वे [2]परावर्त्य देहं योद्धा सार्धं व्रीडया मुञ्चतेषून्।
साकं यन्तुः संमर्देनानुबन्धी दूनोऽभीक्ष्णं वारणः प्रत्यरोधि ॥ ३९ ॥

भग्नेऽपीति ॥ स्वे स्वकीये इभे गजे भग्नेऽपि देहं स्वाङ्गं परावर्त्य प्रतिपक्षाभिमु·

१. '—स्फुर...' इति पा०। २. 'परावृत्य' इति पा०।

समावर्त्य । वृतेर्ण्यन्ताल्ल्यप् । अण्यन्तस्त्वपपाठः । अकर्मकस्य कर्मानन्वयात् । व्रीडया सार्धमिपून्मुञ्चता इषुमोक्षणेन स्वगजभङ्गव्रीडां निरस्यतेत्यर्थः । योद्धा अङ्गेभस्थेन भटेन कर्त्रा अभीक्ष्णं दून इषुभिस्ततः । 'स्वादिभ्यः' (८।२।४४) इति निष्ठानत्वम् । अनुबध्नातीत्यनुबन्धी वारणो यन्तुः प्रतिगजारोहस्य संमदेन साकं स्वेभजयजन्येन हर्षेण सह । 'प्रमदसंमदौ हर्षे' (३।३।६८) इति निपातः । प्रत्यरोधि प्रतिरुद्धः । तत्प्रतिरोधेन तत्संमदस्यापि प्रतिरोधव्याप्तेरिति भावः । 'साकं सार्धं समं सह' इत्यमरः । अत्र व्रीडितेषुमोक्षयोः संमदयन्तृप्रतिरोधयोश्च कार्यकारणयोस्तत्पौर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्त्या सहभावोक्तेः सहोक्तिः सङ्कीर्यते ॥ ३९ ॥

अपने हाथीके (युद्धभूमिको छोड़कर) लौट जानेपर भी अपने शरीरको (शत्रुकी ओर) घुमाकर बाणोंको छोड़नेसे हाथीके पराजित होनेकी लज्जाको दूर करते हुए योद्धाने (बाण-वर्षासे) अत्यन्त पीड़ित प्रतिद्वन्द्वी हाथीको, उसपर आरूढ सवारके (अपने हाथीकी विजय से उत्पन्न) हर्षके साथ ही रोक दिया अर्थात् पराजित हाथीके सवारने शत्रुके विजयी हाथी की ओर घूमकर इतनी बाणवृष्टि की कि विजयी हाथी आगे नहीं बढ़ सका—वहीं रुक गया, तथा उसके सवारका अपने हाथीकी विजयसे उत्पन्न हर्ष भी शिथिल पड़ गया ॥ ३९ ॥

व्याप्तं लोकैर्दुःखलभ्यापसारं संरम्भित्वादेत्य धीरो महीयः ।
सेनामध्यं गाहते वारणः स्म ब्रह्मेव प्रागादिदेवोदरान्तः ॥ ४० ॥

व्याप्तमिति ॥ वारणः कश्चिद्दन्ती संरम्भित्वात्क्रोधित्वात् । 'संरम्भः संभ्रमे कोपे' इति विश्वः । धीरो निर्भीकः सन् एत्यागत्य महीयो विपुलं लोकैर्जनैः, अन्यत्र भुवनैश्च व्याप्तम् । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । अतो दुःखलभ्योऽपसारोऽपसरणं यत्र तत्सेनामध्यं प्राक् पुरा आदिदेवस्य विष्णोः उदरान्तरुदराभ्यन्तरं ब्रह्मा स्रष्टेव गाहते स्म प्रविवेश । पुरा किल बाह्यं सिसृक्षुर्ब्रह्मा पूर्वसृष्टिदिदृक्षया विष्णोः कुक्षिं प्राविशदिति पौराणिकी कथा । केचिद् ब्रह्मा ब्राह्मणो मार्कण्डेय इति व्याचक्षते, सोऽपि भगवन्महिमावलोकनकौतुकात्तदनुज्ञया महाप्रलये तदुदरं प्रविश्य बभ्रामेत्यागमः । 'ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः' इत्यमरः । उपमालङ्कारः ॥ ४० ॥

कोई हाथी क्रोधी होनेसे निर्भय होता हुआ आकर विशाल तथा लोगों (पक्षा०— संसारों) से व्याप्त (अतएव कठिनाईसे पार करने योग्य सेनामध्यमें उस प्रकार घुस गया, जिस प्रकार पहले (सृष्टिके प्रारम्भमें) श्रीविष्णुभगवान्के उक्तरूप उदरके भीतर ब्रह्मा (या मार्कण्डेय मुनि) प्रविष्ट हुए थे ॥ ४० ॥

भृङ्गश्रेणीश्यामभासां समूहैर्नाराचानां विद्धनीरन्ध्रदेहः ।
निर्भीकत्वादाहवेनाहतेच्छो हृष्यन्हस्ती हृष्टरोमेव रेजे ॥ ४१ ॥

भृङ्गेति ॥ भृङ्गश्रेणीव श्यामभासां कृष्णवर्णानां नाराचानामयोमयेषुविशेषाणां समूहैः विद्धो नीरन्ध्रो निर्विवरो देहो यस्य सः । तथापि निर्भीकत्वादाहवेनाहतेच्छः

अव्याहतोत्साहः अत एव हृष्यन्मोदमानो हस्ती हृष्टरोमेव हर्षात्पुलकित इवेत्युत्प्रेक्षा। 'हृषेर्लोमसु' (७।२।२९) इति विकल्पादिड् भावः। रेजे शुशुभे। 'फणां च सप्तानाम्' (६।४।१२५) इति विकल्पादेत्वाभ्यासलोपौ॥ ४१॥

भ्रमर-समूहके समान श्यामल बाणोंके समूहोंसे सम्पूर्ण शरीरमें अवकाशरहित (अत्यन्त पास-पास) बिधे हुए शरीरवाला, (फिर भी) निर्भीक युद्धसे हतोत्साह नहीं हुआ (अतएव) हर्षित होता हुआ हाथी (हर्षसे) मानो रोमाञ्चित हुआ-सा शोभ रहा था॥

आताम्राभा रोषभाजः कटान्तादाशूत्खाते मार्गणे धूर्गतेन।
निश्च्योतन्ती नागराजस्य जज्ञे दानस्याहो लोहितस्येव धारा॥४२॥

आताम्रेति॥ रोषभाजः क्रुद्धस्य नागराजस्य महेभस्य कटान्ताद् गण्डस्थलान्निश्च्योतन्ती प्रागेव स्रवन्ती दानस्य मदस्य धारा आताम्राभा क्रोधादरुणवर्णा जज्ञे जाता। आहो धूर्गतेन पुरोगतेन यन्त्रा मार्गणे शरे आशूत्खाते लोहितस्य क्षतजस्येव धारा जज्ञे। जनेः कर्तरि लिट्। किमियं क्रोधारुणा मदधारा शरोद्धरणजन्या रक्तधारा वेत्युभयकारणसम्भवात्साहश्याच्च संशयः, स च विकल्पितसाहश्यमूल इत्यलङ्कारः॥ ४२॥

क्रोधयुक्त गजराजके गण्डस्थलसे (पहलेसे) बहता हुआ मद-प्रवाह क्रोधसे लाल हो गया है? अथवा आगे गये हुए महावतके द्वारा बाणके शीघ्र निकालनेपर लाल रंगवाला यह रक्त-प्रवाह है? (इसका निर्णय नहीं होनेसे लोग संशयालु ही रह गये)॥ ४२॥

क्रामन्दन्तौ दन्तिनः साहसिक्यादीषादण्डौ मृत्युशय्यातलस्य।
सैन्यैरन्यस्तत्क्षणादाशशङ्के स्वर्गस्योच्चैरर्धमार्गाधिरूढः॥ ४३॥

क्रामन्निति॥ मृत्युशय्यातलस्यान्तकपर्यङ्करूपस्य। 'अधः स्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः। ईषादण्डौ दारुविशेषौ तत्सदृशौ। आयताविर्त्यर्थः। दन्तिनो दन्तौ। सहसा वर्तत इति साहसिकः। 'ओजः सहोम्भसा वर्तते' (४।४।२७) इति ठक् प्रत्ययः। तस्य भावात्साहसिक्यात्क्रामन्। साहसवानित्यर्थः। अन्यस्तत्क्षणादुच्चैरूर्ध्वस्य स्वर्गस्य अर्धश्चासौ मार्गश्चेति तदर्धमार्गाधिरूढ इति सैन्यैराशशङ्के उत्प्रेक्षित इत्युत्प्रेक्षा॥ ४३॥

कालकी शय्या (चारपाई) की पाटी (के समान), हाथीके दोनों दाँतोंको साहसी होनेसे आक्रमण करते हुए किसी वीरको लोगोंने तत्काल स्वर्गके आधे मार्गमें चढ़ा हुआ सा समझा॥ ४३॥

कुर्वञ्ज्योत्स्नाविप्रुषां तुल्यरूपस्तारस्ताराजालसारामिव द्याम्।
खड्गाघातैर्दारिताद्दन्तिकुम्भादाभाति स्म प्रोच्छलन्मौक्तिकौघः॥४४॥

कुर्वन्निति॥ ज्योत्स्नाविप्रुषां तुल्यरूपः चन्द्रिकाबिन्दुस्वरूपः तारः शुद्धः। 'तारो मुक्तादिसंशुद्धौ' इति विश्वः। खड्गाघातैर्दारिताद्दन्तिकुम्भात्प्रोच्छलन्नुत्पतन्

१. '—घातं दारिता—' इति पा०।

मौक्तिकौघो मुक्तापुञ्जो श्यामाकाशं ताराजालसारां नक्षत्रशबलितां तारकितां कुर्वन्निरयुत्प्रेक्षा। 'सारः शबलपीतयोः' इति विश्वः। आभाति स्म बभौ ॥ ४४ ॥

चाँदनीके 'बिन्दुओंके समान, शुद्ध तथा तलवारके आघातसे विदीर्ण हुए हाथीके कुम्भस्थलसे (निकलकर) ऊपरकी ओर उछलता हुआ गजमुक्ताओंका समूह आकाशको ताराओंके समूहोंसे शबलित करता हुआ-सा शोभ रहा था ॥ ४४ ॥

दूरोत्क्षिप्तक्षिप्रचक्रेण[1] कृत्तं मत्तो हस्तं हस्तिराजः स्वमेव।
भीमं भूमौ लोलमानं सरोषः पादेनासृक्पङ्कपेषं पिपेष ॥ ४५ ॥

दूरोत्क्षिप्तेति ॥ मत्तो हस्तिराजः करीन्द्रः दूरादुत्क्षिप्तेन प्रास्तेन अत एव क्षिप्रेण सत्वरेण चक्रेण कृत्तं अत एव भूमौ लोलमानं लुठमानम्। लोलतेरनात्मनेपदित्वात् 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' (३।२।१२९) इति ताच्छील्ये चानश् प्रत्ययः। अत एव 'लोलमानादयश्चानशी'ति वामनः। भीमं भयंकरं स्वं स्वकीयमेव हस्तं सरोषः सन् पादेनाङ्घ्रिणा असृक्पङ्केन पङ्कीभूतेनासृजा पिनष्टीत्यसृक्पङ्कपेषम्। 'स्नेहने पिषः' (३।४।३८) इति णमुल्। पिपेष। कषादित्वादनुप्रयोगः। रक्तपङ्केन स्नेहद्रव्येण ममर्देत्यर्थः। क्रुद्धमत्तयोः कुतो विवेक इति भावः। अत्र पेषणासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ४५ ॥

मतवाले गजराजने दूरसे फेंके गये शीघ्रगामी चक्रसे काटे गये, (अतएव) पृथ्वीपर लोटते हुए भयङ्कर अपने ही सूँडको क्रुद्ध होता हुआ पैरसे पङ्किल रक्तके साथ कुचल दिया ॥

आपस्कारात्ल्लूनगात्रस्य भूमिं निःसाधारं गच्छतोऽवाङ्मुखस्य।
लब्धायामं दन्तयोर्युग्ममेव स्वं नागस्य प्रापदुत्तम्भनत्वम् ॥ ४६ ॥

आपस्कारादिति ॥ गात्रमूलमापस्कारं आपस्कारादामूलात्। आङो विकल्पावसमासः। लूनगात्रस्य छिन्नजङ्घस्य। 'द्वौ पूर्वपश्चाज्जङ्घादिदेशौ 'गात्रावरे क्रमात्' इत्यमरः। अत एवावाङ्मुखस्य सतः साधारं सावलम्बनं न भवतीति निःसाधारं यथा तथा भूमिं गच्छतः। पतत इत्यर्थः। नागस्य लब्धायामं प्राप्तदैर्घ्यम्। आयतमित्यर्थः। स्वं स्वकीयं दन्तयोर्युग्ममेवोत्तम्भनत्वमवलम्बनत्वं प्रापत्। जङ्घाच्छेदेऽपि दन्तावष्टम्भादपतित इत्यर्थः। अत्र स्वभावातिशयोक्त्योः संसृष्टिः ॥ ४६ ॥

मूल भागतक कटी हुई जंघाओंवाले (अतएव) अधोमुख होकर निरवलम्ब पृथ्वीकी ओर (नीचे) गिरते हुए हाथीके अपने बड़े-बड़े दोनों दाँत ही अवलम्ब हो गये ॥ ४६ ॥

लब्धस्पर्शं भूव्यथादव्यथेन स्थित्वा किंचिद्दन्तयोरन्तराले।
ऊर्ध्वाधोऽसिच्छिन्नदन्तप्रवेष्टं[2] जित्वोत्तस्थे नागमन्येन सद्यः ॥ ४७ ॥

लब्धस्पर्शमिति ॥ भूव्यथात्। दन्ताभ्यां भुवो विद्धत्वादित्यर्थः। 'व्यधजपोरनुपसर्गे' (३।३।६१) इत्यप्प्रत्ययः। अव्यथेन स्वयमविद्धत्वादव्यथेन सताऽन्येन केन-

१. '—चक्रावकृत्तम्' इति पा०। २. '—क्षुण्णदन्तप्रवेष्टम्' इति पा०।

छिद्रटेन दन्तयोरन्तराले किंचिल्लब्धः स्पर्शो यस्मिन्कर्मणि तद्दन्ताभ्यां अटस्पर्शं यथा तथा स्थित्वा ऊर्ध्वं प्रसारितेनार्धासिना खड्गैकदेशेन छिन्नश्चूर्णितो दन्तप्रवेष्टो दन्तवेष्टनं यस्य तं नागं जित्वा सद्य एव उत्तस्थे उत्थितम्। भावे लिट्। अत्रापि तथोत्थानाद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ४७ ॥

दोनों दाँतोंसे पृथ्वीके विद्ध होनेसे (लक्ष्य किये गये योद्धाके शरीरमें न गड़कर दाँतोंको पृथ्वीमें गड़नेसे) पीडारहित एवं (हाथीके) दोनों दाँतोंके मध्यमें स्थित रहता हुआ कोई योद्धा ऊपर उठायीहुई तलवारसे काटे गये दाँतोंके आवरण (ढकनेवाले चर्म-विशेष) वाले उस हाथीको जीतकर तत्काल उठ खड़ा हुआ। (अथवा······पीडारहित कोई योद्धा हाथीके दाँतोंके बीचमें स्थित होकर योद्धाके शरीर को दाँतोंसे बिद्ध नहीं करनेपर भी मैंने इस योद्धा के शरीरमें ही दाँतोंको गड़ा दिया है ऐसा जानकर सुखको पाये हुए और ऊपर उठायी गयी तलवारसे काटे गये दाँत तथा बाहु (सूँड) वाले हाथीको जीतकर उठ गया) ॥

हस्तेनाग्रे वीतभीतिं गृहीत्वा कश्चिद्व्यालः क्षिप्तवानूर्ध्वमुच्चैः ।
[1]आसीनानां व्योम्नि तस्यैव हेतोः स्वर्गस्त्रीणामर्पयामास नूनम् ॥ ४८ ॥

हस्तेनेति ॥ व्यालो दुष्टदन्ती।'व्यालो दुष्टगजे सर्पे' इति विश्वः। अग्रे वीतभीतिं निर्भीकम्। भीरोः स्वर्गाभावादिति भावः। कश्चिद्वीरं हस्तेन गृहीत्वा ऊर्ध्वमुपर्युच्चैः क्षिप्तवान्। उत्प्रेक्ष्यते—तस्यैव हेतोस्तेनैव हेतुना। तद्वरणार्थमेवेत्यर्थः। 'सर्वनाम्न-स्तृतीया च' (२।३।२७) इति चकारात्षष्ठी। व्योम्नि आसीनानामवस्थितानाम्। 'ईदासः' (७।२।८३) इति शानच ईकारः। स्वर्गस्त्रीणाममरनारीणामर्पयामास नूनम् ॥

किसी दुष्ट हाथीने आगे निर्भय होकर स्थित किसी वीरको सूँडसे अत्यन्त ऊपर फेंका (जो ऐसा ज्ञात हुआ कि) मानो उसीके लिए बैठी हुई (उस योद्धाको पानेके लिए विमान में बैठकर आकाशमें प्रतीक्षा करती हुई) स्वर्गीय अप्सराओंके लिये उस योद्धाको उस हाथी ने समर्पित कर दिया है ॥ ४८ ॥

कंचिद् दूरादायतेन द्रढीयःप्रासप्रोतस्रोतसान्तःक्षतेन ।
हस्ताग्रेण [2]प्राप्तमप्यग्रतोऽभूदानैश्वर्यं वारणस्य ग्रहीतुम् ॥ ४९ ॥

कश्चिदिति ॥ दूरादायतेनान्तःक्षतेन विक्षतेन अत एव द्रढीयसा प्रासेन प्रोतं स्रोतो यत्र तेन हस्ताग्रेण करणेन अग्रतः प्राप्तमपि कञ्चिद्भटं ग्रहीतुमादातुं वारणस्या-नीश्वरस्य भाव आनैश्वर्यमसामर्थ्यमभूत्। 'नञः शुचीश्वर-' (७।३।३०) इत्यादिना नञ्पूर्वपदोभयपदवृद्धिः। अत्रापि आनैश्वर्यसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ४९ ॥

कोई हाथी बहुत लम्बे तथा भीतरमें आहत अर्थात् बहुत गहरे चोटवाले बहुत दृढ़ भालेसे बिधे हुए सूँडके अगले भागसे, समीपमें आगे आये हुए भी वीरको नहीं पकड़ सका। (हाथी जिस वीरको पकड़ना चाहता था, उस वीर ने दूरसे ही दृढ़तम भालेको उस हाथीके

---

१. 'आलीनानां···दिव्यस्त्रीणाम्' इति पा०। २. '—मेवाग्रतो—' इति पा०।

सूँड़के छेदमें घुसेड़ दिया (या–भालेसे मारकर सूँड़में बहुत गहरा छेदकर दिया), अतएव वह हाथी अपने सूँड़से आगे निकटस्थ भी उस वीरको पकड़नेमें असमर्थ रहा) ॥ ४९ ॥

तन्वाः पुंसो नन्दगोपात्मजायाः कंसेनेव स्फोटितायाः गजेन ।
दिव्या मूर्तिर्व्योमगैरुत्पतन्ती वीक्षामासे विस्मितैश्चण्डिकेव ॥ ५० ॥

तन्वा इति ॥ गजेन स्फोटिताया विदारितायाः पुंसः कस्यचिद्वीरस्य तन्वाः शरीरात् कंसेन स्फोटितायाः नन्दगोपात्मजाया नन्दकन्याया इवोत्पतन्ती दिव्या-मूर्तिः चण्डिकेव नन्दकन्याशरीरादाविर्भवन्ती कालिकेव विस्मितैर्व्योमगैः खेचरैर्वी-क्षामासे वीक्षिता । ईक्षतेः कर्मणि लिट् । 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (३।१।३६) इत्याम्प्रत्ययः । मनुष्यभावमुत्सृज्य देवभावं गतेत्यर्थः । उपमा व्यक्ता । पुरा किल दुरात्मनः कंसस्य प्रतारणाय भगवदाज्ञया तन्मायाशक्तिर्नन्दगोपाज्जाता कंसेन हिंसितेति पौराणिकाः ॥ ५० ॥

हाथीसे पटके गये किसी वीरके शरीरसे निकल कर ऊपर जाती हुई दिव्य मूर्तिको विद्याधर आदि खेचरोंने उस प्रकार देखा, जिस प्रकार कंसके द्वारा ऊपर उठाकर पटकी गयी नन्दकन्याके शरीरसे निकलकर ऊपर जाती हुई दिव्य चण्डिका (विन्ध्यवासिनी देवी) को देखा था ॥ ५० ॥

आक्रम्यैकामग्रपादेन जङ्घामन्यामुच्चैराददानः करेण ।
सास्थिस्वानं दारुवद्दारुणात्मा कञ्चिन्मध्यात्पाटयामास दन्ती ॥५१॥

आक्रम्येति ॥ दारुणात्मा क्रुद्धचित्तो दन्ती एकां जङ्घामग्रपादेनाक्रम्य अन्यां जङ्घामुच्चैरुन्नतेन करेणाददान आकर्षयन् । सास्थिस्वानं भज्यमानास्थिचटचटा-शब्दयुक्तं यथा तथा कञ्चिद्वीरं दारुवत्काष्ठवन्मध्यात्पाटयामास । मध्यं विभज्य पाटयामासेत्यर्थः । ल्यब्लोपे पञ्चमी । उपमा ॥ ५१ ॥

किसी क्रुद्ध हाथीने, अगले पैरसे एक जङ्घाको दबाकर दूसरी जङ्घाको सूँड़से पकड़कर उठाता हुआ हड्डियोंकी कड़कड़ाहटके साथ किसी वीरको लकड़ोके समान बीचसे चीर डाला॥

शोचित्वाग्रे भृत्ययोर्मृत्युभाजोरर्यः प्रेम्णा नो तथा वल्लभस्य ।
पूर्वं कृत्वा नेतरस्य प्रसादं पश्चात्तापादाप दाहं यथान्तः ॥ ५२ ॥

शोचित्वेति ॥ स्वच्छतीत्यर्थः । 'अर्यः स्वामिवैश्ययोः' (३।१।१०३) इति यत्प्र-त्ययान्तो निपातः । अग्रे समक्षमेव मृत्युभाजोर्मरणं गतयोर्भृत्ययोः शोचित्वा वल्ल-भस्येतयोर्मध्ये प्रियभृत्यस्य सम्बन्धिना प्रेम्णा । तद्गतप्रेम्णेत्यर्थः । तथा तेन प्रकारे-णान्तर्दाहं सन्तापं नो आप । यथा येन प्रकारेणेतरस्याऽवल्लभस्य पूर्वं जीवनकाले प्रसा प्रीतिदानाद्यनुग्रहं न कृत्वा पश्चात्तापाद्धतोऽयमस्माभिरप्रीणित एव प्राणान् प्रादादित्यनुशयाद्दाहमाप । प्रियभृत्यमरणादप्यसम्मानितमरणमेव स्वामिनो दुःख-हेतुरासीदित्यर्थः । स्वभावोक्तिः ॥ ५२ ॥

स्वामीने, सामने मरे हुए दो भृत्योंके विषयमें शोककर (उन दोनोंमें) अधिक प्रियतर भृत्यके लिए मनमें वैसा पश्चात्ताप नहीं किया, जैसा (मरनेके) पहले (उचित दान-मानादिरूप) प्रसादके द्वारा अनुगृहीत नहीं किये गये दूसरे (साधारण प्रेमभाजन) भृत्यके लिए पश्चात्ताप किया अर्थात् प्रसाददान द्वारा सम्मानित अधिक प्रियभाजन भृत्यके मरने की अपेक्षा प्रसाददानादिके द्वारा सम्मानित नहीं किये गये साधारण भृत्यका मरना ही स्वामीको पश्चात्ताप युक्त किया) ॥ ५२ ॥

[1]उत्प्लुत्याराादर्धचन्द्रेण लूने वक्त्रेऽन्यस्य क्रोधदष्टोष्ठदन्ते ।
सैन्यैः कण्ठच्छेदलीने कबन्धाद् भूयो बिभ्ये वल्गतः सासिपाणेः ॥५३॥

उत्प्लुत्येति ॥ अर्धचन्द्रेण बाणेन लूने छिन्ने तथापि क्रोधेन दष्टौ ओष्ठौ यैस्तथाभूता दन्ता यस्य तस्मिन् अन्यस्य योधस्य वक्त्रे आरादनतिदूरमुत्प्लुत्य । 'आराद् दूरसमीपयोः' इत्यमरः । भूयः पुनरपि कण्ठस्य छेदः छिन्नदेशः तत्र लीने स्थिते सति वल्गतो नृत्यतः सासिः पाणिर्यस्य तस्मात्कबन्धादपमूर्धकलेवरात् । 'भीत्रार्थानां भयहेतुः' (१।४।२५) इति पञ्चमी । सैन्यैर्बिभ्ये भीतम् । भावे लिट् । लूनस्यापि वक्त्रस्य पुनः स्वस्थानपातित्वाद्वल्गनासिधारणाभ्यां कबन्धादप्यकबन्धभ्रान्त्या सर्वे बिभ्युरित्यर्थः । अत एव भ्रान्तिमदलङ्कारः ॥ ५३ ॥

(शत्रुके ऊपर किये गये) क्रोधसे अधरको दाँतोंसे काटे हुए मुखके, शत्रुके अर्द्धचन्द्राकार बाणसे कटनेके बाद ऊपर थोड़ी दूर उछलकर पुनः कटी हुई गर्दन पर स्थित हो जानेपर हाथमें घूमती हुई तलवारवाले धड़से ही शत्रु-पक्षीय सैनिक डर गये ॥ ५३ ॥

[2]तूर्यारावैराहितोत्तालतालैर्गायन्तीभिः काहलं काहलाभिः ।
नृत्ते चक्षुःशून्यहस्तप्रयोगं काये कूजन् कम्बुरुच्चैर्जहास ॥ ५४ ॥

तूर्यारावैरिति ॥ आहिताः सम्पादिता उत्तालाः प्रस्फुटास्तालाः करपुटादिक्रियामानानि येषु तैः । 'तालः कालक्रियामानम्' इत्यमरः । तूर्यारावैर्मृदङ्गादिवाद्यघोषैस्तथा काहलं भृशं गायन्तीभिः ध्वनन्तीभिः काहलाभिः शुष्कैर्वाद्यविशेषैश्च करणैः । 'काहलं भृशशुष्कयोः । वाद्यभाण्डविशेषे तु काहलः काहला खले' इति विश्वः । काये अपमूर्धिन कलेवरे । अत एव चक्षुःशून्यो दृष्टिरहितो हस्तप्रयोगो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा नृत्ते नृत्यति सति । कर्तरि क्तः । कूजन् ध्वनन् कम्बुः शङ्खः । तटस्थ इवेत्यर्थः । उच्चैस्तरां जहास । दृष्टिशून्याभिनयस्य नाट्यशास्त्रविरोधादुद्दहासमकरोदित्यर्थः । व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा । 'अङ्गेरालापयेद्गीतं हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत् । दृष्टिभ्यां भावयेद्भावं पादाभ्यां तालनिर्णयः ॥' इति नाट्यविदः ॥ ५४ ॥

अत्यधिक बजाये गये तालवाले (मृदङ्ग आदि बाजाओंके शब्दोंसे तथा अत्यधिक ध्वनि करती हुई काहलाओंसे कबन्ध (मस्तकहीन शरीर—धड़) के नेत्रशून्य हाथसे अभिनय

---

१. 'उत्पात्या···न्द्रावलूने···दष्टाधरोष्ठे' इति पा० । २. '—राहितो—' इति पा० ।

(भाव प्रदर्शन) के साथ नाचते रहनेपर शब्द करते (बजते हुए) शङ्खने मानो उच्च स्वरसे अट्टहास किया।

विमर्श—जिस प्रकार मृदङ्गोंके उच्च स्वरसे ताल दे-देकर बजते रहनेपर एवं शुष्कगान करते रहनेपर किसी अन्धे व्यक्तिके हाथसे भावप्रदर्शन करते हुए नाचने पर उसके भद्दे नाचको देखकर कोई तटस्थ व्यक्ति उच्च स्वरसे अट्टहास करता हुआ उसका उपहास करता है; उसी प्रकार उक्त कार्यों के साथ धड़के नाचने पर मानो बजते हुए शङ्खने उस धड़का अट्टहास करते हुए उपहास किया ॥ ५४ ॥

प्रत्यावृत्तं भङ्गभाजि स्वसैन्ये तुल्यं मुक्तैराकिरन्ति स्म कञ्चित् ।
एकौघेन स्वर्णपुङ्खैर्द्विषन्तः सिद्धा माल्यैः साधुवादैर्द्वयेऽपि ॥ ५५ ॥

प्रत्यावृत्तमिति ॥ स्वसैन्ये भङ्गभाजि सति प्रत्यावृत्तमभ्यमित्रं कञ्चिद्वीरं तुल्यमेककालं मुक्तैः स्वर्णपुङ्खैः शरविशेषैः एकौघेन एकप्रहारेण द्विषन्तः आकिरन्ति स्म। सिद्धाः खेचराः माल्यैर्दिव्यमालाभिः। चातुर्वर्ण्यादित्वात्स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः। आकिरन्ति स्म। द्वयेऽपि द्विषन्तः सिद्धाश्च साधुवादैः साधु साध्विति वाक्यैराकिरन्ति स्म। एतत्त्रितयमपि युगपत्प्रवृत्तमित्यर्थः। अत्र स्वर्णपुङ्खसुरमाल्यसाधुवादानां प्रकृतानामेव तुल्यकालैकौघप्रवृत्तिसाम्याद्‌ौपम्यावगमात्केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता ॥

अपने सैनिकोंको (युद्ध-भूमिसे) भागते रहने पर लौटे हुए (युद्ध करनेके लिए घूम कर शत्रुके सम्मुख स्थित) किसी वीरको शत्रुओं ने एक साथ छोड़े गये सुवर्ण-पङ्खवाले बाणोंसे आच्छादित कर दिया, (युद्ध देखनेके लिए आकाशमें विमानों पर स्थित) सिद्धोंने पुष्पमालाओं से आच्छादित कर दिया, तथा दोनों (शत्रुओं और सिद्धों) ने साधुवादों ('वाह, वाह यह वास्तविकमें अच्छा शूरवीर है' इत्यादिरूप 'वाहवाहियों') से आच्छादित कर दिया (इस प्रकार उस वीर के प्रति उन लोगों ने तीनों कार्योंको एक साथ ही किया)॥

बाणाक्षिप्तारोहशून्यासनानां प्रक्रान्तानामन्यसैन्यैर्ग्रहीतुम् ।
संरब्धानां भ्रम्यतामाजिभूमौ वारी वारैः सस्मरे वारणानाम् ॥ ५६ ॥

बाणेति ॥ बाणैराक्षिप्ताः पातिताश्चारोहाः सादिनो येभ्यस्तानि अत एव शून्यानि रिक्तान्यासनानि आस्तरणानि येषाम्। अत एवान्यैः सैन्यैः परसैनिकैर्ग्रहीतुं प्रक्रान्तानामारब्धानाम्। समन्तादवरुध्यमानानामित्यर्थः। अत एव संरब्धानां क्षुभितानां अत एव आजिभूमौ भ्राम्यतामनवतिष्ठमानानां वारणानां वारैर्वृन्दैः वारी बन्धनस्थानम्। 'वारः सूर्यादिदिवसे वारो वरणवृन्दयोः। वारी कटीभवन्त्योः' इति विश्वः। सस्मरे स्मृता। तद्धर्मयोगादिति भावः। कर्मणि लिट्। अत्र शून्यासनत्वादीनां विशेषणगत्या वारीस्मरणहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम् ॥ ५६ ॥

(शत्रुओं के) बाणों से आहत सवारों (या-महावतों) से शून्य आसन वाले, (अतएव) शत्रुओं के सैनिकों के द्वारा पकड़े जाने वाले अर्थात् पकड़ने के लिए घेरे जाते हुए (अतएव)

क्रुद्ध होकर युद्धके मैदानमें घूमते हुए हाथियोंने बांधनेके स्थान का स्मरण किया ॥ ५६ ॥

पौनःपुन्यादस्रगन्धेन मत्तो मृद्नन्कोपाल्लोकमायोधनोर्व्याम् ।
पादे लग्नामंत्र मालामिभेन्द्रः पाशीकल्पामायतामाचकर्ष ॥ ५७ ॥

पौनःपुन्यादिति ॥ अत्र आयोधनोर्व्यां युद्धभूमौ 'पौनःपुन्यात्। पुनः पुनरावृत्तेरित्यर्थः। ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ्प्रत्ययः। अव्ययानां भमात्रे टिलोपस्य सायंप्रातिकाद्यर्थमुपसंख्यानमिति टिलोपः। अस्रगन्धेन। रक्तगन्धाघ्राणादित्यर्थः। मत्त इभेन्द्रो महागजः कोपाल्लोकं जनं मृद्नन्क्षुन्दन् पादे लग्नामीषदसमाप्तां पाशीकल्पां पाशबन्धनसदृशीम। 'पाशस्तवश्चादिबन्धनम्' इति विश्वः। 'बह्वादिभ्यश्च' (४।१।४५) इति विकल्पादीकारः। अभाषितपुंस्कत्वात् 'घरूप-' (६।३।४३) इत्यादिना ह्रस्वो न भवति। आयतां दीर्घां मालामाचकर्ष। पाशीकल्पेत्यत्र तद्धितगता पूर्णोपमा ॥

इस युद्धभूमिमें बार-बार रक्तके गन्ध (के सूंघने) से उन्मत्त गजराज, क्रोधसे लोगों का मर्दन करता हुआ पैरमें फँसी हुई पाश (बाँधनेकी रस्सी) के समान लम्बी माला (पाठा०—किसीकी अँतड़ी) को खींचने लगा ॥ ५७ ॥

कश्चिन्मूर्च्छामेत्य गाढप्रहारः सिक्तः शीतैः शीकरैर्वारणस्य ।
उच्छ्स्वास प्रस्थिता तं जिघृक्षुर्व्यर्थाकूता नाकनारी मुमूर्च्छ ॥ ५८ ॥

कश्चिदिति ॥ गाढः प्रहारो यस्य सः कश्चिद्वीरो मूर्च्छामेत्य वारणस्य शीतैः शीकरैः पुष्करतुषारैः सिक्तः सन् उच्छ्स्वास उज्जीवति स्म, किन्तु तं मूर्च्छामागतं जिघृक्षुर्ग्रहीतुमिच्छुः। ग्रहेः सन्नन्तादुप्रत्ययः। प्रस्थिता। तं वरीतुमागतेत्यर्थः। नाकनारी व्यर्थाकूता तदुज्जीवनाद्विफलमनोरथा सती मुमूर्च्छ। अत्राकूतवैयर्थ्यस्य विशेषणगत्या नाकनारीमूर्च्छाहेतुत्वात्काव्यलिङ्गं मूर्च्छासम्बन्धातिशयोक्त्या सङ्कीर्यते ॥ ५८ ॥

अत्यन्त अधिक आहत कोई वीर मूर्च्छित होकर, हाथीके ठण्डे (सूंडसे निकले) जलकणोंसे सिक्त होने पर श्वास लेने लगा, किन्तु उसे (मरा हुआ जानकर) ग्रहण करनेकी इच्छा करनेवाली देवाङ्गना विफल-मनोरथा होकर मूर्च्छित हो गयी ॥ ५८ ॥

लूनग्रीवात् सायकेनापरस्य द्यामत्युच्चैराननादुत्पतिष्णोः ।
त्रेसे मुग्धैः सैंहिकेयानुकाराद्रौद्राकारादप्सरोवक्त्रचन्द्रैः ॥ ५९ ॥

लूनग्रीवादिति ॥ अपरस्य सायकेन लूनग्रीवाच्छिन्नकण्ठात् अत एव द्यामाकाशं प्रति आशु उच्चैरुत्पतिष्णोरुत्पतनशीलात्। 'अलंकृञ्-' (३।२।१३६) इत्यादिना इष्णुच्प्रत्ययः। अत एव सिंहिकाया अपत्यं पुमान् सैंहिकेयो राहुः। 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः' इत्यमरः। 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२०)। तमनुकरोतीति तदनुकारात्। तत्सदृशादित्यर्थः। कर्मण्यण्प्रत्ययः। रौद्राकाराद्भीषणाकृतेरस्य

१. '—मन्त्रमाला—' इति पा०। २. 'रात्सभ्रूभङ्गादप्सरो—' इति पा०।

वीरस्य आननान्मुखैः सुन्दरैरप्सरसां वक्त्रैरेव चन्द्रैस्त्रेसे त्रस्तम्। भावे लिट्। अत्र राहुहेतुकत्रासस्य चन्द्र एव सम्भवाद्वक्त्रचन्द्रैरिति रूपकं सिद्धम्। तस्य सैंहिकेयानुकारादिति स्पष्टोपमापेक्षत्वात्सङ्करः ॥ ५९ ॥

शत्रुके बाणसे कटी हुई गर्दनवाले, (अतएव) आकाशकी ओर अत्यन्त ऊँचे उछले हुए, राहुके समान भयङ्कर आकार वाले (किसी शूरवीरके) मुखसे अप्सराओंका मुखरूपी चन्द्रमा भयभीत हो गया ॥ ५९ ॥

वृत्तं युद्धे शूरमाश्लिष्य काचिद्रन्तुं तूर्णं मेरुकुञ्जं जगाम।
त्यक्त्वा नाग्नौ देहमेति स्म यावत्पत्नी सद्यस्तद्वियोगासमर्था ॥६०॥

वृत्तमिति ॥ काचिदमरनारी युद्धे वृत्तं मृतम्। 'वृत्तोऽतीते दृढे ख्याते वर्तुलेऽपि वृते मृते' इति विश्वः। शूरमाश्लिष्य रन्तुं तूर्णं मेरोः कुञ्जं गह्वरं जगाम। यावत्तद्वियोगासमर्था तद्विरहासहा पत्नी सद्योऽग्नौ देहं त्यक्त्वा नैति स्म नाजगाम। अत्र मेरुकुञ्जासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ६० ॥

कोई देवाङ्गना, युद्धमें मरे हुए किसी शूरवीरका आलिङ्गन कर (उसके साथ) रमण करनेके लिए शीघ्र सुमेरुके कुञ्जमें चली गयी, जब तक उस (शूरवीर) के विरहको नहीं सह सकनेवाली पत्नी शीघ्र अग्निमें देहको छोड़कर (सती होकर) नहीं पहुंच सकी ॥६०॥

त्यक्तप्राणं संयुगे हस्तिनीस्था वीक्ष्य प्रेम्णा तत्क्षणादुद्गतासुः।
प्राप्याखण्डं देवभूयं सतीत्वादाशिश्लेष स्वव कञ्चित्पुरन्ध्री ॥ ६१ ॥

त्यक्तेति ॥ संयुगे युद्धे त्यक्तप्राणं कञ्चिद्वीरं हस्तिन्यां तिष्ठतीति हस्तिनीस्था करिणीमारूढा सती वीक्ष्य प्रेम्णा तत्क्षणादुद्गतासुर्गतप्राणा स्वैव पुरन्ध्री स्वभार्यैव सतीत्वात्पतिव्रतात्वादखण्डमक्षयं देवभूयं देवत्वम्। 'भुवो भावे' (३।१।१०७) इति क्यप्। प्राप्याशिश्लेष। स्त्रीणां पातिव्रत्यमेव पतिसालोक्यनिदानं नाग्निप्रवेशादिकमिति भावः। अत्र सतीत्वस्य विशेषणगत्या देवभूयहेतुत्वानुक्तेर्न काव्यलिङ्गम्। अतिशयोक्त्यादिकं तु यथासम्भवमूह्यम् ॥ ६१ ॥

युद्धमें मरे हुए किसी शूरवीरको हथिनी पर चढ़ी हुई किसी अपनी ही पतिव्रता स्त्री देखकर तत्काल मर गयी तथा अक्षय देवत्वको प्राप्तकर उस स्त्रीने (उस मृतपतिका) आलिङ्गन किया। (पतिके साथ ही मरनेसे उसने ही अपने पतिका आलिङ्गन किया, किसी देवाङ्गनाने नहीं आलिङ्गन किया। क्योंकि स्त्रियोंका पतिव्रता होना ही जन्मान्तरमें भी उसी पतिको पानेका कारण होता है, अग्निमें सती होना आदि ही पतिको पानेमें कारण नहीं होता) ॥ ६१ ॥

स्वर्गेवासं कारयन्त्या चिराय प्रत्यग्रत्वं प्रत्यहं धारयन्त्या।
कश्चिद्भेजे दिव्यनार्या परस्मिँल्लोके लोकं प्रीणयन्त्येह कीर्त्या ॥ ६२ ॥

---

१. '—खण्डादेव—' इति पा०।

स्वर्गवासमिति ॥ कश्चिद्वीरश्चिराय चिरकालं स्वर्गवासम्। 'शयवासवासिष्व-कालात्' (६।३।१८) इति विकल्पादलुक्। कारयन्त्या अनुभावयन्त्या अहन्यहनि प्रत्यहम्। 'नपुंसकादन्यतरस्याम्' (५।४।१०९) इत्यव्ययीभावे समासान्तष्टच्-प्रत्ययः। 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' (वा०) इत्युक्तम्। प्रत्यग्रत्वं नूतनत्वं धार-यन्त्या। परप्रेमास्पदत्वादिति भावः। लोकं प्रीणयन्त्या अद्भुतत्वं प्रापयन्त्या। प्रीञो ण्यन्ताल्लटः शतरि ङीप् 'धूञ्प्रीञोर्नुग्वक्तव्यः' (वा०) इति नुगागमः। दिव्य-नार्या, परस्मिंल्लोके इह लोके कीर्त्या च भेजे प्राप्तः। भजेः कर्मणि लिट्। रण-मरणाल्लोकद्वयमपि जिगायेत्यर्थः। अत्र दिव्याङ्गनाकीर्त्योः प्रकृतयोरेव तुल्यधर्म-सम्बन्धात्केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता ॥ ६२ ॥

किसी वीरने, चिरकाल तक स्वर्गमें निवास करती हुई, प्रतिदिन नवीनताको धारण करती हुई, शूरवीरोंको आकृष्ट करती हुई स्वर्गीय रमणीको स्वर्गमें तथा उक्तरूपिणी कीर्तिको इस मृत्युलोकमें प्राप्त किया ॥ ६२ ॥

गत्वा नूनं वैबुधं सद्म रम्यं मूर्च्छाभाजामाजगामान्तरात्मा ।
भूयो दृष्टप्रत्ययाः प्राप्तसंज्ञाः साधीयस्ते यद्रणायाद्रियन्ते ॥ ६३ ॥

गत्वेति ॥ मूर्च्छाभाजामन्तरात्मा जीवः रम्यं वैबुधं सद्म दिव्यभवनं गत्वा आज-गाम मूर्च्छासमये सुरलोकरामणीयकं दृष्ट्वा आजगाम। नूनमुत्प्रेक्षायाम्। कुतः। यद्यस्मात्प्राप्तसंज्ञा लब्धबोधाः सन्तः दृष्टप्रत्ययाः दृढविश्वासाः भूयः पुनरपि साधीयो गा (वा) ढतरम्। गा(वा)ढादीयसुनि 'अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ' (५।३।६३) इति साधादेशः। रणाय रणं कर्तुमाद्रियन्ते। उत्सेहिर इत्यर्थः। कर्तरि लट् श्यन्प्रत्ययः। कथंचिदुज्जीवितानां पुनर्मृत्युप्राप्तिः श्रेयोदर्शनहेतुकेति भावः ॥ ६३ ॥

मूर्च्छित लोगोंका अन्तरात्मा अर्थात् जीव, मानो देवोंके रमणीय स्वर्ग को जाकर लौट आया, क्योंकि (युद्धमें मरनेपर रमणीय स्वर्गकी प्राप्ति होती है; ऐसा) दृढ़ निश्चयवाले वे (मूर्च्छित शूरवीर) होशमें आकर युद्धके लिए अत्यधिक आदर करने (उत्साहित होने) लगे ॥

कश्चिच्छस्त्रापातमूढोऽपवोढुर्लब्ध्वा भूयश्चेतनामाहवाय ।
व्यावर्तिष्ट क्रोशतः सख्युरुच्चैस्त्यक्तश्चात्मा का च लोकानुवृत्तिः ॥६४॥

कश्चिदिति ॥ शस्त्रापातमूढः प्रहारमूर्च्छितः कश्चिद्वीरश्चेतनां संज्ञां लब्ध्वा अप-वोढुर्मूर्च्छासमये युद्धभूमेरपनेतुः सख्युर्मित्रस्योच्चैः क्रोशतः आगच्छागच्छेत्याक्रोशति-सति। 'षष्ठी चानादरे' (२।३।३८) इति षष्ठी। क्रोशन्तमनादृत्येत्यर्थः। भूयः पुन-रपि आहवाय रणाय व्यावर्तिष्ट, आत्मा देहस्त्यक्तश्च। तथा हि—लोकानुवृत्तिश्च का। नैवेत्यर्थः। सुहृज्जनानुरोधस्तु हितानर्थिनः परिच्छेत्तुं वृथेत्यर्थः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ६४ ॥

---

१. 'प्राप्य संज्ञाम्' इति पा०। २. '—बाध—' इति पा०।

गहरी चोटसे मूर्छित कोई शूरवीर चैतन्य होने (होशमें आने) पर वहाँ से हटाकर ले जानेवाले मित्रके उच्च स्वरसे कही गयी ('पुनः युद्धमें मत जावो, लौट आवो' आदि) बात नहीं मानकर (युद्धभूमिमें) लौट गया और (वहाँ पर शत्रुसे लड़कर) मर गया; (उसने यह ठीक ही किया, क्योंकि कीर्ति चाहनेवालेके लिए) मित्रादिका अनुरोध क्या वस्तु है ? अर्थात् कुछ भी नहीं ॥ ६४ ॥

भिन्नोरस्कौ शत्रुणाकृष्य दूरादासन्नत्वात्कौचिदेकेषुणैव ।
अन्योन्यावष्टम्भसामर्थ्ययोगादूर्ध्वावेव स्वर्गतावप्यभूताम् ॥ ६५ ॥

भिन्नोरस्काविति ॥ शत्रुणा दूरादाकृष्य आसन्नत्वात्तयोरित्यर्थः । सन्निकृष्टत्वादेकेषुणैव भिन्नोरस्कौ विदारितवक्षसौ कौचिद्वीरावन्योन्यावष्टम्भ एव सामर्थ्यं तस्य योगात्स्वभावादूर्ध्वावेव ऊर्ध्वं तिष्ठन्तावेव स्वर्गतावपि मृतावभूताम् । अपिश्चार्थः । तत्र मृतयोरूर्ध्वावस्थानासंबन्धेऽपि संबन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ६५ ॥

शत्रुके द्वारा (धनुषको) दूरतक खींचकर (समीप होनेसे) एक ही बाणसे बिंधे हुए वक्षःस्थलवाले कोई दो वीर परस्परमें सटे होनेसे खड़े खड़े ही मर गये अर्थात् मरने पर भी एक-दूसरे का सहारा होनेसे भूमि पर नहीं गिरे ॥ ६५ ॥

भिन्नानस्त्रैर्मोहभाजोऽभिजातान् हन्तुं लोलं वारयन्तः स्ववर्गम् ।
जीवग्राहं ग्राहयामासुरन्ये योग्येनार्थः कस्य न स्याज्जनेन ॥ ६६ ॥

भिन्नानिति ॥ अन्ये वीरा अस्त्रैर्भिन्नान्विदारितान् अत एव मोहभाजो मूर्च्छाभाजो मूर्च्छागतानभिजातान्कुलीनान् । 'अभिजातः स्थितौ न्याये कुलीनप्राज्ञयोरपि' इति विश्वः । हन्तुं लोलमुत्सुकं स्ववर्गं वारयन्तः जीवं गृहीत्वा जीवग्राहं ग्राहयामासुः । जीवमेव ग्राहयामासुरित्यर्थः । 'समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः' (३।४।३६) इति णमुल्प्रत्ययः । कषादित्वादनुप्रयोगः । जीवग्रहणप्रयोजनमर्थान्तरन्यासेनाह—तथा हिं, योग्येन जनेन हेतुना कस्य पुंसोऽर्थः कीर्त्यादिप्रयोजनं न स्यात् । स्यादेव सर्वस्यापीत्यर्थः । अतो वीराणां रणेष्वप्यतिपरिक्षतरक्षणमेव श्रेयः । 'नार्तं नातिपरिक्षतम्' (मनु० ७।९३) इति हननिषेधाद्विति भावः ॥६६॥

अस्त्रोंसे विद्ध होनेसे मूर्छित हुए कुलीन वीरोंको मारनेके लिए उद्यत अपने पक्षवालों को मना करते हुए कुछ वीरोंने (उन मूर्छितोंको) जीवितावस्थामें ही पकड़वा लिया, (मारने नहीं दिया, यह उचित ही किया; क्योंकि) योग्य व्यक्तिसे किसे प्रयोजन नहीं रहता ? अर्थात् सभीको योग्य व्यक्तिसे प्रयोजन रहता है ॥ ६६ ॥

भग्नैर्दण्डैरातपत्राणि भूमौ पर्यस्तानि प्रौढचन्द्रद्युतीनि ।
आहाराय प्रेतराजस्य रौप्यस्थालानीव स्थापितानि स्म भान्ति ॥६७॥

१. 'रूप्य—' इति पा० ।

भग्नैरिति ॥ भग्नैर्दण्डैर्हेतुना। भग्नदण्डत्वादिति भावः। भूमौ पर्यस्तान्युत्तानपतितानि। प्रौढचन्द्रद्युतीनि पूर्णेन्दुप्रमाण्यातपत्राणि। श्वेतच्छत्राणीत्यर्थः। प्रेतराजस्यान्तकस्याहाराय भोजनाय स्थापितानि विहितानि रौप्यस्थालानि राजतभाजनानीव भान्ति स्मेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६७ ॥

दण्डेके कट जानेसे जमीन पर लुढ़के हुए पूर्णचन्द्रकी कान्तिवाले (शुभ्रवर्ण) छाते, यमराजके भोजनके लिए रखे गये चाँदीके थालके समान शोभते थे ॥ ६७ ॥

रेजुर्भ्रष्टा वक्षसः कुङ्कुमाङ्का मुक्ताहाराः पार्थिवानां व्यसूनाम् ।
हासाह्लादयाः पूर्णकामस्य मन्ये मृत्योर्दन्ताः पीतरक्तासवस्य ॥ ६८ ॥

रेजुरिति ॥ व्यसूनां मृतानां पार्थिवानां वक्षसो भ्रष्टाः पतिताः कुङ्कुमाङ्काः। कुङ्कुमारुणिता इत्यर्थः। मुक्ताहाराः पूर्णकामस्य सकलराजकसंहारात्सफलमनोरथस्य अत एव पीतं रक्तमेवासवं येन तस्य मृत्योः हासादट्टहासाह्लुब्धया दृश्या दन्ता रेजुरिति मन्ये इत्युत्प्रेक्षा ॥ ६८ ॥

मरे हुए राजाओंकी छातीसे गिरे हुए कुङ्कुमलिप्त (अरुणवर्ण) मोतियोंके हार, (सम्पूर्ण राजाओंके युद्धमें संलग्न हो जानेसे) पूर्ण मनोरथवाले तथा रक्तरूपी मद्यका पान किये हुए कालके अट्टहाससे दिखलायी पड़ते हुए दाँत शोभ रहे थे, ऐसा मैं मानता हूँ ॥ ६८ ॥

निम्नेष्वोघीभूतमस्त्रक्षतानामस्रं भूमौ यच्चकासाञ्चकार ।
रागार्थं तत्किं तु कौसुम्भमम्भः संव्यानानामन्तकान्तःपुरस्य ॥ ६९ ॥

निम्नेष्विति ॥ भूमौ निम्नेषु निम्नस्थलेष्वोघीभूतं राशीभूतमस्त्रक्षतानां सम्बन्धि यदस्रं रक्तं चकासाञ्चकार दिदीपे। 'चकासृ दीप्तौ' इति धातोर्लिट्। 'कास्यनेकाच आम्वक्तव्यः' इत्याम्प्रत्यये कृञोऽनुप्रयोगः। तदस्रमन्तकान्तःपुरस्य कृतान्तावरोधस्य संव्यानानामुत्तरीयाणां रागार्थं रञ्जनार्थं कुसुम्भस्येदं कौसुम्भं अम्भः किं नु कुसुम्भद्रवो नु वेत्युत्प्रेक्षा ॥ ६९ ॥

नीची भूमिमें अर्थात् युद्धभूमिके लघुतम गर्तमें एकत्रित आयुधसे कटे हुए लोगोंका रक्त जो शोभ रहा था, वह यमराजकी रमणियोंके दुपट्टेको रंगनेके लिए रखा हुआ कुसुम्भपुष्पों का (घोला हुआ) पानी था क्या? अर्थात् युद्धभूमिमें शस्त्राहत वीरोंके शरीरसे बह कर गड्ढे में एकत्रित हुआ रक्त ऐसा प्रतीत होता था कि यह मानो यमराजकी रानियोंके दुपट्टोंको रंगने के लिए कुसुम्भ–पुष्पका घोला हुआ पानी हो ॥ ६९ ॥

रामेण त्रिःसप्तकृत्वो ह्रदानां चित्रं चक्रे पञ्चकं क्षत्रियास्रैः ।
रक्ताम्भोभिस्तत्क्षणादेव तस्मिन्संख्येऽसंख्याः प्रावहन्द्वीपवत्यः[1] ॥ ७० ॥

रामेणेति ॥ रामेण भार्गवेण सामर्थ्यात्त्रीन्वारान् त्रिः। 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्'

१. 'प्रासरन्' इति पा०।

(५।४।१८) इति सुच्प्रत्ययः। त्रिरावृत्ताः सप्त त्रिःसप्तकृत्वः। एकविंशतिवारानित्यर्थः। 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' (५।४।१७) इति कृत्वसुच् प्रत्ययः। क्षत्रियास्त्रै राजन्यरक्तैः चित्रमद्भुतं ह्रदानां पञ्चपरिमाणमस्य पञ्चकम्। 'संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु' (५।१।५८) इति सङ्घार्थे कन्प्रत्ययः। चक्रे कृतम्। तस्मिन्संख्ये युद्धे। 'मृधमास्कन्दनं संख्यम्' इत्यमरः। क्षणादेव रक्तैरेवाम्भोभिः असंख्या द्वीपवत्यो नद्यः प्रावहन्प्रासरन्। रामेण बहुकालेन च स्यमन्तपञ्चकाख्यं ह्रदपञ्चकमेव कथञ्चित्कृतम्। अत्र तु क्षणमात्रेणासंख्या नद्यः प्रवृत्ता इत्युपमानादुपमेयस्याधिक्योक्तेर्व्यतिरेकालङ्कारः॥ ७०॥

परशुरामजीने क्षत्रियोंके रक्तसे इक्कीस बार पाँच तडागोंको किया अर्थात् इक्कीस बार क्षत्रियोंको मारकर उनके रक्तसे पाँच तडागों को भरा, तथा उस (यादव तथा शिशुपाल पक्षीय क्षत्रियोंके) युद्धमें क्षणमात्रमें ही रक्तरूप जलसे असङ्ख्य नदियाँ बहने लगीं॥७०॥

संदानान्तादङ्घ्रिभिः शिक्षितास्त्रैराविश्याधः शातशस्त्रावलूनाः।
कूर्मौपम्यं व्यक्तमन्तर्नदीनामैभाः [1]प्रापन्नङ्घ्रयोऽसृङ्मयीनाम्॥ ७१॥

संदानान्तादिति॥ शिक्षितास्त्रैरभ्यस्तास्त्रविद्यैरङ्घ्रिभिरायुधीयैः अधः रथानामधस्तादाविश्य प्रविश्य सन्दानान्ताद्बन्धनप्रदेशात्। गुल्फप्रदेशमधिकृत्येत्यर्थः। 'संदानं पशूनां पादबन्धनम्' इति विश्वः। शातं शितम्। 'शाच्छोरन्यतरस्याम्' (७।४।४१) इति विकल्पादीत्वाभावः। तेन शस्त्रेणावलूनाश्छिन्नाः। इभानामिमे ऐभाः अङ्घ्रयश्चरणाः असृङ्मयीनां रक्तविकाराणां नदीनामन्तरभ्यन्तरे व्यक्तं कूर्मौपम्यं कमठोपमाम्। स्वार्थे ष्यञ्प्रत्ययः। अत एवौपम्यादयः चातुर्वर्ण्यवदिति वामनः। प्रापन् प्राप्ताः। आपो लुङि 'पुषादि–' (३।१।५५) इति च्लेरङादेशः। उपमा॥

अस्त्र चलानेमें पूर्णतः शिक्षित योद्धाओंके द्वारा रथके नीचे घुसकर तीक्ष्ण शस्त्रोंसे घुटने के नीचे (सीकड़ बाँधनेकी जगह) काटे गये हाथियोंके पैर रक्तकी नदियोंमें मानो कछुवों-जैसे शोभते थे॥ ७१॥

[2]पद्माकारैर्योधवक्त्रैरिभानां कर्णभ्रष्टैश्चामरैरेव हंसैः।
सोपस्काराः [3]प्रावहन्नस्रतोयाः स्रोतस्विन्यो वीचिषूच्चैस्तरद्भिः॥ ७२॥

पद्माकारैरिति॥ उच्चैर्वीचिषु तरद्भिः प्लवमानैः पद्माकारैः कमलकल्पैर्योधवक्त्रैर्भटमुखैरिभानां कर्णेभ्यो भ्रष्टैश्चामरैर्हंसैः सोपस्काराः सपरिकराः। 'सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे' इति सुडागमः। अस्रतोया रक्तजलाः स्रोतस्विन्यो नद्यः प्रावहन्। अत्र रूपकोपमयोः सङ्करः सुगमः॥ ७२॥

बड़े–बड़े तरङ्गोंमें तैरते हुए, योधाओंके मुखरूपी कमलोंसे तथा हाथियोंके कानोंसे गिरे हुए चामररूप हंसोंसे व्याप्त रक्तरूपी जलवाली नदियाँ भरी हुई बह रही थीं॥ ७२॥

१. '—न्नंह्रयो–' इति पा०। २. '–वक्त्रैर्गजानाम्' इति पा०। ३. 'प्राभव–' इति पा०।

उत्क्रान्तानामामिषायोपरिष्टादध्याकाशं बभ्रमुः पत्रवाहाः ।
मूर्ताः प्राणा नूनमद्याप्यवेक्षामासुः कायं त्याजिता दारुणास्त्रैः ॥७३॥

उत्क्रान्तानामिति ॥ पत्राणि वहन्तीति पत्रवाहाः पत्रिणः । आमिषाय आमिषमत्तुम् । 'क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः' (२।३।१४) इति चतुर्थी । उत्क्रान्तानां मृतानामुपरिष्टादध्याकाशमाकाशे । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । बभ्रमुः भ्रेमुः । 'वा जॄभ्रमुत्रसाम्' (६।४।१२४) इति विकल्पादेत्वाभ्यासलोपाभावः । अत्रोत्प्रेक्ष्यते—दारुणास्त्रैर्घोरास्त्रैः कायं त्याजिता विसर्जिताः । त्यजेर्ण्यन्ताद् द्विकर्मकात्कर्मणि क्तः । 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्मणः' इति वचनात् । मूर्ता मूर्तिमन्तः प्राणा अद्येदानीमपि कायमवेक्षामासुः पूर्वाभिमानात्पुनः कायप्रवेशापेक्षिणो मूर्ताः प्राणा एव नूनमाराद् भ्रमन्तीत्युत्प्रेक्षार्थः । 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (३।१।३६) इत्याम्प्रत्ययः 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' (३।१।४०) इत्यस्तेरनुप्रयोगः 'आम्प्रत्ययवत्—' (१।३।६३) इत्यत्र कृञ एवेति नियमादस्तेर्नात्मनेपदम् ॥ ७३ ॥

मांसके लिए मरे हुए लोगोंके ऊपर आकाशमें घूमते हुए पक्षी ऐसे ज्ञात होते थे कि मानो इस समय (मरने पर) भी भयङ्कर शस्त्रोंसे शरीर को छोड़े हुए (शूरवीरोंके) मूर्तिमान् प्राण ही उड़ रहे हों ॥ ७३ ॥

आतन्वद्भिर्दिक्षु पत्त्राग्रनादं[2] प्राप्तैर्दूरादाशु तीक्ष्णैर्मुखाग्रैः ।
आदौ रक्तं सैनिकानामजीवैर्जीवैः पश्चात्पत्रिपूगैरपायि ॥ ७४ ॥

आतन्वद्भिरिति ॥ दिक्षु पत्त्राग्रनादं पक्षान्तघोषं आतन्वद्भिर्विस्तृणद्भिः दूरादाशु प्राप्तैरागतैः अजीवैरचेतनैः । पचाद्यजन्तेन नञ्समासः । पत्रिपूगैः बाणव्रातैरित्यर्थः । तीक्ष्णैर्मुखाग्रैः करणैः सैनिकानां रक्तमपायि पीतम् । पिबतेः कर्मणि लुङ् । 'आतो युक्चिण्कृतोः' (७।३।३३) इति युगागमः । पश्चाज्जीवैश्चेतनैः पत्रिपूगैः पक्षिसङ्घैः तीक्ष्णैः मुखाग्रैश्चञ्चुपुटैः करणैरपायि । अत्रोभयेषां पत्रिणां प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतिविषयः श्लेषः ॥ ७४ ॥

दिशाओंमें पङ्खोंके अग्रभागके ध्वनिको फैलाते हुए तथा दूरसे शीघ्र अर्थात् वेगपूर्वक आये हुए निर्जीव पत्रि–समूहों (बाणोंके समूहों) ने तीक्ष्ण मुखाग्र (नुकीले फलों) से सैनिकोंके रक्तको पहले पीया तथा दिशाओंमें ······ आये हुए सजीव पत्रि–समूहों (पक्षियों के झुण्डों) ने तीक्ष्ण चोंचोंसे सैनिकोंके रक्तको बादमें पीया ॥ ७४ ॥

ओजोभाजां यद्रणे संस्थितानामादत्तीव्रं सार्धमङ्गेन नूनम् ।
ज्वालाव्याजादुद्वमन्ती तदन्तस्तेजस्तारं दीप्तजिह्वा ववाशे ॥ ७५ ॥

ओजोभाजामिति ॥ दीप्ता ज्वलन्ती जिह्वा यस्याः सा दीप्तजिह्वा शिवा । रणे

---

१. '—व्यपेक्षा—' इति पा० । २. 'पक्षाग्रवात'''मुखेषु' इति पा० ।

संस्थितानां मृतानां ओजोभाजामोजस्विनां अङ्गेन गात्रेण सार्धं यत्तीव्रं तिग्मं तेज आददभक्षयत्। अदेर्लङ् 'अड्: सर्वेषाम्' (७।३।१००) इत्यडागमेऽपृक्तस्य 'आडजादीनाम्' (६।४।७२) इत्याडागमोऽङ्गस्य 'आटश्च' (६।१।९०) इति वृद्धिः। तदन्तरन्तरेऽन्तरितं तेजो ज्वालाव्याजान्मुखोल्काच्छलादुद्वमन्ती तारमुच्चैर्नवाशे रौति स्म। 'तिरश्चां वाशितं रुतम्' इत्यमरः। नूनमित्युत्प्रेक्षायाम्। अत्र व्याजशब्देन ज्वालात्वापह्नवेन तेजस्त्वोत्प्रेक्षणेति सापह्नवोत्प्रेक्षेति सर्वस्वकारः॥ ७५॥

जलती हुई जीभवाली स्यारिनने, युद्धमें मरे हुए तेजस्वियोंके शरीरके साथ जो तेजको खोया, भीतरमें गये हुए उस तेजको मानो ज्वालाके छलसे वमन करती (उगलती) हुई वह स्यारिन उच्च स्वरसे चिल्लाने (फेंकारने) लगी॥ ७५॥

नैरन्तर्यच्छिन्नदेहान्तरालं दुर्भक्षस्य ज्वालिना वाशितेन।
योद्धुर्बाणप्रोतमादीप्य मांसं पाकापूर्वस्वादमादे शिवाभिः॥ ७६॥

नैरन्तर्येति॥ नैरन्तर्येणाविच्छेदेन छिन्नं देहस्यान्तरालं यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा बाणैः प्रोतं स्यूतम् अतएव दुर्भक्षस्य भक्षितुमशक्यस्य। कृच्छ्रार्थे खल्प्रत्ययः। योद्धुर्योधस्य सम्बन्धि मांसं ज्वालिना ज्वालावता वाशितेन रुतेन। शिवानां वाशने जिह्वा ज्वलतीति प्रसिद्धिः। आदीप्य प्रज्वाल्य। बाणदाहाय मांसपाकाय चेति भावः। अतएव पाकेनापूर्वोऽभिनवः स्वादो रुचिर्यस्य तत्तथा शिवाभिर्गोमायुभिः। 'स्त्रियां शिवा भूरिमायगोमायुमृगधूर्तकाः' इत्यमरः। आदे जघसे। भक्षितमित्यर्थः। 'लिट्यन्यतरस्याम्' (२।४।४०) इति विकल्पाददेर्घस्लादेशः। वाशितोत्थया जिह्वाज्वालया दग्धेषुप्रतिबन्धेन पाकरुचिरं जघस इत्यर्थः। अत्र पाकापूर्वास्वादाद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः॥ ७६॥

निरन्तर (सघन-थोड़ा भी स्थान नहीं छोड़कर) छिन्न देहके अन्तरालवाले, तथा बाणोंसे व्याप्त (अतएव) कठिनाईसे भक्षण करने योग्य योद्धाके मांसको, ज्वालायुक्त फेंकारने (चिल्लाने) से जलकर पकनेसे अपूर्व (कच्चेसे भिन्न) स्वादवाला मांस स्यारिनने खाया।

विमर्श—किसी योद्धाका शरीर बाणोंसे इतना विध गया था कि उसके मांसको खाना स्यारिनोंके लिए बहुत कठिन कार्य था, अतएव इन्होंने चिल्लाकर मुखसे निकलती हुई ज्वालासे बाणोंको जला दिया तथा उस ज्वालासे पककर मांस भी अपूर्व स्वादयुक्त हो गया, ऐसे मांसको उन स्यारिनोंने खाया। स्यारिनोंके चिल्लानेपर उनके मुखसे अग्निज्वाला निकलती है ऐसी प्रसिद्धि है॥ ७६॥

ग्लानिच्छेदी क्षुत्प्रबोधाय पीत्वा रक्तारिष्टं शोषिताजीर्णशेषम्।
स्वादुंकारं कालखण्डोपदंशं क्रोष्टा डिम्बं व्यष्वणद्व्यस्वनच्च॥ ७७॥

ग्लानीति॥ क्रोष्टा जम्बुकः क्षुत्प्रबोधाय ग्लानिच्छेदी खेदहारी शोषितो नाशितः

१. 'च्छन्न'......'क्ष्यस्य' इति पा०। २. 'व्रात' इति पा०। ३. 'दिक्षुत्प्र' इति पा०।

अजीर्णशेषो येन तद्रक्तमेवारिष्टं पानविशेष इति रूपकम् । तत्पीत्वा स्वादुंकारं स्वादूकृत्य । 'स्वादुमि-' (३।४।२६) इति णमुल् । कालखण्डेन यकृता उपदंशं कालखण्डं उपदंशं कृत्वेत्यर्थः । 'कालखण्डयकृती तु समे' इत्यमरः । 'उपदंशस्तृतीयायाम्' (३।४।४७) इति णमुल् । कालखण्डस्य दशनक्रियाकर्मत्वेऽपि भुजिक्रियाकरणत्वात्तृतीयोपपदतया 'तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम्' (२।२।२१) इति विकल्पेनोपपदसमासः । डिम्बं कलेवरं व्यष्वणत् । भुक्तवानित्यर्थः । 'वेश्च स्वनो भोजने' (८।३।६९) इति षत्वम् । व्यस्वनदवादयच्चेति समुच्चयः । अभोजनार्थत्वात्षत्वं न ॥

स्यार, भूखको जगानेके लिए अजीर्ण तथा ग्लानि (थकावट) को दूर करनेवाले रक्तरूपी मद्यको पींकर कलेजेके मांस रूप उपदंश (चाट—स्वादपरिवर्तनार्थं बीच-बीचमें खाया जानेवाला नमकीन एवं चरपरा चना आदि पदार्थ) को स्वादयुक्त करके मांसको खाया तथा जोरसे चिल्लाया ('हुआ, हुंआ' करने लगा) ॥ ७७ ॥

क्रव्यात्पूगैः पुष्कराण्यानकानां प्रत्याशाभिर्मेदसो दारितानि ।
आभीलानि प्राणिनः प्रत्यवस्यन्कालो नूनं व्याददावाननानि ॥ ७८ ॥

क्रव्यादिति ॥ क्रव्यमदन्तीति क्रव्यादो मांसभक्षकाः कङ्कगृध्रादयः । 'क्रव्ये च' (३।२।६९) इति विट् प्रत्ययः । तेषां पूगैः कर्तृभिः मेदसो वसायाः । 'मेदस्तु वपा वसा' इत्यमरः । प्रत्याशाभिस्तृष्णाभिर्दारितानि मेदस्वित्वभ्रान्त्या पाटितान्यानकानां तूर्याणां पुष्कराणि मुखानि । 'पुष्करं करिहस्ताग्रे वाद्यभाण्डमुखे जले' इत्यमरः । प्राणिनः करितुरगादीन् प्रत्यवस्यन्नभ्यवहरन् । 'अभ्यवहारः प्रत्यवसनं' इत्यमरः । कालोऽन्तकः आभीलानि भयङ्कराणि । 'आभीलं भोजनं जग्धिः' इति हलायुधः । कालोऽन्तकः आभीलानि भयङ्कराणि । 'आभीलं भीमकृच्छ्रयोः' इति विश्वः । आननानि व्याददौ विददार । 'आङो दोऽनास्यविहरणे' (१।३।२०) इत्यस्य प्रत्युदाहरणमेतत् । यानि विदारितानि पुष्कराणि तान्येवाननानि । नूनमित्युत्प्रेक्षायाम् ॥ ७८ ॥

कच्चे मांसको खानेवालों (गीध आदि) के समूहों द्वारा चर्बीके लोभसे फाड़े गये नगाड़ोंके मुख ऐसे मालूम पड़ते थे कि मानो प्राणियोंको खाते हुए कालने भयङ्कर मुखोंको फैला लिया है ॥ ७९ ॥

कीर्णा रेजे साजिभूमिः समन्तादप्राणद्भिः प्राणभाजां प्रतीकैः ।
बह्वारम्भैरर्धसंयोजितैर्वा रूपैः स्रष्टुः सृष्टिकर्मान्तशाला ॥ ७९ ॥

कीर्णेति ॥ अप्राणद्भिरजीवद्भिः । भिन्नत्वाच्छिन्नप्राणैरित्यर्थः । 'अन प्राणने' इति धातोर्लटः शत्रादेशः । प्राणभाजां प्राणिनां प्रतीकैरवयवैः । 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवः' इत्यमरः । समन्तात्कीर्णा सा आजिभूमिः ईषदसमाप्तारम्भैरिति बह्वारम्भैः । किञ्चिदूनसृष्टैरित्यर्थः । 'विभाषा सुपो बहुच्पुरस्तात्तु' (५।३।६८) इति बहुच्प्रत्ययः । तथार्धसंयोजितैरर्धसृष्टैश्च रूपैराकारैः । 'रूपं स्वरूपे सौन्दर्ये आकारश्लेषयोरपि' इति विश्वः।

---

१. 'रुच्ये' इति पा० ।

कीर्णा स्रष्टुः धातुः सृष्टिकर्मान्तशाला वा। सृष्टिकर्मणो नियतागारमिव रेज इत्युत्प्रेक्षा॥

निष्प्राण (मरे हुए) जीवोंके अङ्गोंसे सर्वत्र व्याप्त वह युद्धभूमि, मानो समाप्तप्राय एवं आधा रचे गये रूपोंसे व्याप्त ब्रह्माके सृष्टि-रचना-गृहके समान शोभती थी ॥ ७९ ॥

आयन्तीनामविरतरयं राजकानीकिनीना-
मित्थं सैन्यैः सममलघुभिः श्रीपतेरूर्मिमद्भिः।
आसीदोघैर्मुहुरिव महद्वारिधेरापगानां
दोलायुद्धं कृतगुरुतरध्वानमौद्धत्यभाजाम् ॥ ८० ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्रयङ्के सङ्कुलयुद्धवर्णनो नामाष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

आयन्तीनामिति ॥ इत्थमुक्तरीत्या अविरतरयमविच्छिन्नवेगं यथा तथा आयन्तीनामभिधावन्तीनां औद्धत्यभाजां प्रागल्भ्यभाजां राज्ञां समूहा राजकानि। 'गोत्रोक्षो-' (४।२।३९) इत्यादिना वुञ् प्रत्ययः। तेषामनीकिन्यः सेनास्तासां राजकानीकिनीनां अलघुभिर्महद्भिः ऊर्मिमद्भिस्तरङ्गवद्भिः श्रीपतेः कृष्णस्य सैन्यैः समं सेनाभिः सह अपां समूह आपम्। 'भिक्षादिभ्योऽण्' (४।२।३८)। आपेन गच्छन्तीति आपगानामुक्तविशेषणविशिष्टानां वारिधेरोघैः प्रवाहैरिव कृतो गुरुतरध्वनिर्महाध्वनिः यस्मिंस्तन्महद्दोलायुद्धं अनियतजयपराजययुद्धं मुहुरासीत्। उपमा। मन्दाक्रान्ता वृत्तमेतत् ॥ ८० ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां शिशुपालवधकाव्यव्याख्यायां सर्वंकषाख्यायामष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार निरन्तर वेगपूर्वक दौड़ती हुई एवं उद्धत, राजसमूहकी सेनाओंका, बड़े-बड़े तरङ्गोंवाली श्रीकृष्ण भगवान्‌की सेनाओंके साथ अत्यन्त कोलाहलके साथ ऐसा दोलायुद्ध होने लगा, जैसा निरन्तर वेगपूर्वक आगे बढ़ती हुई नदियोंका समुद्रके बड़े-बड़े तरङ्गोंके साथ अत्यन्त कोलाहलके साथ दोलायुद्ध होता है।

विमर्श—जिस प्रकार बड़े वेगसे आगेकी ओर बढती हुई नदियाँ समुद्रके बड़े-बड़े तरङ्गोंमें बहुत शब्द करती हुई मिलकर हिलोरा खाने लगती हैं, उसी प्रकार बड़े वेगके साथ आगे बढ़ती हुई शिशुपालपक्षीय राजाओंकी उद्धत सेनाएँ श्रीकृष्ण भगवान्‌की सेनामें बड़े कोलाहलके साथ दोलायुद्ध करने (कभी पीछे हटने तथा कभी आगे बढ़ने) लगीं। यहाँपर शिशुपालपक्षीय राजसमूहकी सेनाको नदियोंकी तथा श्रीकृष्ण भगवान्‌की सेनाको समुद्रकी उपमा देकर कवि ने श्रीकृष्ण भगवान्‌की सेनाका श्रेष्ठ होना सूचित किया है ॥८०॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'सङ्कुलयुद्धवर्णन' नामक अष्टादश सर्ग समाप्त हुआ ॥१८॥

---

१. 'आयान्ती' इति पा०। २. 'आसीत्तोयैः' इति पा०।

एकोनविंशः सर्गः

तदेवमष्टादशसर्गे तुमुलं युद्धमभिधायेदानीमेकोनविंशसर्गे द्वन्द्वयुद्धमनुष्टुभेन छन्दसा चित्रबन्धेन वर्णयितुमारभते—

अथोत्तस्थे रणाटव्यामसुहृद्वेणुदारिणा।
नृपाङ्घ्रिपौघसंघर्षादग्निवद्वेणुदारिणा ॥ १ ॥

अथेत्यादि ॥ अथैवं तुमुलयुद्धानन्तरं। रणोऽटवीवेत्युपमितसमासः। अग्निवदिति तद्धितौपम्यलिङ्गात्। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम्। तस्यां रणाटव्यामसुहृदः शत्रवो वेणवो वंशा इव। 'वेणुमस्करतेजनाः' इति वंशपर्यायेष्वमरः। तान् दारयति यस्तेनासुहृद्वेणुदारिणा वेणुदारिणा बाणात्मजेन नृपा अङ्घ्रिपाः पादपा इव तेषामोघाः सङ्घास्तेषां संघर्षान्मत्सराच्छ्लेषाच्च अग्निवदग्नितुल्यम्। 'तेन तुल्यम्—' (५।१।११५) इति तुल्यार्थे वतिप्रत्ययः। उत्तस्थे उत्थितम्। भावे लिट्। अत्र 'अग्निवत्' इति तुल्यार्थेन वतिना धर्मव्यवधाने सादृश्यप्रतिपादिना उपमानोपमेयसमानधर्मसादृश्यप्रतिपादकानां चतुर्णां चोपादानाच्चेयमार्थी तद्धितगता पूर्णोपमा। सा च रणाटव्यादिसमासगतोपमासापेक्षेति सङ्करः। सर्गेऽस्मिन्नानुष्टुभं वृत्तम्। 'पञ्चमं लघु सर्वत्र सप्तमं द्विचतुर्थयोः। गुरु षष्ठं च सर्वेषामेतच्छ्लोकस्य लक्षणम् ॥' इति तल्लक्षणात्। अत्रैकान्तरक्रमेण यमकाद्यन्यतमशब्दालङ्कारनियमः सर्वत्र यथासम्भवमर्थालङ्कारश्च। तत्र यमकलक्षणमुक्तं दण्डिना—'अव्यपेतव्यपेतात्मा व्यावृत्तिर्वर्णसंहतेः। यमकं तच्च पादानामादिमध्यान्तगोचरम् ॥ एकद्वित्रिचतुष्पादैर्यमकानां विकल्पना। आदिमध्यान्तमध्यान्तमध्याद्याद्यान्तसर्वतः ॥' इति। अत्रेदं समपादान्तं यमकं द्विपाद यमकभेदः ॥ १ ॥

(पूर्व सर्गमें घनघोर युद्ध का वर्णनकर इस उन्नीसवें सर्गमें अनुष्टुप् छन्दसे विविध चित्रबन्धों द्वारा द्वन्द्वयुद्धका वर्णन करते हैं (इस घनघोर युद्ध होने) के बाद वनके समान युद्धमें बाँसोंके समान शत्रुओंको विदीर्ण (नष्ट) करनेवाला वृक्षोंके समान राजाओंके समूहके द्वेष (पक्षा०—परस्परमें रगड़ लगने) से अग्निके समान, (बाणासुरका पुत्र) वेणुदारी (युद्ध करनेके लिए) उठा।

विमर्श—जिस प्रकार वनमें बाँसोंको जलाकर नष्ट करनेवाली वृक्ष-समूहकी रगड़से अग्नि उत्पन्न होती है; उसी प्रकार युद्धमें शत्रुओंको मारकर नष्ट करनेवाला राज-समूहके द्वेषसे वेणुदारी (युद्ध के लिए) उठ खड़ा हुआ ॥ १ ॥

आपतन्तममुं दूरादूरीकृतपराक्रमः।
बलोऽवलोकयामास मातङ्गमिव केसरी ॥ २ ॥

आपतन्तमिति ॥ आपतन्तमाधावन्तममुं वेणुदारिणं दूरात्। ऊरीकृतपराक्रमो-

ऽङ्गीकृतपौरुषस्तेन । सहानुगतसम्प्रहार इत्यर्थः । बलो बलभद्रः केसरी सिंहो मातङ्गं गजमिवावलोकयामास । अनयोरिव तदन्तरमिति भावः । अतोऽलङ्कारेण वस्तुध्वनिः॥

वेगसे दौड़कर आते हुए इसे (वेणुदारी को), दूरसे महापराक्रमशाली बलरामजीने उस प्रकार देखा; जिस प्रकार सिंह (वेगसे सामने आते हुए) हाथीको देखता है। (बलरामको सिंह तथा वेणुदारीको हाथीके साथ उपमा देनेसे वेणुदारीका बलरामके द्वारा शीघ्र मारा जाना ध्वनित होता है) ॥ २ ॥

॥ एकाक्षरपादः ॥

जजौजोजाजिजिज्जाजी तं ततोऽतिततातितुत् ।
भाभोऽभीभाभिभूभाभूरारारिररिरीररः ॥ ३ ॥

जजाविति ॥ ततोऽवलोकनानन्तरं जजन्तीति जजा योधाः । 'जज युद्धे' पचाद्यच् । जजानामोजसा जाता जजौजोजा तामाजिं जयतीति जजौजोजाजिजित्। जयतेः क्विप् । जजतीति जाजी योधी । ताच्छील्ये णिनिः । अतिततानत्युद्धतानतितुदति अतिव्यथयतीत्यतितुत् । तुदतेः क्विप् । भस्यामेवाभा यस्य स भाभो नक्षत्रकान्तिः । 'नक्षत्रमृक्षं भं तारा' इत्यमरः । नास्ति भीर्येषां तेऽभियो निर्भीकाः तानिभान्गजानभिभवतीति अभीभाभिभूः । क्विप् । तस्याः भासस्तेजसो भूः स्थानम् अभीभाभिभूभाभूः । अराः सन्त्येषामित्यरीणि चक्राणि तैः रीणन्ति गच्छन्तीति अरिरियो रथाः । 'री गतिश्लेषणयोः' इति धातोः क्विप् । तेषां ईरं प्रेरणं राति अरिरीररो रथिकः । 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) अरिः शत्रुर्बलभद्रः तं वेणुदारिणमार। योद्धुमाससारेत्यर्थः । 'ऋ गतौ' इति धातोर्लिट् द्विर्भावे कृते णलि वृद्धिः अभ्यासस्योरदत्वे 'अत आदेः' (७।४।७०) इति दीर्घ पुनः सवर्णदीर्घः । भिन्नैकाक्षरपादाक्योऽनुप्रासभेदः । भाभ इत्युपमानुप्रासयोरेकवाचकानुप्रवेशलक्षणसङ्करः ॥ ३ ॥

योद्धाओंके पराक्रमसे उत्पन्न युद्धको जीतनेवाले, अत्यन्त उद्धत (शत्रुओं) को अतिशय व्यथित करनेवाले, नक्षत्रके समान कान्तिवाले (शुभ्रवर्ण), निर्भीक हाथियोंको पराजित करनेवाले रथारूढ बलरामजी उस (वेणुदारी) के साथ युद्ध करनेके लिए चल पड़े ॥ ३ ॥

भवन्भयाय लोकानामाकम्पितमहीतलः ।
निर्घात इव निर्घोषभीमस्तस्यापतद्रथः ॥ ४ ॥

भवन्निति ॥ लोकानां जनानां, जगतां च । 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । भयाय भवन्संपद्यमानः । भयं जनयन्नित्यर्थः । 'क्लृपि सम्पद्यमाने च' (वा०) इति क्लृपेरर्थनिर्देशाच्चतुर्थी । आकम्पितमहीतलः । भूकम्पं कुर्वन्नित्यर्थः । निर्घोषेण भीमो भयङ्करः तस्य बलभद्रस्य रथो निर्घात इवापतदधावत । श्रौती पूर्णोपमा ॥ ४ ॥

लोगों (पक्षा०—संसार) को भयभीत करता हुआ; भूमिको कम्पित करता हुआ, भयङ्कर शब्द करनेवाला (बलरामजीका) रथ वज्र गिरनेके समान (युद्धके मैदानमें) दौड़ने लगा ॥ ४ ॥

रामे रिपुः शरानाजिमहेष्वास विचक्षणे।
कोपादथैनं शितया महेष्वा स विचक्षणे ॥ ५ ॥

राम इति ॥ रिपुर्वेणुदारी आजिमहेषु रणोत्सवेष्वित्ति रूपकम्। 'मह उद्धव उत्सवः' इत्यमरः। विचक्षणे प्रगल्भे। चिचष्ट इति कर्तरि ल्युडिति न्यासकारः। 'अस्थानयोश्च प्रतिषेधो वक्तव्यः' इति चक्षिङः ख्याञादेशाभावः। रामे बलभद्रे शरान् आस चिक्षेप। अस्यतेर्लिट् 'अत आदेः' (७।४।७०) इत्यभ्यासदीर्घे सवर्णदीर्घः। कोपात्स राम एनं वेणुदारिणं शितया शातया। 'शाच्छोरन्यतरस्याम्' (७।४।४१) इतीत्वम्। महेष्वा महेषुणा। 'पत्त्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः। विचक्षणे जघान। 'क्षणु हिंसायाम्' इति धातोः कर्तरि लिट्। अभिन्नसमपादो नाम पादाभ्यासयमकभेदः। एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥

शत्रु (वेणुदारी) ने युद्धरूप उत्सवमें चतुर बलरामजीपर बाणको फेंका, इसके बाद उन्होंने (बलरामजीने) तेज बाणसे उसे (वेणुदारीको) मारा ॥ ५ ॥

दिशमर्कमिवावाचीं मूर्च्छागतमपाहरत्।
मन्दप्रतापं तं सूतः शीघ्रमाजिविहायसः ॥ ६ ॥

दिशमिति ॥ मूर्च्छागतं रामेषुपातान्मोहमुपगतम्। अत एव मन्दप्रतापमल्पप्रकाशं तं वेणुदारिणमवाचीं दक्षिणां दिशं प्राप्तम्। अत एव मन्दप्रतापमर्कमिव सूतः सारथिरनूरुश्च आजेर्विहायसः आकाशादिवाजिविहायस इत्युपमितसमासः। शीघ्रमपाहरदपसारितवान्। उपमा ॥ ६ ॥

(बलरामजीके बाण लगनेसे) मूर्च्छित (अतएव) प्रतापहीन उस वेणुदारीको सूतने युद्धसे उस प्रकार शीघ्र हटा लिया; जिस प्रकार अरुण (सूर्यका सारथि) दक्षिण दिशाको गये हुए अर्थात् दक्षिणायन हुए (अत एव) मन्दप्रकाशवाले सूर्यको आकाशसे शीघ्र हटा लेता है ॥ ६ ॥

कृत्वा शिनेः शाल्वचमूं सप्रभावा चमूर्जिताम्।
ससर्ज वक्त्रैः फुल्लाब्जसप्रभा वाचमूर्जिताम् ॥ ७ ॥

कृत्वेति ॥ प्रभावेण सह वर्तत इति सप्रभावा महानुभावा शिनेः सात्यकिपितामहस्य चमूः सेना। शाल्वो नाम चैद्यपक्षो राजा तस्य चमूं सेनां जितां कृत्वा। जित्वेत्यर्थः। अत एव वक्त्रैर्मुखैः 'येनाङ्गविकारः' (२।३।२०) इति तृतीया। विकासस्यापि विकारत्वात्। फुल्लाब्जस्य प्रफुल्लारविन्दस्य सप्रभा समानप्रभा। हर्षेण विकासितवक्त्रा सतीत्यर्थः। ऊर्जितामुदारां वाचं ससर्ज के यूयमस्मदग्र इत्याद्युच्चैर्जगर्ज। जगादेत्यर्थः। उपमायमकयोः संसृष्टिः ॥ ७ ॥

१. 'मिवापाचीं मूर्च्छां गत' इति पा०।

प्रभावशाली 'शिनी' की सेना 'शाल्व' (शिशुपाल पक्षके एक राजा) की सेनाको पराजितकर कमलके समान प्रसन्नमुखवाली होकर ओजस्वी ('तुमलोग हमारे सामने क्या वस्तु हो' इत्यादि) वचन बोली ॥ ७ ॥

उल्मुकेन द्रुमं प्राप्य संकुचत्पत्रसंपदम् ।
तेजः प्रकिरता दिक्षु सप्रतापमदीप्यत ॥ ८ ॥

उल्मुकेनेति ॥ दिक्षु तेजः प्रभावं प्रकाशं च प्रकिरता विक्षिपता उल्मुकेन भागवतेन राज्ञा, अलातेन च संकुचन्ती पत्रसंपद्वाहनसंपत्, पर्णसमृद्धिश्च यस्य तम् । सप्रतापं सपराक्रमं, प्रकटतापसहितं च । द्रुमं द्रुमाख्यं राजानं, वृक्षं च प्राप्यादीप्यत प्रजज्वले । भावे लङ् । अत्राभिधायाः प्रकृतार्थे नियन्त्रणादप्रकृतार्थप्रतीतिर्ध्वनिरेव न श्लेषः ॥ ८ ॥

दिशाओंमें प्रभाव (पक्षा०—प्रकाश को फैलाता हुआ 'उल्मुक' (श्रीकृष्णपक्षीय राजा, पक्षा०...अलात अर्थात् लुकारी), सङ्कुचित (कम) होते हुए वाहनसमूहवाले (पक्षा०—सङ्कुचित होती हुई पत्तोंकी सम्पत्तिवाले) तथा पराक्रमयुक्त, (पक्षा०—स्पष्ट सन्तापयुक्त) 'द्रुम' (शिशुपालपक्षीय राजा, पक्षा०—वृक्ष) को पाकर अत्यन्त जलने लगा ॥ ८ ॥

पृथोरध्यक्षिपद्रुक्मी यया चापमुदायुधः ।
तयैव वाचापगमं ययाचापमुदायुधः ॥ ९ ॥

पृथोरिति ॥ रुक्मी भीष्मकात्मजो रुक्मिणीभ्राता उदायुध उद्यतायुधः सन् यया वाचा पृथो राज्ञश्चापमध्यक्षिपत् धिगिदं वृथा कष्टमिति निनिन्द । अपगता मुदः स्यास्तयाऽपमुदा निरुत्साहया तयैव वाचा युधो युद्धादपगममपसरणं ययाच । मां त्राहि पलायमानं शरणागतोऽस्मीति प्रार्थयामासेत्यर्थः । याचिरुभयपदी ॥ ९ ॥

हथियारको उठाये हुए 'रुक्मी' (रुक्मिणीके भाई) ने 'पृथु' राजाकी जिस वचनसे निन्दा की थी, हर्षहीन उसी वचनसे उसने युद्धसे भागनेकी याचना की अर्थात् पहले तो हथियार उठाये हुए रुक्मीने 'पृथु' राजाको धिक्कारा था, किन्तु बादमें हर्षरहित होकर 'युद्धसे भागते हुए मुझे बचाओ' ऐसी याचना करने लगा ॥ ९ ॥

समं समन्ततो राज्ञामापतन्तीरनीकिनीः ।
कार्ष्णिः प्रत्यग्रहीदेकः सरस्वानिव निम्नगाः ॥ १० ॥

सममिति ॥ समं युगपत्समन्तत आपतन्तीरागच्छन्ती राज्ञां चैद्यपक्षाणामनीकिनीः सेनाः । कृष्णस्यापत्यं पुमान् कार्ष्णिः प्रद्युम्नः 'अत इञ्' (४।१।९५) । निम्नगा नदीः सरस्वान्समुद्र इवैकोऽसहायः प्रत्यग्रहीत्प्रत्यवरुरोध ॥ १० ॥

एक साथ सब ओरसे आती हुई राजाओंकी सेनाओंको श्रीकृष्ण भगवान्‌के पुत्र 'प्रद्युम्न' ने अकेला ही उस प्रकार रोका, जिस प्रकार सब ओरसे आती हुई नदियोंको अकेला समुद्र रोकता है ॥ १० ॥

दधानैर्घनसादृश्यं लसदायसदंशनैः ।
तत्र काञ्चनसच्छाया ससृजे तैः शराशनिः ॥ ११ ॥

दधानैरिति ॥ लसन्ति आयसान्ययोमयानि दंशनानि वर्माणि येषां तैः । 'तनुत्रं वर्म दंशनम्' इत्यमरः । अत एव घनसादृश्यं कार्ष्ण्यान्मेघसाम्यं दधानैस्तैः सैनिकैः तत्र कार्ष्णौ काञ्चनसच्छाया सुवर्णवर्णा शर एवाशनिः विद्युत् ससृजे उत्सृष्टा । उपमारूपकयोः संसृष्टिः । ओष्ठ्यवर्णविरहान्निरौष्ठ्यं चित्रभेदः शब्दालङ्कारः ॥ ११ ॥

शोभमान लौहमय कवचोंवाले (अतएव) मेघकी शोभाको धारण करते हुए उन सैनिकोंने उस 'प्रद्युम्न' पर सुवर्णके समान कान्तिवाले (चमकते हुए) बाणरूपी वज्र फेंका ॥

नखांशुमञ्जरीकीर्णमसौ तरुरिवोच्चकैः ।
बभौ बिभ्रद्धनुःशाखामधिरूढशिलीमुखाम् ॥ १२ ॥

नखेति ॥ नखांशवो मञ्जर्य इव ताभिः कीर्णां व्याप्ताम् । अधिरूढाः शिलीमुखा बाणाः, अलयश्च यस्यां ताम् । 'अलिबाणौ शिलीमुखौ' इत्यमरः । धनुःशाखेव तां बिभ्रदसौ कार्ष्णिरुच्चकैरुन्नतस्तरुरिव बभौ । तरुरिवेति लिङ्गात्सर्वत्रोपमितसमासः । शिलीमुखेति श्लिष्टविशेषणेयमुपमा ॥ १२ ॥

मञ्जरियोंके समान नख-किरणोंसे व्याप्त, जिसपर बाण (पक्षा०—भ्रमर) स्थित हैं ऐसी, शाखाके समान धनुषको धारण करता हुआ यह 'प्रद्युम्न' उन्नत वृक्षके समान शोभने लगा अर्थात् जिस प्रकार मञ्जरियोंसे व्याप्त, भौंरे जिसपर बैठे हैं ऐसी डालीवाला ऊँचा पेड़ शोभता है; उसी प्रकार नख-किरणोंसे व्याप्त बाणको चढ़ाये हुए धनुषको धारण किये वह 'प्रद्युम्न' शोभ रहा था ॥ १२ ॥

प्राप्य भीममसौ जन्यं सौजन्यं दधदानते ।
विध्यन्मुमोच न रिपूनरिपूगान्तकः शरैः ॥ १३ ॥

प्राप्येति ॥ अरिपूगानां शत्रुसङ्घानामन्तकः अरिपूगान्तकोऽसौ कार्ष्णिः भीमं भयंकरं जन्यं युद्धं प्राप्य । 'युद्धमायोधनं जन्यम्' । इत्यमरः । आनते नम्रे सौजन्यं सौहार्दं दधत् न तु विध्यन् । 'न क्लीबं न कृताञ्जलिम्' (मनु० ७।९१) इति निषेधादिति भावः । रिपून्प्रतिपक्षान् शरैर्विध्यन्प्रहरन् न मुमोच । न ररक्षेत्यर्थः । सवंशयमकभेदः ॥ १३ ॥

शत्रु-समूहको नष्ट करनेवाले इस 'प्रद्युम्न' ने भयङ्कर युद्धको प्राप्तकर नम्र (शरणमें आये हुए शत्रु) पर सज्जनता धारण की अर्थात् शरणागतको नहीं मारा और शत्रुओंको बाणोंसे बेधते हुए नहीं छोड़ा अर्थात् लड़ते हुए शत्रुओंको बाणोंसे बेधकर मार ही डाला ॥

कृतस्य सर्वक्षितिपैर्विजयाशंसया पुरः ।
अनेकस्य चकारासौ बाणैर्बाणस्य खण्डनम् ॥ १४ ॥

कृतस्येति ॥ असौ कार्ष्णिः सर्वक्षितिपैर्विजयाशंसया विजयाकाङ्क्षया पुरोऽग्रे

कृतस्य नियुक्तस्य प्रयुक्तस्य वा अनेकस्थानेकाकिनः। ससहायस्येत्यर्थः। अन्यत्रानेकस्य बहुसंख्यस्य बाणस्य बाणासुरस्य शरजालस्य च बाणैः खण्डनं छेदं चकार। अत्र बाणयोर्द्वयोरपि प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतयोः श्लेषः॥ १४॥

इस 'प्रद्युम्न' ने सब राजाओंके द्वारा विजय की आशासे आगे किये गये बहुसङ्ख्यक (पक्षा०—सहायकयुक्त) बाण (पक्षा०—बाणासुर) का बाणोंसे खण्डन कर दिया॥ १४॥

या बभार कृतानेकमाया सेना ससारताम्।

धनुः स कर्षन् रहितमायासेनाससार ताम्॥ १५॥

येति॥ या सेना कृतानेकमाया कृतबहुकपटा सती ससारतां सारवत्तां बभार तां सेनां स कार्ष्णिः धनुः कर्षन्। धनुषा विध्यन्नित्यर्थः। आयासेन रहितमनायासं यथा तथा आससार। अभियुक्तवानित्यर्थः। बाणं सन्धाय तत्सेनां बभञ्जेत्यर्थः॥

अनेक प्रकारका कपट करनेवाली जो सेना बलवती हो गयी थी, उस सेनाको धनुष खींचते हुए उस 'प्रद्युम्न' ने अनायास (बिना विशेष उद्योग किये ही) निस्सार (निर्बल) बना दिया॥ १५॥

ओजो महौजाः कृत्वाधस्तत्क्षणादुत्तमौजसः।

कुर्वन्नाजावमुख्यत्वमनमन्नाम मुख्यताम्॥ १६॥

ओज इति॥ महौजा महाबलः प्रद्युम्न उत्तमौजसो नाम राज्ञः ओजस्तत्क्षणादधः कृत्वाभिभूय आजौ युद्धे अमुख्यत्वमप्रधानत्वं कुर्वन्, अथवा अमुख्यत्वममुख्यार्थत्वं तन्नाम्नः कुर्वन् नाम निजं प्रद्युम्ननामधेयं मुख्यतां प्रधानतां प्रसिद्धार्थतां चानयत्। प्रकृष्टं द्युम्नं बलं यस्येति प्रद्युम्न इति स्वामी॥ १६॥

महाबली 'प्रद्युम्न' ने 'उत्तमौजा' (उत्तम बलवाले) के बलको शीघ्र ही नीचाकर युद्धमें उसे अप्रधान बनाते हुए अपने नामको मुख्य (प्रकृष्ट=अधिक बलवाला) बना दिया॥ १६॥

दूरादेव चमूर्भल्लैः कुमारो हन्ति स स्म याः।

न पुनः सांयुगीं ताः स्म कुमारो हन्ति सस्मयाः॥ १७॥

दूरादिति॥ स कुमारः प्रद्युम्नः सस्मयाः सगर्वाः याश्चमूर्दूरादेव भल्लैर्बाणविशेषैर्हन्ति स्म जघान ताश्चम्वः पुनर्भूयः संयुगस्येमां सांयुगीं कुं पृथ्वीं। रणभुवमित्यर्थः। 'गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी' इत्यमरः। न आरोहन्ति स्म नारूढाः॥ १७॥

वह कुमार ('प्रद्युम्न') दर्प करनेवाली जिन सेनाओंको दूरसे ही भालोंसे मारा, वे सेनाएँ फिर युद्धकी भूमिमें नहीं आयीं अर्थात् युद्धके मैदानसे भाग गयीं॥ १७॥

निपीड्य तरसा तेन मुक्ताः काममनास्थया।

उपाययुर्विलक्षत्वं विद्विषो न शिलीमुखाः॥ १८॥

---

१. 'धः स क्षणा—' इति पा०। २. '—लक्ष्य—' इति पा०।

निपीड्येति ॥ तेन प्रद्युम्नेन तरसा बलेन कामं निपीड्य अनास्थयानादरेण मुक्ताः । 'आर्ता न परिहन्तव्याः' इति निषेधेनावध्या इति जीवन्तो मुक्ता इत्यर्थः । अन्यत्र द्विषाः विद्विषो विलक्षत्वं सत्रपत्वमाययुः । 'विलक्षस्तु त्रपान्विते' इत्यमरः । शिलीमुखा बाणास्तु विलक्षत्वं लक्ष्यभ्रष्टत्वं नाययुः । अत्र द्वयोरपि विलक्षणत्वयोर-भेदाध्यवसायादयं व्यतिरेको विद्विषां शिलीमुखानां च प्रकृतत्वात्तुल्ययोगितो-पस्याश्रित इति संकरः ॥ १८ ॥

उस 'प्रद्युम्न' के द्वारा बलपूर्वक सम्यक् प्रसारसे पीडितकर (युद्धमें पीडितोंको मारना निषेध है' ऐसा सोचकर) अनादरसे छोड़े गये शत्रु विलक्ष (लज्जित) हो गये; तथा ......पीडितकर अनादर (उपेक्षापूर्वक) छोड़े गये बाण विलक्ष (लक्ष्यभ्रष्ट) नहीं हुए ॥

तस्यावदानैः समरे सहसा रोमहर्षिभिः ।
सुरैरशंसि व्योमस्थैः सह सारो महर्षिभिः ॥ १९ ॥

तस्येति ॥ समरे तस्य प्रद्युम्नस्यावदानैरत्युग्रकर्मभिः करणैः सहसा सद्यः रोम-हर्षिभिः रोमाञ्चवद्भिः व्योमस्थैः सुरैः महर्षिभिः सह सार्धं सारो बलमशंसि शंसितम् ॥ १९ ॥

युद्धमें उस 'प्रद्युम्न' के अत्यन्त उग्र कार्यों से सहसा हृष्ट पुलकित आकाशस्थ देवोंने ऋषियोंके साथ (इसके) बलको कहा अर्थात् 'प्रद्युम्न' के बलकी प्रशंसा की ॥ १९ ॥

सुगन्धयद्दिशः शुभ्रमम्लानि कुसुमं दिवः ।
भूरि तत्रापतत्तस्मादुत्पपात दिवं यशः ॥ २० ॥

सुगन्धयदिति ॥ दिशः सुगन्धयत् सुगन्धाः कुर्वत् । सुगन्धात् 'तत्करोति—' (ग०) इति ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः । शुभ्रं[1] धवलं अम्लानि म्लानिरहितं भूरि प्रभूतं कुसुमं दिवोऽन्तरिक्षात्तत्र प्रद्युम्ने अपतत् । तस्मात्प्रद्युम्नाद्यशः पूर्वोक्तगुणयुक्तं दिवमन्तरिक्षं प्रति उत्पपात । अत्र द्युप्रद्युम्नयोः कुसुमयशोभ्यामन्योन्योपस्कारज-ननादन्योन्यालङ्कारः । 'परस्परं क्रियाजननेऽन्योन्यम्' इति लक्षणात् ॥ २० ॥

दिशाओंको सुरभित करता हुआ, शुभ्र (श्वेत वर्ण) तथा मलिनतारहित बहुत-सा पुष्प स्वर्गसे उस 'प्रद्युम्न' पर गिरा और दिशाओंको प्रकाशित करता हुआ, शुभ्रवर्ण एवं मलिनतारहित बहुत-सा यश उस 'प्रद्युम्न' से आकाशको गया अर्थात् देवोंने 'प्रद्युम्न' के ऊपर पुष्पवृष्टि की और उसका यश स्वर्ग तक फैल गया ॥ २० ॥

सोढुं तस्य द्विषो नालमवयोधरवा रणम् ।
ऊर्णुनाव यशश्च द्यामपयोधरवारणम् ॥ २१ ॥

सोढुमिति ॥ अपगता भयान्निवृत्ता योधानां रवाः सिंहनादा येषां ते अपयो-धरवा द्विषः शत्रवः तस्य कार्ष्णेः रणं सोढुं नालमशक्ताः । अत एव यशश्च अविध-

---

१. 'शुक्ल—' इति पा० ।

मानं पयोधराणां वारणं मेघप्रतिघातो यस्य तत् अपयोधरवारणं सत् द्यामूर्णुनाव। मेघमण्डलं व्यतिलङ्घ्य स्वर्गमाच्छादयामासेत्यर्थः। ऊर्णोतेर्लिट्। 'अजादेर्द्वितीयस्य' (६।१।२) इति द्वितीयस्याचो द्विर्भावः। नुवङ्गावादाम्प्रतिषेधः। यमकवाक्यार्थहेतुककाव्यलिङ्गयोः संसृष्टिः ॥ २१ ॥

(भयसे) सिंहनाद नहीं करनेवाले शत्रु उस 'प्रद्युम्न' के युद्धको नहीं सह सके' (अत एव उस 'प्रद्युम्न'के) यशने मेघ-मण्डल को लांघकर स्वर्गको आच्छादित कर लिया अर्थात् स्वर्गमें व्याप्त हो गया ॥ २१ ॥

केशप्रचुरलोकस्य पर्यस्कारि विकासिना।
शेखरेणेव युद्धस्य शिरः कुसुमलक्ष्मणा ॥ २२ ॥

केशेति ॥ विकासिना विविधमार्गचारिणा, विकस्वरेण च कुसुमलक्ष्मणा पुष्पकेतुना प्रद्युम्नेन, अन्यत्र कुसुमचिह्नेन। तन्मयेनेत्यर्थः। केशवत्प्रचुराः प्रभूता लोका जना यस्मिंस्तस्य युद्धस्य शिरोऽग्रभूमिः, अन्यत्र केशैः प्रचुरस्य केशाढ्यस्य लोकस्य जनस्य शिरः मूर्धा शेखरेणापीडेनेव। शिखामाल्येनेवेत्यर्थः। 'शिखास्वापीडशेखरौ' इत्यमरः। पर्यस्कारि परिष्कृतम्। भूषितमित्यर्थः। परिपूर्वात्करोतेः कर्मणि लिट्। 'सम्पर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे' इति सुडागमः 'अडभ्यासव्यवायेऽपि' (वा०) इति नियमात् 'प्ररिनिविभ्यः—' (८।३।७०) इत्यादिना षत्वे 'सिवादीनां वाड्व्यवायेऽपि' (८।३।७१) इति विकल्पः। उपमा ॥ २२ ॥

अनेकविध पैंतरा बदलनेवाले पुष्पकेतु (प्रद्युम्न) ने बालोंके समान बहुत (अगणित) लोगोंवाले युद्धके अग्रभागको उस प्रकार विभूषित कर दिया, जिस प्रकार विकसित पुष्पोंसे बने हुए शेखर (मस्तकमें धारण करनेयोग्य माला) से बालोंसे व्याप्त किसी व्यक्तिका शिर भूषित होता है ॥ २२ ॥

सादरं युध्यमानापि तेनान्यनरसादरम्।
सा दरं पृतना निन्ये हीयमाना रसादरम् ॥ २३ ॥

सादरमिति ॥ सादरं साभिनिवेशं युध्यमानापि सम्प्रहरन्त्यपि अरं द्रुतम्। हठादिति यावत्। रसाद्रणे रागात् हीयमाना अपकृष्यमाणा। प्रद्युम्नमहिम्नेति भावः। अत एवात्र विरोधाभासोऽलङ्कारः। जहातेः कर्मणि लिटः शानजादेशः। सा पृतना चैद्यसेना तेन प्रद्युम्नेन अन्येषां तटस्थानामपि नराणां सादं निश्चेष्टतां राति ददातीति अन्यनरसादरम्। 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) इति कप्रत्ययः। दरं भयम्। 'दरोऽस्त्रियां भये श्वभ्रे' इत्यमरः। निन्ये नीता। नयतेः प्रधाने कर्मणि लिट्। 'प्रधानकर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति वचनात् विरोधाभासयमकयोः संसृष्टिः ॥ २३ ॥

अभिनिवेशपूर्वक युद्ध करती हुई भी, शीघ्र ही युद्धके अनुरागसे रहित अर्थात् युद्ध करना नहीं चाहती हुई उस (शिशुपालकी) सेनाको, उस 'प्रद्युम्न'ने दूसरों (तटस्थ—युद्ध नहीं करनेवालों) को निश्चेष्ट करनेवाले भयसे युक्त कर दिया ॥ २३ ॥

इत्यालिङ्गितमालोक्य जयलक्ष्म्या झषध्वजम् ।
क्रुद्धयेव क्रुधा सद्यः प्रपेदे चेदिभूपतिः ॥ २४ ॥

इतीति ॥ इतीत्थं जयलक्ष्म्या आलिङ्गितं झषध्वजं मत्स्यकेतुं प्रद्युम्नम् । 'पृथुशोमा झषो मत्स्यः' इत्यमरः । आलोक्य सद्यः क्रुद्धया सपत्न्यागमात्कोपितयेवेत्युत्प्रेक्षा । क्रुधा प्रद्युम्नाश्रितया रुषा कर्त्र्या चेदिभूपतिः प्रपेदे प्राप्तः । तं विहायेति शेषः । कामिन्यः प्रायेण साहसिक्यः सपत्नीगन्धमसहमानाः सद्यः पुरुषान्तरमाश्रयन्त इति भावः । विजयिनं प्रद्युम्नं दृष्ट्वा सद्यश्चैद्यश्चुकोपेत्यर्थः ॥ २४ ॥

इस प्रकार (१९।१०—२३) विजयश्रीसे आलिङ्गित मीनकेतन ('प्रद्युम्न') को देखकर मानो तत्काल क्रोधने शिशुपालको प्राप्त किया अर्थात् 'प्रद्युम्न'को विजय करते देखकर शिशुपाल शीघ्र ही क्रुद्ध हो गया ॥ २४ ॥

अहितानभि वाहिन्या स मानी चतुरङ्गया ।
चचाल वल्गत्कलभसमानीचतुरङ्गया ॥ २५ ॥

अहितानिति ॥ मानी अभिमानवान् स क्रुद्धश्चैद्यः वल्गन्तः प्लवमानाः कलभसमाः कलभप्रमाणाः अत एवानीचा उच्चास्तुरङ्गा यस्यां तया वल्गत्कलभसमानीचतुरङ्गया । चत्वार्यङ्गानि हस्त्यादीनि यस्यास्तस्या चतुरङ्गया वाहिन्या करणेन अहितानभि शत्रून्प्रति चचाल । कलभसमेत्युपमा यमकेन संसृज्यते ॥ २५ ॥

अभिमानी वह (क्रुद्ध शिशुपाल) चलते हुए एवं हाथीके समान ऊँचे घोड़ोंवाली चतुरङ्गिणी (हयदल, पैदल, रथदल और गजदल) सेनाके साथ शत्रुओंको लक्षितकर चल पड़ा ॥

अथ कलापकेन सेनां वर्णयति—कलापकम्—(२६–२९)

ततस्ततधनुर्मौर्वीविस्फारस्फारनिःस्वनैः ।
तूर्यैर्युगक्षये[1] क्षुभ्यदकूपारानुकारिणी ॥ २६ ॥

ततस्ततेत्यादि ॥ ततश्चैद्यचलनानन्तरं ततानामाकृष्टानां धनुर्मौर्वीणां विस्फारैः स्फाराः प्रभूता निःस्वना येषां तैस्तूर्यैः युगक्षये कल्पान्ते क्षुभ्यन्तमुद्वेलन्तमकूपारं समुद्रमनुकरोतीति तदनुकारिणी सा सेनेत्युत्तरेणान्वयः । उपमा ॥ २६ ॥

इस (क्रुद्ध शिशुपालके युद्धार्थ चलने) के बाद आकृष्ट की गयी धनुषोंकी डोरियोंके टङ्कारोंसे बढ़े हुए ध्वनिवाले बाजाओंसे, प्रलयकालमें क्षुब्ध समुद्रका अनुकरण (अत्यन्त कोलाहल) करती हुई—॥ २६ ॥

---

१. 'क्षये क्षुभ्य—' इति पा० ।

॥ सर्वतोभद्रः ॥

स　का　र　ना　ना　र　का　स
का　य　सा　द　द　सा　य　का ।
र　सा　ह　वा　वा　ह　सा　र
ना　द　वा　द　द　वा　द　ना ॥ २७ ॥

स	का	र	ना	ना	र	का	स
का	य	सा	द	द	सा	य	का
र	सा	ह	वा	वा	ह	सा	र
ना	द	वा	द	द	वा	द	ना
ना	द	वा	द	द	वा	द	ना
र	सा	ह	वा	वा	ह	सा	र
का	य	सा	द	द	सा	य	का
स	का	र	ना	ना	र	का	स

सकारेति ॥ पुनः कीदृशी । 'कारो वधे निश्चये च बले यत्ने रतावपि' इति विश्वः । सकाराः सयत्नाः सोत्साहाः नाना नानाविधाश्च ये आरा अरीणां समूहाः । 'भिक्षादिभ्योऽण्' (४।२।३८) । तेषां कासा गतिभेदाः काया विग्रहाश्च तेषा सादं ददतीति सादद्राः नाशकारकाः सायका यस्यां सा तथोक्ता । रसेन रागेणाहवो यस्याः सा रसाहवा । रणरागिणीत्यर्थः । वाहसाराणां वाहश्रेष्ठानां ये नादा हेषादिघोषास्तेषां वादं कलहं ददतीति वाददानि तैः सह कलहायमानानि वादनानि वाद्यानि यस्यां सा वाहसारनादवाददवादना । तूर्यतुल्यवाहघोषेत्यर्थः । अत एव तेषां तुल्यतोक्तेरतिशयोक्तिः । सर्वतो भ्रमणात् सर्वतोभद्राख्यश्चित्रबन्धः । अत एव दण्डी–'तदिष्टं सर्वतोभद्रं भ्रमणं यदि सर्वतः' इति । उद्धारस्तु—चतुःषष्टिकोष्ठे चतुरस्रबन्धे क्रमेणाधःपङ्क्तिचतुष्टये पादचतुष्कं विलिख्यानन्तरं पङ्क्तिचतुष्टयेऽप्यधः क्रमेण पादचतुष्टयलेखने प्रथमासु चतसृषु प्रथमपादः सर्वतो वाच्यते । एवं द्वितीयादिषु द्वितीय इत्यादि ॥ २७ ॥

उत्साहयुक्त अनेकविध शत्रु-समूहोंके गति-विशेष तथा शरीरोंको नाशक बाणोंवाली, युद्धानुरागिणी और श्रेष्ठ घोड़ोंके (हिनहिनाहट आदि) ध्वनियोंके समान बाजाओंके ध्वनियोंवाली ॥ २७ ॥

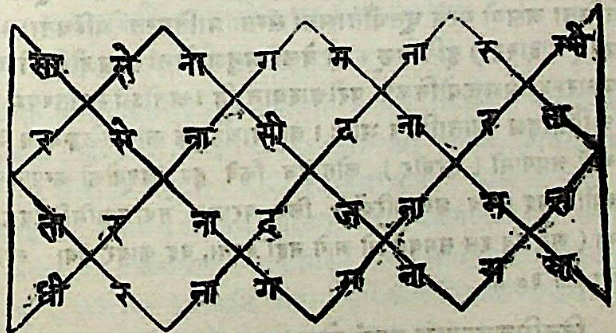
लोलासिकालियकुला यमस्यैव स्वसा स्वयम् ।
चिकीर्षुरुल्लसल्लोहवर्मश्यामा सहायताम् ॥ २८ ॥

लोलेति ॥ लोला चञ्चला असय एव कालियाः कृष्णसर्पविशेषाः तेषां कुलानि यस्यां सा उल्लसद्भिर्लोहवर्मभिरयःकञ्चुकैः श्यामा अत एव यमस्यान्तकस्य सहायतां भ्रातृस्नेहादस्मिन्सेनासंहारे साहाय्यं चिकीर्षुः स्वयं साक्षात्स्वसा तस्यैव भगिनी यमुनैव स्थितेत्युत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

चञ्चल खड्गरूप कालिय ('कालिय' नामक कृष्णसर्पविशेष) के वंशवाली तथा उल्लसित होते हुए लोहेके कवचोंसे श्यामवर्णवाली (अत एव) बहन होनेके नाते सेनाके संहार करनेमें यमराजकी सहायता करती हुई साक्षात् बहन ('यमुना') के समान स्थित ॥

॥ मुरजबन्धः ॥

सा से ना ग म ना र म्भे
र से ना सी द ना र ता ।
ता र ना ट ज ना म त्त
धी र ना ग म ना म या ॥ २९ ॥



सा सेनेति ॥ तारोऽत्युच्चैर्नादः सिंहनादो येषां ते जना यस्यां सा तारनादजना अनामया अन्यथा सा पूर्वोक्ता सेना मत्ता धीरा अदुष्टाश्च नागा गजा यस्मिन्कर्मणि तत्तथा गमनारम्भे रसेन रागेण अनारता अविरता आसीत । अविच्छिन्नरणरागाभूदित्यर्थः । मुरजबन्धः । तस्योद्धारस्तु—'तिर्यग्रेखा लिखेत्पञ्च नवोर्ध्वास्तत्र पङ्क्तयः । अष्टकोष्ठाश्चतस्रः स्युस्तासु श्लोकं लिखेत्क्रमात् ॥ तत्राद्यद्वित्रितुर्यासु तुर्यत्रिद्व्याद्यपङ्क्तिषु । आद्यद्वित्रिचतुःपञ्चषट्सप्ताष्टमकोष्ठगः । दृश्यते प्रथमः पादश्चतुर्थश्चैवमेव हि । चतुर्थपङ्क्तिप्राथम्यात्प्रथमावधिवीक्षणात् । द्वितीयादावाद्ययोर्द्वितुर्ये त्रितुरीयके । तुर्यत्रिद्व्योस्तृतीयाद्ये द्रष्टव्योऽङ्घ्रिर्द्वितीयकः ॥ तृतीयोऽङ्घ्रिर्द्वितीयान्त्ये आद्य

सप्तमषष्ठयोः । द्वित्रिपञ्चमयोस्तुर्यं षष्ठसप्तमयोः क्रमात् । तृतीयान्त्ये च लघ्योऽथमथान्यः क्रम उच्यते ॥ आद्यन्त्ययुग्मयोः पङ्क्त्योश्चिन्त्यो गोमूत्रिकाक्रमः । कृत्वैकं द्वितयं द्वे च द्वयमेकमिति क्रमात् ॥ यद्वा 'द्वितयमेकं च द्वयमेकं द्वयं पुनः । स्वपङ्क्तिप्रक्रमादेव विन्यासद्वितयं भवेत् । यद्वा प्रथमतुर्याङ्घ्री स्वपङ्क्त्योस्तदनुक्रमात् । द्वितीयोऽङ्घ्रिर्द्वितीयस्यां क्रमादाद्यचतुष्टये ॥ व्युत्क्रमाच्च तृतीयस्यामाद्यमेव चतुष्टये । व्युत्क्रमेण द्वितीयस्यां तृतीयस्यां क्रमेण च ॥ द्रष्टव्यो हि तृतीयोऽङ्घ्रिरन्त्यकोष्ठ चतुष्टये । विन्यासभेदास्त्वन्येऽपि सन्त्येव बहवोऽत्र हि ॥ विस्तरात्तु न लिख्यन्ते स्वयमूह्या विचक्षणैः ॥' इति कलापकम् ॥ २९ ॥

अत्यन्त उच्चनाद अर्थात् सिंहनाद करनेवाले लोगों (सैनिकों) वाली, पीडाशून्य वह सेना मतवाले तथा धीर हाथियोंसे युक्त गमन करनेके आरम्भमें (युद्धविषयक) अनुरागसे विरत नहीं थी अर्थात् युद्ध करनेके लिए उत्साहयुक्त थी ॥ २९ ॥

धूतधौतासयः प्रष्ठाः प्रातिष्ठन्त क्षमाभृताम् ।
शौर्यानुरागनिकषः सा हि वेलानुजीविनाम् ॥ ३० ॥

धूतेति ॥ क्षमाभृतां राज्ञां प्रतिष्ठन्त इति प्रष्ठा अग्रेसराः । 'सुपि स्थः' (३।२।४) इति कप्रत्ययः । 'प्रष्ठोऽग्रगामिनि' (८।३।९२) इति षत्वे ष्टुत्वम् । धूताः कम्पिता धौता उत्तेजिता असयो यस्ये धूतधौतासयः सन्तः प्रातिष्ठन्त प्रस्थिताः । 'समवप्रविभ्यः स्थः' (१।३।२२) इति तङ् । सा वेला अनुजीविनां शस्त्रजीविनां शौर्यानुरागयोः पुरुषकारस्वामिभक्त्योर्निकषः परीक्षास्थानं हि । अतोऽग्रे स्थातव्यम् । अन्यथा भीरुत्वं स्वामिद्रोहश्च स्यातामिति भावः । वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ३० ॥

राजाओंमें अग्रगामी (शूरवीर) लोग तेज किये हुए खड्गोंको कम्पायमान करते हुए चले, क्योंकि वह समय शस्त्रधारियोंके लिए पराक्रम तथा स्वामिविषयक भक्तिकी परीक्षाका था (अत एव इस समयमें जो आगे नहीं बढ़ता, वह कायर तथा स्वामिविरोधी समझा जाता) ॥ ३० ॥

दिवमिच्छन्युधा गन्तुं कोमलामलसम्पदम् ।
दधौ दधानोऽसिलतां कोऽमलामलसम्पदम् ॥ ३१ ॥

दिवमिति ॥ युधा युद्धेन कोमलाश्चारवः अमलाः शीतोष्णादिदोषरहिताः सम्पदो यस्यां तां कोमलामलसम्पदं दिवं स्वर्गं गन्तुमिच्छन् कः पुमान् अमलां धौतामसिलतां दधानः अलसं पदं दधौ । सर्वोऽपि निःशङ्कमाक्रमतेत्यर्थः । अत्र स्वर्गेच्छाया विशेषणगत्या निःशङ्कप्रस्थानहेतुत्वात्काव्यलिङ्गं तच्चमकेन संसृज्यते ॥ ३१ ॥

युद्धसे अर्थात् युद्ध करके सुन्दर तथा (शीत-ताप आदि) दोषोंसे रहित सम्पत्तिवाले

---

१. धौतधारा—' इति पा० ।

स्वर्गको जाना चाहता हुआ कौन वीर चमकती खड्गलताको ग्रहण करता हुआ आलस-युक्त होकर पैर रखेगा ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ३१ ॥

कृतोरुवेगं युगपद्व्यजिगीषन्त सैनिकाः ।
विपक्षं बाहुपरिघैर्जङ्घाभिरितरेतरम् ॥ ३२ ॥

कृतेति ॥ सेनायां समवेताः सैनिकाः सैन्याः । सेनायाः पाद्विकष्ठक् । बाहुभिः परिघैरिव बाहुपरिघैः बाहुदण्डैः विपक्षं शत्रुं जङ्घाभिः प्रसृताभिः । 'जङ्घा तु प्रसृता' इत्यमरः । इतरेतरमन्योन्यं सयूथीयमेव कृतं ऊरुर्महानूर्वोश्च वेगो यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा युगपद्व्यजिगीषन्त विजेतुमैच्छन् । अहमहमिकया योद्धुमधावन्नित्यर्थः । विपूर्वाज्जयतेः सन्नन्ताल्लुङि 'पूर्ववत्सनः' (१।३।६२) इत्यात्मनेपदम् । अत्र विपक्षसयूथयोर्बाहुजङ्घयोश्च प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता ॥ ३२ ॥

सैनिकलोग परिघके समान बाहुओंसे शत्रुको तथा जङ्घाओंसे परस्पर (अपने पक्षवालों) को वेगपूर्वक एक साथ जीतना चाहते थे अर्थात् शत्रुको तो परिघतुल्य बाहुसे लड़कर या शस्त्र चलाकर जीतना चाहते थे और जङ्घाओंसे स्पर्द्धापूर्वक अपने पक्षवाले सैनिकोंसे आगे बढ़कर परस्परके सैनिकोंको ही जीतना चाहते थे ॥ ३२ ॥

वाहनाजनि मानासे साराजावनमा ततः ।
मत्तसारगराजेभे भारीहावज्जनध्वनि ॥ ३३ ॥

वाहनेति ॥ ततोऽनन्तरं मानमभिमानं अस्यति क्षिपतीति तस्मिन्मानासे परा-हङ्कारहारिणि । कर्मण्यण् । मत्ताः सारगा बलभाजश्च राजेभा नृपगजा यस्मिन्मत्त-सारगराजेभे साराजौ श्रेष्ठयुद्धे । आजेः पुंल्लिङ्गता ज्ञेया । भारी भारवान् पूर्णं ईहा-वतामुत्साहवतां जनानां ध्वनिर्यस्मिंस्तत् भारीहावज्जनध्वनि यथा तथा न नमती-त्यनमा अभङ्गुरा । पचाद्यजन्तेन नञ्समासः । वाहना निर्वाहयितृत्वम् । 'ण्यास-श्रन्थो युच्' (३।३।१०७) अजनि जाता । सैनिकानामित्यर्थात्सिद्धम् । जनेः कर्तरि लुङि 'दीपजन-' (३।१।६१) इत्यादिना चिण् ॥ ३३ ॥

इसके बाद (शत्रुओंके) अभिमानको नष्ट करनेवाले एवं मतवाले तथा बलवान् गज-राजों (या—राजाओंके हाथियों, या—मदोन्मत्तोंके बलको अभिभूत करनेवाले गजराजों-वाले) महायुद्धमें उत्साहसे युक्त लोगोंके सिंहनादके साथ-साथ कभी भी नहीं झुकने (निष्फल होने) वाला सैनिकोंका कार्य हुआ, (अथवा—कवच आदिके भारसे युक्त युद्धमें संलग्न वीर लोगोंके ध्वनि (कलरव या—'मारो, पकड़ो, आगे बढ़ो' आदि शब्द) के साथ-साथ सेना नम्र नहीं हुई, किन्तु शत्रुओंका डटकर सामना करती रही) ।

विमर्श—इसी श्लोकको प्रतिलोमसे (उलटकर) अग्रिम (१९।३४) श्लोक हो जानेसे यह 'श्लोकप्रतिलोम' नामक यमकालङ्कार है ॥ ३३ ॥

एतत्प्रातिलोम्येन श्लोकान्तरमाह—

॥ श्लोकप्रतिलोमयमकम् ॥

निध्वनज्जवहारीभा भेजे रागरसात्तमः।
ततमानवजारासा सेना मानिजनाहवा ॥ ३४ ॥

निध्वनदिति ॥ निध्वनन्तो बृंहन्तो जवा जवनाः हारिणो मनोहराश्चेभा यस्यां सा निध्वनज्जवहारीभा। ततो विस्तृतो मानवजो मनुष्यजातः आरासः कलकलो यस्यां सा ततमानवजारासा मानिनां मानवतां जनानामाहवो यस्यां सा मानिजनाहवा सेना। रज्यतेऽनेनेति रागः क्रोधः स एव रसस्तस्माद्रागरसात् तमो मोहं भेजे। क्रोधान्धाजनीत्यर्थः। अत्र प्रातिलोम्येन पूर्वश्लोकावृत्तेः श्लोकप्रतिलोमयमकम्। तदुक्तं दण्डिना—'आवृत्तिः प्रातिलोम्येन पादार्धश्लोकगोचरा। यमकं प्रतिलोमत्वात्प्रतिलोममिति स्मृतम् ॥' इति ॥ ३४ ॥

चिग्घाड़ते हुए वेगयुक्त एवं मनोहर हाथियोंवाली, बढ़े हुए मनुष्योत्पन्न कलरववाली और मानी लोगोंके युद्धवाली वह सेना (युद्धविषयक) रागरूपी रस अर्थात् क्रोधसे मोहित (क्रोधान्ध) हो गयी ॥ ३४ ॥

अभग्नवृत्ताः प्रसभादाकृष्टा यौवनोद्धतैः।
चक्रन्दुरुच्चकैर्मुष्टिग्राह्यमध्या धनुर्लताः ॥ ३५ ॥

अभग्नेति ॥ अभग्ना असङ्कुरा वृत्ता वर्तुलाग्राश्च यास्ता अभग्नवृत्ताः। विशेषणसमासः; अन्यत्राचलितचरित्राः। बहुव्रीहिः। मुष्टिग्राह्यं मुष्टिधार्यं मध्यं यासां ताः धनुर्लताः, अन्यत्र मुष्टिमेयमध्याः यौवनेनोद्धतैर्धृष्टैर्दृप्तैश्च प्रसभाद्बलादाकृष्टाः सत्यः। एकत्र गुणेषु, अन्यत्र कचेषु चेति भावः। उच्चैस्तरां चक्रन्दुष्टङ्कारध्वनिं चक्रुर्धनुर्लताः, अन्यत्र चुक्रुशुश्च। अत्र प्रस्तुतधनुर्लताविशेषणादप्रस्तुतधूर्तास्कन्दितपतिव्रताप्रतीतेः समासोक्तिः। तथा च आकर्षणस्य विशेषणगत्या क्रन्दनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गमङ्गाङ्गिभावेन सङ्कीर्यते ॥ ३५ ॥

नहीं टूटनेवाली एवं खींचनेसे गोलाकारवाली, मुट्ठीमें पकड़े गये मध्यभागवाली एवं यौवनावस्थासे उन्मत्त योद्धाओंसे (डोरीको पकड़कर) खींची गयी धनुषरूपी लताएँ उस प्रकार उच्चस्वरसे टङ्कार करने लगीं; जिस प्रकार अभग्न आचरणवाली, मुट्ठीमें पकड़ने योग्य (पतली) कटिवाली यौवनावस्थासे उन्मत्त कामियोंके द्वारा बलपूर्वक (स्तनादिको पकड़कर) खींची गयी रमणियाँ उच्चस्वरसे चिल्लाने लगती हैं ॥ ३५ ॥

करेणुः प्रस्थितोऽनेको रेणुर्घण्टाः सहस्रशः।
करेऽणुः शीकरो जज्ञे रेणुस्तेन शमं ययौ ॥ ३६ ॥

करेणुरिति ॥ अनेको बहुः करेणुः करेणवः प्रस्थितः। जातावेकवचनम्। असङ्ख्याताः करिणो योद्धुं ययुरित्यर्थः 'करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे' इत्यमरः। सहस्रशो

घण्टाः करिकण्ठस्था रेणुर्दध्वनुः । 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' (६।४।१२०) इत्येत्वाभ्यासलोपौ । करे पुष्करे अणुरल्पः शीकरोऽम्बुकणो जज्ञे । जातावेकवचनम् । करेष्वणवः शीकरा जाता इत्यर्थः । जनेः कर्तरि लिट् । तेनाणुना शीकरेण रेणू रजः शमं ययौ । एतेन करिणां बाहुल्यं व्यज्यते ॥ ३६ ॥

(युद्ध करनेके लिए) बहुत-से हाथी चल पड़े, (उनके दोनों पार्श्वोंमें लटकती हुई) हजारों घण्टाएँ बजने लगीं; (उनके) सूंड़ोंमें कुछ जलकण हो गया और उससे धूलि शान्त हो गयी ॥ ३६ ॥

धृतप्रत्यग्रशृङ्गाररसरागैरपि द्विपैः ।
सरोषसम्भ्रमैर्बभ्रे[1] रौद्र एव रणे रसः ॥ ३७ ॥

धृतेति ॥ धृतः प्रत्यग्रः शृङ्गाररस एव रागो यैस्तैरपीति विरोधः । रौद्रशृंगारयोर्विरोधित्वाद्धृतसिन्दूररञ्जनैरित्यविरोधः । अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः । 'शृङ्गारः सुरते नाट्ये रसे च गजमण्डने । शृङ्गारं चूर्णसिन्दूरे लवङ्गकुसुमेऽपि च ॥' इति विश्वः । सरोषसम्भ्रमैः द्विपैः रणे रौद्ररस एव क्रोधरस एव बभ्रे भृतः । कर्मणि लिट् ॥

अभिनव शृङ्गाररसरूप रागको धारण किये हुए भी (विरोध परिहारार्थ पक्षा०— अभिनव सिन्दूरके घोलकी लालिमाको धारण किये हुए) एवं क्रोधसे व्याकुल हाथियोंने रौद्र रसको ही धारण किया ॥ ३७ ॥

न तस्थौ भर्तृतः प्राप्तमानसम्प्रतिपत्तिषु ।
रणैकसर्गेषु भयं मानसं प्रति पत्तिषु ॥ ३८ ॥

नेति ॥ भर्तृतः स्वामिनः प्राप्ते मानसम्प्रतिपत्ती पूजासौमनस्ये यस्तेषु प्राप्तमानसम्प्रतिपत्तिषु रणे एकसर्गेषु नियतोत्साहेषु नियतनिश्चयेषु वा । 'सर्गास्तु सर्जनाध्यायस्वभावोत्साहनिश्चयाः' इति वैजयन्ती । पत्तिषु पदातिषु । मानसं प्रति । पत्तीनां मानसेष्वित्यर्थः । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया' (२।३।८) । भयं न तस्थौ पूर्वोपकारस्मारिणो रणाय निर्भीकाः प्रातिष्ठन्तेत्यर्थः । अन्यथा 'यस्तु भीतिपरावृत्तः सङ्ग्रामे हन्यते परैः । भर्तुर्यद्दुष्कृतं किञ्चित्तत्सर्वं प्रतिपद्यते ॥ यदस्य सुकृतं किञ्चिदमुत्रार्थमुपार्जितम् । भर्ता तत्सर्वमादत्ते परावृत्तहतस्य तु ॥' (मनु० ७।९४, ९५) इति निषेधस्मरणादिति भावः । अत्र मानसम्प्रतिपत्त्योर्विशेषणगत्या भयानवस्थानहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं यमकेन संसृज्यते ॥ ३८ ॥

स्वामीसे सत्कार तथा प्रसादको पाये हुए, (अतएव) युद्धमें निश्चित उत्साहवाले पैदल सैनिकोंके मनमें भय नहीं ठहरा अर्थात् स्वामीसे आदृत पैदल सैनिक युद्ध करनेके लिए दृढ़ निश्चयकर निर्भीक हो गये ॥ ३८ ॥

---

१. '—दधे' इति पा० ।

बाणाहिपूर्णतूणीरकोटरैर्धन्विशाखिभिः ।
गोधाश्लिष्टभुजाशाखैरभूद्भीमा [१]रणाटवी ॥ ३९ ॥

बाणेति ॥ रणमेवाटवी रणाटवी बाणैरिवाहिभिः पूर्णा तूणीरा निषङ्गा एव कोटराः कुहरा येषां तैः गोधास्तलानि, निहाकाश्च । 'गोधा तले निहाकायाम्' इति विश्वः । तलं ज्याघातवारणम् । ततो गोधा एव गोधा इति श्लिष्टरूपकम् । ताभिराश्लिष्टा भुजा एव शाखा येषां तैर्धन्विभिर्धानुष्कैरेव शाखिभिर्वृक्षैर्भीमा भयङ्करा अभूत् । समस्तवस्तुवर्णनात्सावयवरूपकम् ॥ ३९ ॥

युद्धरूपी जङ्गल, बाणरूपी सर्पोंसे पूर्ण तरकसरूपी खोंढ़रेवाले और धनुषकी प्रत्यञ्चाके आघातको रोकनेवाले केहुनीके नीचे बाँधे गये चमड़ेरूपी गोधाओं ('गोह' नामक एक प्रकारके जन्तुओं) से लिपटी हुई भुजारूपी शाखावाले धनुषधारीरूपी वृक्षोंसे भयङ्कर हो गया ॥ ३९ ॥

॥ प्रतिलोमानुलोमपादः ॥

नानाजाववजानाना सा जनौघघनौजसा ।
परानिहाऽहानिराप तान्वियाततयाऽन्विता ॥ ४० ॥

नानेति ॥ इहास्यां नानाविधायामाजौ चित्रयुद्धे ओजसा तेजसा अवजानाना अवज्ञां कुर्वती । 'अकर्मकाच्च' (१।३।२६) इत्यात्मनेपदम् । जनौघघैना सान्द्रा जनौघघना । बहुजनेत्यर्थः । अहानिरभया वियाततया वैयात्येन धार्ष्ट्येनान्विता । धृष्टेत्यर्थः । 'धृष्टा धृष्णुर्वियातश्च' इत्यमरः । सा चैद्यसेना तान्परानरीनाप प्राप । अत्र प्रतिपादं पादार्धस्यैवावृत्तेरर्धपादप्रतिलोमयमकम् ॥ ४० ॥

अनेकविध इस युद्धमें पराक्रमसे (शत्रुओंको) अपमानित करती हुई, जन-समूहसे व्याप्त, क्षयरहित अर्थात् परिपूर्ण, धृष्टतायुक्त उसने (शिशुपालकी सेना ने) उन शत्रुओंको प्राप्त किया अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान्‌की सेनाके समीप पहुँची ॥ ४० ॥

विषमं सर्वतोभद्रचक्रगोमूत्रिकादिभिः ।
श्लोकैरिव महाकाव्यं व्यूहैस्तदभवद्बलम् ॥ ४१ ॥

विषममिति ॥ तद्बलं चैद्यसेना सर्वतोभद्रचक्रगोमूत्रिकादिभिः । आदिग्रहणान्मुरजबन्धादिसङ्ग्रहः । श्लोकैर्महाकाव्यं शिशुपालवधादिकमिव व्यूहैः सर्वतोभद्रादिभिरेव बलविन्यासैः । 'व्यूहस्तु बलविन्यासे' इत्यमरः । विषमं दुरवग्रहमभवत् । नगनगरादिवर्णनयुक्तलक्षणं महाकाव्यम् ॥ ४१ ॥

वह सेना, सर्वतोभद्र चक्र (चक्रबन्ध), गोमूत्रिका आदि (मुरज, अर्द्धभ्रमक आदि बन्धों—रचना-विशेषों) वाले श्लोकोंसे (शिशुपालवध आदि) महाकाव्यके समान, सर्वतो

१. 'बलाटवी' इति पा० ।

भद्र, चक्र, गोमूत्रिका आदि व्यूहों (मोर्चा बन्दियों) से विषम (दुःखसे जीतने, या प्रवेश करने योग्य) हो गयी।

विमर्श—सर्वतोभद्र बन्ध (१९।२७) में चक्रबन्ध (१९।१२०) में, गोमूत्रिका बन्ध (१९।४६) में एवं मुरजबन्ध (१९।२९) में तथा अर्द्धभ्रमकबन्ध (१९।७२) में देखना चाहिये ॥ ४१ ॥

संहत्या सात्वतां चैद्यं प्रति भास्वरसेनया।
ववले योद्धुमुत्पन्नप्रतिभा स्वरसेन या ॥ ४२ ॥

संहत्येति ॥ भास्वरा तेजिष्ठा सेना यस्यास्तया भास्वरसेनया सात्वतां यदूनां संहत्या सङ्घेन चैद्यं प्रति ववले प्रचेले। 'वल चलने' इति धातोर्भावे लिट् 'न शसददवादि' (६।४।१२६) इति वकारादित्वादेत्वाभ्यासलोपयोः प्रतिषेधः। या यदूनां संहतिः स्वरसेन स्वभावेन योद्धुमुत्पन्नप्रतिभा सञ्जातप्रतिभा या स्वयं रणकण्डूला सा पराहूता कथं निवर्तेत इति भावः ॥ ४२ ॥

जो (यादवोंका समुदाय) स्वभावसे ही युद्ध करनेके लिए धृष्टतापूर्ण था, तेजस्वी सेनाओंवाला वह यादवोंका समुदाय शिशुपालके प्रति चल पड़ा अर्थात् शिशुपालके साथ युद्ध करनेके लिए यादवलोग आगे बढ़े ॥ ४२ ॥

अथ यदुसेनायाः प्रतिबलाभियोगं युग्मेनाह (४३-४४)—

विस्तीर्णमायामवती लोललोकनिरन्तरा।
नरेन्द्रमार्गं रथ्येव पपात द्विषतां बलम् ॥ ४३ ॥

विस्तीर्णमित्यादि ॥ आयामवती द्राघीयसी लोललोकनिरन्तरा चलज्जनसङ्कुला सा सेनेत्युत्तरश्लोकेनान्वयः। सा यदुसेना विस्तीर्णं द्विषतां बलं नरेन्द्रमार्गं राजपथं रथ्येव विशिखेव पपात सञ्जगाम। उपमानेऽपि विशेषणं योज्यम् ॥ ४३ ॥

लम्बी, एवं चलनेवाले (युद्धमें आगे बढ़नेवाले, पक्षा०—अपने कार्यसे इधर-उधर आने-जानेवाले) लोगोंसे व्याप्त वह (यदुवंशियों की सेना) शत्रुओंकी सेनामें उस प्रकार मिल गयी, जिस प्रकार उक्त रूप गली सड़कमें मिलती है ॥ ४३ ॥

वारणागगभीरा सा साराऽभीगगणारवा।
कारितारिवधा सेना नासेधा वारितारिका ॥ ४४ ॥

वारणेति ॥ कीदृशी सेना। वारणैरेवागैरचलैर्गभीरा दुरवगाहा वारणागगभीरा सा साराणां श्रेष्ठानां न भियं गच्छन्तीत्यभीगानां निर्भीकाणां गणानां जन्तुसङ्घानामारवो यस्यां सा साराभीगगणारवा कारितारिवधा कृतशत्रुवधा। 'रामो राज्यमकारयत्' इतिवदत्र स्वार्थे णिच्। नास्त्यासेधः प्रतिषेधो यस्यां सा नासेधा। नञर्थेन

१. 'सत्वताम्' इति पा०।

नशब्देन बहुव्रीहिः। अनाक्षेपा वा वरितारिका ईप्सितशत्रुका। अनेनाहं योद्धव्य इति स्वयं शत्रुप्रतिभटेऽर्थः। शेषिकः कप्प्रत्ययः। सा सेना पपातेति पूर्वेणान्वयः। अत्र प्रतिलोमेन अर्धश्लोकेऽर्धप्रतिलोमयमकमेतत्। लक्षणं तूक्तं 'निध्ननन्-' (१९। ३४) इत्यादिश्लोकप्रतिलोमयमके ॥ ४४ ॥

(यदुवंशियोंकी पूर्वोक्त सेनाका वर्णन करते हैं) हाथीरूपी पर्वतोंसे दुष्प्रवेश, बलवान् एवं निर्भीक शूरवीरोंके कलकलवाली, शत्रुओंका वध को हुई, निर्बाध (अबाध-गतिसे आगे बढ़नेवाली) और ('इधर आकर मेरे साथ युद्ध करो' इत्यादि प्रकारसे स्वय-मेव) शत्रुओंको स्वीकार करने (चाहने) वाली ('वह यदुवंशियोंकी सेना शत्रुओंकी सेनामें सड़कमें गलीके समान मिल गयी' ऐसा अन्वय पूर्व (१९।४१) श्लोकसे करना चाहिये) ॥ ४४ ॥

अधिनागं प्रजविनो विकसत्पिच्छचारवः ।
पेतुर्बर्हिणदेशीयाः शङ्कवः प्राणहारिणः ॥ ४५ ॥

अधीति ॥ प्रजवन्तीति प्रजविनोऽतिजवनाः। 'प्रजोरिनिः' (३।२।१५६) इति इनिप्रत्ययः। विकसद्भिः पिच्छैः कलापैश्चारवः। अतएव ईषदसमाप्ता बर्हिणा बर्हिण-देशीया मयूरकल्पाः। 'ईषदसमाप्तौ-' (५।३।६७) इत्यादिना देशीयर्प्रत्ययः। प्राणहारिणः शङ्कवः शल्यायुधानि। 'वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना' इत्यमरः। नागेष्वधि-नागम्। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। गजेषु सर्पेषु च निपेतुः। सर्पेषु बर्हिण इवेत्यर्थः। अत एवोपमालङ्कारः। 'ग्रहो ग्राहि गजा नागाः' इति वैजयन्ती ॥ ४५ ॥

वेगसे चलनेवाले, विकसित होते हुए कलापों (पङ्खों) से सुन्दर, मयूरोंके समान प्राण लेने (मारने) वाले बाण हाथियों (पक्षा० सर्पों) पर गिरने लगे अर्थात् जिस प्रकार वेगगामी एवं चमकीले पङ्खोंसे सुन्दर तथा सर्पोंके प्राण लेनेवाले मोर साँपोंपर गिरते हैं, उसी प्रकार वेगगामी एवं चमकते हुए पङ्खोंसे सुन्दर तथा हाथियोंको मारनेवाले बाण हाथियोंपर गिरने लगे ॥ ४५ ॥

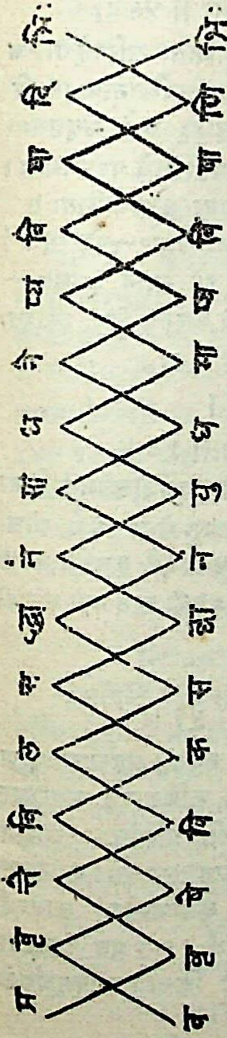
॥ गोमूत्रिकाबन्धः ॥

प्र वृ त्ते वि क स द्ध्वा नं सा ध ने ऽप्य वि षा दि भिः ।
व वृ षे वि क स द्दा नं यु ध मा प्य वि षा णि भिः ॥ ४६ ॥

प्रवृत्ते इति ॥ विकसन् जृम्भमाणो ध्वानो ध्वनिर्यस्मिंस्तद्यथा तथा साधने सम्प्र-हारे प्रवृत्तेऽप्यविषादिभिर्विषादरहितैर्विषाणिभिर्दन्तिभिर्युधमाप्य प्राप्य विकसत्प्र-भूतं दानं मदो ववृषे। युद्धारम्भे धनदानं च ध्वन्यते, सत्त्वसंपन्नत्वात्। साधनेऽप्य विषादस्याविरोधाद्विरोधाभासः। गोमूत्रिकाचित्रबन्धोऽयम्। वर्णानामेकान्तरत्वं च-

१. 'विलस—' इति पा० ।

एकान्तरमर्धयोः। गोमूत्रिकेति तत्प्राहुर्दुष्करं तद्विदो विदुः॥' इति लक्षणात्। षोडश कोष्ठद्वये पङ्क्तिद्वयेऽर्धद्वयं क्रमेण विलिख्यैकान्तरविनिमयेन वाचने श्लोकनिष्पत्तिरित्युद्धारः॥



बढ़ते हुए कलरव के साथ युद्ध के आरम्भ होनेपर भी विषादरहित हाथी युद्ध (के मैदान) को प्राप्तकर अर्थात् युद्धमें जाकर बहुत मद बरसाने लगे॥ ४६॥

पुरः प्रयुक्तैर्युद्धं तच्चलितैर्लब्धशुद्धिभिः।
आलापैरिव गान्धर्वमदीप्यत पदातिभिः॥ ४७॥

पुर इति॥ तद्युद्धं पुरः प्रयुक्तैः गजादिभ्यः प्राक् प्रवर्तितैः। अन्यत्र गानात्पूर्वमुच्चारितैः चलितैः मण्डलचारिभिः। अन्यत्र मुहुरावर्तितैरित्यर्थः। लब्धशुद्धिभिः। कातर्यकपटादिदोषरहितैरित्यर्थः। अन्यत्रावृत्तैः। रागानुगुणैरित्यर्थः। पदातिभिः पत्तिभिः करणैः गान्धर्वं गानमालापैरालापिभिरिवाक्षरविशेषैरिवादीप्यताशोभत॥ ४७॥

(गजदल, हयदल आदि सेनाके) पहले लगाये गये मण्डलाकार होकर चलते हुए, (कातरता आदि) दोषोंसे रहित पैदल सैनिकोंसे वह युद्ध उस प्रकार शोभने लगा; जिस प्रकार (गाना आरम्भ करनेके) पहले प्रयुक्त किये गये, बराबर दुहराये गये और स्वरोंकी आवृत्तिसे निर्दोष आलापोंसे गाना शोभता है॥ ४७॥

केनचित्स्वासिनान्येषां मण्डलाग्रानवद्यता।
प्रापे कीर्तिप्लुतमहीमण्डलाग्राऽनवद्यता॥ ४८॥

केनचिदिति॥ स्वासिना स्वखड्गेन अन्येषां मण्डलाग्रानवद्यता खण्डयता। द्यतेर्लटः शत्रादेशः केनचिद्वीरेण कीर्तिप्लुतं यशोव्याप्तं महीमण्डलाग्रं भूपृष्ठं यस्याः सा कीर्तिप्लुतमहीमण्डलाग्रा अनवद्यता अनिन्द्यता प्रापे प्राप्ता॥ ४८॥

अपने खड्गसे दूसरों (शत्रुओं) के खड्गोंको खण्डित करते हुए किसी वीरने कीर्तिसे

१. 'तद्वकि–' इति पा०।

भूतलको व्याप्त करनेवाली प्रशंसा प्राप्त की अर्थात् ऐसी उसकी प्रशंसा होने लगी कि उसकी कीर्तिसे भूतल व्याप्त हो गया ॥ ४८ ॥

विहन्तुं विद्विषस्तीक्ष्णः सममेव सुसंहतेः ।
परिवारात्पृथक्चक्रे खड्गश्चात्मा च केनचित् ॥ ४९ ॥

विहन्तुमिति ॥ केनचिद्वीरेण विद्विषो विहन्तुं तीक्ष्णो निशितः परिच्छेत्ता च खड्गः सुसंहतेः सुघटितात्सुष्ठु संवीभूताच्च । परिवारात्कोशात्, परिजनाच्च । 'परिवारः परिजने खड्गकोशे परिच्छदे' इति विश्वः । सममेव पृथक् चक्रे उद्धृतः। आत्मा च पृथक् चक्रे विभक्तः । खड्गमुत्कृष्य स्वसैन्यान्निर्गत्यारिमध्ये पपातेत्यर्थः। अत्र खड्गात्मनोः प्रकृतयोः समानक्रियायोगात्केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता ॥

किसी (शूर वीर) ने शत्रुओंको मारने के लिए तीक्ष्ण (तेज. पक्षा०—पौरुषयुक्त) खड्ग तथा आत्मा (अपने शरीर) को सम्यक् प्रकारसे सटी हुई म्यान (पक्षा०—सुसङ्गठित परिजनों) से एक साथ ही अलग किया अर्थात् शत्रुओंको मारनेके लिए, एकत्रित, परिजनोंसे अलग होनेके साथ ही म्यानसे तलवारको निकाल लिया ॥ ४९ ॥

अन्येन विदधेऽरीणामतिमात्रा विलासिना ।
उद्गूर्णेन चमूस्तूर्णमतिमात्राविलाऽसिना ॥ ५० ॥

अन्येनेति ॥ अन्येन वीरेण विलासिना विलसनशीलेन उद्गूर्णेनोद्यतेन असिना खड्गेन मात्रं मानमतिक्रान्तातिमात्रा अपरिमिता अरीणां चमूः सेना तूर्णं शीघ्रमतिमात्रमत्यन्तमाविला कलुषा अतिमात्राविला अत्याविला विदधे कृता ॥ ५० ॥

किसी शूरवीरने चमकते हुए एवं ऊपर उठाये गये खड्गसे शत्रुकी बहुत बड़ी सेनाको शीघ्र ही अत्यन्त व्याकुल कर दिया ॥ ५० ॥

सहस्रपूरणः कश्चिल्लूनमूर्धाऽसिना द्विषः ।
तथोर्ध्व एव काबन्धीमभजन्नर्तनक्रियाम् ॥ ५१ ॥

सहस्रेति ॥ पृणातीति पूरणः 'पृ पालनपूरणयोः' कर्तरि ल्युट् । सहस्राणां पूरणः पालयिता पूरयिता सहस्रपूरणः सहस्ररक्षी सहस्रहन्ता वा कश्चिद्भटः । कबन्धस्य सहस्रपूरणः सहस्रसंख्यापूरकः : सहस्रादेकः कबन्धो नृत्यतीति प्रसिद्धिः । असिना स्वासिना द्विषो लूनमूर्धा लूनश्मश्रुमूर्धा । सापेक्षत्वेऽपि गमकत्वात्समासः। कबन्धस्तु द्विषोऽसिना लूनमूर्धा तथा कबन्धप्रदेशोर्ध्वं एव तिष्ठति । कबन्धस्येमां काबन्धीं नर्तनक्रियामभजत् । विजयहर्षात्स्वयमपि कबन्धवन्ननर्तेत्यर्थः । अत एव साहश्याक्षेपादसम्भवद्वस्तुसंबन्धात्स्यो निदर्शनाभेदः । 'कबन्धोऽस्त्री क्रियायुक्तमपमूर्धकलेवरम्' इत्यमरः ॥ ५१ ॥

---

१. 'हन्तुं विद्विषतस्तीक्ष्णः' इति पा० । २. 'खड्ग आत्मा' इति पा० । ३. 'तदोर्ध्वं' इति 'ततोर्ध्वं' इति च पा० ।

हजार वीरोंका रक्षक (पक्षा०—हजार वीरोंको मारनेवाला) कोई वीर शत्रुके खड्गसे कटे हुए मस्तकवाले हजारसंख्याकी पूर्ति करनेवाले कबन्ध (धड़) के समान खड़ा होता हुआ ही नाचने लगा।

विमर्श—जिस प्रकार हजार वीरोंके मारे जाने पर शत्रुके खड्गसे कटे हुए शिरवाला कबन्ध ऊर्ध्वस्थित होकर नाचने लगता है, उसी प्रकार हजार लोगोंकी रक्षा करने (या—मारनेवाला) कोई वीर विजयोल्लासमें खड़ा-खड़ा ही नाचने लगा। 'हजार वीरोंके मारे जानेपर धड़ खड़ा-खड़ा ही नाचने लगता है' ऐसा लोकमें प्रसिद्ध है ॥ ५१ ॥

शस्त्रव्रणमयश्रीमदलंकरणभूषितः ।
ददृशेऽन्यो रावणवदलङ्करणभूषितः ॥ ५२ ॥

शस्त्रेति ॥ शस्त्रव्रणमयानि तद्रूपाणि। स्वार्थे मयट्। तैरेव श्रीमद्भिः शोभावद्भिरलङ्करणैरलङ्कारैर्भूषितोऽलंकृतः। शस्त्रव्रणालंकृत इत्यर्थः। अन्यः कश्चित्, अविद्यमाना लङ्का यस्याः सा अलङ्केति बहुव्रीहिः। अत एव 'स्त्रियाः पुंवत्—' (६।३।३४) इत्यादिना पुंवद्भावः। सा रणभूश्च तस्यामुषितः स्थितोऽलङ्करणभूषितः। वसेर्निवासार्थात्कर्तरि क्तः 'वचिस्वपि—' (६।१।१५) इत्यादिना सम्प्रसारणम्। रावणवद्ददृशे दृष्टः। सर्वाङ्गीणव्रणभूषणत्वेन रावण एवायं लङ्कासम्बन्धविरहात्तु व्यतिरेक इत्यर्थः। उपमाव्यतिरेकयमकानां संकरः ॥ ५२ ॥

शस्त्रोंके व्रणरूपी शोभासम्पन्न भूषणोंसे भूषित दूसरा कोई वीर लङ्कासे भिन्न रणभूमिमें स्थित होता हुआ, अलङ्कारोंसे भूषित रावणके समान दिखलायी पड़ा ॥ ५२ ॥

द्विषद्विशसनच्छेदनिरस्तोरुयुगोऽपरः ।
सिक्तश्चास्रैरुभयथा बभूवारुणविग्रहः ॥ ५३ ॥

द्विषदिति ॥ द्विषद्विशसनम्। 'निर्वापणं विशसनं मारणं प्रतिघातनम्' इत्यमरः। तस्मिंश्छेदेनारिशस्त्रप्रहारेण निरस्तमूरुयुगं यस्य सः अत एवास्रैरसृग्भिश्च सिक्तोऽपरो वीरः उभयथा उभाभ्यां प्रकाराभ्याम्। 'प्रकारे गुणवचनस्य' (८।१।१२) इति थाल्। अरुणस्यानूरोरिव अरुणोऽरुणवर्णश्च विग्रहो यस्य सोऽरुणविग्रहो बभूव। 'अरुणोऽर्कार्कसारथ्योररुणो लोहितेऽन्यवत्' इति विश्वः। अस्रोरुच्छेदास्रसिक्तयोर्विशेषणगत्योभयथारुणविग्रहभावहेतुत्वात्काव्यलिङ्गमुपमाश्लेषाभ्यां संकीर्यते ॥५३॥

शत्रुके मारनेसे कटे हुए ऊरुद्वयवाला कोई वीर रक्तसे दोनों भागोंमें भींगकर लाल शरीरवाला (पक्षा०—अरुण अर्थात् सूर्य-सारथिके समान शरीरवाला) हो गया ॥ ५३ ॥

भीमतामपरोऽम्भोधिसमेऽधित महाहवे ।
दाक्षे कोपः शिवस्येव समेधितमहा हवे ॥ ५४ ॥

भीमेति ॥ अम्भोधिसमे सागरसदृशे महानाहवस्तस्मिन्महाहवे सम्यगेधितमहाः संवर्धिततेजाः अपरो वीरः दक्षप्रजापतेरयं दाक्षस्तस्मिन्दाक्षे हवे यज्ञे। 'हवो

यज्ञे तथाह्वाने' इति विश्वः। समेधितमहाः सन्दीपिततेजाः शिवस्य कोप इव। वीरभद्र इवेत्यर्थः। भीमतां भयङ्करतामधित धृतवान्। बिभ्यत्यस्मादिति भीमः। 'भिया षुग्वा' (उ० १४५) इत्यौणादिके मप्रत्यये भीमो भीष्मश्च 'भीमादयोऽपादाने' (३।४।७४) इति निपातनादपादानार्थता। उपमायमकयोः संसृष्टिः॥ ५४॥

समुद्रके समान (दुस्तर) महायुद्धमें बढ़े हुए तेजवाला दूसरा कोई शूरवीर दक्ष-प्रजापतिके यज्ञमें बढ़े हुए तेजवाले, शिवजीके क्रोध (वीरभद्र) के समान भयङ्करताको धारण किया अर्थात् दक्षयज्ञध्वंसार्थ क्रुद्ध वीरभद्रके समान भयङ्कर हो गया॥ ५४॥

दन्तैश्चिच्छिदिरे कोपात् प्रतिपक्षं गजा इव।
परनिस्त्रिंशनिर्लूनकरवालाः पदातयः॥ ५५॥

दन्तैरिति॥ परेषां निस्त्रिंशैः खड्गैः निर्लूनकरवालाः छिन्नखड्गाः पादाभ्यामतन्तीति पदातयः पत्तयः। 'अज्यतिभ्यां पादे च' (उ० ५७०) इत्यौणादिक इण्, 'पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु' (६।३।५२) इति पदादेशः। कोपात् गजा इव प्रतिपक्षं शत्रुं दन्तैर्दशनैर्विषाणैश्च चिच्छिदिरे चिच्छिदुः॥ ५५॥

शत्रुओंके खड्गसे कटे हुए खड्गवाले पैदल सैनिक क्रोधके कारण दाँतोंसे शत्रुको इस प्रकार काटने लगे, जैसे शत्रुओंके खड्गसे कटे हुए सूँड़ तथा पूँछवाले हाथी क्रोधके कारण दाँतोंसे शत्रुको छेदते (शत्रुके शरीरमें दाँतोंको गड़ाकर उन्हें मारते) हैं॥ ५५॥

रणे रभसनिर्भिन्नद्विपपाटविकासिनि।
न तत्र गतभीः कश्चिद्विपपाट विकासिनि॥ ५६॥

रण इति॥ रभसेन वेगेन 'रभसो वेगहर्षयोः' इति विश्वः। निर्भिन्नद्विपाः पातितगजाः पाटविकानां पाटववतामसयो यस्मिन्। पाटवशब्दान्मत्वर्थीयष्ठक्प्रत्ययः। विकासिनि प्रवृद्धे तत्र तस्मिन् रणे गतभीर्निर्भीकः। अत एव कश्चित् कोऽपि न विपपाट न पाटयामास न पलायत। अत्र गतभीकत्वस्य विशेषणगत्या अपलायनहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम्। द्विपदलनेऽपि रणे निर्भीक इति विरोधश्च यमकेन संसृज्यते॥

मारे गये हाथियोंवाले तथा (युद्ध करनेमें) निपुण लोगोंके खड्गवाले बढ़े हुए उस युद्धमें निर्भय (रहनेसे) कोई वीर नहीं भगा, (किन्तु सभी वीर अपने-अपने मोर्चेपर स्थित होकर युद्ध करते रहे)॥ ५६॥

यावन्न सत्कृतैर्भर्तुः स्नेहस्यानृण्यमिच्छुभिः।
अमर्षादितरैस्तावत्तत्यजे युधि जीवितम्॥ ५७॥

यावदिति॥ सत्कृतैः स्वस्वामिना पूर्वसंमानितैः। अत एव भर्तुः स्नेहस्य स्वामिप्रेम्ण आनृण्यमनृणत्वमिच्छुभिः। योधैरिति शेषः। युधि जीवितं यावन्न तत्यजे त्यक्तं तावदितरैरसत्कृतैरमर्षादसत्कारक्रोधाज्जीवितं तत्यजे। अथवास्मान्परयेति

स्वामिनमुपालभ्य स्वयमेव प्राणप्राणान्प्रजहुरित्यर्थः । सत्कारादिविशेषणार्थकाव्य-लिङ्गं सुगमम् ॥ ५७ ॥

(युद्धके पहले स्वामीके द्वारा) सत्कार पाये हुए (अत एव) स्वामीके स्नेहसे उऋण (ऋणमुक्त) होनेकी इच्छा करते हुए वीरोंने जबतक प्राण नहीं छोड़, तभी तक (स्वामीके द्वारा सत्कार नहीं पानेके कारण) क्रोधसे दूसरों (शत्रुभूत वीरों) ने प्राण छोड़ दिये ॥

॥ समुद्गयमकम् ॥

अथैवंविधानां मरणस्यैव कर्तव्यतामुपपादयति—

अयशोभिदुरालोके कोपधाम-रणाहते ।
अयशोभिदुरा लोके कोपधा मरणादृते ॥ ५८ ॥

अयश इति ॥ 'अयः शुभावहो विधिः' इति अयशोभी भाग्यवान् स चासौ दुरालोकस्तेजस्वित्वाद् दुर्दर्शश्चेति विशेषणसमासः । तस्मिन्नयशोभिदुरालोके कोप-धाम कोपाश्रयः । कुपित इत्यर्थः । अथाप्यकोपे भीरुत्वापातात् । अत एव रणमा-हृतः रणाहृतः । रणार्थीत्यर्थः । कर्तरि क्तः । कोपधाम चासौ रणाहृतश्च तस्मिन् कोपधामरणाहृते लोके एवंविधे वीरलोके । अयशोभिदुरा स्वाम्यनादरनिमित्ताप-कीर्तिनिवर्तिका । 'विदिभिदिच्छिदेः कुरच्' । (३।२।१६२) उपधा उपायो मरणा-दृते । प्राणत्यागं विनेत्यर्थः । का । न कापीत्यर्थः । 'अन्यारादितरर्ते–' (२।३।२९) इति पञ्चमी । अत्रायशोभित्वादीनां लोकविशेषणद्वारा तद्वर्तिनामुपजीविनामवसरे जीवत्यागहेतुत्वात्काव्यलिङ्गं यमकेन संकीर्यते । समुद्गयमकभेदोऽयम् । 'अर्धा-भ्यासः समुद्गः स्यादस्य भेदास्त्रयो मताः' इति लक्षणात् ॥ ५७ ॥

(स्वामीसे सत्कार नहीं पानेवाले वीरोंका यही (१९।५७) कर्तव्य होता है, इसका समर्थन ग्रन्थकार करते हैं) शुभावह विधिसे शोभनेवाले अर्थात् भाग्यवान् तथा (तेजस्वी होनेसे कठिनाइयोंसे) देखे जाने योग्य और क्रोधयुक्त (अत एव) युद्धका आदर करनेवाले अर्थात् युद्धको चाहनेवाले वीरोंके लिए, मरनेके अतिरिक्त अपकीर्ति (स्वामीके अनादरके कारण उत्पन्न अपयश) को दूर करनेवाला कौन-सा उपाय है ? अर्थात् स्वामीसे सत्कार नहीं पाये हुए वीरोंका स्वामीके असत्कार द्वारा उत्पन्न अपयश वीरोंके मरनेसे ही दूर हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥ ५८ ॥

स्खलन्ती न क्वचित्तैर्दण्याद्भ्यग्रफलशालिनी ।
अमोचि शक्तिः शाक्तीकैर्लोहजा न शरीरजा ॥ ५९ ॥

स्खलन्तीति ॥ शक्तिः प्रहरणं येषां तैः शाक्तीकैः । 'शाक्तीकः शक्तिहेतिकः' इत्य-मरः । 'शक्तियष्ट्योरीकक्' (४।४।५९) इति प्रहरणार्थे ईकक् प्रत्ययः । तैषण्यान्नैशि-त्यात्क्वचिदपि न स्खलन्ती प्रतिहतिं न प्राप्नुवती । अभ्यग्रं समग्रं यत्फलं शल्यं तेन शालते । अन्यत्र अभ्यग्रेणासन्नेन फलेन श्रेयसा शालत इत्यभ्यग्रफलशालिनी ।

लोहजा अयोमयी शक्तिरायुधविशेषः अमोचि शत्रुषु मुक्ता। शरीरजा शक्तिः सामर्थ्याख्या तु नामोचि। अतिव्यायामेऽप्यक्षीणशक्तिका एवायुध्यन्तेत्यर्थः। अत्र द्वयोरपि प्रकृतत्वात्केवलप्रकृतश्लेषः॥ ५९॥

शक्ति (साँग, एक प्रकारकी बर्छी) का प्रहार करनेवाले वीरोंने तीक्ष्णता अर्थात् तेज होनेके कारण कहींपर निष्फल नहीं होनेवाली और अग्रभागमें फल (लोहेके शल्य पक्षा०—निकट भविष्य में प्राप्त होनेवाले फल अर्थात् परिणाम) से शोभनेवाली लोहेकी बनी हुई शक्तिको (शत्रुओंपर) छोड़ा, किन्तु शरीरमें उत्पन्न शक्ति (सामर्थ्य) को नहीं छोड़ा अर्थात् निरन्तर युद्ध करते रहनेपर भी पूरी शक्तिसे ही युद्ध करते रहे॥ ५९॥

आपदि व्यापृतनयास्तथा युयुधिरे नृपाः।
आप दिव्या पृतनया विस्मयं जनता [2]यथा॥ ६०॥

आपदीति॥ नृपा राजानः। आपद्यि व्यसनेऽपि व्यापृतनयाः प्रवृत्तनीतिका एव सन्तः। न तु व्यापद्वृत्त्येति भावः। पृतनया सेनया साधनेन। वाक्यान्तरस्थस्यापि पृतनाशब्दस्यात्रान्वयः चित्रे सोढव्यः। तथा तेन प्रकारेण युयुधिरे संप्रजह्रुः। यथा दिव्या जनता अन्तरिक्षवर्तिसिद्धविद्याधरसङ्घो विस्मयमाप। अमानुषं युद्धं चक्रुरित्यर्थः। अयं च पादाभ्यासयमकभेदः॥ ६०॥

(शूरवीर) राजा लोग आपत्तिकालमें भी नीतिमें (आर्त, युद्धसे भागे हुए एवं शरणागत आदि शत्रुको नहीं मारना आदि युद्ध-विषयक (शास्त्र—सम्मत नियम) से युक्त रहते हुए ही सेनासे उस प्रकार युद्ध करने लगे, जिससे (युद्ध देखनेके लिए विमानोंपर आकाशमें स्थित विद्याधर अप्सरा आदि) स्वर्गवासी लोग आश्चर्यित हो गये॥ ६०॥

स्वगुणैराफलप्राप्तेराकृष्य गणिका इव।
कामुकानिप नालीकांस्त्रिणताः सहसामुचन्॥ ६१॥

स्वगुणैरिति॥ त्रिषु स्थानेषु मध्येषु नताः त्रिणताः शार्ङ्गाणि। 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' (८।४।३) इति णत्वम्। गणिका वेश्या इव। ता अपि त्रिणताः मध्ये भ्रुवोश्च नतत्वात्। नालीकानिषुविशेषान्। 'नालीकः शरशल्ययोः' इति विश्वः। कामुका-

---

१.—'नया नृपा' इति पा०। २. 'तथा' इति पा०।

३. '१२९९ शकलिखितपुस्तके तु 'त्रिगताः' इति पाठ उपलभ्यते। अतएव 'त्रिगता त्रिणत्वे कार्मुकेऽपि च' इति हैमकोषव्याख्यावसरे कार्मुकार्थे इममेव श्लोकमुदाहृत्य बहुभट्टस्तु 'धनुषि त्रिषु नतास्त्रिगताः' इत्याह। 'तत्र गणिकापक्षे णत्वं चिन्त्यम्' इति अनेकार्थकैरवाकरकौमुदी।' इति नि० सा० मुद्रितपुस्तके टिप्पणी दृश्यते। वल्लभेनैवमुक्तम्— 'त्रिषु स्थानेषु मध्येऽन्योश्च नताः कुटिकाः त्रिगताः।' 'पूर्वपदात्संज्ञायामगः' इति णत्वम्। 'नार्योऽपि मध्ये भ्रुवोश्चेति त्रिषु नताः।' इति।

निव । स्वगुणैर्वाग्भिः रूपलावण्यादिभिश्च । 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दादिज्येन्द्रियामुख्यतन्तुषु' इति वैजयन्ती । अत्फलप्राप्तेराशल्यस्पर्शादाधनलाभाच्च आकृष्य कर्णान्तिकं नीत्वा, वशीकृत्य च सहसा अमुचन्नत्यजन्। मुचेर्लुङि 'पुषादि-' (३।१।५५) इति च्लेरङादेशः । अनेकैवोपमा ॥ ६१ ॥

(दोनों भ्रू तथा कटिप्रदेश—इन) तीन स्थानोंमें झुकी हुई वेश्याओंके समान (दोनों छोर तथा मध्यभाग—इन) तीन स्थानोंमें नम्र धनुषोंने, कामियोंके समान बाणोंको अपने गुणों (सौन्दर्य मधुरभाषण आदि, पक्षा०—प्रत्यञ्चाओं) से फलको प्राप्त होनेतक (धनके मिलने तक, पक्षा०—बाणोंके अग्रिम भागस्थ लोहेको पाने—स्पर्श करनेतक) आकृष्टकर (अपने वशीभूतकर, पक्षा०—खींचकर) छोड़ा अर्थात् जिस प्रकार भ्रूद्वय एवं कटिप्रदेशमें नम्र वेश्याएँ कामियोंको अपने सौन्दर्यादि गुणोंसे वशीभूतकर धन-प्राप्ति हो जानेपर छोड़ देती है, उसी प्रकार दोनों छोरों एवं मध्यभागमें नम्र धनुष भी बाणों को अपनी प्रत्यञ्चाओंके साथ खींचकर बाणोंके फल (लोहमय अग्रभाग) को पानेपर छोड़ा । (वीरलोग धनुषको इतना अधिक खींचकर बाण छोड़ते थे कि बाणोंका अग्रभाग धनुषतक पहुँच जाता था) ॥ ६१ ॥

वाजिनः शत्रुसैन्यस्य समारब्धनवाजिनः ।
वाजिनश्च शरा मध्यमविशन्द्रुतवाजिनः ॥ ६२ ॥

वाजिन इति ॥ द्रुतं वजन्तीति द्रुतवाजिनः शीघ्रगामिनः । 'वज गतौ' इति धातोर्णिनिः । वाजिनोऽश्वाः, वाजिनः पत्रवन्तः शराश्च । 'पत्रो वाजश्शीघ्रूत्तरे' इत्यमरः । समारब्धा नवा अपूर्वा आजिर्युद्धं येन तस्य समारब्धनवाजिनः शत्रुसैन्यस्य मध्यमविशन् । अत्र वाजिनां शराणां च प्रवेशाख्यतुल्ययोगिताभेदो यमकेन संसृज्यते॥

शीघ्रगामी घोड़े तथा शीघ्रगामी एवं पङ्खयुक्त बाण, अपूर्व युद्धको प्रारम्भ की हुई शत्रुओंकी सेनाके बीचमें घुस गये ॥ ६२ ॥

पुरस्कृत्य फलं प्राप्तैः सत्पक्षाश्रयशालिभिः ।
कृतपुङ्खतया लेभे लक्ष्यमप्याशु मार्गणैः ॥ ६३ ॥

पुरस्कृत्येति ॥ फलं शल्यं पुरस्कृत्य पुरोधाय, अन्यत्र फलं लाभं पुरस्कृत्य । सम्भाव्येत्यर्थः । प्राप्तैरागतैः सत्पक्षाश्रयेण साधुकङ्कादिपत्रग्रन्थनेन, अन्यत्र साधुसहायावलम्बनेन शालन्ते इति तथोक्तैः मार्गणैः सायकैरर्थिभिश्च । 'मार्गणौ सायकार्थिनौ' इत्यमरः । कृतपुङ्खतया सुबद्धकर्तरीकतया । 'मुखस्थकर्तरी पुङ्खः' इति यादवः । अन्यत्र कुशलतयेत्यर्थः । लक्षं शरव्यं, अन्यत्र लक्षसंख्यमपि धनं लेभे, शतादिकं किमु वक्तव्यमिति भावः । 'लक्षं शरव्ये संख्यायाम्' इति विश्वः । अत्राभिधायाः प्रकृतार्थनियन्त्रणादर्थान्तरप्रतीतेर्ध्वनिरेव ॥ ६३ ॥

---

१. 'लक्ष्य—' इति पा० ।

फल (बाणके लोहमय अग्रभाग)को सामने करके प्राप्त, सुन्दर (कङ्कपक्ष आदिके) पङ्खोंसे शोभनेवाले बाण पङ्खयुक्त होनेसे लक्ष (निशाने) को शीघ्र प्राप्त किये, पक्षा०—लाभकी सम्भावनाकर सुन्दर अच्छे सहायकके आश्रयसे शोभनेवाले याचकोंने निपुणतासे लाख (एक लाख परिमित द्रव्य) को शीघ्र ही प्राप्त किया) ॥ ६३ ॥

रक्तस्रुतिं जपासूनसमरागामिषुव्यधात् ।
कश्चित्पुरः सपत्नेषु समरागामिषु व्यधात् ॥ ६४ ॥

रक्तेति ॥ कश्चिद्वीरः पुरोऽग्रे समरागामिषु समरमागतेषु सपत्नेषु इषुव्यधाद्बाणप्रहारात् । 'व्यधजपोरनुपसर्गे' (३।३।६१) इत्यप्प्रत्ययः । जपासूनसमरागां रक्तस्रुतिं रक्तस्रावं व्यधाद्विहितवान् । दधातेर्लुङि 'गातिस्था—' (२।४।७७) इत्यादिना सिचो लुक् । उपमायमकयोः संसृष्टिः ॥ ६४ ॥

किसी वीरने, सामने युद्धमें आये हुए शत्रुओंपर बाणप्रहार करनेसे ओढ़उलके फूलके समान (लाल) रंगवाला रक्त-प्रवाह बहा दिया ॥ ६४ ॥

रयेण रणकाम्यन्तौ दूरादुपगताविभौ ।
गतासुरन्तरा दन्ती वरण्डक इवाभवत् ॥ ६५ ॥

रयेणेति ॥ रणमात्मन इच्छन्तौ रणकाम्यन्तौ । 'काम्यच्च' (३।१।९) इति रणशब्दात्काम्यच्प्रत्यये सनाद्यन्तधातुत्वाल्लटि शत्रादेशः । रयेण दूरादुपगतौ। इभावन्तरा इभयोर्मध्ये । 'अन्तरान्तरेणयुक्ते' (२।३।४) इति द्वितीया । गतासुर्मृतो दन्ती दैवान्मध्यवर्ती हस्तिकुणप इत्यर्थः । वरण्डकोऽन्तरावेदिरिवाभवत्। 'वरण्डकोऽन्तरावेदौ सन्दोहमुखरागयोः' इति विश्वः । अभ्यासकाले काञ्चन वेदिमन्तर्धाय दन्तिनौ योधयन्त इति प्रसिद्धम् । उपमा ॥ ६५ ॥

लड़ना चाहते हुए (अत एव) दूसरे आये हुए दो हाथियोंके बीचमें स्थित (पहलेसे मरा हुआ हाथी) मध्यगत वेदिके समान हो गया ।

विमर्श—बीचमें किसी वेदिके स्थित रहनेपर दो हाथियोंको युद्धाभ्यास कराया जाता है, ऐसी प्रसिद्धि होनेसे युद्धार्थी दोनों हाथियोंके बीचमें स्थित संयोगवश पूर्वमृत हाथी मध्यगत वेदीके समान हो गया ॥ ६५ ॥

॥ द्व्यक्षरः ॥

भूरिभिर्भारिभिर्भीरैर्भूभारैरभिरेभिरे ।
भेरीरेभिभिरभ्राभैरभीरुभिरिभैरिभाः ॥ ६६ ॥

भूरिभिरिति ॥ भूरिभिः भूयोभिः भारिभिः पताकास्तरणादिभारवद्भिः । मत्वर्थीय इनिप्रत्ययः । भियं रान्तीति भीरास्तैर्भीरैः भयदैः । 'रा दाने' 'आतोऽनुपसर्गे

१. 'भूरिभिर्भीरा भू—' इति पा० ।

कः' (३।२।३)। भूभारैः महाकायत्वाद्भुवो भारायमाणैः। भेर्यं इव रेभन्ते ध्वनन्तीति भेरीरेभिभिः। 'रेभृ शब्दे:' ताच्छील्ये णिनिः। अभ्राभैर्मेचकैरिति चोपमाद्वयम्। अभीरुभिर्निर्भीकैरिभैर्गजैः। इभाः प्रतिगजास्तादृशा इव अभिरेभिरे अभियुक्ताः। उपमानुप्रासयोः संकरः। द्व्यक्षरानुप्रासः॥ ६६॥

बहुसङ्ख्यक (पताका गर्देला आदि) भारोंसे युक्त, भयकारक, (अत एव पृथ्वीके लिए) बोझिल, भेरियोंके समान ध्वनि करनेवाले और मेघके समान (मेचक) कान्तिवाले हाथियोंके साथ (वैसे ही गुणोंवाले प्रतिपक्षी) हाथी भिड़ गये अर्थात् युद्ध करने लगे॥६६॥

निशितासिलताळूनैस्तथा हस्तैर्न हस्तिनः।
युध्यमाना यथा दन्तैर्भग्नैरापुर्विहस्तताम्॥ ६७॥

निशितेति॥ युध्यमानाः संप्रहरन्तः हस्ता येषां सन्तीति हस्तिनः। 'हस्ता॰ ज्जातौ' (५।२।१३३) इति निप्रत्ययः। यथा भग्नैर्दन्तैः विषाणैः विहस्ततां हस्तहीनत्वमितिकर्तव्यतामूढत्वं चापुः। 'विहस्तव्याकुलौ समौ' इत्यमरः। तथा निशिताभिरसिलताभिर्लूनैश्छिन्नैर्हस्तैः शुण्डादण्डैर्विहस्ततां नापुः। हस्तेभ्योऽपि दन्तानां प्रहारसाधनत्वादिति भावः। अत्र हस्तस्याच्छेदे वैहस्त्यं न हस्तच्छेदे इति विरोधः प्रतिपत्तिमूढतया समाहित इति विरोधाभासोऽलङ्कारः॥ ६७॥

युद्ध करते हुए हाथी तीक्ष्ण तलवारोंसे काटे गये सूंड़ोंसे वैसा विहस्त (व्याकुल, पक्षा०—बिना हाथ (सूँड़) वाले) नहीं हुए, जैसा टूटे हुए, दाँतोंसे विहस्त (व्याकुल—किंकर्तव्यमूढ, पक्षा०—बिना हाथवाले) हुए॥ ६७॥

॥ असंयोगः॥

निपीडनादिव मिथो दानतोयमनारतम्।
वपुषामदयापातादिभानामभितोऽगलत्॥ ६८॥

निपीडनादिति॥ इभानां वपुषां अदयापातान्निर्दयाभियोगाद्धेतोः मिथो निपीडनादिव वस्त्रादिनिपीडनादिवेत्युत्प्रेक्षा। अनारतमश्रान्तं दानतोयमभितोऽगलत्। यत्नवन्निर्दयापातेऽपि मदातिरेक इति गजानामुत्साहातिशयोक्तिः। अत्र संयोगाभावादसंयोगाख्यिन्नभेदः। 'हलोऽनन्तराः संयोगः' (१।१।७)॥ ६८॥

हाथियोंके निर्दयतापूर्वक (परस्परमें) लड़नेसे मानो (कपड़ा आदिके) निचोड़ने-जैसी निरन्तर मदधारा, दोनों ओरसे बहने लगी। (निर्दयतापूर्वक परस्पराघात होनेपर भी दोनों पार्श्वोंसे मदधाराके प्रवाहित होनेसे हाथियोंका उत्साहाधिक्य होना सूचित होता है)॥ ६८॥

रणाङ्गणं सर इव प्लावितं मदवारिभिः।
गजः पृथुकराकृष्टशतपत्रमलोडयत्॥ ६९॥

रणेति ॥ गजो मदवारिणा प्लावितमुषितं रणाङ्गणं सर इव पृथुना करेणाकृष्टानि शतपत्राणि अमितवाहनानि, अन्यत्र कुशेशयानि च यस्मिन्कर्मणि तत्तथा रणाङ्गणमलोडयदुपालोभयत् । श्लेषविशेषणेयमुपमा ॥ ६९ ॥

हाथीने मदजलसे प्लावित युद्धके मैदानको, बड़े सूँड़से वाहनोंको खींचते हुए उस प्रकार आलोडित कर दिया, जिस प्रकार बड़े सूँड़से कमलों को खींचते हुए (जलपूर्ण) तडागको आलोडित कर देता है ॥ ६९ ॥

शरक्षते गजे भृङ्गैः सविषादिविषादिनि ।
रुतव्याजेन रुदितं तत्रासीदतिसीदति ॥ ७० ॥

शरक्षते इति ॥ गजे शरेण क्षते प्रहृते अत एव विषादिना विषादवता विषादिना यन्त्रा सह वर्तते इति तस्मिन् सविषादिविषादिनि तत्र रणे अतिसीदति अतिसन्ने सति । मृते सतीत्यर्थः । सदेर्लटः शत्रादेशः । भृङ्गैः कर्तृभिः । 'न लोका–' (२।३।६९) इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । रुतव्याजेन रुतच्छलेन रुदितं रोदनमासीत् । स्वाश्रयनाशदुःखाद्रोदनं कृतमिवेत्युत्प्रेक्षा व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्या । सा च रुतव्याजेनेत्यपह्नवपूर्वकत्वात्सापह्नवेति सर्वस्वकारः ॥ ७० ॥

बाणाहत हाथीके, विषादयुक्त महावतवाले उस युद्धमें मर जानेपर भौंरे, गूँजनेके कपटसे मानो रो रहे थे। अपने आश्रयके नाश होनेपर भ्रमरोंको रोनेकी उत्प्रेक्षा की गयी है) ॥ ७० ॥

अन्तकस्य पृथौ तत्र शयनीय इवाहवे ।
दशनव्यसनादीयुर्मत्कुणत्वं मतङ्गजाः ॥ ७१ ॥

अन्तकस्येति ॥ अन्तकस्य मृत्योः सम्बन्धिनि शेतेऽस्मिन्निति शयनीये । तल्प इव स्थिते इत्यर्थः । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' (३।३।११३) इत्यधिकरणेऽनीयर् । पृथौ विशाले तत्राहवे मतङ्गजा दन्तव्यसनाद्विषाणभङ्गाद्धेतोः मत्कुणत्वमीयुः । मत्कुणा इव दृष्टा इत्यर्थः । सुप्तरक्तपायिनः खट्वाश्रयाः कीटविशेषा मत्कुणाः । 'कालेऽप्यजातदन्ते च शय्याजन्तौ च मत्कुणः' । तत्सादृश्याददन्तेषु दन्तिषु तथात्वरूपकं अन्तकस्य शयनीय इवेत्युत्प्रेक्षासापेक्षमपि सङ्करः ॥ ७१ ॥

मृत्युकी शय्याके समान उस विशाल युद्धमें, दाँत टूटनेसे हाथी खटमल (पक्षा०—बिना दाँत जमे हुए हाथी) हो गये ।

विमर्श—खटमलोंके भी दाँत नहीं होते हैं और समयपर जिन हाथियोंके दाँत नहीं जमते हैं, उन्हें भी 'मत्कुण' ही कहा जाता है ॥ ७१ ॥

१. 'सुविषादिनिषादिनि' इति पा० ।

अथ युग्मेनाह (७२-७३)—

॥ अर्धभ्रमकः ॥

अ भी क म ति के ने द्धे
भी ता न न्द स्य ना श ने।
क न त्स का म से ना के
म न्द का म क म स्य ति ॥ ७२ ॥

अ	भी	क	म	ति	के	ने	द्धे
भी	ता	न	न्द	स्य	ना	श	ने
क	न	त्स	का	म	से	ना	के
म	न्द	का	म	क	म	स्य	ति

अभीकेत्यादि ॥ अभीका निर्भीका मतिर्यस्य तेनाभीकमतिकेन निर्भयचित्तेन । शैषिकः कप्प्रत्ययः । इद्धे दीप्ते । भीतानामानन्दस्य नाशने । नशेर्ण्यन्तात्कर्तरि ल्युट् । कनन्ती दीप्यमाना सकामा विजयित्वात्पूर्णकामा सेना यत्र तस्मिन् कनत्सकामसेनाके । पूर्ववत्कप् । मन्दकामं मन्दोत्साहम् । पूर्ववदेव कप् । अस्यति निराकुर्वाणे रण इत्युत्तरेण सम्बन्धः । अत्र सर्वतोभद्रवत्सर्वपादभ्रमणाभावात्पादार्धानामेव भ्रमणादर्धभ्रमकम् । उद्धारस्तु सर्वतोभद्रवत्स्यादेव ॥ ७२ ॥

निर्भय चित्तवालोंसे बढ़ाये गये, डरे हुए लोगोंके आनन्दको नष्ट करनेवाले, दीप्त (उत्साहित) होती हुई एवं प्रद्युम्नयुक्त (या—पूर्ण मनोरथा) सेनावाले और मन्द इच्छा (उत्साह) वालेको दूर करनेवाले (उस युद्धमें······अग्रिम श्लोकके साथ अन्वय करना चाहिये) ॥ ७२ ॥

दधतोऽपि रणे भीममभीक्ष्णं भावमासुरम् ।
हताः परैरभिमुखाः सुरभूयमुपाययुः ॥ ७३ ॥

दधत इति ॥ रणे पूर्वोक्तप्रकारे अभीक्ष्णमत्यन्तं भीमं भयङ्करं आसुरम् असुरसम्बन्धिनं भावं पुरुषकारलक्षणम् । 'भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्यभिप्रायजन्तुषु' इति वैजयन्ती । असुरत्वं च दधतः दधाना अपि परैः शत्रुभिः अभिमुखा एव स्थिता हताः । वीरा इति शेषः । अत एव सुराणां भावं सुरभूयं सुरत्वं देवत्वमुपाययुः । 'स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः' (मनु० ७।८९) इति स्मरणादिति भावः । 'भुवो भावे' (३।१।१०७) इति क्यप् । अत्रासुरभावेऽपि सुरभूयमुपाययुरिति विरोधस्य भावशब्दस्यार्थान्तरत्वेन परिहाराद्विरोधाभासः ॥ इति युग्मम् ॥ ७३ ॥

(पूर्व श्लोकोक्त विशेषणवाले) युद्धमें बार-बार असुरोंके भयङ्कर भाव (पुरुषार्थ) को धारण करते हुए भी, शत्रुओंके द्वारा सामने मारे गये शूरवीरोंने देवत्वको प्राप्त किया अर्थात् शत्रुओंके सामने जाकर उनके द्वारा मारे जानेपर वे स्वर्गको चले, (यहाँ असुरोंके भावको धारण करनेवालोंका देवत्व (देवभाव) प्राप्त करनेसे आनेवाले विरोधका दूसरे अर्थसे परिहार होता है) ॥ ७३ ॥

येनाङ्गमूहे व्रणवत्सरुचा परतोमरैः ।
समत्वं स ययौ खड्गत्सरुचापरतोऽमरैः ॥ ७४ ॥

येनाङ्गमिति ॥ रुचा सह वर्तते यस्तेन सरुचा तेजस्विना येन वीरेण परतोऽमरैः शत्रुशस्त्रैः व्रणवत्सव्रणमङ्गमूहे ऊढम् । वहेः कर्मणि लिट् सम्प्रसारणम् । खड्गत्सरौ खड्गमुष्टौ चापे च रतः खड्गत्सरुचापरतः । खड्गेषु प्रहारेण युद्धं कुर्वन्नित्यर्थः । 'त्सरुः खड्गादिमुष्टौ स्यात्' इत्यमरः । स वीरोऽमरैः समत्वं ययौ । पौरुषेणेति भावः । उपमायमकयोः संसृष्टिः ॥ ७४ ॥

तेजस्वी जिस वीरने शत्रुओंके तोमरों (शस्त्र-विशेषों) से व्रणयुक्त शरीरको धारण किया अर्थात् जिस शूरवीरका शरीर शत्रुके तोमरोंसे व्रणयुक्त हो गया, उस खड्गकी मूठ तथा धनुषको पकड़ा हुआ वह (पुरुषार्थसे) देवताके समान हो गया ॥ ७४ ॥

निपातितसुहृत्स्वामिपितृव्यभ्रातृमातुलम् ।
पाणिनीयमिवालोकि धीरैस्तत्समराजिरम् ॥ ७५ ॥

निपातितेति ॥ निपातिता वीरशय्यां गमिताः सुहृदादयो यत्र तत्तथोक्तम् । अभिमुखबन्धोरपि रणे वध्यत्वादिति भावः । अन्यत्र निपातिताः लक्षणाभावे शब्दसाधुत्वाय सूत्रकृता सूत्रस्वरूपेणोच्चारिताः सुहृदादिशब्दा यत्र तदित्यर्थः । अत एव तत्समराजिरं रणाङ्गणम् । पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयमष्टाध्यायीव्याकरणमिव । 'तेन प्रोक्तम्' (४।३।१०१) इति छप्रत्ययः । धीरैर्धृष्टैरवालोकि दृष्टम् । उभयत्रापि धीरैर्दुरवगाहत्वादिति भावः । शोभनं हृदयं यस्य स सुहृत् । 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' (५।४।१५०) इति हृदयशब्दस्य हृदादेशो निपातितः । स्वमस्यास्तीति स्वामी ईश्वरः । 'स्वामिन्नैश्वर्ये' (५।२।१२६) इति मत्वर्थीयनिपातः । 'पितुर्भ्राता पितृव्यः स्यान्मातुर्भ्राता तु मातुलः' इत्यमरः । 'पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः' (४।२।३६) इति व्यड्डुलजन्तनिपाताः । बिभर्तीति भ्राता । नप्तृनेष्ट्रादिसूत्राद्यौणादिको निपातः ॥

गिराये गये अर्थात् वीरगतिको प्राप्त हुए मित्र स्वामी चाचा भाई और मामावाले (पक्षा०—निपातन किये गये हैं 'सुहृद्, स्वामी, पितृव्य, भ्रातृव्य और मातुल' शब्द जिसमें ऐसे) उस युद्धाङ्गण को धीर (धैर्यवान्, पक्षा०—विद्वान्) लोगोंने पाणिनीय ('पाणिनि' मुनिरचित 'अष्टाध्यायी' ग्रन्थ) के समान देखा ।

१. 'वालोचि' इति पा० ।

विमर्श—लक्षणके अभावमें शब्दों की सिद्धिके लिए सूत्रोंमें सिद्ध शब्दोंका ज्योंका त्यों प्रतिपादन करनेको 'निपातन' कहते हैं। उक्त 'सुहृत्' आदि शब्दोंके निपातन करनेवाले पाणिनीय सूत्रोंको इसी श्लोक की संस्कृत व्याख्यामें देखना चाहिये ॥ ७५ ॥

अभावि सिन्धुरा सन्ध्याभ्रसदृग्रुधिरतोयया।
हृते योद्धुं जनः पांशौ स दृग्रुधि रतो यया ॥ ७६ ॥

अभावीति ॥ संध्याभ्रसदृक् सन्ध्यामेघसदृशं रुधिरमेव तोयं यस्यास्तया सिन्धुरा रक्तनद्या अभावि भूतम्। भावे लुङि चिण्। यया सिन्धुरा दृशो रुणद्धीति दृग्रुधि दृष्टिरोधके। रुधेः क्विप्। पांशौ रजसि हृते सति स जनो वीरलोको योद्धुं रत उत्सुकः। अभूदिति शेषः। उपमायमकयोः संसृष्टिः ॥ ७६ ॥

सन्ध्याकालके मेघके समान (लाल) रुधिररूप पानीवाली वह नदी उत्पन्न हो गयी, जिस नदीके द्वारा दर्शनशक्तिको रोकनेवाली धूलिके दूर किये जानेपर शूरवीर युद्धके लिए उत्साहित हो गये ॥ ७६ ॥

विदलत्पुष्कराकीर्णाः पतच्छङ्खकुलाकुलाः[1]।
तरत्पत्ररथा नद्यः प्रासर्पन्रक्तवारिजाः ॥ ७७ ॥

विदलदिति ॥ विदलद्भिर्विदीर्यमाणैः पुष्करैः करिहस्ताग्रैः, अन्यत्र विकसद्भिः पद्मैराकीर्णा व्याप्ताः। पतद्भिः शङ्खकुलैः ललाटास्थिसङ्घैः कम्बुसङ्घैश्चाकुलाः। तरन्ति प्लवमानानि पत्राणि वाहनानि रथाश्च, अन्यत्र पत्ररथा अण्डजा यासु ताः रक्तवारिजा रुधिरतोयजन्याः अन्यत्र रक्तानि वारिजानि यासु ताः नद्यः प्रासर्पन्प्रावहन्। अत्र नदीनां रक्तनदीनां च श्लेषः ॥ ७७ ॥

काटे गये हाथियोंके शुण्डाग्रों (पक्षा०—खिलते हुए कमलों) से व्याप्त, गिरते हुए शङ्खों (हाथियोंके कर्णस्थ भूषणभूत शङ्खों, या ललाटस्थ हड्डियों, पक्षा०...'शङ्ख' नाम जलजन्तुओं) के समूहसे आकुल अर्थात् चञ्चल, तैरते हुए वाहनों एवं रथोंवाले (पक्षा०—तैरते हुए पक्षियोंवाले), रुधिररूपी पानीसे उत्पन्न (पक्षा०—लाल कमलोंवाली) नदियाँ बहने लगीं ॥ ७७ ॥

असृग्जनोऽस्वक्षतिमानवमज्जवसादनम्।
रक्षःपिशाचं मुमुदे नवमज्जवसादनम् ॥ ७८ ॥

असृगिति ॥ अस्वक्षतिमानक्षपहारवान् जनो वीरजनोऽसृग्रक्तं जवसादनं जवस्य चेष्टावेगस्य सादनं सादकं यथा स्यात्तथा अवमत्। नवयोर्मज्जवसयोर्मेदोरसयोरदनं सभक्षम्। कर्तरि ल्युट्। रक्षांसि च पिशाचाश्च रक्षःपिशाचम्। समाहारे द्वन्द्वैकवद्भावः। मुमुदे जहर्ष। अत्र मोदस्य वमनवाक्यार्थहेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं, तच्च यमकेन संसृज्यते ॥ ७८ ॥

---

१. 'समाकुलाः' इति पा०।

हथियार की चोटसे युक्त शूरवीर व्यक्ति (चेष्टाके) वेगको रोकता हुआ अर्थात् क्रमशः शिथिल चेष्टावाला होता हुआ रुधिर वमन कर दिया और ताजे मेदा तथा चर्बीको खानेवाले राक्षस तथा पिशाच हर्षित हो गये ॥ ७८ ॥

चित्रं चापैरपेतज्यैः स्फुरद्रक्तशतह्रदम् ।
पयोदजालमिव 'तद्वीराशंसनमाबभौ ॥ ७९ ॥

चित्रमिति ॥ अपेतज्यैरपगतमौर्वीकैः । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः । चापैश्चित्रं विचित्रम् । स्फुरन्ति रक्तान्येव शतह्रदाः शम्पा यस्मिंस्तत् । 'शम्पाशतह्रदाह्रादिनी' इत्यमरः । तत्प्रकृतं वीरा आशंस्यतेऽत्रेति वीराशंसनं भयङ्करा युद्धभूमिः । 'सा वीराशंसनं युद्धभूमिर्याऽतिभयप्रदा' इत्यमरः । पयोदजालमिवाबभौ ॥ ७९ ॥

टूटी हुई प्रत्यञ्चाओंवाले धनुषों (पक्षा०—प्रत्यञ्चारहित इन्द्रधनुषों) से कर्बुरित (पक्षा०—विचित्र), स्फुरित होते हुए रक्तोंके सैकड़ों तडागोंवाला, (या—लाल सैकड़ों तडागोंवाला, पक्षा०—स्फुरित होती हुई बिजलीवाला) वह युद्ध मेघसमूहके समान शोभने लगा ॥ ७९ ॥

बन्धौ विपन्नेऽनेकेन नरेणेह तदन्तिके ।
अशोचि सैन्ये घण्टाभिर्न रेणे हतदन्तिके ॥ ८० ॥

बन्धाविति ॥ इह सैन्ये बन्धौ विपन्ने मृते सति अनेकेन नरेण । अनेकैर्नरैरित्यर्थः । जातावेकवचनम् । तदन्तिके तस्य मृतस्य बन्धोरन्तिके अशोचि । किञ्च हता दन्तिनो यत्र तस्मिन् हतदन्तिके सैन्ये घण्टाभिर्न रेणे न दध्वने । रणतेर्भावे लिट् । अत्र हतदन्तिके इति विशेषणगत्या घण्टानामरणनहेतुत्वात्पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं यमकेन संसृज्यते ॥ ८० ॥

इस सेनामें बन्धुके मर जानेपर अनेक मनुष्योंमें उस (मरे हुए बन्धु के पासमें शोक किया और मारे गये हथियोंवाली सेनामें घण्टाओंका बजना बन्द हो गया ॥ ८० ॥

कृत्तैः कीर्णा मही रेजे दन्तैर्गात्रैश्च दन्तिनाम् ।
क्षुण्णलोकासुभिर्मृत्योर्मुसलोलूखलैरिव ॥ ८१ ॥

कृत्तैरिति ॥ कृत्तैः छिन्नैः दन्तिनां दन्तैर्गात्रैश्च कीर्णा मही रणभूमिः क्षुण्णाः पिष्टा लोकासवो जनप्राणा यैस्तैः मृत्योर्मुसलोलूखलैः कीर्णेव रेजे । 'अयोग्रं मुसलोऽस्त्री स्यादुदूखलमुलूखलम्' इत्यमरः । अत्र मुसलोलूखलैरिति राजदन्तादिपाठेऽपि 'सर्वंकूलाभ्र-' (३।२।४२) इत्यादिसूत्रादेव व्यभिचारज्ञापकात्पूर्वनिपातव्यत्ययः ॥

काटे हुए हाथियोंके दाँतों तथा शरीरोंसे व्याप्त (वह युद्ध की) भूमि, मानो लोगों (शूरवीरों) के प्राणोंको कूटी हुई मृत्युके मूसलों तथा ओखलियोंसे व्याप्त हुई-सी शोभने लगी ॥ ८१ ॥

---

१. 'तद्वैरा-' इति पा० ।

युद्धमित्थं विधूतान्यमानवानभियो गतः ।
चैद्यः परान्पराजिग्ये मानवानभियोगतः ॥ ८२ ॥

युद्धमिति ॥ मानवानभिमानवान् चैद्यो युद्धं गतः प्राप्तः सन् इत्थं विधूता अभिभूता अन्ये चैद्यातिरिक्ता मानवा यैस्तान् । विधूतान्यमानवान् अभियः निर्भीकान् परानरीन् अभियोगततोऽभियोगाद्भ्यवरोधात्पराजिग्ये । जिगायेत्यर्थः । 'विपराभ्यां जेः' (१।३।१९) इत्यात्मनेपदम् । 'सन्लिटोर्जेः' (७।३।५७) इति कुत्वम् ॥ ८२ ॥

अभिमानी शिशुपालने युद्धस्थल में पहुँच कर दूसरे मनुष्योंको पराजित किये हुए निर्भय शत्रुओंको आगे बढ़नेसे रोक कर उन्हें जीत लिया ॥ ८२ ॥

अथ भगवदभियोगं पञ्चभिः कुलकेनाह (८३-८७)—

अथ वक्षोमणिच्छायाच्छुरितापीतवाससा ।
स्फुरदिन्द्रधनुर्भिन्नतडितेव तडित्वता ॥ ८३ ॥

अथेति ॥ अथ चैद्यजयानन्तरं वपुषा राजन्परः पुमानदृश्यतेति पञ्चमेन सम्बन्धः । तद्वपुस्तावत्रिभिर्विशिनष्टि—वक्षोमणेः कौस्तुभस्य छायया छुरितानि व्याप्तान्यापीतवासांसि पीताम्बराणि यस्य तेन । अत एव स्फुरता इन्द्रधनुषा भिन्नाः संगतास्तडितो यस्य तेन तडित्वता मेघेनेव स्थितेनेत्यर्थः ॥ ८३ ॥

अब पाँच (१९।८३-८७) श्लोकोंसे श्रीकृष्ण भगवान्के आक्रमण करनेका वर्णन करते हैं) इस (शिशुपालके विजय करने) के बाद हृदयपर स्थित मणि (कौस्तुभमणि) की कान्तिसे मिश्रित अधिक पीले वस्त्र (पीताम्बर) वाले (अत एव) स्फुरमाण इन्द्रधनुष से सङ्गत बिजलीवाले मेघके समान ('शरीरसे शोभते हुए परम पुरुषको' ऐसा आगेवाले (१९।८७) श्लोकसे अन्वय करना चाहिए) ॥ ८३ ॥

॥ द्व्यक्षरः ॥

नीलेनानालनलिननिलीनोल्ललनालिना ।
ललनालालनेनालं लीलालोलेन लालिना ॥ ८४ ॥

नीलेनेति ॥ पुनः कीदृशेन वपुषा । नीलेन श्यामलेन तथाऽनालं नालरहितं यन्नलिनं तत्र निलीना आसक्ताः उल्ललन्तीत्युल्ललनाश्चलाश्चालयो यस्य तेन अनालनलिननिलीनोल्ललनालिना । मुखसौरभलोभपरिभ्रमद्भ्रमरेणेत्यर्थः । ललनानां विलासिनीनां स्त्रीणां लालनेन उपलालनेन । वशीकरणेनेत्यर्थः । अलमत्यन्तं लीलालोलेन क्रीडालोलुपेन । 'लीलालानेन' इति पाठे लीलानां विलासानामालानेन । आलयेनेत्यर्थः । लालयति भक्तानिति लालिना । भक्तानुकम्पिनेत्यर्थः । द्व्यक्षरानुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ८४ ॥

---

१. '—लाऽऽलानेन' इति पा० ।

श्यामल, नालरहित कमल पर बैठे हुए चञ्चल भ्रमरवाले, ललनाओं (रमणियों) को लालित (आकृष्ट-वशीभूत) करनेवाले, लीलामें अत्यधिक चतुर और (भक्तोंका) लालन करनेवाले ('शरीरसे शोभते हुए परम पुरुषको' ऐसा आगेवाले (१९।८७) श्लोकसे अन्वय करना चाहिये)॥ ८४॥

अपूर्वयेव तत्कालसमागमसकामया।
दृष्टेन राजन्वपुषा कटाक्षैर्विजयश्रिया॥ ८५॥

अपूर्वयेति॥ किञ्च अपूर्वयेव अपूर्वसमागमयेव तत्कालसमागमे सकामया साभिलाषया विजयश्रिया। स्वैरविरक्तयेति भावः। कटाक्षैरपाङ्गैर्दृष्टेनालोकितेन वपुषा राजन्दीप्यमानः। अत्र प्रस्तुतजयश्रीविशेषणसाम्यादप्रस्तुतानुरक्तकामिनीप्रतीतेः समासोक्तिः प्रतीयमानाभेदाध्यवसायादपाङ्गदर्शनोत्प्रेक्षा च॥ ८५॥

मानो अपूर्व समागमवाली एवं उस समयके समागमके लिए अभिलाषा करनेवाली विजयलक्ष्मीके द्वारा कटाक्षसे देखे गये ('शरीरसे शोभते परम पुरुषको' ऐसा आगेवाले (१९।८७) श्लोकके साथ अन्वय करना चाहिये)॥ ८५॥

॥ द्व्यक्षरः॥

विभावी विभवी भाभो विभाभावी विवो विभीः।
भवाभिभावी भावावो भवाभावो भुवो विभुः॥ ८६॥

विभावीति॥ विभावोऽस्यास्तीति विभावी प्रभावसम्पन्नः विभवोऽस्यास्तीति विभवी ऐश्वर्यवान् भस्य आभेवाभा यस्य स भाभः। नक्षत्रवदुज्ज्वल इत्यर्थः। विभां विशिष्टाभां भावयति सम्पादयति विश्वस्येति विभाभावी। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (मुण्डकोपनिषत् २।२।१०) इति श्रुतेः। भुवो पन्नगाशिनिः। विना पक्षिणा वाति गच्छतीति विवः। पक्षिवाहन इत्यर्थः। 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३)। विभीर्निर्भीकः। भवं संसारमभिभवतीति भवाभिभावी। भक्तानां संसारनिवर्तक इत्यर्थः। भुवो णिनिः। भावाञ्जन्तूनवतीति भावावः विश्वत्राता। 'भावो लीलाक्रियाचेष्टाभूत्यभिप्रायजन्तुषु' इति वैजयन्ती। अवतेः कर्मण्यण्। भवाभावोऽस्यास्तीति। संसारदुःखैरस्पृष्ट इत्यर्थः। अर्शआदित्वादच्प्रत्ययः। भुवो भूमेः विभुर्भर्ता॥

(और वह पुरुष ऐसा था कि) प्रभावयुक्त, विभववाले (ऐश्वर्यवान्), नक्षत्रके समान आभावाले, (संसारको) अतिशय आभायुक्त करते हुए, पक्षी (गरुड़) से चलनेवाले अर्थात् गरुडारूढ, निर्भय, संसारका अभिभव करनेवाले अर्थात् भक्तोंके संसारमें आवागमन को नष्ट करनेवाले, जीवोंके रक्षक, संसार (के दुःखों) के अभाववाले अर्थात् सांसारिक दुःखादिसे रहित और पृथ्वीका पालन करनेवाले ('परम पुरुषको' ऐसा आगेवाले (१९।८७) श्लोकसे अन्वय करना चाहिये)॥ ८६॥

उपैतुकामैस्तत्पारं निश्चितैर्योगिभिः परैः।
देहत्यागकृतोद्योगैरदृश्यत परः पुमान्[1] ॥ ८७ ॥

उपैरिवति ॥ एवंभूतः परः पुमान्परमपुरुषो हरिः। तत्पारं तस्य हरेः पारं अन्तमुपैतुकामैस्तं जिगीषुभिः, अन्यत्र दिदृक्षुभिरित्यर्थः। 'तुं काममनसोरपि' इति मकारलोपः। निश्चितैः। योद्धुं कृतनिश्चयैरित्यर्थः। अन्यत्र निश्चिततत्त्वैः। सकर्मकाद्व्यविवक्षिते कर्मणि क्तः। यद्वा पीता गावः, विभक्ता भ्रातर इत्यादिवदूहयितव्यम्। स्फुटीकृतं चैतद्घण्टापथे 'स वर्णिलिङ्गी विदितः' (किरातार्जुनीये १।१) इत्यत्र। देहत्यागकृतोद्योगैर्मरणोद्यतैः। अन्यत्र मुमुक्षुभिरित्यर्थः। योगिभिः संनाहवद्भिरुपायवद्भिर्वा, अन्यत्र ध्यानवद्भिः। 'योगः संनहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः। परैः शत्रुभिः, अन्यत्र परमयोगिभिः अदृश्यत। परेशामप्रेक्षिष्टेत्यर्थः। अन्यत्र साक्षात्कृतः। 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति' (श्वेताश्व० ३।८,६।१५) इति श्रुतेः। अर्थान्तरप्रतीतिर्ध्वनिरेव न श्लेषः। अभिधायाः प्रकृतार्थे नियन्त्रणात् ॥८७॥

ऐसे (१९।८३–८६) परम पुरुष (श्रीकृष्ण भगवान्) को उनके पार जाने (पक्षा०–देखने) के इच्छुक, युद्धके लिए निर्णय किये हुए (पक्षा०–तत्त्वोंका निर्णय किये हुए), मरने के लिए तत्पर (पक्षा०—मुक्ति प्राप्तकर शरीरत्याग करनेके लिए तत्पर), कवचवाले (या–उपाययुक्त, पक्षा०–ध्यान करनेवाले) शत्रुओंने (पक्षा०–श्रेष्ठ योगियों) ने देखा ॥ ८७ ॥

॥ गतप्रत्यागतम् ॥

युग्मेनाह (८८–८९)—

तं श्रिया घनयाऽनस्तरुचा सारतया तया।
यातया तरसा चारुस्तनयाऽनघया श्रितम् ॥ ८८ ॥

तमिति ॥ घनया आनन्दसान्द्रया। अनस्तरुचा अक्षीणकान्त्या। सारतया सारत्वेन सर्वोत्कर्षगुणेन यातया व्याप्तया। चारुस्तनया रम्यकुचया। 'स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्' (४।१।५४) इति विकल्पादनीकारः। अनघया निर्दोषया तया प्रसिद्धया श्रिया रमया तरसा त्वरया श्रितमालिङ्गितं तं हरिमुद्धोषयेत्युत्तरेण संबन्धः। अत्रापि प्रातिलोम्येनार्धावृत्तेरर्धप्रतिलोमयमकम्। एतल्लक्षणं तु प्रागेवोक्तम् ॥ ८८ ॥

अत्यधिक हर्षयुक्त, अविनष्ट कान्तिवाला, सारवान् होनेसे सब गुणोंसे व्याप्त, निर्दोष उस लक्ष्मीके द्वारा शीघ्र आलिङ्गित ॥ ८८ ॥

---

१. एतदनन्तरमधस्तनं पद्यं क्वचित्पुस्तकेऽधिकं दृश्यते—
'किङ्किणिखिणिखिणिरणितैरङ्गणपरिरम्भणैस्तदाटन्तम्।
कुङ्कुमनिभपदयुगलं कङ्कणकरशोभितं हरिं वन्दे ॥' इति।

विद्विषोऽद्विषुरुद्वीक्ष्य तथाप्यासन्निरेनसः ।
अरुच्यमपि रोगघ्नं निसर्गादेव भेषजम् ॥ ८९ ॥

विद्विष इति ॥ तं पूर्वोक्तं हरिमुद्वीक्ष्य विद्विषः शत्रवोऽद्विषुः द्विषन्ति स्म । लङि 'द्विषश्च' (३।४।११२) इति विकल्पेन झेर्जुसादेशः । तथापि द्विषन्तोऽपि निरेनसो निष्पापा आसन् । द्वेषवीक्षणस्याप्येनोनिवर्तकत्वं दृष्टान्तेनाह—अरुच्यमिति । रोचत इति रुच्यम् । 'राजसूय—' (३।१।११४) इत्यादिना क्यबन्तो निपातितः । अरुच्यमरोचमानमपि भेषजमौषधम् । 'भेषजौषधभैषज्यानि' इत्यमरः । निसर्गात्स्वभावशक्तेरेव रोगं हन्तीति रोगघ्नमारोग्यकारि । 'हरिर्हरति पापानि' इति वचनादिति भावः । 'अमनुष्यकर्तृके च' (३।२।५३) इति टक्प्रत्ययः ॥ ८९ ॥

उन (श्रीकृष्ण भगवान्) को देखकर शत्रु द्वेष करने लगे, तथापि अर्थात् द्वेष करते रहनेपर भी पापरहित हो गये; क्योंकि नहीं रुचनेवाला भी औषध स्वभावसे ही रोगको नष्ट करनेवाला होता है ॥ ८९ ॥

[1]विदितं दिवि केऽनीके तं यातं निजिताजिनि ।
विगदं गवि रोद्धारो योद्धा यो नतिमेति नः ॥ ९० ॥

॥ प्रतिलोमेनायमेवार्थः ॥

विदितमिति ॥ किंच योद्धा वीरो यो हरिः नतिं परेषां नम्रतां नैति नोपैति । नितरां जिता आजयो येन तस्मिन्निजिताजिनि अनेकाजिविजयिन्यपि अनीके सैन्ये । 'वरूथिनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्' इत्यमरः । यातं योद्धुमागतम् दिवि स्वर्गेऽपि विदितं प्रख्यातं विगदं निरामयं तं हरिं भुवि । रोद्धारो जेतारः के । न केऽपीत्यर्थः । प्रातिलोम्येऽप्येत एव पदार्थवाक्यार्थाः । एतदपि श्लोकप्रतिलोमयमकमेव । पदपदार्थादिसंवादस्तु वैचित्रीविशेषः । लक्षणं तु 'निश्वनत्' (१९।३४) इत्यत्रैवोक्तमनुसंधेयम् ॥ ९० ॥

जो योद्धा (श्रीकृष्ण भगवान् , शत्रुओंके सामने) कभी नम्र नहीं हुए जो युद्धों को सम्यक् प्रकारसे जीती हुई सेना में पहुँचे हुए एवं जो स्वर्ग में भी विख्यात थे उन निरामय (श्रीकृष्ण भगवान) को पृथ्वीपर रोकने (जीतने) वाला कौन था ? अर्थात् कोई भी नहीं ।

विमर्श—'नतिमेति न योद्धा यो रोद्धारो विगदं गवि ।
निजिताजिनि तं यातं केऽनीके विदितं दिवि ॥'

इस प्रकार उक्त (१९।९०) श्लोक को प्रतिलोम (उलट) कर पढ़नेसे भी वही अर्थ होता है, अतएव यह 'श्लोकप्रतिलोमयमक' कहा जाता है ॥ ९० ॥

[2]नियुज्यमानेन पुरः कर्मण्यतिगरीयसि ।
आरोप्यमाणोरुगुणं भर्त्रा कार्मुकमानमत् ॥ ९१ ॥

---

१. 'विदिते' इति पा० । २. 'नियोक्ष्यमाणेन' इति पा० ।

नियुज्यमानेनेति ॥ पुरोऽग्रे अतिगरीयसि कर्मणि रणकर्मणि, अन्यत्र दुष्करे कचित्कृत्यवस्तुनि नियुज्यमानेन व्यापारयिष्यता आज्ञापयिष्यता च भर्त्रा स्वामिना आरोप्यमाणोऽधिक्रियमाण उरुर्महान् गुणो ज्या यस्मिंस्तत्। अन्यत्र वर्ण्यमानसौन्दर्यादिकः कर्मणे प्रभवतीति कार्मुकं धनुः 'कर्मण उकञ्' (५।१।१०३) आनमत् गुणाकर्षणादाकुञ्चितकोटिकमभूत्। अन्यत्र प्रणत इत्यर्थः। अत्र प्रकृतकार्मुकविशेषणसाम्यादप्रस्तुतनियोज्यपुरुषप्रतीतेः समासोक्तिः॥ ९१ ॥

पहले बहुत बड़े (युद्धरूप, पक्षा०—दुष्कर) कार्यमें नियुक्त करनेवाले (पक्षा०—आज्ञा देनेवाले) स्वामी (धनुर्धर, पक्षा०—मालिक) के द्वारा चढ़ायी जा रही है बड़ी प्रत्यञ्चा जिसपर ऐसा (पक्षा०—कहा जा रहा है सौन्दर्य पुरुषार्थ आदि गुण जिसका ऐसा), धनुष (पक्षा०—काम करनेमें समर्थ अनुचर) नम्र (पक्षा०—प्रणत) हो गया ॥ ९१ ॥

तत्र बाणाः सुपरुषः समधीयन्त चारवः।
द्विषामभूत्सुपरुषस्तस्याकृष्टस्य चारवः॥ ९२ ॥

तत्रेति ॥ तत्र कार्मुके शोभनानि परूंषि येषां ते सुपरुषः सुपर्वाणः। अत एव चारवोऽतिरम्या बाणाः समधीयन्त निहिताः। आकृष्टस्य तस्य कार्मुकस्यारवश्च द्विषां सुष्ठु परुषः सुपरुषोऽतिकर्कशोऽभूत्। यमकविशेषालङ्कारः॥ ९२ ॥

उस (धनुष) पर अच्छे पर्वों (पोरों) वाले (अत एव) सुन्दर बाण चढ़ाये गये तथा खींचे गये उस (धनुष) का महान् टङ्कार शत्रुओंके लिए अत्यन्त कर्कश हो गया ॥ ९२ ॥

पश्चात्कृतानामप्यस्य नराणामिव पत्रिणाम्।
यो यो गुणेन संयुक्तः स स कर्णान्तमाययौ॥ ९३ ॥

पश्चादिति ॥ नराणां पुंसामिव पश्चात्कृतानां निषङ्गसङ्गितया पृष्ठस्थापितानामपि, अन्यत्रावधीरितानामपि। पत्रिणामिषूणां मध्य इत्यर्थः। यो यः पत्री, नरश्च गुणेन ज्यया दाक्षिण्यादिना च संयुक्तः संबद्धः स स पत्री नरश्चास्य हरेः कर्णान्तं कर्णसमीपमाययौ आगतः। गुणयोगादाकर्णमाकृष्टः, अन्यत्रान्तिकमागत इत्यर्थः। श्लेषसंकीर्णोपमा ॥ ९३ ॥

मनुष्योंके समान पीछे गये (तरकसमें उलटकर रखे गये, पक्षा०—तिरस्कृत किये गये), भी बाणोंमें-से जो-जो (बाण, पक्षा०—मनुष्य) गुण (प्रत्यञ्चा, पक्षा०—चातुर्य आदि) से युक्त हुए, वे-वे (बाण, पक्षा०—मनुष्य, श्रीकृष्ण भगवान् के) कान तक पहुँचे अर्थात् प्रत्यञ्चापर चढ़ाये गये बाणोंको श्रीकृष्ण भगवान्ने कान तक खींचा (पक्षा०—अत्यन्त विश्वासपात्र बनकर सलाहकार बन गये) ॥ ९३ ॥

॥ द्व्यक्षरः ॥

प्रापे रूपी पुराऽरेपाः परिपूरी परः परैः।
रोपैरपारैरुपरि पुपूरेऽपि पुरोऽपरैः॥ ९४ ॥

---

१. '—मागमात्' इति पा०। २. '—रूपः' इति पा०।

प्राप इति ॥ पुरा पूर्वं रूपी मत्स्यकूर्माद्यनेकरूपवान् अरेपाः निष्पापः परिपूरयति कामैर्भक्तानिति परिपूरी ऋक्षपरदः। पूरयतेर्णिनिः। परः परमपुरुषो हरिः परैः शत्रुभिः प्रापे प्राप्तः। अवरुद्ध इत्यर्थः। अपरैरन्यैः शत्रुभिः कर्तृभिः अपारैरनन्तैः रोपैरिषुभिः। 'पत्री रोप इषुर्द्वयोः' इत्यमरः। पुरोऽग्रे उपरि च पुपूरे पूरितः। पृणातेः कर्मणि लिट्। वृत्यक्षरानुप्रासोऽलङ्कारः ॥ ९४ ॥

कुछ शत्रुओंने पूर्व कालमें (मीन, कूर्म, वराह आदि) रूपोंवाले, निष्पाप, (भक्तोंके मनोरथोंको) परिपूर्ण करनेवाले, परम पुरुष (श्रीकृष्ण भगवान्) को प्राप्त किया और दूसरे शत्रुओंने अनन्त बाणोंसे (उन श्रीकृष्ण भगवानके) आगे तथा ऊपर भी पूर्ण (आच्छादित) कर दिया अर्थात् कुछ शत्रु श्रीकृष्ण भगवान्को प्राप्त कर उन्हें रोक लिये तथा दूसरे शत्रुओंने बाणोंकी वर्षासे आच्छादित कर दिया ॥ ९४ ॥

दिङ्मुखव्यापिनस्तीक्ष्णान्ह्रादिनो मर्मभेदिनः।
चिक्षेपैकक्षणेनैव सायकानहितांश्च सः ॥ ९५ ॥

दिगिति ॥ स हरिर्दिङ्मुखव्यापिनो दिगन्तव्यापकान्। अतितीक्ष्णान्निशितान्क्रूरांश्च। ह्रादन्ते इति ह्रादिनः पक्षाध्वानवतः, सिंहनादवतश्च। मर्मभेदिनो मर्मस्थानविदारकान् सायकानिषून्, अहितानरींश्च एकक्षणेनैव चिक्षेप निरास। अत्र सायकानामहितानां च प्रकृतानामेव। तुल्यधर्मयोगाद्धौपम्योपगमात्तुल्ययोगिताभेदः ॥

उन्होंने (श्रीकृष्ण भगवान्ने) दिगन्त तक व्याप्त, तीक्ष्ण (नुकीले, पक्षा०—क्रूर), ध्वनि (पक्षा०— सिंहनाद) करते हुए, मर्मस्थलको विदीर्ण करनेवाले, बाणोंको तथा शत्रुओंको एक क्षणमें ही निरस्त कर दिया ॥ ९५ ॥

॥ गूढचतुर्थः ॥

शरवर्षी महानादः स्फुरत्कार्मुककेतनः।
नीलच्छविरसौ रेजे केशवच्छलनीरदः ॥ ९६ ॥

शरेति ॥ शरवर्षी बाणवर्षी, नीरवर्षी च। 'शरं नीरे शरो बाणे' इति विश्वः। महान्नादः सिंहनादो गर्जितं च यस्य स महानादः। स्फुरन्ती कार्मुककेतने धनुर्ध्वजौ यस्य सः। अन्यत्रेन्द्रचापचिह्न इत्यर्थः। नीलच्छविः श्यामकान्तिः। अस्य केशवस्य छलं कपटं यस्य सः नीरदः केशवच्छलनीरदो हरिमेघोऽसौ रेजे। रणरङ्गे सर्वोत्कर्षेण दिदीपे इत्यर्थः। अत्र छलशब्देन हरित्वापह्नवेन मेघत्वारोपणाच्छलादिशब्दैरसत्यत्वप्रतिपादनरूपोऽपह्नवालङ्कारः। त्रिपाद्यन्तर्गतचतुर्थपादाक्षरत्वाद् गूढचतुर्थाख्यश्चित्रविशेषः, शब्दालङ्कारश्चेति संकरः ॥ ९६ ॥

बाणों (पक्षा०—पानी) को बरसानेवाले, महान् सिंहनादवाले (पक्षा०—अत्यन्त गरजनेवाले), स्फुरित होते हुए धनुष तथा पताकाओंवाले (पक्षा०—इन्द्रधनुषवाले), श्यामल यह श्री कृष्णरूपी मेघ शोभने लगे ॥ ९६ ॥

न केवलं जनैस्तस्य लघुसंधायिनो धनुः।
मण्डलीकृतमेकान्ताद्वलमैक्षि द्विषामपि॥ ९७॥

नेति॥ लघु शीघ्रं संधत्ते यस्तस्य लघुसंधायिनस्तस्य हरेः धनुरेव केवलं एकान्तात् मण्डलीकृतं शीघ्राकर्षणान्नियमेन वलयीकृतं जनैर्नैक्षि। कर्मणि लुङ्। किंतु द्विषां बलमपि मण्डलीकृतं त्रासादेकत्र पुञ्जीकृतमैक्षि। अत्र धनुर्बलयोः प्रकृतयोरेव तुल्यधर्मयोगात्केवलप्रकृतास्पदा तुल्ययोगिता॥ ९७॥

लोगोंने शीघ्र सन्धान करते हुए उन (श्रीकृष्ण भगवान्) का केवल धनुष ही एकान्ततः (शीघ्रतापूर्वक खींचते रहनेसे नियमतः) वलयाकार किया गया नहीं देखा, किन्तु (भयसे एकत्रित होकर) मण्डलाकार स्थित हुई शत्रुओंकी सेना भी देखी॥ ९७॥

युग्मेनाह (९८-९९)—

॥ द्व्यक्षरः॥

लोकालोकी कलोऽकल्ककलिलोऽलिकुलालकः।
कालोऽकलोऽकलिः काले कोलकेलिकिलः किल॥ ९८॥

लोकेति॥ लोकानालोकते इति लोकालोकी त्रैलोक्यदर्शी। कलो मधुरभाषी कल्केन पापेन, दम्भेन वा कलिलो न भवतीत्यकल्ककलिलः। 'कल्कः पापाशये पापे दम्भे' इति विश्वः। अलिकुलालकः। अलिकुलनीलमूर्धज इत्यर्थः। कालो नीलवर्णः कालात्मको वा। नास्ति कला यस्य सोऽकलः। निरंश इत्यर्थः। अकलिरकलहः। स्वयमकलहशील इत्यर्थः। काले प्रलयकाले कोलकेल्या वराहलीलया किलति क्रीडति कोलकेलिकिलः। किलशब्दस्तु खल्वर्थे। विव्याधेरुत्तरेण संबन्धः। द्व्यक्षरानुप्रासः॥ ९८॥

त्रैलोक्यदर्शी, मधुरभाषी, पापसे गहन नहीं अर्थात् निष्पाप (पाठा०—कलियुगमें मायासे गहन), भ्रमर-समूहके समान (घुँघराले) केशोंवाले, कृष्णवर्ण (या—कालरूप), अवयवरहित अर्थात् अखण्ड, कलह नहीं करनेवाले और (प्रलयके) समय वराहलीलासे क्रीडा करने वाले॥ ९८॥

अक्षितारासु विव्याध द्विषतः स तनुत्रिणः।
दानेषु स्थूललक्ष्यत्वं न हि तस्य शरासने॥ ९९॥

अक्षीति॥ स पूर्वोक्तगुणविशिष्टो हरिः तनुत्राणि येषां सन्तीति तनुत्रिणो वर्मिणः। 'तनुत्रं वर्म दंशनम्' इत्यमरः। तान् द्विषतः शत्रून् अक्षितारासु नेत्रकनीनिकासु विव्याध प्रजहार। तथा हि—तस्य हरेः दानेषु वितरणेष्वेव स्थूललक्ष्यत्वं विपुलविषयत्वम्। 'स्थूलवदान्यस्थूललक्ष्यदानशौण्डा बहुप्रदे' इत्यमरः। शरासने

१. 'कलौ कल्क—' इति पा०। २. 'विद्विषः' इति पा०। ३. 'लक्षत्वम्' इति पा०।

शरक्षेपे तु न, किंतु सूक्ष्मलक्ष्यत्वमेव । अतोऽक्षितारावेधित्वमस्य युक्तमित्यर्थः। अतो वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ९९ ॥

उन्होंने (पूर्व (१९।९८) श्लोकोक्त गुणोंवाले श्रीकृष्ण भगवान् ने) कवच पहने हुए शत्रुओंके नेत्रकी पुतलियोंमें (बाणोंसे) प्रहार किया, क्योंकि वे (श्रीकृष्ण भगवान्) दान करनेमें ही स्थूललक्ष्य (बहुत दान देनेवाले-दानवीर) थे, बाण चलानेमें स्थूललक्ष्य (बड़े निशानेको वेधनेवाले) नहीं थे; (किन्तु सूक्ष्म निशानोंको वेधनेवाले थे, अतएव शत्रुओंके नेत्रकी पुतली-जैसे सूक्ष्म अङ्गको वेधना श्रीकृष्ण भगवान्के लिए सरल ही कार्य था)॥९९॥

॥ द्व्यक्षरः ॥

वररोऽविवरो वैरिविवारी वारिरारवः ।
विववार वरो वैरं वीरो रविरिवौर्वरः ॥ १०० ॥

वरर इति ॥ वरान्रातीति वररो वरप्रदः । 'रा दाने' 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३)। अविवरो निर्विवरो नीरन्ध्रः। वैरिणः शत्रून् विवारयति वैरिविवारी। वारीणि रातीति वारिरः। पूर्ववत्कः। तस्येवारवो यस्य स वारिरारवः। वरः श्रेष्ठो वीरः शूरः स कृष्णः। 'उर्वरा सर्वसस्याढ्यभूमौ स्याद् भूमिमात्रके' इत्यमरः। तस्यां भव औवरः पृथ्वीभवः रविरिव वैरं वैरिणां वृन्दं विववार विवारयामास। जघानेत्यर्थः। द्व्यक्षरानुप्रासः ॥ १०० ॥

वरद (भक्तोंको वर देनेवाले), नीरन्ध्र (दोषरहित, पक्षा०—छिद्ररहित), शत्रुओंको रोकनेवाले, जलद (मेघ) के समान गम्भीर ध्वनिवाले, श्रेष्ठ शूरवीर (श्रीकृष्ण भगवान्) ने पृथ्वीमें उत्पन्न सूर्यके समान वैरि-समूहको विदार्ण कर दिया ॥ १०० ॥

मुक्तानेकशरं प्राणानहरद्भूयसां द्विषाम् ।
तदीयं धनुरन्यस्य न हि सेहे सजीवताम् ॥ १०१ ॥

मुक्तेति ॥ मुक्तानेकशरं क्षिप्तबहुबाणं तस्य हरेरिदं तदीयं धनुः भूयसां द्विषां प्राणानहरत्। तथा हि—अन्यस्य परस्य सजीवतां न सेहे। अथवा अन्यस्य धनुषः सजीवतां सज्याकत्वं न सेहे। 'त्रिषु जीवति जीवः स्यान्मौर्व्यां स्त्री' इति वैजयन्ती। वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ १०१ ॥

अनेक बाणोंको छोड़नेवाले, उन (श्रीकृष्ण भगवान्) के धनुषने बहुतसे शत्रुओंके प्राण हर लिये, दूसरे (शत्रु) का सजीव रहना नहीं सहन किया (पक्षा०—दूसरे (धनुष) का प्रत्यंचा सहित रहना नहीं सहन किया) अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान्के धनुषने शत्रुओंको मार डाला और धनुषोंकी प्रत्यञ्चाओंको काट डाला ॥ १०१ ॥

॥ द्व्यक्षरः ॥

राजराजी रुरोजाजेरजिरेऽजोऽजरोऽरजाः ।
रेजारिजूरजोर्जार्जी रराजर्जुरजर्जरः ॥ १०२ ॥

राजेति ॥ न जायत इत्यजोऽनादिः। 'अन्येष्वपि दृश्यते' (३।२।१०१) इति जनेर्डप्रत्ययः। न जीर्यते इत्यजरोऽनन्तः। पचाद्यच्। नास्ति रजो यस्येत्यरजा रजोगुणरहितः। रेजन्तीति रेजास्तेजिष्ठाः। 'रेजृ दीप्तौ पचाद्यच्। ते च ते अरयश्च तेषां जूरो हिंसनं तेन जातं रेजारिजूरजम्, तदूर्जं बलं अर्जयतीति रेजारिजूरजोर्जार्जी। अर्जेर्णिनिः। ऋतुराजंववान्। अजंरो न भवतीत्यजर्जरो दृढः स हरिः आजेरजिरे रणाङ्गणे राजराजी राजश्रेणीः रुरोज बभञ्ज। 'रुजो भङ्गे' लिट्। अत एव रराज दिदीपे। द्व्यक्षरानुप्रासः॥ १०२॥

अज (अनादि), अजर, रजोगुणरहित, तेजस्वी, शत्रुओंकी हिंसासे उत्पन्न बलको प्राप्त करनेवाले, सरल और दृढ श्रीकृष्ण भगवान्‌ने युद्धके प्राङ्गण (मैदान) में राज—श्रेणियोंको भग्न कर दिया और शोभने लगे (दीप्तिमान् हो गये)॥ १०२॥

उद्धतान्द्विषतस्तस्य निघ्नतो द्वितयं ययुः।
पानार्थे रुधिरं धातौ रक्षार्थे भुवनं शराः॥ १०३॥

उद्धतानिति ॥ उद्धतान् दृप्तान् द्विषतः शत्रून्निघ्नतो हिंसतः। 'जासिनिप्रहण—' (२।३।५६) इति सूत्रे निप्रेतिसंघातविपर्यस्तव्यस्तग्रहणोपदेशाद्धिहन्तेरशेषकर्मणि द्वितीयैव। तस्य हरेः शराः। पानार्थे धातौ 'पा पाने' इति धातौ सति रुधिरं, रक्षार्थे धातौ 'पा रक्षणे' इति भुवनं जगच्चेति द्वितयं ययुः। रुधिरमपिबन् भुवनमरक्षंश्चेति श्लेषार्थः। अत्र पानयोरभेदाध्यवसायेन रुधिरभुवनयोस्तुल्ययोगितालङ्कारः। तत्र 'पानार्थे' इत्यादिवाक्यस्य शत्रुवधेन भुवनमरक्षन्निति सूक्ष्मार्थगर्भत्वात्सौक्ष्म्यं नाम गुणः। 'अतः संकल्परूपत्वं शब्दानां सौक्ष्म्यमुच्यते' इति लक्षणात्॥ १०३॥

उद्धत शत्रुओंको मारते हुए उन (श्रीकृष्ण भगवान्) के बाण पीनेके अर्थमें ('पा पाने' इस धातुके अर्थमें) रक्तको और रक्षा के अर्थमें ('पा रक्षणे' इस धातुके अर्थमें) संसार—इन दोनोंको प्राप्त किया अर्थात्—शत्रुओंको मारते हुए श्रीकृष्ण भगवान्‌के बाणोंने शत्रुओंका रक्त पीया और संसारकी रक्षा की॥ १०३॥

अथ युग्मेनाह (१०४–१०५)—

॥ द्व्यक्षरः॥

क्रूरारिकारि कोरेकंकारकः कारिकाकरः।
कोरकाकारकरकः करीरः कर्करोऽर्करुक्॥ १०४॥

क्रूरेति ॥ क्रूरानरीन् किरति विक्षिपति इति क्रूरारिकारी। किरतेर्णिनिप्रत्ययः। कोर्भूमेरेककारकः एककर्ता। करोतेर्ण्वुल्। कारिका यातनाः करोति दुष्टानामिति कारिकाकरः। 'कारिका यातनावृत्त्योः' इत्यमरः। 'कृञो हेतु—' (३।२।२०) इत्या-

१. 'पपुः' इति पा०। २. 'कोरेकः कारकः' इति पा०। ३. 'कर्कराके—' इति पा०।

विना ताच्छील्ये टप्रत्ययः। कारिकाः क्रियाः। धात्वर्थनिर्देशे ण्वुल्। तत्कर इति केचित्। कोरकाकारौ करौ यस्य स कोरकाकारकरकः। कमलमुकुलरमणीयपाणिरित्यर्थः। शैषिकः कप्रत्ययः। करिणो गजानीरयति क्षिपतीति करीरः। कर्मण्यण्। कर्कंरी रणकर्कश इत्यर्थः। 'कर्करो दर्पणे दृढे' इति शाश्वतः। अर्कस्येव रुचयस्य सोऽर्करुगित्युपमा। द्व्यक्षरानुप्रासः ॥ १०४ ॥

क्रूर शत्रुओंको दूर हटानेवाले, पृथ्वीको एक करनेवाले, (दुष्टोंको) यातना देनेवाले, (कमलके) कुड्मलके समान सुन्दर हाथों वाले, हाथीको भगानेवाले, युद्धमें कर्कश (कठोर) और सूर्यके समान रुचि (तेज) वाले ॥ १०४ ॥

विधातुमवतीर्णोऽपि लघिमानमसौ भुवः।
अनेकमरिसंघातमकरोद् भूमिवर्धनम् ॥ १०५ ॥

विधातुमिति ॥ भुवो भूमेर्लघिमानं लघुत्वं भारावतरणं विधातुमवतीर्णोऽपि भुवि जातोऽप्यसौ पूर्वोक्तगुणो भगवान् हरिः अनेकं बहुमरिसंघातं भूमिवर्धनं भूभारमकरोदिति विरोधः। मृतमकरोदित्यविरोधः। अत एव विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ १०५ ॥

पृथ्वीको हलका करने (भूभार हटाने) के लिए अवतीर्ण होकर भी वे (पूर्व (१९। १०४) श्लोकोक्त गुणवाले श्रीकृष्ण भगवान्) अनेक शत्रु-समूहको, पृथ्वी बढ़ानेवाला पृथ्वीको भारभूत कर दिया अर्थात् उन्हें मार दिया ॥ १०५ ॥

॥ द्व्यक्षरः ॥

दारी दरदरिद्रोऽरिदारुदारोऽद्रिदूरदः।
दूरादरौद्रोऽददरद्रोदोरुदारुरादरी ॥ १०६ ॥

दारीति ॥ दारी बहुदारवान्। भूमार्थे मत्वर्थीयः। दरेण भयेन दरिद्रो निर्भीकः। 'दरोऽस्त्रियां भये श्वभ्रे' इत्यमरः। उदारो महान्, दाता वा। 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः। अद्रिवत् दुःखेन रद्यते दूरदो दुर्भेदोऽद्रिदूरदः। 'रद विलेखने' खल् प्रत्ययः। अरौद्रः साधूनां सौम्यः। रोदसीं रुणद्धीति रोदोरुत् विश्वव्यापी। रुधेः क्विप्। ददातीति दारुर्दाता। ददातेरौणादिको रुप्रत्ययः। आदरोऽस्यास्तीत्यादरी सन्मार्गादरवान् स हरिः अरिरेव दारु काष्ठमरिदारु दूरादेव अददरत् दारयति स्म। दारयतेर्णौ चङि 'अत्स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तृस्पशाम्' (७।४।९५) इत्यभ्यासस्यात्वम्। अरिदार्विति रूपकमर्थालङ्कारो द्व्यक्षरानुप्रासश्च ॥ १०६ ॥

बहुत दाराओं (पत्नियों) वालें, भयसे दरिद्र (निर्भय), दानशील (या-महान्), पर्वतवत् दुर्भेद्य, (सज्जनोंके लिए) सौम्य, विश्वव्यापक, दाता तथा (सन्मार्गमें) आदर करनेवाले (सन्मार्गगामी, श्रीकृष्ण भगवान्) ने शत्रुरूपी काष्ठको विदीर्ण कर दिया ॥१०६॥

एकेषुणा सङ्घतिथान्द्विषो भिन्दन्द्रुमानिव ।
स जन्मान्तररामस्य चक्रे सदृशमात्मनः ॥ १०७ ॥

एकेषुणेति ॥ स हरिरेकेषुणा एकेनैव शरेण सङ्घानां पूरणान्सङ्घतिथान् । सङ्घशः स्थितानित्यर्थः । 'बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक्' (५।२।५२) इति तिथुगागमादेव ज्ञापकादसंख्यात्वेऽपि सङ्घाड्डट् प्रत्ययः । द्विषः शत्रून्द्रुमानिवेत्युपमा । भिन्दन्विदारयन् । जन्मान्तरे रामस्य दाशरथेरात्मनः सदृशं चक्रे । एकशरेणानेकारिद्रुमभेदस्तु जन्मान्तरभावनया जात इति भावः । 'बिभेद च पुनस्तालान्सप्तैकेन महेषुणा' इति रामायणे ॥ १०७ ॥

उन्होंने (श्रीकृष्ण भगवान्‌ने) वृक्षोंके समान श्रेणिबद्ध शत्रुओंको एक बाणसे मारते हुए (त्रेतायुगके) जन्मान्तरमें रामरूप धारण किये हुए अपने योग्य कार्य किया अर्थात् रामावतारमें सुग्रीवके कहने पर एक पङ्क्तिमें स्थित सात तालवृक्षोंको आपने एक ही बाणसे गिरा दिया था, इस युद्धमें भी पङ्क्तिबद्ध होकर स्थित हुए शत्रुओंको एक बाणसे मारकर आपने अपने जन्मान्तरीयके समान कार्य किया ॥ १०७ ॥

॥ द्व्यक्षरः ॥

शूरः शौरिरशिशिरैराशाशैराशु राशिशः ।
शारारुः श्रीशरीरेशः शुशूरेऽरिशिरः शरैः ॥ १०८ ॥

शूर इति ॥ शृणातीति शारारुः दुष्टघातुकः । 'शरारुर्घातुको हिंस्रः' इत्यमरः । 'शवन्दोरारुः' (३।२।१७३) इत्यारुप्रत्ययः । श्रीशरीरस्येशः श्रीशरीरेशः लक्ष्मीप्राणनाथः शूरो वीरः शौरिः कृष्णः अशिशिरैस्तीक्ष्णैः आशा दिशोऽश्नुवत इत्याशाशैर्दिगन्तव्यापकैः । अश्नोतेः कर्मण्यण् । शरैर्बाणैः अरिशिरः शत्रुशिरांसि । जातावेकवचनम् । राशिशः सङ्घशः आशु शीघ्रं शुशूरे जघान । 'शूर हिंसास्तम्भनयोः' इति धातोर्लिट् । द्व्यक्षरानुप्रासः ॥ १०८ ॥

(दुष्टोंके) हिंसक, लक्ष्मीके शरीरके स्वामी और शूरवीर श्रीकृष्ण भगवान्‌ने तीक्ष्ण और दिशाओंको व्याप्त करने वाले बाणोंसे शत्रुओंके राशि-राशि (ढेरके ढेर-अर्थात् अत्यधिक संख्यामें) शिरको काट दिया ॥ १०८ ॥

व्यक्तासीदरितारीणां यत्तदीयास्तदा मुहुः ।
मनोहृतोऽपि हृदये लेगुरेषां न पत्रिणः ॥ १०९ ॥

व्यक्तेति तदा तस्मिन्समये एषां अरीणामरिता शत्रुता मुहुर्व्यक्ता आसीत् । यद्यस्मात्तस्य हरेरिमे तदीयाः पत्रिणो बाणाः मनो हरन्ति कायादुद्धरन्तीति मनोहृतः । मारका इत्यर्थः । हरतेः क्विप् । मनोज्ञाः प्रतीयन्ते । अत एव मनोहृतोऽपि हृदये मनसि न लेगुर्न लग्ना इति विरोधः । वक्षो निर्भिद्य विजग्मुरित्यर्थः । 'हृदयं वक्षसि स्वान्ते' इति विश्वः । विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ १०९ ॥

उस समय इन (शत्रुओं) की शत्रुता बार-बार स्पष्ट हो रही थी, क्योंकि उन (श्रीकृष्ण भगवान्) के मनोहर (पक्षा०—मारनेवाले) भी बाण मनमें नहीं लगते (ठहरते) थे अर्थात् हृदयको विदीर्ण कर बाहर निकल जाते थे। (इससे श्रीकृष्ण भगवान्के बाणोंका अत्यन्त तीक्ष्ण एवं वेगशील होता है) ॥ १०९ ॥

॥ अतालव्यः ॥

नामाक्षराणां मलना मा भूद्भर्तुरतः स्फुटम् ।
अगृह्णत पराङ्गानामसूनस्रं न मार्गणाः ॥ ११० ॥

नामेति ॥ भर्तुः स्वामिनो नामाक्षराणां फलेषु लिखितानां मलना मालिन्यं तिरोधानं मा भूदिति बुद्ध्येत्यर्थः। अतः मार्गणाः हरिशराः पराङ्गानां अरिशरीराणामसून्प्राणानगृह्णन। गृहेर्लङ्। न अस्रं रक्तम्। रक्ताविलेपस्य आशुभावनिमित्तस्य स्वामिनामाक्षरमालिन्यपरिहारार्थत्वमुत्प्रेक्ष्यते—स्फुटमिति। अत्र तालव्यवर्णाभावादतालव्य इति चित्रभेदः। इचुयशानां तालुरिति इवर्णस्य तालुत्वेऽपि व्यञ्जनापेक्ष एवायं नियम इति न दोषः ॥ ११० ॥

स्वामी (श्रीकृष्ण भगवान्) के नामाक्षर (बाणोंके फलों पर लिखे गये नामके अक्षर) मलिन (रक्तलिप्त) न होवें, मानो यह सोचकर उन (श्रीकृष्ण भगवान्) के बाण ने शत्रुओंके शरीरके प्राण ले लिये (शत्रुओंको मार दिये), किन्तु उनके शरीरोंका रक्त नहीं लिये अर्थात् वेगसे शत्रुओंके शरीरमें घुसकर शीघ्र पार हो जानेसे शत्रु मर गये और बाणोंके रक्तलिप्त नहीं होनेसे उनके फलोंपर लिखे गये वीर श्रीकृष्ण भगवानके नामाक्षर स्पष्ट (पठनीय) ही रहे ॥ ११० ॥

आच्छिद्य योधसार्थस्य प्राणसर्वस्वमाशुगाः ।
ऐकागारिकवद्भूमौ दूराज्जग्मुरदर्शनम् ॥ १११ ॥

आच्छिद्येति ॥ आशुगा बाणाः योधसार्थस्य वीरवर्गस्य प्राणसर्वस्वं आच्छिद्य ऐकागारिकाश्चौराः। 'चौरैकागारिकस्तेन-' इत्यमरः। 'ऐकागारिकट् चौरे' (५।१।११३) इत्यर्थे निपात्यत इत्येके। इकट् प्रत्यये वृद्धिश्च निपात्यते इत्यपरे। तैस्तुल्यमैकागारिकवत्। तुल्यार्थे वतिः। दूराद् भूमावदर्शनमदृश्यतां जग्मुः ॥ १११ ॥

बाण, वीर-समूहों (पक्षा०-वीररूप व्यापारियों) के प्राणसर्वस्व (प्राणरूपी सम्पूर्ण सम्पत्ति) को छीनकर अर्थात् वीरसमूहोंको मारकर चोरोंके समान सुदूर भूमिमें अदृश्य हो गये (छिप गये) अर्थात् जिस प्रकार चोर किसी व्यापारीके धनको छीनकर दूर जाकर कहीं पर गड्ढे आदिवाली भूमिमें छिप जाते हैं, उसी प्रकार श्रीकृष्ण भगवान्के बाण शत्रु-समूहके प्राणोंको लेकर उनके हृदयको पार करते हुए दूर भूमिपर गिरकर अदृश्य हो गये ॥ १११ ॥

भीमास्त्रराजिनस्तस्य बलस्य ध्वजराजिनः।
कृतघोराजिनश्चक्रे भुवः सरुधिरा जिनः॥ ११२॥

भीमेति॥ जिनो हरिः अवतारान्तरनाम्ना व्यपदेशः। भीमा अस्त्रराजयो यस्य तस्य भीमास्त्रराजिनः। 'इकोऽचि विभक्तौ' (७।१।७३) इति नुमागमः। ध्वजैः राजते यस्तस्य ध्वजराजिनः। ताच्छील्ये णिनिः। कृता घोरा आजिर्युद्धं येन तस्य कृतघोराजिनः। पूर्ववन्नुमागमः। तस्य बलस्य सैन्यस्य संबन्धिनीर्भुवस्तद्रणभूमीः सरुधिराः सास्राश्चक्रे। चतुष्पादयमकम्॥ ११२॥

जिन (महावीर) का अवतार धारण करने वाले श्री कृष्ण भगवान् ने शत्रुओं की उस सेना की—जो भयङ्कर अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित थी, ध्वजा-पताकाओं से सुशोभित थी एवं घोर युद्ध कर चुकी थी, भूमि को रक्त से प्लावित कर दिया॥ ११२॥

मांसव्यधोचितमुखैः शून्यतां दधदक्रियम्।
शकुन्तिभिः शत्रुबलं व्यापि तस्येषुभिर्नभः॥ ११३॥

मांसेति॥ मांसव्यधो मांसखण्डनम्। 'व्यधजपोरनुपसर्गे' (३।३।६१) इत्यप्प्रत्ययः। तत्रोचितानि परिचितानि मुखानि चञ्चवः शल्यानि च येषां तैः शकुन्तिभिः कर्तृभिः शून्यतामचेतनत्वं, अन्यत्र तुच्छत्वममूर्तत्वं वा दधत् अत एव अक्रियमस्पन्दं शत्रुबलं व्यापि व्याप्तम्। आप्नोतेः कर्मणि लुङ्। तस्य हरेरिषुभिः नभो व्यापि। अत्रेषुपक्षिणां नभोबलयोर्व्याप्तितुल्यधर्मयोगित्वात्तुल्ययोगिताभेदः॥ ११३॥

मांस-खण्डों (के खाने) में परिचित चोंचोंवाले पक्षी (मरनेसे) चेतनाशून्य (अतएव) निष्क्रिय शत्रु-सेनामें व्याप्त हो गये अर्थात् मरे हुए शत्रु-सेनाके मांस खाने लगे और मांस-खण्ड (के स्पर्श करने) में परिचित फलों (लोहमय अग्रभागों) वाले; उन (श्रीकृष्ण भगवान्) के बाण शून्य (अत्यन्त तुच्छ, या अमूर्त) आकाशमें व्याप्त हो गये॥ ११३॥

॥ एकाक्षरः॥

दाददो दुद्दुद्दादी [1]दादादो दूददीददोः।
दुद्दादं दददे दुद्दे ददाददददोऽददः॥ ११४॥

दादद इति॥ दद्यते इति दादः दानम्। 'दद दाने' इति कर्मणि घञ्। दादं ददातीति दाददो दानप्रदः। 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३)। दुद्दुद्दादी दुत् उपतापः 'टुदु उपतापे' क्विप्। दुतमुपतापं ददति साधूनामिति दुद्दाः खलाः। पूर्ववत्कः। तेषां दुतमुपतापं ददत इति दुद्दुद्दादी। 'दद दाने' इति धातोर्णिनिः। दादादः। दाः शुद्धिः 'दैप् शोधने' क्विप्। तां ददत इति दादादः। 'दद दाने' कर्मण्यण्। दूददीददोः। दूः परितापः। 'दूङ् परितापे' क्विप्। तां ददतीति दूदा दुष्टाः। दीः क्षयः। 'दीङ् क्षये' क्विप्। तां दत्त इति दीदौ आशदौ। उभयत्रातोऽनुपसर्गे कः। दूदानां दीदौ दुष्टमर्दकौ दोषौ भुजौ यस्य सः दूददीददोः। दुष्टभक्षकभुज-

[1] 'दाददो' इति पा०।

इत्यर्थः। ददाददददः। ददन्ते इति ददाः दातारः न ददन्ते इति अददा अदातारः तेषां द्वयानामपि ददो दाता ददाददददः। सर्वत्र 'दद दाने' पचाद्यच्। अदन्तीत्यदा बकासुरपूतनाप्रभृतयः। अदः पचाद्यच्। तान् द्यति खण्डयतीति अददः। 'दोऽवखण्डने' 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) एवंभूतो हरिः। दुदु ददातीति दुदुदः दुःखदः तस्मिन् दुदुदे शत्रौ। दुतं ददत इति दुद्दादं शत्रम्। 'दद दाने' कर्मण्यण्। ददुदे ददौ। प्रयुक्तवानित्यर्थः। 'दद दाने' कर्तरि लिट्। एकाक्षरानुप्रासोऽलङ्कारः॥ ११४॥

दादद (दान देनेवाले), दुद्दों (दुष्टों) को उत्ताप देनेवाले, दादाद (शुद्धि देनेवाले), दूदों (परिताप देनेवाले दुष्टों) के नाशक बाहुवाले और दाताओं (देनेवालों) तथा अदाताओं (नहीं देनेवालों) दोनोंको देनेवाले श्रीकृष्ण भगवान्‌ने दुद (दुःखदायी–शत्रु) पर दुःखदायी बाणको दिया (शत्रुनाशक बाणको चलाया)॥ ११४॥

प्लुतेभकुम्भोरसिजैर्हृदयक्षतिजन्मभिः।
प्रावर्तयन्नदीरस्रैर्द्विषां तद्योषितां च सः॥ ११५॥

प्लुतेति॥ स हरिः प्लुताः उच्छ्रिताः इभकुम्भाः उरसि जाता उरसिजा इभकुम्भा इवोरसिजाश्च यैस्तैः हृदयक्षतिभिर्वक्षःप्रहारैः मनोभङ्गैश्च विषादापादकैः जन्म येषां तैः। 'हृदयं वक्षसि स्वान्ते' इति विश्वः। द्विषां तद्योषितां चास्रैः शोणितैः अश्रुभिश्च। 'अस्रमश्रुणि शोणिते' इति विश्वः। नदीः प्रावर्तयत्प्रवाहयत्। अरिवधेन तन्नारीरोदयदित्यर्थः। अत्र द्वयानामप्यस्राणां प्रकृतत्वात्प्रकृतश्लेषः। तैरस्रैर्द्विषां तद्योषितां यथासंख्यबन्धाद्यथासंख्यालङ्कारः। तदुपजीवनेन द्विषां तद्योषितां चास्रैः शोणितैः श्लेषमूलाभेदातिशयोक्तिमहिम्ना अस्रत्वतुल्यधर्मशोणितत्वानुपपत्तिरित्यङ्गाङ्गिभावेनैषां संकरः॥ ११५॥

उन्होंने (श्रीकृष्ण भगवान्‌ने) पयोधरतुल्य गजकुम्भों (हाथियोंके मस्तकस्थ दो मांसपिण्डों) को भिगोनेवाले, हृदयके विदीर्ण (पक्षा० — मनोभङ्ग) होनेसे उत्पन्न, शत्रुओंके रक्तोंमें और उनकी रमणियोंके आँसुओंसे नदियोंको बहवा दिया अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान्‌के बाणाहत शत्रुओंके रक्तोंसे और उनकी रमणियोंके आँसुओंसे नदियाँ बह चलीं (बहुतसे शत्रु मारे गये और उनकी रमणियाँ बहुत रोने लगीं)॥ ११५॥

॥ अर्थत्रयवाची॥

सदामदबलप्रायः समुद्धृतरसो बभौ।
प्रतीतविक्रमः श्रीमान्हरिर्हरिरिवापरः॥ ११६॥

सदेति॥ सदा मदो यस्य स सदामदः नित्यमत्तस्तं बलं बलभद्रं प्रीणातीति सदामदबलप्रायः। परस्वात्कर्मण्यण्प्रत्ययः। समुद्धृता रसा भूर्येन स समुद्धृतरसः। प्रतीताः प्रसिद्धा विक्रमाः पादन्यासा यस्य सः। त्रिविक्रम इत्यर्थः। श्रीमान् रमापतिः हरिः कृष्णोऽपरोऽन्यो हरिरिन्द्र इव बभौ। सोऽपि सतामामदो दुःखदो यो

बलासुरस्तस्य प्रायो नाशस्तं करोतीति सदामदबलप्रायः। 'तत्करोति—' (ग०) इति ण्यन्तात्पचाद्यच्। समुद्धृतरसः अमृतपानेन सम्यगपहृतविषः। 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये द्रवे रागे गुणे रसः' इत्यमरः। प्रतीतविक्रमः प्रसिद्धपराक्रमः श्रीमान्स्वाराज्यलक्ष्मीयुक्तः। तथा परोऽन्यो हरिः सूर्य इव बभौ। सोऽपि आमं रोगं द्यति खण्डयतीत्यामदः। बलं पृणातीति बलप्रः। मूलविभुजादित्वात्कः। सतां भक्तानामामदो बलप्रश्च अथ उदयो यस्य स सदामदबलप्रायः। स्वोदयेन सतामारोग्यबलकारीत्यर्थः। 'उद्यन्नद्य-' (ऋ० सं०) इत्यादिश्रुतेरिति भावः। समुद्धृतरसः घर्मकालसंशोषितसलिलः। प्रतीतविक्रमः प्रसिद्धखगगतिः। 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु। शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु॥' इत्यमरः। तदेवमुपमानयोरुपमेये चार्थत्रयवचनादर्थत्रयवाच्येषु विभ्रमेऽः। एतावदेव कवेर्विवक्षितमतोऽन्यत्सुवाच्यं चोपेक्ष्यमेव। अत्रापरो हरिरिवेत्यपरशब्दप्रयोगादुत्प्रेक्षेयं नोपमा। अपरस्येन्द्रस्यार्कस्य वाऽप्रसिद्धेः प्रसिद्धसादृश्यवर्णनमुपमा। प्रसिद्धतादूप्यारोपे रूपकम्। प्रसिद्धतादूप्यभावनमुत्प्रेक्षा। अत एव लक्षयन्ति। अप्रकृतस्याप्रकृतत्वाध्यवसायप्रतीतेरिवशब्देन तस्य साध्यत्वप्रतीतेरुत्प्रेक्षैवेति सर्वस्वकारः। तस्मादिवशब्दमात्रप्रयोग एवोपमा। अपरशब्दमात्रप्रयोगेऽतिशयोक्तिः। उभयोः प्रयोगे तूत्प्रेक्षैवेति विवेकः। अत एवात्रानेकार्थवर्णनव्यवसायिभिरपरशब्दस्यान्यार्थताव्यतिरेकेणार्थान्तरकल्पनापि नालङ्कारिकाणां पन्थाः। श्लेषश्चात्रोत्प्रेक्षाबीजभूतसाधर्म्यनिर्वाहमात्रोपक्षीणतया तदङ्गमिति संकर इत्यलमतिप्रसक्त्या॥ ११६॥

(अब इन्द्र तथा सूर्य के साथ उपमा देकर तीन अर्थवाले एक श्लोकसे श्रीकृष्ण भगवान् का वर्णन करते हैं) सर्वदा मदयुक्त बलरामजीको प्रसन्न करनेवाले, पृथ्वीका उद्धार करने वाले, (वामनावतारमें) प्रसिद्ध विक्रम (पदन्यास-डेग) वाले (या प्रसिद्ध पक्षिरूप (गरुडके द्वारा गमन करने वाले), लक्ष्मीयुक्त, श्रीकृष्ण भगवान्, सज्जनोंको दुःख देनेवाले, 'बल' नामक असुरको मारनेवाले, (अमृतपान करनेसे) विषका नाश किये हुए, प्रसिद्ध पराक्रमवाले और स्वर्गलक्ष्मीसे युक्त दूसरे इन्द्र और सज्जनों (भक्तों) के लिए रोगनाशक एवं बलवर्द्धक उदयवाले (तीव्र धूपसे) जलको सुखानेवाले, प्रसिद्ध आकाशगति (जिसका आकाशमें गमन करना प्रसिद्ध है ऐसे), और श्री (प्रभा-तेज) वाले दूसरे सूर्यके समान शोभित हुए॥ ११६॥

द्विधा त्रिधा चतुर्धा च तमेकमपि शत्रवः।
पश्यन्तः स्पर्धया सद्यः स्वयं पञ्चत्वमाययुः॥ ११७॥

द्विधेति॥ शत्रवः एकमपि तं हरिं द्विधा द्वित्वेन त्रिधा त्रित्वेन चतुर्धा चतुष्ट्वेन पश्यन्तः भयात्तथा आम्यन्त इत्यर्थः। स्पर्धया मत्सरेण सद्यः स्वयं पञ्चत्वं पञ्चधाभावं मरणं चाययुः। मत्सरिगस्तदधिकमाचरन्तीति भावः। 'स्यात्पञ्चता कालधर्मो दिष्टान्तः प्रलयोऽत्ययः। अन्तो नाशो द्वयोर्मृत्युर्मरणं निधनोऽस्त्रियाम्॥' इत्यमरः।

पाञ्चभौतिकस्य शरीरस्य पञ्चधाभावः पञ्चता । अत्र स्पर्धेति हेतोरुत्प्रेक्षणाद्धेतूत्प्रेक्षा । सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । स्पर्धयेवेत्यर्थः ॥ ११७ ॥

शत्रुलोग, (भयभीत एवं उद्भ्रान्त होनेसे युद्धके मैदानमें) एक ही श्रीकृष्ण भगवान् को कहीं पर दो, कहीं पर तीन और कहीं पर चार कृष्ण देखते हुए मानो स्पर्धासे स्वयं पञ्चत्व को प्राप्त किये (मर गये, पक्षा०—पाँच हो गये) ॥ ११७ ॥

॥ समुद्गः ॥

सदैव संपन्नवपू रणेषु स दैवसंपन्नवपूरणेषु ।
महो दधेऽस्तारि महानितान्तं महोदधेस्तारिमहा नितान्तम्[1] ॥ ११८ ॥

सदेति ॥ सदैव सर्वदैव संपन्नं सर्वलक्षणसमग्रं वपुर्यस्य स संपन्नवपुः । नित्यपरिपूर्णमूर्तिः । संहितायां 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' (६।३।१११) । अस्तं निरस्तमरीणां महस्तेजो येनासौ अस्तारिमहाः महानधिकः स हरिः दैवसंपत् भाग्यसंपत्तिः सैव नवं पूरणं प्रत्ययसाधनं येषां तेषु दैवसंपन्नवपूरणेषु दैवसहायेषु रणेषु महोदधेर्महार्णवस्य इतान्तं प्राप्तपारं समुद्रपारगामि नितान्तं स्तारि विस्तीर्णं महस्तेजो दधे धारयामास । अर्धाभ्यासलक्षणसमुद्गयमकभेदः । 'अर्धाभ्यासः समुद्गः स्यादस्य भेदास्त्रयो मताः' इत्युक्तं दण्डिना । उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ११८ ॥

सर्वदैव (सम्पूर्ण शुभ लक्षणोंसे) पूर्ण शरीरवाले, शत्रुओंके तेज को नष्ट किये हुए, महान् वे (श्रीकृष्ण भगवान्); दैवसम्पत्तिरूपी नयी पूर्ति करनेवाले (जिसमें मरे हुए वीर देव होकर देवोंकी सम्पत्तिको नये रूपसे पूर्ण कर रहे हैं ऐसे) युद्धोंमें, समुद्रके पारगामी एवं अत्यधिक विस्तीर्ण तेज धारण किये ॥ ११८ ॥

इष्टं कृत्वार्थं पत्रिणः शार्ङ्गपाणे-
रेत्याधोमुख्यं प्राविशन्भूमिमाशु ।
शुद्ध्या युक्तानां वैरिवर्गस्य मध्ये
भर्त्रा क्षिप्तानामेतदेवानुरूपम् ॥ ११९ ॥

इष्टमिति ॥ शार्ङ्गं पाणौ यस्य शार्ङ्गपाणेः कृष्णस्य । 'प्रहरणार्थेभ्यः परे निष्ठासप्तम्यौ भवतः' (वा०) इति पाणेः परनिपातः । पत्त्रिणो बाणाः इष्टमर्थं शत्रुवधात्मकं कृत्वा आधोमुख्यमधोमुखत्वमेत्य प्राप्य आशु भूमिमाविशन् शुद्ध्या लोहशुद्ध्या पवित्रतया च युक्तानां तथापि भर्त्रा स्वामिना वैरिवर्गस्य मध्ये क्षिप्तानां पातितानाम्, एतदेव आधोमुख्येन क्वचिन्निलजनमेवानुरूपमुचितम् । सामान्येन विशेष

---

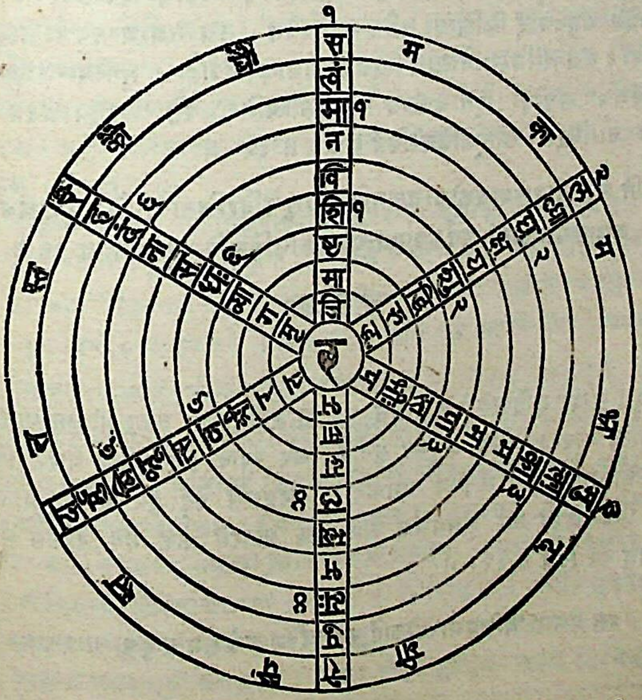
[1] 'वल्लभदेव' व्याख्यापुस्तके तु—
'सदैव सम्पन्नवपू रणेषु महोदधेस्तादि महानितान्तम् ।
स दैवसम्पन्नवपूरणेषु महो दधेऽस्तारिमहा नितान्तम् ॥' इति पा० ।

समर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः । जागतं वैश्वदेवीवृत्तम् । 'पञ्चाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ' इति लक्षणात् ॥ ११९ ॥

बाण श्रीकृष्ण भगवान्के इष्टार्थ (अभीष्ट प्रयोजन) को पूराकर अधोमुख होकर शीघ्र ही भूमिमें घुस गये; क्योंकि शुद्धिसे युक्त (शुद्ध अन्तःकरणवाले, पक्षा०—शुद्ध लोहेवाले) होने पर स्वामीके द्वारा भी शत्रु-समूहके बीचमें फेंके गये (शत्रुओं पर चलाये गये, पक्षा०—ये शत्रुओंके पक्षमें हैं ऐसा माने गये) लोगोंके लिए यही (अधोमुख होकर पृथ्वीमें घुस जाना ही, पक्षा०—अधोमुख होकर कहीं पर छिप जाना ही) उचित होता है ॥ ११९ ॥

॥ चक्रबन्धः ॥

सत्त्वं मानविशिष्टमाजिरभसादालम्ब्य भव्यः पुरो
लब्धाघक्षयशुद्धिरुद्धरतरश्रीवत्सभूमिर्मुदा ।
मुक्त्वा काममपास्तभीः परमृगव्याधः स नादं हरे-
रेकौघैः समकालमभ्रमुदयी रोपैस्तदा तस्तरे ॥ १२० ॥



इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्यङ्के एकोनविंशतितमः सर्गः ॥१९ ॥

सत्त्वमिति ॥ भव्यः कल्याणमूर्तिः लब्धोऽपत्त्रयः शुद्धिश्च येन स लब्धापत्त्रय-शुद्धिः श्रीवत्सस्य लाञ्छनविशेषस्य भूमिर्वक्षः सा उद्धुरतरा उन्नततरा यस्य स उद्धुरतरश्रीवत्सभूमिः कामममपास्तभीः निर्भीकः परे शत्रवस्त एव मृगास्तेषां व्याधः मृगयुरित्यश्लिष्टरूपकम् । 'व्याधो मृगवधाजीवो मृगयुर्लुब्धकोऽपि च' इत्यमरः । उदयी नित्याभ्युदयवान् । नित्ययोगे मत्वर्थीयः । स हरिः पुरः पूर्वं आजिरभसाद्रण-रागात् मानविशिष्टमहङ्कारोद्धुरं सत्त्वं बलमालम्ब्याश्रित्य मुदा उत्साहेन हरेः सिंह-स्य नादं मुक्त्वा । सिंहनादं कृत्वेत्यर्थः । समकालमेककालञ्च । अत्यन्तसंयोगे द्वि-तीया । एक ओघो येषां तैरेकौघैः एकप्रहारै शरैरिषुभिरभ्रमाकाशं तदा तस्मि-न्काले भातस्तरे आच्छादयामास । 'ऋच्छत्यृताम्' (७।४।११) इति गुणः । चक्रब-न्धाख्यश्चित्रविशेषोऽलङ्कारः पूर्वोक्तरूपकेण संसृज्यते । चक्रबन्धोद्धारस्तु—दशमण्ड-लरेखात्मके नवमण्डलान्तरालवर्ति चक्रं नाभिस्थानेन सहैकोनविंशतिकोष्ठं प्रत्येकं द्व्यक्षरात् पङ्क्तित्रयं समरेखया लिखित्वा तत्र रस्यां पङ्क्तौ वामपार्श्वक्रमेण आद्य-पादमालिख्य तथा प्रादक्षिण्येन द्वितीयतृतीययोर्द्वितीयतृतीयौ लिखित्वा नेमिस्थाने बाह्यवलये साक्षरकोष्ठषट्केन सहाष्टादशकोष्ठवर्ति तृतीयपादान्तकोष्ठवर्तिवर्णमारभ्य प्रादक्षिण्येन चतुर्थपादं लिखित्वा तत्रैव समापयेत् । तत्र तत्राद्यन्तवर्णैः सह चतुर्थ-पादोद्धारः । तत्र नाभिस्थाने आद्यपादत्रयदशमाक्षरसंवादः । तृतीयान्तकोष्ठे चतु-र्थाद्यन्तवर्णयोः संवादः । तृतीयवलये 'माघकाव्यमिदं' षष्ठे 'शिशुपालवधः' इति कविकाव्यनामोद्धारः शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १२० ॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचितायां शिशुपालवध-काव्यव्याख्यायां सर्वंकषाख्यायां एकोनविंशतितमः सर्गः ॥ १९ ॥

भव्य (सुन्दर मूर्तिवाले), पापनाश एवं शुद्धिको प्राप्त, उन्नत श्रीवत्सस्थान (वक्षः-स्थल) वाले, अत्यन्त निर्भय, शत्रुरूप मृगोंके लिए व्याध (शत्रुओंको मारनेवाले) और सर्वदा उन्नतिशील वे (श्रीकृष्ण भगवान्); अहङ्कारसे बढ़े हुए बलको प्राप्तकर तथा उत्साहसे सिंहनादकर उस समय-एक साथ एक प्रहारमें फेंके गये बाणोंसे आकाशको आच्छादित कर दिये ॥ १२० ॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें एकोनविंश सर्ग समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

विंशः सर्गः

अथ हरिशिशुपालयोर्युद्धं वर्णयितुमुपोद्घातं करोति—

मुखमुल्लसितत्रिरेखमुच्चैर्भिदुरभ्रूयुगभीषणं दधानः।
समितावितिविक्रमानमृष्यन्गतभीराह्वत चेदिराण्मुरारिम् ॥ १ ॥

मुखमिति ॥ इतीत्थं समितावाजौ। 'समित्याजिसमिद्युधः' इत्यमरः। विक्रमान्मुरारेः पराक्रमान् अमृष्यन्नसहमानः अत एव तिस्रो रेखास्त्रिरेखाः। 'दिक्संख्ये संज्ञायाम्' (२।१।५०) इति समासः। ता उल्लसिताः क्रोधादुद्भूता यस्मिंस्तदुल्लसितत्रिरेखम्। क्वचित् 'त्रिलोकम्' इत्यपि पाठः। तथा भिदुरेण ग्रन्थिलेन भ्रूयुगेन भीषणं भयङ्करं उच्चैरुन्नतं मुखं दधानः चेदिषु राजते चेदिराट्। सम्पदादिभ्यः क्विप्। यद्वा चेदीनां राट् चेदिराट्। 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (३।२।१७८) इति क्विप्। 'राजा राट् पार्थिवः क्ष्माभृत्' इत्यमरः। गतभीर्निर्भीकः सन् मुरारिं हरिं आह्वत। अयमहं क्वासि मामभ्युपेहि इति स्पर्धया।अमर्षादाकारयामासेत्यर्थः। विनाशकाले विपरीतबुद्धेर्दुर्वारत्वादिति भावः। 'स्पर्धायामाङः' (१।३।३१) इति ह्वयतेर्लुङि तङ् 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' (३।१।५४) इति च्लेरङादेशः। अत्रामर्षस्य विशेषणगत्या आह्वानहेतुत्वात्काव्यलिङ्गम्। सर्गेऽस्मिन्नौपच्छन्दसिकं वृत्तम्। वैतालीये गुर्वाधिक्यात्। तदुक्तं 'वैतालीयं द्विःस्वरा अयुक्पादे युग्वसवोऽन्ते लगौ', 'औपच्छन्दसकम्' इति ॥ १ ॥

(अब श्रीकृष्ण भगवान् तथा शिशुपालके युद्धका वर्णन करनेका उपक्रम करते हैं) इस प्रकार (१९।९१-१२०) युद्धमें (श्रीकृष्ण भगवान्के) पराक्रमको नहीं सहन करते हुए, (अत एव क्रोधजन्य सिकुड़नसे) तीन-रेखाओंवाले, चढ़ी हुई भृकुटिसे भयङ्कर मुखको धारण करते हुए निर्भीक शिशुपालने श्रीकृष्ण भगवान्को (युद्ध करनेके लिए) ललकारा ॥

शितचक्रनिपातसंप्रतीक्षं वहतः स्कन्धगतं च तस्य मृत्युम्।
अभिशौरि रथोऽथ नोदिताश्वः प्रययौ सारथिरूपया नियत्या ॥ २ ॥

शितेति ॥ अथ आह्वानानन्तरं शितचक्रनिपातं शितसुदर्शनप्रहारं सम्प्रतीक्षत इति शितचक्रनिपातसम्प्रतीक्षम्। ईक्षतेः कर्मण्यण्। स्कन्धगतं मृत्युं वहतः तस्य चैद्यस्य रथः सारथिरूपया नियत्या विधिनेति रूपकम्। 'भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः। नोदिताश्वः प्रेरिताश्वः सन् अभिशौरि शौरिमभि। आभिमुख्येऽव्ययीभावः। 'अव्ययादाप्सुपः' (२।४।८२) इति सुपो लुक्। प्रययौ प्रतस्थे ॥ २ ॥

इस (श्रीकृष्ण भगवान्को ललकारने) के बाद तीक्ष्ण सुदर्शन चक्रके गिरनेकी सम्यक्

---

१. 'त्रिलेख' इति, 'त्रिलोक' इति च पा०।

प्रकारसे प्रतीक्षा करते हुए तथा कन्धेपर स्थित मृत्युको धारण करते हुए उस (शिशुपाल) का, सारथिरूप भाग्यसे प्रेरित घोड़ोंवाला रथ श्रीकृष्ण भगवान्‌के सम्मुख हुआ ॥ २ ॥

अभिचैद्यमगाद्रथोऽपि शौरेरवनिं जांगुडकुङ्कुमाभिताम्रैः ।
गुरुनेमिनिपीडनावदीर्णव्यसुदेहस्रुतशोणितैर्विलिम्पन् ॥ ३ ॥

अभीति ॥ अथ शौरेः कृष्णस्य रथोऽपि जागुडो देशविशेषः, तत्र यत्कुङ्कुमं तद्वदभिताम्रैररुणैरित्युपमा । यावकेति पाठे यावकश्च कुङ्कुमं च ताभ्यामभिताम्रैरित्यर्थः। गुरूणां नेमीनां चक्रधाराणां निपीडनेन नोदनेनावदीर्णेभ्यो व्यसूनां विगतप्राणानां देहेभ्यः स्रुतैः शोणितैरसृग्भिरवनिं विलिम्पन्नुपदिह्यानः सन् अभिचैद्यं चैद्यमभि। समासो व्यासो वा विकल्पात् अगात्। 'इणो गा लुङि' (२।४।४५) इति गादेशः॥

इसके उपरान्त श्रीकृष्ण भगवान्‌का रथ भी 'जागुड' नामक देशके कुङ्कुमके समान (पाठा०—यावक तथा कुङ्कुमसे) अत्यन्त लाल, बोझिल नेमियों पट्टियोंके ऊपरी भागों के निपीडन (उनके द्वारा अत्यन्त दबने) से विदीर्ण मुर्दोंके रक्तोंसे पृथ्वीको लीपता हुआ शिशुपालके सम्मुख हुआ ॥ ३ ॥

स निरायतकेतनांशुकान्तः कलनिक्काणकरालकिङ्किणीकः ।
विरराज रिपुक्षयप्रतिज्ञामुखरो मुक्तशिखः स्वयं नु मृत्युः ॥ ४ ॥

स इति ॥ निरायतोऽतिदीर्घः केतनांशुकान्तः ध्वजपटाञ्चलो यस्य सः कलनिक्काणैः मधुरस्वरैः करालाः कुशलाः प्रगल्भाः किङ्किण्यः क्षुद्रघण्टिका यस्य स तथोक्तः । 'नद्यृतश्च' (५।४।१५३) इति कप् । 'किङ्किणी क्षुद्रघण्टिका' इत्यमरः । स कृष्णस्य रथः रिपुक्षयस्य शिशुपालवधस्य प्रतिज्ञया मुखरो वाचालः अत एव मुक्तशिखो मुक्तकेशः विरराज । नाहमेनमहत्वा शिखाबन्धं करिष्यामीत्युद्घोषयन्नित्यर्थः । स्वयं साक्षान्नु मृत्युरन्तकः किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ४ ॥

अत्यन्त लम्बे (या–सीधे) ध्वजाके वस्त्रके अग्रभागवाला (उड़ते हुए पताकाञ्चलवाला) और मधुर ध्वनियोंसे कराल (अत्यन्त बजते हुए) घुँघुरुओंवाला वह (श्रीकृष्ण भगवान्‌का) रथ, शत्रुके मारनेकी प्रतिज्ञासे वाचाल ('अब मैं शिशुपालको बिना मारे नहीं छोड़ूँगा'। ऐसी प्रतिज्ञा बार-बार करते हुए, अत एव) शिखा खोले हुए स्वयं कालके समान शोभता था। (अथवा—......वाचाल (अत एव शिखा खोला हुआ शोभता था, वह साक्षात् काल था क्या ?) ।

विमर्श—क्रुद्ध व्यक्ति शिखा खोलकर किसी प्रतिज्ञाको बार-बार उच्चारण करता हुआ कहता है कि 'जब तक मैं अमुक कार्य पूरा नहीं कर लूंगा, अमुक व्यक्तिको नहीं मार लूँगा), तबतक अपनी शिखाको नहीं बाँधूँगा।' ऐसी प्रतिज्ञा पाटलिपुत्रके राजाधिराज 'नन्द' से अपमानित 'चाणक्य' ने की थी, यह कथाप्रसङ्ग महाकवि 'विशाखदत्त' रचित 'मुद्राराक्षस' नाटकमें सविस्तार वर्णित है ॥ ४ ॥

१. 'यावक' इति पा० । २. 'रिपूद्धति' इति पा० ।

सजलाम्बुधरारवानुकारी ध्वनिरापूरितदिङ्मुखो रथस्य ।
प्रगुणीकृतकेकमूर्ध्वकण्ठैः शितिकण्ठैरुपकर्णयाम्बभूवे ॥ ५ ॥

सजलेति ॥ सजलो योऽम्बुधरः तस्यारवं गर्जितमनुकरोतीति तथोक्तः । तद्वद्गम्भीर इत्यर्थः । उपमालङ्कारः । आपूरितदिङ्मुखो व्याप्तदिगन्तो रथस्य कृष्णरथस्य ध्वनिः । ऊर्ध्वाः कण्ठा येषां तैरूर्ध्वकण्ठैः । आकस्मिकघनरवलोभाद्विस्मयहर्षोन्नमितकंधरैरित्यर्थः । शितिकण्ठैर्नीलकण्ठैः प्रगुणीकृता अतितारीकृताः केका यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । 'केका वाणी मयूरस्य' इत्यमरः । उपकर्णयांबभूवे । मेघारवभ्रान्त्या दत्तवर्णैरित्यर्थः । एतेन भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यत इति वस्तुनालङ्कारध्वनिः ॥ ५ ॥

सजल मेघके ध्वनिका अनुकरण (जलपूर्ण मेघके समान ध्वनि) करते हुए एवं दिगन्ततक व्याप्त (श्रीकृष्ण भगवान्‌के) रथकी ध्वनिको, (अकस्मात् मेघके गरजनेसे विस्मय लोभ एवं हर्षसे) गर्दनको ऊपर किये हुए मयूरोंने उच्च स्वरसे 'केका' शब्द करते हुए सुना ॥ ५ ॥

अभिवीक्ष्य विदर्भराजपुत्रीकुचकाश्मीरजचिह्नमच्युतोरः ।
चिरसेवितयापि[1] चेदिराजः सहसावाप रुषा तदैव योगम् ॥ ६ ॥

अभीति ॥ चेदिराजः शिशुपालः । 'राजाहः सखिभ्यष्टच्' (५।४।९१) । विदर्भराजपुत्र्या रुक्मिण्याः कुचयोर्यत्काश्मीरजं कुङ्कुमं तच्चिह्नं यस्य तदच्युतोरः कृष्णवक्षः अभिवीक्ष्य चिरसेवितया चिरोपयुजापि । रुक्मिणीहरणात्प्रभृति संभृतयापीत्यर्थः । रुषा रोषेण तदैव तदानीमिवेत्युत्प्रेक्षा । सहसा योगं संबन्धमवाप । यथा कामी काम्यन्तरभोगचिह्नदर्शनोद्दीप्तः कान्तया संयुज्यते तद्वदित्यर्थः । परमार्थस्वरूप एव कोपो वैदर्भीकुचकुङ्कुमदर्शनादुद्दीपित इत्यर्थः । अत्र प्रकृतरुड्विशेषणसाम्यादप्रकृतकान्ताप्रतीतेः समासोक्तिः, उक्तोत्प्रेक्षा त्वङ्गमस्याः ॥ ६ ॥

'विदर्भ' देशके राजा (रुक्मी) की पुत्री (रुक्मिणी) के स्तनोंके कुङ्कुमसे चिह्नित श्रीकृष्ण भगवान्‌के वक्षःस्थलको देखकर शिशुपाल बहुत दिनों (रुक्मिणीहरणके समय) से सेवित क्रोधसे मानो उसी समय युक्त हुआ अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान्‌ने जब रुक्मिणीका हरण किया, तभीसे रहनेवाला शिशुपालका क्रोध, श्रीकृष्ण भगवान्‌की छातीको रुक्मिणीके आलिङ्गन करनेसे उसके लगे हुए कुङ्कुमसे चिह्नित देखकर और अधिक बढ़ गया ॥ ६ ॥

जनिताशनिशब्दशङ्कमुच्चैर्धनुरास्फालितमध्वनन्नृपेण ।
चपलानिलचोद्यमान[2]कल्पक्षयकालाग्निशिखानिभस्फुरज्ज्यम् ॥ ७ ॥

जनितेति ॥ नृपेण चेदिपेन आस्फालितं संघट्टितं अत एव चपलानिलेन तीव्रा-

१. 'चिरसंचितया' इति पा० । २. '—बोध्यमान—' इति पा० ।

निलेन चोद्यमानस्य संवर्ध्यमानस्य कल्पक्षयकालाग्नेर्या शिखा ज्वाला तया समाना तन्निभा इति नित्यसमासः। सा स्फुरन्ती दोधूयमाना ज्या मौर्वी यस्य तत्तथोक्तं धनुः ऊनिता उत्पादिता अशनिशब्दशङ्का यस्मिन्कर्मणि तत्तथोक्तं उच्चैस्तराम‍ध्वनत्। अत्राग्निशिखानिभेत्युपमाया अशनिशब्दशङ्केति भ्रान्तिमतः आस्फालितमध्वनदिति पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गस्य च सापेक्षत्वात्संकरः॥ ७॥

राजा (शिशुपाल) के द्वारा आस्फालित (अतएव) तीव्र वायुसे प्रेरित होते (बढ़ते) हुए प्रलयाग्निकी ज्वालाके समान स्फुरित होती हुई प्रत्यञ्चावाला धनुष वज्रके शब्दकी आशङ्का उत्पन्न करता हुआ उच्च स्वरसे ध्वनि करने लगा॥ ७॥

समकालमिवाभिलक्षणीयग्रहसंधानविकर्षणापवर्गैः।
अथ साभिसरं शरैस्तरस्वी स तिरस्कर्तुमुपेन्द्रमभ्यवर्षत्॥ ८॥

समेति॥ अथ धनुरास्फालनानन्तरं तरस्वी बलवान्स चैद्यः समकालमिवेत्युत्प्रेक्षा। अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। अभिलक्षणीया दृश्या ग्रहो ग्रहणं संधानं मौर्व्या योजनं विकर्षणमाकर्षणमपवर्गो मोक्षश्च येषां तैः शरैः साभिसरं सानुचरमुपेन्द्रं हरिं तिरस्कर्तुमाच्छादयितुमभ्यवर्षत्॥ ८॥

इस (धनुषको आस्फालित करने) के बाद वेगवान् वह (शिशुपाल), जिनका तरकससे निकालकर पकड़ना, प्रत्यञ्चापर चढ़ाना उसके साथ खींचना और छोड़ना—ये सब कार्य मानो एक साथ ही दिखलायी पड़ते हैं ऐसे बाणोंको, अनुचरोंके सहित श्रीकृष्ण भगवान्‌को पराजित (या—आच्छादित) करनेके लिए बरसाने लगा॥ ८॥

ऋजुताफलयोगशुद्धिभाजां गुरुपक्षाश्रयिणां शिलीमुखानाम्।
गुणिना नतिमागतेन सन्धिः सह चापेन समञ्जसो बभूव॥ ९॥

ऋजुतेति॥ ऋजुता अवक्रत्वं अकुटिलबुद्धित्वं च फलं शल्यं, श्रेयश्च तेन योगः शुद्धिर्लोहशुद्धिर्निर्विषत्वं च, अन्यत्र बाह्याभ्यन्तरशुद्धिरेतां भजन्तीति तद्भाजां गुरोर्महतः पक्षस्य कङ्कादिपत्रस्य सहायस्य चाश्रयः आश्रयणमेषामस्तीति गुरुपक्षाश्रयिणां शिलीमुखानां शराणाम्। गुणिना ज्यावता नतिमागतेन आकर्षणाकुञ्चितकोटित्वं, विधेयत्वं च प्राप्तेन चापेन सह सन्धिः संबन्धः समञ्जसः साधीयान्बभूव। अबलवतां बलिना नम्रेण संधिरेवोचित इति भावः। अत्र प्रस्तुतचापशिलीमुखयोर्विशेषणसाम्यादप्रस्तुतारिविजिगीषुवस्तुप्रतीतेः समासोक्तिः। तच्च साम्यं वाच्यप्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायात्सिद्धम्। न चात्र समानालङ्कारशङ्का कार्या। 'समानालंकृतिर्योगे वस्तुनोरनुरूपयोः' इत्यनुरूपयोरेव वस्तुनोर्योगेन तस्योपस्थानादित्यनुसंधेयम्। जिगीषुगुणयोगिनोरिह भेदात्॥ ९॥

सरलता, फल (बाणाग्रभाग) तथा शुद्धि (लोहेकी उत्तमता एवं विषमें बुझे हुए नहीं

---

१. 'शुद्धियोगभाजां गुरु—' इति पा०।

होनेसे विषहीनता) से युक्त, बड़े-बड़े पङ्खों वाले बाणोंका; प्रत्यञ्चायुक्त और (खींचनेसे) झुके हुए धनुषके साथ समागम उचित ही हुआ, क्योंकि सीधापन (निष्कपटता), कल्याण, बाहरी तथा भीतरी (दैहिक तथा मानसिक) शुद्धि धारण करते हुए और अच्छे सहायक का आश्रय किये हुए (सज्जन) लोगोंका; गुणवान् एवं नम्र लोगोंके साथ समागम होना उचित ही होता है ॥ ९ ॥

अविषह्यतमे कृताधिकारं वशिना कर्मणि चेदिपार्थिवेन ।
अरसद्धनुरुच्चकैर्दृढार्तिप्रसभाकर्षणवेपमानजीवम् ॥ १० ॥

अविषह्येति ॥ वशिना स्वतन्त्रेण चेदिपार्थिवेन अविषह्यतमे दुष्करे कर्मण्यरिजयव्यापारे कृताधिकारं कृतनियोगम् । नियुज्यमानमित्यर्थः । अत एव दृढयोरर्त्योः धनुष्कोट्योः प्रसभाकर्षणेन वेपमाना दोधूयमाना जीवा ज्या यस्य तत्, अन्यत्र दृढयार्त्या ताडनेन प्रसभाकर्षणेन च वेपमानः कम्पमानो जीवः प्राणो यस्येत्यर्थः । 'अर्तिः पीडाधनुष्कोट्योः' इत्यमरः । 'जीवः प्राणेऽस्त्रियां ना तु जन्तावात्मनि गीष्पतौ । त्रिषु जीवति मौर्व्यां स्त्री' इति वैजयन्ती । धनुरुच्चकैररसत् अध्वनदाक्रन्दच्च । यथा राज्ञा नियुक्तः पराधीनः बलादाकृष्यमाणः क्रोशति तद्वदित्यर्थः । अत्रापि प्रकृतविशेषणसाम्यादप्रकृतपराध्यधिकृतपुरुषप्रतीतेः समासोक्तिः ॥ १० ॥

स्वतन्त्र प्रकृतिवाले शिशुपालके द्वारा (शत्रुविजयरूप) अत्यन्त असह्य कार्यमें नियुक्त किया जाता हुआ धनुष दृढ़ छोरों (दोनों किनारों) को बलपूर्वक (पूरी शक्ति लगाकर) खींचनेसे कँपती हुई प्रत्यञ्चावाला (पक्षा०—अधिक मारने एवं बलपूर्वक खींचने (घसीटने) से काँपते (फड़फड़ाते) हुए प्राणोंवाला) धनुष उच्च स्वरसे ध्वनि (पक्षा०—क्रन्दन) करने लगा । अर्थात् जिस प्रकार मनमानी करनेवाला कोई व्यक्ति किसी अधीनस्थको कठोर काममें नियुक्त करता है और अधिक पीड़ा देने एवं घसीटनेसे फड़फड़ाते हुए प्राणोंवाला वह व्यक्ति उच्च स्वरसे चिल्लाने लगता है; उसी प्रकार शिशुपालके द्वारा श्रीकृष्णविजयरूप दुष्कर कार्यमें लगाया जाता हुआ और पूरी शक्तिके साथ दोनों किनारोंको खींचनेसे कँपती हुई प्रत्यञ्चावाला धनुष बड़े जोरसे ध्वनि करने लगा ॥ १० ॥

अनुसंततिपातिनः पटुत्वं दधतः शुद्धिभृतो गृहीतपक्षाः ।
वदनादिव वादिनोऽथ शब्दाः क्षितिभर्तुर्धनुषः शराः प्रसस्रुः ॥ ११ ॥

अन्विति ॥ अथाकर्षणानन्तरं क्षितिभर्तुश्चैद्यस्य धनुषः सकाशात् अनुसंतत्या पतन्तीत्यनुसंततिपातिनोऽविच्छेदवर्तिनः पटुत्वं लक्ष्यभेदपाटवं, वाचकत्वशक्तिं च दधतः शुद्धिभृतः लोहशुद्धिभृतः निर्विषा वा, अन्यत्र साधव इत्यर्थः । गृहीतपक्षाः स्वीकृतकङ्कादिपत्राः, अन्यत्र गृहीतनियतपक्षादिसाध्यार्थाः । 'पक्षः पार्श्वगरुत्साध्यसहायबलभित्तिषु' इति वैजयन्ती । शराः वादिनः कथकस्य वदनाच्छब्दाः प्रति-

ग्राहैत्वादय इव प्रसस्रुर्निजगुः । श्लिष्टविशेषणेयमुपमेति केचित् । श्लेष एव प्रकृताप्रकृतविषय इत्यन्ये ॥ ११ ॥

इस (धनुषके खींचनेसे ध्वनि होने) के बाद राजा (शिशुपाल) के धनुषसे, अविच्छिन्न गिरनेवाले, (लक्ष्यवेधका) सामर्थ्य धारण करते हुए, लोहशुद्धियुक्त (या—विषरहित) और पङ्खसहित बाण उस प्रकार निकलने लगे; जिस प्रकार वादी (बोलनेवाले, या—वाद करनेवाले) के मुखसे निरन्तर निकलनेवाले, वाचकता-शक्तिको धारण करते हुए, शुद्ध (शास्त्र-सम्मत), पक्षों (नित्यत्व आदि साध्य अर्थों) को ग्रहण किये हुए (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरणादिरूप) शब्द निकलते हैं ॥ ११ ॥

गवलासितकान्ति तस्य मध्यस्थितघोरायतबाहुदण्डनासम् ।
ददृशे कुपितान्तकोन्नमद्भ्रूयुगभीमाकृति कार्मुकं जनेन ॥ १२ ॥

गवलेति ॥ 'गवलं माहिषं शृङ्गम्' इत्यमरः । तद्वदसितकान्ति कृष्णवर्णं मध्ये स्थिता घोरा भीमा, आयता च बाहुदण्डो नासा नासिकेव यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । कुपितस्यान्तकस्य मृत्योरुन्नतं यद् भ्रूयुगं तद्वद्भीमा आकृतिर्यस्य तत्तस्य चैद्यस्य कार्मुकं जनेन ददृशे दृष्टम् सभयविस्मयमिति भावः । उपमालङ्कारः ॥ १२ ॥

दर्शकोंने भैंसेकी सींगके समान कान्तिवाले (काले), मध्यस्थित भयङ्कर नाकके समान बाहुवाले और क्रुद्ध मृत्युके चढ़े हुए भ्रूद्वयके समान भयङ्कर आकृतिवाले, शिशुपालके धनुषको देखा ॥ १२ ॥

तडिदुज्ज्वलजातरूपपुङ्खैः खमयःश्याममुखैरभिध्वनद्भिः ।
जलदैरिव रंहसा पतद्भिः पिदधे संहतिशालिभिः शरौघैः ॥ १३ ॥

तडिदिति ॥ तडिद्वदुज्ज्वला दीप्ता जातरूपस्य हेम्नः पुङ्खाः कर्तर्यो येषां तैः। अयोवत् श्याममुखैः श्यामाग्रैरभिध्वनद्भिर्ध्वनिभिः स्वनत्पक्षेगर्जद्भिश्च रंहसा वेगेन पतद्भिर्धावद्भिः संहतिशालिभिः सङ्घवाहिभिः शरौघैर्जलदैरिव खमाकाशं पिदधे पिहितम् । कर्मणि लिट् । 'वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः' इत्यपेरकारलोपः। उपमालंकारः ॥ १३ ॥

बिजली के समान चमकते हुए सोनेके पङ्खोंवाले, लोहे (के फलों) से (पक्षा०—लोहेके समान श्याममुख 'श्यामल अग्रभागवाले') ध्वनि करते (पक्षा० —गरजते) हुए, वेगसे गिरते हुए और सम्मिलित (सघन-निरन्तर) होनेसे शोभनेवाले मेघोंके समान बाणोंसे आकाश ढक गया ॥ १३ ॥

शितशल्यमुखावदीर्णमेघक्षरदम्भः स्फुटतीव्रवेदनानाम् ।
स्रवदस्रुततीव चक्रवालं ककुभामौर्णविषुः सुवर्णपुङ्खाः ॥ १४ ॥

शितेति ॥ सुवर्णपुङ्खाः सुवर्णकर्तरिकाः शराः शितैर्निशितैः शल्यमुखैः फलाग्रैः

१. '—वभिन्न—' इति पा० । २. '—दस्र—' इति पा० ।

अवदीर्णा अवभिन्ना ये मेघास्तेभ्यः क्षरता स्रवता अम्भसा स्फुटा व्यक्ता तीव्रा वेदना यासां तासां ककुभां संबन्धि स्रवन्ती अस्रुततिरस्रुसंततिर्यस्य तदिव शरप्रहारवेदनया रुदद्दिव स्थितमित्युत्प्रेक्षा। चक्रवाल मण्डलमौर्णविषुराच्छादयामासुः। ऊर्णोतेर्लुङ्कोडागमे तस्य 'विभाषोर्णोः' (१।२।३) इति ङित्त्वाभावपक्षे 'ऊर्णोतेर्विभाषा' (७।२।६) इति वृद्धिविकल्पात्पक्षे गुणः अजादित्वात् 'आटश्च' (६।१।९०) इति वृद्धिः॥ १४॥

सुवर्णपङ्खवाले (बाणों) ने तीक्ष्ण फलके अग्र भागसे विदीर्ण मेघसे बहते हुए जलसे स्पष्ट (दृष्टिगोचर होती हुई) तीव्र वेदनावाली दिशाओंके गिरते हुए, अश्रु-समूह युक्तके समान स्थित मण्डल (समूह) को ढाल दिया॥ १४॥

अमनोरमतां यती जनस्य क्षणमालोकपथान्नभः सदां वा[१]।
रुरुधे पिहिताहिमद्युतिर्द्यौर्विशिखैरन्तरिता च्युता धरित्री॥ १५॥

अमन इति। विशिखैश्चैद्यबाणैः कर्तृभिः पिहिताहिमद्युतिस्तिरोहितार्का। अत एवामनोरमतां यती प्राप्नुवती। इणः शतरि 'उगितश्च' (४।१।६) इति ङीप्। द्यौराकाशं जनस्य भौमलोकस्य आलोकपथाद् दृष्टिमार्गात् क्षणं रुरुधे रुद्धा। रुधेः कर्मणि लिट्। अत्र पथो रोधापायत्वात् 'ध्रुवमपाये—' (१।४।२४) इति अपादानत्वे पञ्चमी। तथान्तरिता च्युता तिरोहिता नष्टा अत एवामनोरमतां यती धरित्री नभःसदां वा आलोकपथाद्रुरुधे। वाकारो जनसमुच्चयार्थः। अत्र द्युधरित्र्योः प्रकृतयोरेव रोधाख्यतुल्यधर्मयोगात्तुल्ययोगिताभेदौ ताभ्यामेव जनस्य नभःसदां यथासंख्यान्वयाद्यथासंख्यालंकारः सापेक्षतया संकीर्यते॥ १५॥

(शिशुपालके) बाणोंने, आच्छादित हुई सूर्यकान्तिवाले (अतएव) असुन्दरताको प्राप्त आकाशको भूमिपर स्थित लोगोंके दृष्टिपथसे क्षणभरके लिए रोक दिया और बाणोंसे छिपी हुई (अतएव) अन्तर्हित (दिखलाई नहीं देती हुई, अतएव) असुन्दरताको प्राप्त पृथ्वीसे आकाशस्थ (विद्याधर, देव आदि) लोगोंके दृष्टिमार्गको रोक लिया अर्थात् शिशुपालने इतने अधिक बाण चलाये कि उनसे सूर्य छिप गया, आकाशकी सुन्दरता नष्ट हो गयी और उस आकाशको पृथ्वीपर स्थित मनुष्य नहीं देख सके तथा पृथ्वी ढक गयी एवं उसकी सुन्दरता नष्ट हो गयी और उसे आकाशस्थ (विद्याधर, देव आदि) लोग नहीं देख सके॥ १५॥

विनिवारितभानुतापमेकं सकलस्यापि मुरद्विषो बलस्य।
शरजालमयं समं समन्तादुरु सद्मेव नराधिपेन तेने॥ १६॥

विनिवारितेति॥ नराधिपेन सकलस्यापि मुरद्विषो हरेर्बलस्य सैन्यस्य विनि-

१. 'अमनोहरताम्' इति पा०। २. 'च' इति पा०।

वारितो भानुतापो येन तदेकमद्वितीयं शरजालमयं बाणवृन्दात्मकं वद्म महत्सद्मेव सदनमिवेत्युत्प्रेक्षा। समं युगपत्समन्तात्तेन। कृतमित्यर्थः। तनोतेः कर्मणि लिट्॥

राजा (शिशुपाल) ने श्रीकृष्ण भगवान्‌की सम्पूर्ण सेनाका, सूर्यके घामको रोकनेवाला मानो बाण-समूहरूप एक बड़ा घर बना दिया॥ १६॥

इति चेदिमहीभृता तदानीं तदनीकं दनुसूनुसूदनस्य।
वयसामिव चक्रमक्रियाकं परितोऽरोधि विपाटपञ्जरेण॥ १७॥

इतीति॥ इतीत्थं चेदिमहीभृता चैद्येन तदानीं तत्काले दनुसूनुसूदनस्य दानवान्तकस्य हरेस्तदनीकं बलम्। 'वरूथिनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्' इत्यमरः। वयसां चक्रं पक्षिसङ्घ इव अक्रियाकं निश्चेष्टं यथा तथा विपाटयन्तीति विपाटाः शराः। पचाद्यच्। तैरेव पञ्जरेण परितः सर्वतः अरोधि रुद्धम्। रुधेः कर्मणि लुङ्। उपमा॥ १७॥

इस प्रकार (२०१७-१६) चेदिदेशके राजा (शिशुपाल) ने दानवनाशक (श्रीकृष्ण भगवान्) की उस सेनाको बाणोंसे उस प्रकार चारों ओर से चेष्टाहीनकर रोक लिया, जिस प्रकार कोई व्यक्ति पक्षि-समूहको निश्चेष्टकर पिंजड़ेसे रोक लेता है॥ १७॥

इषुवर्षमनेकमेकवीरस्तदरि[1]प्रच्युतमच्युतः पृषत्कैः।
अथ वादकृतं प्रमाणमन्यैः [2]प्रतिवादीव निराकरोत्प्रमाणैः॥ १८॥

इष्विति॥ अथानीकरोधनानन्तरं एकवीरो महाशूरोऽच्युतो हरिररिप्रच्युतं शत्रुगलितं तदनेकमपरिमितमिषुवर्षं पृषत्कैर्बाणैः वादिकृतं वादिना प्रयुक्तं प्रमाणमनुमानं अन्यैः प्रमाणैः प्रत्यनुमानैः प्रतिवादीव निराकरोत्। 'इवेन सह समासो विभक्त्यलोपश्च' इति समासात्समासगता श्रौती पूर्णोपमा॥ १८॥

इस (शिशुपालके द्वारा अपनी सेनाको आच्छादित होने) के बाद महाशूर श्रीकृष्ण भगवान्‌ने शत्रु (शिशुपाल) के द्वारा की गयी अत्यधिक बाणवृष्टिको बाणोंसे उस प्रकार खण्डित कर दिया, जिस प्रकार प्रतिवादी व्यक्ति वादीके द्वारा किये गये (अनुमान आदि) प्रमाणको दूसरे (प्रत्यनुमान आदि) प्रमाणोंसे खण्डित कर देता है॥ १८॥

[3]प्रतिकुञ्चितकूर्परेण तेन श्रवणोपान्तिकनीयमानगव्यम्।
ध्वनति स्म धनुर्घनान्तमत्तप्रचुरक्रौञ्चरवानुकारमुच्चैः॥ १९॥

प्रतीति॥ प्रतिकुञ्चितकूर्परेण कुञ्चितकफोणिना। 'स्यात्कफोणिस्तु कूर्परः' इत्यमरः। तेन हरिणा श्रवणोपान्तिकं नीयमाना आकृष्यमाणा गव्या ज्या यस्य तत्। 'गव्यं गवां हिते गव्या ज्यायां क्षीरादिके त्रिषु' इति विश्वः। धनुः शार्ङ्गं

---

1. 'प्रस्तुत—' इति पा०। 2. 'प्रतिरास प्रतिवादिवत्' इति पा०।
3. 'परि—' इति पा०।

घनान्ते शरदि ये मत्ताः प्रचुरा भूयः क्रौञ्चास्तेषां रवमनुकरोतीति तदनुकारम्। क्रौञ्चकूजितसदृशं यथा तथेत्यर्थः 'कर्मण्यण' । (३।२।१) उच्चैस्तारं ध्वनति स्म दध्वान। 'लट् स्मे' (३।२।११८) इति भूते लट्। स्वभावोक्त्युपमयोः सङ्करः ॥

केहुनीको सङ्कुचित किये हुए उन (श्रीकृष्ण भगवान्) के द्वारा कानके समीप तक (खींचकर) लायी गयी प्रत्यञ्चावाला धनुष, बरसातके बाद (शरद ऋतुमें) मदोन्मत्त बहुतसे क्रौञ्च पक्षियोंके ध्वनिका अनुकरण करनेके साथ अर्थात् शरदृतुमें मदोन्मत्त क्रौञ्चोंके कलरवके समान उच्च स्वरसे ध्वनि (टङ्कार) करने लगा ॥ १९ ॥

उरसा वितते‍न पातितांसः स मयूराञ्चितमस्तकस्तदानीम्।
क्षणमालिखितो नु सौष्ठवेन स्थिरपूर्वापरमुष्टिराबभौ वा ॥ २० ॥

उरसेति ॥ तदानीं धनुष्कर्षणसमये विततेन विस्तारितेनोरसा उपलक्षितः पातितांसो नमितस्कन्धः मयूरवदञ्चितं मनोहरं मस्तकं यस्य सः। उन्नमितमूर्धेत्यर्थः। स्थिरौ दृढौ पूर्वापरौ अग्रिमचरमौ मुष्टी गृहीतमस्तकमौर्वीकौ पाणी यस्य स हरिः। सुष्ठु भावः सौष्ठवं तेन सौष्ठवेन स्थानकपाटवेन हेतुना क्षणमालिखितो नु लिखित इव आबभौ वा बभासे किम्। नुशब्दो वितर्कार्थे। 'नु पृच्छायां वितर्के च' इत्यमरः। वाशब्दोऽपि तादृश इत्युत्प्रेक्षालङ्कारोऽयम् ॥ २० ॥

(अब धनुष खींचनेके समय श्रीकृष्ण भगवान्के वीरासनकी शोभाका वर्णन करते हैं) उस (धनुष खींचनेके) समयमें विशाल वक्षःस्थलसे (उपलक्षित), कन्धेको झुकाये हुए, मयूरके समान शोभमान मस्तकवाले अर्थात् शिरको उठाये हुए, (धनुषके मध्यभागको पकड़ी हुई) आगेवाली तथा (बाण-सहित प्रत्यञ्चाको पकड़ी हुई) पीछेवाली—ये दोनों मुट्ठियाँ दृढ़ हैं जिनकी ऐसे) वे (श्रीकृष्ण भगवान्) अच्छी तरह आसन जमाकर स्थित होनेसे क्षणमात्र चित्रलिखित जैसे शोभित हुए क्या ? ॥ २० ॥

[2]ध्वनतो नितरां रयेण गुर्व्यस्तडिदाकारचलद्गुणादसंख्याः।
इषवो धनुषः सशब्दमाशु न्यपतन्नम्बुधरादिवाम्बुधाराः ॥ २१ ॥

ध्वनत इति ॥ ध्वनतो गर्जतः तडित इवाकारो यस्य स तडिदाकारः चलनात्तेजोमयत्वाच्चाचिरप्रभाकारश्चलन् गुणो मौर्वी यस्य तस्मात्। 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः' इत्यमरः। धनुषः शार्ङ्गात् गुर्व्यो महत्यः असंख्या अपरिमिता इषवोऽम्बुधरान्मेघात् अम्बुधारा इवाशु सशब्दं न्यपतन्। अत्रोपमानोपमेययोरेकलिङ्गतान्वयात् इषुशब्दो द्विलिङ्गोऽपि स्त्रीलिङ्ग एव प्रयुक्त इति ज्ञापनाय गुर्व्य इति विशेषणम् ॥

टङ्कार करते हुए, बिजलीके समान चञ्चल प्रत्यञ्चावाले धनुषसे बड़े-बड़े असङ्ख्य बाण शब्द करते हुए उस प्रकार गिरने लगे जिस प्रकार गरजते हुए चञ्चल बिजलीवाले मेघसे बड़ी-बड़ी असङ्ख्य जलकी धाराएँ शब्द करती हुई गिरती हैं ॥ २१ ॥

---

१. 'बभासे' इति पा०। २. 'स्वनतो' इति पा०।

शिखरोन्नतनिष्ठुरांसपीठः स्थगयन्नेकदिगन्तमायतान्तः।
निरवर्णि सकृत्प्रसारितोऽस्य[1] क्षितिभर्तेव चमूभिरेकबाहुः ॥ २२ ॥

शिखरेति ॥ शिखरं श्रृङ्गमिवोन्नतं निष्ठुरं चांसपीठं यस्य स एकदिगन्तं एकदिग्भागं स्थगयन् आयतान्तो द्राघिष्ठस्वरूपः। 'अन्तोऽध्यवसिते मृत्यौ स्वरूपे निश्चयेऽन्तिके' इति वैजयन्ती। सकृत्प्रसारितः न तु पुनः पुनरिति स्थैर्योक्तिः। अस्य हरेरेकबाहुः। चापरोपितो वामबाहुरित्यर्थः। चमूभिः क्षितिभर्तेव भूधर इव निरवर्णि। साधु निरीक्षित इत्यर्थः। 'निर्वर्णनं तु निध्यानं दर्शनालोकनेक्षणम्' इत्यमरः।

सेनाओंने इन (श्रीकृष्ण भगवान्) के, शिखरके समान ऊँचे एवं कठोर स्कन्धमण्डल वाले, दिशाके एक भागको ढकते हुए, अत्यन्त (जानुतक) लम्बे तथा एक ही बार फैलाये गये (बाँयें) हाथको पर्वतके समान (उक्त गुण-विशिष्ट) देखा ॥ २२ ॥

तमकुण्ठमुखाः सुपर्णकेतोरिषवः क्षिप्तमिषुव्रजं परेण।
विभिदामनयन्त कृत्यपक्षं नृपतेर्नेतुरिवायथार्थवर्णाः ॥ २३ ॥

तमिति ॥ अकुण्ठमुखाः निशिताग्राः प्रगल्भगिरश्च सुपर्णकेतोर्गरुडध्वजस्य हरेरिषवः परेणारिणा क्षिप्तं मुक्तमिषुव्रजं अयथार्थवर्णा असत्याक्षराः कपटवचनाः। उभयवेतना इत्यर्थः। 'कृत्यज्ञेयो यथावर्णश्चारः प्रणिधिरेव च' इत्युत्पलमाला। नेतुर्नायकस्य जिगीषोर्नृपतेः। कृत्यपक्षममात्यादिभेद्यवर्गमिव। 'कृत्या क्रियादेवतयोस्त्रिषु भेद्ये धनादिभिः' इत्यमरः। विभिदां भेदम्। 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' (३।३।१०४) अनयन्त। 'स्वरितञितः-' (१।३।७२) इत्यात्मनेपदम् ॥ २३ ॥

तीक्ष्ण अग्रभागवाले, गरुडध्वज (श्रीकृष्ण भगवान्) के बाण शत्रुसे फेंके गये बाण-समूहको उस प्रकार भेदयुक्त (खण्डित-नष्ट) कर दिये; जिस प्रकार प्रगल्भ बोलनेवाले, अयथार्थ अक्षरोंवाले अर्थात् छलके साथ बात करनेवाले (शत्रु तथा स्वामी-दोनों पक्षसे वेतन लेनेवाले) लोग विजय चाहनेवाले राजाके कृत्यपक्ष (भेद करने-फोड़ने-योग्य मन्त्री आदि) को भेदयुक्त करते (फोड़ते) हैं ॥ २३ ॥

दयितैरिव खण्डिता मुरारेर्विशिखैः सम्मुखमुज्ज्वलाङ्गलेखैः।
लघिमानमुपेयुषी पृथिव्यां विफला शत्रुशरावलिः पपात ॥ २४ ॥

दयितैरिति ॥ उज्ज्वलाः स्फुटा अङ्गेषु लेखाश्छिन्नलेखा नखरेखाश्च येषां तैः मुरारेर्विशिखैर्दयितैः प्रियैरिव सम्मुखं समक्षमेव खण्डिता लूना, अन्यत्रावमानिता अत एव विफला विशल्या अलब्धकामा च। अत एव लघिमानमगुरुत्वं अल्पतां चोपेयुषी शत्रुशरावलिः पृथिव्यां पपात। अत्र प्रकृतशरावलिविशेषणसाम्यादप्रकृतखण्डितानायिकाप्रतीतेः समासोक्तिः। दयितैरिवेत्युपमा खण्डिताविशेषणान्तःपातित्वादङ्गमेव।

१. 'तास्यः' इति पा०।

अत एव तच्च विशेषणसाम्यं श्लिष्टतया साधारण्येनौपम्यगर्भत्वेन च भवतीत्युक्तं सर्वस्वकारैः 'ज्ञातेऽन्यासङ्गविकृते खण्डितेर्ष्याकषायिता' इति। साप्येवं पृथिव्यां पततीति भावः ॥ २४ ॥

स्पष्ट चित्रलेखाओंवाले, श्रीकृष्ण भगवान्‌के बाणोंसे खण्डित होनेसे फलरहित (लोहमय बाणाग्रहीन एवं हलके शत्रुओंके बाण-समूह उसप्रकार पृथ्वीपर गिर पड़े जिस प्रकार शरीरमें स्पष्ट (सपत्नीकृत) नखक्षतोंवाले प्रियतमोंसे सामने ही अपमानित होनेसे निष्फल सम्भोगरूपी मनोरथवाली एवं गौरवहीन रमणी पृथ्वीपर गिर पड़ती है ॥ २४ ॥

प्रमुखेऽभिहताश्च पत्रवाहाः प्रसभं माधवमुक्तवत्सदन्तैः।
परिपूर्णतरं भुवो गतायाः परतः कातरवत्प्रतीपमीयुः ॥ २५ ॥

प्रमुख इति ॥ पत्राणि वहन्तीति पत्रवाहाः पत्रिणश्चैद्यशराः। 'कर्मण्यण्' (३।२।१) माधवमुक्तवत्सदन्तैः शौरिक्षिप्तशरैः प्रसभं बलात्प्रमुखे शल्याग्रे वदने चाभिहताः खण्डिताः सन्तः अत एव कातरैः त्रस्तैस्तुल्यं कातरवत्। तुल्यार्थे वतिःप्रत्ययः। परिपूर्णतरं गतायाः। यावद्गन्तव्यं गताया इत्यर्थः। भुवोऽन्तरालभूमेः परतः प्रतीपं प्रतिकूलमीयुः प्रापुः प्रत्यागताश्च। माधवान्तिकात्परावृत्य जग्मुरित्यर्थः। चकारः पूर्वश्लोकोक्तपतनसमुच्चयार्थः। केचित्खण्डितास्तत्रैव पेतुः। केचिन्मुखेषु प्रतिहताः। प्रतिनिवृत्ता इत्यर्थः। कातरवदिति तद्धितगता श्रौती पूर्णोपमा ॥ २५ ॥

(शिशुपालके द्वारा फेंके गये) बाण श्रीकृष्ण भगवान्‌के 'वत्सदन्त' नामक बाणोंसे अग्रिमभागमें (फलपर) बलपूर्वक अभिहत होकर अर्थात् कटकर कायरके समान गन्तव्य भूमिके बीचसे ही उलटा होकर लौट गये ॥ २५ ॥

इतरेतरसंनिकर्षजन्मा[2] गलसंघट्टविकीर्णविस्फुलिङ्गः।
पटलानि लिहन्बलाहकानामपरेषु[3] क्षणमज्ज्वलत्कृशानुः ॥ २६ ॥

इतरेतरेति ॥ इतरेतरसन्निकर्षजन्मा शराणां मिथः संश्लेषोत्थः। जन्मोत्तरपदत्वाद्व्यधिकरणोऽपि बहुव्रीहिरिष्यते। फलसंघट्टनेन शल्यसंघट्टनेन विकीर्णा विस्फुलिङ्गा यस्य सः कृशानुरग्निर्बलाहकानाम्। वारि वहन्तीति बलाहकाः। पृषोदरादित्वात्साधुः। पटलानि लिहन्नास्वादयन् अपरेषु शत्रुषु 'समरेषु' इति पाठे समरेषु युद्धेषु क्षणमज्वलददीप्यत। अत्र शत्रुबलाहकानामग्निदाहास्वादासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ २६ ॥

आपसके सङ्घर्षसे उत्पन्न, फलों (लोहमयाग्र भागों) के टक्करसे निकलती हुई चिनगारियोंवाली अग्नि मेघ-समूहोंको स्पर्श करती हुई शत्रुओंके बीचमें कुछ समयतक प्रज्वलित हो गयी ॥ २६ ॥

---

१. 'परितः' इति पा०। २. 'संनिबद्ध' इति पा०। ३. 'नां समरेषु' इति पा०।

शरदीव शरश्रिया विभिन्ने विभुना शत्रुशिलीमुखाभ्रजाले।
विकसन्मुखवारिजाः प्रकामं बभुराशा इव यादवध्वजिन्यः ॥ २७ ॥

शरदीवेति ॥ विभुना देवेन कर्त्रा शरश्रिया शरसम्पदा करणेन शरदीव शत्रुशिलीमुखा अभ्राणीव तेषां जाले विभिन्ने सति विकसन्ति मुखानि वारिजानीव यासां ताः यादवध्वजिन्यः यदुसेनाः आशा दिश इव प्रकामं बभुः। अनेकेवेयमुपमा ॥२७॥

जब श्रीकृष्ण भगवान्‌ने बाणोंसे शत्रुओंके बाण-समूहको खण्डित किया तब प्रसन्न मुखवाली यादवोंकी सेना उस प्रकार शोभित हुई; जिस प्रकार शरदृतुके समय सरकण्डों (मूँजों) की शोभासे मेघसमूहको खण्डित (आकाशस्थ शुभ्र मेघोंको भूमिस्थित सरकण्डोंकी शुभ्र कान्तिसे पराजित) करनेपर विकसित होते हुए कमलोंवाली दिशाएं शोभने लगती हैं॥

स दिवं समचिच्छदच्छरौघैः कृततिग्मद्युतिमण्डलापलापैः[3]।
ददृशेऽथ च तस्य चापयष्ट्यामिषुरेकैव जनैः सकृद्विसृष्टा[4] ॥२८॥

स इति ॥ कृतस्तिग्मद्युतिमण्डलस्यापलापो निह्नवो यैस्तैः। आच्छादितार्कमण्डलैरित्यर्थः। शरौघैर्दिवमाकाशं स हरिः समचिच्छदत् छादयति स्म। छादेः 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' (७।४।१) 'सन्वतः' (७।४।७९) इत्यभ्यासस्येत्वम्। युक्तं चैतत्। लघुहस्तत्वादस्येत्याशयेनोत्प्रेक्ष्यते। अथास्मिन्नवसरे तस्य हरेश्चापयष्ट्यामिषुः सकृदेकदा विसृष्टा मुक्ता एकैव जनैर्ददृशे दृष्टा च। इषूणां पुङ्खानुपुङ्खगमनाद्द्राघीयानेक एवेषुरेकदैव गच्छतीत्युत्प्रेक्षा। ईदृशलघुहस्तस्याकाशसंछादनं युक्तमिति भावः ॥ २८ ॥

उन्होंने (श्रीकृष्ण भगवान्‌ने उन)सूर्य-मण्डलको छिपानेवाले बाण-समूहोंसे आकाशको ढक दिया, तदनन्तर (सैनिक) लोगोंने उन (श्रीकृष्ण भगवान्) के धनुषपर एक बार छोड़ा गया एक ही बाण देखा। (श्रीकृष्ण भगवान् इतनी अधिक शीघ्रतासे बाणोंको छोड़ते थे कि वहाँ उपस्थित सैनिक लोगोंको ऐसा दिखलायी पड़ता था कि 'ये एक ही बाण छोड़े हैं और अब धनुषपर एक ही बाण रखे हुए हैं') ॥ २८ ॥

भवति स्फुटमागतो विपक्षान्न सपक्षोऽपि हि निर्वृतेर्विधाता।
शिशुपालबलानि कृष्णमुक्तः सुतरां तेन ततापं तोमरौघः ॥२९॥

भवतीति ॥ विपक्षाच्छत्रुकुलादागतः सपक्षः कङ्कादिपत्रवान्, सुहृच्च निर्वृतेर्विधाता सुखकरो न भवति। हि यतः स्फुटम्। तेन कारणेन कृष्णमुक्तस्तोमरौघः शिशुपालबलानि सुतरां ततापं ददाह। अतः शत्रुकुलादागतः स्वजनोऽपि न विश्वसनीय इत्यर्थः। सपक्षोऽप्यनिर्वर्तक इति विरोधेऽपिशब्दः। विपक्षादागत इत्यविरोधाद्विरोधाभासः ॥ २९ ॥

---

१. 'शरदेव' इति पा०। २. 'प्रकाशम्' इति पा०। ३. 'लापाम्' इति पा०।
४. 'कृष्टा' इति पा०।

शत्रुपक्षसे आया हुआ सपक्ष (कङ्कपक्षादि युक्त बाण, पक्षा०—अपने पक्षवाला-मित्र) भी सुख देनेवाला नहीं होता है, यह स्पष्ट है, अत एव श्रीकृष्ण भगवान्‌से छोड़े गये तोमरोंने शिशुपालकी सेनाओंको अत्यन्त सन्तप्त किया।

विमर्श—जब शत्रुके यहाँसे आया हुआ अपने पक्षवाला मित्र भी सुखप्रद नहीं होता, तब बाणादि शस्त्र सुखप्रद कैसे हो सकते हैं, अतः कृष्णजीके छोड़े (उनके यहाँसे आये) हुए तोमर-समूहका शिशुपालकी सेनाको सन्तप्त करना उचित ही था ॥ २९ ॥

गुरुवेगविराविभिः पतत्रैरिषवः काञ्चनपिङ्गलाङ्गभासः।
विनतासुतवत्तलं भुवः स्म व्यथितभ्रान्तभुजंगमं विशन्ति ॥३०॥

गुर्विति ॥ गुरुवेगविराविभिः गुरुणा वेगेन विरुवन्ति ध्वनन्तीति तथोक्तैः। रौतेर्णिनिः। शीघ्रवेगविरावबद्धिः पतत्रैः पत्रैरुपलक्षिताः काञ्चनेन पुङ्खलिप्तेन पिङ्गलाङ्गभासः, अन्यत्र काञ्चनवदिति विग्रहः। इषवः शौरिशराः विनतासुतवद्वैनतेयैस्तुल्यं व्यथिता भीषिता अत एव भ्रान्ता मूढा भुजङ्गमा यस्मिंस्तत्तथा भुवस्तलं पातालं विशन्ति स्म। तद्धितगता श्रौती पूर्णोपमा पातालप्रवेशासंबन्धातिशयोक्त्या सङ्कीर्यते ॥ ३० ॥

अत्यन्त अधिक वेगसे ध्वनि करते (बजते) हुए, पङ्खोंसे युक्त तथा सुवर्णसे (पक्षा०—सुवर्णके समान) पिङ्गल शरीर कान्तिवाले बाण, भययुक्त तथा पीड़ायुक्त एवं मूढ़ सर्पोंवाली पृथ्वीके भीतर (पक्षा०—पाताल) में गरुड़के समान घुस जाते थे ॥ ३० ॥

शतशः परुषाः पुरो विशङ्कं शिशुपालेन शिलीमुखाः प्रयुक्ताः।
परमर्मभिदोऽपि दानवारेरपराधा इव न व्यथां वितेनुः ॥ ३१ ॥

शतश इति ॥ शिशुपालेन पुरोऽग्रे विशङ्कं निःशङ्कं शतशः प्रयुक्ताः क्षिप्ताः, उच्चारिताश्च परुषा निष्ठुराः परमर्मभिदोऽपि शिलीमुखाः शराः। शतशः अपराधाः पञ्चदशसर्गोक्ताः अभिशापा इव दानवारेर्हरेर्व्यथां दुःखं न वितेनुः। खलापकारा महतामकिञ्चित्करा इति भावः। समासगतोपमा ॥ ३१ ॥

शिशुपालके द्वारा पहले निर्भयतापूर्वक छोड़े गये कठोर एवं मर्मच्छेदक भी सैकड़ों बाण, (......युधिष्ठिरकी सभामें (१५।२२-३८ तथा क्षेपक १-३४) कहे गये परुष एवं मर्मस्थलको पीड़ा देनेवाले भी सैकड़ों) अपराधोंके समान श्री कृष्ण भगवान्‌को व्यथित नहीं किये ॥ ३१ ॥

विहिताद्भुतलोकसृष्टिमाये जयमिच्छन्किल मायया मुरारौ।
भुवनक्षयकालयोगनिद्रे नृपतिः स्वापनमस्त्रमाजहार ॥ ३२ ॥

विहितेति ॥ नृपतिश्चैद्यो विहिता अद्भुता लोकसृष्टिरेव माया यस्मिंस्तस्मिन् भुव-

---

१. 'पुरोऽपशङ्कम्' इति पा०। २. '—योग्य—' इति पा०।

नक्षयकाले प्रलयकाले। न त्विदानीमिति भावः। उषिता योगनिद्रा यस्य तस्मि न्मुरारौ मायया जयमिच्छन् किल। न तु जेष्यतीति भावः। स्वापयतीति स्वापन- मस्त्रमाजहार। प्रयुक्तवानित्यर्थः। अनादिमायाधारे सकलभुवनसृष्टिसंहारमहा- नाटकसूत्रधारे सर्वाद्भुतनिधाने सकलकलुषकषणपटुतराभिधाने पुराणेन्द्रजालिके भगवति हरावपि मायया जिगीषेत्यहो महानस्य व्यामोह इति भावः। अत्र हरि- विशेषणैस्तस्य दुर्जयत्वसिद्धेः काव्यलिङ्गम् ॥ ३२ ॥

अद्भुत संसारसृष्टिरूपी माया किये हुए संसारके नाश (प्रलय) के समयमें योगनिद्रा ग्रहण करनेवाले श्रीकृष्ण भगवान्पर माया के द्वारा विजय चाहते हुए शिशुपालने स्वापन (सुला देनेवाला) अस्त्र चलाया ॥ ३२ ॥

सलिलार्द्रवराहदेहनीलो विदधद्भास्करमर्थशून्यसंज्ञम्।
प्रचलायतलोचनारविन्दं विदधे तद्बलमन्धमन्धकारः ॥ ३३ ॥

सलिलेति ॥ सलिलेनार्द्रो यो वराहदेहस्तद्वन्नीलः भासं प्रकाशं करोतीति भास्करः। 'दिवाविभा-' (३।२।२१) इत्यादिना टप्रत्ययः। तमर्थशून्या भास्करत्व- रूपप्रवृत्तिनिमित्तशून्या संज्ञा भास्कराख्या यस्य तं विदधत्। सौरालोकमभिभव- न्नित्यर्थः। अन्धं करोतीत्यन्धकारः स्वापनास्त्रप्रभवतमः। कर्मण्यण्। प्रचलानि निद्राघूर्णितानि आयतलोचनान्येवारविन्दानि यस्मिन्कर्मणि तत्तथा सूर्यतिरोधानेऽ- रविन्दमुकुलीभावस्यावश्यंभावादिति भावः। तद्बलं हरिसैन्यमन्धमपश्यं विदधे। निद्रां प्राविशदित्यर्थः। अत्रान्धमन्धेति सकृद्व्यञ्जनयुग्मपौनरुक्त्याद्वृत्त्यनुप्रास- भेदः। तस्य वराहदेहनीललोचनारविन्देत्युपमारूपकयोः संसृष्टिः ॥ ३३ ॥

पानीसे भीगे हुए वराहशरीरके समान नीलवर्ण तथा भास्कर (प्रकाश करनेवाले सूर्य) को अर्थशून्य नामवाला करता हुआ अर्थात् सूर्यको आच्छादित करता हुआ, (शिशुपालके द्वारा चलाये गये स्वापनास्त्रजन्य) अन्धकार (निद्रा) के कारण घूमते हुए नेत्ररूपी कमलवाली उन (श्रीकृष्ण भगवान्) की सेनाको अन्धा कर दिया अर्थात् सुला दिया। (सूर्यके आच्छादित-अस्त-होनेपर कमलोंका सम्पुटित होना उचित ही है) ॥ ३३ ॥

गुरवोऽपि निषद्य यन्निदद्रुर्धनुषि क्ष्मापतयो न वाच्यमेतत्।
[२]क्षयितापदि जाग्रतोऽपि नित्यं ननु तत्रैव हि तेऽभवन्निषण्णाः ॥ ३४ ॥

गुरव इति ॥ गुरवो धराः क्ष्मापतयोऽपि धनुषि निषद्य शयित्वा निदद्रुः सुषुपु- रिति यत् एतत् धनुषि निद्राणं वाच्यं निन्द्यं न भवति। कुतः। हि यस्मात्ते क्ष्मा- पतयो जाग्रतोऽपि प्रबुद्धा अपि। जागर्तेः शतरि अस्य 'जक्षित्यादयः षट्' (६।१।६) इत्यभ्यस्तसंज्ञा 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (७।१।७८) इति नुम्प्रतिषेधः। क्षयितापदि

१. '—यित—' इति पा०। २. 'क्षपिता—' इति पा०।

सर्वापन्निवारक इत्यर्थः। तत्रैव धनुषि नित्यं निषण्णाः संश्रिता अभवन्नु। जागरेऽपि धनुरेकशरणानां स्वापे तदाश्रये न दोष इत्यर्थः। अत्र सदा धनुराश्रयवाक्यार्थस्यावाच्यताहेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ३४ ॥

धीर वीर राजा लोग भी जो धनुषका अवलम्बनकर सो गये, वह निन्दनीय कार्य नहीं था, क्योंकि जागते हुए भी वे (राजा लोग) आपत्तिको दूर करनेवाले उसी धनुषका अवलम्बन करते थे, (अतः जाग्रदवस्थामें भी धनुषका अवलम्बन करनेवाले उन राजाओंका निद्रितावस्थामें धनुषका अवलम्बन करना निन्दित नहीं कहा जा सकता) ॥ ३४ ॥

श्लथतां व्रजतस्तथा[1] परेषामगलद्धारणशक्तिमुज्झतः स्वाम्।
सुगृहीतमपि प्रमादभाजां मनसः शास्त्रमिवास्त्रमग्रपाणेः ॥ ३५ ॥

श्लथतामिति ॥ तथेति पूर्वोक्तधनुराश्रयणसमुच्चये यथा तेषां धनुराश्रयणं तथाऽन्येषां धनुर्गलनं चाभूदित्यर्थः। श्लथतां प्रयत्नशैथिल्यं व्रजतः भजतः स्वां निजां धारणशक्तिं वाहनसामर्थ्यं उज्झतः त्यजतः परेषां राज्ञाम्। 'अग्रं चासौ पाणिश्चेति' समानाधिकरणसमासः। हस्ताग्राग्रहस्तादयो गुणगुणिनोर्भेदाभेदादिति वामनवचनात्। तस्मादग्रपाणेः सुगृहीतं सुष्ठु धृतमपि अन्यत्र स्वभ्यस्तमपि प्रमादभाजां गुणनिकाद्यवधानरहितानां मनसश्चित्तात् शास्त्रं विद्येव अस्त्रमगलदभ्रश्यत्। निद्रापारवश्यादित्यर्थः। इवेन सह समासात्समासगता श्रौती पूर्णोपमा ॥ ३५ ॥

और दूसरे लोगोंके शिथिल होते हुए एवं अपनी (धनुषको) पकड़नेकी शक्तिको छोड़ते हुए हस्ताग्रसे सम्यक् प्रकार पकड़ा गया भी हथियार (निद्रित होनेके कारण) उस प्रकार गिर पड़ा, जिस प्रकार (बार-बार अभ्यास नहीं करते रहनेसे) प्रमादी व्यक्तियोंके मनसे सम्यक् प्रकारसे पढ़ा गया भी शास्त्र नष्ट (विस्मृत) हो जाता है ॥३५॥

उचितस्वपनोऽपि नीरराशौ[2] स्वबलाम्भोनिधिमध्यगस्तदानीम्।
भुवनत्रयकार्यजागरूकः स परं तत्र परः पुमानजागः ॥३६॥

उचितेति ॥ नीरराशौ समुद्रे उचितस्वपनोऽपि परिचितनिद्रोऽपि तदानीं सर्वनिद्रावसरे स्वबलाम्भोनिधिमध्यगतः स्वसेनासागरमध्यगतः। 'बलपाथोनिधि—' इत्यपि पाठः। भुवनत्रयकार्ये त्रैलोक्यरक्षाविधौ जागरूकः प्रबुद्धः। 'जागरूकः' (३।२।१६५) इत्यूकप्रत्ययः। परः पुमान्परमपुरुषः परं केवलं हरिरेवेत्यर्थः। 'परमव्ययमिच्छन्ति केवल' इति विश्वः। तत्र निद्राणलोके अजागः जागर्ति स्म। सर्वान्धकारहारिणो नित्यप्रकाशचिदात्मनः तत्रापि कार्यप्रसक्तस्य कुतो निद्रेति भावः। जागर्तेर्लुङि तिप्। अदादित्वाच्छपो लुकि सार्वधातुकगुणे रपरे 'हल्ङ्याप्—'(६।१।६८)

---

१. '—तदाऽपरेषाम्' इति पा०। २. 'वारिराशौ बलयादो—' इति, '—बलपाथो—' इति च पा०।

इति तिलोपे च रेफस्य विसर्जनीयः। अत्र समुद्रनिद्रालोस्तत्रैव जागरे विरोधपरिहारमुखेन कार्यजागरूकत्वपरमपुरुषत्वयोर्विशेषणगत्या तात्त्विकजागरणहेतुकत्वाद्विरोधाभाससंकीर्णं काव्यलिङ्गम् ॥ ३६ ॥

[क्षीर] सागरमें सोनेवाले भी, उस समय [समस्त सेनाके निद्रित होने पर] अपनी सेना-रूपी समुद्रके बीचमें स्थित तथा तीनों लोकोंके (रक्षणरूप) कार्यमें जागरूक परमपुरुष (श्रीकृष्ण भगवान्) ही उन (सोये हुए लोगोंमें) जग रहे थे। (सबके अन्धकार (मोह) को नष्ट करने वाले प्रकाशस्वरूप, उसमें भी कार्यव्यग्र श्रीकृष्ण भगवान्‌को निद्रित नहीं होना उचित ही था ॥ ३६ ॥

अथ सूर्यरुचीव तस्य दृष्टावुदभूत्कौस्तुभदर्पणं गतायाम् ।
पटु धाम ततो न चाद्भुतं तद्विभुरिन्द्व[1]र्कविलोचनः किलासौ ॥३७॥

अथेति ॥ अथान्धकारव्याप्त्यनन्तरं तस्य हरेर्दृष्टौ चक्षुषि। तेजसीत्यर्थः। सूर्यरुचीव सूर्यतेजसीव। कौस्तुभो दर्पण इवेत्युपमितसमासः। सूर्यरुचीवेति लिङ्गात्। तं कौस्तुभदर्पणं गतायां प्रविष्टायां सत्यां ततः कौस्तुभात्पटु सर्वान्धकारद्रावणे समर्थं धाम तेज उदभूदुदगात्। तद्धामोद्भवनं न चाद्भुतम्। कुतः। असौ विभुर्भगवान् अर्केन्दू विलोचने यस्य स किल खलु। अतस्तच्चक्षुषोः सूर्यात्मकत्वात्तदभिहतात्कौस्तुभाद्दर्पणादेरिव धाम्न प्रादुर्भावो व्यज्यत इत्यर्थः। अतो वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ३७ ॥

इस (अन्धकारके व्याप्त होने) के बाद उन (श्रीकृष्ण भगवान्) की दृष्टि (तेज) जब कौस्तुभ मणिपर पड़ी तब उससे (अन्धकारको दूर करनेमें समर्थ उस प्रकार तेज प्रकट हुआ, जिस प्रकार दर्पणमें सूर्यके प्रकाश पड़नेसे अन्धकारको दूर करनेवाला प्रकाश प्रकट हो जाता है; यह आश्चर्य नहीं है, क्योंकि सर्वसमर्थ मूल (श्रीकृष्ण भगवान्) के सूर्य तथा चन्द्रमा ही नेत्र हैं, (अतः उनके नेत्ररूपी सूर्यके दर्पणवत् कौस्तुभ मणिमें पड़नेपर उससे अन्धकारनाशक तेजका प्रकट होना आश्चर्य नहीं है) ॥ ३७ ॥

महतः प्रणतेष्विव प्रसादः स मणेरंशुचयः ककुम्मुखेषु ।
व्यकसद्विकसद्विलोचनेभ्यो ददद्दालोकमनाविलं बलेभ्यः ॥ ३८ ॥

महत इति ॥ स पूर्वोक्तो मणेः कौस्तुभस्यांशुचयः विकसन्ति उन्मीलन्ति विलोचनानि येषां तेभ्यो बलेभ्योऽनाविलं प्रसन्नमालोकं दर्शनं, तत्त्वज्ञानं च ददत्प्रतियच्छन्। महतो महात्मनः प्रसादोऽनुग्रहः प्रणतेषु भक्तेष्विव ककुम्मुखेषु ककुभामग्रेषु व्यकसद्विकसदमूच्छंत्। पूर्णोपमा ॥ ३८ ॥

---

१. '—रर्केन्दु—' इति पा० ।

कौस्तुममणिका वह प्रकाश-राशि खुलते हुए नेत्रोंवाले सैनिकोंके लिए निर्मल प्रकाश देता हुआ दिगन्ततक उस प्रकार फैल गया, जिस प्रकार प्रसन्न नेत्रवाले लोगोंके लिए तत्त्वज्ञान देता हुआ महात्माका अनुग्रह प्रणत (विनम्र भक्त) लोगोंमें फैल जाता है ॥ ३८ ॥

प्रकृतिं प्रतिपादुकैश्च पादैश्चक्लृपे भानुमतः पुनः प्रसर्तुम् ।
तमसोऽभिभवाद'पास्य मूर्च्छामुपजीवत्सहसैव जीवलोकः ॥ ३९ ॥

प्रकृतिमिति ॥ प्रकृतिं स्वभावं प्रतिपादुकैः प्रतिपद्यमानैः। 'लषपतपद—' (३।२।१५४) इत्यादिना उकञ्प्रत्ययः। 'न लोका—' (२।३।६९) इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। भानुमतोंऽशुमतः पादै रश्मिभिश्च पुनर्भूयः प्रसर्तुं चक्लृपे शेके। 'क्लृपू सामर्थ्ये' भावे लिट् 'कृपो रो लः' (८।२।१८) इति ऋकारस्थस्यापि रेफस्य लकारः। जीवलोकः प्राणिवर्गश्च तमसोऽन्धकारस्याभिभवात्। अभिभूतत्वादित्यर्थः। 'कर्तृकर्मणोः कृति' (२।३।६५) इति कर्मणि षष्ठी। सहसैव मूर्च्छामपास्य उदजीवदुदश्वसीत्। अत्रोज्जीवनस्यार्ककरप्रसारहेतुकत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् ॥ ३९ ॥

स्वभावको प्राप्त करती हुई सूर्य-किरणें फिर फैलने लगीं और प्राणीलोग अन्धकारके दूर होनेसे एकाएक निद्राको छोड़कर उज्जीवित हो गये ॥ ३९ ॥

[2]घनसंतमसैर्जवेन भूयो यदुयोधैर्युधि रेधिरे द्विषन्तः ।
ननु वारिधरोप[3]रोधमुक्तः सुतरामुत्तपते पतिः प्रभाणाम् ॥ ४० ॥

घनेति ॥ घनं सान्द्रं संतमसमन्धकारो येषु। 'अवसमन्धेभ्यस्तमसः' (५।४।७९) इति समासान्तोऽच् प्रत्ययः। 'गत—' इति पाठे गतं संतमसं येषां तैः यदुयोधैर्यादवभटैर्भूयः पुनरपि जवेन युधि द्विषन्तो रेधिरे जिहिंसिरे। हता इत्यर्थः। राध्यतेः कर्मणि लिट्। 'राधो हिंसायाम्' इत्येत्वाभ्यासलोपौ। तथा हि—वारिधरावरोधान्मेघावरणान्मुक्तः प्रभाणां द्युतीनां पतिरर्कः सुतरामुत्तपत एव ननु प्रकाशत एव खलु। 'उद्विभ्यां तपः' (१।३।२७) इत्यात्मनेपदम्। अत्र यदुयोधानां द्युतिपतेश्च वाक्यभेदेन प्रतिबिम्बकरणाद् दृष्टान्तालंकारः। न चोपमानोपमेययोर्भिन्नवचनत्वद्दोषः। लोके चन्द्रार्कादीनामुपमानानामबहुत्वेऽपि चन्द्रानना इतिवत्प्रत्येकमौपम्यात् ॥ ४० ॥

(पहले) अत्यन्त गाढ़े अन्धकारसे मुक्त यदुवंशी योद्धा लोग युद्धमें फिर शत्रुओंको मारने लगे, (यह प्राकृतिक नियमके अनुकूल ही था), क्योंकि मेघके आवरणसे मुक्त प्रभापति (सूर्य) अत्यन्त प्रकाशित होता ही है ॥ ४० ॥

१. '—दवाप्य' इति पा० ।
२. '—गत—' इति पा० ।
३. '—धरौवरोध—' इति पा० ।

व्यवहार इवानृताभियोगं तिमिरं निर्जितवत्यथ प्रकाशे।
रिपुरुल्वणभीमभोगभाजां भुजगानां जननीं जजाप विद्याम् ॥४१॥

व्यवहार इति ॥ व्यवहारे न्यायवादे अनृताभियोगं मिथ्याभिशंसनमिव प्रकाशे कौस्तुभतेजसि तिमिरं प्रस्वापनान्धकारं निर्जितवति निरस्तवति सति अथैतन्निरसनानन्तरं रिपुश्चैद्य उल्बणान्महतो भीमांश्च भोगान् फणान्, कायांश्च भजन्तीति तद्भाजः। 'भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः' इत्यमरः। भुजगानां जननीमुत्पादिकां विद्यां मन्त्रं जजाप जपति स्म। भुजगास्त्रमाजहारेत्यर्थः। उल्बणेत्यत्र क्वचित् 'उत्फण—' इति पाठः। उपमालङ्कारः ॥ ४१ ॥

न्यायके द्वारा असत्यवादीके समान, (कौस्तुभमणिसे उत्पन्न तेजके द्वारा (शिशुपालके स्वापनास्त्रसे उत्पन्न) अन्धकारके जीते (दूर किये) जानेपर उसके उपरान्त शत्रु (शिशुपाल) बड़े-बड़े एवं भयंकर भोग (सर्प-शरीर, पक्षा०—शरीर) वाले साँपोंको भय उत्पन्न करनेवाले मन्त्र जपने लगा अर्थात् नागास्त्रका प्रयोग किया ॥ ४१ ॥

पृथुदर्विभृतस्ततः फणीन्द्रा विषमाशीभिरनारतं वमन्तः।
अभवन्युगपद्विलोलजिह्वायुगलीढोभयसृक्कभागमाविः ॥ ४२ ॥

पृथ्विति ॥ ततो भुजगास्त्रप्रयोगानन्तरं पृथुदर्विभृतः। महाफणाधारिण इत्यर्थः। अत एव 'दर्वीकरो दीर्घपृष्ठ' इत्यत्र दर्वीरूपः फण एव करो हस्तो यस्य प्रहाराद्याविति व्याख्यातम्। आशीभिर्दंष्ट्राभिः। 'आशी उरगदंष्ट्रायाम्' इति वैजयन्ती। अनारतमश्रान्तं विषं वमन्त उद्गिरन्तः फणीन्द्राः महासर्पा विलोलैश्चञ्चलैर्जिह्वायुगैर्लीढावास्वादितावुभौ सृक्कभागावोष्ठप्रान्तदेशौ यस्मिन्कर्मणि तत्तथा। 'प्रान्तावोष्ठस्य सृक्कणी' इत्यमरः। आविरभवन्। अत्र 'उभादुदात्तो नित्यम्' (५।२।४४) इति नित्यग्रहणसामर्थ्याद् वृत्तिविषये उभशब्दस्य स्थानेऽप्युभयशब्दस्यैव प्रयोगः उभयपुत्र इत्यादिप्रयोगसिद्धेरिति कथ्युक्तमस्माभिः प्रकटितं बहुधा संजीविन्यां घण्टापथे सर्वंकषायां च तत्र तत्र। स्वभावोक्तिरलङ्कारः ॥ ४२ ॥

इस (नागास्त्रके प्रयोग करनेके) उपरान्त बड़ी-बड़ी फणाओं को धारण करते हुए एवं दाँतोंसे निरन्तर विष उगलते हुए बड़े-बड़े सर्प चञ्चल दोनों जिह्वाओंसे दोनों ओष्ठप्रान्तों (गलफड़ों) को चाटते हुए एक साथ प्रकट हो गये ॥ ४२ ॥

कृतकेशविडम्बनैर्विहायो विजयं तत्क्षणमिच्छुभिश्छलेन।
अमृताग्रभुवः पुरेव पुच्छं वडवाभर्तुरवारि काद्रवेयैः ॥ ४३ ॥

कृतेति ॥ कृतकेशविडम्बनैः कार्ष्ण्याद्विहितकेशानुकारैः छलेन कपटेन विजयमिच्छुभिरभिलाषुकैः। 'बिन्दुरिच्छुः' (३।२।१६९) इति उप्रत्ययान्तो निपा-

1. '—उत्फण—' इति पा०।

तितः। 'न लोका—' (२।३।६९) इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः। विहाय आकाशं तत्क्षणं काद्रवेयैः कद्रुपुत्रैः फणीन्द्रैः। 'स्त्रीभ्यो ढक्' (४।१।१२०) इति ढक्। पुरा पूर्वमिव अमृतात्प्रभुत्रोऽमृतात्प्रस्य वडवाभर्तुः उच्चैःश्रवसः पुच्छं अवारि आवृतम्। वृतेः कर्मणि लुङ्। पुरा किल कद्रुविनतयोः कश्यपभार्ययोरुच्चैःश्रवसः पुच्छस्य काष्ण्यंश्वैत्यविवादे दास्यपणे काद्रवेयैः स्वमातुर्विजयाय गृहीतबालाकारैरुच्चैःश्रवसः पुच्छाच्छादनं चक्रे इति कथा पुराणादनुसन्धेया। उपमा ॥ ४३ ॥

(काला होनेसे) केशका अनुकरण करनेवाले अर्थात् केशके समान मालूम पड़नेवाले (पक्षा०—(उच्चैःश्रवाकी पूँछके) केशोंमें लटकनेवाले) तथा कपटसे विजय चाहनेवाले कद्रूके पुत्रों (सर्पों) ने उस समय आकाशको उस प्रकार आच्छादित कर लिया, जिस प्रकार पूर्वकाल में (विनता और कद्रूके परस्पर में विवाद उपस्थित होनेपर उक्तरूप सर्पोंने अमृतसे पूर्व उत्पन्न उच्चैःश्रवा घोड़ेकी पूँछको आच्छादित कर लिया था ॥ ४३ ॥

दधतस्तनिमानमानुपूर्व्या बभुरक्षिश्रवसो मुखे विशालाः।
भरतज्ञकविप्रणीतकाव्यग्रथिताङ्का इव नाटकप्रपञ्चाः ॥ ४४ ॥

दधत इति ॥ मुखे मुखभागे मुखसन्धौ च विशालाः विस्तृता आनुपूर्व्या अनुक्रमेण तनिमानं तनुत्वं मुखादन्यत्र शरीरे उत्तरोत्तरं तनुत्वं दधतः, अन्यत्र प्रतिमुखादिसन्धिषु गोपुच्छवत्संक्षिप्तत्वं दधानाः अक्षिश्रवसः सर्पाः भरतज्ञो नाट्यशास्त्रज्ञः। 'भरतो नाट्यशास्त्रेऽपि' इति विश्वः। तेन कविना प्रणीतं प्रकल्पितं यत्काव्यं कविकर्म लक्षणया काव्यार्थः कथावस्तु। ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ् प्रत्ययः। तेन ग्रथिता गुम्फिता अङ्काः परिच्छेदरूपा अवान्तरसन्दर्भविशेषा येषु ते तथोक्ता नाटकप्रपञ्चा नाटकविस्तारा इव बभुरित्युपमा। 'प्रबन्धा' इति क्वचित्पाठः। 'प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुबीजपुरस्कृतः। अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः ॥' (दशरूपके ३।३०,३१) इति अङ्कलक्षणम्। 'मुखं प्रतिमुखं गर्भोऽवमर्श उपसंहृतिः' (दशरूपके १।२४) इति सन्धयः ॥ ४४ ॥

मुख (पक्षा०—मुखसन्धि) में मोटे (पक्षा०—विस्तृत) और क्रमशः (मुखके अतिरिक्त मध्यभाग पूंछमें) पतलापन धारण करते (पतला होते) हुए (पक्षा०—प्रतिमुख आदि सन्धियोंमें गोपुच्छके समान संक्षिप्त होते हुए) सर्प, नाट्यशास्त्रके जाननेवाले कवियोंसे रचे गये काव्यमें ग्रथित अङ्कोंवाले नाटकोंके विस्तार के समान शोभित हुए ॥ ४४ ॥

सविषश्वसनोद्धतोरुधूमव्यवधिम्लानमरीचि पन्नगानाम्।
उपरागवतेव तिग्मभासा वपुरौदुम्बरमण्डलाभमूहे ॥ ४५ ॥

सेति ॥ तिग्मभासा सूर्येण उपरागवता राहुग्रासवतेव। राहुग्रस्तेनेवेत्यर्थः।

'उपरागो ग्रहो राहुग्रस्ते त्विन्दौ च पूष्णि च' इत्यमरवचनं प्रासस्याप्युपलक्षणम्। पन्नगानां सविषैः श्वसनैः फूत्कारैरुद्धतेनोद्धधूमेन यो व्यवहितिस्तिरोधानं तेन म्लाना निष्प्रभा मरीचयो यस्य तत् । अत एवौदुम्बरमण्डलाभं ताम्रपिण्डसच्छायम्। 'अथ ताम्रकम् । शुल्वं म्लेच्छमुखद्व्यष्टवरिष्ठोदुम्बराणि च' इत्यमरः । वपुरुह्यते कर्मणि लिट् । यजादित्वात्सम्प्रसारणम् ॥ ४५ ॥

साँपोंके विषयुक्त निःश्वासोंसे निकले हुए धूँएँसे आच्छादित होनेसे मलिनकान्तिवाली, (अत एव) ताम्रपिण्डके समान (अरुण-श्यामल) कान्तियुक्त आकृति सूर्यकी हो गयी, वह ऐसी ज्ञात होती थी कि मानो सूर्य राहुग्रस्त हो रहा है ॥ ४५ ॥

शिखिपिच्छकृतध्वजाव[1]चूडक्षणसाशङ्कविवर्तमानभोगाः ।
यमपाशवदाशुबन्धनाय न्यपतन्वृष्णिगणेषु[2] लेलिहानाः ॥ ४६ ॥

शिखीति ॥ पुनःपुनर्लेहनशीला लेलिहानाः सर्पाः । लिहेर्यङ्लुगन्तात्ताच्छील्ये चानश्प्रत्यये 'गुणो यङ्लुकोः' (७।४।८२) इत्यभ्यासस्य गुणः । 'लिहेर्लिटः कानज्' इति वल्लभः । तदानीमभ्यासगुणानुपपत्तिः भूतार्थासङ्गतिश्च । शिखिपिच्छैर्मयूरबर्हैः कृतेभ्यो ध्वजानामवचूडेभ्यः प्रकीर्णेभ्यः क्षणं साशङ्काः जीवन्मयूरभ्रान्त्या सभयाः अत एव विवर्तमानकायाः व्यावृतदेहाः सन्तः आशु वृष्णिगणेषु यादवसङ्घेषु बन्धनाय यमपाशैस्तुल्यं यमपाशवत् कालपाशवदित्युपमा । न्यपतन् । निपत्य बबन्धुरित्यर्थः ॥ ४६ ॥

मोरोंके पङ्खोंसे बनाये गये ध्वजाओंके चमरोंसे क्षणमात्र (उन्हें जीवित मोर समझनेसे) आशङ्कायुक्त होकर लौटते हुए साँप, यादव-समूहपर (उन्हें) शीघ्र बाँधने के लिए यमपाशकी तरह गिरने लगे ॥ ४६ ॥

पृथुवारिधिवीचिमण्डलान्तर्विलसत्फेनवितानपाण्डुराणि ।
दधति स्म भुजङ्गमाङ्गमध्ये नवनिर्मोकरुचिं[3] ध्वजांशुकानि ॥ ४७ ॥

पृथ्वित ॥ भुजङ्गमाङ्गमध्ये पृथोर्वारिधिवीचिमण्डलस्यान्तर्मध्ये विलसन्तः फेना इव वितानपाण्डुरद्युतीनि शुभ्रवर्णानीत्युपमा । ध्वजांशुकानि नवनिर्मोकरुचिं नवकञ्चुकशोभां दधति स्म । 'समौ कञ्चुकनिर्मोकौ' इत्यमरः । निर्मोकरुचिमित्यत्रान्यधर्मस्यान्यत्रासम्बन्धेन निर्मोकस्येवेति सादृश्याक्षेपाद्सम्भवद्वस्तुसम्बन्धानिदर्शना फेनपाण्डुरोपमयाङ्गेन सङ्कीर्यते ॥ ४७ ॥

सर्पोंके शरीरोंके बीचमें, समुद्रके विशाल तरङ्ग-समूहमें शोभनेवाले चँदोवेके समान शुभ्रवर्ण ध्वजाओंके वस्त्र नये काँचलीकी शोभाको धारण कर रहे थे अर्थात् ऊपरसे गिरते हुए सर्पशरीरमें शुभ्रवर्ण वाली पताकाएं सर्पोंकी काँचली-जैसी मालूम पड़ती थीं ॥ ४७ ॥

---

१. '-चूल-' इति पा० । २. '-बलेषु-' इति पा० । ३. '-रुचम्-' इति पा० ।

कृतमण्डलबन्धमुल्लसद्भिः शिरसि प्रत्युरसं विलम्बमानैः।
व्यरुचज्जनता भुजङ्गभोगैर्दलितेन्दीवरमालभारिणीव ॥ ४८ ॥

कृतेति ॥ जनता जनसमूहः। 'ग्रामजन-' (४।२।४३) इत्यादिना सामूहिकस्तल्प्रत्ययः। शिरसि कृतो मण्डलबन्धो वलयीभावो यस्मिन्कर्मणि तत्तथा उल्लसद्भिः प्रत्युरसं उरसि उरसि। 'प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात्' (५।४।८२) इति समासान्तोऽच्प्रत्ययः। विलम्बमानैर्विशेषेण लम्बमानैः भुजंगभोगैरहिकायैः दलितेन्दीवरमालभारिणी विकसितनीलोत्पलभारिणीवेत्युत्प्रेक्षा। व्यरुचद्रुरोचिष्ट। 'द्युद्भ्यो लुङि' (१।३।९१) इति विकल्पात्परस्मैपदम् ॥ ४८ ॥

जनता (युद्धभूमिमें स्थित वीर लोग) मण्डलाकार होकर शोभनेवाले एवं वक्षःस्थलमें नीचे तक लटकते हुए सर्प-शरीरोंसे, विकसित नीलकमलकी मालाओंको पहनी हुई-सी शोभने लगी ॥ ४८ ॥

परिवेष्टितमूर्तयश्च मूलादुरगैराशिरसः सरत्नपुष्पैः।
दधुरायतवल्लिवेष्टितानामुपमानं मनुजा महीरुहाणाम् ॥ ४९ ॥

परिवेष्टितेति ॥ किञ्चेति चार्थः। मूलात्। पादमारभ्येत्यर्थः। ल्यब्लोपे पञ्चमी। आशिरसः शिरोन्तम्। अभिविधावाङिति विकल्पादसमासः। रत्नैरेव पुष्पैः सह वर्तन्त इति सरत्नपुष्पैः। 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (२।२।२८) इति बहुव्रीहिः। उरगैः परिवेष्टितमूर्तयो वेष्टिताङ्गा मनुजा आयताभिर्वल्लीभिर्लताभिर्वेष्टितानां महीरुहाणामुपमानं सादृश्यं दधुरित्युपमा ॥ ४९ ॥

एड़ीसे लेकर चोटी तक अर्थात् पैरसे लेकर शिरतक रत्नमयपुष्पोंवाले सर्पोंसे लिपटेहुए शरीरवाले मनुष्य (सैनिक लोग) लम्बी लतासे लिपटे हुए वृक्षोंके समान मालूम पड़ने लगे ॥

बहुलाञ्जनपङ्कपट्टनीलद्युतयो देहमितस्ततः श्रयन्तः ॥
दधिरे फणिनस्तुरङ्गमेषु स्फुटपल्याण[1]निबद्धवध्रलीलाम् ॥ ५० ॥

बहुलेति ॥ बहुलाञ्जनस्य सान्द्रकज्जलस्य पङ्कपट्टः पङ्कघनस्तद्वन्नीलद्युतयः श्यामभासः। देहं शरीरमितस्ततः पुच्छपार्श्वादिस्थानेषु श्रयन्तः भजन्तः फणिनस्तुरङ्गमेषु स्फुटान्युज्ज्वलानि यानि पल्याणेषु पल्ययनेषु निबद्धानि वध्राणि वरत्राः। 'वध्रं त्रपुवरत्रयोः' इति विश्वः। तेषां लीलां शोभां दधिरे दधुः। वध्रलीलामित्यत्रासम्भवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शनोक्तलक्षणा ॥ ५० ॥

अत्यधिक काजलके पङ्क-समूहके समान नीली कान्तिवाले तथा (घोड़ेके) इधर उधर (दोनों पार्श्वों एवं पूँछ आदिमें) लिपटे हुए सर्प जीन (खोगीर) को बाँधने (कसने) वाले चमड़ेके पट्टे (तङ्ग) को शोभाको प्राप्त किये अर्थात् वक्तरूप सर्प तङ्ग-जैसे शोभने लगे ॥

---

१. '—पर्याण—' इति पा०।

प्रसृतं रभसादयोभिनीला प्रतिपादं परितोऽभिवेष्टयन्ती ।
तनुरायतिशालिनी महाहेर्गजमन्दूरिव निश्चलं चकार ॥ ५१ ॥

प्रसृतमिति ॥ अयसा अयोवत् अभिनीला पादेषु प्रतिपादम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अभिवेष्टयन्ती आयत्या आयतेन दैर्घ्येण शालते या सा आयतिशालिनी महाहेर्महोरगस्य तनुर्वपुरन्दूः शृङ्खलेव । 'अन्दूस्तु शृङ्खलायां स्त्री' इति वैजयन्ती । रभसात्प्रसृतं प्रचरन्तं गजं निश्चलं चकार । उपमा ॥ ५१ ॥

लोहेके समान नीलवर्ण, (हाथियोंके) पैरोंमें लिपटा हुआ लम्बा होनेसे सुन्दर सर्पशरीर वेगसे विचरण करते हुए हाथीको लोहेके सीकड़के-जैसा निश्चल कर दिया। अर्थात् पैरोंमें साँपोंके लिपट जानेसे हाथी लोहेके सीकड़से बँधे हुए के समान निश्चल हो गया॥

अथ सस्मितवीक्षितादवज्ञाच[1]लितैकोन्नमितभ्रु माधवेन ।
निजकेतुशिरःश्रितः सुपर्णा[2]दुदपप्तन्नयुतानि पक्षिराजाम् ॥ ५२ ॥

अथेति ॥ अथ नागपाशबन्धनानन्तरं माधवेन कृष्णेनावज्ञया अकिंचित्करत्वादनादरेण चलिता प्रेरिता एका उन्नमिता उत्क्षिप्ता च भ्रूर्यस्मिन्कर्मणि तत्तथा । 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (१।२।४८) इति ह्रस्वत्वम् । सस्मितं चैद्यचापल्यदर्शनात्समन्दहासं वीक्षितात् निजकेतुशिरःश्रितः निजध्वजाग्रस्थितात् । श्रयतेः क्विप् । सुपर्णात्पक्षिणां राजः राजानः तेषां पक्षिराजां पक्षिराजानां गरुत्मताम् । 'राजा राट् पार्थिवः' इत्यमरः । 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (३।२।१७८) इति क्विप् । अयुतानि अयुतसंख्या उदपप्तन्नुत्पेतुः । 'पुषादि—' (३।१।५५) इति लुङि च्लेरङादेशः । 'पतः पुम्' (७।४।१९) इति पुमागमः । 'उदभूवन्' इति पाठे 'भुवो वुक्' (६।४।८८) इति वुगागमः । माधवस्य सुपर्णवीक्षणावस्थोचितभ्रूविक्षेपादिचेष्टाविवरणात्स्वभावोक्तिः । तदुक्तं दण्डिना—'नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती । स्वभावोक्तिश्च जातिश्च' इति । 'जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम्' इति च ॥

इस (नागपाशोंसे हाथी आदिके बँधने) के बाद (उसके अकिञ्चित्कर होनेसे) आनन्दपूर्वक भ्रूको उठाकर संकेत करते हुए (एवं शिशुपालकी व्यामोहपूर्ण चपलताके कारण) थोड़ा मुस्कुरानेके साथ देखे गये, अपनी ध्वजाके ऊपर बैठे हुए गरुड़से अयुतों (कई दश हजार) गरुड़ उड़ने लगे (या—उत्पन्न हो गये) ॥ ५२ ॥

द्रुतहेमरुचः खगाः खगेन्द्रादलघूदीरितनादमुत्पतन्तः ।
क्षणमैक्षिषतोच्चकैश्चभूभिर्ज्वलतः सप्तरुचेरिव स्फुलिङ्गाः ॥ ५३ ॥

द्रुतेति ॥ द्रुतहेमरुचः प्रतप्तकाञ्चनभास इत्युपमा । अलघूच्चैरुदीरितनादं उच्चरितघोषं यथा तथा खगेन्द्राद्गरुत्मतः उत्पतन्तः उद्गच्छन्तः खगाः सुपर्णा ज्वलतः प्रज्व-

१. 'चलितं—' इति पा० । २. '—दुदभूवन्न—' इति पा० ।

लतः समरुचेः सप्तार्चिषोऽनेकत्वकैरूर्ध्वं प्रसृताः स्फुलिङ्गा इव चमूभिः क्षणमैक्षिषत ईक्षिताः। ईक्षतेः कर्मणि लुङ्। अत्रोपमयोः सङ्करः॥ ५३॥

पिघलाये गये सुवर्णके समान (पिङ्गल) कान्तिवाले एवं उच्च स्वरसे ध्वनि करनेके साथ-साथ पक्षिराज (गरुड़) से उत्पन्न होते हुए गरुड़ोंको, सेनाओंने जलती हुई अग्निसे उत्पन्न होकर ऊपर फैलती हुई चिनगारियोंके समान देखा॥ ५३॥

उपमानमलाम्भि लोलपक्षक्षणविक्षिप्तमहाम्बुवाहमत्स्यैः।
गगनार्णवमन्तरा सुमेरोः कुलजानां गरुडैरिलाधराणाम्॥ ५४॥

उपमानमिति॥ गगनमर्णव इव गगनार्णवस्तमन्तरा। तस्य मध्ये इत्यर्थः। 'अन्तरान्तरेणयुक्ते' (२।३।४) इति द्वितीया। अत्रार्णवस्यैकत्वेऽपि तदेकदेशापेक्षया भेदवत्वेन मध्यमप्रतियोगित्वसंभवान्न द्वितीयानुपपत्तिः। लोलैः पक्षैः क्षणाद्विक्षिप्ता महाम्बुवाहा मत्स्या इव यस्तैर्गरुडैर्गरुत्मभिः सुमेरोः कुलजानां हेमाद्रिवंश्यानाम्। अन्येषामहिरण्मयतया गरुडसाम्यासंभवादित्यर्थः। इलाधराणां भूधराणाम्। अर्णवान्तश्चराणामित्यर्थः। 'गौरिला कुम्भिनी क्षमा' इति कोषः। उपमानं सादृश्यमलाम्भि अलम्भि। लभेः कर्मणि लुङि 'विभाषा चिण्णमुलोः' (७।१।६९) इति विकल्पान्नुमभावः। अत्रेलाधराणामुपमानमिति व्यस्तोपमाया अन्याभ्यां समासगताभ्यामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः॥ ५४॥

आकाशरूपी समुद्रके मध्यमें चञ्चल पङ्खोंसे मछलियोंके समान जलके महाप्रवाहोंको विक्षिप्त करनेवाले गरुड़ोंने सुमेरुवंशमें उत्पन्न पर्वतोंकी समानता प्राप्त की अर्थात् उक्तरूप वे गरुड़ समुद्रचारी सुमेरुकुलोत्पन्न सुनहले पहाड़-जैसे शोभने लगे॥ ५४॥

पततां परितः परिस्फुरद्भिः परिपिङ्गीकृतदिङ्मुखैर्मयूखैः।
सुतरामभवद्दुरीक्ष्यबिम्बस्तपनस्तत्किरणैरिवात्मदर्शः॥ ५५॥

पततामिति॥ परिस्फुरद्भिः स्वविषयसंक्रमात्समन्तादुल्लसद्भिः अत एव परिपिङ्गीकृतानि सौवर्णत्वात्पिशङ्गीकृतानि दिङ्मुखानि यैस्तैः पततां पक्षिणां मयूखैः तपनः सूर्यस्तत्किरणैस्तपनकिरणैः संक्रान्तैरिति भावः। आत्मा स्वरूपं दृश्यतेऽत्र इत्यात्मदर्शो दर्पण इव सुतरां दुरीक्ष्यबिम्बोऽभवत्। स्वत एव दुर्दर्श इदानीमतिदुर्दर्शोऽभूदित्यर्थः। अत्र तपनस्य दुरीक्ष्यत्वासंबन्धेऽपि संबन्धोक्तेरतिशयोक्तिः॥५५॥

(अपने चमकते हुए सुनहले शरीरमें प्रतिबिम्बित होनेसे) स्फुरित होती हुई, (अतएव) दिगन्तोंको समन्ततः पिङ्गल वर्ण की हुई गरुड़ोंकी किरणोंसे, (स्वभावतः दुर्निरीक्ष्य (कठिनाईसे देखने योग्य) बिम्बवाला) सूर्य, (अत्यन्त दुर्निरीक्ष्य) सूर्य-किरणोंसे दर्पणके समान अत्यन्त दुर्निरीक्ष्य हो गया॥ ५५॥

---

१. '—लम्भि' इति पा०।

दधुरम्बुधिमन्थनाद्रिमन्थभ्रमणायस्तफणीन्द्रपित्तजानाम् ।
रुचमुल्लसमानवैनतेयद्युतिभिन्नाः फणभारिणो मणीनाम् ॥ ५६ ॥

दधुरिति ॥ उल्लसमानाभिर्दीप्यमानाभिर्वैनतेयानां द्युतिभिर्भिन्नाः संवलिताः फणभारिणः फणाभृतः अम्बुधिमन्थने समुद्रमन्थने अद्रेर्मन्दराद्रेरेव मन्थस्य मन्थनदण्डस्य भ्रमणेनायस्तस्य निष्पीडितस्य फणीन्द्रस्य वासुकेः पित्तात्पित्तधातोर्जाताः स्तज्जास्तेषाम् । 'वैशाखमन्थमन्थानमन्थानो मन्थदण्डके' इत्यमरः । मथेर्मौवादिकत्वेदित्वात्सर्वत्र नुमागमः । तेषां मणीनां मरकतानां रुचं दधुः । वैनतेयपीतिमसंभेदात्कृष्णोरगा मरकतच्छायामापुर्छन्नित्यर्थः । अत्रान्यस्यान्यधर्मायोगेन रुचमिवेति सादृश्याक्षेपादसंभवद्वस्तुसंबन्धान्निदर्शनालङ्कारः ॥ ५६ ॥

चमकती हुई गरुड़ोंकी कान्तिसे संस्पृष्ट सर्प, समुद्रमन्थनके कथनरूपी मन्दराचलके घूमनेसे अत्यन्त पीड़ित वासुकिके पित्तसे उत्पन्न नागमणियोंकी शोभाको धारण किये अर्थात् गरुड़ोंकी पीली कान्तिके संसर्गसे काले साँप मरकत मणि–जैसे शोभित हुए ॥५६॥

अभितः क्षुभिताम्बुराशिधीरध्वनिराकृष्टसमूलपादपौघः ।
जनयन्नभवद्युगान्तशङ्कामनिलो नागविपक्षपक्षजन्मा ॥ ५७ ॥

अभीति ॥ अभितः उभयतः क्षुभितो योऽम्बुराशिः उद्वेलाम्बुराशिस्तद्वद्धीरध्वनिर्गम्भीरध्वनिरित्युपमा । आकृष्टाः पातिताः समूलाः पादपौघास्तरुसमूहा येन सः । अत्र पादपोन्मूलनासंबन्धेऽपि संबन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । युगान्तशङ्कां जनयन्कल्पक्षयोत्प्रेक्षां जनयन्नित्यपि सैवातिशयोक्तिः । नागविपक्षपक्षजन्मा गरुडपक्षोद्भवोऽनिलोऽभवत् । उदभवदित्यर्थः ॥ ५७ ॥

दोनों ओरसे क्षुब्ध अर्थात् दोनों तीरोंको उल्लङ्घन किये हुए समुद्रके समान गम्भीर ध्वनिवाला और जड़सहित वृक्ष–समूहको उखाड़नेवाला, सर्पशत्रुओं (गरुड़ों) के पङ्खोंसे उत्पन्न पवन प्रलयकालकी शङ्का उत्पन्न करने लगा ॥ ५७ ॥

प्रचलत्पतगेन्द्रपत्रवातप्रसभोन्मूलितशैलदत्तमार्गैः ।
भयविह्वलमाशु दन्दशूकैर्विवशैराविविशे स्वमेव धाम ॥ ५८ ॥

प्रचलदिति ॥ प्रचलतां पतगेन्द्राणां ये पत्रवातास्तैः प्रसभं उन्मूलितैराकृष्टैरुत्पाटितैः शैलैर्दत्तो मार्गो रन्ध्रं येभ्यस्तैः विवशैः परवशैः निश्चेष्टैरित्यर्थः । गर्हितं दशन्ति भृशमिति दन्दशूकैः सर्पैः । 'दन्दशूको बिलेशयः' इत्यमरः । 'लुपसदचर—' (३।१।२४) इत्यादिना दंशेर्भावगर्हायां यङ् । 'जपजभदहदशभञ्जपशां च' (७।४।८६) इत्यभ्यासस्य नुगागमः । 'यजजपदशां यङः' (३।२।१६६) इति दंशेर्यङन्तादूकप्रत्ययः । भयेन विह्वलं विक्षिप्तं विचित्रं यथा तथा स्वमेव धाम पातालमेव विविशे

साध्वसंपन्नपवनोन्मूलितशलरन्ध्रवर्त्मनैव पातालं प्रविष्टमित्यर्थः। विशेः कर्मणि लिट्। कुन्दशूकानां रन्ध्रप्रवेशासंबन्धेऽपि संबन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ५८ ॥

उड़ते हुए पक्षिराजों (गरुड़ों) के पङ्खोंके वायुसे बलात् उखाड़े हुए पर्वतोंके द्वारा दिये गये मार्गवाले एवं परवश सर्प भयसे व्याकुल होते हुए शीघ्र अपने ही स्थान (पाताल) में घुस गये ॥ ५८ ॥

खचरैः क्षयमक्षयेऽहिसैन्ये सुकृतैर्दुष्कृतवत्तदोपनीते ।
अयुगार्चिरिव ज्वलन्रुषाथो रिपुरौदर्चिषमाजुहाव मन्त्रम् ॥ ५९ ॥

खचरैरिति ॥ खे चरन्तीति तैः खचरैर्वैनतेयैः। चरेष्टः 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (६।३।१४) इति लुगविकल्पः। अक्षये अनन्ते अहि सैन्ये सर्पसङ्घे सुकृतैः हरिस्मरणादिपुण्यैर्दुष्कृतवद्ब्रह्महत्याद्येनोवत् । 'तत्र तस्येव' (५।१।११६) इति तत्रार्थे वतिप्रत्ययः। क्षयमुपनीते नाशं गमिते सति तदा तत्काले रुषा पौरुषवैफल्यरोषेण अयुगार्चिः सप्तार्चिरिव ज्वलन्दीप्यमानः असौ रिपुश्चैद्यः। उदर्चिष इममौदर्चिषम् आग्नेयं मन्त्रमाजुहाव आहूतवान् । जजापेत्यर्थः । ह्वयतेर्लिट्। 'अभ्यस्तस्य च' (६।१।३३) इति द्विर्वचनात्प्रागेव संप्रसारणम्। दुष्कृतवदिति तद्धितगता श्रौती पूर्णोपमा ॥ ५९ ॥

उस समय पुण्योंके द्वारा पापों के समान, पक्षियों (गरुड़ों) के द्वारा (अत्यधिक होनेसे) अक्षय सर्पसेनाके नष्ट होनेपर (अपने प्रयत्नके निष्फल हो जानेके कारण) क्रोधसे अग्निके समान जलता हुआ इस शत्रु (शिशुपाल) ने अग्निके मन्त्रका ध्यान किया अर्थात् आग्नेय अस्त्र चलाया ॥ ५९ ॥

सहसा दधदुद्धताट्टहासश्रियमुत्त्रासितजन्तुना स्वनेन ।
विततायतहेतिबाहुरुच्चैरथ वेताल इवोत्पपात वह्निः ॥ ६० ॥

सहसेति ॥ अथाग्नेयास्त्राह्वानानन्तरम् उत्त्रासितजन्तुना भीषितप्राणिकेन स्वनेन ध्वनिना उद्धताट्टहासश्रियं महाट्टहाससंपदं दधत् तेनैवाट्टहासवान्। तत्तुल्यध्वनिरित्यर्थः। विततः प्रसारिताः आयता दीर्घाः हेतयो ज्वाला बाहव इव हेतिबाहवो यस्य स वह्निर्वेतालो भूतविशेषः स इव सहसा झटिति उच्चैरूर्ध्वमुत्पपात उत्तस्थौ। उपमा ॥ ६० ॥

इस (आग्नेय अस्त्रके चलाने) के बाद प्राणियोंको अत्यन्त भयभीत करनेवाली ध्वनि से उद्धत अट्टहासश्रीको धारण करते हुए तथा फैली हुई लम्बी ज्वालारूप भुजाओंवाले वेताल के समान अग्नि सहसा ऊपरकी ओर धधकने लगा ॥ ६० ॥

चलितोद्धतधूमकेतनोऽसौ रभसादम्बररोहिरोहिताश्वः ।
द्रुतमारुतसारथिः शिखावान्कनकस्यन्दनसुन्दरश्चचाल ॥ ६१ ॥

चलितेति ॥ चलितश्चलंश्च उद्धत उन्नतश्च धूम एव केतनं केतुर्यस्य स रभसाद्वेगादम्बररोहिणो रोहिता वाहनमृगा अश्वा इव यस्य सः द्रुतमारुताः शीघ्रवाता एव सारथिर्यस्य सः कनकस्यन्दनसुन्दरः कनकद्रववद्रम्य इत्युपमा । असौ शिखा ज्वाला अस्य सन्तीति शिखावानाशुशुक्षणिश्चचाल ॥ ६१ ॥

चञ्चल एवं उन्नत धूमरूपी पताकावाला, वेगसे आकाशपर चढ़े हुए वाहनभूत मृगरूपी घोड़ोंवाला और तीव्र वायुरूपी सारथिवाला सोनेके रथसे (पक्षा०—जलाये हुए सोनेके समान) सुन्दर अग्नि चल पड़ा (जलने लगा) ॥ ६१ ॥

ज्वलदम्बरकोटरान्तरालं बहुलार्द्राम्बुदपत्रबद्धधूमम् ।
परिदीपितदीर्घकाष्ठमुच्चैस्तरुवद्विश्वमुवोष जातवेदाः ॥ ६२ ॥

ज्वलदिति ॥ जातं वेदो धनं यस्माज्जातवेदास्तनूनपात् । अम्बरं कोटरमिव तस्यान्तरालमभ्यन्तरं ज्वलद्यस्य तत् । बहुलाः सान्द्रा आर्द्राम्बुदाः पत्राणीव तेषु बद्धधूमम् । परिदीपिताः प्रज्वलिताः काष्ठा दिशः काष्ठानीव यस्य तदुच्चैरुन्नतं विश्वं जगत् । तरुणा तुल्यं तरुवत् । तरुमिवेत्यर्थः । तुल्यार्थे वतिप्रत्ययः । उवोष ददाह । 'उष दाहे' लिट् । लघूपधगुणे पश्चाद् द्विर्भावः । 'अभ्यासस्यासवर्णे'(६।४।७८) इत्युवङादेशः अनादिष्टाच्च इति गुणस्य स्थानिवत्त्वाभावात् । तरुवदिति स्पष्टोपमालिङ्गात् । सर्वत्रोपमितसमासः ॥ ६२ ॥

अग्नि, जलते हुए आकाशरूपी खोड़रेके मध्यभागवाले, सघन एवं गीले मेघरूप पत्तोंमें धूम्रयुक्त, प्रज्वलित दिशारूपी काष्ठवाले संसारको वृक्षके समान जलाने लगा ॥ ६२ ॥

गुरुतापविशुष्यदम्बुशुभ्राः क्षणमालम्ब्य कृशानुताम्रभासः ।
स्वमसारतया मषीभवन्तः पुनराकारमवापुरम्बुवाहाः ॥ ६३ ॥

गुर्विति ॥ गुरुतापेनातिदाहेन विशुष्यदम्बवः शोष्यमाणोदकाः अत एव शुभ्राश्चेति विशेषणसमासः । ततः क्षणमालम्बनेन कृशानुना ताम्रभासो लोहितवर्णाः अथासारतया जलशोषाज्जिःसारतया मषीभवन्तः अम्बुवाहाः पुनः स्वमाकारं नीलरूपमवापुः । अत्र मेघानां मषीभावाद्यसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः ॥६३॥

(अग्निके) तीव्र तापसे जलके सूख जानेके कारण शुभ्रवर्ण, क्षणमात्र अग्निके संसर्गसे ताँबेके समान कान्तिवाले अर्थात् अरुणवर्ण (अग्निके द्वारा जल सूख जानेके कारण) निःसार होनेसे काले होते हुए मेघ अपना रंग (कृष्णता–कालापन) पुनः प्राप्त कर लिये ॥ ६३ ॥

१. '—हरयः' इति पा० । २. '—रंजन—' इति पा० ।

ज्वलितानललोलपल्लवान्ताः स्फुरदष्टापदपत्रपीतभासः।
क्षणमात्रभ'वामभावकाले सुतरामापुरिवायतिं पताकाः ॥ ६४ ॥

ज्वलितेति ॥ ज्वलितेन प्रज्वलता अनलेन अनलतापेन लोलाः पल्लवान्ता अञ्चलाग्राणि यासां ताः स्फुरद्भिर्दीप्यमानैरष्टापदपत्रैः कनकरचनाभिः पीतभासः पिङ्गलवर्णाः पताका वैजयन्त्यः अभावकाले विनाशकाले क्षणमात्रभवां क्षणमात्रभाविनीम् । क्षणमात्रस्थायिनीमित्यर्थः । आयतिं दैर्घ्यं सुतरामापुरित्यर्थः । प्रदीपवदिति भावः । अष्टसु लोहेषु पदमस्येत्यष्टापदम् । 'अष्टनः संज्ञायाम्' (६।३।१२५) इति दीर्घः । 'रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः ॥ ६४ ॥

जलते हुए अग्नि-तापसे चञ्चल (फड़फड़ाते हुए) अग्रभागवाले, चमकते हुए स्वर्णपत्रके समान (या—चमकती हुई सुवर्ण-रचनाओंसे) पीली कान्तिवाली पताकाओंने (अग्निके द्वारा अत्यन्त आसन्नभविष्यमें जलाये जानेके कारण) नाशके समयमें मानो क्षणिक दीर्घता को स्वतः प्राप्त किया (पाठा०—⋯⋯समयमें बिजलीकी दीर्घताको स्वतः प्राप्त किया अर्थात् चमकती हुई लम्बी आकृतिवाली बिजलीके समान पताकाएँ भी शोभित हुईं) ॥

निखिलामिति कुर्वतश्चिराय द्रुतचामीकरचा'रुतामिव द्याम् ।
प्रतिघातसमर्थमस्त्रमग्नेरथ मेघंकरमस्मरन्मुरारिः ॥ ६५ ॥

निखिलामिति ॥ अथानन्तरं मुरारिः इतीत्थं निखिलां द्यामाकाशं द्रुतचामीकरचारुतां प्रतप्तहेमकर्बुरामिवेत्युत्प्रेक्षा चारुतामित्यत्र । चिराय कुर्वतोऽग्नेः प्रतिघातसमर्थं प्रशमनक्षमं मेघान्करोतीति मेघंकरं मेघजननम् । 'मेघर्तिभयेषु कृञः' (३।२।४३) इति खच्प्रत्ययः । 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (६।३।६७) इति मुमागमः । अस्त्रं वारुणास्त्रमस्मरद् दध्यौ आजहार ॥ ६५ ॥

इसके बाद श्रीकृष्ण भगवान्‌ने इस प्रकार (२०।६०-६४) बहुत देरसे सम्पूर्ण आकाशको पिघलाये गये सुवर्णकी सुन्दरतायुक्त-सा करते हुए अग्निके नाश करनेमें समर्थ मेघ उत्पन्न करनेवाले अस्त्र (मेघास्त्र) का स्मरण किया अर्थात् मेघास्त्रको चलाया ॥ ६५ ॥

चतुरम्बुधिगर्भधीरकुक्षेर्वपुषः सन्धिषु लीनसर्वसिन्धोः ।
उदगुः सलिलात्म'नस्त्रिधाम्नो जलवाहावलयः शिरोरुहेभ्यः ॥ ६६ ॥

चतुरिति ॥ चत्वारोऽम्बुधय एव गर्भास्तै धीरो गम्भीरः कुक्षिर्यस्य तस्य वपुषः सन्धिषु लीनाः सर्वाः सिन्धवो नद्यो यस्य तस्य सलिलात्मनस्तोयात्मकस्य त्रीणि धामानि स्थानानि भूरादीनि सत्त्वादीनि वा यस्य तस्य त्रिधाम्नो हरेः शिरोरुहेभ्यो

१. '—भुवा—' इति पा० । २. '—श्वारितामिव' इति 'वल्लभसम्मतः पाठः साधु प्रतिभाति 'प्रतप्तहेमकर्बुरितामिवे'ति व्याख्यानानुरोधादिति बोध्यम् । ३. '—स्मकत्रि—' इति पा० ।

जलवाहावलयो मेघपरम्परा उदगुरुद्बभूवुः । 'इणो गा लुङि' इति गादेशे 'गाति-स्था–' (२।४।७७) इत्यादिना सिचो लुक् । 'यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्ग-सन्धिषु । कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥' (महाभारते शान्ति० ४७।६०) इत्यागमोक्तं प्रमाणमिति भावः ॥ ६६ ॥

चारो समुद्र हैं भीतरमें जिसके ऐसे गम्भीर उदरवाले, (शरीरके) सन्धियोंमें लीन हुई समस्त नदियोंवाले, जलात्मक और (भूर्भुवः स्वः, या—सत्त्व, रज एवं तमरूप) तीन धामों-वाले अर्थात् लोकत्रयव्याप्त श्रीकृष्ण भगवान्‌के केशोंसे मेघ-श्रेणियाँ निकल पड़ीं ॥ ६६ ॥

ककुभः कृतनादमास्तृणन्तस्तिरयन्तः पटलानि भानुभासाम् ।
उदनंसिषुरभ्रमभ्रसङ्घाः सपदि श्यामलिमानमानयन्तः ॥ ६७ ॥

ककुभ इति ॥ कृतनादं कृतगर्जारावं यथा तथा ककुभ आस्तृणन्त आच्छाद-यन्तः । स्तृणातेर्लटः शत्रादेशः 'श्नाभ्यस्तयोः–' (६।४।११२) इत्याकारलोपः । भानु-भासामर्कांशूनां पटलानि तिरयन्तस्तिरस्कुर्वन्तः । तिरःशब्दात् 'तत्करोति' (ग०) इति ण्यन्ताल्लटः शत्रादेशः । णाविष्ठवद्भावाट्टिलोपः । अभ्रमाकाशं श्यामलिमानमा-नयन्तः श्यामलत्वं प्रापयन्तः अभ्रसङ्घा मेघौघाः सपदि सद्य उदनंसिषुरुत्पेतुः । उत्पूर्वान्नमतेर्लुङि 'यमरमनमातां सक्च' (७।२।७३) इति सगिडागमौ 'नेटि' (७।२।४) इति वृद्धिप्रतिषेधः । स्वभावोक्तिः ॥ ६७ ॥

गरजते हुए दिशाओंको आच्छादित करते हुए, सूर्य-किरणके समूहोंको तिरस्कृत करते हुए आकाशको श्यामल करते हुए मेघ-समूह शीघ्र ही उमड़ पड़े ॥ ६७ ॥

तपनीयनि[1]कषराजिगौरस्फुरदुत्तालतडिच्छटाट्टहासम् ।
अनुबद्धसमुद्धताम्बुवाहध्वनिताडम्बरमम्बरं बभूव ॥ ६८ ॥

तपनीयेति ॥ तपनीयस्य हेम्नो निकषराजयः कषणलेखा इव गौर्यः पीताः । 'गौरोऽरुणे सिते पीते' इत्यमरः । स्फुरन्त्य उत्ताला उद्धतास्तडिच्छटा विद्युल्लता एवाट्टहासा यस्य तत्तथोक्तं अनुबद्धोऽनुस्यूतः समुद्धतस्तारोऽम्बुवाहानां ध्वनिता-डम्बरो गर्जिताडम्बरो यस्य तदम्बरं बभूव । तदाम्बुवाहैर्विद्युत्प्रभाभिर्गर्जिताडम्ब-रैश्चाट्टहासं कुर्वन्निरिवाम्बरं बभाविरत्यर्थः । व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्योत्प्रेक्षा ॥ ६८ ॥

आकाश, सुवर्णके घर्षण-रेखा-समूहके समान पीली एवं चमकती हुई उद्धत बिजली-कान्तिरूप अट्टहासवाला और सघन उठते हुए मेघोंके गरजनेके आडम्बरोंवाला (या—गर्जनरूप वाद्यध्वनिवाला) हो गया अर्थात् मेघास्त्रके प्रयोग करनेपर आकाश, मेघोंकी ध्वनिसे गरजता हुआ-सा और बिजलियोंकी कान्तिसे अट्टहास करता हुआ-सा प्रतीत होने लगा ॥ ६८ ॥

१. '–निकाष……टाच्छहासम्' इति पा० ।

सवितुः परिभावुकैर्मरीचीनचिराभ्यक्तमतङ्गजाङ्गभाभिः ।
जलदैरभितः स्फुरद्भिरुच्चैर्विदधे केतनतेव धूमकेतोः ॥ ६९ ॥

सवितुरिति ॥ सवितुर्मरीचीन्मयूखान् परिभावुकैस्तिरस्कुर्वद्भिः । 'लषपत–' (३।२।१५४) इत्यादिना उकञ्प्रत्यये 'न लोका–' (२।३।६९) इत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधः । अचिराभ्यक्तस्य सद्यःकृताभ्यङ्गस्य मतङ्गजाङ्गस्य नागदेहस्येव भासो येषां तैस्तथोक्तैः । 'भोभगो–' (८।३।१७) इत्यादिना रोर्यकारस्य 'हलि सर्वेषाम्' (८।३।२२) इति लोपः । अभितः स्फुरद्भिर्जृम्भमाणैरुच्चैरुन्नतैर्जलदैर्धूमकेतोरग्नेः केतनता केतुत्वं विदधे इव विहितेव । धूमकेतोः केतुत्वं प्राप्तमित्यर्थः । उत्प्रेक्षालङ्कारः ॥

सूर्यकी किरणोंको तिरस्कृत करनेवाले, शीघ्र ही स्नान कराये (धोये) गये हाथीके शरीरके समान (श्यामल) कान्तिवाले और चारो ओर स्फुरित होते हुए उन्नत मेघ मानो अग्निकी पताका–जैसे बन गये ॥ ६९ ॥

ज्वलतः शमनाय चित्रभानोः प्रलयाप्लावमिवाभिदर्शयन्तः ।
ववृषुर्वृषनादिनो नदीनां[1] प्रतटारोपितवारि वारिवाहाः ॥ ७० ॥

ज्वलत इति ॥ ज्वलतश्चित्रभानोरग्नेः शमनाय प्रलये कल्पान्ते य आप्लावो 'महापूरस्तमभिदर्शयन्त इवेत्युत्प्रेक्षा । वृषवद्वृषभवन्नदन्ति गर्जन्तीति वृषनादिनः । 'कर्तर्युपमाने' (३।२।७९) इति णिनिः । अत एवोपमा । वारि वहन्तीति वारिवाहा मेघाः । 'कर्मण्यण्' (३।२।१) नदीनां प्रतटेषु प्रतीरेषु आरोपितानि भावितानि वारीणि यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा ववृषुः । प्रलयकालमेघवद्वर्षन्नित्यर्थः ॥ ७० ॥

जलती हुई अग्निको बुझानेके लिए मानो प्रलयकालके आप्लाव (समस्त भूमिको डुबाता हुआ जलप्रवाह–बाढ़) को दिखलाते हुए और साँड़ के समान गरजते हुए मेघ नदियोंके दोनों किनारोंको लांघकर (पानीको बाहर बहाते हुए) बरसने लगे ॥ ७० ॥

मधुरैरपि भूयसा स मेध्यैः प्रथमं प्रत्युत वारिभिर्दिदीपे ।
पवमानसखस्ततः क्रमेण प्रणयक्रोध इवाशमद्विवादैः ॥ ७१ ॥

मधुरैरिति ॥ इतीत्थं पवत इति पवमानो वायुः । 'पूङ्यजोः शानन्' (३।२।१२८) । तस्य सखा पवमानसखः अग्निः । 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' (५।४।९१) । मैत्रीमात्रविवक्षायामयं निर्देशः । स्वसहकारिणी मैत्रीति नियमात्सहकारित्वाविवक्षायां वैपरीत्याद्बहुव्रीहौ तु न समासान्तः । स्वामी तु 'रोहिताश्वो वायुसखः' इत्यसमासान्तपाठेन बहुव्रीहिमाह । अत्रापि तथा पाठे न कश्चिदुपद्रवः । सोऽग्निः

---

१. 'नदीनामतटा–' इति पा० ।

मधुरैः प्रियैरपि विवादैर्विविधवाक्यैः प्रणयक्रोधः प्रणयप्रयुक्तकोप इव मधुरैः स्वादुभिः। अनुद्दीपकैरित्यर्थः। मेघ्यैर्मेघभवैः। 'दिगादिभ्यो यत्' (४।३।५४) वारिभिः प्रथमं वैपरीत्येनापि 'प्रत्युतेति वैपरीत्ये' इति गणव्याख्याने। भूयसा अत्यन्तम्। भृशमित्यर्थः। दिदीपे प्रजज्वाल। ततः क्रमेणाशममचक्लान्तोऽभूत्। शाम्यतेर्लुङि पुषादित्वाच्च्लेरङादेशः। जलाहतोऽग्निरुज्ज्वलितो नश्यति, प्रणयकोपोऽपि प्रियैः भृशायित्वा शाम्यतीति प्रसिद्धम्। उपमा॥ ७१॥

वह अग्नि, मधुर भी अनेकविध वचनोंसे प्रणयकोप (प्रेमपूर्वक किये गये कोप) के समान मधुर (स्वादिष्ट) भी मेघजलसे पहले बहुत प्रज्वलित हो गया और बादमें क्रमसे शान्त हो गया। (अग्निमें पानी पड़ने पर पहले उसका अधिक प्रज्वलित होना और बाद में बुझ जाना सर्वविदित है)॥ ७१॥

परितः प्रसभेन नीयमानः शरवर्षैरवसायमाश्रयाशः।
प्रबलेषु कृती चकार विद्युद्व्यपदेशेन घनेष्वनुप्रवेशम्॥ ७२॥

परित इति। परितः प्रसभेन बलात्कारेण शरवर्षैर्नीरसेकैः। 'शरं नीरे शरो बाणे' इति विश्वः। अवसायमवसादं नीयमानः। कृती कुशलः। आश्रयमश्नातीत्याश्रयाशोऽग्निः। 'कर्मण्यण्' (३।२।१)। प्रबलेषु घनेषु मेघेषु विद्युद्व्यपदेशेन तडिच्छलेनानुप्रवेशं चकार। अस्ताग्निविद्युद्रूपेण मेघेष्वेव प्रविष्टः। बलवताभिभूतस्य विदेशगमनं तदनुप्रवेशो वेति नीतेरिति भावः। अत्र विशेषणसाम्यादुत्तानाप्रकृतं दुर्बलत्वप्रतीतेः समासोक्तिः॥ ७२॥

सब ओरसे बलपूर्वक जलवृष्टियों (पक्षा०—बाणवृष्टियों से नष्ट होता (पक्षा०—मरता, या—पराजित होता) हुआ कृती (बढ़ा हुआ, पक्षा०—चतुर व्यक्ति-विशेष) बिजलीके छलसे मेघोंमें प्रविष्ट हो गया।

विमर्श—प्रबल शत्रुके द्वारा बाणवृष्टियोंसे नष्ट होनेवाला चतुर शत्रु जिस प्रकार भागकर कहीं छिप जाता है, या—उसी शत्रुमें घुस जाता है; उसी प्रकार अग्नि भी अपनेसे प्रबल शत्रुरूप मेघमें घुस गया॥ ७२॥

प्रयतः प्रशमं हुताशनस्य क्वचिदालक्ष्यत मुक्तमूलमर्चिः।
बलभित्प्रहितायुधाभिघातात्त्रुटितं पत्रिपतेरिवैकपत्रम्॥ ७३॥

प्रयत इति॥ प्रशमं नाशं प्रयतः गच्छतः। प्रैतीति प्रयन् तस्य प्रयतः। इणः शतरि यणादेशः। हुताशनस्याग्नेः सम्बन्धि मुक्तमूलं त्यक्तमूलं त्यक्ताश्रयमर्चिर्ज्वाला। 'ज्वालाभासोर्नपुंस्यर्चिः' इत्यमरः। बलभिदा शक्रेण प्रहितस्य प्रयुक्तस्यायुधस्य वज्रस्याभिघातात्प्रहारात्त्रुटितं छिन्नं पत्रिपतेः पक्षिराजस्य गरुत्मत एकं पत्रं

पक्षमिव क्वचिदालक्ष्यत अदृश्यत इत्युपमा। पुरा मातृदास्यविमोकायामृतमाहरता गरुडेनेन्द्रप्रयुक्तवज्रगौरवादेकं पत्रं त्यक्तमित्यागमः ॥ ७३ ॥

नष्ट होते (बुझते) हुए अग्निकी मूलहीन ज्वाला, इन्द्र के द्वारा छोड़े गये वज्रके आघातसे कटे हुए पक्षिराज (गरुड) के एक पङ्खके समान कहीं दिखलायी पड़ती थी ॥

व्यगमन् सहसा दिशां मुखेभ्यः शमयित्वा शिखिनां घनाघनौघाः।
उपकृत्य निसर्गतः परेषामुपरोधं न हि कुर्वते महान्तः ॥ ७४ ॥

व्यगमन्निति ॥ घनाघनौघाः वर्षुकाब्दसमूहाः। 'शक्रवातुकमत्तेभवर्षुकाब्दा घनाघनाः' इत्यमरः। शिखिनमग्निं शमयित्वा सहसा दिशां मुखेभ्यो व्यगमन्नपसस्रुः। गमेर्लुङि 'पुषादि-' (३।१।५५) इति च्लेरङादेशः। तथा हि—महान्तो निसर्गतः स्वभावादेव परेषाम् उपकृत्य उपकारं कृत्वा उपरोधं न हि कुर्वते। महतां निष्फलावस्थानं परोपरोधायेति भावः। सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ७४ ॥

बरसनेवाले मेघ-समूह अग्निको बुझाकर दिशाओंमें सहसा विलीन हो गये, (ऐसा करना उनके अनुरूप ही था, क्योंकि) बड़े लोग स्वभावतः दूसरों का उपकार करके उपरोध नहीं करते (वहाँ ठहरकर अड्डा नहीं जमाते) हैं, किन्तु शीघ्र ही वहाँसे चले जाते हैं ॥ ७४ ॥

कृतदाहमुदर्चिषः शिखाभिः परिषिक्तं मुहुरम्भसा नवेन।
विगताम्बुधरव्रणं प्रपेदे गगनं तापितपायितासिलक्ष्मीम् ॥ ७५ ॥

कृतेति ॥ उदर्चिषोऽग्नेः शिखाभिः ज्वालाभिः कृतदाहं विहिततपनं ततो नवेनाम्भसा मुहुः परिषिक्तं विगता अम्बुधरा एव व्रणा दोषा यस्य तद्गगनं सन्तापितस्तापं प्रापितः स चासौ पायितः पानं कारितः। पिबतेर्ण्यन्तात्कर्मणि क्तः। 'शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक्' (७।३।३७) इति युगागमः। तस्य तापितपायितस्य तप्तसिक्तस्यासेः खड्गस्य लक्ष्मीं प्रपेदे प्राप। इति निदर्शनालङ्कारः अम्बुधरव्रणेति रूपकसंकीर्णः ॥ ७५ ॥

(पहले) अग्निकी ज्वालाओंसे सन्तप्त, तदनन्तर अभिनव जलसे सब ओर सींचा गया और नष्ट हुए मेघरूपी व्रणोंवाले आकाशने पहले तपाये गये और बादमें पानीमें बुझाये गये (अतएव) जङ्गरहित खड्गकी शोभा प्राप्त की ॥ ७५ ॥

इति नरपतिरस्त्रं यद्यदाविश्चकार
प्रकुपित इव रोगः क्षिप्रकारी विकारम्।
भिषगिव गुरुदोषच्छेदिनोपक्रमेण
क्रमविदथ मुरारिः प्रत्यहंस्तत्तदाशु ॥ ७६ ॥

इतीति ॥ इतीत्थं क्षिप्रं करोतीति क्षिप्रकारी शीघ्रप्रयोक्ता, अन्यत्र विकारकारी नरपतिश्चैद्यः प्रकुपितः प्रक्षुभितः सन् यद्यदस्त्रमाविश्चकार रोगो विकारमिव अथ क्रमविस्परिपाटीवेदी मुरारिर्भिषग्वैद्य इव गुरुदोषच्छेदिना गुरुदोषप्रतिघातकेन दोषनिवर्तकेन चोपक्रमेणोपायेन । प्रत्यस्त्रप्रयोगेणेत्यर्थः । अन्यत्र महौषधप्रयोगेण तत्तदस्त्रं आशु शीघ्रम् । तद्विकारमिवेति भावः । प्रत्यहन् प्रतिजघान । हन्तेर्लङ् अदादित्वाच्छपो लुक् 'हल्ङ्याप्' (६।१।६८) इति लोपः । उपमा ॥ ७६ ॥

इस प्रकार (२०१८-७५) शीघ्र बाण चलानेवाले (पक्षा०—विकार करनेवाले) क्षुब्ध राजा (शिशुपाल) ने बिगड़े रोगके समान जिन-जिन विकारोंको प्रकट किया; बड़े-बड़े (विकारों) को दूर करनेवाले उपायसे उन-उन रोगोंको वैद्यके समान क्रमज्ञाता एवं बड़े दोषोंके नाशक श्रीकृष्ण भगवान्ने उन-उन अस्त्रोंको शीघ्र प्रतिहत (नष्ट) कर दिया ॥७६॥

शुद्धिं गतैरपि परामृजुभिर्विदित्वा
बाणैरजय्यमविघट्टितमर्मभिस्तम् ।
मर्मातिगैरनृजुभिर्नितरामशुद्धै-
र्वाक्शायकैरथ तुतोद तदा विपक्षः ॥ ७७ ॥

शुद्धमिति ॥ तदास्मिन्समये विपक्षोऽरिश्चैद्यः परामुत्कृष्टां शुद्धिं लोहशुद्धिं गतैरृजुभिरप्यविघट्टितमर्मभिरस्पृष्टमर्मस्थानैः तं हरिमजय्यं जेतुमशक्यम् । 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' (६।१।८२) इति निपातः । विदित्वा । अथास्मिन्नवसरे मर्माणि अतिगच्छन्तीति मर्मातिगैर्मर्मभेदिभिरनृजुभिर्वक्रैः नितरामशुद्धैरपवित्रैः वाच एव सायकास्तैः वाक्सायकैरिति रूपकम् । तुतोद व्यथयामास । चक्रप्रयोगस्यायमुपोद्घात इति भावः । अत्र वाक्सायकानां प्रसिद्धसाधनव्यतिरेकोक्तेर्व्यतिरेकरूपकयोः सङ्करः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ७७ ॥

(इस प्रकार घनघोर युद्धका वर्णनकर अब शिशुपालपर सुदर्शन चक्र चलाकर भगवान्के द्वारा मारे जानेका उपक्रम करते हुए कहते हैं) उस समय शिशुपाल लोहशुद्धिसे युक्त अर्थात् अत्यन्त अच्छे लोहावाले एवं सीधे भी, मर्मस्थलको विदीर्ण नहीं किये हुए बाणोंसे उन (श्रीकृष्ण भगवान्) को जीतने के लिये अशक्य मानकर अत्यन्त अशुद्ध कुटिल मर्मस्थलको विदीर्ण करनेवाले वाग्बाणों (वचनरूपी बाणों अर्थात् कुवाक्यों) से व्यथित किया ॥ ७७ ॥

राहुस्त्रीस्तनयोरकारि सहसा येनाश्लथालिङ्गन-
व्यापारैकविनोददुर्ललितयोः कार्कश्यलक्ष्मीर्वृथा ।
तेनाक्रोशत एव तस्य मुरजित्तत्काललोलानल-
ज्वालापल्लवितेन मूर्धविकलं चक्रेण चक्रे वपुः ॥ ७८ ॥

राह्विति ॥ येन चक्रेण सहसा झटिति अश्लथो दृढो य आलिङ्गनव्यापारः स एव एको मुख्यः । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । विनोदस्तत्र दुर्ललितयोर्लोलुपयो राहुस्त्रीस्तनयो राहुरमणीकुचयोः कार्कश्यलक्ष्मीः काठिन्यशोभा वृथा व्यर्था अकारि कृता । शिरोमात्रावशेषितस्य राहोरालिङ्गनसुखासम्भवादिति भावः । मुरजिद् हरिः तत्काले तस्मिन्समये लोलाभिश्चलाभिरनलज्वालाभिरग्निदीप्तिभिः पल्लवितेन सञ्जातपल्लवेन । तारकादित्वादितच् । तेन चक्रेण आक्रोशत एव शपमानस्यैव तस्य शिशुपालस्य वपुर्मूर्धविकलं शिरोहीनं चक्रे चकार । शिरश्चिच्छेदेत्यर्थः । कर्तरि लिट् । रत्होः शिरो वपुर्विकलमकारि, अस्य तु वपुः शिरोविकलं कृतमिति तात्पर्यम् । अत्र चक्रवर्णनेऽप्रस्तुताद्राहुस्त्रीकुचकार्कश्यवर्णनात् 'प्रस्तुतत्वेन सम्बन्धस्तत्पर्यायोक्तमुच्यते' इति पर्यायोक्तम् ॥ ७८ ॥

(अब सुदर्शन चक्रसे श्रीकृष्ण भगवान्के द्वारा इस काव्यके मुख्य प्रयोजनभूत शिशुपालके वध किये जानेका वर्णन करते हैं) जिस (सुदर्शन चक्र) ने सहसा गाढ़ आलिङ्गन कार्यरूप मुख्य आनन्दके इच्छुक, राहुकी पत्नीके दोनों स्तनोंकी कर्कशता की शोभाको व्यर्थ कर दिया, श्रीकृष्ण भगवान्ने उस समय चञ्चल अग्निज्वालाओंसे पल्लवित उस सुदर्शन चक्रसे, कुवाक्योंको कहते हुए हीं उस (शिशुपाल) के शरीरको मुखरहित कर दिया अर्थात् शिरको काट दिया ॥ ७८ ॥

श्रिया जुष्टं दिव्यैः सपटहरवैरन्वितं पुष्पवर्षै-
र्वपुष्टश्चैद्यस्य क्षणमृषिगणैः स्तूयमानं निरीय ।
प्रकाशेनाकाशे दिनकरकरान्विक्षिपद्विस्मिताक्षै-
र्नरेन्द्रैरौपेन्द्रं वपुरथ विशद्धाम वीक्षांबभूवे ॥ ७९ ॥

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये श्र्यङ्के शिशुपालवधो नाम विंशतितमः सर्गः ॥ २० ॥

श्रियेति ॥ अथ शिरश्छेदानन्तरं श्रिया शोभया जुष्टं सेवितं दिव्यैर्दिवि भवैः सपटहरवैः सदुन्दुभिघोषैः पुष्पवर्षैरन्वितं क्षणम् । ऋषिगणैः स्तूयमानं तथा चैद्यस्य वपुष्टः शरीरतः । पञ्चम्यास्तसिल् । निरीय निर्गत्य । 'इण् गतौ' इति धातोः 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७।१।३७) प्रकाशेन आकाशे दिनकरकरानर्करश्मीन् विक्षिपत् उपेन्द्रस्येदमौपेन्द्रं वपुर्हरेर्विग्रहं विशत् प्रविशत् धाम शिशुपालतेजो विस्मिताक्षैर्विकसितनयनैर्नरेन्द्रै राजन्यैः वीक्षांबभूवे ईक्षितम् । ईक्षतेः कर्मणि लिट् ।

'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' (३।१।३६) इत्याम्। 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' (३।१।४०) इति भुवोऽनुप्रयोगः 'भावकर्मणोः' (१।३।१३) इत्यात्मनेपदम्। अत्र भगवान् व्यासः—'ततश्चेदिपतेर्देहात्तेजोऽग्र्यं ददृशे नृपैः। उत्पपात यदा राजन् तदा तेजो विवेश च॥ दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः॥' (महाभारते सभा० अध्या० ४५) इति। एतेन भगवद्वपुषोऽपि तदासक्षयवनसा (?) तारक इत्यनुसन्धेयम्। यदाह नारदः—'कामाद्गोप्यो भयात्कंसो द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः। सम्बन्धाद् वृष्णयः स्नेहाद् यूयं भक्त्या वयं प्रभो॥' इति। सूर्यसहस्राभिभाविनः शिशुपालतेजसो हरिशरीरप्रवेशवृत्तान्तस्यालौकिकस्याद्भुतस्य प्रत्यक्षलक्ष्यमाणत्वाद्भाविकालंकारः। तदुक्तम्—'विनापराधेन कृतार्थक (?) पिना भाविकं तदुदाहृतम्' इति। मेघविस्फूर्जिता वृत्तम्। 'रसर्त्वश्वैर्म्यौ न्सौ ररगुरुयुतौ मेघविस्फूर्जिता स्यात्' इति लक्षणात्॥ ७९॥

इति श्रीमहोपाध्यायकोलाचलमल्लिनाथसूरिविरचिते शिशुपालवधकाव्यव्याख्याने सर्वंकषाख्ये शिशुपालवधो नाम विंशतितमः सर्गः॥ २०॥

इस (शिशुपालके शिर काटे जाने) के बाद शोभायुक्त, दुन्दुभिघोषोंके सहित स्वर्गीय पुष्पवृष्टिसे युक्त, क्षणमात्र ऋषियोंसे स्तुत, शिशुपालके शरीरसे निकलकर प्रकाशसे आकाशमें सूर्यकी शोभाको फैलाते हुए, श्रीकृष्ण भगवान्‌के शरीरमें प्रवेश करते हुए तेजको (युद्धमें उपस्थित) राजाओंने आश्चर्यचकित नेत्रोंसे देखा॥ ७९॥

इस प्रकार 'मणिप्रभा' टीकामें 'शिशुपालवध' महाकाव्यका शिशुपालवध' नामक बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ॥ २०॥

अथ कविवंशवर्णनम्

सर्वाधिकारी सुकृताधिकारः श्रीवर्मलाख्यस्य बभूव राज्ञः ।
असक्तदृष्टिर्विरजाः सदैव देवोऽपरः सुप्रभदेवनामा ॥ १ ॥

[1]सर्वाधिकारीति ॥ श्रीवर्मलाख्यस्य राज्ञः श्रीवर्मलाभिधानस्य नृपतेः सर्वाधिकारी अखिलकर्मस्थानाधिकृतो महासेनापतिः सुप्रभदेवनामा बभूव सुप्रभदेवाभिधानोऽभूत्। किंलक्षणः सुप्रभदेवनामा। सुकृताधिकारः सुकृते पुण्ये कर्मण्यधिकारो व्यापारो यस्य स तथा । धर्मेऽवसक्तः । यश्च सुकृत एवाधिकृतः स कथं सर्वाधिकारी । तथा अपरो देवः द्वितीयो राजेव । तत्सादृश्यात् । राजा हि सर्वाधिकारी भवति । अथवा अपरो देवो देवसदृशः । सुरा हि सुकृताधिकृताः, असक्तदृष्टयोऽनिमिषाः, विरजस्का निर्धूलयः । वृत्तमिदमुपजातिः ॥ १ ॥

(महाकवि 'माघ'ने अत्यन्त संक्षेपमें इन पाँच श्लोकोंसे अपने वंशका वर्णन किया है) 'श्रीवर्मल' नामक राजाके 'सुप्रभदेव' नामक सम्पूर्ण अधिकारको प्राप्त (महामन्त्री) हुए, जो पुण्यकार्यके अधिकारी अर्थात् धर्मासक्त, अनासक्त दृष्टिवाले एवं रजोगुणरहित अर्थात् सत्वगुण युक्त दूसरे देव (राजा) के समान थे (पक्षा०—सर्वाधिकारसम्पन्न, पुण्यासक्त निमेष-हीन एवं धूलिस्पर्शसे रहित देवता थे) ॥ १ ॥

काले मितं तथ्यमुदर्कपथ्यं तथागतस्येव जनः सचेताः ।
विनानुरोधात् स्वहितेच्छयैव महीपतिर्यस्य वचश्चकार ॥ २ ॥

काले इति ॥ यस्य सुप्रभदेवस्य काले समये यद्वचनमुपदेशवाक्यं तन्महीपतिर्वर्मलाख्यश्चकार अकरोत् । कः कस्येव वचश्चकारेत्याह—तथागतस्य बुद्धभट्टारकस्य वचो यथा सचेताः प्राज्ञो जनोऽन्वतिष्ठत् । कथंचिन्मन्दादरश्चकार, नेत्याह—कुतः । अनुरोधाद्विना उपरोधभावमृते । कथं चकारेत्याह—स्वहितेच्छयैव स्वस्यात्मनो हितेच्छयानुकूलचिकीर्षया । यतोऽसौ सचेताः प्राज्ञः । किंलक्षणं वचः हितहेतुत्वमाह—मितं स्वल्पाक्षरम् । तथा तथ्यं सत्यम् । अपरं किंलक्षणं वचः । उदर्कपथ्यमायत्यां हितम् । 'उदर्कः फलमुत्तरम्' इत्यमरः । तथागतस्य बुद्धभट्टारकस्य सचेताः

---

१. एतस्य प्रशस्तिश्लोकपञ्चकस्य मल्लिनाथव्याख्यानानुपलब्ध्याऽत्र 'वल्लभदेव' कृतैव व्याख्या दीयते ।

प्राज्ञो जनो मितं तथ्यमुदर्कपथ्यं वचो यथा स्वहितेच्छयैव करोति तथानुरोधात् कृत्वोभयतः किलेदमुक्तमिति ॥ २ ॥

जिस (सुप्रभदेव) के परिमित अक्षरोंवाले, सत्य, परिणाममें हितकारक वचनको अनुरोधके बिना भी अपने हितकी इच्छासे ही राजा (श्रीवर्मल) उस प्रकार ग्रहण करते थे; जिस प्रकार समयपर भगवान् बुद्धके उक्तरूप (उपदेशपरक) वचनको अनुरोधके बिना अपने हितकी इच्छासे ही ज्ञानवान् श्रद्धालु भक्त ग्रहण करता है ॥ २ ॥

तस्याभवद्दत्तक इत्युदात्तः क्षमी मृदुर्धर्मपरस्तनूजः ।
यं वीक्ष्य वैयासमजातशत्रोर्वचो गुणग्राहि जनैः प्रतीये ॥ ३ ॥

तस्येति ॥ तस्य सुप्रभदेवस्य दत्तक इति दत्तकाख्यस्तनूजोऽभवत् पुत्रोऽभूत् । किंलक्षणो दत्तकः । उदात्तो विपुलचित्तः । तथा क्षमाशीलः । अपरं किंलक्षणो दत्तकः । अत एव मृदुरकठोरः । तथा धर्मपरः सुकृतैकसक्तः । यं दत्तकं जनैर्वीक्ष्य लोकैर्दृष्ट्वा वैयासं व्यासस्येदं कृष्णद्वैपायनोक्तमजातशत्रोर्युधिष्ठिरस्य गुणग्राहि गुणग्राहकं वचः प्रतीये वचनं प्रतिपन्नमङ्गीकृतं भवति । सत्यं गुणिनः पुरुषा (?) भगवता कृष्णद्वैपायनेन पार्थस्याधिकार्यस्य वचनं किंचिदुक्तम् । अत्र च दत्तकोऽयं निखिलगुणभाजनं निदर्शनम् । अन्यथा कथमेवंगुणोऽयं स्यात् । क्षमीति शमादित्वाद् घिनुण् । व्यासस्येदं वैयासं वचो भारतम् । वृद्धायभवादित्वादन्यत्र नरस्यासुलभः (?) । गुणान् गृह्णातीति गुणग्राहि । आख्यानकी वृत्तम् ॥ ३ ॥

उस (सुप्रभदेव) का विशाल हृदय, क्षमाशील, मृदु स्वभाव और धर्मनिष्ठ 'दत्तक' नामक पुत्र हुआ; जिसे देखकर लोग व्यासजीके द्वारा कहे गये युधिष्ठिर के गुणवर्णन करनेवाले वचनको सत्य मानने लगे अर्थात् व्यासजीने युधिष्ठिर के जिन गुणोंका वर्णन किया है, इतने वे गुण युधिष्ठिर में अवश्य ही होंगे । इसपर लोगोंको 'दत्तक'के गुणोंको देखनेसे विश्वास हो गया, अन्यथा अब तक लोग यही समझते थे कि मनुष्यमें इतने गुणोंका होना सर्वथा असम्भव ही है ॥ ३ ॥

सर्वेण सर्वाश्रय इत्यनिन्द्यमानन्दभाजा जनितं जनेन ।
यश्च द्वितीयं स्वयमद्वितीयो मुख्यः सतां गौणमवाप नाम ॥ ४ ॥

सर्वेणेति ॥ यश्च दत्तकः स्वयमात्मना सर्वाश्रय इत्येवंभूतं नाम संज्ञान्तरमवाप लेभे । किंलक्षणं द्वितीयं नाम । सर्वेणाखिलेन जनेन लोकेन आनन्दभाजा तुष्टेन सता जनितं कृतम् । अपरं किंलक्षणं नाम । गौणं गुणप्रवृत्तिनिमित्तभूतमागतमर्थानुगम् । सर्वेषामाश्रयत्वात् । यथा हि सर्वे तत्र द्विजदीनानाथातिथिमित्रबान्धवा विश्राम्यन्ति तथासौ सर्वाश्रयः । न तु तैलपायिकावन्नाममात्रेण । अत एवानवद्य-

मनिन्द्यं प्रशस्यं श्लाघ्यम् । किंलक्षणो यः । अद्वितीयः सर्वोत्कृष्टः । अविद्यमानो गुणादधिको गुणो यस्य (?) सोऽद्वितीयः इति कृत्वा । तथा सतां मुख्यः प्रधानोऽग्रणीः । सर्वं स्वेतद्विरुद्धमिवावभासते । यथा हि—यस्य हि द्वितीयं नाम विद्यते कथमसावद्वितीयो भवेत् । यश्च मुख्यः स कथं गौणमप्रधानं स्यात् । यस्य च लोकैरपरं नाम जनितं स कथं तत्स्वयं लेभे । अविरोधस्तु मुख्यः स्यादेव । इति नामस्वरूपमात्रावस्थाप्यमानस्य सर्वाश्रयस्य प्रातिपदिकार्थमात्रे सति कर्मत्वाभावाद् द्वितीयानुपपत्तिः । मुखमिव मुख्यः । 'शाखादिभ्यो यत्' (५।३।१०३) विरोधालङ्कारः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥ ४ ॥

(ब्राह्मण, दीन, बिधवा अनाथ, यति, मित्र, बान्धवादि) सबके आश्रय, अद्वितीय (सबसे श्रेष्ठ) तथा सज्जनोंमें प्रधान जिस (दत्तक) ने आनन्दको प्राप्त किये हुए सब लोगोंसे कथित 'सर्वाश्रय' इस दूसरे गौण (अप्रधान) अनिन्दनीय नामको स्वयं प्राप्त किया (यहाँ दूसरे नाम वालेको अद्वितीय होना, स्वयं नाम प्राप्त करनेवाले को दूसरेके किए हुए नाम को प्राप्त करना एवं मुख्यका गौण होना परस्पर विरुद्ध है, उसका परिहार उक्त अर्थोंसे करना चाहिये) ॥ ४ ॥

श्रीशब्दरम्यकृतसर्गसमाप्तिलक्ष्म
लक्ष्मीपतेश्चरितकीर्तनमात्रचारु ।
तस्यात्मजः सुकविकीर्तिदुराशयाऽदः
काव्यं व्यधत्त शिशुपालवधाभिधानम् ॥ ५ ॥

श्रीशब्देति ॥ तस्य दत्तकस्यात्मजोऽपत्यमद एतत्काव्यं शिशुपालवधाभिधानं शिशुपालवधनामकं काव्यं ग्रन्थरूपं व्यधत्तारचयत् । शिशुपालवध इत्यभिधानं यस्य तत्तथा । केन हेतुना । सुकविकीर्तिदुराशया । सुकवीनां श्रेष्ठविदुषां वररुचि-सुबन्धु-सोमनाथ-भवभूति-क्रीडानन्द कालिदास-विह्लण भारवि-बाण-मयूरादीनां या कीर्तिः ख्यातिर्यशस्तत्र या दुराशा दुरभिलाषस्तया । महाकविकीर्तिलिप्सयेत्यर्थः । दुष्टत्वं त्वाशायाः स्वल्पबुद्धित्वेन सुकविकीर्तेरप्राप्यत्वात् । तथा च कालिदासः—'मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् । प्रांशुलभ्ये फले मोहादुद्बाहुरिव वामनः ॥' (रघुवंशे १।३) इति । किंलक्षणं काव्यम् । श्रीशब्दरम्यकृतसर्गसमाप्तिलक्ष्म । श्रीरित्ययं शब्दो .ध्वनिर्मङ्गलवाचकत्वात् । तेन रम्यं कृतं मनोहरं विहितं सर्गाणां समाप्तौ अर्थादध्यायानां समापने लक्ष्म चिह्नं यत्र तत्तथोक्तम् । अपरं किंलक्षणं काव्यम् । लक्ष्मीपतेः श्रीनारायणस्य कीर्तनमात्रचारु कीर्तनमात्रेण वर्णनमात्रेण चारु मनोज्ञम् । न त्वलङ्कारादिनेत्यनौद्धत्यकथनम् । अन्यथा तु सर्वेऽत्र काव्यगुणाः सन्तीत्युक्तं भवति । श्रीरित्ययं शब्दः । रत्युत्सवे स्वकादित्वात्स-

माघः। श्रीश्चासौ शब्दश्चेति कर्मधारयः केवलमेव। चरितकीर्तनमात्रमित्यस्वपदेन विग्रहः। सुप्सुपेति समासः। वसन्ततिलका वृत्तम्। उदात्तो मध्यमोऽलङ्कारः ॥ ५ ॥

इति कविवंशवर्णनम्।

उस ('दत्तक') के पुत्र (मैं 'माघ' नामक महाकवि) ने प्रत्येक सर्गमें मङ्गलवाचक होनेसे रमणीय 'श्री' शब्दोपलक्षित समाप्ति चिह्नवाले, श्रीकृष्ण भगवान्‌के रमणीय चरितके वर्णनमात्रसे रमणीय (काव्य-सम्बन्धी रीति, अलङ्कार, गुण आदिसे अरमणीय वस्तुतः इन काव्य-सम्बन्धी सद्‌गुणोंसे भी रमणीय) 'शिशुपालवध' नामक काव्यकी (वररुचि, सुबन्धु, सोमनाथ, भवभूति, कालिदास, भारवि, बाण आदि आदि) श्रेष्ठ कवियोंकी कीर्ति को पानेकी दुराशासे रचना की।

विमर्श—इससे महाकवि माघने अपनी लघुताका प्रदर्शन किया है, वास्तविक विचार करनेसे इस 'शिशुपालवध' महाकाव्यमें वररुचि आदि महाकवियोंके ग्रन्थोंके समान ही काव्य-सम्बन्धी सम्पूर्ण गुण पूर्णरूपेण विद्यमान हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ ५ ॥

इस प्रकार 'विहार' प्रान्तीय 'शाहाबाद' मण्डलान्तर्गत 'केसठ' वास्तव्य श्रीपण्डित रामस्वार्थमिश्र तनूज-व्याकरण-साहित्याचार्य, साहित्यरत्न रिसर्चस्कॉलर मिश्रोपाह्व पण्डित श्रीहरगोविन्दशास्त्रिविरचित 'मणिप्रभा' टीकामें माघकविका वंशवर्णन समाप्त हुआ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

परिशिष्ट

पौराणिक कथाएँ

१।४—संसारको निरन्तर पीडित करनेवाला 'गज' नामका एक असुर था, जो मरने पर भी चर्मसे भूमिका स्पर्श होनेपर पुनः जीवित हो जाता था। देवोंकी प्रार्थना करने पर शङ्कर भगवान्‌ने उसे मारकर उसके चर्मको अपने ऊपर धारण कर लिया, अतएव वह पुनः जीवित होकर संसारको पीडित नहीं कर सका।

१।१५—पूर्व कालमें श्रीकृष्ण भगवान्‌ने नारायणरूप धारण कर नररूपधारी अर्जुनके साथ तपस्या की थी, अतएव यहाँ उन्हें चिरन्तन मुनि कहा गया है।

१।२३—श्रीकृष्ण भगवान् प्रलयकालमें सम्पूर्ण जगतका संहार करनेके बाद उसे अपने उदरमें स्थापित करके क्षीरसागरमें सो जाते हैं।

१।४१—इन्द्रादि देवोंको पराजितकर तीनों लोकोंका आधिपत्य पानेके बाद जब असुरराज 'बलि' यज्ञ करने लगा, तब दितिकी प्रार्थनासे भगवान् विष्णु वामनरूप धारणकर उसकी यज्ञशालामें गये तथा उससे तीन पग भूमि माँगकर विराट् रूप ग्रहण कर तीनों लोकोंको तीन पगसे नाप लिए और सपरिवार बलिको पातालमें भेजकर त्रैलोक्यका आधिपत्य इन्द्रको दे दिये। उनके इस सत्कृत्यसे प्रसन्न देवगण उन्हें 'उपेन्द्र' (इन्द्रके छोटे भाई) के पदपर अभिषिक्त कर अपने धाम चले गये। (भागवत स्क. ८, अ. १८–२१)

१।४७—अपनी कठोर तपश्चर्यासे भगवान् शङ्करको प्रसन्न कर हिरण्यकशिपु नामक असुरने उनसे वरदान माँगा कि 'मैं किसी नक्षत्र-लग्न-दिन-रात-पक्ष-मास-वर्षमें, किसी जल-स्थल-नभमें, किसी अस्त्र-शस्त्रसे और किसी देव मनुष्य-असुर-यक्ष-विद्याधर-गन्धर्व-पशु, सरीसृप—साँप, बिच्छू आदि—प्रभृतिसे नहीं मरूं'। शङ्करजीसे 'तथास्तु' कहकर उक्त वरदान पानेके बाद वह अपनेको अवध्य मानकर देवों, महर्षियोंको सताने लगा तथा यज्ञादिको नष्ट करने लगा। यहाँ तक कि ईश्वरके परमभक्त अपने एकमात्र पुत्र 'प्रह्लाद' को भी ईश्वरकी भक्ति नहीं छोड़ने पर अनेक प्रकारसे मार डालनेका प्रयत्न किया और ईश्वर-भक्तिके प्रभावसे उसके सर्वथा सुरक्षित रहनेपर एक दिन गोधूलिके समयमें उसे खम्भे में बाँधकर तलवारसे उसका शिर काटना चाहा। इतनेमें ही भगवान् विष्णुने नृसिंह रूप धारणकर हिरण्यकशिपुको अपनी गोदमें लेकर नखोंसे उसके वक्षःस्थलको विदीर्ण कर डाला।

१।४९—एक बार श्रीशङ्करजीको प्रसन्न कर तीनों लोकोंका राजा होनेके लिए रावण अपने शिरोंको काट–काटकर होम करने लगा, इसप्रकार नव शिरोंको काटकर जब दशवाँ शिर भी काटने लगा तब शिवजीने प्रसन्न होकर उसको इच्छानुसार वरदान दिया।

११५०—एक समय क्रीडासक्त रावण कैलास पर्वतको हथेलीपर उठाकर गेंदकी तरह उछालने लगा। तदनन्तर शिवजीने वाम चरणके अङ्गुष्ठसे उस पर्वतको दबा दिया, जिससे रावणका हाथ उसीके नीचे दब गया और वह अपने हाथको नहीं निकाल सका। तदनन्तर जब उसने 'शिवताण्डव' स्तोत्रकी रचनाकर शङ्करजीकी स्तुति की, तब उसके ऊपर प्रसन्न होकर शिवजीने अपने चरणको हटा लिया, जिससे रावणने अपने हाथको छुड़ाया।

११६७-६८—पिताकी आज्ञासे चौदह वर्षोंके लिए वनवास करते हुए रामचन्द्रकी धर्मपत्नी सीताजीको भगिनी सूर्पणखाका बदला चुकानेके लिए जब रावणने हर लिया, तब वानरराज सुग्रीवके साथ मैत्री कर वानरों तथा भालुओंकी बहुत बड़ी सेनाके साथ वे नल-नील द्वारा तैयार किये गये पुलके मार्गसे समुद्र पारकर लङ्कामें जाकर युद्धमें सपरिवार रावण का वधकर उसके अनुज विभीषणको लङ्काका राजा बनाये और सीताजीको प्राप्तकर चौदह वर्ष पूर्ण हो जानेपर अयोध्या वापस आ गये।

२१३८—विदर्भ देशके राजा भीष्मककी पुत्री रुक्मिणीका विवाह जब शिशुपालके साथ होना निश्चित होगया तब विवाहके एक दिन पूर्व रुक्मिणीने श्रीकृष्णजीके पास ब्राह्मण द्वारा यह सन्देश भिजवाया कि कल मेरा विवाह शिशुपालके साथ होनेवाला है, परन्तु मैं आपको पतिरूपमें पहले ही स्वीकार कर चुकी हूँ, अतः यदि आप आकर मेरे साथ विवाह नहीं करते तो मैं आत्मघात कर मर जाऊँगी। रुक्मिणीका इसप्रकार का आर्तनाद सुनकर भगवान् विदर्भ देश जाकर शिशुपालपक्षके बड़े बड़े योद्धाओंसे सुरक्षित रुक्मिणी जब विवाह समकालीन गिरिजा पूजनकर मन्दिरसे वापस लौट रही थी, उसी समय उसे अपने रथपर बैठाकर द्वारका ले आये। इसप्रकारके रुक्मिणीहरणसे जरासन्ध आदि योद्धा लोग बहुत कष्ट हुए। (भाग० स्कन्ध १०, अ० ५२–५३)

२१३९—भौमासुर (नरकासुर) के वधकी कथा भागवतके दशमस्कन्धके उनसठवें अध्यायमें देखिये।

२१४०—'बभ्रु' यदुवंशी राजा थे, जब उनकी पत्नी सौवीर देशको जा रही थी, तब उसे देखकर शिशुपाल काममोहित हो गया और बलात्कार उसे हरणकर अपने यहाँ ले आया। यह कथा महाभारतके सभापर्वमें वर्णित।

२१४१—समुद्र-मन्थनके समय निकले हुए अमृत-कलशके लिये देवों और असुरोंमें झगड़ा होने पर विष्णुभगवान् मोहिनीरूप धारण कर वहाँ उपस्थित हो गये। उस मोहिनी रूपको देखकर देव-असुर दोनों मोहित होकर मोहिनीरूपके कहनेमें आ गये। अनन्तर अमृत-भोजनके लिये पृथक्-पृथक् पंक्तिमें बैठाये गये देवासुरोंके बीचमें अमृत परोसते हुये मोहिनीरूप धारी भगवान्ने सभी अमृतको देवोंकी पंक्तिमें ही परोस डाला और शीघ्रतासे देवलोग उसे चाट गये। संयोगसे धूर्त राहु भी उस समय देवगणकी पंक्तिमें ही बैठ कर अमृत-पान कर रहा था, यह देख सूर्य और चन्द्रके संकेत करने पर भगवान्ने राहुके

शिर काट डाला। किन्तु अमृतपान करनेके कारण उसका शिर जिन्दा ही रह गया और उसी वैरसे वह सूर्य और चन्द्रको ग्रहणके समय ग्रसित करता है। (भा. स्क. ८, अ. ८,९)

२।६०—जरासन्ध मगध देश का महाबली राजा था। जब युधिष्ठिर यज्ञ आरम्भ करने वाले थे तब एक उसे ही जीतना बाकी रह गया था। श्रीकृष्ण भगवान् उनसे परामर्श कर जरासन्धको जीतनेके लिए भीमसेन तथा अर्जुनको साथमें लेकर मगध देश गये और वहाँ जाकर उसके उचित आतिथ्य करनेके बाद उसके पूछने पर कहा कि हम क्षत्रिय हैं, तथा तुमसे युद्ध करना चाहते हैं, तुम हम तीनोंमें-से चाहे किसी एकके साथ मल्लयुद्ध करनेके लिए तैयार हो जाओ। उनके ऐसा कहने पर महाभिमानी जरासन्धने भीमके साथ मल्लयुद्ध करना पसन्द किया और अखाड़ेमें जाकर लगातार दिनरात तृणपीड, पूर्णयोग, समुत्क्षिप्त-आदि दाव-पेंच करते हुए तेरह दिन तक युद्ध किया। उसको कुछ श्रान्त देखकर श्रीकृष्णजीने भीमसे कहा—'वीर पाण्डुनन्दन! थके हुए शत्रुको अधिक दबाना अनुचित है, ऐसा करनेसे तो वह शीघ्र ही मर जायगा'। भीमसेन उनका संकेत समझ गये, अवसर पाकर उसे ऊपर उठाकर सौ बार घुमानेके बाद पृथ्वीपर पटक दिया और उसके एक पैरको उठाकर दूसरा पैर दबाकर उसे चीर कर मार डाला। (महाभारत सभापर्व)

२।६१—जब बाणासुरके साथ श्रीकृष्ण भगवान् युद्ध कर रहे थे, उस समय भक्तवत्सल भगवान् शङ्करजी भी अपने भक्त बाणासुरका पक्ष लेकर युद्ध करने लगे, किन्तु श्रीकृष्ण भगवान्के सामने उनकी शक्ति नहीं चली वे पराजित हो गये।

४।२—पूर्वकालमें विन्ध्य पर्वत बहुत ऊँचा था, उससे सूर्यके मार्गको अवरुद्ध हो जाने की आशङ्कासे देवता लोग महर्षि अगस्त्यजीके पास जाकर उनसे प्रार्थना किये कि—'भगवन्! आपका शिष्य विन्ध्यपर्वत इतना बढ़ रहा है कि कुछ समयके बाद सूर्यका मार्ग ही अवरुद्ध हो जायगा और वैसा होने पर जगके प्राणी अतिशय पीड़ित हो जायेंगे, अतएव कृपाकर आप वहाँ चलें और विन्ध्य पर्वत जब आपको साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करे, तब आप उससे यह कहकर दक्षिण दिशामें सदाके लिए चले जाँय कि 'जबतक मैं दक्षिण दिशासे वापस नहीं लौटूँ, तब तक तुम इसी तरह भूमिपर पड़े रहो।' आपके ऐसा करनेसे ही लोकरक्षा होगी'। देवताओंके कहनेके अनुसार महर्षि अगस्त्यजीके कार्य करने पर विन्ध्य पर्वतके द्वारा फिर सूर्यके मार्गको अवरुद्ध होने का सङ्कट सदाके लिए दूर हो गया।

५।३१—पूर्वकालमें सभी पर्वत पङ्खवाले होते थे, अतएव वे उड़कर एक स्थानसे दूसरे स्थान पर जाया करते थे, जिससे उनके नीचे दबकर बहुतसे ग्राम नगरादि नष्ट हो जाते थे। इस प्रकार अकारण सृष्टि का क्षय होते देखकर देवोंकी प्रार्थनासे इन्द्रने पर्वतोंके पङ्खों को वज्रसे काट डाला, किन्तु उसके पहले ही कुछ पर्वत उड़कर समुद्रमें जा छिपे। छिपे हुए उन पर्वतोंमें मैनाक नामक पर्वतकी कथा पुराणोंमें वर्णित है।

५।६६—कद्रू तथा विनता दोनों सपत्नी थीं, कद्रू सर्पोंकी तथा विनता पक्षिराज गरुड़ की माता थी। समुद्रमन्थनसे अमृतोंके साथ उच्चैःश्रवा घोड़ेके निकलनेपर कद्रूसे विनताने

कहा कि यह घोड़ा शुभ्रवर्ण है, यह सुन कद्रूने कहा—हाँ घोड़ा तो शुभ्रवर्ण है किन्तु इसकी पूँछ कृष्ण वर्ण है, यदि तुम इस बातपर विश्वास नहीं करती तो आओ हम दोनों बाजी लगावें, इसमें जो हार जायेगी वह विजयिनीकी दासी होकर रहेगी। ऐसी बाजी लगानेके बाद कद्रूने अपने पुत्रोंसे कहा—तुमलोग उच्चैःश्रवा घोड़ेकी पूँछमें इस प्रकार परस्परमें सटकर लिपट जाओ कि उसकी पूँछ शुभ्रके स्थानमें कृष्ण वर्ण दीखने लगे। माताका आदेश सुन आज्ञाकारी बहुतसे सर्पोंने वैसा ही किया। फिर उच्चैःश्रवाको देखनेके लिए जब विनता तथा कद्रू आयीं, तब उसकी पूँछ को कृष्णवर्ण देखकर विनता अपनेको पराजित मानकर उसकी दासी बन गयी। कुछ समय बीतने पर मातासे दासी बननेका हाल जानकर सर्पोंसे गरुडने पूछा कि 'तुम लोगोंका मैं कौन-सा अभीष्ट-साधन करूं जिससे मेरी माता तुम लोगोंकी माता कद्रूके दासीत्वसे मुक्त हो जाय?' यह सुनकर सर्पोंने गरुडसे कहा कि 'यदि तुम हमलोगोंके लिए स्वर्गसे अमृत ला दोगे तो हमारी माता तुम्हारी माता को दासीत्वसे मुक्त कर देगी'। यह सुन अमृत लानेके लिए जाते हुए गरुड़ने मातासे पूछा कि-माता मैं तुम्हें दासीत्वसे मुक्त करनेके लिए स्वर्गसे अमृत लाने जा रहा हूँ, परन्तु सुदूर 'मार्गमें क्या खाऊँगा?' । गरुडको आशीर्वाद देती हुई विनताने कहा कि—'पुत्र तुम्हारा सदुद्देश्य पूर्ण हो, मार्गमें निषादोंका ग्राम है, तुम उन्हें ही खाना, किन्तु ब्राह्मण को मत खाना। जिसके खाने पर तुम्हारा कण्ठ गर्मीसे जलने लगे, उसे तुम ब्राह्मण जानना।' मातासे शुभाशीः प्राप्तकर अमृतके लिए जाते हुए गरुडने मार्गमें निषादोंके ग्रामको देखा और बहुत भूखे होनेके कारण उन्हें खाने लगे। उन निषादोंमें निषादोंके साथ रहकर उन्हीं की जीविका करता हुआ एक ब्राह्मण भी रहता था। निषादोंको खाते हुए गरुड ने उस ब्राह्मणको भी मुखमें डाल लिया, किन्तु मुखमें डालते ही गरुडका कण्ठ जलने लगा और उन्होंने उसे ब्राह्मण जानकर झट उगल दिया। (महाभारत आदिपर्व)

५।६९—'व्रज-निवासी गोप लोग वृष्टि होनेके लिए प्रत्येक वर्ष इन्द्रकी पूजा किया करते थे' यह बात नन्दजीसे मालूमकर श्रीकृष्णजीने नन्दसहित ग्रामवासियोंको समझाकर गिरिराज गोवर्धनकी पूजा करनेके लिए सबको राजी कर लिया। तदनुसार दूसरे दिन बहुविध पकवान बनाकर श्रीकृष्ण सहित नन्दजी एवं नगरवासी गिरिराज गोवर्धनपर जाकर उनकी षोडशोपचार पूजा करके समस्त पकवानोंको अर्पण कर दिया और भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं दूसरा विशालरूप धारणकर गोवर्धन पर्वतपर बैठकर समस्त भोज्यसामग्रीका भोग लगाने लगे। उस समय श्रीकृष्णने नागरिकोंको यह समझाया कि स्वयं गिरिराज प्रकट होकर भोग लगा रहे हैं। इस प्रकार उनके कहनेपर श्रद्धा-भक्तिसे युक्त नागरिकों तथा नन्दजीके साथ श्रीकृष्ण भगवान्ने भी गिरिराजपर बैठे हुए अपने दूसरे रूपको प्रणामकर पूजन समाप्त किया और सब लोग आनन्दमग्न हो अपने-अपने घरको चले गये। जब इन्द्रको यह पता लगा कि श्रीकृष्णने मेरी पूजाको बन्द करा दिया है तब वे बहुत क्रुद्ध हुए तथा चतुर्विध मेघोंको आदेश दिया कि तुम लोग मूसलाधार पानी बरसा

कर व्रजको बहा डालो। उनके आदेशसे मेघ झंझावातके साथ मूसलाधार पानी बरसाने लगे, जिससे वहाँ निवास करनेवाली जनता इन्द्रकोपसे ऐसी घनघोर प्रलयङ्कारी वृष्टि होते हुए जानकर श्रीकृष्णजीकी शरण में गयी। यह देखकर श्रीकृष्ण भगवान्‌ने आश्वासन देकर गोवर्धन पर्वतको जड़से उखाड़ा और उसे अपने बायें हाथकी कनिष्ठा अङ्गुलिपर उठाकर नागरिकोंको अपने-अपने परिवारों एवं गायों तथा बछड़ोंके साथ उसके नीचे आकर आत्म-रक्षा करनेके लिए कहा। उनके वैसा ही करने पर अनेक दिन निरन्तर मूसलाधार बरसते हुए मेघोंसे भी जब व्रजवासियोंकी लेशमात्र भी हानि नहीं हुई, तब इन्द्रका दर्प चूर्ण हो गया और उनके आदेशसे वृष्टि भी बन्द हो गयी। (भा. स्क. १० अ. २४–२६)

८।६४—असुरोंसे बार-बार पराजित इन्द्रादि देव, ब्रह्मा तथा शङ्करजीके साथ वैकुण्ठ जाकर विष्णुभगवान्‌से अपना दुःख निवेदन किये और उनकी अनुमतिसे ही असुरोंके साथ क्षणिक मेल कर वासुकिको रस्सी तथा मन्दराचलको मन्थनदण्ड बनाकर समुद्र-मथन किये, जिससे अमृतादि १४ रत्नोंमें लक्ष्मी भी निकली। (भा. स्क. ५, अ. ५–८)

९।१४—भविष्य महापुराणमें यह कथा मिलती है कि सृष्टिकर्ता ब्रह्माने पितरोंकी रचना करके अपनी उस मूर्तिका त्याग कर दिया, वही सन्ध्यारूपसे प्रातः तथा सायंकाल में आकर जनता द्वारा पूजित होती है।

९।८०—एतदर्थ ५।२९ की पौराणिक कथा देखिये।

११।३—श्रीकृष्ण भगवान्‌के अङ्गपरिवर्तनोत्सवके दिन नन्दरानी यशोदाजी उनका ब्राह्मणोंके द्वारा स्वस्त्ययन एवं मङ्गलाभिषेकादि कर्म समाप्तकर उन्हें सुला दिया और स्वयं वहाँ पर आयी हुई गोपियोंके साथ ब्राह्मण भोजनादिकी सामग्री बनानेमें संलग्न हो गयीं। बालक श्रीकृष्णजी एक छकड़ेके नीचे सोये थे। वह छकड़ा दूध-दही-मक्खनके भाण्डोंसे लदा हुआ था। स्तन्यपानके लिए रोते हुए श्रीकृष्णजीका रोना गृहकार्यमें व्यस्त यशोदाजीने जब नहीं सुना तब वे रोते हुए पैर उछालने लगे और उनके पैर की ठोकरसे वह छकड़ा उलट गया, उसपरके रखे हुए दूध आदिके बर्तन फूट गये एवं दूध आदि भी गिर पड़े। उनका शब्द सुनकर गोपियोंके साथ यशोदाजी आयीं और वहाँ पर खेलते हुए गोपबालकोंसे उन बालकृष्णके पैरकी ठोकर द्वारा छकड़ेके उलटनेपर विश्वास नहीं करके उसे ग्रहोपद्रव समझकर उन्होंने ब्राह्मणोंसे शान्ति-स्वस्त्ययनादि करवाया। (भागवतसे उद्धृत)

११।८—विष्णुभगवान्‌के आदेशसे मन्दराचल पर्वतको मथनी तथा सर्पराज वासुकिको रस्सी बनाकर देवासुरोंने क्षीरसमुद्रको मथकर उससे चन्द्रादि चौदह रत्नोंको निकाला था।

११।५६—कठिन तपस्यासे तुष्ट श्रीशङ्करजीसे वरदान पाकर जगतको पीड़ित करनेवाले वृत्रासुरको मारनेके लिए श्रीविष्णु भगवान्‌की आज्ञासे महर्षि दधीचिसे इन्द्रने उनकी हड्डी माँगी और लोकोपकारार्थ की गई इन्द्रकी याचनाको स्वीकारकर महर्षिने जब योगबलसे शरीर-त्याग कर दिया, तब इन्द्रने उनकी हड्डियोंसे वज्र बनाकर वृत्रासुरको मारा।

११।५६—बलके गर्वसे लोकको पीड़ित करनेवाले 'मधु' नामक दैत्यको मारकर देवताओंको उसके भयसे मुक्तकर प्रलयकालमें श्रीविष्णु भगवान् एकान्त क्षीरसमुद्रमें निश्चिन्त होकर शयन करते हैं।

१२।१७—बहुत पहले समयमें घोड़ोंको भी पंख होते थे और वे बिना भूतलका स्पर्श किये ही आकाशमें चलते थे। किसी कारणसे देवताओंने उनके पङ्खोंको कटवा दिया।

१२।३६—पुराणोंमें अनेक प्रकारसे प्रलय होनेका वर्णन किया गया है, उनमें एक यह भी वर्णन है कि समुद्रका पानी इतना अधिक बढ़ जाता है कि वह तटप्रान्तको लाँघकर भूतलमात्रको प्लावित कर देता है। इस प्रकारका जलप्रलय होनेपर समुद्र मर्यादाहीन हो जाता है और संसार उसी समुद्रमें डूब जाता है।

१२।६९—अश्वमेध यज्ञ करनेवाले राजा सगरके साठ सहस्र पुत्र इन्द्रद्वारा यज्ञाश्वको कपिलमुनिके आश्रममें चुराकर बाँध देने पर उसे खोजते हुये उक्त आश्रममें पहुँचकर यज्ञाश्वकी चोरी करनेवाला उन्हीं मुनिराजको जानकर पदाघातसे उनका तिरस्कार किया, जिससे क्रुद्ध मुनिराजके नेत्रसे निकली हुई अग्नि-ज्वालासे वे साठ सहस्र सगरपुत्र वहीं भस्म हो गये। उनकी सद्गतिके लिये सगर, अंशुमान तथा भगीरथकी घोर तपस्यासे गङ्गाजी भूतलपर आयीं। उन्हीं गङ्गा तथा समुद्रके संगमस्थानका नाम 'गंगासागर' है।

१३।१२—वामनरूप धारण करनेका कथा–प्रसङ्ग ११४१ की पौराणिककथामें देखिए।

१३।१५—वज्रसे पर्वतोंके पङ्ख काटे जानेका कथाप्रसङ्ग ५।११ की पौराणिक कथामें देखें।

१३।१९—त्रिपुरासुरको मारनेके लिए जब शङ्कर भगवान् रथपर सवार होकर चले, तब ब्रह्माने उनका सारथ्य ग्रहण किया था।

१३।५०—एकसमय विशालतम यज्ञमें अजीर्ण होनेके कारण खाण्डव वनको अग्निदेव जब जलाने लगे, उस समय उसमें रहनेवाले 'मय' नामक दानवको अर्जुनने जलनेसे बचा लिया। इस कार्यसे प्रसन्न उस दानवने उनके लिए विविध मणिखचित सर्वोत्तम महल बनाया।

१३।५२—आश्रममें आनेपर जब परशुरामजीको ज्ञात हुआ कि उनके पिताका शिर सहस्रार्जुनने काट लिया है, उसी समय क्रुद्ध होकर उन्होंने पृथ्वीको क्षत्रियहीन कर उनके रक्तसे पितृतर्पण करनेकी कठिन प्रतिज्ञाकी और उसे मारकर इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियरहित कर उनके रक्तमय जलसे पाँच तड़ागोंको पूर्णकर पितरोंका तर्पण किया।

१४।१४—कल्पान्तमें श्रीविष्णु भगवान् वराहका रूप धारणकर रसातलमें धँसी हुई पृथ्वीको अपने दाँतपर उठाकर जब बाहर ला रहे थे तब हिरण्याक्षने उन्हें बीचमें ही रोक दिया, तदनन्तर उन्होंने उसे मारकर पृथ्वी का उद्धार किया।

१४।२५—इन्द्रका शत्रु वृत्रासुर उन्हें मारनेके लिये यज्ञ करने लगा, उस यज्ञमें ऋत्विजोंको 'इन्द्रशत्रुर्वर्द्धस्व स्वाहा' के मन्त्रमें 'इन्द्रस्य शत्रुः=इन्द्रशत्रुः' ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास विग्रहकर पूर्वपदप्रकृतिस्वरका प्रयोग करना समुचित था, किन्तु उन ऋत्विजोंने

इन्द्रश्चासौ शत्रुः = इन्द्रशत्रुः, ऐसा कर्मधारयसमास-परक विग्रहकर 'इन्द्रशत्रु' शब्दमें अन्तोदात्तका प्रयोग कर दिया, उसका परिणाम यह हुआ कि इन्द्रकी रक्षा हो गयी और यज्ञकर्ता वृत्रासुर ही मारा गया।

१४।४३—इस सम्बन्धमें १४।१४ की पौराणिक कथा देखें।

१४।६८—पूर्व कालमें योगनिद्रामें सोये हुए श्रीविष्णु भगवान्‌को ब्रह्माने जगाया। तदनन्तर ब्रह्मकृत स्तुतिसे प्रसन्न होकर उन्होंने ब्रह्माको मारनेके लिए उद्यत मधु तथा कैटभको मार दिया। यह कथांश मार्कण्डेय पुराण में है।

१४।७१—इसकी कथाको १४।१४ में और १४।७२—के कथाप्रसङ्गको १।४७ में देखें।

१४।७४-७७—के प्रसङ्गको १।४१ में और १४।७५—के कथाप्रसङ्गको २।४२ में देखें।

१४।७९—लक्ष्मी, पार्वती एवं सरस्वतीके सतीत्वाभिमानको नष्ट करनेके लिए विष्णु, शिव तथा ब्रह्मा साधुका वेष धारणकर परम सती अनुसूयाके पास आये। उसने उन लोगोंका अर्घ-पाद्यार्घ आदिसे अभ्यागतोचित सत्कारके बाद भोजन-सामग्री तैयारकर भोजन करनेके लिए प्रार्थना की। तदनन्तर उन लोगोंने कहा कि यदि तुम नग्न होकर हम लोगोंको भोजन कराओ तब हम लोग तुम्हारे यहाँ भोजन करेंगे, अन्यथा भूखे ही तुम्हारे यहाँसे चले जायेंगे। पर पुरुषके सामने नग्न होना या तीन साधु अतिथियोंका भूखे चले जाना परम सती अनुसूयाके लिए यह विकट समस्या उपस्थित हो गयी। तदनन्तर उसने ध्यानकर उनलोगोंको जगद्व्यापकत्ववेषमें जानकर उनपर कमण्डलुका जल छिड़क दिया, जिससे वे तीनों तत्काल शिशु हो गये और अनुसूया नग्न होकर उन्हें भोजन कराने लगी। यह घटना देख लक्ष्मी आदिने सतीत्वाभिमान छोड़कर अनुसूयाकी स्तुति की, जिससे प्रसन्न होकर पुनः उन्हें पूर्वरूपमें परिणत करनेके उपरान्त उन तीनोंके कहनेसे वर-दान माँगा कि जिस प्रकार आप लोग मेरे अङ्कमें शिशुरूप होकर क्रीडा किये हैं, उसी प्रकार पुनः मेरा शिशु होवें। वे तीनों 'तथास्तु' कहकर अपने लोकको चले गये और विष्णु भगवान्‌ने दत्तात्रेयके रूपमें अनुसूयाके गर्भसे उत्पन्न होकर नष्टप्राय वेदका पुनरुद्धार किया।

१४।८०—कार्तवीर्यके परशुरामजीके द्वारा मारे जानेका कथाप्रसङ्ग १३।५२ में देखें।

१४।८१—रावणवधादिकी कथा १।६७ में देखिये।

१४।८४—सत्यभामाके प्रार्थना करनेपर भगवान् श्रीकृष्ण स्वर्गलोक जाकर देवोंको पराजितकर वहाँसे 'पारिजात' नामक देववृक्षको उखाड़ लाये थे।

१४।८५—जन्मकालमें शिशुपालके तीन नेत्र तथा चार बाहु थे। उसके इस अद्भुत रूपको देखकर जब लोग आश्चर्यित होने लगे, तब आकाशवाणी हुई कि जिसकी गोद में रखते ही इस बालकका एक नेत्र तथा २ बाहु अदृश्य हो जायेंगे, उसीके हाथसे इसको मृत्यु होगी। अनेकानेक भूपतियोंकी गोदमें रखनेपर भी उसका एक नेत्र तथा दो बाहु अदृश्य नहीं हुए। एक समय श्रीकृष्ण भगवान् शिशुपालकी माता—जो उनकी फूआ लगती थीं—के यहाँ गये, उस समय उनकी गोदमें शिशुपालको उसकी माताने रखा और तत्काल उसका

एक नेत्र तथा दो बाहु अदृश्य हो गये। यह देख उनसे ही अपने पुत्रकी मृत्यु जानकर सात्वती—श्रीकृष्णकी फूआ—ने अपने पुत्रको नहीं मारनेके लिए जब प्रार्थना की, तब उन्होंने उसके सौ अपराधोंको क्षमा करनेके लिए कहा।

१४।८६—तथा १५।१५ वराहसम्बन्धी कथांशको १४।१४ में तथा गोप-सम्बन्धी कथांश को ५।६९ में देखिये।

१५।८ तथा २३—की कथाको १४।८५ में देखें।

१५।२४—मुचुकुन्द नामके राजाको देवताका वरदान प्राप्त था कि जो व्यक्ति तुम्हारे सोनेमें बाधा पहुँचावेगा वह तुम्हारे देखनेमात्रसे भस्म हो जायगा। २।६० में यह कथा देखिये।

१५।२८—वामनावतारकी कथा १।४१ में देखें।

१५।२९—श्रीकृष्णजीने कल्पान्तमें पृथ्वीको धारण किया था, अतएव उनका नाम 'भूभृत' कहलाया; इस कथाप्रसङ्ग को १४।१४ में देखिये।

१५।३०—श्रीकृष्णजीके पर्वत धारण करनेकी कथा ५।६९ में देखें।

१५।३१—यह कथा २।३९ में देखें।

१५।३५—असुरराज कंस की आज्ञासे वत्सका रूप धारण कर जब गोकुलमें अरिष्टासुर पहुँचकर उपद्रव करने लगा, तब श्रीकृष्णजीने उसे असुर जान कर मार डाला।

१५।३६—कंसकी आज्ञासे पूतना नामकी राक्षसी सुन्दरीका रूप धारणकर और अपने स्तनोंमें विष लगाकर मथुरामें गयी और बच्चोंको दूध पिला-पिलाकर मारने लगी, उस समय श्रीकृष्णने उसका दूध पीते हुए उसे मार डाला।

१५।३७—शकटासुरवध तथा गोवर्धनधारणकी कथा ११।३ तथा ५।६९ में देखिये।

यमलार्जुनभङ्गकी कथा यह है कि एक बार नन्दरानी बालक श्रीकृष्णजीपर क्रुद्ध होकर उन्हें ओखलीमें बाँधकर कार्यान्तर करनेमें लग गयीं। इधर श्रीकृष्णजी घुटनेके बल चलते एवं ओखलीको घसीटते आँगनमें परस्पर सटे दो वृक्षोंके बीचसे पार हो गये और ओखली उन पेड़ोंके बीचमें अटक गयी। श्रीकृष्णजीने जब ओखलीको ज़ोर लगाकर खींचा तो वे दोनों पेड़ गिर गये। ये दोनों पेड़ गन्धर्व थे और देवशापसे वृक्षरूपमें उत्पन्न हुए थे।

१५।१७ से २६ क्षेपक—इन दश श्लोकोंके कथांशोंको क्रमशः १४।१४, १।४७, १।४१, ५।६७-६८, ११।३०।१५।३६, १५।३७, ११।५६ और १५।३५ में देखना चाहिये।

१५।२७ क्षेपक—केशी नामक असुरने घोड़ेका रूप धारणकर मथुराके दो मार्गोंमें दौड़ता हुआ जब अनेक गोपबालकोंका वध कर दिया और श्रीकृष्णजी को भी काटनेके लिए मुख फैलाया तब उन्होंने उसके मुखमें अपना हाथ ठुसेड़ कर उसे ही मार डाला।

१५।२८-२९ क्षेपक—इन दोनों कथांशोंको ५।६९ में देखें।

१५।३० क्षेपक—कंसने कपटपूर्वक श्रीकृष्णजी को अपने यहाँ बुलवाकर उन्हें जब 'कुवलयापीड' नामक मतवाले हाथीके पैरोंसे कुचलकर मरवा डालनेका आदेश दिया, तब उन्होंने उसी हाथीके दाँत उखाड़ कर उसे मार डाला।

१५।३१ क्षेपक—जब कृष्णजीने कुवलयापीड हाथीको मार दिया तब 'चाणूर' नामक पहलवानको कंसने आज्ञा दी कि कृष्णको मल्लयुद्ध में मार डालो, किन्तु उनके साथ युद्ध करता हुआ स्वयं चाणूर ही उनके हाथसे मारा गया।

१५।३२ क्षेपक—श्रीकृष्णजीको मारनेके लिये किये गये सभी प्रयत्नोंके असफल होने पर कृष्णने राजसभामें कंसके केशों को पकड़कर उसे मार डाला।

१५।५३—इस कथाप्रसङ्गको २।३८ में तथा १६।८-की कथाको १५।३५ में देखें।

१६।४८ तथा ४९—सौ अपराधोंको क्षमा करनेका कथाप्रसङ्ग १४।८५ में तथा रुक्मिणीहरणका कथाप्रसंग २।२८ में देखना चाहिये।

१६।८०—इस कथांश को १२।३६ में और १६।८१—यह कथांश १४।१४ में देखिये।

१७।४७—की कथाको १।२३ में और १८।१ की कथा को ५।३१ में देखें।

१८।६—अनेक प्रकारसे होनेवाले प्रलयोंमें प्रलयका एक प्रकार यह भी शास्त्रोंमें वर्णित है कि इतनी तीव्र हवा चलती है कि पर्वत परस्पर एक दूसरेसे टकराने लगते हैं और उनके मध्यमें पड़नेसे जगत्के जीवादि चूर्णित होकर नष्ट हो जाते हैं।

१८।२५—इस कथाभागको १४।१४ में देखना चाहिये।

१८।४०—(क) पुराणोंमें लिखा है कि बाह्य सृष्टि करनेकी इच्छा करनेवाले ब्रह्मा पहले आभ्यन्तर सृष्टि देखनेके लिये विष्णुभगवान्के उदरमें प्रविष्ट हुए थे।

(ख) महान् तपस्वी मार्कण्डेय मुनिको इच्छा हुई कि मैं प्रलयकालका दृश्य देखूँ। एतदर्थ अपनी तपश्चर्यासे भगवान्को सन्तुष्टकर उन्होंने अपनी इच्छाकी पूर्तिके लिए उनसे वरदान पाया और उनके उदरमें प्रवेशकर प्रलयका दृश्य देखा।

१८।५०—अपनी बहन 'देवकी' की सन्तानसे अपनी मृत्यु होना जानकर कंसने अपने बहनोई-'वसुदेव'-के सहित 'देवकी' को कैद कर लिया और उत्पन्न होते ही उसकी सन्तानों को मारने लगा। इस प्रकारका क्रम चालू रहनेपर श्रीकृष्ण भगवान्का वहीं कारागारमें जन्म हुआ और उनके प्रभावसे वसुदेवने श्रीकृष्ण जीको नन्दके यहाँ गोकुल पहुँचा दिया तथा उसी समय नन्दपत्नी 'यशोदा' के उदरसे उत्पन्न कन्याको रातोरात लाकर कंसको समर्पित कर दिया। तदनन्तर कंसने उस कन्याको ऊपर उठाकर भूमिपर पटक दिया किन्तु वह भूमिपर नहीं गिरकर चण्डिकारूपिणी होकर यह श्लोक कहती हुई आकाशकी ओर चली गयी :—

'नन्दगोपगृहे जाता यशोदागर्भसम्भवा।
ततस्तौ नाशयिष्यामि विन्ध्याचलनिवासिनी॥'

१८।७०—इस कथाको १३।५२ में देखिये।

५२ शि०

१९।५४—दक्षप्रजापतिने अपने यज्ञमें शिवजीको निमन्त्रित नहीं किया और अपनी पुत्री 'सती'को भी नहीं बुलाया। किन्तु जब सतीको यह ज्ञात हुआ कि मेरे पिताजी यज्ञ कर रहे हैं, तब वे पहले शिवजीके निषेध करनेपर भी बादमें उनसे अनुमति पाकर यज्ञमें गयीं और वहाँ जाकर सतीने देखा कि इसमें सभी देवोंको यथोचित यज्ञभाग दिया गया है, किन्तु शिवजीका यज्ञभाग नहीं है। यह देख परमपतिव्रता सती ने पतिके अपमानसे अत्यन्त क्रुद्ध होकर योगाग्निमें अपने शरीरको वहीं भस्म कर डाला। स्वामिनीको इस प्रकार नष्ट होनेसे उनके साथमें आये हुए वीरभद्र—जो शिवजीके अन्यतम गण थे—वहाँपर उपस्थित सदस्योंपर बहुत ही क्रुद्ध होकर यज्ञको नष्ट-भ्रष्ट करने लगे।

१९।९८—वराह-लीलाका कथाप्रसङ्ग १४।१४ में देखना चाहिये।

१९।१०७—पिताकी आज्ञासे चौदह वर्षके लिए वनवास करते हुए रामकी सहधर्मिणी सीताजीका अपहरण जब रावणने कर लिया, तब उनके विरहमें एवं उनको ढूंढते हुए रामजीने वानरराज सुग्रीवके बड़े भाई वालीको मारनेका वचन देकर उनके साथ मित्रता कर ली और सुग्रीवके कहनेसे सात तालवृक्षोंको एक बाणसे गिराकर सुग्रीवको यह विश्वास उत्पन्न करा दिया कि हम वालीको मार सकते है।

१९।११६—वराहका रूप धारणकर पृथ्वीके उद्धार करनेकी तथा वामनावतारकी कथाओंको क्रमशः १४।२१ तथा २।४२ में देखिये।

जब वलासुर जगत्को अत्यन्त पीडित करने लगा, तब देवराज इन्द्रने देवोंको साथमें लेकर उसके साथ युद्धकर उसका वध कर दिया।

२०।४३—एतत्सम्बन्धकी कथा ५।६६ में और २०।५६—की कथा २।४९ में देखिये।

२०।७३—पूर्वोक्त ५।४६ कथित प्रसङ्गके अनन्तर जब गरुडने स्वर्गमें पहुँचकर वहाँसे अमृत लेकर वापस लौटनेकी इच्छा की तब इन्द्रादि देवोंने उन्हें अमृत लेजानेका निषेध किया और उनके नहीं माननेपर दोनों पक्षों—गरुड तथा इन्द्र—में भयङ्कर युद्ध होने लगा। तदनन्तर इन्द्रने गरुडपर वज्रका प्रहार किया, जिससे उनका एक पंख टूट गया, किन्तु वे स्वर्गसे अमृत लाकर अपनी माता 'विनता' को 'कद्रू' के दासीत्वसे मुक्त कर ही लिये।

२०।७८—राहुके शिर काटनेकी कथा २।४९ में देखिये।

सुभाषित तथा लोकोक्तियां

सर्ग	श्लोक	
१	१४	गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नापुण्यकृता मनीषिणः।
१	१७	ग्रहीतुमार्यान् परिचर्यया मुहुर्महानुभावा हि नितान्तमर्थिनः।
१	२९	अथ वा श्रेयसि केन तृप्यते ?
१	३८	ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः।
१	६७	सदाभिमानैकधना हि मानिनः।
१	७२	सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि।
१	७३	शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो विपादनीया हि सतामसाधवः।
२	१०	उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता।
२	१२	ज्ञातसारोऽपि खल्वेकः सन्दिग्धे कार्यवस्तुनि।
२	१३	······महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः।
२	२३	इन्धनौघधगप्यग्निस्त्विषा नात्येति पूषणम्।
२	२७	अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्मिनो वृथा।
२	३१	तृप्तियोगः परेणापि महिम्ना न महात्मनाम्।
२	३३	समूलघातमघ्नन्तः परान्नोद्यन्ति मानिनः।
२	३४	विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभा।
२	३५	ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत्कुतः सुखम् ?।
२	३७	उपकर्त्रारिणा सन्धिर्न मित्रेणापकारिणा।
२	३८	बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरोः स्त्रियः।
२	४०	कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः।
२	५१	तेजस्विमध्ये तेजस्वी दवीयानपि गण्यते।
२	५४	चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया।
२	५५	सामवादाः सकोपस्य तस्य प्रत्युत दीपकाः।
२	६२	सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः ?
२	६५	सर्वः स्वार्थं समीहते।
२	७०	निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम्।
२	८०	उपायमास्थितस्यापि नश्यन्त्यर्थाः प्रमाद्यतः।
२	८३	तेजः क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः।
		नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः॥

२ ८५ मृदु व्यवहितं तेजो भोक्तुमर्थान् प्रकल्पते ।
२ ९४ अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः ।
२ १०० बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
२ १०४ महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानान् रिपूनपि ।
२ १०५ छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः सुहृदो विमनीकृताः ।
२ १०७ अमृतं नाम यत्सन्तो मन्त्रजिह्वेषु जुह्वति ।
२ १०९ तीक्ष्णा नारुन्तुदा बुद्धिः कर्म शान्तं प्रतापवत् ।
नोपतापि मनः सोष्म वागेका वाग्मिनः सतः ॥
३ ३१ अनेकशः संस्तुतमप्यनल्पा नवं नवं प्रीतिरहो करोति ।
४ १७ क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः ।
५ ६ सर्वः प्रियः खलु भवत्यनुरूपचेष्टः ।
५ १४ सर्वे हि नोपगतमप्यपचीयमानं वर्धिष्णुमाश्रयमनागतमभ्युपैति ।
५ १९ सङ्घर्षिणा सह गुणाभ्यधिकैर्दुरासम् ।
५ ३७ दानं ददत्यपि जलैः सहसाधिरूढे को विद्यमानगतिरासितुमुत्सहेत ॥
५ ४१ आक्रान्तितो न वशमेति महान् परस्य ।
५ ४२ नान्यस्य गन्धमपि मानभृतः सहन्ते ।
५ ४४ नैवात्मनीनमथवा क्रियते मदान्धैः ।
५ ४७ शास्त्रं हि निश्चितधियां क्व न सिद्धिमेति ।
५ ४९ मन्दोऽपि नाम न महानवगृह्य साध्यः ।
६ ४४ समय एव करोति बलाबलम् ।
६ ४५ परिभवोऽरिभवो हि सुदुःसहः ।
६ ६३ उपचितेषु परेष्वसमर्थतां व्रजति कालवशाद्बलवानपि ।
७ १ ......अभिरादधुमाद्दतानां भवति महत्सु न निष्फलः प्रयासः ।
७ ३८ स्फुटमभिभूषयति स्त्रियस्त्रपैव ।
७ ४३ भवति हि विक्लवता गुणोऽङ्गनानाम् ।
७ ५० त्वरयति रन्तुमहो जनं मनोभूः ।
७ ५२ किमिव न शक्तिहरं ससाध्वसानाम् ।
७ ६१ न परिचयो मलिनात्मनां प्रधानम् ।
७ ६८ मृदुतरतनवोऽलसाः प्रकृत्या चिरमपि ताः किमुत प्रयासभाजः ।
८ ७ बुद्ध्वा वा जितमपरेण काममाविष्कुर्वीत स्वगुणमपत्रपः क एव ? ।
८ १० औचित्यं गणयति को विशेषकामः ? ।
८ १२ प्रादुःष्यात्क इव जितः पुरः परेण ? ।
८ १८ उद्वृत्तः क इव सुखावहः परेषाम् ?

८ २० विपदि न दूषिताऽतिभूमिः।
८ २२ लब्धस्पर्शाना भवति कुतोऽथवा व्यवस्था ?।
८ २४ क्षुभ्यन्ति प्रसभमहो विनापि हेतोर्लीलाभिः किमु सति कारणे तरुण्यः ?।
८ २८ मुक्तानां विमलतया तिरस्क्रियायै नाक्रामन्नपि हि भवत्यलं जलौघः।
८ ४५ कस्मिन् वा सजलगुणे गिरां पटुत्वम् ?।
८ ५४ आरूढः पतित इति स्वसम्भवोऽपि स्वच्छानां परिहरणीयतामुपैति।
८ ५५ शोभायै विपदि सदाश्रिता भवन्ति।
८ ५७ चक्षुष्यः खलु महतां परैरलङ्घ्यः।
८ ६० ……अवधारितानामप्युच्चैर्भवति लघीयसां हि धार्ष्ट्यम्।
८ ६९ नैवाहो विरमति कौतुकं प्रियेभ्यः।
९ ५ ……अस्तसमयेऽपि सतामुचितं खलूच्चतरमेव पदम्।
९ ६ प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता।
९ १२ अपदोषतैव विगुणस्य गुणः।
९ १६ चपलाजनं प्रति न चोद्यमदः।
९ २३ ……लघवः प्रकटीभवन्ति मलिनाश्रयतः।
९ २९ दधति ध्रुवं क्रमश एव न तु द्युतिशालिनोऽपि सहसोपचयम्।
९ ३३ अविलम्बितक्रममहो महतामितरेतरोपकृतिमच्चरितम्।
९ ४३ समये हि सर्वमुपकारि कृतम्।
९ ४८ भजते विदेशमधिकेन जितस्तदनुप्रवेशमथवा कुशलः।
९ ५१ क्षममस्य बाढमिदमेव हि यत्प्रियसङ्गमेष्वनवलेपमदः।
९ ५७ किमु चोदिताः प्रियहितार्थकृतः कृतिनो भवन्ति सुहृदः सुहृदाम् ?।
९ ६२ सुहृदर्थमीहितमजिह्मधियां प्रकृतेर्विराजति विरुद्धमपि।
९ ६८ विषतां निषेवितमपक्रियया समुपैति सर्वमिति सत्यमदः।
९ ६९ विदितेङ्गिते हि पुर एव जने सपदीरिताः खलु लगन्ति गिरः।
१० ५ भ्रान्तिभाजि भवति क्व विवेकः ?।
१० १८ स्वां मदात्प्रकृतिमेति हि सर्वः।
१० २१ दुस्त्यजः खलु सुखादपि मानः।
१० २८ निर्वृतिर्हि मनसो मदहेतुः।
१० ३५ न क्षमं भवति तत्त्वविचारे मत्सरेण हतसंवृति चेतः।
१० ७९ आनुकूलिकतया हि नराणामाक्षिपन्ति हृदयानि तरुण्यः।
११ २५ परपरिभवि तेजस्तन्वतामाशु कर्तुं प्रभवति हि विपक्षोच्छेदमग्रेसरोऽपि
११ ३३ ……मानिनां मण्डनश्रीर्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन।
११ ३५ करुणमपि समर्थं मानिनां मानभेदे रुदितमुदितमस्त्रं योषितां विग्रहेषु।

११	५७	निरसितुमरिभिच्छोर्ये तदीयाश्रयेण श्रियमधिगतवन्तस्तेऽपि हन्तव्यपक्षे
११	५९	नियतविषयवृत्तेरप्यनल्पप्रतापक्षतसकलविपक्षस्तेजसः स स्वभावः।
११	६४	हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः।
१२	३२	दाक्ष्यं हि सद्यः फलदम्।
१२	३६	निःशेषमाक्रान्तमहीतलो जलैश्चलन् समुद्रोऽपि समुज्झति स्थितिम्।
१२	४६	प्रायेण नीचानपि मेदिनीभृतो जनः समेनैव पथाऽधिरोहति।
१३	६	मदमूढबुद्धिषु विवेकिता कुतः ?।
१३	१७	महतां हि सर्वमथवा जनातिगम्।
१३	६८	महतीमपि श्रियमवाप्य विस्मयः सुजनो न विस्मरति जातु किञ्चन।
१४	२	लज्जते न गदितः प्रियं परो वक्तुरेव भवति त्रपाधिका।
१४	३	तोषमेति वितथैः स्तवैः परस्ते च तस्य सुलभाः शरीरिभिः।
१४	८	को विहन्तुमलमास्थितोदये वासरश्रियमशीतदीधितौ।
१४	१३	किं परस्य स गुणः समश्नुते पथ्यवृत्तिरपि यद्यरोगिताम्।
१४	१४	उद्धृतौ भवति कस्य वा भुवः श्रीवराहमपहाय योग्यता।
१४	४६	वर्षुकस्य किमपः कृतोन्नतेरम्बुदस्य परिहार्यमूषरम् ?
१४	५५	स्नातकं गुरुमभीष्टमृत्विजं संयुजा च सह मेदिनीपतिम्। अर्घभाज इति कीर्तयन्ति षट्...... ॥
१५	१	परवृद्धिमत्सरि मनो हि मानिनाम्।
१५	११	याति विकृतिमपि संवृतिमत्किमु यन्निसर्गनिरवग्रहं मनः।
१५	१४	दयितं जनः खलु गुणीति मन्यते।
१५	१६	सव कर्मणैव विकसत्यसत्यता।
१५	१७	भौमदिनमभिदधात्यथवा भृशमप्रशस्तमपि मङ्गलं जनः।
१५	२२	स्फुटमापदां पदमनात्मवेदिता।
१४	३३	हासकरमघटते नितरां शिरसीव कङ्कतमपेतमूर्द्धजे।
१५ क्षे०	१	ननु सर्व एव समवेक्ष्य कमपि गुणमेति पूज्यताम्।
१५ ,,	१४	चपलात्मिका प्रकृतिरेव हीदृशी।
१५	४०	सत्यनियतवचसं वचसा सुजनं जनाश्चलयितुं क ईशते ?।
१५	४१	प्रभुचित्तमेव हि जनोऽनुवर्तते।
१५	४३	स्मर्तुमधिगतगुणस्मरणाः पटवो न दोषमखिलं खलूत्तमाः।
१६	२०	व्यसनाय ससौरभस्य कस्तकसूनस्य शिरस्यसूयति ?।
१६	२२	उपकारपरः स्वभावतः सततं सर्वजनस्य सज्जनः। असतामनिशं तथाप्यहो गुरुहृद्रोगकरी तदुन्नतिः ॥
१६	२३	परितप्यत एव नोत्तमः परितप्तोऽप्यपरः सुसंवृतिः। परवृद्धिभिराहितव्यथः स्फुटनिर्भिन्नदुराशयोऽधमः ॥

१६	२५	अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं न हि गोमायुरुतानि केसरी ।
१६	२६	जितरोषरया महाधियः, सपदि क्रोधजितो लघुर्जनः । विजितेन जितस्य दुर्मतेर्मतिमद्भिः सह का विरोधिता ? ॥
१६	२७	वचनैरसतां महीयसो न खलु व्येति गुरुत्वमुद्धतैः ।
१६	२८	परितोषयिता न कश्चन स्वगतो यस्य गुणोऽस्ति देहिनः । परदोषकथाभिरल्पकः स्वजनं तोषयितुं किलेच्छति ॥
१६	२९	सहजान्धदृशः स्वदुर्नये परदोषेक्षणदिव्यचक्षुषः । स्वगुणोच्चगिरो मुनिव्रताः परवर्णग्रहणेष्वसाधवः ॥
१६	३५	महतस्तरसा विलङ्घयन्निजदोषेण कुधीर्विनश्यति ।
१६	३९	विविनक्ति न बुद्धिदुर्विधः स्वयमेव स्वहितं पृथग्जनः ।
१६	४०	विदुरेष्यदपायमात्मना परतः श्रद्दधतेऽथ वा बुधाः । न परोपहितं न च स्वतः प्रमिमीतेऽनुभवादृतेऽल्पधीः ॥
१६	४१	उपदेशपराः परेष्वपि स्वविनाशाभिमुखेषु साधवः ।
१६	४३	अथवाऽभिनिविष्टबुद्धिषु व्रजति व्यर्थकतां सुभाषितम् ।
१६	४४	अनपेक्ष्य गुणागुणौ जनः स्वरुचिं निश्चयतोऽनुधावति ।
१६	४५	प्रियमांसमृगाधिपोज्झितः किमवद्यः करिकुम्भजो मणिः ? ॥
१६	४६	क्रियते धवलः खलूच्चकैर्धवलैरेव, सितेतरैरधः ।
१६	४७	सहसि प्लवगैरुपासितं न हि गुञ्जाफलमेति सोष्मताम् ।
१६	५१	प्रलयोल्लसितस्य वारिधेः परिवाहो जगतः करोति किम् ? ।
१६	५२	न परेषु महौजसश्छलादपकुर्वन्ति मलिम्लुचा इव ।
१६	५५	भजते कुपितोऽप्युदारधीरनुनीतिं नतिमात्रकेण सः ।
१७	१८	घनाम्बुभिर्बहुलितनिम्नगाजलैर्जलं न हि व्रजति विकारमम्बुधेः ।
१७	४०	पयस्यभिद्रवति भुवं युगावधौ सरित्पतिर्नहि समुपैति रिक्तताम् ।
१७	५०	विलम्बितुं न खलु सहा मनस्विनो विधित्सतः कलहमवेक्ष्य विद्विषः ।
१७	५९	सुसंहतैर्दधदपि धाम नीयते तिरस्कृतिं बहुभिरसंशयं परः ।
१८	२३	कर्मोदारं कीर्तये कर्तुकामान् किं वा जात्याः स्वामिनो ह्रेपयन्ति ? ।
१८	६४	का च लोकानुवृत्तिः ? ।
१८	६६	योग्येनार्थः कस्य न स्याज्जनेन ? ।
१९	९९	दानेषु स्थूललक्ष्यत्वं नहि तस्य शरासने ।
१९	११९	शुद्ध्या युक्तानां वैरिवर्गस्य मध्ये भर्त्रा त्रिप्तानामेतदेवानुरूपम् ।
२०	२९	भवति स्फुटमागतो विपक्षान्न सपक्षोऽपि हि निर्वृतेर्विधाता ।
२०	४०	ननु वारिधरोपरोधमुक्तः सुतरामुत्तपते पतिः प्रभाणाम् ।
२०	७४	उपकृत्य निसर्गतः परेषामुपरोधं न हि कुर्वते महान्तः ।

'सर्वङ्कषा' व्याख्या में आये हुये ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के नाम

अगस्त्य
अणुपरिमाणवादी
अभिधान
अभिधानचिन्तामणि
अभिधानरत्नमाला
अमर (अमरकोश)
अलङ्कारसर्वस्व
अश्वशास्त्र
आगम
आचार्य
आचार्यदण्डी (दण्डी)
आचार्यमिहिर
आधुनिक
आपस्तम्ब (आपस्तम्बीय)
आलङ्कारिक
उत्तरकाण्ड
उत्पल (उत्पलमाला)
कपिल
कल्याणवर्मा
कामन्दक (कामन्दकीय)
कालिदास
कालिदासत्रयसञ्जीवनी
काव्यप्रकाश
काशिका
किरातार्जुनीय
केशव
कैयट
कोष (श)
क्षीरस्वामी (स्वामी)
गणव्याख्यान
घण्टापथ(किरातार्जुनीयटीका)
जयादित्य
जैमिनि
त्रिकाण्डशेष (त्रिकाण्ड)
दशरूपक
दिवाकर
नाट्यविद्
नारद
निबन्ध
नैक्षानिक
नैषध
न्यासकार
न्यासोद्द्योत
पिङ्गलनाग
पुराण
पूर्वाचार्य
बौद्ध
भट्ट
भट्टमल्ल
भरत
भविष्यपुराण
भागवत
भारवि
भाष्यकार (भाष्य)
भोज (भोजराज)
मध्यपरिमाणवादी
मनु
महाभारत
मिताक्षरा
मृगचर्मीय
मेदिनी
याज्ञवल्क्य
यादव
योगयात्रा
रङ्गराज
रत्नप्रकाश
रत्नाकर
रससागर
राजपुत्रीय
रामायण
रेवतोत्तर
वल्लभ
वसन्तराजीय
वाग्भट
वामन
विश्व (विश्वप्रकाश)
विष्णुपुराण
वृत्तरत्नाकर
वृत्तिकार
वैजयन्ती
व्यास
शब्दार्णव
शाकटायन
शाश्वत
श्रुति
सज्जन
सञ्जीवनी
सर्वस्वकार
साङ्ख्य
स्वामी
हयलीलावती
हरि
हलायुध
हेमचन्द्र
हैम

श्लोकानुक्रमणिका

* एतच्चिह्नाङ्कितं पद्यं क्षेपकं बोध्यम् ।

फ

ब

श

संपूर्णग्रन्थस्य श्लोकसंख्या १६४५, पञ्चदशे सर्गे क्षेपकाः
श्लोकाः ३४ समाप्तौ कविवंशवर्णनश्लोकाः ५
एवं समुदिता श्लोकसंख्या १६८४

कतिपय परीक्षोपयोगी प्रकाशन

१ रघुवंशमहाकाव्य प्र० सर्ग। 'चन्द्रकला' सं० हि० व्या०—शेषराज
२ रघुवंशमहाकाव्यम्। 'विमला' संस्कृत हिन्दी व्याख्या श्रीकृष्णमणि त्रि
द्वितीय २ २५ तृतीय २-२५, ४-५ ४-००, ६-७ ४-०० १३
३ हितोपदेश : मित्रलाभ। 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका—श्रीशेषराज श
४ लघुसिद्धान्तकौमुदी। 'शिवाख्य' सं० हि० टीका—गोमतीप्रसाद शा
५ तर्कसंग्रह—पदकृत्य। हिन्दी टीका सहित—श्री शेषराज शर्मा रेग्मी
६ दशकुमार-पूर्वपीठिका। परीक्षोपयोगि 'विमला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या
सहित। व्याख्याकार —पं० श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी
७ कुमारसम्भव। 'विमला' संस्कृत-हिन्दी टीका श्रीकृष्णमणि त्रिपाठी
१–२ सर्ग ४–०० तृ० सर्ग २–०० चतुर्थ सर्ग २–०० पञ्चम स
८ स्वप्नवासवदत्ता। 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका—श्रीशेषराजशर्मा रेग्मी
९ नीतिशतकम्। 'विमला' संस्कृत हिन्दी व्याख्या सहित—कृष्णमणि त्रिपाठी ३–००
१० पञ्चतन्त्र। अपरीक्षितकारक। 'विमला' सं हि. टीका। श्रीकृष्णमणि त्रि० ३–५०
११ संस्कृत-व्याकरणम्। (अनु० खंड-निबन्ध खण्ड सहित)—पं० रामचन्द्र झा ८–००
१२ सांख्यकारिका। 'सांख्यप्रकाश' सं.हि. टीका सहित। श्रीकृष्णमणित्रिपाठी ५–००
१३ वेदान्तसार। 'भावबोधिनी' सं० हि० टीका—श्रीरामशरण त्रिपाठी [illegible]
१४ मेघदूत। 'चन्द्रकला' सं० हि० टीका—श्रीशेषराज शर्मा रेग्मी १[illegible]–००
१५ रामाभ्युदयनाटक। सं० हि० टीका सहित—श्रीरुद्रप्रसाद अवस्थी ७–००
१६ शिशुपालवध। सं० हि० टीका सहित। रामजीलाल शर्मा १-४ सर्ग १०–००
१७ दशरूपक। 'चन्द्रकला' हि० टीका सहित—डॉ० भोलाशंकर व्यास १६–००
१८ साहित्यदर्पण : 'शशिकला' हिन्दी टीका १-६ परि० २२-५०, ७-१० परि १२–५०
१९ काव्यप्रकाश। 'चन्द्रकला' हिन्दी टीका—डा० सत्यव्रत सिंह २५–००
२० भट्टिमहाकाव्य। सान्वय संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित। श्रीगोपालशास्त्री
'दर्शनकेसरी' १–४ सर्ग ७–०० ५–८ सर्ग ८–०० एवं १४–२२ सर्ग [illegible]
२१ नैषधमहाकाव्य। 'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या सहित। श्रीशेषराजशर्मा
प्र० सर्ग ५–००, १-३ सर्ग १०–०० १-५ सर्ग १५–०० १-९ सर्ग २५–००
२२ छन्दोमञ्जरी। (प्रामाणिक-संस्करण)। 'सुषमा'-'सुफला' संस्कृत-
हिन्दी व्याख्या युक्त। व्याख्याकार—डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी ५–००
२३ किरातार्जुनीयम्। 'विजया' संस्कृत-हिन्दी व्याख्या, परीक्षोपयोगि
संस्करण। डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी। द्वितीय सर्ग १–५० ३–६ सर्ग ६–००
२४ प्रस्तावरत्नाकरः। परीक्षोपयोगि निबन्ध संग्रह। डॉ० ब्रह्मानन्दत्रिपाठी ६–००
२५ अनुवादचन्द्रिका। (सर्वांगपूर्ण संस्करण) डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी ८–००